कल्याण

VOL. 11

1937

C. K. Y. LIB.
HARIDWAR

110351

~~२७-८४२~~

[illegible] लाल
२-८-५८

कल्याण

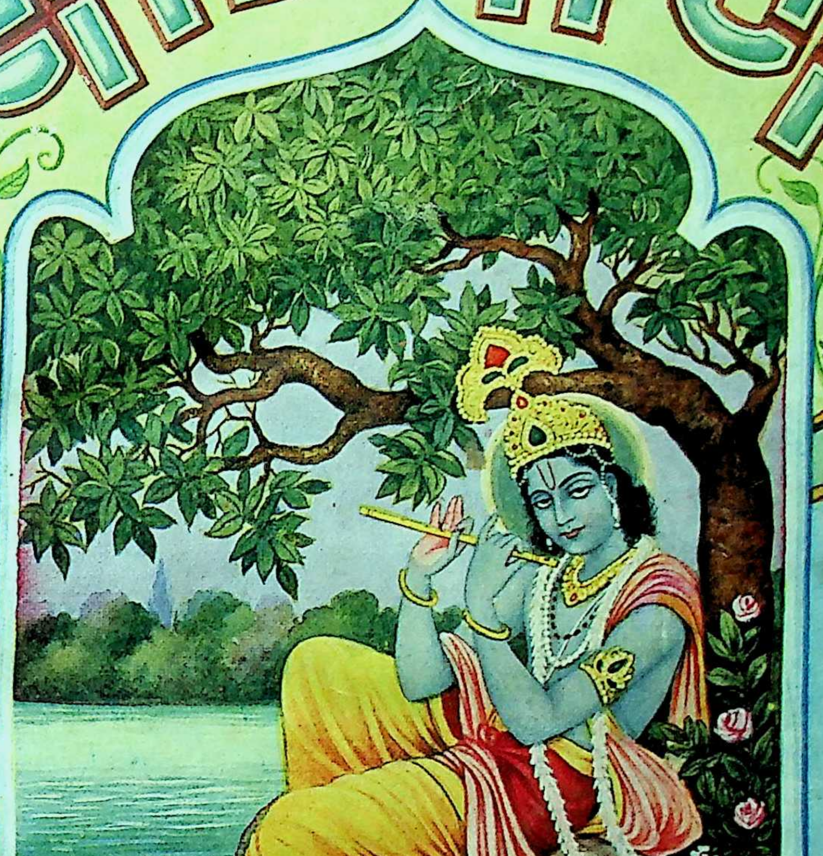

वर्ष ११

अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३७१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≥)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≥)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

इस वर्ष संत-अंक १० अगस्तके आसपास निकल जाय, ऐसी चेष्टा की जा रही है। पिछले सालोंकी तरह इस बार डेढ़, दो महीनेकी देर नहीं होगी। भाद्रपद और आश्विनके अंक संत-अंक खण्ड २ और खण्ड ३ के रूपमें अलग निकलेंगे। संतोंके चित्र प्रायः सभी संत-अंक प्रथम खण्डमें दे दिये जायँगे। और लगभग दो सौ संतोंकी जीवनी अगले दोनों खण्डोंमें छपेगी। संत-अंकके निकलनेसे पहले-पहले ग्राहकोंको रुपये मनीआर्डरसे जरूर भेज देने चाहिये। जिसमें ठीक समयपर उन्हें पहला अंक मिल जाय, और अगले दोनों अंक भेजनेमें हमें असुविधा न हो। जो ग्राहक महानुभाव १ अगस्ततक रुपये भेज देंगे, उन्हें तीनों अंक अलग अलग सुभीतेसे और जल्दी मिल सकेंगे।

* * *

कल्याण, आषाढ़ संवत् १९९४ का

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या
१--कालियकी प्रार्थना [कविता] (श्रीसूरदासजी) १४६५
२-पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश (प्रे०—भक्त रामशरणदासजी) ... १४६६
३--परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) १४६८
४-ईश्वरमें विश्वास (श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय) १४७६
५-रासलीला-रहस्य (एक महात्माके उपदेशके आधारपर) १४७७
६-समाधि-भंग ! [कविता] (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) १४८०
७-नवधा भक्ति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १४८१
८-पथिक मन [कविता] (डाक्टर श्रीहनुमानप्रसादजी त्रिपाठी बी-एस० सी०, एल० एम-पी०, विशारद) १४९२
९-भक्त-गाथा १४९३
१०-कल्याण ('शिव') १४९५
पृष्ठ-संख्या
११-मेरा कृष्ण (बहिन श्रीरैहाना तैयबजी) ... १४९७
१२-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार (पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) ... १५००
१३-प्रेमनगरका प्रथम दर्शन (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) १५०७
१४-भक्तोंका कार्पण्य (श्रीमहावीरप्रसादजी 'बजरङ्गबली' श्रीवास्तव) १५१२
१५-ठाकुर उद्धारणदत्त १५१५
१६-चरम लक्ष्य (पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग) १५१६
१७-हिन्दुस्तानी शिष्टाचार (पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र) १५१७
१८-विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूतिका तत्त्व ('एक विद्वान्') १५३१
१९-उसकी व्यापकता [कविता] ('मुग्ध') ... १५३५
२०-भगवत्कृपा ('गुप्त') १५३६
२१-पञ्च-सकार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १५३७
२२-प्रार्थना १५४४

पुराने-नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह ग्यारहवें वर्षका १२ वाँ यानी अन्तिम अंक है। इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो जाता है।

(२) १२ वें वर्षका पहला अंक संत-अंक होगा। संत-अंकके तीन खण्ड होंगे (श्रावण, भाद्र और आश्विन)। तीनों अलग-अलग प्रतिमास प्रकाशित होंगे। तीनोंका मूल्य ३।।) होगा। परन्तु पुराने-नये ग्राहकोंको अधिक कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। उन्हें बड़ी दुर्लभ चीज सहज ही ४≡) देनेसे मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ४≡) तुरन्त भेज देने चाहिये। इस बार अंक जल्दी निकलेगा, इससे और भी जल्दी करनी चाहिये। नहीं तो वी० पी० पहुँचनेमें बहुत देर हो जायगी।

(४) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। निष्काम सेवा भगवत्सेवा ही है। इस बार कागजोंके दाम बढ़ जानेसे तथा अंकोंको सुन्दर बनानेमें बहुत अधिक खर्च हो जायगा। इसलिये विशेष चेष्टा करके नये सालके ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार संत-अंक बहुत ही उपादेय, सुन्दर, सुबोध, शिक्षाप्रद होगा। इसमें तीनों खण्डोंमें लगभग ६०० से ७०० तक संतोंकी जीवनियाँ होंगी, और भगवान्‌के तथा संतोंके सुन्दर चित्र होंगे। सम्भव है बहुत जल्दी पहला संस्करण समाप्त हो जाय, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये अपनी मनीआर्डरके कूपनमें पूरा पता नाम, गाँव, डाकघर तथा जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहकनम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक नया 'शब्द' लिखें। नहीं तो कल्याण देरसे पहुँचेगा।

(७) पुस्तकों तथा चित्रोंकी माँग गीताप्रेसको अलग लिखें। डाकके नियमानुसार 'कल्याण' के साथ और चीजें नहीं जा सकतीं।

(८) कल्याणके प्रेमी प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन एक-एक दो-दो नये ग्राहक जरूर बना देनेकी चेष्टा करें।

(९) कल्याणका नया वर्ष '१० अगस्त' से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

(१०) सजिल्द संत-अंक बहुत देरसे जायगा। पहले जिल्द बाँधनेका अवकाश नहीं मिलता, इसलिये क्षमा करें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर जरूर सूचना दे दें, ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर कल्याण-कार्यालयको नुकसान न उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कार्यालयके दो आने पैसे बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी नेट दाम प्रत्येकका -)॥

१ युगलछवि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

रंगीन-नेट दाम प्रत्येकका -)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ श्रीवृन्दावनविहारी
१६ श्रीविश्वविमोहन
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ श्रीविष्णुभगवान्
२८ श्रीलक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ श्रीविश्वनाथजी
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिव-बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका संकीर्तन-दल
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा

१२ चित्रोंतक मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है। सोचकर मँगाना चाहिये। अधिक मँगानेमें ही डाकखर्चका सुभीता है।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं।)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

१०१ युगलछवि
१०२ तन्मयता

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।½ प्रतिचित्र

१११ कौसल्या-नारायण
११२ श्रीरामचतुष्टय
११३ अहल्योद्धार
११४ वृन्दावनविहारी
११५ मुरली-मनोहर
११६ गोपीकुमार
११७ राधाकृष्ण
११८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
११९ व्रज-नव-युवराज
१२० कौरव-सभामें विराट्-रूप
१२१ श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु
१२२ श्रीश्रीमहालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
१२३ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
१२४ श्रीविष्णु भगवान्
१२५ कमलापति-स्वागत
१२६ लक्ष्मीनारायण
१२७ देवदेव भगवान् महादेव
१२८ शिवजीकी विचित्र बारात
१२९ शिव-परिछन
१३० शिव-परिवार
१३१ पञ्चमुख परमेश्वर
१३२ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
१३३ गौरीशंकर
१३४ जगज्जननी उमा
१३५ देवी कात्यायनी
१३६ पवन-कुमार
१३७ ध्रुव-नारायण
१३८ श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
१३९ श्रीगायत्रीके तीन रूप

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।½ प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीराम-सीता
२०३ युगलछवि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरु-सेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप
२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वनगमनाभिलाषिणी सीता]
२६५ रामकी कौसल्यासे बिदाई
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया-सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंद्वारा श्रीराम-स्तुति
२७६ बालिवध और तारा-विलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुबेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण-युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान्-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ़ श्रीराम
२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति-अङ्क)
२९० श्रीसीताराम (मर्यादा-योग)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
२९४ माँका प्यार
२९५ प्यारका बन्दी
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनीशक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
३०४ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
३०५ बाँकेविहारी
३०६ श्रीश्यामसुन्दर
३०७ मुरलीमनोहर
३०८ भक्तमनचोर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवकीजी
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरासे गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी योगधारणा
३२२ श्याममयी संसार
३२३ माखन-प्रेमी बालकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धन-मुक्तकारी श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ समदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त (भीष्म)-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्णपूजन नं० २
३४५ नृग-उद्धार
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्निसे सती-दाह
३५५ मदन-दहन
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर
३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदान
३६५ श्रीहरि-हरकी जल-क्रीडा
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णुको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ श्रीब्रह्माजी
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद

३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मारूपमें
३९१ ब्रह्मा-सावित्री
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ महाकाली
३९९ महासरस्वती
४०० महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)
४०२ नारीशक्ति
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
४०६ देवी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ षोडश माता
४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिका तारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्य-महाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका सङ्कीर्तन-दल
४२३ प्रेमी भक्त सूरदासजी
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई (जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ राँका बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जडयोग
४३४ सप्तज्ञानभूमिका
४३५ मानस सरोवर
४३६ स्तवन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजाराम पतित-पावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदिप्रवर्तक भगवान् शङ्कर

फुटकर एवं 'कल्याण'के बचे हुए कुछ चित्र

माताका हृदय
सुमित्राका त्याग
ब्राह्मणके घर भगवान्
रामसभा
Protector of the weak.
The Offering.

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
अहल्योद्धार
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
....

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेविहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछबि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण

१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया है। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी	-)॥	१०×१५, सुनहरी	)॥	७॥×१०, सुनहरी	)।½	७॥×१०, सादा	१) सै०
१५×२०, रंगीन	-)	१०×१५, रंगीन	)।½	७॥×१०, रंगीन	)।	५×७॥, रंगीन	१) सै०

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन ४४ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत २॥=) पैकिङ्ग -) डाकखर्च ॥≡) कुल लागत ३॥=) लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ।≡)॥½ पैकिङ्ग -)।॥½ डाकखर्च ॥-)। कुल १।≡) लिये जायँगे।

७॥×१० साइजके सुनहरे ९ रंगीन २०५ और सादे ३ कुल २१७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३।≡)। पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ॥≡)॥ कुल ४॥) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ७० चित्रोंका नेट दाम ॥≡)। पैकिङ्ग -) डाकखर्च ।-)।॥ कुल १≠) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ७॥।)।½ पैकिङ्ग ≠)॥½ डाकखर्च १॥≡) कुल ९॥=) लिये जायँगे।

नियम

(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ।।।), १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥
२. क लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।
ट—स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस
२. रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायेंगे।

110351 1

110351

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया। इसके बाद अब बारहवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीसंत-अंक' होगा, जो बहुत ही उपदेशप्रद, मनोरञ्जक और अनेक प्रकारकी संत-सम्बन्धी नयी-नयी सामग्रियोंसे सुसज्जित रहेगा। यदि आपने अभी आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेजा हो तो कृपाकर अब मनीआर्डरद्वारा तुरन्त ४≡) (चार रुपये तीन आने) भेज दीजिये। मनीआर्डरका फार्म वैशाखके अंकके साथ आपको भेजा गया है। संत-अंक और उसके परिशिष्ट—भाद्रपद, आश्विनके अंक तीनों अलग-अलग रहेंगे। तीनोंमें लगभग ८५० पृष्ठ और अनेकों रंगीन तथा सादे बहुत ही सुन्दर और दुर्लभ चित्र रहेंगे। मूल्य तीनोंका ३||) होगा। सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ४≡) में ही संत-अंकके सिवा नौ अंक और मिल जायँगे। एक अंकके दाम।) होते हैं, इस हिसाबसे नौ अंकोंके २।) बाद देनेपर परिशिष्टांकोंसहित संत-अंक ग्राहकोंको सिर्फ १|||≡) में ही मिल जाता है। यों अलग संत-अंक लेनेवालोंकी अपेक्षा ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको १||-) का फायदा रहता है। संत-अंककी ३५५०० प्रतियाँ ही छप रही हैं। अतएव ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस बार भी शायद खुली प्रतियाँ बहुत बिकें। इसलिये नये ग्राहकोंको तो रुपये भेजनेमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये। जिनके पहलेसे रुपये आ जायँगे उनको संत-अंक निकलते ही भेजा जायगा। रही-सही वी० पी० बहुत पीछे जायगी। संत-अंक बहुत ही जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है—इसलिये जल्दी ग्राहक न बननेवालोंको संत-अंक यदि दुबारा न छपा तो शायद मिलना मुश्किल हो जायगा। यह बात याद रखनी चाहिये।

काटि काटि काटिहु सम नाहीं दरसन दियो जगतके नाथ ॥
असरन-सरन कहावत हौ तुम कहत सुनी भगतनि मुख बात ।
ये अपराध छमा सब कीजै धिग् मेरी बुधि कहत डरात ॥
दीनबचन सुनि काली मुखते चरन धरे फन-फन प्रति आप ।
सूरस्याम देख्यो अहि व्याकुल सुख दीन्हें मेट्यो त्रैताप ॥

—सूरदासजी

१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४६ भगवान् श्रीशङ्कराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी

लनसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिल सकते हैं। जिल्दका दाम १५×२० का ।।।), १०×१५ का ।=), ७।।×१० का ।।), ५×७।।

२. क किया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

२. २—स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

110351
110351

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, अषाढ़ १९९४, जुलाई १९३७ { संख्या १२
पूर्ण संख्या १३२

कालियकी प्रार्थना

अब प्रभु कीन्हों मोहिं सनाथ ।
कोटि कोटि कीटहु सम नाहीं दरसन दियो जगतके नाथ ॥
असरन-सरन कहावत हौ तुम कहत सुनी भगतनि मुख बात ।
ये अपराध छमा सब कीजै धिग् मेरी बुधि कहत डरात ॥
दीनबचन सुनि काली मुखते चरन धरे फन-फन प्रति आप ।
सूरस्याम देख्यो अहि व्याकुल सुख दीन्हें मेट्यो त्रैताप ॥

—सूरदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश

महात्मा और क्रोध ये दोनों चीजें एक साथ नहीं हो सकतीं । महात्मा कभी क्रोध नहीं कर सकते । उनका क्रोध दूसरोंको दिखानेको ही होता है । महात्माके अन्दर राग-द्वेष हैं ही नहीं, यही महात्माका लक्षण है । महात्मा उसीका नाम है जिसमें काम, क्रोध, लोभ आदिका सर्वथा अभाव है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

कामादिक मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताके ॥

तभीतक काम, क्रोध आदि मनमें रहा करते हैं, जबतक भगवान् उसमें नहीं बसते ।

पहले मनुष्य गुरुमें श्रद्धा रखते थे । गुरुने जो बता दिया उसीपर आरूढ़ हो जाते थे । इतने शास्त्र पढ़ने-पढ़ानेकी आवश्यकता नहीं होती थी । गुरुने बता दिया एक केवल श्रीकृष्ण हैं, श्रीराम हैं उसकी भक्ति करो, बस खतम । पढ़ने-लिखनेकी अब क्या आवश्यकता रही ।

प्र०—ईश्वर कैसे मिलता है ?

उ०—तुम जिस वस्तुकी याद करोगे वही तुम्हें मिलेगी । तुम स्त्रीको याद करोगे ता स्त्री मिलेगी, और धनको याद करोगे तो धन मिलेगा, इसी प्रकार ईश्वरको याद करोगे तो तुम्हें ईश्वर मिलेगा ।

श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करे उसको नहीं करना चाहिये, श्रेष्ठ पुरुष जो कहे उसे करना चाहिये । क्योंकि महापुरुषोंकी सब क्रिया समझमें नहीं आती ।

प्र०—महाराजजी ! भजनमें जो निद्रा आ जाती है, उसको हटानेके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—जोर-जोरसे कीर्तन करो, खड़े होकर जप करने लगो । इस दुश्मनसे खड़े होकर लड़ो, भक्तोंके बनाये हुए पद जोर-जोरसे गाने लगो । इसका यह मतलब नहीं कि लोगोंको दिखानेके लिये भजन करो । लोग देखेंगे इसलिये भगवान्का भजन करना तो बहुत नीचा भाव है । आजकल बहुतसे साधु भजन दिखानेके लिये भगवान्की मूर्ति ले-लेकर सड़कके किनारे बैठ जाते हैं, जिससे लोग समझें कि ये भजनानन्दी साधु हैं, और इससे उन्हें कुछ दे दें ।

भक्तके अन्दर ये पाँच बातें नहीं रहतीं (१) ईर्ष्या (२) घृणा (३) भय (४) लज्जा और (५) जुगुप्सा अर्थात् परनिन्दा ।

प्र०—अवनति क्यों हो रही है ?

उ०—ईश्वरका भय नहीं रहा इसीलिये । संसारके जीवोंका भयसे कल्याण होता है । जबतक ईश्वरका भय, महात्माओंका भय, ब्राह्मणोंका भय, माता-पिताका भय, रहता है तबतक समझो ईश्वरकी पूरी कृपा है । जीव इनसे यदि न डरे तो समझो कि बहुत बुरा हुआ । चेला स्वतन्त्र हो जाय तो सर्वनाश, नौकर स्वतन्त्र हो जाय तो सर्वनाश, लड़का स्वतन्त्र हो जाय तो सर्वनाश । जब मनुष्य ईश्वरका भय छोड़ देते हैं तब उनसे स्वच्छन्द पाप होने लगता है । देखो, लोकनिन्दाके डरसे लोग बहुतसे पाप नहीं करते, फिर यदि ईश्वरका भय हो जाय तो क्या कहना है ? जब परमात्माका भय नहीं तब धर्मका भी भय नहीं । किसीके मरनेपर जो पहले हर-एक घरमें गरुड़पुराण सुनायी जाती थी वह इसीलिये कि उसके सुननेसे पापोंके करनेमें डर हो जाता था । उसमें यही तो है कि अमुक पाप करनेसे यह अमुक नरक मिलता है ।

एक बार बादशाहने सुकरातसे कहा कि मैं आपके लिये कुछ हीरे-जवाहरात भेज दूँ । सुकरातने बादशाहसे कहा कि 'हम हीरे जवाहरातका क्या करेंगे ? वे तो पहाड़के पत्थरोंके टुकड़े हैं ।' फिर बादशाहने सुकरातसे कहा कि 'कुछ रेशमी वस्त्र भेज दूँ,' सुकरातने कहा कि 'रेशमी वस्त्र हमें क्या करने हैं, वह तो कीड़ोंका थूक है ।'

आजकल कलियुगी जीव विषयासक्त ज्यादा हैं । जबतक विषयासक्ति है तबतक ज्ञान कैसे होगा ? कलियुगमें ज्ञान कठिन है । धर्ममें ही जब पास नहीं होते हैं तब ज्ञानमें कैसे पास हो सकते हैं ।

सनातनधर्मसे बढ़कर संसारमें कोई भी धर्म नहीं है । आजकल लोग सनातनधर्मको बुरा बताते हैं, लेकिन परमहंस रामकृष्णके शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी महाराजने विदेशमें जाकर कह दिया था कि सनातनधर्मसे बढ़कर कोई भी धर्म नहीं है । तिलक महाराजने भी सनातनधर्मको बहुत अच्छा बतलाया है । देखो, अगर कलकत्ते-जैसे बड़े नगरमें दो ही मार्ग हों तो सब आदमी आपसमें कट-कटकर मर जायँ । इसीलिये कलकत्तेमें ही पचासों मार्ग हैं, जिस मार्गसे जाना चाहे, आदमी जा सकता है । इसी प्रकार सनातनधर्ममें ईश्वरप्राप्तिके सैकड़ों मार्ग हैं, जो जिस मार्गसे चाहे जा सकता है । ऐसा धर्म संसारके किसी भी देशमें नहीं है ।

जिह्वा ही सबसे बुरी चीज़ है, और जिह्वा ही सबसे अच्छी चीज़ है । एक बादशाह था, वह बहुत ही दुष्ट था । अपने सब नौकरोंको गाली बकता रहता था । नौकर उससे बहुत दुःखी थे । एक दिन उस बादशाहने दरबार किया और कहा कि सब लोग जो चीज़ सबमें बुरी हो उसे यहाँपर लाओ । कोई खून लाया, कोई विष्ठा लाया, कोई और कुछ लाया । उनमेंसे एक नौकर एक मुर्दे आदमीकी जीभ काटकर लाया, और उसे बादशाहके सामने रख दिया । बादशाहने सब चीज़ोंको देखा और उस जीभको देखकर उस जीभ लानेवालेसे कहा कि और चीज़ तो सब खराब चीज़ हैं लेकिन जीभका क्या खराब है, तू इसे क्यों लाया है ? उसने कहा कि 'बादशाह सलामत ! यह जीभ ही सबसे बुरी चीज़ है, देखिये जब यह हजारों मनुष्योंको बुरा कहती है तो हजारोंका चित्त दुखाती है ।' कुछ दिनों बाद फिर बादशाहने दरबार किया और कहा कि आज ऐसी चीज़ लाओ जो सबमें अच्छी चीज़ हो । कोई कुछ लाया तो कोई कुछ लाया, लेकिन वह आदमी फिर मुर्देकी एक जीभ काटकर ले आया, और वहाँपर उसे लाकर रख दिया । बादशाहने आकर और सब चीज़ोंको देखा, जीभको देखकर उस लानेवालेसे बादशाह बोला कि 'तू जब इस जीभको बुरी चीज़ोंमें पहले ला चुका है तो अब इसे क्यों लाया है ?' वह बोला, 'हुजूर ! इस जीभसे बढ़कर और कोई अच्छी चीज़ नहीं है । देखिये यह हजारों मनुष्योंसे अच्छी-अच्छी बोली बोलकर हजारों-मनुष्योंको मित्र बना देती है । भगवान्का नाम जपकर उद्धार कर देती है ।'

शरणागतिके नौ लक्षण हैं (१) दीनता (२) निष्कपटता (३) सत्यता (४) सर्वसमर्पणता (५) सर्वाधारता (६) पूर्ण विश्वास (७) सर्वाराध्यता (८) अनन्यता और (९) निजस्वरूपस्मरण ।

प्र०—भगवद्भक्तोंका मुख्य कर्तव्य क्या है ?

उ०—(१) भगवद्भक्तोंको भक्तिविरोधी ग्रन्थ नहीं पढ़ना चाहिये (२) भगवन्नामजप, कीर्तन मुख्य साधन हैं (३) साधुसङ्ग करना, जिसमें इष्ट मिले (४) सांसारिक चर्चा नहीं करना (५) किसीकी निन्दा न करना (६) अपनी निन्दा सुनकर क्षुब्ध न होना (७) सदा अमानी रहकर सबको मान देना (८) सदाचार और सरलतासे समय बिताना (९) प्रतिष्ठासे हमेशा दूर रहना (१०) प्रतिष्ठा होनेपर हमेशा दुःख मानना (११) सत्य, मृदु, परिमित, सरस और उचित भाषण करना (१२) क्रोधरूपी शैतानसे दूर रहना (१३) स्त्रीसे एकान्तमें बातचीत न करना (१४) एकान्त देशमें प्रतिदिन दो घंटे भजन करते रहना (१५) रातको ३ बजेसे ५ बजेतक ध्यानका मुख्य समय है (१६) अदृष्टसे हमेशा भय रखना यानी सिद्ध न बन जाना ।

प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी

* * *

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

व्याकरणशास्त्रप्रतिपादित अनात्म पदार्थ

हे जनक! जैसे रोगीके लिये कुपथ्य अन्नका भक्षण दोषका कारण है, इसी प्रकार अधिकारी पुरुषके लिये व्याकरणादि अनात्म शास्त्रोंका अध्ययन भी बहिर्मुखताका कारण है।

व्याकरणके पदार्थ—पाणिनि ऋषिकृत अष्टाध्यायी आदि व्याकरणग्रन्थोंमें इन पदार्थोंका निरूपण है। शक्ति, गौणी और लक्षणा तीन प्रकारकी वृत्ति है। पदोंका अपने अर्थके साथ जो सम्बन्ध है, उसका नाम वृत्ति है।

शक्तिवृत्ति—शक्तिवृत्ति दो प्रकारकी होती है, एक योगशक्ति, दूसरी रूढिशक्ति।

योगशक्ति—पदके अवयवोंमें रहनेवाली शक्तिका नाम योगशक्ति है। योगशक्तिवाले पदका नाम यौगिक है, जैसे पाचक पदमें दो अवयव हैं, एक 'पच' धातुरूप और दूसरा 'अक' प्रत्ययरूप अवयव है। इनमेंसे 'पच' धातुरूप अवयवकी पाकरूप अर्थमें शक्ति है और 'अक' प्रत्ययरूप अवयवकी कर्तारूप अर्थमें शक्ति है। ये दोनों अवयव मिलकर पाक-कर्ता पुरुषका बोधन करते हैं।

रूढिशक्ति—पदके अवयवोंके समुदायमें रहनेवाली शक्तिका नाम रूढिशक्ति है। रूढिशक्तिवाले पदका नाम रूढ है। जैसे विप्र, गौ, घट आदि अवयवोंके समुदायमें ब्राह्मणादि अर्थके बोधन करनेकी शक्ति है। शक्तिवाले पदका नाम शक्त है।

गौणीवृत्ति—पदके वाच्य अर्थमें वर्तमान गुणद्वारा पदके अवाच्य अर्थके साथ जो सम्बन्ध है, उसका नाम गौणीवृत्ति है। गौणीवृत्तिवाले पदका नाम गौण है। जैसे किसी पुरुषने कहा 'यह बालक अग्नि है' इस वचनमें अग्निशब्दका वाच्य अर्थ तेजस्विता है। लोक-प्रसिद्ध अग्निमें तेजस्वीपना गुण रहता है और बालकमें भी तेजस्वीपना गुण है, इसलिये अग्निपदकी बालकमें गौणीवृत्ति है।

लक्षणावृत्ति—पदके वाच्य अर्थका अवाच्य अर्थके साथ जो सम्बन्ध है, उसका नाम लक्षणावृत्ति है। लक्षणावाले पदका नाम लाक्षणिक है। लक्षणा तीन प्रकारकी होती है, एक जहत् लक्षणा, दूसरी अजहत् लक्षणा और तीसरी लक्षित लक्षणा।

जहत् लक्षणा—जहाँ पदके वाच्य अर्थका परित्याग करके अवाच्य अर्थका ग्रहण है, वहाँ जहत् लक्षणा होती है। जैसे किसीने कहा 'गंगामें ग्राम है' इस वचनमें गंगापदके वाच्य अर्थरूप जलके प्रवाहमें ग्रामकी स्थिति सम्भव नहीं है, इसलिये जलके प्रवाहरूप वाच्य अर्थका परित्याग करके प्रवाहके सम्बन्धी तीरमें गंगापदकी लक्षणा होती है।

अजहत् लक्षणा—जहाँ पदके वाच्य अर्थका त्याग न करके अवाच्य अर्थका ग्रहण होता है, वहाँ अजहत् लक्षणा होती है। जैसे किसीने कहा 'कौओंसे दधिकी रक्षा करो' इस वचनसे काक आदि दधिके नाश करनेवाले श्वानादि जितने पशु हैं, उन सबमें काकशब्दकी लक्षणा है।

लक्षित लक्षणा—पदके वाच्य अर्थका अवाच्य अर्थके साथ जो परम्परा सम्बन्ध है, उसका नाम लक्षित लक्षणा है। जैसे किसीने कहा 'द्विरेफ शब्द करता है', इस वचनमें द्विरेफपदका वाच्य अर्थ दो रकार है। वर्णरूप दो रकारोंमें शब्दको करणता सम्भव नहीं है, इसलिये द्विरेफपदकी मधुकर व्यक्तिमें लक्षणा होती है। यहाँ द्विरेफ-

पदके वाच्य अर्थरूप दो रकारोंका मधुकर व्यक्तिके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु स्वघटित पदवाच्यत्वरूप परम्परा सम्बन्ध है। यहाँ स्वशब्दसे दो रकारोंका ग्रहण है, दो रकारोंसे घटित भ्रमरपदका वाच्य अर्थ मधुकर व्यक्ति है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्रमें पाचकादि पदोंमें शक्ति आदि वृत्तियाँ कथन की हैं।

व्याकरणशास्त्रके कर्ता इस प्रकारके पदार्थोंका भी कथन करते हैं—श्वकः आदि पदोंमें प्राकृति-अर्थ प्रधान होता है और पाचकादि पदोंमें प्रत्ययका अर्थ प्रधान होता है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छः प्रकारके कारक हैं। और पचादि धातुओंके अर्थका नाम क्रिया है। तण्डुलादि पदार्थोंका नाम कर्म है। पचादि धातु सकर्म धातु हैं, भुवादि धातु अकर्म धातु हैं। यह णिच् प्रत्यय प्रयोजक पुरुषके व्यापारका कथन करता है, यह प्रत्यय प्रयोज्य पुरुषका व्यापार कथन करता है, ये प्रकृति-प्रत्यय दोनों एक ही उच्चारण किये जाते हैं। सु, औ, जस् आदि प्रत्ययोंका नाम सुप् प्रत्यय है। सुप् प्रत्यय जिस पदके अन्तमें होता है, उसका नाम सुबन्त पद है। तिप्, तस्, झि आदि प्रत्ययोंका नाम तिङ् प्रत्यय है; तिङ् प्रत्यय जिस पदके अन्तमें होता है, उसका नाम तिङन्त पद है। जहाँ सुप्-तिङ् प्रत्यय विद्यमान होता है, वहाँ दूसरा कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं होता। तद्धित-प्रत्यय, कृदन्तप्रत्यय, कृत्यप्रत्यय ये प्रत्यय हैं। अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्विगु, द्वन्द्व, कर्मधारय, बहुब्रीहि, ये छः प्रकारके समास हैं। यह नामधातु है, यह स्त्रीप्रत्यय है, यह प्रत्यय भावमें है और यह प्रत्यय कर्तामें हैं, इत्यादि व्याकरणशास्त्रमें अनेक प्रकारके शब्द कहे हैं। ये सम्पूर्ण शब्द अनात्म पदार्थोंका बोधन करते हैं, इनके चिन्तन करनेसे अधिकारी परम मोहको प्राप्त होता है।

जैमिनिकृत पूर्वमीमांसाके पदार्थ

ककारादि वर्णोंके समुदायका नाम पद है। पदोंके समुदायका नाम वाक्य है। 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंमें स्थित पद एक दूसरेका परित्याग करके शब्दबोध उत्पन्न नहीं करते, इसलिये ये पद परस्पर आकांक्षावाले हैं और पूर्वोक्त वाक्यमें स्थित पदोंका समूह और 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्यमें स्थित पदोंका समूह, इन दोनों समूहोंको परस्पर आकांक्षा नहीं है, इसलिये दोनों वाक्य परस्पर भिन्न हैं। एक बार उच्चारण किया हुआ पद तथा वाक्य एक ही अर्थका बोधन करता है। जहाँ पद तथा वाक्य दूसरे अर्थको बोधन करें, वहाँ वाक्यभेदकी प्राप्ति होती है। जैसे मायाविशिष्ट परमात्मासे आकाशादि भूत उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार ककारादि वर्ण भी उत्पन्न होते हैं–इस प्रकार उत्तरमीमांसावाले कहते हैं। और पूर्वमीमांसावालोंका यह कथन है कि ककारादि वर्ण विभु हैं, इसलिये उनका उत्पत्ति-नाश सम्भव नहीं है।

शङ्का—यदि ककारादि वर्ण नित्य हैं, तो उनकी सर्वदा प्रतीति होनी चाहिये।

समाधान—जैसे आकाशमें विद्यमान नक्षत्र दिनमें प्रतीत नहीं होते, रात्रिमें ही प्रतीत होते हैं, इसलिये रात्रि उनकी अभिव्यञ्जक है, इसी प्रकार सर्वदा विद्यमान भी ककारादि वर्ण कण्ठ-तालु आदिके सम्बन्ध बिना प्रतीत नहीं होते किन्तु सम्बन्धसे ही प्रतीत होते हैं, इसलिये अन्तर वायुके सम्बन्धवाले जो उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु ये आठ स्थान हैं और स्पृष्टादि जो प्रयत्न हैं, ये ककारादिक वर्णोंके अभिव्यञ्जक हैं। इस प्रकार अभिव्यक्तिको प्राप्त हुए ककारादि वर्ण जब श्रोताके श्रवणमें पहुँचते हैं, तब पद तथा वाक्य संज्ञाको प्राप्त होते हैं। उन पदों और वाक्योंके अन्तमें

स्थित वर्ण ही पूर्व अनुभवजन्य संस्कारोंसे सहकृत हुए पदार्थज्ञान तथा वाक्यज्ञानके कारण होते हैं। पदों और वाक्योंके साथ अर्थका बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध नित्य है। यह बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध घटादि पदोंका घटत्वादि जातियोंमें ही है, इसलिये घटादि शब्दोंसे घटत्वादि जातियोंका ही शब्दबोध होता है। और घटादि व्यक्तियोंका ज्ञान अर्थापत्तिरूप आक्षेपसे होता है। और 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंमें स्थित पद अपने-अपने अर्थोंका स्मरण कराते हैं, इसलिये अभिधायक हैं; यद्यपि वाक्यार्थज्ञानके लिये ही पदोंकी प्रवृत्ति होती है तो भी पदार्थोंके ज्ञान बिना वाक्यार्थका ज्ञान नहीं होता, इसलिये पद अपने-अपने अर्थका भी अवश्य बोधन करते हैं। और 'सच्चिदानन्दरूप आत्मा है' इत्यादि वाक्योंमें स्थित पदोंके स्मरण कराये हुए अपने-अपने अर्थ ही परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यके अर्थको बोधन करते हैं। और जितने पदार्थोंकी आकांक्षा होती है, उन सब पदार्थोंका उस वाक्यमें सम्बन्ध होता है। और कर्ता, कर्म आदि पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी क्रिया-पदार्थके बिना वाक्यार्थकी पूर्णता नहीं होती। क्रियापदार्थ ही वाक्यकी पूर्णता करता है। और जो वाक्य दूसरे वाक्यकी अपेक्षा न करे, उसका नाम वाक्य है; इसलिये एक वाक्यमें एक ही क्रियापद होता है, अनेक नहीं होते। जहाँ एक वाक्य दूसरे वाक्यकी अपेक्षा करता है, वहाँ प्रकरणरूप प्रमाण होता है। क्रियापदघटित वाक्योंमें लिङ्, लोट्, लेट तव्यादि कृत्यप्रत्यय विधिका बोधन करते हैं। लोक और वेदमें जो पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं होते, वे अज्ञात पदार्थ ही लिङादि विधिप्रत्ययोंके अर्थ होते हैं। अपौरुषेय वाक्योंके समूहका नाम वेद है। वेद भी दो प्रकारका है, एक मन्त्रभाग और दूसरा ब्राह्मणभाग। विधिवाक्योंके यज्ञादिरूप अर्थकी स्तुति करके अधिकारी पुरुषोंको उनमें प्रवृत्त करनेवाले वेदवाक्य अर्थवादरूप हैं। अर्थवाद भी तीन प्रकारके होते हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। जिस वाक्यमें क्रियापद नहीं होता, उसमें पूर्व अथवा उत्तर वाक्यसे क्रियापदका अनुषंग होता है, इस प्रकार जिस वाक्यमें कर्ता-कर्मादि कारकोंका वाचक पद नहीं होता, उसमें पूर्वोत्तर वाक्यसे उन पदोंका अनुषंग करते हैं। जिस वाक्यमें जो पद अपेक्षित हो और वह पूर्वोत्तर वाक्यमें न हो, तो उस वाक्यमें उस पदका अध्याहार करे। आकांक्षा, योग्यतादिके वशसे पदोंका तथा वाक्योंका परस्पर व्यत्ययभाव करना चाहिये। पदोंका अर्थके साथ सम्बन्ध लोकमें वृद्ध पुरुषोंके व्यवहारसे जाना जाता है, इसलिये लौकिक शब्द ही वैदिक शब्द हैं। यद्यपि लोक-वेदमें पद-पदार्थोंकी समानता है, तो भी वेदमें वाक्योंका अर्थ अपूर्व होता है। पूर्वकाण्डके वाक्योंका धर्मरूप अर्थ है और उपनिषद्रूप उत्तरकाण्डके वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्मरूप अर्थ है; ये दोनों ही प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं हैं, इसलिये दोनों अपूर्व हैं। विधिवाक्योंके यज्ञादिरूप अर्थकी स्तुति करके और उस अर्थसे भिन्न अर्थकी निन्दा करके अर्थवादरूप वचन उस अर्थमें अधिकारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति कराता है। मन्त्ररूप वचन देवतादिका स्मरण कराता है, इसलिये अर्थवाद तथा मन्त्र विधिवाक्यके ही अर्थमें प्रमाण हैं। ये विधिवाक्य चार प्रकारके हैं—विनियोग, प्रयोग, उत्पत्ति और अधिक्रिया। जो विधिवाक्य भावनाका प्रतिपादन करता है, उस वाक्यके अर्थमें साधन, साध्य और इतिकर्तव्यता ये तीन उपयोगी होते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्यके अर्थज्ञानके बाद यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे धर्मरूप अपूर्व उत्पन्न होता है, इस धर्मरूप अपूर्वसे इस पुरुषको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। वेदप्रतिपादित कर्म दो प्रकारके हैं, प्राकृत और वैकृत। यह कर्म इसी

110351

प्रकार करे, इस प्रकार विधान किया हुआ कर्म प्राकृत कर्म होता है। और यह कर्म इस कर्मके समान करे, इस प्रकार विधान किया हुआ कर्म वैकृत कर्म होता है। शब्दान्तर, अभ्यास, संज्ञा, संख्या, गुण, प्रकरणान्तर इनसे कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, उन कर्मोंमें कोई कर्म अंगरूप और कोई अंगीरूप होते हैं। अंगांगिभावमें श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या ये छः प्रमाण हैं। अंगांगिभाव निश्चय करनेके बाद इयत्तारूप परिमाण श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, प्रवृत्ति इन छः प्रमाणोंसे जाना जाता है। परिमाण यह है कि पत्नीयुक्त त्रैवर्णिक अधिकारी पुरुषोंमें एक तथा अनेकोंसे व्यवस्थापूर्वक करने योग्य है और यज्ञादि कर्मोंमें उपयोगी द्रव्य तथा देवताको देखकर विवेकी पुरुषको निश्चय करना चाहिये कि यह कर्म इस दूसरे कर्मकी विकृति है। इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंका परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव निश्चय करे। विकृति यज्ञोंमें बुद्धिमान् पदादिको कहा करें और सर्व कर्मोंके पूर्ण होनेपर विकृति कर्मोंमें प्रकृति कर्मोंके अंगोंका निवृत्तिरूप बाध जानें। जहाँ अन्यके लिये किये हुए अंगसे अन्यका उपकार हो, इसका नाम प्रसंग है और एक बार किया हुआ जो कर्म नाना कर्मोंका अंग हो, उसका नाम तन्त्र है। इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ पूर्वमीमांसामें जैमिनि ऋषिने कहे हैं। उनके अभ्याससे आजकलके पुरुष अपनेको पण्डित मानकर विद्वानोंकी सभामें स्थित होकर उन पदार्थोंका कथन करते हैं और अभिमानसे ऐसा कहते हैं कि उत्तरमीमांसाको भी हम ही जानते हैं। उत्तरमीमांसामें ब्रह्मके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति कही है और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें यज्ञादि कर्मोंसे लेकर अनेक साधन कहे हैं, उन सब साधनोंको हम भलीप्रकार जानते हैं। इस प्रकार मीमांसा-शास्त्रके अनात्म पदार्थोंका चिन्तन करके वे बहिर्मुख पुरुष नाना प्रकारके व्यामोहको प्राप्त होते हैं।

गौतमकृत न्यायशास्त्रके पदार्थ

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण इन तीन अवयवोंके समुदायरूप वाक्यसे परार्थ अनुमान होता है, ऐसा मीमांसक मानते हैं और उदाहरण, उपनय इन दो अवयवोंके समुदायरूप वाक्यसे परार्थ अनुमान होता है, ऐसा बौद्ध मानते हैं; ये दोनों मत असंगत हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इन पाँच अवयवोंके समुदायरूप वाक्यसे परार्थ अनुमान होता है।

ये नैयायिक दूसरे शास्त्रवालोंके मतमें इस प्रकार दूषण कहते हैं कि तुम्हारे मतमें यह आत्माश्रयरूप, यह अन्योन्याश्रयरूप, यह चक्रिकारूप, यह अनवस्थारूप, यह व्याघातरूप, यह प्रतिद्वन्द्वीरूप तर्क प्राप्त होता है; तुम्हारा तर्क इष्टापत्तिरूप दूषणग्रस्त होनेसे असत्य है; यह तुम्हारा तर्क प्रतिवादीका अनिष्ट नहीं करता, इसलिये असत्य है, यह तर्क व्याप्तिसे रहित होनेसे असत्य है, यह तर्क विपरीत होनेसे असत्य है, यह तर्क अनुग्राहक प्रमाणसे रहित होनेसे अप्रयोजक है, यह तुम्हारा हेतु व्याप्तिपक्षता धर्मसे रहित होनेसे हेत्वाभास है, यह साध्य आश्रय तथा प्रसिद्धिसे रहित है, इस तुम्हारे अनुमानमें कोई दृष्टान्त समीचीन नहीं है, इस अनुमानमें तुमने उदाहरण व्यर्थ कहा है, इस अनुमानमें निगमन व्यर्थ कहा है, इत्यादि अनेक अनात्म पदार्थ न्यायशास्त्रमें कहे हैं। हे जनक! इस प्रकार व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायशास्त्रमें अनेक प्रकारके अनात्म पदार्थ कहे हैं। उनमें आसक्ति करके बहिर्मुख पुरुष इस प्रकार कहते हैं--इस सम्पूर्ण अर्थको हम ही जानते हैं, हमारे सिवा दूसरा कोई नहीं जानता, इस प्रकार अपनेको सबसे उत्कृष्ट मानकर वे बहिर्मुख पुरुष व्यर्थ ही क्रोधको प्राप्त होते हैं। जैसे अनेक श्वानोंसे घिरा हुआ श्वान क्रोध करके दाँत दिखाता है, इसी

प्रकार बहिर्मुख पुरुष अपने दाँत दिखाते हैं। हे जनक! वेदान्तशास्त्रका विचार छोड़कर जो पुरुष पूर्वोक्त अनात्म शास्त्रोंका विचार करते हैं वे यद्यपि लोकमें शास्त्रवेत्ता कहे जाते हैं, तो भी उनमें अन्य जीवोंसे कुछ भी विशेषता नहीं है। क्योंकि सब जीवोंमें क्षुधा, पिपासा, भय, निद्रादि धर्म समान हैं। यदि कोई कहे कि अनात्म शास्त्रके विचार करनेवाले अन्य जीवोंसे अधिक सम्भाषण करते हैं, यह उनमें विशेषता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बहुत बोलनेसे क्रोष्टा नामको प्राप्त हुए शृगालोंसे उनमें कुछ भी विशेषता नहीं है किन्तु वे उनके समान ही हैं। हे जनक! अनात्म शास्त्रके विचार करनेवाले बहिर्मुख पुरुष ब्रह्मचिन्तन करनेवाले विद्वानोंका प्रयोजन बिना ही निरादर करते हैं और शास्त्रके व्याख्यान करनेवाले महात्मा पुरुषोंका उपहास करते हैं। जैसे कोई दुर्जन पिशुन दोषरहित महात्माओंमें दोषारोपण करके उन दोषोंका कथन करे, इसी प्रकार अनात्म पदार्थोंके विचारसे अत्यन्त अभिमानको प्राप्त हुए बहिर्मुख पुरुष ऋषियोंमें भी इस प्रकार दोषारोपण करते हैं।

दोषारोपण

पाणिनि ऋषिने यह सूत्र विचार बिना रचा है, जैमिनि ऋषिने यह सूत्र विचारसे नहीं रचा, व्यास भगवान्ने यह सूत्र विचार बिना ही रचा है, क्योंकि पूर्व अथवा उत्तर सूत्रसे इस अर्थकी सिद्धि हो सकती है, इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है। यह वेदवचन उन्मत्तके वचनके समान असंगत प्रतीत होता है, इसलिये यह वचन परमेश्वररचित नहीं है किन्तु किसी धूर्तने वेदमें मिला दिया है, इसलिये व्यर्थ है। अथवा यह वचन परमेश्वररचित होनेसे व्यर्थ नहीं है किन्तु सार्थक है; परन्तु इसका अर्थ एक मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं जानता। इस प्रकार बर्हिमुख पुरुष जिन ऋषियोंके रचे शास्त्रोंको पढ़कर बुद्धिमान् होते हैं उनमें ही नाना प्रकारके दोषोंका आरोपण करते हैं। और वेदके पाठको सुनकर बर्हिमुख पुरुष इस प्रकार कहते हैं—यहाँ यह स्वर चाहिये था, यहाँ यह वर्ण होना चाहिये, यह पद लगता है, यहाँ यह क्रम उपयोगी है, ये स्वर-वर्णादि ब्राह्मणोंने नहीं पढ़े, इसलिये इन्होंने वेदको ही नष्ट कर दिया है। इस प्रकार बर्हिमुख वेदपाठक साधु-ब्राह्मणोंकी भी निन्दा करते हैं और कहते हैं—शास्त्रके विचारमें जैसी हमारी बुद्धि तीक्ष्ण है वैसी हमारे गुरुकी भी नहीं है, ब्रह्माकी भी नहीं है, अन्य किसीकी भी न हुई है, न है और न आगे होगी! जैसे समुद्रमें अनेक प्रकारकी लहरें उठती हैं, इसी प्रकार मेरे मुखरूपी समुद्रमें व्याकरण, मीमांसा, न्यायशास्त्रके अनुसार विचित्र वाणियाँ निकलती हैं। हे जनक! जैसे भारसे आतुर हुआ गर्दभ अनेक प्रकारके शब्द करता है, इसी प्रकार अनात्म शास्त्ररूप भारसे आतुर हुए बर्हिमुख पुरुष नाना प्रकारके शब्द उच्चारण करते हैं। इसलिये बर्हिमुख अत्यन्त दुर्जन हैं। हे जनक! इस लोकमें स्त्री, पुत्र, धनादिका त्यागना अत्यन्त कठिन है, तो भी कोई पुरुष उनका त्याग करके संन्यास आश्रमको धारण करके भी विद्यादिका अभिमान नहीं त्यागते। जैसे कोई भारवाही पुरुष अपने सिरपर रक्खे हुए दधि आदि क्षुधाकी निवृत्ति करनेवाले भारको छोड़कर पाषाणका भार अपने सिरपर रख ले वह अत्यन्त मूढ़ है, इसी प्रकार सुखके साधन स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको छोड़कर संन्यास आश्रमको धारण करके भी जो विद्या-आश्रमादिके अभिमानरूप भारको उठावे, वह भी अत्यन्त मूढ़ है! इसलिये कल्याणाभिलाषी पुरुषको वेदान्तशास्त्रके सिवा अन्य अनात्म शास्त्रोंका विचार कभी न करना चाहिये, क्योंकि वह केवल इन्द्रियोंको परिश्रम देनेवाला और अभिमानको बढ़ानेवाला है—

नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचोविग्लापनं हि तत् ।

'बहुत अनात्म पदार्थोंका चिन्तन इस पुरुषके वागादि इन्द्रियोंको परिश्रमकी प्राप्ति करानेवाला है ।' इसलिये अधिकारी पुरुष अनात्म पदार्थोंका चिन्तन न करे किन्तु निरन्तर वेदान्तशास्त्रका ही चिन्तन करे ।

हे जनक ! जैसे लोकप्रसिद्ध गौ अपने चार स्तनोंसे वत्सकी तृप्ति करती है, इसी प्रकार स्वाहाकार, वषट्कार, स्वधाकार, हन्तकार इन चार स्तनोंसे देवता, ऋषि, पितर, मनुष्यादि सम्पूर्णकी तृप्ति करनेवाली वेदवाणीरूप गौको जो पुरुष अभिमानादि विकारोंसे रहित होकर प्रसन्न करते हैं, उन अधिकारी पुरुषोंको वेदवाणीरूप कामधेनु मोक्षरूप दुग्धकी प्राप्ति कराती है । और जो पुरुष अभिमानादि विकारोंसे युक्त हुए वेदवाणीरूप कामधेनुको ग्लानि उत्पन्न कराते हैं, उनको अमृतरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं कराती, इसलिये कौन विवेकी पुरुष वेदवाणीरूप कामधेनुको ग्लानिकी प्राप्ति करावेगा ? बहिर्मुख पुरुष भले ही ऐसा करे। इसलिये वेदवाणीरूप कामधेनुको प्रसन्न करनेके लिये ऐसा उपाय करे कि अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मामें अपने मनको एकाग्र करके नेत्रादि वाह्य इन्द्रियोंके व्यापारका त्याग करे। ऐसा करनेसे प्रसन्न हुई वेदवाणीरूप कामधेनु अधिकारी पुरुषको मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति कराती है ।

सगुण ब्रह्ममें मनका लय

हे जनक ! मन अत्यन्त चञ्चल है, यदि तू निर्गुण ब्रह्ममें मनको लय न कर सके तो सगुण ब्रह्मका अभेदचिन्तनरूप दूसरा उपाय कहता हूँ, सावधान होकर सुन—हे जनक ! पूर्व मैंने प्राण-इन्द्रियोंके साक्षीरूप परमात्माका कथन किया था। यह परमात्मा बुद्धिके सम्बन्धसे विज्ञानमय संज्ञाको प्राप्त होता है, वह सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है; इस परमात्मामें विज्ञानमय जीव सुषुप्ति अवस्थामें अभेदभावको प्राप्त होता है; यह परमात्मदेव सर्वत्र पूर्ण है, इसलिये श्रुति भगवती परमात्माको महान् कहती है । वह जन्म-मरणादिसे रहित है, इसलिये श्रुति परमात्माको अज कहती है । जैसे मन्त्रसिद्धिवाले पुरुषके सब प्राणी वशवर्ती होते हैं इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्माके सम्पूर्ण भूत तथा भौतिक जगत् वशवर्ती है, इसलिये श्रुति परमात्माको वशी कहती है। अथवा जैसे पुत्रोंमें स्नेहवाली माताको पुत्र अपने वश कर लेता है, इसी प्रकार परमात्मा जीवोंके हृदयको छोड़कर कहीं नहीं जाता, इसलिये जीवोंने परमात्माको अपने वश कर रक्खा है। इसीलिये श्रुति परमात्माको वशी कहती है। जैसे कोई वृद्ध चतुर पुरुष पुत्रादि अपने कुटुम्बको अपनी आज्ञामें चलाता है, इसी प्रकार परमात्मदेव सम्पूर्ण जगत्को अपनी आज्ञामें चलाता है। इसलिये श्रुति परमात्माको ईशान कहती है । जैसे सूर्य भगवान् सब जगत्का पालन करते हैं, इसी प्रकार परमात्मादेव फलप्रदातारूपसे सबका पालन करता है, इसलिये श्रुति परमात्माको अधिपति कहती है। जैसे पुण्यवान् पुरुष पुण्यसे वृद्धिको प्राप्त होता है, इसी प्रकार परमात्मा पुण्यकर्मसे वृद्धिको प्राप्त होता है और जैसे पापी पापसे लघुताको प्राप्त होता है, इसी प्रकार पापसे परमात्मा लघुताको प्राप्त होता है ।

हे जनक ! वस्तुतः पुण्य-पाप तथा विषमतासे रहित परमात्मादेव महाराजाके समान सम्पूर्ण जगत्को अपनी आज्ञामें चलाता है, इसलिये सर्वेश्वर कहलाता है; सूर्य भगवान्के समान परमात्मा सब भूतोंका राजा है, इसलिये भूताधिपति कहलाता है; माताके समान परमात्मा सब भूतप्राणियोंका पालन करता है, इसलिये भूतपाल कहलाता है । जैसे सेतु नदीके जलकी मर्यादाको

धारण करता है, इसी प्रकार परमात्मा भूतादि लोक तथा वर्णाश्रमोंकी मर्यादाको धारण करता है, इसलिये सेतु कहलाता है। हे जनक! यदि परमात्मा जगत्की मर्यादाकी व्यवस्था न करे तो पृथिवी आदि पञ्चभूत अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर सम्पूर्ण जगत्का प्रलय करने लगें, तो कौन निवारण करे? परमात्मा ही उनको उनकी मर्यादामें स्थापन कर रहा है। हे जनक! महान् पराक्रमवाले, अग्निसमान तेजस्वी, अस्त्र-शस्त्रविद्यामें अत्यन्त कुशल प्रियव्रतादि क्षत्रिय राजालोग यदि अपनी मर्यादाको त्यागकर प्रजाका अनर्थ करने लगें, तो सर्वज्ञ परमात्माके सिवा दूसरा कौन उन्हें निवारण करे? परमात्मा ही उनको उनकी मर्यादामें स्थापन कर रहा है, वर-शाप देनेमें समर्थ दुर्वासादि क्रोधी ब्राह्मण यदि शापसे तीनों लोकोंको भस्म करने लगें, तो परमात्माके सिवा दूसरा कौन उन्हें निवारण करे? परमात्मादेव ही उनको अपनी मर्यादामें स्थापन कर रहा है। परमात्मा ही सिंहादिको हिंसासे निवारण करता है, परमात्मा ही समुद्रोंको मर्यादामें रखता है, परमात्मा ही गंगा आदि नदियोंको उलटा बहने नहीं देता, परमात्माने ही पृथिवीको जलके ऊपर स्थित कर रक्खा है; परमात्मादेवने ही सूर्य-चन्द्रादिको पोलमें स्थिर कर रक्खा है, वे गिरने नहीं पाते, हे जनक! जो परमात्मा सेतुके समान सब जगत्की व्यवस्था करता है, उस परमात्माको ही तू अपना आत्मा निश्चय कर।

मनकी अन्तर्मुखताका उपाय

हे जनक! यदि तू कहे कि मायाविशिष्ट सगुण ब्रह्मको भी बहिर्मुख पुरुष जान नहीं सकते तो विद्वानोंने अन्तर्मुखताका जो उपाय कहा है, इसको कहता हूँ, सुन—हे जनक! बाहर अथवा भीतर जहाँ-जहाँ मन जाता है, इच्छासे ही जाता है, इसलिये इच्छा ही मनकी प्रवृत्तिका कारण है। यह पदार्थ सब दोषोंसे रहित सुन्दर है, इस प्रकार जिस पदार्थको मन सुन्दर जानता है, उसीकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, इससे सिद्ध होता है कि सुन्दरताका ज्ञान इच्छाका कारण है। पापी जीवोंको सिंह-सर्पादि अप्रिय पदार्थोंका ज्ञान पूर्वके पापकर्मसे होता है, इसलिये पापकर्म अप्रिय पदार्थके ज्ञानका कारण है; और पुण्यवान् पुरुषोंको धनादि प्रिय पदार्थोंका ज्ञान पूर्वके पुण्यके प्रभावसे होता है, इसलिये पुण्यकर्म प्रिय पदार्थोंके ज्ञानका कारण है। इसलिये जिस अधिकारीको आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा हो, वह यज्ञ, दान, तप आदि पुण्यकर्म करे। ऐसा करनेसे उसे आत्माके सौन्दर्यका ज्ञान होता है और सौन्दर्यका ज्ञान होनेके बाद अधिकारीको आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्तिकी इच्छा होती है, इच्छाके बाद वह आत्माकी प्राप्तिमें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंका आत्मज्ञानमें परम्परासे उपयोग है।

शङ्का—हे भगवन्! यज्ञादि कर्म तो स्वर्गादि फलके साधन हैं, आत्मज्ञानके साधन वे कैसे हैं?

समाधान—हे जनक! जैसे 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस वचनसे दर्शपौर्णमास नामक यज्ञोंमें नित्यकर्मरूपता सिद्ध होती है और 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वचनसे इच्छाकी उत्पत्तिद्वारा उन यज्ञोंमें काम्यकर्मरूपता सिद्ध होती है। इस इच्छाके वशसे यज्ञादि कर्म यद्यपि स्वर्गादिक फलके साधन हैं तो भी—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

'अधिकारी ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप, अनाशक आदि कर्मोंसे आनन्दस्वरूप आत्माके जाननेकी इच्छा करता है।' इस श्रुतिवचनसे

यज्ञादि कर्मोंमें आत्मज्ञानकी कारणता भी सिद्ध होती है।

हे जनक! इस श्रुतिमें कहे हुए यज्ञ, दान, तप, अनशन, इन चार प्रकारके कर्मोंके वर्णाश्रमभेदसे नाना स्वरूप हैं।

यज्ञोंके स्वरूपकी व्यवस्था—हे जनक! दर्श, पौर्णमास आदि जितने द्रव्यसाध्य यज्ञ हैं, उनमें गृहस्थाश्रमवालेका ही अधिकार है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी इनका नहीं है। मन्त्रजपरूप यज्ञ, समाधिरूप यज्ञ, इन बिना ही द्रव्यके साध्य होनेवाले यज्ञोंमें चारों आश्रमोंका अधिकार है। इतनी विशेषता अवश्य है कि गृहस्थके सिवा अन्य तीन आश्रमोंको इनमें मुख्य अधिकार है और गृहस्थको गौण अधिकार है। धनके ही बिना सिद्ध होनेवाले ज्ञान, अभ्यासरूप यज्ञोंमें चारों आश्रमोंको अधिकार है, केवल इतनी विशेषता है कि इनमें संन्यासीको मुख्य अधिकार है, औरोंको गौण अधिकार है।

दानके स्वरूपकी व्यवस्था–हे जनक! पक्क अन्न, कच्चा अन्न, सुवर्ण, गौ, अश्व, पृथिवी आदि पदार्थोंका दान शास्त्रमें विहित है। संन्यासाश्रमके सिवा तीनों आश्रमोंको यह दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। संन्यासीको सब प्राणियोंको केवल अभयरूप दान करना चाहिये। शरीर, वाणी और मनसे किसी जीवको दुःखकी प्राप्ति न करानी, इसका नाम अभयदान है। इस अभयरूप दानसे अधिक कोई दान नहीं है, अभयदान ही सब दानोंसे उत्कृष्ट दान है। हे जनक! यह अभयदान केवल संन्यासी ही करे, अन्य आश्रमवाले न करें, ऐसा शास्त्रका तात्पर्य नहीं है; किन्तु चारों वर्ण और चारों आश्रमवालोंको यह अभयरूप दान अवश्य करना चाहिये और संन्यासीको तो विशेषरूपसे यही दान कर्तव्य है। क्योंकि कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, इन चारोंमेंसे किसी भी संन्यासाश्रमको धारण करनेकी इच्छा जभी यह अधिकारी करे, तभी 'मैं सब भूत-प्राणियोंको अभयदान देता हूँ' यह मन्त्र उच्चारण करके गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासाश्रम ग्रहण करे। इसलिये संन्यासीको सब जीवोंको अभयदान अवश्य देना चाहिये। संन्यासाश्रमको धारण करके जो पुरुष शरीर, मन, वाणीसे किसीको पीड़ा देता है उसका संन्यासाश्रम निष्फल है; इसलिये संन्यासाश्रम सफल करनेके लिये संन्यासीको सबको अभयदान अवश्य देना चाहिये। और संन्यासी अधिकारी पुरुषोंको ब्रह्मविद्या और ब्रह्मविद्याके साधनोंका दान करे, यह शास्त्रका वचन भी इसलिये नहीं है कि अपनी प्रतिष्ठा तथा धनादि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मविद्याका दान करे; किन्तु शास्त्रका यह अभिप्राय है कि मेरे शरणमें आये हुए अधिकारी शिष्योंको अभयकी प्राप्ति हो। इस प्रकार ब्रह्मविद्यादान भी अभयदानरूप ही है।

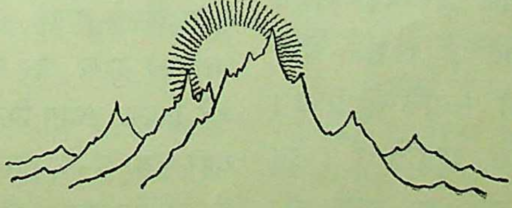

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय)

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

ईश्वरको सत्ता माननेसे हमारे जीवनमें कुछ ऐसी मधुरता आ जाती है जिसकी कोई सीमा नहीं । यह भावना ही कितनी दिव्य है कि कोई सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और दयामय भगवान् भी हैं जो हमारी सब प्रार्थनाओंको सुनते और सब दुःखोंसे हमें छुड़ाते हैं ! भगवान् सदा हमारे साथ हैं, परन्तु हम उन्हें देख नहीं पाते; क्योंकि हमारे पूर्वसञ्चित पाप बीचमें अन्तराय बनकर खड़े हैं । यह अन्तराय बहुत बड़ा है, तो भी यदि वे चाहें तो इसे एक क्षणमें हटा सकते हैं । यदि हम इन्द्रियसुखोंके बजाय निष्कपटभावसे उन्हें चाहें तो वे इसे अवश्य हटा देंगे । जिस क्षणमें उनपर विश्वास किया जाता है ऐसा प्रत्येक क्षण इस अन्तरायको क्षीण करता जाता है और उतना ही हम उनके समीप पहुँचते हैं । ऐसे भगवान्का दास होकर रहना स्वतन्त्रताकी पराकाष्ठा है, क्योंकि इससे इन्द्रियोंके अत्याचारसे, जगत्के अत्याचारसे मुक्ति मिल जाती है । भगवान्की सत्ता मान लेनेसे व्यास और वाल्मीकि, वशिष्ठ और विश्वामित्र, ईसा और महम्मद, शङ्कराचार्य और रामानुज, चैतन्य और तुलसीदास, रामकृष्ण परमहंस और तैलङ्ग स्वामी आदि महापुरुषोंका दुर्लभ सत्सङ्ग प्राप्त होता है । भगवान्की सत्ता मान लेनेसे जीवनका बेकार-से-बेकार समय भी बहुमूल्य सम्पदा बन जाता है । इससे भयभीत करनेवाले बड़े-बड़े सङ्कट परमानन्दके स्रोत बन जाते हैं । सब धर्म-सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थ भगवान्की सत्ताके साक्षी हैं । ये भगवान् हमें सब दुःखोंसे छुड़ाते हैं । उन भगवान्को हम पा सकते हैं यदि हम उनके प्रति आस्थावान् हों और उनकी ओर ले जानेवाले किसी निश्चित मार्गका अनुसरण करें । सदासे सब देशोंके साधु-महात्मा यह बतलाते चले आये हैं कि हम लोगोंने अमुक-अमुक मार्गका अनुसरण करके भगवान्को प्राप्त किया है । ऐसे साधु-महात्मा आज भी मिल सकते हैं यदि हम उन्हें ढूँढ़नेका प्रयास करें । इसलिये हमें भगवान्की सत्तापर विश्वास करना चाहिये और किसी-न-किसी निश्चित मार्गका अनुसरणकर उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

ईश्वरकी सत्तापर विश्वास न हो तो यह जीवन बेकार है, क्योंकि इस विश्वासके बिना संसारके दुःख हमारे ऊपर कब्जा कर लेते हैं । यह संसार दुःख, व्याधि, जरा, विरह और मृत्युसे भरा हुआ है । संसारके बड़े-से-बड़े पराक्रमी पुरुषका भी इनसे छुटकारा नहीं है । ईश्वरकी सत्तापर विश्वास किये बिना कोई भी इस दुःखसागरको पार नहीं कर सकता ।

ईश्वर-विश्वासके बिना परोपकार भी जीवनका पूर्ण ध्येय नहीं बन सकता । क्योंकि ईश्वर-विश्वासके बिना परोपकारी भी नैराश्यको प्राप्त हो सकता है । जब मनुष्य यह देखता है कि इस जगत्में कितना दैन्य और दुःख भरा हुआ है और कोई मनुष्य उसे कितना हटा सकता है तब उसे निराशा ही होती है । इस दुःखके कारणोंकी कुछ भी मीमांसा नहीं हो सकती—सिवा इस बातको मान लेनेके कि यह कृतकर्मका ईश्वरप्रदत्त फल है और इसे हम यदि ठीक तरहसे समझ लें तो हमारे हृदय शुद्ध हो जायँगे । मनुष्यजातिका दुःख दूर करनेके लिये बोलशेविकोंने बड़े-बड़े बिकट उद्योग किये । परन्तु उनके उद्योगोंका फल यही हुआ है कि क्रूरता और दुराचारोंकी ही वृद्धि हुई है, क्योंकि उन लोगोंने ईश्वर-विश्वासकी नींव बिना ही परोपकारका ढाँचा खड़ा करनेका यत्न किया ।

ईश्वरके सम्बन्धमें अविश्वासका अर्थ है पारमार्थिक आत्महत्या ।

३–ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?

व्यास, वाल्मीकि, ख्रिस्त, महम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस आदि महात्माओंने कहा है कि हम लोगोंने ईश्वरको प्राप्त किया है । वे झूठ क्यों बोलने लगे ? यह भी तो नहीं हो सकता कि ये सब-के-सब भ्रममें पड़ गये हों, क्योंकि ये लोग बहुत बड़े ज्ञानी थे ।

अनादि कालसे लोग वेदोंका अध्ययन करना और वेदोंको कण्ठस्थ करना अपने जीवनका व्रत बनाये हुए चले आये हैं । वैदिक मन्त्र पहले-पहल जिन लोगोंसे प्राप्त हुए उन्होंने यह कहा कि ये मन्त्र हमारे बनाये हुए नहीं हैं किन्तु ये हमें दर्शनसे प्राप्त हुए हैं । वेदमन्त्रोंके ये द्रष्टा वे लोग थे जिन्होंने दीर्घकालीन तपस्यासे महान् आध्यात्मिक पद लाभ किया था । यह तो नहीं हो सकता कि वे सब भण्ड या मूर्ख थे । व्यास और वाल्मीकि-जैसे बड़े-बड़े ऋषि इस बातको मानते थे कि वेद मनुष्यकृत नहीं हैं बल्कि ईश्वरके निश्वसित हैं । यदि वेद पौरुषेय होते तो मानवबुद्धिकी कृतियोंके समान इनमें भी अनेकविध त्रुटियाँ होतीं । वेद इतने शुद्ध हैं कि उनका कोई पद या स्वर या क्रम भी कोई बदलनेका साहस नहीं कर सकता । प्राचीन कालमें हमारे अनेक आचार्योंने अपना जीवन वेदाध्ययनमें व्यतीत कर वेदोंका भाष्य किया है, परस्परविरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले वचनोंका समन्वय किया है और वेदवचनोंकी महत्ता प्रकट की है । प्रथम श्रेणीके पाश्चात्य विद्वान् भी वेदार्थकी महत्ता और अलौकिकतासे प्रभावान्वित हुए हैं ।

ये वेद ईश्वरकी सत्ताकी साखी देते हैं, इसलिये निश्चय ही ईश्वरकी सत्ता है ।

रासलीला-रहस्य

(एक महात्माके उपदेशके आधारपर)

[गतांकसे आगे]

इस प्रकार जिस समय भगवान्ने उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको और गोपांगनाओंको देखकर रमणकी इच्छा की—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

अन्वय—**तदा चर्षणीनां शुचो मृजन् दीर्घदर्शनः प्रियः प्रियाया इव करैर्धृतेन अरुणेन प्राच्या ककुभः मुखं विलिम्पन् उडुराजः उदगात् ।**

भावार्थ–उसी समय लोगोंके शोकका मार्जन करता आ तथा जिस प्रकार दीर्घकालमें मिलनेवाला प्रियतम अपनी प्रियतमाके शोककी निवृत्ति करता है उसी प्रकार अपने शीतल करों (किरणों या हाथों) में धारण की हुई उदयकालीन लालिमासे पूर्वदिशाके मुखका लेपन करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ ।

व्याख्या–'तदा' अर्थात् जिस क्षणमें भगवान्को रमणकी इच्छा हुई उसी समय चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि सेवककी यह रीति है कि जिस समय स्वामीकी इच्छा हो उसी समय सेवामें उपस्थित हो जाय । ये उडुराज क्यों उदित हुए ? क्योंकि ये उद्दीपन विभाव हैं अर्थात् भगवान्की जो रमणेच्छा है उसे और भी उद्दीप्त करनेके लिये ही इनका प्राकट्य हुआ है । 'उडुराज' शब्दका अर्थ है 'उडूनां तारकाणां राजा' अर्थात् तारोंका राजा । इससे उस समय चन्द्रदेवका सपरिवार उदित होना ध्वनित होता है । उनके अभ्युदयसे ही चर्षणी जो समस्त प्राणी उनके शरत्कालीन सूर्यसे प्राप्त हुए ताप और मनोग्लानि शान्त हो गयी । श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

शरदातप निशि शशि अपहरई । संतदरश जिमि पातक टरई ॥

वे उदित किस प्रकार हुए ?—'प्राच्या ककुभः मुखं करैर्धृतेन अरुणेन विलिम्पन्' अर्थात् अपनी शीतल और सुकोमल किरणोंमें धारण किये हुए अरुण रागसे पूर्वदिशाके मुखको लेपित करते हुए। मानो इस प्रकार नायक-नायिकाकी रीतिको प्रदर्शित करते हुए चन्द्रदेव यहाँ शृङ्गाररसके उद्दीपन बने हुए हैं। यद्यपि चन्द्रमाका सम्बन्ध सभी दिशाओंसे है तथापि उनमें पूर्वा दिक् ही प्रधान है। अतः पूर्वदिशाके साथ संश्लिष्ट होकर अपनी किरणोंमें धारण किये हुए अरुणसे उसका मुखलेपन करता हुआ और स्वयं भी अनुरक्त होता हुआ वह उदित हुआ। अर्थात् प्राची दिशासे संश्लिष्ट होनेपर चन्द्रमाने उसे भी अनुरक्त किया और वह स्वयं भी अनुरञ्जित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वादिक्संसर्गसे उसका अनुराग स्वयंसिद्ध है, जैसे नायिकाके प्राप्त होते ही नायक अनुरक्त हो जाता है।

इसका भी विशेषण है 'दीर्घदर्शनः'। यह 'उडुराजः' और 'प्रियः' दोनोंहीका विशेषण हो सकता है। 'बह्वीनां रात्रीणामन्ते दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियोंके पश्चात् हुआ हो उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। पूर्वदिशाके साथ चन्द्रमाका ठीक-ठीक सम्बन्ध पूर्णिमाको ही होता है, इसलिये चन्द्रमा दीर्घदर्शन है। तथा इधर दृष्टान्तपक्षमें यह प्रियका भी विशेषण है। अर्थात् जिसका दर्शन बहुत कालके पश्चात् हुआ है ऐसा कोई प्रियतम जिस प्रकार 'शन्तमैः करैः' अपने सुखावह करव्यापारोंसे प्रियतमाका शोक निवृत्त करता है उसी प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणोंसे पूर्वदिशाके मुखको रागरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार करव्यापारोंसे भी शृंगाररसका उद्दीपन ही सूचित होता है।

इसे प्रकृत प्रसंगमें दूसरी तरह भी लगाते हैं—

'यथा उडुराजः चर्षणीनां शुचो मृजन् शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन च प्राच्या ककुभः मुखं विलिम्पन् उदगात्तथा दीर्घदर्शनः प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखं शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन कुङ्कुमेन च निलिम्पन् चर्षणीनां गोपीजनानां शुचः शोकाश्रूणि मृजन् उदगात् ।'

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा मनुष्योंका शोकापनोदन करता हुआ तथा अपनी शीतल किरणोंसे उनमें धारण की हुई उदयकालीन लालिमासे पूर्वदिशाका मुख लेपन करता हुआ उदित हुआ उसी प्रकार बहुत काल पीछे दिखायी देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुसुताके मुखारविन्दको अपने करकमलोंमें धारण किये हुए कुंकुमसे लेपन कर गोपीजनोंके शोकाश्रुओंका मार्जन करते हुए प्रकट हुए।

यहाँ 'चर गतिभक्षणयोः' इस धातुपाठके अनुसार 'चर्षणीनाम्' इस पदका अर्थ गति और भक्षणपरायण है। 'गति' शब्दसे कर्म और 'भक्षण' शब्दसे कर्मफल समझना चाहिये। अतः इससे वे मनुष्य * विवक्षित हैं जो केवल कर्म और कर्मफलमें ही आसक्त हैं। इन संसारी लोगोंके सर्वविध तापका निराकरण करता हुआ उडुराज—चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि वह उदित होकर उद्दीपन विभावरूपसे परमानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके चित्तमें रमणकी इच्छा उत्पन्न करेगा, जो कि श्रीकृष्णप्रेमियोंको बहुत कालसे अभिलषित है। अतः भगवान्की प्रेयसी व्रजांगनाओंके शोकका मार्जन होनेसे सारे संसारका शोक मार्जित हो जायगा, क्योंकि यह नियम है कि जिस क्रियासे भगवद्भक्तोंका शोक निवृत्त होता है उससे सारे संसारका ही शोक निवृत्त हो जाता है और जिससे भगवद्भक्त सन्तप्त होते हैं उससे सभीको सन्ताप होता है। देखो, जिस समय ध्रुवजीने भगवत्तादात्म्यको प्राप्त होकर श्वासनिरोध किया था उस समय सारे संसारका ही श्वास निरुद्ध हो गया था। ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि भगवान् सर्वात्मा हैं; अतः यदि

---

* 'चर्षणी' शब्द मनुष्य अर्थमें रूढ है। यह बात निम्नलिखित श्लोकसे सिद्ध होती है—

अर्यम्णो मातृका पत्नी तस्यां चर्षणयः सुताः ।
तास्वेव ब्रह्मणा जातिर्मानुषी परिकल्पिता ॥

अर्थ—अर्यमाकी मातृका नामवाली पत्नी थी। उसके 'चर्षणी' संज्ञक पुत्र हुए। उन चर्षणियोंमें ही ब्रह्माजीने मानुषी जातिकी कल्पना की।

भगवद्भक्त सन्तप्त होता है तो सारा संसार ही सन्तप्त हो उठता है।

ये गोपांगनाएँ तो भगवान्‌की अत्यन्त अन्तरंगा हैं। ये भगवद्विप्रयोगके कारण चिरकालसे सन्तप्त थीं। अब उस विरहव्यथाका अन्त होनेवाला था। इसीसे भगवान्‌को रमणकी इच्छा हुई।

अतः इसका यह भी अर्थ हो सकता है—

'चर्षणीनां व्रजाङ्गनाजनानां शोकापनोदनेन चर्षणीनां गतिभक्षणपराणां कर्मतत्फलभोगपरिनिष्ठानां जगतामेव शुचो मृजन् उदगात्'

अर्थात् चर्षणी यानी व्रजांगनाओंकी शोकनिवृत्ति करके चर्षणी—कर्म और कर्मफलभोगमें लगे हुए संसारी लोगोंका शोक निवृत्त करते हुए चन्द्रदेव प्रकट हुए। इसीसे उन्हें उडुराज यानी नक्षत्रमण्डलका राजा कहा है। वे परम सौभाग्यशाली और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, क्योंकि उनके कारण गोपांगनाओंकी शोकनिवृत्ति होनेसे सारे संसारका ही सन्ताप शान्त हो जाता है। अतः ये उडुराज 'उडुषु राजत इति उडुराजः' हैं, अर्थात् नक्षत्रोंमें अत्यन्त शोभायमान हैं।

इधर जिस प्रकार जीवोंकी शोकनिवृत्ति करनेके कारण यह उडुराज पुण्यात्मा है उसी प्रकार मानो श्रीकृष्णचन्द्र भी उडुराज ही हैं, क्योंकि उन्होंने भी चर्षणी यानी व्रजांगनाओंका शोकापनोदन करके सारे संसारका ही शोक निवृत्त किया है। अतः 'उडुराज' शब्दसे उनका भी अन्वादेश होता है। जैसे इस ओर तारोंमें अत्यन्त देदीप्यमान चन्द्रमा है उसी प्रकार उधर गोपांगनाओंमें नायकरूपसे अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसीसे आचार्योंने यह भी कल्पना की है कि जिस समय भगवान्‌ने अमना और अप्राण होकर भी योगमायाका आश्रय लेकर गोपांगनाओंके साथ रमण करनेका संकल्प किया उस समय उनमें मन तो था नहीं। मनका अधिष्ठाता चन्द्रमा है। जिस प्रकार सूर्य आदि अधिष्ठात्री देवताओंसे अधिष्ठित हुए बिना नेत्रादिमें रूपादिके प्रकाशनका सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार मन भी चन्द्रमासे अधिष्ठित हुए बिना संकल्पमें समर्थ नहीं हो सकता था। किन्तु यहाँ भगवान्‌के तो मन ही नहीं था; अतः वे मनके बिना रमण कैसे करते? यद्यपि अपने दिव्य ऐश्वर्यसे वे बिना मनके भी रमण कर सकते थे, तथापि लोकमर्यादाका अतिलंघन न करके भगवान्‌ने नवीन अप्राकृत मनका निर्माण किया, क्योंकि वस्तुकी सरसता अथवा निरसताका आस्वादन तो मनसे ही होता है। भगवान्‌का मन अप्राकृत था, इसलिये उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा भी अप्राकृत ही होना चाहिये था। जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओंके सहित शोभायमान होता है उसी प्रकार व्रजांगनाओंके मन उडुस्थानीय हैं और भगवान्‌का मन उन उडुओंका अधिनायक चन्द्रमा है। अतः जिस प्रकार नक्षत्रोंसे चन्द्रमाकी शोभा है उसी प्रकार गोपांगनाओंके मनोंसे भगवान्‌के मनकी शोभा है।

यहाँ यह शंका होती है कि इस अप्राकृत चन्द्रमाकी वस्तुतः आवश्यकता क्या थी? यदि भगवान्‌के रचे हुए नवीन अप्राकृत मनका नियमन करनेके लिये इसकी आवश्यकता मानी जाय तो ठीक नहीं; क्योंकि भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही उस मनको कार्यसम्पादनकी योग्यता प्रदान कर सकते थे। यदि कहें कि व्रजांगनाओंके मनोंके अधिष्ठाता जो प्राकृत चन्द्रमा हैं वे नक्षत्रोंके रूपमें उदित हैं, उनकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान्‌के अप्राकृत मनके अधिष्ठाता अप्राकृत चन्द्रमाका उदय हुआ है, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि उनका नियमन भी भगवान् स्वयं ही कर सकते थे। यदि उद्दीपनके लिये इसका उदय माना जाय तो भगवान्‌को इसके लिये भी किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है, और यदि अन्धकारकी निवृत्तिके लिये इसका उदय मानें तो यह काम भी प्राकृत चन्द्रमासे ही निष्पन्न हो सकता था; अतः इसके उदयका प्रधान प्रयोजन क्या था, यह प्रश्न खड़ा ही रहता है।

इस श्लोकमें इसका प्रयोजन 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' बतलाया है। इसकी व्याख्या श्रीवल्लभाचार्यजी इस प्रकार करते हैं—'चर्षणयः परिभ्रमणशक्तयः तासां शुचः मृजन्' अर्थात् परिभ्रमणशक्तियाँ ही चर्षणी हैं, उनका शोक निवृत्त करनेके लिये इस अप्राकृत चन्द्रका उदय हुआ। ये परिभ्रमण शक्तियाँ आनन्दकी खोजमें सारे संसारमें भ्रमण करती रहीं, परन्तु आनन्दसे इनका कहीं भी संयोग न हुआ। इन्होंने समस्त जीवोंमें जा-जाकर देखा, परन्तु इन्हें कहीं भी

परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हुई । जो जीव मुक्त होनेपर परमानन्दमें स्थित होते हैं उनसे इन शक्तियोंका सम्बन्ध नहीं रहता । इसलिये इन्हें कहीं भी परमानन्दकी प्राप्ति न हुई । अतः 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' इसका अर्थ है परिभ्रमणशक्तियुक्त जीवोंके शोकका मार्जन करता हुआ । अर्थात् अभिप्राय यह है कि जीव ब्रह्मानन्दका रसास्वादन तो समस्त प्राकृत सम्बन्धोंसे रहित होकर ही कर सकता था, इनसे युक्त रहते हुए उसमें परमानन्दरसास्वादनका सामर्थ्य था ही नहीं । इस अभावकी पूर्ति करनेके लिये ही पूर्ण परब्रह्म परमात्मा दिव्यमंगलमय विग्रहमें आविर्भूत हुए । उनके साथ उनके अप्राकृत रमणके लिये अप्राकृत सामग्री और वैसे ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंका भी आविर्भाव हुआ । इस अप्राकृत लीलामें अप्राकृत उद्दीपन ही होना चाहिये था, क्योंकि अप्राकृत उद्दीपनके बिना अप्राकृत गोपांगनाओंको अप्राकृत परमानन्दका समास्वादन प्राप्त होना असम्भव था । अतः इस अप्राकृत चन्द्रके उदयका प्रधान हेतु तो अप्राकृत आनन्दका उद्रक ही है। अन्धकारकी निवृत्ति आदि तो इसके आनुषंगिक प्रयोजन हैं ।

(अपूर्ण)

समाधि-भंग !

खेल उनसे खेल रे मन !
कर न निज जीवन विफल, यह विषमता मत झेल रे मन !
खेल उनसे खेल रे मन !

आ रही मृदु मदिर मधुमय
गन्ध यह किस ओरसे रे !
गूँजता है मधुर वंशी-
स्वन, भला किस छोरसे रे !
चल वहीं, मत रुक कहीं, अब कर उन्हींसे मेल रे मन !
खेल उनसे खेल रे मन !

वे मयूर थिरक रहे हैं
तालसे किस नृत्यपर रे !
गतिरहित हो हरिणदम्पति
मुग्ध हैं किस कृत्यपर रे !
चिर चपल ! चल, छोड़ दे अब योगकी यह जेल रे मन !
खेल उनसे खेल रे मन !

देख हाँ, वह देख कैसा
पीतपट फहरा रहा है !
साँवरा सुन्दर सलोना
लख तुम्हें लहरा रहा है !
अब हिचक दे त्याग उनसे खेल हाँ, हाँ खेल रे मन !
खेल उनसे खेल रे मन !

—शान्तनुविहारी द्विवेदी

श्रीहरिः

'कल्याण' का

संत-अंक

संतकी कृपा और संतका आदर्श चरित्र ही मनुष्यको इस लोक और परलोकमें सुखी बना सकता है। संत सब देशों, सभी धर्मों और सभी कालोंमें हुए हैं। संतोंकी महिमा कौन गा सकता है। उन्हीं महामहिम संतोंके चित्र-चरित्रसे पूर्ण संत-अंक निकलनेवाला है। इस बार संत-अंक पहला खण्ड आधे अगस्ततक निकल जाय, ऐसी चेष्टा की जा रही है। अतएव ग्राहकोंको चाहिये—

रुपये ४≡) मनीआर्डरसे तुरंत भेज दें

(मनीआर्डर-फार्म सबको मिल ही चुके हैं)

इस संत-अंकमें बड़े ही उत्तम लेख, संतोंके जीवनचरित्र और चित्रोंका संग्रह हुआ है।

इस अंकमें क्या-क्या होगा ?

१ संतोंकी महिमा
२ संतोंके लक्षण
३ संत-तत्त्व
४ संतभावकी प्राप्तिके उपाय
५ संतोंकी रहनी-करनी
६ संत-गौरव
७ संतोंका प्रेम
८ संतोंके उपदेश
९ संतोंके विभिन्न भाव
१० संतोंकी साधना
११ संतोंके सिद्धान्त
१२ संतोंके पवित्र चरित्र

संत-अंकके पहले खण्डमें लगभग ६५० पृष्ठ होंगे और लेखोंके अतिरिक्त लगभग चार सौ ४०० संतोंकी जीवनियाँ होंगी। अगले दोनों खण्डोंमें (भाद्रपद और आश्विनके अंकमें, जो समयपर पाठकोंकी सेवामें अलग-अलग पहुँचेंगे।) लगभग २०० से अधिक संतोंके चरित्र रहेंगे।

तीन महीनोंके तीन अंक एक साथ प्रकाशित होनेसे ग्रन्थका कलेवर बहुत भारी हो जाता है तथा तीन महीनेतक कोई सामग्री नहीं मिलती, इससे भी कुछ ग्राहक घबराते हैं। इस बार ऐसा नहीं होगा।

चित्र तो इस बार बहुत ही अधिक होंगे। बड़े-बड़े कलाकारोंके मनोहर बहुरंगे चित्र बनाये गये हैं।

संत-अंकके लेखकोंके कुछ नाम आप ज्येष्ठके अंकमें पढ़ चुके हैं। संत-अंक इतना सरल, सुबोध, रोचक, उपदेशप्रद और मनोहर होगा कि बड़े-से-बड़े विद्वान् और साधारण पढ़े-लिखे सज्जन तथा स्त्री-बच्चोंके लिये भी बहुत ही उपादेय और आकर्षक होगा। तीनों खण्डोंमें ८५० से अधिक पृष्ठ होंगे।

पुराने-नये ग्राहकोंको ४≡) वार्षिक मूल्य शीघ्र-से-शीघ्र भेज देना चाहिये।

☞ संत-अंकमें जानेवाले दो रंगीन चित्रोंका सादा नमूना

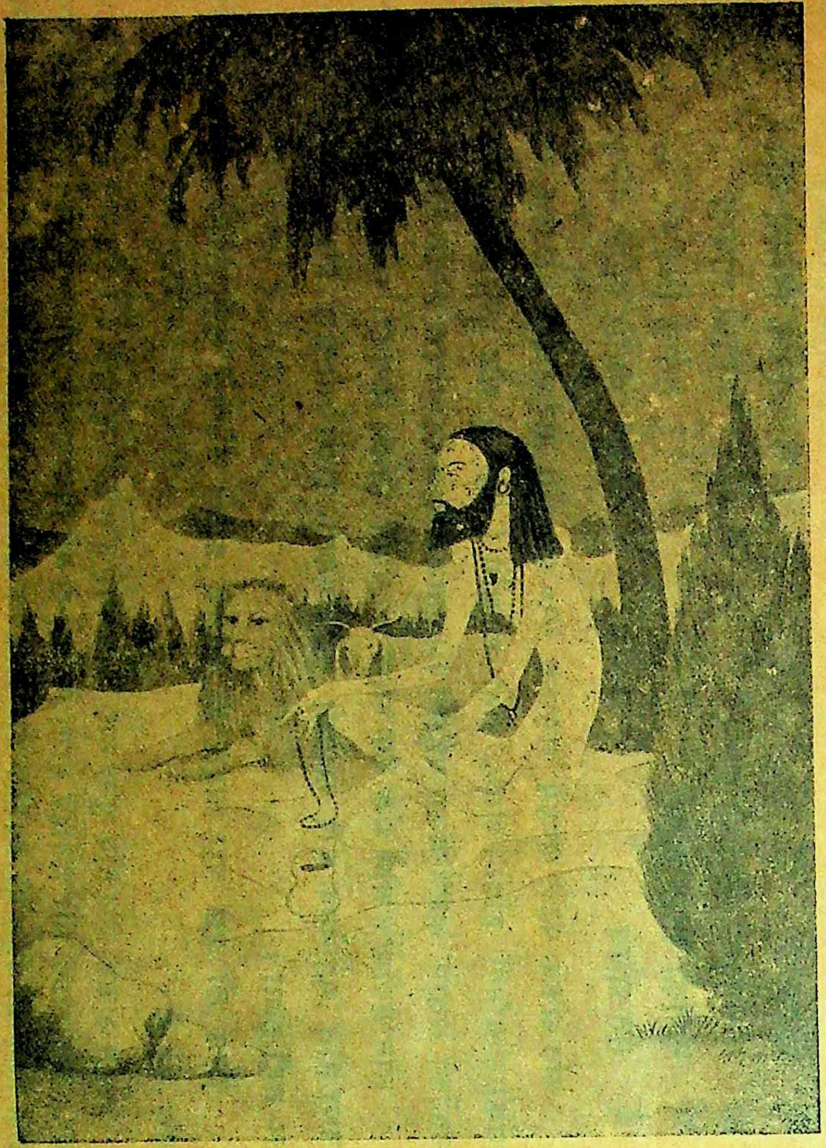

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ

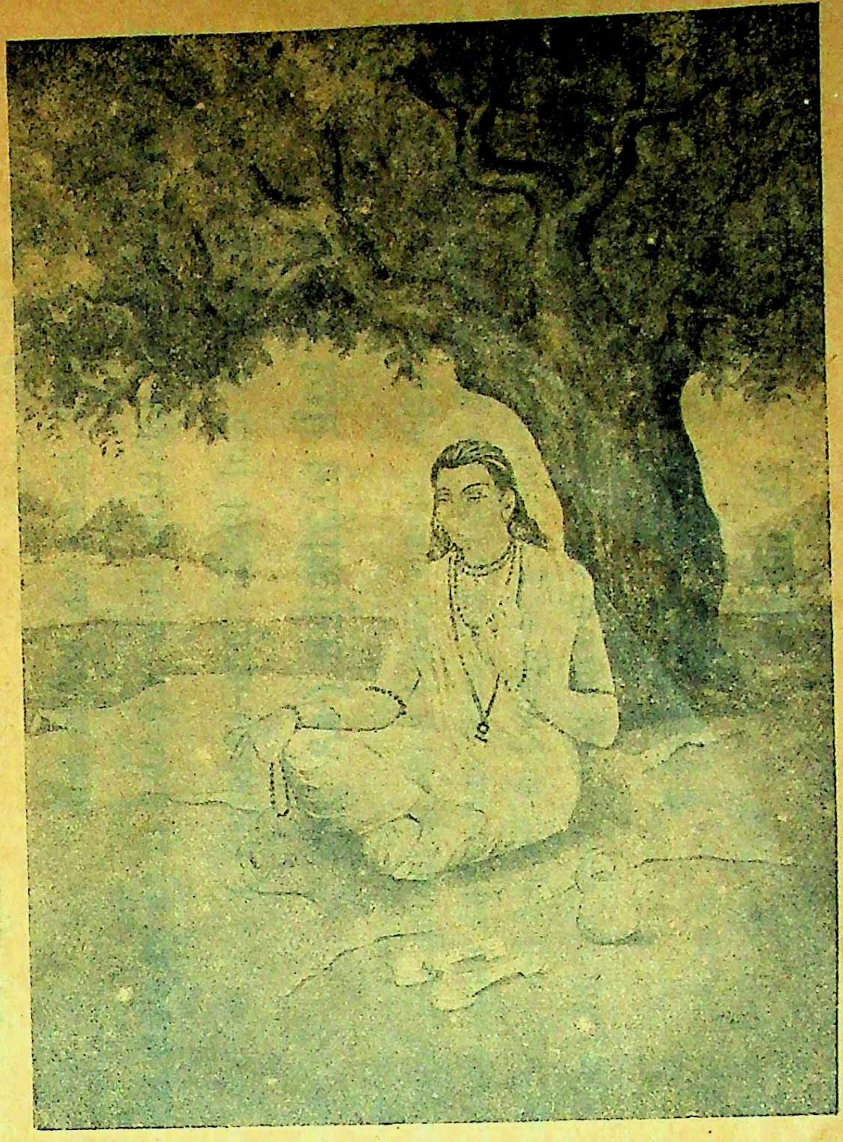

श्रीगोरखनाथ

नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गतांकसे आगे]

पाद-सेवन

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २८ । २१-२२)

‘जो वज्र, अङ्कुश, ध्वजा एवं कमल आदि चिह्नोंसे युक्त हैं, जिनके अत्यन्त रक्त एवं फैलती हुई नखमण्डलकी प्रभा भक्तोंके हृदयके महान् अन्धकारको पूर्णतः नष्ट कर देती है, श्रीभगवान्‌के उन चरणकमलोंका बड़े प्रेमसे चिन्तन करना चाहिये ।’

‘जिनके चरणोंके प्रक्षालनजलसे निकली हुई गङ्गाजीको सिरपर धारण करके शिवने शिवत्व प्राप्त किया है और जो ध्यान करनेवालेके अन्तःकरणमें रहनेवाले पापके पहाड़ोंके लिये इन्द्रके प्रहार किये हुए वज्रकी भाँति हैं अर्थात् जिनके ध्यानसे पापराशि नष्ट हो जाती है, भगवान्‌के उन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करना चाहिये ।’

श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलस्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्त्तिके मनोहर चरणोंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें तन्मय हो जाना ही ‘पाद-सेवन’ कहलाता है ।

बार-बार अतृप्त नयनोंसे भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन करना, भगवच्चरणोंका पूजन करना, मनसे भगवच्चरणोंका चिन्तन-पूजन करना, भगवान्‌की चरणपादुकाओंका हाथोंसे पूजन और मनसे चिन्तन तथा पूजन करना, भगवान्‌की चरणरजको मनसे मस्तकपर धारण करना, हृदयसे लगाना, भगवान्‌के चरणोंसे स्पर्श किये हुए शय्यासन आदिको तीर्थसे बढ़कर समझ उनका समादर करना, अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानोंको, जहाँ-जहाँ भगवान्‌का अवतार या प्राकट्य हुआ है, या जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण टिके हैं, परम तीर्थ समझकर—यहाँकी धूलिको भगवान्‌की चरणधूलि मानकर मस्तकपर धारण करना, जिस वस्तुको भगवान्‌का चरणस्पर्श प्राप्त हुआ है, उस वस्तुका हृदयसे आदर करना और उसे मस्तकपर धारण करना, और श्रीगङ्गाजीके जलको भगवान्‌का चरणोदक समझकर प्रणाम-पूजन, स्नानपानादिके द्वारा उसका सेवन करना आदि सभी ‘पाद-सेवन’ भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं ।

ममता, अहङ्कार और अभिमान आदिका नाश होकर प्रभुके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होनेके उद्देश्यसे पाद-सेवन भक्ति की जाती है ।

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंका सङ्ग करनेसे भगवान्‌की चरणसेवाका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव सुननेको मिलता है, उससे श्रद्धा होकर तब यह भक्ति प्राप्त होती है ।

केवल इस पादसेवन भक्तिसे भी मनुष्यके सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण और दुःख सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और भगवान्‌में सहज ही अतिशय श्रद्धा और प्रेम होकर उसे आत्यन्तिकी परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है । उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता ।

शास्त्र और महात्माओंने पाद-सेवन भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है । श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्‌की चरणकमलरूपी नौका ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाली है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

शिष्य—‘हे कृपालु गुरुदेव ! आप कृपा करके यह बतावें कि इस अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएके

लिये सहारा क्या है ?' गुरु—'भगवान् विश्वेश्वरके चरण-कमलरूप जहाज ही एकमात्र सहारा है ।'

भगवान्‌के चरणोदकका पान करनेसे और उसे मस्तक-पर धारण करनेसे भी कल्याण होता है । भगवान् श्रीरामचन्द्र-का चरणामृत पीकर उन्हें नौकासे उस पार ले जाते समयके प्रसङ्गमें केवटकी महिमा गाते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पग पखारि जल-पान करि, आपु सहित परिवार ।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लै पार ॥

नित्य-निरन्तर प्रभुके चरणोंका दर्शन और सेवन करके पल-पलमें किस प्रकार आनन्दित होना चाहिये, इसका आदर्श श्रीसीताजी हैं । वनगमनके समय आप भगवान्‌से कहती हैं—

छिनु छिनु प्रभु-पद-कमल बिलोकी ।
रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी ।
छिनु छिनु चरन-सरोज निहारी ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाँहीं ।
करिहउँ बायु मुदित मन माँहीं ॥
सम महि तृन-तरु पल्लव डासी ।
पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥

भगवान् श्रीरामके चरणचिह्न, चरणरज और चरण-पादुकाके दर्शन तथा सेवनसे भरतजीको कितना आनन्द प्राप्त होता है और उनकी कैसी प्रेमतन्मय दशा हो जाती है । भगवान् शिवके शब्दोंमें सुनिये—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः ।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गला-
न्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः ॥
(अध्यात्मरामायण २ । ९ । २)

'भरतने वहाँ सर्वत्र रामके वज्र, अंकुश, कमल, ध्वजादियुक्त भुवनमंगल चरणचिह्न देखे और देखते ही शत्रुघ्नके साथ उस चरणधूलिमें प्रेममग्न होकर वे लोटने लगे ।'

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे मनुष्यके सब दोषों-का नाश हो जाता है, उसकी सारी विपत्तियाँ टल जाती हैं और वह गोपदके समान संसार-सागरसे तर जाता है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥
(३ । ९ । ६)

'हे प्रभो ! जबतक लोग तुम्हारे अभय चरणकमलोंका सच्चे हृदयसे आश्रय नहीं लेते, तभीतक धन, घर, मित्र आदिके निमित्तसे भय, शोक, स्पृहा, पराजय एवं महान् लोभ होते हैं और तभीतक सम्पूर्ण दुःखोंका मूल 'यह मेरा है' ऐसी झूठी धारणा रहती है । अर्थात् भगवान्‌की चरण-शरणमें आनेपर यह सब नष्ट हो जाते हैं ।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५८)

'जिन्होंने संतोंके आश्रयणीय, पवित्र यशवाले भगवान्‌के पदपल्लवरूपी जहाजका आश्रय लिया है, उनके लिये संसार-सागर बछड़ेका पैर टिके, इतना-सा हो जाता है, उन्हें पद-पदमें परमपद प्राप्त है, इसलिये कभी भी उन्हें विपत्तियोंके दर्शन नहीं होते ।'

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३०)

'हे कमलनयन ! कई संतलोग सम्पूर्ण सत्त्वके धाम तुममें समाधिके द्वारा अपना चित्त तल्लीन करके महात्माओं-के द्वारा अनुभूत तुम्हारे चरणकमलोंका जहाज बनाकर संसार-सागरको गोवत्सपदके समान पार कर जाते हैं ।'

अहो सुधन्योऽहममूनि राम-
पादारविन्दाङ्कितभूतलानि ।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥
(अध्यात्मरामायण २ । ९ । ३)

'वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामचन्द्रके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मंगलमय चरणचिह्न देखे; उन्हें देखकर भाई

शत्रुघ्नके साथ वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—अहो ! मैं परम धन्य हूँ जो आज भगवान् श्रीरामजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे विभूषित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मादि देवता और श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं ।'

गोसाईं श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रज सिर धरि हिय-नयनन्हि लावहिं । रघुबर-मिलन सरिस सुख पावहिं॥

नित पूजत प्रभु-पाँवरी, प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति ॥

अहल्या भगवान्‌के चरणरजको पाकर कृतार्थ हो जाती है और कहती है—

अहो कृतार्थोऽस्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम् ।
स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा ॥
(अ० रा० १ । ५ । ४३)

'हे जगन्निवास ! आपके चरणकमलोंमें लगे हुए रजकणोंका स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी । अहो ! आपके जिन चरणारविन्दोंका ब्रह्मा, शङ्कर आदि सदा चित्त लगाकर अनुसन्धान किया करते हैं, आज मैं उन्हींका स्पर्श कर रही हूँ ।'

भगवान्‌के चरणरजके शरण हुए प्रेमी भक्त तो स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, मोक्षतकका तिरस्कार कर चरणरजके सेवनमें ही संलग्न रहना चाहते हैं । नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३७)

'आपकी चरणधूलिकी शरण ग्रहण करनेवाले भक्तजन न स्वर्ग चाहते हैं, न चक्रवर्तिता, न ब्रह्माका पद, न सारी पृथ्वीका स्वामित्व और न योगसिद्धियाँ ही; अधिक क्या, वे मोक्षपदकी भी वाञ्छा नहीं करते ।'

भगवान्‌की केवल पाद-सेवन भक्तिसे ही भगवान्‌के अनन्य प्रेमको प्राप्त करनेवाले अनेकों भक्तोंका शास्त्रोंमें वर्णन आता है । अतएव भगवान्‌के पवित्र चरणोंमें श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनका नित्य सेवन करना चाहिये ।

अर्चन

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥
(विष्णुरहस्य)

'जो लोग इस संसारमें श्रीभगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं वे श्रीभगवान्‌के अविनाशी आनन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त होते हैं ।'

भगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए, शास्त्रोंमें पढ़े हुए, धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अपने मनको रुचनेवाले किसी भी भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे, भगवान्‌के किसी भी अपने अभिलषित स्वरूपकी मानसिक मूर्ति बनाकर मानसिक सामग्रियोंसे, अथवा सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माको स्थित समझकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है ।

पत्र, पुष्प, चन्दन आदि सात्त्विक, पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्योंसे भगवान्‌की प्रतिमाका श्रद्धापूर्वक पूजन करना, भगवान्‌की प्रीतिके लिये शास्त्रोक्त यज्ञादि करना, सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनकी यथायोग्य सेवा करना तथा सत्कार, मान, पूजा आदिसे सन्तुष्ट करना, और दुखी, अनाथ, अपंग, पीड़ित प्राणियोंमें—भूखोंकी अन्नसे, प्यासोंकी जलसे, वस्त्रहीनोंकी वस्त्रादिसे, रोगियोंकी औषधादिसे, अनाथोंकी आश्रयदानसे यथावश्यक यथाशक्ति श्रद्धा और सत्कारपूर्वक सबको भगवत्स्वरूप समझकर भगवत्प्रीतिके लिये सेवा करना आदि सभी भगवान्‌की बाह्य पूजाके प्रकार हैं ।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हुए, अपने चित्तको अनायास ही आकर्षित करनेवाले भगवान्‌के किसी भी अलौकिक रूप-लावण्ययुक्त, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय परम तेजोमण्डित स्वरूपका प्रत्येक अवयव वस्त्राभूषण, आयुधादिसे युक्त और हस्तपदादिके मङ्गल चिह्नोंसहित मनके द्वारा चिन्तन करके आह्लादपूर्वक मनमें उसका आवाहन, स्थापन

और नानाविध मानसिक सामग्रियोंके द्वारा अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना मानस-पूजाका प्रकार है ।

भगवान्में अनन्य प्रेम होकर सबको उसकी प्राप्ति हो जाय इस उद्देश्यसे परम श्रद्धापूर्वक स्वयं आचरण करना या करवाना इसका प्रयोजन है ।

अर्चन-भक्तिका स्वरूप और तत्त्व जाननेके लिये भगवान्के परम प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की पूजा करनेसे मनुष्य जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है और सहज ही उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥
(१० । ८१ । १९)

'जीवोंके स्वर्ग और मोक्षका एवं मर्त्यलोक और पाताललोकमें रहनेवाली समस्त सम्पत्तियोंका और सम्पूर्ण सिद्धियोंका भी मूल श्रीभगवान्के चरणोंका अर्चन-पूजन है ।'

अपने-अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजासे भगवत्-प्राप्ति होती है, इस बातकी घोषणा स्वयं भगवान्ने गीतामें की है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ।'

इतना ही नहीं, परम श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवान्की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य मङ्गल-विग्रह-स्वरूपमें प्रकट होकर भक्तके अर्पण किये हुए पदार्थोंको खाते हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(९ । २६)

'हे अर्जुन ! मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

राजा पृथु, अम्बरीष आदि बहुतोंने विधिपूर्वक नाना उपचारोंसे और मन, इन्द्रियोंसे भगवान्की पूजा की और वे अनायास ही भगवान्को प्राप्त हो गये । इनकी तो बात ही क्या, नाना उपचारोंके बिना भी केवल भक्तिपूर्वक पूजा करनेवाले सुदामाने केवल चावलोंकी कनियोंसे, गजेन्द्रने एक पुष्पसे, द्रौपदीने शाक-पत्रसे भगवान्को पूजकर परम सिद्धि प्राप्त की । शबरी-जैसी हीन जातिकी स्त्री भी केवल बेरोंसे ही भगवान्को सन्तुष्टकर परमपदको प्राप्त हो गयी ।

अतएव भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर श्रद्धापूर्वक अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार भगवान्की पूजा करनी चाहिये ।

वन्दन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ३३)

'हे पुरुषोत्तम ! हे प्रभो ! जो सर्वदा ध्यान करनेयोग्य हैं, तिरस्कारको नष्ट करनेवाले, समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं, जो तीर्थोंके आधार हैं, जिन्हें शिव और ब्रह्मा सिरसे नमस्कार करते हैं और जो शरणागतोंकी रक्षा करनेमें प्रवीण हैं, जो सेवकोंकी आर्त्तिके नाशक हैं, नमस्कार करनेवालोंके रक्षक एवं संसार-सागरके जहाज हैं, तुम्हारे उन चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ ।'

भगवान्के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्के नाम, भगवान्की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको शरीर अथवा मनसे श्रद्धासहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मनसे प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना वन्दन-भक्ति है ।

भगवान्के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्की मूर्तिको साष्टांग प्रणाम करना तो वन्दन-भक्तिका प्रसिद्ध प्रकार है । अपने-अपने घरोंमें भगवान्की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्के नामको, भगवान्के चरण और चरणपादुकाओंको, भगवान्के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और भगवान्की मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो, ऐसे सत् शास्त्रोंको और सम्पूर्ण चराचर जीवोंको भगवान्का स्वरूप समझकर या उनके हृदयमें भगवान्को स्थित समझकर विनयपूर्वक श्रद्धासहित गद्गद भावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्तिके प्रकार हैं । श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(११ । २ । ४१)

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशाएँ और वृक्षलता आदि एवं नदियाँ, समुद्र और सम्पूर्ण भूतप्राणी भगवान्के शरीर हैं; अतः भगवान्का अनन्यभक्त यावन्मात्र जगत्को भगवद्भावसे प्रणाम करे ।’

भगवान्को सर्वत्र और सब ओर समझकर उन्हें किस प्रकार प्रणाम करना चाहिये, इसके लिये अर्जुनका उदाहरण बड़ा सुन्दर है । अर्जुन भगवान्को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥
(गीता ११ । ४०)

‘हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे, हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ।’

श्रीतुलसीदासजी महाराज समस्त जगत्को ‘सीयराममय’ देखकर प्रणाम करते हैं—

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

भगवान्में अनन्य प्रेम होकर भगवान्को प्राप्त करना इस भक्तिका उद्देश्य है । भगवान्के प्यारे प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करके उनके द्वारा भगवान्के श्रद्धा, प्रेम, रहस्य, प्रभाव और तत्त्वका मर्म समझनेसे यह वन्दन-भक्ति प्राप्त होती है ।

भगवान्के रहस्यको समझकर उन्हें प्रणाम करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है । अनुस्मृतिके वचन हैं—

न वासुदेवात्परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात्परमस्ति पावनम् ।
न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति ॥१०१॥

‘भगवान् वासुदेवसे अधिक और कुछ मङ्गलमय नहीं है । वासुदेवसे अधिक और कुछ पावन नहीं है, एवं वासुदेवसे श्रेष्ठ और कोई आराध्य देवता नहीं है, उन वासुदेवको नमस्कार करनेवाला कभी दुखी नहीं होता ।’

श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्को केवल साष्टांग प्रणाम करनेसे भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो सकता है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(भीष्मस्तवराज)

‘भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ।’

श्रद्धापूर्वक भगवान्को प्रणाम करनेवालेकी तो बात ही क्या है, किसी भी अवस्थामें भगवान्को प्रणाम करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है—

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४६)

‘पतित, स्खलित, आर्त्त, छींकता हुआ अथवा किसी प्रकारसे परवश हुआ पुरुष भी यदि ऊँचे स्वरसे ‘हरये नमः’

इस प्रकार बोल उठता है तो वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।'

भगवान्‌के अनेकों भक्त इस प्रकार केवल नमस्कार करके ही परमपदको प्राप्त हो गये । परन्तु इनका नमस्कार करना बड़ा ही अनोखा होता है । देखिये, अक्रूरजी किस प्रकार मुग्ध होकर नमस्कार करते हैं—

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । ३४)

अक्रूर प्रेमविह्वल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ रथसे कूदकर भगवान् बलराम और श्रीकृष्णके चरणोंके पास दण्डवत् गिर पड़े ।

पितामह भीष्म गद्गद होकर भगवान्‌को नमस्कार करते हैं और भगवान् तत्काल ही उन्हें अपना दिव्य ज्ञान दे देते हैं । वैशम्पायनमुनि कहते हैं—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः ।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः ॥
(भीष्मस्तवराज १००-१०१)

'जिनका मन भगवान्‌में तन्मय हो चुका है ऐसे भीष्मने अनेक प्रकारसे भगवान्‌की स्तुति करनेके बाद 'नमः कृष्णाय' इतना कहकर भगवान्‌को प्रणाम किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण योगशक्तिद्वारा भीष्मकी भक्तिको समझकर उसे त्रिलोकीको (भगवत्स्वरूपसे) प्रत्यक्ष करनेवाला दिव्य ज्ञान देकर चले गये ।'

अतएव श्रीभगवान्‌के प्रेममें विभोर होकर उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की वन्दन-भक्ति करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

दास्य

सो अनन्य जाकी असि, मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवन्त ॥

भगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जानकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना दास्य-भक्ति है ।

मन्दिरोंमें भगवान्‌के विग्रहोंकी सेवा करना, मन्दिर-मार्जनादि करना, मनसे प्रभुके स्वरूपका ध्यान करके उनकी सेवा करना, सम्पूर्ण चराचरको प्रभुका स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति यथायोग्य सेवा करना, गीता आदि शास्त्रोंको भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसके अनुसार आचरण करना, और जो कर्म भगवान्‌की रुचि, प्रसन्नता और इच्छाके अनुकूल हों उन्हीं कर्मोंको करना, ये सब दास्य-भक्तिके प्रकार हैं ।

भगवान्‌के रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके सङ्ग और सेवनसे दास्य-भक्तिकी प्राप्ति होती है ।

भगवान्‌में अनन्य प्रेमकी प्राप्ति और नित्य-निरन्तर सेवाके लिये भगवान्‌के समीप रहनेके उद्देश्यसे दास्य-भक्ति की जाती है ।

केवल इस दास्य-भक्तिसे भी मनुष्यको सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । अर्जुनने गीतामें कहा है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(२ । ७)

'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये । क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये ।'

भगवान्‌ने भी कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(१२ । १०)

'और यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो । इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ।'

गोस्वामी तुलसीदासजी तो कहते हैं कि दास्यभावके बिना भवसागरसे उद्धार ही नहीं हो सकता—

सेवक-सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि ॥

श्रीलक्ष्मण, हनुमान्, अङ्गद आदि इस दास्य-भक्तिके आदर्श उदाहरण हैं। भगवान् श्रीरामके वन जाते समय लक्ष्मणजीकी दशाका वर्णन करते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

उतर न आवइ प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम, तजहु त कहा बसाइ॥

माता सुमित्राने लक्ष्मणको रामके साथ जाकर उनकी सेवा करनेका कैसा सुन्दर उपदेश दिया है—

राग द्वेष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन-क्रम-बचन करेहु सेवकाई॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

श्रीहनुमान्‌जीका तो सारा जीवन ही दास्य-भक्तिसे ओतप्रोत है। प्रथम ही ऋष्यमूक पर्वतपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको पहचानकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

एक मंद मैं मोहबस, कुटिलहृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहिं बिसारेउ, दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहिं परइ जनि भोरे॥
नाथ! जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा॥
सेवक-सुत पति-मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥

भगवान् भी अपनी सेवक-वत्सलताका परिचय देते हुए हनुमान्‌को उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं और प्रेमाश्रुओंसे उनके अङ्गोंका सिञ्चन करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥
समदरसी मोहिं कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

दास्य-भक्तिका भक्त अपने स्वामीकी कृपाका कितना विश्वासी होता है, इसके सम्बन्धमें हनुमान्‌जीने विभीषणसे जो कुछ कहा है वह स्मरण रखने योग्य है—

सुनहु बिभीषन प्रभुकै रीती। करहिं सदा सेवकपर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँपर रघुबीर।
कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर॥

अंगदजीको जब भगवान् श्रीराम अयोध्यासे लौट जानेको कहते हैं तब अंगदजी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

मोरे तुम्ह प्रभु-गुरु-पितु-माता। जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता॥
तुम्हहिं बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काजु मम काहा॥
बालक ग्यान-बुद्धि-बलहीना। राखहु सरन जानि जन दीना॥
नीच टहल गृहकै सब करिहौं। पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं॥

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, अतएव सबको चाहिये कि भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर तन-मन-धन सब कुछ अर्पण करके भगवान्‌की दास्य-भक्ति करें।

सख्य

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ६४। ३२)

'उन नन्दगोपके व्रजमें रहनेवाले लोगोंका भाग्य धन्य है! धन्य है! कि सनातन परमानन्द परिपूर्ण ब्रह्म जिनके मित्र हैं।'

भगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है।

अपने आवश्यक-से-आवश्यक कामको छोड़कर प्यारे प्रेमीके कामको आदरपूर्वक करना, प्यारे प्रेमीके कामके सामने अपने कामको तुच्छ समझकर उससे लापरवाह हो जाना, प्यारे प्रेमीके लिये महान् परिश्रम करनेपर भी उसे अल्प ही समझना, प्यारा जिस बातसे प्रसन्न होता हो उसी बातको लक्ष्यमें रखकर हर समय उसीके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करना, वह जो कुछ भी करे उसीमें सदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु किसी भी प्रकारसे प्रेमीके काम आ जाय तो परम प्रसन्न होना, अपने शरीरपर और अपनी वस्तुपर जैसी अपनी आत्मीयता और अधिकार है वैसा ही अपने प्यारे प्रेमीका समझे और इसी प्रकार उसकी वस्तु और शरीरपर अपना अधिकार और आत्मीयता माने, अपने धन, जीवन और देहादि प्यारे प्रेमीके काममें लग सकें तो उनको सफल समझना, उसके साथ रहनेकी निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्शसे प्रेममें निमग्न हो जाना, उसके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंको सुनकर, कहकर, पढ़कर और यादकर अत्यन्त प्रसन्न होना, किसीके द्वारा मित्रका सन्देश

पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोगमें व्याकुल होना तथा प्रतिक्षण उससे मिलनेकी आशा और प्रतीक्षा करते रहना आदि सखाभावके प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमीको परम सुख हो, उसमें अपना सख्य-प्रेम पूर्णरूपसे बढ़ जाय और उससे अपना कभी वियोग न हो इसी उद्देश्यसे सख्य-भक्ति की जाती है।

सख्य-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के प्रेमी सखाओंका सङ्ग, सेवन, उनके जीवनचरित्रोंका अध्ययन और उनके तथा भगवान्‌के गुण, लीला और प्रभावका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल सख्य-भक्तिसे भी मनुष्यके दुःख और दोषोंका अत्यन्त अभाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति और भगवान्‌में परम प्रेम हो जाता है। यहाँतक कि भगवान् उस प्रेमी भक्तके अधीन हो जाते हैं और फिर उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता।

मित्रका मित्रके प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयपर भगवान् श्रीराम सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना॥
जिनके असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इस सख्य-भक्तिके उदाहरण श्रीविभीषण, सुग्रीव, उद्धव, अर्जुन, सुदामा, श्रीदामादि व्रजसखा आदि हैं।

लंकाविजयके बाद विभीषण चाहते हैं—भगवान् एक बार मेरे घर पधारकर मुझे कृतार्थ करें, और भगवान्‌से इसके लिये प्रार्थना करते हैं। सखाकी बात सुनकर भगवान् प्रेमविभोर हो जाते हैं, उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आ जाते हैं—और कहते हैं—भाई! तुम्हारा सब कुछ मेरा है, परन्तु इस समय भरतकी दशाका स्मरण करके मैं ठहर नहीं सकता।

तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत-दसा सुमिरत मोहि, निमिष कलप सम जात॥

सुग्रीवके साथ सख्य स्थापित करके भगवान् अपनी प्राणप्रिया सीताको भूल जाते हैं, और पहले सुग्रीवके चिन्तामें लग जाते हैं।

तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।

और सुग्रीवसे आप कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥

उद्धवके साथ भगवान् इतना प्रेम करते थे कि एक बार उनसे बोले—'भैया उद्धव! तुम-जैसे प्रेमी मुझको जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे मुझे ब्रह्मा, शङ्कर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आतमा भी नहीं है।'

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

उद्धवजीका भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत गहरा सख्यप्रेम था। इसीसे भगवान् उनके सामने मनकी कोई बात छिपाते नहीं थे। अपनी परम प्रेमिका गोपियोंको सन्देश भेजनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवको ही सर्वोत्तम पात्र चुनते हैं। उस समयके वर्णनमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥
(श्रीमद्भा० १०। ४६। १—३)

'यदुवंशियोंके श्रेष्ठ मन्त्री, बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य एवं अत्यन्त बुद्धिमान् उद्धव भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रिय सखा थे। शरणागतका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन उस अनन्य एवं अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवका हाथसे हाथ पकड़कर कहा—प्यारे उद्धव! तुम व्रजमें जाकर मेरी माता एवं पिताको प्रसन्न करो तथा मेरे सन्देशोंके द्वारा गोपियोंको वियोगके रोगसे मुक्त करो।'

अर्जुनके सख्यभावकी तो भगवान् स्वयं घोषणा करते हैं—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति'—तुम मेरे भक्त और सखा हो (गीता ४। ३); 'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—तुम मेरे परम प्यारे हो (गीता १८। ६४)।

अश्वत्थामाके द्वारा उत्तराके गर्भस्थ बालक परीक्षितके मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—यदि यह सत्य है कि मैंने अपनी जानमें अर्जुनसे कभी भी मित्रतामें कोई बाधा नहीं आने दी है तो यह मरा हुआ बालक जी उठे।

यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥
(महाभारत-अश्वमेध० ६९।२१)

मित्र सुदामाको देखकर भगवान् कैसे प्रेमविह्वल हो जाते हैं और किस प्रकार सुदामाका आदर करते हैं, इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजी लिखते हैं—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवान् लोकपावनः।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः॥
(श्रीमद्भा० १०।८०।१९—२१)

कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा ब्रह्मर्षि सुदामाके अङ्गस्पर्शसे अत्यन्त हर्षित हुए एवं उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। इसके बाद उन्हें शय्यापर बैठाकर स्वयं भगवान्ने अपने हाथों उनके चरण धोये और उनकी पूजा की। लोकपावन भगवान्ने उनका चरणोदक अपने सिरपर रक्खा और उनके शरीरपर दिव्य गन्ध, चन्दन, अगुरु और कुङ्कुम आदि लगाया।

इन भगवान्के परम प्यारे सखाओंकी तो बात ही क्या है, भीलोंका राजा गुह भी भगवान्से सख्य करके संसार-सागरसे तर गया।

अतएव भगवान्को ही अपना एकमात्र परम प्रियतम समझकर, अपना सर्वस्व उनको मानकर परम प्रेमभावसे सख्य-भक्ति करनी चाहिये।

आत्मनिवेदन

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥
(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और उन्हींके परायण है उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको समझकर, ममता और अहंकाररहित होकर अपने तन-मन-धन-जनसहित अपने आपको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है।

हानि-लाभ, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें, उन्हें भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न रहना; तन-धन, स्त्री-पुत्र आदि सभीमें ममता और अहंकारका अभाव हो जाना; भगवान् यन्त्री हैं और मैं उनके हाथका यन्त्र हूँ ऐसा निश्चय करके कठपुतलीकी भाँति भगवान्की इच्छानुकूल ही सब कुछ करना; भगवान्के रहस्य और प्रभावको जाननेके लिये उनके नाम, रूप, गुण, लीलाके श्रवण, मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तनादिमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन-मन आदिको लगा देना; इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभीपर एकमात्र भगवान्का ही अधिकार समझना; भगवान्की ही वस्तु भगवान्के अर्पण की गयी है ऐसा भाव होना, जिस किसी भी प्रकारसे भगवान्की सेवा बनती रहे इसीमें आनन्द मानना, सब कुछ प्रभुके अर्पण करके स्वाद, शौक, विलास, आराम, भोग आदिकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाना; सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा एक भगवान्का ही अनुभव करना, भगवान्की इच्छाके अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई इच्छा न करना, भगवान्के भरोसेपर सदा निर्भय, निश्चिन्त और प्रसन्न रहना; और भगवान्की भक्तिको छोड़कर मुक्तिकी भी इच्छा न होना, ये सभी इस आत्मनिवेदन भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्में अनन्य परम प्रेम और भगवान्की प्राप्तिके लिये यह आत्मनिवेदन भक्ति की जाती है।

भगवान्के शरणागत प्रेमी भक्तोंका संग-सेवन करनेसे और उनके द्वारा भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, महिमा आदिका श्रवण और मनन करनेसे यह भक्ति प्राप्त होती है।

भगवान्ने स्वयं इस आत्मनिवेदनरूपा शरणभक्तिका महत्त्व प्रकट करते हुए इसके परमफलकी गीतामें बड़ी प्रशंसा की है। आप कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(७ । १४)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(९ । ३२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ३४)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धाप्रेमसहित निष्काम भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मुझ शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित, साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होवेगा ।'

'इसलिये हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा ।'

'इसलिये सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर, केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

इस प्रकार जो पुरुष भगवान्के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखोंका अत्यन्त नाश हो जाता है और उसमें श्रवण-कीर्तनादि सभी भक्तियोंका विकास हो जाता है। उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता। भगवान् उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते। भगवान्का सर्वस्व उसका हो जाता है। वह परम पवित्र हो जाता है; उसके दर्शन, भाषण, और चिन्तनसे भी पापात्मा लोग पवित्र हो जाते हैं। वह तीर्थोंके लिये तीर्थरूप बन जाता है। महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवजीसे कहते हैं—

सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥
(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३४)

'जैसे भगवान् विष्णुके सान्निध्यमात्रसे तुरंत दैत्योंका नाश हो जाता है वैसे ही हे महायोगिन् ! आपके सान्निध्यमात्रसे बड़े-से-बड़े पापसमूह नष्ट हो जाते हैं ।'

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीविदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥
(श्रीमद्भा० १ । १० । १०)

'भगवन् ! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, वे अपने हृदयमें स्थित भगवान्के द्वारा तीर्थोंको तीर्थ बनाते हैं ।' प्रचेतागण भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥

'जो तुम्हारे भक्त तीर्थोंको पावन बनानेके लिये भूतलपर विचरते रहते हैं, भला, संसारसे भयभीत हुए किस मनुष्यको उनका समागम न रुचेगा ।'

श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, भील, कसाई, आभीर, कंक, यवन, खस आदि बड़े-से-बड़े पापी भी शुद्ध हो जाते हैं उन भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार है ।'

भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह बने हुए ऐसे भक्तको सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है । वह जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, आनन्द, समता और शान्तिका प्रवाह बहने लगता है । ऐसे भक्तको अपने ऊपर धारणकर धरणी धन्य और सनाथ होती है, पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं और देवता नाचने लगते हैं ।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥
(नारदसूत्र ७१)

श्रीगोपियाँ, भक्त प्रह्लाद, महाराजा बलि आदि इस आत्मनिवेदन-भक्तिके परम भक्त हुए हैं ।

इसलिये मनुष्यमात्रको मन, वाणी, शरीरसे, सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के शरण होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये ।

उपसंहार

भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये कर्म, योग, ज्ञान, सभी मार्ग उत्तम हैं, परन्तु भक्तिकी तो शास्त्रोंमें बड़ी ही प्रशंसा की गयी है । नवधा भक्तिमेंसे जिनमें एक भी भक्ति होती है वह संसार-सागरसे अनायास तरकर भगवान्‌को पा जाता है, फिर प्रह्लादकी भाँति जिनमें नवों भक्तियोंका विकास है उनका तो कहना ही क्या है । ऊपर नवों भक्तियोंके वर्णनमें जिन-जिन भक्तोंके नाम उदाहरणमें दिये गये हैं उनमें केवल एक ही भक्तिका विकास था ऐसी बात नहीं है । जिनमें जिस भावकी प्रधानता थी उनका उसीमें नाम लिखा गया है । दुबारा नाम न आनेका भी खयाल रक्खा गया है । वस्तुतः वे लोग धन्य हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें अपना मन लगाते हैं । और वह कुल धन्य है जिनमें भगवान्‌के भक्त उत्पन्न होते हैं । भगवान् श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगतपूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुबीरपरायन जेहिं नर उपज बिनीत ॥

श्रीमद्भागवतमें श्रवणादि भक्तिकी महिमामें कहा है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥
(१ । ८ । ३६)

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥
(२ । ४ । १५)

'जो लोग बारंबार तुम्हारे चरित्रोंका श्रवण, गायन, वर्णन एवं स्मरण करते हैं और आनन्दमग्न होते रहते हैं केवल उन्हींको शीघ्रातिशीघ्र संसारके प्रवाहको शान्त कर देनेवाले आपके चरणकमलोंके दर्शन होते हैं ।'

'जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तुरन्त धो डालता है उन कल्याणमयी कीर्तिवाले भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है ।'

देवराज इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १२ । २२)

'परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णमें जिनका प्रेम है वे तो अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा कर रहे हैं, उन्हें तुच्छ विषयरूप गड्ढेके जलोंसे क्या प्रयोजन है ?'

भगवान् स्वयं अपनी तरन-तारिनी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०—२२, २४)

'हे उद्धव ! मैं जिस प्रकार अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग आदिसे प्रसन्न नहीं होता । संतोंका परमप्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही प्रसन्न होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है । मेरी भक्तिसे रहित सत्य, दया आदिसे युक्त धर्म और तपस्यायुक्त विद्या भी उस आत्माको पूर्णतः पवित्र नहीं कर सकती ।'

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है और कभी-कभी हँसने लग जाता है एवं जो लज्जा छोड़कर प्रेममें मग्न हुआ पागलकी भाँति ऊँचे स्वरसे गायन करता है और नाचने लग जाता है ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र कर देता है ।'

इसी प्रकार भगवान् गीताजीमें कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

(११ । ५३-५४)

'हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ जैसे मेरेको तुमने देखा है । परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

भक्त श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम-भगति-चिंतामनि सुन्दर । बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥
परम प्रकासरूप दिन राती । नहि कछु चाहिय दिया घृत बाती ॥
मोह-दरिद्र निकट नहि आवा । लोभ-बात नहि ताहि बुझावा ॥
प्रबल अविद्या-तम मिटि जाई । हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहि जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं ॥
गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्हके बस सब जीव दुखारी ॥
राम-भगति-मनि उर बस जाकें । दुख-लवलेस न सपनेहुँ ताकें ॥
चतुर-सिरोमनि ते जग माहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥

अतएव सब लोगोंको उपर्युक्त सब प्रकारसे भगवान्की भक्तिका आश्रय ग्रहण करके जीवन और जन्मको सफल करना चाहिये ।

* * *

पथिक मन

क्यों न राम-नाम-गली गहत पथिक मन ?

काम, क्रोध, लोभ जहाँ—
कंटक-वन सघन महा—
चलत फिरत गिरत तहाँ, छिदत-छुलत तन !
क्यों न राम-नाम-गली गहत पथिक मन ?

चामीकर चपल चोर,
लागत उठि रैनि भोर,
देतु है कलेस घोर, हरत प्राण-धन !
क्यों न राम-नाम-गली गहत पथिक मन ?

'सैनिक' सार्थक स्वनाम,
ह्वै हैं जो करसि काम,
बिचर बिहर जहँ अकाम संत-सुजन जन !
क्यों न राम-नाम-गली गहत पथिक मन ?

—डाक्टर हनुमानप्रसाद त्रिपाठी, बी-एस० सी०, एल० एम-पी०, विशारद

भक्त-गाथा
श्रवण
कीर्तन
स्मरण
पादसेवन
अर्चन
वन्दन
दास्य
सख्य
आत्मनिवेदन

रामभक्त राजा सुरथ

'सरकार ! अपराध क्षमा हो । हमने नगरके बाहर आज अयोध्यापति महाराज श्रीरामचन्द्रके उस अश्वको जाते देखा है जो उन्होंने अश्वमेध यज्ञके लिये छोड़ा है । उस चन्दनचर्चित मनोहर अश्वके ललाटपर विजयपत्र बँधा है, जिसमें स्पष्ट शब्दोंमें विजयघोषणा की गयी है । सरकारकी आज्ञा हो तो उस सुन्दर घोड़ेको पकड़ लिया जाय । सुना है उस यथेच्छ विचरण करनेवाले घोड़ेके पीछे नरश्रेष्ठ अयोध्यानाथ श्रीरामचन्द्रजीकी बहुत बड़ी सेना उनके छोटे भाई शत्रुघ्नकी अध्यक्षतामें उसकी रक्षाके लिये चली आ रही है ।'

कुण्डलनगरके धर्मात्मा राजा सुरथके गुप्तचरोंने राजसभामें आकर नम्रतासे ऐसा निवेदन किया । सेवकोंका निवेदन सुनकर राजा सुरथ बोले—

'वीरो ! तुमने बहुत ही उत्तम शुभसंवाद सुनाया । अहा ! हम धन्य हैं, जो पार्षदोंसहित भगवान् श्रीरामके दर्शन करेंगे । निश्चय ही मैं बड़े-बड़े वीरोंसे घिरे हुए उस यज्ञीय अश्वको पकड़ूँगा, और इस बहाने अपनी चिरकालकी साध सहज ही पूरी करूँगा । भक्तपर अनुग्रह करके जब वे स्वयं यहाँ पधारेंगे, तभी घोड़ेको छोड़ूँगा । देखना यह उनका दास उन्हींकी शक्तिसे कैसे उनके अश्वको पकड़ता है और कैसे उन्हींके अनुचरोंको समरभूमिमें शिक्षा देता है ! जाओ, शूरवीरो ! बेधड़क घोड़ेको पकड़ लाओ, जरा भी देर या संकोच न करो । मेरी समझसे इसमें हमें परम लाभकी प्राप्ति होगी, क्योंकि इस बहाने हमलोग ब्रह्मादि देवोंके लिये भगवान्‌के जिन चरणकमलोंके दर्शन दुर्लभ हैं, उनके सहज ही—बड़े समीपसे दर्शन करेंगे । अहा! उन चरणोंको अपने हाथोंसे पकड़-पकड़कर हम पलोटेंगे ! जिनके भरोसे मुझे अपने स्वामीके दर्शन होंगे, वे मेरे स्वजन, पुत्र, बन्धु-बान्धव पशु और वाहन भी धन्य हैं । तुमलोग जल्दी जाओ और तुरंत उस स्वर्णपत्रसे सुशोभित कामगति मनोहर अश्वको पकड़कर अपनी घुड़सालमें बाँध दो ।'

राजाकी स्पष्ट आज्ञा पाकर शूरवीर लोग अपनी-अपनी सवारियोंपर चढ़कर दौड़े और तुरंत ही घोड़ेको पकड़कर राजाके पास ले आये । राजा घोड़ेको देखकर प्रसन्न हो गये और बड़े-बड़े शूरवीर महाबली सेवकोंको उसकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया ।

कुण्डलपुरके ये स्वनामधन्य राजा सुरथ बड़ी ही उच्च श्रेणीके भगवद्भक्त और धार्मिक नरेश थे । उनके राज्यकी उत्तम दशाका वर्णन करते हुए श्रीशेषजी कहते हैं—

> न तस्य विषये कश्चित् परदाररतो नरः ॥
> न परद्रव्यनिरतो न कामेषु च लम्पटः ।
> न जिह्वाभिरनुन्मार्गं कीर्तयेद्रामकीर्तनात् ॥
>
> (पद्मपुराण पातालखण्ड)

'उनके राज्यमें कोई भी मनुष्य परस्त्री और पराये धनमें आसक्त तथा कामोपभोगमें लम्पट नहीं था । और श्रीरामके कीर्तनको छोड़कर कोई भी मनुष्य अपनी जीभसे विपरीत शब्द नहीं निकालता था ।'

जब कोई मनुष्य राजाके पास नौकरीके लिये आता, तब राजा उससे पूछते—'भैया ! तुम अपने धर्म-कर्मको भलीभाँति जानते हो न ? एकपत्नीव्रतका पालन करते हो न ? दूसरेके धनपर तो कभी मन नहीं ललचाते ? दूसरोंकी निन्दामें तो तुम्हारा मन नहीं लगता ? वेदके विरुद्ध तो तुम कोई आचरण नहीं करते ? मेरे पास वही पुरुष रह सकते हैं जो सदाचारी हों और भगवान् श्रीरामका नित्य स्मरण करते हों । जो धर्मविरुद्ध आचरण करनेवाले पापी लोग हैं, वे तो मेरे राज्यमें निवास भी नहीं कर सकते ।'

वस्तुतः उनके राज्यमें एक भी मनुष्य पापी नहीं था, मनसे भी कोई पाप नहीं करता था । आनन्दपूर्ण हृदयसे सदा भगवान् हरिका ध्यान करनेसे सभीका हृदय पापशून्य हो गया था । उनके राज्यमें मरनेवाले सभी लोग मुक्त होते थे । 'तत्पुरस्था नराः सर्वे मृता गच्छन्ति निर्वृतिम् ।' सुरथ राजाके नगरमें यमदूत तो प्रवेश भी नहीं कर सकते थे । 'यमानुचरनिर्वेशो नाभवत् सौरथे पुरे ।'

एक समय सुरथ राजाकी भगवद्भक्तिका महत्त्व देखनेके लिये स्वयं यमराज जटाधारी मुनिका वेश धारणकर राजाके पास आये । उन्होंने आकर देखा, राजा सभामें बैठे अपने साथियोंसे धर्मचर्चा कर रहे हैं, उनके मस्तकपर तुलसीपत्र रक्खा है और बात-बातमें उनके मुखसे हरिनामका उच्चारण हो रहा है । 'तुलसी मस्तके यस्य वाचि नाम हरेः परम् ।'

राजाने वल्कलवस्त्रधारी तपस्वीको देखकर सम्मानपूर्वक उठकर उनका स्वागत किया और पाद्य-अर्घ्यादिके द्वारा पूजन करके ऊँचे आसनपर उन्हें बैठाया । फिर नम्रतापूर्वक कहा—'आज मेरा जीवन धन्य हो गया जो आप-सरीखे महात्माओंके चरण यहाँ टिके । अब कृपापूर्वक भगवान् हरिकी कोई कीर्तिकथा सुनाइये ।' राजाकी यह बात सुनकर मुनिने बड़े जोरसे हँसकर कहा 'कौन हरि ? और किसकी कीर्तिकथा ? यह सब वहम है । संसारमें कर्म ही प्रधान है—जो जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है, इसलिये तुम भी सत्कर्म करो । व्यर्थ हरि-हरि क्यों करते हो ?'

भगवान् श्रीराममें आसक्तचित्त राजाको मुनिकी बात सुनकर बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने कहा—'स्वामीजी ! आप भगवान्की निन्दा क्यों करते हैं ? भगवान्के निन्दकके लिये मेरे राज्यमें स्थान नहीं है । आप याद रखिये—कर्मोंके सर्वोत्तम फलोंको भोगनेवाले इन्द्र और ब्रह्माका भी भोग समाप्त होनेपर पतन होता है परन्तु श्रीरामके सेवकोंका कभी पतन नहीं होता । ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण आदि इसके प्रमाण हैं । भगवान्की निन्दा करनेवाले लोगोंको ही यमदूतोंके द्वारा भयङ्कर पीड़ा सहनी पड़ती है । आप ब्राह्मण होकर भगवान्की निन्दा क्यों कर रहे हैं ?'

राजाके मार्मिक वचनोंको सुनकर और उनकी अनन्य भगवन्निष्ठा देखकर यमराजने प्रसन्न होकर सर्वलोकपूजित निज रूप प्रकट कर दिया और वे राजासे बोले—'हे हरिसेवक ! मैं तुम्हारे प्रति अति सन्तुष्ट हूँ तुम वर माँगो ।' राजाने यमराजको पहचानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा 'भगवन् ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिये कि जबतक भगवान् श्रीराम अवतार लेकर यहाँ स्वयं न पधारें, तबतक मेरी मृत्यु न हो ।' यमराजने कहा, 'ऐसा ही होगा । भगवान् राघव आपकी सारी मनोकामना पूर्ण करेंगे ।' इतना कहकर यमराज अन्तर्धान हो गये । तबसे राजा सुरथ भगवान् श्रीरामके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । आज श्रीरामके अश्वमेधीय अश्वको पकड़कर इसी बहाने रामके दर्शन होंगे ऐसा सोचकर राजा आनन्दमग्न हो गये ।

लड़ाईकी तैयारी होने लगी । सुरथ राजाके चम्पक, मोहक आदि दसों कुमार सेनाको साथ लेकर रणक्षेत्रकी ओर चले । उधर शत्रुघ्नकी सेना तो तैयार थी ही । शत्रुघ्नजीने अङ्गदको दूत बनाकर भेजा । अङ्गदने शत्रुघ्नके बल-विक्रमका बखानकर सुरथ राजाको घोड़ा छोड़ देनेके लिये बहुत कुछ समझाया परन्तु राजाने स्पष्ट कह दिया—'आपका कहना सच है परन्तु जबतक भगवान् श्रीरामचन्द्र पधारकर स्वयं दर्शन नहीं देंगे तबतक शत्रुघ्नजीके भयसे मैं घोड़ेको नहीं छोड़ूँगा । मैं उन्हींकी शक्तिसे शत्रुघ्नजीसे धर्मयुद्ध करूँगा, और मुझे निश्चय है कि श्रीरामके तेज-बल-प्रतापसे मैं शीघ्र ही शत्रुघ्नजीसहित सभी शूरवीरोंको जीतकर उन्हें अपने यहाँ राजकैदी बनाकर रक्खूँगा । हाँ, श्रीरामके पधारनेपर उनके चरणयुगलोंमें प्रणाम करके मैं अपने पुत्रोंसहित सारे राजपाटको, धन-दौलतको, कुटुम्ब-परिवारको, सारी सेनाको और अपने-आपको उनके पावन चरणोंपर चढ़ा दूँगा ।'

अङ्गदजी लौट गये । घमासान युद्ध हुआ । और राजा सुरथने रामास्त्रके द्वारा शत्रुघ्नसमेत पुष्कल, अङ्गद, हनूमान आदि सभी श्रेष्ठ वीरोंको बाँध लिया !

राजाके कहनेपर बन्दी हनूमान्ने भगवान् श्रीरामका स्मरण किया और स्मरण करते ही भरत, लक्ष्मणके द्वारा सुसेवित और ऋषि-मुनियोंके द्वारा घिरे हुए भगवान् श्रीराम पुष्पक विमानपर सवार होकर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रको पधारे देखकर सुरथको जो अपार आनन्द हुआ, उसकी तुलना सैकड़ों मोक्षसुखसे भी नहीं हो सकती । सुरथ भक्तिपूर्ण हृदयसे भगवान्के चरणों-

में बार-बार नमस्कार करने लगे । नमस्कार करते-करते वे रुके ही नहीं । तब भगवान्‌ने चतुर्भुजरूप होकर चारों हाथोंसे पकड़कर भक्त सुरथको हृदयसे लगा लिया और पुलकित होकर आनन्दाश्रुओंसे उसका मस्तक सिञ्चन करने लगे । फिर बोले—'सुरथ ! तुम्हारा जीवन सार्थक हो गया। तुमने अतुल बलशाली हनूमान्‌को बाँधकर बड़ा काम किया। तुम्हारी शूरताको धन्य है ।' तदनन्तर भगवान्‌की कृपा-दृष्टि पड़ते ही सबके बन्धन खुल गये, घाव सूख गये, और जो बेहोश पड़े थे उन सबको चेतना आ गयी । राजा तो भगवान्‌के चरणोंमें लुट पड़े और अपने अपराधके लिये क्षमा माँगने लगे । भगवान्‌ने कहा—'राजन् ! क्षत्रियोंका धर्म ही है कि वे कर्तव्यवश अपने स्वामीके साथ भी युद्ध करते हैं । फिर तुमने तो यह युद्ध मेरे लिये, मेरी प्रीतिके लिये, मुझे पानेके लिये और मेरी ही अनुपमेय शक्तिका सहारा लेकर किया है । तुम्हारी इस समरपूजासे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ ।' राजा भगवान्‌के वचनोंको सुनकर पुनः चरणोंपर गिर पड़े । उनके नेत्रोंसे आँसुओंका प्रवाह बह चला । वाणी रुक गयी ! भगवान्‌ने पुनः उनको गाढ़ आलिङ्गन देकर कृतार्थ किया । तदनन्तर तीन दिनतक सब लोग वहाँ रहे । राजाने पुत्रोंसहित भगवान्‌की बड़ी सेवा की । चौथे दिन घोड़ेको लेकर शत्रुघ्नजी उसके पीछे चल दिये और भगवान् श्रीराम मुनिमण्डलीसहित अयोध्याको लौट गये । राजाका भगवत्प्रेम और भी बढ़ गया और वे भी अपने पुत्र चम्पकको राज्यभार सौंपकर भगवान्‌की सेवाके लिये शत्रुघ्नकी सहायतार्थ अपार सेना साथ लेकर घोड़ेके पीछे-पीछे चल दिये ! सारा जीवन राम-सेवामें बिताकर अन्तमें राजा साकेतधामको पधारे !

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

* * *

कल्याण

सत्य तत्त्व या परमात्मा एक हैं । वे निर्गुण होते हुए ही सगुण, निराकार होते हुए ही साकार, सगुण होते हुए ही निर्गुण तथा साकार होते हुए ही निराकार हैं । उनके सम्बन्धमें कुछ भी कहना नहीं बनता, और जो कुछ कहा जाता है सब उन्हींके सम्बन्धमें कहा जाता है । अवश्य ही जो कुछ कहा जाता है वह अपूर्ण ही होता है । पूर्णका वर्णन किसी भी तरह हो नहीं सकता । परन्तु परमात्मा किसी भी हालतमें अपूर्ण नहीं हैं; उनका आंशिक वर्णन भी पूर्णका ही वर्णन होता है; क्योंकि उनका अंश भी पूर्ण ही है । इन्हीं परमात्माको ऋषियोंने, संतोंने, भक्तोंने नाना भावोंसे पूजा और परमात्माने उन सभीकी विभिन्न भावोंसे की हुई पूजाको स्वीकार किया ।

वे परात्पर सच्चिदानन्दघन एक परमेश्वर ही परम तत्त्व हैं । वे गुणातीत हैं परन्तु गुणमय हैं, विश्वातीत हैं परन्तु विश्वमय हैं । सबमें वही व्याप्त हैं, और जिनमें वह व्याप्त हैं वे सभी पदार्थ—समस्त चराचर भूत उन्हींमें स्थित हैं । वे ही परात्पर प्रभु विज्ञानानन्दघन ब्रह्म, महादेव, महाविष्णु, महाशक्ति, अनन्तानन्दमय साकेताधिपति श्रीराम, और सौन्दर्यसुधासागर गोलोकाधीश्वर श्रीकृष्ण हैं । ये सभी विभिन्न स्वरूप सत्य और नित्य हैं । परन्तु अनेक दीखते हुए भी वस्तुतः ये हैं सदा-सर्वदा एक ही ।

साधक या भक्त अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इनमेंसे या इनसे अतिरिक्त अन्य किसी भी एक लीलास्वरूपकी उपासना आवश्यक समझकर किया करते हैं, और उनका ऐसा करना है भी बहुत ही ठीक । भगवान्‌के अनेकों रूपोंकी उपासना एक साथ नहीं की जा सकती । चञ्चल मनको शान्त और एकाग्र करनेके लिये एक ही रूपकी उपासना

आवश्यक होतो है। अनेकों रूपोंकी उपासनासे तो चित्तकी चञ्चलता और भी बढ़ जाती है। इसीलिये विचारशील दिव्यदृष्टिप्राप्त सद्गुरु साधककी रुचि, उसकी स्थिति, पात्रता, अधिकार और परिणामको देखकर उसे किसो एक ही रूपकी उपासना बताकर साथ ही ऐसा मन्त्र भी दे देते हैं जिसके द्वारा वह अपने उपास्यदेवका भजन कर सके। परन्तु साथ ही यह भी बतला देते हैं कि तुम्हें जिन भगवान्की उपासना बतलायी गयी है, एकमात्र भगवान् ये ही हैं, ये ही भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे भिन्न-भिन्न देश, काल, पात्रमें पूजित होते हैं। कोई भो स्वरूप तत्त्वतः उनसे भिन्न नहीं है; जब भिन्न ही नहीं, तब छोटे-बड़ेका तो सवाल ही नहीं रह जाता। तुम अपने उपास्य रूपको पूजते रहो। परन्तु दूसरेके उपास्यदेवसे द्वेष न करो, उसे नीचा न समझो; ऐसा करोगे तो तुम अपने ही उपास्यदेवसे द्वेष करोगे और उसे नीचा समझोगे, क्योंकि तुम्हारे उपास्यदेव भगवान् ही तो दूसरे लोगोंके द्वारा दूसरे रूपोंमें पूजित होते हैं। यदि तुम यह मान बैठोगे कि दूसरोंके उपास्यदेव भगवान् कोई दूसरे हैं, तो ऐसा करके तुम अपने ही भगवान्की एक सीमा बाँधकर उसे छोटा और अनेकोंमेंसे एक बना दोगे। फिर वह परात्पर नहीं रहेगा, लोकपालोंकी भाँति एक देवताविशेष रह जायगा। और ऐसे 'अल्प' और 'सीमाबद्ध' भगवान्से तुमको असीम भूमाकी प्राप्ति नहीं होगी। तुम अपने ही दोषसे आप परात्पर परमेश्वरके दर्शनसे वञ्चित रह जाओगे। इसलिये अपने ही इष्टमें अनन्यभाव रक्खो, परन्तु दूसरोंके इष्टोंको अपने ही इष्टका रूपान्तर समझकर उन सभीका सम्मान करो! दूसरे सभी स्वरूपोंको अपने इष्टके ही विभिन्न स्वरूप मानना अनन्यता है! इसके विपरीत करना तो 'अन्य' को आश्रय देना है, जो अनन्य भक्तके लिये व्यभिचार है।

सुना गया है कि कुछ भावुक लोग अनन्यताके नामपर ऐसा प्रचार करते हैं कि रामके भक्त कृष्णका नाम न लें और कृष्णके भक्त रामका नाम न लें। लेंगे तो उन्हें पाप होगा।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस उपनिषदुक्त मन्त्रका भी पूरा उच्चारण न करें। 'शिव' की समझसे ऐसा प्रचार करना ही अनाचार या पाप है। शास्त्र तो कहते हैं—एक ही भगवान्के सब नाम हैं। नामापराधमें शिव-विष्णुके नामोंमें भी भेद मानना एक अपराध माना गया है। 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः' यह शास्त्रवचन प्रसिद्ध है। जब शिव-विष्णुमें भेद मानना भी अपराध है, तब वैष्णव भक्त (?) विष्णु, हरि, राम, कृष्ण और नारायणमें तत्त्वतः भेद मानकर एक दूसरेके नाम-जपमें अपराध बतलावें, और साधकोंके मनोंमें भगवान्के नित्य सत्य पवित्र और एकके ही अनेक रूप बने हुए स्वरूपों और नामोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करें, इससे बढ़कर भगवदपराध और क्या हो सकता है?

'शिव' सबसे बड़ी नम्रताके साथ—परन्तु साथ ही जोर देकर यह कहता है कि ऐसा मानना छोड़ दो। तुम्हें कोई भड़कावे—सन्देहमें डाले तो उसके वचनोंपर विश्वास न करो। भगवान्को एक ही मानकर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्का नाम-कीर्तन करते रहो। तुम्हारा कल्याण ही होगा।

'शिव'

* * *

मेरा कृष्ण

(लेखिका—बहिन श्रीरैहाना तैयबजी)

कृष्ण ! कितना सुन्दर ! कितना मधुर ! कितना प्यारा है यह 'शब्द', कितना मीठा है यह नाम ! इस दो अक्षरके नाममें कितना जादू है। और मुझपर, मुझपर तो इस 'नाम' का अपार उपकार है। इसने मेरे जीवनको आमूल पलट दिया है और इसीके कारण आज मेरे जीवनमें एक अद्भुत सौन्दर्य, एक विचित्र रस (Romance) भर गया है और मेरे जीवनकी गहराईमें एक नवीन भावका आविर्भाव हुआ है। मैं अब सोचती हूँ और यह सोचती हुई विमूढ़-सी हो रही हूँ कि इस प्रिय नामके प्रकाशको न पाकर जीवन कितना सारहीन हो जाता ! उस स्थितिकी कल्पना भी मेरे लिये असह्य है ! मेरे जीवनमें कृष्णने कब प्रवेश किया ? क्या कोई ऐसा भी समय था जब वह मेरे अन्तस्-के-अन्तस्में नहीं थे ? मैं विमूढ़-सी हो रही हूँ····।

मेरा वह प्यारा, सुनहरा बचपन मेरे सामने अपनी पूर्ण स्मृतियोंके साथ खेल रहा है। पाँच-छः वर्षकी मैं एक छोटी-सी बालिका थी—भगवान्के लिये भूखी। अपने प्यारे और दयालु 'बापू' से मैं ईश्वर तथा ईश्वरकी सृष्टिके सम्बन्धमें प्रश्न-पर-प्रश्न करती जाती। बापूने मुझे इसलाम-धर्मकी शिक्षा दी ! अल्लाहके सम्बन्धमें जो दिव्य भावना है उसे उन्होंने मुझमें भरनेकी चेष्टा की और साथ ही यह भी बतलाया कि अल्लाह त-आला सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ तथा अपार करुणाका समुद्र है। श्रद्धा और भक्तिसे मेरा मस्तक झुक गया परन्तु मेरे हृदयकी धारा ज्यों-की-त्यों बनी ही रही। भावप्रधान, संवेदनप्रधान होनेके कारण मेरे चित्तको एक महामहिम 'शक्ति' से सन्तोष कैसे हो पाता ? मैं तो 'कुछ और' चाहती थी—कुछ ऐसी चीज़ ढूँढ़ रही थी जो मेरे जीवनके निकट-से-निकट हो, प्रिय-से-प्रिय हो—कोई ऐसी चीज़ जो मानव हो, व्यक्त हो, कोमल हो। सौन्दर्यकी उपासना मेरे प्राणोंके भीतर बड़ी उत्कट थी। बापूसे मैं आग्रहपूर्वक पूछती—क्या अपने 'अल्लाह' परम सुन्दर नहीं हैं ? परन्तु वे कहते, भोली बच्ची ! अल्लाहके शरीर नहीं होता, उनके नख-शिखकी बात क्यों पूछती हो ? फिर 'वह सुन्दर' कैसे हो सकता है ? मैं उन्हें प्यार करना चाहती थी, मैं उन्हें हृदयसे पूजना चाहती थी परन्तु हाय ! वह कितनी दूरीपर थे।

वह चाहे कितने भी प्रेममय क्यों न हों यदि मैं उनके प्रेमको ठीक उसी रूपमें जैसे मैं अपने माता-पिताके प्रेमको पाती रही हूँ न पा सकूँ, यदि उनके प्रेमका स्पर्श मैं ठीक-ठीक प्राप्त न कर सकूँ तो उनका—उन अल्लाहका परम प्रेममय होना मेरे किस कामका ? मैं एक बच्ची ही तो थी—सुदूर और सर्वशक्तिसम्पन्न 'अल्लाह' के भावने मेरे कुतूहलभरे मनको उत्साहहीन करके थका-सा दिया। मैं निराश हो चली !

छः वर्षकी उम्र पारकर मैं ईसाई-धर्मकी ओर झुकी और उसमें मुझे आनन्द आया। ईसा कम-से-कम मानव तो थे, सदय और प्रेममय तो थे। उनके जो चित्र मैंने देखे वे मुझे बहुत भाये। उन चित्रोंमें मेरी भावनाके लिये पूरा आधार मिल गया, मेरी कल्पनाकी भूख-प्यास भी उससे कुछ मिटी। मेरे माता-पिता डर गये कि कहीं मैं ईसाई न हो जाऊँ। हज़रत मुहम्मदके सम्बन्धमें उन्होंने मुझे बहुत-बहुत समझाया। मुहम्मदके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा

थी ! परन्तु उनके कोई चित्र न मिलनेके कारण मैं उनके दर्शनसे वञ्चित ही रहती आयी। उस समय अवस्था इतनी कम थी तथा हृदय इतना संवेदनशील एवं भावुक था कि मुसलिम सिद्धान्त अथवा मुसलिम दर्शनके प्रति मेरी रुझान हो नहीं सकती थी। और मैंने सुना, हम सबकी तरह मुहम्मद एक साधारण मनुष्य थे। उससे मुझे क्या लेना था ? मैं तो भगवान्‌को खोजती थी—वह भगवान् जो मनुष्यरूपमें धराधामपर आया हो।

तो, क्या कृष्ण ही मेरे हृदयके द्वारको खटखटा रहे थे ? कैसे कहूँ भो। मैं संगीत सीखने लगी और जीवनने जादूकी तरह पलटा खाया। जितने भो गाने मैंने सीखे वे प्रायः सभी कृष्णको लेकर ही थे। कृष्ण ! अह ! कृष्ण ! अरे ! मैं तो इसीकी खोजमें थी। इसी 'एक' के लिये मैं भटकती रही, तड़पती रहो, भूखी-प्यासी रहो। इसी 'एक' की प्रतोक्षामें प्राणोंने आरती सजायी थी। इस 'नाम' को सुनते ही मेरा हृदय जाग पड़ा, नाम सुनते ही जुड़ा गया, भर गया ! ऐसा माळ्म हुआ—युग-युगसे, जन्म-जन्मान्तरोंसे इस 'प्यारे'से मैं परिचित हूँ। इस जीवनके प्रथम मिलनमें पहले कभी अपरिचित थी, ऐसी बात मनमें कभी आयी ही नहीं। मैं तो उन्हें जानती थो, और यह जानना, यह परिचय इतना घनिष्ठ, इतना आत्मीयतापूर्ण, इतना सहज स्वाभाविक था कि मुझे 'उन'से मिलकर किसी प्रकारका तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। कृष्णको पाकर मैं आनन्दमें छकी रहती। यह अतुल रूप-राशि, यह सौन्दर्य-सिन्धु जो जगत्‌के सारे रूप और सौन्दर्यसे परेका था और जिसके सपने मैं देखा करती थी मेरी आँखोंके सामने आया। संगीतका प्रेम बड़ा प्रबल मेरे भीतर था ही। यहाँ मुरलीमनोहरके मनोहर दर्शन हुए, जिसकी जादूभरी बाँसुरीने उन्मद संगीत-लहरीसे जगत्‌के चर-अचरको मोहित कर लिया है। अपने माता-पिताकी मैं छोटी-सी लाड़ली लली थी, मेरे प्राणोंको कृष्णके स्पर्शमें अपूर्व सुखका अनुभव हुआ। गोकुलका वह मदनगोपाल जिसकी मीठी-मोठी शरारतों और बाँकी चुलबुलाहट तथा सरल अट्टहाससे चित्तको बड़ा सुख मिलता था—साथीके रूपमें कितना उदार, निश्छल है ! उसकी एक-एक अदा एक ओर तो प्राणोंको विमुग्ध करती है और दूसरी ओर चित्तपर उसका अद्भुत, रहस्यमय सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है जिससे जीवन निर्मल, उन्नत तथा पवित्र हो जाता है। देव और मानवका यही संगमस्थल था। इसीकी खोज मेरे प्राणोंमें थो……!

जैसे-जैसे मैं सयानी होती गयी, कृष्णके प्रति मेरा प्रेम अधिकाधिक प्रगाढ़ होता गया। बुद्धि नये-नये कुतूहलोंमें उड़ा करती परन्तु हृदय तो श्रद्धा-प्रीतिमें उनके चरणोंमें सदा लोटता ही रहा और जो कुछ मैंने सीखा है, सुना है उससे मेरी श्रद्धा और प्रीति बढ़ती ही जा रही है। कुरानमें मेरी बड़ी आस्था थी और उसकी आयतोंको गानेमें बड़ा आनन्द मिलता था, उसका दिव्य संगीत, भावप्रवण-भाषा, पागल बना देनेवाली संगीत-लहरी, रहस्यभावनाकी अनन्त राशि, सीधे-सादे परन्तु शक्तिशाली शब्दोंमें चिन्तित भाव-व्यञ्जना मुझपर जादूका असर करती रही है। भारतीय दर्शनने भी मुझे बहुत अधिक आकृष्ट किया है और दर्शन-शास्त्रके जितने भी ग्रन्थ मिले मैं बहुत चावसे पढ़ती गयी तथा उनके सिद्धान्तोंसे तादात्म्य स्थापित करती गयी। गिरगिट जिस प्रकार रंग बदलता है उसो तरह मैं अद्वैतवादी, द्वैतवादी, बौद्ध, कुछ अंशोंमें जैनी इस प्रकार जल्दी-जल्दी सब कुछ होती गयो ! और अन्तमें मैं इस निष्कर्षपर पहुँची कि जिस प्रकार ईश्वर एक है उसी तरह धर्म भी एक है और विभिन्न धर्मोंमें जो कुछ भेद दिखायी पड़ता है वह केवल बाह्य है, ऊपरी है।

'धर्म' से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध है नहीं। अब तो साधारण अर्थमें—जिस अनुदार अर्थमें इसका प्रयोग होता आया है मैं 'धर्मात्मा' रही ही नहीं। अब मेरे लिये संसारमें बस एक ही आश्रय रह गया और वह था 'लक्ष्य' और उसकी प्राप्तिके लिये अनवरत उद्योग; आत्मा और उसकी लक्ष्यतक पहुँचनेकी लालसा !

अब, इस स्थितिमें जाकर मैं 'वस्त्रहरणलीला' का रहस्य समझ सकी। पुनः कृष्ण मेरी चेतनामें आ पैठे और इसे छा लिया। अब वे मेरे लिये एकमात्र परमसुन्दर आदर्श, एक रहस्यभावनाकी तेजोमय मूर्ति, एक दिव्य स्वप्न जो जगत्‌की तथ्यताकी अपेक्षा नहीं रखता—इतना ही नहीं रहे। अब तो वह सर्वदा स्पष्ट, ठोस, सजीव—किसी भी स्थूल और व्यक्त पदार्थसे अधिक स्पष्ट, अधिक व्यक्त; संसारके किसी भी सजीव वस्तुसे अधिक सजीव होकर वे मेरे सम्मुख आये। मेरी कल्पनाके लोकको पारकर कृष्ण मेरे हृदयमें आ पहुँचे।

उन परम दिव्य चरणोंके स्पर्शमात्रसे मेरे भीतरके शत-शत द्वार खुल गये। नयी दृष्टिसे मैंने 'उन्हें' देखा, नये कानोंसे सुना, नये हृदयसे प्रेम किया। हज़रत मुहम्मद अब मेरे लिये एक ऐतिहासिक व्यक्तिकी छायामात्र नहीं रहे। अब तो मैं उन्हें महान् शक्तिशाली आध्यात्मिक तेजःपुञ्ज मानने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ कि अबकी तरह कभी भी पहले मैं उन्हें समझ न सकी थी; और अब जितना प्यार करने लगी थी युवावस्थामें उतना नहीं कर पायी थी। प्रभु ईसामसीह, भगवान् ज़रथुस्त्र, भगवान् बुद्ध, महावीर प्रभु—सभी मेरे लिये सजीव हो उठे। मैं सबसे प्रेम करने लगी और प्रेमके इस ज्वारमें इन्हें बिना किसी संकोचके मैंने बहुत निकटसे प्यार किया। सभी मेरे प्रेमके समान अधिकारी थे। मनसे सारे भेद-भाव मिट गये। किसीमें कुछ अन्तर रहा ही नहीं। मैं इन्हें पाकर परम स्पृहणीय धनकी स्वामिनी बन बैठी। मेरे बचपनके अह्लाद दूरसे आश्चर्यचकित स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देख रहे थे, शत-शत रूपमें मुझपर हँस रहे थे, असंख्य हाथोंसे मेरी ओर इशारा कर रहे थे, हजारों मुखसे मुझसे बोल रहे थे, और सभी हृदयोंसे मुझे प्यार कर रहे थे।

अब, इस अवस्थामें पहुँचकर रासलीलाका अर्थ मैं कुछ-कुछ समझ सकी !

फिर भी, इसे समझनेमात्रसे ही कुछ होने-जानेको नहीं। मेरी तृष्णा अब भी शान्त नहीं हुई है, मेरी अतृप्ति अब भी मिटी नहीं है। 'उस' की मुझपर अपार, अतुल कृपा है—मेरी अयोग्यताकी तरह उसकी दया भी असीम है ! किन्तु, तथापि, मुझे सन्तोष नहीं है——उसकी दया जैसे-जैसे बढ़ती जाती है मेरा लोभ भी वैसे ही बढ़ता जा रहा है !

उसने दयाकर अपना कुछ रहस्य बतलाया है—मुझे 'समझ' दी है; परन्तु वह दिन कब आयेगा जब वह मुझे 'हृदय' प्रदान करेगा ?

क्योंकि 'दानलीला' तो अभी होनेवाली है····!

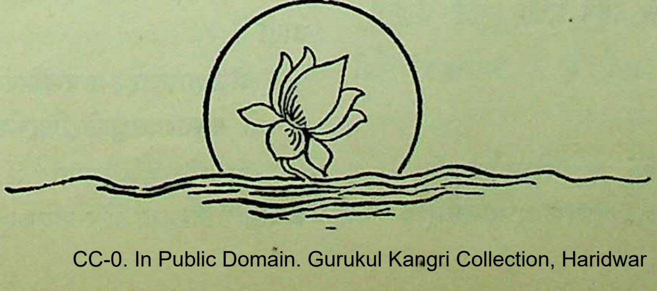

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार

(लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

जिन गोस्वामीजीकी रचनाकी ख्याति दिगन्तव्यापिनी है, जिनकी वाणी लाखों मनुष्योंके लिये धर्मशास्त्र हो रही है, जिनकी चौपाइयोंका प्रमाण हिन्दी-भाषा-भाषियोंके होंठोंपर रहता है, जिनके निर्मित ग्रन्थका प्रचार सभी संस्कृत और हिन्दी पुस्तकोंसे अधिक है, उन गोस्वामीजीके दार्शनिक सिद्धान्त क्या थे, इस विषयके निर्णयका कौतूहल होना स्वाभाविक है ।

निर्णयके लिये इतना ही यथेष्ट नहीं है कि अमुक सिद्धान्त गोस्वामीजीका नहीं है, इससे तो वादविशेषके प्रति द्वेष ध्वनित होता है । निष्पक्ष निर्णेताको उचित है कि इस बातका पता लगावे कि वस्तुतः उनका क्या सिद्धान्त था । ग्रन्थकारके सिद्धान्तका पता उसके ग्रन्थोंसे लग सकता है, सो गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें सर्वलक्षणसम्पन्न रामचरितमानस है, और इसीका प्रचार भी अधिक है, परन्तु गोस्वामीजीके हृदयोद्गारका पता जैसा विनय-पत्रिकासे लगता है, वैसा अन्य ग्रन्थोंसे लगना कठिन है । यद्यपि वह गोस्वामीजीके देहावसानके बाद संग्रहीत हुई है; फिर भी बड़े कामकी है ।

महात्माओंका कहना है कि बिना अनुबन्धचतुष्टयके जाने प्रेक्षावान्‌की प्रवृत्ति उस ग्रन्थके पढ़नेकी ओर नहीं होती, अतः अनुबन्धचतुष्टयको ही पहले ठीक करना चाहिये । जो बात स्वयं ग्रन्थकारके कण्ठसे निकली है, उसीको उनके मतको समझनेके लिये परम प्रमाण मानना पड़ेगा । क्योंकि यहाँ हमें यह नहीं देखना है कि कौन-सा वाद ठीक है, बल्कि यह देखना है कि कौन-सा गोस्वामीजीको अभिमत है ।

यद्यपि श्रीरामचरितमानसका विषय नामसे ही स्पष्ट है, तथापि श्रीगोस्वामीजी स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं ‘बरनउँ रामचरित भवमोचन ।’ ज्ञान होना प्रयोजन है, यथा—

भाषाबद्ध करब मैं सोई । मोरे हिय प्रबोध जेहि होई ॥

प्रबोध शब्दका अर्थ ज्ञान है । उपसंहारमें भी लिखते हैं—

मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥

अपने हृदयके अन्धकारके नाशके लिये हृदयके अन्धकारका नाश होना और ज्ञान होना एक बात है; अतः ज्ञानप्राप्ति ही गोस्वामीजीका प्रयोजन मालूम पड़ता है । ग्रन्थ और विषयमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव-सम्बन्ध है, यथा—

तेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥

अधिकारी सज्जन हैं, यथा—

सुनहु सकल सज्जन रति मानी ।

अतः अनुबन्धचतुष्टयसे तो यही सिद्ध होता है कि ज्ञानपर्यवसायिनी भक्ति ही गोस्वामीजीको इष्ट है ।

मीमांसाका मत है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

और सभीने इसे प्रमाण भी माना है; ग्रन्थ लिखते समय ग्रन्थकार बहुत-सी बातें लिख जाता है, तब उसके तात्पर्यका पता कैसे लगे ? इसलिये महात्माओंने तात्पर्य-निर्णयके ये छः साधन बतलाये हैं ।

इनमेंसे प्रधान उपक्रम और उपसंहार है । उपक्रम और उपसंहारमें जो बात ठीक हो गयी वही ग्रन्थकर्ताका तात्पर्य है, बीचमें यदि वह लक्ष्यसे दूर भी हट जाय, तथापि उसका वही तात्पर्य माना जायगा, जो उपक्रम और उपसंहारमें निरूपित हो ।

१—उपक्रम और उपसंहार

अब देखना यह है कि श्रीरामचरितमानसके उपक्रममें कोई दार्शनिक सिद्धान्त कथित है या नहीं ? तो वह मंगलाचरणके श्लोकमें ही मिलता है, ‘यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः’ जिस (रामब्रह्म) की सत्तासे यह सब (चराचरात्मक जगत्) सच्चा ही प्रतीत होता है, जैसे—रस्सीमें साँप । इसी भाँति उपसंहारके श्लोकमें देखा जाता है—

श्रीमद्रामचरितमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥

जो श्रीरामचरितमानसमें भक्तिसे स्नान करते हैं वे मनुष्य संसाररूपी घोर रविकरसे नहीं जलते ।

उपक्रम और उपसंहारके दोनों पदोंसे गोस्वामीजीका विवर्त्तवाद मालूम पड़ता है। सम्पूर्ण दर्शनोंमें तीन ही वाद माने जाते हैं-(१) आरम्भवाद, (२) परिणामवाद और (३) विवर्त्तवाद । आरम्भवादी असत्से सत्की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे-बीजसे वृक्ष । बीजके नष्ट होनेपर वृक्ष होता है । परिणामवादी सत्से सत्की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे-दूधसे दही, और विवर्त्तवादी सत्से अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं, जैसे-रस्सीमें साँप, सीपीमें चाँदी, सूर्यके किरणोंमें जल। सो यहाँ उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें विवर्त्तवाद है, और विवर्त्तवाद अद्वैतवाद-का सिद्धान्त है ।

प्रायः अद्वैतवादी ही इन दृष्टान्तोंको मंगलाचरणमें रखते हैं, कहीं ये दृष्टान्त आ जायँ वहाँ खींचातानी करना दूसरी बात है, परन्तु दूसरे वादी इन दृष्टान्तोंको मंगलाचरणमें कभी नहीं रखते, क्योंकि ये सद्यः उनके सिद्धान्तोंके विरुद्ध पड़ते हैं ।

जिसकी सत्तासे सब सच्चा ही प्रतीत होता है, इससे भाव यह निकलता है कि झूठा प्रतीत ही नहीं होता, और है झूठा । अब प्रश्न यह उठता है कि जो झूठा है सो सच्चा क्यों प्रतीत होता है ? उत्तर देते हैं, 'यत्सत्त्वात्' जिस ब्रह्मकी सत्तासे । भाव यह कि सत्ता ब्रह्मकी है जगत्की कोई सत्ता नहीं, पर प्रतीति होती है । यह बात टेढ़ी-सी है, जल्दी समझमें नहीं आती, अतः दृष्टान्त देकर साफ करते हैं—'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' । रस्सीमात्र सच्ची है, उसमें जिस साँपकी प्रतीति होती है वह तीन कालमें सच्चा नहीं है, पर प्रतीति साँपकी ही होती है । यहाँ राम (ब्रह्म) की उपमा रस्सीसे है और चराचरात्मक जगत्की उपमा उसमें प्रतीत होनेवाले साँपसे है । संसार भी अनादि कालसे है । अतीत प्रलयके पहले (अन्य कल्पमें) भी संसार था, अतः उसका भ्रम होना भी बनता है ।

'यहाँपर रामरूप संसारमें नानात्वरूपसे संसारकी भ्रान्ति मानना' चाहे सिद्धान्ततः ठीक हो, पर इस दृष्टान्तसे मेल नहीं खाता । इस दृष्टान्तसे मेल खानेके लिये 'रामाख्यमीशं हरिम्' का अर्थ 'रामरूप संसार' करना पड़ेगा जो कि सर्वथा अनुपादेय है, अतः इस दृष्टान्तसे अद्वैतवाद ही आता है ।

अब उपसंहार देखिये । वे (जो इस रामचरितमानसमें भक्तिपूर्वक स्नान करते हैं) संसाररूपी सूर्य-किरणोंसे नहीं जलते अर्थात् उसे इष्ट (जल) मानकर सेवन करनेवाले ही दुःख पाते हैं, यथा—'कहि न जाय रविवारि सत्य भ्रमते दुख होइ बिसेषे' भाव यह कि जो श्रीरामचरितमानसमें स्नान करते हैं, वे सच्चे जलमें स्नान करनेवाले हैं । उनकी पिपासा शान्त हो चुकी है, वे सूर्य-किरणरूपी झूठे जलके पीछे क्यों दौड़ेंगे ? यथा—

ब्रह्मपीयूष मधुर सीतल जौं पै मन सो रस पावै ।
तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसिबासर धावै ॥

यहाँ भी संसाररूपी अनिर्वचनीय जलकी उत्पत्ति विवर्त्तवाद ही है । सच्चा जल ब्रह्मसे उपमित है, झूठा जल रवि-कर संसारसे उपमित है । केवल ब्रह्म सत्तासे संसारकी अनिर्वचनीय अर्थात् झूठी सत्ता भासित है । यहाँ भी नानात्वका निषेध तो है ही, पर निषेध करनेपर जो शेष रहता है वह ब्रह्म राम है रामरूपी जगत् नहीं है, अतः यहाँ भी अद्वैतवाद ही कहा । सो उपक्रम और उपसंहारसे तो अद्वैतवाद सिद्ध है ।

२-अभ्यास

जो बात जिसके मनमें रहती है, उसे वह उपक्रम और उपसंहारमें ही कहकर शान्त नहीं होता; उसे जहाँ-जहाँ अवसर मिलता है, उसी बातको दुहराता है, इसी बातको अभ्यास कहते हैं । अब देखना चाहिये कि इसका अभ्यास भी कहीं किया है कि उपक्रम और उपसंहार करके ही सन्तुष्ट रह गये ।

(क) झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने । जनु भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥
बंदौं बालरूप सोइ रामू । सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥

यहाँ भी वही रज्जु भुजंगकी उपमा है यहाँ इतना विशेष कहा कि रज्जुका अज्ञान ही रज्जु-सर्पका कारण है, और ज्ञानसे उसका बाध होता है, जैसे—जाग जानेसे स्वप्नका बाध होता है । मिथ्याका लक्षण भी कह देते हैं, जिसका ज्ञानसे बाध हो वही मिथ्या । जाग्रत्के राजा भले ही सच्चे हों, उनका इस दृष्टान्तमें उपयोग नहीं है । सपनेमें तो स्वप्नके राजासे काम है; उनका बाध जाग्रत्से होता है । यह भी विवर्त्तवाद ही है ।

(ख) जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥
रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥

एहि बिधि जग हरि आस्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागें न दूर दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोई कृपाल रघुराई ॥

यहाँ इतना विशेष कहा कि माया जड़ है अर्थात् ब्रह्म चेतन है । माया मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है । विवर्त्तवादका एक और उदाहरण दिया—

रजत सीपमहँ भास जिमि ।

जगत्का होना तीन कालमें मिथ्या बतलाया, पर उसके सत्यत्वका भ्रम टाले नहीं टलता, यहाँतक कि उसके नानात्वको मिथ्या माननेपर भी उसे ब्रह्मरूपमें सत्य माननेके लिये कमर कसी जाती है । इस भ्रमके मिटनेका साधन एकमात्र रघुराईकी कृपा है ।

(ग) सो दासी रघुबीरकी, समुझे मिथ्या सोऽपि ।
छूट न रामकृपा बिनु, नाथ कहौं पद रोपि ॥

जिसका कटक प्रचण्ड संसारमें व्याप रहा है, कामादिभट जिसके सेनापति हैं, वह प्रभा वा मायारानी रघुवीरकी दासी हैं । जबतक न समझे (ज्ञान न हो) तभीतक और समझनेपर वे भी मिथ्या हो जाती हैं । इसपर कहा जाता है कि 'सः' पुँल्लिङ्ग है अतः उससे कामादि भटका परामर्श है । लिंगदोषसे बचनेपर वचनदोष अनिवार्य हो पड़ता है; 'सः' एकवचन है, कामादि भट बहुवचन हैं । परन्तु व्यर्थके विवादसे क्या लाभ ? यही सही । तब 'अपि' शब्दकी क्या गति होगी ? भाव निकलेगा कि माया तो मिथ्या है ही । माया कटक कामादि भट भी मिथ्या है ।

(घ) जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनम मरन जहँ लगि जगजालू । संपति बिपति करम अरु कालू ॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू । सरग नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥

यहाँ सबको मोहमूलक बताया । इन सबकी केवल व्यावहारिक सत्यता है, पारमार्थिक सत्यता नहीं है । यहाँपर यह विशेष कहा कि सत्य भी दो हैं । एक पारमार्थिक सत्य और एक व्यावहारिक सत्य । संयोग-वियोग, भल-मन्द, भोग, हित, शत्रु, मध्यस्थ, ये सब भ्रमके फन्दा हैं । जन्ममरणरूपी जालमें लगे हैं । जन्म-मरणके बीच व्यवहार चलता है; सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, काल, पृथ्वी, घर, धन, राज्य, परिवार, स्वर्ग, नरक, यह सब व्यवहार है । इनमें पारमार्थिक सत्यता नहीं । क्योंकि पहले कह चुके हैं कि तीन कालमें मिथ्या है । यहाँ मिथ्यासे सत्यज्ञानद्वारा बाधित होनेवाली वस्तु अभिप्रेत है । बाधित होनेवाली वस्तु ही हमारे लिये व्यावहारिक सत्य है । पारमार्थिक सत्य तो त्रिकालमें अबाध्य केवल राम हैं, यथा—

रामब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकाररहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥

इस भाँति बारंबार विवर्त्तवाद अर्थात् 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को अवसर मिलते ही दोहराया गया है । अतः गोस्वामीजीका तात्पर्य विषयीभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही अभ्याससे भी मालूम होता है ।

३–अपूर्वता

ग्रन्थमें कोई अपूर्वता भी चाहिये, नहीं तो उसके लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती । सो इसकी अपूर्वता तो उमाके प्रश्नसे ही प्रकट है, यथा—

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥

अद्वैतब्रह्मका अवतार कैसे सम्भव है ? सो उसी अद्वैतब्रह्मका अवतार और चरित इसमें वर्णित है । प्रादेशमात्र मैं कहे देता हूँ, विस्तारके लिये ग्रन्थ ही मौजूद है । जैसे—जलराशि स्वभावसे ही तरल होता है, पर सदा सर्वत्र सर्वांश उसका तरल नहीं रहता; कभी कहीं सर्दीसे जम भी जाता है । उसी भाँति ब्रह्मका अवतार भी कभी भक्तके प्रेमके वश हो जाता है, यथा—

जो गुन रहित सगुन सो कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेमबस सगुन सो होई ॥

यहाँ अभेद शब्दसे त्रिविध भेदशून्य अद्वैतब्रह्मविषयक प्रश्न और तद्विषयक उत्तरमें ही सम्पूर्ण रामचरितमानस कथित है ।

४–फल

अपने अन्तःसुखके लिये ही गोस्वामीजीने इस ग्रन्थका भाषामें प्रणयन किया था, यथा—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।

और अन्तमें कहते हैं कि—

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदासहूँ।
पायौ परम बिस्राम राम, समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अतः अन्तःसुख प्रत्यक्‌चेतनाधिगम अथवा परम विश्रामकी प्राप्ति ही इसका फल हुआ। उपसंहारमें भी कहते हैं—

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये॥
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।

अतः ब्रह्मप्राप्ति ही इसका फल है।

५—अर्थवाद

जो बात सिद्ध करनी है उसके स्पष्टीकरण या गौरवके लिये प्राचीन इतिहास दृष्टान्तादि कुछ अन्य बातें भी कही जाती हैं, उन्हें अर्थवाद कहते हैं, यथा—

एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोहबस कहेउ भवानी॥
तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखण्डी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच॥
अग्य अकोबिद अन्ध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असम्मत बानी। जिनहिं न सूझ लाभ नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥
जिनके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥
हरि मायावस जगत भ्रमाहीं। तिनहिं कहत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
जिन कृत महामोह मदपाना। तिनकर कहा करिअ नहिं काना॥

यहाँ भेददर्शीकी निन्दा है। जिसने रामको अन्य समझा, उसने कौन-सा पाप नहीं किया।

यः पश्यति स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात्।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

सब राम ही तो हैं, वे ही ईश्वर हैं, वे ही जीव हैं। यहाँ राम कोई अन्य हैं यह प्रश्न ही नहीं बन सकता। ऐसी वाणी वेद असम्मत है। स्वयं अविवेकी हैं, मन मलिन है, आत्मारामका दर्शन नहीं होता। यहाँ विवेकको नयन तथा मनको मुकुर कहा, यथा—

'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन' 'निज मन मुकुर सुधारि।'

दर्शनके लिये तो नेत्र है ही, पर आत्मस्वरूप दर्शनके लिये निर्मल मुकुरकी भी असाधारण आवश्यकता है, अतः यहाँ आत्मारामके दर्शनको कह रहे हैं कि जिसे आत्मारामका दर्शन हुआ नहीं, वही पूछ सकता है कि राम कोई दूसरे तो नहीं हैं? रामके विषयमें प्रश्न नहीं बन सकता। अतः यहाँ भी अद्वैतवाद ही कहा। इसी भाँति गरुडचरित भी अर्थवाद है। उन्हें भी उमाकी भाँति संशय हुआ, यथा—

सो अवतार सुनेउ जगमाहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

यहाँ भी दिये हुए विशेषणोंसे अद्वैतब्रह्म ही सूचित हैं। अतः अर्थवादसे भी अद्वैतवादकी ही पुष्टि होती है।

६—उपपत्ति

किसी विशेष बातके सिद्ध करनेके लिये बाधक प्रमाणोंके खण्डन और स्वसिद्धान्तके मण्डनको उपपत्ति कहते हैं। उपक्रमोपसंहारसे तात्पर्यके दोनों किनारोंके स्थिर हो जानेपर बीचका मार्ग उपपत्तिके बलपर ठीक किया जाता है।

अब यह देखना है कि गोस्वामीजीने अद्वैतसिद्धान्तकी उपपत्ति किस प्रकार की है।

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देखहिं ब्रह्म समान सब माहीं॥

—कहकर ज्ञानकी परिभाषा की।

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥

—कहकर अज्ञानसे (द्वैत) जगत्‌की उत्पत्ति कही। अब द्वैतकी निन्दा करके खण्डन करते हैं—

(१) क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान।
(२) द्वैतरूप तम कूप परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारो।
(३) सेवत साधु द्वैत भय भागै। इत्यादि

जो कुछ द्वैतवर्णन श्रीरामचरितमानसमें है, वह व्यावहारिक सत्य लेकर है।

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेव परं बलम्।

द्वैतमें गिरे हुए जीव द्वैतका आश्रय करके ही उठ सकते हैं।

व्यावहारिक सत्य यही है कि—

माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।

अतः—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।

यह भी भलीभाँति उत्पन्न होता है। यही सम्बन्ध परिपुष्ट होकर तादात्म्य भावसे परिणत होता है।

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।

तदीय भाव ही पहली सीढ़ी है; इसके बिना काम चल नहीं सकता। दूसरी सीढ़ी मदीय भाव है, यथा—

तरइ न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥

तीसरी सीढ़ी तादात्म्य है। किसी कविने अच्छा कहा है कि—

दासोऽहमिति मे बुद्धिः पुरासीन्मधुसूदने।
दाकारोपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥

भुशुण्डिजी भी कहते हैं—

जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाय न कोटि उपाया॥

अर्थात् एकरस ज्ञान न होना ही जीव बनाये हुए हैं। एकरस ज्ञान न रहनेका कारण देते हैं कि वह मायाके परवश है, मायाने भेद कर रक्खा है, वह भेद भी झूठा है। क्योंकि झूठी मायाका किया हुआ भेद कहाँतक सच्चा हो सकता है फिर भी वह झूठा भेद ऐसा प्रबल है कि बिना हरिकृपा कोटि उपायसे भी नहीं जाता, यथा—

तबते मोहिं न ब्यापी माया। जबते रघुनन्दन अपनाया॥

यही शैली अध्यात्मरामायणकी भी है, जिसका बहुत कुछ अनुसरण गोस्वामीजीने किया है। यही वाल्मीकिजी कहते हैं—

तुम्हरी कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत उर चन्दन॥
सो जाने जेहि देउ जनाई। जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥

यहाँपर दूसरे 'तुमहि' का अर्थ 'तुम्हारा' करना हिन्दी-व्याकरणकी अनभिज्ञता ही प्रकट करना है। इसी बातको लोमश-भुशुण्डि-संवाद और ज्ञानदीपक तथा भक्ति चिन्तामणिके तुलनात्मक दृष्टान्तमें दिखलाया गया है।

(क) भुशुण्डि-लोमश-संवाद—पूर्वजन्ममें भगवान् शङ्करसे वर पाकर ही एक ब्राह्मण बचपनसे ही वैराग्यवान् हुआ—

छूटी त्रिबिध ईषणा गाढी। एक लालसा उर अति बाढी॥
रामचरन पंकज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं॥

इसका साधन जाननेके लिये वह मुनियोंके आश्रमोंमें घूमने लगा, पर—

जेहि पूछौं सो मुनि अस कहई। ईस्वर सर्बभूत मय अहई॥

सर्वत्रसे कोरा जवाब मिलता गया कि वह तो चक्षुका विषय नहीं है; वह सर्वभूतमय है।

निरगुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥

सो उस ब्राह्मणको यह मत न रुचा। अन्तमें वह लोमश ऋषिके पास गया, उन्होंने उसे परम अधिकारी समझा, पर उसमें मुमुक्षुत्व नहीं था। उसे वे लगे ब्रह्मोपदेश देने। ब्रह्मोपदेशका स्वरूप कहा—

... ...अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा॥
मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

ब्राह्मणमें मुमुक्षुत्व था नहीं, उसके हृदयमें यह उपदेश नहीं लगा।

वह हजार कहता गया कि मेरे हृदयमें सगुण दर्शनकी लालसा बाकी है, वह पूरी हो जाय तो निर्गुण उपदेश सुनूँ, पर ईश्वरकी प्रेरणा कुछ दूसरी थी; उन्हें भक्तकी परीक्षा लेनी थी, मुनिजी निर्गुण मतपर ही तुल गये, लगे सगुणका खण्डन करने। जिसके जीसे जो बात लग जाती है, वह दूसरी बात क्यों सुनने लगा? ब्राह्मण देवता भी अड़ गये। बहुत बड़ा हठ करके सगुण-निरूपण करने लगे। विवाद चल पड़ा। जब मुनिजी रुष्ट होकर ज्ञाननिरूपण करने लगे, तब ब्राह्मण देवताने मन लगाकर तो सुनना दूरकी बात है उनकी बात ही नहीं सुनी। उलटा यह सोचने लगे कि द्वैत-बुद्धि (भेद-दृष्टि) बिना क्रोध कैसे हुआ? और बिना अज्ञानके भेददृष्टि कैसे हुई? इतने बड़े ज्ञानी होनेपर भी मुनिजीमें अज्ञान बना है तो 'माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान?' अर्थात् जीवकी ईश्वरकी क्या बराबरी है?

आदरके साथ न सुननेसे ऐसी ही गड़बड़ी होती है। मुनिजी ईश्वर और जीवके लक्ष्यांशको लेकर परमार्थदृष्टिसे ऐक्य कहते थे; और वे वाच्यांश लेकर व्यवहार दृष्टिसे विचार करते थे। इन्होंने जो बहुत अवज्ञा की तो मुनिजीको क्रोध आ गया; काक होनेका शाप दिया। ब्राह्मण देवताने काक होकर मुनिजीको प्रणाम किया और उड़ चले।

तब मुनिजीकी बुद्धि भगवत्प्रेरणासे फिरी, लगे पछताने, रुचि-अनुरूप शिक्षा देनी चाहिये। वह सगुण ब्रह्मका दर्शन चाहता है; ब्रह्मोपदेशसे मुक्ति होगी, पर सगुणब्रह्मका दर्शन तो होगा नहीं। उसे चाहिये थी दूसरी वस्तु, हम बलपूर्वक दूसरी वस्तु देना चाहते थे। यह हमारी

ही भूल थी। निदान पछताकर मुनिजीने काकजीको बुलाया। सगुणब्रह्मके दर्शनका साधन-रूप राममन्त्र दिया; बालकरूप रामका ध्यान बतलाया। रामचरितमानस कहा और मुनिदुर्लभ वर भी दिये।

इससे स्पष्ट यह विधि निकलती है कि मुमुक्षुत्व साधन-सम्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार चाहनेवालेको ब्रह्मका उपदेश दो। और सगुणका साक्षात्कार चाहनेवालेको उपासना बतलाओ। इस आख्यायिकासे ब्रह्मवादिनी श्रुति 'तत्त्वमसि'[१] को हेय कहना उचित नहीं है।

इस आख्यायिकाद्वारा भी पारमार्थिक दृष्टिसे ब्रह्म-जीवका अभेद और व्यवहार दृष्टिसे भेद कहकर अद्वैतवाद सिद्धान्तको ही पुष्ट किया।

(ख) ज्ञान-दीपक और भक्तिचिन्तामणि—

ज्ञानमार्ग लोमशजीके ब्रह्मोपदेशकी प्रक्रिया है; और भक्तिमार्ग भुशुण्डिजीके ईप्सित भक्तिकी प्रक्रिया है। यहाँ ज्ञान और भक्तिमार्गका तुलनात्मक विचार किया है। पहिले तो ज्ञानमार्गको अकथ बतलाया। ज्ञान मार्गमें अध्यारोप करके अपवाद किया जाता है। ब्रह्मको 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता' कहा गया है। अखण्डका खण्ड कहाँ अर्थात् निरंशका अंश कहाँ? फिर भी निरंशको अंशकी कल्पना करके 'ईस्वर अंश जीव अबिनासी' बतलाया जाता है। यही ज्ञानमार्गका अकथ होना है। उस जीवको अज्ञानसे बन्धन हो गया; जड़-चेतनकी झूठी गाँठ पड़ गयी। गाँठ छुटे तो सुखी हो। उसे किसी प्रकार ईश्वरकी कृपासे श्रद्धारूपी गौ मिली उसने पुण्यरूपी चारा खाकर परमधर्मरूपी दूध दिया। उस दूधसे कठिन साधनद्वारा विमल विरागरूपी मक्खन निकला। शुभाशुभकर्मरूपी लकड़ी जलाकर योगाग्नि प्रकट की गयी। तब उस मक्खनसे ज्ञानघृत बना। तब तुरीयावस्थारूपी रुईसे बत्ती बनायी गयी। चित्तरूपी दियामें घी-बत्ती रखकर दिया जलाया गया। उसी दीपकी लौ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति हुई। यह कण्वशाखोक्त स्वतन्त्र श्रुति है इसमेंके सः शब्दसे चौपाईमें कहे हुए ईश्वरांशका परामर्श नहीं हो सकता। आत्मानुभवप्रकाश हुआ। उसी उजेलेमें चेतन जड़की गाँठ खोले जाने लगी, तबसे विषयरूपी वायुका झोंका आया, दीया बुझ गया। इतनी बड़ी मेहनत व्यर्थ गयी। यदि ग्रन्थि छूट जाती तो श्रुतिप्रतिपादित अतिदुर्लभ परमपद कैवल्य प्राप्त होता।

इधर भक्ति सुकथ है। वेदपुराणरूपी पर्वतमें रामकथारूपी खान है। उसमें सज्जन मर्मीसे पता लगाकर ज्ञानविरागकी दृष्टिकी सहायता पाकर सुमति कुदारीसे खोदनेसे भक्तिमणिकी प्राप्ति होती है। पर यह साधन भी कठिन है; पहाड़ खोदना है। परन्तु एक सुलभ उपाय यह है कि भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति सत्संगसे हो जाती है। फिर तो वही कैवल्य-मुक्ति बिना चाहे आ जाती है। 'तुलसी राम भजन कर, जो फल सो जरि जाउ' ऐसे भक्त उसे लेना नहीं चाहते। वे भक्तिको ही फलरूपा मानते हैं। यही ज्ञान और भक्तिमार्गका तुलनात्मक विचार है। दोनों मार्गका फल एक ही है, यथा—

ज्ञानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

भक्तिमार्गमें भी नयनरूपसे ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु साधनसौकर्य्यसे भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है।

ज्ञानदीपक और भक्तिचिन्तामणिके तुलनात्मक दृष्टान्तसे भी यही भाव निकलता है कि यद्यपि 'सोऽहम्' में (तादात्म्यभाव होनेसे); प्रचण्ड प्रकाश है पर यह वृत्ति ठहरती नहीं। और 'दासोऽहम्' में (तदीय होनेसे) ठण्ढी रोशनी है, पर यह स्थायी है। विषयके झोंके इसका कुछ नहीं कर सकते। उसे भी यह भगवत्प्रसादरूपसे ग्रहण कर सकती है। ज्ञानमार्ग तलवारकी धार है। उसपरसे पतन होते देर नहीं लगती। और अनन्य भजनमें (सचराचररूपको रामदृष्टिसे देखनेमें) अपनेको अलग करना कठिन पड़ जाता है, अतः—

'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥'

—कहा। इस दृष्टान्तसे भी अद्वैतवादकीही पुष्टि है।

'सोऽहमस्मि' में जीवका परामर्श हठात् माननेसे कल्याणकी कोई सम्भावना ही नहीं रह जायगी। क्योंकि उसके बाद ज्ञानदीपकके प्रकरणमें परमेश्वरके संयोगकी कोई बात नहीं आयी है। और बिना परमेश्वरके संयोग कल्याण किसी आस्तिकवादको इष्ट नहीं है। अतः 'सः'

---

[१] 'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा' महावाक्य 'तत्त्वमसि' का अनुवाद है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस श्रुतिका अनुवाद गोस्वामीजीने अद्वैतवादानुकूल किया है।

से ब्रह्मका ही परामर्श है । यह दृष्टान्त भी अद्वैतसिद्धान्तका पोषक है ।

जिन्होंने सेवक-सेव्य-भावमात्रको ही भक्ति मान रक्खा है, उन्होंने भक्तिकी परिधिमें संकोच कर दिया है । स्वयं सरकारकी उक्ति है कि—

जननी जनक बन्धु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद-परिवारा ॥
सबकर ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

केवल सेवकभावसे नहीं सर्वतोभावेन मेरेमें मन लगा दो, फिर तो तादात्म्यभाव ही हो गया; अतः उसकी अवस्था कहते हैं—

समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरख सोक भय नहिं मन माहीं ॥

इसीलिये विनयमें कहते हैं—

तुलसिदास जग आप सहित जबलगि निर्मूल न जाई ।
तबलगि कोटि कलप उपाय करि मरिअ तरिअ नहिं भाई ॥···

तथा—

सोक मोह भय हरख दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं ।
तुलसिदास येहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥

अतः भक्ति अद्वैतवादकी साधक है, बाधक नहीं ।

इस प्रकार सभी भाँति गोस्वामीजीका तात्पर्यविषयीभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है । फिर जिस भाँति पुनःपुनः माया और जगत्को झूठा कहा गया है, उस भाँति एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ माया या जगत्को सत्य कहा गया हो । तब तो गोस्वामीजीके सिद्धान्तको अद्वैतवाद माननेके सिवा उपायान्तर नहीं है ।

यह तो हुई अन्तरङ्गपरीक्षाकी बात, अब बहिरङ्गपरीक्षा भी करके देख लीजिये—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।

यहाँ गोस्वामीजी गुरुको शङ्कररूप कहते हैं । क्या कोई भी अन्यवादी अपने गुरुको शङ्कररूप माननेको तैयार हो सकता है ? क्या इस पदसे शङ्करसम्प्रदाय ध्वनित नहीं है ? क्या कारण है कि ब्रह्मासे लेकर कीटपतङ्गतकको प्रणाम करनेवाले गोस्वामीजीने किसी सम्प्रदायके आचार्यका उल्लेख नहीं किया ?

गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी । रमारमन पद बन्दि बहोरी ॥

—कहकर जिस भाँति पञ्चदेवोपासना दिखलाया, उस भाँति क्या अन्य कोई वादी पञ्चदेवोपासना स्वीकार करेगा ?

श्रीगोस्वामीजीके समकालीन महात्मा नाभाजीका भी अद्वैतवाद ही रहा, यथा, भक्तमालका मङ्गलाचरण—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम बपु एक ।

यहाँ 'भक्त भगवंत' दोनोंको एक कहा । भक्त जीव, भगवन्त ईश्वर, गुरु उपदेष्टा और भक्ति साधन सबका समानाधिकरण तो केवल अद्वैतवादमें ही हो सकता है । इतना ही नहीं, नाभाजीको अद्वैतवाद और भक्तिका सामञ्जस्य इष्ट था, नहीं तो अद्वैतवादियोंके परमगुरु श्रीशङ्कराचार्यजीकी गणना भक्तोंमें न करते । आप लिखते हैं—

ईश अंश अवतार महि मर्यादा माडी अघट ।
कलियुगहु धर्मपालक प्रकट आचारज शंकर सुभट ॥

और यह भी सुना जाता है कि एक ही सम्प्रदायके ये दोनों महात्मा अनुयायी थे ।

इसी भाँति तुकारामजी, समर्थ रामदासजी आदि सभी प्राचीन रामानुरागी महात्माओंका अद्वैतसिद्धान्त था । तो क्या गोस्वामीजीके लिये कोई नया नियम बनेगा ?

गोस्वामीजीके सभी जीवनी लिखनेवालोंने माना है कि 'अद्वैतसिद्धि' के लिखनेवाले श्रीस्वामी मधुसूदनजीने श्रीरामचरितमानस देखकर गोस्वामीजीकी प्रशंसामें यह श्लोक लिखा—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसीजङ्गमस्तरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

इन अद्वैतवादियोंके अग्रगण्य महात्माके प्रशंसाका कोई अर्थ है ? उन्होंने भी श्रीरामचरितमानसमें अद्वैतवाद ही पाया । काशी असिसंगम हरद्वारतीर्थमें श्रीगोस्वामीजीके शरीरत्यागसे भी यही पाया जाता है कि उनका परमध्येय मुक्ति ही था ।

अतः अन्तरङ्ग और बहिरङ्गपरीक्षाओंसे सिद्ध है कि श्रीगोस्वामीजीका अद्वैतसिद्धान्त है ।

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास ।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

◆

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

'सखी ! आज तुम पहले-पहल इस प्रेमनगरमें आयी हो, इसलिये चलो तुम्हें यहाँकी कुछ बातें बताऊँ और भगवान्‌की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ ।'

'भगवान् तो लाड़िलीजीके साथ उस कुञ्जमें चले गये न ? अब लीला क्या दिखाओगी ? कुछ उनके प्रेमकी बात सुनाओ । मेरी बात सुनकर तुम हँसने क्यों लगीं ? क्या कोई रहस्यकी बात है ? यदि है और मैं उसे जानने, देखनेकी अधिकारिणी हूँ तो अवश्य बताओ—और दिखाओ ।'

'सखी ! भला तुम किस बातकी अधिकारिणो नहीं हो ? तुमपर युगल सरकारकी अपार कृपा है, अनन्त प्रेम है । इस प्रेमनगरमें केवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माओंका ही प्रवेश हो सकता है । आश्चर्य मत करो, प्रेमसे सुनो और देख-देखकर आँखें सफल करो । भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है, अद्भुत है । तर्क-युक्तियोंसे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता । वह तो केवल कृपासाध्य है; अनुभवगम्य है । परन्तु है और ऐसी हो है, जो कि अभी मैं तुम्हें दिखाऊँगी ।'

'मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है । अब विलम्ब मत करो । जल्दी दिखाओ ।'

'हाँ, हाँ, अब विलम्बकी क्या बात है ? चलो, चलती चलें और बात भी करती चलें । देखो, इस प्रेमनगरकी बात निराली ही है । इसके विभिन्न भागोंमें भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते रहते हैं । ये लीलाएँ अनादिकालसे अनन्तकालतक अर्थात् सर्वदा नित्य प्रवाहरूपसे चलती ही रहती हैं, कभी बन्द नहीं होतीं । किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पर्श नहीं कर सकता । प्रत्युत ज्ञानके द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्‌के प्रलयके पश्चात् किसी-किसी महापुरुषको भगवान् अपनी इस लीलाभूमिमें बुला लेते हैं । चलो, देखो, अभी मैं तुम्हें विभिन्न भागोंमें ले चलकर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका दर्शन कराती हूँ । तुम देखोगी कि कहीं रासलीला हो रही है तो कहीं चीरहरण हो रहा है । कहीं पूर्वराग तो कहीं मानलीला और कहीं संयोग तो कहीं वियोग हो रहा है । तुम आश्चर्य क्या करती हो ? यह भगवान्‌की लीला है न ? जैसे अनिर्वचनीय भगवान् हैं वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है । यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणोंका प्रवेश नहीं, जडताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो केवल चिन्मय-ही-चिन्मय है । भगवद्विग्रह चिन्मय, लीला चिन्मय और धाम चिन्मय है । यों भी कह सकती हो कि सब भगवान्-ही-भगवान् हैं । वे ही लीला, धाम, रमणीय और रमणके रूपमें हो रहे हैं ।

अच्छा तो अब चलो, तुम्हें कुछ कुमारियोंके दर्शन कराऊँ । परन्तु उसके पहले एक बात और सुन लो । इस प्रेमनगरमें कालकी गति तो है ही नहीं, इसलिये एक ही समय कहीं वसन्त, कहीं वर्षा, कहीं शरद्, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त ऋतु रहती है । युगल सरकारके विहारकुण्डमें तो ग्रीष्म-ही-ग्रीष्म चलती है । एक साथ ही कहीं सूर्योदय हो रहा है तो कहीं सन्ध्या । कहीं रात्रि है तो कहीं दिन । सब भगवान्‌की लीला है न ?

और उनकी बात क्या सुनाऊँ ? वे एक स्थानपर यशोदाकी गोदीमें बैठकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए दूध पी रहे हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालबालोंके साथ खेल रहे हैं और तीसरे स्थानपर गोपियोंके साथ रास-

विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त है, उनके प्रेमरसके आस्वादनके भाव अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेमभावोंका रसास्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमें ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना। समझीं न ?

'देखो, सायंकालका समय है, सूर्यकी रक्त-रश्मियाँ हरे-भरे लताकुञ्जोंपर पड़कर दूसरा ही रंग ला रही हैं। कुञ्जोंके सामने कुछ नन्हीं-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न ? उनकी आँखें कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामें लगी हुई हैं। वे बार-बार उचक-उचककर वनकी ओर देख लेती हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है। बात यह हुई कि आज इन्होंने पहले-पहल बाँसुरीकी वह मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमें न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्यों न हो ? जिसे सुनकर बड़े-बड़े मुनियोंसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमें लगे रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली व्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सम्हाल सकती हैं। हाँ, फिर इन्होंने जाकर अपनी बड़ी बहिनोंसे पूछा, यह किसकी ध्वनि है ? जबसे उन्होंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोंकी बात इन्हें बतायी है, तबसे इन्हें और कहीं चैन ही नहीं पड़ती। बड़ी व्याकुलताके साथ गौओं-को चराकर लौटनेका मार्ग देख रही हैं।

देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओंकी भीड़ उन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाकर गायन करती हुई उन्हींको देख-देखकर प्रेमको मस्तीमें छकी हुई चली आ रही है। काले-काले लंबे घुँघराले बालोंसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोंपर, वनमालापर, पीतपटपर और बालोंपर भी गोरज पड़े हुए हैं। हाँ वह देखो, बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुस्कराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस, अब क्या ? ये सदाके लिये उनके हाथों बिक गयीं। उनके हृदयमें प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उप्त' है।

श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौड़कर उन्हें गोदीमें उठा ले गयी होंगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाड़िले लालकी दिनभर-की थकावट मिटाती होंगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हें पानेका यत्न करेंगी। अब आओ, हम दूसरे प्रदेशमें चलें।

देखो, अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुरागभरी रश्मियोंसे प्राचीदिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त ऋतुकी इस सरदीमें कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ श्रीकृष्णके नामोंका मधुर संकीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो इनके सोनेका समय है। परन्तु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड़ सकती है ? इन्हें ठण्डककी परवा नहीं, शरीरकी सुध नहीं, और गुरुजनोंकी लाज नहीं, ये तो प्रेमको पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं ? इस कड़ाकेके जाड़ेमें नग्न होकर घंटों यमुनाजलमें स्नान करती हैं और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनीदेवीकी पूजा करती हैं। इनका मन्त्र, उफ् कितना सीधा मन्त्र है ! कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं। कहती

हैं—'देवि ! नन्दलाड़िले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ ।' कितना सीधा मन्त्र है !

एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेंगे, इन्हें सर्वदाके लिये अपनायेंगे । उन्हें कोई चाहे और वे न मिलें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता । वे प्रेमपरवश हैं,—दयालु हैं और हैं बड़े भक्तवत्सल । इस अवस्थाका नाम है—यत । इसमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना बड़ी लगनके साथ चलती है ।

देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमें बातचीत कर रही हैं । चलो, पाससे सुनें । इस प्रेमनगरमें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं । ये गोपियाँ तो श्रीकृष्णप्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमें बड़ा आनन्द है ।

हाँ, सुनो, एक क्या कह रही है—

'सखी ! यहाँकी हरिनियाँ कितनी भाग्यवती हैं, जो बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ—श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी चितवनसे उन्हें निहार-निहारकर अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंका लाभ लेती हैं और उनकी पूजा करती हैं । उनका वह जीवन कितना धन्य है । और हम, हम अपने पतियोंके साथ नहीं जा सकतीं । काश, हम भी उसी योनिमें होतीं ? तब हमें कोई न रोकता । परन्तु रोकनेसे क्या होता है ? हम तो उन्हें निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी । अब किसीके रोके नहीं रुकतीं ।'

सभी बारी-बारीसे कुछ कह रही हैं, कितना प्रेम है । जीवनमें यदि ऐसी लालसा जग जाय तो क्या पूछना है ? फिर तो सर्वदाके लिये भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय । देखो, वह देखो, कई गोपियाँ अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी प्रशंसा करती हुई यमुनाकी ओर बढ़ रही हैं । ये यमुनामें स्नान करने और जल भरने तथा दही-दूधके बेचने आदिका बहाना बनाकर प्रायः ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी झाँकी किया करती हैं । इनका प्रेम धन्य है, इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है । इसका नाम है 'ललित' ।

जब प्राण-प्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द-ही-आनन्द रहता है, परन्तु यदि एक क्षणके लिये भी वियोग हो जाय तो असीम दुःख भी हो जाता है । कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षोंमें, लताओंमें, कुञ्जोंमें छिप जाते हैं और गोपियाँ बिना पानीके मछलियोंकी भाँति तड़फड़ाने लगती हैं । देखो, हम तो देख हो रही हैं कि वह आड़में खड़े होकर मुस्कुरा रहे हैं और उधर उस गोपीकी बुरी दशा हो रही है । मुँह पीला पड़ गया है । सिर झुक गया है । आँसू बहाती हुई आँखें इधर-उधर चकपकाकर देख रही हैं । चुने हुए फूल गिर पड़े इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है । अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होनेवाली है । पर भगवान् उसे मूर्च्छित थोड़े ही होने देंगे । आकर अभी-अभी उठा लेंगे । परन्तु प्रेमकी यह दशा है बड़ी सुन्दर । इसे 'दलित' कहते हैं । जिसे यह प्राप्त हो जाय उसीका जीवन सफल है ।

जब दलित दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं । उस दिनकी बात है—श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये । हम विकल होकर वन-वनमें भटककर ढूँढ़ने लगीं । वृक्षों, लताओं, पशु-पक्षियोंतकसे पूछने लगीं । परन्तु कौन बताता है, वह तो हमारा पागलपन था । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम अपने-आपको भूल गयीं । बस, केवल रोना-ही-रोना अवशेष रहा । परन्तु उसी रोनेके अन्दर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये । कितना सुन्दर था वह क्षण ! उन्हें देखते ही मानो मुर्देमें जान

आ गयी हो, हम सब उठकर खड़ी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड़ लिया। किसीने उनके हाथ कन्धेपर रख लिये और किसीने अपने हाथोंको उनके कन्धोंपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।

उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूल ही गयीं। विरहका दुःख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी तो दूसरी हृदयके अन्तस्तलमें उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परन्तु यह समाधि योगियोंकी-सी समाधि नहीं थी। इसमें आँखें बन्द तो थीं परन्तु इसलिये बन्द थीं कि कहीं हृदयमें विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोंके मार्गसे निकल न जायँ। इस संयोगसुखकी मस्तीको ही प्रेमियोंने 'कलित' दशा बताया है।

हाँ, तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा-का-सारा दृश्य आँखोंके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था! सुनो, सुनो, मैं कहे बिना रह नहीं सकती।

श्रीकृष्णके आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनयमें लगी हुई थीं, परन्तु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पड़ती थी। विशेष ममताके कारण प्रणयरोषका भाव प्रकट करती हुई वह दूर ही खड़ी थीं। उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं। अधर दाँतोंतले दबे हुए थे और वे विह्वलता प्रकट कर रही थीं। फिर उनका बड़ा अनुनय-विनय किया गया। स्वयं श्रीकृष्णने अपनी रूठी हुई प्राणेश्वरीको मनाया, तब जाकर कहीं प्रसन्न हुईं। यह प्रेमसंरम्भकी (छिलित) दशा है। यह प्रेमकी बड़ी ऊँची स्थितिमें ही प्रकट होती है। हमारे जीवनमें भला भगवान्से रूठनेकी बात कैसे आ सकती है? हम डरती रहती हैं कि कहीं वे न हमसे रूठ जायँ। यद्यपि वे तो प्रेमस्वरूप हैं, भला कभी रूठ सकते हैं? परन्तु कभी-कभी इसकी वृद्धिके लिये रूठनेका-सा अभिनय कर बैठते हैं। उस समय हमें कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्होंने रात्रिमें बाँसुरी बजायी और हम सब घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ीं। हाँ, तो उस समय वे रूठे-से बन गये। कहने लगे, घर लौट जाओ। सखी! वह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हो उठती हैं। उस समय मनमें यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरीरको रखकर क्या होगा। इसे इसीलिये हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काम आवे, परन्तु जब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या ज़रूरत? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमें जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्ममें तो उन्हें पा सकेंगी। यही सब सोचते-सोचते गोपियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमें उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णतः उदय हो आया था। और उसी समय भगवान्ने हमें अपनाया। कितने प्रेमी हैं वे!

यह बात तो बीचमें आ गयी थी। भगवान्के मिलनेपर, उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमें जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढ़नी बिछा दी। वे मुस्कराते हुए उसपर विराजमान हुए। हम उन्हें घेरकर चारों ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें लेकर अपने हृदयसे लगा लिया। किसीने उनकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बड़े प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरेकको आकाशमण्डलमें ठिठके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनोंसे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कलकल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। उस समय हम सब कुछ अतिक्रमण कर गयी थीं। वह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।

'मेरी प्यारी सखी ! मैं तुम्हें इसलिये इधर लायी थी कि तुम्हें प्रेमनगरके कुछ दृश्य दिखाऊँ, परन्तु मैं अपनी ही बातोंके कहनेमें इतनी तल्लीन हो गयी कि दिखाना ही भूल गयी। अब आओ, आगे चलें, तुम्हें विरहलीलाके विभागमें ले चलें। भगवान्‌की नित्यसहचरी गोपियोंका उनसे कभी वियोग नहीं होता, परन्तु भगवान्‌के विरहमें किस प्रकारका दुःख होता है और होना चाहिये, यह बात बतानेके लिये तथा संयोगात्मक रसराजकी पुष्टिके लिये वियोगके दृश्य भी होते हैं। आओ, ले चलूँ तुम्हें।'

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद तो प्रत्यक्ष हो रहा है न? एक ओर सन्देश लेकर आये हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से बैठे हुए हैं, दूसरी ओर वह भ्रमरोंकी गुनगुनाहटको ही भगवान्‌का सन्देश मानकर न जाने क्या-क्या बक रही है। इसके चित्र-विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो, क्या कह रही है? भौंरेको अपने पास फटकनेतक नहीं देती और उसे बार-बार डाँटती है कि तुम जाओ मथुरा, यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं। देखती नहीं हो क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी है, आँखोंकी खुमारीसे साफ जाहिर होता है कि उद्वेगके मारे इसे नींद नहीं आती। शरीर और कपड़ोंको धोनेकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरके जीती है और वह भी केवल इसी आशासे कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसके मनमें केवल यही बात है कि शायद मेरे मर जानेके बाद वे आवें और मुझे न पा करके दुःखी हों। बस, केवल उनके सुखके लिये ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब यह इस संसारसे उठ गयी होती। इसका नाम है 'विह्वत दशा।'

अरे देखो देखो, अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी मौन हो जाती है, मानो कोई पत्थरका टुकड़ा पड़ा हो सुनो, क्या कह रही है—

'प्राणेश्वर! जीवनधन! आओ, एक बार केवल एक बार आओ। देखो, यह वही यमुना है न? जिसमें तुम जलविहार करते थे। नाथ! यह वही कदम्ब, वही लताओंका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही मैं; परन्तु तुम, तुम कहाँ हो, आओ आओ,

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्त्तिनाशन!
मग्नमुद्धर गोविन्द! गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे। हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये बिना रह नहीं सकते।'

देखो, कहते-कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इसे प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देखें।

अरे यह क्या? इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा एक ही क्षणमें इसकी दशा ही बदल गयी। अब तो यह संयोगसुखसे सन्तृप्त माळूम पड़ती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते। अब इसके लिये सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिये भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।

'अब चलो, युगल सरकारकी उस कुञ्जके पास चलें जहाँ छोड़कर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार-निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें'—

इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।
सखि! चलि वेगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पीजिय
इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।

* * *

भक्तोंका कार्पण्य

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी 'बजरङ्गबली' श्रीवास्तव)

शरणागतिके षट्लक्षणोंमें 'कार्पण्य' भी एक लक्षण कहा गया है, यथा—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

उच्चकोटिके महानुभावोंमें भी यह 'कार्पण्य' का लक्षण स्वभावगत पाया जाता है । रामायणके पात्रोंमें भरतजीके साधुभावकी क्या प्रशंसा की जाय, जहाँ वशिष्ठ और जनक-ऐसोंकी बुद्धि चक्कर खा रही है । स्वयं भगवान् रामचन्द्र जिन भरतजीके साधुभावकी महिमा वर्णन नहीं कर सकते । जनकजी रानी सुनयनाके प्रति कहते हैं—

भरत महामहिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥

ऐसे साधुसिरमौर भरतजीके वचन भी देखिये—

केंकइ-सुवन कुटिलमति, रामबिमुख गतलाज ।
तुम चाहत सुख मोहबस, मोहिसे अधमके राज ॥

गोस्वामीजीकी बिनयपत्रिका तो कार्पण्यसे भरी हुई है, यथा—

है प्रभु ! मेरोइ सब दोसु ।
सीलसिंधु कृपाल नाथ, अनाथ आरतपोसु ॥
वेष-वचन विराग, मन अघ-अवगुननको कोसु ।
राम-प्रीति-प्रतीति पोली, कपट-कर्तब ठोस ॥

माधव मो समान जग माहीं ।
सब बिधि दीन मलीन हीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं ॥

सुनहु राम रघुबीर गोसाईं, मन अनीतिरत मेरो ।
चरणसरोज बिसारि तिहारे निसि दिन फिरत अनेरो ॥

इत्यादि

ऐसे ही महात्मा सूरदासजीके वचन देखिये—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी ॥१॥
भरि भरि उदर बिषयको धायो, जैसे सूकर ग्रामी ।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी, निसि-दिन करत गुलामी ।२।
पापी कौन बड़ो जग मोते, सब पतितनमें नामी ।
'सूर' पतितको ठौर कहाँ है, तुम बिनु श्रीपति स्वामी ॥३॥

—इत्यादि

कहाँतक कहा जाय, इस प्रकार सभी संत-महात्माओंके वचनोंमें कार्पण्यका भाव स्वाभाविकरूपसे पाया जाता है—ऐसी प्रसिद्ध बातके लिये अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । अब ऐसे भगवद्भक्तिपरायण शुद्ध-अन्तःकरण उच्च-कोटिके संत-महात्माओंका अपनेको कुटिल-खल-कामी-पतित आदि कहना किस प्रकार संगत हो सकता है, यह बात हम पामर जीवोंके अनुमानमें आनी कठिन हो जाती है । अतएव अपनी मोटी बुद्धिसे हम एक कल्पना कर लिया करते हैं । वह कल्पना यह कि 'भाई ! इस प्रकारके दुराचरण महात्माओंमें कभी नहीं हो सकते । रहा यह कि फिर अपनेको उन्होंने इस प्रकार कपटी-कुटिल-पतित आदि कहा क्यों है, तो इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि इन महात्माओंने अपनी ओट लेकर संसारके जीवोंको भगवान्‌की प्रार्थनाका मार्ग दिखाया है । वास्तवमें उन्होंने अपने लिये ये नीच शब्द नहीं कहे ।' अब संत-महात्माओंके सम्बन्धमें ऐसी कल्पनाका परिणाम यह निकलता है कि हम भी भीतरसे चाहे अपनेको पवित्र और निर्दोष ही समझते हों, पर मन्दिरमें भगवान्‌के सामने प्रार्थनामें 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः' आदि कहकर ही भगवान्‌को सिर झुकाना चाहिये, इस प्रकारकी एक प्रथा-सी मान लेते हैं ।

अब इस प्रकार प्रार्थनामें कार्पण्यको एक प्रथामात्रके रूपमें व्यवहार करनेका परिणाम यह होता है कि हमारी सारी प्रार्थनाएँ प्राणहीन शरीरकी भाँति प्रभावहीन केवल रूढ़िमात्र लकीर पीटने जैसी हो जाती हैं। कारण यह कि अन्तर्यामी भगवान् भी समझते हैं, कि यह वस्तुतः आर्त नहीं है, किन्तु इस प्रकार कार्पण्यकी भाषामें बोलनेकी प्रथामात्र बना रक्खी है। अब अपने इस बनावटी कार्पण्यमें हम जिन उच्चकोटिके संत-महात्माओंके अनुकरणकी ओट ले लिया करते हैं, उनके सम्बन्धमें एक बार फिर कुछ गहरी दृष्टिसे विचार कीजिये।

ऊपर कहा गया है कि संत-महात्माओंके कार्पण्यमें भी हम अपनी मोटी बुद्धिसे यह अनुमान कर लेते हैं कि उनके यह अपने लिये कपटी-कुटिल-पतित आदि कार्पण्यसूचक शब्द अपनी ओट लेकर संसारको उपदेश करनेके लिये हैं यथार्थमें अपने लिये उन्होंने यह शब्द नहीं कहे। क्योंकि इस प्रकारके दुराचरण उनमें हो ही नहीं सकते।

अब मोटी दृष्टिसे तो यह कल्पना बहुत अच्छी है क्योंकि इसमें संत-महात्माओंमें अवगुणोंकी सम्भावनाको सर्वथा अस्वीकार किया गया है।

परन्तु थोड़ा गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो इस कल्पनासे अपने समान ही महात्माओंपर भी दम्भका ही आरोपण किया जाता है। तात्पर्य यह कि हमारी तरह उच्चकोटिके संत-महात्मा भी अन्तःकरणसे तो अपनेको सकल दोषोंसे रहित और पवित्र ही मानते हैं पर दूसरोंको उपदेश करनेके लिये अपनेको भगवान्के सामने कपटी-कुटिल-पतित आदि कहकर मिथ्या भाषण किया करते हैं। परन्तु ऐसी बात भी संत-महात्माओंके सम्बन्धमें सुजन कब स्वीकार करेंगे।

अतएव सिद्धान्तरूपसे बात तो वही स्वीकार करने योग्य होगी, जिससे कि महात्माओंमें असत्य भाषणका दोष भी न आवे, साथ ही समाज उनके कार्पण्यसूचक कपटी-कुटिल आदि शब्दोंको आश्चर्यकी दृष्टिसे ही देखे। अर्थात् जनसमुदायका हृदय उनमें इन दुर्गुणोंका होना अपने दृष्टिकोणसे कभी भी स्वीकार न कर सके।

प्रभुकृपाका आश्रय लेकर अब इस सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाता है।

संसारमें देखा जाता है कि जिनका हृदय निर्दयी अहर्निश घोर पापोंमें आसक्त होता है ऐसे दुष्ट-हृदय मनुष्य बड़े-बड़े घोर पाप कर डालते हैं, अनेक निरपराध जीवोंकी हत्या कर डालते हैं, अनेकोंको बड़े-बड़े दारुण कष्ट पहुँचाते हैं। पर ऐसे-ऐसे दुष्ट आचरण करते हुए भी उनको पश्चात्तापका लेश भी नहीं होता। क्योंकि उनकी दृष्टिमें यह उनका नित्य स्वभावगत व्यापार है।

कुछ नीच प्रकृतिके मनुष्य ऐसे होते हैं, जिन्हें घोर पाप कर डालनेपर क्षणिक पश्चात्ताप भी होता है।

कुछ लोग इससे अच्छी प्रकृतिवाले ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनेसे घोर आचरणके हो जानेपर महान् पश्चात्ताप होता है, पर साधारण कोटिके पापाचरणोंके करते रहनेमें उन्हें कोई पश्चात्ताप नहीं होता।

इसी तरह विवेकपूर्वक दुष्ट प्रकृतिको छोड़कर साधु प्रकृतिकी ओर चलनेके लिये जब जीव अग्रसर होने लगता है तब उससे घोर पापाचरण तो प्रायः होते ही नहीं; पर पूर्व अभ्याससे घटित हो जानेवाले साधारण कोटिके पापाचरणोंपर भी महान् पश्चात्ताप होने लगता है। और संयोगवश कहीं भारी पाप घटित हो जाता है, तब तो पश्चात्तापसे उसकी दशा मरणप्राय हो जाती है और संसारके सामने मुँह दिखानेका उसे साहस नहीं होता।

इस प्रकार साधु-प्रकृतिकी ओर क्रमशः बढ़ते हुए हम ज्यों-ज्यों दृष्टि करते हैं त्यों-त्यों बहुत ही साधारण कोटिके पूर्वाभ्यासजनित अवगुणोंपर भी भारी पापाचरण-जैसा पश्चात्ताप होने लगता है। इतना तो जनसमुदायमें मनुष्योंकी अवस्थाओंपर मनन करते हुए संसारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है।

अब इसी क्रमसे उच्चकोटिके संत-महात्माओंके सम्बन्धमें कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

महात्माओंके कार्पण्यसूचक कपटो-कुटिल-पतित आदि शब्दोंको हम अपने दृष्टिकोणसे भी यथार्थ सत्य मानें, तब तो संत और असंतमें भेद ही क्या रहेगा ? अतएव यह बात तो असम्भव है, फिर उनके कार्पण्यसूचक वचनोंको बिल्कुल मिथ्या भाषण मान लें तो यह भी अनुचित ही है, क्योंकि इससे भी उनके स्वरूपमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है ।

अतएव अब उपर्युक्त क्रमके अनुसार संतोंकी अवस्थाका अनुमान करना चाहिये ।

उपर्युक्त क्रमके अनुसार यह अनुमान करना कुछ कठिन न होगा, कि हम पामर जीवोंकी दृष्टिमें मन, वचन और शरीरकी जो अनुचित वृत्तियाँ हमारे दृष्टिकोणसे किसी गिनतीमें नहीं हैं उन अनुचित वृत्तियोंकी छायामात्र भी संतोंको अपनेमें प्रतीत होनेसे उन्हें उतना ही अधिक पश्चात्ताप हो सकता है, जितना कि हमें बड़े-बड़े पापकर्मोंपर हो सकता है । अतएव अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे अपनेमें किसी बहुत ही छोटी त्रुटिकी छायाको भी देखकर, जिसके लिये कि हम पामर जोवोंका अनुमानतक नहीं पहुँच सकता, वे उसको बहुत बड़ा दुराचार तथा पाप मानकर कार्पण्यभावमें अपने लिये महाकुटिल-खल-पतित आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं तो उनके स्वरूपानुरूप कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । परन्तु यह उनकी उच्चदृष्टिका रहस्य है । इस ऊँची दृष्टिका दिग्दर्शन पूज्यपाद श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके विनयपत्रिकाके निम्नलिखित पदमें आप कर सकते हैं—

माधवजू मो सम मन्द न कोऊ ।
जद्यपि मीन पतंग हीनमति, मोहिं न पूजैं ओऊ ॥
रुचिर रूप आहार बस्य उन, पावक लोह न जान्यो ।
देखत बिपति विषय न तजतहौं, ताते अधिक अयान्यो ॥

इस पदमें गोस्वामीजीने अपनेको मीन और पतङ्गसे भी अधिक मन्दबुद्धि कहा है—और किस प्रकार ? सो भी साथ ही स्पष्ट कर दिया है—

'ताते अधिक अयान्यो ।'

इसी प्रकार हर जगह महात्माओंके कार्पण्यसूचक शब्दोंको यथार्थताके सम्बन्धमें हमें अनुमान कर लेना चाहिये । उनके वचनोंमें मिथ्या भाषण तथा बनावटका अनुमान तो कभी करना ही नहीं चाहिये । वे अपने कार्पण्यभावमें जो कुछ कहते हैं, सब यथार्थ ही कहते हैं—पर बात इतनी याद रखनेको है कि कार्पण्यभावमें वे अपने लिये जो शब्द बोलते हैं, अपने दृष्टिकोणसे बोलते हैं । इस प्रकार उनकी प्रार्थना सदा सच्ची होती है । उसमें बनावटकी कल्पना करना हमारी भूल है । इस प्रकार संतोंके कार्पण्यसूचक शब्दोंका मर्म समझकर हमें भी यह प्रयत्न करना चाहिये, कि भगवान्के प्रति हमारी प्रार्थनाएँ सच्ची और निष्कपट हों । कार्पण्यमें हम उतना ही कहें, जितना कि हमको यथार्थरूपसे स्वयं अपनेमें अनुभव हो रहा हो । कार्पण्यसूचक दीन-पतित आदि शब्दोंका प्रयोग अपने लिये—केवल प्रथाके रूपमें नहीं करना चाहिये ।

'कार्पण्य' में अपनेमें नीचानुसन्धान करके सच्ची पुकार करनी चाहिये—'नीचानुसन्धान' और 'केवल मुखसे अपनेको नीच कहना' इन दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है ।

नीचानुसन्धान करके अपनी त्रुटियोंका अनुभव करनेपर ही सच्ची आर्त अवस्थाका उदय होता है । तभी सच्ची प्रार्थना बन पड़ती है । और उस प्रार्थनाका ही भगवान्पर प्रभाव पड़ता है ।

* * *

ठाकुर उद्धारणदत्त

पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें हुगली जिलेके अन्तर्गत सरस्वती नदीके तटपर स्थित सप्तग्राम नामक एक समृद्धिशाली नगर था । श्रीकर दत्त नामक एक ऐश्वर्यशाली व्यापारी वहाँ आकर निवास करने लगे । श्रीकर दत्त शाण्डिल्य गोत्रीय प्रसिद्ध वैश्य थे । वे अपनी सदाशयता और दयाधर्मपरायणताके कारण वहाँके निवासियोंके अत्यन्त श्रद्धापात्र हो गये थे । वे क्षुधितों, निराश्रितों और दुःखियोंकी सहायता करनेमें कुछ भी उठा नहीं रखते थे । उनकी धर्मपत्नी भद्रावती भी सुशीला, सच्चरित्रा और पतिपरायणा एवं दयाधर्मशीला थी । इन्हीं भद्रावती देवीके गर्भसे शक १४०३ में महाभागवत श्रीउद्धारणदत्तका जन्म हुआ । समय पाकर इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई । पिताकी मृत्युके बाद उद्धारणदत्त ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके अधिकारी हुए । इसी समय उद्धारणदत्तने एक जमींदारी खरीदकर और उसे बसाकर अपने नामानुसार उसका नाम उद्धारणपुर रक्खा, जो आज भी कटवेके समीप विद्यमान है । पिताके समान पुत्र भी पूर्ण सदाचारी, परोपकारी और भगवद्भक्त निकला । इनके दयाभावके कारण बंगालके तत्कालीन नवाब सुलतान हुसेनशाह इनका बहुत सम्मान करते थे ।

जिस समय भगवान् चैतन्यदेवके परम प्रिय सहचर श्रीनित्यानन्दजी बंगालमें हरिनामामृतपान करा रहे थे उस समय उनसे हरिनामकी दीक्षा लेकर ठाकुर उद्धारणदत्त प्रेमनिमग्न हो गये, और अपने पुत्र श्रीनिवासको अतुल सम्पत्तिका मालिक बनाकर श्रीनीलाचलधामकी तरफ चल पड़े और श्रीमहाप्रभुका प्रसाद पाते हुए सुखपूर्वक वहीं निवास करने लगे । वहाँसे फिर श्रीवृन्दावनधाममें आकर रहने लगे । ऐसी किंवदन्ती है कि इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर परमाराध्या, महाविद्या, शक्तिस्वरूपिणी माँ इन्हें समय-समयपर प्रत्यक्ष दर्शन दिया करती थी । उनके जीवनकी कतिपय घटनाओंमें एक भक्तिपूर्ण घटनाका यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

बंगालमें स्त्रियाँ अपने हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ पहना करती हैं । वहाँ उन चूड़ियोंको शाँखा और उन्हें बेचनेवालेको शाँखारी कहते हैं । एक दिन एक शाँखारी सप्तग्राममें शाँखा बेचनेको आया । सरस्वती नदीके तटपर घूमते समय एक बारह वर्षकी बालिकाने उससे आकर कहा कि 'तुम हमें शाँखा पहना दो ।' शाँखारीने शाँखा पहनाकर उससे दाम माँगे तो उसने कहा कि 'मैं तो इस समय स्नान करने जा रही हूँ, मेरे पास रुपये नहीं हैं, तुम उद्धारणदत्तके यहाँ जाकर कह दो कि मैंने आपकी लड़कीको शाँखा पहनायी है उनके दाम दे दीजिये ।' शाँखारीने कहा कि 'यदि वे मेरी बातपर विश्वास न करें तो मैं दाम कैसे पाऊँगा ?' बालिकाने कहा कि 'तुम उनसे कह देना कि अपने पास रुपये न होनेसे उसने कहा है कि तुम उद्धारणदत्तके घरपर जाकर कहना कि पूर्व-दिशावाले कमरेकी पश्चिम तरफकी आलीमें पाँच सोनेकी मुहरें रक्खी हैं वे दे दीजिये । यदि इतनेपर भी तुम्हें मूल्य न मिले तो तुम यहाँ आकर मुझसे शाँखा वापस ले जाना ।' शाँखारीको विश्वास हो गया । बालिका नदीकी तरफ चली गयी और शाँखारी उद्धारणदत्तके घरकी तरफ चला । वहाँ पहुँचकर जब उसने दाम माँगे तो उद्धारणदत्तने कहा कि 'हमारे तो कोई लड़की है ही नहीं फिर तुमने शाँखा पहनायी किसको ?' यह सुनकर शाँखारीने पाँच मुहरोंवाली बात कही । उद्धारणदत्तने भीतर जाकर देखा कि सचमुच ही शाँखारीके बताये हुए स्थानपर पाँच स्वर्णमुद्राएँ रक्खी हैं । मुद्रा देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि ये यहाँ आयीं कहाँसे ? यदि किसीने भूलसे यहाँ रख भी दी हों तो इस अपरिचित व्यक्तिको मालूम कैसे हो गया ? जरूर कोई-न-कोई ईश्वरीय लीला है । उद्धारणदत्तने तुरन्त आकर

शाँखारीसे पूछा कि 'क्या तुम मुझे उस बालिकाको दिखला सकते हो ?' उसने उत्तर दिया—'हाँ हुजूर ! आप मेरे साथ सरस्वती नदीके तटपर चलिये, वह वहीं स्नान करने गयी है ।' उद्धारणदत्त शाँखारीके साथ हो लिये। परन्तु सरस्वती नदीके तटपर या रास्तेमें कहीं भी वह लड़की दिखायी नहीं दी। शाँखारी एक सम्भ्रान्त पुरुषके साथ अपने इस व्यवहारका विचार करके सजाके डरसे रोने लगा। इतनेमें ही शाँखारी और उद्धारणदत्त तथा उपस्थित अन्य लोगोंने भी देखा कि सरस्वती नदीमेंसे दो हाथ निकले, दोनों हाथोंमें दो-दो शाँखाएँ थीं। यह देखकर शाँखारीको बड़ा आश्वासन मिला। उद्धारणदत्त भी अपने ऊपर 'माँ' की कृपाका अनुभव करता हुआ एवं शाँखारीके सौभाग्यकी सराहना करता हुआ उसके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—'भाई शाँखारी ! वास्तवमें तू बड़ा भाग्यवान् है, तू ही अपनी माँका सुपुत्र है, आज स्वयं माँने आकर तेरे हाथसे चूड़ियाँ पहनी हैं।' फिर उद्धारणदत्तने शाँखारीको बहुत-सी मुहरें देकर विदा किया। उद्धारणदत्तके सम्बन्धमें भगवत्कृपाके प्रत्यक्ष अनुभवके विषयकी इसी प्रकारकी बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं।

उद्धारणदत्त जातिके स्वर्णवणिक थे। उन्होंने श्रीनित्यानन्दजीके साथ बंगालके बहुत-से भागोंमें भ्रमण करके परमगुह्य वैष्णवधर्मका प्रचार किया था। जीवोंपर दया, भगवन्नाममें रुचि और वैष्णवसेवा यही उनके प्रचारका विषय था।

इस प्रकार ५७ वर्षकी अवस्थामें १४६० शकमें श्रीवृन्दावनधाममें इन्होंने इहलीला समाप्त की। आज भी श्रीवृन्दावनधाममें वंशीवटके निकट उद्धारणदत्तका प्रसिद्ध समाधि-मन्दिर बना है और प्रतिवर्ष हजारों यात्री उनके समाधि-मन्दिरपर श्रद्धापूर्ण पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर अपनेको सौभाग्यशाली समझते हैं।

चरम लक्ष्य

[गद्य-गीति]

(लेखक—पं० श्रीगोकुलानन्दजी तलङ्ग)

हृदय-देशके हिम-प्रान्तसे चिर सुषुप्त शान्त भावनाएँ—निस्तब्धताकी गोदमें सोयी हुई आशा-अभिलाषा-निधियाँ प्रिय-विरह-वेदना-अंशुमालीकी प्रखर रश्मि-राशिसे सन्तप्त हो द्रवित होने लगीं—अश्रु-विन्दु बनकर !

प्रियतमकी मधुर चिन्तनामें थीं, वे इतनी शान्तिमयी कि अचल अगम्य पथपर पड़ी थीं, निश्चल हा !

अन्तर्विश्वमें सहसा उठी वह विरह-निदाघ-ज्वाला और वह चलीं, वे अनन्तकी ओर ! अविरल अश्रु-धारा बनकर ! प्रबल उद्वेलनसे—प्रचण्ड प्रकम्पनसे उत्कट अनन्त-मिलन-अभिलाषाके उभारसे वे बढ़ीं, द्रुत गतिमती होकर !!

उस अनन्तमें निविष्ट होते ही वे हुईं, एकीभूत और हलका हुआ उरतलका भार ! कुछ क्षणोंमें ही मिट गया, सारा उद्वेग—शान्त हुए उर-अभिलाषा-कलाप !!

इनके अनन्तमें विलीन होते ही जीवन-पथ हो गया, प्रशस्त और परिष्कृत !

सारी वासनाओंका धूम्र हुआ, विच्छिन्न एवं दीखने लगा, जीवनका चरम लक्ष्य !!

× ×

—अप्रकाशित 'अरुणिमा' से

हिन्दुस्तानी शिष्टाचार

(लेखक—पं० रामनारायणजी मिश्र)

जो व्यवहार भले आदमी एक दूसरेके साथ करते हैं उसको शिष्टाचार कहते हैं। उसका मूल सिद्धान्त है दूसरोंको अपने प्रेम और आदरका परिचय देना और किसीको असुविधा और कष्ट न पहुँचाना।

बचपनहीसे शिष्टाचारके नियम जान लेने चाहिये। ऐसा करनेसे उनपर चलना स्वाभाविक हो जाता है। ये नियम भिन्न-भिन्न समाजोंमें भिन्न-भिन्न हैं और देश-कालके अनुसार बदलते रहते हैं। उनमेंसे कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

(क) बड़ोंके साथ व्यवहार-सम्बन्धी

(१) बड़ोंको सदा 'आप' कहो 'तुम' नहीं।

(२) उनको, सबेरे उठते ही, अथवा जब पहले-पहल उनका सामना हो जाय, सोनेसे पहले, और उनसे अलग होनेके समय, प्रणाम करो।

बहुतसे अच्छे घरोंमें शामको, चिराग जलने, दिया बलनेके समय भी प्रणाम करनेका नियम है।

किसी नये आदमीसे परिचय कराया जाय तो उसको प्रणाम करो।

इलायची आदि या किसी प्रकारका पुरस्कार कोई दे तो उसको प्रणाम करो।

प्रणाम करनेके समय हाथमें कोई भद्दी चीज न रहनी चाहिये।

प्रणाम चिल्लाकर मत करो; शान्तिसे, सामने होकर, नम्रतापूर्वक करो।

(३) कोई बड़ा बुलाए तो 'क्या', 'एँ' या 'हाँ' मत कहो; 'जी', 'जी हाँ' कहो।

बंगालियोंमें ऐसे अवसरपर 'आज्ञा' और राजपुतानामें 'हुक्म' कहते हैं।

(४) लोगोंको बुलाने, पत्र लिखने या उनकी चर्चा करनेमें उनके नामके पहले श्री, श्रीयुत, पंडित, बाबू, महाशय या मौलवी, जो उचित हो, अवश्य लगाना चाहिये। नाम न लिया जाय तो 'पंडितजी' या 'मौलवी साहब' आदि कहना या लिखना चाहिये।

अपने नामके आगे 'पंडित' आदि मत लगाओ।

(५) अपनेसे बड़ेकी तरफ, जहाँतक हो सके, पीठ करके मत बैठो या पीठ करके मत चलो।

(६) अपने गुरु, पिता आदिके साथ चलना हो तो उनसे एक दो कदम पीछे रहो। वे पीछे हों तो रास्ता देकर उनको आगे हो जाने दो। असबाब उनके हाथमें हो तो कुल या उसका हिस्सा अपने हाथमें उठा लो। दर्वाजेके अन्दर जाना हो तो पहले उनको जाने दो। दर्वाजा बन्द हो तो आगे बढ़कर उसको खोल दो और आवश्यकता हो तो अन्दर रोशनी कर दो।

दर्वाजेपर यदि पर्दा हो तो उसको उस समयतक उठाये रहो जबतक वे अन्दर न चले जायँ।

(७) कोई काम साथ करना हो तो जो छोटा है उसको पहले तैयार हो जाना चाहिये, अच्छा तो यही है कि दोनों साथ ही तैयार हों। अपने लिये अपनेसे बड़ेको इंतजार नहीं कराना चाहिये।

(८) कोई बड़ा किसी दूरके आदमीको बुलानेके लिये कहे तो वहींसे मत चिल्लाओ, जरा आगे बढ़कर उसको बुला लो। किसी बड़ेको बुलाना हो तो दौड़कर उनके पास चले जाओ।

(९) कथा या व्याख्यान या भजनके बीचमेंसे न उठो। उठना ही हो तो जो प्रसंग चल रहा है या भजन हो रहा है उसको समाप्त हो लेने दो। बीचमें उठ जाना अपनी बे-सबरी प्रकट करना है और बोलनेवाले विद्वान् या गानेवालेका एक प्रकारसे अनादर करना है।

व्याख्यान, कथा आदिमें बातचीत नहीं करनी चाहिये जो देर करके आये उसको पीछे बैठना चाहिये, आगे बैठनेकी कोशिश न करनी चाहिये। जिसको खाँसीका रोग हो उसको कथा, व्याख्यान आदिमें बैठकर विघ्न नहीं डालना चाहिये। वहाँ ऊँघने लगना भी ठीक नहीं।

पुस्तकालय और वाचनालयमें भी चुपचाप बैठकर पढ़ना चाहिये।

(१०) हम किसी चबूतरेपर या ऊँची जगह खड़े हों और अपनेसे बड़ेसे बातचीत करनी हो तो हमें नीचे उतरकर बात करनी चाहिये।

अपनेसे बड़ेसे बातचीत करनी हो तो खड़े हो जाओ विशेषकर यदि वे खड़े हों।

(११) मेजपर झुककर बातचीत मत करो खड़े रहना हो तो सीधे खड़े रहो। बठना हो तो कमर टेढ़ी करके मत बैठो।

(१२) अपनेसे बड़े या मेहमानके साथ गाड़ीपर बैठना हो तो उनके बायें बैठो या उनके सामनेवाली बैठकपर। गाड़ी अपनी ही हो तो इस नियमपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

हम गाड़ीपर बैठे हों और हमसे बड़े दूसरी गाड़ीपर आवें तो उनसे बातचीत हमें गाड़ीसे उतरकर करना चाहिये, विशेषकर जब वे उतर आवें।

अपनेसे बड़े या मेहमानके साथ चारपाईपर बैठना हो तो सिरहानेकी तरफ उनको बैठाओ। जहाँतक हो सके, चारपाईपर मत बैठो। चारपाई सोनेके ही काम आनी चाहिये।

(१३) अपनेसे बड़े या मेहमानके आनेपर उनका स्वागत खड़े होकर करना चाहिये और जबतक वे बैठ न जायँ खड़े रहना चाहिये; जब वे जाने लगें तब भी खड़े हो जाना चाहिये और हो सके तो दर्वाजे तक या गाड़ी तक उनके साथ जाना चाहिये। यदि कोई प्रेमसे हमसे मिलने आवें, तो हमें भी उनसे मिलने जानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(१४) कोई बड़ा या अतिथि हमारे स्थानकी रीतिके विपरीत व्यवहार कर बैठे तो उसपर हँसो मत।

(१५) भोजन या जलपानके समय कोई अतिथि, विद्वान्, संन्यासी आ जायँ तो उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना करो।

(१६) जब कोई बड़ा या अतिथि हमारे यहाँ भोजन करे तो उचित यही है कि हम अपने हाथसे भोजन परोसें और उनके भोजन कर लेनेके उपरान्त खायँ। उनसे पहले ही खा लेना तो किसी हालतमें भी ठीक नहीं। साथ भोजन करनेकी अवस्थामें भोजन पहले उनके सामने रखना चाहिये; थालियाँ छोटी-बड़ी हों तो बड़ी थाली उनके और छोटी अपने सामने रखनी चाहिये। बहुतसे लोग खाने बैठें तो सबसे पहले ही खाने न लग जाओ। औरोंको खाना पहले शुरू करने दो।

मेहमानके साथ बैठकर खानेमें जल्दी मत करो; धीरे-धीरे उनका साथ दो। भोजनके उपरान्त जब लोग मुँह-हाथ धो लें तो उनको इलायची, लौंग आदि किसी बरतनमें रखकर अपने हाथसे दो, नौकर आदिके द्वारा नहीं।

(१७) जब कोई इलायची आदि सामने रखे तो उसमेंसे दो ही एक उठाओ, सब न उठा लो।

(१८) गुरु, मालिक, बड़ों आदिके आसनपर उनके न रहने पर भी मत बैठो।

(१९) जिनके मेहमान बनो उनके भोजनका समय पूछ लो और उसी समय उनका साथ दो। न खाना हो तो पहले ही से कह दो।

(२०) जब अपनेसे बड़ेके साथ चलो और छाता एक ही हो तो उसको अपने हाथमें ले लो। छाता इस प्रकार उठाओ कि साथीको तीली न लग जाय।

(२१) किसीका नाम पूछना हो, तो पूछो, 'आपका शुभ नाम क्या है ?'

(२२) किसी मित्रके साथ कोई अनजान आदमी आ जाये तो यह न पूछो कि आप कौन हैं। अपने मित्रसे, अनजान आदमीकी तरफ इशारा करके, पूछो 'आप कौन सज्जन हैं ?' मुसलमान लोगोंमें पूछते हैं 'आपकी तारीफ ?'

(२३) अच्छे लोग उचित स्थानपर 'कृपा' शब्दका प्रयोग करते हैं; जैसे 'कृपा' कर बैठिये, इत्यादि।

(ख) स्वास्थ्य-सम्बन्धी

(१) पानी, दूध, घी आदिमें उँगली या नाखून मत डालो। दूधमें चीनी उँगलीसे न घोलो, चमचेसे काम लो या दो बर्तनोंमें उलट-फेर कर लो। ध्यान रखो कि ऐसा करनेमें दूधकी एक बूँद भी बाहर न गिरे।

(२) जिस बर्तनमें पीनेका पानी या दूध आदि रखा हो उसको ढकना मत भूल जाओ। उसको जमीनसे कुछ ऊपर रखना अच्छा है। बर्तन ऐसा होना चाहिये जो अन्दरसे साफ हो सके। जिस शीशीमें तेल आदि रखा हो उसको कॉर्कसे बन्द करना मत भूल जाओ; विशेषकर जिसमें दवा हो। जिन बर्तनोंमें अनाज रखा हो उनको भी इस प्रकार ढक देना चाहिये कि उनमें चूहे न जा सकें,

घरमें चूहे कहीं बिल बना लें तो उनको बन्द कर देना चाहिये।

(३) नयी दवा या कोई और चीज किसी पुरानी बोतलमें डालो तो पहले बोतलको गरम पानी और सोडासे धो लो।

(४) पानी, दूध, घी आदि निकालनेके लिये जिस लोटे, कटोरे या ग्लासको बर्तनमें डालो उसकी पेंदी पहले धो लो या साफ कपड़ेसे पोंछ लो। उसको धोती या कुरतेसे मत पोंछो। उसके लिये एक अलग साफ कपड़ा रखो।

(५) डोल, बालटी या घड़ेके पास हाथ धोनेके लिये भरा हुआ लोटा हमेशा रखना चाहिये। खाली होनेपर उसे फिर भर देना चाहिये। पानीसे भरे हुए डोल, बालटी या घड़ेमें हाथ नहीं डालना चाहिये। हाथकी कलाईसे लोटेको टेढ़ा करके पानी लेना चाहिये, उसमें भी हाथ नहीं डालना चाहिये।

(६) हाथ धोने या बर्तन माँजनेके लिये हर जगहकी मिट्टी इस्तेमाल मत करो। देख लो कि जहाँकी मिट्टी लेते हैं उस जगहको लोग गंदा तो नहीं करते। साफ मिट्टी ढूँढ़कर काममें लाओ। जमीन खोदकर खेतकी मिट्टी मिल सके तो अच्छा है। मिट्टी जमा करो तो उसको हंडी या कनस्टरमें रखो, जमीनपर रखनेसे बिल्ली आदि जानवर उसको गंदा कर देते हैं।

मिट्टीके बदले चूल्हेकी राख इस्तेमाल करना अच्छा है।

(७) पहननेके कपड़े, जूते आदि रोज झाड़ लिया करो। सोनेसे पहले प्रतिदिन अपने बिछौनेका हर एक कपड़ा झाड़ लो।

(८) बर्तन या खानेकी चीज किसी नयी जगह रखनेसे पहले उस जगहको धो डालो या साफ कर लो।

(९) रातको जो कपड़े पहनकर सोओ, उनमें जो सूती हों उनको दूसरे दिन धो डालो और जो ऊनी हों उन्हें धूपमें डाल दो। याद रखो, ऊनी या काले और गर्दखोर कपड़ोंमें भी मैल लगती है, उनको भी धोते रहना चाहिये। शरीरके साथ जो कपड़े लगे रहते हैं उनको खूब साफ रखो। उनमें बदबू न आनी चाहिये। जो लोग जनेऊ पहनते हैं उनको अपना जनेऊ खूब साफ रखना चाहिये।

(१०) हाथ और पैरके नाखून बढ़ने मत दो, उनके अन्दर मैल न जमने दो।

(११) जिस बिछौनेपर सोओ उसको थोड़ी देर धूपमें रहने दो, परन्तु इसका ध्यान रखो कि उसको चिड़ियाँ आदि गंदा न कर दें। पहननेके कपड़ोंको भी इसी प्रकार धूप दिखला दो।

(१२) मोजा भी पहननेके बाद धो डालना चाहिये।

(१३) पहननेसे पहले और उतारनेके बाद कपड़ा झाड़ लो। पैजामा झाड़नेके वक्त उसके नीचेका हिस्सा पकड़ो क्योंकि उसमें गर्दा ज्यादा रहता है। नंगे पैर रहो तो बाहरसे आकर पैर झाड़ डालो या धो डालो।

बहुत ज्यादा कपड़े पहनना और हमेशा कपड़े या जूता पहने रहना हानिकारक है।

(१४) अपने साथ हमेशा एक अँगोछा या रूमाल रखो। धोती, दुपट्टे या कुरतेसे नाक या हाथ पोंछना गंदी आदत है। नाक साफ करके नाक और हाथ धो लेना चाहिये।

(१५) कूड़ा रखनेके लिये बालटी, कनस्टर आदि घरमें दो-तीन जगह अवश्य होना चाहिये। जो कूड़ा उसमें जमा हो जाय उसको दिनमें दो-तीन बेर हटा देना चाहिये। जिसमें कूड़ा रखा जाय उसको भी प्रतिदिन अन्दरसे साफ करना चाहिये और उसके नीचेकी जमीनमें भी झाड़ू लगा देना चाहिये।

लिखने-पढ़नेकी मेजके नीचे रद्दीके लिये एक टोकरी रखनी चाहिये।

कूड़ा घरसे दूर ले जाकर या तो जला देना चाहिये या खादके काममें लाना चाहिये।

(१६) घरमें हर जगह जूता नहीं ले जाना चाहिये; सीढ़ीमें या कमरेके बाहर एक तरफ उतार देना चाहिये। भोजनालयमें जूता ले जाना ठीक नहीं।

(१७) जूता या जूठे बर्तन छूकर हाथ धोना चाहिये।

(१८) बाहरसे आकर जूतेको झाड़ डालना चाहिये—जूतेपर बराबर पॉलिश आदि लगाते रहना चाहिये। पहननेसे पहले जूता—भीतर और बाहरसे—झाड़ लेना चाहिये। गीला जूता जब सूख जाये तब पहनो। गीले कपड़े भी मत पहनो।

(१९) लिखते समय उँगलियोंमें स्याही न लगा लो—यदि लग जाय तो तुरन्त रगड़कर हाथ धो डालो ।

(२०) लिखनेके बाद अक्षरोंको उँगली या कपड़ेसे नहीं सुखाना चाहिये, सोखता काममें लाना चाहिये ।

(२१) रोशनाई कलमसे जमीनपर न छिड़को और न उसको सिरके बालोंसे पोंछो ।

(२२) मिट्टी लगा हुआ लोटा या गगरा कुएँमें मत डालो ।

(२३) कुएँसे दूर नहाओ जिससे बदनका पानी कुएँमें न जाय ।

(२४) कुएँकी सफाई कराते रहना चाहिये । उसमें कभी-कभी थोड़ा परमैंगनेट पोटाश डालते रहना चाहिये ।

(२५) पीनेका पानी लेना हो, तो नदीमें जरा आगे बढ़कर धाराके पास जाओ, और कपड़े धोने हों तो नदीके बहावके नीचेकी ओर जाना चाहिये । ऐसा करनेसे पानी गंदा नहीं होता ।

(२६) रोगीसे, विशेषकर पागलसे, छेड़-छाड़ मत करो । रोगीसे मीठी बातें करनी चाहिये, चिढ़ानेवाली नहीं । रोगीको जल्दी क्रोध आ जाता है, इसका बुरा मत मानो ।

(२७) छूतवाले रोगीसे दूर रहना चाहिये; परन्तु उसको निस्सहाय (बिना सेवाके) न छोड़ देना चाहिये । जिसको चेचक निकले उसके कपड़े या तो जला देने चाहिये या उबलते हुए पानीमें कुछ देर रखने चाहिये और उस पानीमें नीमकी पत्ती डाल देनी चाहिये ।

(२८) आँखोंकी पूरी रक्षा करो, उठते ही उनको धो डालो, आँखमें मैल आ जाय तो उसको साफ करो । आँखें आ जायें तो धूप, रोशनीकी चमक, गर्द और मक्खीसे उनको बचाओ और हरे कपड़ेसे उनको ढँक दो । यह छूतवाला रोग है ।

संगतराश, सान रखनेवाले, नाल जड़नेवाले, आतशबाजी आदिसे आँखोंको दूर रखो । हरी तरकारी, दूध, मक्खन आदि और हलके भोजनसे आँखोंकी रक्षा होती है ।

(२९) जिस रूई या कपड़े आदिसे पीप या खून पोंछा जाय उसको जला डालना चाहिये ।

(३०) साधारण रोगीके भी कपड़े, बिछौने रोज बदलो ।

(३१) साधारण रोगीके पास भी उन्हींको जाना चाहिये जो उसकी सेवा करना चाहें या उसका दिल बहला सकें । रोगीके पास भीड़ लगाना या रोगीसे प्रश्न करना या जबरदस्ती या जोरसे बातचीत करना अच्छा नहीं । किसी रोगीको देखने जाना ही पड़े तो अपने साथ बच्चोंको न ले जाओ ।

(३२) थरमामेटर मुँह या बगलमें लगानेके पहले और बाद धो डालना चाहिये ।

(३३) बीमारके सामने, विशेषकर रोगी बच्चेके सामने, लड्डू, पेड़ा या चटपटी चीजें मत खाओ या उससे कहकर मेले या तमाशेमें मत जाओ ।

(३४) क्षयरोगके रोगीके थूकको गाड़ देना चाहिये या जला देना चाहिये । उसको पुराने कपड़ेके रूमाल या थैलीमें थूकना चाहिये जिसको जला देना चाहिये ।

(३५) हर जगह थूकनेकी आदत बुरी है । इससे बीमारी फैलती है । रोगके कारण थूकना जरूरी हो तो पिकदान आदि रखो । हर जगह नाक भी नहीं सिनकना चाहिये । इसके लिये रूमाल रखो ।

(३६) लिफाफा थूक लगाकर नहीं बन्द करना चाहिये, न उसपर थूकसे टिकट चपकाना चाहिये और न पोथीके पन्ने थूक लगाकर उलटने चाहिये ।

(३७) नदी या तालाबके अन्दर कुल्ला नहीं करना चाहिये । उसके अन्दर मल-मूत्र, कूड़ा-कंकड़, काँटा आदि फेंकना तो बहुत ही बुरा है ।

(३८) सबेरे उठकर कुल्ला करो । दतवनकी जिस कूचीसे दाँत साफ करो, उसी कूचीको आगे-पीछे मसूड़ोंपर भी रगड़ो और दतवनके दो टुकड़े करके उसीसे जीभ साफ कर लो; तब उसको धोकर कूड़ेकी टोकरीमें फेंक दो । दतवन बिना धोये मत फेंको । दतवन और कुल्ला इस प्रकार करो कि दाँतके आगे और पीछेका हिस्सा, जीभ, मसूड़े आदि भी साफ हो जायँ ।

(३९) सोनेसे पहले रातको भी मञ्जनसे दाँत साफ करो या दतवन कर लो । ऐसा करनेसे दाँत साफ और सफेद रहेंगे और मुँहसे बदबू नहीं आयगी । कड़वे तेलमें नमक डालकर उससे दाँत साफ कर लेना बहुत अच्छा है ।

(४०) सबेरे बिना शौचादि गये और दाँत साफ किये कुछ मत खाओ। भोजन तो नहानेके बाद ही करना अच्छा है।

(४१) जिस बर्तनमें एक बार पानी पी लो या खाना खा लो, या कोई दूसरा पानी पी ले या खाना खा ले, उसको माँजकर तब काममें लाओ। जब बर्तन जूठा हो जाय तब उसको अलग एक तरफ रख दो। बर्तन मिट्टीका हो तो उसको एक ही बार इस्तेमाल करके फेंक दो।

(४२) दूसरेका इस्तेमाल किया हुआ साबन, रूमाल या तौलिया यथासम्भव काममें न लाओ।

(४३) दूसरेकी इस्तेमाल की हुई बाँसुरी मत बजाओ। बजानी ही पड़े तो उसको पानीसे खूब धो लो।

(४४) एक ओढ़नेमें दो आदमी मत सोओ। बचपनहीसे अलग सोनेकी आदत डालो। दूसरेके ओढ़ने और बिछौनेको बिना धोये काममें मत लाओ।

(४५) दूसरेकी पहनी हुई धोती, जबतक खूब साफ न हो जाय, काममें मत लाओ।

(४६) दूसरेकी इस्तेमाल की हुई कंघी काममें कभी मत लाओ। दूसरेकी इस्तेमाल की हुई आँखमें सुरमा लगानेकी सलाई इस्तेमाल मत करो।

(४७) जिस कपड़ेपर स्याहीका, पानका या और किसी चीजका दाग लग जाय उसको, जबतक दाग छूट न जाय; मत पहनो। थोड़ा सावधान रहनेसे ऐसा दाग लगने ही नहीं पायेगा।

(४८) जिस कपड़ेको पहनकर शौचादि जाओ या हजामत बनवाओ, उसको धो डालना अच्छा है।

(४९) शौचादिके लिये पानी कम मत ले जाओ। लघुशंकाके बाद भी पानीका प्रयोग करो।

(५०) खेतमें शौच जाओ तो उठनेके बाद मलको मिट्टीसे ढक दो। ढूँढ़नेसे मिट्टी न मिले तो लोटेसे जमीन खुरचकर जमा कर लो। खुरपीसे गढ़ा खोदकर उसीमें शौच जाना और पीछे उसमें मिट्टी भर देना सबसे अच्छा है।

(५१) प्रातःकाल उठते ही एक बार शौच अवश्य जाना चाहिये। मलमूत्रके वेगको कभी भी रोकना नहीं चाहिये। शामको भी एक बेर शौच हो आना अच्छा है। शौचसे लौटनेमें जल्दी मत करो।

(५२) शौचादिके बाद कम-से-कम तीन बार सूखी मिट्टीसे बायाँ हाथ धो डालो और तब दोनों हाथ। जिस बर्तनसे आबदस्त लो उसको अच्छी तरह माँज डालो। इसी कामके लिये यदि वह अलग रखा हो तब भी उसको कभी-कभी माँजते रहना चाहिये। अपना हाथ पहले धोकर तब उस बर्तनको माँजो।

(५३) हर जगह लघुशंका करने मत बैठ जाओ। इसके लिये कहीं आड़में उचित स्थान ढूँढ़ लो। घरसे बाहर जानेसे पहले और घर लौटकर, लघुशंका करनेकी आदत डालो तब साधारणतः बाहर जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

(५४) जहाँतक हो सके आबदस्त नदी, तालाब आदिमें मत लो। पानी साथ ले जाओ। नदी, नाले या तालाबमें आबदस्त लेकर उसके पानीको गंदा मत करो। आबदस्त बायें हाथसे लेना चाहिये।

(५५) ध्यान रखो कि जूठे पानीका छींटा किसी आदमी या साफ बर्तनपर नहीं पड़े।

(५६) बन्द दर्वाजोंके अन्दर रहना और सोना अच्छा नहीं। खुले बरामदे या खिड़कीदार कमरेमें रहना या सोना चाहिये। कमरोंकी खिड़कियाँ या दूसरे सूराख हमेशा बन्द मत रखो।

(५७) मुँह ढककर मत सोओ।

76178

(५८) मोजा पहनकर मत सोओ।

(५९) सोनेवाली जगहको असबाबसे मत भर दो और न उसमें जलता हुआ लैम्प रखो। ताजी हवा आनेके लिये उसको खुला रखो।

(६०) तन्दुरुस्तीके लिये साधारणतः सात-आठ घंटा सोना चाहिये। बच्चोंको ज्यादा सोना चाहिये। प्रातःकाल बहुत सबेरे उठ जाना चाहिये और उसी हिसाबसे रातको जल्दी सो जाना चाहिये।

(६१) सोये हुए आदमीको कुसमय बिना मतलब न जगा दो; जहाँ कोई सोया हो वहाँ धीरेसे जाओ।

(६२) लेटकर मत पढ़ो। पढ़ते समय सीधे बैठो। खाना खाकर तुरन्त पढ़ने मत लगो।

(६३) शामके समय मत पढ़ो। अँधेरा होनेपर और कम रोशनीमें मत पढ़ो।

(६४) पढ़नेके समय रोशनी तुम्हारे बायें या पीछेसे आनी चाहिये । यदि रोशनी सामने हो तो कागज या कपड़ेसे उसकी चमक कम कर लो ।

(६५) बच्चोंको मत रुलाओ । उनको हर वक्त गोदमें न लिये रहो । जितनी जल्दी हो सके, उनको अपने बलपर खड़ा होना सिखलाओ । उनको अपने हाथ-पैर हिलाने दो । वे कभी गिर भी जायँ तो तुरन्त उठाने मत दौड़ो । उठाओ भी तो उनका मन किसी दूसरी तरफ फेर दो । बच्चोंको चूमना अच्छा नहीं ।

(६६) भूत-प्रेतकी या दूसरी डरानेवाली कहानियाँ बच्चोंको मत सुनाओ ।

(६७) रहनेका मकान बहुत साफ रखना चाहिये । उसमें रोज झाड़ू लगानी चाहिये; कहीं जाला लगा हो तो छुड़ा देना चाहिये । उसका फर्श कभी-कभी धुलना चाहिये । मकान कच्चा हो तो उसको लिपवाते रहना चाहिये । चौकी, बक्स, आलमारी, मेज-कुर्सी कभी-कभी अपनी जगहसे ऊपर-नीचेसे अच्छी तरह साफ करनी चाहिये । मेजमें दराज हो तो उसको भी अन्दरसे साफ करना चाहिये । याद रखो, गर्देसे बचना तन्दुरुस्तीके लिये बहुत जरूरी है । मकानकी सजावटमें विलासिताका भाव नहीं होना चाहिये । मकानमें देवताओं और महापुरुषोंके चित्र होने चाहियें ।

(६८) जिस प्रकार हो, खटमल, पिस्सू जूआँ (जूँ), मक्खी, मच्छरोंको दूर रक्खो । सफाई और तन्दुरुस्तीके लिये यह बहुत जरूरी है । घरकी मोरियों, नालियोंको धोते रहो विशेषकर फिनाइलसे ।

(६९) मकान जो नये बनाये जायँ उनमें कम-से-कम एक फुट ऊँची कुर्सी होनी चाहिये और हवा और रोशनी आनेके लिये दर्वाजे और खिड़कियाँ होनी चाहियें ।

(७०) जहाँ कोई झाड़ू दे रहा हो वहाँ नहीं बैठना चाहिये । अगर हो सके तो कोठरीमें पहले पानी छिड़ककर तब झाड़ू दी जाय ।

(७१) प्रतिदिन सवेरे और हो सके तो शामको भी साफ ठंढे पानीसे नहाना चाहिये । नहाते समय बदनको खूब रगड़ना चाहिये । टबमें नहाना पड़े तो उसका पानी जल्दी-जल्दी निकालते चलो । कभी-कभी सिरको बचाकर धूपमें भी बैठना चाहिये । आवश्यकता पड़नेपर धूपकी तरफ पीठ करके या आगकी तरफ मुँह करके बैठना अच्छा है । गरम पानीसे नहाओ तो बन्द कमरेमें नहाना चाहिये ।

(७२) चिराग, जहाँतक हो सके, मुँहसे मत बुझाओ और न आग मुँहसे सुलगाओ ।

(७३) लँगोट बाँधनेकी आदत अच्छी है । लँगोटबन्द आदमी साहसी और स्वस्थ होता है ।

(७४) बासी रोटी आदि, विशेषकर रातकी रक्खी हुई, मत खाओ ।

(७५) कोई आदमी भोजन कर रहा हो तो उससे खाना छुड़वाकर दूसरा काम मत करवाओ ।

(७६) भोजनके बाद लघुशंका कर लेना अच्छा है ।

(७७) खाना खानेसे पहले हाथ-मुँह धोना चाहिये और पीछे भी हाथ धोकर कुल्ला करना चाहिये । जरूरत हो तो खरकेसे भी दाँत साफ कर लेना चाहिये । खरकेकी जगह आल्पीन आदिसे काम नहीं लेना चाहिये । इसके लिये नीमकी सींक बहुत अच्छी है । फर्शपर हाथ-मुँह धोना हो तो नीचे चिलमची रख लो । गरम चीज खाकर या गरम दूध पीकर गरम पानीसे कुल्ला करना चाहिये या थोड़ी देर ठहरकर ठंडे पानीसे कुल्ला करना चाहिये ।

(७८) सड़ा हुआ, बहुत अधिक पका हुआ और कच्चा फल मत खाओ । खानेसे पहले फलोंको धो लो । बाजारमें कटा हुआ खरबूजा, तरबूज, पपीता बिकता हो तो उसको मत खाओ, किशमिशको खूब धो लेना चाहिये ।

(७९) मशकका पानी मत पीओ ।

(८०) हर एक तालाब या कूएँका पानी मत पीओ । पानी उबालकर और छानकर पीना अच्छा है ।

(८१) बरफका पानी या सोडावाटर, लेमोनेड पीनेकी आदत मत डालो । बरफ पीनी ही पड़े तो इस बातकी जाँच कर लेनी चाहिये कि वह गन्दे और खराब पानीसे तो नहीं जमायी गयी है ।

(८२) महीनेमें दो-तीन बार बिना खाये या कम खाकर रह जाना अच्छा है । एकादशीके व्रतका यही उद्देश्य है ।

(८३) जो आदमी दूध दूहे उसका हाथ, बरतन, कपड़ा साफ होना चाहिये । दूहकर दूध छान लेना चाहिये ।

दूध उबालनेसे पहले छान लो और ध्यान रक्खो कि उबालते समय उसमें राख और गर्दा न पड़े ।

(८४) भोजनको भगवान्‌का प्रसाद समझो । भोजन धीरे-धीरे दहने हाथसे करना चाहिये । दूध या पानी भी शान्तिपूर्वक ठहर-ठहरकर पीना चाहिये । भोजन इस प्रकार मत करो या पानी, दूध इस प्रकार मत पीओ कि मुँहसे आवाज निकले । धीरे-धीरे खूब चबाकर खाना खाओ । छोटा-छोटा ग्रास मुँहमें डालना चाहिये । भोजनसे मुँह भर नहीं लेना चाहिये । खानेके साथ पानी बहुत कम पीना चाहिये; बिलकुल न पीये तो और अच्छा है ।

(८५) भोजन या आगके ऊपरसे जाना या उसको लाँघना ठीक नहीं ।

(८६) राह चलते या हर जगह खाने लगना ठीक नहीं । जहाँ लोग भोजन कर रहे हों वहाँ बिना आवश्यकता जाना ठीक नहीं ।

(८७) किसीको जबरदस्ती, मनके विरुद्ध, नहीं खिलाना चाहिये । जितनी भूख हो उससे कुछ कम ही खाना चाहिये ।

(८८) भोजनके बाद दाँतोंपर नमक रगड़कर या किसी प्रकारके मंजनसे खूब कुल्ला करना चाहिये ।

(८९) खाते समय दाल, चावल आदिसे कुल हाथ न सान लो । भोजन करते समय, चाहो तो, चम्मचसे काम लो ।

(९०) खाते समय पानीका ग्लास इस प्रकार उठाओ कि उसमें उँगलीकी दाल आदि न लग जाय ।

(९१) जितनी आवश्यकता हो उतनी ही लो । थालीमें जूठा मत रहने दो । यह आदत गंदी है और इसमें अन्नकी बरबादी है ।

(९२) पीतलके बर्तनमें खट्टी चीज मत रखो ।

(९३) जो हलवाई और खाना पकानेवाला अपनी चीजोंको मक्खी और गर्दसे बचानेके लिये ढककर सफाईसे नहीं रखता, अपने बदनको खुजलाता रहता है या अपना कपड़ा और शरीर मैला रखता है, उसकी कोई चीज मत खाओ । जहाँतक हो सके बाजारकी मिठाई, विशेषकर मलाईकी बरफ नहीं खानी चाहिये और बाजारका शरबत नहीं पीना चाहिये ।

(९४) ऊँचे बैठकर और भोजन नीचे रखकर, झुककर, खाना ठीक नहीं । हो सके तो भोजनकी थाली अपने सामने ऊँची चौकी आदिपर रख लो ।

(९५) खाते समय फलके छिलके या गुठलिया गलीमें या खिड़कीमें मत फेंको । पास ही बर्तनमें, पत्तेपर या रद्दी कागजपर रखते चलो; पीछे वहाँ फेंक दो जहाँ कूड़ा रहता है ।

(९६) एक ही थालीमें दो आदमियोंको साथ बैठकर नहीं खाना चाहिये । एक ही ग्लास या कटोरेका पानी या दूध दो आदमियोंको नहीं पीना चाहिये । किसीका बचा हुआ जूठा, या जमीनपर गिरा हुआ खाना मत खाओ ।

(९७) खाना इस प्रकार खाओ कि पत्तल या थालीसे बाहर जमीनपर या कपड़ेपर न गिरे । पत्तल या थाली उठाओ तो उसके नीचेकी जगह भी साफ कर दो ।

(९८) भोजनके समय मरने आदिका समाचार नहीं सुनाना चाहिये, न ऐसी बातें या ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे शोक, क्रोध, घृणा, ग्लानि या गंदगी प्रकट हो । जब लोग भोजन कर रहे हों तब दाँतमें खरका नहीं करना चाहिये, पीछे करना चाहिये ।

(९९) जिस घरमें मुर्दा पड़ा हो उसमें जबतक वहाँसे मुर्दा हट न जाय और उसकी अच्छी तरह सफाई न हो जाय, भोजन नहीं करना चाहिये ।

(१००) भोजनका स्थान साफ, हवादार और हो सके तो अलग होना चाहिये । उसके अंदर मक्खीका जाना रोकना चाहिये । चारपाई या बिस्तरपर खाना रखकर या लेटकर मत खाओ ।

(१०१) मिठाई और भोजनकी अन्य वस्तुएँ ऐसी जालीदार आलमारीमें रक्खो जिसमें हवा जाय पर मक्खी न जा सके ।

(१०२) भोजनके समय साफ, स्वच्छ और ढीले कपड़े पहनने चाहिये ।

(१०३) भोजनसे पहले प्रतिदिन सुबह-शाम थोड़ी-बहुत कसरत करनी चाहिये, विशेष कर साँसका साधन (प्राणायाम) बहुत ही लाभदायक है । कसरत करनेके समय मुँह बन्द रखो और नाकसे साँस लो । सायंकाल अवश्य घरसे बाहर टहलने चले जाना चाहिये । बुड्ढे लोगोंके लिये टहलनेकी कसरत बहुत अच्छी है ।

(१०४) जहाँतक हो सके दवा, चूरन आदि खानेकी आदत मत डालो। नियमपूर्वक रहनेसे दवाकी जरूरत कम पड़ती है।

(१०५) स्त्रियोंके लिये घरका काम करना और चक्की पीसना भी रोगको दूर रखनेका अच्छा साधन है।

(१०६) कसरतसे जिस कपड़ेमें पसीना लग जाय उसको बदल देना चाहिये।

(१०७) कसरत करनेके कम-से-कम एक घंटे बाद भोजन करना चाहिये। भोजन करते ही दौड़ना और कसरत करना बुरा है।

(१०८) कभी-कभी अपनी तन्दुरुस्तीकी हालत जाननेके लिये अपने शरीरको तौलते रहना चाहिये।

(१०९) लूसे शरीरको बचाना चाहिये पर लूमें जाना ही पड़े तो पानी पीकर बाहर जाना चाहिये और बीच-बीचमें सुसताकर पानी पीते चलना चाहिये। लूसे बचनेके लिये कानोंको अच्छी तरह ढक लो।

(११०) जिस उस्तरेसे हजामत बनाओ या बनवाओ उसको गरम पानीसे धोते रहना चाहिये।

(१११) हजामत बनाते या बनवाते समय सावधानीसे बातचीत करो।

(११२) प्रातःकालके समय जितनी देर निभ सके मौन रहना चाहिये। मनुष्य सांसारिक काम करते हुए भी मौन रह सकता है। संसारसे ऊपर भी मनको उठाना चाहिये। ध्यान, पूजा, स्वाध्याय आदिसे शक्ति बढ़ती है। मनको शुद्ध, पवित्र और शान्त रखनेसे शरीर भी स्वस्थ रहता है।

साधारण

(१) कोई दूसरा आदमी पैसा, रुपया, मिठाई दे तो बिना माता-पिताकी आज्ञाके हरगिज मत लो।

(२) किसीको कोई चीज देनी हो तो बायें हाथसे मत दो और लेनी हो तो बायें हाथसे न लो।

(३) जबतक जान-पहचान न हो, मर्द स्त्रीसे चार आँख करके बातचीत नहीं करते। परायी स्त्रीसे बात करनेकी जरूरत पड़ जाय तो स्त्रीके पैरोंकी तरफ देखना चाहिये, न कि आँखोंकी तरफ। स्त्रियोंकी तरफ टकटकी लगाकर देखना या उनको घूमना या उनके शरीरको छूना बहुत बड़ी असभ्यता है। स्त्रियोंको यदि माला पहनानी हो तो माला उनके हाथमें दे दो। वे स्वयं अपने गलेमें डाल लेंगी।

(४) स्त्रियों, बच्चों या अपाहिज और कमजोर लोगोंपर कहीं आक्रमण हो अथवा वे किसी प्रकारके संकटमें हों तो तुरन्त उनकी रक्षा करो।

(५) किसीके घरमें जिधर स्त्रियाँ रहती हों (जनानेमें) न जाना चाहिये। अपने घरमें भी स्त्रियोंको किसी प्रकारसे सूचना देकर जाना चाहिये।

(६) जिस स्थानपर स्त्रियाँ नहाती हों या जिस रास्तेसे स्त्रियाँ ही जाती हों उधर न जाओ।

(७) जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली हो, सोयी हो या कपड़ा पहनती हो या अनजान या परदा करनेवाली स्त्री हो उसमें नहीं जाना चाहिये।

(८) गोटेकी टोपी या कपड़े बच्चोंको शोभा दे सकते हैं, बड़ोंको नहीं। सादगीसे बढ़कर कोई वस्तु है नहीं।

(९) बच्चोंको गहना नहीं पहनाना चाहिये।

(१०) छोटे बच्चोंको पैसा नहीं देना चाहिये। उनमें पैसा माँगनेकी आदत नहीं डालनी चाहिये।

(११) कोई छोटा बच्चा कुछ कहना चाहे तो उसकी बात पहले सुन लो।

(१२) भारतीय संस्कृतिमें बच्चोंके सुन्दर और प्यारे नाम रखनेकी प्रथा है। इस प्रथाको मत बिगाड़ो।

(१३) गाड़ी, नाव आदिमें बच्चोंको पहले चढ़ने दो, तब आप बैठो।

(१४) बच्चों, स्त्रियों और नौकरोंको कभी न मारो। उनकी कमजोरी सबके सामने मत बतलाओ।

(१५) बच्चोंको पहले खाना दो। सबसे छोटे बच्चेसे पहले शुरू करो।

(१६) किसी मित्र या रिश्तेदारके घर जाओ तो बच्चोंको अपने प्यारका परिचय दो।

(१७) विशेष अवसरपर किसीको निमन्त्रित करो तो उनके बच्चों (बाल-गोपाल) को बुलाना मत भूल जाओ और जो नौकर साथ आवे उसको अवश्य कुछ खिला दो। निमन्त्रित सज्जनोंको उनकी स्थितिके अनुसार बैठनेकी जगह देनी चाहिये।

(१८) जबतक कोई भारी अपराध न हो जाय, किसीकी रोजी न लो ।

(१९) नौकरको भी भोजन-विश्राम आदिके लिये समय दो ।

(२०) नौकर, हजाम, धोबी आदिसे व्यर्थ बातें मत करो। उनसे दूसरोंके घरकी बातें मत पूछो यदि वे ऐसी बातें करें तो मत सुनो ।

(२१) जिसके मेहमान बनो उसके नौकर-चाकरको चलते समय थोड़ा-बहुत इनाम देना अच्छा है । यदि कोई मित्र या रिश्तेदार मिठाई आदि भेंट भेजे तो लानेवाले नौकरको कुछ इनाम दो ।

(२२) सभ्यसमाजमें डकार लेना, खखारना, जीभ निकालना, नाकमें उँगली डालना, जम्हाई लेना, पैर फैलाकर बैठना या हिलाते रहना, उँगली चटकाना, दाँतसे नाखून काटना, कपड़ा चबाना, काना-फूसी करना, अँगड़ाई लेना, कानमें उँगली या कलम डालना इत्यादि बुरा समझा जाता है । जम्हाई, खाँसी या छींक आवे तो मुँहपर हाथ या रूमाल रख लेना चाहिये; नाक बहती हो तो रूमालसे साफ कर लेनी चाहिये । हिचकी आवे तो सभासे उठ जाना चाहिये और पानी पीकर या और किसी उपायसे उसको रोकना चाहिये ।

(२३) साधारणतः सड़कपर किसीके गलेमें बाँह डालकर चलना अच्छा नहीं । शहरमें चलते हुए गीत मत गाओ ।

(२४) दूसरेकी चीज कहीं पहुँचानी हो तो जिस हालतमें मिले उसी हालतमें पहुँचा या पहुँचवा दो ।

(२५) गाड़ीवान, दूकानदार आदिसे लेन-देनके लिये झौं-झौं मत करो । गरीबोंके पास दो-एक पैसा ज्यादा चला जाय तो जाने दो ।

(२६) रेलके प्लेटफार्मपर या किसी तमाशे आदिमें जहाँ टिकट लगा हो, बिना टिकट या बिना निमन्त्रण मत जाओ । जिस क्लासका टिकट हो उसीमें बैठो ।

(२७) ट्रेनकी खिड़कीसे पानी न फेंको । ऐसा करना ही पड़े तो हाथ नीचे करके फेंको । जिस कमरेमें बैठो उसको गन्दा मत करो ।

(२८) जहाँ कई ऐसे मित्र जमा हों जिनकी मातृभाषा भिन्न-भिन्न हो वहाँ, जहाँतक हो सके, ऐसी भाषामें बातचीत करो जिसे सब समझ सकें ।

(२९) जबतक आवश्यकता न हो अथवा बहुत गहरी जान-पहचान न हो बिना पूछे राय मत दो ।

(३०) जहाँ बहुत-से लोग बैठे हों वहाँ अपना रोना मत रोओ और अपने ही रोजगारकी चर्चा मत करो । हर जगह अपनी दीनता मत प्रकट करो ।

(३१) भूलसे तुम्हारा पैर या धक्का किसीको लग जाय तो उससे माफी माँगो ।

(३२) जहाँ दो-तीन आदमी हों, किसी एकसे कानमें बात मत करो । जिससे काम हो उसको अलग ले जाओ ।

(३३) बहुत-से ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग करना शिष्टलोगोंमें भद्दापन समझा जाता है । उनके भाव संकेतसे अथवा कोमल शब्दोंमें प्रकट करने चाहिये । यदि प्रकट करो तो लघुशंका, शौच, जंगल, टट्टी इत्यादि शब्दोंसे ।

(३४) धोती या कुर्ता हटाकर कपड़ेके अंदर हाथ डालना या बदन खुजलाना अच्छा नहीं ।

(३५) किसीके पीठ पीछे उसकी बुराई मत करो । दूसरे आदमीके गुणोंकी चर्चा करना अच्छा है पर वह भी उसके मुँहपर नहीं । यदि दूसरेकी बुराई करनी ही पड़े तो ऐसे शब्दोंमें करो जिनका प्रयोग उसके सामने भी कर सको । अपनी स्तुति आप मत करो, सुनो भी नहीं और अपनी बुराई सुनकर लड़ने मत लग जाओ । अपनी निन्दा सुनकर शान्त रहना बड़ी भारी तपस्या है । जो मर गया हो उसकी बुराई मत करो ।

(३६) सड़कपर किसी मुर्दे (शव) को ले जाते हुए देखो तो एक तरफ हट जाओ और हाथ जोड़ लो । अँगरेजी रिवाज टोपी उतारनेका है । किसीकी लाशका अनादर मत करो ।

(३७) घरमें किसीकी मृत्यु हो जाय तो अपना शोक जोर-जोरसे चिल्लाकर मत प्रकट करो । ऐसे समयमें धैर्य आवश्यक है ।

(३८) पड़ोसी, मित्र, रिश्तेदार आदिके यहाँ शादी, मौत आदिके अवसरपर अवश्य जाना चाहिये । मौतके अवसरपर बिना बुलाये ही जाना चाहिये और पूरी सेवा और समवेदना प्रकट करनी चाहिये । ऐसे समय मुर्दा भी उठाना हो तो उसको ऊँचे दर्जेकी सामाजिक सेवा समझो । जो गरीब और असहाय हो उसके साथ तो ऐसा जरूर करना चाहिये । पड़ोसी जब मुर्दा जलाकर लौटे तब उनके

घर भोजन भेजो और आग्रह तथा प्रेमसे उनसे भोजन करनेके लिये कहो ।

(३९) दूसरे आदमीकी बात जबतक समाप्त न हो, बीचमें मत बोल उठो । ऐसा हो जाय तो तुरन्त क्षमा माँगो ।

(४०) 'जो है सो' इत्यादि सखुन-तकियेकी आदत मत डालो । ऐसे अनावश्यक शब्दोंको बात-चीतमें बार-बार कहना बुरा है ।

(४१) कोई आदमी रास्ता भूल जाय तो उसको ठीक रास्तेपर डाल देना चाहिये, चाहे ऐसा करनेमें तकलीफ भी हो ।

(४२) रास्तेमें कोई चिठ्ठी पढ़वाये तो रुककर पढ़ दो, यदि किसी अन्धे आदिको मददकी जरूरत हो तो उसकी तुरन्त मदद करो ।

(४३) शीशेका टुकड़ा, ईंट, पत्थर, काँटा या कोई ऐसी चीज रास्तेमें देखो जिससे दूसरेको कष्ट होनेकी सम्भावना हो तो उसको हटा या हटवा दो ।

(४४) दूसरोंकी सेवा इस भावसे मत करो कि उसके बदलेमें कुछ इनाम मिलेगा । ऐसी सेवा निष्काम भावसे करो । तभी सेवाका सच्चा आनन्द पाओगे ।

(४५) गाली-गलौज मुँहसे न निकालो । एक्केवालों या बैलगाड़ीवालोंको, जो अपने घोड़ों या बैलोंको माँ-बापकी गाली देने लगते हैं, ऐसा करनेसे प्रेमपूर्वक रोको । भद्दी हँसी-दिल्लगी किसीसे भी न करो । विवाहके अवसरपर या किसी त्यौहारपर गंदे गीत मत गाओ । होलीके त्यौहारपर जो रंग लगवानेसे परहेज करे उसके साथ जबरदस्ती न करो ।

(४६) जिस बाजारमें बदचलन औरतें रहती हों या जिस विवाह-शादीमें बदचलन औरतें नाचने-गाने आवें, वहाँ हर्गिज मत जाओ ।

(४७) कसम कभी नहीं खानी चाहिये ।

(४८) किसी देश या जातिके झण्डे या राष्ट्रीय गानका निरादर मत करो । जब राष्ट्रीय गान गाया जाय, खड़े हो जाओ । झण्डेको झुककर प्रणाम करो ।

(४९) किसीके धर्मपर आक्षेप नहीं करना चाहिये । सब धर्मोंके प्रवर्तकोंका नाम आदरसे लो । धार्मिक बहस नम्रता और प्रेमके साथ करनी चाहिये । किसी धर्मके देव-मन्दिरका अपमान मत करो । मन्दिर या मसजिदमें जूता पहने मत जाओ ।

(५०) प्रार्थनाके समय आँखें बन्द रखो । मनको स्थिर रखनेकी चेष्टा करो । उस समय भगवान्‌के चरणोंमें बैठे हो ऐसी भावना करो ।

(५१) बहसमें गर्मागर्मी नहीं होनी चाहिये । दूसरेकी बात सब्रसे सुननी चाहिये और उसका शान्तिसे जवाब देना चाहिये ।

(५२) किसी कमरेमें काम होता हो तो उसके पाससे इस तरह गुजरो कि अंदरवालोंका हर्ज न हो ।

(५३) दो आदमी बातें करते हों तो उनके पास बिना पूछे न जाना चाहिये ।

(५४) कई आदमी बैठे हों तो उनके बीचमेंसे न जाना चाहिये । जाना हो तो पीछेसे जाओ । बीचहीमेंसे होकर जाना पड़े तो झुककर क्षमा माँगते हुए निकल जाओ ।

(५५) कई आदमी एक साथ भोजन करने बैठें तो सबको साथ ही शुरू करना चाहिये और साथ ही उठना चाहिये । कोई पहले खा ले, तो उस समयतक बैठा रहे जबतक सब न उठें । जल्दी उठो तो आज्ञा ले लो और अपनी जूठी थाली या पत्तल दूर हटा दो जिसमें खानेवालेको ग्लानि न मालूम हो ।

(५६) किसी स्थानमें जायें जहाँ हमारा आदर-सत्कार हो और हमारे साथ कोई मित्र या अतिथि हो तो हमें उसको भूल न जाना चाहिये, उसको भी अपने आदर-सत्कारमें शरीक करना चाहिये ।

(५७) किसीको अपने साथ गाड़ीपर लाओ तो उसको यथासम्भव उसके घरतक पहुँचाओ ।

(५८) अपनी गाड़ीपर बाहर जाओ और किसी स्नेही, मित्र या बड़ेको पैदल जाते देखो तो उनको भी साथ बैठा लो ।

(५९) हम किसी तंग पगडंडीपर चल रहे हों जिसके दोनों तरफ खेत हों या कंकड़ हों और दूसरी तरफसे भी आदमी आ रहे हों तो जो नंगे पैर हो उसको हमें पगडंडी-पर चलनेके लिये जगह देनी चाहिये ।

(६०) रेलमें आवश्यकतासे ज्यादा जगह मत लो । रेलके अंदर जाकर बाहरवालोंको अंदर आनेसे न रोको ।

(६१) किसी लँगड़े, लूले, भिखमंगे, तुतलाकर बोलनेवालेकी उसके सामने नकल न करो । किसीका भी मुँह चिढ़ाना, उसकी हँसी उड़ाना या नकल करना अच्छा नहीं ।

(६२) कोई हमारी गिरी हुई चीज उठा दे या हमारा काम कर दे तो हमें उसको धन्यवाद देना चाहिये। ऐसे अवसरपर मुसलमान लोग 'तसलीम' और अंग्रेज लोग 'थैंक्स' कहते हैं।

(६३) किसीकी खोई हुई चीज कहीं मिल जाय तो कोशिश करके उसको उसके मालिकके पास पहुँचाओ या सेवा-समितिके सुपुर्द करो।

(६४) किसीकी धरोहर (अमानत) अपने काममें मत लाओ।

(६५) किसी मण्डलीमें यदि ऐसे आदमीसे बात करनी हो जो दूर बैठा है तो अपनी जगहसे ही चिल्लाकर बात मत करने लग जाओ, उठकर उसके पास चले जाओ।

(६६) खिड़कीमें निरर्थक बैठे रहना और नीचे झाँकना बुरा है, विशेषकर स्त्रियोंके लिये।

(६७) दूसरेकी चीट्ठी ऊपरसे या पीछेसे झाँककर या किसी हालतमें भी मत पढ़ो।

(६८) जबतक आवश्यक न हो किसीसे यह मत पूछो कि कहाँ जाते हो। दूसरेकी गुप्त बातें जानने या सुननेकी कोशिश मत करो और अगर जान लो या सुन लो तो उसको अपने तक रखो। दूसरेकी डायरी मत पढ़ो।

(६९) किसीसे उसकी तनख्वाह, आमदनी या जात मत पूछो, जबतक कि पूछना आवश्यक न हो।

(७०) किसीके घर जाकर उसकी चीजोंको मत छुओ या उनको उलट-पलट मत करो। यदि उठाना ही पड़े तो उन्हें उसी तरह रख दो जिस तरह वे पहले थीं। किसीके बगीचेमें जाकर बिना पूछे फल-फूल मत तोड़ो।

(७१) खेलमें हारो तो विरोधीका दोष मत बतलाओ; जीतो तो अपनी तारीफ मत करो। हारनेवालेसे ऐसे प्रेमका व्यवहार करो कि उसको हारनेकी शर्म न मालूम हो।

भूल हो जानेपर सच्चे दिलसे माफी, क्षमा माँगो। माफीके शब्द बनावटी नहीं होने चाहिये।

(७२) किसीसे मिलो तो बार-बार घड़ी मत देखो, कहीं जाना हो तो स्पष्ट कह दो।

(७३) कोई मिलने आवे और उसको इन्तजार करना पड़े तो वक्त काटनेके लिये कोई अखबार या किताब दे दो।

(७४) कोई पत्र लिखे तो उसका जवाब देना मत भूल जाओ, परन्तु बहुत अधिक पत्रव्यवहार करना उचित नहीं।

(७५) किसी घनिष्ठ मित्रका भी जहाँतक हो सके, अहसान मत लो। सार्वजनिक कामोंमें सेवा-भावसे ऐसा करना बुरा नहीं है। पर स्वयं दूसरोंकी उचित सेवाके लिये सदा तैयार रहो।

(७६) सभा आदिमें यदि किसी कुर्सीपर टोपी आदि पड़ी हो तो समझ लो कि वह कुर्सी खाली नहीं है। उसपर जो चीज पड़ी हो उसको मत हटाओ।

(७७) कुर्सीपर टाँग उठाकर मत बैठो।

(७८) किसीसे कर्ज मत लो, चाहे कितना ही कष्ट हो, अपनी कमाई थोड़ी भी हो तो उसीमें गुजर करो। कर्ज लेना ही पड़े तो उसको जल्दी चुकानेकी चिन्ता करो, किसी संस्थाका रुपया तुम्हारे पास हो तो उसका ठीक-ठीक हिसाब रखो। एक मद्का रुपया दूसरे किसी मद्पर खर्च न करो। हिसाब बराबर जँचवाते रहो। सार्वजानिक संस्थाका या दूसरे किसीका धन अपने खर्चमें मत लाओ, दूसरेके रुपयेमें तुम्हारी असावधानतासे कमी हो जाय तो उसको अपने पाससे पूरा कर दो।

(७९) कर्ज देना बुरा है। दूसरोंके भी लेन-देनमें मत पड़ो।

(८०) भीख माँगना बुरा है।

(८१) जूआ खेलना बुरा है। लाटरी आदिसे भी दूर रहो।

(८२) जहाँतक हो सके नीलामकी चीजें मत लो। नीलाम-घरमें बार-बार जाना ठीक नहीं।

(८३) चुंगी, टैक्स, किराया तुरंत दे दो। चुंगी और टैक्स वसूल करनेवालोंसे कोई बात मत छिपाओ और न उनसे लड़ाई-झगड़ा करो। अनुभवी पुरुष उनसे गम्भीरतासे बातचीत करते हैं।

(८४) किसीको दान या इनाम दूरसे घमंड या घृणासे मत दो—मुस्कुराते हुए दो। किसीकी सेवा अपना बड़प्पन प्रकट करते हुए मत करो, विनीत भावसे करो।

(८५) जेबमें हाथ रखकर बातचीत मत करो।

(८६) पेंसिल, कुंजी, पैसा आदि हर वक्त उँगलीमें नचाते मत रहो, न उनको मुँहमें डालो।

(८७) किसी जीवित आदमीके नामपर कोई संस्था खोलनी हो या उनको कोई पद प्रदान करना हो, तो उनसे आज्ञा ले लो।

(८८) आतिशबाज़ीसे दूर रहो। इसपर धन नहीं फूँकना चाहिये, पर इसका प्रदर्शन जब कभी हो तो खुले मैदानमें होना चाहिये, घरके अंदर या तंग गलीमें नहीं।

(८९) किसी घटनाका जिक्र करो तो पहले यह निश्चित कर लो कि वह सच्ची है या नहीं।

(९०) जनेऊ कुर्तेके बाहर मत निकाल रखो। काम हो जानेपर उसको फिर भीतर कर लो

(९१) चोटी, शिखा बँधी रखो और यदि टोपी पहनी हो तो देखो कि वह उसके बाहर न रहे।

(९२) पजामेका इजारबंद (नाला) या जूतेका फीता इस प्रकार रखो कि वह लटकता न चले। कोट, कमीज आदिका बटन टूट जाय तो उसको पहनकर बाहर न जाओ जबतक बटन न लग जाय।

(९३) डूबते हुए आदमीको बचानेको उसीको जाना चाहिये जो डूबनेसे बचानेकी कला और तैरना दोनों जानता हो; नहीं तो रस्सा आदि फेंककर बचानेका यत्न करो।

(९४) अपनी आमदनीके सौवें हिस्सेसे लेकर दसवें हिस्सेतक अलग करके जितना हो सके किसी सुपात्रको अथवा किसी उत्तम संस्थाको दान देते रहना चाहिये।

(९५) अनावश्यक खर्च कम करना चाहिये। जीवनमें सादगी होनी चाहिये। प्रकृतिकी गोदमें रहनेकी आदत होनी चाहिये, जिसमें मौसिमकी गरमी-सरदी सहनेकी आदत पड़ जाय।

(९६) परस्परका झगड़ा आपसमें तय कर लो। आत्मसम्मान अथवा स्वजातीय गौरवमें फर्क न पड़े तो झगड़ा बढ़ने न दो थोड़ी बरदाश्त अच्छी है।

(९७) जहाँ दो आदमी लड़ रहे हों वहाँ भड़कानेकी बातें मत करो। कोशिश करो कि मेल हो जाय।

(९८) दूसरोंके घरेलू झगड़ों या उनकी बुराइयोंका जिक्र कहीं न करो विशेषकर उनका जो वही रोजगार करते हैं जो हम करते हैं। अपने हमपेशाके मालको बुरा मत कहो।

(९९) पापसे और गंदगीसे सदा दूर रहो, घृणा करो; पर पापी या गंदे आदमीसे प्रेमका व्यवहार मत छोड़ो।

(१००) दिहातके लोगों और दिहाती वायु-मण्डलको बुरा न समझो। जितना उनके निकट जाओगे उतना ही उनका अच्छा पाओगे।

(१०१) सफरमें सामान हलका रखना चाहिये। एक लोटा और एक कम्बल रखना आवश्यक है।

(शऊर) सहूरकी बातें

शिष्टाचारकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनका कारण नहीं बतलाया जा सकता; हम मेहमानको अपने दाहिने क्यों बैठायें अथवा किसीको कोई चीज बायें हाथसे क्यों न दें? कुछ बातें ऐसी हैं जो देश और कालके अनुसार बदलती रहती हैं। इँगलिस्तानमें गाड़ियाँ सड़कके बायीं तरफ रहती हैं, फ्रांसमें दाहिनी तरफ। शिष्टाचारकी बातोंका, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अनुभव या अभ्यास ऊँची श्रेणीके लोगोंके पास रहनेसे प्राप्त होता है।

इनके अतिरिक्त बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो साधारण बुद्धि, सहूर (शऊर) से सम्बन्ध रखती हैं, इसलिये देश और कालके अनुसार बदलती नहीं, तिसपर भी लोग इन बातोंपर ध्यान नहीं देते। ऐसी कुछ बातें आगे लिखी जाती हैं।

(१) अल्मारीसे कोई चीज निकालो तो उसका दरवाजा खुला न छोड़ दो।

(२) छड़ी, डंडा, छाता जहाँ उसके लिये स्थान हो वहाँ रखो या कोनेमें रखो।

(३) कपड़ा धूपमें इस प्रकार सुखाओ कि वह हवासे नीचे न गिर जाय। उसका कोना बाँध देनेसे न तो वह जमीनपर गिरेगा और न उसमें मिट्टी ही लगेगी।

(४) धोबीको कपड़े दो तो कोट, कमीज आदिकी जेब देख लो।

(५) टोपी पहनो तो देख लो कि आगेकी तरफ सिलाईका हिस्सा तो नहीं है।

(६) कुर्सी, चौकी आदि हटाना हो तो उठाकर हटाओ, खींचकर नहीं।

(७) खिड़कीसे बाहर कोई चीज न फेंको, फेंकना ही पड़े तो पहले नीचे देख लो।

(८) इक्केपर सम्हलकर या पैर उठाकर बैठना चाहिये।

ऐसी सवारीमें मत बैठो जिसमें रातके समय लम्प न हो।

(९) जब रेल स्टेशनपर खड़ी हो जाय तब उससे उतरना चाहिये या उसमें चढ़ना चाहिये। चलती रेलमें

बैठना या उससे उतरना खतरनाक है। जो लोग रेलसे उतरना चाहें, उन्हें पहले उतर लेने दो तब अंदर जाओ पर समयके अंदर ही उतरना और चढ़ना चाहिये।

(१०) रेलके स्टेशनपर समयसे कुछ पहले जाओ। हर एक कामको करनेके लिये निश्चित समयसे पहले तैयार रहो।

(११) हो सके तो रेलमें उस ओर मुँह करके मत बैठो जिधर इञ्जन हो।

(१२) रेलके कमरेमें जाकर या उसमेंसे निकलकर दरवाजा बंद करना मत भूल जाओ।

(१३) नावपर भी सावधानीसे बैठो। जब नाव किनारेसे हट जाय तब उसपर चढ़नेकी कोशिश मत करो।

(१४) शीशेकी चीज या तेल, दूध, पानी इत्यादिका बर्तन बीच रास्तेमें मत रखो। एक तरफ दीवारके पास कोनेमें या चौकी आदिके नीचे रखो।

(१५) दावात, शीशी, घी, दूधके बर्तन इत्यादि आले (ताक) पर या अल्मारीमें जरा पीछे हटाकर रखो।

(१६) ग्लास आदिमें पानी या दूध किसीको दो तो बर्तन थोड़ा खाली रखो, बिल्कुल मत भर दो।

(१७) चाकू (छुरी), काम हो जानेपर, खुला न छोड़ दो। दूसरेके हाथमें देना हो तो फलकी तरफसे न दो।

(१८) आलपीन (पिन) ऐसे खोंसो कि उसकी नोक कागजके बाहर न निकली रहे और किसीके हाथमें देना हो तो नोककी तरफसे न दो।

(१९) रास्तेमें छड़ी घुमाते न चलो। छाता या छड़ी इस तरह बगलके नीचे मत रक्खो कि दूसरेको लग जाय। उसको लटकाकर ही चलना अच्छा है।

(२०) रास्तेके बीचमें खड़े होकर बातचीत मत करो। रास्तेमें ठहरकर बात करना ही हो तो एक तरफ हट जाओ। रास्तेमें गुल्ली-डण्डा या गेंद खेलना ठीक नहीं।

(२१) सड़ककी एक तरफसे दूसरी तरफ तेजीसे जाओ पर दौड़कर नहीं। पहले दोनों तरफ देख लो कि कोई गाड़ी तो नहीं आती है। एक पटरीसे दूसरी पटरीपर सबसे नजदीकके रास्तेसे सीधे जाओ। सड़क जहाँ कम चौड़ी हो वहींसे उसकी दूसरी तरफ जाना चाहिये

(२२) गाड़ी, घोड़ा अपनी बायीं तरफ रहें। एक दूसरेसे आगे बढ़नेकी जिद्द न करें। जो गाड़ी आगे हो और किसी तरफ मुड़े उसको अपने पीछेकी गाड़ीवालेको इसका संकेत कर देना चाहिये।

दौड़ती गाड़ियोंकी दौड़ अच्छी नहीं। दौड़ती गाड़ीके पीछे नहीं दौड़ना चाहिये।

(२३) पैदल चलनेवाले अपने दाहिने चलें जिसमें सामनेसे आनेवाली गाड़ी दिखलायी दे। जहाँ सड़कके दोनों तरफ पटरी हो वहाँ अपनी बायीं तरफकी पटरीसे चलो।

(२४) नदी जहाँ छिछली हो और कम चौड़ी हो वहीं पार करना चाहिये।

(२५) नयी जगह पानीमें उतरनेसे पहले लकड़ी या डण्डेसे थाह ले लेना चाहिये। बिना तैरना जाने गहरे पानीमें नहीं जाना चाहिये। तैरना जाननेपर भी यह पता लगा लेना चाहिये कि पानीमें कोई खतरनाक जानवर तो नहीं रहता।

(२६) गाड़ीपर बच्चोंके साथ बैठो तो उनको बीचमें रखो।

(२७) ड्योढ़ी, दहलीज या दरवाजेपर खड़े होकर रास्ता और हवा मत रोको, उसके बाहर जूता उतारो तो उसको एक तरफ रखो।

(२८) मेले-तमाशेकी भीड़में दूसरेको रास्ता तुरंत देना चाहिये। पीछेका आदमी आगे हो जाय तो बुरा नहीं मानना चाहिये।

(२९) किसी दूकानपर सौदा खरीदने जाओ या टिकट-घरमें टिकट लेने जाओ तो वहाँ भीड़ न करो। एकके पीछे दूसरा आदमी खड़ा हो जाय तो एक दूसरेको धक्का न लगे और काम जल्दी हो जाय।

(३०) जिधर चलो, उधर देखो। पीछे देखना हो तो रुक जाओ।

(३१) किसी जगहसे जाने लगो तो देख लो कि कोई चीज रह तो नहीं गयी। उस जगहको साफ करके छोड़ना चाहिये।

(३२) कुर्सी आदि दीवारसे सटाकर मत रखो।

(३३) पानीकी कल खुली मत छोड़ दो। व्यर्थ पानी मत बहने दो।

(३४) बिना जरूरत बिजलीकी रोशनी खुली मत रखो।

(३५) दीवारपर लिखना अच्छा नहीं ।

(३६) चाकूसे टेबुल खोदना बुरा है ।

(३७) सफेद फर्शपर पैर पोंछकर जाना चाहिये । पैर पोंछनेके लिये लतखोरा रखना अच्छा है ।

(३८) चाकू, कलम, दावात, ताली, दियासलाई आदि ऐसी चीजोंके, जिनकी आवश्यकता सदा पड़ती रहती हो, रखनेकी जगह निश्चित होनी चाहिये । काम हो जानेपर इनको फिर वहीं रख दो । दियासलाई रखनेकी जगह इतनी ऊँची होनी चाहिये कि बच्चोंका हाथ वहाँतक न पहुँचे ।

चाकू और दियासलाईका प्रयोग छोटी उम्रमें बच्चोंको बतला देना चाहिये ।

(३९) किसीकी तरफ उँगली उठाकर मत दिखलाओ ।

(४०) खानेसे पहले पानी अपने पास रख लो ।

(४१) घाटपर नहाकर बाँह पहले पोंछो जिसमें छींटा दूसरेपर न पड़े ।

(४२) किसीसे सहमत न हो तो यह न कहो कि 'आप भूल करते हैं' या 'आपकी समझमें मेरी बात नहीं आयी', ऐसी चर्चा ही मत करो । आवश्यकता पड़े तो कहो 'मेरे शब्द शायद स्पष्ट नहीं थे' या 'मैं अपना मतलब नहीं समझा सका' इत्यादि ।

(४३) किसीके घर कामसे जाओ तो साधारण शिष्टाचार अर्थात् प्रणाम आदिके बाद मतलबकी बात करना शुरू कर दो और उतनी ही देर बैठो जितना आवश्यक हो । बिना मतलब किसीसे दफ्तर आदिमें मिलने जाना ठीक नहीं है । जो काम एक आदमीके जानेसे हो सके उसके लिये अपने साथ कई आदमी न ले जाओ । जहाँतक हो सके किसीके घर उसके विश्राम, भोजन आदिके समय न जाओ ।

(४४) जहाँ जाना मना हो, या जानेसे रोकनेके लिये तार या दीवार हो, वहाँ मत जाओ ।

(४५) मँगनीकी चीज मँगनी मत दो । उसके लौटानेमें ढिलाई मत करो । जिस कामके लिये चीज मँगनी माँगो उस कामके हो जानेपर उसको तुरंत लौटाओ । जिस अवस्थामें चीज मँगनी लाओ उसी अवस्थामें लौटाओ । खराब हो जाय, टूट जाय या खो जाय तो तुरंत बिना कहे नयी चीज ला दो । पेंसिल आदि छोटी चीजें भी मँगनी लो तो ऐसा ही करो । बहुत कीमती चीजें कभी मँगनी न लो ।

(४६) मेहमानके मेहमान मत बनो, किसीके यहाँ जबरदस्ती मेहमान मत बनो । 'मान न मान मैं तेरा मेहमान', यह ठीक नहीं है । जिसके मेहमान बनो उसके यहाँ भीड़ न ले जाओ और न ज्यादा दिनोंतक ठहरो । कोई मित्र यात्रामें मिल जाय तो उसके मेहमान मत बनो ।

(४७) किसी सज्जनकी गाड़ी, मोटर आदिपर कोचवान या ड्राइवरके कहनेसे मत बैठो । बिना मालिककी अनुमतिके किसीके गाड़ी-घोड़े आदिपर नहीं बैठना चाहिये ।

(४८) पैरका स्लिपर या चट्टी जमीनपर घसीटते हुए मत चलो । ऐसा जूता मत पहनो जिसमेंसे चरमरकी आवाज आवे ।

(४९) लिफाफा इस प्रकार बंद करो कि उसकी गोंद चिट्ठीमें न चिपके । लिफाफेपर टिकट सीधा लगाओ और दाहिनी तरफ या पीछे लगाओ ।

(५०) जलती हुई दियासलाई या कोयले आदिको बुझा लो तब फेंको । सड़कपर जलती हुई दियासलाई या कोयला देखो तो उसको बुझा दो । काम हो जानेपर बिना मतलब चूल्हेमें आग न छोड़ दो ।

(५१) पढ़ते हुए कहीं जाना हो तो किताब खुली न छोड़ जाओ । उसको बंद कर दो और निश्चित स्थानपर आदरसहित रख दो । किताबोंके पन्ने मोड़ना, उनका तकिया बनाना या उनको पैर तले रौंदना बुरा है । उनको स्कूल ले जाना हो तो बस्ते या बेगमें रखकर ले जाओ जिसमें हाथके पसीनेसे वे खराब न हों ।

(५२) अक्षर साफ लिखो । ऐसे अक्षर लिखना जो किसीसे पढ़े न जा सकें तारीफकी बात नहीं है ।

(५३) आपसमें बातचीत चिल्लाकर मत करो । इतने ही जोरसे बोलो कि दूसरा सुन ले ।

(५४) चिट्ठी आदि लिखकर एक बेर उसे फिरसे पढ़ लेना अच्छा है ।

(५५) घड़ीमें ठीक समय ताली दो ।

विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूतिका तत्त्व

(लेखक—'एक विद्वान्')

श्रुतियोंके रूपमें आविर्भूत होकर स्वयं भगवान् ही हमें अपने कर्तव्य, गन्तव्य एवं ज्ञातव्यका उपदेश करते हैं । यद्यपि भगवान्ने अपने निगूढ़ रहस्यका बोध करानेके लिये ही यह वाङ्मय रूप धारण किया है तथापि भगवत्स्वरूप होनेके कारण इसका रहस्य समझना, इसका अभिप्राय हृदयङ्गम कर लेना प्रत्येक प्राणीके लिये सरल नहीं है । सृष्टिके प्रारम्भमें ऐसा समय था, जब लोगोंकी भाषा ही वेदमयी थी । वे ब्रह्म (वेद) का अध्ययन करते, ब्रह्मका चिन्तन करते और ब्रह्ममें ही स्थित रहते । परन्तु प्रकृतिकी परिणामशीलताके कारण वह सत्त्वप्रधान स्थिति न रह सकी । धीरे-धीरे रज एवं तमकी वृद्धि होने लगी । अन्ततः अल्पबुद्धि, अल्पसाधन एवं अल्पायुके कारण लोग उसके अभिप्रायसे अनभिज्ञ होने लगे । उसके दुर्बोध एवं गम्भीर अर्थकी धारणा बहुत थोड़े लोगोंको होती, अधिकांश ऊपर-ऊपर उनके रटनेमें ही लगे रह जाते ।

भगवान् तो बड़े दयालु हैं । जब लोगोंको अपने लक्ष्यसे विमुख होते देखते हैं, तब कृपापरवश होकर कल्याणकी ओर अग्रसर होनेका कोई दूसरा उपाय करते हैं । इसीसे वे ऋषियोंको निमित्त बनाकर स्मृति-पुराणादिकोंके रूपमें अवतीर्ण हुए । इनके द्वारा वेदार्थका स्पष्टीकरण हुआ । ब्रह्मसूत्रोंके द्वारा श्रुतियोंके वास्तविक तात्पर्यका निर्णय हुआ । बहुत कुछ अपना लक्ष्य प्रकाशमें आ गया । परन्तु समयके फेरसे यह स्थिति भी अक्षुण्ण न रही । अनादिकालसे वासनाओंके अधीन रहते आनेके कारण वे जीव भी वासनापुञ्ज ही हो गये हैं । ये अपनी वासनाओंका आरोप ईश्वरतकपर करते हैं, फिर शास्त्रोंकी तो बात ही क्या है ? इन व्याख्याभूत स्मृति-पुराण-ब्रह्मसूत्रादिकोंके अर्थ भी अपनी वासनाओंके अनुसार किये जाने लगे और जहाँ जीवोंको इनके द्वारा स्वरूपसाक्षात्कार करना था, वहाँ वाद-विवाद ईर्ष्या-द्वेष आदिके चक्करमें पड़कर और भटकने लगे । बहिर्मुखताकी इतनी वृद्धि हुई कि लोग वेद और भगवान्को ही अस्वीकार करने लगे । जो लोग नाममात्रको उन्हें स्वीकार भी करते वे अपनी वासनाके अनुसार ही उनका अर्थ कर लेते और अपने विचारोंके समर्थनमें ही उनका उपयोग करते ।

अब उनके अभिप्राय एवं वास्तविक अर्थको समझनेके लिये एक व्यवस्था बनानी पड़ी । उनकी वर्णनशैलीको स्पष्ट करना पड़ा । उनके विधि, परिसंख्या और अर्थवाद आदिके गूढ़ संकेतको खोलकर जनताके सामने रखना पड़ा । इनका मनमाना अर्थ नहीं, केवल तर्कयुक्तियोंके बलपर इनसे कोई नया अर्थ निकालना ठीक नहीं और प्राचीन ढंगसे कही गयी बातका आधुनिक वाक्ययोजनाके अनुसार कल्पना करना उचित नहीं, यह बात बतायी गयी ।

वास्तवमें आजके हजारों वर्ष पूर्व किसी बातके कहनेका क्या ढंग था, इसे समझे बिना यदि बीसवीं शताब्दीके उत्प्रेक्षकोंकी भाँति उनका अर्थ कर लिया जाय तो अधिकांश स्थानपर हम वास्तविक अर्थसे वञ्चित ही रहें । यह कलियुगका जमाना है । सभी अपनेको विद्वान् मानते हैं । विद्वान्की तो बात ही क्या है ? आज अनेकों ऐसे हैं, जो अपनेको भगवत्प्राप्त ही नहीं, भगवान् बताते हैं । साथ-साथ यह बात भी है कि एक दूसरेको सत्पुरुष माननेको भी तैयार नहीं हैं । ऐसी स्थितिमें सब मनमाना अर्थ करने लगें तो सनातनधर्मकी व्यवस्थामें कितनी गड़बड़ी होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है ।

कई महात्मा वास्तवमें श्रद्धा करने योग्य हैं । परन्तु केवल इतनेसे ही वेदमन्त्रोंके सम्बन्धमें वे जो कुछ कहते हैं, ठीक ही हो, यह आवश्यक नहीं । उनका उद्देश्य ठीक है, वे बात सिद्धान्तानुकूल कहते हैं, उनके आचरणसे जीवोंका कल्याण होना भी निश्चित है, परन्तु यह बात अमुक मन्त्रसे निकलती है, यह कहना गलत हो सकता है । भगवत्प्राप्त पुरुष वेदोंका अक्षरार्थ कर दें यह आवश्यक नहीं । इसमें उनका

कोई महत्त्व भी नहीं। हाँ, उनकी बात अवश्य ही कल्याण-कारिणी होती है। वे प्राचीन शास्त्रोंकी व्याख्या करते समय यह ध्यानमें रखते हैं कि इसके कारण कहीं समाजमें कोई दुर्व्यवस्था तो नहीं आ जायगी।

नया अर्थ करनेमें सनातनधर्मकी दृष्टिसे यह एक बहुत बड़ी आपत्ति है। आज कालेजके विद्यार्थी और गीताके दो चार पारायण भी न करनेवाले अध्यापक शास्त्रोंकी मनमानी व्याख्या करते हैं और मीमांसापद्धतिकी बात छेड़नेपर सनातनधर्मके नेता या प्रचारकोंपर ही दोषारोपण करते हैं कि अमुक महात्माने तो परम्परागत व्याख्याका खण्डन करके एक अनोखी सूझ निकाली है। यह 'सूझ' बुरी नहीं, परन्तु चलना चाहिये उसे प्राचीनोंके अनुकूल होकर, प्रतिकूल होकर नहीं।

उदाहरणार्थ, हम यहाँ कुछ मन्त्रोंकी चर्चा करते हैं। शुक्ल यजुर्वेदकी वाजसनेयी संहिताका चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध है। यह मन्त्रसंहिताके अन्तर्गत होनेपर भी कर्ममें विनियुक्त न होनेके कारण नकाण्डके अन्तर्गत है, अतः इसमें ज्ञानकी ही मुख्यताका प्रतिपादन है। कर्म और उसके एक अवान्तर भेद उपासनाका बहुत कम, सो भी साधनाके रूपमें वर्णन आता है। इसमें कर्म-उपासनाकी अपेक्षा ज्ञानकी श्रेष्ठता और उन दोनोंकी सहकारिता एवं समुच्चयका वर्णन करनेके लिये सम्भूति-असम्भूतिका वर्णन आया है। मन्त्रसंहिताके अन्तर्गत होनेके कारण वेदके प्राचीन भाष्यकारोंने तो निरुक्तके अनुसार इसकी व्याख्या की ही है, अर्वाचीन आचार्योंने भी इसपर विस्तृत विवेचना की है। पहले हम उन मन्त्रोंके साथ शंकरावतार श्रीशंकराचार्यका भाष्य उद्धृत करते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः॥

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। सम्भवन अर्थात् उत्पन्न होनेका नाम सम्भूति है, वह जिसके कार्यका धर्म है उसे सम्भूति कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति अर्थात् प्रकृति—कारण अथवा अव्याकृत नामकी अविद्या है। उस असम्भूति-अव्याकृत नाम्नी प्रकृति—कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्याकी, जो कि कामना और कर्मकी बीज है, जो लोग उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। तथा जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्ममें रत हैं वे उससे भी गहरे—मानो अधिकतर अन्धकारमें—प्रवेश करते हैं। ई० उ० १२।

इसके बाद उन दोनों उपासनाओंके समुच्चयका कारण-रूप उन दोनोंके फलोंका भेद बताया गया है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्मकी उपासनासे प्राप्त होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप और ही फल बताया गया है तथा असम्भूति अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनासे और ही फल बताया गया है। जिसे पहले 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' आदिके द्वारा कह चुके हैं तथा पौराणिकलोग जिसे प्रकृतिलय कहते हैं। हमने बुद्धिमानोंसे यह बात सुनी है। क्योंकि उन्होंने हमें इन दोनों कार्य-कारण व्यक्त-अव्यक्तकी उपासनाका फल समझाया था। ई० उ० १३।

इस कारण सम्भूति और असम्भूति दोनों उपासनाओंका समुच्चय उचित ही है। और दोनोंका उद्देश्य एक ही पुरुषार्थ है इसलिये भी उनका समुच्चय उचित है। यही बात आगेके मन्त्रमें कही गयी है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

जो पुरुष असम्भूति और विनाश इन दोनोंकी उपासनाके समुच्चयको जान लेता है वह उस विनाशकी जिसके कार्यके धर्मका विनाश है और उस धर्मीसे अभेद होनेके कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है—उपासनासे अधर्म तथा कामना आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके—हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल ही मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके असम्भूति—अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पदसमूहमें प्रकृतिलयरूप फल बतानेवाली श्रुतिके अनुरोधसे अवर्णके लोपपूर्वक निर्देश हुआ समझना चाहिये। अर्थात् असम्भूतिको ही सम्भूति कहा है, ऐसा समझना चाहिये। ई० उ० १४।

इस प्रकार पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने सम्भूति-असम्भूति तत्त्वकी व्याख्या की है। इनके मतमें यहाँ कार्य-कारणकी उपासनाका फल और दोनोंके समुच्चयसे होनेवाले लाभका ही वर्णन है। दोनों पृथक्-पृथक् हानिकर हैं एवं समुच्चितरूपमें अमृतत्वकी ओर ले जानेवाली हैं। जबतक हमारे सामने संसार है तबतक इसके कार्यरूपपर ही मुग्ध होकर हमें कारण-रूपको नहीं भूल जाना चाहिये और उसी प्रकार कारण जगत्की ओर ही दृष्टि लगाकर कार्य जगत्को नहीं भूल जाना चाहिये। जबतक जगत् है तबतक आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सभी मण्डलों एवं उनके देवताओंकी उपासना एक-सी ही करनी चाहिये, किसीकी उपेक्षा एवं अनादर श्रेयस्कर नहीं है।

हाँ, एक बात है। यहाँ सम्भूति या असम्भूति दोनोंमेंसे किसी एक शब्दका अर्थ 'ईश्वर' है, यह बात आचार्यको अभिमत नहीं है। पहली बात तो यह कि सम्पूर्वक भू धातुका वाच्यार्थ ईश्वर प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि सम्भव आदि शब्दोंका अर्थ ईश्वर न होकर यथास्थान उत्पत्ति आदि ही होता है। किसी भी कोष, व्याकरण एवं आर्ष-ग्रन्थमें ईश्वरके अर्थमें सम्भूति शब्दका व्यवहार नहीं होता। उलटे सम्भावना आदि सन्दिग्ध अर्थोंमें इसका प्रयोग पाया जाता है। कार्य-ब्रह्मके अर्थमें इसके प्रयोगका एक वैदान्तिक कारण यह है कि इसकी स्थिति ही सन्दिग्ध है। हमारे कलुषित इन्द्रिय और मन ही इसकी स्थितिमें प्रमाण हैं और जबतक वे कलुषित हैं तबतक उनकी प्रामाणिकता सर्वथा माननीय नहीं कही जा सकती। और जब वे शुद्ध हो जाते हैं—शुद्धिकी पराकोटिपर पहुँच जाते हैं तब परमात्माके अतिरिक्त और किसी वस्तुको वे देखते नहीं, इसलिये इस अनेक विषयक 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' अन्तःकरणके द्वारा निश्चित कार्य जगत्को श्रुति सम्भूति शब्दके द्वारा 'सम्भव है' ऐसा कहती है।

जब हम इस सम्भूतिका मूलकारण ढूँढ़ने लगते हैं तब बुद्धिद्वारा एक असम्भूति तत्त्वका निश्चय करते हैं। असम्भूतिका अर्थ है—सम्भूतिरहित। अर्थात् कार्यरहित अथवा सम्भवन (उत्पत्ति) रहित। या यों कहिये कि विचारकालमें जिसकी सम्भावना ही नहीं है। परन्तु कारणका अन्वेषण करनेवालोंके सन्तोषके लिये जिसे असम्भूति कह देते हैं। इस कार्यको देखकर अनुमान करते हुए हम कारणतक पहुँचते हैं और वहाँ पहुँचनेपर हमें कार्य उपलब्ध होता ही नहीं। अतः कार्यके न उपलब्ध होनेपर उस कारणकी कार्यसापेक्ष कारणता निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार कार्यकारणभावकी निवृत्ति हो जानेपर केवल उभयनिरपेक्ष तत्त्व ही रह जाता है। वहाँ पहुँचना ही अमृतत्वकी उपलब्धिका मूल स्रोत है, अतः श्रुति माता उसे असम्भूति कहकर अपने अबोध बच्चोंको समझाती हैं।

सम्भूति शब्दका ईश्वर अर्थ न होनेका एक और कारण है। वह यह कि ईश्वरमें रत होनेका फल घोरतम अन्धतमकी प्राप्ति किसी दशामें हो नहीं सकती। श्रुतिमें आता है जो सम्भूतिमें रत हैं उन्हें घोरतम अन्धन्तमकी प्राप्ति होती है। जिनके मतमें सम्भूतिका अर्थ ईश्वर है, वे रतके अर्थमें कितनी क्लिष्ट कल्पना करते हैं, इसका वे स्वयं अनुभव करते होंगे। चाहे जो हो, कोई भी आस्तिक—असम्भूति या और सब कुछ छोड़कर ईश्वरमें रत होनेको नरकप्राप्तिका हेतु मान नहीं सकता। हम चाहे जिस रूपमें ईश्वरमें रत हों, कभी हमारी हानि हो नहीं सकती।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

एक बात और विचारणीय है। चाहे दोनोंको उपासना न माना जाय परन्तु 'उपासना' की अपेक्षा 'रति' की श्रेष्ठता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इसमें अभिमान आदिकी कल्पनाके लिये कहीं स्थान नहीं है। यही कारण है कि उपासनाका फल घोर 'तम' है तो रतिका फल घोरतम 'तम' है। यहाँ ईश्वरको अनवसर जोड़ देनेपर 'रति' शब्दके साथ घोर अन्याय करना पड़ता है। इसीसे श्रीशंकराचार्य यहाँ ईश्वरोपासनाका प्रसंग लाये ही नहीं। प्रकृतिकी उपासना अथवा रति एकाङ्गीय न हो सर्वाङ्गीण हो तो मनुष्य क्रमशः अन्तर्मुख होकर अमृतत्वका उपभोग करता है—यही बात इसमें बतायी गयी है। हाँ, अधिकार-भेदके कारण अमृतत्व भी विभिन्न प्रकारका हुआ करता है।

यह प्रकृतिकी उपासनाका समुच्चय है—अतः अमृतत्वका भी आचार्यने दूसरा ही रूप बताया है। इसीसे यहाँ समुच्चित ज्ञान भी आत्मज्ञान नहीं, उपासनाका ज्ञान है।

आचार्य शंकर आस्तिकशिरोमणि हैं। उनका ज्ञान, उनकी भक्ति और उनका योग सभी पूर्ण हैं। उन्हें कहीं भक्तिकी बात मिले और वे उसका अपलाप कर दें ऐसा कदापि सम्भव नहीं। हाँ, वे जो कुछ कहते हैं—वह प्रसङ्ग, प्रकरण और मीमांसापद्धतिके साथ कहते हैं। हृदयमें भक्तिनिष्ठा होनेपर भी ज्ञानके प्रसंगमें उसे नहीं कहते और ज्ञाननिष्ठ होनेपर भी भक्तिके प्रसंगमें उसे नहीं कहने लगते। यथावसर सभी कहते हैं, यहाँ उन्हें ईश्वरका प्रसंग नहीं जान पड़ा, नहीं कहा। नहीं तो भला प्रसंग आनेपर वे कब छोड़नेवाले हैं।

इसी प्रकार इनके पूर्वके मन्त्रोंमें अविद्याकी उपासना और विद्याकी रतिसे क्रमशः घोर एवं घोरतम अन्धन्तमकी प्राप्ति कही है। यहाँ विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या होनेपर उसकी रतिसे अकल्याणकी सम्भावना ही नहीं है। और विद्या-अविद्या दोनोंको जाननेकी बात कही जानेके कारण ब्रह्मविद्यासे भी बढ़कर किसी विद्याकी प्राप्ति होती है। परन्तु इस विद्यासे बढ़कर कोई विद्या है नहीं। इसीमें सबकी समाप्ति है। अतः इसमें रत होनेका फल यहाँ नहीं बताया गया है। श्रीशंकराचार्यके मतमें यहाँ विद्या शब्दका अर्थ है देवताविद्या। इसमें 'रत' हो जानेपर वास्तविक कल्याणसे वञ्चित रह जाना पड़ता है। इतना ही नहीं घोरतम अन्धन्तममें बुद्धिपूर्वक फँस जानेके कारण उद्धार ही असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु जिसने अविद्या अर्थात् केवल कर्मको उपासना की, देवताविद्याका ज्ञान नहीं प्राप्त किया, वह केवल अविद्यामें लगा हुआ होनेके कारण घोर अन्धकारको प्राप्त होता है और जो केवल देवताविद्यामें ही रत है, कर्म नहीं करता, वह और भी घोरतम अन्धकारको प्राप्त होता है। और जो दोनोंको जानकर एक साथ दोनोंकी उपासना करते हैं वे अविद्या अर्थात् कर्मके द्वारा मृत्युका अतिक्रमण करके विद्यामें रति होनेके कारण अमृतत्व अर्थात् देवात्मभावको प्राप्त होते हैं।

यहाँ भी विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या करनेपर सम्भूति शब्दकी ही भाँति उसमें रत होनेवालोंकी हानिकी बात किसी प्रकार नहीं घटती और रतके अर्थमें क्लिष्ट कल्पना करके ही ब्रह्मविद्याकी संगति लगायी जाती है, जो वास्तवमें असंगत ही है। अद्वैतसिद्धान्तमें कर्म और ब्रह्मविद्याका समुच्चय नहीं, समन्वय माना गया है। जिस विद्याके साथ कर्म लगा हुआ है—वह ब्रह्मविद्या ही नहीं है। क्योंकि कर्म और विद्या दोनों विरोधी हैं और कर्म अविद्याका अविरोधी होनेके कारण उसकी निवृत्ति भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद्के मन्त्र ९ से ११ तक कर्म और उपासनाका, एवं १२ से १४ तक व्यक्त-अव्यक्त अथवा कार्य-कारणकी उपासनाका समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मीमांसापद्धति एवं प्राचीन भाष्योंके अनुकूल यही अर्थ अद्वैतियोंको सम्मत है। जिन्हें वेदमन्त्रों, उपनिषदों, आर्ष शास्त्रोंपर भाष्य लिखना हो वे ध्यानपूर्वक पूर्वाचार्योंकी बातपर विचार कर लें, उन्हें समझ लें और न समझ सकें तो किसी विरक्त एवं विद्वान् महात्माके चरणोंकी शरण लेकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उसे समझनेकी चेष्टा करें।

आजकलके केवल पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त सज्जनोंकी स्वाभाविक ही मनमानी और स्वबुद्ध्युत्प्रेक्षित कल्पनाओंको देखकर बड़ा भय होता है कि अब शास्त्रोंकी रक्षा कैसे होगी। भगवान् तो रक्षक हैं ही, परन्तु जो लोग धर्मकी सेवा और शास्त्रकी रक्षा करना चाहते हैं उनको भी कोई बात लिखनी या कहनी हो तो यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसके द्वारा हमारे प्राचीन आचार्योंके खण्डनकी प्रवृत्ति कहीं बढ़ न जाय।

अन्तमें अपनी इस अनधिकार चेष्टाके लिये उदारचेता महात्माओंसे बिना माँगे ही क्षमा प्राप्त हो जानेकी आशासे इस प्रसंगको समाप्त किया जाता है।

उसकी व्यापकता

अब मैंने उसे है जान लिया, वह राम भी है, रहमान भी है।
हिन्दू भी वही, मुस्लिम भी वही, वह वेद भी है, कुरआन भी है ॥
मन्दिरमें वही, मस्जिदमें वही, जप-तप भी, नमाज़ अज़ान भी है।
स्वामी भी वही, सेवक भी वही, है मालिके-घर, मिहमान भी है ॥
वह बाँकी अदा, स्वर्गीय छटा, औ रखता निराली शान भी है।
वह माहजबीं माशूक़ भी है, औ आशिक़े ख़स्ता जान भी है ॥
दिल भी है वही, दिलदार वही, औ दिलका वही अरमान भी है।
दुख दर्द वही, दारू है वही, वह जिस्म भी है, वह जान भी है ॥
ऋतुराज वसंत है, फूल भी है, कलियोंकी वही मुसकान भी है।
वह ही है गुलोबुलबुलकी लगन, वह भौंरका भृंगी गान भी है ॥
बस्ती है वही, वीरान वही, खँडहर भी, पुष्पोद्यान भी है।
पपिहाकी वो है पिव पिवकी रटन, कोयलकी सुरीली तान भी है ॥
सबसे है छिपा, सबमें है प्रकट, प्रत्यक्ष भी, अन्तर्धान भी है।
सबमें है मिला, सबसे है अलग, बाहर, भीतर, दर्म्यान भी है ॥
सबका है पिता, पर प्रेमविवश बन जाता सहज सन्तान भी है।
वह रघुनंदन सियप्रान भी है, श्रीकृष्णचन्द्र भगवान भी है ॥
हाकिम भी वही, महकूम वही, रैयत भी वही, सुलतान भी है।
ज़ालिममें वही, मज़लूम वही, ज़ुल्मोंका वही अवसान भी है ॥
पर्वत भी वही, सागर भी वही, पृथ्वी भी वही, असमान भी है।
बादलकी कड़क, बिजलीकी चमक, वर्षा, आँधी, तूफ़ान भी है ॥
निर्धन भी वही, धनवान वही, बलहीन भी है बलवान भी है।
बन्दी भी वही, आज़ाद वही, भारत भी, इंग्लिस्तान भी है ॥
वह क्या क्या है, क्या क्या है नहीं, यह रखता वही बस ज्ञान भी है।
जो कुछ है कहीं, सब कुछ है वही, वह प्रकृति भी, पुरुष महान भी है ॥
हर रंगमें है, हर रूपमें है, हर ठौर भी है, हर आन भी है।
मिल जाय मगर इस 'मुग्ध' से वह, मुश्किल भी य है, आसान भी है ॥

—'मुग्ध'

भगवत्-कृपा

सच्ची घटना

(लेखक—'गुप्त')

अभी उस रोज (२९-५-३७) की घटना है। मैं एक ताँगेपर, जिसमें एक अच्छा घोड़ा जुता था, सवार था। यकायक घोड़ा जोरोंसे भड़का। आव देखा न ताव, वह एकदम हवासे बातें करने लगा और ताँगा लेकर भागा। ताँगेपर मैं, कोचवान और एक साईस तीन आदमी थे।

घोड़ा इतने जोरोंसे दौड़ा कि दो-दो आदमियोंके रास खींचनेपर भी जरा भी न रुका। अचानक उसकी एक रास (लगाम) भी टूट गयी और वह काबूसे बाहर हो गया। थोड़ी दूर जाकर घोड़ा एक मकानकी दीवालसे टकरा गया। टक्कर इतने जोरसे लगी कि उसके फलस्वरूप घोड़ेका मुँह, नाक, गला और चेहरा आदि घायल हो गया। ताँगेके बम आदि टूट गये। कोचवान एक तरफ लुढ़क गया, साईस नालीमें गिर पड़ा और मैं ऊपरकी ओर फेंका गया और सिरके बल पक्की सड़कपर वृक्षसे टूटे हुए फलकी नाईं आ पड़ा। दर्शकोंने समझा कि हम लोगोंको अस्पताल या मृत्युका ही मुँह देखना पड़ेगा। पर—

जाको राखै साइयाँ, मारि न सकिहैं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

—के अनुसार हम लोग बहुत थोड़ी-थोड़ी चोट खाकर बाल-बाल बच गये।

जब ताँगेको लेकर घोड़ा भागा और टक्कर खा गया तो मैंने सोचा कि 'हे भगवन्! तुम्हारी क्या इच्छा है। अब तो यह भँवरमें पड़ी नौका तुम्हारे ही बचाये बच सकती है।' जब मैं टक्कर खाकर सिरके बल सड़कपर गिर रहा था, मुझे अनुभव हुआ कि मानो किसीने मेरे सिरके नीचे कोई ऐसी मुलायम चीज रख दी जिससे मेरे सिरके थोड़े बाल तो रगड़से उखड़ गये पर न तो लहू बहा और न कहीं चोट ही आयी। दर्शकोंको आश्चर्य हुआ कि मैं इतने जोरोंसे गिरा और मुझे कुछ भी चोट न आयी। मैंने हँसते हुए उस दयालु पिताको धन्यवाद दिया और समझ गया कि यह तो उसीका हाथ था जिसने मुझे बचा लिया। इससे बढ़कर उसकी दयाका और क्या प्रमाण हो सकता है?

ठीक इसी प्रकारकी घटना पिछले साल भी हुई थी। टमटमका घोड़ा भड़का और पास ही एक गड्हेकी ओर, जिसमें बरसाती पानी भरा था और जो काफी गहरा था, चला। मैं कोई भी सहारा न देख आँखें बंदकर उस प्रभुका स्मरण करने लगा और जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने अपनेको घुटनेभर जलमें खड़ा पाया। मेरे वस्त्र ज्यों-के-त्यों थे, जरा भी भीगे नहीं थे। जलसे बाहर आया और मैंने देखा कि केवल एक जगह कुछ छिल गया है। प्रभु! तुम धन्य हो!! जब-जब भक्तोंपर भीर पड़ी है तुमने नंगे पैर आकर उनकी रक्षा की है। मुझमें तो न विद्या है, न बल है और न तुम्हारी भक्तिका लेश ही है पर तुम तो बुराई करनेवालेकी भी भलाई ही करते हो। मुझ दीन-हीनपर तुम्हारी ऐसी अत्यन्त दयालुता इस बातका प्रमाण है। नाथ! इस दीनपर सदा दया बनी रहे, यही करबद्ध प्रार्थना है।

पञ्च-सकार

[गतांकसे आगे]

सरलता

आजके जगत्में ज्यों-ज्यों इस जडपूजापरायण नवीन सभ्यताका प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों मनुष्योंके जीवनमें कपट और दम्भ भी बढ़ रहे हैं । ऊपरसे सुन्दर-सुहावने बने रहना—अंदर चाहे जितनी बुराइयाँ भरी रहें । 'मन मैला तन ऊजला' यह आजकी सभ्यताकी एक नीति है । सरल मनका सीधा-सादा व्यवहार आजकल मूर्खता माना जाता है । इसीलिये आजकलका पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने सरलहृदय पिताको मूर्ख कहकर उसका अपमान कर सकता है । यद्यपि ऐसी घटनाएँ हमारी सभ्यताके प्रभावसे बहुत कम होती हैं, परन्तु इनका आरम्भ हो गया है; यह तो मानना ही पड़ेगा । सरलता शुद्ध हृदयका सुन्दर संकेत है । सरल हृदय ही पवित्र होता है । जो मनुष्य सरलहृदय है, वह अपने पापको प्रकाश करनेमें नहीं हिचकता । हँसी होनेकी कल्पना उसे सत्यसे नहीं डिगा सकती । वह अपनी बुराइयोंको कपटकी चादरतले छिपाना नहीं जानता । जगत्को धोखा देकर मिथ्या मान अर्जन करनेकी कलासे वह अनभिज्ञ होता है । ऐसे मनुष्य जगत्के झूठे मान-यशसे और पूजा-प्रतिष्ठासे भले ही वञ्चित रह जायँ परन्तु उनके हृदयमें पापका प्रवेश सहज ही नहीं हो सकता । आजकलके लोग जो सरलताको मूर्खताका पर्याय बतलाते हैं, यह उनकी नासमझी है । सरलता मूर्खता नहीं, वह अन्तःकरणकी पवित्रताका मूर्तरूप है । सरलताके साथ सात्त्विक शुद्ध बुद्धिका सर्वथा सामञ्जस्य है । इसीलिये महान् दार्शनिक महापुरुषोंके जीवनमें—जिनके एक-एक शब्दको समझनेमें बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमानोंकी बुद्धि चक्कर खा जाती है और जिसे तत्त्वतः समझनेके लिये साधना करनी पड़ती है—छोटे बच्चोंकी-सी शुद्ध सरलता देखी जाती है । वे बड़ी-से-बड़ी विकट शंकाओंका समाधान कर सकते हैं—दर्शनोंकी विचित्र गुत्थियोंको सहज ही सुलझा सकते हैं । परन्तु छल करके एक बातको दूसरे रूपमें कहना नहीं जानते । व्यवहारमें कपट करना उन्हें नहीं आता । यह सरलता पवित्र ऋषित्वका एक प्रधान लक्षण है । सरलता भगवान्की प्रीति-साधनका एक अमोघ साधन है । अन्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् छलछिद्रभरे हृदयवालोंके पास भी नहीं फटकते, चाहे वे कितनी ही सुन्दर शब्दरचना करके उनकी स्तुति करते हों और कितनी ही बहुमूल्य सामग्रियोंसे उनकी पूजा करना चाहते हों । उन्हें तो सरल हृदयके भक्तजन ही प्यारे होते हैं । सरलतामें ही श्रद्धा टिकती है, कूटनीतिका पोषक सूखा बुद्धिवाद तो श्रद्धाका शत्रु है । और जहाँ श्रद्धा नष्ट हो जाती है, वहाँ मनुष्यके सारे कर्म व्यर्थ होते हैं । भगवान् कहते हैं—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
>
> (गीता १७ । २८)

'हे पार्थ ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप या जो कुछ भी कर्म है वह असत् कहलाता है; वह इस लोक और परलोकमें कुछ भी लाभदायक नहीं होता ।' और श्रद्धासे अर्पण किया हुआ एक साधारण फूल, जपा हुआ एक ही भगवान्का नाम, दिया हुआ थोड़ा-सा दाना भी महान् फल उत्पन्न करता है । जहाँ कपटतापूर्ण बुद्धि-कौशल सरलताका तिरस्कार करता है, वहाँ श्रद्धा नहीं ठहर सकती और अश्रद्धालु पुरुष सब कुछ करके भी उसके लाभसे वञ्चित ही रह जाता है ।

सरलहृदय मनुष्य बुद्धिके अभिमानी पुरुषोंकी दृष्टिमें कभी-कभी ठगा जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह ठगाकर भी कुछ नहीं ठगाता । परम न्यायकारी और दयालु परमेश्वरके राज्यमें ठगनेवाला ही ठगाता है । ठगानेवाला तो सदा लाभमें ही रहता है । सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने उस सरलहृदय भक्तके योगक्षेमको बहुत सुन्दर रूपसे वहन करते हैं । इसलिये वह सब कुछ खोकर भी बदलेमें ऐसी अनुपम वस्तु पाता है जिसकी तुलना संसारके किसी भी महान्-से-महान् पदार्थसे हो ही नहीं सकती ।

भगवान्‌ने गीतामें सरलताको आर्जवके नामसे दैवी सम्पदाका एक प्रधान गुण बतलाया है। सरलता तन-मन-वचन तीनोंमें होनी चाहिये। शरीरसे अकड़कर न चले—अकड़कर चलना, टेढ़ा चलना अभिमानादिका परिणाम है। मनमें कोई कपट और कुटिलता न रक्खे। वाणीमें छल-छिपाव न हो। चेहरेपर भी ऐसी मधुर सरलता हो जो सबके हृदयको हर सके। शिशुओंके सरल मुख और उनकी सरल हँसीको देखकर कितना मन मुग्ध होता है। उनकी विपरीत चेष्टा भी सरलताके आधारपर होनेके कारण किसीको अप्रीतिकर नहीं होती। इसी प्रकार सरल हृदय, सरल वचन और सरल शरीरवाला पुरुष भी सबको सुखदायी होता है, वह अभिमानी नहीं होता और भगवान्‌को तो बहुत ही प्यारा होता है।

सत्य

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २। १६)

'जो असत् है वह कभी है ही नहीं, और जो सत् है वह सदा ही है।'

जो सब समय, सब जगह, नित्य अखण्ड अबाधित-रूपसे स्थित है, जो सदा एकरस और सम है, जिसके प्रकाशसे ही सारा जगत् प्रकाशित, जिसके प्राणसे समस्त ब्रह्माण्ड अनुप्राणित, जिसकी सत्तासे सब चराचर सत्तावान् और जिसके प्रमाणसे सब प्रमाणित है वही सत्य तत्त्व है। इस सत्यमें स्थित पुरुष ही सच्चे संत हैं, और इस सत्यकी प्राप्तिके लिये प्राणपनसे प्रयत्न करनेवाले पुरुष ही सच्चे साधक हैं। क्योंकि वस्तुतः इस सत्यसे अनुस्यूत कर्म ही सत्कर्म हैं, इस सत्यसे पुनीत हुई वाणी ही सत्-शास्त्र है, इस सत्यसे समाहित आचार ही सदाचार है, इस सत्यसे समन्वित धर्म ही सद्धर्म है, इस सत्यसे विकसित विवेक ही आत्मप्रकाश है, इस सत्यसे पूर्ण जीवन ही दिव्य जीवन है और इस सत्यसे समुदित सुख ही परम सुख है।

यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो यत्तमस्तद्-दुःखमिति॥

(महाभारत)

'जो सत्य है वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है, और जो प्रकाश है वही सुख है। जो असत्य है वही अधर्म है, जो अधर्म है वही तम (अन्धकार) है, और जो अन्धकार है वही दुःख है।'

सत्य ही नित्य, विभु, सनातन और अमृत तत्त्व है। इन लक्षणोंवाला सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सत्य है। इस सत्यस्वरूप परमात्माकी या परमात्मारूप सत्यकी प्राप्ति सत्यके द्वारा ही सत्यकी सेवा करनेसे होती है। सत्यकी शक्तिसे सत्यको पवित्र बनाकर सत्यको लक्ष्य करके ही सब समय सत्यका प्रयोग करना चाहिये, यही सत्यके द्वारा सत्यकी सेवा है।

सर्वत्र व्याप्त सत्यको हम सत्यकी आँखोंसे ही देख सकते हैं, सत्यके कानोंसे ही हम उस सत्यकी सत्य मुरली-ध्वनिको सुन सकते हैं, और सत्यके द्वारा ही हम उस सत्यका सतत स्पर्श पा सकते हैं। इसलिये हमें अपने मन-बुद्धिको, प्रत्येक आन्तर और बहिरिन्द्रियको, तमाम शरीरको इसी सत्यकी शोधमें—सत्यकी सेवामें ही लगा देना चाहिये।

हमारे जीवनका लक्ष्य सत्य ही रहे। सत्य भगवान्‌का नाम है, अतएव भगवान् ही हमारे एकमात्र ध्येय हों। भगवान्‌के बिना और यदि कुछ है तो वह सर्वथा असत् है, है ही नहीं। जो है ही नहीं, उसको लक्ष्य बनानेसे व्यर्थताके सिवा और क्या हाथ लग सकता है? हाँ, बार-बार असफलता और निराशाके कारण दुःख ज़रूर मिलेगा। इसीलिये भगवान्‌ने अपनेसे विरहित, अनित्य विषयोंसे भरे इस अनित्य संसारको और संसारमें होनेवाले अनित्य जन्मको असुख (सुखरहित) या दुःखालय (दुःखपूर्ण) बतलाया है। इसलिये जो मनुष्य अनित्य और असत्य विषयोंको सत्-सुखके साधन समझकर नित्य सत्यस्वरूप भगवान्‌को भूलकर विषय-साधन और विषय-सेवनमें ही लगे रहते हैं वे प्रतिक्षण व्यर्थतारूप भवसागरमें पड़े हुए एक दुःखसे दूसरे दुःखकी भीषण तरंगोंसे टकराते रहते हैं और बड़ी ही बुरी तरहसे और बेबसीके साथ दुःख-समुद्रमें डूब जाते हैं। इन सब बातोंको समझकर बुद्धिमान् पुरुष सत्यस्वरूप परमात्मामें ही परम सुख समझकर उन्हींको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाते हैं।

यद्यपि मनुष्यका लक्ष्य सुनिश्चित और सुस्थिर हो जानेपर लक्ष्यतक पहुँचनेके मार्गमें उससे सहज ही भूल नहीं होती। क्योंकि लक्ष्यकी नित्य स्मृति रहनेसे वह स्वाभाविक ही बार-बार इस बातकी जाँच करता रहता है कि मैं ठीक मार्गपर हूँ या नहीं; और जरा भी कहीं विपरीत या विकट मार्ग दीखता है वहीं वह सावधानीके साथ विपरीत मार्गको त्याग देता है और विकट मार्गमें अपनेको सुरक्षित बनाकर आगे बढ़ता है।

परन्तु यह तो सुदृढ़ लक्ष्यपर स्थित होकर जो मार्गपर चलने लगे हैं उनकी बात है। जिन्होंने मार्गपर चलना आरम्भ नहीं किया है या जो बहुत कम आगे बढ़े हैं उन लोगोंके लिये तो बड़ी सावधानीके साथ लक्ष्यकी रक्षा करते हुए सत्यपूत विहित मार्गपर चलनेकी आवश्यकता है। मनुष्य कहीं जानेका निश्चय करता है, और चल भी देता है, परन्तु रास्तेमें साथियोंसे बातोंमें लगकर लक्ष्य भूल जाता है, फलतः राह भटक जाता है। खेल-तमाशामें या अन्य बातोंमें लगकर भी पथिक लक्ष्यसे भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार साधन-जगत्में भी लक्ष्यभ्रष्ट होना बड़ी बात नहीं है। ऐसी अवस्थामें सावधानीके साथ लक्ष्य और मार्गपर सदा सतर्कदृष्टि रखते हुए ही आगे बढ़ना चाहिये। यह सावधानी सभी क्षेत्रोंमें और सभी ओरसे सर्वदा रहनी चाहिये। सत्यसे पूर्ण विचार, भाव, कर्म, वचन और साधन-भजन, सभीके द्वारा सत्यका सदा सेवन करना चाहिये।

सद्विचारोंके द्वारा सत्यका सेवन

जगत्का रचनेवाला ईश्वर कोई नहीं है, यह संसार ईश्वरीय सत्यसे रहित है, केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही पैदा होता है। इस जगत्में पैदा होकर बस, सब प्रकारसे मौज-शौक ही करनी चाहिये। शरीरका आराम, भाँति-भाँतिके इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले भोग, सर्वत्र फैली हुई नाम-कीर्ति, यही सब तो यहाँका आनन्द है। 'शरीरमें भरपूर शक्ति रहे—सब लोग हमारा रोब मानें, भोगोंके भोगनेमें हम कभी अशक्त न हों, इसके लिये पौष्टिक भोजन तथा शक्तिवर्धक ओषधियाँ सेवन करनी पड़ें तो कोई हर्ज नहीं। हमारे सुखके लिये ही हमें ध्यान देना है, इसमें दूसरोंकी क्या गति होगी, इसकी हमें क्यों परवा होनी चाहिये। ये सब लोग तो हमारी सेवाके लिये ही बने हैं। हमारा अधिकार और हमारी हुकूमत बढ़ती रहे, हम देशके राजा, नेता, पथप्रदर्शक और सबके पूज्य, गुरु और सबके आराध्य हों। जिससे हम खूब आरामसे रहें। सभी लोग हमारे आरामकी माँगोंको बिना ही माँगे पूरी करनेको तैयार रहें। हमारी बराबरी करनेवाला कोई न हो, हम चाहे जिसे मारें-छोड़ें। सब शत्रु हमसे डर जायँ, सब हमारे अधीन हो जायँ। बस, जगत्में केवल हमारा ही झंडा फहराये। हम ही सुखी हों, शक्तिमान् हों, स्वामी हों, धनी हों, भोगी हों और सफलजीवन हों, शेष सब हमसे नीचे रहें।' इत्यादि। ये सब असत्-विचार हैं। इन विचारोंके द्वारा असत्यका ही ग्रहण होता है और उसका परिणाम महान् विपत्ति, घोर यन्त्रणा, भीषण व्याधि तथा नीच और नारकी योनिकी प्राप्ति होती है। इन सब असत्-विचारोंको बलपूर्वक त्यागकर बदलेमें निम्नलिखित सद्विचारोंकी उत्पत्ति और पुष्टि करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

१ ईश्वर हैं; और वे एक, अनन्त, असीम, अचल, अखण्ड, अज, अविनाशी, नित्य, सत्य, सनातन, सम, विज्ञानानन्दघन, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वरूप, सर्वतश्चक्षु, सर्वनियन्ता, सच्चिदानन्द और पूर्ण हैं। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; साकार भी हैं, निराकार भी हैं। और इन सबसे परे भी हैं। वे अनिर्वचनीय हैं, अचिन्त्य हैं। तथापि भक्तवत्सल हैं, हमारे परम सुहृद् हैं, सब जीवोंके कल्याणकर्ता हैं; पुकारनेसे ही प्रकट हो जाते हैं और हमें दुःखोंसे छुड़ाकर अनन्त सुखधाममें पहुँचा देते हैं।

२ उन्हींकी शक्ति—प्रकृति उन्हींकी अध्यक्षतामें जगत्की रचना करती है। उन्हींकी शक्तिसे जगत्का भरण-पोषण, नियन्त्रण और संहरण होता है।

३ यह सारा विश्व उन परमात्मासे ही निकला है, उन्हींसे बना है, वही इस समस्त चराचरात्मक विश्वमें व्याप्त हैं। और यह सभी केवल उन्हींमें स्थिर है।

४ आराम, विलासिता, भोग, नाम-यश, स्त्री-पुत्र, राजत्व-नेतृत्व, गुरुत्व-पूज्यत्व आदिकी प्राप्ति इस मानव-जीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है।

५ सबको सुख पहुँचाते हुए, सबका मङ्गल चाहते हुए, सबका कल्याण करते हुए, सबके आराम तथा हितके

नित्य साधन बनकर तन, मन, धन, पदार्थ आदि सभी सामग्रियोंसे सर्वगत परमात्माकी पूजा करके उन्हें प्राप्त करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य या ध्येय है।

यही सद्विचार हैं—सत्य विचार हैं। ऐसे विचारोंके उदय, पोषण, विस्तार और प्रचारके लिये स्वाध्याय, सत्संग तथा आचरणके द्वारा नित्य श्रद्धापूर्वक इनका पठन, श्रवण, मनन और सम्पादन करना ही सद्विचारोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है।

सद्भावोंके द्वारा सत्यका सेवन

राग, भय, मान, अभिमान, निर्दयता, कठोरता, आसक्ति, कामना, ममता, अहङ्कार, मोह, द्वेष, वैर, स्वार्थ, विषमता, कृपणता, चञ्चलता, विषाद, शोक, अश्रद्धा, असूया, काम, क्रोध, लोभ, उग्रता, अशुचिता आदि भाव असत् या असत्य हैं। इनके उत्पादन, पोषण और सेवनसे असत्यकी वृद्धि और असत्यमें स्थिति होती है। इनके बदलेमें—

(१) वैराग्य (इहलोक और परलोकके देखे-सुने हुए तथा देखे-सुने जानेयोग्य सभी भोगोंसे चित्तका हट जाना।)

(२) निर्भयता (सर्वत्र भगवान्‌को और भगवान्‌के विधानको देखकर निर्भय रहना।)

(३) निर्मानता (सारे जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपनेको उनका तुच्छ सेवक जानकर मान-रहित रहना।)

(४) निरभिमानता (धन, जन, स्वास्थ्य, विद्या, रूप, बुद्धि आदि सब भगवान्‌के दिये हुए हैं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही हैं, यह समझकर निरभिमान रहना।)

(५) दया (अपने-परायेके भेदको भूलकर किसी भी दुखी जीवको देख-सुनकर उसके दुःखसे चित्तका पिघल जाना और उसके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना।)

(६) कोमलता (मन-वाणीमें नम्रता होना।)

(७) अनासक्ति (किसी भी वस्तु या कर्ममें मनका न फँसना।)

(८) निष्काम भाव (किसी भी वस्तुकी कामना न होना।)

(९) निर्ममता (भगवान्‌को छोड़कर किसी भी वस्तुमें मेरापन न रहना।)

(१०) निरहंकारता (शरीरमें 'मैंपन' का सर्वथा अभाव।)

(११) विवेक (नित्य-अनित्य, कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करनेवाली बुद्धि।)

(१२) प्रेम (सब जीवोंसे स्वार्थरहित प्रेम करना।)

(१३) मित्रता (सब जीवोंके प्रति मित्रभाव रखना।)

(१४) त्याग (दूसरोंके सुख और हितके लिये परमात्माके प्रीत्यर्थ समस्त भोगोंका तथा स्वार्थोंका त्याग।)

(१५) समता (शोक-हर्ष, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सिद्धि-असिद्धि आदिमें समचित्त रहना तथा सर्वजीवोंमें आत्मदृष्टिसे समरूपसे स्थित भगवान्‌को देखना।)

(१६) उदारता (अपने पास जो कुछ भी हो उसे दूसरोंके कामके लिये देनेमें चित्तका परम प्रसन्न होना।)

(१७) शान्ति (चित्तका सदा परमात्माके ध्यान या चिन्तनमें स्थिर रहना।)

(१८) सुख (सदा सब अवस्थाओंमें परमात्माको देखकर सुखी रहना।)

(१९) आनन्द (आत्मा आनन्दस्वरूप है, मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं, इस भावसे नित्य आनन्दमय रहना।)

(२०) श्रद्धा (शास्त्र, भगवान् और सद्गुरुके वचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास करना।)

(२१) असूया (किसीमें कोई दोष न देखना, न आरोपण करना।)

(२२) ब्रह्मचर्य (मनसे कामभावका त्याग।)

(२३) अक्रोध (दूसरेकी किसी भी क्रियासे क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तमें क्रोधका विकार न होना।)

(२४) क्षमा (अपनी बुराई करनेवालेको दण्ड देनेका या दिलानेका सामर्थ्य रहते हुए भी दण्ड देने-दिलानेका भाव न होना और उसका उलटा उपकार करना, या परमात्मासे उसपर कृपा करनेके लिये प्रार्थना करना।)

(२५) तितिक्षा (कष्टोंको सुखपूर्वक सहना ।)

(२६) सन्तोष (भगवान्‌के विधानसे जो कुछ प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट रहना ।)

(२७) शीतलता (चित्तका सदा सौम्य और शीतल रहना ।)

(२८) पवित्रता (चित्तमें बुरे भावोंका न रहना ।)

ये तथा ऐसे ही अन्य भाव सद्भाव हैं; इनका पूर्ण विकास हो, इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये । ऐसा करना सद्भावोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है ।

सत्कर्मोंके द्वारा सत्यका सेवन

हिंसा, परपीडा, चोरी, ठगी, अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, अशिष्टाचार, शारीरिक अपवित्रता, धोखा देना, विश्वासघात करना, माता-पिता, गुरु आदिके प्रति बुरा व्यवहार, पत्नीका तिरस्कार, बालकोंको दुःख देना, दुखियोंकी उपेक्षा करना, पशुपक्षियोंको सताना, कायरतावश अत्याचारको सहन करना, साधु-संतोंका एवं महात्माओंका विरोध, शास्त्रप्रतिकूल आचरण आदि दुष्टकर्म, सभी असत् हैं और असत्यके उत्पादक, संग्राहक और पोषक हैं । इन सबको छोड़कर अहिंसा, सेवा, दान, आश्रय, सरल व्यवहार, शुद्ध व्यवहार, प्रेमपूर्ण व्यवहार, अष्ट मैथुनका त्याग, बड़ोंका सम्मान, शारीरिक पवित्रता, व्यवहार-व्यापारमें या जीविकाके कर्मोंमें बुद्धिमत्तायुक्त सरल, सत्य तथा परहितकारक बर्ताव, माता-पिता, गुरु आदिको नित्य प्रणाम करना और उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना, पत्नीका सम्मान करना, गरीब, अनाथ और विधवाओंका हित चाहना और करना, बालकोंको सुख देना और उनका हित करना, अत्याचारका साहसके साथ व्यक्तिगत द्वेषबुद्धिको त्यागकर प्रतीकार करना, पशु-पक्षियोंको सुख पहुँचाना, सच्चे साधु-संतों और महात्माओंका सेवा-सम्मान करना, शास्त्रानुकूल नित्य-नैमित्तिक तथा वर्णाश्रमानुसार कर्म करना, और किसी प्रकारकी भी कामनाको मनमें न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनका सुचारुरूपसे सम्पादन करना सत्कर्मोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है ।

सत्यवचनके द्वारा सत्यका सेवन

मिथ्या बोलना, कड़वी जबान बोलना, किसीकी निन्दा या चुगली करना, हिंसायुक्त बोलना, अभिमानकी बातें कहना, शाप देना, गाली-गलौज करना, गन्दी वाणी बोलना, व्यर्थ मजाक करना, उद्वेग पैदा करनेवाले वचन कहना, जिससे किसीका अहित होता हो ऐसी बात कहना, ताने मारना, आक्षेप करना या दिल्लगीमें, जोशमें, स्वार्थवश, अभ्यासवश या टालनेके लिये प्रतिज्ञाएँ करना, कही हुई बातसे पलट जाना, कहे हुए वचनोंको जानकर लापरवाहीसे या प्रमादसे पूरा न करना, छिपाकर असत्य बोलना, झूठी गवाही देना, परचर्चा करना या व्यर्थ अधिक बोलना आदि सभी वाणीके दोष होनेसे असत्य हैं । बड़ी सावधानीसे इन सबका त्याग करके निम्नलिखित रूपसे वाणी बोलनेका अभ्यास करना चाहिये । 'सत्य' शब्दका प्रयोग आजकल अधिकांशमें 'सत्यभाषण'के अर्थमें ही होता है । इसलिये इसपर विशेषरूपसे ध्यान दिलाया जाता है ।

(१) जिस विषयको हमने जैसा सुना या समझा हो ठीक उसी प्रकार समझानेकी शुद्ध नीयतसे मुखमुद्रा, संकेत आदिके साथ वाणीसे वचन बोलना । यह आवश्यक बात नहीं है कि सुने हुए शब्दका एक-एक अक्षर ज्यों-का-त्यों उच्चारण कर देनेका नाम ही सत्य है । प्रथम तो ज्यों-के-त्यों शब्द प्रायः याद रहने बहुत कठिन हैं । याद हों तो उनको वैसे ही बोलना ही चाहिये, यह आवश्यक नहीं; हमने किसीके साथ अंग्रेजीमें बात की है, और अब हमें वह बात उनसे कहनी है जो अंग्रेजी नहीं जानते, ऐसी अवस्थामें अंग्रेजीमें बोलनेसे ही सत्यकी रक्षा समझना तो मूर्खतामात्र होगा । फिर शब्द ज्यों-के-त्यों बोलनेपर भी ध्वनिके भेदसे अर्थमें अन्तर पड़ जाता है । बात तो सीधी यह है कि हमने जिस बातको जैसा समझा है ठीक वैसे ही समझा देनेकी नीयतसे बोलना सत्यभाषण है । फिर चाहे वह किसी भी भाषामें और कितने ही शब्दोंमें हो, मौन रहकर केवल संकेतसे हो अथवा संकेतसहित वाणीसे हो । समझानेकी नीयतके साथ प्रयत्न करनेपर भी हम न समझा सकें और वह न समझ सके तो उसका नाम असत्य नहीं है ।

(२) सत्य बात भी यथासाध्य ऐसे शब्दोंमें कहनी चाहिये जो सुननेवालेको कड़वी न लगे । बड़े मीठे और नम्र शब्दोंमें विनयके साथ बात कहनी चाहिये ।

(३) बुरी नीयतसे तो किसीकी निन्दा या चुगली कहीं करे ही नहीं, वह तो सत्य होनेपर भी उसके लिये

हानिकारक होनेके कारण असत्य ही है। अच्छी नीयतसे भी बिना किसी विशेष आवश्यकताके न करे। और जहाँ वैसी आवश्यकता हो वहाँ भी कर्त्तव्यपालनके साथ ही उसके हितकी दृष्टिको सामने रखकर ही कोई बात कहे। निन्दा या चुगली करनेके समय ज्ञात या अज्ञातमें द्वेषभाव आ ही जाता है। द्वेषकी तरंगोंके साथ बहते हुए, वाणीमें सत्यको कायम रखना बहुत ही कठिन होता है। आसक्ति, स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, भय, स्नेह, असूया, आवेश आदिके कारण भी निन्दा करते समय वाणीमें असत्यका आ जाना सहज है। एक बड़ा नुकसान और है—निन्दा या चुगली दोषोंकी होती है, गुणोंकी नहीं। इसके लिये पराये दोषोंको देखना, उनका मनन करना और उन्हें मनमें संग्रहीत कर रखना पड़ता है। मनमें आये हुए ये परदोष संस्काररूपसे मनपर अंकित हो जाते हैं, जो धीरे-धीरे हमारे हृदयको दोषमय बना डालते हैं। और पहले इच्छा न होनेपर, इनके बढ़ जानेसे हमें इनके वशमें होकर इनके द्वारा उदित हुई कामनाओंकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके पाप करने पड़ते हैं जो हमारे लिये महान् दुःखोंके कारण होते हैं। दूसरी बात यह है कि जिसमें हमें दोष दिखायी देते हैं उसमें हमारा द्वेष हो जाता है, द्वेष ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसके गुण भी दोष दीखने लगते हैं, दोषदर्शनसे द्वेष और द्वेषसे दोषदर्शनकी वृद्धि होनेसे आगे चलकर हमारी दृष्टिमें दोषदर्शनकी इतनी बुरी आदत पड़ जाती है कि फिर हमें बड़े-से-बड़े सद्गुणी पुरुषमें भी दोष ही दिखलायी देने लगते हैं। फलतः सब जगह दोष-ही-दोष देखते रहनेसे हमारा प्रेमभाव नष्ट हो जाता है और हम नित्य द्वेषकी आगमें जलते रहते हैं। तीसरी बात यह है कि द्वेषयुक्त दोषदर्शनमें बिना हुए भी हम दोष देखते हैं, और उन्हींको लेकर हम जब किसीकी निन्दा या चुगली करते हैं तो इससे उस व्यक्तिके चित्तमें बड़ा दुःख होता है। दुःख तो मनुष्यको प्रायः सच्ची निन्दामें भी होता है, परन्तु झूठी निन्दामें तो उसकी मात्रा बहुत ही बढ़ जाती है। और हमारे कथनके आधारपर लोगोंमें उसकी बदनामी होनेसे उसके अहितमें भी हम निमित्त बन सकते हैं। इससे हम निन्दा करनेके लिये पापके भागी तो होते ही हैं, उसपर मिथ्या दोषारोपण करके उसे दुःख पहुँचाने और उसका अहित करनेका पाप भी अपने सिर उठाते हैं। यदि परनिन्दा या चुगलीकी आदत छूट जाय तो फिर दोष देखनेकी आदत भी धीरे-धीरे छूट जाती है।

मिथ्यास्तुति भी नहीं करनी चाहिये। यद्यपि किसीके गुणोंकी सच्ची स्तुति करना बुरा नहीं है, किसी अंशमें लाभदायक भी है, परन्तु आवेश या अन्य किसी कारणवश या स्वार्थवश उचितसे अधिक स्तुति हो जाती है तो मिथ्याभाषण होता है और जितने गुण उसमें हैं, उससे कम स्तुति करनेसे वह भी एक प्रकारसे निन्दा ही हो जाती है और उसके लिये दुःखका कारण होती है और मिथ्याभाषण तो होता ही है। अवश्य ही निन्दाकी तरह स्तुति दूषित नहीं है।

जिन वचनोंसे किसीकी हिंसा होती हो, वैसे वचन सत्य होनेपर भी सत्य नहीं माने जाते। ऐसे अवसरमें बड़ी ही सावधानीके साथ जबान खोलनी चाहिये। मौन रहनेसे या कोई बात न कहनेके कारण अपने ऊपर विपत्ति आनेसे काम चल जाय तो उस विपत्तिको सहर्ष सहन करके सत्यभाषणजनित हिंसासे बचना चाहिये। हाँ, ऐसी ही स्थिति आ जाय कि बिना असत्यके हिंसा रुकती ही न हो तो वहाँ दूसरेके या अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कुछ छिपाकर बोलना भी पाप नहीं माना जाता, अवश्य ही वह सत्य भी नहीं है।

(४) धन, विद्या, रूप, जाति, अधिकार आदिके अभिमानसे गर्वयुक्त वाणी न बोलकर, बड़े ही विनयके साथ नम्र शब्दोंमें बातचीत करे। यदि कर्त्तव्यवश या परहितके लिये कहीं इसके विपरीत कुछ कहना पड़े और मनमें उस समय कोई भी विकार न हो तो वह दोषकी बात नहीं है।

(५) गाली बकनेसे और अश्लील वाणी बोलनेसे जबान गंदी होती है, बुरे संस्कार जमते हैं और जाग्रत होते हैं। वातावरणमें बुरे परमाणु फैलते हैं और सुननेवालेके मनपर चोट पहुँचती है और उसके मनमें भी गन्दे विचार पैदा होते हैं। जोशमें आकर गाली बकने या अश्लील जबान बोलनेवालोंकी वाणीमें असत्य तो रहता ही है।

इसी प्रकार शाप देनेमें भी असत्य, क्रोध, हिंसा आदि दोष रहते हैं। इनसे आत्माका पतन होता है। अतएव गाली बकने, गंदी जबान बोलने या किसीको भी शाप देनेकी आदतको बिल्कुल छोड़कर सुन्दर, सुहावने मधुर शब्दोंमें, प्रेमकी वृद्धि हो और लोकहित हो, ऐसी वाणी बोलनी चाहिये। शापकी भाँति वरदान देना भी असत्यमें कारण हो सकता है, इसलिये वरदान भी नहीं देना चाहिये। दूसरेका भला तो हर हालतमें ही चाहना और करना चाहिये।

(६) किसीके साथ व्यर्थ हँसी-मज़ाक नहीं करना चाहिये। यद्यपि निर्दोष विनोद बुरी चीज़ नहीं है, बल्कि स्वास्थ्यरक्षाके लिये और साथियोंमें उत्साह तथा आनन्दकी तरंगें पैदा कर देनेके लिये कहीं-कहींपर निर्दोष विनोदकी आवश्यकता भी स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु विनोदका निर्दोष, सात्त्विक और सत्ययुक्त रहना और उसपर अंकुश रखना साधारण बात नहीं है। हँसी-मज़ाकमें असत्यका आ जाना बहुत ही सहज है। असत्य आनेपर उसमें और भी बहुत-से दोष आ सकते हैं। अतएव सत्यभाषणका अभ्यास करनेवाले पुरुषोंके लिये विनोदसे बचना ही उत्तम है।

(७) किसीके न्याय्य स्वार्थमें आघात पहुँचे, उसके लौकिक या पारलौकिक हितमें बाधा पहुँचे, ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये। बल्कि दूसरेका स्वार्थसाधन हो, उसे अपने स्वार्थ-परमार्थके कार्यमें सहायता और सुविधा मिले, ऐसे वचन कहने चाहिये।

(८) किसीको भी कोई मार्मिक वचन कहकर या अंगहीनको वैसे नामसे पुकारकर या अन्य भाँतिसे किसीको भी ताने मारना, अपमानजनक शब्द कहना, किसीपर कोई दोषारोपण करना, या व्यङ्गवचन बोलना सर्वथा त्याग देना चाहिये। इसमें असत्य तो रहता ही है, द्वेष, वैर, हिंसा आदि बढ़ते हैं और दूसरोंके जी दुखानेका पातक होता है। अतएव ऐसे न बोलकर किसीको कर्तव्यवश या उसके हितके लिये किसीको कोई बात सुझानी-समझानी भी हो तो नम्र शब्दोंमें, और दोष बतलाना हो तो प्रेमभरी रीतिसे एकान्तमें उससे कहना चाहिये। किसीका अपमान या तिरस्कार हो ऐसे शब्द या ऐसे स्वरसे कोई बात कभी नहीं कहनी चाहिये।

(९) दिये हुए वचनसे पलट जाना, या उसे पूरा न करना, और की हुई प्रतिज्ञाको तोड़ देना बहुत ही हानिकारक है। इससे मनुष्यका विश्वास उठता है, उसे पाप होता है, असत्यकी धारणा दृढ़ होती है। अतएव ऐसा न करके खूब समझकर कोई बात कहनी चाहिये और कह देनेपर उसे यथाशक्ति पूरी करनेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

कर्त्तव्य या धर्मके पालनके लिये व्रत आदिकी निश्चयताके लिये प्रतिज्ञा करना बुरा नहीं है। परन्तु प्रतिज्ञा विवेकपूर्वक करनी चाहिये। और धर्मसम्मत प्रतिज्ञा करनेपर उसका प्राणपनसे पालन करना चाहिये।

(१०) चालाकीसे किसी बातको छिपाकर कहना असत्य ही है। जितना छिपाव है, उतना ही दोष है। अतएव कपटभरे शब्द नहीं कहने चाहिये।

(११) परचर्चा करने और अधिक बोलनेसे भी परनिन्दा, राग-द्वेष और असत्यका दोष आ जाना बहुत सम्भव है; अतएव बिना काम नहीं बोलना चाहिये, और व्यर्थ परचर्चा तो करनी ही नहीं चाहिये।

यह ग्यारहों बातें स्वयं करनी चाहिये, करनेवालोंका समर्थन करना चाहिये तथा करनेके लिये यथावसर नम्रतापूर्वक यथायोग्य प्रेरणा करनी चाहिये, इसके विपरीत असत्यभाषण न तो करना चाहिये, न उसका समर्थन करना चाहिये, न किसीसे वैसा करनेके लिये प्रेरणा ही करनी चाहिये। यह सत्यभाषणके द्वारा सत्यका सेवन है।

साधन-भजनके द्वारा सत्यका सेवन

साधन-भजनमें भी बहुत बार मनुष्यका लक्ष्य भ्रमसे सत्यके स्थानपर असत्य हो जाता है और साधन-भजन भी असत्यसे मण्डित होने लगते हैं। भगवान्को छोड़कर अन्य कुछ भी चाहना असत्यको लक्ष्य करना है। और सत्य परमात्माका आश्रय, विश्वास, चिन्तन, मनन और भजन छोड़कर असत् पदार्थोंका तथा अनित्य पार्थिव बलपर विश्वासकर अशास्त्रीय साधन-भजन करना साधन-भजनको असत्यसे मण्डित करना है। बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवान्को ही अपना लक्ष्य बनाये रखकर, उन्हींकी शक्ति तथा कृपापर विश्वास करके, भय, निर्बलता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अकर्मण्यता, अश्रद्धा आदि दोषोंको सम्पूर्णतया त्यागकर, परम श्रद्धाके साथ प्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर निर्भय और निश्चिन्त होकर बहुत बड़े उत्साह तथा धैर्यके साथ निष्कामभावसे भगवान्की प्रीतिके लिये ही सत्यस्वरूप भगवान्का ही भजन करना चाहिये।

यह सत्यसाधनके द्वारा भगवान्का सेवन है। इस प्रकार सत्यका पालन करनेसे सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है, जो मानवजीवनका एक मात्र लक्ष्य है।

इन पञ्च-सकारोंमें एक भी 'सकार' का भगवत्प्रीत्यर्थ पूर्णतया पालन करनेसे भवरोगका नाश सम्भव है। सबका पालन किया जाय तो कहना ही क्या है?

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रार्थना

मैंने सुना है भगवन् ! तुम्हारे चरणोंकी शरणमें बड़ा ही सुख है, जो शरण हो जाता है उसे विनाशका, वियोगका, अभावका, शत्रुओंका, पाप-तापका, देव-दानवका, कल्पना-जल्पनाका, माया-मोहका, अहंता-ममताका आसक्ति-कामनाका, क्रोध-लोभका, किसी प्रकारका भय नहीं रह जाता—यहाँ-तक कि वह भयकी कल्पनासे ही मुक्त हो जाता है; दुःख तो सारा भयमें ही है। सुना है प्यारे ! तुम्हारे मुसकराते हुए मनोहर मुखकी अनुपम छटाकी बात तो दूर रही, जो तुम्हारे चरणतलसे अंकित भूमिके दर्शन कर पाता है वही आनन्दसागरमें निमग्न हो जाता है। और तुम्हारे वे चरणतल चाहनेपर ही मिल सकते हैं। ऐसा होनेपर भी, हे मेरे सर्वस्व ! क्या बात है जो परम सुखदायक तुम्हारे चरणोंकी शरण छोड़कर और परम आनन्दमय तुम्हारे चरण-तलकी चाह छोड़कर मनुष्य इधर-उधर भटकता है, धक्के खाता है, नरकोंमें जाता है, और दुःखका भीषण भार उठाता है। समझा—प्रभु ! मनुष्यका अज्ञान ही इसमें प्रधान कारण है। पर क्या कभी यह अज्ञान मनुष्यके मिटाये सहज हो मिट सकता है ? मेरी तुच्छ समझमें तो यही आता है कि जब तुम इस अज्ञानको हरना चाहोगे तभी इस अज्ञानका नाश होगा। फिर अभी मनुष्यका अज्ञान तुम हर क्यो नहीं लेते। तुम्हारा इसमें जाता ही क्या है ? भूल गया—नाथ ! ऐसी प्रार्थना करके तो मैं मानो अपनेको तुमसे अधिक बुद्धिमान् और दयालु सिद्ध करना चाहता हूँ। मानो मनुष्योंके दुःखभारसे मैं ही व्याकुल हूँ, तुम्हें इसकी कोई खबर ही नहीं ! पर क्या करूँ ? मुझको भासनेवाली तुम्हारी उदासीनता ऐसा करनेको मजबूर कर रही है। अवश्य ही यह भी मेरा अपराध है ! जो कुछ भी हो, इस अपराधसे छूटना बहुत कठिन है। कोई बात नहीं, प्रभो ! इस भयानक अपराधके लिये मुझे मनमाना दण्ड दे दो, परन्तु अपराधीकी कातर प्रार्थनाको सुनकर दुःख-तापसे तपते हुए जीवोंके अज्ञानको हरकर उन्हें अपने चरणोंकी शरणमें ले लो और उनके मनोंमें ऐसी चाह उत्पन्न कर दो कि वे सब कुछ भूलकर केवल तुम्हारे ऋषि-मुनिदुर्लभ चरणतलोंके दर्शनकी ही चाह करने लगें।

प्रभो ! हमारी ओर देखनेसे—हमारे साधन और पुरुषार्थकी प्रतीक्षामें चुप रहनेसे तो हमारा कभी इस दुःखभारसे छुटकारा नहीं होगा। तुम अपनी ओर देखो, अपने विरुदकी ओर देखो और अपनी कृपा-सुधा-वारिसे ही हमारे कलुषित हृदयको धोकर उसे अमृतमय बना दो। यह सच है कि हम वस्तुतः साधनहीन होकर भी अपनेको सिद्ध मानते हैं, कम-से-कम स्वीकार तो कर ही लेते हैं। यह हमारा अपराध है, इस अपराधकी ओर देखोगे तो हम कभी तुम्हारी ओर ताक भी नहीं सकेंगे। यह एक ही क्यों, हमारे तो सहस्रों अपराध हैं, हम तो अपराधोंके समुद्र ही हैं। हमने अबतक और किया ही क्या है ? ये अपराध तो तुम्हें जला देने पड़ेंगे अपनी कृपा-ज्योतिसे ही। मैंने सुना है कि तुम्हारी कृपा हमपर असीम है—और वह कृपाज्योति हमारे पापोंको जलाकर हमारे काले हृदयको ज्योतिर्मय बना हो रही है; परन्तु क्या करें, इसपर हमें विश्वास कहाँ होता है ?

जो कुछ भी हो, प्रभो ! ऐसा करो कि इन सभी बातोंके लिये अब तो मैं सब तरहसे तुम्हारे ही चरणों-पर निर्भर रहूँ। तुम जो चाहो, जैसे चाहो, वही वैसे ही करो। बस, यही वरदान दो कि मेरी यह—इस समयकी धारणा—तुम्हारे चरणोंकी निर्भरता अजर अमर हो जाय !

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ११

सं० १९९३—९४ की

निबन्ध-सूची,

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय
गीताप्रेस,
गोरखपुर।

वार्षिक मूल्य ४≡)
विदेशोंके लिये ६।।≈)

प्रति संख्या ।)

६३ गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थोंमें वेदान्त ··· श्री बी० विश्वनाथ ऐयर, बी० ए० ··· ··· ५९५
६४ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी और अद्वैतवाद ··· श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ··· ··· ६०१
६५ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी ··· ··· १५००
६६ गंगोत्तरीनिवासी स्वामी श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराजका पत्र ··· ··· ··· ११३८
६७ गंजीफ़ा और भूलभुलैयाँ ··· श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी ··· ··· ६१८
६८ चरम लक्ष्य ··· पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग ··· ··· १५१६
६९ चित्र-परिचय ··· ··· ··· ७४२
७० चोर-जार-शिखामणि ··· हनुमानप्रसाद पोद्दार ··· ··· १०४१
७१ छोटा बड़ा कौन है ? ··· महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा ··· ··· १३८३
७२ जगत् और जीव ··· श्रीडा० एम० हिरियन्ना, एम० ए० ··· ··· ७११
७३ जगत् सत्य है या मिथ्या ··· श्री १०८ भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश २४, ८३८
७४ जगद्गुरु स्वामी आदिशङ्कराचार्यका समयनिरूपण ··· पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी ··· ··· ११८८
७५ जप ··· श्रीजयवन्तरामजी बी० ए० ··· ··· १४२६
७६ ठाकुर उद्धारणदत्त ··· ··· ··· १५१५
७७ तत्त्वमसि ··· ··· ··· २३५
७८ तन्त्र और वेदान्त ··· श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती, काव्यतीर्थ, एम० ए० ··· २७७
७९ तन्त्रोक्त ज्ञानयोग ··· श्रीश्यामानाथजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य ··· ४७१
८० तुलसी ··· स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती ··· ··· १४५१
८१ तुलसीकृत रामायणमें करुण-रस ··· श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी० ··· १२७७
८२ त्याग और वैराग्यके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर ··· श्रीताराचन्दजी पाण्डया बी० ए० ··· ··· १०२६
८३ त्यागका स्वरूप और साधन ··· हनुमानप्रसाद पोद्दार ··· ··· ९२८
८४ 'द' 'द' 'द' ··· ··· ··· ३२१
८५ दण्डी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके उपदेश ··· प्रे०—भक्त श्रीरामशरणदासजी ··· ··· १२२६
८६ दण्डी स्वामी श्रीगोपालतीर्थजी महाराजके उपदेश ··· प्रे०—भक्त श्रीरामशरणदासजी ··· ··· १०१६
८७ 'दया' की दृष्टि ··· 'माधव' ··· ··· ८४६
८८ दरिद्र और श्रीमान् ··· बहिन श्रीजयदेवीजी ··· ··· ९४२
८९ दर्शनोंका वैज्ञानिक समन्वय ··· श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति ··· ··· ३८३
९० दर्शनोंमें वेदान्तदर्शनकी मुख्यता ··· वेदाचार्य पं०श्री १०८ श्रीमधुसूदनजी ओझा ··· ५८
९१ दस दोषोंसे बचकर नामजप कीजिये ··· महामहोपाध्याय पं०श्रीहाथीभाईजी शास्त्री ··· १०२१
९२ दिव्य मूर्तियोंका साक्षात्कार ··· श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० ··· ··· ५१८
९३ देवयान-पितृयाण [शुक्लकृष्णगति] ··· पं०श्रीमल्लिनाथजी शर्मा ··· ··· ३९६
९४ देहतत्त्व और मुक्ति ··· महामहोपाध्याय पं०श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी ··· ६२
९५ दैनिक धर्माचार ··· मं० क० नाडकर्णी, धर्माधिकारी, बड़ोदा ··· १३७४

९६	दैवी विपत्तियाँ और उनसे बचनेका उपाय	हनुमानप्रसाद पोद्दार	८५
९७	द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादके प्रमुख आचार्य		६८९
९८	द्वैतवाद—श्रीमध्वाचार्य और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव	आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी सा०र० भा० भू०	२२७
९९	द्वैताद्वैतमतके प्रमुख आचार्योंका परिचय		६९५
१००	धनका उन्माद	श्रीचैनसुखदासजी जैन 'न्यायतीर्थ'	८०३
१०१	धनोत्पत्तिकी आवश्यकता और आदर्श	प्रो०श्रीयुत दयाशङ्कर दुबे एम० ए० और श्रीयुत भगवानदासजी केला	११२३
१०२	ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	१४०४
१०३	नवधा भक्ति	,,	१२५२, १३३१, १४८१
१०४	नामस्मरणकी आवश्यकता	गोरखपुरके अखण्ड हरिनामसङ्कीर्तनयज्ञमें दिये हुए महामना पं०मदनमोहनजी मालवीयके उपदेशके आधारपर	११७३
१०५	नादब्रह्म—मोहनकी मुरली	हनुमानप्रसाद पोद्दार	४०७
१०६	निम्बार्क-दर्शन [द्वैताद्वैत-सिद्धान्त]	स्वामीजी श्रीपरमानन्ददासजी	२३८
१०७	निर्भरा भक्ति	हनुमानप्रसाद पोद्दार	१०८६
१०८	पञ्च-सकार	,,	१२०८, १२९२, १३२७, १५३७
१०९	पञ्चीकरण-त्रिवृत्करण	पं०श्रीसभापतिजी उपाध्याय	४७५
११०	परमहंस-विवेकमाला	स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी	८७०, ९०६, ९८६, १०६८, ११४६, १२२८, १३०७, १३९१, १४६८
१११	परमार्थ-पत्रावली	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र	७७१, ८८९, ९८२, १०४०, ११२६, १२०१, १२४७
११२	परा और अपरा भक्ति	श्रीयदुनाथसिंहजी एम० ए०, पी-एच० डी०	३५९
११३	पवित्र जीवनका दूसरा साधन	पं०श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट	९५४
११४	पवित्र जीवनका रहस्य	,,	७७७
११५	पश्य मे योगमैश्वरम्	आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०	९६३
११६	पाञ्चरात्र और वेदान्त	पं०श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०	३३४
११७	पापका परिणाम	पं०श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे	५०९
११८	पाप क्या है ?	श्रीताराचन्दजी पाण्ड्या	५०१
११९	पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं	हनुमानप्रसाद पोद्दार	४९३
१२०	पापोंका दोष किसपर है ?	श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट	४९८
१२१	पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त	पं०राजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०	४४७
१२२	पुष्टिमार्गके सिद्धान्त और उनका उद्गमस्थान	पं०श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम ए०, साहित्याचार्य	२४८
१२३	पुष्टिमार्गमें त्याग और प्रभुप्रेम	श्रीयुत रणछोड़दासजी पटवारी बी० ए०, एल-एल० बी०	७६८
१२४	पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश	प्रे०—भक्त 'श्रीरामशरणदासजी'	३१, १००५, १०६६, १३०६, १४६६
१२५	प्रकृति और पुरुष	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	१०८१
१२६	प्रणव अथवा ओङ्कारका विज्ञान	पं०श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री	३७३

१२७ प्रत्यभिज्ञादर्शन और वेदान्तशास्त्र … वेदान्ताचार्य पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री … ४१६
१२८ प्रत्यभिज्ञावाद या स्पन्दवाद और उसके आचार्य … … … ७११
१२९ प्रभुकी माया … श्रीमदनमोहनस्वरूपजी 'सदाशिव', एम० ए० … ७१७
१३० प्राचीन अद्वैतवादके साथ शङ्करके अद्वैतवादका सम्बन्ध … महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० … ६१०
१३१ प्रार्थना … दीन श्रीरणधीरप्रसादसिंहजी … … १२००
१३२ ,, … … … १५४४
१३३ प्रारब्ध और पुरुषार्थका मेल … श्रीभगवानदासजी केला … … ४९२
१३४ प्रेमनगरका प्रथम दर्शन … पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी … … १५०७
१३५ फैशनसे बचो … श्रीपरमहंस स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती … १३५५
१३६ बच्चोंमें सदाचार … पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी … १३५३
१३७ बादरायणका ब्रह्मसूत्र … पं० श्रीव्रजविहारीलालजी शास्त्री, बी० ए०, एम० आर० ए० एस०, वेदान्तरत्न, साहित्यभूषण, विद्यासागर … १२१
१३८ ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य … बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर … … ८९
१३९ ब्रह्म-परिणामवाद … 'वेदान्तशिरोमणि' श्रीरामप्रपन्न रामानुजदास 'विद्यार्थी' … २२४
१४० ब्रह्मवेत्ता … महात्मा श्री १०८ श्रीमन्नथुराम शर्मा आचार्य … २८५
१४१ ब्रह्मसूत्रके अनुसार मुक्तात्माका स्वरूप … पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्तविद्यार्णव … … १४४
१४२ ब्रह्मस्तुति … … … १
१४३ ब्रह्म ही विजयी है … केनोपनिषद्के आधारपर … … ७१६
१४४ ब्रह्मज्ञानका अधिकारी … … … १३८
१४५ ब्रह्मज्ञानी रैक्व … … … ३४१
१४६ ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं … काशीनिवासी स्वामी श्रीविवेकानन्दजी … २८३
१४७ ब्रह्मानुसन्धान … दीवान बहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री बी० ए०, बी० एल० … … १७३
१४८ भगवत्-कृपा … 'गुप्त' … … १५३६
१४९ भक्त उद्धवरामजी ब्रह्मचारी … श्रीसोहनलालजी गुप्त … … ९३२
१५० भक्त कलेक्टर साहब … मास्टर श्रीपारसचन्दजी … … ८८४
१५१ भक्त-गाथा
  (क) भक्तवर लालजी … पं० श्रीविद्यासागरजी शर्मा, बी० ए०, एल० एल० बी० … ८०७
  (ख) भक्त आरण्यक मुनि … … … ८५३
  (ग) भक्त राजा रत्नग्रीव … … … ९७७
  (घ) भक्त किशनसिंहजी … प्रे०—पं० श्रीहरद्वारीलालजी शर्मा 'हिन्दीप्रभाकर' … १०६२
  (ङ) भक्तवर अंगदसिंहजी … पं० श्रीदेवधरजी शर्मा 'विशारद' … … ११४०
  (च) भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य नरपति … … … ११७१
  (छ) भक्त मुनि उतङ्क [व्याधका उद्धार] … … … १३२२

(ज) रामभक्त राजा सुरथ … … … १४९३
(झ) श्रीरूप गोस्वामी … पं० श्रीबालचन्दजी शास्त्री … … १४५२
१५२ भक्त रानी मैनावती … मास्टर श्रीपारसचन्दजी … … ११२०
१५३ भक्तवर श्रीअङ्गदके जीवनका रहस्य … श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी … … ९१४
१५४ 'भक्ति' रस है या भावमात्र ? … श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार … … ५१२
१५५ भक्तोंके दस भाव … पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी … … १४३६
१५६ भक्तोंके प्रकार … महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा … … १०४७
१५७ भक्तोंका कार्पण्य … श्रीमहावीरप्रसादजी 'बजरङ्गबली' श्रीवास्तव … १५१२
१५८ भगवत्कृपा … श्रीजयदयालजी गोयन्दका … … ६८
१५९ भगवद्विभूतियोग … श्रीयुत अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम० ए० … १४१७
१६० भगवद्विश्वास … एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा … … ८७६
१६१ भगवन्नाम-जप … … … १३३०
१६२ भगवान् अवतार कब लेते हैं ? … पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए० … … ९६०
१६३ भगवान् शङ्कराचार्य और द्वारकाधीश … श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० … ३०२
१६४ भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश … … … १८५
१६५ भगवान् श्रीकृष्णका महत्त्व … गोरखपुरके अखण्ड नामजपसंकीर्तनयज्ञमें दिये हुए महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके उपदेशके आधारपर … … १०९२
१६६ भगवान् सदा किसपर सन्तुष्ट रहते हैं ? … … … ९६८
१६७ भर्तृप्रपञ्चका अद्वैत-सिद्धान्त … श्रीवीरमणिप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए०, बी० एल०, साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री … … ३३२
१६८ भार्गवी वारुणी विद्या … पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे … … ७१५
१६९ भेदाभेदवाद और उसके आचार्य … … … ६९८
१७० मण्डन मिश्रका ब्रह्माद्वैतवाद … श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, एम० ए० … ४१३
१७१ मनुष्यता बनाम वेदान्त … पं० श्रीकन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर' सम्पादक 'विश्वास' … ७१४
१७२ मधुर-अनुभूति … पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी ११३२, ११८२, १२६७
१७३ मस्तिष्क या हृदय ? … श्री 'माधव' … … १४५४
१७४ महात्मा सूरदास और वेदान्त … पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, एम० ए० … ५८६
१७५ महावाक्य … डा० वाशीकर … … ८००
१७६ महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श शिक्षा … श्रीजयदयालजी गोयन्दका … … ११६१
१७७ माध्वसिद्धान्त … श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक सार्वभौम, साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री … … ५१
१७८ मायावाद-वैजयन्ती … साधु श्रीशान्तिनाथजी … … ३२२
१७९ मुमुक्षुओंके लिये उपयोगी वेदान्तका सरल साधन … श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ … … ७३
१८० मेरा कृष्ण … बहिन श्री रेहाना तैयबजी … … १४९७
१८१ मेरी कठिनाई और क्षमा-प्रार्थना … सम्पादक … … ८२३
१८२ मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश … बृहदारण्यक-उपनिषद्के आधारपर … … ६२५

१८३ मौन-व्याख्यान ··· हनुमानप्रसाद पोद्दार ··· ··· १०१३

१८४ युगल सरकारकी उपासना और ध्यान ··· ,, ··· ··· ८९१

१८५ योगसे ही वेदान्तकी उत्पत्ति ··· श्रीयुत स्वामी मौक्तिकनाथजी ··· ··· ४६८

१८६ योगक्षेमं वहाम्यहम् ··· श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए० ··· ११७७

१८७ रहस्यवाद ··· श्रीजयशंकरप्रसादजी ··· ··· ७२०

१८८ रासलीला-रहस्य ··· एक महात्मा ७५२, ८३४, ९३७, १०१७, १०७७, १२३४, १३१६, १४७७

१८९ रोना ··· श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ··· ··· ९७२

१९० लक्ष्मी-रुक्मिणी-संवाद ··· मास्टर श्रीपारसचन्दजी ··· ··· ८०१

१९१ लीला ··· दी० ब० के० श्रीचन्द्रभानुसिंहजी ··· ··· ७६४

१९२ 'लौ' ··· पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए० ··· ११९७

१९३ वल्लभ-वेदान्त ··· दे० श्रीव्रजनाथजी शास्त्री, विशारद ··· ··· २६०

१९४ वसन्त-वेला ··· पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग ··· ··· ९३६

१९५ वास्तविक सत्ताका स्वरूप या ब्रह्मलक्षण ··· श्रीयुत टी० एम० पी० महादेवन् एम० ए० ··· ४३८

१९६ विचारोंकी पवित्रता जाननेके चिह्न ··· श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट ··· ··· ११०७

१९७ विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूतिका तत्त्व ··· श्रीजयदयालजी गोयन्दका ··· ··· २१४

१९८ विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूतिका तत्त्व 'एक विद्वान्' ··· ··· १५३१

१९९ विनाशी जगत् ··· ··· ··· ९८४

२०० विविदिषासंन्यास और विद्वत्संन्यास ··· विद्यावाचस्पति श्रीधर्मेन्द्रनाथ 'वसु' शास्त्री, काव्यतीर्थ ··· ५२६

२०१ विरागी राम ··· श्रीयमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव ··· ··· ६०६

२०२ विशिष्टाद्वैतके तीन महाचार्य—बोधायन, ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्य ··· पं० श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यजी ··· ··· ६८३

२०३ विशिष्टाद्वैतवाद या शिवाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य ··· ··· ··· ६८७

२०४ विशिष्टाद्वैतवाद (श्रीवैष्णवसम्प्रदाय) के प्रमुख आचार्योंका परिचय ··· ··· ··· ६६८

२०५ विशेषाद्वैतसिद्धान्त ··· श्रीनिजसिंहासनाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी विरूपाक्षजी ··· ··· ४२५

२०६ विश्व-प्रेम ··· श्रीयुत एल० बी० मेहता ··· ··· १३६२

२०७ वीरशैवदर्शन ··· श्रीसिद्धरामप्पा दण्डप्पा पावटे ··· ··· १३४२

२०८ वेद और यज्ञ ··· पं० श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'रत्न', साहित्याचार्य 'विशारद' ··· ··· ४७१

२०९ वेद और वेदान्त ··· श्रीसीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्यशास्त्राचार्य ५२३

२१० वेदका स्वरूप-विचार ··· श्रीमोतीलालजी शर्मा गौड ··· ··· ३८४

२११ वेदान्त ··· महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी० ··· ··· ५७

२१२ वेदान्त ··· पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी ··· ··· २०२

२१३ वेदान्त और गीताधर्म ··· स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी महाराज ··· ··· ८०

२१४ वेदान्त और भक्ति … श्रीभालचन्द्र पण्डित बहिरट, बी० ए० … ५१६
२१५ वेदान्त और वेदान्तका अधिकारी … पं० श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय, एम० ए० … ७३५
२१६ वेदान्त और शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त … श्रीपञ्चाक्षरजी शास्त्री … … ४२९
२१७ वेदान्तका अर्थ और उसकी लोकमान्यता … श्री पी० के० आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, आई० ई० एस० … … १८७
२१८ वेदान्तका भेदाभेद-सम्प्रदाय … श्री श्रीधर मजुमदार, एम० ए० … … २४५
२१९ वेदान्तका महान् वैलक्षण्य … स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी० … ९५
२२० वेदान्तकाव्य [विराट् शिव] … पं० श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा ‘शिशु’ … … ४१८
२२१ वेदान्तकी शिक्षा … श्रीमोतीलाल ज० मेहता … … ७२९
२२२ वेदान्तकी सार्वभौमता … श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य काव्यसांख्ययोगन्यायवेद-वेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदान्तरत्न स्वामी श्रीभागवतानन्दजी मण्डलीश्वर … ८५७
२२३ वेदान्तके प्राचीन आचार्य … … … ६३१
२२४ वेदान्तके सम्बन्धमें विपरीत धारणा … श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए० … १८९
२२५ वेदान्त क्या करता है ? … ‘शिव’ … … ६३०
२२६ वेदान्तदर्पण … म० श्रीबालकरामजी विनायक … … ४४०
२२७ वेदान्तदर्शनमें अधिकारिनिर्णय … श्रीप्राणगोपालजी गोस्वामी ‘सिद्धान्तरत्न’ … ४७६
२२८ वेदान्तप्रश्नोत्तरी … अनु० श्रीहनूमान्जी शर्मा … … ७३८
२२९ वेदान्त-मीमांसा … श्रीप्रकाशचन्द्रसिंह राय, न्यायवागीश … १२७, ७८८
२३० वेदान्त या ब्रह्मसाक्षात्कार … श्रीरामचन्द्रलालजी … … १७०
२३१ वेदान्तवाद-सामञ्जस्य … श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी … … ११५१
२३२ वेदान्त-विचार … श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया … … ५५०
२३३ वेदान्त-विद्याका स्वरूप और माहात्म्य … श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज … … १०२
२३४ वेदान्तविद्या ही ईश्वरका सर्वोत्तम आशीर्वाद है पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा … … ५३८
२३५ वेदान्त-शिक्षाकी कुछ बातें … श्रीडाक्टर एम० एच० सय्यद, एम० ए०, पी-एच० डी० डी० लिट् … … २७९
२३६ वेदान्तसाधन और उसका फल … स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज … ९९
२३७ वेदान्तसे मोक्ष-प्राप्ति … पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा बी० ए० … २०८
२३८ वेदान्त—श्रीकृष्णचन्द्र … पण्डित श्रीमाधव बालशास्त्री दातार … … ४६१
२३९ वेदान्तज्ञानकी प्रक्रियाएँ … श्रीअरविन्द … … ५३
२४० वैदिक और वैदान्तिक साधना … श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए० … १७६
२४१ वैदिक कथाओंका रहस्य … श्रीछज्जूरामजी शास्त्री विद्यासागर … … १११४
२४२ वैदिक साधनामें वेदान्तका स्थान … स्वामीजी श्रीमित्रसेनजी … … ६१२
२४३ वैराग्य … गंगोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती … ८१
२४४ वैष्णव-धर्मका दार्शनिक आधार … श्रीनलिनीमोहनजी सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न … ९६९
२४५ वैष्णवोंके श्रीकृष्ण … प्रो० श्रीअमूल्यचरण विद्याभूषण … १२८२
२४६ व्यक्तित्व … श्रीव्रजमोहनजी मिहिर … … ७३३
२४७ व्यवहारक्षेत्रमें अद्वैतज्ञानकी उपयोगिता … महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण … १४६

२४८ व्यावहारिक वेदान्त ... डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर ३७८
२४९ व्रजमें ... कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालङ्कार' ... ७८३
२५० शक्ति-अद्वैतवादकी कुछ विशेषताएँ ... श्रीयुत जी० एस० शर्मा ४२३
२५१ शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तनिरूपण ... पण्डितवर्य श्रीमान् वे० काशीनाथ शास्त्रीजी ... २२८
२५२ शब्दाद्वैतवाद ... श्री बी० कुटुम्ब शास्त्री ... २७०
२५३ शरणागति ... श्रीजयदयालजी गोयन्दका १००६
२५४ शाङ्कर-वेदान्तके जागरित और स्वप्नमय जगत् ... पं० श्रीकोकिलेश्वर शास्त्री, विद्यारत्न, एम० ए० ... ... १५८
२५५ शाङ्कर-वेदान्तके सम्बन्धमें लोकभ्रम ... महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा एम० ए०, एल-एल० डी०, डी० लिट् ७५१
२५६ शारीरकमीमांसादर्शनम् १२१
२५७ शिवाद्वैतके भाष्य ... काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद, पं० श्रीचन्द्रशेखरजी शर्मा ... ४२८
२५८ शिवाद्वैतानुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ... पं० श्रीवागीश शिवाचार्यजी ४२२
२५९ शिष्योंको सदुपदेश ... तैत्तिरीय उपनिषद्के आधारपर ११४
२६० शुद्धाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य ७०३
२६१ शुनःशेप या मोक्षधर्मका एक वैदिक उपाख्यान ... ... श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए० ६२१
२६२ शून्यवाद और विज्ञानवाद ... महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० ५६२
२६३ शौनक-अङ्गिरा-संवाद ... पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे ६२३
२६४ शङ्करसे पूर्वके आचार्य ... महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० ... ६३३
२६५ श्रीगीताजयन्ती ९२७
२६६ श्रीगुहराज और नाविक केवटका प्रेम-रहस्य ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ८१४
२६७ श्रीगोस्वामीजीके नामाराशी ... म० श्रीबालकरामजी विनायक ७७३
२६८ श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना १००३
२६९ श्रीमच्छंकराचार्यका अनुभव-विश्लेषण ... श्री एस० बी० दाण्डेकर, एम० ए० ... ... १६३
२७० श्रीमानस-शंका-समाधान ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी १३६७
२७१ श्रीरामचरितमानसमें रामावतार ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी १०९७
२७२ श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीआनन्दभाष्य ... पं० श्रीवैष्णवदासजी त्रिवेदी, 'न्यायरत्न', 'वेदान्ततीर्थ' ... २७४
२७३ श्रीरामानुजाचार्य और उनका सम्प्रदाय ... श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयंकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज २७
२७४ श्रीविदेहराजका मण्डप ... पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी १२८९
२७५ श्रीविद्यार्णवनामक ग्रन्थके अनुसार शाङ्करसम्प्रदायका विवरण ... ... महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० ... ६६६
२७६ श्रीशुकदेवमुनिके द्वारा परीक्षितको दिव्योपदेश २१२
२७७ श्रीशुद्धाद्वतवाद और उसके प्रकाशक ... देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री २५३
२७८ श्रीश्री १०८ पूज्यपाद श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी अवधूत, एम० ए० के उपदेश ... प्रे०—भक्त रामशरणदासजी ७६०

२७९ श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका वेदान्त-सिद्धान्त ... आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी २६३
२८० श्रीसुग्रीवजीका महत्त्व ... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी ८६३
२८१ श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें विशिष्टाद्वैत-वेदान्त-रहस्य ... श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, पं० श्रीकृष्ण-वल्लभाचार्यजी स्वामिनारायण ४५६
२८२ श्रुतिप्रामाण्यविचार ... स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज ५५५
२८३ सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त ... महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक ६१३
२८४ सच्चिदानन्दकी जय हो ! ३९५
२८५ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी ४१७
२८६ सच्ची जिज्ञासा ३४०
२८७ सती गुणसुन्दरी देवी ... मास्टर श्रीपारसचंदजी १३५९
२८८ सती जयदेवीजी ... ,, ,, ... ९३३
२८९ समन्वयवादके आचार्य विज्ञानभिक्षु ७१३
२९० सर्ववित्का सर्वभाव ... पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे १२४९
२९१ सर्वसमन्वय ... श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री ७५७
२९२ साधन-चतुष्टय ... स्वामीजी श्रीकृष्णप्रेमजी १९५
२९३ साधन-संग्रह ... एक लोकसंग्रही महात्माका प्रसाद ४५
२९४ साधारण लोगोंके लिये वेदान्त ... महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाईजी शास्त्री ... १४१
२९५ ७४॥ [कहानी] ... मास्टर श्रीपारसचन्दजी १०३६
२९६ सिद्धान्त और जीवन ... पण्डितप्रवर श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी ... ७०७
२९७ सुखी जीवन ... बहिन मैत्री देवी १४४६
२९८ सुदामाकी चिन्ता ... श्रीदेवीलालजी सामर बी० ए० ... ... ११२२
२९९ संत-वचनामृत— ...
    (१) पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश ... प्रे०—श्रीमुनिलालजी १३८६
    (२) एक परमहंस महात्माके उपदेश ... प्रे०—भक्त रामशरणदासजी १३८८
    (३) पूज्यपाद श्रीनारायणदासजी परमहंसके उपदेश ... प्रे०—डा० मोहनजी १३८९
    (४) पूज्यपाद स्वामीजी श्रीकृष्ण परमहंसजी महाराजके उपदेश ... प्रे०—श्रीओंकारमलजी पोद्दार १३९०
३०० संतांककी विषयसूची १२२२
३०१ संसार-जय ... पं० श्रीरामदयाल मजूमदार एम० ए० ... १०५९
३०२ संहारप्रक्रिया तथा चतुर्विध प्रलय ... पं० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्यव्याकरण-सांख्य-वेदान्त-तीर्थ ४१९
३०३ स्वप्न और स्वप्नपर अधिकार ... श्रीरामदित्तामलजी भाटिया १०३४
३०४ स्मरण-साधन ... स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज १२३९
३०५ स्वलीलाद्वैत-ब्रह्म ... निजानन्दसम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य महाराज श्रीधनीदासजी ४५४

३०६ हमारा प्राप्य या लक्ष्य क्या है ? ... श्रीरमण महर्षिके शिष्य ८५०
३०७ हमारे ह्रासके कारणोंकी भ्रान्तिमूलक कल्पना ... श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० ... ... ४१०
३०८ हिन्दुत्व क्या है ... श्रीयुत बसन्तकुमार चटर्जी एम० ए० ... १४२३
३०९ हिन्दुस्तानी शिष्टाचार ... पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र १५१७
३१० होलीपर कर्तव्य ११७६
३११ हंसा ... श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरड्या ११३१
३१२ क्षमायाचना ... सम्पादक ७४०
३१३ त्रिपुरागमनमें अद्वैततत्त्व ... पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल ४६३
३१४ त्रैतवाद ... प्रो० मदनमोहनजी विद्याधर ४८१
३१५ ज्ञानका साधन ... स्वामीजी श्रीप्रज्ञानाथजी महाराज ११७
३१६ ज्ञानसाधनाभ्यास ... महात्मा श्रीरामस्वामीजी ९४७
३१७ ज्ञानसे प्रारब्ध क्षय होता है या नहीं ? ... रायबहादुर पण्ड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए० ... ४९१
३१८ ज्ञानोत्तर भक्ति ... पं० श्रीनरहरि शास्त्री खरशीकर ३६०

* * *

पद्य-सूची

क्रम-संख्या लेखक पृष्ठ-संख्या
१ अतीतके पथपर ... कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालंकार' ... ४७४
२ अमर प्रसून ... श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु' ८९०
३ आजादी (सं०) ... स्वामी रामतीर्थ ... वेदान्त-अंककी टाइटलका चौथा पृष्ठ
४ आत्मविस्मरण (सं०) ... श्रीसूरदासजी २८४
५ आत्मज्ञानका सौदा (सं०) ... स्व० से० श्रीअर्जुनदासजी केडिया ८७
६ आनन्द अनिर्वचनीय है ... श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी श्रोत्रिय ११४
७ उसका पता ... श्री 'सुदर्शन' ९४६
८ उसकी व्यापकता ... श्री 'मुग्ध' १५३५
९ कहावतें ... स्वामी श्रीअग्रदासजी ... ८८८, ९४१
१० कालीयकी प्रार्थना (सं०) ... श्रीसूरदासजी १४६५
११ कहावतोंमें उपदेश ... ,, ... ८२४,१४३४
१२ कौन ? ... श्रीरामप्रियाशरणसिंहजी 'रत्नेश' २५८
१३ क्यों ? ... पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम' ... ३३१
१४ गजकी टेर ... पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय ... १०१२
१५ गठरीके चोर (सं०) ... श्रीकबीरदासजी ४२४
१६ घनश्यामकी लगन (सं०) ... श्रीनारायणस्वामीजी ४१५
१७ चार प्रश्न ... श्रीनारायणदासजी चतुर्वेदी १३६१
१८ चुटकुले ... महात्मा बालकरामजी विनायक १ ३२
१९ छाया है माया है ... श्री 'सुदर्शन' जी १८६

२० जिज्ञासा ... श्रीगौरीशंकरजी मिश्र 'द्विजेन्द्र' १३९०
२१ जीवनकी विनश्वरता ... श्रीरामाधारजी त्रिपाठी 'जीवन' ९०४
२२ जीवनकी व्यर्थता (सं०) ... श्रीललितकिशोरीजी ४२१
२३ जीवनकी सार्थकता (सं०) ... श्रीतुलसीदासजी ७४५
२४ तू ... अज्ञात कवि ८३
२५ देखकर भी नहीं देखता (सं०) ... श्रीनागरीदासजी १२२५
२६ दो बिना क्रीडा नहीं ... श्री 'बाँके पिय' १०४६
२७ धन्य है ... पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम' ७८७
२८ धूलमें ... श्रीभुवनेशजी मिश्र १२४१
२९ नहिं ऐसो जनम बारम्बार (सं०) ... श्रीमीराजी १३२१
३० नाममाहात्म्य ... आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी ... १८८
३१ निरगुन सेज (सं०) ... श्रीचरणदासजी ३७२
३२ पथिक मन ... डा० श्रीहनुमानप्रसादजी त्रिपाठी, बी-एस० सी०, एल० एम-पी०, विशारद १४९२
३३ पेचीली पहेलियाँ ... पं० श्रीमहेशप्रसादजो मिश्र 'रसिकेश' मुख्तार ... ३५१
३४ प्रार्थना (सं०) ... भगतरसिकजी १०६१
३५ प्रियतम जगत् ... पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय शास्त्री ... ७३७
३६ प्रेमके दोहे (सं०) १४५८
३७ बिराना देश (सं०) ... श्रीकबीरदासजी ४१८
३८ ब्रह्म और ब्रजकुमार (सं०) ... श्रीनारायणस्वामीजी ३५८
३९ भक्तकी भावना ... श्रीरामाधारजी त्रिपाठी 'जीवन' ... १२४०
४० भगवत्प्रार्थना ... पं० श्रीमहावीरप्रसादजी जोशी काव्यतीर्थ ... १११३
४१ भाग्यवान् गर्गमुनि (सं०) ... सूरदासजी १३८५
४२ भावना ... 'मंजुल' विशारद १३३८
४३ भेंट ... कुमारी कुसुम ९१३
४४ मनको उपदेश (सं०) ... गो० श्रीतुलसीदासजी १३५०
४५ महाराज रामसे विनय (सं०) ... श्रीतुलसीदासजी १३०५
४६ माँका स्नेह (सं०) ... ,, ... ९०५
४७ मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा ... श्रीबालकृष्णजी बलदुआ १००१
४८ मेरा प्यार ... श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी ७९
४९ मेरा स्वप्न ... सं० श्रीब्रजनाथजी १३७
५० राजाराम (सं०) ... गोस्वामी तुलसीदासजी ८२५
५१ रामनामका प्रभाव (सं०) ... ,, ... १०३५
५२ राम फगुआ ... महात्मा श्रीजयगौरीशंकर सीतारामजी 'कवलवास' ... ११९६
५३ रामनाम-प्रश्नोत्तरी ... पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश' ... १०६४
५४ विनय ... श्रीसुदर्शनदासीजी ३०
५५ विभु ... क० स० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' ... ८८
५६ वेद-मन्त्र ... श्रीजगदीशजी झा 'विमल' ३६३
५७ वेद-वाणी ... म० पु० श्रीप्रतापनारायणजी ३४२

५६ श्रीसीताराम ... श्रीरामप्रसाद १०६५
५७ सच्चिदानन्दकी जय हो ... श्रीजगन्नाथ ३९५
५८ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी ... श्रीरामप्रसाद ४१७
५९ सच्ची जिज्ञासा ... श्रीविनयकुमार मित्र ३४१
६० सुमित्राका त्याग ... श्रीजगन्नाथ ९८५
६१ सूरके श्याम ब्रह्म ... " ५९२
६२ स्तवन ... " ६२१

दोरंगा

६३ ब्रह्म और उसकी शक्ति ... श्रीकनू देसाई ४०९

इकरंगे

६४ पहाड़पर श्रीतिरुपतिमन्दिर ६८०
६५ भक्त अंटोनियस ५२०
६६ भक्त हनुमानजीकी अनन्यनिष्ठा ७२८
६७ भगवान् रंगनाथ ६७१
६८ मीराके गिरधर नागर ५२२
६९ वरदराज-मन्दिर, काञ्ची ६७१
७० श्रीतिरुपतिमन्दिरका भीतरी भाग ६८०
७१ श्रीरङ्गम्‌मन्दिर ६७०
७२ श्रीरामानुजके मतानुसार पदार्थ-विभाग ६७६
७३ श्रीशंकरमतानुसार पदार्थ-विभाग ६४६
७४ सूरदास और भगवान् श्रीकृष्ण ५२०
७५ संतदर्शनके १२५ चित्र ३७६

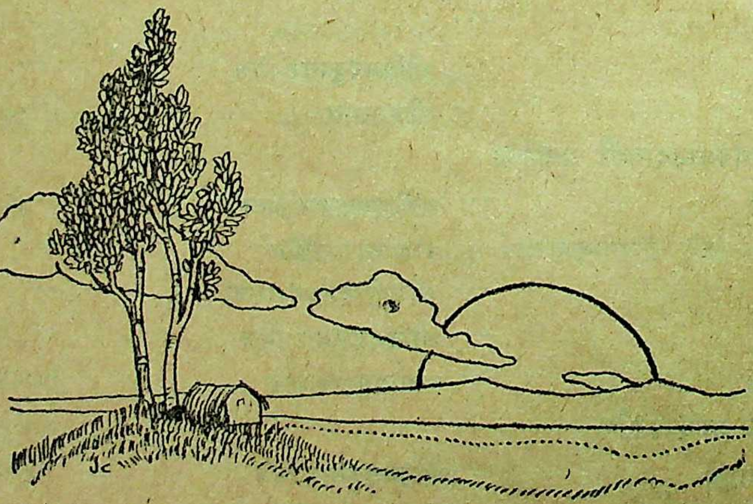

❋ कल्याण ❋

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र।

ग्राहक-संख्या ——————— गोरखपुर ———————

प्रिय ग्राहक महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण।

इससे पहले वैशाख और ज्येष्ठके "कल्याण" द्वारा दो बार आपकी सेवामें नये वर्षका मूल्य भेजनेकी सूचना दी जा चुकी है। आपने अबतक इस सालका मूल्य नहीं भेजा हो तो अब तुरन्त भेज दें। क्योंकि जिनका मूल्य कार्यालयमें आ जायगा उनकी सेवामें कल्याण पहले भेजा जायगा।

यदि आप वी० पी० से मँगवाना चाहते हों तो आपको कोई सूचना भेजनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिन ग्राहकोंका मूल्य नहीं आवेगा और मनाही भी नहीं आवेगी उनकी "कल्याण" मँगवानेमें सम्मति समझकर समयपर संत-अंककी ४≶) की वी० पी० भेज दी जायगी।

यदि इस वी० पी० के साथ "कल्याण" की कोई फाइल या अंकविशेष मँगवाना हो तो लिखनेसे भेजा जा सकता है।

जो सज्जन किसी कारणवश इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहते हों वे हमपर कृपा करके इस अङ्कके पाते ही इसी कागजके साथका कार्ड काटकर हमें ग्राहक न रहनेकी सूचना दे दें ताकि उनको वी० पी० नहीं भेजें और उनको एवं अपनेको कष्ट और हानिसे बचा सकें। आपके तीन पैसेके खर्चेसे "कल्याण" की छः आनेकी बचत होगी।

यदि कार्यालयकी भूलसे आपके रुपया भेज देनेपर भी, या मनाही कर देनेपर भी, या पहले वी० पी० छुड़ा चुकनेपर भी, वी० पी० चली जाय तो कृपया उसे यथासाध्य प्रयत्न करके किसीको ग्राहक बनाकर रख लें। इस थोड़े-से परिश्रमसे कार्यालय कुछ हानिसे बच जायगा।

वी० पी० डाकघरमें सिर्फ ७ दिन रुकती है। उसके छुड़ानेमें देर करनेसे वी० पी० लौट आवेगी और कल्याण-कार्यालयको बेमतलब नुकसान पहुँचेगा, साथ ही आप संत अंकके चरित्रोंका वर्णन पढ़ने और उनके चित्रोंके दर्शन करनेसे वञ्चित होंगे। इसलिये वी० पी० पहुँचते ही छुड़ा लेनी चाहिये।

वी० पी० के विषयमें कुछ पूछना हो तो कल्याणके रैपरपर आपके पतेके पास छपे हुए ग्राहक-नम्बरसहित तुरन्त ही लिखें। नम्बर न लिखनेसे गोलमाल होनेका भय है।

आपका कृपाभिलाषी—

व्यवस्थापक

सूचना

(१) वी० पी० के रुपये हमें मिलनेपर ही आपका नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिखा जाकर अगले अङ्क यथासमय प्रतिमास भेजे जा सकेंगे।

(२) कल्याणके रैपरपर छपे पतेमें किसी भी प्रकारकी भूल हो तो तुरन्त सूचना देनी चाहिये। अन्यथा भविष्यमें अङ्क पहुँचनेमें गड़बड़ी हो सकती है।

(३) कृपया ग्राहक-नम्बर नोट कर लें और पत्र देते समय अवश्य लिखें।

(४) वी० पी० के ऊपरका कवर सँभालकर रक्खें।

यहाँसे काटिये।

श्रीहरिः

ग्राहक नं० ——————— **अवश्य लिखिये !**

मैनेजर कल्याण !

गोरखपुर

सप्रेम राम राम। संत-अंक वी० पी० से भेजनेकी सूचना मिली।

हम इस वर्ष कल्याणके ग्राहक अवश्य/नहीं रहेंगे। कल्याणका वा० मू० ४≶) मनीआर्डरसे भेजते हैं।

वी० पी० द्वारा नहीं भेजें।

भवदीय—

नाम ———————————

पता ———————————

———————————

P. O. (   )

नोट—यदि आपको वी० पी० मँगाना स्वीकार हो, तो कार्ड लौटानेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीहरिः

कल्याणके अमूल्य विशेषांक और फाइलें

(कल्याणका वार्षिक मूल्य ४≡) है ।)

१–दूसरे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ≡) तीन आने ।
(भगवन्नामांक नहीं है)
२–श्रीभक्तांक–पृष्ठ २५०, चित्र ५५, दूसरा नवीन संस्करण, मूल्य १।।) सजिल्द १।।।≡)
३–चौथे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ।) चार आने ।
४–श्रीरामायणांक–पृष्ठ ५००, चित्र १६०, दूसरा नया संस्करण, मूल्य २।।≡) सजिल्द ३≡)
५–सातवें वर्षके कुछ साधारण अंक–प्रति अंक ।) चार आने ।
६–दशवें वर्षकी फाइल (श्रीयोगांकसहित) मूल्य ४≡) सजिल्द (दो जिल्दोंमें) ५≡)
७–ग्यारहवें वर्षकी फाइल (श्रीवेदान्तांकसहित) मूल्य ४≡) सजिल्द (दो जिल्दोंमें) ५≡)
8. 'Kalyana-Kalpataru' (English Edition of 'Kalyan') Annual Subscription Rs. 4/8.
9. God-Number (Illustrated Pages 307) Rs. 2/8.
10. Gita-Number (Illustrated Pages 251) Rs. 2/8.
11. Vedanta-Number (Illustrated Pages 248) Rs. 2/8.
12. Krishna-Number (Illustrated Pages 280) Rs. 2/8.

POST CARD

तीन पैसेका
टिकट
लगाइये

Kalyan Karyalaya

GORAKHPUR.

U. P.

मैं अपने इन मित्रोंको ग्राहक बनाकर ेजता हूँ । इनका एक वर्षका मूल्य ी० पी० द्वारा वसूल कर लें ।

ानीआर्डरद्वारा भेजता हूँ ।

ाम ____________________

पता ____________________

____

P. O.

( )

ाम ____________________

पता ____________________

____

P. O.

( )

यदि संत-अंककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अंकोंमेंसे कोई मँगवाना हो तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजा जा सकता है ।

कल्याण, गोरखपुर ।

पुनः मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा और आपके मित्रोंको ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये इस बार मनीआर्डर फार्म कम मिलनेके कारण सब ग्राहकों-को दुबारा नहीं भेजा जा सका । अतः जिनको नहीं मिले वे पोस्टआफिससे ले करके चन्दा भेज सकते हैं ।

बार बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है । आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के संत-अंककी वी० पी० आपकी सेवामें न भेजनेकी सूचना हमें दे दें–दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पते सहित आपका ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है । ग्राहक

JUST OUT

NEW BOOKS

Our Present-day Education.

By Hanumanprasad Poddar.

The booklet brings out the denationalizing and demoralizing effects of the present system of education in India which owing to its all-pervasive character has become a serious menace to the continuity of Indian spiritual culture. It deals with the true goal of education and in contrast brings out the evils of modern education. It discusses the problems of Female Education, Common Curriculum and Co-education, Divorce, and Birth-Control, the effect of the cinema on young minds, and winds up the discussion with a section entitled "What kind of Education should we give ?" in which concrete suggestions have been made for the reform of the Indian educational system with a view to reinstate the ideals of character-building and spiritual culture to their natural position of foremost importance in Indian social economy. The booklet contains appendices giving extracts from recent Convocation Addresses of some Indian Universities, and opinions of a few distinguished persons on the present educational system of India.

PRICE THREE ANNAS ONLY.

* * *

Way to God-Realization.

By Hanumanprasad Poddar.

A handbook containing useful and pratical hints for regulation of spiritual life based on the experiences of several tried travellers in the path of God-Realization. It discusses subjects like the 'highest goal of human existence', 'dispassion and how to practise it', 'how to negate existence of worldly objects', 'spiritual advance impossible without Vairagya', 'renunciation—true and false', 'cultivation of divine virtues', 'stumbling-blocks on the path of God-Realization', 'factors contributory to spiritual growth', 'submission to God' and finally 'self-surrender'. All seekers of spiritual truth,—beginners as well as adepts—will derive profit and strength from a study of this valuable guide to spiritual life.

PRICE FOUR ANNAS ONLY.

Manager—
The Gita Press, Gorakhpur (INDIA)

उत्तम पुरुष

जो जितेन्द्रिय पुरुष दोषके सारे कारणोंको त्याग देता है उसके धर्म, अर्थ और कामकी थोड़ी भी हानि नहीं होती । जो विद्याविनय-सम्पन्न सदाचारी बुद्धिमान् पुरुष पापीके प्रति पापका व्यवहार नहीं करता, कुटिल मनुष्योंसे मीठा बोलता है तथा जिसका अन्तःकरण सदा मित्रताके भावसे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है । जो वीतराग महापुरुष काम, क्रोध और लोभादिके कभी वशमें नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही यह पृथ्वी टिकी हुई है । जो कार्य इस लोक और परलोकमें जीवोंका हित करनेवाला हो, बुद्धिमान् पुरुषको मन, वचन और कर्मसे उसीका आचरण करना चाहिये । जो मनुष्य देवता और ऋषियोंकी पूजा करता है, पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण करता है और अतिथिका सत्कार करता है, वह उत्तम लोकोंको जाता है । जो मनुष्य इन्द्रियोंको जीतकर सबका हितकर, मधुर और अल्प भाषण करता है वह आनन्दके हेतुभूत अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है । जो पुरुष बुद्धिमान्, लज्जाशील, क्षमापरायण, आस्तिक और विनयी है वह उत्तम पुरुषोंके योग्य श्रेष्ठ लोकोंमें जाता है ।

—विष्णुपुराण

श्रीहरिः

भूलसुधार

१–'कल्याण' के चैत्रके अंकमें पृष्ठ १२३९ पर 'स्मरण-साधन' शीर्षक लेखमें लेखकका नाम स्वामीजी श्रीमित्रसेनजी महाराजकी जगह श्रीचित्रसेनजो छप गया है। पाठकगण इस भूलको सुधार लें।

२–'कल्याण' के माघके अंकमें 'विचारोंकी पवित्रता जाननेके चिह्न' शीर्षक लेखमें पृष्ठ ११०७ पर दूसरे कालमकी पहली पंक्तिमें 'दयाबाई इसी बातको कितनी सुन्दर रीतिसे समझा रही हैं।' छपा है। इसकी जगह 'कवि दयाराम भाई इस बातको कितनी सुन्दर रीतिसे समझा रहे हैं।' ऐसा पढ़ना चाहिये।

कल्याण वैशाख संवत् १९९४ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या।

१–महाराज रामसे विनय [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ··· ··· १३०५
२–पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश (प्रे०—भक्त 'श्रीरामशरणदासजी') १३०६
३–परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) १३०७
४–रासलीला-रहस्य (एक महात्मा) ··· १३१६
५–नहिं ऐसो जनम बारंबार (श्रीमीराजी) ··· १३२१
६–भक्त-गाथा ··· ··· १३२२
७–कल्याण ('शिव') ··· ··· १३२५
८–पञ्च-सकार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· १३२७
९–भगवन्नाम-जप ··· ··· १३३०
१०–नवधा भक्ति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १३३१
११–एक भक्तके उद्गार (अनु०–श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य बी० ए० एल-एल० बी० साहित्यरत्न) ··· ··· १३३७
१२–भावना [कविता] ('मंजुल' विशारद) ··· १३३८
१३–अनन्तमें निवास (श्रीव्रजमोहनजी मिहिर) १३३९
१४–वीरशैवदर्शन (श्रीसिद्धरामप्पा दण्डप्पा पावटे) ··· ··· १३४२
१५–इस्मे-आज़म (म० श्रीबालकरामजी विनायक) १३४७
१६–आत्मश्रद्धा और प्रयत्न (पं० श्रीमाँगूलालजी मिश्र) ··· ··· १३४९

पृष्ठ-संख्या

१७–बच्चोंमें सदाचार (पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी) ··· ··· १३५३
१८–फैशनसे बचो (श्रीपरमहंस स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती) ··· १३५५
१९–सती गुणसुन्दरी देवी (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) १३५९
२०–चार प्रश्न [कविता] (श्रीनारायणदासजो चतुर्वेदी) ··· ··· १३६१
२१–विश्व-प्रेम (श्रीयुत एल० बी० मेहता). ··· १३६२
२२–इष्टका स्वरूप (श्री'सुदर्शन'जी) ··· १३६३
२३–श्रीमानस-शंका-समाधान (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· ··· १३६७
२४–कर्तारसे अन्तके दिनोंकी सच्ची प्रार्थना (श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) ··· १३७०
२५–सरकार तुम्हारे नामोंमें [कविता] (श्रीरामेश्वरप्रसादसिंहजी) ··· १३७३
२६–दैनिक धर्माचार (मं० क० नाडकर्णी, धर्माधिकारी, बड़ोदा) ··· ··· १३७४
२७–गाढ़ी कमाई (श्रीकेशवनारायणजा अग्रवाल) १३७७
२८–साधन-मार्ग [कविता] (गोस्वामी हितानन्दजी) १३८२
२९–छोटा-बड़ा कौन है ? (महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा) ··· ··· १३८३

लेखकोंसे नम्र निवेदन

संत-अंकके लिये इतने अधिक लेख आ गये हैं, कि उनमेंसे आधे भी संत-अंकमें नहीं जा सकते। इसलिये अब बिना माँगे कोई भी महानुभाव लेख भेजनेका कष्ट न करें।

विनीत, सम्पादक

अखण्ड हरिनामसंकीर्तन और परमार्थसाधनयज्ञ

आगामी ज्येष्ठ शुक्ला १५ को बारह महीने पूर्ण हो जायँगे, इस अवसरपर ज्येष्ठ शुक्ला १० से विशेष उत्सव मनानेका विचार है ।

अखण्ड संकीर्तन-यज्ञ झूसीकी रिपोर्ट

गतवर्ष झूसीमें जो वर्षव्यापी अखण्ड संकीर्तन-यज्ञ हुआ था, उसकी रिपोर्ट छप गयी है। नीचेके पतेपर पत्र लिखनेसे मिल सकती है ।

पता—ठाकुर जगतसिंह, श्रीराधाकृष्णक्षेत्र, झूसी (प्रयाग)

वेदान्ताङ्क

कल्याणके 'वेदान्ताङ्क' की प्रतियाँ अभी बची हैं, जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे ४≈) मनीआर्डरद्वारा भेज दें या वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें। वेदान्ताङ्कमें वेदान्त और भक्तिसम्बन्धी बहुत ही उपादेय सामग्रीका संग्रह है और सभी वेदान्तानुयायी सम्प्रदायोंके सिद्धान्त और महात्माओंका बड़ा रोचक और उपदेशप्रद परिचय है। ग्राहक बननेवाले सज्जन जल्दी करें तो अच्छा है। केवल वेदान्ताङ्क (परिशिष्टांकसमेत) पृष्ठ-संख्या ७४४, चित्र-संख्या १९१, मूल्य ३)

कल्याणके ग्राहकोंसे और ग्राहक बनानेवाले सज्जनोंसे नम्र निवेदन

यह 'कल्याण' की दसवीं संख्या है। दो महीने बाद कल्याण नवीन वर्षमें प्रवेश करेगा। इसका अगला प्रवेशांक संत-अंक होगा। संत-अंककी विषय-सूची आपलोगोंने पिछले अंकमें पढ़ी ही होगी। संतसम्बन्धी विवेचनके साथ ही सैकड़ों पुराने और नये संतोंके चित्र-चरित्र इस अंकमें रहेंगे। यह अंक बहुत ही रोचक, सरल और उपादेय होगा।

आपलोग 'कल्याण' को अपनी प्यारी चीज मानकर इसके प्रचारके लिये निःस्वार्थ प्रेमसे सदा प्रयत्न करते हैं, और उसीके फलस्वरूप कल्याणका इतना प्रचार है, यह आपलोगोंके लिये बड़े ही गौरवकी बात है। भगवान् और धर्मके संदेशको घर-घर पहुँचानेमें आप जो इतनी सहायता दे रहे हैं, यह भगवान्की बड़ी ही कृपा है। प्रचारकी वृद्धिके लिये अभी बहुत बड़ा क्षेत्र खाली है। आशा है आपलोग और भी उत्साहके साथ ग्राहक बनानेकी चेष्टा करेंगे।

इस अंकके साथ मनीआर्डर-फार्म भेजा जा रहा है और प्रार्थना की जाती है कि आपलोग अपना तथा अपने मित्रोंका वार्षिक चन्दा बहुत शीघ्र भेजनेकी कृपा करें।

यह स्वाभाविक बात है कि जिन लोगोंके रुपये पहले मनीआर्डरद्वारा आ जाते हैं, उनको 'विशेषांक' रजिस्टर्ड पोस्टद्वारा पहले जाता है, वी० पी० मँगानेवालोंको देरसे मिलता है। खर्च दोनोंमें समान है, इसलिये हमारा अनुरोध है कि आपलोग इसी मनीआर्डर-फार्मको भरकर ४≈) मनीआर्डरद्वारा पहले ही भेज दें।

अपने मित्रोंको कल्याणके ग्राहक बनानेके लिये छपे हुए जितने मनीआर्डर-फार्म चाहिये, कृपया कार्ड लिखकर मँगवा लें।

मैनेजर
कल्याण, गोरखपुर

बर्माके ग्राहकोंसे प्रार्थना

निवेदन है कि डाकखर्च बढ़ जानेसे बाध्य होकर बर्माके लिये 'कल्याण' का मूल्य ६॥) वार्षिक करना पड़ा है, अतएव कल्याणके ग्राहकोंको ६॥) रुपये भेजनेकी कृपा करनी चाहिये।

व्यवस्थापक **कल्याण**

❀ श्रीहरिः ❀

कल्याण और उसके दर्शनीय विशेषांक

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

प्रति मास ३७१०० छपता है। सालभरमें १६०० से ऊपर पेज, सैकड़ों सुन्दर चित्र और अमूल्य विशेषाङ्कोंसहित वार्षिक मूल्य ४≶) है। (इसमें कमीशन नहीं दिया जाता है)

इसके ग्राहक बनकर घर बैठे सत्संगका लाभ उठाइये। इसके लेख आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य धार्मिक भावोंके ही होते हैं। (इसमें बाहरके विज्ञापन भी नहीं रहते)

हिन्दी-संसारमें 'कल्याण' के ही इतने बड़े-बड़े ७ विशेषांकोंको दुबारा, तिबारा छपनेका मौका मिला है; इन चार (भक्तांक, रामायणांक, योगांक, वेदान्तांक) विशेषांकोंके सिवा बाकी सब अप्राप्य हो गये हैं, लेनेवाले जल्दी करें।

छप गया ! ❀ श्रीभक्तांक ❀ दूसरा नया संस्करण !!

भक्तांकमें संत-महात्माओंके जीवन-चरित्र, उनकी साधना, अनुभव और उपदेश आदि श्रीभगवान्की ओर ले जानेवाले बहुत सुन्दर-सुन्दर लेख हैं। भक्त और भगवान्के अनेक सुन्दर दर्शनीय चित्र भी हैं। इस बार कई चित्र बदलकर नये लगाये गये हैं जो पहलेसे बहुत अच्छे हैं। एक पुष्ट टाइटल और लगाया गया है। ५५ चित्र और २४६ पृष्ठकी पाठ्य सामग्रीके इस सुन्दर अंकका मूल्य वही पहलेवाला ही १॥) सजिल्द १॥।≶) है। जिनको लेना हो शीघ्र मँगा लेना चाहिये।

सुन्दर —श्रीरामायणांक— सचित्र

अनेक प्रेमियोंके आग्रहसे 'रामायणांक' का दूसरा संस्करण छापा गया था। मूल्य वही २॥≶) ही रक्खा गया है, सजिल्द ३≶), ५१२ पृष्ठ और १६७ चित्र हैं। अपने संग्रहमें एक प्रति अवश्य रखनी चाहिये।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइंडिंग सब सुन्दर हैं।

रामायणांकमें श्रीरामजीकी लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायणप्रेमियोंके लेख हैं।

रामायणांक सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुबारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः लेनेवालोंको शीघ्र मँगा लेना चाहिये।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

—'कल्याण' का अंग्रेजी संस्करण—

चार वर्षसे निकल रहा है, इसके भी ४ विशेषांक निकल चुके हैं।

इस 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी) मासिक पत्रका चौथे वर्ष (जनवरी १९३७ ई०) का प्रथम अंक 'श्रीकृष्णाङ्क' के नामसे विशेषाङ्कके रूपमें बहुत सज-धजके साथ प्रकाशित हो गया है। इसमें अनेक देशी-विदेशी संत, विद्वान् और कृष्णप्रेमियोंके लेख संग्रह किये गये हैं। अनेक तरहके कलापूर्ण चित्रोंसे सुसज्जित २८० पृष्ठके सुन्दर विशेषाङ्कका मूल्य केवल २॥) है। ४॥) भेजकर सालभरके ग्राहक बननेवालेको पूरी फाइलके साथ 'कृष्णाङ्क' भी मिल जायगा।

व्यवस्थापक—**कल्याण-कल्पतरु, गोरखपुर**

सुन्दर ❀ गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें ❀ सचित्र

१–श्रीमद्भगवद्गीता–शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जि० २।॥)
२–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५७०, ६६००० छप चुकी, ४ चित्र मू० १।)
३–श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५६०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
४–श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५७०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
५–श्रीमद्भगवद्गीता–(श्रीकृष्ण-विज्ञान)अर्थात् गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृ० २७५, मू०।॥) सजिल्द १)
६–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृ० ४६८, मू० ॥≈) स० ।॥=)
७–श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, प्रायः सभी विषय हिन्दी गीता ॥≈) वालीकी तरह, पृ० ५३५, मू० ··· ।॥)
८–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, नं० ९ की तरह, मोटे टाइप, साधारण भाषा-टीकासहित, पृ० ३१६, मू० ॥) स० ··· ॥≈)
९–गीता–साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, (४८०००० छप चुकी) पृ० ३५२, मू० =)॥ स० ≈)॥
१०–गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, (२५००० छप चुकी) पृ० १०६, मूल्य ।–) सजिल्द ··· ।≈)
११–गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ··· ।=)
१२–गीता-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृ० ३२८, सजिल्द, मूल्य ··· ··· ।)
१३–गीता–मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च (७५००० छप चुकी है) पृ० २९६, सजिल्द, मूल्य ··· =)
१४–गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, ११९९०० छप चुकी है, पृ० १३०, मूल्य –)॥
१५–गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ··· ··· ··· –)
१६–गीता-डायरी पञ्चाङ्गसहित सन् १९३७, गत वर्षोंमें लाखों बिक चुकी, पृ० ४५०, मूल्य ।) सजिल्द ··· ।–)
१७–ईशावास्योपनिषद्–हिन्दी-अनुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ··· ≈)
१८–केनोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ··· ··· ॥)
१९–कठोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ··· ··· ॥–)
२०–मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· ।≈)
२१–प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· ··· ।≈)
उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ··· २।–)
२२–माण्डूक्योपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ··· १)
२३–तैत्तिरीयोपनिषद् ,, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ··· ··· ।॥–)
२४–ऐतरेयोपनिषद् ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ··· ··· ।=)
उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ··· २।=)
२५–श्रीविष्णुपुराण–हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जिल्द २।॥)
२६–अध्यात्मरामायण–सातों काण्ड, सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृ० ४००, मूल्य १।॥) सजिल्द २)
२७–प्रेमयोग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, ११००० छप चुकी, मोटा एण्टिक कागज, पृ० ४२०, मू० १।) स० १॥)
२८–श्रीतुकाराम-चरित्र–पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≈) सजिल्द ··· ··· १॥)
२९–भक्तियोग–'भक्ति' का सविस्तर वर्णन, ले०–चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादजी, सचित्र, पृ० ७०८, मूल्य १=)
३०–भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, पृष्ठ ३४०, मूल्य १) सजिल्द १।)
३१–विनय-पत्रिका–गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, अनु०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, ६ चित्र, मू० १), स० १।)
३२–गीतावली– ,, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, अनु०—श्रीमुनिलालजी, ८ चित्र, पृ० ४६०, मू० १) स० १।)
३३–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–ले० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, ६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मू० ।॥=) स० १=)
३४– ,, ,, (खण्ड २)–९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मूल्य १=) सजिल्द १।=)
३५– ,, ,, (खण्ड ३)–११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ··· ··· १।)
३६– ,, ,, (खण्ड ४)–१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ॥=) सजिल्द ··· ··· ।॥=)

३७–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५)–१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य |||) सजिल्द ··· १)
३८–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, एण्टिक कागज, मू० ||=) स० |||–)
३९– ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४८, गुटका, प्रचारार्थ मू० |–) स० |=)
४०– ,, भाग २– ,, ,, ,, ,, ६३२, एण्टिक कागज, मू० |||=) स० १=)
४१– ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ७५०, गुटका, प्रचारार्थ मू० |=) स० ||)
४२–मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषाटीकासहित, अनु०–श्रीमुनिलालजी पृष्ठ ४१४, मूल्य |||–) सजिल्द ··· १–)
४३–श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संतकी जीवनी और उपदेश, सचित्र, पृ० ३५६, मू० ··· |||–)
४४–पूजाके फूल–श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, सचित्र पृ० ४१४, मू० ··· |||–)
४५–एकादश स्कन्ध–(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित, यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है, पृ०४२०, मू० |||)स० १)
४६–श्रीविष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृ० २७५, मूल्य ··· ||=)

४७–देवर्षि नारद–५ चित्र, पृष्ठ २४०, मू० |||) स० १)
४८–शरणागतिरहस्य–सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ||≡)
४९–शतपञ्च चौपाई–सानुवाद, सचित्र, पृ० ३४०, मू० ||=)
५०–आनन्दमार्ग–सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ||–)
५१–सूक्तिसुधाकर–सानुवाद सचित्र, पृ० २७६, मू० ||=)
५२–स्तोत्ररत्नावली–अनुवाद-सहित, ४चित्र, पृ०२३० मू० ||)
५३–श्रुति-रत्नावली–सचित्र, संपा०–श्रीभोलेबाबाजी, मू० ||)
५४–नैवेद्य–ले०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार,
पृ० ३५०, मू० ||) सजिल्द ··· ||≡)
५५–तुलसीदल–सचित्र, पृ० २९२, मू० ||) स० ||≡)
५६–श्रीएकनाथ-चरित्र–सचित्र, पृ० २४०, मू० ||)
५७–दिनचर्या–सचित्र, पृ० २२२, मू० ||)
५८–The Story of Mira Bai—P. 96. As. 10
५९–Mind: Its Mysteries and Control—As. 8
६०–श्रीरामकृष्ण परमहंस–५ चित्र, पृ० २५०, मू० |≡)
६१–धूपदीप–लेखक–श्री 'माधव' जी, पृ० २४०, मू० |≡)
६२–उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृ० १००, चित्र १०, मू० |=)
६३–प्रेमदर्शन–(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) |–)
६४–गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला, कर्मकाण्ड पृ० १८२, |–)
६५–लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृ० ३५० |=)
६६–तत्त्वविचार–सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य |=)
६७–भक्त-भारती–(७चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र |≡)
६८–भक्त बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, |–)
६९–भक्त नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, |–)
७०–भक्त-पञ्चरत्न—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९८, |–)
७१–भक्त-चन्द्रिका–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९२, |–)
७२–आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ११२, |–)
७३–भक्त-सप्तरत्न–७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०६, |–)
७४–भक्त-कुसुम–६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९१, |–)

७५–प्रेमी भक्त–९ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०४ |–)
७६–यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित, पृ०९२ |)
७७–विवेक-चूडामणि–सचित्र, सटीक, पृष्ठ २२४, मू० |–)
७८–गीतामें भक्तियोग–सचित्र, ले०–श्रीवियोगी हरिजी |–)
७९–श्रुतिकी टेर–सचित्र, ले०–श्रीभोलेबाबाजी, मूल्य |)
८०–ब्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मू० |)
८१–श्रीबदरी-केदारकी झाँकी—सचित्र, मूल्य |)
८२–परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके
कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह, पृ० १४४, |)
८३–माता–श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother)
का हिन्दी अनुवाद, सुन्दर छपाई, |)
८४–ज्ञानयोग–इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक
विषयोंका सुन्दर वर्णन है, पृ० १२५, |)
८५–कल्याणकुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य |)
८६–प्रबोध-सुधाकर—सचित्र, सटीक, पृ० ८०, ≡)||
८७–मानवधर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ११२, ≡)
८८–साधन-पथ—ले०— ,, (सचित्र) =)||
८९–प्रयाग-माहात्म्य–(१६चित्र) पृ० ६४, मूल्य =)||
९०–माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य–सचित्र पृ० ९४, मू० =)||
९१–गीता-निबन्धावली–ले०–श्रीजयदयालजी गोयन्दका =)||
९२–वेदान्त-छन्दावली–ले०–श्रीभोलेबाबाजी, पृ०७४, =)||
९३–अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित, पृ०४८, =)||
९४–मनन-माला–सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है, मू० =)||
९५–भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०–श्रीवियोगी हरिजी =)
९६– ,, दूसरा भाग ,, =)
९७– ,, तीसरा भाग ,, =)
९८– ,, चौथा भाग ,, =)
९९– ,, पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) सं०—
श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)

१००–The Immanence of God (By Malaviyaji) as.	2
१०१–शतश्लोकी–हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य	=)
१०२–मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित, मूल्य	-)॥
१०३–चित्रकूटकी झाँकी–(२२ चित्र), मूल्य	-)॥
१०४–हनुमानबाहुक–सचित्र, सटीक, मूल्य	-)॥
१०५–गोपी-प्रेम–(सचित्र) पृष्ठ ५०, मूल्य	-)॥
१०६–स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–(सचित्र), पृ० ५६, मूल्य	-)॥
१०७–मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, मूल्य	-)।
१०८–मूल गोसाईं-चरित–मूल्य	-)।
१०९–मूल रामायण–१ चित्र, मूल्य	-)।
११०–ईश्वर–लेखक–पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, मू०	-)।
१११–गीताका सूक्ष्म विषय–पाकेट-साइज, पृ० ७०,	-)।
११२–श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश–सचित्र, मूल्य	-)
११३–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–मूल्य	-)
११४–आनन्दकी लहरें–(सचित्र), मूल्य	-)
११५–ब्रह्मचर्य–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य	-)
११६–समाज-सुधार–मूल्य	-)
११७–वर्तमान शिक्षा–पृ० ४५, मूल्य	-)
११८–सप्त-महाव्रत–ले०—श्रीगांधीजी, मूल्य	-)
११९–आचार्यके सदुपदेश–मूल्य	-)
१२०–एक संतका अनुभव–मूल्य	-)
१२१–गोविन्ददामोदरस्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ ३७, मूल्य	-)
१२२–श्रीरामगीता–मूल, अर्थसहित (पाकेट-साइज), मूल्य	)॥।
१२३–शारीरकमीमांसादर्शन मूल, पृ० ५४,	)॥।
१२४–विष्णुसहस्रनाम–मूल, मोटा टाइप)॥। सजिल्द	-)॥
१२५–हरेरामभजन–२ माला, मूल्य	)॥।
१२६–सीतारामभजन–(पाकेट-साइज) मूल्य	)॥
१२७–सेवाके मन्त्र–(पाकेट-साइज) मूल्य	)॥
१२८–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृ० ३५, मूल्य	)॥
१२९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, गुटका, ,,	)॥
१३०–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग ,,	)॥
१३१–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति–पृष्ठ ३२, गुटका, मूल्य	)॥
१३२–भगवान् क्या हैं ? छप चुका, मूल्य	)॥
१३३–सन्ध्या–(हिन्दी-विधि-सहित), मूल्य	)॥
१३४–बलिवैश्वदेव-विधि–मूल्य	)॥
१३५–प्रश्नोत्तरी–श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित), मूल्य	)॥
१३६–पातञ्जलयोगदर्शन–(मूल), गुटका, मूल्य	)।
१३७–नारद-भक्ति-सूत्र–(सार्थ गुटका), मूल्य	)।
१३८–गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज, मूल्य	)।
१३९–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–मूल्य	)।
१४०–धर्म क्या है ?–५०००० छप चुका, मूल्य	)।
१४१–महात्मा किसे कहते हैं ?–पृष्ठ २०, गुटका, मूल्य	)।
१४२–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है–पृष्ठ २०, गुटका, मू०	)।
१४३–प्रेमका सच्चा स्वरूप–पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य	)।
१४४–हमारा कर्तव्य–पृष्ठ २२, गुटका, मूल्य	)।
१४५–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है, पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य	)।
१४६–दिव्य सन्देश–मूल्य	)।
१४७–कल्याण-भावना ले०–श्रीताराचन्द्रजी पांड्या, गुटका	)।
१४८–श्रीहरिसंकीर्तनधुन–मूल्य	)।
१४९–लोभमें पाप–(गुटका), मूल्य	आधा पैसा
१५०–गजलगीता–(,,), मूल्य	आधा पैसा
१५१–सप्तश्लोकी गीता–(,,), मूल्य	आधा पैसा
१५२–रामायणांक–१६७चित्र, ५१२पृष्ठ, मू० २॥=) स० ३=)	

* * *

सुन्दर, सस्ते, धार्मिक, दर्शनीय चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र सुनहरी—

	नेट दाम प्रत्येकका	-)॥
बहुरंगे	,, ,,	-)

कागज-साइज १०×१५ सुनहरी—

	नेट दाम प्रति चित्र	)॥
बहुरंगे	,, ,,	)।½

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम	)।½
बहुरंगे ७॥×१० नेट दाम	)।
एकरंगे ,, ,, नेट दाम	१) सैकड़ा

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा।

चित्रोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

मैनेजर—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

नोट—विशेष जाननेके लिये पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

76173

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

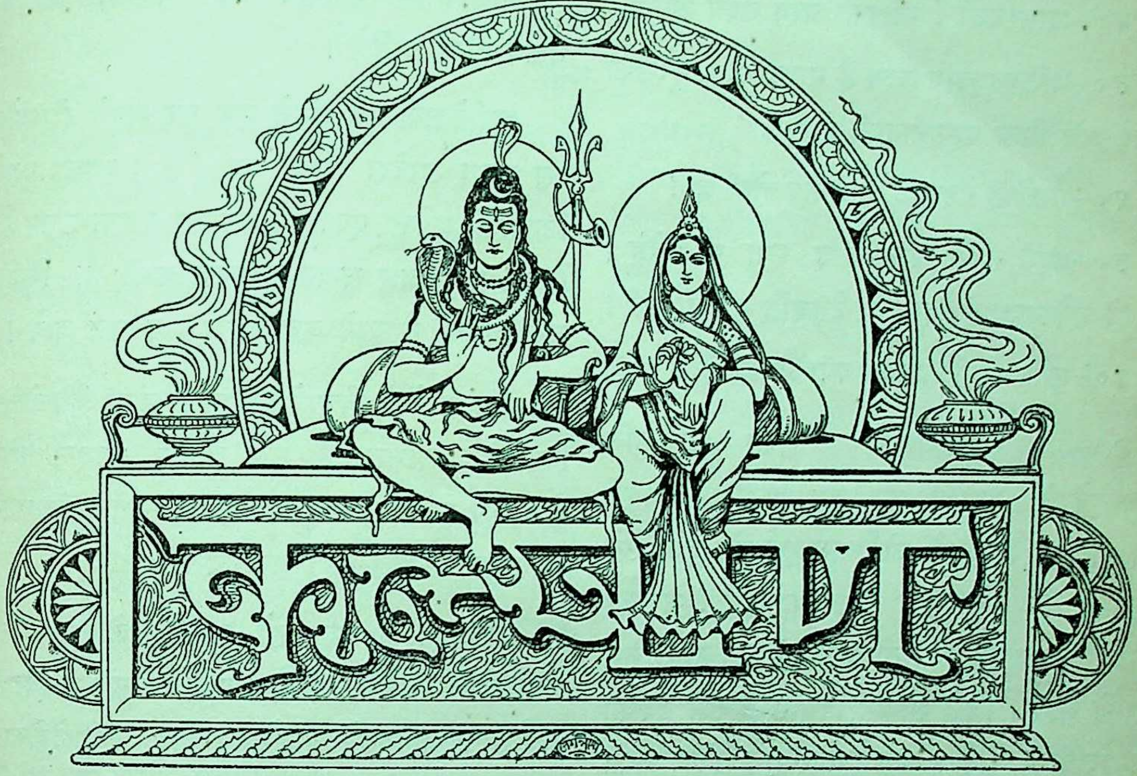

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, वैशाख १९९४, मई १९३७ { संख्या १०
पूर्ण संख्या १३०

महाराज रामसे विनय

महाराज, बलि जाउँ, राम ! सेवक-सुखदायक ।
महाराज, बलि जाउँ, राम ! सुंदर, सब लायक ॥
महाराज, बलि जाउँ, राम ! सब संकट मोचन ।
महाराज, बलि जाउँ, राम ! राजीवबिलोचन ॥
बलि जाउँ, राम ! करुनायतन, प्रनतपाल, पातकहरन ।
बलि जाउँ, राम ! कलि-भय-बिकल तुलसिदासु राखिअ सरन ॥

—तुलसीदासजी

पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

प्र०—महाराजजी ! भक्तिका चरम लक्ष्य क्या है ?

उ०—भक्तिका चरम लक्ष्य है भगवत्-प्रेम, दुःखका अभाव और नित्य परमानन्दकी प्राप्ति ।

प्र०—भक्तोंकी देहबुद्धि नष्ट कब होती है ?

उ०—पहले सबमें प्यारी चीज़ क्या थी ? देह । अब हो गये भगवान्, इसलिये देहबुद्धि नष्ट हो गयी ।

प्र०—मुक्ति होगी, इसका क्या प्रमाण है ?

उ०—शास्त्र प्रमाण है । सर्वज्ञ ऋषि-मुनि लिख गये हैं । बताओ जब तुम किसी अखबारमें पढ़ते हो कि विलायतमें कोई बात हुई तो तुम उसे सत्य मान लेते हो, इसमें क्या प्रमाण है ? अखबार ही न ? तुम अखबारको तो प्रमाण मानते हो लेकिन शास्त्रको नहीं । जिसे शास्त्रमें विश्वास है उसे तर्ककी आवश्यकता नहीं है । जिस प्रकार तुम विलायतका नकशा देखकर ही उसे मान लेते हो इसी प्रकार हमारे सभी शास्त्र सत्य हैं । तर्कसे या पोथी पढ़कर तुम समझ लोगे, यह असम्भव है । श्रद्धा और विश्वाससे ही समझ सकते हो । तर्क करते-करते सैकड़ों मर गये लेकिन कुछ वह समझ नहीं सके । मलिन बुद्धिवाले कभी भी नहीं समझ सकते ।

जिसको जैसा रोग हो वैसा ही उसका उपाय करना चाहिये । अगर तुम्हें सिनेमा देखनेका रोग है तो तुम श्रीवृन्दावनमें जाओ और वहाँपर श्रीभगवान्‌का सिनेमा देखो । अगर तुम्हें सुन्दर-सुन्दर रूपोंको देखनेका रोग है तो श्रीवृन्दावनमें जाकर भगवान् श्रीकृष्णको देखो । फिर तुम इस झूठे सिनेमा तथा रूपवती स्त्रीको देखना पसंद ही न करोगे !

प्राणीमात्रसे राग-द्वेष नहीं करना, यह बात भक्तमें होनो चाहिये ।

ऋषीकेशके एक संतने एक बार अपने शिष्योंको इस प्रकार उपदेश दिया था (१) ज्यादा पढ़ने-लिखनेकी अपेक्षा एकान्तमें अभ्यास करना उत्तम है । (२) धन और स्त्रीका मृत्युतक कभी भी विश्वास नहीं करना, न जाने कब उनपर मन चल जाये ।

महात्माओंको विचरनेमें आनन्द होता है । लेकिन जिसको शास्त्राभ्यास है उसे बैठनेमें आनन्द होता है । जैसे पूज्यपाद श्रीस्वामी हीरादासजी महाराज हर समय शास्त्राभ्यासमें ही आनन्दित रहते थे ।

भगवान्‌में तो श्रद्धा हो जायगी लेकिन गुरुमें श्रद्धा होना बड़ा कठिन है । लाखों मनुष्योंमें एक ही कोई होगा जो गुरुमें कोई भी दोष नहीं देखेगा । जबतक सद्‌गुरुमें श्रद्धा नहीं होगी तबतक कुछ नहीं होगा ।

जगद्‌गुरु भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजका मत अद्वैतवाद है—

हम हैं खुदं खुदा, न वह हमसे जुदा ।
जो जानै जुदा, सो न पावै खुदा ॥

चोरी नहीं करनी चाहिये । अगर कोई सड़कपर पड़ी चीज़ भी मिल जाय तो वह भी नहीं लेनी चाहिये । क्योंकि वह भी एक प्रकारसे चोरी ही है ।

प्र०—मन बार-बार विषयोंमें जाता है इसके लिये क्या करें ?

उ०—शास्त्रका भय करो, ईश्वरका भय करो ।

—प्रेषक 'भक्त रामशरणदास'

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

जनक-हे भगवन्! जीवन्मुक्तिसे विदेहमुक्तिमें कितनी विशेषता है?

समाधान-हे जनक! आत्माके आश्रित मायारूप अविद्याकी दो प्रकारकी शक्ति है, एक आवरण और दूसरी विक्षेप। विक्षेपशक्ति भी दो प्रकारकी है, एक शरीर और शरीरके सम्बन्धी धन-पुत्रादिमें राग उत्पन्न करनेवाली, और दूसरी प्रपञ्चकी प्रतीति करानेवाली विक्षेपशक्ति है। इन सबका नाम बन्ध है। जब आत्मसाक्षात्कारसे आवरणशक्ति और रागका कारण विक्षेपशक्ति दोनों निवृत्त हो जाती हैं, तब विद्वान् जीवन्मुक्त कहलाता है और जब प्रपञ्चकी प्रतीति करानेवाली विक्षेपशक्ति निवृत्त हो जाती है, तब विद्वान् विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है।

शङ्का-हे भगवन्! जब आत्मसाक्षात्कार आवरणशक्ति और रागके कारण विक्षेपशक्तिको नाश कर देता है, तो प्रपञ्चकी प्रतीति करानेवाली विक्षेपशक्तिका नाश क्यों नहीं करता?

समाधान-हे जनक! शरीरका आरम्भक पुण्य-पापरूप प्रारब्धकर्म विद्वान्‌को सुख-दुःखका भोग करानेके लिये विक्षेपशक्तिको निवृत्त नहीं होने देता, जब प्रारब्धका भोगसे क्षय हो जानेपर शरीर और विक्षेपशक्तिका नाश हो जाता है, तब विद्वान् विदेहमुक्तिको प्राप्त होता है।

शङ्का-हे भगवन्! प्रपञ्चको देखते हुए अज्ञानीके समान विद्वान् बन्धको क्यों नहीं प्राप्त होता?

समाधान-हे जनक! अज्ञानी जीव स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरको आत्मारूपसे जानता है, आत्माको असङ्ग नहीं जानता, इसलिये बन्धको प्राप्त होता है और विद्वान् अपने आत्माको असङ्ग जानकर प्रपञ्चको देखता है, इसलिये बन्धको प्राप्त नहीं होता।

शङ्का-हे भगवन्! रागादिसे रहित जीवन्मुक्तका खान-पानादि व्यवहार कैसे चलता है?

समाधान-हे जनक! जैसे प्रारब्धवश उन्मत्त और बालकका व्यवहार होता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्तका खान-पानादि व्यवहार होता है।

शङ्का-हे भगवन्! व्यवहार करते हुए विद्वान्‌को पदार्थोंमें राग क्यों नहीं होता?

समाधान-हे जनक! विशेषरूपसे पदार्थोंका ज्ञान राग-द्वेषका कारण होता है। विद्वान्‌को पदार्थोंका विशेष ज्ञान नहीं होता किन्तु जैसे नवें माससे पूर्व गर्भमें स्थित बालक माताके भोजन किये हुए नाना प्रकारके रसोंको भोजन करता हुआ भी विशेषरूपसे रसोंको नहीं जानता, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मस्वरूपमें स्थित विद्वान् खान-पानादि व्यवहार करता हुआ भी विशेषरूपसे उस व्यवहारको नहीं जानता, इसलिये उसको किसी पदार्थमें राग नहीं होता। और जैसे अशोकवनिकान्यायसे उन्मत्त पुरुषोंका चित्त किसी एक विषयमें लगा रहता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्तका चित्त आत्माके विचारमें लगा रहता है। जैसे सीताको हरण करके किसी एक वनमें अवश्य रखना था परन्तु दैवयोगसे रावणने सीताको अशोकवनमें रख दिया, इसका नाम अशोकवनिकान्याय है, इसी प्रकार किसी-न-किसी विषयमें यह चित्त अवश्य लगा रहता है, इसलिये विद्वान् चित्तको आत्मविचारमें लगाता है।

शङ्का–हे भगवन्! आनन्दस्वरूप आत्माका सदा चिन्तन करता हुआ विद्वान् यदि बाह्य विषयोंको नहीं जानता हो, तो जैसे वह शास्त्रविचारादि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार परद्रोहादि निषिद्ध कर्मोंमें विद्वान्की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान–हे जनक! जैसे जो पुरुष दीर्घकालके शास्त्राभ्याससे शास्त्रानुसार शुभ कर्म करता रहा है, यदि वह रोगादि निमित्तसे उन्मत्त भी हो जाय, तो भी पूर्वके अभ्याससे शास्त्रनिषिद्ध कर्म नहीं करता, यथार्थ अथवा अयथार्थ शुभ कर्मोंको ही करता है और बारंबार शास्त्रका ही उच्चारण करता है, इसी प्रकार विद्वान् मुमुक्षुदशामें किये हुए शमादि साधनों और वेदान्तशास्त्रके संस्कारोंके वशसे परद्रोहादि निषिद्ध कर्म नहीं करता। वह शुभ कर्म और वेदान्तविचारमें ही प्रवृत्त होता है।

शङ्का–हे भगवन्! अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारसे भेददृष्टि निवृत्त हो जानेसे विद्वान् पुरुष 'यह शिष्य अधिकारी है, यह अनधिकारी है' ऐसी भेददृष्टि अङ्गीकार करके किस प्रकार उपदेश देता है?

समाधान–हे जनक! जैसे सर्वशास्त्रवेत्ता कोई मायावी पुरुष अपनी मायाके प्रभावसे नाना रूपोंको धारण करके अपने एक अद्वितीय स्वरूपसे अपने अन्य रूपोंको भिन्न मानकर उन्हें शास्त्रका उपदेश करे, इसी प्रकार सर्वभेदसे रहित विद्वान् भी भेदको देखता हुआ शिष्योंको उपदेश करता है।

शङ्का–हे भगवन्! 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इस श्रुतिमें भेददर्शी पुरुषको भयकी प्राप्ति कही है, इसलिये गुरु-शिष्यादि भेदको देखनेवाले विद्वान्को भी भयकी प्राप्ति होगी।

समाधान–हे जनक! जैसे स्थूल शरीरके अभिमानको त्यागकर स्वप्नावस्थाको प्राप्त हुआ कोई पुरुष नाना पदार्थोंको देखता है और कभी-कभी ऐसा निश्चय करता है कि ये पदार्थ मिथ्या हैं, इसलिये उनमें बन्धायमान नहीं होता और शास्त्रजन्य अभ्यासके संस्कारोंसे मिथ्या पदार्थोंको उपदेश करने लग जाता है, इसी प्रकार यह विद्वान् भी अज्ञानसहित स्थूल-सूक्ष्म शरीरादिरूप प्रपञ्चको मिथ्या जानकर उनमें बन्धायमान नहीं होता और अधिकारी शिष्योंको उपदेशादि भी करता है, तात्पर्य यह है कि मिथ्या जाने हुए पदार्थोंका भेद बन्धन नहीं करता, सत्य जाने हुए पदार्थोंका भेद ही बन्धनका हेतु है।

शङ्का–हे भगवन्! जैसे बन्धदशामें विद्वान् शरीरसहित प्रतीत होता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त अवस्थामें प्रतीत होता है, फिर बन्धदशासे जीवन्मुक्तदशामें क्या विशेषता है?

समाधान–हे जनक! जैसे सर्प केंचुलीको जबतक नहीं त्यागता, तबतक केंचुलीके छेदन आदिसे दुःखको प्राप्त होता है और केंचुली त्यागनेके बाद केंचुलीके छेदनसे दुखी नहीं होता। केंचुलीको बिलके द्वारपर देखता हुआ भी, उसे अपनी न मानकर उसमें आसक्ति नहीं करता, इसी प्रकार विद्वान् जबतक देहका अभिमान नहीं त्यागता, तबतक देहके छेदनसे दुखी होता है और जन्म-मरणादि देहके धर्मोंको अपने मानता है, और जब आत्मसाक्षात्कारसे अपनेको देहसे भिन्न जानता है, तब देहके छेदनादिसे दुखी नहीं होता, देहको देखता हुआ भी उसमें आसक्ति नहीं करता और देहके धर्मोंको अपने नहीं मानता। तात्पर्य यह है कि जब विचारसे रहित तामसी जन्तु सर्पादि भी केंचुलीको त्यागकर फिर उसको अपनी नहीं मानते तो विचारादि साधनोंसे युक्त विद्वान् शरीरादिका अभिमान त्यागकर फिर उनके धर्मोंको अपनेमें न माने, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

शङ्का–हे भगवन्! केंचुली त्यागनेके बाद सर्पका उससे सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके छेदनसे सर्पको दुःख न होना सम्भव है और विद्वान्का तो देहसे सम्बन्ध रहता है, इसलिये शरीरके छेदनसे विद्वान्को अवश्य दुःखकी प्राप्ति होगी।

समाधान—हे जनक ! शरीरका सामान्य सम्बन्ध सुख-दुःखका हेतु नहीं होता किन्तु 'मैं शरीररूप हूँ' 'यह मेरा शरीर है' इस प्रकारके अहं-मम अभिमानरूप विशेष सम्बन्धसे शरीरके पूजन-दाहादिकोंसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है, जैसे भूतके आवेशसे युक्त शरीर भूतके पूजन-ताडनसे सुख-दुःखको प्राप्त होता है और शरीरमें स्थित भूतको शरीरमें अभिमान न होनेसे पूजन-ताडनादिसे सुख-दुःख नहीं होता । इसी प्रकार प्रारब्धकर्मके वशसे विद्वान्का शरीर पूजन-ताडनादिसे सुख-दुःखको प्राप्त होता है और अभिमान तथा पुण्य-पापरहित विद्वान्के वास्तव स्वरूपको सुख-दुःख नहीं होता । यहाँतक समाधिस्थ विद्वान्को सुख-दुःखके अनुभवका अभाव दिखाया, अब समाधिसे उत्थानकालमें विद्वान्के अनुभवमें अज्ञानी पुरुषोंसे विलक्षणता दिखाता हूँ । हे जनक ! जैसे बालकको प्रिय वस्तुसे सुखका और अप्रिय वस्तुसे दुःखका अनुभव होता है किन्तु वह अनुभव राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं करता, इसी प्रकार समाधिसे उत्थानकालमें विद्वान्को प्रिय-अप्रिय वस्तुमें सुख-दुःखका अनुभव होता है परन्तु वह अनुभव अज्ञानीके समान राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं करता, इसलिये अज्ञानीके अनुभवसे विद्वान्के अनुभवमें महान् विषमता है ।

विद्वान्में हर्षशोकका अभाव

हे जनक ! जैसे बहुत धन तथा अन्नसे युक्त धनी पुरुष किसी निमित्तसे अपने क्षेत्रमें जाकर अन्नादिकी अप्राप्ति देखकर शोक नहीं करता और बहुत अन्नकी प्राप्ति देखकर हर्ष नहीं करता, इसी प्रकार ब्रह्मके अभेदसे तृप्त विद्वान् धन-पुत्रादि लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे हर्ष नहीं करता और अप्राप्तिसे शोक नहीं करता । हे जनक ! जब कोई गृहस्थ मजदूर रखता है तो मजदूर दिनभर काम करनेकी मजदूरी ठहराकर पैसोंका चिन्तन करता हुआ सायंकालको देखता हुआ कार्य करता है परन्तु कार्यमें राग नहीं करता, इसलिये गृहस्थके समान न्यून अथवा अधिक कार्य नहीं करता, इसी प्रकार विद्वान् आनन्दस्वरूप आत्माका चिन्तन करता हुआ, प्रारब्धसमाप्तिकालको देखता हुआ, खान-पानादिमें राग नहीं करता, इसलिये अज्ञानी पुरुषके समान विद्वान् कार्यकी वृद्धि नहीं करता ।

विद्वान्के गमनागमन—हे जनक ! जैसे सूतके कातनेका काष्ठ-यन्त्र सूतके डोरेसे भ्रमण करता है, इसी प्रकार विद्वान् भी प्रारब्ध-कर्मवशसे तीर्थादिमें गमनागमन करता है ।

जीवोंकी भावनानुसार विद्वान्के शरीरमें सुख-दुःखकी कारणता—हे जनक ! जैसे कोई पुरुष कौतुकके लिये चमड़े या काठका हाथी रचे तो वह हाथी जीवोंके भावनानुसार किसीको सुख और किसीको दुःखका कारण होता है, इसी प्रकार विद्वान्का शरीर भी जीवोंकी भावनानुसार उन्हें सुख-दुःखकी प्राप्ति कराता है । जो पुरुष विद्वान्के शरीरमें प्रेम करते हैं, उनको विद्वान् अपने पुण्यकर्म देकर सुखकी प्राप्ति कराता है और जो विद्वान्के शरीरमें द्वेष करते हैं, उनको अपने पापकर्म देकर दुःखकी प्राप्ति कराता है । श्रुति—'तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यम्' 'विद्वान्के धनादि पदार्थोंको पुत्र ले जाते हैं, विद्वान्के पुण्यकर्मोंको भक्तजन और पापोंको द्वेषी जन ले जाते हैं ।' वास्तवमें विद्वान्—ज्ञानी पुरुषमें कोई पापपुण्य नहीं होते, उनमें जिसकी जैसी भावना होती है, वह वैसा ही फल पाता है । पुण्य देखनेवाला पुण्य और पाप देखनेवाला पाप !

मनके व्यापार बिना विद्वान्के शरीरकी प्रवृत्ति—जैसे धनुषसे छोड़ा हुआ बाण जबतक भूमिपर नहीं गिरता तबतक पूर्वके वेगसे आकाशमें भ्रमण करता है, इसी प्रकार विद्वान्के शरीरका जबतक पात नहीं होता, तबतक प्रारब्धके वेगसे विद्वान्का शरीर गमनागमन करता रहता है ।

विद्वान्‌में सर्व व्यवहारोंका विस्मरण—हे जनक ! जैसे किसी पुरुषके शरीरमें भूत प्रवेश करे, तो वह पुरुष उस कालमें नाना प्रकारके व्यवहारोंको करता हुआ भी विशेषरूपसे उन व्यवहारोंको नहीं जानता, इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठाके आवेशके बाद विद्वान् नाना प्रकारके व्यवहारोंको करता हुआ भी उनको विशेषरूपसे नहीं जानता। हे जनक ! जब विद्वान् इस अवस्थाको प्राप्त होता है तो स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर रहते हुए भी वह शरीरोंसे रहित होता है और शरीरोंके जन्म-मरणादि धर्मोंसे भी रहित होता है, इसीलिये श्रुतिभगवती विद्वान्‌को अशरीर कहती है। शरीरादिके नाश होनेपर भी विद्वान्‌के वास्तव स्वरूपका नाश नहीं होता, इसीलिये श्रुतिभगवती विद्वान्‌को अमृत कहती है। हे जनक ! विद्वान् पुरुष यद्यपि वास्तवमें प्राण-अपानादिसे रहित है तो भी अपनी समीपतासे प्राणोंको अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त करता है, इसीलिये श्रुतिभगवती विद्वान्‌को प्राण कहती है। विद्वान् सजातीय, विजातीय और स्वगत तीनों भेदोंसे रहित है, इसीलिये श्रुतिभगवती विद्वान्‌को ब्रह्म कहती है। विद्वान् स्वप्रकाश चैतन्यरूप है, इसीलिये श्रुतिभगवती विद्वान्‌को तेज कहती है।

देवी—हे प्रियदर्शन ! जब याज्ञवल्क्यने इस प्रकार जनकको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया तो ब्रह्मविद्याको राजा जान गया किन्तु ब्रह्मविद्याके साधनोंको जनक राजा नहीं जानता था, इसलिये अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगा—

जनक—(मनमें) साधनोंसे रहित पुरुषका मन शुद्ध नहीं होता और अशुद्ध मनवाले पुरुषको वेदान्तके श्रवणसे भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसलिये मनके शुद्ध करनेवाले साधनोंको अवश्य श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकार मनमें विचार करके जनक राजा पूर्वके समान याज्ञवल्क्यसे इस प्रकार कहने लगा—

जनक—हे भगवन् ! आपके उपदेशसे मुझे ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है, विद्याकी गुरुदक्षिणा-स्वरूप एक हजार गौ मैं आपको देता हूँ, उनको आप स्वीकार कीजिये !

हे वत्स ! राजाके यह वचन सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि राजाके अभिप्रायको जानकर नाना प्रकारके साधनोंसहित ब्रह्मविद्याका उपदेश इस प्रकार करने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! अनेक जन्मोंके पुण्यकर्मके प्रभावसे अन्तके जन्ममें आत्मसाक्षात्कार होता है, आत्मसाक्षात्कार ही ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप मोक्षका मार्ग है। यह आत्मसाक्षात्कार अत्यन्त तर्ककुशल पुरुषोंको भी दुर्विज्ञेय है, इसलिये श्रुतिभगवती ज्ञानमार्गको सूक्ष्म नामसे कहती है। यह आत्मज्ञान परिपूर्ण नित्य ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है, इसलिये इस आत्मज्ञानको श्रुति चेतन, पुराण कहती है। हे जनक ! इस ज्ञानको केवल मैं सर्वज्ञ ही जानता हूँ, दूसरा कोई नहीं जान सकता।

शङ्का—हे भगवन् ! जब आपके सिवा दूसरा नहीं जान सकता, तो मुझ-सरीखे जीवोंको उसके जाननेकी आशा ही न करनी चाहिये। फिर मुझे आत्मसाक्षात्कार कैसे होगा ?

समाधान—हे जनक ! मैंने ही इस मार्गको जाना है, इस मेरे कथनका यह अभिप्राय है कि जैसे मैं ब्रह्मचर्यादि साधनों तथा गुरु-कृपासे आत्मज्ञानद्वारा मोक्षको प्राप्त हुआ हूँ, इसी प्रकार साधनसम्पन्न दूसरे पुरुष भी साधनोंसे, गुरु-कृपासे आत्मज्ञान और मोक्षको प्राप्त हो सकते हैं। साधनोंके बिना बहिर्मुख पुरुष आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं हो सकता, मेरे कथनका यह अभिप्राय है।

आत्मज्ञान ही मोक्षका मार्ग है

हे जनक ! जैसे नमकका पिण्ड समुद्रमें मिलकर समुद्ररूप हो जाता है, इसी प्रकार आनन्द-

स्वरूप आत्मामें स्थित होकर विद्वान् जन्म-मरण, राग-द्वेष तथा अज्ञानसे रहित होकर देहादि उपाधियोंसे भिन्न हो जाता है, इसलिये कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्ति और ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला आत्मज्ञान ही है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'ज्ञानके सिवा मोक्षकी प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है'; आत्मज्ञान ही मोक्षकी प्राप्तिका मार्ग है।

सुषुम्ना नाड़ी—हे जनक! कई उपासक पुरुष कहते हैं कि हृदय-कमलमें स्थित सूर्यभगवान् और बाह्य आकाशमें स्थित सूर्यभगवान्से सुषुम्ना नाड़ीका सम्बन्ध है। इस नाड़ीसे उपासक ब्रह्मलोकको जाता है और ब्रह्माके साथ मोक्षको प्राप्त होता है, इसलिये सुषुम्ना नाड़ी भी मोक्षकी प्राप्तिका मार्ग है, यह मार्ग हृदय-कमलसे और सूर्यसे निकलनेवाली किरणोंसे रचित है। ये नाड़ियाँ नाना प्रकारके अन्नके रसोंसे पूर्ण हैं, इसलिये ब्रह्मलोकके मार्गको उपासक शुक्ल, नील, पिंगल, हरित, लोहित आदि अनेक वर्णवाला मानते हैं। ऐसे विचित्र मार्गको उपासक ही अपने साक्षी प्रत्यक्षसे जानते हैं, दूसरा नहीं जानता। जो अधिकारी पुरुष सगुण ब्रह्मकी अहंग्रह उपासना करता है, वह नाड़ीरूप मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है और पूर्वोक्त पञ्चाग्निविद्याको जाननेवाले गृहस्थ भी नाड़ीमार्गसे ब्रह्मलोकको जाते हैं और गृहस्थोंके सिवा ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी इन तीन आश्रमवाले भी अपने-अपने आश्रमका पुण्यकर्म करके नाड़ीद्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोकमें जाकर उपासक पुरुष ब्रह्माके साथ मोक्षको प्राप्त होता है, इसलिये सुषुम्ना नाड़ी ही मोक्षका मार्ग है। इस प्रकार कई उपासक सुषुम्ना नाड़ीको ही मोक्षका मार्ग कहते हैं। ऐसा सुनकर मुमुक्षुको आत्मज्ञानरूप मार्गसे श्रद्धा कम न करनी चाहिये, क्योंकि आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम है, यही बात स्पष्ट करके दिखलाता हूँ।

आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम है

हे जनक! जो पुरुष स्वर्गकी प्राप्तिके लिये यज्ञदानादि करते हैं, वे सकामपुरुष धूमादि मार्गसे स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं। वहाँ प्राप्त होकर वे अन्धतमको प्राप्त होते हैं। वह अन्धतम स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंमें आसक्ति कराके उन पुरुषोंके विचाररूपी नेत्रोंको ढँक देता है। तात्पर्य यह है कि जब यज्ञदानादि पुण्यकर्मोंसे दक्षिणमार्गमें जानेवालोंको अन्धतम प्राप्त होता है, तो पापकर्मसे कीट-पतङ्गादि भावकी प्राप्तिरूप तीसरे मार्गमें जानेवाले पुरुष तो अन्धतमको अवश्य ही प्राप्त होते हैं। हे जनक! ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिये ब्रह्मादि देवताओंकी उपासना करनेवाले पुरुषोंकी भी पदार्थोंमें आसक्ति होती है। हे जनक! मनुष्यलोकमें जितने सात्त्विकी, राजसी और तामसी जीव हैं, वे सब मरकर इन मार्गोंसे परलोकमें जाते हैं। उनमें एक तो उपासकोंको ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला देवयानमार्ग है और दूसरा कर्मी पुरुषोंको स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला पितृयानमार्ग है और तीसरा कीट-पतङ्गादि शरीरोंकी तथा नरककी प्राप्ति करानेवाला तृतीय स्थान नामका मार्ग है। इन तीनोंमें परस्पर इतनी विलक्षणता है कि तीसरे मार्गका तो ब्रह्मज्ञानसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात भगवान्ने गीतामें कही है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

'द्वेषादि पाप करनेवाले अधम जीवोंको मैं ईश्वर अधम योनियोंमें प्राप्त करता हूँ।' इस गीतावाक्यसे भी सिद्ध होता है कि तीसरे मार्गका ब्रह्मज्ञानसे

कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कर्मी पुरुषको भी स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति भुलाये ही रखती है। हाँ, उपासक पुरुषोंका मार्ग चित्तकी शुद्धिद्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्ति करा सकता है इसलिये इस मार्गका ब्रह्मज्ञानसे सम्बन्ध है। हे जनक! जन्म-मरणादिसे रहित इस चौथे ब्रह्मज्ञानरूप मार्गमें जो अधिकारी विचरना चाहे; उसे तीनों मार्गका त्याग करना चाहिये।

आत्मज्ञानका फल

हे जनक! यह आनन्दस्वरूप आत्मा शरीरादिसे भिन्न है, इसलिये सुख-दुःखादि शरीरके धर्म असङ्ग आत्माको स्पर्श नहीं करते। यह आनन्दस्वरूप आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानसे जब शरीरके साथ तादात्म्य अध्यासको प्राप्त होता है तब अपने सर्वात्मभावको भूलकर मूढ़ताको प्राप्त होता है और सुख-दुःखादि संसार-धर्मोंसे तपायमान शरीरके सम्बन्धसे तपायमान होता है और 'मुझे सुखकी प्राप्ति हो' इस प्रकारकी इच्छासे परम दुःखको प्राप्त होता है। हे जनक! जिस पुरुषको ऐसा ज्ञान हो जाता है कि सब जीवोंके हृदयमें स्थित, सब सुखोंका समुद्र, स्वयंज्योति परमात्मा देव मेरे स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु मैं ही परमात्मारूप हूँ।' ऐसा जाननेवाला पुरुष शरीरादिसे अपनेको भिन्न मानता है और सब विषय-जन्य सुखकी इच्छाओंसे रहित हो जाता है, इसलिये सुखकी इच्छा और शरीरके सुख-दुःखादि धर्मोंसे वह तपायमान नहीं होता।

हे जनक! आत्मसाक्षात्कारसे इस पुरुषकी कारण-अविद्या निवृत्त हो जाती है, कारण-अविद्याके निवृत्त होनेसे शरीरादिमें तादात्म्य अध्यासरूप कार्य-अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब उस पुरुषको शरीरके सुख-दुःखादि धर्म तपायमान नहीं करते। जैसे लोहपिण्डका जबतक अग्निके साथ तादात्म्य सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकाशमान और तपायमान रहता है, जब अग्निका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रहता, तब लोहपिण्ड प्रकाशमान और तपायमान नहीं होता, इसी प्रकार जबतक पुरुषका शरीरके साथ तादात्म्य अध्यास होता है, तबतक पुरुष शरीरके सुख-दुःखादि धर्मोंसे तपायमान होता है और जब शरीरका तादात्म्य अध्यास निवृत्त हो जाता है, तब विद्वान् शरीरके धर्मोंसे तपायमान नहीं होता। हे जनक! तादात्म्य अध्यास ही जीवोंको दुःख देनेवाला है क्योंकि जो पुरुष अपने स्त्री-पुत्रादिको अपना आत्मा मानता है, वह पुरुष उनके दुःखसे परम दुखी होता है और जो पुरुष स्त्री-पुत्रादिमें अहं-मम अभिमान नहीं करता, वह उदासीन पुरुषके समान उनके दुःखसे दुखी नहीं होता। इसी प्रकार पुरुष भी जब शरीरमें अहं-मम अभिमान करता है, तब शरीरके सुख-दुःखसे सुख-दुःखको प्राप्त होता है और जब अभिमान नहीं करता तो सुख-दुःखको प्राप्त नहीं होता। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार ही कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्तिद्वारा सब दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका कारण है।

सर्वात्मभावकी प्राप्तिका फल

हे जनक! कमलमें स्थित आनन्दस्वरूप स्वयंज्योति आत्मा सर्वत्र व्यापक है और बुद्धि आदि संघातसे विलक्षण है, उस आनन्दस्वरूप आत्माका जिस अधिकारी पुरुषने गुरु-शास्त्रके उपदेशसे निश्चय किया है वही सम्पूर्ण विश्वका कर्ता है। जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें कल्पित सर्प, दण्डमाला, जलधारा आदि पदार्थोंका एक रज्जु ही अधिष्ठान है, इसी प्रकार ब्रह्मलोक आदि सम्पूर्ण लोकोंका विद्वान् पुरुष ही अधिष्ठान है और जैसे कल्पित सर्पादि रज्जुसे भिन्न नहीं हैं, रज्जुरूप ही हैं, इसी

प्रकार पूर्वोक्त मार्गोंसे प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोकादि तथा अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूप स्थूल-सूक्ष्म सम्पूर्ण जगत् विद्वान्‌से भिन्न नहीं है, सब विद्वान्‌का आत्मा ही है ।

अज्ञानी जीवोंकी हानि

हे जनक ! ज्ञानके अतिरिक्त अन्य सभी मार्ग जीवको संसाररूप घोर वनमें घुमानेवाले हैं, इसलिये उनको त्यागकर मरणपर्यन्त मुमुक्षुओंको आत्मज्ञानपरायण होना चाहिये, इस आत्मज्ञानसे अधिकारी जीवित अवस्थामें ही ब्रह्मज्ञानरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं, अतएव आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासनका यत्नपूर्वक सम्पादन करना चाहिये। हे जनक ! यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यशरीरमें आत्मसाक्षात्कार न हुआ तो उनकी महान् हानि है। इसलिये विद्युत्‌के समान चञ्चल अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर अधिकारियोंको जन्म-मरणादि दुःखोंकी निवृत्तिका आत्मज्ञानरूप उपाय करना चाहिये ।

मनुष्यशरीरकी दुर्लभता

हे जनक ! जैसे जेठके सूर्यसे तपी हुई रेतमें किसीके हाथसे घी गिर जाय तो उस घीको बुद्धिमान् भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसी प्रकार मनुष्यशरीरके नष्ट होनेपर अधिकारीको फिर इस मनुष्यशरीरकी प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है ।

हे जनक ! इस मनुष्यशरीरके सिवा अन्य जितने ऊँच-नीच शरीर हैं, उनकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं है, एक मनुष्यशरीर ही दुर्लभ है। हे जनक ! मनुष्यशरीरोंमें भी इस भारतखण्डमें मनुष्यशरीरकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये भारतखण्डमें मनुष्यशरीरकी प्राप्ति महान् लाभ है, इससे बढ़कर अन्य लाभ नहीं है। हे जनक ! जिन स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंके मोहसे अधिकारी जीव मनुष्यशरीरको व्यर्थ गँवाते हैं वे दुर्लभ नहीं हैं किन्तु स्वर्ग-नरक तथा चौरासी लाख शरीरोंमें जहाँ जीव जाते हैं, उन-उन शरीरोंमें उस-उस शरीरके समान स्त्री-पुत्रादि पदार्थ बिना ही यत्नके प्राप्त होते हैं, इसलिये वे दुर्लभ नहीं हैं, और यह अधिकारी मनुष्य-शरीर एक बार प्राप्त हुआ तो फिर प्राप्त होना कठिन है ।

मनुष्यशरीरकी श्रेष्ठता

हे जनक ! परमेश्वरने भारतखण्ड कर्म करनेको रचा है। भारतखण्डमें मनुष्यशरीर पाकर जो कोई पुण्यकर्म करता है, वह स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है और जो पापकर्म करता है, वह नरकादिको प्राप्त होता है, इसलिये भारतखण्डमें उत्पन्न हुआ मनुष्यशरीर पुण्य-पापकी उत्पत्तिद्वारा जीवोंको सब लोकोंकी प्राप्ति करानेवाला है। हे जनक ! भारतखण्डमें पुण्यकर्म करनेसे यह जीव पाताललोकको जाता है । पाताललोक स्वर्गसे भी अधिक शोभावाला है और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात लोक पातालमें नाना प्रकारके भोगसाधनोंसे पूर्ण हैं। सब गुणोंसे सम्पन्न नागोंकी सुन्दर कन्याएँ पातालमें हैं मानो पाताललोकमें रहनेवाले जीवोंके सम्पूर्ण पुण्यकर्म एकत्र हो मूर्तिमान् होकर पातालमें विराजमान हुए हैं। हे जनक ! सूर्यभगवान्‌को जो न देखें, उनका नाम असूर्यपश्य है। असूर्यपश्य शब्दका अर्थ यद्यपि पाणिनि ऋषिने राजाकी स्त्रियोंमें घटाया है परन्तु राजाकी स्त्रियोंको कभी-कभी सूर्यका दर्शन हो भी जाता है, इसलिये असूर्यपश्य शब्द मुख्यवृत्तिसे राजाकी स्त्रियोंका बोधन नहीं करता, गौणवृत्तिसे ही करता है और

पातालमें रहनेवालोंको कभी भी सूर्यका दर्शन नहीं होता, मणिके प्रकाशसे पातालवासी जीवोंका गमनागमन व्यवहार होता है, इसलिये असूर्यपश्य शब्द मुख्यवृत्तिसे पातालवासियोंका बोधन करता है, हे जनक ! पातालमें नाना प्रकारके ऐश्वर्यको भोगते हुए असुर तथा नाग निवास करते हैं, इसलिये शास्त्रवेत्ता उनको भोगी कहते हैं। हे जनक ! महादेवके कण्ठका भूषण वासुकिनाग, विष्णुभगवान्का शय्यारूप शेषनाग, सूर्यभगवान्के रथका तक्षकनाग, नलराजाका मित्र कर्कोटकनाग तथा पद्म, महापद्म, सशङ्ख, कुलिक, एलापत्रक आदि नाग तथा महादेव, देवी, गरुडादि देवताओंके कुण्डलादि भूषणरूप अनेक नाग अपने स्त्री-पुत्रादि बान्धवों तथा भृत्योंसहित पातालमें निवास करते हैं। हे जनक ! विश्वकर्माके समान मायामें अत्यन्त कुशल मय नामक दैत्य तथा विप्रचित्ति, बलि आदि असुर जिनसे इन्द्रादि देवता भयको प्राप्त होते हैं, वे भी पातालमें निवास करते हैं। हे जनक ! ऐसे पाताललोकमें नारद आदि मुनि आकर पातालके प्रभावको देखकर स्वर्गमें जाकर देवराज इन्द्रसे पाताललोकका प्रभाव वर्णन करते हैं। हे जनक ! ऐसे पातालमें, स्वर्गलोकमें, ब्रह्मलोकमें तथा मनुष्यलोकमें जो सुख प्राप्त होता है, इस सम्पूर्ण सुखको जो जीव प्राप्त होता है, वह भारतखण्डमें अधिकारी मनुष्यशरीरके पुण्यकर्मसे ही प्राप्त होता है और भारतखण्डमें पापकर्म करनेसे जीव नरकको प्राप्त होता है और आत्मसाक्षात्कारसे प्राप्त होने योग्य मुक्तिको भी भारतखण्डके मनुष्यशरीरके साधनोंसे ही प्राप्त होता है, और हे जनक ! जैसे क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए अन्नको लोग घरमें भोजन करते हैं, इसी प्रकार भारतखण्डमें किये हुए पुण्यपापरूप कर्मोंके फलको यह जीव स्वर्गादिमें भोगता है, इसलिये भारतखण्ड ही स्वर्गादि सुखोंकी तथा ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिका क्षेत्र है।

शंका–हे भगवन् ! व्यास भगवान्ने 'तदुपर्यपि' इस सूत्रमें देवताशरीरमें भी ब्रह्मविद्याका अधिकार सिद्ध किया है, इसलिये भारतखण्डमें ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, यह आपका कथन सम्भव नहीं है ?

समाधान–हे जनक ! यद्यपि व्यास भगवान्ने देवताशरीरमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति कही है परन्तु देवताशरीरमें अवश्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय हमलोगोंको नहीं हो सकता किन्तु देवताशरीरमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होगी या नहीं, ऐसा संशय रहता है और भारतखण्डमें अधिकारी मनुष्यशरीरको श्रवणादि साधनोंसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें संशय नहीं, किन्तु निश्चय ही है। इसलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये यहाँ ही यत्न करना चाहिये। हे जनक ! भारतखण्डमें अधिकारी मनुष्यशरीरको पाकर जो पुरुष ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्न नहीं करता, स्वर्गादि लोकोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह पुरुष महामूढ है। जैसे किसी क्षुधातुरको दही-भात मिल जाय और वह उसको छोड़कर अपना हाथ चाटने लगे, तो वह अत्यन्त मूढ है, इसी प्रकार अधिकारी मनुष्यशरीरको त्यागकर स्वर्गादि लोकमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति चाहनेवाला मूढ है। इसलिये यहाँ ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका यत्न करना चाहिये। हे जनक ! जो पुरुष मनुष्यशरीरमें ब्रह्मज्ञानप्राप्तिका यत्न नहीं करता किन्तु स्वर्गादिमें करना चाहता है, उसको विद्वान् लोग मूढ बालक मानते हैं क्योंकि इस अनादि संसारमें जीवने अनेक जन्मोंमें जो-जो पुण्य-पापरूप कर्म किये हैं,

वे सब सूक्ष्मरूपसे जीवके अन्तःकरणमें रहते हैं, उन कर्मोंमेंसे कौन-सा कर्म मरणकालमें भावी फल देनेको सम्मुख होगा, यह बात ईश्वरके सिवा और कोई जान नहीं सकता, ईश्वर ही जानता है, इसलिये स्वर्गादि लोकोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषका यदि मरणकालमें नरकफल देनेवाला पापकर्म सम्मुख हुआ तो मूढ क्या उपाय करेगा? हे जनक! जैसे इस लोकमें कोई जुवारी पूर्वके शुभ कर्मके प्रभावसे जुवेमें महान् पदार्थको प्राप्त हो और वह महान् पदार्थ उसी जुवेमें नष्ट हो जाय, तो बारंबार यत्न करनेपर भी जुवारी उस महान् पदार्थको प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार यह जीवरूप जुवारी विषयरूप जुवारी पुरुषोंके साथ संसाररूप जुवा खेलता है। संसाररूप जुवा खेलते हुए इस जीवात्मा जुवारीको पूर्वके पुण्यके प्रभावसे मनुष्यशरीररूप महान् पदार्थ प्राप्त हुआ है। यदि इसको जीवात्मा जुवारी संसाररूप जुवेमें नष्ट कर देगा, तो फिर यह शरीर इसको प्राप्त होना दुर्लभ है। हे जनक! जैसे इस लोकमें जब जुवारी जुवेमें पराजयको प्राप्त होता है, तो सर्वलोकप्रसिद्ध महान् दुःखका अनुभव करता है, इसी प्रकार भारतखण्डमें विषयरूप जुवारी पुरुषोंसे पराजयको प्राप्त हुआ यह जीवात्मा जुवारी मनुष्यशरीरको त्यागकर जब पाताल, ब्रह्मलोक, स्वर्ग तथा नरकमें नाना प्रकारके शरीरोंको प्राप्त होता है तो वहाँ विषयजन्य पराधीन सुखके लेशसे ढका हुआ दुःखको ही भोगता है और नरकादिमें तो प्रसिद्ध दुःखको भोगता है। हे जनक! इस लोकमें जुवारियोंका यह स्वभाव प्रसिद्ध है कि जिस मूढ पुरुषको वे जुवेमें जीतते हैं, वह मूढ जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ वे जुवारी जाकर उसके जीतनेका उद्यम करते हैं। जबतक मूढ पुरुषके पास कुछ भी धन रहता है, तबतक उसका पीछा नहीं छोड़ते। जब उसके पास एक कौपीनमात्र रह जाता है, तब उसका पीछा छोड़ते हैं, इसी प्रकार विषयरूप जुवारी जिस मूढ जीवका मनुष्यशरीररूप धन जीत लेते हैं, वह मूढ जीव स्थूल शरीरको त्यागकर जिस-जिस लोकमें जाता है, उस-उस लोकमें विषयरूप जुवारी उसके जीतनेको जाते हैं; जबतक मूढ पुरुषके पास पुण्यरूप धन रहता है तबतक विषयरूप जुवारी उसका पीछा नहीं छोड़ते, किन्तु सर्वपुण्यरूप धनको जीतकर जब मूढ जीवके पास पापरूपी कौपीनमात्र रह जाता है, तब उसका पीछा छोड़ते हैं, हे जनक! इस भारतखण्डमें मनुष्यशरीर पाकर जो पुरुष साधन करके 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अभेद ज्ञानको नहीं प्राप्त होता, वह अज्ञानी जीव मनुष्यशरीरके नाश होनेपर महान् हानिको प्राप्त होता है, यह महान् हानि न हो, ऐसा उपाय मुमुक्षुओंको करना चाहिये। वह उपाय ब्रह्मज्ञानके सिवा दूसरा नहीं है, इसलिये अधिकारी पुरुषको ब्रह्मज्ञानका सम्पादन करना चाहिये, जिससे उनकी महान् हानि न हो।

रासलीला-रहस्य

(लेखक—एक महात्मा)

[गतांकसे आगे]

अथवा—

'योगमायामुपाश्रितः—योगाय भगवता सम्बन्धाय माया कृपा यस्याः कात्यायन्या तां कात्यायनीमुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे ।'

अर्थात् योग भगवान्के साथ सम्बन्ध करनेके लिये जिसकी माया—कृपा है उस कात्यायनी देवीका आश्रय लेकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की ।

अथवा—

'योगाय सम्बन्धाय मां मतिम् आययति प्रापयति या सा योगमा कात्यायनी तस्यामुपाश्रितः ।'

—योग अर्थात् सम्बन्धके लिये जो मा—मति प्राप्त कराती है वह कात्यायनी देवी ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की । सो कैसे ? क्योंकि कात्यायनी देवीके अर्चनद्वारा ही ऐसा अदृष्ट हुआ था कि जिससे गोपाङ्गनाओंको भगवान्की प्राप्ति हुई ।

अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह सम्बन्धाय भगवतः श्रीकृष्णस्य मां मतिम् आययति आपयति या सा वृषभानुनन्दिनी योगमाया तामुपाश्रितः ।'

—जो व्रजाङ्गनाओंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भगवान्की बुद्धिको प्रवृत्त करनेवाली श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं वे ही योगमाया हैं, उनका आश्रयकर उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की । लोकमें तो सापत्न्यभाववश ईर्ष्या रहा करती है; परन्तु इधर श्रीवृषभानुनन्दिनी परम करुणामयी हैं; उनमें सापत्न्यभाव नहीं है । उनके कारण उनकी लीलाभूमिके जीव-जन्तुओंका भी पारस्परिक विरोध निवृत्त हो जाता है । इसीसे वहाँ समस्त ऋतुओंका एकत्र समावेश होता है । तो फिर स्वयं उन वृषभानुदुलारीमें ही विरोध कैसे रह सकता है ? वे तो यही चाहती हैं कि सारा संसार मेरे ही समान भगवान्के अति विशुद्ध सौन्दर्यसुधा-रसका पान करे । यह बात सर्वथा निश्चय ही है कि जबतक जीव भगवान्से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता तबतक वह परम पदका अधिकारी नहीं हो सकता और न उसका दुःख ही निवृत्त हो सकता है । इसीसे यह भी देखा जाता है कि जो लोग आध्यात्मिक मार्गका अनुसरण करते हुए परब्रह्म परमात्माकी ओर अग्रसर हो रहे हैं उनकी भी अन्य लोगोंके प्रति ऐसी भावना नहीं रहती कि वे हमारी ओर न आवें । महर्लोकवासियोंके विषयमें भी यही कहा है कि वे सर्वसुख-सम्पन्न होनेपर भी केवल इसीलिये दुःखी रहते हैं कि उनकी अपेक्षा निम्नतर लोकोंमें रहनेवाले जीव उस अति विलक्षण भगवत्सुखका समास्वादन नहीं कर सकते । उन अज्ञानियोंके प्रति करुणा होनेके कारण ही उनके हृदयमें खेद होता है । 'यच्चित्ततोदं कृपयानिदंविदाम्' । अतः भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले जितने लोग हैं वे यही चाहते हैं कि अन्य पुरुष भी उन्हींके मार्गका अनुसरण करें । इसीसे उनमें सम्प्रदायवृद्धिकी भावना देखी जाती है ।

इस प्रकार जब सामान्य साधकोंमें भी अपने साथ ही भगवान्की ओर सब लोगोंको ले जानेकी प्रवृत्ति देखी जाती है तो साक्षात् प्रेमरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनीकी सहृदयता एवं लोकहितैषिताके विषयमें तो कहा ही क्या जा सकता है ! उनमें किसी प्रकारकी ईर्ष्या कैसे रह सकती है ? वस्तुतः ईर्ष्या तो वहीं रहा करती है जहाँ स्वामी परिच्छिन्न और अल्प सुख प्रदान करनेवाला होता है । किन्तु यहाँ श्रीराधिकारमण तो अपरिच्छिन्न, अनन्त, सुखमय और सर्वशक्तिसम्पन्न है । इसलिये उन्हें किसी प्रकारकी ईर्ष्या क्यों होने लगी । अतः अपना आश्रय लेनेपर वे उन गोपाङ्गनाओंके साथ रमण करनेके लिये भगवान्की मतिको प्रेरित कर देती हैं ।

अथवा—

'योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय मां सर्वेषां मुक्तमुमुक्षुविषयिणां मतिम् आययति प्रापयति इति योगमाया तामुपाश्रितः ।'

—जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ तादात्म्य प्राप्त करानेके लिये मुक्त, मुमुक्षु और विषयी लोगोंकी मति सम्पादन करती हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी योगमाया हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्ने रमणकी इच्छा की । श्रीवृषभानुसुताकी कृपासे ही मनुष्योंकी भगवान्के प्रति प्रवृत्ति होती है; अन्यथा उनका चित्त अनेक प्रकारके ऐहिक-आमुष्मिक भोगोंमें ही

आसक्त रहता है। किन्तु यदि वे विचारपूर्वक देखें तो भगवत्प्राप्ति ही उनका परम स्वार्थ है। शास्त्रोंमें जैसे स्वार्थकी निन्दा की गयी है वैसे ही उसकी महत्ता भी कम नहीं बतलायी गयी, जैसे कि कहा है—

'स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।'

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषको अपना काम बना लेना चाहिये, कामको बिगाड़ देना ही मूर्खता है। कृतार्थताकी सभीने प्रशंसा की है; किन्तु इसका तात्पर्य क्या है? कृतार्थताका अर्थ है काम पूरा कर लेना। यह काम दूसरोंका नहीं है, क्योंकि दूसरोंके कामोंकी तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः सिद्धान्त यही है कि स्वकार्यसिद्धि ही कृतार्थता है। स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा अत्यन्त प्रयत्न करके भी कितने स्वप्नपुरुषोंका कल्याण कर सकेगा? उन सबके कल्याणका एकमात्र साधन तो यही है कि वे स्वयं जग जायँ। इसी प्रकार संसारका परम कल्याण भी अपने ही कल्याणमें है। यदि लोकदृष्टिसे देखें तो भी जबतक तुम स्वयं कृतकृत्य नहीं हो तबतक तुम्हारी बात कौन सुनेगा? इस दृष्टिसे स्वार्थसाधन ही परम कर्तव्य है।

परन्तु स्वार्थकी निन्दा भी कम नहीं की गयी। स्वार्थसे बढ़कर कोई बुराई नहीं मानी गयी। अतः समझना चाहिये यहाँ 'स्व' शब्दके अर्थमें भेद है। जो पुरुष शरीरको ही 'स्व' समझता है वह क्षुद्र है। यह 'स्व' जितना ही विस्तृत होगा उतना ही स्वार्थ परमार्थरूप हो जायगा। जो पुरुष 'स्व' शब्दका अर्थ शरीर समझेगा उसका सिद्धान्त 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' हो जायगा। जो सारे संसारको अपना आत्मा मानेगा उसकी दृष्टिमें लोककल्याण ही आत्मकल्याण होगा और जो स्वयंप्रकाशपूर्ण परब्रह्ममें आत्मबुद्धि करेगा वह उस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-शून्य शुद्ध परब्रह्ममें जो कर्तृत्वादिका आरोप हो रहा है उसकी निवृत्ति करेगा। इससे उसके यज्ञादि सारे कर्म ही आत्मार्थ होंगे। इस प्रकार देखते हैं कि वास्तविक स्वार्थ तो बहुत ही ऊँचा है। देह, इन्द्रिय, चित्त और चिदाभासको सुख पहुँचानेके लिये जितनी चेष्टाएँ की जाती हैं वे वस्तुतः स्वार्थ नहीं हैं, क्योंकि ये देहादि तो आत्मा नहीं हैं, बल्कि अनात्मा हैं। यदि कहो कि आत्मा न सही आत्मीय तो हैं ही; अतः आत्मीय होनेके कारण भी उनके उपदेशसे जो कर्म किया जायगा वह स्वार्थ ही कहा जायगा—सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनमें आत्मीयताकी प्रतीति भी भ्रमके ही कारण है। आत्मा तो असंग है; इसलिये उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता 'असङ्गो न हि सज्जते'। अतः 'स्व' शब्दवाच्य आत्माके लिये जो चेष्टा है वह तो परम कल्याणमयी ही है, क्योंकि सबके आत्मा तो भगवान् कृष्ण ही हैं; वे केवल मायासे ही देहवान् प्रतीत होते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वात्मा हैं, अतः यथार्थ स्वार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। यहाँ 'अखिलात्मनाम्' पदसे सविशेषात्मा समझने चाहिये; क्योंकि सविशेषात्माओंका ही आत्मा निर्विशेष आत्मा है, जैसे कि घटाकाशादिका अधिष्ठान महाकाश है।

अतः भक्त, मुमुक्षु और मुक्तोंको भी भगवद्विषयिणी सुमति प्रदान करनेवाली श्रीराधिकाजी ही हैं। भावुक भक्तजन तो उस ऐकान्तिकी भगवन्निष्ठाके सामने कैवल्य और अपुनरावर्तनरूप मोक्षपदको भी कुछ नहीं समझते; इसीसे भगवान् कहते हैं—

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

किन्तु भगवान्के मुख्य भक्त जो ज्ञानी लोग हैं उन्हें किस सुमतिकी अपेक्षा है? वे तो आप्तकाम हुआ करते हैं। यह ठीक है, परन्तु भगवद्विषयिणी भक्तिरूपा स्निग्धमति उन्हें भी अभिलषित होती है। देखो, सनकादिकी भी क्या अभिलाषा थी?

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥

वे कहते हैं—भगवन्! यदि हमारा चित्त भ्रमरके समान आपके चरणकमलोंमें निरत रहे, यदि हमारी वाणी तुलसीके समान आपकी पादकान्तिका आश्रय ले और यदि हमारे कर्णकुहर आपके गुणगणसे पूरित रहें तो हमें भले ही अपने पापपुञ्जोंके कारण नरकोंमें जाना पड़े—हमें कोई चिन्ता नहीं है। इस प्रकार जैसे भक्तोंको भगवन्निष्ठा और मुक्तोंको भगवद्रति प्रदान करती हैं उसी प्रकार वे अन्य (विषयी और मुमुक्षु) लोगोंको भी प्रमा—भगवत्साक्षात्काररूपा मति प्राप्त कराती हैं; अर्थात् मुमुक्षु और विषयी पुरुषोंकी भगवान्के

प्रति इष्टबुद्धि करती हैं, इसलिये वे योगमाया हैं । उन योगमायारूपा श्रीराधिकाजीका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा—

'योगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा स्वांगकान्तिर्योगमाया तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो संयोगके लिये मति प्रदान करती है वह अपने अंगकी कान्ति ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर, अथवा—

'योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह उद्दीपनविधया संयोगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा शरद्वनशोभा वा तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो उद्दीपनविभाव होनेके कारण व्रजांगनाओंके साथ संयोग करनेकी मति प्रदान करती है वह शरदृतु या वनकी शोभा ही योगमाया है उसका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की।

अथवा—

'श्रीकृष्णस्य योगे सम्प्रयोग एव मा शोभा यस्य सा वृषभानुनन्दिनी योगमा तस्यामुपाश्रितः'

अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्रके सम्प्रयोगमें ही जिनकी शोभा है वे श्रीवृषभानुसुता ही योगमा हैं उनमें उपाश्रित हुए भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की; क्योंकि—

कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई। प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई॥

जैसे चन्द्रमा बिना चन्द्रिकाकी, भानु बिना प्रभाकी और सरोवर बिना कमलिनीकी शोभा नहीं है उसी प्रकार परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णके बिना श्रीराधिकाजीकी शोभा नहीं है। इसीसे जिस समय उन्हें भगवान्‌का सम्प्रयोग प्राप्त था उस समय उनकी कैसी शोभा थी ? किन्तु जब श्रीश्यामसुन्दरका वियोग हुआ तो सारा वृन्दारण्य ही श्रीहीन हो गया; उस समय रसिकशिरोमणिभूता श्रीवृषभानुसुताकी जो दशा थी उसका तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है ?

उसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि—

'यस्या योगे सम्प्रयोग एव श्रीकृष्णस्य मा शोभा सा श्रीवृषभानुसुता योगमा तस्यामुपाश्रितः'—

जिनके संयोगमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा है वे वृषभानुनन्दिनी ही योगमा हैं। अर्थात् जैसे श्रीकृष्णचन्द्रसे विप्रयुक्ता श्रीराधिकाजीकी शोभा नहीं है वैसे ही श्रीराधिकाजीके बिना श्यामसुन्दरकी शोभा नहीं है। जिस प्रकार प्रभाशून्य सूर्य, चन्द्रिकाहीन चन्द्र और मधुरिमारहित अमृत फीके हैं उसी प्रकार अपनी आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीकीर्तिसुताके बिना श्रीनन्दनन्दनकी शोभा नहीं है। यदि ऐसी बात न होती तो जिनके कृपाकटाक्षके लिये ब्रह्मा और रुद्रादि देवगण भी लालायित रहते हैं वे श्रीलक्ष्मीजी भी जिनके विशाल वक्षःस्थलमें अविचलरूपसे निवास करते हुए उनके तुलसीगन्धयुक्त पदपद्मपरागकी कामना करती हैं* वे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र लक्ष्मीकी उपेक्षा करके वेणुनिनादद्वारा समस्त गोपाङ्गनाओंके सहित उन्हें बुलानेका प्रयास क्यों करते ? इससे सिद्ध होता है कि उन श्रीराधिकाजीका सौन्दर्य विलक्षण ही था। समस्त व्रजांगनाएँ भी श्रीराधिकारूपा होकर ही भगवान्‌को प्राप्त करती हैं। इसीसे लोकमें भगवान्‌को रुक्मिणीरमण या सत्यभामावल्लभ न कहकर श्रीराधारमण या गोपीवल्लभ ही कहते हैं। इससे निश्चय होता है कि भगवान्‌की यथार्थ शोभा श्रीराधिकाजीसे ही है।

अथवा—

'योगाय व्रजांगनानां रासादिसुखप्रापणाय या माया वयुनात्मिका सङ्कल्पशक्ति[1]स्तामुपाश्रितः'

अर्थात् गोपांगनाओंको रसादि सुख प्राप्त करानेके लिये जो माया—ज्ञानात्मक सङ्कल्प उसे आश्रयकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि वहाँ किसी अन्य बाह्य साधनकी अपेक्षासे रहित भगवान्‌की सत्यसंकल्पता ही समस्त लीलोपयुक्त सामग्रीका सम्पादन करनेवाली थी।

अथवा—

'योगाय व्रजांगनानां मनोरथपूर्तये या माया दम्भः[2] तामुपाश्रितः'

अर्थात् जो पूर्ण परब्रह्म परम वैराग्यवान्, परम ज्ञानवान् परम ऐश्वर्यवान् और परम धर्मवान् हैं उनका मुरलिकाद्वारा गोपांगनाओंका बुलाना वास्तविक नहीं था; बल्कि व्रजांगनाओंकी कामनापूर्तिके लिये उन्होंने बनावटी रमणेच्छा

---

* श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

[1] माया तु वयुनं ज्ञानम्। [2] माया कृपायां दम्भे च।

प्रकट करते हुए ही यह सब लीला की थी। ऐसा माननेपर ही आप्तकामकी रमणाभिलाषा, निष्क्रियका क्रियाकलाप और निःसंगकी कामुकता उपपन्न हो सकती है।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये 'अकारो वासुदेवस्तेन सह योगाय मा मतिः शोभा वा यस्या सा अयोगमा तस्यामुपाश्रितः' अर्थात् अकार वासुदेवका वाचक है, उन श्रीवासुदेवके साथ योग करानेके लिये मति अथवा अंगशोभा है जिनकी वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्ने रमणकी इच्छा की।

अथवा–

'अन्यासां अयोगाय स्वस्यैव च योगाय मा सौन्दर्यलक्ष्मीर्यस्याः सा योगमा'

जिनकी मा सौन्दर्यलक्ष्मी भगवान्का दूसरोंके साथ विप्रयोग और अपने साथ संयोग करानेवाली हैं वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनीका जो अपूर्व सौन्दर्य है वह भगवान्के चित्तको और सबसे हटाकर उन्हींमें जोड़ देता है।

अथवा—

'अन्यासामपि व्रजांगनानां सर्वेषां वा प्राणिनां योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय मा सौन्दर्यं यस्याः सा योगमा'

अर्थात् जिनका सौन्दर्य भगवान्के साथ अन्य गोपाङ्गनाओंका तथा समस्त प्राणियोंका सम्बन्ध करानेवाला है वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनी सबका भगवान् श्रीकृष्णके साथ संयोग कराती हैं।

अथवा—

'योगाय सर्वेषां श्रीकृष्णसम्प्रयोगयोग्यतासम्पादनाय मा शोभा कारुण्यं कृपा या यस्याः सा योगमा तस्यामुपाश्रितः'

अर्थात् जिनकी मा—करुणा या कृपा भगवान् श्रीकृष्णके साथ संयोग करानेकी योग्यता प्रदान करनेवाली है वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; उनमें उपाश्रित श्रीभगवान्ने रमणकी इच्छा की।

इसके सिवा श्रीवल्लभाचार्य आदि किन्हीं आचार्योंका मत है कि भगवान्ने यह रासलीला स्वजनोंका ब्रह्मानन्दसे उद्धार करके उनमें भजनानन्द स्थापित करनेके लिये की थी। अतः उन्होंने सबसे पहले रमणके लिये उन व्रजांगनाओंकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी एक मधुरातिमधुर पदार्थको अनेक रूपमें विभक्त करके उसका समास्वादन किया जाता है उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् भी अनेक रूपमें विभक्त होकर अपने स्वरूपभूत आनन्दका स्वयं ही आस्वादन करते हैं। इसीसे भगवान् अपनी स्वरूपभूता व्रजांगनाओंमें रमणेच्छा उत्पन्न करके भी पहले स्वयं कुछ कालतक 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सर्वसंकल्पशून्य और निःस्पृह ही रहे। किन्तु अब उन्होंने भी रमणकी इच्छा की। किन्तु यह रमण कैसा है? यहाँ एक ही परमतत्त्वको अनेकों नायक और नायिकाओंके रूपमें प्रकट होकर अपने ही स्वरूपभूत आनन्दका रसास्वादन करना है। वास्तवमें 'भज सेवायाम्' या 'रमु क्रीडायाम्'के अनुसार एक प्रकार असाधारणभावसे तादात्म्यापत्ति अथवा जो स्वरूपभूत आनन्द है उसको अपने अनन्य भक्तोंमें स्थापित करना ही यह भजनानन्दरूप रमण है। इससे आपातदृष्टिसे यह जान पड़ता है कि यदि उस कूटस्थ परमानन्दतत्त्वका अन्यत्र संक्रमण किया गया तो अपने स्वरूपसे च्युत होनेके कारण उसे अच्युत नहीं कहा जा सकता। इस आशंकाका निराकरण करनेके लिये ही कहा है–'भगवानपि'। अर्थात् जो अप्रच्युतस्वभाव भगवान् अपने अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्यके माहात्म्यसे अपने स्वरूपभूत परमानन्दका अन्यत्र सञ्चार करके भी सदा अच्युत ही रहते हैं उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। जिस प्रकार चिन्तामणि, कल्पतरु एवं कामधेनु आदि अपने समीपस्थ लोगोंको उनके सङ्कल्पित पदार्थ देकर भी स्वयं अक्षुण्ण ही रहते हैं उसी प्रकार भक्तोंको प्रेम प्रदान करनेपर भी भगवत्स्वरूपमें कोई च्युति नहीं होती।

किन्तु यहाँ पुनः सन्देह होता है कि इस प्रकार स्वरूपानन्दका अन्यत्र संक्रमण होनेसे भगवत्स्वरूप भले ही अविकारी रहे तथापि वह स्वरूपानन्द तो अपने स्थानका त्याग करनेके कारण विकारी हो ही जायगा। वह कूटस्थ या अविकारी नहीं रह सकता। इसीसे कहा है—'योगमायामुपाश्रितः'। भगवान्की योगमाया एक ऐसी शक्ति है जो उस पदार्थको अन्यत्र ले जानेपर भी विकृत नहीं होने देती। इसीसे भगवान् अपने कूटस्थ परमानन्दको अन्यत्र दूसरोंमें संक्रमित करके भी स्वयं अविकृत ही रहते हैं और न उनके उस आनन्दमें ही कोई विकार होता है।

इसीसे यह देखा जाता है कि यद्यपि भगवान्ने अपने कई भक्तोंको स्वात्मसमर्पण किया है तो भी उनमें कोई

च्युति नहीं हुई; वे ज्यों-के-त्यों अविकारी ही बने हुए हैं। श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

वे कहते हैं—हे देव ! आप इन घोषनिवासियोंको क्या देंगे ? आप विश्वफलात्मा हैं; आपसे बढ़कर और दूसरी क्या वस्तु हो सकती है, जिसे देकर आप उऋण होंगे ? प्राणी विविध प्रकारके ऐहिक-आमुष्मिक सुखको ही परम पुरुषार्थ समझता है किन्तु जिनके आँगनमें उसका परमोद्गमस्थान साक्षात् परब्रह्म मूर्तिमान् होकर धूलिधूसरित हुआ खेल रहा है उन्हें वे क्षुद्र सौख्यकण कैसे फलरूप हो सकते हैं ? जिन्हें जो वस्तु अप्राप्त होती है वही उन्हें फलरूपसे स्वीकृत हुआ करती है। अतः जिन्हें आप आत्मीयरूपसे अहर्निश प्राप्त हैं उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होकर भी आप क्या दे सकते हैं ? इसलिये इनका तो आपको ऋणी ही रहना पड़ेगा। इस विषयमें कुछ निश्चय न होनेके कारण मेरा चित्त मोहित हो रहा है। यदि कहो कि मैं अपनेको ही समर्पण कर दूँगा तो इसमें भी कोई महत्त्वकी बात न होगी, क्योंकि जो पूतना दम्भसे माताके समान आचरण दिखलाती हुई आपका अनिष्ट करनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी थी उसे भी उसके कुलसहित आपने अपने स्वरूपको ही प्राप्त करा दिया था; फिर जिनके धन, धाम, स्वजन, प्रिय, आत्मा, प्राण और चित्त आपहीपर निछावर हैं उन व्रजवासियोंको आप क्या देंगे ? उनके तो आप ऋणी ही रहेंगे। अहो ! जिन व्रजबालाओंका उच्च स्वरसे किया हुआ हरि-गुण-गान तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है, हम उनके चरणकमलोंकी बारंबार वन्दना करते हैं। इस लोकमें वे बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्होंने इस गोकुलमें किसी वनवीथिकाके पास तृण-गुल्मादिरूपसे जन्म लिया है, क्योंकि उन्हें उन कृष्णप्राणा गोपवधूटियोंके पदपद्म-परागसे अभिषिक्त होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।* इससे यहाँ यही कहना है कि भगवान् अनेकोंको स्वात्मसमर्पण करके भी पूर्णरूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। अतः भगवान्की यह योगमायाशक्ति ही है जिससे वे सदा सब कुछ करते हुए भी अक्षुण्ण ही रहते हैं।

उन्होंने रमणकी इच्छा कैसे की ? इसपर कहते हैं—

'ताः कात्यायन्यर्चनव्रतसन्तुष्टेन भगवता वरत्वेन प्रदत्ताः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्य'

अर्थात् कात्यायनी-पूजन एवं व्रतादिसे सन्तुष्ट हुए श्रीभगवान्ने जिन्हें वररूपसे दिया था उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको देखकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। उन रात्रियोंको ग्रहणकर और उनमें आधिदैविकी रात्रियोंका आरोपकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। ऐसा करके उन्होंने उन रात्रियोंको पूर्ण बना दिया, क्योंकि आधिदैविकी रात्रियाँ भगवद्रूपा हैं। इस प्रकार उन सबको पूर्णिमारूप बनाकर और ऋतुको भी शरद्ऋतुमें ही परिणत कर दिया। अर्थात् समस्त रात्रियोंमें ऋतुपरिवर्तनका क्रम न रखकर केवल एक ही ऋतु रक्खा और उसमें मल्लिकादि समस्त पुष्प विकसित कर दिये। इस प्रकार उन रात्रियोंको समस्त उद्दीपन सामग्रियोंसे सम्पन्नकर मुरलीध्वनिद्वारा गोपांगनाओंका आह्वानकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की।

यदि विचार किया जाय तो स्वरूपतः अशेष-विशेष-शून्य पूर्ण परब्रह्म एवं अचिन्त्यानन्द निखिलगुणगणास्पद श्रीभगवान् ये एक ही हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य एक स्वप्रकाशतत्त्व ही 'भगवत्' शब्दका लक्ष्य है। जैसा कि कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

अर्थात् जो अद्वयज्ञानस्वरूप तत्त्व है तत्त्वज्ञ लोग उसीको तत्त्व समझते हैं। वह 'ब्रह्म' 'परमात्मा' या 'भगवान्' ऐसा कहा जाता है। अतः अद्वितीय परब्रह्म ही भगवान् है। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्तिसे 'गमेर्डोः' आदि सूत्रोंके अनुसार सिद्ध हुआ 'गो' शब्द केवल गमन करनेवालेका ही वाचक नहीं होता, क्योंकि गमन करनेवाले तो सभी पशु हैं, बल्कि गलकम्बलादियुक्त गोव्यक्तिका ही वाचक होता है, उसी प्रकार यह अद्वय पदार्थ ही भगवत्-पदवाच्य है। किन्तु इसका यौगिक अर्थ लेनेपर तो भगोपलक्षित अचिन्त्यानन्तगुणगणास्पद परमेश्वर ही 'भगवत्' शब्दका अर्थ है। इससे यही सिद्ध हुआ कि परमार्थतः जो एक अद्वयतत्त्व सर्वभेदरहित और स्वप्रकाश है वही अपनी अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय लीलाशक्तिसे निखिल ब्रह्माण्डका अधीश्वर भी है। उस भगवान्ने ही रमणकी इच्छा की।

---

* वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादपद्ममभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ॥

यहाँ दोनों प्रकारसे विरोध प्रतीत होता है । यदि उसके निर्विशेषरूपपर विचार करते हैं तो 'असङ्गो न हि सज्जते' इस श्रुतिके अनुसार उसका रमण होना असम्भव है । जो स्वप्रकाश असंग और अद्वय है वह किसको देखकर किसलिये किसके साथ कैसे रमण करेगा ? और यदि भगवान्के सविशेष स्वरूपपर ध्यान देते हैं तो वे भी सब प्रकारके ज्ञान, वैराग्य ओर ऐश्वर्यसे पूर्ण तथा अचिन्त्यानन्दरूप अपने ऐश्वर्यमें सन्तुष्ट रहनेके कारण आप्तकाम एवं पूर्णकाम हैं । उन्हें किसीको देखकर रमणकी इच्छा कैसे हो सकती है ? जो अनाप्तकाम होता है वही अपनेसे भिन्न किसी पदार्थको देखकर उसकी आसक्तिवश रमणकी इच्छा कर सकता है ।

इसीसे 'योगमायामुपाश्रितः' ऐसा कहा है । योग अर्थात् अघटितघटनाके लिये जो माया—उस योगमायाका सन्निधिमात्रसे आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की । तात्पर्य यह है कि इस योगमायाके प्रभावसे ही उस स्वप्रकाश असंग एवं अद्वयब्रह्मकी अपनेसे भिन्न प्रतीत होनेवाली गोपाङ्गनाओंके साथ रमण करनेमें प्रवृत्ति हो गयी । यही उस मायाकी अघटितघटनशक्ति है । यह वही माया है जिसके विषयमें श्रुति कहती है—

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।'

अर्थात् अपने गुणोंसे आच्छादित जिस भगवच्छक्तिका ऋषियोंने ध्यानयोगसे साक्षात्कार किया था, महर्षियोंद्वारा साक्षात्कृत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी कारणभूता उस अचिन्त्यानन्त मायाशक्तिसे ही भगवान्का अपनेसे भिन्न किसीको देखना, अपनेसे भिन्नकी इच्छा करना और अपनेसे भिन्नके साथ रमण करना सम्भव हो सकता है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान् स्वयंप्रकाश, कूटस्थ और अद्वय होनेके कारण अपनेसे भिन्न किसी औरको नहीं देख सकते तथापि अपनी इस लीलाशक्तिसे उन्होंने अपनेसे भिन्नरूपसे प्रादुर्भूत जो अपनी ही स्वरूपभूता व्रजांगनाएँ हैं उन्हें देखकर रमण करनेकी इच्छा की । यह जितना भी अघटनघटन है उसके सम्पादनमें भगवान्की माया समर्थ है । इसीसे इन समस्त विरोधोंका निराकरण हो जाता है ।

इसी प्रकार सगुणपक्षमें भी समझना चाहिये । वहाँ भी भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सम्पूर्ण वैराग्य और ऐश्वर्यसम्पन्न होनेपर भी इस योगमाया अर्थात् योग–सम्प्रयोगके लिये जो माया–कृपा उसका आश्रय लेकर ही वररूपसे दी हुई उन रात्रियोंको देखकर भक्तानुग्रहपरवश हुए उन गोपांगनाओंके साथ रमण करनेकी इच्छा स्वीकार करते हैं । अतः यहाँ भी उनकी रमणेच्छामें योगमाया ही प्रधान कारण है ।

* * *

नहिं ऐसो जनम बारंबार ।

क्या जानूँ कछु पुन्य प्रकटे, मानुषा अवतार ॥
बढ़त पल-पल, घटत छिन-छिन, चलत न लागे बार ।
बिरछके ज्यों पात टूटे, लागे नहिं पुनि डार ॥
भौसागर अति जोर कहिये, विषय ओखी धार ।
सुरतका नर बाँध बेड़ा, वेग उतरै पार ॥
साधु-संता ते महंता, चलत करत पुकार ।
दासि मीरा लाल गिरधर, जीवना दिन चार ॥

—मीरा

* * *

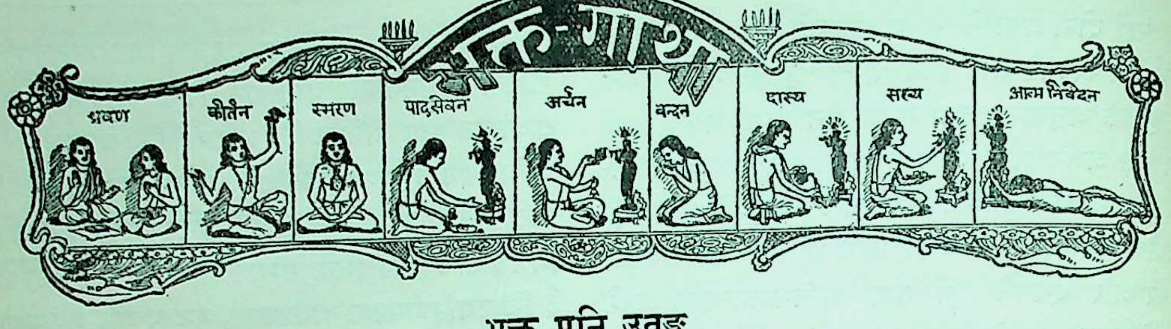

भक्त मुनि उतङ्क

व्याधका उद्धार

सौवीर नगरीमें विष्णुभगवान्‌का एक दर्शनीय मन्दिर था। मन्दिर एक बड़े सुन्दर बगीचेमें था। उसमें परम शान्त, निःस्पृह, दयालु, महात्मा उतङ्क रहते थे। विप्रवर उतङ्कजी भगवान्‌की सेवाके परायण, परमप्रेमी तथा ज्ञानी और तपकी मूर्ति थे। वे अपनी चित्तवृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर निरन्तर भगवान्‌के ध्यानमें मग्न रहते थे। उनका काम था—आठों पहर प्रेमविह्वल चित्तसे भगवान्‌का चिन्तन करना और भगवान्‌के लिये ही जीवनकी प्रत्येक क्रियाका सम्पादन करना। वे मन्दिरमें भगवान्‌की सेवा करते थे।

एक दिन कणिक नामक एक व्याध डाकू मन्दिरके पाससे निकला। कणिक बड़े ही कठोरहृदयका मनुष्य था। परनिन्दा, परधनहरण और परपीडन ही उसका काम था। देवता, ब्राह्मण, गुरु किसीको भी वह कुछ नहीं मानता था। मन्दिरके शिखरपर विशाल स्वर्ण-कलशको देखकर उसका मन ललचा गया। उसने सोचा—मन्दिरमें अटूट धन है, जवाहरात और सोना भरा है। इसे लूटना चाहिये। यह विचारकर वह रातके समय मन्दिरमें घुस गया। महात्मा उतङ्क एकान्तमें बैठे श्रीभगवान्‌का ध्यान कर रहे थे। डाकू कणिकने अपने कार्यमें विघ्न समझकर उन्हें मारनेका विचार किया और तलवार खींचकर उनके सामने खड़ा होकर चिल्लाने लगा। ध्यानमग्न महात्माका इससे ध्यान भङ्ग नहीं हुआ, तब उसने धक्का देकर उन्हें गिरा दिया और उनकी छातीपर पैर रखकर तथा उनके केश पकड़कर सिर काटनेको तैयार हो गया। उतङ्कजीने आँखें खोलीं। उनकी आँखोंसे मानो शान्ति और प्रेमकी धारा बह रही थी। उन्होंने उन अनोखी आँखोंसे कणिककी ओर देखा। जादू हो गया। महात्माकी दृष्टि पड़ते ही कणिकके हाथसे तलवार गिर पड़ी और वह अलग खड़ा होकर मन्त्रमुग्धकी तरह महात्मा उतङ्ककी ओर देखने लगा। उतङ्कजी नम्र तथा शीतल शब्दोंमें चेतावनी देते हुए बोले—

'भाई! तुम मुझ निरपराधका वध करनेको क्यों तैयार हो गये? हे साधो! बताओ, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? संसारमें जो अपराध करता है, उसीको दण्ड दिया जाता है। हे सौम्य! मैंने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया। सज्जन लोग तो पापीका भी विनाश नहीं करते। वे उसके पापका ही विनाश करते हैं। विरोधी मूर्खमें भी गुण देखकर शान्तचित्त साधुजन उसकी भलाई करते हैं। जो पुरुष भाँति-भाँतिसे सताये जानेपर भी सतानेवालेपर क्षमा करता है, उसका कल्याण ही करना चाहता है, उसीको तुम उत्तम पुरुष तथा भगवान् विष्णुका प्रियपात्र समझो। दूसरेका हित चाहनेवाले संतजन किसीके द्वारा मारे जाते हुए भी उसके साथ वैरका आचरण नहीं करते। चन्दनका पेड़ कटते समय भी काटनेवाले कुठारके मुँहमें सुगन्ध भर देता है। विधाताका कैसा विधान है कि सब प्रकारके संगोंका त्याग कर चुके हुए पुरुषोंको भी बुरे लोगोंसे कष्ट सहना पड़ता

है । संसारमें दुर्जन लोग बिना ही कारण लोगोंको सताया करते हैं । उनमें सीधे-सादे साधुजन ही अधिक सताये जाते हैं । बलवान् व्यक्तिको कोई नहीं सताता । घास और पानीपर सन्तोष करनेवाले हरिन और मछलियोंको ही व्याध और धीवर लोग मारा करते हैं । मायाकी कैसी महिमा है ! मनुष्य स्त्री, पुत्र, परिवारके मोहमें जानबूझकर दुःखोंको अपने ऊपर ले लेता है । क्या यह सत्य नहीं है कि जो दूसरेका धन लूटकर अपने परिवारका पालन करता है उसे एक दिन सबको छोड़कर अकेले जाना पड़ेगा ? मेरी माँ, मेरे पिता, मेरी स्त्री, मेरा स्वामी, मेरा पुत्र, मेरा धन, मेरा शरीर, इस प्रकारकी यह ममता ही जीवोंको सदा-सर्वदा क्लेश दिया करती है । मरनेपर मनुष्यके साथ ये पाप और पुण्य ही जाते हैं । जो मनुष्य पापसे धन पैदा करके परिवारको पालता है, पापके फलका भोग करते समय परिवारके लोग उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते ! जो कुछ होना है वही होगा, यह निश्चय होते हुए भी विषयासक्त मनुष्य 'मैं धन कमाकर सुखी हो जाऊँगा' इस मिथ्या आशासे नाना प्रकारके पाप करता है और मनुष्यका जीवन—जो परम दुर्लभ है और केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही जीवको मिलता है उसे पाप बटोरनेमें ही खो देता है । भाई ! तुम जरा विचार तो करो, तुम जो कुछ कर रहे हो क्या यही तुम्हारा कर्तव्य है ? इस पापका कितना भयानक फल होगा ? क्या कभी तुमने इस बातपर खयाल भी किया है ? प्यारे ! मोहको छोड़कर मनुष्य-जीवनको सफल बनानेकी चेष्टा करो । पापोंका त्याग कर भगवान्‌के भजनमें मन लगाओ । देखो, भगवान्‌की कृपासे तुम्हारा कल्याण होते देर न लगेगी ।'

सत्सङ्गकी और साधु-समागमकी विचित्र महिमा है । महात्मा उतङ्कके उपदेशने व्याधकी नरककी ओर लगी हुई चित्तवृत्तिको लौटाकर कल्याणस्वरूप भगवान्‌की ओर लगा दिया । वह बार-बार क्षमा चाहता हुआ उतङ्कजीके चरणोंपर गिर पड़ा और—

तत्संसर्गप्रभावेण हरिसन्निधिमात्रतः ।
गतपापो लुब्धकश्च अनुतापीदमब्रवीत् ॥

महात्माके संगके प्रभावसे, और मन्दिरमें तथा महात्माके हृदय और वचनोंमें स्थित भगवान् हरिकी सन्निधिमात्रसे निष्पाप होकर अपने पूर्वकृत पापोंके लिये अनुताप करता हुआ बोला—

'हे प्रभो ! आपके शुभ दर्शनसे मेरे सारे महापाप नष्ट हो गये परन्तु मैं बड़ा ही पातकी हूँ । जीवनभर मैंने महापाप किये हैं, उनके भयानक परिणामसे मेरा छुटकारा कैसे होगा ? हे प्रभो ! मैं किसकी शरण ग्रहण करूँ ? पूर्वजन्मोंके अनेकों पापोंसे मुझे व्याधका शरीर मिला और इस शरीरसे भी मैंने सारी उम्र पाप-ही-पाप बटोरे हैं । मेरी क्या गति होगी ? हाय ! पृथ्वीके भार-स्वरूप और निरपराधोंको पीड़ा देनेवाले मुझ अधमको विधाताने रचा ही क्यों ? हे हरि ! हे दयामय भगवन् ! हे अशरण-शरण ! हे पाप-तापोंके विनाश करनेवाले ! नामस्मरणमात्रसे ही पश्चात्तापपरायण पापी जीवको अपनी सुखमयी शरणमें ले लेनेवाले दयामय ! मुझे अपनी शरणमें ले लो । हाय ! मैं तुम्हारा ही हूँ, तुमको छोड़कर मुझे सहारा देनेवाला और कौन है ?'

इस प्रकार आत्मनिन्दा और अनुताप करता हुआ और भगवान् हरिकी शरण चाहता हुआ व्याध गिर पड़ा और तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गयी । महामति दयालु उतङ्कने व्याधको पड़ा हुआ देखकर भगवान्‌का चरणोदक उसके ऊपर छिड़क दिया । अन्तकालमें पापोंका पश्चात्ताप, भगवान् हरिका स्मरण और भगवान्‌के चरणामृतका शरीरसे स्पर्श हो जानेके कारण व्याध पापमुक्त होकर भगवान्‌के परमधामका अधिकारी हो गया । दिव्य पार्षद दिव्य विमानको लेकर उपस्थित हो गये और दिव्य देह धारणकर डाकू कणिक विमानपर चढ़कर चलने लगा । जाते हुए उसने मुनि उतङ्कसे नम्रतापूर्वक कहा—'हे मुनिश्रेष्ठ उतङ्क ! आप मेरे गुरु हैं; आपहीके प्रसादसे मैं महापापसे छुटकारा पा सका हूँ । हे भगवन् ! आपके उपदेशको सुनकर मेरे मनमें अनुताप उत्पन्न हुआ और भगवान्-

की स्मृति हुई, उसीसे मेरे सब पाप नष्ट हो गये । और आपने कृपापूर्वक मेरे अंगोंपर जो हरिचरणामृत छिड़क दिया उसीके फलस्वरूप आज मैं भगवान्‌के परमधामको जा रहा हूँ । हे सुव्रत ! आपके समान गुरुको पाकर मैं कृतार्थ हो गया । आपको बारंबार नमस्कार है । मेरे सारे अपराधोंको आप क्षमा करें ।' यों कहकर और मुनिके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके और उनकी तीन बार प्रदक्षिणा करके वह भगवान् विष्णुके परमधामको चला गया !

व्याधकी इस प्रकार सद्गति देखकर तपोनिधि उतङ्क चकित हो गये और हाथ जोड़कर भगवान् हरिकी स्तुति करने लगे—

'हे नारायण ! हे आदिदेव ! तुम ही जगत्‌के आश्रय और प्रलयके कारण हो । हे शार्ङ्गधनुष, सुदर्शनचक्र, असि और पद्मको धारण करनेवाले महात्मन् ! जो तुम्हारा स्मरण करता है तुम उसकी सारी यन्त्रणा दूर कर देते हो । तुमको नमस्कार है । तुम्हारे नाभिकमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्मा समस्त लोकोंकी उत्पत्ति करते हैं, तुम्हारे तेजसे उत्पन्न होकर रुद्र समस्त विश्वका संहार करते हैं । तुम आदिनाथको बार-बार प्रणाम है । हे पद्मपलाशलोचन ! हे विचित्रवीर्य ! हे अखिल विश्वके एकमात्र कारण ! तुम्हीं वेदान्तवेद्य परमपुरुष हो । तुम्हीं तेजोधाम विष्णु हो, तुम्हीं सर्वगत आत्मा, अच्युत, ज्ञानस्वरूप और ज्ञानिश्रेष्ठ हो । तुम्हीं करुणानिधि परमात्मा हो, तुम्हीं शरणागतोंका दुःख हरनेवाले हो, इस अधमका कल्याण करो । तुम्हारे चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है ।'

इस प्रकार नाना प्रकारके वेदविहित तत्त्वपूर्ण वाक्योंसे भगवान्‌की लम्बी स्तुति करके अन्तमें मुनिने कहा—

संसारसिन्धौ पतितं जडं मां
मोहाकुलं कामशतेन बद्धम् ।
विज्ञानभेदभ्रमितात्मबुद्धिं
त्रायस्व विष्णो सततं नमस्ते ॥
लज्जाविहीनं च दयाविहीनं
तुच्छं परद्रव्यपरायणं माम् ।
ममत्वपाशान्तरवस्थितं च
त्रायस्व विष्णो सततं नमस्ते ॥
अकीर्तिभाजं पिशुनं कृतघ्नं
सदाशुचिं पापरतं प्रमन्युम् ।
दयाम्बुधे त्राहि भयाकुलं मां
पुनः पुनस्त्वां शरणं प्रपद्ये ॥

'हे भगवन् ! संसारसमुद्रमें पड़े हुए, मोहसे व्याकुल, सैकड़ों कामनाओंसे बँधे हुए, नाना प्रकारके ज्ञानसे भ्रान्तबुद्धि हुए मुझ मूर्खका परित्राण कीजिये, आपको सदा नमस्कार है । हे विष्णो ! लज्जाहीन, निर्दय, पराये धनके परायण हुए, ममताकी फाँसीमें बँधे हुए मुझ नीचको आप बचाइये, आपका बार-बार नमस्कार है । हे भगवन् ! अकीर्तिभाजन, चुगलखोर, कृतघ्न, सदा अपवित्र, पापमें रत और भयसे पीड़ित मुझ दीनको हे दयासागर ! आप बचाइये, मैं बार-बार आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ।'

तत्त्व और विनयसे पूर्ण स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि भक्तराज उतङ्कके सामने सहसा प्रकट हो गये । द्विजवर उतङ्कने देखा, परम दिव्य प्रकाशके अंदर भगवान् प्रकट हैं । भगवान्‌का अतसीपुष्पके समान सुन्दर नीलवर्ण है, प्रफुल्ल कमलके समान भगवान्‌के नेत्र हैं, भगवान्‌के मस्तकपर मनोहर किरीट, कानोंमें मकराकृतिकुण्डल और गलेमें रत्नहार शोभित हो रहा है । भगवान्‌के वक्षःस्थलपर श्रीवत्स और कौस्तुभमणि सुशोभित है । भगवान् स्वर्णयज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं । नासिकाके अग्रभागमें लटकते हुए दिव्य मोतीकी आभासे भगवान्‌की देहप्रभा और भी चमक उठी है । भगवान् वनमालासे विभूषित हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं । किंकिणी और नूपुर आदिसे सुशोभित हैं, भगवान्‌के मनोहर और महान् प्रकाशमय चरण तुलसीदलसे चर्चित हैं । भगवान् मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं । भगवान्‌के दिव्य नेत्रोंसे आनन्द और स्नेहकी शान्ति-सुधामयी धारा बह रही है । इस प्रकार गरुडध्वज भगवान्‌का साक्षात् दर्शन करके मुनि उतङ्क उनके चरणोंमें गिर पड़े और

आनन्दाश्रुओंकी पवित्र धारासे उन्होंने भगवान्‌के दोनों चरणोंको पखार दिया । आनन्दकी बाढ़से मुनिकी ज़बान बंद हो गयी, कुछ समयके बाद मुरारे ! 'रक्षा करो, रक्षा करो' इतना ही वे कह सके ।

कृपासिन्धु भगवान्‌ने उठाकर उतङ्कको हृदयसे लगा लिया और बोले 'हे वत्स ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे लिये कुछ भी असाध्य नहीं रहा । अब मनमाना वरदान माँग लो ।' मुनिने देवदेव श्रीहरिके दिव्य वाक्योंको सुनकर प्रणाम करते हुए कहा—

किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः ।
त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र ।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च ॥

'हे प्रभो ! आप मुझे क्यों मोहमें डाल रहे हैं ? मुझे दूसरे किसी वरकी आवश्यकता नहीं । जन्मान्तरमें मेरी आपके चरणोंमें अटल, अचल भक्ति बनी रहे । मैं कीट-पतंग, पशु-पक्षी, साँप-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य किसी भी योनिमें जन्म क्यों न ग्रहण करूँ हे केशव ! आपकी कृपासे आपमें मेरी सदा-सर्वदा अचल, अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे ।'

चतुर भक्तगण मुक्ति न चाहकर भक्ति ही चाहा करते हैं । मुक्ति तो भक्तिके पीछे-पीछे लगी रहती है । भगवान् उतङ्ककी चतुराईपर प्रसन्न हो गये और 'तथास्तु' कहकर अपने दिव्य शङ्खको उनके अंगसे स्पर्श करा दिया और योगियोंको भी दुर्लभ दिव्य ज्ञान उन्हें प्रदान कर दिया । तदनन्तर विप्रश्रेष्ठ उतङ्कने फिर भगवान्‌की स्तुति की । भगवान् माधव परम प्रसन्नताके साथ उतङ्कके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें कृतकृत्य करते हुए अन्तर्धान हो गये । उतङ्क भी कृतार्थ होकर शेष जीवन भगवान्‌की सेवामें लगाते हुए अन्तमें परमधामको चले गये ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

◆

कल्याण

मायाको कैसी मोहिनी है, बुद्धिमान् पुरुष भी मोहरूप कर्तव्यके मोहमें पड़कर असली कर्तव्यको भूल रहे हैं । सोचो तो सही । तुम कौन हो और तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? मोहसे छूटना कर्तव्य है या मोहकी गाँठोंको और भी उलझाना ? जिस नाम और रूपके चक्करमें फँसे हुए तुम उस नामरूपके कल्पित सम्बन्धसे अपनेको सम्बन्धित मानकर कर्तव्य-बोधसे उस मोहको और भी घना बना रहे हो वह नामरूप वस्तुतः क्या तुम्हारा स्वरूप है ? माँके पेटमें आनेसे पहले क्या तुम्हारा यही नाम-रूप था ? यदि नहीं तो इससे कैसा सम्बन्ध और कैसा कर्तव्य ? खोल दो न अपने ही हाथों दी हुई इस गाँठको ! क्यों 'नलिनीके सुअटा' बने बँध रहे हो ?

'क्या करें, यहाँ ऐसी ही योग्यता है, ऐसा किये बिना आदर्श बिगड़ता है, लोग क्या कहेंगे ?' मन-ही-मन ऐसी कल्पना-जल्पना करके क्यों अपनेको जकड़ते जा रहे हो ? कैसी योग्यता ? कैसा आदर्श ? मायाके चक्करमें फँसे रहना ही क्या तुम्हारे लिये योग्य है ? अज्ञानके बन्धनसे न छूटना ही क्या आदर्श है ? 'लोग निन्दा करेंगे ? किसकी ? तुम्हारी या तुमने जिनको अपने साथ तादात्म्य कर लिया है उन नाम और रूपकी ? अरे ! इनकी निन्दासे तुम्हारा क्या बिगड़ता है ? होने दो इनकी निन्दा, बिगड़ने दो इनकी इज्जत, नष्ट हो जाने दो न इनके अस्तित्वको ! तुम क्यों इन्हें बचानेकी फिक्रमें सूखे जा

रहे हो ? इन्हींके कारण तो तुम्हारी यह दुर्दशा है । नित्य सत्य और अज-अविनाशी होनेपर भी इन्हींके मोहमें तुम अनित्यसे—असत्से हो रहे हो और इन्हींकी ममता और आसक्ति तुम्हें जन्म और मृत्युके संताप-भरे सपने दिखा रही है !

'घरवालोंको क्लेश होगा, पुत्र-बन्धु आदि कष्ट पावेंगे ।' मान लो, तुम्हारा यह पञ्चभूतका चोला आज छूट गया होता तो इनकी क्या स्थिति होती ? तब ये जिन्दा रहते या नहीं ? यदि रहते तो अब भी रहेंगे ? तुम क्यों नहीं अपनेको मर गया मान लेते ? सचमुच जरा मरके देखो तो सही, कुछ ही दिनोंमें तुम्हारी सारी याद किस आसानीसे भुला दी जाती है । तुम्हारी आवश्यकता कैसे अनावश्यक हो जाती है ? सचमुच तुमको किसीने नहीं पकड़ रक्खा है, तुमने आप ही अपनेको पकड़ा हुआ मान लिया है । तोड़ डालो न इस भ्रमके बन्धनको !

'क्या करें जिम्मेवारी निबाहना भी मनुष्यका धर्म है । हम सब समझते हुए जिम्मेवारीका त्याग कैसे कर दें ?' 'बड़े जिम्मेवार बन रहे हो । और बात तो जाने दो, शरीरकी जिम्मेवारी तो निबाहो । तुम्हारी जिम्मेवारीका निर्वाह तभी समझा जायगा जब तुम इसे बीमारी या मौतके मुँहसे बचा सकोगे । जब तुम शरीरकी जिम्मेवारी भी नहीं निबाह सकते तब और जिम्मेवारीकी तो बात ही कौनसी है ? बिना ही बनाये पंच बनकर जिम्मेवार बन बैठे हो ! मोहने ही प्रेमका स्वाँग भरकर तुम्हारे ऊपर जिम्मेवारी और कर्तव्यका बोझ लाद रक्खा है । उतारकर फेंक दो न जिम्मेवारीके इस बोझको । तुरन्त हल्के हो जाओगे !

देखो तो, तुम्हारे नित्य निरामय आनन्दघन-स्वरूपमें विषाद, मृत्यु और दुःखको स्थान ही कहाँ है ? तुम अमृतोंके अमृत, आनन्दके आनन्द और प्रकाशोंके प्रकाश हो । तुम्हारी ही चाँदनी सर्वत्र छिटक रही है, तुम्हारा ही प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है, तुम्हारा ही ऐश्वर्य सर्वत्र व्याप्त है, तुम्हारा ही आनन्द सर्वत्र विस्तृत है, तुम्हारी ही सुधा-माधुरीसे सब जीवन धारण कर रहे हैं । तुम अखण्ड हो, अनन्त हो, अजर हो, अमर हो, सत् हो, सनातन हो, चेतन हो, ज्ञानस्वरूप हो । अपने स्वरूपको क्यों नहीं सँभालते ? क्यों अपनी ही भूलभरी भूलसे भूल-भुलैयामें पड़े भटक-से रहे हो ?

संसारका कर्त्तव्य कभी पूरा नहीं होगा । यहाँकी सफलता भी असफलता है ! वह अनन्त सुख—जो तुम्हारा स्वरूप है—तुम्हें अपने अन्दर ही प्राप्त होगा । वह धनसे, भोगोंसे, विजयसे, कीर्तिसे, नीतिसे, धर्मसे किसीसे भी किसीमें भी नहीं मिलेगा । फिर तुम क्यों कर्तव्यका बोझा लादे, योग्यता और अयोग्यताका आडम्बर लिये जिम्मेवारीका भार, उठाये उन्मत्तकी भाँति इधर-उधर धक्के खा रहे हो ?

वह नित्यस्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ है, न आप ही कुछ बना है, वह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर वह नहीं मरता । किसीके नाशसे उसका नाश नहीं होता । वह अणुसे अणु और महान्से महान् है । वह तुम्हारे अन्दर है, तुम्हारा अपना स्वरूप है । तुम उसको पहचानो, उसकी महिमाको जानो—तुम्हारा सारा शोक, विषाद, भ्रम मिट जायगा ।

'शिव'

* * *

पञ्च-सकार

सन्तोष

आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'आलसी और अकर्मण्य लोग ही अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये सन्तोषकी दुहाई दिया करते हैं, वस्तुतः सन्तोष ऐसे ही निकम्मे लोगोंके कामकी चीज़ है। इस सन्तोषकी भावनाने ही भारतवासियोंको कर्त्तव्यविमुख बनाकर पराधीनताकी कठिन बेड़ीमें जकड़ दिया है। इससे मुक्त होनेका उपाय असन्तोषकी वृद्धि और विस्तार ही है। असन्तोष ही उन्नतिका मूल है, असन्तोष ही अपनी स्थितिका सच्चा अनुभव कराकर आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहित करता है, असन्तोषसे ही जीवनमें जागृति आती है और असन्तोष ही मनुष्यको कर्त्तव्य-परायण बनाकर उसे सुखी बना सकता है।'

इसीलिये आजकल इस युगके प्रसिद्ध जनसेवक पुरुषोंके द्वारा जहाँ तहाँ जिस किसी प्रकारसे असन्तोषकी आग भड़कानेकी विविध चेष्टाएँ की जा रही हैं। असन्तोषकी आग भड़कनेसे ही विश्वव्यापी क्रान्ति होगी, और क्रान्ति होनेपर ही स्थायी सुखके साधन एकत्र होंगे। इसलिये इस समय जो जनसमुदाय दुखी है और जिसके दुःखनिवारणके थोड़े-घने सामयिक साधन भी मौजूद हैं, उसके भी दुःख-निवारणका उपाय नहीं करना चाहिये, क्योंकि दुःखोंमें कमी हो जानेसे असन्तोष दब जायगा, जिससे क्रान्तिमें और भी विलम्ब होगा। यह आजकलके उन्नति-कामी पुरुषोंका मत है।

यह सत्य है कि लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये चित्तमें एक असन्तोषकी वृत्ति जागनी चाहिये—परन्तु वह लक्ष्य क्या है, यही विषय सबसे बड़ा विचारणीय प्रश्न है। विषयसुखके लिये असन्तोषकी जागृति कदापि लाभदायक नहीं है, क्योंकि विषय-सुख वास्तविक सुख है ही नहीं। विषय-सुखके लिये जितना असन्तोष बढ़ेगा, जितनी उसे पानेकी चेष्टा होगी और जितने विषय प्राप्त होंगे उतना ही विषयोंका अभाव बढ़ेगा। विषयोंकी कितनी ही प्राप्ति हो जाय, कितने ही दुर्लभ विषय मिल जायँ, मनुष्यका मन कदापि उनसे तृप्त नहीं हो सकता। राजा ययातिने पुत्रकी जवानी लेकर हजारों वर्षोंतक विषय-भोग करके भोगतृष्णाको मिटाना चाहा, परन्तु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी, तब हारकर उन्होंने कहा—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥
(श्रीमद्भा० ९। १९। १३—१६, १८)

'पृथ्वीमें जितने खाने-पीनेके सामान, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, गाय-बैल, स्त्री-पुत्र हैं, उन सबके मिल जानेपर भी कामासक्त मनुष्यके मनको कभी तृप्ति नहीं हो सकती। विषयोंकी कामना उनके भोग करनेसे कभी शान्त नहीं होती; बल्कि घी डालनेसे जैसे आग और भी भड़कती है वैसे ही भोग मिलनेसे कामनाकी आग भी अधिक भड़कती है। जब मनुष्य किसीका भी बुरा न चाहकर सब प्राणियोंमें समदृष्टि हो जाता है, तब उसके लिये सब दिशाएँ सुखमयी हो जाती

हैं। जिसका त्याग करना दुर्बुद्धि पुरुषोंके लिये बहुत कठिन है और शरीरके जीर्ण होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होती, सुखी होनेकी इच्छा हो तो उस दुःखमयी तृष्णाको शीघ्र त्याग देना चाहिये। मुझे पूरे एक हजार वर्ष निरन्तर विषयसेवन करते हो गये परन्तु मेरी तृष्णा नहीं बुझी, वह उलटे बढ़ती ही जाती है।' और ज्यों-ज्यों विषयोंकी तृष्णा बढ़ेगी (चाहे वह व्यक्तिगत हो या देशगत) त्यों-ही-त्यों अभावका विस्तार होगा, फलतः दुःख बढ़ता जायगा।

अतएव यह अनित्य, अपूर्ण और क्षणभंगुर विषयसुख मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। मानव-जीवनका लक्ष्य तो उस सर्वोपरि सुखकी प्राप्ति है जो अखण्ड, अनन्त, पूर्ण और सदा एकरस है। इसलिये जिस पुरुषको वास्तविक सुखकी चाह हो उसे भोगतृष्णाका दमन करके भगवान्‌के विधानानुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हों, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। तृष्णानाशपूर्वक सन्तोषमें जैसा सुख है, वैसा सुख लोक-परलोकके किसी भी भोगमें नहीं है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'सांसारिक भोगोंमें और स्वर्गादिके दिव्य महान् सुखोंमें कोई-सा भी सुख तृष्णाक्षयके सुखके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं है।' योगाचार्य श्रीपतञ्जलिने कहा है—

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥
(योगदर्शन साधनपाद ४२)

'सन्तोषसे अनुत्तम सुखकी—निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है।' सन्तोषसे नित्य सर्वगत आत्मामें स्थिति होती है और तभी सच्चा-सच्चा और अखण्ड निरतिशय आनन्द मिलता है, क्योंकि अनन्त असीम सनातन नित्य सर्वगत अचल अविनाशी आनन्द आत्मामें ही है। यह आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। इसीसे आत्माराम पुरुषोंको अभावका बोध नहीं होता और वे हर-हालतमें आत्मानन्दमें निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३। १७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है, और आत्मामें ही सन्तुष्ट है उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है।'

सन्तोष आलसी और अकर्मण्य पुरुषोंके कामकी चीज नहीं है, आलसी और अकर्मण्य पुरुष सन्तोषी नहीं होते, वे तो कामनाकी ज्वालामें सदा जलते रहते हैं, उनकी तृष्णा कभी नहीं मिटती; कुशलतापूर्वक कर्म करनेकी शक्ति और मति न होनेके कारण वे सन्तोषका नाम ले लेते हैं। उनका वह सन्तोष आध्यात्मिक पथके परम साधनरूप 'सन्तोष' से सर्वथा भिन्न एक तामसिक भाव मात्र है। सन्तोष तो मनुष्यको विषयासक्तिसे छुड़ाकर, तृष्णाके तपते हुए प्रवाहसे पृथक्‌कर, ईश्वराभिमुखी बनाकर सच्चा कर्त्तव्यशील बना देता है। शान्तचित्त सन्तोषी पुरुष ही अपने सारे व्यक्तिगत स्वार्थोंको छोड़कर निष्कामभावसे देश और विश्वके कल्याणके लिये कर्त्तव्य-कर्मका आचरण कर सकता है।

सन्तोषकी भावनाने भारतवासियोंको कर्त्तव्यविमुख और पराधीन बना दिया है, यह कल्पना भ्रम मात्र है। बल्कि सन्तोषका अभाव और तृष्णाकी प्रबलता ही देश-प्रेम और विश्व-प्रेमके आदर्श भावोंको कुचलकर सबको सुखी देखनेके उदार भावको नष्टकर मनुष्यके मनमें देश और विश्वके प्रति विश्वासघात

करनेवाली नीच वृत्तियाँ पैदा कर देती है । भोगतृष्णाके कारण मनुष्य अपने जरासे स्वार्थके लिये देशात्मा और विश्वात्माका हनन करनेको तैयार हो जाता है और फलतः अपनी ही मूर्खतासे अपना विनाशसाधन कर बैठता है । इससे यह सिद्ध है कि असन्तोष उन्नतिका नहीं, वरं अवनतिका ही मूल है ।

असन्तोषसे जीवनमें जागृति नहीं आती । जीवनमें सच्ची जागृति आती है सत्त्वगुणके बढ़नेसे—

'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।'

असन्तोषसे तो सत्त्वगुणका विकास रुक जाता है जिसके फलस्वरूप भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा और व्यष्टि तथा समष्टिके हृदयमें अशान्ति और दुःखोंकी बाढ़ आ जाती है । यही कारण है कि आज जगत्‌में जितना असन्तोष बढ़ रहा है उतने ही भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा, अशान्ति और दुःखोंका ज़ोर भी बढ़ रहा है ।

असन्तोषसे होनेवाले भावी सुखकी मिथ्या आशामें साधन होनेपर भी दुखियोंके दुःखनिवारणकी चेष्टा न करना बहुत बड़ी भूल है । बुद्धिमान् पुरुषको ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये ।

सन्तोषके साधनसे मनुष्यकी भोगलालसा शान्त होती है, वह परमात्मापर विश्वास करके सत्य तथा न्यायके मार्गसे जीवननिर्वाह करना सीखता है, और सत्यकी रक्षाके लिये प्राणोंको न्योछावर कर सकता है । परमात्मा ही एकमात्र सत्य है, और उनकी प्राप्ति ही मानवजीवनका एकमात्र उद्देश्य है, इस सत्यको पानेके लिये सन्तोषका साधन करना परम आवश्यक है ।

सन्तोषका साधन दो प्रकारसे होता है; आत्माके स्वरूपको समझकर आत्माकी पूर्णतामें विश्वास करनेसे, अथवा परम मंगलमय सर्वसुहृद् भगवान्‌के विधानपर निर्भर करनेसे ! दोनोंका फल एक ही है । एक ज्ञानियोंका मार्ग है, दूसरा भक्तोंका । भगवान्‌ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए दो बार 'सन्तुष्ट' शब्दका प्रयोग करके भक्तोंमें सन्तोषकी आवश्यकता सिद्ध की है ।

'सन्तुष्टः सततम्' 'सन्तुष्टो येन केनचित् ।'
(गीता १२ । १४—१९)

और चतुर्थ अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
(गीता ४ । २२-२३)

'जो पुरुष भगवान्‌के विधान और प्रकृतिके नियमानुसार बिना ही प्रयास प्राप्त वस्तु और स्थितिमें सन्तुष्ट है, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत है, किसीकी किसी वस्तु या स्थितिपर डाह नहीं करता तथा सफलता-असफलतामें समबुद्धि रहता है, वह कर्त्तव्य-कर्म करनेपर भी कर्मबन्धनमें नहीं बँधता । क्योंकि आसक्तिसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थित चित्तवाले मुक्त पुरुषके समस्त कर्म, जो वह स्वाभाविक ही यज्ञार्थ लोककल्याणार्थ करता है, परमात्मामें ही प्रविलीन हो जाते हैं ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि सन्तोष मनुष्यको कर्त्तव्य-कर्म-त्यागके लिये बाध्य नहीं करता, बल्कि वह उसे अचल समत्वकी शान्तिमयी भूमिकापर पहुँचाकर सदाके लिये सुखी बना देता है, और जो-जो उसके सम्पर्कमें आते हैं, उनको भी सुखी बनानेकी चेष्टा करता है ।

* * *

भगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

कल्याणके 'नाम-जप-विभाग' की प्रार्थनाके अनुसार २६२ स्थानोंमें अनेकों भाई और बहिनोंने होलीतक उपर्युक्त मन्त्रका जाप किया और करवाया, मन्त्र-जपकी संख्या अबतक आयी हुई सूचनाके अनुसार १३४५०८६०० होती है। नाम जोड़नेसे इससे सोलह गुनी संख्या होगी। जिन भाइयों और बहिनोंने इस महान् जप-यज्ञमें योग दिया उन सबके हम कृतज्ञ हैं। जिन जगहोंसे सूचनाएँ आयी हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं।

अगरया, अमझरा, अम्बाह, अछनेरा, अमृतसर, अहमदाबाद; अग्रवालपुर, अल्मोड़ा, अलीगंज, अन्धारी, अमरकोट, अमनपुर, अनूपगढ़, अमरोई, अजमेर, अमरवाड़ा, अलवर, आजमगढ़, आफरवालामण्डी, आठनेर, इगलास, इन्दिराना, इन्दौर, इलाहाबाद, उरई, उधानपुर, उमरेठ,एरच, एकसवाँ, ओझर, औरंगाबाद,कटही, करोली, कन्नौज, काकन, कसया, कहानी, कांगड़ा, काठमांडू, काशीपुर, कामठी, काड़ी, कुटियाना, कुण्ड, केवटपुरवा, कैराना, कैलाश, कोंच, खपरी, खंडवा, खुटेहेरिया, खेरिया, खेकानगला, खैराबाद, गज्जा, गढ़वाल, गर्चा, गया, गढ़ेवा, गाजियाबाद, गोरखपुर, गोसलपुर, गोपीपुरा, गोधरा, गौहाटी, घालोपुर, चेचट, चांदा, चरखारी, चोमू चौरासी, जगराओं, जगरावाँ, जलगाँव, जबलपुर, जटपुरा, जमर्नानिवादा, जालना, जामनगर, जालौन, जिहुली, जूनागढ़, जोधपुर, जौनपुर, टिमरनी, डालटनगंज, डेरा गाजीखान, डेरा बाबानानक, तमकुही, तुरकौलिया, तेहरा, दमोह, दामड़ी, दामोदरपुर, दिलावरपुर, दीनदयालबाग, दीहड़, दहेगाम, देहरादून, देहली, द्वारकाधीशमन्दिर घनसुआ, घारनी, घारवार नजीबाबाद, नगरिया नयागाँव, नवादा, नवसारी, नई देहली, नरोडल, नहटौर, नसहटा, नरेन्द्रनगर, नागपुर, नारायनपुर, नार, नियाजीपुर, नेसड़ा, नेकपुर, नैपाल, नौगढ़बाजार, पसार, परसरामपुर, पल्लाताल, पक्कापुल, पछेगाम, पटना, पाटण, पाहया, पावरीकलाँ, पारसोक, पहासू, पलिताना, पिंडीघेब, पीपलरावाँ, पोकरन, फतेहगढ़, फलवरा, फर्रुखाबाद, फिरोजपुर, फैजाबाद, बघरा, बगहा, बड़का राजपुर, बड़ोदा, बम्बई, बनारस, बरताल, बनेड़ा, बरेली, बलसार, बढ़पुर, बालसमुन्द, बालोड़, बान्द्रा, बासना, बावेश्वर, बारासीवनी,बिनतनगर, बीगोद, बीकानेर, बुरहानपुर,बेगमाबाद, बैतूल, ब्रोच, बोरिवली, भभुआ, भटानी भरौंच, भवानीपटना, भावनगर, भागलपुर, भीभोरा, भुसावल, मस्कत, मद्रास, मरौली बाजार, मद्दरहेका नाला, मथुरा, मण्डी गीडाडवाल, मंसूरी, मंछना महिपालपुर, महेश्वर, मफगवाँ, मण्डवाला, माँडले, मांडल, मांडलि, मायँग, माधोपुर, मारवाड़ जंकसन, मासररोड, मिरजागाँव, मिरजापुर, मुरादाबाद, मुजफ्फरपुर, मैनपुरी मोरेना, मोरवी, मोकलसर, मौलीसर, रतनगढ़, रसूलाबाद, रन्नोह, रानीपुर, रामगढ़, रावतसर, रायपुर, रावलपिंडी, राखी, लखनऊ, लशकर, लक्ष्मनगढ़, लालपुरा लाहौर, लुणावाड़ा, लोड़काना, वरुणाठ विलासपुर, विहार शरीफ, शाहजहाँपुर, शिवपुर, शिवसागर, शेरपुर, शेरगढ़, श्यामाश्यामभुवन सधार, सरदार शहर, सहारनपुर, सधेरी, सम्भूखीया, सतना, सदीशोपुर सनगवाँ, सरमालियाँ, सिकन्द्रा, सिर्नांबाजार, सिकन्दराबाद, सिहोरा, सीआड़ी, सुभानपुर सूरत, सैरपुरलवल, सोनेली, हटिया, हट्टेवाणा, हट्टा, हर्दी, हथुआ, हसुवा, हिरनपुर हिम्मतपुर, हुबली, हेठचकाई, होशियारपुर, हैदरगढ़ ।

व्यवस्थापक—**नाम-जप-विभाग**

नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गतांकसे आगे]

कीर्त्तन

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व, और रहस्यका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है ।

कथा-व्याख्यानादिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के प्रेम-प्रभावका कथन करना, एकान्तमें अथवा बहुतोंके साथ मिलकर भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उसके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे, खड़े या बैठे रहकर, वाद्य-नृत्यके सहित अथवा बिना वाद्य-नृत्यके उच्चारण करना, तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना, यहाँ उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त करनेका प्रकार है । किन्तु ये सब क्रियाएँ नामके दश अपराधोंको बचाते हुए* दम्भरहित एवं शुद्ध भावनासे स्वाभाविक होनी चाहिये ।

उपर्युक्त कीर्तनभक्तिको प्राप्त करके सबको भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्यसे संसारमें इसका प्रचार करना, यह इसका प्रयोजन है ।

कीर्तनभक्ति भी ईश्वर एवं महापुरुषोंकी कृपासे ही प्राप्त होती है । इसलिये इस विषयमें उनकी कृपा ही हेतु है । क्योंकि भगवान्‌के भक्तोंके द्वारा भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको सुननेसे, एवं शास्त्रोंको पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त कर सकता है । अतः भगवान् और उनके भक्तोंकी दया प्राप्त करनेके लिये उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये ।

इस प्रकारकी केवल कीर्तन-भक्तिसे भी मनुष्य परमात्माकी दयासे उसमें अनन्य प्रेम करके उसे प्राप्त कर सकता है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।' इतना ही नहीं इस कीर्तन-भक्तिका

---

*सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः ।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

सत्पुरुषोंकी निन्दा, अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरुकी वाणीमें अविश्वास, हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी कल्पना, नामके बलसे विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण, अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नामजपमें नामके दश अपराध हैं ।

प्रचारक तो भगवान्‌को सबसे बढ़कर प्रिय है। भगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है–

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(१८। ६८-६९)

‘जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा और अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करके उनके हृदयमें धारण करावेगा, वह निस्सन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा, और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथिवीमें दूसरा कोई होगा।’ यही इस कीर्तन-भक्तिका फल है।

भागवत और रामायण आदि सभी भक्तिके ग्रन्थोंमें भगवान्‌के केवल नाम और गुणोंके कीर्तनसे सब पापोंका नाश एवं भगवत्-प्राप्ति बतलायी है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात्॥
(६। १३। ८)

‘ब्राह्मणघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती, गुरुघाती ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जातिवाले भी जिसके कीर्तनसे शुद्ध हो जाते हैं।’

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ४७)

‘जिस तरह सूर्य अन्धकारको, प्रचण्ड वायु बादलको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी तरह कीर्तित होनेपर विख्यात प्रभाववाले अनन्त भगवान् मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करके उसके सारे पापोंको निस्सन्देह विध्वंस कर डालते हैं।’ एवं—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥
(श्रीमद्भा० १। १। १४)

‘जिस परमात्मासे स्वयं भय भी भय खाता है उस परमात्माके नामको विवश होकर उच्चारण करता हुआ भी घोर संसारमें पड़ा हुआ मनुष्य तुरन्त उससे मुक्त हो जाता है।’

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

‘हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् कृष्णके कीर्तनसे ही आसक्तिरहित होकर पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।’

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शंतमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥
(श्रीमद्भा० ११। ३१। २८)

‘इस प्रकार भागवतमें अथवा अन्य सब शास्त्रोंमें वर्णित भगवान् कृष्णके सुन्दर अवतारके पराक्रमों तथा परम मंगलमय बालचरितोंको कहता हुआ मनुष्य परमहंसोंके गतिस्वरूप भगवान्‌की पराभक्तिको प्राप्त करता है।’

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

‘अहो! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि

जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया ।'

रामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

नाम सप्रेम जपत अनयासा । भक्त होहिं मुद मंगल बासा ॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भक्तसिरोमनि भे प्रह्लादू ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखेहु रामू ॥
चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका । भये नाम जपि जीव बिसोका ॥
कहँहु कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नामगुन गाई ॥

महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः । (यो० १ । १७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (यो० १ । २२)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।
(यो० १ । २९)

उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है । नारदपुराणमें भी कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(१ । ४१ । ११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही कल्याणका परम साधन है इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।' इस तरह शास्त्रोंमें और भी बहुत-से प्रमाण मिलते हैं ।

इस कीर्तन-भक्तिसे पूर्वकालमें बहुत-से तर गये हैं । इतिहास और पुराणोंमें एवं रामायणमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं ।

भगवान्के नाम और गुणोंके कीर्तनके प्रतापसे पूर्वकालमें नारद, वाल्मीकि, शुकदेव आदि तथा अर्वाचीन समयमें गौरांग महाप्रभु, तुलसीदास, सूरदास, नानक, तुकाराम, नरसी, मीराबाई आदि अनेक भक्त परमपदको प्राप्त हुए हैं । इनके जीवनका इतिहास विख्यात ही है । परमभक्तोंकी बात तो छोड़ दीजिये, जो महापापी थे वे भी तर गये हैं । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

अपर अजामिल गज गनिकाऊ । भये मुक्त हरिनाम प्रभाऊ ॥

अतः जैसे मेघको देखकर पपीहा जलके लिये पी-पी करता है वैसे ही भगवान्में परम प्रेम होने एवं भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवान्के नाम, गुणके कीर्तनकी नित्य-निरन्तर तत्पर होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

स्मरण

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यभरी अमृतमयी कथाओंका जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया है उनका मनन करना, एवं इस प्रकार मनन करते-करते देहकी सुधि भुलाकर भगवान्के स्वरूपमें ध्रुवकी भाँति तल्लीन हो जाना, स्मरणभक्तिका स्वरूप है ।

जहाँतक हो सके, एकान्त एवं पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सरल आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे रहित करके कामना और संकल्पको त्यागकर प्रशान्त और वैराग्ययुक्त चित्तसे अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते सभी काम करते हुए भी स्वाभाविक, शुद्ध और सरलभावसे सगुण-निर्गुण, साकार* निराकारके तत्त्वको जानकर गुण

---

* श्रीमद्भागवतमें सगुण-साकारके ध्यान करनेका यह भी एक प्रकार है—

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ।
सुचारु सुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥

और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना, भगवान्‌के नामका मनसे स्मरण करना, भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान्‌के तत्त्व और रहस्य जाननेके लिये उनके गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंसे मनके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करना, इस तरह स्मरणके बहुत-से प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

प्रभुमें अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति होना इसका उद्देश्य है।

प्रेमी भक्तोंके द्वारा नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना, भगवद्विषयक धार्मिक पुस्तकोंका पठन-पाठन करना, भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना, भगवान्‌के पद एवं स्तोत्रोंके द्वारा अथवा किसी भी प्रकारसे ध्यानके लिये करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करना तथा भगवान् और महापुरुषोंकी आज्ञापालन करना आदि उपर्युक्त स्मरण-भक्तिको प्राप्त करनेके उपाय हैं।

ऊपर बतलायी हुई केवल स्मरण-भक्तिसे भी सारे पाप, विघ्न, अवगुण और दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। भगवत्-स्मरणके द्वारा मनुष्य जो कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है। भगवत्-प्राप्तिरूप परम-शान्तिकी प्राप्ति भी इससे अति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। श्रुति-स्मृति, इतिहास, पुराण, संत-महात्मा सबने एक स्वरसे भगवत्-स्मरण (ध्यान) की बड़ी महिमा गायी है। कठोपनिषद्‌में कहा है--

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(२ । १६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर (उपासना करके) जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

सन्ध्योपासनविधिके आदिमें लिखा है--

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

'अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करते ही पुरुष बाहर और भीतरसे शुद्ध हो जाता है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है--

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८ । ७-८)

द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्॥
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत्।
(११ । १४ । ३८—४२)

'जो सम हैं, प्रशान्त हैं, जिनका मुख सुन्दर है, जिनकी लंबी-लंबी चार भुजाएँ हैं, जिनका कण्ठ अति सुन्दर है, जो सुन्दर कपोलवाले हैं, जिनका मुसकान उज्ज्वल है, जो कानोंमें देदीप्यमान मकराकृत कुण्डलोंको धारण किये हुए हैं, जो घनश्याम पीताम्बरधारी हैं, जिनके हृदयमें श्रीवत्स एवं लक्ष्मीका चिह्न है, जो शंख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमालासे विभूषित हैं, जिनके चरण नूपुरोंसे सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणिकी कान्तिसे युक्त हैं, जो कान्तिवाले किरीट, कड़े, मेखला और भुजबन्धों (बाजूबन्द) से युक्त हैं, जिनके सम्पूर्ण अंग सुन्दर हैं, जो मनोहर हैं, जो कृपायुक्त मुख-नेत्रवाले हैं ऐसे सुकुमार भगवान्‌के अंगोंमें मनको लगाकर सम्यक् प्रकारसे ध्यान करे।

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा । यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त अन्य तरफ न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरेमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'जो अनन्य भावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य मेरेमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गीता १२ । ६-८)

'और जो मेरे परायण हुए भक्तजन संपूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यान-योगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ । इसलिये हे अर्जुन ! तू मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मेरेमें ही निवास करेगा, अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५७-५८)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो । इस प्रकार मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि सब संकटोंको अनायास ही तर जायगा ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमीयुरनुचिन्तया ॥
कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥
(७ । १ । २७-२९)

'जैसे दीवालपर भँवरेके द्वारा रुद्ध हुआ कीड़ा क्रोधके भयसे उसका स्मरण करता हुआ उसके (भँवरेके) समान ही हो जाता है वैसे ही बहुत-से मायासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका वैरभावसे भी बारंबार चिन्तन करते हुए निष्पाप होकर उसको प्राप्त हो गये । जैसे काम, द्वेष, स्नेह तथा भक्तिसे ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से ही पापरहित होकर परमपदको प्राप्त हो गये ।'

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३७)

'आपके मंगलमय रूप तथा नामोंका श्रवण, कथन, स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ जो पुरुष सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी आपके चरणारविन्दोंमें ध्यान रखनेवाला है, वह फिर संसारमें नहीं आता।'

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमें ही लीन हो जाता है।'

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयो-
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ५४)

'श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके चरणकमलोंकी स्मृति सब पापोंका नाश करती है तथा अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्मामें भक्ति और विज्ञान-विरागसहित ज्ञानको एवं शान्तिको बढ़ाती है।'

श्रीविष्णुसहस्रनामके आदिमें कहा है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरण मात्रसे मनुष्य जन्मरूपी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, संसारको उत्पन्न करनेवाले उस विष्णुके लिये नमस्कार है।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें सुतीक्ष्णकी स्मरण-भक्ति सराहनीय है। सुतीक्ष्ण भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करता हुआ कहता है—

सो परम प्रिय अति पातकी जिन्ह कबहुँ प्रभु सुमिरन करयौ।
ते आजु मैं निज नयन देखौं पूरि पुलकित हिय भरयौ॥
जे पदसरोज अनेक मुनि करि ध्यान कबहुँक पावहीं।
ते राम श्रीरघुवंशमणि प्रभु प्रेमतें सुख पावहीं॥

आगे जाकर भगवान्‌के ध्यानमें ऐसा मस्त हो गया कि उसे अपने तन-मनकी सुधि भी न रही।

मुनि मग माँहि अचल होइ वैसा। पुलक शरीर पनसफल जैसा॥

इतना ही नहीं, भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी यही वर माँगा कि हे नाथ! मेरे हृदयमें आप निरन्तर वास करो।

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बाण धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव, बसहु सदा निष्काम॥

इससे यही सिद्ध होता है कि सुतीक्ष्णको भगवान्‌का ध्यान बहुत ही प्रिय था। इसी प्रकार स्मरण करनेवाले भक्तोंके शास्त्रोंमें बहुत-से नाम आते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़नेके भयसे सबका चरित्र न देकर केवल कतिपय भक्तोंके नाम मात्र दे दिये जाते हैं। जैसे सनकादि, ध्रुव, भीष्म, कुन्ती आदि स्मरण-भक्तिसे ही परमपदको प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त नीच जातिवाली भिलनी एवं जटायु पक्षीको भी भगवत्-स्मरणसे परम गति मिली।

गुण, प्रभाव एवं प्रेमसहित भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानके समान इस संसारमें शीघ्र उद्धार करनेवाला और कोई भी साधन नहीं है। प्रायः सारे साधनोंका फल भगवत्-स्मरण है। इसलिये अपना सारा जीवन उपर्युक्त प्रकारसे भगवत्-चिन्तनमें बितानेकी कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये। श्रीकबीरदासजीने भी कहा है—

सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजे छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरन सों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥

इसलिये भगवत्-प्राप्तिकी इच्छावाले साधक पुरुषको उचित है कि सब कार्य करते हुए भी जैसे कछुआ अण्डोंका, गऊ बछड़ेका, कामी स्त्रीका, लोभी धनका, नटी अपने चरणोंका, मोटर चलानेवाला सड़कका ध्यान रखता है, वैसे ही वह परमात्माका ध्यान रक्खें।

◆

एक भक्तके उद्गार

(लेखक—अ० श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव्य बी० ए० एल-एल० बी० साहित्यरत्न)

प्रलोभनका विरोध

१—जबतक हम संसारमें रहते हैं प्रलोभन तथा दुःखसे रहित नहीं रह सकते हैं ।

एक सद्ग्रन्थका वचन है 'पृथ्वीपर मानव-जीवन प्रलोभनका जीवन है ।'

प्रत्येक पुरुषको उचित है कि प्रलोभनोंसे सावधान रहे और प्रार्थनामें सतर्क रहे ताकि शैतानको धोखा देनेका मौका हाथ न लगे । वह कभी नहीं सोता, और चारों ओर भोजनकी तलाशमें खोजता रहता है ।

कोई मनुष्य ऐसा पवित्र और पूर्ण नहीं है, जिसे कभी-न-कभी प्रलोभनसे काम न पड़ा हो । इनके बिना हम नहीं रह सकते ।

२—यद्यपि प्रलोभन दुःखदायी और संतापकारी होते हैं, तथापि वे प्रायः हमारे लिये बड़े लाभदायक होते हैं । प्रलोभनमें ही मनुष्य विनम्र तथा पवित्र होता तथा शिक्षा ग्रहण करता है ।

सारे सन्तजन बहुतेरे दुःखों और प्रलोभनोंसे गुज़र चुके और उनसे लाभ उठा चुके हैं ।

जो प्रलोभन सहन न कर सके, वे भगवान्द्वारा परित्यक्त हुए और उनका पतन हुआ ।

कोई सम्प्रदाय ऐसा पवित्र तथा कोई स्थान ऐसा गुप्त नहीं है, जहाँ प्रलोभन अथवा विपत्ति न हो ।

३—पृथ्वीपर जीवन धारण करते समय कोई व्यक्ति प्रलोभनसे पूर्णतः मुक्त नहीं है । चूँकि पाप-प्रवृत्तिके साथ जन्म लेनेके कारण उसका मूल हमारे अंदर मौजूद है ।

एक प्रलोभन और दुःखके जानेपर दूसरा आ जाता है । निज आनन्दावस्थासे पतित होनेके कारण हम सदैव किसी-न-किसी वस्तुसे पीड़ित होते रहेंगे ।

बहुतेरे प्रलोभनोंसे भागना चाहते हैं और उससे भी दुःखदरूपसे उनमें फँस जाते हैं ।

केवल भागनेसे हम विजय नहीं पा सकते, किन्तु धैर्य और सच्ची विनयद्वारा अपने शत्रुओंसे विशेष बली बन सकते हैं ।

४—जो प्रलोभनोंको केवल बाह्यरूपसे रोकता और उनका मूलोच्छेदन नहीं करता उसे कम लाभ पहुँचेगा । शीघ्र ही प्रलोभन फिर लौट पड़ेंगे और वह अपनेको पहलेसे भी बुरी दशामें पावेगा ।

धीरे-धीरे सधैर्य दीर्घकालीन कष्टसहनसे ईश्वरकी सहायताद्वारा तुम हिंसा और निजी प्रयत्नोंके मुकाबिले प्रलोभनोंपर सुगमतासे विजय प्राप्त करोगे ।

प्रलोभनोंसे शिक्षा ग्रहण करो और उनमें पड़े मनुष्यसे दुर्व्यवहार मत करो । जैसा सुख तुम अपने लिये चाहते हो वैसा ही दूसरोंको प्रदान करो ।

५—मानसिक चाञ्चल्य और भगवान्में अधूरा विश्वास ही सम्पूर्ण प्रलोभनोंका आरम्भ है ।

बिना पतवारका पोत जिस प्रकार लहरोंपर इधर-उधर उछला करता है, उसी प्रकार ध्येय-च्युत तथा कर्तव्यसे उदासीन मानव अनेक प्रकार प्रलोभनमें पड़ जाता है ।

लोहेकी परीक्षा अग्निमें एवं सदाचारीकी परीक्षा प्रलोभनमें होती है ।

अक्सर हम यह नहीं जानते कि हम किस कामके योग्य हैं, किन्तु प्रलोभन हमें बता देता है कि हम क्या हैं ?

फिर भी प्रलोभनके आरम्भमें हमें अवश्य सतर्क रहना चाहिये, क्योंकि शत्रुपर विजय तब शीघ्रतासे

प्राप्त होती है जब उसका सामना द्वारके बाहर ही किया जाय और हृदय-कपाटके अंदर वह प्रवेश न करने पावे। किसीका यह वचन है—रोगका प्रतीकार आरम्भमें करो, समय चूकनेपर ओषधि प्रायः बेकार हो जाती है।

सबसे पहले मनमें केवल दुर्भाव उठता है, फिर उसकी पुष्टकल्पना, बादमें आनन्द-भावना और फिर पाप-प्रवृत्ति तथा अन्तमें स्वीकृतिका उदय होता है।

मानव प्रतीकारमें जितना ही विलम्ब करता है वह दिन-दिन उतना ही दुर्बल और उसके विरुद्ध शत्रु उतना ही प्रबल होता जाता है।

६—कुछ सात्त्विक जीवनके प्रारम्भकालमें बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे पीड़ित होते हैं और कुछ अन्तमें।

अन्य लोग लगभग जीवनपर्यन्त पीड़ित होते रहते हैं।

ईश्वरी बुद्धि तथा न्यायके अनुसार कुछ लोग सुगमतासे प्रलोभनोंमें पड़ जाते हैं। वही मानवकी दशा और शक्तिको मापता और अपने प्रियजनोंके लिये सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुशासन करता है।

७—प्रलोभनमें पड़नेपर हमें निराश होना उचित नहीं है, वरं और भी सचाईसे भगवद्भजनमें लगना चाहिये ताकि वह सम्पूर्ण दुःखोंमें मदद देकर उबार सके।

अतः सम्पूर्ण प्रलोभनों और कष्टोंमें हम अपने आपको भगवान्‌की शरणमें रक्खें क्योंकि वह विनम्र पुरुषकी रक्षा करता तथा उसे गौरव देता है।

८—मानवको प्रलोभनों और कष्टोंमें विदित होता है कि मेरा कितना कल्याण हुआ तथा उसे विशेष पुरस्कार मिलता है, एवं उसके गुण विशेष उज्ज्वल होकर चमक उठते हैं।

यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि किसी सच्चे भक्तको दुःखका अनुभव न हो, किन्तु यदि विपत्तिकालमें धैर्यके साथ दुःख सह सकता है तो उसके आत्मकल्याणकी आशा शेष है।

कुछ लोग बड़े-बड़े प्रलोभनोंको जीत लेते, पर नित्य होनेवाले तुच्छ प्रलोभनोंद्वारा हार जाते हैं। इसका कारण है कि वे महान् विषयोंको जीतनेपर भी तुच्छ विषयोंसे हारकर, साहस छोड़ देते हैं।

* * *

भावना

(रचयिता—'मंजुल' विशारद)

आँखिन माँहिं बसाऊँ, तुम्हें तजि और न ध्याऊँ॥
अपलक नैन तुम्हें दिन देखौं, जुगवत रैन बिताऊँ।
प्रेममगन मन, गुनि-गुनि, गुन-गन, हँसि-हँसि, रीझि रिझाऊँ।
जगत, जीवन फल पाऊँ॥ १॥ आँखिन माँहिं०
पल-पलनामें, सुघर साँवरे ! तुमकों समुद सुलाऊँ।
चख-पुतरीके हाथन मोहन ! हरुये झोक झुलाऊँ।
नेह-नव-डोर लगाऊँ॥ २॥ आँखिन माँहिं०
मोहन 'मंजुल' रूप तिहारो, सन्मुख जो लखि पाऊँ।
कै तुमकों अपनों करि राखौं, कै तुम माँहिं समाऊँ।
द्वैतको भाव मिटाऊँ॥ ३॥ आँखिन माँहिं०

* * *

अनन्तमें निवास

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

नीलोज्ज्वल आकाश असीम है। प्रकृतिकी शोभा मनोरम है । ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ हम विस्तृत आकाशको न देखते हों । जहाँ देखिये वहीं इसकी शोभाकी अनोखी घटा फैली हुई है । प्रकृतिके ऐसे अनुपम दृश्यको देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं । हमारा रोम-रोम आनन्दमें निमग्न हो जाता है । ऐसी सौन्दर्यशालिनी आनन्दप्रदाता प्रकृतिके बीच रहकर हम आनन्दकी चर्चा न करें तो और किसकी करें । लेकिन इसके साथ थोड़ी कठिनता भी है । हमारे बाहर प्रकृतिका स्थूल सौन्दर्य है । हमें भाँति-भाँतिके सुन्दर शरीर, अनेक प्रकारकी विचित्र वस्तुएँ अपनी ओर आकर्षण कर लेती हैं । लेकिन हमारे पास सूक्ष्म आनन्द भी है, जो स्थूल सौन्दर्यसे कहीं अधिक आकर्षक है । स्थूल वस्तुको हम देखते हैं, समझते नहीं इसलिये उसकी ओर हमारा मन शीघ्र दौड़ जाता है । सूक्ष्म वस्तु मनके अंदर समाहित रहती है । उसमें निवास करनेके लिये समझकी आवश्यकता होती है, स्थूल पदार्थोंसे मनको हटानेकी आवश्यकता होती है । सूक्ष्ममें निवास करनेके लिये केवल एक ही उपाय है कि आप अपनेको बिल्कुल भूल जायँ और सदा एक-सा प्रतीत होनेवाले आन्तरिक आनन्दमें डूब जायँ । ऐसा नहीं है कि हममेंसे कोई इसपर विश्वास न करता हो, लेकिन कुछ लोगोंमें इसे प्राप्त कर लेनेकी लगन अधिक होती है । जिनमें लगनकी कमी है उनके लिये भी एक ऐसा समय आवेगा जब वे अपने अंदर उस आवाजको सुनेंगे और उसका अनुसरण करेंगे । इस आवाजको सुनकर ऐसा हो नहीं सकता कि आप माया-मोहका त्याग न कर दें । यही हुआ है और यही हो रहा है । यह आज्ञा समयपर हममेंसे सबोंको प्राप्त होगी और हमें तदनुसार चलना होगा । विकास-क्रममें यह बात होकर रहती है लेकिन भिन्न-भिन्न शर्तोंमें । क्या आप विचार कर सकते हैं कि इसके आगमनके समय आपकी क्या दशा रहेगी ? आपके क्या भाव रहेंगे ? कैसे आप इसका स्वागत करेंगे ? इन सब बातोंका अभिप्राय क्या हो सकता है ? अपने शरीरके आरामको छोड़ देना, या संसारके और नातों-रिश्तोंको छोड़ देना उतना कठिन नहीं है जितना कि अपनी अहंता (मैंपन) को मिटा देना, और 'मैं और तुम' के भेद-भावको भूल जाना है । यह विचार बहुत गम्भीर है, बहुत कठिन है लेकिन अंदरसे भेद-भावके मिटे बिना शान्ति कभी नहीं मिल सकती, हृदयमें पवित्रता नहीं आ सकती । अपनी अहंताको भुलाकर आत्माका एकीकरण कर लेना बहुत ही पवित्र कार्य है । आत्म-साक्षात्कार हो जानेका यह अभिप्राय है कि अंदरका राग-द्वेष, पूर्वानुराग, किसी मुख्य वस्तुमें रुचि तथा और किसी प्रकारके वैषयिक भावोंका तिरोभाव हो जाना चाहिये । बात तो यह बहुत कठिन है लेकिन इसे करना होगा । तुम क्या हो इसे बिल्कुल भूलकर उसकी तरह हो जाना होगा ।

हमारे सामने बहुत ही बड़ा विस्तृत क्षेत्र है । इस बड़े-से क्षेत्रको हम एक छोटी-सी चीज़में छिपानेकी कोशिश करते हैं । ठीक इसी प्रकार कुछ थोड़ी-सी छोटी-छोटी बातोंका त्याग करके हम यह सोचते हैं कि हमें सफलता मिल गयी । कुछ बातोंके छोड़ देनेसे कुछ नहीं होता; चीजोंको तो त्यागनेकी भी हमें कोई आवश्यकता नहीं है । यह तो छोटी पहाड़ीके सामने खड़े रहनेके समान है । यदि हम पहाड़के उच्च शिखरका दर्शन करना चाहते हैं तो हमें उस छोटी पहाड़ीके सामने खड़े नहीं रहना होगा बल्कि वहाँसे आगे बढ़कर तेजीके साथ चलना होगा । अपनी साधारण रुचि,

साधारण भक्ति-भाव या पूजा-पाठमें ही लगे रहनेसे काम नहीं चलेगा । चन्द्रोदयके पूर्व असंख्य नक्षत्र आकाश-मण्डलमें चमकते रहते हैं । चन्द्रमाके निकल आनेके बाद सब नक्षत्र फीके पड़ जाते हैं और उसके स्वागतके लिये मार्ग छोड़ देते हैं। चन्द्रमा ही आकाशका शासनकर्ता है । हमलोगोंकी भी ठीक वैसी ही दशा है । लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि आप अपने व्यक्तित्वको छोड़ दें । बल्कि आपको यह समझना है कि किसी कार्यको अहंताके वश होकर न करें बल्कि जीवनमें प्रत्येक कार्यको करते समय आपका यह भाव होना चाहिये कि हमारा सब काम उसीके लिये है ।

हम सब प्रकृतिको देखते हैं । लेकिन हमारे देखनेमें और एक चित्रकारके देखनेमें बहुत अन्तर है । चित्रकार प्रकृतिका उपासक है । आकाश, पृथ्वी, वृक्ष, पुष्पको देखकर वह प्रसन्न होता है । उनमें वह अपनी तन्मयता प्राप्त करता है । उनमें लीन होकर वह यह देखता है कि इन्हें किस प्रकार चित्रित करूँ । वह उन दृश्योंकी नकल नहीं करता बल्कि उनके साथ एक होकर उनका प्रदर्शन करता है । यही बात हम सबोंको करनी है । उसके साथ एक हो जानेमें जो बातें रुकावट डालती हों उन सबोंको छोड़ना है । सारे बन्धनोंको काटकर फेंक देना है । उन्हें नष्ट करके ही हम उच्च शिखरपर पहुँच सकते हैं । वहाँ पहुँचकर आप उसके साथ एक हो जाते हैं । वहाँसे आप अपनेको और दुनियाको भली प्रकार देख सकेंगे । इस स्थितिमें आपको अपनी उन बातोंपर लेशमात्र ध्यान न देना होगा, जो इसके पूर्व आपके प्रसन्नताकी आधार थीं । यह दशा अपने ढंगकी एक अनोखी स्थिति है । उस शिखरपर पहुँचकर हृदय, मन और शरीर उसके अधीन हो जाता है । उसकी आज्ञानुसार सब काम सम्पादन होता है ।

इस शिखरपर पहुँचनेके लिये साधारणरूपमें सबको आदेश होता है । सब लोग अंदरकी इस आवाजको सुनते हैं । इसे सुनकर भी बहुत थोड़े मनुष्य होते हैं जो इसका पालन करते हैं । इस आज्ञाको सुनकर इसका पालन करते हुए भी कितने हैं जो उसमें अपनेको विलीन कर देते हैं । पहाड़से निकलकर नदी हजारों मीलकी यात्रा कर समुद्रमें मिल जाती है जहाँ उसका पृथक् अस्तित्व सदाके लिये मिट जाता है । हमें भी चाहिये कि नदीकी भाँति हम भी अपनी हस्तीको मिटा दें । हम लोगोंमें अहंताकी मात्रा अधिक होती है । हर वस्तुमें हम अपनापन देखते हैं । यदि हम पूजा करते हैं तो हम यह कहते हैं कि हम पूजा करते हैं । अपनी पूजा, अपनी प्रसन्नता, अपना मनोभाव इस प्रकार प्रत्येक कार्यको करते हुए उसे हम अपनेपनकी भावनासे भर देते हैं । उसकी आज्ञाको पालन करते हुए भी अन्धविश्वासी न बन जायँ । उसकी आज्ञाका पालन करनेका अभिप्राय यह है कि आपका हृदय और मन किसी विचारसे अवरोधित न हो । अपने पूर्वके अनुभव और कल्पनानुसार आप उसका अनुसरण न करें, बल्कि जो बात आपको तत्क्षण प्रतीत हो उसीपर विचार करें । ऐसा करनेसे आप अनन्तमें निवास करेंगे । यही एक तरीका है, जिसका आप अनुसरण कर सकते हैं । उस अनन्तमें निवास करनेसे आप वही करेंगे जिसके लिये आप अधिक समयसे चाह रहे थे। उस उच्च शिखरपर निवास करनेसे ही आप विज्ञानवेत्ता होंगे, आपमें स्वतन्त्र बुद्धि उत्पन्न होगी, जिसकी सहायतासे आप आनन्दके राज्यमें प्रवेश करेंगे । इस दशाको प्राप्त कर लेनेपर आपके अंदरसे 'मैं और तुम' का भेद-भाव मिट जायगा या आप यों भी समझ सकते हैं कि मैं और तुमके मिटे बिना, ब्रह्माण्डके साथ एक हुए बिना आनन्दके राज्यमें प्रवेश नहीं

हो सकता। अपने स्वभावके अनुसार जबतक आप अपनेको अलग समझे रहेंगे, अपने स्वभावानुसार ही दूसरोंको सत्यका अनुशीलन करानेकी चेष्टा करेंगे तबतक आप सत्यसे बहुत दूर होते जायँगे। जबतक हम अलग हैं हमारा प्रश्न यों ही बना रहेगा। अपनेको भुला देनेमें ही सारे प्रश्नोंको हल कर देनेकी शक्ति है।

ऐसी वस्तुका अनुसरण करो जो अनन्त है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उसकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्णता है। उसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् जीवनका उद्देश्य समाप्त हो जाता है। जबतक हमारा ध्यान स्थूल शरीरकी ओर रहेगा, तबतक उसकी प्राप्ति असम्भव है। हमें तो यह करना है कि हम अपने स्थूल शरीरको ऐसा अवसर देते रहें जिससे इसका मालूम होना दिनोंदिन कम होता रहे। ऐसा करनेसे जीवनका उद्देश्य अवश्य पूर्ण होता है।

इसके रहस्यको समझकर हम लोगोंको आनन्दमें निवास करनेका अभ्यासी होना चाहिये। आपको अभी इसका पता नहीं है कि इसका क्षेत्र कितना विस्तृत है। आनन्दका पवित्र भाव लौकिक और पारलौकिक सब भावोंसे श्रेष्ठ है। यही एक ऐसी वस्तु है जिसका आकांक्षी सब लोगोंको होना चाहिये। यही एक ऐसा साम्राज्य है जहाँका हमें सम्राट् बनना चाहिये। एक दफा भी यदि आप इसकी झलक पा लें तो फिर आपका कदम पीछे नहीं हट सकता। तब आप ऐसी चीजोंकी इच्छा ही न करेंगे जो प्रतिक्षण बदलती रहती है। यही एक ऐसा सत्य है जिसके लिये आपमेंसे प्रत्येकको लालायित होना चाहिये। यही वस्तु प्राप्त करनेकी है, यही वस्तु देने योग्य है।

इसको प्राप्त करनेके लिये हमें सौम्यतापर भी अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। हमारा जीवन सब प्रकारसे सरल, सादा और अच्छा होना चाहिये। हमारे रहन-सहनमें, व्यवहारमें किसी प्रकारका भद्दापन, भड़कीलापन या दम्भ नहीं होना चाहिये। यानी हम सब प्रकारसे शिष्ट और सच्चे हों। शिष्ट और सच्चे बननेके लिये जो-जो बातें आवश्यक हों वह भी हम करें। जो मनुष्य शिष्ट, सच्चा है, चाहे किसी प्रकारके कष्टमें है, परन्तु जिसमें वहाँतक पहुँचनेकी सच्ची इच्छा है चाहे वह भटकता ही क्यों न हो वह उस अनन्तमें शीघ्र मिल जायगा। लेकिन जिसने किसी बनावटी साधनमें सन्तोष प्राप्त कर लिया है उसके लिये मार्ग दूर है।

इस खोजमें जो दशा आपको प्राप्त होनेवाली है उसके प्राप्त हो जानेपर आपके अंदरसे अकेलेपन और विषादकी दशा जाती रहेगी। सब प्रकारकी कमजोरियाँ या वहाँतक पहुँचनेमें जो वस्तुएँ विघ्न पहुँचाती थीं वे सब मार्गसे हट जायँगी। जब आप उस अनन्त आनन्दको प्राप्त कर लेंगे, जब आप उसके साथ एक हो जायँगे तब तो आप अपना अकेलापन भूल ही जायँगे। ग्लानि क्या वस्तु है इसका आपको पता भी नहीं रहेगा। सफलता अथवा बड़प्पनका भी आपके मनमें कोई विचार नहीं रह जायगा।

आजकल हम लोगोंका ध्यान अकेलेपन, पारस्परिक मित्रता और प्रेमकी ओर अधिक रहता है। इस विचारसे हम भयभीत हो जाते हैं कि हमारे प्राचीन संस्कारोंका अन्त हो जाता है। ये वस्तु अच्छी हैं, कुछ समयके लिये हमें यह प्रसन्न कर देती हैं, इनकी भी कीमत है, लेकिन अनन्त आनन्दको प्राप्त कर लेनेपर हमें इनका अभाव नहीं प्रतीत होगा। पहले हम अपनी इन्द्रियोंके सुखमें ही सुख मानते थे। आनन्दमें निवास आरम्भ हो जानेके पश्चात् संसारकी प्रत्येक वस्तुके साथ पृथक्ताका भाव मिट जाता है। फिर आकाश, घास, वृक्ष, पशु-पक्षी भी अपने हो जाते हैं!

वीरशैवदर्शन

(लेखक—श्रीसिद्धरामप्पा दण्डप्पा पावटे)

श्रीशिवयोगीकृत 'सिद्धान्तशिखामणि' की श्रीतोन्तादार्य-द्वारा लिखित टीकाके आधारपर यहाँ वीरशैवदर्शनका किञ्चित् स्वरूप दिग्दर्शन किया जाता है—

एक एव शिवः साक्षाच्चिदानन्दमयो विभुः ।
निर्विकल्पो निराकारो निर्गुणो निष्प्रपञ्चकः ॥
अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तदंशो जीवनामकः ।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिजातिभेदे व्यवस्थितः ॥
मायी महेश्वरस्तेषां प्रेरको हृदि संस्थितः ।
चन्द्रकान्ते यथा तोयं सूर्यकान्ते यथानलः ॥
बीजे यथाङ्कुरः सिद्धस्तथात्मनि शिवः स्थितः ।
आत्मत्वमीश्वरत्वञ्च ब्रह्मण्येकत्र कल्पितम् ॥
बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पूषणि कल्पितम् ।
गुणत्रयविभेदेन परतत्त्वे चिदात्मनि ॥
भोक्तृत्वं चैव भोज्यत्वं प्रेरकत्वं च कल्पितम् ॥
गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ।
तद्वैषम्यात्समुत्पन्ना तस्मिन्वस्तुत्रयाभिधा ॥

(सिद्धान्तशिखामणिः)

'साक्षाच्चिदानन्दमय विभु शिव एक ही हैं। वह निर्विकल्प, निराकार, निर्गुण, निष्प्रपञ्चक हैं । अनादि अविद्याके सम्बन्धसे उन्हींका अंश जीव है जो देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि विविध जातियोंमें व्यवस्थित है। इन सब जीवोंके प्रेरक मायापति महेश्वर हैं जो चन्द्रकान्तमणिमें जलके समान या सूर्यकान्तमणिमें अग्निके समान सब जीवोंके हृदयमें विराजमान हैं। बीजमें जिस प्रकार अङ्कुर सिद्ध है उसी प्रकार जीवात्मामें शिव स्थित हैं। जीवात्मत्व और ईश्वरत्व ब्रह्ममें एक साथ ही कल्पित है जैसे सूर्यमें बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व एक साथ ही कल्पित होता है। चिदात्मपरतत्त्वमें गुणत्रयविभेदसे भोक्तृत्व, भोज्यत्व और प्रेरकत्व कल्पित है। यह गुणत्रयात्मिका शक्ति ब्रह्मनिष्ठा सनातनी शक्ति है। उसीके वैषम्यसे वस्तुत्रयाभिधा माया-शक्ति उत्पन्न होती है।'

वही आनन्दमय अन्तर्ज्योति हैं; देशकालाद्यनवच्छिन्न हैं, अहमात्मारूपसे सबके अन्तर्यामी हैं। शास्त्र कहते हैं, 'ग्वालिनों और पनहारिनोंने भी उन्हें देखा है' वे सब कुछ हैं, मायाकृत नानात्वसे सर्वथा परे हैं, नील-पीतादि वर्णोंसे परे हैं; सत्त्व, रज, तमके परे हैं। ईक्षणाशक्तिके समस्त शुभ गुणोंसे युक्त हैं और 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। इस प्रकार शिवसे भिन्न और कोई दूसरी वस्तु नहीं है, तथापि उनकी जो शक्ति हैं वे अपने-आपको व्यष्टि-समष्टि अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों ही रूपोंमें अनुभूत कर सकती हैं। इस कारण शिवका एक अंश जिसका स्वरूप ज्ञान और कर्म दोनोंका अविच्छेद्य मिलन है, जीव हो जाता है। इस जीवका स्वभाव ज्ञान और कर्म है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

(गीता)

अथवा 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र) इन वचनोंका भी यही अभिप्राय है। यह जीव देव, तिर्यक्, मनुष्यादि सप्तविध है।

देवाः षोडशलक्षाणि नवलक्षाणि मानुषाः ।
दशभिर्दशभिस्तद्वत् स्थलजा विहगा मृगाः ॥
सरीसृपास्तु लक्षाणि एकादश चरेतराः ।
अष्टौ च दश लक्षाणि सप्त जन्मान्यमूनि वै ॥

'सोलह लाख देवता हैं, नौ लाख मनुष्य हैं, वनस्पति, पक्षी और पशु प्रत्येक दस-दस लाख हैं, सर्पादि ग्यारह लाख हैं, चरेतर (अचर) प्राणी अठारह लाख हैं, ये ही सप्तविध (चौरासी लाख) जीवजन्म हैं।'

इन सबके अन्तर्यामी और प्रेरक मायापति महेश्वर हैं। चन्द्रकान्तमणिमें जैसे शीतलता या सूर्यकान्तमणिमें उष्णता होती है, वैसे ही जीवमें अभेदरूपसे शिव निवास करते हैं। व्यष्टि जीव और समष्टि ईश्वर सूर्यबिम्ब और प्रतिबिम्बके समान हैं और परमात्मा शिव बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावरहित सूर्यके सदृश हैं। ईश्वरत्व और जीवत्व ब्रह्मस्वरूपके दो अंग हैं जो परस्पर सापेक्ष हैं जैसे सूर्यके बिम्ब और प्रतिबिम्ब। और ब्रह्म स्वयं निरपेक्ष है। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके कारण चिदात्मपरतत्त्वमें भोक्तृ (जीव) भोज्य (विषय) और प्रेरक (ईश्वर) कल्पित हुए हैं। यहाँ यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि निरपेक्ष ब्रह्ममें त्रिगुणकी कल्पना नहीं हो सकती।

ब्रह्म शक्तिमान् है अर्थात् ब्रह्ममें शक्ति है। यह शक्ति अनादि है और ब्रह्ममें तादात्म्यभावसे रहती है। इस

शक्तिमें त्रिगुण व्यक्त होते हैं और इन गुणोंके वैषम्यसे माया उत्पन्न होती है। जो भोक्तृ, भोज्य और प्रेरक इन वस्तुत्रयसे युक्त होती है।

सर्वशक्तिमान् शिवकी यह शक्ति ही अग्निमें उष्णता, चन्द्रमें शीतलता, शय्यामें मृदुता, पत्थरमें कठोरता, भोग्य-वस्तुओंमें मोह और योगियोंमें ज्ञानस्वरूप है। शिवमें सामरस्यसे निहित इस शक्तिका शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषत्‌का वचन है—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

इस वचनमें 'च' पदसे शक्तिके आनन्द, इच्छा आदि अन्य स्वरूपोंको सूचित किया है। इनमें चित् और आनन्द अखण्ड होनेके कारण विक्षोभको नहीं प्राप्त होते। पर अन्य शक्तियाँ, जैसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया ऐसी हैं जिनके विषय होते हैं और इस कारण ये विक्षोभको प्राप्त हो सकती हैं। अतः चिदानन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियासे युक्त इस शक्तिमें भेद और अभेद स्फुरण होता है अर्थात् परमेश्वरका आत्मबोध द्विविध है, एक तो अपने भगवदीय स्वरूपका बोध है और दूसरा स्वीय इच्छा, ज्ञान और क्रियाके कारण स्वसत्तामें विद्यमान विविध विषयोंका भी बोध होता है। मयूराण्डगत द्रवपदार्थमें अभेद और विभेद दोनों होते हैं। विभेद यों कि इस द्रवपदार्थमें मोरके पैर, पंख, रंग आदि सभी भिन्न-भिन्न अवयव हैं। और अभेद यों कि इन भिन्न-भिन्न अवयवोंकी कोई पृथक् सत्ता उस द्रवपदार्थसे भिन्न नहीं है। परमेश्वरमें द्विविध चैतन्य इसी प्रकारका है।

यह चराचर जगत् शक्तिके द्वारा परमेश्वरसे अभिन्नरूपमें ही गृहीत होता है, तब इसको शक्ति 'स्वस्थ' कहते हैं, अर्थात् यहाँ यह चिदानन्दके 'अविभागविमर्श' में स्वयं स्थित रहती है, विभागपरामर्श अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रियाके भेदभावमें यह शक्ति त्रिगुणात्मिका हो जाती है। यद्यपि ज्ञान और क्रिया दो विभिन्न शक्तियाँ कहलाती हैं तथापि ज्ञातृत्वको कर्तृत्वसे, और कर्तृत्वको ज्ञातृत्वसे अलग नहीं किया जा सकता। 'मैं जानता हूँ' इस भावनासे 'मैं करता हूँ' इस भावनाको अलग नहीं किया जा सकता। इस ज्ञानशक्तिसे सत्त्वगुण अर्थात् विद्याशक्तिका प्रादुर्भाव होता है। जब हम कहते हैं—'हम इसे जानते हैं' यहाँ ज्ञान ही क्रियारूपमें है और इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञातृत्वको कर्तृत्वसे अलग नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार कर्तृत्व भी ज्ञातृत्वसे अलग नहीं हो सकता। क्योंकि जब हम कहते हैं कि 'मैं करता हूँ' तो यहाँ मेरे कर्तृत्वकी स्फुरणा होती है और वह ज्ञानस्वरूप ही होती है। यद्यपि, इस प्रकार ज्ञान और क्रियामें अभेद है तथापि हम कहते हैं कि ज्ञान क्रिया नहीं है, और क्रिया ज्ञान नहीं है। ज्ञान और क्रियाके भेदकी कल्पना तमस् है। इस प्रकार क्रियाशक्तिसे, जो ज्ञानशक्तिसे पृथक् नहीं हो सकती, रजस्‌की उत्पत्ति होती है जिसमें सत्त्व और तम भी मिला हुआ होता है। इस प्रकार विभागपरामर्शकी शक्तिके द्वारा ज्ञान और क्रियाशक्तिसे सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

इन तीन गुणोंके वैषम्यसे परमेश्वरके विशुद्ध चिद्रूपमें माया नामक तत्त्व उद्भूत होता है। यह प्रातिभासिक तत्त्व है; प्रातिभासिक इसलिये कि ये त्रिगुण यथार्थमें अलग-अलग तीन गुण नहीं हैं बल्कि एक ही अविभाज्य ज्ञान-क्रिया-इच्छाशक्तिपर आरोपित तीन रूप हैं।

(१) भोज्य—इस मायातत्त्वके कारण वस्तुत्रयकी उत्पत्ति हुई—अर्थात् दृश्य जगत् जिसका अनुभविता जीव है, (२) भोक्ता—अर्थात् जीव जो विषयोंके सुख और दुःख अनुभव करता है और (३) प्रेरक—जो भोज्य और भोक्ताका नियन्तृ-तत्त्व है।

मायाशक्ति शिवकी चिच्छक्ति अथवा परामर्शशक्तिके द्वारा उत्पन्न होती है और उसके द्वारा भौतिक जगत्‌की सृष्टि होती है। जीवात्मा, जो ब्रह्मका अभिन्न अंश है, बाह्य जगत्‌में फँस जाता है और सदा इस मोहमें रहता है कि मैं और मेरा जो कुछ है, यह जगत् ही है। इसके साथ ही जीवात्माको भगवान्‌की भक्ति प्रदान की गयी है; यदि वह इसका उपयोग करे तो मुक्ति प्राप्त कर सकता है। माया उसे स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर प्रदान करती है। भक्ति इन्हें नष्टकर इनके स्थानमें त्यागाङ्ग, भोगाङ्ग और योगाङ्ग प्रदान करती है। यह भक्ति भी आसक्ति है। परन्तु यह शिवासक्ति है जैसे माया विषयासक्ति है।

इस भक्तिके द्वारा जीव मोहसे निर्मुक्त हो जाता है और तब उसे 'अङ्ग' कहते हैं अर्थात् वह पुरुष जो परब्रह्मको प्राप्त करता है।

अमिति ब्रह्मसन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते ।

'भक्तिसे अङ्ग अधिकाधिक शिवस्वरूप होकर शिवोपासन करने योग्य होता है । शिव अपनी शक्तिसे जगत्की सृष्टि करते हैं, और भक्तिसे 'अङ्ग' को मुक्त करते हैं । यह भक्ति भी है तो शक्ति ही—

शक्तिभक्तयोर्न भेदोऽस्ति परमार्थनिरूपणे ।
शक्तिः प्रवृत्तिराख्याता निवृत्तिर्भक्तिरीरिता ॥
(अनुभवसूत्र)

परमार्थदृष्टिसे शक्ति और भक्तिमें कोई भेद नहीं । शक्तिकी ही प्रवृत्तिको शक्ति कहते हैं और उसीकी निवृत्तिको भक्ति कहते हैं । एक स्थल इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त हो जाता है । अङ्गके तीन रूपोंके अनुरूप ही लिङ्गके भी तीन रूप हैं—लिङ्ग, प्राण और भाव । इन तीन अङ्गों और लिङ्गोंका आगे निरूपण करते हैं । त्यागाङ्ग कहते हैं विश्वजीवको जो जीवसे विश्वजीव बना । यह विषयासक्ति त्याग देता है, इसलिये त्यागाङ्ग कहाता है, त्यागके द्वारा ही वह अपने परमात्मस्वरूपको जानता है जैसे पहले वह भौतिक शरीरसे विषयोंको जानता था । सूक्ष्म शरीरके स्थानमें भोगाङ्ग आता है । सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों, पञ्च प्राणों और अन्तःकरण अर्थात् मन और बुद्धिसे बनता है । इसी सूक्ष्म शरीरके द्वारा अशुद्ध जीवात्मा इन्द्रियोंके विषयोंसे सुख-दुःखका अनुभव करता है । परन्तु जो भक्त है वह विषय-वासनाका त्यागकर आत्मानुसन्धान करता है; आध्यात्मिक उन्नति जिससे हो अर्थात् शिवप्रसादके पानेमें, उन्हीं पदार्थोंमें, जो भगवान्से उसे प्राप्त होते हैं, उसे आनन्द आता है । अतएव जिस (अङ्ग) से यह प्रसाद प्राप्त होता है उसे भोगाङ्ग कहते हैं । प्राकृत जीवका कारण-शरीर आत्मविषयक अज्ञानसे बना होता है, इससे यहाँ जीव शिवसे पृथक् होता है । इसके भीतर मन और इन्द्रियोंकी सारी वासनाएँ छिपी रहती हैं । भक्तका मन और इन्द्रियाँ अपनी स्वाभाविक गतिको त्याग देती हैं, इससे भक्त प्रत्येक पदार्थमें आत्मानन्द और आत्मसत्ताका अनुभव करता है । उसका कारणशरीर भगवदिच्छाओंसे परिपूर्ण होता है। उसका पहलेका कारणशरीर नष्ट ही हो जाता है और उसके स्थानमें अन्तःस्थ भगवद्भावानुभवका शरीर बनता है । इसे योगाङ्ग कहते हैं, क्योंकि इससे अङ्गका लिङ्गके साथ योग होता है ।

संसारभ्रान्तिसन्त्यागात् त्यागाङ्गमिति पठ्यते ।
शिवेन सह भोगेन भोगाङ्गमिति कथ्यते ॥
शिवयोगसुखावास्या योगाङ्गमिति गीयते ।
योगाङ्गं कारणं प्रोक्तं भोगाङ्गं सूक्ष्ममुच्यते ॥
त्यागाङ्गं स्थूलमित्युक्तमेव भेदोपभेदतः ॥
(अनुभवसूत्र)

ये तीनों अङ्ग इष्ट, प्राण और भाव इन तीनों लिङ्गोंकी उपासना करते हैं । इष्टलिङ्ग वह लिङ्ग है जो शरीरसे पृथक् नहीं हो सकता । प्राणलिङ्ग वह लिङ्ग है जो मन और प्राणोंसे सम्बद्ध और अविच्छिन्न बना रहता है । भावलिङ्ग वह लिङ्ग है जो जीवका तत्त्व और वास्तविक स्वरूप है।

इष्टिः पूजा तपो नित्यमिष्टं पूजितमादरात् ।
इष्टलिङ्गमिति प्रोक्तमाचार्यैर्लिङ्गपूजकैः ॥
इष्टमर्थं स्वभक्तानामनुयच्छति सर्वदा ।
तदिष्टलिङ्गमित्याह तस्मादाथर्वणी श्रुतिः ॥
(अनुभवसूत्र)

गुरुणा दत्तलिङ्गं तु शिवमन्त्रेण धारयेत् ।
मूर्ध्नि कण्ठे भुजे हस्ते हृत्स्थले नाभिमण्डले ॥
(वातुल)

सद्रूपं भावलिङ्गं स्यात् चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ॥
अस्यार्थो भावलिङ्गं स्यात्त्वमर्थः प्राणलिङ्गकम् ।
तदर्थ इष्टलिङ्गं स्यात् पदत्रयनिरूपणे ॥
देहप्राणात्मरूपेण क्रियामन्त्रप्रयोगतः ।
बिन्दुनादकलाभेदाल्लिङ्गत्रयमुदाहृतम् ॥
(अनुभवसूत्र)

वीरशैवसिद्धान्तके आचार्योंका कथन है कि इष्टलिंग धर्मतत्त्व है जो शैवागमों और वेदोंसे निरूपित होता है । जबतक शरीरमें इष्टलिंग धारण नहीं किया जाता, तबतक मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता । इस विषयमें आगमिकाका (लिंगधारणचन्द्रिकामें उद्धृत) स्पष्ट वचन है—

संस्कृत्य गुरुणा दत्तं षडध्वन्यासपूर्वकम् ।
वामहस्तगतं लिङ्गं सावधानेन पूजयेत् ॥
धारयेद्यस्तु हस्तादौ लिङ्गाकारं शिवं सदा ।
तस्य हस्तस्थितं विद्धि मत्पदं सम्पदां पदम् ॥

वेदोंसे भी आचार्योंने इस विषयमें प्रमाण दिये हैं। यहाँ उनमेंसे एक ही प्रमाण दिया जाता है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ॥

अतप्ततनुर्नतदामोऽश्नुते श्रुतास ईद्वहंस्तत् समासत ।
(ऋ० ९ । ४ । ८३)

इस ऋक्‌की व्याख्या करते हुए वैष्णव चक्रधारणका समर्थन इसके द्वारा करते हैं। वीरशैवके सिद्धान्तानुसार इस मन्त्रका अर्थ नीचे लिखे अनुसार होता है—

'हे शिव ! आप जो इस स्थूल शरीरपर लिंगरूपसे विराजते हो सो आपका यह शरीर शुद्धि-अशुद्धि दोनों ही अवस्थाओंमें कालोंमें एक-सा ही क्षीण होने योग्य है। इष्टलिंगादिके रूपमें अथवा इसे धारण करनेवाले भक्तोंके शरीरोंके भेदसे, इसके विविध प्रकार हैं। आप अनुग्रह या निग्रह करनेमें समर्थ हैं, आप अपने भक्तोंके शरीरोंमें व्याप्त हैं। तपसे जिसका शरीर शुद्ध नहीं हुआ है वह उसके साथ मुक्त नहीं हो सकता; केवल वे ही जो तपकी अग्निसे तपकर निकले हैं और इस तरह जिन्होंने अपने-आपको तपाकर शुद्ध किया है और जो यह (इष्टलिंग) धारण करते हैं—वे ही उसका सामीप्यलाभ कर सकते हैं।'

स्थूल शरीरकी व्याख्या करते हुए कहा जाता है—'भोगाधिकरणं शरीरम्' अर्थात् शरीर उसे कहते हैं जिसमें बैठकर जीवात्मा अपने कर्मफलस्वरूप सुख-दुःखादिका भोग करता है। इन भोगोंसे नये कर्म उत्पन्न होते हैं और नये कर्मोंसे फिर नये भोग उत्पन्न होते हैं। वीरशैवधर्म इष्टलिंग धारण कराकर इस कर्मचक्रकी गतिको रोक देता है अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाले कर्मोंका प्रवाह दूसरी ओर घुमाकर शरीर उत्पन्न करनेवाले कर्मोंको सञ्चित ही नहीं होने देता। आत्मविषयक भावना शरीरके सम्बन्धमें बिल्कुल बदल देनी पड़ती है। शरीरको वैषयिक सुखका साधन माननेके स्थानमें शिवोपासन और शिवस्पर्शकी प्राप्तिका साधन मानना पड़ता है। यहाँ उपासना किसी ऐसे देवकी नहीं होती जो उपासकसे दूर हों बल्कि उस देवताकी उपासना होती है जो उसके अंदर ही हैं, और जिनका अनुभव स्थूल शरीरकी स्थूल प्रवृत्तिके कारण ही नहीं होने पाता। स्थूल शरीरका यह स्वभाव है कि यदि इसे भक्तिके अधीन न करके स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो यह वैषयिक सुखोंके पीछे ही दौड़ता है। वीरशैवाचार्य शिष्यमें लिंग स्थापित कर देते हैं जो षडध्वोंका विग्रह है और जिसमें वह उस शिवतत्त्वको उद्भावित कर देते हैं जो शिष्यके शरीरमें व्याप्त है। शिष्यको उनकी यह शिक्षा होती है कि इस लिंगको वह अपने शरीरसे कभी अलग न करे, कारणशरीरमें भीतर शिवतत्त्व मौजूद है, तथापि मायाका फेर ऐसा है कि उस तत्त्वसे कभी भेंट नहीं होती और न उसका पूजन होता है। परन्तु वह तत्त्व जब लिंगरूपमें आकर शरीरसे सदाके लिये बँध जाता है तब उससे शरीरकी वैषयिक वृत्ति और वासनाएँ जल जाती हैं और जीव तब पहलेकी तरह शारीरिक सुखोंके पीछे न दौड़कर अपने कर्मोंद्वारा उसी लिंगका पूजन करता है। यह पूजन वह किसी जड़ पदार्थका नहीं करता बल्कि अपने शरीर, मन और अन्तरात्मामें जो भगवच्छक्ति विराजमान है उसीका यह मूर्तरूप जगाकर इसका पूजन करता है और इस उपासनासे वह अपने अंदर और उस लिंगके अंदर भी उसी भगवच्छक्तिकी सत्ताका अनुभव करता है। इस उपासनाके दो अंग हैं—श्रद्धा और निष्ठा। प्रथम साधन श्रद्धाको ही 'मृगेन्द्रागम'में इस धर्मका प्रथम लक्षण कहा है—

येषां शरीरिणां शक्तिः पतत्यविनिवृत्तये ।
तेषां तल्लिङ्गमौत्सुक्यं मुक्तौ द्वेषो भवस्थितौ ॥
भक्तिश्च शिवभक्तेषु श्रद्धा तच्छासने विधौ ॥

इस प्रकार इष्टलिंगके उपासक त्यागांगके श्रद्धा और निष्ठा ये दो अंग हैं। जबतक श्रद्धा नहीं होती तबतक त्यागांगमें दुराचार या प्राकृताचारका दमन करनेकी संयमशक्ति नहीं होती, न वह धैर्य होता है जिससे शिवाचारका अभ्यास हो। श्रद्धाके बाद निष्ठा आती है। जबतक निष्ठा नहीं होती तबतक भगवान् शिवके चरणोंमें आत्मार्पण नहीं कर सकता। ज्यों ही कोई दीक्षित होता है त्यों ही उसे उन सब धर्मोंका त्याग कर देना पड़ता है जो धर्म सम्पूर्ण शिवार्पणमें बाधक हों, क्योंकि उसने शरीरको अब शिवलिंगका निवासस्थान बना लिया है। और इसलिये उसे इस निवासस्थानको सदा पवित्र रखना है। पवित्रता केवल बाह्य ही नहीं, आन्तरिक भी। आन्तरिक पवित्रता केवल असत्यभाषणादि असदाचरणसे बचना ही नहीं है, बल्कि वर्ण-जाति आदिका अभिमान तथा आत्मापर और जो कुछ आरोप किया हुआ हो उसका भी सर्वथा त्याग है। श्रद्धासे युक्त त्यागांग ही भक्त कहलाता है क्योंकि वह शिवके शरणागत होता है, और जब वह निष्ठावान् होता है तब वह महेश्वर हो जाता है क्योंकि तब वह 'हेया मायाको श्ववत्' त्याग देता है।

लिंगोपासनाके लिये जिस पवित्रताकी आवश्यकता है, वह मानसिक भावनाओंके द्वारा प्राप्त की जाती है और

उसकी सहायता बाह्य चिह्नोंसे की जाती है। जिस अन्तर्दर्शनसे आत्मदर्शन होता है और माया या पाप जल जाता है उसीको भस्म कहते हैं। इस अन्तर्भस्मके चिह्नस्वरूप बाह्यभस्म लगानेका विधान है। बृहज्जाबालोपनिषद्में भस्मधारणकी विधि है।

साधकको अपनी दृष्टि बदलनी पड़ती है, और अपने चारों ओर प्रत्येक वस्तुमें शिवभावना करनी पड़ती है। यही आन्तरिक रुद्राक्ष है, अर्थात् वह दृष्टि जिसके द्वारा साधक सर्वत्र शिवको देख सकता है। इसीका बाह्य चिह्न स्थूल रुद्राक्ष है जिसे धारण करनेका उपर्युक्त श्रुतिमें भी विधान है।

ध्यान ही मन्त्र है और श्रीरुद्रोक्त 'नमः शिवाय' मन्त्र इसीका वाग्रूप है इसका भी रुद्राष्टकमें विधान है।

इसी प्रकार लिंगदीक्षा देनेवाले गुरुका अन्तःस्वरूप स्वयं ज्ञान है। लिंग जो बाहर धारण किया जाता है उसका अन्तःस्वरूप, आत्मविभूति, मलदहन, रुद्राक्ष और दिव्यदृष्टि है। इन सबमें साधकको पूर्ण विश्वास होना चाहिये।

यही नहीं, जिन पुरुषोंने अपने-आपको शिवस्वरूप अनुभूत किया है उन्हें भी शिवस्वरूप ही जानना चाहिये। इन्हींको जंगम कहते हैं। अन्तःसृष्टिमें जंगम वे इन्द्रियाँ हैं जो पापविनिर्मुक्त और शिवबोधयुक्त हैं। गुरु, लिंग, जंगम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र ये छः और पादोदक और प्रसाद दो मिलकर अष्टावरण कहलाते हैं। इनका अन्दर और बाहर होना वीरशैवके लिये अत्यन्त आवश्यक है। त्यागांगके जैसे दो भेद हैं—भक्त और महेश, वैसे ही इष्टलिंगके आचार और गुरु ये दो भेद हैं। आचारलिंग विभूति और रुद्राक्ष है और गुरुलिंग मन्त्र तथा विभूति और रुद्राक्षके द्वारा प्राप्त कर्मशुद्धि है। ज्ञान केवल ध्यानके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है अतएव गुरुलिंग मन्त्रमें आ जाता है। अन्तःस्थित शिवका विग्रह जान और उसे अपने आत्मासे अभिन्न मान जो कोई इष्टलिंगका सतत पूजन करता है उसके अन्तःकरणमें आत्मबोध उदय होता है, वैसे ही जैसे दो अरणियोंके संघर्षणसे अग्नि प्रकट होती है। और जीव श्रद्धा तथा निष्ठाके साथ जिस परमतत्त्वकी भावना कर रहा था वही परमतत्त्व योगाङ्गमें पूजित प्राणलिङ्गके द्वारा उसके सामने अपरोक्ष हो जाता है।

अब भोगाङ्गका विचार कीजिये। जो लिंगका उपासक है और इसपर जिसने आत्मसमर्पण किया है वह समस्त इन्द्रियभोगोंका परित्यागकर केवल शिवप्रसाद ही ग्रहण करता है। इससे उसका मन भी निष्पाप और शुद्ध हो जाता है। इस स्थितिको प्रसादस्थल कहते हैं और इस प्रकार जिस प्राणलिंगकी उपासना होती है वह शिवलिंग कहाता है, क्योंकि यही शिव अर्थात् कल्याणमय है। इस अवस्थामें विषयमात्रका विषवत् त्याग करके अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है। इसलिये यहाँ अवधानभक्ति—अनन्य भक्तिकी आवश्यकता है।

जब शिवोपासनामें समर्पणके द्वारा मन शुद्ध हो जाता है, तब मुमुक्षु सांसारिक विषयोंको प्रिय नहीं मानता और तीनों ही शरीरोंका त्याग करके अपने भीतर शिवका ही अनुभव करने लगता है। इस स्थितिको प्राणलिंगस्थल कहते हैं। और इस प्रकार जिस लिंगकी पूजा की जाती है वह जङ्गम लिंग कहलाता है—क्योंकि यही ज्ञान प्राप्त करानेका कारण होता है—'गम् ज्ञाने' धातुसे यह शब्द बनता है। अनुभव ही इस आत्मज्ञानका कारण है। इसलिये इस स्थितिको प्राप्त होनेके लिये ब्रह्मसाक्षात्कारक अनुभव-भक्तिकी आवश्यकता होती है।

जिसने आत्मशिवानुभव कर लिया है और इस तरह जो सांसारिक सुखोंसे विरक्त हुआ है वह स्वान्तःसुखसे कभी वञ्चित नहीं होता। इस आत्मसुखसे उसकी शिवासक्ति बढ़ती है और वह अनुपम शिवप्रेमको प्राप्त होता है। इसे 'आनन्दभक्ति' कहते हैं। यह किसी सांसारिक दुःखसे आच्छादित नहीं होती। इस आनन्दभक्तिसे जिस लिंगका पूजन होता है वह प्रसादलिंग कहलाता है। अन्य महान् सम्प्रदायोंके समान वीरशैवसम्प्रदायमें भी आन्तरिक अनुभवोंके बाह्य चिह्न होते हैं। अमृत या अन्तःसुख पादोदक कहलाता है। अर्थात् वह उदक (जल) जिससे गुरु, लिंग और जंगमपूजन होता है विषय-भोगोंकी प्यास बुझानेवाला यह अमृत है। उसीका बाह्य चिह्न गुरु, लिंग और जंगमका पादोदक है। साधक यहाँ अनुभूतिको प्राप्त होता है जहाँ वह प्राकृत बन्धमात्रसे मुक्त हो जाता है। अब उसे शिवतत्त्वसे पृथक् करनेवाला कोई बन्ध नहीं रह जाता। वह शिवके साथ एक हो जाता है और उस अवस्थामें पहुँच जाता है जहाँ अष्टावरण एक ही अभेद शिवतत्त्वमें परिणत हो जाते हैं। इसे 'समरसभक्ति' कहते हैं और इस भक्तिसे जिस लिंगका पूजन होता है उसे महालिंग कहते हैं। प्रसादलिंग और महालिंग मिलकर भावलिंग होता है।

आचारलिंगमें क्रियाशक्ति होती है, क्योंकि आचार शुभ्र क्रियाओंके ऊपर ही अवलम्बित होता है। गुरुलिंगमें ज्ञानशक्ति होती है क्योंकि ज्ञान अनुभूतिपर ही निर्भर करता है। शिवलिंगमें इच्छाशक्ति होती है क्योंकि जबतक हमारी इच्छा शुद्ध नहीं होती तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता। जंगमलिंगमें आदिशक्ति होती है क्योंकि आत्मानुभूति सब शुभेच्छाओंका उद्गमस्थान है। प्रसादलिंगमें पराशक्ति होती है, क्योंकि निरभ्र अन्तःकरणमें आत्मानुभव होनेसे ही हम सब इच्छाओं और उनके कारणोंके ऊपर उठते हैं। महालिंगमें चिच्छक्ति होती है क्योंकि हम सब इच्छाओंके ऊपर उठकर और मुक्त होकर भी जड़-पाषाणवत् मुक्त नहीं होते बल्कि अपना बोध हमें रहता है। इस प्रकार शक्तिविशिष्ट लिंग भक्तिविशिष्ट अंगके साथ एक हो जाता है। यही शक्तिविशिष्टाद्वैत है।

यह शक्तिविशिष्टाद्वैत वैदिक शास्त्रों और शिवागमोंके ऊपर अवलम्बित है। परन्तु इस तत्त्वज्ञानका कुछ कालके लिये बासवके उदयके पूर्व तिरोधान हो गया था।

बारहवीं शताब्दीके प्रारम्भ और ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तमें कर्णाटकमें अनेकों महात्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने इस सम्प्रदायका पुनरुद्धार किया। इस समयमें दो सौके लगभग सन्तोंका निरन्तर उदय होता रहा। उनमें नर और नारी दोनों ही थे। इनमें बासव, छन्ना-बासव, अल्लाम तथा महादेवी, नीलाम्बिका, गंगाम्बिका और नगलाम्बिका आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सबके उपदेश कर्णाटक भाषामें हैं।

वीरशैवसम्प्रदाय जगत्‌को भगवत्कर्मद्वारा धारण किया हुआ मानता है। इसमें भक्तका इतना ही काम है कि वह इस भगवत्कर्ममें योगदान करे। लिंगसंगकी शक्तिसे उसके शरीर, मन और अंग भगवत्कर्मसे व्याप्त और परिचालित हैं। इनसे पृथक् उसका कोई कर्तव्य नहीं है। वह स्वयं भगवान्‌का है और उसका जो कुछ स्वत्व है वह वैयक्तिक भोगके लिये नहीं है। उसका प्रत्येक स्वत्व भगवान्‌के भक्तोंके लिये है।

◆

इस्मे-आज़म

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

'कल्याण' के गत (वर्ष ११ सं० ६) में, "७४॥" शीर्षक कहानीमें प्रसङ्गवशात् 'इस्मे-आज़म' की चर्चा हुई है। उसमें लिखा है कि कीमिया अर्थात् रासायनिक प्रक्रियासे स्वर्ण बनानेमें पारेके दिलकी आवश्यकता होती है और बिना 'इस्मे-आज़म' के पारा अपना दिल नहीं देता। अब प्रश्न यह है कि 'इस्मे-आज़म' क्या वस्तु है। इसका शब्दार्थ तो स्पष्ट है। 'इस्म' मानी नाम और 'आज़म' मानी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि। अर्थात् भगवान्‌का सर्वश्रेष्ठ नाम। श्रीभगवान्‌के अनन्त नामोंमें सर्वश्रेष्ठ कौन नाम है? हमारे शास्त्रोंमें लिखा है—

'सर्वेषां हरिनाम्नां हि वैभवं रामनामतः ॥'

अर्थात् श्रीहरिके सब नाम 'रामनाम' हीसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अस्तु, रामनाम ही भगवान्‌का सर्वश्रेष्ठ नाम है; यही 'इस्मे-आज़म' है। स्वर्ण बनानेकी प्रक्रिया बताते हुए उस कीमियागर फ़क़ीरने अकबर बादशाहसे जो फ़ारसी भाषाका शेर (पद्य) कहा था, वह इस प्रकार है—

ब-नेह सरे अकबरो मर्दी बपाए मोर ऐ ज़ाहिद।
बलन्द अज़फ़र्ए-एज़िद,तु खुद-बींउम्चेमन बीनम् ॥

इसका साधारण अर्थ यह है—हे जाहिद ! अर्थात् बाह्याडम्बरपर दृष्टि रखनेवाले ! अकबर अर्थात् बड़प्पन और मर्दी अर्थात् शूर-वीरतासे भरे हुए सिरको (तुच्छातितुच्छ जीव) चींटीके पैरपर रक्खो अर्थात् सब प्रकारके

घमण्ड और मनसूबेका त्याग कर दो, तब ख़ुदाईके दबदबासे भी उच्च परतम तत्त्वको तुम ख़ुद देखो, जिसे मैं देखता हूँ।

उक्त पद्यके प्रथम चरणमें श्लेष है। उसका श्लेषार्थ यह है कि 'अकबर' का सिर 'अलिफ़' और 'मर्दी' का सिर 'मीम' अर्थात् 'अलिफ़' और 'मीम' को, 'मोर' के पैर 'रे' पर रक्खो, इस प्रकार रखनेसे फ़ारसी-लिपिके अनुसार 'राम' शब्द बनता है। पाठक देखें कि उस फ़क़ीरने किस ख़ूबीसे, कैसी चतुरताके साथ 'इस्मे-आज़म' का बोध कराया है। गोपनीय तत्त्वको प्रकट करनेकी कैसी अच्छी सूझ है?

पारदका पारिभाषिक तन्त्रोक्त नाम परमेष्ठी भी है। तन्त्रशास्त्रमें लिखा है—

'रामनामप्रभावेण परमेष्ठ्यद्रवद्ध्रुवम्।'

अर्थात् रामनामके ही प्रभावसे निश्चय ही परमेष्ठी द्रवीभूत होता है अर्थात् पारा अपना दिल देता है।

आर्यशास्त्रकी ये गुह्यातिगुह्य बातें किस प्रकार अरबदेशमें पहुँचीं? इसका उत्तर हमारे देश-बन्धु प्रसिद्ध रसायनशास्त्री श्रीयुत डाक्टर प्रफुल्लचन्द राय (Dr. P. C. Roy) ने निजनिर्मित ग्रन्थ 'हिस्टरी आफ़ इण्डियन केमिस्टरी (History of Indian Chemistry) अर्थात् भारतीय रसायन-शास्त्रका इतिहास' में दिया है। विक्रम संवत्‌के पहलेसे ही अरबदेशसे भारतका व्यापारिक सम्बन्ध चला आता है। अरबी व्यापारी भारतमें आकर यहाँसे व्यापारिक वस्तुएँ जहाज़पर लादकर ले जाते थे और यूरोपके बाज़ारोंमें बेचते थे। पुरातत्त्वज्ञ डा० राधाकुमुद मुकर्जीने भी अपने ग्रन्थ 'इण्डियन-शिपिङ्ग' (Indian Shipping) में इसको स्वीकार किया है। उन अरबी व्यापारियोंके साथ वहाँके विद्वान् भी भारतीय विद्याओं और कलाओंको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भारतमें आते थे। अरबी भाषामें जो 'हिन्दिसाँ' शब्द अङ्कगणितके लिये व्यवहृत होता है वह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। स्वनामधन्य महाशय 'जनून' भारतमें आये थे और यहाँसे वेदान्त पढ़कर गये थे। भक्तिमार्गीय वेदान्तका जो उन्होंने उस देशमें प्रचार किया था, उसीको 'सूफ़ी' मत कहते हैं। उन्होंने ही 'इस्मेआज़म'—राम-नामके अभ्यासका भी प्रचार वहाँके फ़क़ीरोंमें किया था और 'अल-हज़र' नामक रासायनिकने तन्त्रोक्त रामनामके रहस्यका प्रचार। अस्तु, भक्ति-रस एवं रासायनिक-रस इन उभय रस-प्रक्रियाओंमें इस्मे-आज़मका प्रचार यहाँकी तरह वहाँ भी हुआ था और फ़क़ीरी दुनियामें वह अबतक अक्षुण्ण बना हुआ है। अब हम भक्ति-रसान्वित श्रीअयोध्याजीके साकेतगत महात्मा श्रीशर्वरीशजीका सरल उपदेश उद्धृत करके इस नोटको समाप्त करते हैं।

'इस्मे-आज़मे'-औराद[1] से दिल शाद[2] तो करते।
देरी हुई जाती है, उसे याद तो करते॥
ग़फ़लत हुई तो फिर भी मुज़ायक़ा[3] नहीं लेकिन।
रो-रोके नगूं[4] सर गहे[5] फ़रियाद तो करते॥

* * *

---

१ स्मरण, जप। २ प्रसन्न। ३ परवाह। ४ झुकाकर। ५ कभी।

आत्मश्रद्धा और प्रयत्न

(लेखक—पं० श्रीमाँगूलालजी मिश्र)

अक्सर कई मनुष्य ऐसे देखे गये हैं कि प्रथम तो वे प्रत्येक कार्यको उत्साहपूर्वक करनेके लिये तैयार हो जाते हैं और कुछ समयतक करते भी रहते हैं। परन्तु अपनी निर्बलता और निरुत्साहके कारण कुछ दिन पश्चात् ही अपनी असमर्थता प्रकट कर, उसे अधूरा ही छोड़ देते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिसे मनुष्य नहीं कर सकता। वह दुष्कर-से-दुष्कर कार्य भी कर सकता है। अतः इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि 'मनुष्य सब कुछ करनेमें समर्थ है', परन्तु चाहिये अपनी आत्मापर अटल विश्वास। उक्त सिद्धान्तको सुनकर ही कोई चाहे कि मैं आत्मश्रद्धाके उच्च गुणसे उत्पन्न होनेवाले अलभ्य फलको ग्रहण कर लूँ; यह सर्वथा असम्भव है। इसमें कोई सन्देह नहीं! और मनुष्य सब कुछ करनेके लिये समर्थ है, यह वाक्य भी निःसन्देह सिद्धान्तरूप ही है। शास्त्रोंके अवलोकन और पूर्वजोंके वचनोंको श्रवण करनेसे भी इसकी सार्थकता ही सिद्ध होती है। परन्तु जबतक हम स्वतः इसका अनुभव प्राप्त न कर लें, तबतक इसकी सत्यतापर विश्वास ही कैसे हो सकता है? अगर यों ही विश्वास कर लें, तो वह स्थायी नहीं होगा। कारण जहाँतक हमको अपनी शक्तिका अनुभव नहीं, वहाँतक हजारों सत्पुरुष या सच्छास्त्र हमारे सम्मुख इस सिद्धान्तको स्थापित क्यों न करें; हमारी अश्रद्धा ही रहेगी। उक्त सिद्धान्तकी सत्यतापर हमें तभी विश्वास होगा, जब हम स्वयं किसी कार्यको, चाहे वह कैसा ही कठिन क्यों न हो, अनेक प्रयत्नोंसे उसे पूर्णकर अनुभव प्राप्त कर लें।

'वैराग्य निर्भयताका देनेवाला है। ईश्वर-भक्तिसे समस्त कामनाएँ सफल होती हैं। सद्गुणोंसे सुख और शान्ति मिलती है' आदि अनेक वाक्योंको प्रतिशत ९९ मनुष्य सिद्धान्तरूप ही मानते हैं। परन्तु जबतक हम इसका अनुभव प्राप्त न कर लें, तबतक इसकी सत्यतापर विश्वास कैसे कर सकते हैं? उपर्युक्त वचन प्रत्येक समय प्रत्येक देशमें मनुष्य इसी प्रकार कहा करते हैं। परन्तु यह सत्य है या झूठ इसका अनुभव उनमेंसे किसीको भी नहीं होता। वे केवल इसी आशयसे इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं कि दूसरे इससे लाभ उठावें। बस, इसीमें वे अपना कर्तव्य-पालन समझते हैं। जिन शब्दोंको वे दूसरे मनुष्योंके सामने सिद्धान्तस्वरूपमें उपस्थित करते हैं उनका अनुभव प्राप्त करनेके लिये न तो उन्होंने कभी प्रयत्न किया है न उनको इसका अनुभव ही होता है। केवल जहाँ-तहाँ शब्दाडम्बर ही सुनायी देता है।

पाठको! यों तो शास्त्रोंसे हम अनेक सिद्धान्त ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु उन्हें ग्रहणकर चुप बैठ जाना कहाँतक उचित होगा? हमारा कर्तव्य है, हम उन ग्रहण किये हुए सिद्धान्तोंमेंसे एक-एकको कार्यरूपमें परिणतकर उनकी सत्यता और असत्यताका निर्णय करें। जब हमको अपने अनुभवद्वारा विश्वास हो जाय, तभी हमारा किया हुआ विश्वास सच्चा ज्ञान कहला सकता है। अन्यथा उनका संग्रह करना, केवल तोता-रटन्तके समान निरर्थक-सा ही होता है।

सतत प्रयत्नसे ही अनुभव प्राप्त होता है। हम सब जानते हैं कि समुद्रमें मोती होते हैं, परन्तु जबतक हम उनके निकालनेका प्रयत्न नहीं करेंगे उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकते। इसी प्रकार केवल बातोंपर ही आत्मशक्तिका अनुभव प्राप्त करना

चाहें तो नहीं हो सकता ! वह तो तभी होगा, जब हम अनेक प्रयत्नोंद्वारा उनका अनुभव प्राप्त करें । यह अनुभव प्राप्त हो चुकनेपर ही 'मनुष्य सब कुछ करनेके लिये समर्थ है' इस सिद्धान्तपर अटल विश्वास होगा । फिर, चाहे कैसा ही कठिन कार्य क्यों न हो, एकदम उसका आरम्भ कर दें । सम्भव है कि इसके पश्चात् भी हमको यह शंका हो कि उक्त कार्य हमसे होगा या नहीं, तो यह हमारी निरी भूल है । क्योंकि हम पहले ही निश्चय कर चुके हैं कि 'मनुष्य सब कर सकता है' और हम भी उन्हीं मनुष्योंमेंसे एक हैं । जब हमें इस सिद्धान्तकी सत्यतापर पूर्ण विश्वास हो गया है, तो फिर, उसके करनेमें कितनी ही असुविधाएँ क्यों न हों, हमको उससे किञ्चित् भी पीछे नहीं हटना चाहिये । इसपर भी यदि सतत शंकाएँ होती रहें, तो समझ लेना चाहिये कि इस सिद्धान्तपर हमारा पूरा विश्वास नहीं । बस, यही शंकाएँ मनुष्यकी अधोगतिका कारण होती हैं । अतः मनुष्यका परम कर्तव्य है कि आरम्भ किये हुए कार्यकी पूर्तिके लिये सतत प्रयत्नशील रहे । यही प्रयत्नशीलता उस कार्यकी पूर्ति कर हमारे अपार आनन्दका कारण सिद्ध होगी । हमको दृढ़ विश्वास हो जायगा, हम जिस कार्यकी पूर्तिके लिये असमर्थता प्रकट कर रहे थे, वह हमारी भूल थी । एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा कार्य आरम्भ करते जाइये, वर्षके बाद हमें यह ज्ञात हो जायगा कि हम इतने कार्य करनेके लिये समर्थ थे । ज्यों-ज्यों हमारा कार्यक्षेत्र बढ़ता जायगा, त्यों-ही-त्यों अनुभव भी बढ़ता जायगा । अनुभवके बढ़नेसे हमारी कार्यशक्ति उन्नत होगी, कार्यशक्तिके बढ़नेसे उत्साह बढ़ेगा । बस, यही उत्साहकी वृद्धि हमें भलीभाँति यह बतला देगी कि हमारी इस आत्मशक्तिकी कोई सीमा ही नहीं है । तभी हम यह कह सकते हैं कि आत्मा सब कुछ करनेके लिये समर्थ है, एवं हमारा यही ज्ञान सच्चा अनुभवसिद्ध ज्ञान कहला सकेगा ।

उदाहरणस्वरूप एक बड़ अथवा पीपलके बीजको ही लीजिये । उसमें ऐसी शक्ति है कि वह एक बड़ा भारी वृक्ष उत्पन्न कर सकता है । परन्तु वह बीज पृथ्वीमें पड़कर उससे अपना पोषक रस न चूसेगा, तो उस वृक्षको कैसे उत्पन्न कर सकेगा । इसी प्रकार हमारे हृदयमें एक ऐसी शक्ति भरी हुई है कि वह हमें साक्षात् परब्रह्म परमात्माका रूप बनानेमें समर्थ है । किन्तु हम अनेक प्रयत्नोंद्वारा उसकी उन्नति न करें, तो हो ही क्या सकता है ? हम साक्षात् ईश्वरस्वरूप हैं । उसमें जो-जो भी शक्तियाँ हैं वे सब हममें भी स्थित हैं और हम उनको प्रकट कर सकते हैं । बस, हमारा यही विश्वास और क्रमागत सतत प्रयत्न हमको इस अनुपम शक्तिका अनुभव करा सकता है ।

हम जानते हैं कि हममें एक अमर्यादित असीम अनन्त शक्ति मौजूद है । परन्तु यदि हम उसे एकदम प्रकट करना चाहें तो वह नहीं हो सकेगी । नियम है कि प्रत्येक कार्य क्रमागत उन्नतिको प्राप्त होते हैं । बीजको ही देखिये—पहले उसमेंसे एक छोटा अङ्कुर निकलता है, फिर कुछ पत्तियाँ, इसी प्रकार क्रमानुसार शनैः-शनैः एक विशाल वृक्षका रूप धारण कर लेता है । बस, इसी तरह हम भी अपनी आत्मशक्तिको शनैः-शनैः बढ़ाते जावें तो हमको अवश्य लाभ होगा ! इससे उलटा शीघ्रता करनेसे सर्वथा हानि ही होगी ।

संसारमें समस्त प्राणियोंका समान अधिकार है, परन्तु उनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य दिखायी देता है । इसमें प्रयत्नभेदका ही कारण है । हम तुमसे अधिक ज्ञानवान् हैं या तुम हमसे विशेष बुद्धिमान् हो, इसका मुख्य कारण यही है कि एकने दूसरेसे विशेष

प्रयत्न किये हैं । एवं इसी कारण एक दूसरेमें अधिक विशेषता आ गयी है । इसी भावको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि 'एकसे दूसरेकी आत्मा अधिक बलिष्ठ है ।' अतः सिद्ध हुआ कि अनुभवज्ञान ही इस संसारमें सर्वोपरि ज्ञान है और वह प्रयत्नोंसे ही प्राप्त होता है । संसारमें प्रयत्नशीलकी ही सर्वत्र विजय होती है । कोई चाहे कि मैं उत्तमोत्तम ग्रन्थोंको पढ़कर उनके सिद्धान्तोंको सच्चा मान, बिना प्रयत्नके ही अपनी आत्मोन्नति कर लूँ, यह सर्वथा निरर्थक है । इसके लिये तो प्रयत्न ही करने पड़ेंगे। तात्पर्य यह है कि उन सिद्धान्तोंको अपने व्यवहारमें परिवर्तन कर स्वतः उनका अनुभव प्राप्त करो । केवल बातोंसे ही कोई कार्य नहीं सधता, प्रत्यक्ष कोई काम करनेमें और केवल बातें करनेमें जितना अन्तर होता है, उतना ही शब्दज्ञान और अनुभवज्ञानमें होता है ।

मनुष्यके पास आत्मश्रद्धा और प्रयत्न दोनों ही होते हैं । आवश्यकता भी उसे इनकी ही होती है । केवल इनकी सहायतासे ही वह नरसे नारायण बन सकता है । इसके विपरीत—अगर किसीके पास त्रिभुवनकी सम्पत्ति हो और बड़े-बड़े देवता उसके सहायक हों, किन्तु उसमें आत्मश्रद्धा और प्रयत्न न हो, तो उसके लिये एक तृण भी वज्रवत् है ।

आत्मश्रद्धासे ही प्रयत्न होता है, प्रयत्नसे ही आत्मशक्तिका विकास और अनुभव, और इस अनुभवके कारण ही उसकी शक्ति बढ़ती है। आत्मश्रद्धाकी वृद्धिसे ही प्रयत्नका परिमाण और उसकी गति बढ़ती है । अतः आत्मश्रद्धा और प्रयत्न दोनों एक दूसरेके सहायक हैं। इन दोनोंके सेवनसे उनमें चक्रवृद्धि व्याजके समान वृद्धि होती है। जिसके कारण हमको स्वप्नमें भी यह भान नहीं होता कि हममें अमुक कार्य करनेकी शक्ति नहीं है । फलतः हमारी शक्ति अमर्यादित रूप धारण कर उसकी प्रयत्नशीलता इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि संकल्पमात्रसे ही हमारे समस्त कार्य पूर्णताको प्राप्त हो सकते हैं ।

अनुभवज्ञान प्रयत्नोंसे ही प्राप्त होता है, जिसको जितना भी अनुभव हो उसे उतना ही प्रयत्नशील समझना चाहिये । जिसकी प्रयत्नशीलता न्यून है, उसका अनुभवज्ञान भी न्यून ही होता है । अधिक अनुभवज्ञानप्राप्त मनुष्य ही संसारमें उच्च विजयको प्राप्त होता है । इसलिये प्रयत्नशील बनना ही प्राणियोंका परम कर्तव्य है । बस, इसीसे सिद्धि मिलती है ।

किसीकी आत्मश्रद्धाको जागृत कर उसे प्रयत्नशील बननेका उत्साह दिलानेवाले मनुष्य बहुत कम पाये जाते हैं । किन्तु उसे उससे घृणा दिलाकर उसके ध्येयको नष्ट करनेवाले बहुतेरे देखे जाते हैं । ऐसे मनुष्य उसका उत्साह भङ्ग कर उसे पहली ही दशामें ला छोड़ते हैं । परन्तु जो सच्चे आत्मश्रद्धालु और प्रयत्नशील पुरुष होते हैं वे किसीके भी कहनेपर ध्यान नहीं देते । वे तो अपने ध्येयकी पूर्ति कर सच्चे आनन्दका अनुभव ही प्राप्त करते हैं । आजकल रेल, तार, वायुयान और विद्युत् आदि जितने भी यन्त्रादि दृष्टिगत होते हैं, वे सब आत्मश्रद्धा और दृढ़ प्रयत्नके ही तो फल हैं। इनके आविष्कर्ताओंने जिस समय इनके बनानेके लिये प्रयत्न किये थे आत्मश्रद्धाके अविश्वासियों और निरुत्साहियोंने उनको अपने ध्येयसे हटानेके लिये क्या कम प्रयत्न किये थे ? किन्तु अपनी आत्मश्रद्धा और प्रयत्नशीलताके कारण ही वे अपना नाम अमर कर गये । सतत प्रयत्नसे अन्तमें ज्ञात हो जाता है कि जो लोग हमें हमारे संकल्पसे विचलित कर रहे थे वे हमारी आत्मश्रद्धा और प्रयत्नशीलताके आगे झूठे ठहरे । वे ही अब हमारी प्रयत्नशीलताके कारण मिली हुई सफलताको देख चकित हो रहे हैं ।

मनुष्य अपने आत्मत्व और प्रयत्नोंसे ही उत्तरोत्तर विकसित होता है। आत्मत्व अथवा स्वत्वको सर्वोत्कृष्ट बनानेके लिये सतत अभ्यास करते रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपने आत्मत्वको सर्वोत्कृष्ट बनावे और यह तभी बन सकता है कि मनुष्य उसके लिये सतत प्रयत्नशील रहे। बिना प्रयत्नके वह विकसित नहीं हो सकता। एवं मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि वह प्रयत्नशील बने और दूसरोंको भी बनानेका प्रयत्न करे। यही परोपकार तथा धर्म कहलाता है, इसके विरुद्ध प्रवृत्ति ही पाप है।

यहाँ आत्मत्वके विकासके लिये जो प्रयत्न बतलाया गया है, वह केवल ग्रन्थावलोकनसे नहीं हो सकता। अवश्य ही ऐसा नहीं है कि पुस्तकोंसे ज्ञान सम्पादन करना निरुपयोगी है, परन्तु उतनेहीसे आत्मविकास नहीं होता। जिस प्रयत्नसे आत्मा विकासको प्राप्त होता है, वही प्रयत्न अनुभव प्राप्त करानेवाला प्रयत्न है। केवल कृषिशास्त्रको पढ़कर उसमें कुशलता प्राप्त करना और वैसे ही स्वतः हल-बैल लेकर खेत जोतना-बोना आदि कार्य करनेसे जो सफलता मिलती है, उसमें आकाश-पातालका अन्तर है। प्रथम प्रयत्न, प्रयत्न होनेपर भी अनुभवसिद्ध प्रयत्न नहीं और न उस प्रयत्नसे कृषिशास्त्रकी पूर्ण शिक्षा ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु द्वितीय प्रयत्न सच्चा प्रयत्न होनेसे उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाती है। पहला प्रयत्न दूसरेमें सहायक हो सकता है। दोनोंका मिल जाना बहुत ही उत्तम फलदायक होता है।

ग्रन्थोंसे प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरोंका अनुभव है। इसलिये जबतक हम उसे अनेक प्रयत्नोंद्वारा न अपना लें तबतक हम उससे कोई लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि मनुष्यको अपने अनुभवपर ही सच्चा विश्वास होता है और सच्चे विश्वासपर ही प्रयत्नशील पुरुष उत्साहसहित आगे बढ़ता है। ईश्वरभक्तिसे मनुष्यको इहलोक और परलोकमें सुख मिलता है। क्या आस्तिक लोग इसे स्वीकार नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। परन्तु यह जानते हुए भी उनमेंसे कुछ ही लोग वस्तुतः भक्तिमार्गपर चलकर उस स्थानपर पहुँचते हैं। यह क्यों? इसका मुख्य कारण यह है कि दूसरोंके अनुभवपर उनका सच्चा विश्वास नहीं होता और यही कारण है कि वे प्रयत्नच्युत हो जाते हैं।

इसलिये 'आत्मा सब कुछ करनेमें समर्थ है' यह निश्चय करके आत्मशक्तिको जागृत करो और प्रयत्नशील बनो एवं अनुभव प्राप्त करो। प्राप्त किये हुए अनुभवसे स्वसामर्थ्यमें अधिक श्रद्धा प्रकट करो और अधिक प्रयत्नशील बन अधिकाधिक अनुभव सम्पादन करो। आत्मश्रद्धाके बिना प्रयत्न नहीं होता और बिना प्रयत्नके केवल आत्मश्रद्धा एक पहियेकी गाड़ीके समान निरर्थक है।

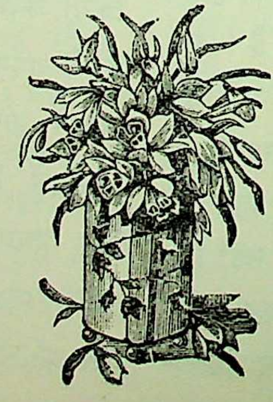

फैशनसे बचो

(लेखक—श्रीपरमहंस स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

अध्यात्मयोगका मार्ग विलासिताप्रिय और फैशनप्रिय अत्यन्त कोमल और सुकुमार शरीरवाले फूलबाबुओंके लिये नहीं है। सादा पर उच्च जीवन व्यतीत करनेवाले ही मोटी और खरदरी खादी तथा चर्खेके कते और घरके बुने हुए सूतोंसे शरीर ढाँककर, विलासिता राक्षसी वा फैशनके भूतोंको दूरसे ही प्रणाम करते हुए सच्चे कर्मवीर और आत्मत्यागी लोकसंग्रही भी बन सकते हैं। ऐसा आदर्श और सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य ही परम पुनीत लोकसंग्रहात्मक देशरूपी 'विराट् ब्रह्मकी' समुचित सेवा, अर्चा वा पूजा कर सकता है। सर्वसाधारणको भी इस विलासिता राक्षसीकी मायामयी गोदमें पलने और खेलनेवाले फैशनके भूतसे सदा सावधान और सचेत ही रहना चाहिये।

वर्तमान कालकी सभ्यतामें प्रतिपालित फूलबाबुओं और सभ्यताभिमानी सुशिक्षित नवयुवकों तथा कोमल हृदयवाली सुकुमार रमणियोंका जीवन भी इन दिनों आदिसे अन्ततक 'फैशन' के ही रंगमें रँगा हुआ है! ये मनुष्यजन्म धारण करते ही 'फैशन' की ही गोदमें पलते, फैशनके पलने वा झूलेपर ही झूलते और खेलते हुए, फैशनकी ही डारमें फूलते-फलते और अपने मनुष्यजीवनका अन्त भी फैशनकी चिताभूमिपर ही कर डालते हैं! पाश्चात्य सभ्यताके ही रंगमें रँगे हुए भद्र पुरुषों और महिलाओंका तो कहना ही क्या? ये तो फैशनके बेदामके गुलाम ही हैं। फ्रेंचकट मूँछें, कर्जनकट केश, पर्सियन वा इङ्गलिशकट कोट, अमेरिकन हैट, जर्मन फ्राक आदि इस फैशनके ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। और तो क्या यदि आज फ्रांसकी रमणियाँ दुमदार 'गाउन' पहनना आरम्भ कर दें तो सभ्यताका अन्ध अनुकरण करनेवाली हमारी देवियाँ भी दूसरे ही दिन दुमदार 'पेटिकोट' पहनना आरम्भ कर देंगी! और हमारे भद्र पुरुष? यदि इनके कोटकी कट वा इनकी श्रीमतीजीकी गाउन वा 'यूनिफार्म' में तनिक भी त्रुटि हो गयी तो बस इनकी नाक-भौं भी टेढ़ी और तिरछी हो जाती है। कुशल यही है कि अभीतक फैशनकी इस त्रुटिके लिये लंदन और पेरिसकी तरह लाहौर, बम्बई वा कलकत्तेके न्यायालयोंमें बेचारे भारतीय दर्जियोंके ऊपर मुकदमे नहीं चलाये गये हैं। हाँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पंजाबमें लाहौर और पश्चिमोत्तर प्रान्तमें रावलपिंडी, पेरिस और लन्दनकी 'फैशनप्रतियोगिता' वा फैशनकी घुड़दौड़में अपनी लंबी लंबी डेग बढ़ाते ही चले जा रहे हैं। परन्तु यह नहीं सोचते कि न तो हमारा यौवन ही स्थिर है और न फैशन ही सदा एक-सी रहती है। यह तो सदा बदलती ही रहती है। जिसे कल फैशन या सौन्दर्यकी पराकाष्ठा समझ रहे थे, वही दो दिनोंके बाद ही असभ्यता-सूचक जङ्गलीपनेका बर्बरतापूर्ण घृणित और कुत्सित बर्ताव समझा जाता है। एक समय था कि फैशनके बाज़ार लन्दन और पेरिसमें भी सर्वाङ्गको ढाँकनेवाली लंबी-लंबी गाउनें सभ्यताका चिह्न समझी जाती थीं पर अब नग्न-सौन्दर्य ही फैशनका चरम लक्ष्य बन रहा है। अर्धनग्नता ही फैशनकी पराकाष्ठा वा निष्ठा मानी जा रही है! लोग इसके समर्थनमें विज्ञानकी ही दुहाई देते हुए यह भी कहा करते हैं कि स्वास्थ्य, आरोग्य, शरीररक्षा और दीर्घायुप्राप्ति वा दीर्घ जीवनके लिये इस मनुष्यशरीरका जो अंग जितना अधिक प्रकृतिके खुले हुए वातावरणकी शुद्ध और खुली वायुमें रहा करता है वह उतना ही पुष्ट और सुन्दर भी हुआ करता है। तभी तो भारतके ऋषि-महर्षियोंने भी अवधूत और परमहंस संन्यासियोंके लिये 'जातरूपधरो भूत्वा जडवल्लोकमाचरेत्' नवजात शिशुका ही (नग्न) वेश धारणकर लोकमें जड़वत् प्रपञ्चमय दृश्य जगत्‌के प्रति संज्ञारहित होकर विचरण करनेका विधान श्रुतियोंमें प्रतिपादित किया है! पर इतना अन्तर अवश्य है कि इनके लिये अट्टालिकाओं वा विलासिताकी गोदमें रहनेकी आज्ञा नहीं। इन्हें तो वन-वनकी धूल छानने, प्रारब्धसे ही प्राप्त कन्द-मूलपर जीवननिर्वाह करने और शरीराध्यास या देहाभिमानतकके त्याग देनेका ही कठोर विधान है। इन्हें तो प्रकृतिका दास वा गुलाम नहीं, बल्कि प्रकृतिका प्रभु ही बनना है। अस्तु, इस पाश्चात्य सभ्यताके युगमें स्त्रियोंका अर्धनग्न वक्षःस्थल और पुरुषोंकी आधी खुली बाँह, आधी खुली टाँगें, आर्मकट वेस्टकोट [विना बाँहकी आधी बंडी] हाफपैंट [घुटनेदार पायजामे] आदि ही शिष्टाचार और सभ्यताके आदर्श नमूने हैं। यदि मस्तिष्कपर नहीं तो सिरके बालोंपर ही पूर्ण अधिकार अवश्य होना चाहिये, यही पाश्चात्य युगकी सिद्धि है। ये जिस प्रकार

चाहें अपने बालों वा केशोंको काट-छाँटकर अपने मनके अनुरूप 'बालभवन' वा 'केशकर्तनमंदिर'में बैठे हुए ही बना सकते हैं। तभी तो बेचारे देहाती (ग्रामीण) नाऊको जो नयी फैशनके अनुसार दाढ़ी, मूँछ, नाककी बाल और सिरके केशका उचित रूपसे काटना, सँवारना वा सजाना नहीं जानता, आज मुश्किल हो रही है। फैशनका यह भूत अपने साथ-साथ 'फैशनरूप' कामवासनाओंका सूत्र भी मनुष्यके गलेमें ही बाँध रखता है। तभी तो फैशनकी गुलाम एक दरिद्रातिदरिद्र धनहीन नारी भी एक साधारण-से 'फ्राक'के लिये पाँच रुपयेतक खर्च करनेका दुस्साहस कर लेती है। उसे इस बातकी क्या चिन्ता कि उसके परमाराध्य पतिदेवको इस नगदनारायणकी आराधनाके लिये कौन-कौन-सी तीव्र साधनाओंकी अग्निमें अपने-आपको तपाना पड़ता है। वर्तमान सुशिक्षित समाजके इस 'अग्निकुण्ड' की भीषण भयंकरताका 'अन्दाज़' भी कौन लगा सकता है? इसी भयंकर फैशनके फेरमें पड़ा हुआ आजका युवक आत्महत्या, विश्वासघात, बुद्धिकी प्रतारणा और धर्मभ्रष्टताकी ही शरण लेता हुआ निरा दुराचारी, अत्याचारी या व्यभिचारीका ही जीवन व्यतीत करता हुआ समाज और धर्मका कट्टर शत्रु भी बन जाता है! और अपने इस दुराचारके भयंकर परिणामस्वरूप कारबंकल, पायरिया, उपदंश, क्षयी आदि रोगोंका शिकार बनकर अकालमें ही कराल कालके गालमें अपने प्राणतक गँवा बैठता है। दुःखकी दावाग्निमें जलता हुआ वह निरन्तर उच्च स्वरसे फूट-फूटकर रोता, चिल्लाता और अरण्यरोदन करता हुआ भगवान्‌से बड़े ही करुण स्वरमें प्रार्थना किया करता है—'नाथ! मैं पापी हूँ! अब पापके इस भयंकर परिणामोंके सहनेमें नितान्त असमर्थ हो रहा हूँ। बहुत हो चुका, अब तो दया करो! पूर्वजन्ममें न जाने मैंने कौन-से कुकर्म या पाप किये हैं। भगवन्! क्षमा करो! त्राहि माम्! त्राहि माम्! रक्ष माम्! रक्ष माम्!' पर वह अपने जीवनको सुधारने या कर्तव्यपथकी ओर लानेका उचित उद्योग कभी नहीं करता। माया! तेरी बलिहारी है!

इन दिनों एक मात्र फैशनके लिये ही कपड़ोंकी काट-छाँट और कतरनमें ही जितने टुकड़े नष्ट होते हैं यदि उनका ही संग्रह कर लिया जाय तो देशके किसी विचक्षण राजनीतिज्ञका कहना है कि उतनेसे भारतके लाखों नग्न या अर्धनग्न रहनेवाले दरिद्रनारायणोंका वस्त्राच्छादन वा शरीर ढाँकनेका काम पूरा हो सकता है।

क्या यह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि फैशन या विलासिताकी ही रक्षाके लिये देशके करोड़ों जीवोंका बलिदान फैशनकी बलिवेदीपर किया जा रहा है और देशका जो धन फैशन वा विलासिताकी ही द्रुत वेगसे बहनेवाली भयंकर नदीमें जलकी तरह बहाया जा रहा है उससे आज भारतके कई करोड़ नित्य उपवासके ही जीवन व्यतीत करनेवालोंकी उदरपूर्त्तिका साधन भी अवश्य हो जाता।

यदि विचारपूर्वक देखिये तो संसारमें मनुष्यको जीवन-निर्वाह और शरीरकी रक्षाके लिये रोटी, दाल, घी, दूध, शाक वा फल, एक ग्लास ठंडा जल, तथा शरीरको 'शीतोष्ण' से बचानेके लिये दो-चार कपड़ोंके अतिरिक्त और अधिककी आवश्यकता ही क्या है? यदि यह 'धन' जिसका दुरुपयोग 'फैशन' वा विदेशीय और विजातीय सभ्यता और विलासिताकी रक्षामें किया जाता है धर्म, लोकहित वा देशसेवाके सार्वजनिक कार्योंमें सात्त्विक 'दान' और 'सहायता' के रूपमें व्यय किया जाता तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मनुष्योंका यह निवासस्थान—'देवलोक' में परिणत हो जाता और मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्वका अधिकारी बन जाता। नित्य और शाश्वत सुख, परम शान्ति, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' और परमानन्दका रूप धारण कर लेता! और प्रेमपूर्वक 'सच्चिदानन्दस्वरूपोऽहम्' की ही सुमधुर ध्वनि करता हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' पदपर अभिषिक्त हो जाता। पर हमारी वर्तमान परिस्थिति क्या है? अशान्ति, उद्विग्नता, भय, निराशा, चिन्ता और उदासीनताके ही काले बादल मुखमण्डलपर घिर आये हैं, चेहरा फीका और पीला पड़ गया है। प्रसन्नचित्तताका लवलेश या विन्दु-विसर्ग भी नहीं है। आप इस स्थूल शरीरको बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों वा फैशनेबल कपड़ोंसे ही क्यों न आच्छादित कर लें, शरीरपर रत्नजटित सुवर्ण और मोती-हीरा आदिके बहुमूल्य आभूषण ही क्यों न लाद रक्खें, नयी-नयी स्टाइलके 'कालर' [कालज्वर] नेकटाई [नाक+कटाई वा नेक+कटाई गलेकी फँसरी वा फाँसीरूप गुलामीका बल्ला और 'बो' [मलिन वासनारूप वमन] ही क्यों न लगा लें, पर चेहरेपर तो 'पीलिया' का रोग ही उदासीनता, कुरूपता, असन्तुष्टता, अप्रसन्नता, अभाग्यता, निराशपरायणता, हतभाग्यताके रूपमें अपना ज्वलन्त और देदीप्यमान रूप धारण किये रहता है। चिन्ता, दुःख, लाभ, काम, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषके भयंकर कीटने ही हमारे हृदय-पटलपर अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है।

इसका कारण क्या है कि आज स्त्री अथवा पुरुष भड़कीले और फैशनेबल कपड़ोंके पीछे दीवाने-से हो रहे हैं। क्या यह ठीक नहीं है कि वे इस फैशनके बलपर अपने भाइयों—जिन्हें वे 'अन्य' समझा करते हैं— की दृष्टिमें अपेक्षाकृत बहुत बड़े प्रतिष्ठित या सम्मानास्पद हुआ चाहते हैं। उनकी यह मिथ्या धारणा ही उनके इस आडम्बरपूर्ण जीवनका आधार बन जाती है कि बहुमूल्य फैशनेबल वा भड़कीले ठाट-बाटके वस्त्रोंसे समाजमें उनकी विशेष प्रतिष्ठा हो जायगी। और मूर्खोंके समाजमें वे इस मिथ्या प्रतिष्ठाके पात्र बन भी जाते हैं। यह सब क्या है ? धोखेकी टट्टी और मायाका भ्रमात्मक जाल ही तो है। भला, वस्त्र या आभूषणोंसे भी किसीको सच्चा सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है ? यह तो सौन्दर्य नहीं, सौन्दर्यका बनावटी दिखावा,सजावट वा श्रृङ्गार मात्र है। यह क्षणिक और झूठी चमक-दमक, किञ्चित् कालके लिये भी कभी स्थिर नहीं रहनेवाली मिथ्या रूप-राशिका सौन्दर्य कितने दिनोंके लिये है ? यदि इसके बजाय तुम्हारे हृदयमें करुणा, क्षमा, दया, सहानुभूति, प्रेम, सहनशीलता, धैर्य और भक्ति आदि सद्गुणोंका सद्भाव उत्पन्न हो जाता तो निश्चय जानो कि तुम अखिल जगत्के ही प्राणोंके प्राण, परमप्यारे लाडले लाल और दुलारे तथा 'सम्मान' रूप नक्षत्रजगत्के उज्ज्वल तारे भी बन जाते और चिथड़ोंमें लिपटे रहनेपर भी तुम उस नित्य और शाश्वत 'सौन्दर्यके' अधिकारी बनकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का ही आदर्श रूप धारण कर लेते।

भारतवर्षके लिये फैशन तो एक भयंकर अभिशाप है, देशकी सुखशान्तिके लिये सर्वसंहारकारिणी कराल कालिका है। जहाँ फैशन है वहाँ मलिन वासनाएँ, अशुभ विचार, काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या, राग-द्वेष, अहंकार और देहाभिमान आदि राक्षसोचित कुप्रवृत्तियोंका ही साम्राज्य है। फैशनमें पड़ना सांसारिकताके ही दलदलमें फँसना है। दरिद्रताकी जननी और सजीव चिताका ही ज्वलन्त रूप धारण करनेवाली चिन्ताराक्षसीकी चिरसंगिनी यह फैशन ही है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपने शरीरमें फैशनकी गन्धतक न आने दो। इसका पूर्ण बहिष्कार और समूल नाश ही कर दो। आध्यात्मिक उन्नति या आत्मकल्याणके पथपर अग्रसर होनेके लिये एक दिन 'कौपीनवन्तं खलु भाग्यवन्तम्' का ही आदर्श वेश धारण करना पड़ेगा। अतएव अभीसे ही सादे वस्त्रोंसे ही सरल जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास क्यों नहीं करते ? सादा पर उच्च जीवन ही ब्रह्मपदकी 'निसेनी' है। विलासिताकी गोदमें पले और फैशनके 'गुलाम' बने हुए विजातीय और विदेशीय भावपूर्ण मनुष्योंकी संगति भूलकर भी न करो। सादा पर उच्च और सरल जीवन व्यतीत करनेवाले, स्वदेशीयता और स्वजातीयताके ही भावोंमें ढले हुए और मोटी खादीके वस्त्रोंके धारण करनेवाले विद्वान्, साधु, भक्त, सन्त, संन्यासी, महात्माओं तथा देश और धर्मकी सेवा करनेवाले आदर्श धर्माचार्यों और सत्पुरुषोंका ही आदर्श अनुकरण करो। सरल या साधु जीवन ही सर्वाङ्गसुन्दर मनुष्य-शरीरका प्रधान आभूषण है। साधुता या सरलता ही पवित्रताकी जननी है। साधु जीवन ही देवताओंका दिव्य जीवन है। तुम्हारे इस दिव्य जीवनमें चिन्ता आदि व्यर्थके कुत्सित वा कलुषित विचारोंकी गन्धतक नहीं रहेगी और तब तुम अपना जीवन अध्यात्मयोगके ब्रह्मात्मचिन्तन, आत्मकल्याण या ईश्वरके ध्यानमें भी व्यतीत कर सकोगे।

इस हमारी विलासप्रियताने ही आज हमें 'अहंभाव'का निर्जीव कठपुतला ही बना रक्खा है। आज हममें अपने-आपका, देश, भाषा, जाति, धर्म या गौरवका कोई अभिमान ही नहीं रहा।

यह विदेशीय फैशन हृदयमें 'अहंभाव' 'शरीरभाव' और देहात्मवादके ही मिथ्या असद्भावोंको भरनेवाली है। भक्ति या ज्ञानके मार्गमें विघ्न पहुँचानेवाली यह भयंकर डाकिनी और कंकालिनी ही है। 'फैशन' अन्य शब्दोंमें विषयवासना वा कामलिप्साका रूपान्तर मात्र है।

स्त्री या पुरुषके स्थूल और पाञ्चभौतिक शरीरका सच्चा सौन्दर्य उसके सद्गुण वा सात्त्विक विचारोंमें ही है। उस सत्पुरुष वा सती स्त्रीके लिये इन बनावटी रूप, रंग वा शरीरकी सजावटके लिये सोनेकी पिन, रिंग, चेन, हार, लौंग, कंकण, सींक आदि आभूषण वा भड़कीले और बहुमूल्य विदेशीय वस्त्रों और विजातीय वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। अज्ञानियों और मूर्खोंकी दृष्टिमें बड़े और धनी समझे जाने और फैशनपर ही मर मिटनेवाले इन पतनकारियोंकी ही देखादेखी बेचारे मोटे वस्त्र धारण करनेवाले धनहीन और दरिद्र भी संसर्गदोषसे फैशनकी ओर ही दौड़ने लग गये हैं। तभी तो भगवान् कृष्णने कहा है कि 'जैसा प्रमाणरूप आचरण समाजके श्रेष्ठ लोग किया करते हैं वैसा ही आचरण उनका अनुकरण करते हुए देशके इतर जन (जनसाधारण) भी किया करते हैं।'

रक्त, चर्म और अस्थिसे बना हुआ यह शरीर विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा, लार, थूक [खखार] आदि दुर्गन्धिपूर्ण पञ्चनद वा पञ्च आबोंसे भरा हुआ एक अत्यन्त घृणित मांसपिण्ड फोड़ा या पीबभरा घाव ही है। इसे 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'के नाते ही एक पट्टी वा वस्त्रसे ढाँककर सुरक्षित रखना है, इसके लिये रेशमी फीतों वा किनारियोंसे सुसज्जित बारीक वा रेशमी वस्त्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं। इस क्षणिक, नश्वर और दुर्गन्धिपूर्ण घृणित अस्थि और मांससे बने हुए मांसपिण्डको भाँति-भाँतिके गहने-कपड़ोंसे सजाकर रखना मूर्खताकी चरम सीमाका ही परिचय देना है। अपने हृदयपर हाथ रखकर सत्यभावसे कहिये कि क्या यह आपके मिथ्या अहंकार, दंभ और मूर्खताका ही परिचायक नहीं है। क्या अब भी अपनी इस भयंकर मूर्खताको आपने नहीं समझा है ? अब आप अधिक विलम्ब न करें ! इस सर्वनाशकारिणी 'फैशन'का पूर्ण परित्याग कर दें। बस, इसी क्षण भगवान् जनताजनार्दनके इस विशाल जनसमाजरूप मंदिरमें भगवान् जनार्दनको ही, अपनी अन्तरात्माका एकमात्र साक्षी बनाकर, इस बातका दृढ़ संकल्प कर लें। देर न करें। एक संन्यासीकी इस झोलीमें अपनी फैशनपरित्यागरूप दृढ़ प्रतिज्ञाकी ही भिक्षाप्रदान कीजिये और इस बातका दृढ़ संकल्प कर लीजिये कि बस अभीसे ही शुद्ध, पवित्र और सादे स्वदेशी वस्त्रोंका ही उपयोग किया करेंगे।

याद रखिये आप इस संसारमें नंगे ही आये थे और यहाँसे नंगे ही जायँगे भी। और तो क्या, आपके शरीरकी यह बहुमूल्य कंचुकी और कटिवस्त्रका भी अपहरण कर लिया जायगा, घर और परिवारवाले इन बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंको अपने नाती और पोतोंके लिये सुरक्षित रख छोड़ेंगे और आपकी कमरमें कपड़ेका एक टुकड़ा वा धेला भी नहीं रहेगा। भला बताओ तो सही कि संसारमें आकर बहुमूल्य वस्त्रादिके लिये एक दिन नष्ट हो जानेवाले या सदाके लिये छूट जानेवाले ही 'धन'के संग्रहमें इतना अधिक अथक परिश्रम, मेहनत और जाँफिसानी क्यों और किसके लिये कर रहे हो ? क्या कोई परलोकमें भी तुम्हारे साथ जायगा ? अब भी अपनी मूर्खताको समझो ! बुद्धि, विवेक और विचारसे काम लो। अपने आपको पहचानो। आत्मज्ञान प्राप्त करो, ईश्वरप्राप्ति वा आत्मसाक्षात्कारके सहारे 'स्वस्वरूप'में ही स्थित और अपने सच्चिदानन्दस्वरूप या 'आनन्द ब्रह्ममें' ही लीन होकर चिरशान्ति प्राप्त कर लो और 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' को ही अपना परमधाम बना लो।

फैशन वा विलासिताके पुतले बने हुए और 'मायाजाल'में विमोहित स्त्री-पुरुष-नाम-धारी अबोध मनुष्यो ! अविद्याकी बलिवेदीपर अपनी अन्तरात्माकी 'बलि' देनेवाले मायामुग्ध मूढ जीवो ! सचेत हो जाओ ! अब भी समय है। सावधान! विलम्ब न करो ? अपने अमूल्य समय, अक्षय आत्मबल और आदर्श विद्याशक्तिको अविद्यामायाके इस फैशन और विलासितारूप मिथ्या बाह्याडम्बरमें व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो ? इससे बढ़कर अधिक शोचनीय स्थिति और क्या होगी ? 'ज्योतिर्ज्योतिः स्वयंज्योतिः' रूप तुम्हारी 'आत्मा'की अन्तर्ज्योतिसे बढ़कर अधिक ज्योतिपूर्ण और प्रकाशमान 'सौन्दर्य'को ढूँढ़नेके लिये तुम अन्यत्र कहाँ भटक रहे हो ? वह स्वयंप्रकाश है और सौन्दर्य और माधुर्यकी खानि है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'के रूपमें 'आनन्दं ब्रह्म' बना हुआ वह तुम्हारी हृदयगुहामें ही विराजमान है।

वह 'दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' और 'ईश्वरः सर्वभूतानां' बना हुआ 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' तुम्हारी हृदयगुहामें ही—साक्षीरूपसे [साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च] निर्गुण होकर भी सगुण बना हुआ है। अखिल ब्रह्माण्डका यह 'ज्योतिरूप सौन्दर्य' उस 'आत्मसौन्दर्य' के 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (जिसके स्वयंप्रकाशसे ही यह अखिल विश्व प्रकाशित है) अनुपम माधुर्यकी छाया मात्र है। बस, अपने हृदयको 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' और 'वस्त्रशुद्धौ शरीरशुद्धिः'से ही शुद्ध करो, मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें रक्खो। हृदयरूप अपने एकान्त 'उपासनामन्दिर'में मौन और आत्मस्थ होकर शान्तिपूर्वक बैठ जाओ और उस 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का ही निरन्तर ध्यान करते रहो। वही तुम्हारा अमर सखा, बन्धु और 'आत्मा' भी है। सर्वभावसे इस 'आत्मा'की प्राप्तिमें ही लग जाओ और तभी तुम 'सर्वाङ्गसुन्दर' और चिरसुखी भी हो सकोगे। फिर तो नित्यानन्दकी धारा ही उमड़ पड़ेगी। और वह तुम्हें ब्रह्मानन्दके आनन्दसागरमें बहा ले जायगी। आत्मधनके सच्चे 'धनी' भी तभी बन सकोगे और तभी तुम सबसे 'बड़े' या 'महान्' (महात्मा) भी बन जाओगे ! हरिः ॐ !

सती गुणसुन्दरी देवी

[कहानी]

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचन्दजी)

(१)

लगभग सवा दो सौ साल पहलेकी घटना है। गुजरात प्रदेशमें पाटन नामक एक प्राचीन नगरी है। प्राचीन राजाओंकी राजधानी इसी नगरीमें रहती आयी है। उस समय पाटनका राजा करण सिंह बावेला क्षत्रिय था। वह राजा बड़ा व्यभिचारी था। स्त्री-समाजके लिये वह बड़ा भयानक समय था। भय और लोभके द्वारा उसने हजारों स्त्रियोंको धर्मभ्रष्ट कर दिया था। जिसकी औरतको सुन्दरी सुना उसे नौकरी दे दी, फिर चाहे वह उस दरजेके लायक हो या न हो। जिस आदमीने उसकी पिशाचवृत्तिमें बाधा पहुँचायी उसका सिर कटवा दिया। अव्वल नंबरके आवारा, लम्पट, कामी और व्यभिचारी लोगोंसे उसकी मुसाहबीकी सभा भर गयी। करण सिंहके दरबारमें शराब और औरत यही दो मजमून पेश रहते थे। राज-काजका काम दीवान माधवचन्द करते थे जो जातिके नागर ब्राह्मण थे। माधवचन्दका छोटा भाई केशवचन्द सेनापति था। माधवचन्दकी स्त्री रूपसुन्दरी और केशवचन्दकी स्त्री गुणसुन्दरी दोनों बहिनें थीं। दोनों भाइयोंमें जैसा प्रेम था, वैसा ही दोनों बहिनोंमें था। रूपसुन्दरीने छोटी बहिन गुणसुन्दरीको घरकी मालकिन बना दिया था, आप दिन-रात पूजन-भजनमें मग्न रहती थी। दोनों विदुषी थीं, दोनों नवयुवतियाँ थीं और दोनों पद्मिनी जातिकी सुन्दरी थीं।

(२)

मुसाहिब कञ्चन सिंहने मूछोंपर ताव देकर राजा करण सिंहसे कहा—

कञ्चन सिंह—देख आया! आज मैं दोनोंको देख आया। आपके मन्त्री और सेनापति दोनोंकी स्त्रियोंको आज मैं देख आया।

करण सिंह—कहाँ देखा?

कञ्चन सिंह—नवरात्रके कारण देवीके मन्दिरमें दर्शन करने और जल चढ़ानेके लिये दोनों गयी थीं।

करण सिंह—तुमने कैसे देखा?

कञ्चन सिंह—अपना रूप बदलकर स्त्रीरूप धारण कर लिया था। एक घंटेतक साथ रहा।

करण सिंह—दोनोंकी सूरतका हाल बताओ।

कञ्चन सिंह—आपने वादा किया था कि जिस समय मैं दोनोंको देख आऊँगा उस समय इनाम पाऊँगा। पहले इनाम दीजिये, फिर दास्तान सुनिये।

करण सिंह—जो तुम माँगो वही दूँगा।

कञ्चन सिंह—लक्खा कबूतरकी जोड़ी दीजिये और अपना सब्जा घोड़ा दीजिये।

करण सिंह—जाओ दिया। अब हाल बताओ।

कञ्चन सिंह—हाल यह है कि यदि उन दोनोंको आपने न पाया तो आपने अपनी जिंदगी बरबाद की और मुफ्तमें बदनामीकी गठरी सिरपर रक्खी।

करण सिंह—ऐसा?

कञ्चन सिंह—वैसा रूप पाटनभरमें नहीं है। रूपसुन्दरी गोरी है और गुणसुन्दरी श्यामा है। १९ और १७ सालकी उमर है। रूपसुन्दरीके मुखपर लालित्य है और गुणसुन्दरीके मुखपर छवि है। असल पद्मिनी जातिकी यही दो स्त्रियाँ गुजरात देशमें हैं—राजा साहब।

करण सिंह—ऐसा?

कञ्चन सिंह—ऐसा वैसा मैं जानता नहीं, दोनोंकी बोली सुनी तो मालूम हुआ कि जलतरङ्ग बज रहा है ।

करण सिंह—क्या उपाय किया जाय जो उन दोनोंकी प्राप्ति हो ?

कञ्चन सिंह—उपाय सामने उपस्थित है । मन्त्री माधवचन्दको हुक्म दीजिये कि राज्यके प्रत्येक गाँवका दौरा करें । प्रति ग्राममें तीन दिनका मुकाम कर, मेरी प्यारी जनताका दुःख दूर करें । इस प्रकारसे छः मासमें समूचे राज्यकी तहकीकात करके महलमें वापिस आवें ।

करण सिंह—खूब अकल लड़ाई । जनताके दुःखसे मुझे क्या मतलब ? जनता जाय जहन्नुममें । मगर बहाना बहुत अच्छा है । मन्त्री कोई उज्र नहीं करेगा । वह इतना नहीं सोच सकता कि राजासाहबको जनता प्यारी नहीं है—तुम्हारी स्त्री प्यारी है ।

कञ्चन सिंह—वहाँतक उसकी नजर नहीं जा सकती । ब्राह्मण है न ? ब्राह्मण ६० सालतक गावदी रहता है, फिर सठिया जाता है । सम्पूर्ण ब्राह्मण-इतिहासमें केवल चाणक्य और बीरबल यही दो ऐसे मन्त्री हुए जो अपने राजाके कक्का बन बैठे थे । कारण यह है कि चतुरतासे ब्राह्मण बिजकता है ।

करण सिंह—मन्त्रीका मुख छः महीनेके लिये काला करनेके बाद ?

कञ्चन सिंह—ज्यों ही बरसात शुरू हो त्यों ही दीवानकी स्त्रीको पालकी भेज देना । कहला देना कि आज रातको रानी साहब मन्त्रानीजीके साथ हिंडोला झूलना चाहती हैं । यों उसे महलमें बुला लेना । कुछ दिन बाद फिर शामको पालकी भेज देना । इसी बहानेसे सेनापतिकी स्त्रीको बुला लेना । महलमें वे आ जावें फिर मैं ऐसा इन्तजाम कर दूँगा कि रानी साहबको यह भी न मालूम होगा कि कौन आया-कौन गया !

करण सिंह—माधव नामका मन्त्री है । असली मन्त्री तो मैं तुम्हींको मानता हूँ ।

कञ्चन सिंह—यह आपकी इनायत है, वरना मैं किस लायक हूँ । नवाबोंकी मुसाहबीमें रहकर मैंने बड़े-बड़े हथकंडे याद किये हैं । औरतको धोखा देनेके लिये मैंने सैकड़ों सबक याद कर रक्खे हैं । मेरे बराबर कोई स्त्री-चोर आपको सहजमें प्राप्त न होगा । मेरे मरनेपर आप पछतावेंगे ।

करण सिंह—अरे राम राम ! मरनेका नाम मत लेना । तुम-सा शरीफ आदमी क्यों मरे ?

(३)

सेनापति केशवचन्दको घरके बाहर बुलाकर नायक कञ्चन सिंहने कहा—'रानीसाहबाने पालकी भेजी है । रानीसाहबाने हिंडोला झूलनेके लिये आपकी भावजको बहुत जल्द बुलाया है ।'

केशवने भीतर जाकर नायकका सँदेसा रूपसुन्दरीसे कहा । रूपसुन्दरीने उत्तर दिया—'राजा बड़ा लोलुप है । उसके महलमें पतिव्रताओंको भूलकर भी कदम नहीं रखना चाहिये । जाकर कह दो कि मेरी भावजकी तबीयत खराब है ।'

केशवने बाहर जाकर कञ्चनसे कहा कि 'भावजकी तबीयत खराब है । वह महलमें नहीं जा सकतीं ।'

कञ्चन सिंह—महलमें वैद्यजी रहते हैं । उनकी दवासे आपकी भावजकी तबीयत ठीक हो जायगी ।

केशवचन्द—नहीं जी, वह नहीं जावेंगी ।

कञ्चन सिंह—खुशीसे नहीं भेजोगे तो जबरन् जावेंगी ।

केशवचन्द—भाग यहाँसे गुण्डा कहींका ! नायक बना फिरता है—बदमाशका बच्चा ।

कञ्चन सिंह—(सिपाहियोंसे) इस हरामी पण्डितको पकड़ लो ।

केशवने तत्काल तलवार बाहर निकाली । जबतक सिपाही लोग आगे बढ़ें तबतक कञ्चन सिंह नामका सिर धरतीपर लोटने लगा । जैसे किसान ज्वारका भुट्टा काटता है उसी तरह आसानीसे केशवने कञ्चनका सिर काट गिराया ।

छत्तीस सिपाही केशवचन्दपर टूट पड़े । जबतक पड़ोसी लोग जमा हों तबतक सिपाहियोंने केशवचन्दको मार डाला । पड़ोसियोंने चार सिपाहियोंको यमलोक भेज दिया । एक सिपाही भाग गया और उसने सारी घटना राजासाहबको सुनायी । उस समय गुणसुन्दरी छतपरसे अपने स्वामीकी युद्धनिपुणता देख रही थी । अकेले केशवचन्दने इकतीस सिपाही मार गिराये थे । स्वामीकी वीरतापर मुग्ध होकर गुणसुन्दरी जय-जयकार कर रही थी !

(४)

चारों ओर हाहाकार मच गया । कोई रोता था और कोई चिल्लाता था । गुणसुन्दरी छतपरसे नीचे उतर आयी । उसकी आँखोंमें आँसू न थे । केशवके शवके पास आकर उसने कहा—'प्राणनाथ ! घबड़ाना नहीं ! मैं भी आती हूँ !' लोगोंने बहुत कुछ समझाया—पर गुणसुन्दरी नहीं मानी । विधानके अनुसार काम करती हुई गुणसुन्दरी अपने स्वामीके साथ सती हो गयी !

जब चिता जलने लगी थी । जब गुणसुन्दरी कमरतक जल चुकी थो । जब चारों ओर अपार जनता सतीका दर्शन कर रही थी, तब गुणसुन्दरीने गम्भीरस्वरसे शाप दिया—

'जिसने हमारे घरकी यह दुर्दशा की है उसकी स्त्रियोंकी बेइज्जती मुसलमानोंद्वारा होगी !'

सतीका शाप सत्य हुआ । तीसरी साल यानी १७०३ ई० में मुसलमानोंने पाटनपर चढ़ायी कर दी । राजा करण सिंह युद्धमें मारे गये । मुसलमानोंने रानियोंकी वही दुर्दशा की जो सतीके घोर शापमें व्यक्त हुई थी ।

माधव मन्त्रीके वंशके लोग अबतक पाटन नगरीमें रहते हैं । उनके वंशके एक सज्जनसे मेरी मुलाकात दिल्लीमें हुई थी । उन्हींके द्वारा यह वृत्तान्त मुझे प्राप्त हुआ है ।

आजतक पाटन शहरमें गुणसुन्दरीकी कथा बच्चे-बच्चेकी ज़बानपर नृत्य कर रही है ।

चार प्रश्न

निरखत नित्य ही असंख्य सृष्टिको सँहार, तौ हूँ नर आपनो न मानत सँहार क्यों ?
निपट निरच्छर, न अच्छरको ग्यान जाहि, जानै सोऊ आपनेको ग्यानको भँडार क्यों ?
चाहत न दुख कोऊ कतहूँ 'नरायणजू', सब सुखहीको हिये राखत बिचार क्यों ?
चाहै परतंत्रता न कोऊ सपनेहू माहिं, सबही स्वतंत्र ह्वैके चाहत बिहार क्यों ?

—नारायणदास चतुर्वेदी

विश्वप्रेम

(लेखक—श्रीयुत एल० वी० मेहता)

जो आत्मा हमारे अंदर विराजमान है वही आत्मा सभीके अन्तःकरणोंमें स्थित है । इस आत्मविचारकी दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी मतका या सम्प्रदायका क्यों न हो मनुष्यमात्रके साथ भ्रातृभावमें ओतप्रोत है । इतना ही नहीं, प्रत्येक प्राणीके साथ हमारा भ्रातृभाव व्यापकरूपसे संघटित है ।

यदि यह सत्य हम सब लोगोंके हृदयमें जाग्रत् हो जाय तो बहुत-से व्यर्थके वाद-विवाद, अकारण-द्वेष, मनोमालिन्य, जघन्यता और संकुचित मनोवृत्तिका सर्वथा नाश हो जाय और परस्पर प्रेमधारा प्रवाहित होने लगे । इसी लक्ष्यको हृदयमें रखकर किसी महात्माने स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है ।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

'ओछे हृदयके आदमी ही अपना-पराया समझते हैं, उदारचरित पुरुषोंके लिये तो सारी पृथ्वी ही उनका कुटुम्ब है ।' कैसा सुन्दर भाव है । यदि इस महान् सत्य धर्मकी स्थापना सब धर्मोंके ऊपर हो जाय तो केवल एक ही प्रान्त या देशमें नहीं, समस्त संसारमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है ।

आजकल हमलोगोंके भाव बहुत संकुचित हो गये हैं, परन्तु यदि हम समस्तका कल्याण सामने रखते हुए अपना कल्याण चाहें तो हमारा कल्याण भी बड़ी आसानीसे हो सकता है । भारतवर्षका तो आध्यात्मिक सिद्धान्त ही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति' सब कुछ ब्रह्म है, सब वासुदेव ही है । ऐसी दशामें भारतवर्षको ही आगे बढ़कर यह सर्वात्मैक्यका—यह विश्वप्रेमका सन्देश सब देशोंमें पहुँचाना चाहिये । अपने-अपने धर्मका पालन सब करें, परन्तु दूसरोंको अपनेसे नीचा न समझें । इसीमें भारतवर्षका महत्त्व है । अब सबको एक स्वरसे यह गाना चाहिये—

माता तु कमला देवी पिता देवो जनार्दनः ।
बान्धवाः विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ॥

* * *

उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥

इष्टका स्वरूप

(लेखक—श्री'सुदर्शन'जी)

वह सर्वेश अनादि, अन्तहीन, विभु, सच्चिदानन्दस्वरूप है । वह मन तथा वाणीसे परे है । बुद्धि उसे सोच भी नहीं सकती । वही एक सर्वोपरि है। विश्वके अणु-अणुमें वह व्याप्त हो रहा है । वह सर्वशक्तिमान् है, जगन्नियन्ता है, निर्विकार है । इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयका वही एकमात्र मूल कारण है । वह प्रकृतिसे परे है, प्रकृतिका अधीश्वर है, प्रकृतिका सञ्चालक है । उसीकी इच्छासे विश्वके समस्त कार्य सञ्चालित हो रहे हैं । विश्वकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टाके पीछे वह विद्यमान है । वही प्राणीका एकमात्र लक्ष्य है, प्राप्य है, ध्येय-ज्ञेय और आराध्य है । उसे प्राप्त करके फिर संसारके इन विषम विष-संवलित त्रयतापोंसे जीव सदाके लिये त्राण पा जाता है । सदाके लिये इस संसारमें आवागमनके चक्रसे छूट जाता है । नित्य शाश्वत एवं आनन्दमय धाम, विश्रामस्थान प्राणीमात्रके लिये वही है । सभी लोग अपने इष्टके विषयमें बिना किसी विवादके यह धारणा रखते हैं । यह अपवादहीन सार्वभौम सिद्धान्त इष्टके विषयमें है ।

इष्टके स्वरूपके विषयमें अनेक मतभेद हैं । हिन्दुओंके इष्ट पृथक्, तो मुसलमानोंके पृथक्, ईसाइयोंके उनसे भी पृथक् । जितने धर्म हैं उतने ही इष्ट हों ऐसी ही बात नहीं है । एक ही धर्ममें अनेक सम्प्रदाय हैं; उन सम्प्रदायोंके इष्ट भी भिन्न-भिन्न हैं । हिन्दूधर्मको ही लीजिये, यहाँ कोई निर्गुण निराकार चिन्मय ब्रह्मको आराध्य समझता है तो कोई कैलासनाथ शङ्करको ही पूज्य मानता है। किसीके आराध्य सूर्य हैं तो किसीकी शक्ति । कोई अपना ध्येय-ज्ञेय आराध्य श्रीकौशलकुमारको ही मानता है, तो कोई नृसिंहको । किसीका चित्त माखनचोरने चुरा रक्खा तो कोई गणेशजीकी सूँड़पर ही मोहित है । यह विभिन्नता यहीं नहीं समाप्त हो जाती । एक देवताको इष्ट माननेवालोंमें भी मतभेद होता है । किसीको श्रीकृष्णका शिशु रूप अभीष्ट है तो कोई माखनचोर या कालियके नथैयापर रीझा बैठा है । किसीको गोवर्धनधारी भाते हैं तो किसीको रासविहारी । कोई पार्थसारथिको अच्छा मानता है तो कोई द्वारकाधीशको । कहनेका तात्पर्य यह है कि जितने मनुष्य हैं उनकी उतनी ही पृथक्-पृथक् भावनाएँ और उन भावनाओंके अनुसार उतने ही पृथक्-पृथक् इष्टके स्वरूप हैं। साकार उपासनामें इष्टके स्वरूपकी विभिन्नताके साथ उनके वेशभूषा, रहन-सहनकी कल्पनामें भी भेद होता है। कोई अपने नन्दनन्दनको पीत झँगुलिया पहने देखता है तो कोई पीताम्बर ओढ़े । देशकी दृष्टिसे भी इष्टके स्वरूपमें भेद होता है । ईसाइयोंका ईश्वर हैट-कोट पहनेगा तो भारतके भगवान् धोती पहनकर पटुका ओढ़ेंगे । बंगालियोंके आराध्यको भातका भोग प्रिय हो तो पंजाबियोंके इष्टदेव रोटीका प्रसाद उचित समझेंगे । किसी राजाके आराध्यको अनेक प्रकारके व्यञ्जन चाहिये तो त्यागीके प्रभु मधुकरीका भोग ही बहुत समझेंगे । कोई फलाहारी उन्हें भी फलाहारी रक्खेगा । तात्पर्य यह कि उपासक जैसा होगा, उसकी रहन-सहन, वेशभूषा तथा रुचि जैसी होगी उसके इष्टका स्वरूप भी ठीक वैसा ही होगा । उपासकका भाव ही उपास्यका स्वरूप है । इस कारण नाना प्रकारके भावके कारण नाना प्रकारके इष्ट-स्वरूप होते हैं । अपनी भावना, अपनी रुचि तथा अपने अधिकारके अनुसार उपासक अपने आराध्यके रूपकी भावना

करता है तथा अपनी ही शैलीसे वह अपने इष्टदेवकी आराधना भी करता है ।

धर्मशास्त्रोंमें इष्टके इन नाना स्वरूपोंका निषेध नहीं । सर्वज्ञ महर्षियोंने मनुष्यकी भावनाके अनुसार इष्टके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंका विधान किया है । उन्होंने स्पष्टतः अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इष्टका चुनाव करके हमें अपनी भावनाके अनुसार ही हमारे आराध्यकी उपासनाका अधिकार दिया है । 'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः' के द्वारा मर्यादा-पुरुषोत्तमने स्पष्टतः हमारे लिये अपनी ही पद्धतिसे आराध्यकी सेवा करनेका अधिकार दिया है । सबकी रुचि समान नहीं हो सकती । हम सरलतासे उसीका ग्रहण कर सकते हैं जो कि हमारी रुचिके सर्वथा अनुकूल हो । अपनी रुचिसे भिन्न वस्तुको हम सरलतासे ग्रहण नहीं कर सकते । अतः हम जितना शीघ्र हो सके उस परमानन्दघनको प्राप्त कर सकें, इसीको दृष्टिमें रखते हुए, परम कारुणिक आचार्योंने इष्टकी नाना प्रकारकी भाव-मूर्तियाँ हमारे सम्मुख उपस्थित की हैं । हमें अपनी रुचिके अनुकूल प्रभुके स्वरूपको चुन लेनेकी नितान्त स्वतन्त्रता उन्होंने दे रक्खी है, जिसमें कि हम अपने रुचिके अनुकूल उस स्वरूपको प्राप्त कर मनको पूर्णतः उसमें लगा सकें ।

हम अपने आराध्यदेवका चाहे जो रूप क्यों न मानते हों, पर वही उनका एकमात्र रूप है ऐसा मानना अपने ही आराध्यको सीमित करना है, अपने ही इष्टका अपमान करना है । इतना ही कि सर्वेशका यही रूप हमें सर्वाधिक प्रिय है । उनके अनन्त नाम तथा अनन्त रूप हैं । वे समस्त नाम तथा समस्त रूप जिन्हें दूसरे अपना आराध्य मानते हैं, मेरे ही हृदयेशके हैं । मेरे ही इष्ट सबके इष्ट हैं । उन्हींको सब अपना इष्ट मानते हैं । जैसे एक ही व्यक्तिको कोई भाई, कोई पिता, कोई स्वामी, कोई सेवक, कोई मित्र, कोई शत्रु इस प्रकार अनेक नामोंसे पुकारता है । एक ही व्यक्ति अनेक वेश धारण करके अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है, ऐसे ही एक ही वह देवदेव प्रेमियोंद्वारा अनेक नामोंद्वारा पुकारा जाता है, अनेक रूपोंमें पूजित होता है । अपनी अभीष्ट इष्ट-मूर्तिमें अनन्यभाव तो परमावश्यक है, पर दूसरोंके इष्टको छोटा बताना, उनका अपमान करना, अपने आराध्य-देवका ही अपराध करना है । दूसरेके आराध्योंके वेशमें अपने ही आराध्यको देखना यही अनन्यभावकी पहचान है । सच्चे प्रेमीका यही प्रमुख आदर्श है ।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

प्रभुका कोई नाम नहीं, उनका कोई स्वरूप नहीं । और साथ ही समस्त नाम और समस्त रूप उन्हीं सर्वेश्वरके हैं । क्योंकि विश्वके प्रत्येक नाम और प्रत्येक रूपकी सत्यता उन्हींके द्वारा सिद्ध होती है । वे ही विश्वके अणु-अणुमें व्याप्त हो रहे हैं । यह जगत् उन्हींकी सत्तासे सत्तावान् होता है । अतः भावुक उन्हें जिस नामसे पुकारता है, वह उन्हें जिस रूपमें देखना चाहता है, वे उसके लिये वही नाम स्वीकार कर लेते हैं, उसी रूपमें उसके हृदयमें प्रकट हो जाते हैं । वे अनन्तप्रेमार्णव प्रेम-विवश होकर हमारी भावनाके अनुरूप ही बनकर हमें दर्शन देते हैं । पर इस दर्शनका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि उनका एकमात्र यही रूप है । यह रूप तो हमपर कृपा करके, हमारी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये उन्होंने ग्रहण कर लिया है । इस प्रकारके उनके अनन्त नाम तथा अनन्त रूप प्रेमियोंकी भावनाके अनुसार हैं ।

प्रभुका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह वाणी तथा मनका विषय नहीं । जो भी मन तथा वाणीके विषय हैं वे उनके वास्तविक स्वरूप नहीं । मन तथा

वाणी मायाके कार्य हैं, ये मायिक जगत्से परे जा ही नहीं सकते। वह सर्वेश्वर इस मायासे परे हैं, इसके साक्षी हैं, नियन्ता हैं। आचार्योंद्वारा उपदिष्ट या शास्त्रोंद्वारा प्राप्त हम उस करुणामयके जिस दिव्य स्वरूपकी आराधना करते हैं, वह है उनका साधन-स्वरूप। उस स्वरूपका ध्यान, उसकी सेवा, उसकी पूजा तथा उसका चिन्तन करते हुए हम इस अवस्थाको पहुँचते हैं, इस योग्यताको प्राप्त होते हैं जब कि उस अखिलेशके वास्तविक स्वरूपका हम साक्षात्कार करें। वह उनका अवाङ्मनोगोचर स्वरूप हमपर प्रकट हो। पर उस वास्तविक स्वरूपके प्रकट हो जानेपर भी जब हमें उसके स्वरूपका वर्णन करना होगा, जब हमें मन तथा वाणीका उसे विषय बनाना होगा, तब उस स्वरूपको ही हम सोच सकेंगे, कह सकेंगे, जिसके द्वारा हमने उस वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार किया है। क्योंकि वास्तविक तो सोचने या कहनेका विषय ही नहीं। अतः वही रूप कहा या सोचा जा सकता है जो कि हमारे लिये उस वास्तविक स्वरूपके प्रकटीकरणका कारण हुआ हो।

ऐसी बात नहीं कि हम जिस रूपमें अपने आराध्यका चिन्तन करते हों, हमें उस रूपमें उनके दर्शन न हों। हमारे अभीष्ट रूपमें तो उनके दर्शन अवश्य ही होंगे। क्योंकि ऐसा हुए बिना हम उनके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेके अधिकारी ही नहीं हो सकते। यह तो उनकी प्रतिज्ञा है, वे हमारे अभीष्ट रूपमें ही हमें प्राप्त होंगे। पर यह विभिन्न रूपोंकी भी एक सीमा है। वे एक हैं। उनके ये विभिन्न रूप केवल उनको लक्ष्य मात्र कराते हैं। अतः उनके इन विभिन्न रूपोंके उपासकोंको इस उज्ज्वल सत्यका ज्ञान होना ही चाहिये। अतः वे करुणामय दया करके अन्तमें अपने प्रेमोपर अपना वह वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं। यह समस्त उपासनाएँ, इनके समस्त साधन, इष्टोंके बाह्य समस्त स्वरूप ऊपरसे देखनेमें चाहे जितने भी विभिन्न हों; इनके प्राथमिक रूपमें चाहे जितनी पारस्परिक भिन्नता हो पर इनका मूल एक है। इनका लक्ष्य एक है। इनका प्राप्य तथा उद्देश्य एक है। इन सबका अन्तिम स्वरूप भी एक ही है। एक ही केन्द्र-विन्दुपर जाकर इन सबकी समाप्ति होती है, जो कि सभीका परम एवं चरम लक्ष्य है।

साधनकी प्रारम्भिक दशामें साधक आचार्यके द्वारा उपदिष्ट अथवा शास्त्रके द्वारा प्राप्त अपने इष्टकी जिस मूर्तिकी आराधना करता है, एक मात्र उसीको इष्टका स्वरूप समझ बैठता है। कुछ दूरतक यह धारणा उसके साधनकी दृढ़तामें सहायक होती है। इष्टके स्वरूपमें अनन्यता तो अन्ततक परमावश्यक है, क्योंकि हमारी अनन्यता ही हमारे साधनका प्राण है। जबतक हमारी अनन्य धारणा नहीं हो जाती, तबतक संकल्प और विकल्प दूर नहीं होनेके, तबतक मन स्थिर नहीं होनेका, और तबतक हमारी आध्यात्मिक मार्गमें प्रगति नहीं हो सकती। हमारे आराध्यके अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं। वे सभी सुन्दर, मधुर तथा महत्त्वपूर्ण हैं। सभी महान् हैं, क्लेशहारी हैं। पर हमारे समीप एक ही मन, एक ही हृदय है। अतः हम उन अनन्त नाम और अनन्त रूपोंमेंसे किसी एकको ही ग्रहण कर सकते हैं। एकके ग्रहणसे ही सबका ग्रहण हो जाता है। क्योंकि वे सब एकके ही नाम और रूप हैं। हमें केवल एकका ही दृढ़ताके साथ आश्रय ले लेना चाहिये। एक—केवल एक ही हमारे लक्ष्यको प्राप्त करानेमें पूर्णतः समर्थ है। अनेकके आश्रयमें तो एक भी न होगा।

शास्त्रोंमें भगवान्के समस्त रूपोंका गुणगान है, उनकी महिमाका वर्णन है। आचार्यवृन्द भी अपने-अपने आराध्योंकी महिमाका वर्णन करते हैं। ऐसे किसी भी वर्णनसे हमें ईर्षा करनेकी आवश्यकता नहीं।

हम भूलते हैं यदि किसीकी की हुई इष्टदेवकी स्तुतिसे हमें ईर्षा होती है। हमें सोचना चाहिये कि यह सब स्तुतियाँ हमारे ही आराध्यकी हैं। हमारे ही प्रभुकी महिमाका यह सब गान किया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन वर्णन करनेवालोंने हमारे हृदयेशकी महिमाका वर्णन उनके विभिन्न नामोंसे किया है। वे उनके विभिन्न रूपोंकी स्तुति करते हैं। पर यह तो और हमारी प्रसन्नताका ही कारण होना चाहिये। हमारे प्रियतमकी स्तुति इतने नामोंसे होती है, उनके इतने महान् रूप हैं। यह बात तो हमें हमारे आराध्यमें और दृढ़ निष्ठा उत्पन्न करानेवाली होनी चाहिये तथा उन सभी लोगोंसे हमारा प्रेम होना चाहिये, उनके प्रति हमारे हृदयमें सौजन्य तथा स्नेह होना चाहिये, क्योंकि वे हमारे ही आराध्यकी उपासना करते हैं, उन्हींका गुण-गान करते हैं। हम सब एक ही उस देवाधिदेवके उपासक हैं। यह भिन्नता तो केवल बाहरी है।

जबतक इष्टके वास्तविक स्वरूपको हम नहीं समझ लेते, जबतक हमपर कृपा करके वह अपने वास्तविक रूपका हमें साक्षात् नहीं करा देता तभीतक यह बाहरी भेद-भाव दृष्टि पड़ता है। वास्तवमें वह है तो एक ही। उसका वास्तविक स्वरूप भी एक ही है। सत्य सदा एक होता है, वह दस-बीस नहीं हुआ करता। पर हमारे इस मायाकलुषित तुच्छ हृदयमें इतनी शक्ति कहाँ जो उस विशुद्ध सत्यको देख सके? हम तो वही देख सकते हैं जो कि हमारे इस विषयी संसारी मनने अबतक हमें देखना सिखाया है। हम उसे भी तो इसी मनसे, इसी हृदयसे, इन्हीं नेत्रोंसे देखना चाहते हैं। अतः उसका जो भी रूप हम सोचते हैं वह इसी मन और हृदयकी सम्पत्ति होती है। पर वह इतना दयालु, इतना कारुणीक, इतना उदार है कि हमारे लिये वह हमारे उसी मनचाहे रूपमें आता है। पर वह दिव्य है, त्रिगुणातीत है, हमारे मनचाहे रूपमें आकर भी वह हमारे हृदयको अपनी नख-मणि-चन्द्रिकाके मंगलमय प्रकाशसे दिव्य बना देता है। तब स्वयं ही हृदयको योग्य बनाकर उसपर वह अपने वास्तविक स्वरूपको प्रकट कर देता है। यह है उस करुणावरुणालयकी महती कृपा!

हम सभी मानते हैं कि वह मन तथा वाणीसे परे है। फिर यह आग्रह तो कैसे होगा कि हमारे इष्टका यही स्वरूप है। यह स्वरूप हमारा सर्वस्व है, हमें उसके वास्तविक स्वरूपके साक्षात्कारका प्रदाता है और वास्तविक स्वरूपका साक्षात् करके भी हम इसीको सोच सकते हैं, इसीका वर्णन कर सकते हैं, अतः यही हमारा सब कुछ है। महाराष्ट्र-भक्त-शिरोमणि श्रीतुकारामजीके वचन हैं कि 'निर्गुणमें तो बोलनेको स्थान ही नहीं। यदि बोलना हो तो श्रीकृष्णचन्द्रके गुण गाओ। अन्यथा चुप रहो।' निर्गुण सोचा भी तो नहीं जा सकता। यदि सोचना हो तो भी उसी मुरलीमनोहरकी ललित त्रिभंगी छबि हो ध्यान करने योग्य है।

श्रीवृन्दावनविहारीकी जय!

श्रीमानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शंका—जब श्रीमिथिलापुरीके धनुषयज्ञमें सभी 'भटमानी' भूपोंका मान-मर्दन हो चुका तथा श्रीजनकजीने भरी सभामें पश्चात्ताप प्रकट करते हुए 'बीर बिहीन मही मैं जानी' यहाँतक कह डाला तब श्रीलक्ष्मणजीसे सहन नहीं हो सका । वे श्रीजनकजीको उचित उत्तर देते हुए शिव-धनुष तोड़नेके लिये स्वयं तैयार हो गये । उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे आज्ञा भी माँगी परन्तु आज्ञा नहीं मिली और इसी कारण उन्हें रुक जाना पड़ा । यह अनुचित कार्य श्रीलक्ष्मणजीके लिये कहाँतक उचित माना जा सकता है ? क्योंकि वे तो श्रीसीताजीको माता और श्रीरामजीको पिता मानते थे । उनकी इस निष्ठाका प्रमाण श्रीगीतावलीकी पदसंख्या ८५ के निम्नलिखित अंशसे स्पष्टरूपमें मिलता है—

मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस
पन परमिति और भाँति सुनि गई है ।
नतरु प्रभुप्रताप उतरु चढ़ाय चाप
देतो पै देखाइ बल, फल पापमई है ।

अर्थात् श्रीलखनलालजी कहते हैं कि 'बड़ोंके आगे मेरा बोलना तो अनुचित है परन्तु लड़काई कर रहा हूँ । इस धनुष-भंगकी प्रतिज्ञा कुछ और ही प्रकारकी सुनी गयी है—इसको जो तोड़ेगा वही श्रीजानकीजीको ब्याहेगा, अतः ऐसी दशामें यदि मैं इस धनुषको तोड़ता हूँ तो उसका फल मुझको पापमय ही मिलेगा, क्योंकि मैं तो श्रीजानकीजीमें माताकी निष्ठा रखता हूँ । नहीं तो श्रीप्रभुके प्रतापसे पहले धनुषको चढ़ा लेता और तब बल दिखानेके पीछे जनकजीको उत्तर देता ।' इसके अतिरिक्त जब साधारण साधु-राजाओंकी—

'जगदम्बा जानहु जिय सीता'
'जगत पिता रघुपतिहि बिचारी'

इत्यादि इस प्रकारकी धारणाएँ थीं, तब श्रीलक्ष्मणजीसे ऐसी भूलका हो जाना कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है । यहाँतक कि जब—

जिनके कछु बिचार मन माँहीं । चाप समीप महीप न जाहीं ॥

—ऐसी बात थी तब श्रीलक्ष्मणजी-सरीखे विचार-सिन्धु साक्षात् शेषावतार और श्रीरामानुजके लिये शिव-धनुष तोड़कर श्रीजानकीजीसे विवाहसम्बन्ध-जैसा महान् अनुचित कार्य करना पड़ेगा—इस बातका मनमें भय न लाना कैसे सम्भव कहा जा सकता है ?

समाधान—यह बिल्कुल उलटी बात है । श्रीलक्ष्मणजीने ऐसी इच्छा कदापि नहीं की थी कि 'मैं धनुष तोड़कर श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा' और न इसके लिये उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे कभी आज्ञा ही माँगी थी । श्रीरामचरितमानसके तत्त्वज्ञ प्रेमी जन कृपया विचार करें कि उस प्रसंगकी मूल चौपाइयोंसे कैसा भाव निकलता है ? मूल चौपाइयाँ ये हैं—

रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई ।
तेहि समाज अस कहै न कोई ॥
कही जनक जस अनुचित बानी ।
बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥
सुनहु भानुकुलपंकज भानू ।
कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जो तुम्हार अनुसासन पाऊँ ।
कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ ॥
काँचे घट इव डारौं फोरी ।
सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना ।
का बापुरो पिनाक पुराना ॥

नाथ जानि अस आयसु होऊ ।
कौतुक करौं बिलोकिय सोऊ ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं ।
जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ ।
जो न करौं प्रभुपद सपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ ॥

इनका सरलार्थ इस प्रकार है—श्रीलखनलालजी कहते हैं कि 'इस सभामें रघुकुलमणि श्रीरघुनाथजीको साक्षात् मौजूद देखते हुए श्रीजनकजीने जैसा अनुचित वचन (बीर बिहीन मही मैं जानी) कह डाला है, ऐसा अनुचित वचन किसी समाजमें एक भी रघुवंशी व्यक्तिको उपस्थित देखकर कोई भी नहीं कह सकता । हे सूर्यवंशरूपी कमलके सूर्य श्रीरघुनाथजी ! मैं आपके सामने निरभिमान होकर अपना सहज बल बतला रहा हूँ । यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं सारे ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठा लूँ और उसे कच्चे घड़ेकी भाँति फोड़कर चूर-चूर कर दूँ । मैं मेरुदण्डको भी मूलीकी भाँति बिना परिश्रम तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ । फिर भला आपके प्रताप और महिमाके आगे यह बेचारा पुराना धनुष क्या हस्ती रखता है ? (तात्पर्य यह कि जब मैं आपका अंशभूत अनुचर होकर इतनी सामर्थ्य रखता हूँ तब आपके प्रताप और महिमाके आगे यह धनुष क्या चीज है जो इसको तोड़नेमें आप इतना बिलम्ब कर रहे हैं और जिसके कारण जनकजीके मुखसे ऐसी-ऐसी असह्य बातें सुननी पड़ रही हैं ! प्रभो ! अब आप शीघ्र ही यह धनुष तोड़कर श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञा पूरी करें क्योंकि उनकी विवाह-विषयक प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका विरद और अधिकार श्रीसरकारको ही है । हाँ, यदि आपको कौतुक मात्र कराना हो तो केवल खेलके रूपमें, जिससे कि श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञा अथवा उनकी शर्तोंका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाय) ऐसा जानकर हे नाथ ! यदि मुझे ही आज्ञा हो तो मैं ही केवल कौतुक मात्र करके दिखा दूँ । मेरे उस खेलको आप आनन्दसहित देख लें कि मैं किस प्रकार इस चापको कमलके मुलायम डंठलकी तरह बिना परिश्रमके लचकाकर चढ़ा देता हूँ ? मैं इसको लेकर सौ योजनतक दौड़ा हुआ जा सकता हूँ तथा बरसाती छतरी (पानी बरसनेपर पृथ्वीसे कोमल अंकुर छत्राकार उगा करते हैं) की भाँति सहजमें ही तोड़-मरोड़कर फेंक सकता हूँ । परन्तु नाथ ! यह सब खेल आपके ही प्रताप-बलसे होगा । यदि मैं ऐसा करके दिखा न दूँ तो प्रभुके इन चरणोंकी ही शपथ खाकर कहता हूँ कि फिर कभी हाथमें धनुष धारण ही न करूँगा ।'

भावार्थ यह है कि श्रीलक्ष्मणजी अपने इन वीर-वचनोंद्वारा एक ओर तो श्रीजनकजी आदि मिथिला-वासियोंको तथा अन्य समस्त समाजको यह बोध करा रहे हैं कि जब श्रीरामजीके छोटे भाईमें यह सामर्थ्य है तब उनके द्वारा धनुषका टूटना निस्सन्देह सिद्ध है और दूसरी ओर श्रीरघुनाथजीसे यह ऐश्वर्य-सूचक प्रार्थना कर रहे हैं कि 'मैं तो आपका अंशभूत शेष हूँ (इस कथनसे वे—अनुशासन पानेपर अपने फणपर लिये हुए ब्रह्माण्डको भी लय कर सकता हूँ—अपनी इस शक्तिकी ओर भी संकेत करा रहे हैं)। जगज्जननी श्रीलक्ष्मी—सीताजीकी शर्त जिस धनुषके साथ लगी हुई है उसे तोड़कर श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञा-पूर्ति तो श्रीमन्नारायणस्वरूप आपसे ही सिद्ध है।' इसके अलावा 'तव प्रताप महिमा भगवाना'— इन शब्दोंके द्वारा, 'भगवान्' शब्दसे भगवान्‌के अवतारी स्वरूपको सूचित करके, पूर्वनिवेदित प्रातःकालकी प्रार्थना—

रवि निज उदय ब्याज रघुराया ।
प्रभुप्रताप सब नृपन दिखाया ॥

के 'प्रताप' और—

तव भुजबल महिमा उदघाटी ।
प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥

—के 'महिमा'—इन शब्दोंके वाच्यार्थको लक्षित कराके एवं 'का बापुरो पिनाक पुराना' कहकर श्रीलक्ष्मणजीने यह अभिलाषा प्रकट की है कि 'विवाहकी सम्पन्नताके लिये शीघ्रातिशीघ्र श्रीप्रभुके ही हाथसे धनुष टूटना चाहिये।' अपनेको तो वे केवल 'कौतुक' के ही योग्य समझते हैं और 'कौतुक करौं बिलोकिय सोई' कहकर यह दरसा रहे हैं कि 'केवल खेल-तमाशा देखना हो तो उसी नाते मैं उसे दिखा सकता हूँ, प्रतिज्ञाको पूरा करना तो मेरे लिये सरासर अनर्थ और अनाचार होते हुए असम्भव भी है, क्योंकि वह अधिकार स्वामीको ही है, सेवकको नहीं। श्रीस्वामिनीसे स्वामीका ही अखण्ड सम्बन्ध है, सेवक तो पुत्ररूप है।' अस्तु, इन्हीं बातोंके कारण श्रीरघुनाथजीने कौतुकरूपमें भी लखनलालको धनुष तोड़नेकी आज्ञा नहीं दी। श्रीरघुनाथजीके लिये श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूर्ण करके श्रीसीताजीको स्वीकार करना अनिवार्य था। यदि प्रभुजी श्रीलखनलालद्वारा खेलमें ही धनुष तुड़वा डालते तो फिर वे किस धनुषको तोड़कर प्रतिज्ञा पूरी करते ?

अब यदि यह प्रश्न उठे कि श्रीलखनलालजीने 'कौतुक करौं' इतना भी कहनेका साहस क्यों किया तो उसका एक कारण तो यह है कि यदि वे धनुषका नाम न लेकर केवल ब्रह्माण्ड और मेरुको ही फोड़ने-तोड़नेकी बात कहकर रह जाते तब सुननेवाले लोग शंकित होते कि 'जब ये सब कुछ कर लेनेको कहते हैं तब धनुष-भंगकी चर्चा क्यों नहीं करते ?' और दूसरा कारण यह है कि श्रीरामजीको कौतुक बहुत भाता है। वे स्वयं 'कौतुकनिधि कृपालु भगवाना' हैं तथा अनेक विध कौतुक किया करते हैं। यथा—

तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू ॥
'कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी।'

अतएव यह जान लेना चाहिये कि श्रीलखनलालने कदापि इस इच्छासे धनुष तोड़नेकी आज्ञा नहीं माँगी थी कि 'मैं ही धनुष तोड़कर श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूरी कर दूँगा।' बल्कि स्पष्टरूपसे उनका तात्पर्य यही था कि 'हे नाथ ! धनुषभंगकी प्रतिज्ञा तो आप ही पूरी कर सकते हैं, इसलिये आप उसे शीघ्र पूरी कर दें। यदि कौतुक कराना चाहें तो अलबत्ता मुझे आज्ञा दें ताकि कौतुकरूपमें मैं धनुष तोड़कर जनकजीको यह प्रमाण दिखा दूँ कि यह पृथ्वी वीरोंसे खाली नहीं है।'

सियावर रामचन्द्रकी जय !

कर्त्तारसे अन्तके दिनोंकी सच्ची प्रार्थना

(लेखक—श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०)

१—हे परमेश्वर ! कहाँ आप निर्मल, स्वच्छ, तेजस्वरूप और कहाँ मैं पापमलिन, पतित, मनुष्य-कीट ! क्या हुआ जो आत्मरूपसे आप मेरे भी हृदयमें निवास करते हैं, परन्तु हूँ तो मैं आपका अंश मात्र—

सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

और कदाचित् अपनी मलिनताके संसर्गसे आपको भी मलिन करता हूँगा । किस मुँहसे मैं 'तू' अथवा 'तुम' कहकर आपका अनादर करूँ जब कि मैं आपका होने अथवा कहलानेका अधिकारी ही नहीं । इसलिये मुझे आपको परात्म (पर=पराया अथवा श्रेष्ठ+आत्मा='आप') रूपसे 'आप' करके ही सम्बोधन करना पड़ता है । आप जगत्के माता-पिता हैं । परन्तु आपके पितृभावके सम्मुख होते हुए मुझ अपराधीको डर लगता है । मुझे तो आपका मातृभाव चाहिये, जिसके बिना मेरा ठिकाना नहीं ।

२—भगवन् ! आपने मुझे शरीर, कुटुम्ब और धनका इतना ही सुख दिया है जिससे कममें कदाचित् मेरा निर्वाह भी नहीं हो सकता था, परंन्तु इनके सम्बन्धकी हानियाँ इतनी दी हैं कि मैं उनको सहते-सहते हार गया । क्या इसलिये मेरे कष्टोंका अन्त नहीं होने देते हो कि सुख-सम्पत्तिमें लोग आपको भूल जाते हैं और दुःख-विपत्तिमें ही आपका स्मरण करते हैं? परन्तु आप तो अन्तर्यामी हैं । क्या आप नहीं जानते कि मेरी प्रकृति तो इसमें सर्वथा उलटी है; और सुखसम्पत्तिमें तो मैं कृतज्ञतासे आपका अधिक उत्साहके साथ स्मरण करनेवाला हूँ । निरन्तर कष्टोंसे तो आपपर मेरी श्रद्धा घटती है जो कि आयुका अधिक अंश बीत जानेपर बड़ी कठिनतासे उत्पन्न होने पायी है ।

३—भगवन् ! जो यह कहो कि 'जिसपर मेरी कृपा होती है उसीको कष्ट देता हूँ, और जितनी अधिक कृपा होती है उतना ही अधिक कष्ट देता हूँ' तो आपने मेरे ऐसे क्या कर्म देखे अथवा आपमें ऐसी क्या भक्ति देखी, जिससे आपने मुझे अपनी कृपाका अधिकारी मान लिया ? यदि कष्टोंके परिमाणसे ही कृपाका अनुमान करूँ तो यह तो बतलाइये कि ऐसी भारी कृपाके अन्तमें मुझे क्या निहाल करोगे ? जो कहो कि 'कष्टोंके द्वारा तेरे पाप क्षीणकर तेरा बोझ हलका कर रहा हूँ' तो यह भली कृपा रही ! मेरा ऋण था मैंने चुकाया, आपने तो नहीं चुका दिया । आपने मुझे क्या दिया ? लोक, परलोकका सुख अथवा मोक्ष देते तो आपकी कृपा और देना मानता परन्तु यदि कियेका ही देते हो तो जब कि बुरेके सिवा कोई अच्छा मेरा किया ही न होगा तो दुःखके सिवा आप मुझे देंगे भी क्या ? यदि अच्छा होता तो सुख ही नहीं देते ?

४—भगवन् ! माना कि ये सब कष्ट मेरे ही कर्मोंके फल हैं परन्तु फलदाता तो आप हैं, और आप सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं । क्या इतनी शक्ति आपको नहीं थी कि मेरे इस जन्मके प्रारब्धमें पापपुण्य अथवा सुखदुःख ऐसे परिमाणसे मिलाते कि दुःखोंका ऐसा असह्य ताँता तो न लग जाता जिससे वे सहनीय अवस्थामें तो रहते ? यह आपको कठिन न था ।

५—परन्तु भगवन् ! कदाचित् ये कोई भी उलहने नहीं बनते । जीवकी कर्मपरम्परा और उसकी योग्यताको जाननेवाले ता आप हैं । उसके सुख-दुःख-की जो व्यवस्था आप करते हैं उसके भेदको मेरे-जैसे अज्ञ क्या जान सकते हैं ? कौन जाने जितनेसे सुख मुझे मिले हैं वे भी कदाचित् मेरी योग्यतासे कहीं

अधिक हों । बहुतोंको इतने भी दुर्लभ हैं । इसी प्रकार कदाचित् मेरे कष्ट भी मेरे पापोंको देखते बहुत कम हों । बहुतोंको मेरे-जितने सुख न मिलनेपर भी, कष्ट मुझसे कई गुने अधिक भोगने पड़ते हैं ।

६—भगवन् ! मेरा अज्ञान और नेचरिया Naturalistic कुबुद्धि यहाँतक बढ़े हुए थे कि मेरा सब कुछ भरोसा और घमण्ड बुद्धि और उपायपर ही था, यहाँतक कि मेरा यह आग्रह था कि यदि मनुष्य भूल न करे और योग्य उपाय करे तो पूरी आयुके पहले मनुष्य मर ही नहीं सकता । मैं नहीं समझता और मानता था कि बुद्धि और उपाय भी आपकी मर्जी अथवा प्रारब्धके अधीन हैं जो बातकी बातमें दोनोंको बिगाड़ अथवा सुधार सकते हैं, और जो किसी बातके बनाने अथवा बिगाड़नेमें बुद्धि और उपायके भी भरोसे नहीं रहते । फलतः, जब मेरे कुटुम्ब और सम्पत्तिकी हानि होना प्रारम्भ हुआ तो मेरी सब बुद्धि और उपायोंके मानो ताले लग गये और मुझे झख मारकर वह घमण्ड छोड़ना पड़ा, और कम-से-कम इतना अवश्य मानना पड़ा कि मनुष्य एक बहुत ही बेबस जन्तु है और सब कुछ उसीके हाथ नहीं है । परन्तु पूर्व कुसंस्कारोंकी इतनी छाया, अब भी बाकी है कि भरसक उपायको छोड़ना नहीं बन पड़ता और अन्तमें आपकी मर्जी अथवा प्रारब्धपर सन्तोष नहीं होता जिससे मेरे कष्ट बने ही रहते हैं । प्रार्थना यही है कि ऐसी बुद्धि दीजिये जिससे आपकी मर्जी और प्रारब्धपर पूर्ण श्रद्धा और सन्तोष हो जाय ।

७—भगवन् ! मैं पाप करना नहीं चाहता । क्योंकि उनके कुपरिणामोंको मैं जन्मपरम्परासे देख रहा हूँ और भोग रहा हूँ और यह भी जानता हूँ कि वे आपके सृष्टिनियमोंके विरुद्ध हैं जिनमें हाथ बँटानेमें मेरा भी परम्परासे हित है । तथापि यदि मैं अपने चित्त और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके वशीभूत होकर कोई पाप करूँ तो उसका दोषभागी मैं ही हूँ और आपसे उनकी क्षमा-प्रार्थना करनेका मुझे अधिकार नहीं । परन्तु संसारकी वर्तमान स्थितिपर भी दृष्टि दीजिये जिससे मेरा जन्म हुआ है और मुझे निर्वाह करना है । पाला तो पड़ा है ऐसे लोगोंसे जो किसीको चैनसे रहने नहीं देते और एक दूसरेको खा जानेपर तुले हुए हैं । उनसे अपनी रक्षा करने मात्रके लिये भी यदि विवश होकर पाप न करूँ तो क्या करूँ ? ऐसे पापोंको तो आप क्षमा किया कीजिये ।

८—भगवन् ! बड़ा मनोरथ यह है कि सब कष्ट और चिन्ताओंसे निवृत्त होकर इसी जन्ममें सब अतीत, अशुभ कर्म और उनके संस्कारोंको नष्ट करने और शास्त्र और तत्त्वालोचन एवं आपके भजन करनेके लिये पूरा समय पाऊँ और अन्तमें सर्वथा निखरकर शरीर छोड़ूँ । न जाने अगले जन्ममें ऐसी योनि, बुद्धि और संयोग पाऊँ या नहीं, जैसे कि इसी जन्मका अधिक अंश अशुभ कर्मसंस्कारवश संशयात्मता, अश्रद्धा, अज्ञान, दुराचार और पापोंमें ही बीत गया । परन्तु कष्ट और चिन्ताओंका किनारा नहीं दिखायी देता और शरीर उत्तर देता जा रहा है । न जाने यह मनोरथ पूर्ण होगा या नहीं ।

९—भगवन् ! इसीलिये तो निवेदन करता हूँ कि बहुत हो चुका, अब भी इन कष्ट और चिन्ताओंको समेटिये जो अधैर्य और साधनामें अश्रद्धा, निराशा और शिथिलता उत्पन्न करते हैं और उस मनोरथको पूर्ण नहीं होने देते । सुख जितना कुछ भी मुझे है उतनेसे भी मुझे सन्तोष है, यदि नित्य नये कष्ट और चिन्ता उतनेसेको भी किरकिरा न करें । यदि भविष्यमें ही आप इन कष्ट और चिन्ताओंको समेट लेंगे तो मैं सब कुछ सुख मान लूँगा । हजार यत्न करनेपर भी मेरी बुद्धि ऐसी नहीं होने पाती कि भूतकष्टों और भविष्यत्-चिन्ताओंको भूल जाऊँ, कष्ट अपने यथार्थ

स्वरूपसे अधिक भयङ्कर न दिखायी दें और जैसे आप रक्खें उसीमें सन्तोष कर सकूँ। कदाचित् मेरे पाप ही इस प्रकारके हैं कि कष्ट और चिन्ताओंसे मेरा कभी छुटकारा नहीं होता है और इसीलिये वे मेरी बुद्धिको वैसी नहीं होने देते।

१०—भगवन् ! बड़ी उलझन तो यह है कि क्या उद्देश्य रखकर साधना करूँ।

'एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।'

उद्देश्य तो कोई-सा एक रखना पड़े, परन्तु मेरे चित्तकी वृत्ति तो उस भँवरेकी-सी है जो कभी इस फूलपर बैठता है और कभी उस फूलपर, पर सन्तोष किसी एक फूलसे नहीं कर पाता। मनुष्यसे तो हृदयके भाव छिपा भी लूँ पर घट-घटके अन्तर्यामी आपसे क्या छिपा सकता हूँ ? और भोग्यपदार्थ न सही, परन्तु मनोहर स्त्रियाँ, सुन्दर भोले बच्चे और जीता-जागता जादू-सङ्गीत—इनके रहते यदि मैं कहूँ कि मृत्युलोकके सुख मुझे नहीं चाहिये, तो मैं आपको स्पष्ट धोखा देता हूँ, चाहे अगणित जन्मोंसे इन भोगोंको भी और इनके परिणामोंको मैं भोगता आ रहा हूँ। स्वजाति और स्वदेशके उद्धारकी भी जन्मसे मेरे लौ लगी है। परन्तु उसके योग्य शरीर और योग्यता न मिलनेसे वह मनोरथ भी मन-का-मनमें ही रह गया, पर छूटता नहीं है। मृत्युलोकके कष्टोंके भयसे अगत्या मृत्युलोकके जन्म और भोगोंको तिलाञ्जलि देना चाहता हूँ तो परलोककी सैर और भोगोंको जी चाहता है। तात्पर्य यह है कि कष्टोंका भय है, पर भोगोंसे अरुचि नहीं। ऐसी दशामें मोक्षकी तो क्या कथा है। न उसकी इस जन्ममें योग्यता है और न ऐसे भोग और अनुभवोंके ऐकान्तिक नाशको जी चाहता है। ऐसी कर्त्तव्यमूढ़ स्थितिमें, सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी आप ही इस बातको जान सकते हैं कि मेरा हित किसमें है और वैसी ही मेरी बुद्धि कर दीजिये। कम-से-कम यह मैं अवश्य चाहता हूँ कि किसी भी भविष्यत्-स्थितिमें मैं आपको न भूलूँ और आपपर मेरी श्रद्धा न जाती रहे, जैसा कि इस जन्मके अधिकांशमें हुआ। मुझे ऐसी बुद्धि दीजिये कि अपना हित आपकी मर्जीपर छोड़कर, चित्तसे किसीका बुरा न चाहता हुआ, सब चिन्ता छोड़कर निष्कामभावसे आपके भजन करते रहनेमें ही अपनी साधना मान लूँ।

११—भगवन् ! मनुष्यके सांसारिक मनोरथोंका तो कभी अन्त होता नहीं; और चाहे जितना जीर्ण-शीर्ण और भयंकर और घिनौने रोगोंसे ग्रस्त यह भोगायतन हो जाय, तो भी इसको छोड़नेको जी नहीं चाहता है। मुझे भी कुछ आवश्यक अधूरे सांसारिक कार्य पूरे करने ही हैं और तबतक मैं भी इस चोलेको बदलना नहीं चाहता हूँ। परन्तु इच्छा यही है कि उन कार्योंसे जल्दी-से-जल्दी छुटकारा पाकर और नये सांसारिक झगड़े मोल न लेकर शेष आयुका अधिकांश आत्माकी सद्गतिके उपायोंमें ही बिताऊँ। प्रार्थना यही है कि जब इस चोलेके छूटनेका समय आवे तो कष्टदायी, घिनौने और दीर्घकालस्थायी रोगके साथ न छूटे; और चित्त एक आपकी लौके सिवा, किसी सांसारिक इच्छा और कुटुम्ब-मोहमें न पड़ने पावे।

१२—भगवन् ! इच्छा तो यही है कि यदि कहीं जन्म पाऊँ तो आर्यावर्त्त, आर्यजाति और शुद्ध ब्राह्मण-कुलमें ही पाऊँ और यदि विद्या और ज्ञान मिले तो देव-वाणी और अद्वैतवेदान्तका अवश्य मिले। परन्तु आर्यदेश और जातिका हाल तो यह देखता हूँ कि हाथ हाथको खाता है; किसीकी प्रतिष्ठा, प्राण और अर्थका कुशल नहीं है; न आपका और न कर्मफलका

भय रहा है और चारों ओर दुराचार एवं पाप छा गया है। धर्मकी ठौर पाखण्ड रह गया है; पाप किये बिना धर्मभीरु और निर्बलोंका निर्वाह और दुष्टोंके आगे टिकाव ही कठिन हो गया है; और आपकी सृष्टि-व्यवस्था उलट-पलट हो गयी है। जो अपने रक्षक और मर्यादा-पालक होनेकी डोंडी पीटते हैं उन्हींने यह स्थिति उत्पन्न की है और स्वयं सबसे बढ़कर भक्षक हैं; और लोकमात्र ऐसा मोहान्ध और अगतिक हो गया है कि उपाय मानवी शक्तिके बाहर है। इस स्थितिमें भी यदि आप अपनी—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इस प्रतिज्ञाके पालनका उपयुक्त समय आया नहीं समझते तो यही प्रार्थना है कि यदि आर्यजातिका रामराज्य इस देशमें फिरसे स्थापित नहीं होना है अथवा जबतक नहीं होता है, तो अथवा तबतक, चाहे मुझे परलोकमें रखिये, परन्तु मृत्युलोकमें कहीं जन्म न दीजिये जो पाप और क्लेशोंको देखते प्रत्यक्ष नरकलोक बन चुका है।

* * *

❀ सरकार तुम्हारे नाममें ❀

भंडार सकल कल्याणोंका सरकार तुम्हारे नाममें।
जीवन-धन सन्त-सुजानोंका सरकार तुम्हारे नाममें॥ १॥

नहिं कर्म न ज्ञान नहीं भक्ति
विषयोंमें जिसकी अनुरक्ति
उसको भी तारनेकी शक्ति सरकार तुम्हारे नाममें॥ २॥

विश्राम नहीं एकहु पल है
मनमें षट-रिपुओंका दल है
उनको भी जीतनेका बल है सरकार तुम्हारे नाममें॥ ३॥

मिल गई नाम-रसकी घूँटी
मद मोह कोह तृष्णा छूटी
भव-रोग नाशकी है बूटी सरकार तुम्हारे नाममें॥ ४॥

कलिमें सब साधन विघ्न भरे
भवसागरसे कोई कैसे तरे
तर जाय अगर विश्वास करे सरकार तुम्हारे नाममें॥ ५॥

जन रामेश्वर कर जोर कहे
यह दीन यही वरदान चहे
बढ़ता हो निरन्तर प्रेम रहे सरकार तुम्हारे नाममें॥ ६॥

—रामेश्वरप्रसाद सिंह

दैनिक धर्माचार

(लेखक—मं० क० नाडकर्णी, धर्माधिकारी, बड़ोदा)

धार्मिक कर्म

प्रत्येक धर्ममें बहुत-सी धार्मिक विधियाँ कही गयी हैं। वे दो प्रकारकी हैं। प्रथम नित्यकर्म और द्वितीय नैमित्तिक कर्म। प्रतिदिन किये जानेवाले कर्म नित्यकर्म तथा विशेष प्रसंगोंपर किये जानेवाले कर्म नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। स्नान, सन्ध्या, पूजा इत्यादि कृत्य दैनिक, और यज्ञ, उपनयन, लग्न, श्राद्ध इत्यादि कर्म नैमित्तिक अर्थात् विशेष प्रसंगोंपर किये जानेवाले कहे गये हैं।

नित्यकर्म

प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करे। क्योंकि शरीरके स्वस्थ रहनेसे सब कर्म ठीक होते हैं और मनके स्वस्थ होनेपर ही सुखकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शारीरिक स्वास्थ्य और चित्तशान्तिके लिये हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने धर्मशास्त्रोंमें दैनिक और नैमित्तिक कृत्योंका विधान किया है। इन दैनिक विधियोंमें सबसे प्रथम प्रातःस्मरण कहा गया है। इसका हेतु यह है कि प्रभातकालमें उठकर मनमें शुभ विचारोंकी स्थापना करनेसे हमारे कर्म शुभ होंगे। मन अच्छा तो कर्म अच्छे, मन बुरा तो कर्म भी बुरे। चोर सबेरे उठकर सबसे पहले यही विचार करता है कि मैं आज किसके यहाँ कैसे चोरी करूँ, और इसके विपरीत साधु आदमी प्रातः उठकर यह विचार करता है कि मैं किसको दो-चार धार्मिक शब्दोंका उपदेश करूँ अथवा किसका कैसे भला करूँ। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि वह सबेरे उठकर परमेश्वरका नाम स्मरण करे, और यह कहे कि 'हे परमेश्वर! आप मेरे मनमें शुभ विचार पैदा कीजिये।' पश्चात् शौचविधि, दन्तधावन, मुखमार्जन, आचमन और स्नानादि करना आवश्यक है। प्रातःस्मरणके अनन्तर प्रथम कृत्य शौचविधि, फिर मुखमार्जन और दन्तधावन है। रातमें सोनेसे बन्द मुँह गंदा हो जाता है, उसे धोकर स्वच्छ करना चाहिये, और दाँत, जीभ, जबाड़े आदिको भी स्वच्छ करना आवश्यक है। इन सबके साफ होनेसे, खानेके साथ जो लार पेटमें जाती है वह भी स्वच्छ होती है और उससे आरोग्यता बढ़ती है। नहीं तो गंदी और विकृत लार और जबाड़ेका पस पेटमें जाकर खूनको खराब करता है और खूनकी खराबी होनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते हैं। इसलिये मुखमार्जन और दन्तधावन बहुत आवश्यक है। जो लोग शौच, मुखमार्जन और दन्तधावन आदि कृत्योंके प्रति आलस्यवश उपेक्षा करते हैं, वे आगे चलकर बहुत हानि उठाते हैं।

स्नान, सन्ध्या और प्राणायाम

हिन्दुस्थान गरम देश है, इसलिये शास्त्रमें तीन बार स्नान करनेका विधान है। प्रातः, मध्याह्न और सायं। प्रतिदिन तीन बार स्नान करनेमें अगर असुविधा हो तो कम-से-कम एक बार तो स्नान अवश्य करना ही चाहिये। तभी स्वच्छता और आरोग्यता कायम रहती है। स्नान करनेके बाद साफ कपड़े पहनने चाहिये। गंदे कपड़ेसे स्वास्थ्य बिगड़ता है। गंदे बढ़िया कपड़ोंकी अपेक्षा साफ फटे हुए कपड़ोंका प्रयोग कहीं अच्छा है। अपने कपड़े धोकर साफ रखने चाहिये।

स्नानानन्तर सन्ध्या, पूजा इत्यादि विधियाँ आवश्यक हैं। सन्ध्याविधिमें १. प्राणायाम, २. अघमर्षण और ३. प्रार्थना—ये मुख्य कृत्य हैं। प्राणायामसे श्वासो-

च्छ्वासका व्यायाम होता है। प्राणायामकी क्रिया किसी कुशल प्राणायामीसे ही सीखनी आवश्यक है।

प्राणायामद्वारा शुद्ध वायु अपने अशुद्ध रुधिरके साथ मिलकर, रुधिरकी शुद्धि करती है। इसलिये शरीर-शुद्धि और चित्तशुद्धिके लिये प्राणायाम उपयोगी है। अमेरिका, यूरोप इत्यादि देशोंमें भी आजकल कितने ही विद्वान् प्राणायाम करने लगे हैं।

अघमर्षण—अघ=पाप, मर्षण=धोना। यह अघमर्षणका अर्थ है। अपनेद्वारा कायिक, वाचिक या मानसिक जो पाप होते हैं, पश्चात्तापद्वारा अघमर्षण-विधिका प्रयोग करके उनका नाश करना और इस प्रकार मनशुद्धि करना आवश्यक है। ऐसा धर्मशास्त्रमें विधान है। नीतिकी दृष्टिसे भी यह विधि अत्यन्त महत्त्वकी है। अनुभवी नीतिशास्त्रकार कहते हैं कि यदि मनुष्य सदाचारको छोड़कर पतित हो जाय तो उसकी वृत्ति दुराचारपूर्ण हो जाती है। "The first departure from moral virtue tends to corrupt the whole character of a man." इसलिये लोभ और मोहजालमें फँस जानेसे जब हमसे दुराचार होने लगते हैं, तब हमारे लिये तुरंत अघमर्षणविधि द्वारा पापोंका क्षालन करना आवश्यक है। अर्थात् पश्चात्तापके द्वारा हमें अपना आचरण सुधारना चाहिये। ईसाई धर्ममें Confession अर्थात् 'स्वीकारोक्ति' नामक एक विशेष विधि कही गयी है। उसका उद्देश अपने अघमर्षण-जैसा ही है। भेद केवल मात्र इतना ही है कि वह स्वीकारोक्ति पादरीके सामने की जाती है, और अघमर्षणविधि अन्तःकरणद्वारा परमात्माके सामने की जाती है। पादरीके सामने वाणीके द्वारा दोषोंको स्वीकार करनेमें बहुत-से लोग लज्जाका अनुभव करते हैं। पर अपने अन्तःकरणके द्वारा दोष स्वीकार करनेमें कुछ भी लज्जाका अनुभव नहीं होना चाहिये। हाँ, स्वीकार सच्चे मनसे और ईमानदारीके साथ किया जाना चाहिये। तभी पापबुद्धि नष्ट होगी और सदाचार-बुद्धिका विकास होगा। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिये कि एक आदमीने लोभवश पड़ोसीके घरमें चुपके-से घुसकर चोरी कर ली। अब फिर ऐसा कार्य न हो, इसलिये धर्मशास्त्रकी आज्ञा है सन्ध्या करते समय वह अघमर्षण करके अपना पापक्षालन करे अर्थात् मनसे पश्चात्ताप करके मनको पापबुद्धिसे रहित कर दे, तभी फिर वैसा पाप न करनेका उसके मनमें दृढ़ संकल्प होगा। या यों समझिये कि एक भला आदमी किसी शराबीकी संगतमें पड़कर शराब पीनेसे क्या होता है इसका अनुभव करनेके लिये कौतूहलवश शराब पी लेता है और फिर उसी अनुभवके परिणामस्वरूप न जाने क्या-क्या दुष्कर्म करने लगता है। ऐसी परिस्थितिमें अगर वह पहली ही बार शराबका कटु अनुभव प्राप्तकर दूसरे ही दिन प्रातःकाल अघमर्षणविधिके समय शराब पीनेका क्या दुष्परिणाम होता है इसको ध्यानमें रखकर अघमर्षणविधिद्वारा अपने कियेपर पश्चात्ताप करे और फिर वैसा न करनेका दृढ़ निश्चय करे तो हमें पूर्ण विश्वास है कि वह पुनः शराब पीनेसे पूर्व कम-से-कम अपने मनमें अवश्य लज्जाका अनुभव करेगा। मान लीजिये कि उसने आवेगवश एक बार पुनः शराब पी ली तो निश्चय है कि अगले दिनकी प्रातः अघमर्षण-विधिको करते हुए उसे अपने पुनः किये जानेवाले कृत्यपर पहलेसे अधिक पश्चात्ताप होगा। इसका फल यह होगा कि किसी दिन वह शराबसे घृणा करने लगेगा और शराबियोंके पासतक न फटकेगा। सारांश यह है कि प्रतिदिन अघमर्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। रोज अघमर्षण करनेसे आजके पापके लिये कल ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा, इससे वह पाप फिर सहजमें नहीं बनेगा। परन्तु पश्चात्ताप न होनेकी

हालतमें ज्यों-ज्यों उसकी बुरी आदत बढ़ती जायगी त्यों-ही-त्यों उस आदतका छूटना भी कठिन होता जायगा । अतएव आरम्भसे ही अघमर्षणविधिका प्रयोग करके अपने कियेपर पश्चात्ताप और पुनः शराब न पीनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये । ऐसा करनेसे वह शराबकी लतसे छूटकर सदा सदाचारकी ओर प्रवृत्त होगा और उसकी दुराचारपूर्ण बुद्धि सदाके लिये विलुप्त हो जायगी ।

अघमर्षणके प्रयोग और उसके परिणामसे स्पष्ट है कि अघमर्षणविधि पापोंसे बचनेके लिये रामबाण-तुल्य है और यह तभी सम्भव है जब कि अघमर्षणका तत्त्व समझकर सच्चे हृदयसे और दृढ़ निश्चयपूर्वक इस विधिका प्रयोग किया जाय ।

स्नानके बाद यथाविधि मन्त्रोच्चार करके सन्ध्या करनी चाहिये । अगर सन्ध्या भली प्रकार न आती हो तो अघमर्षणका सिद्धान्त ध्यानमें रखकर अपने आचारकी अन्तर्दृष्टिसे विवेचना करनी चाहिये, इससे बहुत ही लाभ होगा ।

प्रार्थना और सूर्य-नमस्कार

स्नानके बाद नित्य परमेश्वरकी प्रार्थना और सूर्यको नमस्कार करना चाहिये । नमस्कार-व्यायाम यथाशक्ति होना चाहिये । उससे शारीरिक व्यायाम और धार्मिक उन्नति दोनों बातोंकी सिद्धि होगी । औंध रियासतके राजा पन्त प्रतिनिधि साहेबने सूर्य-नमस्कारका क्या महत्त्व है यह बात स्पष्टतया बतला दी है ।

पूजा

भगवान्की जिस मूर्तिमें अपनी रुचि हो, उसीकी प्रार्थना भक्तिके साथ अन्तःकरणपूर्वक करनी चाहिये । मानसपूजाका अभिप्राय भगवान्के स्वरूपका ध्यान और प्रार्थना करना है । परन्तु मूर्तिके बिना सर्वसाधारणके लिये ऐसा करना आसान नहीं है । इसके लिये बहुत उन्नत मन होना चाहिये । अन्यथा भगवान्का ध्यान ठीक नहीं होगा । साधारण मनुष्यका मन इतनी उन्नतावस्थाका पहुँचा हुआ नहीं होता । अतः ध्यानके लिये साधनरूप भगवान्की किसी प्रतिमाको या चित्रको अपने सामने रखना और आसन, वस्त्र, गन्ध, फूल, नैवेद्य इत्यादि वस्तुओंसे उनको पूजा करना उपयुक्त है । इस पूजाको सगुणोपासना अथवा मूर्तिपूजा कहते हैं । मानसपूजाको लोग निर्गुणोपासना अथवा ध्यानधारणा कहते हैं ।

वास्तवमें भगवान् एक ही हैं परन्तु उनकी शक्तियाँ अनेक हैं । शक्तिकी अनेकताके कारण भगवान्को अनेक मानना सर्वथा भूल है । भगवान् एक हैं, इस बातको हमें कभी नहीं भूलना चाहिये ।

संक्षेपमें अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त दैनिक धर्माचार छोटे-बड़े सभीके लिये आवश्यक है । इसके द्वारा देहका आरोग्य और मनकी शान्ति प्रत्येक मनुष्यको आसानीसे प्राप्त हो सकती है ।*

---

* अ० कुमार यशपाल सिंह 'विद्यालङ्कार'

गाढ़ी कमाई

(लेखक—श्रीकेशवनारायणजी अग्रवाल)

पुरानी बात है—उस समय भारतवर्ष धन-धान्यसे पूरित था । सर्वत्र दूधकी नदियाँ बहती थीं—'ग़रीबी' और 'बेरोज़गारी' शब्द कोषमें ही पाये जाते थे । पास-पड़ोसके सभी देश सभ्यता तथा संस्कृतिमें उससे पिछड़े हुए थे । वे उसे कला-कौशलका भण्डार समझते थे और उससे विभिन्न कलाओंकी शिक्षा प्राप्त करनेके हेतु अपने नवयुवकोंको भेजते थे । धनोपार्जनके हेतु भी दूर-पाससे लोग आते रहते—भारत किसीको विमुख न लौटाता था ।

पश्चिमी सीमाप्रान्तके पड़ोसी देशके चार किसानोंने भारतमें अपना भाग्य आजमानेका निश्चय किया । उनके गाँवसे गुजरनेवाले राहगीर भारतकी समृद्धिकी गाथाएँ नित्य सुनाया करते थे और वे चारों मित्र थोड़े परिश्रमसे बहुत धन जोड़नेके इस प्रलोभनको बहुत कालतक न रोक सके और एक दिन वे चारों चल पड़े ।

सीमाप्रान्तके निकटवर्ती पञ्चनद देशमें अपना कार्यक्षेत्र बनानेकी उन लोगोंने ठानी । पच्चीस दिनकी यात्रा पूरी करके वे एक वाणिज्य व्यापारके केन्द्रमें पहुँचे जहाँ चतुर्दिक् चहल-पहलसे जनसमुदाय समुद्रकी लहरोंकी भाँति हिलोरे लिया करता था । पहाड़ी देशके निवासी स्वभावतः मेहनती होते हैं—शीघ्र ही उन्हें अपनी रुचिके अनुकूल व्यवसाय मिल गया ।

पहला मित्र चतुर और विवेकपूर्ण था । वह वस्तुका मूल्य आँकनेमें प्रवीण था । उसने एक सर्राफके यहाँ नौकरी की । मालिकके यहाँ कोठेके कोठे सोनेकी सिलोंसे भरे थे । उन्हीं सिलोंको नित्य निकालना, रखना, निहाईपर रखकर काटना, कसौटीपर कसना, यही काम उसे सिखाया गया और वह शीघ्र अपने काममें प्रवीण हो गया ।

दूसरा मित्र एक रेज़गारी या खैरीजके बेचनेवालेके यहाँ जा पहुँचा । चमकते हुए नये ताँबेके पैसोंकी चमक और झंकारसे उसकी आँखें और कान मुग्ध हो गये और वह उसीके यहाँ नौकर हो गया । उसके मालिककी दूकान नगरके प्रधान देवालयके समीप थी । वहाँ झुण्डके झुण्ड यात्री आते जो तीर्थ-पुरोहितोंकी दक्षिणाके हेतु रुपयोंके बदले छोटी खैरीज लेते थे और उसके व्यवसायको सदा चलता रखते थे । राजाके खजानेसे थोड़ी-सी मुहर और रुपयोंके बदले ढेरके ढेर पैसे और छोटी खैरीज लाना उसका काम था । थोड़े दिनों बाद पैसोंको गिनकर ढेरी लगाना उसे सिखाया गया । अपने काममें उसका खूब मन लग गया ।

तीसरा मित्र कसरती जवान था । उसके बलिष्ठ पुट्ठे मेहनतका काम खोजते थे । वह एक गल्ला अनाजके व्यापारीके यहाँ जा पहुँचा । उसके बलिष्ठ शरीरको देखकर उस व्यापारीने तुरन्त उसे कामपर रख लिया । सैकड़ों बोरे गाड़ियोंसे उतारकर गोदाममें रखना और गोदामसे निकालकर गाड़ियोंपर लादना उसका काम था और उसे इसमें बड़ा आनन्द आता था ।

चौथा मित्र शरीरका स्थूल था और बुद्धि भी उसकी स्थूल ही थी । उसने एक शाकभाजीके व्यवसायीके यहाँ नौकरी की । सैकड़ों बीघे खेतोंमें मालिककी तरकारियाँ लहलहाती थीं । जिधर निगाह जाती उधर उसके हरे-भरे खेत लहलहाते थे । बस, इसका यही

काम था कि नित्य गाड़ी भरकर तरकारी लावे और शहरमें बेचकर पैसे खड़े करे ।

चारों मित्र खूब मेहनतसे काम करने लगे और कुछ कालके लिये अपने पहाड़ी गाँवको भूल ही गये । थोड़े खर्चमें उनकी आवश्यकताएँ पूरी हो जातीं और शेष धन सञ्चित होनेके लिये बच रहता । चारों मित्र मन लगाकर सञ्चय करने लगे ।

पहला मित्र रात-दिन सोनेके बीच रहता था । वह देखता था कि कितना थोड़ा सोना अपनेसे सैकड़ों गुनी बड़ी चीज़ोंको खरीद सकता है । वे चमकते हुए गोल सिक्के अपने नामको सार्थक करते हुए हर एकके मनपर अपनी मुहर लगा देते थे । बस उसने अपनी कमाई मुहरोंके रूपमें ही सञ्चित करनेका निश्चय किया ।

दूसरा मित्र नित्य ख़जानेसे पैसोंके ढेरके ढेर लाता और उन्हें दूकानके पक्के फर्शपर उड़ेलता तो उनकी चमक और झंकार उसे वीणाके रागका मज़ा देती । जब वह चार अंगुल ऊँची पैसोंकी ढेरियाँ चुनकर ताँबेका फर्श बिछा देता तो उसके नेत्र हर्षसे चमक उठते । वह अपनी कमाई स्वभावतः पैसोंके रूपमें इकट्ठी करने लगा । शीघ्रतासे बढ़नेवाला पैसोंका ढेर उसके आनन्दको बढ़ानेका साधन बन गया ।

तीसरा मित्र बड़ा परिश्रमी था । जबतक वह दो-चार सौ बोरे इधरसे उधर न रख लेता तबतक उसे अच्छी नींद न आती । पर्याप्त परिश्रमसे जब उसके अंग थक जाते तो वह खूब तानकर भोजन करता और हजारों बोरोंकी ऊँची मचानपर अपने शिथिल शरीरको स्वतन्त्रतापूर्वक फैलाकर गहरी निद्राका आनन्द लूटता । कल्पना अपने पंख फैलाकर उसे अपने साम्राज्यमें सैर करनेको निमन्त्रित करती और वह अपने आपको थोड़ी देरके लिये उस अन्नसमूहका स्वामी समझने लगता । गर्वसे उसकी छाती फूल जाती और वह उस दिनका स्वप्न देखता जब अनाजसे लदे हुए ऊँटोंकी लंबी पाँत उसके पीछे-पीछे चलती होगी और वह मुस्कराता हुआ अपने गाँवमें प्रवेश करेगा । बस उसकी कमाई अनाजके बोरोंकी शक्लमें एक किरायेके कोठेमें इकट्ठी होने लगी ।

चौथा मित्र नित्य गाड़ियाँ भर-भरकर तरकारियाँ नगरमें लाता और सन्ध्यातक उनके रुपये बनाकर वापिस लौटता । एक गाड़ी आलू दस रुपयेमें बिक जाते—एक गाड़ी बैंगन, कुहड़ा, लौकीके पाँच-छः रुपये खड़े होते तो एक गाड़ी पालक, मैथी आदि शाकोंके दो तीन रुपये ही वसूल होते । लौटते समय निशाकी फैलती हुई चादरके नीचे जब उसकी खाली गाड़ियाँ घड़-घड़ शब्द करती हुई तेज़ीसे लौटतीं तो वह अपने मनसूबे बनाया करता और प्रतिमास बचनेवाले वेतनको सञ्चय करनेका उपयुक्त माध्यम सोचता । उसके दिमागमें भिन्न-भिन्न तरकारियोंका मूल्य घूमा करता । वह सोचता—'एक गाड़ी पालक दो रुपयेमें मिलती है । हमारे गाँवमें किसीने इसका नाम भी नहीं सुना । सालभरकी कमाईमें एक गोदाम पालकसे भर जावेगा । कुछ लौकी, बैंगन कुहड़ा, आलू भी ले लूँगा—जब घर लौटूँगा तो कोड़ियों गाड़ी भरकर कमाई लाद ले चलूँगा । गाँववाले आँखें फाड़-फाड़कर देखेंगे—ओह मैं कैसा सौभाग्यशाली समझा जाऊँगा ।' बस, उसने एक बड़ा-सा हाता किरायेपर लिया और उसमें पालकके सागसे कोठरियाँ भरने लगा ।

कभी-कभी चारों मित्र इकट्ठे होते तो कमाईपर बात चलती । पहला मित्र कह देता—'मेरी कमाई तो मेरी मुट्ठीमें है ।' तीनों मित्र उसकी बातपर हँसते और उसे निकम्मा, फजूलखर्च अथवा झूठा समझते ।

दूसरा मित्र कहता—'मेरी कमाई गठरियोंमें झनझनाती है। जब मैं गाँव पहुँचूँगा तो अपनी कमाई पटेलके फर्शपर उड़ेल दूँगा—सारे गाँवमें झंकार गूँज जावेगी और साथ ही मेरी कीर्ति भी चतुर्दिक् गूँज उठेगी।'—और वह हर्षसे नेत्र मूँद लेता।

तीसरा मित्र इसपर हँस देता और कहता—'बस, तुम्हारी कमाई गठरियों तक ही सीमित है—अरे, मेरी कमाई बोरोंकी थाकोंमें भरी रक्खी है। जब मैं घर लौटूँगा तो मेरे पीछे एक कोड़ी ऊँट पाँत बाँधकर चलेंगे। महीनोंतक यही चर्चा गाँवमें रहेगी और लड़के खेलमें मेरी नकल किया करेंगे।'—और उसका बलिष्ठ शरीर चार अंगुल फूल जाता।

चौथा मित्र ठहाका मारकर हँसता और फड़ककर कहता—'बड़ी शेखी हाँकते हो। अरे, मेरी कमाईसे गोदाम भर रहे हैं और जब मैं गाँव लौटूँगा तो मेरे पीछे बीस, चालीस, साठ—नहीं-नहीं अस्सी गाड़ियोंकी बारात चलेगी। गाँवके फाटकसे चौपालतक मेरी गाड़ियाँ-ही-गाड़ियाँ दिखायी देंगी। क्या इस दृश्यको गाँववाले सहजमें भूल जावेंगे—इसकी गाथा नाती-पोतोंतक पहुँचेगी और स्त्रियाँ इसके गीत बना-बनाकर गावेंगी।'—और वह हर्षसे उछल पड़ता।

एक दूसरेकी बातोंपर कोई आश्चर्य करता, कोई ईर्ष्या करता, कोई मूर्ख समझता। अपना असली भेद कोई किसीको न बताता।

हँसी-खुशीके दस वर्ष यों ही सहजमें बीत गये। एक दिन चारों मित्र नदीतटपर एकत्रित होकर गोष्ठी कर रहे थे। बात-ही-बातमें घरकी स्मृतिपर चर्चा चल पड़ी। गोदके बच्चे अब बड़े हुए होंगे—बड़े बच्चे अब युवा होकर घरका काम सम्हालते होंगे। पतिप्राणा स्त्रियाँ नित्य बाट देखती होंगी—स्नेही मित्र अधिक समय बीतनेके कारण चिन्तित होंगे—बूढ़े माँ-बाप रो-रोकर व्याकुल होते होंगे। सब मित्रोंका एकत्रित विचारप्रवाह एक प्रबल धारामें बह निकला और उसकी तेज धारने उनके पैर उखाड़ दिये। उन्होंने मिलकर यही निश्चय किया कि अब शीघ्र ही घर लौट चलना चाहिये। शीघ्र ही एक शुभ दिन नियत किया गया और नगरके बाहर एक स्थानपर सब मित्रोंने उस दिन प्रातःकाल मिलनेका वचन दिया।

आखिर वह दिन भी आ गया। दस वर्षमें नये मित्रोंसे मोहबन्धन बँध चुके थे। उनके बिछोहने घर लौटनेके आनन्दको क्षणभरके लिये दबा दिया। परन्तु एक बार नगरका फाटक पार करनेपर जब घर लौटनेका मार्ग नेत्रोंके सामने दूरतक फैला हुआ दिखायी दिया तो प्रियजनोंसे पुनः मिलनका आह्लाद उनके पैरोंकी गतिको तीव्र करने लगा।

पहला मित्र मुसकराता हुआ प्रसन्नचित्त आ रहा था—उसके साथ गठरी-पोटली कुछ न थी। उसे खाली हाथ देखकर अन्य मित्र हँस पड़े—'वाह जी! दस वर्ष बाद घर लौटने चले सो भी खाली हाथ—अपने स्त्री-बच्चोंकी दस वर्षकी कमाईके लिये लालायित दृष्टिके सामने रखनेके लिये आपके पास क्या है जनाब!' पहले मित्रने लापरवाहीसे हँसते हुए उत्तर दिया—'आप अपना घर सम्हालिये—मेरी कमाई मेरे साथ है।'

दूसरा मित्र अपनी कमाईको एक घोड़ेपर लादकर लाया था। घोड़ेको हाँकनेके बहाने जब वह अपना बेंत पैसोंकी गठरीमें मार देता तो पैसोंकी झंकार उसके मुखमण्डलपर हँसीकी रेखा ला देती।

तीसरा मित्र मिलनेके स्थानपर पहलेसे ही आ गया था। उसके साथ बारह ऊँट अनाजके बोरोंसे लदे हुए थे। वह सूखी हँसी हँसकर कहने लगा—'क्या

कहूँ मित्र ! आज मेरे साथ सोलह ऊँट होते परन्तु चार ऊँटोंका अनाज हरामखोर मूसोंके पेटमें चला गया । फिर भी मैं तुम दोनोंसे तो अच्छा ही हूँ ।'

चौथा मित्र अभीतक नहीं आया था । तीनों मित्र नियत स्थानपर बैठकर उसकी बाट देख रहे थे और उसके न आनेके विषयमें अटकल लगा रहे थे, तबतक दूरपर उन्हें बैलगाड़ियोंकी एक पाँत-सी आती दिखायी दी । पास आनेपर उन्होंने पहचाना कि वे उनके मित्रके साथ आनेवाली गाड़ियाँ हैं । पच्चीस गाड़ियोंके आगे-आगे चौथा मित्र रोनी सूरत लिये आ रहा था। मित्रोंने हँसकर उसका स्वागत किया तो वह रो उठा । तीनों मित्रोंने अचरजसे पूछा—'क्या हुआ भाई ? कुशल तो है ? क्या मालिकने कुछ बेईमानी की ?'

चौथे मित्रने आँसू पोंछते हुए कहा—'नहीं मित्र ! मालिकने कोई बेईमानी नहीं की—वरं उन्होंने तो बिदाईमें पाँच गाड़ी आलू दिये हैं । शेष बीस गाड़ी जो आप देखते हैं वे अस्सी गाड़ी सम्पत्तिका बचा-खुचा भाग है । क्या करूँ मेरी तकदीर ही फूट गयी जो मेरी कमाईका तीन चौथाई भाग अकारथ गया ।'—उसकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिरने लगे ।

उसने साँस खींचकर फिर कहा—'मुझे दुःख तो इस बातका है कि मैंने जिसे बड़े लाड़चावसे रक्खा था उसीने अन्तमें मुझे धोखा दिया—ओह ! मैंने पालकके सागको बरसोंसे कोठोंमें आजके दिनके लिये रखा था—परन्तु चालीस कोठोंमेंसे आज एक पत्ती भी हाथ न लगी—जिसे खोला उसमें बदबूके कारण खड़ा होना कठिन हो गया । फिर उन चालीस कोठोंके किरायेके लिये मुझे बीस गाड़ी आलू देने पड़े ।' वह माथा ठोंककर फिर रोने लगा ।

तीनों मित्रोंने उसे समझा-बुझाकर शान्त किया और जब उसे यह बताया कि इतना कम होनेपर भी उसके पास अब भी सबसे अधिक सम्पत्ति है तो उसके चेहरेपर हँसीकी रेखा आ गयी और स्पर्धाकी भावनाने उसके दुःखको भुला दिया ।

बस चारों मित्र प्रसन्नहृदय घरकी ओर जानेवाले मार्गपर अग्रसर होने लगे । सन्ध्या होते-होते वे पहले पड़ावपर जा पहुँचे । पहला मित्र बेफ़िक्रीसे भोजन करके आरामसे जा सोया । दूसरे मित्रको अपने घोड़े और साईसके लिये चारा-दाना और भोजन खरीदनेके लिये पैसोंकी गठरी खोलनी पड़ी और दो मुट्ठी सम्पत्ति कम करनी पड़ी । तीसरे मित्रको बारह ऊँट और उनके बारह हँकवानोंके भोजनके निमित्त एक बोरा अनाज पड़ाववालेके हाथ बेचना पड़ा । चौथे मित्रको पच्चीस गाड़ीवान तथा पचास बैलोंके भोजनके लिये दो गाड़ी आलू बेचना पड़ा—और दो गाड़ी आलूके साथ उसका एक सेर खून सूख गया । प्रातःकाल जब उसकी दो खाली गाड़ियाँ गाँवको ओर चलनेके बजाय नगरकी ओर लौटने लगीं तो वह विक्षिप्तकी भाँति टकटकी बाँधकर उनकी ओर देखता रह गया।

इसी तरह नित्य सन्ध्यासमय जब पड़ाव आता तो पहले मित्रको छोड़कर शेष तीनों मित्रोंकी सम्पत्ति क्रमशः कम होती—पहले मित्रकी सम्पत्ति किसीको न तो दिखायी ही देती न उसके घटनेका ही कुछ अनुमान होता । हर तीसरे चौथे दिन एक खाली ऊँट लौटता और बैलगाड़ी तो दो एक हर रोज ही लौटती थीं । पैसोंकी गठरियाँ अब ढीली पड़ती जाती थीं और यद्यपि अब उनमेंसे खूब झंकार निकलती थी परन्तु वह झंकार अब सम्पत्ति घटनेकी द्योतक होनेके कारण कानोंको प्यारी नहीं मालूम देती थी। ज्यों-ज्यों रास्ता कटता पहले मित्रकी प्रसन्नता बढ़ती जाती परन्तु शेष तीनों मित्रोंकी चिन्ता उसी मात्रामें बढ़ती जाती ।

अब घर पहुँचनेके लिये पाँच दिनका रास्ता शेष था। अभीतक समतल भूमिपर होकर रास्ता जाता था परन्तु अब शेष पाँच दिनका मार्ग पहाड़ी भूमिपर होकर था। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ मानो रास्ता रोके खड़े हुए थे। पगडंडीका सहारा लेकर चलना था। पहला मित्र तो स्वतन्त्रतापूर्वक पगडंडीके मार्गपर चढ़ने लगा। उसके पैर पहाड़ी भूमिका स्पर्श करते ही अधिक तेजीसे उठने लगे और उसके ओंठोंसे स्वतन्त्रताका मधुर राग निकलने लगा।

दूसरे मित्रका बोझा पहलेसे आधा रह गया था। उसका घोड़ा कोई पहाड़ी टट्टू तो था नहीं फिर भी धीरे-धीरे आगे बढ़ा। तीसरे मित्रके पास अब छः ऊँट शेष थे परन्तु उनमेंसे एक भी एक क़दम आगे बढ़नेमें असमर्थ था। आखिर उसने एक बोरा अनाज अपनी पीठपर उठाया और पहाड़ी मार्गपर अग्रसर हुआ परन्तु उसे शीघ्र ही यह पता चल गया कि गोदामसे गाड़ीपर बोरे लादना और पहाड़पर बोरा लेकर चढ़ना दो भिन्न काम हैं। सौ क़दम चढ़ना उसके लिये कठिन हो गया और वह बोरा पटककर बैठ गया। अन्तमें उसने एक गठरीमें अनाज बाँध लिया और सरपर रखकर चल दिया।

चौथा मित्र नित्य खाली गाड़ियाँ लौटती देख-देखकर विषादसे जलता रहा था। उसके शरीरमें रक्त तो मानो रहा ही न था। जब वह पहाड़के निकट पहुँचा तो उसके साथ केवल एक गाड़ी रह गयी थी जो पहाड़ी मार्गपर एक क़दम आगे नहीं चल सकती थी। उसने तीसरे मित्रको एक बोरा अनाज पीठपर लादकर चढ़ते देखा तो वह भी एक बोरा आद्ध लेकर चलनेको प्रस्तुत हुआ परन्तु कमज़ोरीसे काँपते हुए पैर शरीरके बोझको भी पहाड़ी मार्गपर कठिनाईसे ले चल सकते थे। उसका हठ पूरा करनेके लिये गाड़ीवानने एक बोरा उसकी पीठपर चढ़ाया तो वह इस बुरी तरह गिरा कि यदि भगवान् रक्षा न करते तो वहीं उसका प्राणान्त हो जाता। हताश और खिन्नचित्त वह खाली हाथ पहाड़पर चढ़ने लगा। पहला मित्र उसे तथा तीसरे मित्रको बारी-बारीसे सहारा देता चलता था। दूसरे मित्रका घोड़ा भी दूसरे दिन आगे न बढ़ सका और उसे भी अपनी गठरी खोलकर एक पोटली पैसे बाँधने पड़े। पैसोंकी झंकार सुननेकी अन्तिम अभिलाषा पूरी करनेके लिये उसने शेष पैसोंमेंसे कुछ तो घोड़ेवालेको दिये और बाकी सब पहाड़परसे नीचे उड़ेल दिये जो झंकार करते हुए शीघ्र अदृष्ट हो गये।

आखिर वह शुभ दिन आया जब चारों मित्रोंने अपने गाँवमें प्रवेश किया। उनके आनेकी खबर गाँवमें विद्युत्-गतिसे फैल गयी। गाँवके बालक, युवा, वृद्ध सब मुखियाकी चौपालमें एकत्रित हो गये और बड़े प्रेमसे उनका स्वागत किया। कुशल-प्रश्न और इधर-उधरकी बातोंके बाद मुखियाने कमाईकी बात छेड़ी। पहले मित्रका चेहरा प्रसन्नतासे खिल उठा—उसने अपनी कमरसे बसनी खोली और पचास चमकती हुई अशरफियाँ फर्शपर उड़ेल दीं। गाँववालोंके मुँहसे एक साथ 'शाबास' निकल पड़ा। दूसरे मित्रने सूखी हँसी हँसकर अपनी पोटली खोली और समयके प्रभावसे काले पड़े हुए पैसोंका ढेर सामने लगा दिया। गाँववाले चुप्पी साधकर रह गये। तीसरे मित्रने दुःखी चित्तसे अपनी अनाजकी गठरी खोलकर ज्यों ही फर्शपर उड़ेली त्यों ही उसमेंसे उड़नेवाली धूल गाँववालोंके नथुनोंमें घुसने लगी

और सब लोगोंने उधरसे मुँह फेर लिया। और चौथा मित्र क्लान्त और थका हुआ, आत्मग्लानिकी अग्निसे धधकता हुआ, गाँववालोंके सामने पछाड़ खाकर गिर पड़ा और उसके मुँहसे एक चुल्लू रक्त फर्शपर निकल पड़ा। वही रक्त अपनी कमाईरूपमें रखकर उसके प्राणपखेरू शरीर छोड़कर उड़ गये!

(नोट—चारों मित्र सत्, सत्+रजस्, रजस्+तमस्, और तमस् हैं। पहाड़ी प्रदेशका गाँव आत्माका निवासस्थान है और पञ्चनद देशका नगर पाञ्चभौतिक शरीर है। नगरसे लौटकर घर आना शरीर त्यागकर आत्माका लौटना है। सत्की कमाई भूलोकमें लोगोंपर प्रकट नहीं होती परन्तु वह अक्षतरूपमें आत्माके साथ सत्यलोकतक जाती है। सत्+रजस्की कमाई उन पुण्योंके रूपमें होती है जो मनुष्य यश और कीर्तिके लिये करता है—उसके कान सदा प्रशंसारूपी झंकारको सुननेके लिये लालायित रहते हैं। ऐसी कमाई अपनी चमक खो देती है और स्वर्गके आगे उसकी गति नहीं होती। रजस्+तमस्की कमाई अधिकतर मार्गमें ही व्यय हो जाती है और संकेतमात्रमें ऊपरके लोकोंमें पहुँच सकती है—भुवर्लोकके आगे उसकी गति नहीं होती। तमस्की कमाई तीन चौथाई मृत्युके पहले ही नष्ट हो जाती है और शेष मार्गमें समाप्त हो जाती है। ऐसी कमाई मृत्युके उपरान्त चिन्ता तथा सन्तापका कारण बनती है और ऐसे मनुष्यकी आत्मा केवल हाज़िरी देकर तुरंत भूलोकको लौट आती है। समय रहते हम सबको सोच लेना चाहिये कि हमारी कमाई किस ओर जा रही है—अन्तमें पछताने और पछाड़ खाकर गिरनेसे क्या होगा।)

* * *

साधन-मार्ग

सुन तेरा अनोखा विहाग भला, किसके वशमें रहता मन है;
जिस देशकी राह नहीं मिलती, बन जाता उसीका पथिक जन है।
आवास अनन्त आकाश बने, जगकी पीड़ा जिसका धन है;
दुखमें सुख हानिमें लाभ रहे, न यहाँ मन है न वहाँ तन है॥

× × ×

उसे देखे विना सुख पाता नहीं, चिर काल वियोगमें रोता नहीं;
नित चाहता है वह आन मिलें, चितमें अनुरागको बोता नहीं।
प्रतिपल मृदु ध्यान रहे उसका, उसके मनमें मन खोता नहीं;
'मैं' 'तू' के विभेदको धोता नहीं, उसमें मिल एक तू होता नहीं॥

× × ×

निज नेत्रसे स्वातिका वारि वहा, पी कहाँ? पी कहाँ? तू मचाता नहीं;
नव शीतल मन्द समीरणको, अपना सुसँदेश सुनाता नहीं।
मृदु वेदनाको स्पृहाकी तरह, मन-मन्दिरमें तू वसाता नहीं;
शुचि-प्रेम-प्रदीप जलाता नहीं, कलपाता, उन्हें कल पाता नहीं॥

—गोस्वामी हितानन्द

* * *

छोटा-बड़ा कौन है ?

(लेखक—महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा)

यह मानवदेहधारी जीव अपने विचारोंका अभिमानी होकर अपने-आपको महान् समझे हुए है। अन्य सांसारिक छोटी-बड़ी विभूतियोंका हमें क्या पता कि वे अपने मनमें अपने-आपको क्या समझे बैठी हैं। हमें क्या पता कि एक चींटी अपने मनमें क्या अभिमान रखती है। जब कि यह मनुष्य ही मनुष्यजातिमें अपनी बुद्धि-विवेचनाके द्वारा यह पता न लगा सका कि कौन छोटा और कौन बड़ा है, तो हमें विश्वकी किसी भी वस्तुको छोटा या बड़ा कहनेका क्या अधिकार है? जब कि यह सब प्रपञ्च मायामय ही है तो यह सब सामग्री एक ही भावकी हुई। यह जो कुछ नाम-रूपात्मक जगत् दृष्टि आता है इसमें पदार्थ तो सब एक समान ही हैं। मिट्टीका बना हुआ राजा खिलौना, मिट्टीके सेवक खिलौनेसे अभिमान तो करता है परन्तु उसे यह नहीं मालूम कि तेरी और उसकी मिट्टीमें क्या अन्तर है।

यदि गन्ना अपने माधुर्यगुणसे अपने-आपको महान् समझता है तो गिलोय भी अपने गुणोंमें कोई शानी नहीं रखती। यदि ह्वेल मछली अपने-आपको मशीन समझकर अभिमान करती है तो एक छोटा कीट भी अपने-आपको एक सूक्ष्म पुर्जा समझकर उसे ठोस बतलाता है। यदि मनुष्य विविध विद्याओंमें पारंगत हुआ अभिमान करता है तो चींटी भी अपनेमें विचित्र प्राणशक्तिका अनुभव करके मन-ही-मन फूल सकती है।

तात्पर्य यह कि वही एक परमात्मा अपनी विभूतियोंमें आप ही बैठा हुआ अपनेको सबसे बड़ा कह रहा है। वास्तवमें न कोई बड़ा है, न कोई छोटा। इन विविध वर्णकी हंडियोंमें वही एक परमात्मा उफन रहा है।

एक ही प्रकाश भिन्न-भिन्न प्रकारके शीशोंमेंसे विविध रंगका होकर भास रहा है। वह ईश्वर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुके भी उतना ही निकट है जितना एक बृहद्-से-बृहद् विभूतिके। वह सबके समीप है और सबसे दूर है।

जो नग़मा सोज़में है वही साजमें है।
फर्क नजदीको दूरकी आवाजमें है॥

उस विभुकी प्रत्येक स्वल्प और महान् विभूति अपने रंग-रूपमें परिपक्व होकर जहाँसे निकली है, उसी अपने उपादान कारण ईश्वरमें विलीन हो जाती है। प्रत्येक विभूतिका गुण, आकार, प्रकार, धर्म और समय जितना, जैसा नियत है उतनी ही सीमामें वह अपनी थिरक दिखलाकर उसी महापटकी ओटमें लय हो जाती है। यह जो मनुष्य 'धर्म-धर्म' कहता-सुनता है, उसी ईश्वरकी वाणी है। आप ही अपनेसे बने हुए आवरणसे आच्छादित हुआ अपनी महत्ताका ध्यान धरता हुआ इस आवरणसे निकल जाता है। विश्वकी प्रत्येक विभूति अपने-अपने ठेकेमें अपने निर्मल और सूक्ष्म स्वरूपकी ओर अपना-अपना आलाप अलाप रही है।

क्योंकि वह आप ही सब विभूतियोंमें विराजमान है। इसलिये कोई भी एक विभूति दूसरी विभूतिको अपनी ऐंठसे नहीं गाँठती है। दो समानके स्वत्वाधिकारियोंमें छोटा-बड़ा कौन?

एक राजाके दो पुत्र हों और उन दोनों पुत्रोंको पृथक्-पृथक् यह ज्ञान हो कि वही एक राज्याधिकारी है, तो वे दोनों परस्पर राज्याभिमानी हुए एक दूसरेको

तिरस्कृत करते हैं । इसी प्रकार चींटीसे लेकर ब्रह्मातककी दशा है । सबमें एक ही सत्ता है । चींटी यदि ब्रह्माको आँख बताती है तो वह क्या छोटे बापकी बेटी है ? उसमें भी तो वही ऐंठ रहा है जो ब्रह्मामें है ।

जब वह आत्मा अपने सूक्ष्म और निर्मल स्वरूपमें निकलकर खड़ा होता है तो सब विभूतियोंमें वह आप-ही-आप दृष्टि आता है । उसको यह समस्त संसार (जड-चेतन) यह और वह, मैं और तू, हाँ और नहीं, अपनेहीसे उत्पन्न हुआ दृष्टि आता है । कोई भी मनुष्य दूसरेकी बातोंको सुन-सुनाकर इस मायाजालसे नहीं निकल सकता । यह दूसरोंका कहना-सुनना आत्माका उस व्यक्तित्वके भीतर अपनी मायामें बिखरा हुआ पन है । कोई भी पुरुष अपने संकल्पसे अपने आत्मा (ईश्वर) को पानेके लिये उसमें तत्पर हुआ, उसका प्रेमी बनकर उसे पा लेता है ।

कठोपनिषद्में आया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
(कठ० १ । २ । ७)

अर्थात् बहुतोंको तो इस आत्माके विषयमें श्रवण ही नहीं प्राप्त होता और बहुत-से सुननेपर भी इसे नहीं जानते । इस आत्मतत्त्वका वक्ता भी आश्चर्यरूप है और इसको प्राप्त करनेवाला श्रोता भी कोई कुशल पुरुष ही है । फिर इस तत्त्वका ज्ञाता (श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ कुशल आचार्यद्वारा उपदेश किया हुआ) भी आश्चर्यस्वरूप है । अर्थात् मिलना और पहचानना दोनों ही महान् दुर्लभ हैं ।

भगवती श्रुति कहती है कि इस आत्मतत्त्वकी प्राप्ति महान् दुर्लभ है साथ ही बहुत सुगम है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठ० १ । २ । २३)

अर्थात् यह आत्मा न तो वेदादिके अध्ययनसे प्राप्त हो सकता है, न गुंच—धारणाशक्तिसे, और न अनेक शास्त्रोंके सुननेसे ही । (तो इस आत्माको कौन जान सकता है ?) जो इसका वरण करता है—इसे यथार्थमें चाहता है । उसी प्रेमीके प्रति यह अपने स्वरूप-तत्त्वको प्रकट कर देता है ।

क्योंकि यह आत्मा जिस प्रकार, जिन कारणोंसे मायामें लिप्त हुआ है, उसी पथसे रस लेता हुआ, सरल विधिसे अपने-आपेमें आ स्थित होता है । जैसे—वृक्षका बीज, वृक्ष, फल और फूल होकर फिर बीज हो जाता है इसी प्रकार यह मानवी देह वृक्षरूप है । इसका बीज वही आत्मतत्त्व है । जबतक आत्मा अपने भावको प्राप्त न होगा तबतक यह शरीररूपी वृक्षमें अंकुरित होता ही रहेगा ।

जैसे वृक्ष तो भूमिसे रस खींचते हैं, अमरबेल धरतीके आधार बिना, केवल वृक्षपरसे ही रस खींचती है इसो प्रकार ये जीव-जन्तु चलते-फिरते हुए ब्रह्माण्डसे अपना रस लेते रहते हैं । विविध जीवोंके रूप-गुण उनके अपने-अपने सङ्कल्पोंके आधारपर हैं । मुख्यतः अपने सङ्कल्पको ही शुद्ध और सबल बनाना है । यह छोटा-बड़ा सब सङ्कल्प मात्र ही है । अर्थात् सङ्कल्प ही छोटा और बड़ा है ।

* * *

कल्याणके नियम

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≶) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है, अतः ग्राहक श्रावणसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु श्रावण-अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेके आरम्भ होते ही कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) श्रावणसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला श्रावण-अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही श्रावणका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर आषाढ़तक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। कल्याणके सातवें वर्षसे भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया जा रहा है।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार और उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

अनन्यता

"एक भक्त था, वह घूमते-घूमते एक पहाड़पर जा पहुँचा । वहाँ बहुत-से रोगी बैठे थे, उनको तरह-तरहकी भयानक बीमारियाँ थीं । भक्तने पूछा 'तुमलोग सब यहाँ क्यों बैठे हो ?' उन्होंने कहा 'यहाँ इस गुफामें एक महात्मा रहते हैं, वे सालभरमें एक बार गुफासे निकलते हैं और फूँक मारकर रोग अच्छा कर देते हैं । आज उनके निकलनेका दिन है, इसीलिये हमलोग यहाँ आये हैं ।' उनकी ऐसी बात सुनकर वह भक्त भी वहाँ ठहर गया । थोड़ी देरमें एक तेजपुञ्ज तपस्वी महात्मा गुफासे निकले और बारी-बारी सबको फूँक मारकर अच्छा करने लगे । जब सब रोगी अच्छे हो गये तब भक्तने दौड़कर उनका पल्ला पकड़ लिया और कहा कि 'महाराज ! मेरे मानसिक रोगोंका भी नाश कीजिये ।' महात्मा घबराये हुए-से बोले—

'अरे भक्त ! तुमने तो प्रभुका पल्ला पकड़ा है न ? फिर मेरा पल्ला क्यों पकड़ते हो ? पतिव्रता स्त्री क्या अपने स्वामीको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकती है ? जल्दी छोड़ दो मेरा पल्ला । प्रभु सब देख रहे हैं, वे तुम्हें मेरा पल्ला पकड़े और मुझे तुमसे पल्ला पकड़ाये देखकर कहीं तुमको मेरे, और मुझको तुम्हारे सुपुर्द कर देंगे तो हमारा सर्वनाश ही हो जायगा ।' यों कहते हुए महात्मा जोरसे पल्ला छुड़ाकर गुफामें घुस गये !"

चैत्र १९९३ वि०

श्रीहरिः

प्रार्थना

संत-अंकके लिये लेख, जीवनी और चित्र कृपापूर्वक बहुत ही शीघ्र भेजिये। जल्दी ही छपाई शुरू होगी। सूची लंबी होनेके डरसे उसमें थोड़े ही संतोंके नाम लिखे गये थे। जीवनी भेजनेमें ऐसा नहीं समझकर किन्हीं भी सन्तकी जीवनी भेज सकते हैं।

कल्याण चैत्र संवत् १९९३ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१–देखकर भी नहीं देखता [कविता] (श्रीनागरीदासजी) ··· ··· ··· १२२५
२–दण्डी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके उपदेश (प्रे०–भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· १२२६
३–परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) १२२८
४–रासलीला-रहस्य (एक महात्मा) ··· १२३४
५–स्मरण-साधन (स्वामी श्रीचित्रसेनजी महाराज) १२३९
६–भक्तकी भावना [कविता] (श्रीरामाधारजी त्रिपाठी 'जीवन') ··· ··· १२४०
७–धूलमें [कविता] (श्रीभुवनेशजी मिश्र) ··· १२४१
८–कर्तव्य-मीमांसा (साधु श्रीप्रज्ञानाथजी) ··· १२४१
९–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· ··· ··· १२४७
१०–सर्ववित्का सर्वभाव (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे) ··· ··· ··· १२४९

पृष्ठ-संख्या

११–नवधा भक्ति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२५२
१२–अध्यात्मविद्याका महत्त्व (म० श्रीबालकरामजी विनायक) ··· ··· १२५६
१३–क्या संसार सत्य है ? (तिरुवन्नमल्लेके संत श्रीरमण महर्षिका उपदेश, उनके एक शिष्यद्वारा प्राप्त) ··· ··· १२५७
१४–अध्यात्म-शक्तिसे लाभ (पण्डित श्रीलालजी रामजी शुक्ल, एम० ए०) ··· ··· १२६२
१५–मधुर अनुभूति (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) १२६७
१६–तुलसीकृत रामायणमें करुण-रस (श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०) १२७७
१७–वैष्णवोंके श्रीकृष्ण (प्रो० श्रीअमूल्यचरण विद्याभूषण) ··· ··· ··· १२८२
१८–श्रीविदेहराजका मण्डप (पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) ··· ··· ··· १२८९
१९–पञ्च-सकार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· १२९२

श्रीगीता-परीक्षा-समिति, बरहज (गोरखपुर) सं० १९९३ वि० का परीक्षा-फल

उत्तमा (द्वितीय खण्ड)

द्वितीय श्रेणी—२

उत्तमा (प्रथम खण्ड)

द्वितीय श्रेणी—१, ६

उत्तीर्ण—७, ९

मध्यमा (द्वितीय खण्ड)

प्रथम श्रेणी—१४, १५, २३, ४३, ५३, ६६।

द्वितीय श्रेणी—५, ७, ८, १०, १२, १३, २२, २५, $\frac{२६}{अ}$, २७, ३४, ३५, ३६, ३८, ४४, ४५, ४७, ५२, ५७, ५९, ६२, ६४, ६५, ७०, ७२, ७३, ७६।

तृतीय श्रेणी—११, २४, २८, ६३, ७७, ७८।

उत्तीर्ण—२, ३, ४, ३१, ३९, ४६, ५८, ७४।

मध्यमा (प्रथम खण्ड)

प्रथम श्रेणी—१, २, ३, ४, ५, १६, १८, २२, ३३, ३४, ४४, ५०, ५४, ६५, ६७, ७१, ८४, ८६, ८७, ८९, ९९, १०१, १०२, ११४, ११५, ११६, १२४।

द्वितीय श्रेणी—७, ९, ११, १२, २३, २४, २५, २९, ३१, ३५, ३८, ४०, ४१, ४२, ४६, ५१, ५६, ५७, ५८, ५९, ६३, ६८, ६९, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८१, ८२, ८३, ८८, ९१, ९५, ९८, १००, १०३, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, ११३, ११७, ११९, १२०, १२२।

तृतीय श्रेणी—१०, ६२, ८०।

उत्तीर्ण—६, ८, २६, ४५, ९२, ९७, १०४, १२१।

प्रथमा

प्रथम श्रेणी--१, ५, ६, २३, २५, ३१, ३३, ४९, ५१, ५६, ६०, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८९, ९६, ९८, १०८, ११२, ११३, ११९, १२०, १२३, १२५, १३६; १३७, १४१, १४७, १५०, १५२, १६९, १७१, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८१, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९१, १९२, १९३, १९४, १९६, १९७, १९८, २०१, २१७, २४५, २५१, २५३, २५४, २५५, २५९, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २७१, २७२, २७५, २७८, २८५, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१७, ३२०, ३२२, ३२८, ३३३, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९; ३५१, ३५३, ३५४, ३५७, ३५८, ३५९, ३६२, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७७, ३७८, ३७९, ३८१, ३८३, ३८४, ३८६, ३८७, ३८८, ३९३, ४०१, ४०२, ४०७, ४१०, ४११, ४१७, ४२२, ४२३, ४२७, ४२८, ४३२, ४३८, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६; ४८७, ४८८, ५१२, ५२७, ५३७, ५३८, ५४०, ५४१, ५४२, ५४८, ५५८, ५६१, ५६२, ५६४, ५६७, ५७३, ५७८, ५७९, ५८१, ५८४, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९६, ५९८, ६०१, ६१६, ६१७, ६२७, ६२८, ६३८, ६४०, ६४७, ६४८, ६५०, ६५३, ६५६, ६५९, ६७१, ६७५, ६७७, ६७८, ६८०, ६८२, ६९५, ७१४, ७१६, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२९, ७३७, ७४०, ७४१, ७४२, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४।

द्वितीय श्रेणी—२, २८, २९, ३०, ३२, ३४, ३६, ३८, ४३, ४५, ४६, ४७, ५०, ५२, ५४, ५७, ५८, ६१, ६६, ७१, ८८, ९०, ९७, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०७, १०९, ११०, १११, ११६; १२१, १२७, १३१, १३८, १४३, १४६, १४९, १६५, १८०, १८४, १९९, २००, २०४, २१९, २२४, २४३, २४६, २४८, २४९, २६०, २६८, २८०, ३०३, ३१४, ३१६, ३१८, ३१९, ३२१, ३२५, ३२९, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३५२, ३५५, ३५६, ३६१, ३७५, ३७६, ३८२, ३८५, ३८९, ३९७, ३९८, ४०३, ४०६, ४१५; ४१८, ४२६, ४३७, ४४४, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५५, ४५६, ४७७, ५०७, ५११, ५१३, ५१४, ५१६, ५१८, ५२३, ५२८, ५३९, ५४९, ५५७, ५५९, ५६३, ५६५, ५६६, ५६८, ५७२, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५८२, ५८५, ५९०, ५९१, ५९७, ६०४, ६०८, ६१५, ६३४, ६४४, ६५५, ६६३, ६६७, ६७२, ६७३, ६७९, ६८४, ६९६, ६९९, ७००, ७१५, ७२३, ७२५, ७२८, ७२९।

तृतीय श्रेणी—३५, ३७, ४४, ५५, ६३, २०२, २१३, २९८, ३९४, ४००, ४०९, ५१५, ५२०, ५५०, ७४३।

उत्तीर्ण—६४, $\frac{\text{६५}}{\text{अ}}$, ७२, ९५, १०६, ११७, १३३, १३५, १४२, १७२, १७३, २०३, २१४, २१८, २२५, २४०, २५२, २५७, २५८, २७०, २८२, २८३, २८४, २९०, २९३, २९७, ३१५, ३२४, ३३०, ३३१, ३३२, ३३४, ३४२, ३६०, ३९१, ३९५, ३९६, ४०४, ४०५, ४३१, ४५८, ४९५, ५२४, ५२९, ५४७, ५५४, ५५५, ५७०, ५७१, ६०७, ६६०, ६९७, ७०४, ७०७, ७०९, ७२४, ७२६।

नोट—लालगंज (मुजफ्फरपुर) और उगनियाँ (विलासपुर) की परीक्षा नियत तिथिपर न होनेके कारण फल नहीं प्रकाशित हुआ।

भवदीय
संयोजक

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

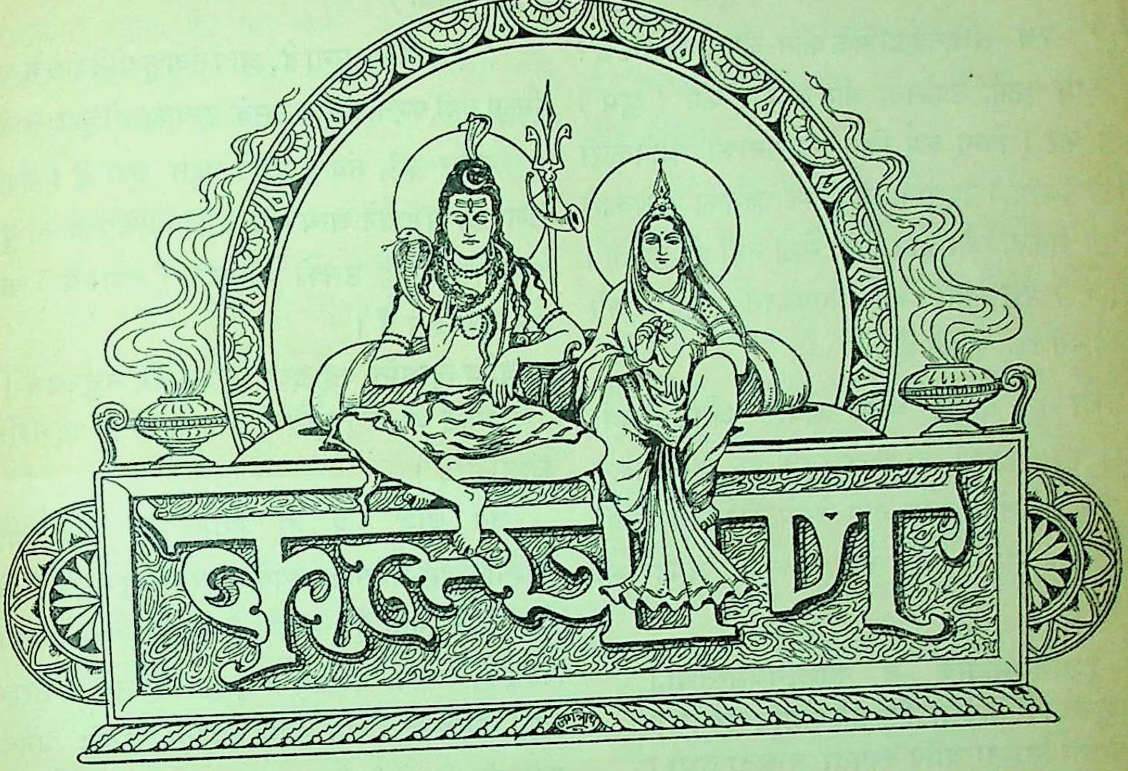

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, चैत्र १९९३, अप्रैल १९३७ { संख्या ९
पूर्ण संख्या १२९

देखकर भी नहीं देखता ।

दरपन देखत, देखत नाहीं ।
बालापन फिरि प्रगट स्याम कच बहुरि स्वेत ह्वै जाहीं ॥
तीन रूप या मुखके पलटे नहिं अयानता छूटी ।
नियरे आवत मृत्यु न सूझत, आँखें हियकी फूटी ॥
कृष्ण-भगति-सुख लेत न अजहूँ बृद्ध देह दुखरासी ।
नागरिया सोई नर निहचै जीवत नरक-निवासी ॥

—नागरीदासजी

दण्डी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके उपदेश

(प्रे०—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

(१) **प्रश्न**—श्रीभगवत्प्राप्तिके कौन-कौनसे साधन हैं ?

उत्तर—कर्म, उपासना और ज्ञान । कर्म (शुभ) अवश्य करे । बिना कर्म किये उपासनाका अधिकारी नहीं हो सकता । उपासना किये बिना ज्ञानका अधिकारी नहीं हो सकता और ज्ञान बिना मोक्ष नहीं हो सकता ।

(२) **प्रश्न**—क्या भगवन्नामकीर्तन शूद्र और अन्त्यज भी कर सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, वैदिक मन्त्र ओंकार और गायत्री मन्त्रको केवल त्रिवर्ण, जो संस्कारयुक्त हों, कर सकते हैं । और राम-नाम, कृष्ण-नाम लेनेमें कोई नियम नहीं है । उनको सभी वर्ण तथा अन्त्यज आदि भी ले सकते हैं ।

न देशनियमश्चात्र न कालनियमस्तथा ।
नाशुद्ध्यादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामनि लुब्धकाः ॥
गच्छता तिष्ठता वापि स्वपता जाग्रता तथा ।
शयानेनोपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा ॥

हरिके नाम लेनेमें देश और कालका नियम नहीं है, और अशुद्धि आदि यानी सूतक-पातकमें भी निषेध नहीं है, चलते, खड़े, सोते-जागते, लेटे अथवा बैठे हुए ही सदा नारायणका नाम जपा जा सकता है । द्विजोंको सन्ध्यावन्दनसे निवृत्त होकर अवश्य श्रीभगवन्नाम लेना चाहिये । लेकिन सन्ध्यावन्दन, गायत्रीजप आदिकी अवहेलना करके केवल भगवन्नाम लेना और नित्यकर्म छोड़ देना भगवद्-आज्ञाके विरुद्ध है । जैसे कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते ।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी न मद्भक्तो न मत्प्रियः ॥

श्रुति और स्मृति मेरी दो आज्ञाएँ हैं । जो इन दोनोंका उल्लङ्घन करता है वह मेरा द्वेषी है, वह न मेरा भक्त है, न मेरा प्यारा है ।

(३) **प्रश्न**—सुना है, आप तंबाकू पीनेवालेके घरकी भिक्षा नहीं करते और न उसके हाथका ही कुछ खाते हैं ।

उत्तर—हाँ, तंबाकू पीना बहुत बुरा है । तंबाकूमें नशा है, मनुष्यमें अन्य पशु आदिकी अपेक्षा जो बुद्धिकी विशेषता है उसको ये मादक (नशीली) वस्तुएँ कम कर देती हैं ।

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

अर्थात् जो वस्तु बुद्धिका लोप करती है वह नशीली कहलाती है ।

जब बुद्धि नष्ट हो गयी तो 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' इस श्रीभगवद्वाक्यके अनुसार वह मनुष्य जीवित ही मृतकके समान है । तंबाकू पीना ईश्वरीय नियमसे भी विरुद्ध है, क्योंकि जो खाद्य वस्तु होती है उसे अन्तरात्मा ग्रहण करता है, और उनसे शरीरमें रसादि बनकर शरीरकी पुष्टि होती है । परन्तु तंबाकू पिया हुआ, खाया हुआ, सूँघा हुआ बाहरको फेंक दिया जाता है । इसीसे सिद्ध होता है कि इसे अन्तरात्मा ग्रहण नहीं करता । और यत्किञ्चित् अंश जो भीतर रह जाता है वह बुद्धि और स्वास्थ्यको बिगाड़ता है ।

(४) **प्रश्न**—बहुत-से संन्यासी कहते हैं कि हम चाहे जो करें हमें पाप नहीं लगेगा । वे पाप करते भी देखे गये हैं । क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—जिस प्रकार जंगली हाथीको पहले जब पकड़कर लाते हैं तब उसके लिये अंकुशकी जरूरत होती है, और उसके साधनेके अनेक उपाय प्रयोगमें लाये जाते हैं, परन्तु जब वह शान्त हो जाता है और सध जाता है तो बिना किसी साधनके ही उससे काम ले सकते हैं, और फिर उससे कोई भय नहीं रहता । इसी प्रकार ज्ञानी जबतक योगपर पूर्णरूपसे आरूढ़ नहीं हो जाता तबतक अनेक प्रकारके यम,

नियम आदि साधनोंका अनुष्ठान करता है, जिससे मन और इन्द्रियाँ कुमार्गमें न जायँ । परन्तु जब वह योगारूढ़ हो जाता है, तब सारी अशुभ वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं । उस अवस्थाको लेकर ऐसे वचन शास्त्रोंमें आये हैं कि ज्ञानी कुछ भी करे उसको कोई दोष नहीं है, क्योंकि पापोंका कारण है अशुभ वासना, और वह अशुभ वासना उसके हृदयसे निर्मूल हो ही चुकी है। तो भला फिर वह पाप करेगा ही कैसे? महात्मा लोग मर्यादा थोड़े ही तोड़ते हैं । जो मर्यादा तोड़ते हैं वे महात्मा थोड़े ही हैं ।

(५) **प्रश्न**—कुछ लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णका भगवान् होकर गोपियोंके साथ रासक्रीडा करना क्या दोषकी बात नहीं है ?

उत्तर—वे इस विषयको क्या जानें । हम उनसे एक बात पूछते हैं, वे हमारी बातका उत्तर दें । तुम श्रीकृष्णको साधारण मनुष्य मानते हो या पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द भगवान् ? अगर मनुष्य मानते हो तो जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण रास करते थे उस समय उनकी अवस्था केवल आठ-दस वर्षकी थी । भला, इस अवस्थाके बालकके मनमें कभी बुरे विचार उत्पन्न हो सकते हैं ? और सात ही वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गोवर्धन पर्वतको अपनी उँगलीपर उठाया था । भला, बताओ मनुष्य क्या पर्वतको उठा सकता है ? अगर कहो कि हम परमात्मा मानते हैं तो देखो, अगर कोई मनुष्य किसी दूसरेकी स्त्रीको छूवे तो वह दावा कर सकती है, उसे बुरा-भला भी कहा जा सकता है । लेकिन जब स्त्री जलमें स्नान करती है तो उसे जल सब जगहसे छूता है लेकिन उसे कोई कुछ नहीं कहता । इसी प्रकार वायु भी उसे छूता है और सूर्य भी उसे छूता है लेकिन उन्हें कोई भी कुछ नहीं कहता । ऐसे ही परब्रह्म परमात्मा भगवान्से कोई भी अपनेको छिपाकर नहीं रख सकता । भगवान् सभीका स्पर्श करते हैं—सभीके हृदयमें अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं, फिर दोष क्यों होगा ? कृष्ण पूर्णब्रह्म परमात्मा थे, इसमें संशय नहीं करना चाहिये ।

(६) **प्रश्न**—बहुत-से मनुष्य कहते हैं कि भगवान्को अवतार लेनेकी क्या जरूरत है, वे किसी औरको भेज सकते हैं ?

उत्तर—एक बार यही प्रश्न अकबर बादशाहने बीरबलसे भी किया था कि भगवान्को अवतार लेनेकी क्या जरूरत है, वह अपने बजाय किसी औरको भेज सकते हैं । बीरबलने कहा कि इसका उत्तर कुछ दिनों बाद दिया जायगा । बीरबलने किसी कारीगरसे बादशाहके लड़के-जैसा एक मोमका लड़का बनानेको कहा । कारीगर जब मोमका लड़का बना चुका तो बीरबलने बादशाहसे कहा कि चलिये, आज नौकामें बैठकर सैर करने चलें । बादशाह, बीरबल तथा कुछ नौकर नौकामें बैठकर चले । साथ ही बीरबलने उस मोमके लड़केको कपड़े आदि पहनाकर अपने पास बिठा लिया । बादशाहने उसे सचमुच अपना लड़का ही समझा । जिस समय नौका बीच नदीमें पहुँची तो बीरबलने एकदम उस मोमके लड़केको उठाकर नदीमें छोड़ दिया । बादशाह यह देखकर तुरन्त ही नदीमें कूद पड़े । बीरबलने उन्हें निकालकर सब हाल सुनाया और उनसे पूछा कि जब हम लोग यहाँपर कितने ही मनुष्य बैठे थे तब आप क्यों एकदम कूद पड़े ? आपने हमें बच्चेको निकालनेकी आज्ञा क्यों नहीं दी ? बादशाहने कहा कि 'मुझे अपने लड़केको गिरते देखकर उसके प्रेमके कारण किसीसे कुछ कहने-सुननेका होश ही न रहा । बीरबलने कहा कि 'इसी प्रकार जब भक्तोंपर भीड़ पड़ती है तब भगवान् भी उन भक्तोंको बचानेके लिये नंगे पाँव ही दौड़ पड़ते हैं । जोंक होती है वह अमृतसमान दूध नहीं पीती, खून ही पीती है । इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य भगवान्के चरित्रोंमें भी दोष ही देखा करते हैं ।

* * *

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

अविद्याजन्य कामसंसारका मुख्य कारण

हे जनक ! जन्म-मरणादिरूप संसारके विचारमें कई बुद्धिमान् महात्मा पुरुष ऐसा कहते हैं कि यह परमात्मा देव निर्गुण, असंग और सर्व भेदसे रहित है। ऐसा निर्गुण परमात्मा स्वभावसे किसी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थको उत्पन्न नहीं करता किन्तु अनिर्वचनीय अविद्याके सम्बन्धसे कामको उत्पन्न करता है, कामके बाद आकाशादि सर्व जगत्को उत्पन्न करता है। इसी अभिप्रायसे श्रुतियोंमें कामपूर्वक जगत्की उत्पत्ति कही है। 'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्'—परमात्मा देवने सृष्टिके आदिकालमें यह इच्छा की कि एक ही मैं बहुत रूपसे उत्पन्न होऊँ। इस प्रकारका संकल्प करके परमात्मा देवने सब जगत्को उत्पन्न किया। इत्यादि श्रुतियोंमें काममें ही समस्त जगत्की कारणता कही है।

हे जनक ! केवल श्रुतिप्रमाणसे ही काममें जगत्की कारणता सिद्ध नहीं होती किन्तु लोकके व्यवहारसे भी सिद्ध होती है, क्योंकि सब प्राणी प्रथम वस्तुकी कामना करते हैं और कामनाके बाद कार्यमें प्रवृत्त होकर अनेक प्रकारके संसारको प्राप्त होते हैं।

'काम' शब्दका अर्थ—हे जनक ! शास्त्रवेत्ता पुरुष काम, इच्छा, राग, स्पृहा इन चारों शब्दोंका भिन्न अर्थ नहीं मानते किन्तु एक ही मानते हैं, और जो बुद्धिमान् स्त्रीसंगको काम कहते हैं, वे भी स्त्रीके संगकी इच्छाको काम कहते हैं। इसलिये इच्छा ही 'काम' शब्दका मुख्य अर्थ है। यह इच्छारूप काम ही संसाररूप कुचलेके वृक्षका बीज है; विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय आदि अवस्थाओंवाला संसारी जीवात्मा संसाररूप वृक्षका फल है। गुरु-शास्त्रके उपदेशसे जाननेयोग्य नित्यसिद्ध शुद्धब्रह्म संसाररूप वृक्षका फल नहीं है। हे जनक ! कर्ता-भोक्तारूप संसारी जीवमें इच्छारूप कर्म प्रधान है, इस अर्थमें बुद्धिमान् पुरुष यह युक्ति कथन करते हैं कि इस लोकमें देहधारी जीव प्रथम यह इच्छा करता है कि मैं इस पदार्थको प्राप्त करूँ और इस पदार्थका त्याग करूँ। इस इच्छाके बाद वह पुरुष उस पदार्थकी प्राप्ति और उस पदार्थके त्यागका निश्चय करता है, निश्चयके बाद प्रिय पदार्थकी प्राप्ति और अप्रिय पदार्थके त्यागके लिये शुभ-अशुभ कर्ममें प्रवृत्त होता है और फिर इस लोक या परलोकके सुख-दुःखरूप फलको प्राप्त होता है। इसलिये इच्छारूप काम ही पुरुषोंके दुःखका कारण है।

शंका—हे भगवन् ! सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये यज्ञादि कर्म करनेवालोंको दुःखकी प्राप्ति किस प्रकार होती है ?

समाधान—हे जनक ! यद्यपि सकाम पुरुष सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये कर्म करते हैं, तो भी उनको सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि स्वर्गादिकी इच्छासे कर्म करनेवालोंको किञ्चित् साधनकी न्यूनतारूप वैगुण्यदोष अवश्य प्राप्त

होता है, उस दोषसे युक्त काम्यकर्म फलकी प्राप्ति नहीं कराते, उलटे पश्चात्तापद्वारा दुःखकी प्राप्ति कराते हैं, इसलिये सकाम पुरुषोंको किञ्चिन्मात्र भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती; यदि कभी वैगुण्यदोषरहित भी हो, तो भी काम्यकर्मसे प्राप्त हुआ विषयजन्य सुख दुःखसे मिश्रित होता है, इसलिये सकाम पुरुषोंको सुखकी प्राप्ति नहीं होती। हे जनक! कामरूप इच्छासे ही यह जीव जन्ममरणादि संसारको प्राप्त होता है। यही बात स्पष्ट करके निरूपण करता हूँ।

हे जनक! मरणकालमें भावी कर्मसे प्रेरा हुआ यह जीवात्मा ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक, भूमिलोक तथा नरक आदि जिस-जिस लोककी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उस-उस लोकमें स्थूल शरीरको प्राप्त होता है और वह जब पुण्यकर्मसे प्रेरा हुआ स्वर्गादि उत्तम लोकोंकी इच्छा करता है, तब स्थूल शरीरको त्यागकर स्वर्गादिमें देवता-शरीरको प्राप्त होकर नाना प्रकारके भोग भोगता है और पुण्यकर्मके क्षय होनेपर पूर्व कर्मोंके अनुसार भूमिलोकमें स्थूल शरीरको प्राप्त होता है। भूमिलोकमें भी यदि वह भारतखण्डमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन त्रैवर्णिक शरीरोंमेंसे किसी शरीरको प्राप्त होता है, तो पूर्व संस्कारोंके वश फिर स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये यज्ञादि कर्म करता है और उन कर्मोंके वश फिर स्वर्गादिको प्राप्त होता है। इस प्रकार इच्छारूप कामसे युक्त कामी पुरुष भूमिसे स्वर्गको और स्वर्गसे भूमिको प्राप्त होता हुआ घटीयन्त्रके समान निरन्तर संसारमें भ्रमण करता है। यदि पापकर्म अधिक होते हैं तो भूमिलोकमें ही नरकको प्राप्त होता है। हे जनक! जैसे बीज जलके सम्बन्धसे अंकुरादि कार्योंको करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार पुण्यपापरूप कर्म इच्छारूप जलके सम्बन्धसे शरीररूप अंकुरको उत्पन्न करता है। इसलिये कामरूप इच्छासे ही यह जीवात्मा ब्रह्मलोक आदिमें नाना शरीरोंको प्राप्त होता है। हे जनक! जैसे जाग्रत् अवस्थामें इस पुरुषका जिस-जिस पदार्थमें उत्कृष्ट राग होता है उन पदार्थोंको स्वप्नमें प्राप्त होता है, उसी प्रकार मरणकालमें इस पुरुषको जिस-जिस शरीरमें राग होता है उस-उस शरीरको मरणके अनन्तर प्राप्त होता है।

शङ्का—हे भगवन्! मरणकालके समान जीवित अवस्थामें भी इच्छानुसार इच्छित पदार्थोंकी प्राप्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—हे जनक! वर्तमान प्रारब्धकर्मोंकी विद्यमानता और भावी शरीरकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें फलकी अजनकता, ये दोनों वाञ्छित पदार्थकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक हैं, इसलिये जीवित अवस्थामें वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति नहीं होती। मरणकालमें दोनों प्रतिबन्धोंके निवृत्त हो जानेसे जीवात्मा जिस शरीरकी इच्छा करता है उसी शरीरको प्राप्त हो जाता है। हे जनक! जैसे नट लोगोंके प्रसन्न करनेको नाना स्वाँग धारण करता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा कर्मफल भोगनेके लिये नाना शरीरोंको धारण करता है। इसलिये कामरूप इच्छा ही संसारचक्रका मूल कारण है। यही बात स्पष्ट करके कहता हूँ—'हे जनक! प्रथम यह जीवात्मा शुभ-अशुभ कर्म करनेकी इच्छा करता है, फिर उनके करनेका निश्चय करता है, फिर उनके करनेमें प्रवृत्त होता है, फिर उन्हीं कर्मोंके अनुसार शुभ-अशुभ इच्छा करता है, इस प्रकार कामरूप मूल कारणसे संसारचक्र सर्वदा चलता रहता है। तात्पर्य यह है कि चित्तरूप भूमिमें कर्मजन्य और ज्ञानजन्य दो प्रकारके संस्कार रहते हैं। उनमेंसे कर्मजन्य संस्कार फलके आरम्भकी सिद्धिके लिये इच्छा उत्पन्न करते हैं और ज्ञानजन्य संस्कार इच्छित कर्म करना चाहिये, ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करते हैं। कर्तव्यताज्ञानके अनुसार जीवात्मा शुभ-अशुभ कर्म करता है और उन कर्मोंके

संस्कारसे फिर कर्मकी इच्छा करता है, पूर्वके ज्ञानके संस्कारोंसे, यह कर्म कर्तव्य है, ऐसा निश्चय करता है और फिर कर्म करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्ममें जीवको प्रवृत्त करनेवाले निश्चयका इच्छारूप काम ही मुख्य कारण है, इसलिये इच्छा ही संसारका कारण है। इच्छाकी शान्ति करानेवाला कोई पदार्थ संसारमें है नहीं; न इच्छाकी शान्ति हो और न संसारकी निवृत्ति हो, यह चक्र है।

शङ्का–हे भगवन् ! विषयोंकी प्राप्ति ही शान्तिका उपाय है, विषयोंकी प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति हो सकती है।

समाधान–हे जनक ! विषयोंकी प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कामरूप अग्निसे युक्त पुरुषको यदि सम्पूर्ण पृथिवीके पदार्थ भी मिल जायँ तो भी इच्छाकी शान्ति नहीं होती, उलटी बढ़ती जाती है। यदि विषयोंकी प्राप्तिसे इच्छाकी शान्ति होती हो तो राजासे अधिक विषयोंकी प्राप्तिवाले देवराज इन्द्रके इच्छारूप कामकी निवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं, ब्रह्मलोककी इच्छा इन्द्रको जलाती रहती है। इसलिये इन्द्रपदवीकी प्राप्तिके लिये जो पुरुष अश्वमेधादि यज्ञ करता है उसके कर्मोंमें इन्द्र नाना प्रकारके विघ्न करता है और जब कोई दैत्य बलात्कारसे स्वर्गको ले लेता है तो इन्द्र ब्रह्मादि देवताओंके पास जाकर दीनता करता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वर्गके भोगोंसे इन्द्रकी इच्छा निवृत्त नहीं हुई है। जब दीर्घ आयु और प्रचुर भोगवाले देवताओंके कामकी भी निवृत्ति नहीं हुई, तो अल्प आयु और अल्प भोगवाले रोगादिकोंसे ग्रस्त जीवोंकी इच्छा किस प्रकार निवृत्त हो सकती है? नहीं हो सकती। हे जनक ! यद्यपि लोकप्रसिद्ध अग्निकी घृतादिसे शान्ति नहीं होती, फिर भी बहुत-सा घी डालनेसे बुझ जाती है, तथापि विषयरूप इन्धन कामरूपी अग्निको शान्त करनेवाले नहीं हैं, उलटे वृद्धि करनेवाले हैं। जैसे इस लोकमें कोई बलवान् पुरुष लोहेके कञ्चुकको पहनकर, शिविकामें चढ़कर शत्रुओंके भयसे रहित विचरता हो, उसी प्रकार जीवात्मा कामरूप कञ्चुक पहनकर सूक्ष्म शरीररूप शिविकामें बैठकर विवेकरूप राजा और शमादि सेनाके भयसे रहित हुआ चौरासी लाख योनियोंमें विचरता है। हे जनक ! जैसे इस लोकके तन्तुरूप सूत्र पटका कारण है, उसी प्रकार इच्छारूप सूत्र ही जगत्‌रूप पटका मुख्य कारण है। इसीलिये 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा' इस श्रुतिमें मनकी सब वृत्तियोंसे इच्छारूप कामको सबसे प्रथम कहा है।

शङ्का—हे भगवन् ! जन्म-मरणादि संसारदुःखके सब कारणोंमें अविद्या और मनको शास्त्रोंमें प्रधान कहा है, आप कामको ही संसारका कारण कहते हैं, इसमें क्या हेतु है ?

समाधान—हे जनक ! संसारके समस्त कारणोंमें अविद्याकी प्रधानता मनको अङ्गीकार करके ही शास्त्रोंमें कही गयी है और मनरूप कारणकी प्रधानता इच्छाको अङ्गीकार करके कही गयी है। इच्छारूप कामको आश्रयण करके यह मन सम्पूर्ण जगत्‌को जीत लेता है, इसलिये इच्छारूप काम ही प्रधान कारण है। हे जनक ! जो पुरुष इच्छारूप कामसे रहित है उसका संकल्पादि वृत्तियोंसहित मन और जगत्‌की जननी अविद्या किञ्चिन्मात्र भी दुःखकी प्राप्ति नहीं करा सकती। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति अवस्थामें काम नहीं होता, इसलिये सुषुप्तिमें अविद्या दुःखकी प्राप्ति नहीं कराती और समाधिमें मुक्त पुरुषके अन्दर इच्छारूप काम नहीं होता इसलिये मुक्त पुरुषको दुःख नहीं होता। यदि इच्छा बिना स्वतन्त्र ही मन और अविद्या दुःखके कारण हों तो सुषुप्ति और समाधिमें भी दुःख होना चाहिये। परन्तु वहाँ दुःख नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि इच्छारूप काम ही जीवोंके

संसारदुःखका कारण है। इच्छारहित पुरुषको विषय सुख अथवा दुःख नहीं पहुँचाते। इच्छारहित पुरुषका मन 'यह मुझे अवश्य करना है' ऐसे निश्चयको उत्पन्न नहीं करता। श्वास-प्रश्वास आदि व्यापारवाला प्राण, वागादिक दस इन्द्रियाँ, आकाशादि पञ्चभूत और पञ्चभूतके कार्य स्थूल शरीर इत्यादि सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान होते हुए भी इच्छारहित पुरुषको दुःखकी प्राप्ति नहीं करा सकते, इसलिये उसके लिये प्राणादि संघात होता हुआ भी न हुएके समान है। हे जनक! यौवनसे सम्पन्न स्त्रियाँ, हिंसा करनेवाले शत्रु, सुखकी प्राप्ति करानेवाला धर्म और दुःखकी प्राप्ति करानेवाला अधर्म, ये सब इच्छारहित पुरुषको किञ्चित् भी सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति नहीं करा सकते, इच्छावाले पुरुषको ही स्त्री आदिक प्रिय पदार्थ और शत्रुओंके अप्रिय पदार्थ सुख-दुःखकी प्राप्ति कराते हैं। इसलिये अन्वय-व्यतिरेकसे काम ही इन जीवोंके दुःखका कारण है और इच्छारहित पुरुष जीवन्मुक्तके समान है। हे जनक! जैसे यहाँ इच्छा करके जीव दुःख पाता है, उसी प्रकार आगे होनेवाले ऊँच-नीच शरीरोंमें भी दुःख पाता है, इसलिये सम्पूर्ण शरीरोंमें इच्छासे ही दुःख होता है।

मोक्षका निरूपण

हे जनक! पूर्वके पुण्यकर्मके प्रभावसे और साधनाभ्याससे जब यह पुरुष इच्छारहित हो जाता है तो फिर उसको दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे सुषुप्तिमें पुरुष सब कामनाओंका नाश होनेसे निष्कामभावको प्राप्त होता है, उसी प्रकार पूर्वके पुण्यकर्मसे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्यसे जब इस पुरुषकी सर्व कामना निवृत्त हो जाती है तब यह पुरुष निष्कामभावको प्राप्त होता है।

शङ्का—हे भगवन्! विद्वान् पुरुषमें सर्व कामनाओंका अभावरूप निष्कामता किस हेतुसे होती है?

समाधान—हे जनक! यह सकाम पुरुष अनेक जन्मोंमें भी जिन धन-पुत्रादि पदार्थोंको नहीं प्राप्त कर सकता उन सम्पूर्ण पदार्थोंको विद्वान् एक ही कालमें प्राप्त कर लेता है, इसलिये आप्तकाम विद्वान् पुरुष निष्काम होता है। क्योंकि अप्राप्त वस्तुमें ही जीवोंकी इच्छा होती है, प्राप्त वस्तुमें नहीं होती।

शङ्का—हे भगवन्! विद्वान् पुरुषको सर्व पदार्थोंकी प्राप्तिरूप आप्तकामतामें क्या हेतु है?

समाधान—हे जनक! सुवर्णरूप कारणके प्राप्त होनेपर जैसे सुवर्णमें कल्पित भूषण अवश्य प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंके उपादान-कारणरूप परमात्मा देवकी प्राप्तिसे विद्वान् पुरुषको सर्व पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसलिये आत्मकामरूप विद्वान् ही आप्तकामतामें हेतु है, यानी जो पुरुष आत्मकाम होता है वही आप्तकाम होता है, इसलिये आत्मकामता ही आप्तकामतामें हेतु है। जो आप्तकाम होता है वही निष्काम होता है, इसलिये आप्तकामता ही निष्कामतामें हेतु है। जो पुरुष निष्काम होता है वही अकाम होता है, इसलिये निष्कामता ही अकामतामें हेतु है। इसलिये परम्परासे आप्तकामता ही सर्व कामनाओंके अभावरूप अकामतामें हेतु है।

हे जनक! इस लोकमें सकाम अज्ञानी पुरुष जिन-जिन स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको प्राप्त करता है, वे सब नाशवान् हैं, इसलिये वे अज्ञानी पुरुषोंकी तृष्णाकी निवृत्ति नहीं कर सकते। किन्तु जैसे घृतादिकोंसे अग्निकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंसे अज्ञानी जीवोंका कामरूप अग्नि दिन-दिन बढ़ता जाता है। आत्मकामरूप विद्वान् अज्ञानी जीवोंके समान यत्नपूर्वक तथा बाह्यरूपसे स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको नहीं प्राप्त करता किन्तु सम्पूर्ण जगत् मेरा ही आत्मा है, इस प्रकार सर्वात्मताकी प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्यासे सर्व जगत्को आत्मारूप जानकर प्राप्त करता है। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा

अभेदज्ञान ही इच्छारूप कामकी निवृत्तिद्वारा परम आनन्दकी प्राप्तिका हेतु है।

हे जनक ! इस लोकमें सकाम पुरुषोंको धनादि पदार्थोंकी इच्छासे अत्यन्त दुःख होता है और सन्तोषी पुरुषोंको परम सुखकी प्राप्ति होती है। क्योंकि धनादिकी तृष्णावाले धनी पुरुष धनकी प्राप्तिके लिये राजादिकोंकी सेवा करनेसे परम दुःखको प्राप्त होते हैं और किञ्चिन्मात्र राजसुखको प्राप्त होते हैं, और कामनासे रहित यथालाभसन्तुष्ट सन्तोषी पुरुष दरिद्र होनेपर भी परम सात्त्विक सुखको प्राप्त होता है। इसलिये सर्व कामनाओंका अभावरूप सन्तोष ही सुखका कारण है। इसके सिवा तृष्णायुक्त धनी पुरुषोंको चोर, अग्नि, राजा आदिसे सर्वदा भय रहता है और सन्तोषी दरिद्रको उनसे भय नहीं होता, इसलिये सन्तोषी परम सुखी होता है। और सन्तोष थोड़े उद्यमसे ही सुखकी प्राप्ति कराता है, इसलिये सन्तोषमें सुखकी कारणताका निश्चय है और इच्छारूप काम महान् उद्यम करनेपर भी दुःखकी प्राप्ति कराता है, इसलिये इच्छारूप काममें सुखकी कारणताका संशय है। हे जनक ! जैसे चर्मका जूता मार्गमें चलनेवालेके सुखका कारण है, इसी प्रकार सन्तोष भी जीवोंके परम सुखका कारण है। हे जनक ! जैसे मार्ग चलनेवाला यह सङ्कल्प करे कि मैं सारी पृथिवीको कण्टकोंसे रहित और कोमल कर दूँ तो मेरे पैरमें कण्टक नहीं लगेंगे, तो ऐसा सङ्कल्प करनेवाला मूढ़ पुरुष पृथिवीको कण्टकरहित करनेके उद्यमसे परम दुःखको प्राप्त होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पृथिवी कण्टकरहित और कोमल होनी दुर्घट है, इसी प्रकार इच्छाके विषयरूप सब पदार्थोंको मैं प्राप्त होऊँ, इस सङ्कल्पसे जो पुरुष पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये यत्न करता है वह मूढ़ परम दुःखको प्राप्त होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्घट है।

हे जनक ! सर्व कामनाओंके त्यागसे जो सुख निष्काम पुरुषको होता है वह सुख चक्रवर्ती राजाको, स्वर्गमें देवराज इन्द्रको और ब्रह्मलोकमें ब्रह्माको भी नहीं है, क्योंकि इनके सुख कर्म-उपासनासे जन्य होनेसे नाशवान् हैं।

यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। (श्रुति)

'जैसे मनुष्यलोकमें शरीरके व्यापाररूप कर्मसे रचे हुए गृहादि पदार्थ काल पाकर क्षय हो जाते हैं, उसी प्रकार पुण्य-पापरूप कर्मरचित स्वर्गादि लोक काल पाकर क्षय हो जाते हैं।'

इस श्रुतिके प्रमाणसे और अनुमान-प्रमाणसे स्वर्गादि लोकोंकी अनित्यता सिद्ध होती है। जो पदार्थ घटादिके समान उत्पत्तिवाला होता है वह नाशवान् होता है। नाशवान् पदार्थ वियोगकालमें अवश्य दुःखकी प्राप्ति कराता है, इसलिये राजासे लेकर ब्रह्मापर्यन्त विषयजन्य सुख परिणाममें दुःखका हेतु होनेसे दुःखरूप ही हैं।

न सुखं सार्वभौमस्य विद्यते न विडौजसः।
ब्रह्मणो न सुखं यत्स्यात् पुंसः कामविवर्जनात्॥

'निष्काम पुरुषको जो सुख होता है वह सुख चक्रवर्ती राजाको, इन्द्रको तथा ब्रह्माको भी नहीं प्राप्त होता।' हे जनक ! इच्छारूप काम ही जीवोंके आत्मसाक्षात्कारमें प्रतिबन्धक है। जिस पुरुषका इच्छारूप काम निवृत्त हो जाता है वही गुरूपदिष्ट महावाक्यसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है। आत्मसाक्षात्कारसे निष्काम पुरुषके पुण्य-पापरूप सञ्चित कर्मोंका नाश हो जाता है। पुण्य-पापरूप कर्म ही वासनाकी उत्पत्तिद्वारा लोकान्तरकी प्राप्ति करानेवाले हैं, उनके नाश होनेसे विद्वान्को किसी लोककी कामना नहीं होती, इसलिये उसका लिङ्गशरीर लोकान्तरमें नहीं जाता किन्तु जैसे गृहमें स्थित दीपकका गृहमें ही लय हो जाता है, उसी प्रकार प्रारब्धकर्म समाप्त होनेपर मन-इन्द्रिय-

सहित विद्वान्के प्राण शरीरके भीतर ही आत्मारूप अधिष्ठानमें लय हो जाते हैं।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।' (श्रुति)

'जैसे मरणके अनन्तर अज्ञानी जीवोंके प्राण वासनानुसार लोकान्तरमें जाते हैं, उस प्रकार वासनारहित विद्वान्के प्राण लोकान्तरमें नहीं जाते किन्तु शरीरके भीतर ही लय हो जाते हैं।'

शङ्का–हे भगवन्! मरणकालमें प्राणादिके लय हो जानेपर विद्वान् पुरुषका चैतन्यभाग कहाँ जाता है?

समाधान–हे जनक! आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व विद्वान् अज्ञानसे आवृत ब्रह्मरूप होता है और आत्मसाक्षात्कारके बाद अज्ञानरूप आवरणसे रहित शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है। शुद्ध ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है! इसलिये ब्रह्मका जाना-आना नहीं हो सकता। जैसे घटमें स्थित आकाश घटके नाशसे पूर्व भी महाकाशरूप ही होता है परन्तु घटरूप उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश कहलाता है और घटके नाश होनेपर महाकाशरूप हो जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुषका आत्मा शरीररूप उपाधिके होनेपर भी ब्रह्मरूप ही है, शरीरकी उपाधिसे जीवात्मा कहलाता है और शरीरके नाश होनेपर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। हे जनक! जैसे अज्ञानका विषय हुआ शुद्ध आकाश गन्धर्वनगररूप वृक्षकी उत्पत्तिका क्षेत्र होता है, उसी प्रकार अज्ञानका विषय हुआ यह आत्मादेव कामरूप बीजसहित संसाररूप वृक्षकी उत्पत्तिका क्षेत्र होता है। और जैसे आकाशरूप अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे कल्पित गन्धर्वनगरकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अधिष्ठानरूप शुद्ध आत्माके साक्षात्कारसे संसाररूप वृक्षका नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्माके अज्ञानसे इच्छारूप कामकी उत्पत्ति होती है, इच्छारूप कामसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति होती है। इसलिये अज्ञानविशिष्ट आत्मा संसाररूप वृक्षकी उत्पत्तिका क्षेत्र है, और इच्छारूप काम बीज है। आत्मसाक्षात्काररूप अग्निसे अज्ञानका नाश हो जानेपर अज्ञानविशिष्ट आत्मारूप क्षेत्रका भी नाश हो जाता है। आत्मा नित्य है, इसलिये आत्माका नाश सम्भव नहीं, तो भी शुद्ध आत्मा संसाररूप वृक्षका क्षेत्र नहीं है, अज्ञानविशिष्ट आत्मा क्षेत्र है, अज्ञानरूप विशेषणका नाश होनेपर आत्मामें संसाररूप वृक्षकी क्षेत्ररूपता नहीं रहती। क्षेत्रका नाश हो जानेपर कामरूप बीजका नाश हो जाता है, कामरूप बीजका नाश हो जानेसे संसार-वृक्षका नाश हो जाता है। फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

हे जनक! पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा यह तीन प्रकारकी एषणा जब निवृत्त हो जाती है, तब यह पुरुष इस शरीरमें अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होकर मोक्षको प्राप्त हो जाता है। हे जनक! देहादिकोंमें अहं-अभिमानरूप अध्यास और देहके सम्बन्धी पुत्र-धनादिमें मम-अभिमानरूप अध्यास ही सर्व कामनाओंका कारण है। मरणके अनन्तर सभी जीव अहं-मम-अभिमानका त्याग कर देते हैं, परन्तु जो पुरुष जीते ही इनका त्याग कर देता है वह शरीरमें स्थित हुआ भी मुक्त ही है। क्योंकि हृदयमें इच्छारूप कामके निवासको ही बुद्धिमान् संसाररूप जीव कहते हैं, और हृदयमें इच्छाके अभावको मोक्ष कहते हैं। इच्छारूप कामका नाश ब्रह्मज्ञान बिना नहीं होता, ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्तिद्वारा इच्छारूप कामका नाश होता है। जिस पुरुषको जीवित अवस्थामें ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है वह शरीरमें स्थित भी मोक्षको प्राप्त होता है। इसलिये हे जनक! जब आत्मसाक्षात्कारके प्रकाशसे शरीरादि उपाधियोंके विद्यमान होते हुए भी विद्वान् पुरुष जीवन्मुक्तिको प्राप्त होता है तो शरीरादि उपाधियोंके नाश होनेपर विदेह-मुक्तिको प्राप्त हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

◆

रासलीला-रहस्य

लेखक—

एक महात्मा

[गतांकसे आगे]

इसका सीधा-सादा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि भगवान्ने योगमायाका आश्रय ले उनके लौकिक बन्धनोंका विच्छेद करनेके लिये उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की। भगवान्ने देखा कि ये गोपांगनाएँ जन्म-जन्मान्तरसे मेरी उपासना करनेके कारण मेरे साथ रमण करने योग्य हो गयी हैं, ये लोककृत लज्जादि बन्धनके योग्य नहीं हैं; किन्तु दूसरी ओर उन्होंने यह भी देखा कि वे लौकिक बन्धनोंसे बँधी हुई हैं। इस प्रकार उनका दोनों ओर खिंचाव है। तथापि वे हैं कैसी ?—'रात्रीः' अर्थात् अपनेको और अपने सर्वस्वको मेरे ही पादपद्मोंमें समर्पण करनेवाली हैं। इनके धन, रूप और जीवन सब मेरे ही लिये हैं। इनकी दृष्टिमें मेरे बिना जीवनका कोई मूल्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार उभयतःपाश रज्जुमें बँधा हुआ देखकर भगवान्ने अयोगाय—उनके लोक-कुल-लज्जादिरूप बन्धनके विच्छेदके लिये माया—कृपाका आश्रय लेकर उनके साथ रमणकी इच्छा की। इसीसे उन्होंने वेणुनादके द्वारा उनके लोक एवं कुल आदिके बन्धनोंको विच्छिन्न करके उन्हें प्रेमाकुल कर दिया।

अथवा—

अयस्कान्तमणिं प्रति अयोवत् गच्छति स्वभक्तान् प्रति या सा अयोगा; अयोगा चासौ माया कृपा अयोगमाया—

–जो अपने भक्तोंके प्रति इस प्रकार आकर्षित हो जैसे लोहा चुम्बककी ओर, उसका नाम अयोगा है, ऐसी जो अयोगा माया—कृपा है उसे ही अयोगमाया समझना चाहिये; क्योंकि भगवान्की कृपा भक्तोंके प्रति उसी प्रकार आकर्षित हो जाती है जैसे चुम्बकके प्रति लोहा। यद्यपि भगवान्की कृपा सर्वदा सर्वत्र है तथापि उसका आकर्षण करनेमें भक्तजन ही समर्थ हैं। अतः भगवान् भी उस कृपाके अधीन होकर उनके साथ रमण करनेको उद्यत हो गये, क्योंकि भगवान्की जो ऐश्वर्यशक्ति और मायाशक्ति हैं वे भी अपनी नियन्त्री इस कृपाशक्तिके ही अधीन हैं।

अथवा परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका जो दिव्य मङ्गलमय वपु है वह अयस्कान्तमणिके समान है, उसके प्रति जो अयः—लोहेके समान आकर्षित होती हैं वे व्रज-वनिताएँ ही अयोगा हैं। तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाएँ भगवान्के पास अपनी इच्छासे नहीं गयीं बल्कि भगवत्सौन्दर्यरूप अयस्कान्तने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अतः उनपर कृपा करके भगवान्ने वे रात्रियाँ बनायीं। अथवा—

स्वेन सह युज्यन्ते ये ते योगाः गोपदाराः तेषु या माया—कृपा तामुपाश्रितः योगमायामुपाश्रितः।

अर्थात् जो अपनेसे युक्त होनेवाली हैं वे गोपवधूटी ही योगा हैं, उनके प्रति जो माया—कृपा है उसीका नाम योगमाया है, उसका आश्रय लेकर उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। इस प्रकार अयोग और योग दोनों ही पदोंसे गोपाङ्गनाएँ अभिप्रेत हैं। अतः—

योगानामयोगानाञ्च या मा स्वविषयिणी प्रीतिमती मा* प्रमा स्निग्धा मानसी वृत्तिः सा योगमा।

अर्थात् योग और अयोग इन दोनोंकी ही जो अपने प्रति प्रेममयी मनोवृत्ति है वह योगमा है।

भक्ति और ज्ञान ये दोनों अन्तःकरणके ही परिणाम हैं। परमप्रेमास्पद भगवान्का जो अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक चिन्तन है वही भक्ति है। इसी प्रकार प्रमा भी अन्तःकरणकी ही वृत्ति है। परन्तु जो मानसिक द्रवताकी अपेक्षासे रहित अन्तःकरणकी प्रमेयाकाराकारित वृत्ति है उसका नाम

---

* प्रीतिर्द्रुतिः प्रणयो द्रवावस्था इति मधुसूदनस्वाम्युक्तेः।

प्रमा है और जो प्रमाण अथवा संस्कारजनित द्रवताकी अपेक्षावाली प्रेमास्पदाकारा वृत्ति है उसे भक्ति कहते हैं। वेदान्तमें जिन भक्ति और ज्ञानका विचार किया गया है उनके स्वरूप, साधन और फल श्रीमधुसूदन स्वामीने भिन्न-भिन्न बतलाये हैं। वे कहते हैं कि अन्तःकरणकी जो सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धा वृत्ति है वह भक्ति है और जो अन्तःकरणद्रवतानपेक्ष महावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति है उसे ज्ञान कहते हैं।

उनके कथनानुसार भक्तिके तीन भेद हैं—प्राकृत, मध्यमा और उत्तमा। उनमें प्राकृत भक्त वह है जो केवल भगवान्‌की प्रतिमाओंमें ही श्रद्धा रखता है और उन्हींकी पूजा करता है, भगवान्‌के भक्तों तथा अन्य पुरुषोंमें श्रद्धा नहीं रखता; यथा—

अर्चायामेव हरये पूजां यो श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

जो ईश्वरमें प्रेम करता है, भगवान्‌के आश्रित रहनेवालोंके प्रति मित्रताका भाव रखता है, मूर्खोंपर कृपा करता है और भगवद्द्वेषियोंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

तथा उत्तम भक्त उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपना भगवद्भाव देखता है, और समस्त प्राणियोंको अपने आत्मारूप भगवान्‌में देखता है, जैसा कि कहा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

ऊपरके श्लोकका तात्पर्य यह है—'आत्मनः स्वस्य त्वंपदार्थस्य भगवद्भावं तत्पदार्थत्वं सर्वभूतेषु पश्येत्' अर्थात् [जिस प्रकार उपाधिका बाध करनेपर घटाकाशकी महाकाशरूपसे व्यापकता है उसी प्रकार] जो समस्त प्राणियोंमें तत्पदार्थरूपसे त्वंपदार्थकी व्यापकता देखता है एवं भगवदभिन्न आत्मामें समस्त भूतोंको कल्पितरूपसे देखता है। अथवा 'आत्मनोऽन्तर्यामिणो भगवद्भावमैश्वर्यवत्त्वं नियन्तृत्वं सर्वत्र भावयेत् तथा भगवति परमैश्वर्यवत्यात्मनि आत्मनियम्यत्वेनाधेयत्वेन च भूतानि पश्येत्' अर्थात् जो सर्वत्र आत्मा यानी अन्तर्यामीका भगवद्भाव—ऐश्वर्यत्व अर्थात् नियन्तृत्व देखता है और भगवान्—परम ऐश्वर्यवान् परमात्मामें उसके नियम्य और आधेयरूपसे समस्त भूतोंको देखता है वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त है।

इनमें जो उत्तमा भक्ति है वह भी तीन प्रकारकी है। जहाँ भगवदाकाराकारित अन्तःकरणसे समस्त विद्यमान जगत्‌का भगवद्रूपसे ग्रहण किया जाय वह प्रथम कोटिकी उत्तमा भक्ति है। ऊपर जो उत्तमा भक्तिका लक्षण बतलाया है वह प्रथम कोटिकी ही है। दूसरी कोटिकी उत्तमा भक्ति वह है जहाँ भगवदाकाराकारित द्रुत अन्तःकरणसे प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक सबकी भगवद्रूपताका निश्चय किया जाय; जैसे कि कहा है—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥

और जहाँ प्रपञ्चके मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों ही भावोंसे रहित द्रुत चित्तसे केवल भगवान्‌का ही ग्रहण हो वह तीसरी कोटिकी उत्तमा भक्ति है; जैसे—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृतचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

इस प्रकार द्रुतचित्तकी भगवदाकारा मानसी वृत्तिको 'मा' कहते हैं; अयोगोंकी जो मा—प्रीति अर्थात् मति है वही 'अयोगमा' है, उस अयोगमामें उपाश्रित हुए अर्थात् व्रजांगनाओंकी ऐसी प्रीतिमती बुद्धिसे आकर्षित हुए भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। अर्थात् अपने प्रति जो ऐसी प्रीतिमती बुद्धि है उसके परतन्त्र हुए भगवान्‌ने उन गोपांगनाओंका आवाहन कर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की। क्योंकि भगवान् प्रेम-मधु-मधुकर हैं, और जो प्रेम-मधु-आकर सुमनसोंके सुमनस हैं उनके प्रति भगवान्‌का आकर्षण होना उचित ही है। उधर जिनका चित्त समस्त सुमनाओंके सुमनस श्रीभगवान्‌के प्रति आकर्षित होता है वे सुमना कहे जाते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति आकर्षित होना ही उनका सुमनस्त्व है। अतः शोभन स्वभाववालोंका सिद्धान्त यही है कि भगवान्‌से प्रीति करें। वही वाक् सुन्दर है जिससे भगवान्‌का गुणगान होता है, वे ही कर्णपुट धन्य हैं जिनसे भगवत्कथाओंका श्रवण होता है और वे ही चरण धन्य हैं जिनसे भगवद्धामोंमें गमन होता है। इसीसे अर्जुनसे भी भगवान्‌ने यही कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

यह बात तो अमना भगवान्‌के विषयमें है । ये व्रजांगनाएँ तो सुमनसोंकी शिरोमणि हैं । अतः उनका जो मन है वह तो प्रेमका आकर ही है । उनके प्रेमकणसे ही समस्त संसार प्रेममय हो रहा है । अतः इनके प्रेममधु-आकर मनका प्रेम-मधु-मधुप भगवान् समाश्रयण करेंगे ही । इसीसे भगवान्‌ने गोपाङ्गनाओंका आह्वान कर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की ।

अथवा योगमायामुपाश्रितः—इस पदका यह तात्पर्य समझो—'अन्यत्र चञ्चलापि भगवत्यचञ्चला या मा सा अगमा तस्यामुपाश्रितो यः' अर्थात् अन्यत्र चञ्चला होनेपर भी जो भगवान्‌के प्रति अचञ्चला है उस 'मा—लक्ष्मीको अगमा कहते हैं, उस अगमामें जो भगवान् उपाश्रित हैं उन्होंने रमणकी इच्छा की । यह बात गोपाङ्गनाओंके प्रेमसौष्ठवकी द्योतक है । इसीके पोषणमें यह भी अर्थ किया जाता है—'अगमा दुरवगममाहात्म्या या मा वृषभानुनन्दिनी तस्यामुपाश्रितः'—जिन श्रीवृषभानुनन्दिनीका माहात्म्य अत्यन्त दुर्बोध है उनमें आश्रित जो भगवान् उन्होंने रमणकी इच्छा की । इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजीका माहात्म्य तो सुज्ञेय है, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनीकी महिमा अत्यन्त दुर्बोध है । क्योंकि जिन श्रीभगवान्‌के कृपाकटाक्षकी समस्त देवगण अपेक्षा रखते हैं वे ही इनके कृपाकटाक्षकी बाट निहारा करते हैं । वे वृषभानुनन्दिनी कैसी हैं ? 'न गच्छतीति अगा, अगा अचला सदैकरूपा मा अङ्गशोभा सौन्दर्यलक्ष्मी यस्याः सा'—अर्थात् जिनके अंगकी शोभा सर्वथा अक्षुण्ण है उन्हीं श्रीराधिकाजीके अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्यसे मोहित हुए श्रीभगवान्‌ने उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की ।

यहाँतक अज्ञ और मुमुक्षुओंकी दृष्टिसे अर्थ किये गये; अब मुक्तोंकी दृष्टिसे व्याख्या करते हैं ।

ताः ज्ञानीरूपाः प्रजा वीक्ष्य ता आहूय ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे—

उस ज्ञानीरूपा प्रजाको देखकर उसका आह्वान कर उसके साथ रमण करनेकी इच्छा की । वह ज्ञानीरूपा प्रजा कैसी है ?—'ताः'—तदात्मिका अर्थात् भगवद्रूपा हैं, क्योंकि ऐसा कहा भी है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यादि । और कैसी हैं ? 'रात्रीः' अर्थात् भगवान्‌में अशेष विशेष समर्पण करनेवाली हैं । यहाँ पूर्ण स्वात्मसमर्पण है, क्योंकि अन्य निष्ठाओंमें अपना पृथक् अस्तित्व रह ही जाता है । अथवा 'रात्रीः' पदका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह आत्मस्वरूपा होनेके कारण रात्रियोंके समान है, क्योंकि यह आत्मस्वरूपा है और व्यवहारका अविषय होनेके कारण अज्ञानियोंके लिये आत्मा रात्रिरूप ही है । अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जितना व्यावहारिक प्रपञ्च है वह जिसकी दृष्टिमें रात्रिरूप अर्थात् असत् है वह ज्ञानीरूपा प्रजा रात्रि है । अथवा जिस प्रकार रात्रि अस्पष्टप्रकाशवाली होती है उसी प्रकार यह ज्ञानीरूपा प्रजा भी अस्पष्टप्रकाशा अर्थात् अव्यक्तगति है; जैसा कि कहा भी है—

'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचाराः'
यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥

पुनः यह ज्ञानीरूपा प्रजा कैसी है ?

शरद्यपि जाड्यमये अविद्यालेशावशेषयुक्तेऽपि अन्तःकरणे उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितशान्तिदान्त्याद्यशेषपुष्पाणि यासां हृदि इति शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

अर्थात् शरद्‌में यानी जिनके अविद्यालेशावशेषयुक्त अन्तःकरणमें भी शान्ति, दान्ति आदि मल्लिकोपलक्षित समस्त पुष्प विकसित हो रहे हैं ।

अथवा—

विवेकविचाररूपैः शरैर्दिताः खण्डिताः इति शरदाः उत्फुल्लमल्लिकाः उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासु ।

अर्थात् विवेक-विचाररूप शरोंसे खण्डित उत्फुल्लमल्लिकादिउपलक्षित संसारसुख हैं जिनमें वे रात्रियाँ शरदोत्फुल्लमल्लिका हैं ।

अथवा—

शरदा निमित्तेन शान्त्यावहेन ज्ञानेन उत्फुल्लमल्लिकाभासानि संसारसुखानि यासु ।

अर्थात् शान्ति आदिके कारण जिनके लिये संसारसुख केवल पुष्परूप यानी देखनेमात्रके लिये रह गये ऐसी

प्रजाओंको देखकर भगवान्‌ने योगमायाका आश्रय ले, उन प्रजाओंका आवाहन कर उनके अन्तःकरणमें रमण करनेका विचार किया; क्योंकि ज्ञानीरूपा प्रजाका रमण अपने आत्मभूत भगवान्‌के ही साथ होता है। ज्ञानी लोग आत्मरति ही हुआ करते हैं। इसीसे ज्ञानीको लक्ष्य करके कहा है—'एकभक्तिर्विशिष्यते', क्योंकि उसकी भक्ति, रति, मति एकमात्र भगवान्‌में ही होती है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि भगवान्‌की यह लीला मुमुक्षुओंके ही लिये है। इस लीलाके व्याजसे भगवान्‌ने निवृत्तिपक्षका ही पोषण किया है। भगवान्‌ने इस लीलाद्वारा यह प्रदर्शित किया है कि जिनके एक रोमके सौन्दर्यकणसे भी अनन्तकोटि कन्दर्पोंका दर्प दलित हो जाता है उन्हीं श्रीहरिके साथ सुरम्य यमुनाकूलमें अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियों पर्यन्त रमण करके भी व्रजबालाएँ सन्तुष्ट नहीं हुईं तो साधारण सांसारिक लोग इन बाह्य विषयोंसे किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकते हैं। इस लीलाद्वारा भगवान्‌ने अपनेमें अनुरक्तोंकी अनुरक्ति और संसारसे विरक्तोंकी विरक्ति दोनों ही पुष्ट की हैं। इसी प्रकार भगवान् श्रीरामने भी सीताहरणके पश्चात् शोकाकुल होकर विषयासक्त पुरुषोंकी दुर्दशाका प्रदर्शन किया था। 'कामिनकी दीनता दिखाई'। भगवान् श्रीराम स्वयं तो अच्युत हैं, उन्हें कोई भी परिस्थिति कैसे विचलित कर सकती है? और अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीजनकनन्दिनीजीसे उनका वियोग होना भी कब सम्भव है। परन्तु इस नरनाट्यसे कामियोंकी दीनता दिखाकर उन्होंने विरक्तोंके वैराग्यको ही सुदृढ़ किया है। वस्तुतः कामोपभोगसे कामकी कभी तृप्ति नहीं हो सकती; बल्कि जैसे-जैसे भोग्य सामग्री प्राप्त होती जाती है वैसे-वैसे ही घृताहुतिसे अग्निके समान वह और भी प्रज्वलित होता जाता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अतः जो ऐन्द्रियिक सुख हैं वे दुःखके ही हेतु और आद्यन्तवान हैं, इसलिये बुद्धिमान् लोग उनमें सुख नहीं समझते। वे उनसे दूर ही रहते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

इन विषयोंसे सुख कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार कड़ुए नीम या तूँबेसे मधु और बालूसे तैल निकलना असम्भव है उसी प्रकार वैषयिक भोगोंसे शान्तिकी आशा रखना दुराशामात्र है। गोपाङ्गनाओंने भगवान्‌के साथ अनन्तकोटि रात्रियोंमें रमण किया, किन्तु आखिर उन रात्रियोंका भी अन्त तो हुआ ही। सुखमें समय बीतते देरी नहीं लगती, जो पुरुष समाधिस्थ हो जाते हैं उन्हें सैकड़ों वर्ष एक क्षणके समान मालूम होते हैं। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओंको भी इतना दीर्घकालीन रमण इतना सुखप्रद नहीं हुआ जितना दुःखदायी उसका वियोग हुआ। इस बातको दिखानेके लिये ही परम कृपालु श्रीभगवान्‌ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओंको देखा।

कैसी प्रजा? 'ताः'—आश्चर्यरूपा, क्योंकि आत्मजिज्ञासा आश्चर्यरूपा ही होती है—'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'। अतः वे मुमुक्षुरूपा प्रजा विलक्षण ही हैं। और कैसी हैं? 'रात्रीः' यानी ठीक रात्रिके अन्धकारके समान आत्मस्वरूपका आच्छादन करनेवाले अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त हैं। यदि कहो कि नहीं, वे तो विवेकसम्पन्ना हैं तो यहाँ भी 'रात्रीः' पदसे 'रा दाने' इस धात्वर्थके अनुसार दानादिपरा यह अर्थ समझना चाहिये। और कैसी हैं?—

शरदोत्फुल्लमल्लिकाः—शरदा भगवदुपासनात्मकेन निष्कामकर्मणा उच्चैः फुल्लानि विकसितानि अन्तःकरणात्मकानि कमलकुड्मलानि यासाम्।

अर्थात् शरद् ऋतुमें जैसे कमल विकसित होते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगके द्वारा जिनके अन्तःकरणरूप कमलकोश अत्यन्त विकसित हो रहे हैं।

मनका विकास ही मनका प्रसाद है और मनका प्रसाद होनेपर ही भगवत्स्वरूप-प्राप्ति होती है—

'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।'
'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥'
'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥'
'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।'

ऐसी जो मुमुक्षुरूपा प्रजा है उसे देखकर, अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम कर्मरूप भगवदाराधन

करनेसे—क्योंकि निष्काम कर्म ही सबसे पहला भगवदाराधन है—जिसमें शान्ति-दान्तिरूप पुष्प विकसित हो रहे हैं। ये पुष्प मुमुक्षुओंको अत्यन्त अपेक्षित भी हैं; जैसा कि कहा है—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत् ।'

इस प्रकार निष्काम कर्मद्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्ना हुई प्रजाओंको देखकर उनके हृदयोंमें श्रुतियोंका आह्वान कर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि जो पुरुष भगवदाराधनाद्वारा शुद्धान्तःकरण नहीं है उसके अन्तःकरणमें श्रुतियोंका ब्रह्मपरत्व निश्चित नहीं होता। अशुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा होना असम्भव है। अतः उन मुमुक्षुओंके अन्तःकरणोंमें उनका परम तात्पर्य निश्चयकर उनके साथ रमण करनेका विचार किया। अथवा—

योगमायामुपाश्रितः—यः अगमायां स्वस्मादगच्छत्सु गोपदारेषु या माया कृपा तां उपाश्रितः ।

अर्थात् अपने पाससे न जानेवाली गोपांगनाओंके प्रति (माया) कृपाका आश्रय लेकर। अथवा—

अगा अचला मा मतिः यस्याः सा अगमा तस्यामुपाश्रितः ।

अर्थात् जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्णसे कभी नहीं हटता था, जिनके मन, देह और इन्द्रियवर्ग भगवान्से तनिक भी बिछुड़ना नहीं चाहते थे उन गोपाङ्गनाओंमें उपाश्रित हो भगवान्ने रमणकी इच्छा की।

जब भगवान्का वेणुनाद सुनकर समस्त व्रजवनिताएँ भगवान्के पास दौड़ आयीं और भगवान्ने उन्हें पातिव्रतका उपदेश देते हुए घर लौट जानेको कहा तो वे कहने लगीं—

'चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥'

उन्होंने कहा—जो चित्त गृहकृत्योंमें लग सकता था उसें तो आपने हर लिया। रहे हाथ, सो वे भी उसी समय घरके धंधोंमें प्रवृत्त होते हैं जब चित्त इनका साथ दे और तभी चरण भी चल सकते हैं। किन्तु अब, जब कि आपने वेणुनादद्वारा हमारा चित्त हर लिया है, हमारा मन उनमें कैसे लग सकता है? अब तो आपसे विमुख होकर ये चरण आपके चरणोंको छोड़कर एक पग भी नहीं चल सकते। अतः हम किस प्रकार व्रजको जायँ और करें तो क्या करें?

इससे सिद्ध हुआ कि व्रजाङ्गनाओंके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देह ये सब भगवत्परतन्त्र हैं।

'अयोगमायामुपाश्रितः'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—

अयोगाय मायः[१] शब्दो यस्यां सा अयोगमाया तामुपाश्रितः ।

अर्थात् लौकिक-वैदिक व्यवहारमें उपयोगी जितने पुत्र, पति आदि हैं उनके अयोग अथवा लौकिक, वैदिक व्यवहारोंके अयोग—असम्बन्धके लिये जिसमें शब्द है उस मुरलीका आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। व्रजाङ्गनाएँ लौकिक-वैदिक कर्मोंमें परिनिष्ठिता थीं। उनका लौकिक-वैदिक कर्मोंसे विच्छेद करानेके लिये अथवा उन्हें भगवद्व्यतिरिक्त सम्बन्धोंसे छुड़ानेके लिये इस मुरलिकाका शब्द अत्यन्त समर्थ है, क्योंकि इसीसे आकर्षित होकर वे सारे सम्बन्ध और कृत्योंको तिलाञ्जलि देकर भगवान्की सन्निधिमें आती हैं।

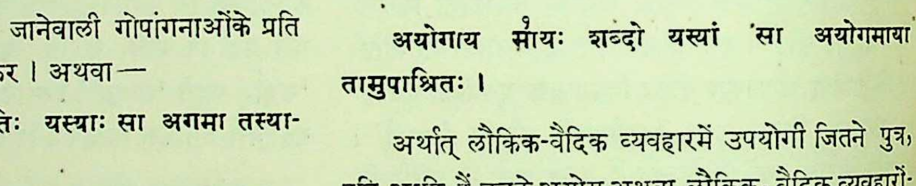

---

[१] 'माङ् माने शब्दे च'

स्मरण-साधन

लेखक—
स्वामी श्रीचित्रसेनजी
महाराज

स्मरण कहत हैं यादको, याद राख इक नाम।
सुद्ध हृदयसे उठत है, राम राम ही राम॥

स्मरणका रूप रामनामका नित्य स्मरण बना रहना है। यह नित्य स्मरण ऐसा हो कि कभी भी अस्मरण अथवा भूलकी बात आवे ही नहीं। ऐसे नित्य स्मरणको ठीक-ठीक बना रखनेके लिये अपने अस्मरण अथवा अपनी भूलको देखा जाता है। मानो अपना स्मरण ही अपने अस्मरण अथवा भूलको दिखलाता है। अतः अपनी भूल या भूलकी अवस्था कैसी होती है, इसे देखना है।

जैसे कोई वस्तु या मनुष्य हमारे सम्मुख ही उपस्थित होता है, हमें उसका रूप भी प्रकट दिखायी देता है, परन्तु फिर भी हम उसके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि 'मैं उसे भूल रहा हूँ। मुझे याद नहीं आता कि वह कौन वस्तु अथवा व्यक्ति है।' इस तरहकी भूल केवल उस वस्तुके अथवा व्यक्तिके नामको ही भूलना है। क्योंकि यदि थोड़ी ही देर बाद हमें उस वस्तु या व्यक्तिका नाम याद आ जाता है तो हम कह उठते हैं कि 'हाँ, हाँ मुझे याद आ गया; वह अमुक वस्तु अथवा व्यक्ति है।' इस प्रकार नामका स्मरण हो जानेपर उस वस्तु अथवा व्यक्तिका जानना या यों कहिये कि ज्ञान हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्मरण ही ज्ञान है। क्योंकि जबतक अस्मरण अथवा भूलकी अवस्था होती है तबतक 'नहीं जानने' की भी बात साथ रहती है। परन्तु स्मरण होते ही यह कहा जाता है कि 'मैंने जान लिया', 'मैंने पहचान लिया'। अतः यह स्मरण-सिद्धि ही ज्ञानसिद्धि है। यदि स्मरण और ज्ञानमें भेद है तो केवल इतना ही है कि स्मरण साधनरूप है और ज्ञान सिद्धिरूप है। अर्थात् स्मरणका साधन जब सिद्ध हो जाता है तब वह ज्ञानकी अवस्थामें आ जाता है। सिद्धान्त यह है कि साधनकी अवस्था स्मरण-अवस्था है तथा साधनकी सिद्धि ज्ञानावस्था है। जिस प्रकार रूपके स्मरणसे हमें नामका स्मरण हो जाता है और नामके स्मरणसे नामीका स्मरण हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानकी सिद्धिमें नाम और रूप अथवा नामी दोनोंकी एकता हो जाती है। फिर कोई भिन्नता अथवा विलगता नहीं रह जाती। बल्कि इन दोनोंकी भिन्नता या विलगता ही भूल और अज्ञान है। जिस प्रकार किसीका रूप सामने है परन्तु उसका नाम स्मरण नहीं है तो उसको 'नहीं जानना' ही कहते हैं या वह अज्ञान ही कहलाता है, उसी प्रकार यदि हम किसी वस्तु या मनुष्यका नाम तो सुन रहे हैं परन्तु यदि उस वस्तु या मनुष्यका रूप याद नहीं आता तो उसके लिये भी यही कहा जायगा कि 'हम उसे नहीं जानते'। परन्तु जहाँ नाम और रूप दोनोंका स्मरण है वह स्मरणकी अवस्था ज्ञानावस्था ही है। उस अवस्थामें भूल अथवा नहीं जाननेकी बात नहीं आती

अब हम अपनी इस अवस्थापर विचार करें कि जैसे कोई वस्तु वा मनुष्य हमारे सम्मुख उपस्थित है और उसका नाम हम भूल रहे हैं। ऐसी स्थितिमें उस वस्तु वा व्यक्तिके नामको स्मरण करनेके लिये—जाननेके लिये जो हमारा प्रयत्न होता है वह एक प्रकारकी वैसी

ही ढूँढ़ अथवा खोजका प्रयत्न होता है, जैसे हम किसी वस्तुको कहीं रखकर भूल जाते हैं और फिर उसकी तलाश—खोज करके उसे पा लेते हैं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते 'भूल' अथवा 'नहीं जानने' की लहरोंको हटाते और पार करते हुए कभी 'स्मरण' और 'जानने' में ही पहुँच जाते हैं। ऐसा 'स्मरण' या 'जानना' एक प्रकारकी 'प्राप्ति' और 'शान्ति' की ही सीमा होती है। इससे सिद्ध हुआ कि स्मरणके साधनकी सिद्धि ही ज्ञान है और उसमें प्राप्तिका भाव ही 'आनन्द' है। इस नित्य स्मरणको सिद्ध करनेके लिये 'राम-राम-राम' का अखण्ड स्मरण ही परम सिद्धि है। यदि हमारे हृदयमें 'राम-राम-राम' का स्मरण बना रहे तो उसके साथ ही 'राम-ज्ञान' और 'राम-आनन्द' भी बना ही रहता है। ऐसी अवस्थामें अपनी भूल, अस्मरण या 'नहीं जानने' की लहरें अपने 'स्मरण' या 'जानने' में ही लीन रहती हैं। और अपना स्मरण अथवा ज्ञान प्रकट होकर 'सर्वस्व ज्ञान' अथवा 'सर्वस्व आनन्द' होता है।

◆

भक्तकी भावना

(१)

कौन कहता है तुम दूर मुझसे हो कभी,
चारों ओर जग ये तुम्हारा दिव्य डेरा है।
कौन बात 'जीवन' सुनाऊँ मनकी मैं तुम्हें,
जब उर बीच किया तुमने बसेरा है॥
प्राणधन ! पाके तुम्हें आज अपने समक्ष,
टूट चुका भेद-भिन्नताका घोर घेरा है।
दूँ क्या तुम्हें ? कौन वस्तु अपनी रही, हे नाथ ?
माँगू तुमसे क्या ? जो तुम्हारा वह मेरा है॥

(२)

उच्छ्वसित श्वासमें समीर मिल जाये मंजु,
नभ खिल जाये आह, कसक, कराहोंमें।
पावक प्रविष्ट हो वियोग-ज्वाल-जाल ही में,
होके लघु धार वारि अश्रुके प्रवाहोंमें॥
एक अभिलाषा यही प्राण, मन, जीवनकी,
धूलि हो धरा मिले प्रतीक्षामयी राहोंमें।
अंत पंचभूतका अनंत प्रेमभावसे हो,
प्रेमके पुजारी प्रेमियोंकी प्रेम-चाहोंमें॥

—रामाधार त्रिपाठी 'जीवन'

धूलमें

(लेखक—श्रीभुवनेश मिश्र)

(१)

मुद्दतों मनाया अपनाया तुम्हें दौड़ दौड़ ,
किन्तु कभी आये नहीं मेरे अनुकूलमें ।
मधुपी, बता दे पता तू ही, कुछ पूछता हूँ ,
मेरे प्राणाधारको छिपाया किस फूलमें ?
भूल जाओ इसका न खेद मानता हूँ कभी ,
प्रणय-भिखारी कभी भूलता न भूलमें ।
खोजता रहूँगा जन्म-जन्म यह प्रण मेरा ,
तुमको न पाऊँ तो समाऊँ इसी धूलमें !

(२)

अम्बर, अनल, जल, थल, वायुवेग भी तो ,
भूलनेसे तुझको पड़े हैं आज भूलमें ।
तू ही मकरन्द मञ्जु, माधवी मधुर तू ही ,
विकसित तू है तो विकास तेरा फूलमें ॥
कोमल कणोंके रूप लघु बन जाती कभी ,
छिप जाती वनके कभी तू शक्ति-शूलमें ।
बन जाती प्रतिमा सभीकी यह सत्य है तो ,
मिल जाती प्रतिमा सभीकी इसी धूलमें !

कर्तव्य-मीमांसा

(लेखक—साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

व्यापक और सर्वत्र व्यवहृत होनेके कारण कर्तव्य शब्द सर्वथा विचारणीय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। अतएव धर्म, अर्थ और काममें कर्तव्यका जितना व्यवहार होना चाहिये, उसपर संक्षेपमें विचार करके फिर मोक्षपर विस्तारसे विचार किया जायगा—कर्तव्य स्थिर होते ही मनुष्य-जीवनका आधा लक्ष्य स्थिर हो जाता है। 'कल्याण' का उद्देश्य है मनुष्य-जीवनके मुख्य लक्ष्यकी ओर पाठकोंके चित्तको कर देना। इसीसे उसमें ज्ञान, कर्म और भक्तिकी ही विशेष आलोचना होती है। अतएव 'कल्याण' के पाठकगण इस निबन्धसे अपना लक्ष्य स्थिर कर सकेंगे—ऐसी आशा है।

राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीति और मोक्षधर्म मनुष्यमात्रको जानना चाहिये। जो संसारमें रहना चाहते हैं, उनके लिये इनकी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चल सकता। राजनीति और समाजनीतिका उल्लंघन करनेपर राज और समाजसे दण्डित होना पड़ता है। अतएव मनुष्य राजदण्ड और समाजदण्डके भयसे वैसे कर्म नहीं करता, जो राज और समाजके विरुद्ध होते हैं। पर इसका नाम कर्तव्य नहीं है। शिक्षकका पढ़ाना, विद्यार्थीका पढ़ना, पुरुषका धन कमाना, स्त्रीका गृहकार्य करना, वकीलका मुद्दई-मुद्दालह-का पक्ष समर्थन करना, डाक्टर-वैद्यका रोगीकी चिकित्सा करना और नौकरका मालिककी सेवा करना कर्तव्य है, यह बात किसीको सिखलानी नहीं पड़ती। सभी अपने-अपने स्वार्थके लिये कर्तव्यका यथाशक्ति पालन करना चाहते हैं और न करनेपर उसका फल भी उन्हें तुरन्त ही मिल जाता है। उपर्युक्त कर्तव्य स्वार्थके अधीन होनेके कारण अर्थरूप द्वितीय पुरुषार्थके अन्तर्गत आ जाते हैं। हिन्दूशास्त्रके अनुसार सभी कर्म मोक्षमें सहायक माने गये हैं। इसीलिये धर्म-शास्त्रोंमें अर्थ और कामके विषयोंका भी सन्निवेश देखा जाता है। संसारी मनुष्य संसारमें रहते हुए किस प्रकार मोक्षकी ओर अग्रसर हो सकते हैं, शास्त्रकारोंने इसकी व्यवस्था की है। हम लोगोंको कर्तव्यकी न्यूनाधिकतापर विचार करके चलना चाहिये। एक विद्यार्थीके लिये बी० ए० की परीक्षा देना कर्तव्य है परन्तु मरणासन्न पिताके दर्शनार्थ जाना उससे भी अधिक कर्तव्य है या नहीं, इस बातकी मीमांसा करनी चाहिये।

यह मीमांसा अपने ही ऊपर अवलम्बित है। अंग्रेजीके ड्यूटी नामक ग्रन्थमें कर्तव्यकी विस्तृत आलोचना की गयी है। हमारे प्राच्य विद्वानोंने भी अनेकों ग्रन्थों और लेखोंमें कर्तव्यकी व्याख्या की है। अतएव इस विषयपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

मनुष्यके जीवनमें एक ऐसा समय आता है, जब संसारके कर्तव्योंमें ही लगे रहना उसे अच्छा नहीं लगता। परलोककी चिन्ता उसे बाध्य करके नश्वर सांसारिक सुखोंको छोड़कर परलोकके लिये चेष्टा करनेकी प्रेरणा करती है। जब मनुष्य देखता है कि जगत्के सभी कर्तव्य प्रपञ्चरूप हैं और उनका पालन हमें जन्म-मृत्युके चक्करसे छुड़ानेमें जरा भी सहायता नहीं करता, तब परलोककी यह चिन्ता उसे दूसरा कर्तव्य स्थिर करनेके लिये बाध्य करती है। दोषदृष्टि हुए बिना कोई भी अपनी किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका त्याग नहीं कर सकता। विचारद्वारा जब वह समझता है, हितकी चेष्टा करते जब उसे विपरीत फल मिलता है, सुखकी आशा दुःखरूप फल लेकर सामने आती है, तब वह केवल संसारके कर्मोंमें ही मग्न नहीं रह सकता।

साधारण बुद्धिके द्वारा जीवनका कर्तव्य स्थिर करना बहुत कठिन है। देखा जाता है कि बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी दस वर्ष पहले अपनी तीक्ष्ण बुद्धिकी सहायतासे जिस बातको कर्तव्य समझते हैं, वही दस वर्षके बाद उसीको अकर्तव्य मानकर त्याग देते हैं। नौकरी करना कर्तव्य है या व्यापार करना, इस विषयमें तो कर्मकुशल अथवा विषयनिपुण पुरुष तुम्हारी सहायता भी कर सकते हैं किन्तु भगवान्की पूजा करना कर्तव्य है या नहीं, स्वर्ग, नरक या पाप-पुण्य है या नहीं अथवा मुक्ति हो सकती है या नहीं; इस विषयमें वे लोग कुछ भी सलाह नहीं दे सकते। और यदि कोई अनधिकार चेष्टा करना चाहता है और वह यदि शास्त्रविरुद्ध बात होती है तो शास्त्र और युक्तिनिपुण पुरुषोंके सामने उसे नीचा देखना पड़ता है। धर्म और मोक्षके सम्बन्धमें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। भगवान्ने कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका निर्णय शास्त्रके अनुसार करना पड़ेगा। जो शास्त्र-सम्मत है, वही कर्तव्य है, और जो अशास्त्रीय है, वह इन्द्रियोंका प्रीतिकर होनेपर भी त्याग करने योग्य है। मनुष्यकी साधारण बुद्धि अतीन्द्रिय विषयोंकी मीमांसा नहीं कर सकती। शास्त्र अतीन्द्रिय विषयोंके द्रष्टा, योगी, तपस्वी और त्रिकालज्ञ महापुरुषोंके द्वारा रचित हैं। वेद साक्षात् भगवान्के द्वारा रचित हैं। अतएव उनमें साधारण मनुष्योंकी भाँति भूल नहीं रह सकती। इसलिये शास्त्र और गुरुवाक्योंके सहित जहाँतक अपना विचार मिलता हो, वहाँतक उसे सत्य मानकर तदनुसार चलना चाहिये। अपने विचारसे आरम्भमें असंगत दीखनेपर भी ऋषियोंके सिद्धान्तको भ्रान्त मानना तो निरा पागलपन है। इसीलिये कठश्रुतिने मोहनिद्रामें सोये हुए जीवको जगानेके लिये उच्च स्वरमें कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

दुर्विज्ञेय, अतीन्द्रिय विषयका ज्ञान सद्गुरुके उपदेश बिना अतिबुद्धिमान् पुरुषको भी नहीं हो सकता। अतएव जहाँ शास्त्रके साथ अपने मतका विरोध हो वहाँ अपनी ही भूल माननी चाहिये। सबका कर्तव्य एक-सा नहीं होता, भोजन और

भजन भी सबके लिये एक नहीं हो सकता । सबकी अलग-अलग व्यवस्था होती है । सनातनधर्मका प्रधान अंग है—गोसेवा, अतिथिसेवा और विष्णुसेवा । बचपनमें बालकको भगवान्के मन्दिरमें और ब्राह्मण तथा पिता-माता आदि गुरुजनोंको प्रणाम करना सिखलाया जाता है । यहींसे सनातनधर्मका ककहरा शुरू होता है । शास्त्र और गुरुवाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है । श्रद्धा धर्मका मूल है । श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है । अश्रद्धावान् पुरुष पाण्डित्यका अभिमानी होनेपर भी धर्मके गूढ़ रहस्यको नहीं जान सकता । भागवत सप्तम स्कन्धके ११ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने देवर्षि नारदसे सनातनधर्म पूछा और उसके उत्तरमें देवर्षिने नारायणके मुखसे सुना हुआ सनातनधर्म बतलाया है । वहाँ चारों वर्णोंके वर्ण और आश्रमोचित धर्म बतलाये गये हैं । और शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इनकी व्याख्या की गयी है ।

मानवधर्म

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, सत्-असत्का विचार, शम,दम,अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, व्यर्थ चेष्टाओंका त्याग, निन्दात्याग, मननशीलता, आत्मचिन्तन, दान, जीवमात्रमें आत्मबुद्धि, भगवान्के नामका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, प्रणाम, दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मसमर्पण यह मानवधर्म है । मनुष्यमात्रको इस तीस लक्षणवाले धर्मका सर्वदा पालन करना चाहिये ।

वर्णधर्म

यज्ञ, अध्ययन और दानको भगवान्ने द्विजातिका धर्म बतलाया है । ब्राह्मणके सिवा दूसरेको दान लेनेका और पढ़ानेका अधिकार नहीं है । प्रजापालन और कर वसूल करना राजाका विशेष धर्म है । व्यवसाय करना वैश्यका विशेष धर्म है और इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक धर्म है । शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवद्भक्ति और सत्य ये लक्षण ब्राह्मणमें होने चाहिये । शूरता, शक्ति, धृति, तेज, त्याग, जितेन्द्रियता, क्षमा, ब्रह्मण्यता, प्रसन्नता और जीवोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंमें होना चाहिये । भक्ति, आस्तिकता, उद्योग और दक्षता वैश्योंमें, तथा नम्रता, शौच, सेवापरायणता, अस्तेय, सत्य और गोब्राह्मणकी रक्षा ये गुण शूद्रमें होने चाहिये ।

पातिव्रतधर्म

पतिकी सेवा करना और उसकी आज्ञाका पालन करना, पतिके कुटुम्बियोंका भरण-पोषण करना, व्रतादि करना, घर-द्वारको साफ-सुथरा रखना, अपने शरीरको पतिके आज्ञानुसार वस्त्रालंकारादिसे निर्मल रखना, विनयी और जितेन्द्रिय होना, सत्यप्रिय और प्रेमयुक्त वचन कहना, सत्यका पालन करना, धर्मपरायणता और शुद्धाचारिणी होकर ईश्वरबुद्धिसे पतिकी सेवा करना स्त्रीजातिका धर्म है । जो स्त्री इन धर्मोंका पालन करती है वह लक्ष्मीकी भाँति पतिलोकमें पतिके साथ निवास करती है । अपने-अपने स्वभावके अनुसार धर्मका पालन करनेसे इस लोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है और स्वाभाविक धर्मका परित्याग करनेसे मनुष्य क्रमशः पशुत्वमें परिणत हो जाता है ।

ब्रह्मचारीका धर्म

चौबीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुके सन्निकट रहना । सेवककी भाँति गुरुसेवा करते हुए समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना । गुरु अग्निहोत्री हों तो उनकी अग्निसेवाके लिये समिधा बटोर लाना । तीनों समय गायत्रीके जपसहित

सन्ध्या करना। गुरु संन्यासी या वानप्रस्थी हों तो उनके लिये भिक्षा लाकर उन्हें निवेदन करना। गुरुके खा लेनेपर स्वयं खाना। पढ़ाईके आरम्भ और अन्तमें गुरुको प्रणाम करना। दण्ड, कमण्डलु, जटा और उपवीत धारण करना। जितेन्द्रिय, सुशील, मिताहारी, दक्ष और श्रद्धावान् होना। स्त्रियोंके साथ कभी बातचीत न करना। तेल-साबुन आदि न लगाना। माला न पहनना। इत्र-फुलेल न लगाना। छाता न रखना। जूते न पहनना। पलंगपर न सोना। इस प्रकार रहते हुए यथाशक्ति अध्ययन करके गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें अथवा वैराग्य हो तो वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करना।

गृहस्थका धर्म

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपनेसे कम उम्रकी सवर्णा सुलक्षणा और सद्वंशमें उत्पन्न कन्याके साथ विवाह करना। यज्ञ, अध्ययन और दान तीनों ही आश्रमोंमें करना चाहिये। प्रतिग्रह, अध्यापन और यज्ञ कराना केवल ब्राह्मणका ही कर्तव्य है। प्रतिग्रह ब्राह्मणके तप, तेज और यशको नाश करनेवाला होनेके कारण यदि इच्छा हो तो ब्राह्मण प्रतिग्रहका त्याग करके यजन और अध्ययनके द्वारा अपनी जीविका चला सकता है। अथवा शील या उञ्छवृत्तिद्वारा निर्वाह कर सकता है। गृहस्थ भगवान्में बुद्धि स्थिर करके अनासक्तिके साथ संसारके सभी वैध कर्मोंको करता हुआ ही शान्तिको प्राप्त हो सकता है। घरमें विचारवान् पुरुषको अतिथिके समान रहना चाहिये। ऐसा करनेपर संसारबन्धनका हेतु नहीं रहता। ममता ही बन्धनका हेतु है। घरमें रहकर न्याययुक्त सांसारिक कर्मोंके और याग-यज्ञादिके द्वारा भगवान्को सन्तुष्ट करना चाहिये।

वानप्रस्थका धर्म

उपर्युक्त प्रकारसे चौबीस वर्ष गृहस्थमें रहकर एक पुत्र होनेपर अथवा वैराग्य होनेपर वानप्रस्थाश्रममें चले जाना चाहिये। पत्नीकी साथ रहनेकी इच्छा हो तो वह भी व्रतोंका पालन करती हुई साथ रह सकती है। वनमें रहकर कन्द, मूल, फलादि खाना, तपके द्वारा शरीरको कृश करना, हजामत न बनवाना, जमीनपर सोना, तीन बार स्नान करना, गर्मियोंमें पञ्चाग्नि तापना, जाड़ेमें गलेतक जलमें खड़े होकर तप करना, स्वयंपाकी होना, आहारका संग्रह अपने-आप करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, दूसरेके द्वारा संगृहीत वस्तु न खाना, दर्श और पौर्णमास व्रत करना, इस तरह तप करते हुए शरीरत्याग करनेपर ऋषिलोककी प्राप्ति होती है।

संन्यासीका धर्म

बरसातके चार महीनोंको छोड़कर एक रातसे अधिक किसी गाँवमें न रहना। कौपीन, ओढ़नेकी एक चद्दरके सिवा अपने पास कुछ भी न रखना। किसी साथीको न रखना। सब जीवोंके सुहृद होकर शान्तस्वभावसे नारायणपरायण होकर सारे विश्वको आत्मामें और आत्माको सारे विश्वमें देखना। न जीनेकी इच्छा करना, न मरनेकी। असत्-शास्त्रोंका ग्रहण न करना। वैद्यक या ज्योतिषके द्वारा जीविका न चलाना। किसी शास्त्रीय विषयपर विवाद होता हो तो उसमें किसी भी पक्षमें न होना। शिष्योंकी दलबन्दी न करना। बहुत-से ग्रन्थोंको न देखना। सभामें खड़े होकर न बोलना। व्याख्या करके जीविका न चलाना। ऐसा चुपचाप एकान्तमें जीवन बिताना, जिसमें कोई न जानने पावे। सुवर्णादि धातु न छूना। प्रतिष्ठा, स्त्री, धन, शिष्य और अपना घर ये पाँच संन्यासीके शत्रु हैं। यथाशक्ति इनका

त्याग करना। जो कामिनी-काञ्चनका त्याग नहीं कर सकता, उसके लिये संन्यास-ग्रहण करना अपने-आपको धोखा देना है। संन्यासीको बड़े यत्नके साथ स्त्री और धनका त्याग करके अनिकेतनिवास करते हुए केवल भिक्षाद्वारा जीवन-निर्वाह करना चाहिये। त्याग और ज्ञानहीन संन्यासीको देखकर इन्द्र गिद्धोंके द्वारा उसका मांस नुचवाते हैं। वैराग्य और ज्ञान ही संन्यासीका भूषण है।

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्।
स्वानुभवात्परा शान्तिरेषा वोपरतेः फलम्॥

त्याग और ज्ञानयुक्त संन्यासी ही ज्ञानके मुख्य फल मोक्षको प्राप्त कर सकता है। चित्तमें जहाँतक उपरति नहीं होती, जहाँतक विषयोंमें निस्पृहता नहीं होती; वहाँतक ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मानन्दमें प्रधान विघ्न है आसक्ति और कामना। अतएव इनका त्याग होनेपर ही संन्यास ग्रहण करना चाहिये। संन्यासमें प्रधानतया ब्राह्मणका ही अधिकार है। स्त्री-शूद्रादिको संन्यासका अधिकार न होनेपर भी भगवान्की भक्ति और जप-तप करनेका अधिकार सभीको है। शम, दम, तप, सन्तोष और स्वाध्यायसे सम्पन्न पुरुष यदि नीच कुलमें भी उत्पन्न हों और यदि इन गुणोंसे रहित पुरुषका जन्म ब्राह्मणकुलमें हुआ हो तो उससे वह नीच कुलोत्पन्न पुरुष श्रेष्ठ है। त्याग करनेका अधिकार तो सभीको है। भोगकी अपेक्षा त्यागकी शक्ति अधिक है, इस बातको सभी विचारवान् पुरुष मानते हैं। त्यागका फल भगवान्को देना ही पड़ता है। अतएव स्त्री-शूद्रादि संन्यासके अनधिकारियोंको त्याग, सहनशीलता, जप और भक्तिके द्वारा भगवान्को प्रसन्न करना चाहिये। इनमें भगवान्की भक्ति सबसे बढ़कर सुगम साधन है।

मोक्षका साधन

त्रिपादविभूतिनारायणोपनिषद्में शिष्यने गुरुसे पूछा है—'भगवन्! जीवके अनादि संसारका क्या कारण है? कैसे इसकी निवृत्ति हो सकती है। मोक्षके मार्गका स्वरूप क्या है? मोक्षका साधन क्या है? मोक्षका स्वरूप क्या है? सायुज्यमुक्ति किसको कहते हैं?' गुरुने इन प्रश्नोंके उत्तरमें कहा है—'अनन्त जन्मोंके बुरे सञ्चित कर्मोंके फलसे जीवके मनमें बुरी वासनाएँ भरी रहती हैं, इस कारणसे आत्मबोध नहीं होता और देहात्मबुद्धि दृढ़ हुई रहती है। वासनाके कारण ही जीव अपनेको संसारी और दुःखी समझता है। मिथ्या संसारके भोग स्वप्नके समान होनेपर भी उनको नित्य और सत्य समझकर मनुष्य उनकी आशा करता है और उन्हींके पीछे दौड़ता रहता है। किन्तु भोगोंसे किसीकी तृप्ति नहीं होती। वासनाके कारण ही स्थूल और सूक्ष्म देह धारण करके मनुष्य उन देहोंमें शुभाशुभ प्रारब्धके अनुसार फलभोग करता है और भोगोंमें उसकी वासना दृढ़ होकर उसे बार-बार कर्मकी ओर ही प्रवृत्त करती है। संसारसे निवृत्त होनेकी इच्छा उसे कभी नहीं होती। इसीलिये वह अनिष्ट पदार्थको भी इष्ट मान लेता है और वारंवार एक दुःखसे दूसरे दुःखमें प्रवेश करता रहता है। परमार्थतत्त्वरूप ब्रह्मानन्दमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण स्वरूपज्ञानका अभाव ही है। बन्ध-मोक्षका विचार न होनेसे स्वरूपज्ञान नहीं होता। अज्ञानकी प्रबलतासे बन्ध-मोक्षका विचार नहीं होता। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य न होनेसे अज्ञान नहीं मिटता और अन्तःकरण अत्यन्त मलिन होनेसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य नहीं होते।' इसपर शिष्यने पूछा-'तो फिर संसारसे तरनेका क्या उपाय है?' गुरु बोले-'बहुत जन्मोंका जब पुण्य सञ्चित

होता है तब सज्जनका संग प्राप्त होता है। सत्सङ्गके द्वारा क्या करना और क्या न करना चाहिये, इस बातका ज्ञान होता है। इस ज्ञानसे मनुष्य बुरे आचरणोंको छोड़कर सदाचारमें प्रवृत्त होता है। सदाचारका पालन करनेपर पापोंका क्षय होता है। पापोंका क्षय होनेपर अन्तःकरण निर्मल होता है। तब निर्मल अन्तःकरणमें सद्गुरुकी कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। और सद्गुरुकी कृपा ही सारे बन्धनोंसे छुड़ानेमें कारण है। सद्गुरुकी कृपासे कल्याण-मार्गके सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं। सभी प्रकारकी अनुकूलता प्राप्त होती है। सद्गुरुकी कृपासे ही भगवत्-कथामें रुचि होती है। भगवत्कथाके द्वारा हृदयकी बुरी वासनाएँ और सब प्रकारकी कामनाएँ नष्ट होती हैं। कामनाओंके नष्ट होनेपर हृदयमें परमात्माका आविर्भाव होता है और उनमें दृढ़ भक्ति पैदा होती है। फिर वैराग्य और तत्त्वज्ञानके द्वारा मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। इस अवस्थामें समस्त शुभाशुभ कर्मोंका वासनासहित नाश हो जाता है। तब भगवान्में यथार्थ प्रेम होता है। इस प्रेमसे भक्तको सर्वत्र नारायण ही दिखायी पड़ते हैं। सारा जगत् उसके लिये नारायणमय हो जाता है। वह ईश्वरका साक्षात्कार करके कृतार्थ होता है और मृत्यु होनेपर भगवान्के पार्षद उसे भगवद्धाममें ले जाते हैं। यही भक्तिमार्गकी पराकाष्ठा है।'

संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेपर संन्यासके नियमोंका भलीभाँति पालन करनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मलोक या वैकुण्ठलोकके लिये भी साधकमें इच्छा नहीं रहनी चाहिये। किसी भी लोक-प्राप्तिकी आकांक्षा न करके ब्रह्मस्वरूप होनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। परन्तु अपने अधिकारके अनुसार मनुष्य जितना कर सकता है उसके लिये उतना ही करना कर्तव्य है। जैसे एक योजन न चल सकनेवाले मनुष्यके लिये एक कोस चलनेकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये भिन्न-भिन्न साधनोंकी व्यवस्था की गयी है। परमार्थतत्त्वको जाननेवाले सद्गुरु विचारपूर्वक शिष्यके अधिकारानुसार उसे शास्त्रोक्त साधनमें लगाते हैं। अतएव सद्गुरुके आदेशानुसार ही अपने जीवनका कर्तव्य स्थिर करना निरापद है। अपनी बुद्धिसे कर्तव्य निर्णय करने जाकर अनुभवहीन साधक प्रायः ठगा जाता है। गुरुको भी कम-से-कम एक वर्षतक शिष्यकी परीक्षा करके उसकी प्रकृतिको समझकर उसके कर्तव्यका –कर्म, भक्ति और ज्ञानका उपदेश करना चाहिये। अनधिकारीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेपर भलाईके बदले बुराई हो सकती है। अपने अधिकारका अपने द्वारा निर्णय होना बहुत कठिन है परन्तु अविद्याका कुछ ऐसा प्रभाव है कि प्रायः सभी लोग सब विषयोंमें अपनेको बुद्धिमान् समझने लगते हैं। इस बुद्धिके अभिमानको छोड़कर सत्सङ्ग और सद्गुरुके शरण होनेसे ही मनुष्यका शङ्कारहित कर्तव्य स्थिर होता है और कर्तव्यके पालनसे ही जीवनकी सफलता होती है। संत या सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये—तुम्हारी प्रार्थना सच्ची होगी तो भगवान् स्वयं सद्गुरुरूपमें दर्शन देकर तुम्हारी सब आशाओंको पूर्ण करेंगे।

* * *

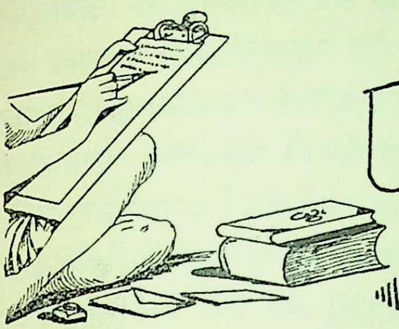

परमार्थ पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपने जो लिखा कि जल्दीसे काम बन जाना चाहिये, सो ठीक है । निरन्तर भजन-ध्यान होनेपर जल्दीसे काम बन सकता है । यदि काम देरसे भी बने तो कोई हर्ज नहीं किन्तु निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर भजन-ध्यानका साधन तो होते ही रहना चाहिये । संसारमें श्रीभगवान्के निष्काम भजन-ध्यानके समान और कुछ है ही नहीं । ऐसा भजन-ध्यान सत्संगसे हो सकता है । उस सत्संगकी कद्र जाननी चाहिये । यह जानना चाहिये कि सत्संग कहते किसे हैं ? सत्संगकी कद्र जान लेनेके बाद मनुष्य उसको कभी नहीं छोड़ सकता । क्योंकि सत्संगके सामने संसारमें और कोई चीज़ उसे अच्छी लगती ही नहीं । सत्संगी पुरुषोंके दर्शनसे भी बहुत कुछ लाभ होता है । फिर सत्संगकी तो बात ही क्या है ? सत्संगद्वारा जो किसी-किसीको विशेष लाभ नहीं दिखायी देता इसका कारण यही है कि वे सत्संगको जैसा चाहिये वैसा उत्तम नहीं समझते हैं । यदि सत्संगको सबसे उत्तम समझकर श्रद्धा और प्रेमके साथ सत्संग किया जाय तो सत्संग छोड़कर जाना नहीं बनता । शरीर भले ही नाश हो जाय पर जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक सत्संगके अतिरिक्त दूसरा काम उससे किस तरह हो सकता है ! क्योंकि जिन पुरुषोंको श्रीनारायणदेवके दर्शन हो चुके हैं, उन्हींके दर्शनका नाम सत्संग है । अब विचार करनेकी बात है कि ऐसे पुरुषोंका यदि किसीको संग प्राप्त हो जाय तो फिर वह उनका संग जान-बूझकर कैसे छोड़ सकता है ? भगवान्के साधारण भक्तोंका मिलना भी साधारण सत्संग है और उसके अनुसार ही लाभ भी होता है ।

(२)

आपने जो हरदम ध्यान बने रहनेका उपाय पूछा सो श्रीभगवान्में पूर्ण प्रेम होनेसे ही हरदम उनका ध्यान बना रह सकता है । क्योंकि जिस वस्तुमें प्रेम होता है उसका अपने-आप ही बारंबार चिन्तन होता है । श्रीनारायणदेवका भजन करनेसे पापोंका नाश हो जाता है, भगवान्में प्रीति उत्पन्न होती है और जहाँ श्रीभगवान्में सच्चा प्रेम हुआ कि अपने-आप ही निरन्तर उनका ध्यान बना रहने लग जाता है । पूर्वजन्म तथा इस जन्मका किया हुआ पाप ही कष्टसाध्य बीमारी है । उसके नाशके लिये श्रीभगवान्के नामका जप ही असली ओषधि यानी बूटी है । और श्रीभगवान्का भक्त ही वैद्य है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और संसारके विषयभोगोंका त्याग इत्यादि और भी जो बहुत-से उत्तम आचरण हैं, वे पथ्य हैं । उपर्युक्त ओषधिका सेवन करनेसे जो रुचि पैदा होती है वह श्रद्धा है । और जो प्राणोंका आधार

श्रीभगवान्‌का ध्यान है, वही जीवनकी रक्षा करनेवाला अन्न है । आरोग्यतारूपी सुख है, वही अमृत है, वही श्रीनारायणदेवकी प्राप्ति है । उपर्युक्त ओषधि बहुत ही तेज है, यदि पथ्य-परहेज न भी हो तो भी कोई हर्जकी बात नहीं, इस ओषधिका सेवन बराबर होते रहना चाहिये । यदि किसी समय कोई कुपथ्य हो जाय तो समय-समयपर वैद्यसे सलाह भी लेते रहना चाहिये । फिर तो कोई भी चिन्ता नहीं है ।

(३)

मनकी स्थिरताके सम्बन्धमें लिखा ही था, फिर भी लिखता हूँ । अभ्यास और वैराग्यसे मनकी वृत्तियाँ स्थिर होती हैं ।

१—हर समय श्वासके द्वारा यत्न, विश्वास और प्रेमसहित ओंकारके जप करनेका नाम अभ्यास है ।

२—जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमेश्वरके स्वरूपमें हो लगाया जाय ।

३—मन जहाँ जाय वहीं भगवान्‌के स्वरूपका ही दर्शन किया जाय ।

४—एकान्त स्थानमें बैठकर नासिकाके द्वारा ॐकारका जप करता हुआ धीरे-धीरे प्राणवायुको बाहर निकालकर सामर्थ्यके अनुसार रोक दे फिर ओंकार जपता हुआ अपान वायुको पूर्ण करके छोड़ दे ।

इस तरह कई प्रकारके अभ्यास हैं । रूबरू मिलनेपर बतानेमें सुविधा है । इस प्रकारका अभ्यास करनेसे मन स्थिर होता है । सुनी और देखी हुई वस्तुओंकी स्मृतिसे चित्तको रहित करके परमेश्वरमें लगानेका नाम वैराग्य है । ऊपर लिखे हुए साधनोंमेंसे जिसमें मन प्रसन्न रहता हो, उसीका अभ्यास करना चाहिये ।

(४)

आपने लिखा कि 'मैं संसारके जालमें बहुत फँस रहा हूँ' सो ठीक है । संसारके मोहजालको जान लेनेके बाद फिर जानबूझकर कोई भी उसमें फँसना नहीं चाहता है । मनुष्य संसारके नाशवान् भोगोंमें अज्ञानके कारण आनन्द तथा सच्चा सुख समझता है किन्तु जब उसे संसारके मोहजालका ज्ञान हो जाता है तब उसे संसारके सभी पदार्थ प्रत्यक्ष क्षणभंगुर दीखने लग जाते हैं तथा उस समय भूलसे संसारके पदार्थोंमें जो आनन्द भासता था, वह सब दुःखरूप भासने लग जाता है । इसकी पहचान यह है कि जब एकमात्र सच्चे प्रेमी नारायणदेवके भजन-ध्यान तथा सत्संगके समान कुछ भी अच्छा न लगे तब समझना चाहिये कि संसारका मोहजाल अब प्रत्यक्ष भासने लग गया है । विचार करनेकी बात है कि मोहजालको जानकर फिर कौन उसकी फाँसीमें फँसेगा ? किन्तु मनुष्यमें अज्ञान भरा हुआ है इसलिये उसको मोहजाल भी सुखरूप भासता है । इसलिये भजन-ध्यान एवं सत्संगका साधन खूब जोरके साथ निष्कामभावसे करना चाहिये । ऐसा होगा तो मोहजालसे छूटना कोई भी बड़ा बात नहीं है ।

(५)

मानापमानको समान समझकर तथा सबको भगवान्‌का स्वरूप जानकर निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये । फिर भगवत्कृपासे अपने-आप ही भगवान्‌में प्रेम हो सकता है । भगवद्भाव होनेपर किसीपर भी क्रोध नहीं आ सकता क्योंकि भगवान्‌पर किसीको क्रोध नहीं आना चाहिये । यदि क्रोध आवे तो ऐसा समझना चाहिये कि वहाँ भगवद्भाव नहीं है । अपने चित्तमें कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये । कोई भी परिस्थिति हो, उसीमें आनन्द मानना चाहिये, क्योंकि जो कुछ भी होता है मालिककी आज्ञासे ही और मालिकके अनुकूल ही होता है । फिर यदि सब कुछ मालिकके अनुकूल ही होता है तो अपनेको भी मालिकके अनुकूल ही रहना चाहिये । यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रतिकूल कुछ भी नहीं

हो सकता । उनकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । जो ऐसा समझता है वह मालिककी राजीमें राजी रहनेवाला सब समय आनन्दमें मग्न रहता है ।

(६)

आपने लिखा कि 'मेरा चित्त खराब रहता है, कुछ उपदेशकी बात लिखिये' सो उपदेशकी बात लिखनेवाला मैं कौन हूँ ? कुछ शास्त्रोंकी बातें लिखी जाती हैं यदि आपको इनसे लाभ मालूम हो तो इन्हें काममें लाना चाहिये ।

आप अपने मनको प्रसन्न रखनेके लिये कोई उपाय तो करते नहीं हैं फिर आपका मन खराब नहीं रहेगा तो कैसा रहेगा ? संसारके अन्य पदार्थ या रुपये प्रथम तो प्रारब्धसे मिलते हैं और यदि मिल भी जायँ तो वे सर्वथा क्षणभंगुर एवं नाशवान् हैं । और जब संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं तब उनसे आनन्द कैसे मिल सकता है ? यदि एक क्षणके लिये आप उनके मिथ्या आनन्दको 'सच्चा आनन्द' मान भी लें तो भी आपको यह विचार तो करना ही चाहिये कि जिन पदार्थोंके संयोगमें जितना आनन्द है, उनके वियोगमें उससे भी बहुत अधिक दुःख होगा । संसारके पदार्थोंके साथ तो अवश्य वियोग होता ही है । उनमें आनन्द तो बिल्कुल है ही नहीं, बल्कि विचार करनेसे उनमें दुःख ही दुःख है । लोगोंने भूलसे—मूर्खतावश उनमें आनन्द मान रक्खा है । यही कारण है कि लोग इन पदार्थोंके मोहमें पड़कर अपना अनमोल समय बिता रहे हैं । सच्चा और एकमात्र आनन्द तो आदिपुरुष श्रीनारायणदेवके दर्शनसे ही प्राप्त होता है। श्रीपरमात्मदेवसे मिले बिना मनुष्यको सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती । प्रेमके बिना श्रीभगवान् नहीं मिलते और भजनध्यानके साधन तथा सत्संगके बिना भगवान्में प्रेम नहीं होता है । इसलिये यदि आपको सच्चे आनन्दकी इच्छा है तो श्रीभगवान्के भक्तोंका सत्संग और भजनध्यान करते हुए भगवान्का दर्शन करानेवाले उपायमें लगना चाहिये ।

* * *

सर्ववित्‌का सर्वभाव

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके गुह्यतम शास्त्र अर्थात् १५ वें अध्यायके इस श्लोकमें सर्ववित्‌के सर्वभावकी जो बात कही गयी है उसकी कल्पना यह अल्पवित् जीव भला क्या करे ? पर प्रसङ्ग और इन पदोंका आकर्षण कुछ ऐसा जबर्दस्त है कि मन-बुद्धिको बरबस अपनी ओर खींचता ही है । इसलिये इस खिंचावमें यदि थोड़ी देरके लिये मन-बुद्धिको खिंच हो जाने दें तो क्या हर्ज है ?

भगवान् श्रीकृष्णको ही जीव (क्षर पुरुष) के परे और ब्रह्म (अक्षर पुरुष) के भी परे रहकर इन दोनोंको धारण करनेवाला परम तत्त्व जो जानता है वह सर्ववित् है, ऐसा इस श्लोकमें कहा गया है । ऐसा जो सर्ववित् है उसका वह सर्वभाव क्या है, जिस सर्वभावके साथ वह भगवान्का भजन करता है, यही प्रश्न है ।

सर्वभाव अर्थात् क्षरभाव, अक्षरभाव और क्षराक्षरातीत भाव, यह इस अध्यायमें जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है । क्षरभाव क्या है ? क्षरभाव है—जीवभाव, देहेन्द्रियादिसंयुक्त चेतनभाव जो इस सनातनसे प्रसूत अखण्ड कर्मप्रवाहका कारण पुरुष और बाह्यतः प्रकृतिरूप गुणकर्म है । इस क्षरभावसे भगवान्का भजन करना, इसलिये, कर्मरूप भजन ही

है और कर्मरूप भजनका स्वरूप कर्मयोगके प्रकरणमें द्वितीय अध्यायमें—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

इन शब्दोंमें कहा गया है, अर्थात् फलासक्ति त्यागकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ और भगवत्प्राप्त्यर्थ कर्म करना, कर्मको भगवान्‌का क्षरभावसे भजन जानकर उसका कदापि त्याग न करना, यही जीव या क्षरभावसे भगवान्‌का भजन करना है ।

दूसरा भाव है, अक्षर ब्रह्मभाव, त्रिगुणातीत भाव ।

(१) 'निर्ममो निरहङ्कारः ।' (२) 'कामसंकल्पवर्जितः,' और इस रूपसे 'नैव किंचित् करोति सः,'(३)'आत्मन्येवात्मना तुष्टः,' 'नाप्नोति किल्बिषम्,' 'आत्मवान्', (४) 'द्वन्द्वातीतः', 'सुखेषु विगतस्पृहः दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः', 'समः सर्वेषु भूतेषु', (५) 'अन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव', (६) 'पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन्निमिषन्नपि' 'नैव किंचित्करोति' यही त्रिगुणातीत या अक्षर ब्रह्मभाव है, ऐसा प्रतीत होता है। इस भावसे भगवान्‌का भजन अक्षर ब्रह्मभावसे भगवान्‌का भजन है । द्वितीय अध्यायमें ब्राह्मी स्थितिके लक्षणोंमें 'युक्त आसीत मत्परः' कहकर इसी भजनका निर्देश है और तेरहवें अध्यायके क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगमें अमृत, अनादि, मत्परब्रह्ममें 'मत्परता' के द्वारा इसी ब्रह्मभावसे, अर्थात् मृत्युसंसारसागरात्—अतः ऊर्ध्व भावसे, उदासीनवत् आसीन भावसे किये जानेवाले भजनका ही संकेत है ।

तीसरा भाव जो इन दोनोंसे, क्षराक्षरसे 'अन्य', 'अतीत' और 'उत्तम' है वह अद्वैत भगवद्भाव है जिससे क्षर और अक्षर भिन्न नहीं बल्कि क्षर और अक्षर, अविद्या और विद्या, जीव और ब्रह्मका समावेश है। यह सर्वभाव है । सर्वं भवतीति सर्वभावः । यह 'वासुदेवः सर्वमिति'—भाव है जो भगवान् कहते हैं कि अति दुर्लभ है, जिसके विषयमें ही यह श्लोक प्रसिद्ध हुआ कि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

केवल जीवभाव नहीं, केवल ब्रह्मभाव, केवल क्षराक्षरातीतभाव नहीं, प्रत्युत तीनों भाव एक साथ, यही इस सर्वभावकी भावना है । यह जीव 'ममैवांशः सनातनः' है, यह अक्षर ब्रह्म 'तद्धाम परमं मम' है, पर यह पुरुषोत्तमभाव केवल इसके परे ही नहीं, बल्कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह औपनिषत्सिद्धान्त पुरुषोत्तमका ही वाचक है, ऐसा तत्त्वज्ञ बतलाते हैं। पर वर्तमानमें इसका लोकमें जो रूढार्थ है वह इन त्रिविध भावोंको दृष्टिकी ओटमें करके कर्म ब्रह्म या क्षर ब्रह्मका, अवश्य ही भावनामें, लोप करानेवाला है । इसलिये भगवान्‌के ये जो तीन भाव हैं—उत्तम, अक्षर और क्षर—इन तीनों भावोंकी उपासनाका जहाँ अभिप्राय है वहाँ पुरुषोत्तम पद ही परमाराध्य भावित होता है । इन तीनों भावोंकी एक साथ उपासना ही सर्वभावेन भगवान्‌की उपासना है ।

जीवभावकी उपासना कर्म है, ब्रह्मभावकी उपासना ज्ञानयोगव्यवस्थिति है और पुरुषोत्तमभावकी उपासना अव्यभिचारिणी भक्ति है जो कर्म और ज्ञानकी पराकाष्ठा है, यह बात अठारहवें अध्यायमें बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा···मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

तदनन्तर ?—तदनन्तर पुरुषोत्तमभावमें अवस्थिति है, इस अवस्थितिमें जीव अपने तीनों भावोंमें अवस्थित रहता और तीनों भावोंसे भगवान्‌का भजनकर कृतकृत्य होता है, उसकी यह कृतकृत्यता नित्य है । ये तीनों भाव पुरुषोत्तमके भाव हैं, इसलिये नित्य हैं । जीव

भी पुरुषोत्तमका ही सनातन अंश होनेसे इन तीनों भावोंमें नित्य अवस्थित है । अपने इन तीनों भावोंका बोध होना ही बुद्धिकी चरितार्थता है (एतद्‌बुद्‌ध्वा बुद्धिमान् स्यात्) और इन तीनों भावोंमें रहना—नित्य कर्म, नित्य ज्ञान और नित्य ज्ञान-कर्म-संयोग-रूपा पराभक्तिकी अवस्था ही—कृतकृत्यता है, यही बात अर्जुनको सम्पूर्ण ज्ञान बताकर भी कर्म करनेका जो उपदेश किया जा रहा है उस प्रसंगसे भी सिद्ध है ।

परन्तु पुरुषोत्तमके सनातन अंशरूपसे जीवके ये तीनों भाव यदि नित्य हैं तो उनका बोध इस अल्पवित् जीवको नित्य क्यों नहीं रहता ? इसका कारण यह मालूम होता है कि यह जीव भी त्रिधा विभक्त-सा हुआ बाहर प्रकट हो रहा है और स्वयं अपने वास्तविक रूपमें अंदर ही (कारणशरीरमें) छिपा हुआ है । कारणशरीरमें जो प्राज्ञ पुरुष है, कहते हैं कि, उसे अपने इस नित्य त्रिविध स्वरूपका बोध है, पर उसके ये जो अन्तःकरण, प्राण और शरीर-रूपसे बाहर अनित्यभाव प्रकट हो रहे हैं इन्हें अपने ही उस नित्य मूलका पता नहीं है । ये अन्तःकरण, प्राण और शरीर जीवके बाह्य अनित्य रूप हैं, उसके ये कर्म करनेके करण हैं, इन करणोंमें जो जीव हैं वे भी उस जीवके ही अंश हैं, अर्थात् पुरुषोत्तमके सनातन अंशके भी अंश हैं, इन अंशोंको अपने अंशीका यदि पता लगे तो उस अंशीके द्वारा अपने परम अंशीका बोध हो सकता है और मन, प्राण, शरीरके बोधकी यही बुद्धिमत्ता और कृतकृत्यता है । इसलिये 'सर्वभावेन' का अर्थ मन, प्राण, शरीरका उस जीवतत्त्वको प्राप्त होना है जो पुरुषोत्तमका इस जीवलोकमें सनातन अंश है, जो इन—

'लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।'

वह जीव नित्य है, नित्य ही अपने अक्षर परमात्मस्वरूपमें स्थित है और वह परमात्मस्वरूप पुरुषोत्तममें स्थित है । यही स्थिति सर्ववित्‌की सर्वभावेन भगवदुपासना है । जीवकी उस सनातन पुरुषोत्तमांशकी स्थितिको प्राप्त होना इन अन्तर्बहिरिन्द्रियबद्ध जीवोंका इसलिये कर्तव्य है कि ये उसके करण हैं और इन्हींके द्वारा जीव कर्म करता है, जो कर्म पुरुषोत्तमका ही उत्तम कर्म है, जो उत्तम कर्म ब्राह्मी स्थितिमें—अक्षर ब्रह्मभावमें होता है, 'नैव किंचित्करोति' रूपसे होता है । जन्म-जन्मान्तरसे जीव भगवान्‌के सनातन अंशरूपसे जो कर्म करना चाहता है उसके उपयुक्त करणोंका संग्रह कर रहा है, करणोंको उसके उपयुक्त बना रहा है । इसीलिये जब यह जीव एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है तब पूर्व शरीर और अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सार तत्त्वोंको अपने साथ ले जाता है (यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वा एतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्) । जब ये करण जीवके सनातन उत्तम कर्मके उपयुक्त हो जाते हैं तब इन करणोंको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध होता और कृतकृत्यता प्राप्त होती है—अर्थात् जीवका भी जो जीवांश है वह कृतकृत्य होता है । करणोंका इस प्रकार कृतकृत्य होना भगवान्‌के नित्यकर्मके उपयुक्त होकर नित्यकर्ममें निरत होना है । इस प्रकार सर्ववित्‌के सर्व करण अपने-अपने भगवत्कर्ममें स्वतः सुखपूर्वक प्रवृत्त होते हैं और उन्हें अपने स्वरूपके बोधका आनन्द प्राप्त होता है और यह आनन्द प्रीतिसे अपने आत्माका आलिंगन करता रहता है, कृतकृत्यता अनुभव करता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्‌बुद्‌ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥

यह बात ऐसी ही है या और कुछ, यह तो सर्ववित् ही जानते हैं । अपनी तो एक तरंग थी जो जहाँसे उठी वहीं लीन हो गयी ।

* * *

नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भक्ति ही एक ऐसा साधन है जिसको सभी सुगमतासे कर सकते हैं और जिसमें सबका अधिकार है। इस कलिकालमें तो भक्तिके समान आत्मोद्धारके लिये दूसरा कोई उपाय है ही नहीं क्योंकि ज्ञान, योग, तप, याग आदि इस समय सिद्ध होने बहुत ही कठिन हैं। और इस समय इनके उपयुक्त सहायक सामग्री आदि साधन भी मिलने कठिन हैं। इसलिये मनुष्यको कटिबद्ध होकर केवल ईश्वरकी भक्तिका ही साधन करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। विचार करके देखा जाय तो संसारमें धर्मको माननेवाले जितने लोग हैं उनमें अधिकांश ईश्वर-भक्तिको ही पसंद करते हैं। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर क्या है और उसकी भक्ति क्या है? जो सबके शासन करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी हैं, न्याय और सदाचार जिनकी कानून है; जो सबके साक्षी और सबको शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान देनेवाले हैं तथा जो तीनों गुणोंसे अतीत होते हुए भी लीलामात्रसे गुणोंके भोक्ता हैं, जिनकी भक्तिसे मनुष्य सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार और दुःखोंसे विमुक्त होकर परम पवित्र बन जाता है, जो अव्यक्त होकर भी जीवोंपर दया करके जीवोंके कल्याण एवं धर्मके प्रचार तथा भक्तोंको आश्रय देनेके लिये अपनी लीलासे समय-समयपर देव, मनुष्य आदि सभी रूपोंमें व्यक्त होते हैं अर्थात् साकाररूपसे प्रत्यक्ष प्रकट होकर भक्तजनोंको उनकी इच्छानुसार दर्शन देकर आह्लादित करते हैं और जो सत्ययुगमें श्रीहरिके रूपमें, त्रेतायुगमें श्रीरामरूपमें, द्वापरयुगमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे, उन प्रेममय नित्य, अविनाशी विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी हरिको ईश्वर समझना चाहिये।*

अब भक्ति किसका नाम है—इस विषयमें विचार करना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' 'ईश्वरमें परम अनुराग यानी परम प्रेम ही भक्ति है।'

देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें कहा है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' 'उस परमेश्वरमें अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है'। 'अमृतस्वरूपा च' 'और वह अमृतरूप भी है'।

इस प्रकार और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। इनसे यही मालूम होता है कि ईश्वरमें जो परम प्रेम है, वही अमृत है, वही असली भक्ति है। यदि कहें कि व्याकरणसे भक्ति शब्दका अर्थ सेवा होता है क्योंकि भक्तिशब्द 'भज् सेवायाम्' धातुसे बनता है तो यह कहना भी ठीक ही है। प्रेम सेवाका परिणाम है और भक्तिके साधनकी अन्तिम सीमा है। जैसे वृक्षकी पूर्णता और गौरव फल आनेपर ही है, इसी प्रकार भक्तिकी पूर्णता और गौरव भगवान्में परम प्रेम होनेमें ही है। प्रेम ही उसकी पराकाष्ठा है और प्रेमके ही लिये सेवा की जाती है। इसलिये वास्तवमें भगवान्में अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है।

यद्यपि ईश्वरकी भक्तिमें सभी जीवोंका अधिकार होना न्याययुक्त है क्योंकि हनूमान्, जाम्बवन्त, गजेन्द्र, गरुड़, काकभुशुण्डि और जटायु आदि पशु-पक्षी भी भगवान्की भक्तिके प्रतापसे परमपदको प्राप्त हुए हैं परन्तु मनुष्यातिरिक्त पशु-पक्षी आदिमें ज्ञान और साधनका अभाव होनेके कारण वे ईश्वर-भक्ति कर नहीं पाते—इसलिये शास्त्रकार ईश्वर-भक्तिमें मनुष्योंका ही अधिकार बतलाते हैं।

ईश्वरकी भक्तिमें आयु और रूपका तो कुछ भी मूल्य नहीं है। विद्या, धन, जाति और बल—ये भी मुख्य नहीं हैं एवं सदाचार और सद्गुणकी तरफ भी भगवान् इतना खयाल नहीं करते—वे केवल प्रेमको ही देखते हैं। किसी कविने कहा भी है—

> **व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का**
> **का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।**
> **कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्**
> **भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥**

'व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था? ध्रुवकी आयु ही क्या थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी जाति ही क्या थी? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था? कुब्जाका कौन-सा विशेष सुन्दर रूप था?

---

* इस विषयमें विशेष जानना हो तो 'भगवान् क्या हैं' इस पुस्तिकाको मँगाकर देख सकते हैं। यह गीताप्रेससे छपी है और इसका मूल्य)॥ है।

सुदामाके पास कौन-सा धन था ? भक्तिप्रिय माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं ।'

सदाचार और सद्गुण तो उस भक्तमें भक्तिके प्रभावसे अनायास ही आ जाते हैं, इसलिये ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्गुणोंकी भी प्रधानता नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्गुणोंकी आवश्यकता ही नहीं है । जैसे बीमार आदमीके लिये रोगकी निवृत्तिमें औषधका सेवन प्रधान है और साथ-ही-साथ पथ्यकी भी आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार जन्म-मरणरूपी भवरोगकी निवृत्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति परमौषध है और सद्गुण तथा सदाचारका सेवन पथ्य है । लौकिक रोगकी निवृत्तिके लिये रोगी औषधका सेवन करता हुआ यदि पथ्यकी ओर ध्यान नहीं देता तो उसके रोगकी निवृत्ति प्रायः नहीं होती किन्तु सदाचार और सद्गुणरूपी पथ्यकी कमी रहनेपर भी भक्तिरूपी औषधके सेवनसे भवरोगकी निवृत्ति हो जाती है क्योंकि भक्तिरूपी औषध पथ्यका काम भी कर लेती है । इतना ही नहीं, कुपथ्य-सेवनसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुर्गुण और विघ्नरूप दोषोंका नाश एवं सदाचार-सद्गुणरूप पथ्यका उत्पादन भी ईश्वर-भक्ति कर देती है तथा सदाके लिये रोगकी जड़ उखाड़ डालती है । अतः ईश्वर-भक्ति परमौषध है ।

भक्तिके प्रधान दो भेद हैं—एक साधनरूप, जिसको वैध और नवधाके नामसे भी कहा है और दूसरा साध्यरूप जिसको प्रेमा–प्रेमलक्षणा आदि नामोंसे कहा है । इनमें सेवा साधनरूप है और प्रेम साध्य है । अब यह विचार करना चाहिये कि सेवा किसका नाम है । इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि स्वामी जिससे सन्तुष्ट हो उस प्रकारके भावसे भावित होकर आचरण करनेका नाम सेवा है । शास्त्रोंमें उनके अनेक प्रकारके लक्षण बतलाये गये हैं ।

तुलसीकृत रामायणमें शबरीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन, करै कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥
सातवँ सब मोहि मय जग देखा । मोते संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ यथालाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखै पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ॥

तथा श्रीमद्भागवतमें भी प्रह्लादजीने कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना–यह नव प्रकारकी भक्ति है ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें भक्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनेक लक्षण बतलाये गये हैं किन्तु विचार करनेपर सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है । तात्पर्य सबका प्रायः एक ही है कि स्वामी जिस भाव और आचरणसे सन्तुष्ट हो उसी प्रकारके भावोंसे भावित होकर उनके अनुकूल आचरण करना ही सेवा यानी भक्ति है ।

अब कल्याणके पाठकोंके लिये श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके द्वारा बतलायी हुई नवधा भक्तिके विषयमें उसके स्वरूप, विधि, प्रयोजन, हेतु, फल और उदाहरणका दिग्दर्शन कराते हुए संक्षेपसे लिखा जाता है । इस उपर्युक्त नवधा भक्तिमेंसे एकका भी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है; फिर जो नवोंका अच्छी प्रकारसे अनुष्ठान करनेवाला है उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है ।

श्रवण

भगवान्के प्रेमी भक्तोंद्वारा कथित भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यभरी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्तिका स्वरूप है ।

उपर्युक्त श्रवणभक्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंको साष्टाङ्ग प्रणाम, उनकी सेवा और उनसे नित्य निष्कपटभावसे प्रश्न करना और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करना यह श्रवणभक्तिको प्राप्त करनेकी विधि है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

'हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान; वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानी जन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

महापुरुषोंके द्वारा वर्णित उपर्युक्त श्रवणभक्तिको प्राप्त करके प्रभुमें अनन्य प्रेम होनेके लिये प्रभुके भक्तोंमें उनका प्रचार करना—यह उसका प्रयोजन है ।

यह श्रवणभक्ति महापुरुषोंके संग बिना प्राप्त नहीं होती । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

बिनु सत्संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥

किन्तु महापुरुषोंके संगके अभावमें उच्च श्रेणीके साधकोंका संग एवं महापुरुषविरचित ग्रन्थोंका अवलोकन करना भी सत्संगके ही समान है ।

सत्संग न होनेसे विषयोंका संग तो स्वाभाविक होता ही है । उससे मनुष्यका पतन हो जाता है और सत्संगसे प्रत्यक्ष परमलाभ होता है क्योंकि मनुष्यके जैसा-जैसा संग होता है उस संगके अनुसार ही उसपर वैसा-वैसा प्रभाव पड़ता है । और श्रवणभक्ति भी सत्संगसे ही मिलती है क्योंकि सत्संग ही श्रवणभक्तिका हेतु है तथा सत्पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और संगसे पापी पुरुष भी परम पवित्र बन जाता है । महापुरुषोंकी कृपाके बिना कोई भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकता । श्रीमद्भागवतमें राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं कि—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(५ । १२ । १२)

'हे रहूगण ! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान किये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, गृहस्थधर्मपालन और वेदाध्ययनसे तथा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे वह परमतत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त होता ।'

अतएव इससे यही सिद्ध होता है कि सारे कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंके संगसे ही होती है । श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवके प्रति कहते हैं कि—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥
(११ । २६ । ३१, ३३)

'हे उद्धव ! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकारका नाश हो जाता है उसी प्रकार सन्त-महात्माओंके सेवनसे सम्पूर्ण पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है ।'

'जैसे प्राणियोंका जीवन अन्न है और दुखी पुरुषोंका आश्रय मैं हूँ तथा मरनेपर मनुष्योंका धर्म ही धन है, वैसे ही जन्म-मरणसे भयभीत हुए व्याकुल पुरुषोंके लिये निश्चय ही सन्त-महात्माजन परमाश्रय हैं ।'

न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
(११ । १२ । १-२)

'जैसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका नाश करनेवाला सत्पुरुषोंका संग मुझको अवरुद्ध कर सकता है अर्थात् प्रेम-पाशसे बाँध सकता है वैसे योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, कूप-तड़ागादिका निर्माण, दान तथा व्रत, पूजा, वेदाध्ययन, तीर्थाटन, यम-नियमोंका पालन—ये कोई भी नहीं बाँध सकते अर्थात् इनके द्वारा मैं वशमें नहीं आ सकता ।'

महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है । इसलिये भगवत्प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको उन सत्पुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये । देवर्षि नारदजी भी कहते हैं—

'महत्सङ्गस्तु॰ दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ' (ना॰ सूत्र ३९)

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है ।'

अतः—

'तदेव साध्यताम्, तदेव साध्यताम् ।' (ना०सूत्र ४२)

'उस सत्संगकी ही साधना करो—सत्संगकी ही साधना करो अर्थात् संत महापुरुषोंका संग, सेवा और आज्ञाका पालन करो ।'

सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त हुई इस प्रकारकी केवल श्रवण-भक्तिमात्रसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है—यह उसका फल है। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।'

नारदजीने भी श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें सनकादिके प्रति कहा है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः ।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते ॥
(५ । ७६)

'हे तपोधनो ! मैं भगवान्के गुणानुवादोंके श्रवणको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि भगवान्के गुणानुवाद सुननेसे वैकुण्ठस्थित भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।'

केवल श्रवणभक्तिसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण मिलते हैं तथा इतिहास और पुराणोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे राजा परीक्षित् भागवतको सुननेसे ही परमपदको प्राप्त हो गये। श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें लिखा है—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥
(६ । १००)

'हे विषयरूप विषके संसर्गसे व्याकुलबुद्धिवाले पुरुषो ! किस लिये कुत्सित वार्तारूप कुमार्गमें व्यर्थ घूम रहे हो ? इस असार संसारमें कल्याणार्थ आधे क्षणके लिये तो अपार अमृतमय शुकदेवकी कथाका पान करो। श्रवणसे मुक्ति हो जाती है—इस कथनके लिये परीक्षित् साक्षी (प्रमाण) है ।'

धुन्धुकारी-जैसा पापी भी केवल भगवान्के गुणानुवादोंके सुननेके प्रभावसे तर गया तथा शौनकादि बहुत-से ऋषि भी पुराण और इतिहासके श्रवणमें ही अपने समयको व्यतीत किया करते थे—वे कभी भी नहीं अघाते थे।

इस मनुष्यजीवनके लिये और कोई भी इससे बढ़कर आनन्ददायक श्रवणीय विषय नहीं है और यह महापुरुषोंके संगसे ही प्राप्त होता है। इसलिये महापुरुषोंके संगके समान आनन्ददायक लाभप्रद संसारमें कोई भी पदार्थ मनुष्योंके लिये नहीं है। श्रीमद्भागवतमें सूतजी कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(१ । १८ । १३)

'भगवत्संगी अर्थात् नित्य भगवान्के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके समान स्वर्ग तथा मोक्ष नहीं है, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ?'

अतएव अपना सारा जीवन महापुरुषोंके संगमें रहते हुए भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वकी अमृतमयी कथाओंको निरन्तर सुननेकी चेष्टा करनी चाहिये और उन्हें सुन-सुनकर प्रेम और आनन्दमें मुग्ध होते हुए अपने मनुष्यजीवनको सफल बनाना चाहिये।

(अपूर्ण)

अध्यात्मविद्याका महत्त्व

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

बाबा श्रीलालदासजी उपदेश कर रहे थे और युवराज दाराशिकोह (बादशाह औरंगज़ेबका बड़ा भाई) अपने प्रश्नोंका समुचित उत्तर पाकर सन्तुष्ट होकर प्रश्न-पर-प्रश्न करता जाता था। मीर मुंशी रायचन्द उसे लिखते जाते थे। उपस्थित प्रश्न यह था कि 'माया और प्रपञ्चमें क्या भेद है? प्रकृति और उसके द्वारा उत्पन्न पदार्थोंमें क्या अन्तर है?'

बाबाजीने कहा—'कुछ लोग इनकी तुलना वट-बीज एवं वट-वृक्षसे करते हैं। कार्य-कारण-सम्बन्ध होनेपर भी बीज और वृक्ष दोनों समान हैं। यद्यपि वे तत्त्वतः एक हैं तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वे सम-सामयिक भी हों। इनकी उपमा समुद्र और तरङ्गसे भी दी जाती है। तरङ्गकी स्थिति समुद्रके बिना असम्भव है; लेकिन प्रशान्त समुद्र बिना तरङ्गके भी अपनी स्थिति अक्षुण्ण रख सकता है। हाँ, तरङ्गित होनेके लिये वायुकी आवश्यकता अनिवार्य है। इसी तरह प्रकृति और प्रकृतिसे उत्पन्न वस्तुओंमें यद्यपि कुछ भी भेद नहीं है तथापि प्रकृति-गङ्गाको तरङ्गित करके सृष्टिरूपमें लानेके लिये परमात्मारूपी पवनकी नितान्त आवश्यकता है।'

बाबाजीका व्याख्यान ज्यों ही समाप्त हुआ त्यों ही एक शून्यवादी बौड़म फक़ीर आया और बोला—'सब कुछ शून्य है। आस्तिकता और नास्तिकता, माया और ब्रह्म—सब भ्रमजाल है। ब्रह्माण्ड, सप्तद्वीप—नवखण्ड, आकाश और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा, ब्रह्मा, विष्णु और शिव, कूर्म और शेष, गुरु और शिष्य, जीव और अजीव, मन्दिर और देवता, आचार और विचार, सब शून्य है।'

इस प्रलापको सुनकर युवराज क्रुद्ध हो गया और शासन करनेको ही था कि बाबा लालदासजीने स्वयं उठकर स्वागतपूर्वक उसे अपने पास बैठा लिया। और युवराजकी ओर एक कटाक्ष फेरकर उसका क्रोध शान्त कर दिया। फिर कहा—'ज्ञानी पुरुष वही है जो विविध विचारोंसे टक्कर लेता हुआ अपनी जगहपर बना रहता है। नहीं तो वह स्थिति-प्रज्ञानसे वञ्चित ही तो रह जायगा न! तामसी वृत्तिको धारण करते ही वह अपनी महिमा घटाकर, पद-च्युत होकर, सात्त्विकतासे गिरकर, क्या स्वयं नास्तिक नहीं बन जाता? असफलमनोरथवाला प्राणी, दीर्घरोगी क्या वे ही बातें नहीं कह पड़ते हैं? क्या वे हताश एवं निराश होकर नहीं कहते हैं कि 'न कोई ईश्वर है, न देव, न पितृ, हमारा विश्वास सबसे उठ गया।' परन्तु उस समय उस विकल प्राणीको कोई दण्डनीय नहीं समझता। अजी, जिसको ये महात्मा शून्य कहते हैं, क्या वह ब्रह्म नहीं है? क्या—'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।'—इस श्रुतिमें इस बातका उल्लेख नहीं है कि मूलारम्भमें असत् नहीं था और सत् भी नहीं था, अन्तरिक्ष नहीं था और उसके परेका आकाश भी नहीं था। तब किसने किसपर आवरण डाला? कहाँ? किसके सुखके लिये? अगाध और गहन जल भी कहाँ था?' फिर महात्माकी ओर दृष्टि फेरकर, मुसकराते हुए कहा—'खं ब्रह्म'। शून्यवादी यती तत्क्षण सदेह लुप्त हो गया, अदृश्य हो गया, अनन्त शून्यमें मिल गया।

इस दृश्यको देखकर और उपदेश सुनकर दाराशिकोह चकित रह गया और अध्यात्मविद्याके महत्त्वकी सराहना मन-ही-मनमें करने लगा।

(रमूज़े—वहदानियतसे)

क्या संसार सत्य है ?

(तिरुवन्नमलैके संत श्रीरमण महर्षिका उपदेश)

[उनके एक शिष्यद्वारा प्राप्त]

यदि हम संसारको, जो हमारे मार्गमें बाधक है, त्यागकर आत्माकी खोजमें, जो नित्य पदार्थ है, पूर्णतः लग जाते तब तो यह प्रश्न ही न उठता कि संसार सत्य है या मिथ्या? तब तो संसार सत्य है या मिथ्या, इससे हमारा प्रयोजन ही न रहता।

वृथैव वादान् प्रवदन्ति सच्चित्
सुखं च विश्वं भवतीति नेति।
हित्वेदमन्तः स्वमवेत्य निष्ठा
मुक्ताहमा स्यादखिलप्रिया हि॥

अर्थात् व्यर्थ ही मनुष्य इस बातको लेकर विवाद करने लगते हैं कि संसार सच्चिदानन्दस्वरूप है या इसके विपरीत? क्योंकि आत्मानुभूति किसे प्रिय नहीं लगती, अहंकारका त्याग किन्हें इष्ट प्रतीत नहीं होता, संसारसे दूर हटकर कौन अपने अन्दर पैठना नहीं चाहता? सबको यही तो प्रिय है।

यहाँ स्वामीजीका कथन है कि स्वभावसे मनुष्यमात्र अद्वैती ही हैं, यद्यपि उन्हें इसका बोध नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि मनुष्यमात्र सुखकी नींद सोना पसंद करते हैं। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि सुखकी नींद सोनेकी स्थितिसे आत्मस्वरूपका कई अंशोंमें साम्य है। इस आत्मस्वरूपकी सिद्धि ही अद्वैतीका लक्ष्य है और इसके सबसे निकट यदि जीवनकी कोई वस्तु पहुँचती है तो वह निर्विघ्न गाढ़ी नींद ही है।

अस्तु, संसारसम्बन्धी प्रश्न तो इस कारण उठता है कि हमारे अन्दर अपने वास्तविक स्वरूपको उपलब्ध करनेकी इच्छा शिथिल है। जबतक हम अपने अन्दर इस विश्वासको पुष्ट करते रहेंगे कि संसार पूर्णरूपसे सत्य है तबतक हमारे विचार उसमें लिप्त रहेंगे ही। हमारे चित्तमें, अज्ञातरूपसे ही सही, संसारकी वासना बनी ही रहेगी और हम भगवान्के अस्तित्वपर शंका करते ही रहेंगे। संतों और महात्माओंने अनुभव किया है कि संसार और सत्य परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं। इनमेंसे एकको यथार्थ माननेपर दूसरेके यथार्थत्वमें अवश्य ही बाधा आवेगी। गीतामें 'या निशा सर्वभूतानाम्' आदि भगवद्वाक्य तथा 'स्वाज्ञानज्ञानहेतू जगदुदयलयौ' आदि आचार्य शंकरकी उक्तियाँ इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। अतः जबतक इस कल्पनाका अल्पांश भी हमारे अन्दर रहेगा कि संसार सत् है तबतक संसार ही हमारे सुखका एकमात्र आधार रहेगा, वह सुख कितना ही अपूर्ण और अतृप्तिकर क्यों न हो।

दूसरी बात यह है कि संसारको मिथ्या माननेका विचार यदि दृढ़ न किया जायगा तो हमारे मनमें उसके सत्य होनेका विचार अवश्य दृढ़ होता जायगा। कारण यह है कि मनुष्यका मन किसी भी प्रश्नके सम्बन्धमें अनिर्णीत अवस्थामें नहीं रक्खा जा सकता। कोई भी प्रश्न, चाहे वह कितना ही बेहूदा या अप्रासंगिक हो, जब एक बार उत्पन्न हो गया तब उसका उत्तर मनको चाहिये ही, चाहे वह उत्तर जो हो। फिर यह प्रश्न वैसा बेहूदा या अप्रासंगिक है भी नहीं जिस प्रकारके प्रश्नोंसे दूर रहनेका स्वामीजीका आदेश है।

इस सत्यासत्यके प्रश्नका विवेचन करनेके लिये हमें सत्यकी कोई कसौटी चाहिये। उसी कसौटीका प्रयोग नियमबद्ध होकर करना होगा। इस विषयकी एक कसौटी तो अद्वैतियोंकी है और दूसरी अन्य समस्त मतावलम्बियोंकी। इस आरम्भिक

भेदके कारण यह कह देना अच्छा होगा कि अद्वैतियोंकी धारणासे अन्य धारणाओंका विरोध नहीं पड़ता ।

सत्की अद्वैतमतसम्मत परिभाषा गीतामें इस प्रकार की गयी है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

अर्थात् जो असत् है उसका अस्तित्व ही नहीं होता, जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता। तत्त्वदर्शियोंके द्वारा देखा गया यही उन दोनोंका यथार्थ स्वरूप है।

यही परिभाषा श्रीगौड़पादने भी की है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

अर्थात् जो वस्तु आदिमें नहीं थी तथा जो अन्तमें भी नहीं रहेगी वह इस समय (वर्तमानमें) भी नहीं है।

स्वामीजी भी यही परिभाषा करते हैं या नहीं, इसका उत्तर यह है कि हाँ, कम-से-कम अपने अद्वैती शिष्योंके लिये तो वे यही परिभाषा किया करते हैं। जिन्हें यह रुचिकर न हो वे पूरी स्वतन्त्रताके साथ दूसरी कोई व्याख्या करें। पर वे यह न कहें कि उनकी वह व्याख्या ही एकमात्र व्याख्या है। इस सम्बन्धमें स्वामीजी कहते हैं—

द्वयं सहोदेत्यपि चास्तमेति
मतिप्रकाश्यं च जगन्मतिश्च ।
लयोदये स्तो द्वितयस्य यस्मिन्
सदोदिते सत्तदवेहि पूर्णम् ॥

अर्थात् मन और उससे भासित होनेवाला जगत्, ये दोनों साथ ही उदय और अस्त होते हैं। पर सत् पदार्थ तो वह है जो निरन्तर प्रकाशित हो और जिसमें वे दोनों (संसार और मन) उदय और अस्त हों।

संसार और मानव-मन इन दोनोंका अटूट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरेके बिना प्रकाशित नहीं होते। इनमें मन उच्चतर वस्तु है, क्योंकि बिना मनके संसार भासित नहीं होता, उसका प्रकाशित होना मनपर अवलम्बित रहता है। गाढ़ी नींदमें (जब मनुष्यका मन निश्चल रहता है) संसारका भान नहीं होता। तथापि मन और जगत्को अभेद्य युग्म ही मानना पड़ेगा। यह युग्म असत् है, क्योंकि यह रह-रहकर उदय और अस्त होता है। इस कारण यह स्पष्ट लक्षित होता है कि एक शाश्वत या नित्य सत्ता है जिसके अन्दर यह युग्म कभी प्रकट और कभी लुप्त होता रहता है।

यहाँ हम पाठकोंको स्मरण दिलाते हैं कि जीवनकी तीन विशेष अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओंमें संसारकी सत्ता एक रूपमें नहीं रहती, इसलिये वह असत् है।

एक अन्य प्रमाण भी यहाँ सुझाया जाता है। वह है आत्मप्रकाश होनेपर इन दोनोंकी स्थितिका प्रमाण। इसके अनुसार भी संसारका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। स्वामीजी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि नाम-रूप, देश-काल तथा अन्य समस्त उपकरण जो संसारका निर्माण करते हैं; अस्ति-नास्तिके द्वन्द्व तथा कर्त्ता, कर्म और उनका पारस्परिक सम्बन्ध—ये सब मनुष्यके आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर नहीं रह जाते।

यह प्रमाण निश्चय ही दृढ़ और अकाट्य है। परन्तु इसे स्वीकार करना कठिन है क्योंकि मन एक दुर्बल वस्तु है, वह उक्त तत्त्वकी निर्लेप धारणा करनेमें प्रायः असमर्थ होता है। मानसिक साधनाके लिये प्रोत्साहन देते हुए स्वामीजी जगत्के विषयमें निम्नलिखित उपदेश देते हैं—

शब्दादिमात्रं निखिलं जगच्च
श्रोत्रादिबुद्धीन्द्रियपञ्चकेन

एकं मनो यत्समवैति तस्मात्
जगत् किमु स्यान्मनसः पृथक् सत् ॥

अर्थात् एक मन ही श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा संसारका भान करता है—उस संसारका जो शब्दादिमात्र है—अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता है—मनसे पृथक् उसका अस्तित्व है ?

यहाँ स्वामीजी एक ऐसे तथ्यपर जोर देते हैं जिसे सभी श्रेणीके दार्शनिकोंने स्वीकार किया है—यह कि मनको जो कुछ भासित होता है वह प्रधानतः बाह्य संसार नहीं है अपितु क्षण-क्षणमें परिवर्तित होनेवाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि इन्द्रिय-विकार ही हैं। इन विकारोंके परिणामस्वरूप संसारकी सत्ताका आभास होता है। यह सिद्ध कर देना होगा कि ऊपर प्रदर्शित किया गया क्रम निर्विवाद सत्य है। इसे सिद्ध करनेकी कठिनाई, सांसारिकोंको भी—भौतिक विज्ञानविशारदोंको भी अनुभव होती है। विज्ञान इस अनुभवका विरोध कर रहा है कि संसार वास्तवमें अदृश्य ही नहीं, अपितु अचिन्त्य भी है। सर जेम्स जीन्स-जैसे दार्शनिक मनोवृत्तिवाले वैज्ञानिकोंके लेखोंमें ऐसे ही विचार मिलते हैं।

परन्तु इस स्थानपर स्वामीजी केवल उतने स्वल्प बोधकी आवश्यकता बतलाते हैं जितनेके बिना काम नहीं चल सकता। वे पूरे प्रश्नका सामना करनेके लिये यहाँ हमें बाध्य नहीं करते—केवल आंशिक रूपमें ही काम चला लेते हैं। वे हमें इतना ही समझ लेनेको कहते हैं कि संसार यदि सत्य भी हो तो भी वह कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है—मनःसापेक्ष है। उसका अस्तित्व वस्तुविशिष्ट नहीं है, अधिक-से-अधिक व्यक्तिविशिष्ट हो सकता है।

यदि यह किसी प्रकार सिद्ध किया जा सके कि संसार इससे अधिक है अर्थात् वह मनसे निरपेक्ष सत्ता रखता है, तब तो हमारे इस प्रयासकी समाप्ति ही हो जाय। परन्तु यह सिद्ध करना कि संसार निर्विकल्प सत्य है, उनका काम है जिनका यह पक्ष हो। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अबतक किसीने यह कार्य पूरा नहीं किया। स्वामीजीका आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति यह कहकर कि संसारका व्यक्तिविशिष्ट अस्तित्व है, इस परिणामपर नहीं पहुँच सकता कि उसका अस्तित्व वस्तुरूपमें (या वास्तविक) भी है।

स्वामीजीके द्वारा दिये गये निम्नलिखित उपदेशोंसे ऊपरकी बात और भी पुष्ट हो जायगी। पहली बात तो यह है कि हम अपने मनमें अनेक प्रकारके भेद करते हैं, जिन्हें हम संसारपर आरोपित किया करते हैं। भेद तो हमारे मनमें है पर हम बिना भलीभाँति विचार किये यही समझते हैं कि वह सांसारिक वस्तुमें है। इनमेंसे एक भेद यह है कि हम किसी भी वस्तुके बाह्य और आन्तरिक स्वरूपको परस्परविरोधी समझते हैं। यह स्पष्टतः हमारे मनकी कल्पना है, वस्तुमें विरोध नहीं है। तथा ऐसे ही समस्त कृत्रिम विभेदोंका कारण हमारी यह धारणा है कि शरीर ही (बाह्य आकृति ही) वस्तुओंका स्वरूप है। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये सबसे पहले यह धारणा करनी होगी कि शरीर वस्तुका स्वरूप नहीं है। इसलिये यह कहना तत्त्वकी बात नहीं है कि कोई बाह्य संसार है।

एक अन्य भेदपर भी हम यहाँ विचार कर लें। यह ऊपर-नीचेका भेद है जिसके सम्बन्धमें स्वामीजी विष्णुपुराणकी एक शिक्षाप्रद कथा कहा करते हैं। ऋभु नामक एक महर्षि एक बार अपने एक पुराने शिष्य निदाघसे मिलने गये। शिष्य महोदय पहले-पहल अपने गुरुजीको पहचान न सके। बात यह थी कि महर्षि ऋभु अपने ग्राम्य-

वेशमें थे और ये तो नगरनिवासी थे। इन्होंने समझा कि कोई देहाती शहर देखने आया है। उसी समय नगरके अधिपतिकी सवारी समारोहके साथ निकली। साधुजी भी अपना परिचय न देकर चातुरीके साथ उन भूले हुए शिष्यसे ऐसे प्रश्न पूछने लगे जैसे प्रश्नोंकी कल्पना शिष्यने पहलेसे ही कर ली थी। वे पूरे देहाती बनकर कहने लगे—

'यह क्या दिखायी देता है ?'

'यह महाराजकी सवारी निकली है।'

'इनमें महाराज कौन-से हैं ?'

'जो हाथीपर बैठे हैं।'

साधुने फिर पूछा, 'इनमें हाथी कौन है और राजा कौन ?'

तब तो निदाघने समझा कि यहाँ तो किसी मामूली गँवारसे पाला नहीं पड़ा है। वह कुछ सोच-विचारकर सहसा उछलकर साधुके कंधेपर सवार हो गया और बोला—'अब देखो, हम ऊपर राजाके समान हैं और तुम नीचे हाथीके समान हो।' फिर भी साधुने पूछा—'यह ऊपर-नीचेकी बात मैंने नहीं समझी; इससे तुम्हारा मतलब क्या है ?'

और, ये महर्षिके प्रश्न तबतक चलते रहे जबतक निदाघको यह ज्ञान नहीं हो गया कि ये हमारे गुरुजी हैं जो सामने खड़े हैं, जिनके कंधेपर कूदकर मैं अभी-अभी चढ़ा था।

वह लज्जित तो हुआ, पर उसे यह शिक्षा मिल गयी कि वास्तवमें ऊपर-नीचे या ऐसे ही अन्य भेद केवल मनकी कल्पना हैं, वास्तविक नहीं हैं।

और भी एक उदाहरण है जिससे उपर्युक्त तथ्यके ग्रहण करनेमें सहायता मिलती है; वह है स्वप्नोंका उदाहरण। हमारे जागरण और स्वप्नमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। स्वामीजी हमें समझाते हैं कि जबतक स्वप्नका अन्त नहीं होता तबतक यह कोई नहीं समझ पाता कि वह स्वप्न देख रहा है जो एक मिथ्या वस्तु है। वह स्वप्न था यह तो जागनेपर ही जाना जा सकता है। स्वामीजी कहते हैं, ठीक इसी प्रकार हमारी वर्तमान जागृति तभी पूरी होगी जब हम इस नींदसे जागेंगे जिसमें सोते हुए यह संसारका स्वप्न देख रहे हैं। यह मायाकी निद्रा या मोह-निद्रा है जिसमें हमें वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। इस मोह-निद्रामें सोते हुए यदि हम इस संसारस्वप्नको छोड़नेके लिये तैयार नहीं हैं तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि स्वप्न सत्य है। स्वामीजीने हमें यह भी बताया है कि हमारा जो जाग्रत् जीवन है वह ईश्वर तथा उसके सच्चे साथियोंके लिये, जो मायाकी नींद त्याग चुके हैं, स्वप्नमात्र है।

जो इस तथ्यको नहीं समझ सकते वे इस भ्रमपूर्ण भावसे विचलित होते रहते हैं कि अद्वैतीके मतानुसार जीवनका सुखोपभोग नहीं किया जा सकता। वास्तवमें अद्वैतीको इस जीवन-सुखसे कोई विरोध नहीं है, जिस प्रकार किसी जागनेवालेको उस व्यक्तिसे विवाद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती जो सोता हुआ स्वप्न देख रहा हो और उस स्वप्नके सुखमें मग्न हो रहा हो।

परन्तु अपनी भावनाके कारण तथा अद्वैतमतकी ऊँचाईतक न पहुँच पानेके कारण, वे अपरमतानुयायी अद्वैतसिद्धान्तको उखाड़ फेंकनेके इच्छुक रहते हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि संसार वास्तविक रूपमें सत्य है।

ऐसा करते हुए वे इस अखण्डनीय तथ्यकी अवहेलना करना चाहते हैं कि यह संसार निरन्तर एक रूपसे भासित नहीं होता। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वास्तवमें संसार निरन्तर एक ही रूपमें रहता है। उनका कथन है कि यद्यपि यह सत्य है कि निद्रामें व्यक्तिके सम्मुख संसारः

का अस्तित्व नहीं रहता पर दूसरे व्यक्ति जो सोये नहीं हैं वे तो संसारको देखते ही रहते हैं। सोनेवाला जब जागे और संसारको देखे तब वह इन जागनेवालोंका साक्ष्य लेकर यह कह सकता है कि इस बीचमें संसार निरन्तर, बिना किसी विक्षेपके, वर्तमान रहा है, अतः जो संसार उसके सोनेके पूर्व था ठीक वही जागनेके पश्चात् भी है।

ऊपरसे यह विश्वसनीय-सा मालूम पड़ता है पर वह साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जा सकता, जो साक्षी उस व्यक्तिके सोते समय जागते रहे वे और जिन्होंने संसारके एकरूप रहनेकी गवाही दी, स्वयं संसारके ही एक अंश हैं अतः वे पहले तो उस व्यक्तिकी मानसिक कल्पनामात्र हैं। उनका वास्तविक अस्तित्व तो स्वतन्त्र प्रमाणसे सिद्ध होना चाहिये, तभी उनकी गवाही ली जा सकती है। पर वैसी गवाही दी ही नहीं जाती। इसलिये यह सम्पूर्ण तर्क न्यायसे बाधित होता है। इसका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। अन्तमें फिर कहना पड़ता है कि संसारकी वास्तविकता सिद्ध करनेका कोई प्रमाण नहीं है।

इस अद्वैतशिक्षाको स्वीकार करनेमें इस कारण भी बाधा पड़ती है कि हमारे मनमें यह धारणा बँधी हुई है कि मन तो एक अत्यन्त छोटी वस्तु है और संसार तो अत्यन्त विराट् है। हमने समझ लिया है कि मन हमारे शरीरमें स्थित, खोपड़ीके ठीक नीचे एक लघुतम वस्तु है और संसार तो अपार विस्तारवाला है। परन्तु स्वामीजीसे हमें शिक्षा मिलती है कि बात बिलकुल उलटी है। हम अपने अहंभावके कारण शरीरको ही अपना स्वरूप समझते हैं तथा अन्य वस्तुओंको इतर मानते हैं। पर सच तो यह है कि मन ही अपार है। यह मन आकाशकी भाँति प्रसरित है! इसमें सारा संसार, समस्त लोक और देवताओंकी पुरियाँ स्थित हैं। यहाँ भी वही स्वप्नविज्ञान काम करता है। जबतक हम स्वप्न देखते हैं तबतक यह समझते हैं कि स्वप्नकी दुनिया हमसे बाहर है और हम उसके एक स्वल्पातिस्वल्प अंशमात्र हैं। हम उस विस्तृत स्वप्न-संसारके अनन्त जीवोंमेंसे अपनेको एक समझते हैं पर जब हम जागते हैं तब हमारी समझमें आता है कि यह सब तो हमारे मनके भीतरका ही संसार था। यह स्वप्नका रूपक दक्षिणामूर्तिस्तोत्रके प्रथम पद्यमें प्रयुक्त हुआ है। स्वामीजीने उसे तामिलभाषामें हमारे सामने रक्खा है और वह अब उन्हींकी अपनी शिक्षाके रूपमें गृहीत हो गया है।

अब हम संसारके नीरस और निःसार होनेका कारण देख सकते हैं। जो वस्तु सत् नहीं है वह निःसार न हो तो और हो ही क्या सकती है? निश्चय ही 'सत्' शब्दका प्रयोग यहाँ ऊपर कहे गये तात्त्विक अर्थमें ही किया जा रहा है।

इस प्रकार जो दो बातें उपर्युक्त विवेचनकी अंग थीं (अर्थात् संसार सत् माना जाय या असत्) उनमें साधक इसीको ग्रहण करेगा कि संसार सत् नहीं है। कहा जा सकता है कि यहाँ एक और भी पक्ष है। स्वयं स्वामीजी इस पक्षका निर्देश करते हैं। उसका तात्पर्य यह है कि संसार एक अर्थमें तो सत् है पर दूसरेमें असत् है। ये दोनों स्वरूप परस्परविरोधी नहीं वरं सहायक हैं। भाव यह है कि इस प्रश्नका कोई एक निश्चित उत्तर नहीं हो सकता। वास्तवमें यही सत्य भी है। इसका निरूपण 'रिवेलेशन' नामक एक अप्रकाशित पुस्तकमें किया गया है। विषय अधिक दुरूह होने तथा उसके बिना जाने भी काम चल सकनेके कारण यहाँ हम उसे नहीं दे रहे हैं।

एक और प्रश्न जो शेष रहता है यह है कि यदि संसारकी कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है तो क्या कम-से-कम उसकी व्यक्तिविशिष्ट सापेक्ष सत्ता भी नहीं है ?

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि यदि मनकी वास्तविक सत्ता होती तब तो संसारकी सापेक्ष सत्ता मानी जा सकती थी (क्योंकि संसार मनःसापेक्ष तो सिद्ध किया ही जा चुका)। पर ऊपरकी व्याख्यासे यह भी सिद्ध है कि संसारकी ही भाँति मन भी अवास्तविक है, क्योंकि संसार और मन दोनों उस तत्त्वमें जो वास्तविक है, सन्निहित होकर सो जाते हैं (अर्थात् आत्माका प्रकाश होनेपर विलीन-से हो जाते हैं)।

तथापि उस प्रश्नपर अभी विस्तृत अध्ययनकी आवश्यकता है। स्वामीजीका कथन है कि मन तो विचारोंकी एक परम्परामात्र है। इस परम्परामें अहंभाव ही कारण है। यही प्रधान विचार है क्योंकि इसीपर मनुष्यका व्यक्तित्व (जीव) अवलम्बित है। व्यक्तित्व जीवनकी प्रमुख वस्तु है। अतः उसका अध्ययन और मनन करना चाहिये।

अध्यात्मशक्तिसे लाभ

(लेखक—पण्डित श्रीलालजी रामजी शुक्ल, एम० ए०)

मनुष्यके जीवनमें सबसे अधिक महत्त्वकी शक्ति अध्यात्मशक्ति है । इसको कुछ लोग चरित्रबल, मानसिक बल अथवा आत्मबल कहते हैं। मैंने अपने किसी लेखमें निर्देश (Suggestion) का महत्त्व मनुष्यके शारीरिक बल बढ़ने तथा बुद्धिविकास होनेमें बताया है । उसका स्थान समाजपर प्रभाव डालनेमें भी बताया गया है । जो लोग अपने आपको सदा भले निर्देश दिया करते हैं, जिनकी आत्मनिर्देशकी शक्ति प्रबल है वे सदा सुखी रहते हैं, पर जो अपनेको बुरे निर्देश देते रहते हैं, अपने विचारोंको अपने प्रतिकूल कार्य करनेसे नहीं रोक सकते वे सदा दुखी रहते हैं । अपने विचारोंपर अपना आधिपत्य जमा सकना यही जीवनमें सबसे महत्त्वकी बात है । जर्मनीके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपनहार एक जगह अपनी 'World as Will and Idea' नामक किताबमें लिखते हैं—'लोग समझा करते हैं कि हम भौतिक सामग्री अपने पास एकत्र करनेसे सुखी बन सकते हैं । पर वास्तवमें हमारा सुख-दुःख अपनी मानसिक भावनाहीपर निर्भर है, अपना विचार ही हमें सुखी और दुखी बनाता है ।'

मनुष्यके पास चाहे जितना धन-ऐश्वर्य क्यों न हो, यदि उसके पास अध्यात्म-बल नहीं है तो वह सदा दुखी रहेगा । जिसके पास धन-ऐश्वर्य है ऐसा व्यक्ति अपने बड़ोंके साथ अपनी तुलना किया करता है और अपनेको उनसे छोटा देखकर सदा मनमें दुखी रहता है। वह उनसे ईर्षा करता है । इस तरहसे आत्मग्लानि और ईर्षाके कारण उसकी सब मानसिक शक्ति ह्रासको प्राप्त हो जाती है, तब फिर उसे अनेक प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं, इसके कारण वह दुखी जीवन व्यतीत करता है, और उसकी प्रबल आत्मनिर्देश-शक्ति उसके भयको वास्तविकतामें परिणत कर देती है । इस तरह वह अपनी भौतिक सामग्रीको भी खो देता है । अतएव मनको वशमें करके रखना ही सबसे बड़ा कार्य संसारमें है । शोपनहार एक दूसरी जगह लिखते हैं—'संसारका सबसे चमत्कारक व्यक्ति वह नहीं है जो दुनियाको जीत लेता है, पर वह व्यक्ति है जो अपने आपको जीत लेता है ।' स्वामी रामतीर्थने इस बातको अपनी नेपोलियनपर रचित कवितामें दरसाया है । नेपोलियनने सम्पूर्ण यूरोपपर तो विजय प्राप्त कर ली पर वह अपने आपको न जीत सका, अतएव उसका

अन्तिम जीवन कितने दुःखसे बीता यह प्रायः सभी पाठक जानते होंगे। उसे सेंट हेलनाका नरकवास करके घुल-घुलकर प्राण गँवाना पड़ा। ऐसे तो देशभक्त लोग भी प्राण गँवाते हैं, पर वह अपने भाग्यको इसके लिये कोसने लगा था और उसकी मानसिक अवस्था बड़ी करुणाजनक थी।

यह अध्यात्मशक्ति किस तरह बढ़ायी जाय। अध्यात्मशक्ति बढ़ानेके लिये कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्यका आदर्श ऊँचा होना चाहिये, उसका सिद्धान्त ऊँचा होना चाहिये। एक बार लेखक भारतवर्षकी अवनतिपर साधु श्रीकृष्णप्रेमभिखारी (प्रोफेसर रोनाल्ड निक्सन) से बात कर रहा था। उन्होंने भारतवर्ष और यूरोपके लोगोंकी तुलना करते हुए बताया कि यहाँके सिद्धान्त तो बड़े ऊँचे हैं पर उनके अनुसार आचरण करनेवाले लोग बहुत कम हैं। इसीसे यह देश फिलॉसफीमें सबसे ऊँचा होकर भी दूसरोंके द्वारा शासित हो रहा है। अंग्रेजीमें कहावत है—'Take care of the penny and the pound will take care of itself.' अर्थात् द्रव्यसञ्चयमें यदि तुम कौड़ीकी परवा करोगे तो मोहर अपने आपकी परवा स्वयं कर लेगी। यह सिद्धान्त उनके भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन दोनोंका सिद्धान्त है। अपनेमें भली आदतें डाले। अपनेको नियमबद्ध बनाये, तब अध्यात्मबल या चरित्रबल अपने-आप आ जायगा। यहाँपर लेखक कुछ उन आदतोंको तथा जीवनके साधारण नियमोंको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करता है जो मनुष्यके जीवनको सुखी बनानेमें तथा आध्यात्मिक बल बढ़ानेमें बड़ी सहायता करते हैं।

सबसे पहले मैं ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका नियम रक्खूँगा। सूर्योदयके दो घंटे पहले मनुष्योंको अपने बिस्तरसे अलग हो जाना चाहिये। इस ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेके नियममें इतना रहस्य है कि जो इसे पालन करेगा वह अपने जीवनको सफल बनानेमें तथा अपना मानसिक बल बढ़ानेमें बहुत ही कामयाब होगा। जो मनुष्य इस समय उठता है वह अपनी उन्नति या पतनपर विचार करनेका मौका पाता है। आत्मा ही आत्माका शत्रु है और आत्मा ही आत्माका बन्धु है। जो अपने आपको आप ही कल्याणकी ओर नहीं ले जाता उसे दूसरा कौन ले जा सकता है। जब अधिक लोग सोया करते हैं और प्रकृति शान्त रहती है ऐसा समय अध्यात्मविचारके लिये बड़ा अनुकूल है। संसारमें भी कामयाब होनेके लिये सूर्योदयके दो घंटे पहले उठना आवश्यक है। मनुष्य अपनी दिनचर्या इस समय ठीक कर लेता है। उसे कौन-सी परिस्थितियोंका सामना करना पड़ेगा और उसके लिये उसे क्या उपाय रखना चाहिये यह ठीक कर लेता है।

यदि हम संसारके बड़े लोगोंका जीवनचरित्र जाननेका प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि वे लोग इस नियमको पालते थे। शेरशाह एक साधारण फौजका जमादार था। उसने दिल्लीकी बादशाहत भी अपनी योग्यतासे प्राप्त कर ली और उसने देशके लिये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जो अभीतक हैं! उसकी दिनचर्या जब हम देखते हैं तो हमें उसकी इस तरहकी असाधारण उन्नतिका कारण प्रत्यक्ष मालूम होता है। वह सदा सूर्योदयके तीन घंटे पहले उठता था और ईशवन्दना करके अपनी दिनचर्या ठीककर कार्यमें लग जाता था। भगवान् बुद्ध, शङ्कराचार्य तथा हमारे समस्त महर्षि भी ऐसा ही करते थे।

सबेरे उठनेका नियम इसी कारणसे महत्त्वका नहीं है कि हमें अधिक और शान्तिका समय अपनी उन्नति और पतनपर विचार करनेके लिये मिल जाता है, वरं इसका महत्त्व जीवनमें इसलिये भी है कि वह हमारे दिनभरके समस्त जीवनको नियमबद्ध बना देता है। इसके कारण हम संसारके प्रवाहमें बहे हुए

व्यक्ति-जैसे अपनी क्रियाएँ नहीं करते, वरं उस प्रवाहका समय-समयपर सामना करते हैं और उसकी धारा भी अपने अनुकूल मोड़ लेते हैं। कार्य तो हर एक मनुष्य करता ही है, क्योंकि प्रकृति किसीको भी बेकार नहीं बैठा रहने देती। पर कार्य करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है अथवा परतन्त्र, यह उसकी मानसिक स्थिति ही बता सकती है। जो मनुष्य अपने कर्तव्यका निर्णय कार्यके शुरू होनेसे पहले ही कर लेता है वह मनुष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रताका सुख प्राप्त करता है। पर जिसे कर्तव्यका निर्णय किये ही बिना कार्यमें प्रवेश करना पड़ता है वह सदा मानसिक गुलामीकी स्थितिमें रहता है। उसे जीवन भारस्वरूप प्रतीत होता है। अपने बनाये नियमपर अपने आपको ले चलना, इसीमें सुख है, और दूसरेके बनाये नियमके अनुसार चलनेको बाध्य होना, इसीमें दुःख है। जो नियमबद्धतासे जीवन व्यतीत करना चाहता है उसके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें उठना अति आवश्यक है। क्योंकि यह एक नियम दूसरे सब नियमोंको पालन करनेके लिये शक्ति प्रदान करता है।

प्रकृति हमें सदा तमस्‌की ओर ले जाती है। आलस्य मनकी वह स्थिति है जब कि वह अध्यात्मशक्तिसे च्युत रहता है। चैतन्यताका उदय होते ही आलस्यका लोप हो जाता है। चैतन्यताकी वृद्धि आलस्यपर विजय प्राप्त करनेसे ही होती है। दोनों बातें एक ही हैं।

जिस प्रकार दिन शुरू होता है वैसे ही वह समाप्त होता है। अंग्रेजीमें कहावत है 'भली तरहसे किसी कार्यको शुरू करना उसे आधा समाप्त कर लेना है।' जिस मनुष्यका जीवन नियमबद्धतासे शुरू होता है, उसका जीवन उसी प्रकार समाप्त होता है। अतएव समस्त जीवनको नियमित बनानेके लिये यह नियम पालना अति आवश्यक है। वह मानसिक शक्तिसञ्चयकी सर्वसुलभ कुंजी है।

प्रातःकाल उठनेके लिये अलार्म घड़ी रखना उचित नहीं। अलार्मसे हमारे कार्य दूसरेद्वारा सञ्चालित होते हैं; हममें अपने आपपर निर्भर होनेकी शक्ति नहीं आती। हमको अपने आपपर भरोसा करना चाहिये। हमारा आत्मनिर्देश ही हमें समयपर जगा देता है। जो व्यक्ति अपने आपको समयपर जगनेका निर्देश करता है वह उस समयपर अवश्य जग जाता है। हमारा अव्यक्त मन उस निर्देशको पकड़े रहता है। और समय आनेपर एक नौकरका काम करता है। वास्तवमें इस अव्यक्त मनपर भरोसा करनेसे ही संसारमें सफलता प्राप्त होती है। यही हमें अनेक समयपर अशुभ कार्योंमें प्रवृत्त होनेसे रोकता है। हमें चेतावनी दिलाता है। मनुष्यको सर्वदा सजग रखता है। इसका बल बढ़ाना ही आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाना है।

जो मनुष्य अपने व्यक्त मनपर ही विश्वास करता है, उसे अपने वास्तविक बलका ज्ञान नहीं। हम कितने विद्वान् लोगोंको देखते हैं जो बहुत ही सुन्दर उपदेश दूसरोंको दे सकते हैं तथा जो बहुत सुन्दर किताबें भी लिख लेते हैं पर जिनका अपने मनपर अधिकार नहीं है। समय-समयपर पशु-जैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। जो थोड़े-से अपमानपर क्रोधसे जलने लगते हैं। थोड़ी-सी आर्थिक क्षतिपर शोकसागरमें डूब जाते हैं। किसी सुन्दरीके मधुर वचन सुनकर अपनी सब नैतिकता भूल जाते हैं। इसका क्या कारण है? उन लोगोंने विद्वत्ता प्राप्त की है। पर विद्वत्ता व्यक्त मनकी वस्तु है, उसकी पहुँच अव्यक्त मनतक नहीं। दृढ़ सङ्कल्प और अभ्यास ही अव्यक्त मनको प्रभावित करता है।

किताब पढ़नेसे बुद्धि बढ़ सकती है, पर अध्यात्मबल अभ्याससे बढ़ता है। जैसे मैस्मेरिज़्म करनेवाला चित्तकी एकाग्रताके अभ्याससे अपना मानसिक बल इतना बढ़ा लेता है कि वह दूसरोंको सहज ही अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही अपने आपको सदा वशमें रखनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। यह अभ्यास दृढ़संकल्प और अपने आपपर विश्वास करनेका अभ्यास है। अभ्याससे अव्यक्त मन प्रभावित होता है। अतएव मनुष्यको सदा अपने आपपर विश्वास करनेका अभ्यास डालना चाहिये। इसके लिये प्रातःकाल उठ जाना अति उत्तम अभ्यास है। दूसरा नियम अध्यात्मशक्तिसञ्चयके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना है। उपनिषद्में कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। अर्थात् यह आत्मा बलहीनको नहीं प्राप्त होता। आधुनिक मनोविज्ञानकी खोजोंसे यह प्रमाणित हो रहा है कि मनुष्यकी मूलशक्ति 'कार्यशक्ति' है। जो इसको सञ्चय करके उचित रूपसे प्रवाहित करता है वह अपना जीवन सफल बनाता है। और जो इसे खो देता है वह किसी कार्य करने योग्य नहीं रहता। इस शक्तिको सञ्चय करनेके लिये मनको सदा विषयोंसे रोकते रहना पड़ता है। इससे अध्यात्मशक्ति स्वयं सञ्चित हो जाती है। इसका चमत्कारपूर्ण कार्य बड़े-बड़े लोगोंकी जीवनीमें देखते हैं। अष्टावक्र, भीष्म, बुद्ध, शङ्कराचार्य, रामदास, रामकृष्ण आदि भारतवर्षके तथा प्लेटो, कीट्स, न्यूटन आदि पाश्चात्य पुरुषोंके जीवनोंको देखनेसे यह प्रमाणित है कि संसारमें कोई भी बड़ा कार्य करनेके लिये ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकारके व्यक्ति इस नियमका पालन कर सकते हैं।

अध्यात्मबलको बढ़ानेका तीसरा नियम अपने वचनको पूरा करना और समयकी पाबंदी करना है। यूरोपवालोंके समान भारतवासी समयकी पाबंदी नहीं कर पाते। समयकी पाबंदी एक बड़ी तपस्या है। डेन्मार्ककी एक महिलाने इस विषयपर बातचीत करते समय लेखकसे कहा कि भारतीयोंकी इस त्रुटिका कारण यह है कि भारतीय अपने वचनको पूरा करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। दूसरोंको बुरा न लगे इस विचारसे वे झूठा वायदा कर देते हैं। इसीलिये वे समयपर अपना कार्य नहीं कर पाते। अपने वचनको पूरा करनेका यदि हम प्रयत्न करें तो हमारा अध्यात्मबल बहुत बढ़ जायगा। वायदा पूरा न होनेपर हमें अपने आपको धिक्कारना पड़ता है, जिससे हमारे अन्दर मानसिक हीनता आ जाती है, वह न आने पावे। इस बातमें हमें यूरोपवालोंका अनुकरण करना चाहिये।

चौथा नियम दूसरोंकी निन्दा न करना है। दूसरोंकी निन्दासे हमें जितनी आध्यात्मिक हानि होती है उतनी शायद ही और किसी चीजसे होती है। पर यह हानि प्रायः सदा अप्रत्यक्ष रहती है, अतएव यह हमारे लिये सबसे बड़ी घातक है। सभी लोग इसके शिकार बन जाते हैं। महात्माजीने शराब पीने और सिगरेट पीनेकी हानिकी तुलना करते हुए यह दिखलाया है कि सिगरेटका पीना मनुष्यके लिये अधिक हानिकर है। क्योंकि इसकी हानि प्रत्यक्ष नहीं होती और इस बातको लोग इतना बुरा नहीं कहते जितना कि शराब पीनेको, इसलिये इससे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं है। दूसरोंकी निन्दा करना एक प्रकारका सिगरेट पीने-जैसा नशा है जिसका अभ्यास हमारी अध्यात्मशक्तिको नष्ट कर देता है। पं० इकबाल नारायण गुर्टूजीकी बैठकमें एक बार लेखकने यह सुवाक्य (मॉटो) लिखा देखा—'दूसरोंके बारेमें कभी ऐसी बात न कहो जैसी तुम उसके सामने न कह सको।' (Speak not of others as you would not speak of them before themselves.)

बड़े-बड़े प्रतिष्ठित समाजोंमें देखा गया है कि जबतक कोई व्यक्ति उपस्थित रहता है तबतक तो उसकी बड़ाई होती है और उसके चले जानेपर उसके चरित्रकी नुक्ताचीनी होने लगती है ।

दूसरोंकी निन्दासे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य मितभाषी बने । मनुष्यकी आयु दो बातोंसे अवश्य क्षीण होती है—अधिक विलास और अधिक भाषण । अपने आपको बोलनेसे रोकना ऐसा ही तप है जैसा कि ब्रह्मचर्य । इस तपके कारण असत्य और निन्दा दोनोंसे मनुष्य बचता है । जैसे सांसारिक कामयाबीकी दृष्टिसे यह वाक्य महत्त्वका है—'सबकी बात सुनो पर बोलो बहुत कम' (Give everyone thy ear but few thy tongue), उसी प्रकार अध्यात्म-दृष्टिसे भी यह सिद्धान्त बड़े महत्त्वका है ।

पाँचवाँ नियम अयाचकव्रतका पालन है । दूसरोंका उपकार सहना यह मनुष्यको सबसे बड़ा भार मानना चाहिये । जिस मनुष्यकी आदत दूसरोंका उपकार सहनेकी हो जाती है वह संसारमें कोई भी बड़ा कार्य नहीं कर सकता । वह आत्मापर भरोसा करना नहीं सीख पाता । उसकी मानसिक अवस्था सदा गिरी हुई रहती है । अंग्रेजीमें कहावत है—'A charity boy seldom prospers' (दूसरोंके दानसे पालित लड़का बहुत ही कम फूलता-फलता है) । जो बालक विद्योपार्जनके लिये दूसरोंसे मदद लेता है उसको अपने मनमें उस पैसेको लौटा देनेका दृढ़ संकल्प करना चाहिये ।

इसी नियमके साथ यह भी आता है कि दूसरोंसे हमें जहाँतक हो सके उधार भी न लेना चाहिये । जब मनुष्यको उधार लेनेकी आदत पड़ जाती है तो वह अपनी आयसे अधिक व्यय करने लगता है । उधार लेते समय रुपया नहीं देना पड़ता इसलिये एक प्रकारकी बेपरवाहीकी आदत लोगोंमें पड़ जाती है । 'रुपया देना जरूर है' ऐसा दृढ़ सङ्कल्प नहीं रहता । यह आत्मिक पतन है और इसके कारण उनको मानसिक क्लेश भोगने पड़ते हैं । दूसरोंसे कोई वस्तु उधार न लेना एक तप है जिसके करनेसे आत्मशक्ति बढ़ती है । यह एक छोटी-सी बात है, किन्तु इसका जीवनमें बड़ा महत्त्व है ।

छठा नियम स्वाध्याय करते रहनेका है । प्रतिदिन कुछ-न-कुछ अध्यात्मविषयमें मनुष्यको पढ़ते रहना चाहिये । हमारे विचार हमारे चरित्रगठनमें बड़ा स्थान रखते हैं । योगवासिष्ठमें कैवल्यप्राप्तिके चार उपाय बताये हैं—यम, सन्तोष, सत्संग और विचार । आधुनिक कालमें बड़ेसे बड़े महात्माका सत्सङ्ग हमें पुस्तकोंद्वारा सुलभ है । उससे हमें लाभ उठाना चाहिये और उस महात्माकी कही बातोंपर विचार करना चाहिये । हरएक विचार शक्तिसे भरा रहता है जो समय आनेपर कार्यरूपमें प्रकाशित हो जाती है ।

अध्यात्मशक्ति सञ्चय करनेका सबसे बड़ा नियम प्राणीमात्रका कल्याणचिन्तन है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशोपनिषद्)

इस अन्तिम नियममें पहले सब नियमोंका समावेश हो जाता है । जितने प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए हैं वे दूसरोंके हृदयमें इसीलिये स्थान पा सके हैं कि वे उनको अपने समान समझते थे । मनुष्यके विचार प्रेमभावसे ही बली बनते हैं । और ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ-बुद्धिसे निर्बल हो जाते हैं, मनुष्य खोखला व्यक्ति हो जाता है ।

अंग्रेजीमें एक कहावत है कि जो अपना जीवन तलवारके बलपर रखता है वह उसी तलवारसे उसे खो भी देता है । मन महान् सृष्टिकर्ता है । जैसा सङ्कल्प वह

दृढ़ करता है तदनुकूल परिस्थिति भी तैयार हो जाती है। जिस व्यक्तिको दूसरोंका भला सोचनेका अभ्यास रहता है वह उसी अभ्यासके बलसे अपने आपका भला सोचनेमें सहज ही समर्थ हो जाता है। पर जिसका मन दूसरोंकी क्षति सोचनेमें लगा रहता है वह उस अभ्यासके कारण अपने आपको क्षति पहुँचानेके विचारोंको मनसे अलग नहीं कर सकता। वह अपने मनमें अपने कल्याणके विचार लानेमें असमर्थ होता है। फिर उसका संसार भी उसी प्रकार निर्मित हो जाता है। दूसरोंका हितचिन्तन करना ही हमें समाजमें प्रतिष्ठित बनाता है। तथा इसीसे जीवन सार्थक और सुखी होता है। दूसरोंके सुखके चिन्तनसे ही मनुष्य वास्तविक सुख पाता है, उसकी आत्मा सबल होती है। अपने सुखके चिन्तनसे आत्मामें निर्बलता आ जाती है और चित्त सदा क्लेशमें रहता है।

* * *

मधुर अनुभूति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[गतांकसे आगे]

'कन्हैया! क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं कि तुमसे कह दूँ कि अब मुझे मत छोड़ो। एक क्षणके लिये भी अलग मत होओ?'

'हाँ! अधिकार क्यों नहीं, सब कुछ कह सकते हो—कर सकते हो; तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ। हम एक साथ खेला करेंगे। इस समय उन ग्वाल-बालोंके पास जाना जरूरी है जो कहीं आड़में छिपकर मेरे ढूँढ़नेके लिये आनेकी प्रतीक्षा करते होंगे। उनके हृदयमें कितनी उत्कण्ठा होगी। वे उझक-उझककर देखते होंगे। पत्तेकी खड़खड़ाहट, पक्षियोंकी पंखध्वनि और पशुओंके पैरकी आवाज़ सुनकर वे चौकन्ने हो जाते होंगे। मुझे जाने दो। मैं तुमसे अलग कब होता हूँ? न दीखनेपर भी तुम्हारे साथ ही हूँ।'

'क्या मैं साथ नहीं चल सकता?'

'मेरे सखा बड़े नटखट हैं। वे कहने लगेंगे कि तुम अकेले नहीं ढूँढ़ सके। इसने देख लिया होगा। बतलाया होगा। और फिर मुझे परेशान करने लगेंगे। अच्छा मैं जाता हूँ।'

'मेरे कन्हैया! आखिर तुम चले ही गये। कलेजा फटता है, क्या करूँ? कैसे करूँ? कैसा सौन्दर्य है! कैसा माधुर्य है! कितना सुखद स्पर्श है! एक-एक बात स्मृति-पटलपर आकर व्याकुल बना रही है, पर उनकी इच्छाके विरुद्ध—उनकी आज्ञाके विपरीत किया ही क्या जा सकता है? जिससे वे सुखी हों उसीमें मेरा सुख है, मैं उनकी इच्छाका यन्त्र हूँ। यदि उनके सुखके लिये मुझे करोड़ों आपत्तियोंका सामना करना पड़े तो मैं खुशी-खुशी करूँगा। बल्कि उसीमें मुझे अधिक प्रसन्नता होगी। हाँ, किसीकी पदध्वनि मालूम पड़ती है। क्या वे ही तो नहीं आ रहे हैं? पर अभी वे कहाँ, ये तो दो आदमी हैं। पहचान गया देवर्षि नारद और उनके साथी स्नातक हैं। स्नातककी बात स्पष्ट सुनायी पड़ रही है।

'महाराज! आपके जानेके पश्चात् मेरा मन बड़ा उदास हो गया था। आप तो घरके अंदर चले गये और मैं इधर-उधर घूमता रहा। हाँ, आपकी यह वीणा धूलसे क्यों भर रही है? इसके तार बिखरे हुए-

से क्यों मालूम पड़ते हैं ? क्या माता लक्ष्मीके आनेपर वहाँ जो बातें हुईं उन्हें मैं सुन सकता हूँ ?'

'भैया ! तुम भगवान्‌के प्यारे हो, तुम्हें क्या नहीं सुनाया जा सकता ? माँ लक्ष्मी आयीं पर कुछ बात न हो सकी । राधाके सौन्दर्यको देखकर उन्हें दूरहीसे मूर्च्छा आ गयी और जो पार्षद उनके साथ विमानपर आये थे वे उन्हें लेकर वापस लौट गये । अब वीणाकी बात सुनो । मुझे मालूम हुआ कि कई दिनोंसे वृन्दावनमें एक नया परिवार आया हुआ है । उसमें स्त्री-पुरुष और दो बच्चे हैं । उनके स्वभाव, प्रेम और आचरणपर सभी व्रजवासी मुग्ध हैं । सभी उनका दर्शन करने जाते हैं और उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होते हैं । माता लक्ष्मीके जानेके बाद मैं भी उन्हें देखने चला गया । पुरुष कहीं कामसे बाहर गया हुआ था । बालक और बालिका दूर खेल रहे थे । मेरे जाते ही वह स्त्री मुझे पहचान गयी । कितने सुन्दर बच्चे थे, उनकी ओर देखनेकी बार-बार इच्छा हो रही थी; पर मैं बहुत देरतक देख न सका । उस स्त्रीने तुरंत मेरे लिये आसन लगा दिया, पैर धोये और कुछ खाने-पीनेका आग्रह करने लगी । मैं आश्चर्यचकित था । यह कौन है ? कुछ समझमें नहीं आता था । वह स्वयं कहने लगी—'अबतक हम बड़े कष्टमें थे । एक नियत सीमाके अंदर रहना पड़ता था, बाहर निकलते ही मृत्युका भय था । हमारे पास भोगकी सामग्री थी । दासियाँ थीं और हमारे परिवारके लिये विस्तृत स्थान था, परन्तु हम पराधीन थे । सबसे बढ़कर हमारे दुःखकी बात यह थी कि हमारे पतिदेवका स्वभाव बड़ा कटु था । उनके कारण सैकड़ों प्राणियोंकी हत्या होती थी और न चाहनेपर भी मुझे सब देखना पड़ता था—सहना पड़ता था । क्या करती ? उनकी इच्छाके अनुसार चलना ही मेरा धर्म है । पर उनका स्वभाव बदल गया, कितनी मधुर कहानी है, मैं आपको सुनाये बिना न रहूँगी ।' हाँ, वह कहने लगी और इस तरह कहने लगी कि मैं मुग्ध हो गया, मेरी चेतना जाती रही और उसी समय मेरी वीणा हाथसे छूटकर गिर पड़ी, तभीसे इसके तार बिखरे हुए हैं और धूल लगी हुई है, अब जल्दी ही इसे सुधारनेका विचार है ।'

'महाराज ! मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है, वह स्त्री कौन थी ? उसका पति कौन है और भगवान्‌ने उसपर क्या मोहनी डाली कि उसका कायापलट हो गया ।'

'भगवान्‌की लीला बड़ी रसमयी है, उसके स्मरणमात्रसे हृदय भर आता है, शरीर पुलकित हो उठता है; वे कितने दयालु हैं, उनके प्रेमका पार नहीं । अच्छा सुनो, मैं उसीके शब्दोंमें सुनाता हूँ ।'

'हम सब यमुनाके एक कुण्डमें रहते थे । उस समय यह रूप नहीं था । हम सब सर्पवेशमें थे । हमारे पति इतने विषैले थे कि उस कुण्डका जल स्पर्श करके कोई जीवित नहीं बचता था । हवा उसके सीकरोंको उड़ा ले जाती तो जिन वृक्षोंसे, लताओंसे वे छू जाते सब-के-सब जल जाते थे । यदि उड़ता हुआ पक्षी निकट आ जाता तो उनकी फुफकारसे जलकर गिर जाता । बड़ा भीषण कुण्ड था । हम लोग गरुडके डरसे बाहर नहीं निकलते थे, हमारे पतिकी उनसे दुश्मनी थी ।

एक दिनकी बात है, वे सोये हुए थे । मेरे दोनों बच्चे मेरे पास बैठकर खेल रहे थे । उन दोनोंमें परस्पर झगड़ा चल रहा था । दोनों कहते थे कि कुण्डके किनारेपर बहुत-से लोग खेल रहे हैं । हमने उझककर देखा है कि खेलनेवालोंमें एक लड़का बड़ा सुन्दर है । एकका कहना था कि वे कोई बाजा बजा रहे थे जो इतना मधुर

था कि अबतक हमने वैसा बाजा कभी नहीं सुना था । दूसरेका कहना था नहीं, वह बाजा नहीं था; उनकी बोली ही इतनी सुरीली थी ।

वे दोनों मेरे पास आये । लड़का कहता था—'माँ! मुझे वहीं जाने दे, मैं पास जाकर उनका बाजा सुनूँगा । उन्हें देखूँगा । क्या वे मेरे साथ खेलना स्वीकार करेंगे ?' लड़की कहती थी, 'माँ ! उनकी आवाज़ बड़ी मीठी है । उनका रूप अत्यन्त सुन्दर है । तू चल और मुझे भी अपने साथ ले चल, हम संग चलकर उनका खेल देखें और हम दोनोंका यह झगड़ा भी निबट जाय कि वे बाजा बजाते हैं या उनकी आवाज ही इतनी मीठी है ।

दोनों ओरसे बच्चे चलनेके लिये मुझे परेशान कर रहे थे । मैंने कहा, 'बेटा ! वे सचमुच बड़े सुन्दर हैं । वे बाजा भी बजाते हैं और उनकी वाणी भी वैसी ही मधुर है । पर हम बाहर कैसे जा सकते हैं ? हम सबको गरुड खा जायगा, वह तुम्हारे पिताका शत्रु है । यहाँ तो वह शापके कारण नहीं आ सकता ।' वे दोनों एक स्वरसे कहने लगे—'नहीं, माँ ! वहीं चलो । एक बार उस मधुर मूर्तिका दर्शन तो कर लें, उसकी मिठास-भरी मुरली सुन लें और एक बार उसकी वे मोहिनी बातें सुन लें । फिर मर जायँगे तो क्या परवा है ?'

मेरा हृदय भी यही कह रहा था । मैंने देखा नहीं था, पर मेरी सखियाँ मुझसे कहा करती थीं । मैं विवश थी । अपने पतिकी आज्ञा बिना कैसे जाती ? उन्हें देखनेमें और कोई आपत्ति नहीं थी । केवल बात यह थी, मेरे पति उनसे जलते थे । उनका कहना था कि ये वही विष्णु हैं जिनके बलपर गरुड मुझे जीत लेता है, नहीं तो मैं अपने घर होता और अपने देशका राजा होता । मैं बच्चोंको भुलवानेकी चेष्टा करने लगी पर वे मानते नहीं थे ।

इसी समय मालूम हुआ कि कोई आ रहा है । बड़ा आश्चर्य हुआ । भला, इस विषैले पानीमें कौन ? किसकी इतनी बड़ी हिम्मत है ? अभी नष्ट कर दिया जायगा । कहीं वे जाग न पड़ें । हमारे बच्चे दौड़ पड़े । अरे यह तो वही हैं, कैसी अनुपम शोभा है ! यमुनाके मरकतमणिके समान नीले जलके साथ शरीर एक हो रहा है, कमरमें कछौटी कसी है । गलेकी वनमाला जलमें उतरा रही है, सिरके बाल भीगे हुए हैं । मन्द-मन्द मुस्करा रहा है । कैसी प्रेमभरी आँखें हैं ! अब बाँसुरीको मुँहसे लगानेहीवाला है । मेरे रोकनेपर भी बच्चे उसके पास पहुँच गये । उस समय मेरी क्या दशा थी, वह कही नहीं जा सकती । हृदयमें भाव उठता था, यह मेरे बच्चेसे थोड़े ही बड़े हैं । इन्हें गोदमें उठा लूँ । इन्हें प्यार करूँ । चूमूँ और सदाके लिये इन्हें अपने पास ही रक्खूँ । दूसरी ओर बड़ी आशङ्का हो रही थी, अभी हमारे पतिदेव जगेंगे और पता नहीं कि क्या करेंगे । सम्भव है, अपने शरीरसे इस नन्हे-से बालकको बाँधकर मसल दें । यह भी सम्भव है कि अपनी विषभरी लपलपाती जीभोंसे डसने लगें । क्या करूँ, कुछ सूझता नहीं ।

अबतक हमारे बच्चे वहाँ पहुँचकर खेलने लगे थे । एक कह रहा था, मुझे अपने साथ ले चलना । तुम्हारा शरीर छूनेमें मुझे बड़ा सुख मिलता है । लड़की कहती थी, नहीं-नहीं, तुम यहीं रहो । अब मत जाना । मैं एक पलके लिये भी तुम्हें न छोड़ूँगी । और वे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए दोनोंका शरीर सहला रहे थे । ये दोनों उनके पैरोंके पास बैठे-बैठे अपना प्रेम प्रकट कर रहे थे । मैंने बहुत सोच-विचारकर अपना कलेजा कड़ा किया, पर बोला नहीं जाता था । किसी तरह पास जाकर डाँटा, 'कौन हो तुम ? भग जाओ । अभी वे आ जायँगे तो तुम

जल जाओगे । पर वह हँसने लगे । खिलखिलाकर जोरसे हँस पड़े । अब तो मैं अवाक् हो गयी । मेरे बच्चे मुझसे नाराज होने लगे कि अब ये जायँगे तो हम भी इनके साथ चले जायँगे, अब हम तुम्हारे घर नहीं रहेंगे, इन्हींके साथ रहा करेंगे और खूब खेलेंगे ।

उनके साथ खेलनेकी किसे इच्छा न होती, मैं भी तो यही चाहती थी कि मेरे प्राणप्रिय बच्चेकी तरह यह भी हमारे पास ही रहें । और वात्सल्यसे ही मैंने डाँटा भी था कि पतिदेवके जागनेके पूर्व ये यहाँसे चले जायँ तो बड़ा अच्छा हो, पर उनकी हँसी और निर्भयता देखकर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गयी । उधर वे बच्चोंसे कह रहे थे, चलो तुम्हारे घरमें चलकर खेलें और देखें, तुम्हारे पिता कहाँ सो रहे हैं । वे दोनों बड़े प्रेमसे ले गये ।

अरे यह क्या ? इन्होंने अपने पैरोंसे उन्हें ठोकर मार दिया । जब वे फुफकारकर फन खड़ा करके उठ पड़े तब तो मैं भौचक्की-सी रह गयी । कुछ सूझता ही न था । एक ओर कन्हैयाकी माधुरी और दूसरी ओर उनकी निष्ठुरता दोनों ही मूर्तिमान् होकर आँखोंके सामने नाचने लगीं, पर मैं उनके भाव भाँप गयी । वे एकाएक स्तम्भित हो गये । मैं उनके चेहरेको देखकर स्पष्ट जान गयी कि कन्हैयाकी मोहनी काम कर रही है । उन्होंने अपने भावको दबाते हुए कहा—'अभी यहाँसे भाग जाओ, नहीं तो भस्म कर दिये जाओगे । अभी बच्चे हो, तुम्हें मेरा पता नहीं । मैं तुमपर दया करता हूँ ।' मैंने अपने जीवनमें ऐसी दया कभी नहीं देखी थी । वे शिथिल पड़ रहे थे । पर कन्हैया और जोरसे हँसने लगे । उनकी हँसीमें अपमान था और मेरे पतिके घमंडकी उपेक्षा थी । उनसे सहन नहीं हुआ । आक्रमण करनेके लिये टूट पड़े । अब पैंतरेबाजी होनें लगी । उस समय कन्हैया बाँसुरीसे मानो जादू चला रहा था । वे भी अपने बल और विषके घमंडमें चूर होकर मण्डल बाँधकर घूम रहे थे । एक बार उन्होंने आक्रमण कर ही दिया । वे सारे शरीरमें लिपट गये और ऐसी चेष्टा करने लगे कि अपने शरीरसे कसकर मसल दूँ, उस समय मेरे मनकी क्या दशा थी कह नहीं सकती । एक ओर मोहनकी माधुरी अपनी ओर खींच रही थी, दूसरी ओर पातिव्रत-धर्म विवश कर रहा था, परन्तु दूसरे ही क्षण मैंने देखा वे उनके कोमल और स्निग्ध शरीरको कस नहीं सके । फिसल गये और कन्हैया उनके सिरपर सवार होकर नाच रहा है । वे अपना जो सिर उठाते उसीपर कन्हैयाके पैर बड़े वेगसे पड़ते । कन्हैया मुखसे बाँसुरी बजा रहा था, पैर उसीकी गतिमें गति मिलाकर नाच रहे थे और उसके साथ ही यमुना अपनी ध्वनि मिला रही थी। और मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, सारा संसार—जड़, चेतन, देव, दैत्य, गन्धर्व, अप्सराएँ सब-के-सब उसीकी तानमें अपनी तान मिलाकर गा रहे हैं और अपने-अपने बाजे और सारे शरीरके कम्पनसे उसके साथ एक हो रहे हैं । अब मैं विचलित हो गयी। उनके मुखोंसे खूनकी धारा बह रही थी, शरीर शिथिल पड़ गया था, मानो वे अपने रुधिरके लाल-लाल पुष्पविन्दुओंको कन्हैयाके चरणोंपर चढ़ाकर शिथिलताके द्वारा दयाकी याचना कर रहे थे, अथवा शरणागतिमन्त्रका मूक जप कर रहे थे । मुझसे न रहा गया, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी । मेरे बच्चे भी आ गये । वे उस समय अपने पिताको क्रोधित देखकर भयके मारे छिप गये थे । वे कन्हैयाके ऊपर आक्रमण करते हुए अपने पिताको नहीं देख सकते थे । उन्होंने निर्भयताके साथ जाकर कन्हैयाको पकड़ लिया और कहने लगे—'अब दया करो । इन्हें छोड़ दो । आओ, अब हम सब खेलें ।' कन्हैयाने

मुस्कराकर अपने नृत्यकी गति बन्द कर दी। अब उन्हें भी चेतना आने लगी और उन्होंने मेरे स्वरमें स्वर मिलाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हम आपको पहचान गये, आपने हमपर महान् अनुग्रह किया है। जिन चरणकमलोंके दर्शन बड़े-बड़े महात्माओं और देवताओंके लिये ध्यानमें भी दुर्लभ हैं उन्हींके द्वारा आपने हमें कृतार्थ किया है। अब हमें मृत्यु या गरुड़से कोई भय नहीं। गरुड़ने तो हमपर महान् अनुग्रह किया है। यदि उनकी कृपा न होती तो हम यहाँ आकर कैसे रहते और आपके इन दिव्य चरणोंका स्पर्श हमें कैसे प्राप्त होता? प्रभो! हम आपके गुणोंका अमृतमय संगीत गाया करें, आपके चरणोंका वियोग न हो। हमें अब अपने पास ही रख लीजिये।'

'हाँ, अब तुमलोग यह रूप बदल दो; गोपवेशमें हो जाओ और चलकर नन्दबाबाके व्रजमें ही निवास करो। मेरे यहाँ आ जानेके कारण व्रजवासियोंकी क्या दशा होती होगी, यह सोचकर अब मुझसे एक क्षण भी नहीं रहा जाता। तुम पूजा करनेकी तैयारी मत करो। मैं चलता हूँ, तुम भी शीघ्र ही आओ।'

इतना कहकर वे चले आये। हम उनके पीछे-पीछे ऊपरतक आये थे। उस समय किनारेपर भीड़ लगी हुई थी। कई बेहोश थे, कई यमुनामें कूदने जा रहे थे और बलराम उन्हें बलात् रोके हुए थे। कई रो रहे थे। पशु-पक्षी, गौ और वृक्षतक भगवान्के विरहमें आँसूकी धारा बहा रहे थे। उनके आते ही सबके शरीरमें चेतना आ गयी। सभी परमानन्दमें डूब गये।

तबसे हम सब व्रजमें ही आ गये हैं और प्रातःकाल तथा सायंकाल उनके वनमें जाने-आनेके समय रास्तेमें खड़े होकर प्रतीक्षा किया करते हैं और उनकी उस अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करके कृतकृत्य होते रहते हैं। अब थोड़ी ही देरमें सन्ध्या होनेवाली है, हम भी अब कुछ घरका काम सँभालकर रास्तेमें जानेहीवाले हैं। महाराज! उस समय देखने ही लायक शोभा होती है। आगे-आगे सैकड़ों गौएँ पंक्तिसे निकलती हैं। उनके चलनेसे उठी हुई धूलि सायंकालीन सूर्यकी रक्त किरणोंसे मिलकर सारे आकाशमण्डलको मानो अबीरसे रँग देती है। उनके पीछे छोटे-छोटे बछड़े नाचते-कूदते अपनी स्वाभाविक चञ्चलता प्रकट करते आते हैं और उनके पीछे कन्हैयाकी मण्डली गाती-बजाती मस्तीके साथ आती है। कितना सुन्दर दृश्य होता है! सिरपरका मयूर-मुकुट, कानोंके मकराकृति कुण्डल, कपोलोंपर लटके हुए घुँघराले बाल धूलसे लथपथ रहते हैं। वनमाला धूमिल-सी मालूम पड़ती है। पीताम्बर शिथिल-सा जान पड़ता है। मरकतमणि-से स्वच्छ और चिकने कपोलोंपर परिश्रमके कारण कुछ स्वेदबिन्दु भी आ जाते हैं। आगे-आगे बाँसुरी बजाते कन्हैया और बलरामकी जोड़ी चलती है और पीछे-पीछे उनके स्वरमें स्वर मिलाकर ग्वालबालोंकी मण्डली अनेकों प्रकारके मधुर गायन करती हुई कुछ तेजीके साथ चलती है। गौएँ आगेसे सिर घुमाकर कभी पीछे देखने लगती हैं तो उनका चलना बन्द हो जाता है और सभी खड़े होकर उन्हींकी तालमें ताल मिलाकर नाचने लगते हैं। यह हमारा नित्यका आनन्द है। हम व्रजवासी प्रतिदिन यह देखनेके लिये पहलेसे ही उधर देखते रहते हैं। किसी-किसी दिन वनमें वे अपनेको विचित्र ढंगसे सजा लेते हैं, गलेमें घुँघुचीकी माला डाल ली। अनेकों तरहके पत्ते शरीरमें गूँथ लिये। शरीरपर अनेकों रंगकी पहाड़ी धातुएँ लगा लीं। उस दिन और भी मनोहर नट-जैसे

वेश बन जाता है और हम देख-देखकर अपने जीवनको सफल करती हैं और हृदय शान्त करती हैं। हम उन्हें रोज देखती हैं पर अतृप्ति अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। हम शान्ति चाहती हैं पर अशान्तिका बीज और भी बढ़ता ही जाता है। देखे बिना एक क्षण कल नहीं पड़ती। घरके काम करते समय उनके ही गीत गाया करती हैं। झाड़ू लगाने, दही मथने, चावल कूटने, घर लीपने, स्नान करने आदि समस्त कामोंके समय ऐसा मालूम पड़ता है वही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर हमारी आँखोंके सामने नाच रहे हैं। अभी तो हम थोड़े ही दिनोंसे यहाँ आयी हैं तब भी यह दशा है। जो सदासे उन्हें देखती रही हैं उनकी क्या दशा होगी, यह बात वे स्वयं नहीं बता सकतीं। इस प्रकार हमपर महान् प्रेम और दया प्रकट की गयी है। ऋषिराज! आप तो शीघ्र जा सकते हैं, इसलिये जंगलसे ही जाकर साथ-साथ व्रजमण्डलमें आवें।

भाई! मैं तो उसकी बात सुनते-सुनते मुग्ध हो रहा था। वीणा सुधारनेकी याद ही न आयी, अब सुधार लूँ। मालूम पड़ता है, उन्होंने अपने साथियोंको ढूँढ़कर यमुनातटकी ओर प्रस्थान किया है। अब हम भी चलें।'

भगवान्‌की लीला कितनी सुन्दर है! देवर्षि नारदके मुँहसे ये बातें सुनकर मेरा हृदय न जाने कैसा हो रहा है। भगवान्‌की मोहक माधुरीका पान करके सर्पके बालकोंका आकर्षित हो जाना आश्चर्यकी बात नहीं है। सर्पिणीके हृदयमें भगवान्‌के प्रति वात्सल्य स्वाभाविक ही है। सर्पके ठिठक जाने और उसके फनोंपर कन्हैयाके नृत्यकी बात सुनकर मुझे ऐसा मालूम होने लगा था कि यह सब लीला मैं अपनी आँखोंसे देख रहा हूँ। कितना आनन्द होता था उनकी इस अपार कृपाका स्मरण करके कि उन्होंने उस विषैले सर्पका कायापलट करके उसे व्रजमण्डलका रहनेवाला बना लिया। मेरा हृदय काबूसे बाहर हो रहा है, अब चलकर उन्हींकी लीला देखनी चाहिये। मालूम पड़ता है, वे यमुनातटपर पहुँच गये हैं।

यमुनाका तट भी कितना सुन्दर है! किनारे-किनारे कदम्बके वृक्ष लगे हैं। उनपर अनेकों रंगके फूलवाली लताएँ लिपटी हुई हैं। बड़े घने-घने कुञ्ज हैं, उनके पुष्पोंपर भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं। धूपके समय कन्हैया इन्हींमें विश्राम करते होंगे। किसीकी गोदमें सिर रखकर कोमल-कोमल पत्तों और मनोहर पुष्पोंकी शय्यापर लेट जाते होंगे और कोई-कोई ग्वालबाल उनके पैर दबाने लगते होंगे। आह! कितने सुन्दर उनके चरण हैं। उनका स्पर्श कितना सुखद है, उनकी सुकुमारताका ध्यान आते ही हृदय गद्गद हो उठता है। हाँ, यमुनाकी कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। यह उसका विस्तृत बालुकामय पुलिन है। अरे, यहाँ तो बड़ी भीड़ लग रही है। सभी गौएँ-बछड़े, ग्वाल-बाल यमुनाके किनारे पानी पीनेमें, हाथ-पैर धोनेमें संलग्न हैं। कितनी अद्भुत शोभा है, दूरसे ही देखता रहूँ या चलकर मैं भी सम्मिलित हो जाऊँ?

कन्हैया तो बाँसुरी सँभाल रहा है। ग्वाल-बाल भी सावधान हो रहे हैं। गौएँ एकटक उसीकी ओर देख रही हैं तो क्या अब बाँसुरी बजेगी? आसार तो ऐसे ही मालूम पड़ते हैं।

बज उठी—बज उठी, अरे ग्वाल-बाल सब उसीके साथ नाच उठे। कन्हैया बीचमें खड़े होकर बाँसुरी बजा रहे हैं और ये ग्वाल-बाल बड़े क्रमसे स्वर-तालकी गतिके अनुसार उसकी प्रदक्षिणा-सी कर रहे हैं। उनका

ताँता टूटता ही नहीं । कन्हैया केन्द्र हैं और ये सब उसकी परिधि हैं। कंगनकी तरह वृत्ताकार या मण्डलाकार उसके चारों तरफ घूम रहे हैं। उसकी चितवन कितनी चञ्चल है ! सबसे आँखें मिला लेते हैं, सबसे मुस्करा लेते हैं और फिर भी बाँसुरीकी वैसी ही ध्वनि, वैसी ही मूर्च्छना और वैसी ही सुरमुनिजन-मनोमोहिनी तान छिड़ी हुई है । कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है, मैं खिंचा जा रहा हूँ । ओहो ! मैं भी सम्मिलित हो गया । मेरे पैर भी स्वयं उसीकी गतिसे मिलकर चल रहे हैं मेरी आँखें उन्हींकी ओर लगी हुई हैं । सारा जगत् नाच रहा है, सारे देवता नाच रहे हैं । अरे ! ये फूल कहाँसे ? हाँ हाँ ! आकाशसे देवगण पुष्पवर्षा कर रहे हैं ।

ऐं ! इतना परिवर्तन क्यों ? अब तो न गौएँ दीखती हैं और न ग्वाल-बाल ! सब कहाँ चले गये । यह कन्हैया मेरी ओर देखकर हँसते क्यों हैं ? अवश्य कुछ रहस्यकी बात होगी । अरे, मैं स्वयं बदल रहा हूँ पर मेरी चेतना जैसी-की-तैसी बनी हुई है । मैं एक मिट्टीका कण हो गया । ऐसा क्यों हुआ ? मेरे ऊपरसे अनेकों गाएँ और ग्वाल-बाल गुजर रहे हैं। यह क्या बात है ? गोपियाँ आ गयीं, ये मुझे क्यों उठाये जा रही हैं । अच्छा, मुझसे बाल साफ करेंगी । किनारेपर रखते ही मुझे कोई उठाकर भाग रहा है । अरे ! कितना कोमल स्पर्श है । पहचान गया, यह तो अपने मोहन ही हैं । अरे, मुझे यमुनाजलमें बहा दिया । तब क्या मैं बहकर समुद्रमें चला जाऊँगा ? नहीं, नहीं, मैं अब एक यमुनातटके पुष्पवृक्षका सुन्दर पुष्प हूँ । मुझे कोई तोड़ रहा है । कौन तोड़ रहा है ? क्यों तोड़ रहा है ? हाँ, यह तो गोपी है । क्या मेरी माला बनाकर श्यामसुन्दरके गलेमें पहनायेगी ? मेरा इतना सौभाग्य है ? हो सकता है । मैं उसके गलेमें पड़कर उसका हृदय चूम लूँगा । कितना सुन्दर, कितना आनन्दमय क्षण होगा !

अरे, मुझे तो किसीने छीन लिया । मुझे मसलकर फेंकने जा रहा है । पर इसका मसलना, इन सुकुमार हथेलियोंका स्पर्श मेरे हृदयको गद्गद कर रहा है । यह तो वही हैं ! अन्ततः मुझे फेंक ही दिया । उफ ! कैसा परिवर्तन है ! मैं इस समय एक कदम्बवृक्षके रूपमें हूँ । उनका होनेपर भी जड़ता ? पर इसमें भी उनका प्रेममय करस्पर्श तो होगा ही । यह देखो ! वे मेरी एक डालपर बैठकर बाँसुरी बजा रहे हैं । कितना सौभाग्यमय यह जीवन है ! मैं अनन्त कालतक वृक्ष ही बना रहूँ । यदि उनका इसी प्रकार प्रेम प्राप्त होता रहे । पर यह कामना क्यों की जाय ? उनकी जैसी इच्छा हो वैसे ही नचावें । मैं तो उनकी कठपुतली हूँ । पर कठपुतली तो यह नहीं जानती कि मैं कठपुतली हूँ, यह जानना भी उन्हींकी इच्छासे हो रहा है । अरे ! सोचते-सोचते मैं तो भूल ही गया । अब मैं एक मयूरके रूपमें हूँ । मैं ऐसा क्यों हो गया ? यह भी कोई लीला है अवश्य । ऐसी ही बात है । मेरे श्यामसुन्दर ! मेरे श्यामघन !! घनश्याम !!! आओ, मैं तुम्हें देख-देखकर नाचूँ । यह जीवन कितना पवित्र है, मैं तुम्हें देखकर नाचूँगा । क्या तुम आ रहे हो ? हाँ, आ रहे हो । तो मैं अब नाचता हूँ । तुम सचमुच आ गये । मेरे नाचके साथ बाँसुरी मिलाकर तुम भी नाच रहे हो । धन्य है तुम्हें । मेरा पक्षीजीवन सार्थक है, पर मेरा कैसा ? यह तो तुम्हारा ही है । नचा लो श्याम ! खूब नचा लो । जी भरकर नचा लो । मैं तुम्हारे इशारेपर नाचता हूँ ।

अरे, मेरा वह मयूररूप न रहा । मैं एक गौ हो गया हूँ । वाह री कन्हैयाकी लीला ! मुझे यों

गौ बनाकर स्वयं जंगलमें छिप गये ? इतनी चञ्चलता ? तुम्हें ऐसा ही करना मंजूर है ? कर लो । खूब कर लो । पर यह नन्हा-सा बछड़ा मुझे इतना प्रिय क्यों मालूम पड़ता है ? यह आकर अपने सिरसे शरीर खुजलाने लगता है तो मुझे इतना आनन्द क्यों आता है ? अवश्य यह वही होगा ! हाँ, वही तो है । देखो न, कैसा नाच-नाचकर बाँसुरी बजाने लगा है ! मेरी पीठपर हाथ रखकर सहला रहा है । मेरी ललरियोंको खुजलाते हुए हँस रहा है । कितना खिलाड़ी है ! यह पशुजीवन सर्वोच्च जीवन है, यदि प्रियतमका यह सुखमय स्पर्श प्राप्त हुआ करे । अरे ! मैं बदलता जा रहा हूँ, यह देखो ! मेरे हृदयमें बैठकर ज्ञानोपदेश कर रहे हैं और मैं मनुष्यशरीरसे आँखें बन्द करके बड़े ध्यानसे सुनने जा रहा हूँ । मुझे इस ज्ञानगाथाकी क्या आवश्यकता आ पड़ी ? आवश्यकता क्या है ? यह उसीका एक खिलवाड़ है । खेल लो भैया ! मुझे तुम्हारे साथ खेलनेमें ही आनन्द है । चाहे जिस रूपमें खेलो ।

अच्छा, इस बार तो खूब रंग बदले । बड़े ऐश्वर्यशाली होकर सामनेसे आ रहे हैं । चार हाथ हैं, उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं । गलेमें वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि अनोखी छटा ला रही हैं । छातीपर भृगुलताका चिह्न है । कंधोंपर पीताम्बर फहरा रहा है । बाहुओंमें बाजूबंद बँधे हैं, पहुँचोंमें कंगन धारण किये हुए हैं । शङ्खके समान कितना सुन्दर गला है, मुखमण्डलकी प्रभा तो कही नहीं जा सकती । लाल-लाल ओष्ठ, सहस्रों बिजलीके समान चमकीले दाँत, प्रेमभरी आँखें, अनुग्रहवर्षी भौंह, मरकतमणिके समान स्वच्छ और चिकने कपोल, लंबा और ऊँचा ललाट, उसपर लगा हुआ गोरोचनका लाल तिलक और लटकी हुई घुँघराली अलकें बरबस मन हरण कर रही हैं । कितना सुन्दर मुकुट है ! उसमें लगी हुई अमूल्य मणियोंकी शोभा सहस्रों सूर्य और चन्द्रमाका तिरस्कार कर रही है । मकराकृति कुण्डल है । अपने हाथमें लिये हुए कमलके द्वारा इशारा करके मुझे अपनी ओर बुला रहे हैं । क्या करूँ ? इनके चरणोंमें लोट जाऊँ ? इनके चरणोंकी सेवा करूँ ? इस रूपमें तो ये मेरे स्वामी हैं । मैं इनका सेवक हूँ ।

अरे, चरणोंमें गिरते ही अभी पूर्णतः स्पर्श भी नहीं कर सका था, कहाँ चले गये ? मेरा दास्यभाव मनमें ही रह गया । क्यों, मैं बुढ़िया माई क्यों बन गया ? मेरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ रही हैं पर मेरे स्तनोंमें दूध आ रहा है । किसीको गोदमें उठानेके लिये हाथ ललक रहे हैं । क्या बात है ? अरे ! इस घोर जंगलमें यह नन्हा-सा शिशु कहाँसे आ गया ? कितना सुकुमार है ! अभी दो वर्षका भी नहीं मालूम पड़ता । कैसा खिलखिलाकर हँस रहा है ! दाँतोंकी ज्योति लाल-लाल ओठोंको पार करके पैरोंका नाखून चूम रही है । कैसा भला लगता है ! दौड़कर उठा लूँ । छातीसे लगा लूँ । चूम लूँ । एक क्षणके लिये भी इसे न छोड़ूँ ।

मेरे छूते ही गायब क्यों हो गया ? और मैं बुढ़िया माईसे नन्हा-सा बालक कैसे बन गया ? मैं इस घोर जंगलमें अनाथ पड़ा हूँ । उठकर चल नहीं सकता । पर मेरी चेतना बूढ़े-जैसी बनी हुई है । क्या बात है ? मेरी माँ आ रही है । कितनी अच्छी माँ है । मुझे अपनी गोदमें लेकर प्रेममय दूध पिला रही है । मुझे चूमकर थपकी लगाती हुई अपनी गोदमें ही सुला रही है । अरे ! यह माँ थोड़े ही है । यह तो वही माँका स्वाँग बनाकर आया है । बड़ा छलिया है ।

छलिया कहते ही लापता ! धन्य हो देवता ! कहाँ गये ? मुझे इस जंगलमें अनजान अवस्थामें छोड़कर तुम कहीं नहीं जा सकते। मुझमें यह परिवर्तन ! अरे ! अब तो मैं बारह वर्षकी अवस्थाका बालक बन गया। अकेले क्या करूँ ? यह लो, अनेकों ग्वाल-बालोंके साथ आप भी आ पहुँचे। कितने चञ्चल हैं, जमीनपर पैर नहीं पड़ते। क्यों ? क्यों ? मुझे चपत क्यों लगा रहे हो ? मेरे कंधेपर क्यों सवार हो गये ? क्या कहते हो ? यही न कि तुम मुझे भाण्डीर वटतक ढो ले चलो, तो मैं भी तुम्हें इतनी ही दूर ढो दूँगा। मैं नहीं मानता, तुम शायद पीछे मुझे छका दो। तुम ही मुझे पहले ढो ले चलो। अरे ! यह क्या ? मुझे ढोनेको तैयार हो गये, अच्छा यही सही। मैं तुम्हारे कंधोंपर चढ़ूँगा।

क्यों ? चढ़नेकी चेष्टा करते ही लापता ? मुझे कहाँ ले जा रहे हो ? मुझे ढोना चाहिये था। मैंने गलती की। आओ, आओ। अब कभी ऐसा न करूँगा। तुम्हें ढोनेमें बड़ा आनन्द है, जब तुम कंधेपर बैठे हुए थे तब तुम्हारे चरणोंको हाथोंसे स्पर्श करके मैं कितना सुखी हो रहा था ! अब मैं तुम्हें ढोऊँगा। तुमपर चढ़ूँगा नहीं। मेरे प्यारे सखा ! आ जाओ। नहीं आते ? क्यों भगे जा रहे हो ? मैं तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ूँगा, पकड़ लूँगा। देखता हूँ, तुम मुझसे कितना अधिक दौड़ते हो। अब भागो। पहुँच आया। अरे, यह क्या ? अब छूनेहीवाला था, तबतक लापता ! मनमें सोच रहा था, अब पकड़ूँगा तो कंधोंपर चढ़ा लूँगा, अब जहाँ कहीं भी कहेंगे वहीं उठा ले चलूँगा। पर यह क्या ? मैं इस घनघोर जंगलमें अकेला ही छोड़ दिया गया ! अच्छा है, जैसी नटवरकी इच्छा।

ये दो स्त्रियाँ कैसी आ रही हैं ? इनकी आकृतिसे सात्त्विकता, प्रेम और सेवाका भाव सूचित हो रहा है। इनके साथ स्वभावतः ही मेरे मनमें बहिनका भाव जाग्रत् हो रहा है। क्या करूँ ? कुछ निश्चय नहीं होता। अरे ! ये तो मेरी ही ओर आ रही हैं। क्या बात कर रही हैं, सुनूँ तो—

'युगल सरकारकी आज्ञा है कि इसे अपने अन्तरंग मण्डलमें सम्मिलित कर लिया जाय। इसे पहले राधाकुण्डमें स्नान कराकर सखी बना लिया जाय, फिर युगल सरकारके सामने उपस्थित किया जाय।'

'हाँ, सखी ऐसा ही करना चाहिये। असलमें जीवमात्र हमारे प्रेमस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी परा प्रकृति ही हैं। सबका उन्हींसे वास्तवमें कान्तसम्बन्ध है, परन्तु लोग मायामोहके चक्करमें पड़कर अपना सच्चा सम्बन्ध भूल गये हैं और इसीसे भटक रहे हैं। जिसपर श्रीलाड़िलीजी और श्रीलाड़िले नन्दलालकी विशेष कृपा होती है उसीको अपने पास बुला लेते हैं और मधुर रसका आस्वादन करते-कराते हैं। आज यह जीव कृतार्थ हो गया। आज इसे अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त होनेवाला है।'

'हाँ सखी ! यह तो सच्ची ही बात है, पर इसके साथ ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और आत्मा ही ब्रह्म है, इन बातोंकी सङ्गति कैसे लगती है ?'

'यह बात जगत्से मन हटानेमें बहुत ही सहायक है। अपनी अन्तर्निहित शक्ति और वास्तविक स्वरूपपर विश्वास करके तथा जगत्के मिथ्यात्वका चिन्तन-मनन करके अनादि कालसे संसारमें फँसे हुए मनको अलग कर लिया जाता है। जगत्की ओरसे हटे हुए और भगवान्की अन्तरङ्ग लीलाओंमें प्रवेश न पाये हुए मनकी जो निर्विषय स्थिति है उसे ही निर्गुण निष्क्रिय स्वरूपस्थिति कहते हैं। इसके बाद आत्माओंके आत्मा भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें

प्रवेश होता है । इस कोटिके भक्तोंमें शिव, सनकादि तथा नारद प्रभृति हैं । तुम तो देखती ही हो, हमलोगोंके साथ सखीरूपमें वे हमारे आराध्य-देवकी सेवा किया करते हैं । अच्छा तो इसे ले चलना चाहिये ।'

ऐं ! यह क्या हो गया ? राधाकुण्डमें स्नान कराते ही मैं स्त्री बन गया । यह मुझे बड़े प्रेमसे किधर लिये जा रही हैं ? कितना सुन्दर दृश्य है ? स्फटिकमणि-जैसा दिव्य मार्ग है । आसपास पुष्पोंकी बड़ी सुन्दर क्यारियाँ सजी हुई हैं । थोड़ी-थोड़ी दूर-पर हरे-भरे वृक्ष हैं और उनपर अलौकिक पक्षी चहक रहे हैं । कहीं वृक्षकी हरी-हरी पत्तियोंमें पीले पक्षी बिजलीकी तरह चमक उठते हैं । कहीं भौंरे गुंजार कर रहे हैं और कहीं प्रेमके बादल मन्द-मन्द गर्जना करते हुए अमृतकी बूँदें बरसा रहे हैं । अनेकों प्रकारके अद्भुत शब्द सुनायी पड़ रहे हैं । मैं कितना मार्ग तै कर गया, कुछ पता नहीं चलता । सामने कल्पवृक्षका वन है । उनसे लिपटी हुई कल्पलताएँ कितनी सुन्दर लगती हैं । आहा ! मैं कहाँ पहुँच आया ? इस विशाल और मनोहर कल्पवृक्षके नीचे कल्पलताके कुञ्जमें मणिमय वेदिका स्पष्ट दीख रही है । उसका आकार सहस्रदलकमलकी भाँति और उसका मुख्य पीठ स्वर्णमयी कर्णिकाकी भाँति दीख रहा है । बड़ा प्रकाश है, प्रत्येक दलपर अनेकों सखियाँ खड़ी हैं—किसीके हाथमें चमर है, किसीके हाथमें व्यजन है । कोई-कोई अनेकों प्रकारके पात्र और नाना प्रकारकी सामग्री हाथोंमें लिये हुए हैं । उनके बीचमें सोलह सखियोंका एक मण्डल है और उनके बाद आठ सखियाँ हैं । उनके द्वारा सेवित श्रीयुगल सरकार एक दूसरेके कंधेपर हाथ रक्खे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए खड़े हैं । श्रीलाडिलीजी बायीं ओर हैं और श्रीलाडिलेजी दाहिनी ओर त्रिभंगी भावसे विराज रहे हैं । उनका मुकुट श्रीलाडिलीजीकी ओर झुका हुआ है । दाहिने हाथसे मुरली सँभाले हुए हैं और श्रीलाडिलीजी बायें हाथसे माला लेकर उन्हें पहनाने जा रही हैं । कैसी अनुपम शोभा है ? मैं क्या करूँ ? चरणोंमें लोट जाऊँ ? कुछ समझमें नहीं आता । मेरा मन स्वयं गा रहा है—'प्रियतम ! अनन्त कालसे तुम मुझपर अनन्त प्रेमकी वर्षा कर रहे हो । मुझे बुलानेके लिये अपनी आँखोंसे और भौंहोंसे इशारा कर रहे हो । अपनी सेवाकी अधिकारिणी बनानेके लिये मुरलीकी मधुर ध्वनिसे आकर्षण कर रहे हो । अपनी लंबी-लंबी विशाल भुजाएँ फैलाकर आलिङ्गन करनेके लिये न जाने कबसे उत्सुकता प्रकट कर रहे हो, पर तुम्हारे प्रेमपूर्ण आमन्त्रणपर मैंने अपनी विषमता डाल दी । सुनी-अनसुनी कर दी । आज तुमने महान् अनुग्रह करके मुझे अपने पास बुला लिया है । मैं तुम्हारी ही हूँ । जैसे चाहो वैसे रक्खो ।'

ऐं ! क्या कह रही हो ? मैं इतनी सौभाग्यवती हूँ? पर इसमें क्या सन्देह ? मैं आरती करूँ ? अच्छा, मैं आरती करूँगी तो श्रीभगवान् बाँसुरी बजायेंगे और तुमलोग अपनी-अपनी वीणा, पखावज आदि बजाकर नृत्य करोगी । धन्य है, मेरा जीवन सफल हुआ ।

आरति युगल सरकारकी ।
नित्य नूतन सहज सुख सुखमा सदन सुकुमारकी ॥
आरति युगल सरकारकी !

तुलसीकृत रामायणमें करुण-रस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० बी०)

[भाग ९ संख्या १२ पृष्ठ १४८७ से आगे]

भरत और हैमलेट

आदर्शवाद और कलाप्रियताका अन्तर

हमारे प्रिय पाठकोंने यह अनुभव किया होगा कि मैंने भी बहुधा आदर्शवाद और कलाप्रियताका उपयोग समान अर्थोंमें किया है, क्योंकि वस्तुतः दोनोंका अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है। परन्तु क्योंकि साहित्यमर्मज्ञोंके लिये वह अन्तर अत्यन्त सुन्दर भी है अतः अब उसकी विस्तृत विवेचना की जायगी। आदर्शवाद एक व्यापक शब्द है और सत्य और कलाप्रियता उसके अंश हैं। जैसे सत्यका रूप भयानक भी हो सकता है वैसे ही आदर्शवादका रूप बहुत शुष्क एवं कपटकारक है। ये दोनों ही कभी-कभी हमारे सामने खड्गहस्त होकर आते हैं। सत्यके इसी रूपसे भयभीत होकर सुप्रसिद्ध फ़ारसी महाकवि सादीने लिखा है कि 'शान्तिकारी असत्य क्रान्तिकारी सत्यसे उत्तम है।'* परन्तु कलाप्रियतामें कोमलता एवं सुन्दरताके भाव विहित हैं। उसमें 'सत्यम्' का रूप केवल 'शिवम्' ही नहीं, प्रत्युत 'सुन्दरम्' भी होता है। इस सूक्ष्म निरीक्षणसे यह भलीभाँति विदित हो जायगा कि आदर्श कलाप्रियताका शब्द जितना भरतपर लागू होता है उतना हैमलेटपर नहीं। हैमलेटमें कलाप्रियता या तो केवल विचारतक रह गयी है या कर्मका रूप धारण करती हुई इतनी भयानक और आकस्मिकतापूर्ण हो जाती है कि उसे कलाप्रियता कहनेमें भी संकोच होता है। इसका कारण अधिकतर तो परिस्थिति ही है, फिर भी इसका सम्बन्ध हैमलेटके चरित्रसे भी कुछ-न-कुछ अवश्य है।

अब भरतकी बात लीजिये। नामकरणके समय ही गुरु वशिष्ठने उनको दैवी सत्ताके उस अंशका अवतार बताया था जो विश्वका भरण-पोषण करती है, मानो संकेतरूपसे यह कह दिया था कि इसमें विनाशक शक्तिका अभाव है। आध्यात्मिक अवस्थामें शिवका वह रूप 'विश्वम्भर' कहलाता है। रामायणभरमें भरतने केवल एक बाण चलाया है सो वह भी बिना फरका। हनूमान्‌जीको आकाशमार्गसे 'सजीवन मूरि' ले जाते हुए देखकर उन्हें यह सन्देह हुआ था कि कदाचित् कोई राक्षस हो, पर सन्देहके विचारसे ही उन्होंने वैसे बाणका चलाना युक्तियुक्त समझा था। यह आदर्श कलाप्रियताकी पराकाष्ठा थी कि अकारण हिंसाकी सम्भावना ही न रहे। सेवाभावकी दृष्टिसे तो भरतकी वैसी कलाप्रियता जगत्‌विख्यात ही है। चाहे उनके हृदयमें किसी भावका वेग कितना ही प्रबल हो, परन्तु साथ ही आदर्श कलाप्रियताका विचार भी इतना प्रबल दीखता है कि वह उनसे परिस्थितिके अनुसार बिल्कुल ठीक काम कराये बिना नहीं रहता—ऐसा ठीक जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरीक्षणपर भी ठीक उतरे। राम-वनवासके उपरान्त रामवियोग-रूपी ज्वालासे उनका हृदय जल रहा है, जिसका वर्णन रामायणमें उन्हींके मुखसे यों हुआ है—

आपन दारुन दीनता सबहि कहेउँ समुझाइ।
देखे बिनु रघुबीर-पद जियकी जरनि न जाइ॥
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जियकी रघुबर बिनु बूझा॥
एकहि आँक यहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥

विचारकी कितनी एकाग्रता है, फिर भी सेवाधर्मकी आदर्श कलाप्रियता उन्हें सावधान किये बिना नहीं रहती। वे सोचते हैं—

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू॥
संपति सब रघुपति कै आही। जो बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप-सिरोमनि साइँ-दोहाई॥
करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥
अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥
कहि सबु मरमु धरमु सबु भाखा। जो जेहि लायक सो तहँ राखा॥
करि सब जतन राखि रखवारे। राममातु पहिं भरत सिधारे॥

दृश्य कितना सुन्दर, सूक्ष्म तथा आदर्शपूर्ण है। भरतके मस्तिष्कमें यह विचार भी आये बिना नहीं रहता कि सर्वसाधारणका ऐसा समझ लेना सम्भव है कि उनका रामके पास जाना केवल लोकाचार है और वस्तुतः राज्यकी रखवारीका उतना प्रबन्ध केवल अपने स्वार्थके हेतु है। पर सेवाधर्म इस अपवादकी सीमाको पार कर जाता है और

---

* 'दरोगे मसलहत-आमेज़ बेह्ज़ रास्ती फ़ितना-अंगेज़'।

आदर्श कलाप्रियता यह निर्णय कर रही है कि स्वामि-सम्पत्तिकी रक्षाका प्रबन्ध न करना अपनेको पापशिरोमणि बनाना है—चाहे संसार जो कुछ भी कहे ।

एक और उदाहरण भी इतना सुन्दर है कि पाठकोंकी भेंट किये बिना नहीं रहा जाता । शृंगवेरपुरके निकट पहुँचनेपर भरतकी दशाका वर्णन महाकवि तुलसीने यों किया है—

सृंगबेरपुर भरत दीख जब । भे सनेह बस अंग सिथिल तब ॥
सोहत दिएँ निषादहि लागू । जनु तनु धरें बिनय अनुरागू ॥

अनुरागका आवेश और स्नेहवश शरीरका शिथिल होना इस बातका परिचायक है कि रामप्रेमका सागर हृदयमें उमड़ रहा है, फिर भी भरत अपना कर्तव्य नहीं भूलते—

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा । भरत सोधु सबही कर लीन्हा ॥
गुर-सेवा करि आयसु पाई । राम-मातु पहिं गे दोउ भाई ॥
चरन चापि कहि-कहि मृदुबानी । जननीं सकल भरत सनमानी ॥
भाइहि सौंपि मातु-सेवकाई । आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥

ऐसे उमड़ते हुए प्रेमके समय भी सबका 'शोध' लेना, गुरुकी सेवा करना और फिर माताओंकी सेवा भी 'मृदुबानी' के साथ इस प्रकार करना कि उतावलापन प्रकट न हो—ये सब बातें क्या भरतकी आदर्श कलाप्रियताकी पूर्ण परिचायक नहीं हैं ? वह उमड़ता हुआ सागर उस आदर्श कलाप्रियता-रूपी बाँधसे क्षणभरके लिये ही रुक गया था, क्योंकि तदुपरान्त भरतदशाका वर्णन महाकविद्वारा यों हुआ है—

चले सखा-कर सों कर जोरें । सिथिल सरीरु सनेह न थोरें ॥
पूछति सखहि सो ठाउँ दिखाऊ । नेकु नैन-मन-जरनि जुड़ाऊ ॥
जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए । कहत भरे जल लोचन-कोए ॥
इत्यादि

फिर भरतकी आदर्श कलाप्रियता उन्हें निर्दयतासे भी बचा लेती है और इसीसे उनमें इतनी विवेक-शक्ति भी शेष रहती है कि वे उतावलेपनसे काम नहीं ले सकते । तो अब इसका विचार भरत और हैमलेटकी तुलनाकी दृष्टिसे दो रूपोंमें होगा—(१) स्त्रीजातिके प्रति व्यवहार और (२) मायाका प्रयोग ।

(१) स्त्रीजातिके प्रति व्यवहार

भरत और हैमलेट दोनों राजकुमारोंके हृदयोंपर अपनी माताओंके व्यवहारसे चोट लगती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी श्रद्धा समस्त स्त्रीजगत्परसे ही उठ जाती है । प्रायः संसारके सभी आदर्शवादी स्त्रियोंके विरुद्ध ही रहे हैं । महाकवि तुलसीदास भी कुछ-न-कुछ स्त्रियोंके विरोधी-से प्रतीत होते हैं । पर हम पाठकोंको यह चेतावनी अवश्य देना चाहते हैं कि उन्हें प्रत्येक चरित्रके प्रत्येक शब्दको कविकी निजी राय न समझ लेनी चाहिये । इसमें सन्देह नहीं कि नाटककारके शब्दोंका बहुधा गलत प्रयोग होता है । पाश्चात्य जगत्के आलोचकोंमें अनुमान-सम्बन्धी ज्ञानका आधिक्य है । हम जब 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' का प्रसिद्ध वाक्य पढ़ते हैं तो उसे सर्वथा कविकी निजी राय ही समझ लेते हैं पर 'निर्बलता, तेरा नाम स्त्री है' का पढ़नेवाला इसे शेक्सपियरकी राय नहीं मान बैठता, यद्यपि ये शब्द हैमलेट-जैसे श्रेष्ठ व्यक्तिके मुखसे कहलाये गये हैं । हमारा यह कथन नहीं कि ये सब भाव सर्वथा ठीक ही हैं पर हम इतना ज़रूर कहेंगे कि इसके विषयमें तुलसीकी भी बहुत कड़ी आलोचना नहीं होनी चाहिये—विशेषतः जब हम देखते हैं कि इन्होंने कौशल्या और सीता-जैसे आदर्श चरित्रोंको हमारे सामने रक्खा है । महात्मा गांधीका यह कथन सत्य ही है कि रावण भले ही राक्षस रहा हो पर मन्दोदरी तो आदर्श देवी ही थी । हम प्रसंग-वश इतनी बातें अधिक कह गये जिसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं ।

भरत और हैमलेट दोनों ही अपनी माताओंके प्रति बहुत कठोर हैं । कारण, माताओंके ही व्यवहारसे दोनों राजकुमारोंकी श्रद्धा मानवी प्रेमसे उठ-सी गयी । महाकवि तुलसीने भरतसे अपनी माताके प्रति उससे कम कठोर शब्द नहीं कहलाये जितने हैमलेटने अपनी मातासे कहे हैं । भरत कहते हैं—

.... । पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ॥
जो पै कुमति रही असि तोही । जनमत काहे न मारेसि मोही ॥
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा । मीन जिअन हित बारि उलीचा ॥

हंस बंस दसरथ जनक, राम लखन से भाइ ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कहा बसाइ ॥

अभी करुण-रस अधिक है, इसलिये इन शब्दोंसे जितनी दया भरतके प्रति उत्पन्न होती है उतनी घृणा उनकी माताके प्रति नहीं । परन्तु शनैः-शनैः घृणाका भाव ज़ोर पकड़ता जाता है । भरत कहते हैं—

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ । खंड खंड है हृदउ न गयऊ ॥
बर मागत मन भई न पीरा । जरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरन-काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥

क्या इनसे भी कठोर और घृणाजनक कोई शब्द हो सकते हैं ? परन्तु अबतक वह घृणा व्यक्तिविशेषके ही प्रति है ? आगे यह विचार भी शेष न रहा और भरतजी समस्त स्त्रीसंसारके प्रति घृणाका भाव क्यों प्रकट करते हैं—

बिधिहुँ न नारि-हृदय-गति जानी। सकल कपट-अघ-अवगुन-खानी॥

'सकल' के सर्वग्राही शब्दपर विचार करते हुए हमें कहना पड़ेगा कि शेक्सपियरके उपर्युक्त कथनसे यह वाक्य कहीं अधिक कठोर है। भरतजी फिर कहते हैं—

सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानहिं नारि-सुभाऊ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथु प्रानप्रिय नाहीं॥
मे अति अहित रामु तेउ तोही। को तूँ अहसि सत्य कहु मोही॥

आह, घृणा कितनी प्रबल है कि भरतको कैकेयीकी मानवी सत्तापर भी सन्देह है ! उन्हें अपने भावोंको प्रकट करनेके लिये शब्द ही नहीं मिलते और वे यों कहते हैं—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहु जाई॥

'जो हसि सो हसि' के शब्दोंमें घृणाकी पराकाष्ठा है। परन्तु आदर्श कलाप्रियता उन्हें रोकती है अतः वे घृणाके प्रवाहको अपनी ही ओर फेर देते हैं और कहते हैं—

राम-बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी, बादि कहौं कछु तोहि॥

वही आदर्श कलाप्रियता पुनः उनकी सहायता करती है और स्त्रियोंके प्रति उनकी कठोरता शब्दोंतक ही सीमित रह जाती है। मातृप्रेमका भाव भी कौशल्याको देखते ही जाग उठता है। उनकी दशाका वर्णन कविने यों किया है—

परे चरन तनु-दसा बिसारी।

भरत कौशल्यासे कहते हैं—

मातु तात कहँ देहु देखाई। कहँ सिय रामु लषनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माझा। जो जनमी भइ काहे न बाँझा॥
कुल-कलंक जेंहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रियतमद्रोही॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी। मति असि तोरि मातु जेहि लागी॥

वह सीताको भी माताके समान ही समझते हैं। परिणाम यह होता है कि सीता और कौशल्या दोनोंका वात्सल्य-प्रेम उनके हृदयको शान्ति देता है। यही कारण है कि वे उस पतन और विनाशसे बच जाते हैं जिससे बेचारा हैमलेट न बच सका। हैमलेटको स्त्रीजातिके प्रति जो घृणा है वह उसकी विवेकशक्तिको बिल्कुल हर लेती है, यहाँतक कि वह अपनी प्रेमिका ऑफ़ेलियाके प्रति भी अपने भाव-प्रदर्शनको रोक नहीं सकता और यों कह उठता है कि 'स्त्री ही दुनियाकी सारी बुराइयोंकी जन्मदात्री है और वह बुद्धिमानोंको भी चोर और अमानुषिक बना देती है।'* भरतकी विवेकशक्ति इतनी प्रबल है कि मन्थरा और कैकेयीके बीच भी अन्तर खोज लेती है। वह कैकेयीको ही अधिक लाञ्छित करती है, क्योंकि उसे राजपत्नी एवं उच्च कोटिकी स्त्री होते हुए अधिक आदर्शपूर्ण होना चाहिये था। मन्थरा तो फिर भी एक चेरी और निम्न कोटिकी स्त्री थी। इसीलिये जब शत्रुघ्नजी उसे मारने लगते हैं तो भरतमें दयाभाव उत्पन्न हो जाता है और वे उसे छुड़ा देते हैं। इसे महाकविने यों व्यक्त किया है—

भरत दयानिधि दीन्ह छड़ाई॥

अब क्योंकि हमने ऊपर स्त्रियोंके प्रति तुलसीदासजीके विचारोंका कुछ उल्लेख किया है अतः यहाँ कुछ अधिक कहना अप्रासङ्गिक न होगा। तुलसीदासजी एक विरक्त रामभक्त थे, अतः वे स्त्रियोंसे स्वाभाविक ही उदासीनता रखते थे। परन्तु उनकी यह उदासीनता भरतकी भाँति बहुधा शब्दोंतक ही सीमित रह गयी थी। हम पहले ही बता चुके हैं कि तुलसीदासजीने स्त्रियोंके कैसे-कैसे आदर्श चरित्र चित्रित किये हैं। हाँ, उन्होंने केवल तीन ऐसी स्त्रियोंके चरित्र हमारे सामने रक्खे हैं जिन्हें बुरा कहा जा सकता है—अर्थात् कैकेयी, मन्थरा और शूर्पणखा। परन्तु उन्होंने कैकेयी और मन्थराको सरस्वतीद्वारा प्रभावित दिखाकर घृणास्पद होनेसे बचा लिया है। जब हम सरस्वतीके विचारोंको पढ़ते हैं तब तो महाकाव्यके आदर्शकी दृष्टिसे ये दोनों पात्र भी सरस्वतीके साथ 'देवहित' का कारण बन बड़े ऊँचे दर्जेपर पहुँच जाते हैं। इस प्रसङ्गका वर्णन तुलसीने यों किया है—

सुनि सुर-बिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज बिपिन हिम-राती॥
देखि देव पुनि कहहिं बहोरी। मातु तोहि नहि थोरिउ खोरी॥
बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ। तुम जानहु रघुबीर-सुभाऊ॥
जीव करम बस दुख-सुख-भागी। जाइअ अवध देवहित लागी॥
बार बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध-मति पोची॥
ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥
हरषि हृदयँ कोसलपुर आई।·······················॥

पछतानेके बाद 'देवहित' समझकर सरस्वतीका यह हर्ष अत्यन्त ही उपयुक्त है। इस लेखमालाके शुरूमें शा

---

* The begetter of all evil in the world, who makes such monsters of wise men.

महोदयका वह कथन दिया गया है कि सबसे बड़े हर्षका समय वही है जब हम अनुभव करें कि हम विश्वकल्याणका कारण बन रहे हैं। सरस्वतीके हर्षका कारण भी यही है। अन्तर केवल इतना है कि सरस्वती जान-बूझकर देवहितका कारण बनी है और कैकेयी तथा मन्थरा अनजानमें। इसीसे सरस्वतीमें हर्ष है परन्तु उन दोनों पात्रोंमें नहीं। अब केवल शूर्पणखा शेष रह जाती है। तुलसीजी स्त्रियोंको दो रूप देते हैं—(१) नारि या त्रियरूप जिसे वे मायारूपी ठहराकर मनुष्योंके पतनका कारण बताते हैं और (२) माता और पतिव्रतारूप, जिसका रामायणमें इतना सुन्दर विवेचन है कि पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता और तब स्त्रीजाति कामिनीरूपमें न रहकर जगज्जननीका अंशरूप हो जाती है।

(२) भरत और हैमलेटकी भाषा

अंग्रेजीमें एक कहावत है कि शब्दोंसे आधा अर्थ प्रकट होता है और आधा अप्रकट रहता है। फ़ारसीकी भी लोकोक्ति है कि पात्रसे वही टपकता है जो उसमें होता है। भरत और हैमलेटकी भाषाओंके समझनेमें भी कुछ ऐसी ही युक्तियोंसे काम लेना पड़ता है। जब हम दोनों राजकुमारोंको इस कसौटीपर कसते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि भरत अधिकतर उच्च कोटिके आदर्शवादी थे। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँतक भाषाके प्रयोगका सम्बन्ध दूसरेके प्रति है वहाँतक भरतकी भाषा भी कम कटु एवं व्यंगपूर्ण नहीं है, परन्तु हम जगह-जगहपर देखते हैं कि उनकी तीव्र आलोचक दृष्टि हर बार लौटकर अपनेहीपर पड़ती है, अतः उनकी भाषा अपने प्रति अधिकतर कटु एवं व्यंगपूर्ण है। हैमलेटकी भाषा दूसरोंके प्रति केवल व्यंगपूर्ण ही नहीं, किन्तु बहुत ही कटु है और वह अपनी आलोचना कभी-कभी करता जरूर है पर बहुत ही कम—विशेषतः वह अपनी अकर्मण्यताका बहाना ही ढूँढ़ता रहता है।

आंग्ल आलोचकोंके अनुसार व्यंग तीन प्रकारके होते हैं—(१) Humour, जिसे हम हिन्दीमें हास्य कह सकते हैं, जिसका खास लक्षण यह है कि जिसपर हम हँसें उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो, न कि घृणा। इसकी एक छोटी-सी मिसाल रामायणसे ही दी जाती है। शिवजीकी बरातकी तैयारीके समय विष्णुजी कहते हैं—

बिष्नु कहा अस बिहसि तब, बोलि सकल दिसि-राज ।
बिलग बिलग है चलहु सब, निज निज सहित समाज ॥
बर अनुहार बरात न भाई । हँसी करैहौ पर पुर जाई ॥

इस व्यंगका असर भी तत्काल ही होता है, जिसे कवि यों दिखलाता है—

बिष्नु-बचन सुनि कबि मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने ॥
मन हीं मन महेसु मुसुकाहीं । हरिके बिंग्य बचन नहि जाहीं ॥
अति प्रिय बचन सुनत हरि केरे। भृंगी प्रेरि सकल गन टेरे ॥

चूँकि भरत और हैमलेट दोनों शोककी अवस्थामें हैं, इसलिये ऐसे व्यंगका दोनोंमें अभाव है।

(२) Wit, जिसे 'शाब्दिक व्यंग' कहना चाहिये और जिसमें व्यंग अधिकतर मस्तिष्कतक ही सीमित रहता है। इसका प्रयोग हैमलेटमें अधिक और भरतमें कम है। कारण, भरतके हृदयोद्गारोंका प्रवाह अधिक प्रबल है।

(३) Sarcasm, जिसे 'कटाक्ष' कहना ठीक होगा। इसका प्रयोग जिसके प्रति होता है उसके प्रति कुछ घृणा अवश्य उत्पन्न होती है। भरत और हैमलेट दोनोंमें इसी व्यंगकी प्रधानता है। परन्तु यहाँ भी दोनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर है। हैमलेटमें कटुता बहुत है पर भरतमें उसकी मात्रा कम है। कारण, भरतका हृदय शोक और प्रेमके उद्गारोंसे भरा हुआ है और इसीलिये उनके प्रभावसे कटाक्षोंमें भी करुणा और कोमलता आये बिना नहीं रहती।

दोनों अपनी माताओंके प्रति कठोर-से-कठोर कटाक्षोंका प्रयोग करते हैं। भरतके वैसे कटाक्षोंका उल्लेख हम बहुत-कुछ ऊपर कर चुके हैं। निम्न वाक्य भी कुछ कम कठोर नहीं हैं। वे कहते हैं—

लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥
लीन्ह बिधवपनु अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू ॥
मोहि दीन्ह सुख सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकईं सब कर काजू ॥

मुझे तो इस व्यंगका उदाहरण इससे सुन्दर कम ही मिला है, क्योंकि—

'मुहँ परेउ न कीरा'

इत्यादि वचनोंमें तो कटुता इतनी अधिक एवं स्पष्ट है कि व्यंगकी सीमाका उल्लङ्घन-सी कर जाती है। भरतकी राजसभावाली वक्तृताका उद्धरण पहले दिया जा चुका है। उस वक्तृतामें व्यंग इतना सुन्दर है कि कटाक्षकी धार कुंद पड़ जाती है। उसी वार्तामें उपरिलिखित व्यंगात्मक चौपाइयाँ भी प्रयुक्त हुई हैं, जिनके आगे ही ये पद भी हैं—

एहि तें मोर कहा अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥
केकइ-जठर जनमि जग माहीं। यह मो कहुँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥
ग्रहगृहीत पुनि बातबस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइअ बारुनी, कहहु काह उपचार॥

थोड़ी दूर आगे चलकर गुरुके सम्बन्धमें भी ये पद हैं—

गुरु बिबेकसागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर-बदर समाना॥
मो कहुँ तिलक-साज सजि सोऊ। भा बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥

उपर्युक्त पदोंमें यह स्पष्ट है कि करुणा और शोककी मात्राके आधिक्यसे तथा इस कारण कि भरत तीव्रताके प्रवाहको अपने भाग्य एवं व्यक्तित्वकी ओर मोड़ देते हैं, कटाक्षमें नरमी आ जाती है और प्रजा तथा गुरुके प्रति घृणाके स्थानमें प्रेमपूर्ण दया उत्पन्न होती है। अंग्रेजीमें तो इसे वक्तृताका Sense of humour कहते हैं, परन्तु हिन्दी भाषामें उसे 'सूक्ष्म एवं कोमल व्यंग' के सिवा क्या कहा जा सकता है? यहाँपर 'कटाक्ष', जो व्यंगकी तीसरी किस्म है, ऊपर उठकर व्यंगकी पहली किस्म 'हास्य' की श्रेणीतक पहुँच जाता है। परन्तु हम उसे 'हास्य' इसलिये नहीं कहते कि उसमें करुण-रसकी मात्रा अधिक है और हास्यरसका केवल पुट है। भरतकी भाषाका यह अन्तर भी उस आदर्श कलाप्रियताके कारण ही है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि हैमलेटमें 'सत्य' ने भयानक रूप धारण कर लिया था परन्तु भरतमें 'सत्य' के साथ 'शील' का भी मिश्रण था। यही ठीक भी था; क्योंकि भरत ऐसे रामराज्यमें थे जिसकी 'ध्वजा पताका' 'सत्य शील दृढ़' रूपी थी और हैमलेट उस डेन्मार्क नामी देशमें था जहाँ दार्शनिक भौतिकवादकी प्रधानता थी।

भरतके चारित्रिक विकासमें मन्थरा-ताड़नवाला दृश्य बड़े महत्त्वका है, क्योंकि उसीके कारण भरतके कोमलहृदयमें दयाभाव जाग्रत् होता है और उनका तीव्र कटाक्षरूपी क्रोध ठंडा पड़ जाता है। दृश्य अत्यन्त स्वाभाविक भी है। मन्थरा नीच श्रेणीकी जड़ स्त्री थी, अतः ताड़नाने शारीरिक उत्पीडनका रूप धारण किया था। इसके विरुद्ध कैकेयी उच्च श्रेणीकी राजमहिला थी, अतः उसके लिये स्वपुत्रके कठोर शब्द भी शारीरिक ताड़नसे अधिक थे। अयोध्या और डेन्मार्कके वातावरणमें अन्तरका परिणाम भी विचारणीय है। हैमलेटने कटाक्षपूर्ण शब्दोंमें अपनी मातासे यह भी प्रार्थना की थी कि अपने जीवनको दो भागोंमें विभक्तकर बुरेको छोड़ दे और भलेको कायम रक्खे। परन्तु वह वैसा न कर सकी और उसके दिलमें स्वतः* पश्चात्ताप-तक न पैदा हुआ। परन्तु कैकेयीकी आँख भरतकी वक्तृतासे, तथा इस कारण कि सब लोग भरतसे ही सहमत थे, खुल गयी और उसका आत्मोद्धार शुरू हो गया। वह चुपचाप भरतके साथ चित्रकूटको चल देती है। मानो भरतसे सहयोग ही करती है। चित्रकूटमें रामके प्रेम† ने वह काम किया जो भरतका कटाक्ष भी न कर सका—यहाँतक कि महाराज जनकके आगमनकी सूचना पाते समय कैकेयीके पश्चात्तापकी कोई हद न रही—

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई॥

आह! वह अपने दोषको किसीपर ढाल भी नहीं सकती और अपने पछतावेको किसीपर प्रकट भी नहीं कर सकती। फ़ारसीका एक पद‡ है जिसमें ऐसे वैद्यकी प्रशंसा की गयी है जो जर्राह और मरहम रखनेवाला दोनों हो। मानो जर्राही उसकी चिकित्साका कटु अङ्ग है और मरहम रखना कोमल। आध्यात्मिक भाषामें हम एकको 'सत्य' और दूसरेको 'शील' कहेंगे। भरतमें ये दोनों अंश मौजूद थे और राम तो शीलके अवतार ही थे। इसीसे तो अयोध्याकी जो बुराई पैदा हुई थी उसका दूरीकरण हो गया। परन्तु डेन्मार्कमें पाशविक भौतिकवाद बढ़ता ही गया और अन्ततः अगणित मृत्युओंका कारण बना। आदर्श कलाप्रियताकी दृष्टिसे जब भी मैं विचार करता हूँ तो मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत और राममें तो आदर्श कलाप्रियताका साक्षात्कार ही हुआ था, परन्तु अयोध्याकी जनतामें भी इतनी अप्रत्यक्ष कलाप्रियता अवश्य थी कि उन सभी लोगोंने 'मनसा वाचा कर्मणा' उभय राजकुमारोंके साथ बराबर अपनी सहानुभूति प्रकट की। इसी कारण डेन्मार्ककी तरह अयोध्यामें ऐसा नहीं हुआ कि राजमन्त्रीतक हैमलेटका साथ न दे।

* * *

---

* पहले जहाँ इस विषयका ज़िक्र है वहाँ यह शब्द छपनेसे रह गया था जो जरूरी है।—लेखक

† भरत मातुपद बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि। बिदा कीन्हि सजि पालकी सकुच सोच सब मेटि॥ (तुलसी)

‡ 'हकीमे कि जर्राह व मरहमनह अस्त' (सादी)

वैष्णवोंके श्रीकृष्ण

(लेखक—प्रो० श्रीअमूल्यचरण विद्याभूषण)

वासनाओंने मनुष्यको पार्थिव विषयोंकी ओर खींचकर उसे उनके साथ बाँध दिया है। ऐसी मजबूतीसे बाँधा है कि उस बन्धनको तोड़ना उसके लिये बहुत ही कठिन है। पार्थिव धन, ऐश्वर्य, यश, प्रतिष्ठा इन्हीं सबकी खोजमें मनुष्य रात-दिन भटक-भटककर हैरान हो रहा है। बन्धु-बान्धवोंमें प्रतिष्ठा-लाभ करनेके लिये वह सतत चेष्टा करता है। भौतिक सम्पत्ति उसे जितनी ही प्राप्त होती है, उतनी ही उसकी अतृप्ति बढ़ती जाती है और वह नये सुखके मोहमें मुग्ध होकर उसे पानेकी आशासे इधर-उधर दौड़ता है। उसकी आशा किसी प्रकार भी नहीं मिटती। सुखके लिये वह लालायित है। प्रतिक्षण उसके प्राणोंकी आकांक्षा है—'सुखं मे भूयात् दुःखं मे माभूत्।' वह सुख चाहता है पर जानता नहीं कि सुख किसमें है? तो भी उसके अंदर ऐसी किसी एक वस्तुकी चाह है जिसको पानेके लिये वह लगातार दुःसह दुःखोंको सहकर भी जीना चाहता है। वह अनजानमें निश्चय ही किसी ऐसी वस्तुका आस्वाद पाता है कि उसे छोड़ देना उसके लिये असम्भव है। उसे उस अज्ञात वस्तुके लिये बड़े आग्रहके साथ जीना ही पड़ता है। वह संसारके भँवरमें पड़कर बार-बार ठोकरें खाकर अन्तमें यह समझ पाता है कि आनन्द ही उसका लक्ष्य है और आनन्दकी प्राप्तिके लिये ही उसमें इतनी व्यग्रता है। जब वह किसी तरह भी अपने उस चिर-आकांक्षित आनन्दको नहीं पाता तब वह शरीर और मनके आश्रयसे उसने जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है, उसके गूढ़ मर्म तथा अन्तिम अर्थका आविष्कार करनेके लिये व्याकुल हो उठता है। उस समय मनुष्य इस विश्व-समस्याकी सर्वसम्मत मीमांसा करनेके लिये तैयार हुए बिना नहीं रह सकता। फलस्वरूप 'मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है' इसीकी खोजमें वह लग जाता है। और सौभाग्यसे उसको जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब वह और कुछ भी नहीं चाहता। वह भिखारी बन जाता है—केवलमात्र पूर्ण तत्त्वकी अनुभूतिका। वह पूर्ण तत्त्व आत्मा ही है। हम जिसको 'मैं' 'मैं' कहते हैं, वह 'अस्मत् प्रत्ययगोचर' वस्तु आत्मवस्तुकी छाया है।* और वह आत्मवस्तु ही विश्वका परम तत्त्व है—पूर्ण तत्त्व है। इस आत्माका अनुसन्धान और इस आत्माका ज्ञान ही परमानन्द एवं परिपूर्ण ज्ञान-लाभका एकमात्र साधन है।

आत्माकी यह खोज या आत्मजिज्ञासा जिस आत्मज्ञानमें पहुँचकर निःशेषरूपसे निवृत्त हो जाती है, वह ज्ञान ही एकमात्र परिपूर्ण आनन्दवस्तु है। वही परिपूर्ण ज्ञान है। उस समय मनुष्य यह समझ पाता है कि—

नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः॥

इस आत्माको जाननेके बाद और कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।† ऋषिलोग सर्वदा इस आत्मा अथवा एकत्वकी ही खोजमें लगे रहते थे। यह एकत्वकी अनुभूति ही हमारी अन्तर्प्रकृतिका विशिष्ट धर्म है। इस आत्माके अन्वेषणको ही शास्त्र

---

* ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
(कठ० १ । ३ । १)

† आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं तत्सर्वं विदितम्। (बृहदारण्यक० २ । ४ । ५

'तत्त्वजिज्ञासा' कहते हैं। तत्त्वज्ञानियोंने इस परिपूर्ण आत्माको ज्ञानस्वरूप और अद्वितीय बतलाया है। तात्त्विकोंने इस आत्मज्ञानका नाम रक्खा है 'तत्त्व'।* उपनिषद्के ज्ञाताओंने जिसको ब्रह्म, हिरण्यगर्भवादियोंने जिसको परमात्मा और सात्वतोंने जिसको भगवान् कहा है, वही तात्त्विकोंका तत्त्व है। अभिप्राय यह कि तत्त्व, ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एकार्थवाचक ही हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक तत्त्वके ही तीन नाम हैं। इसीसे भागवतमें कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भागवत १।२।११)

निर्विशेष प्रकाश ब्रह्म है।† शक्तिवर्ग और उनके धर्मसे अतिरिक्त ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं।‡ जिसकी सम्पूर्ण शक्ति व्यक्त नहीं है उसे आत्मा या परमात्मा कहते हैं; जो सविशेष है या किञ्चित् विशेष है अर्थात् जिस प्रकाशमें कुछ शक्तियोंका प्रकाश है, उसे परमात्मा कहते हैं। और जिसमें समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र सुसम्पत्ति, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वैराग्य—ये छहों हैं, वही परिपूर्ण सर्वशक्तिका प्रकाश है। वही भगवान् हैं। जो सूर्यके तापकी भाँति केवल निर्विशेष सत्तारूपसे स्फूर्त होते हैं, ज्ञानकाण्डमें ये ब्रह्म हैं, जिनका मायाके साक्षी सर्वान्तर्यामीरूपमें प्रकाश है, योगमार्गमें उन्हें परमात्मा कहते हैं; और जो सर्वरसमय, षडैश्वर्यसम्पन्न, दिव्य-मङ्गलविग्रहरूपसे प्रकट हैं, भक्तिमार्गमें उनको भगवान् कहते हैं। चरितामृतकारने कहा है—

ज्ञान, योग, भक्ति तीन साधनेर वशे
ब्रह्म, आत्मा, भगवान् त्रिविध प्रकाशे।

यह तत्त्वजिज्ञासा ही मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है।* भोग या कर्म चरम उद्देश्य नहीं है। तत्त्वजिज्ञासाको मूल सूत्र बनाकर ही मनुष्यको जीवन-पथपर अग्रसर होना होगा।

अब यह विचार करना है कि अद्वय ज्ञान या तत्त्व किसका संकेत करता है? अवश्य ही जिनमें भगवत्ताका पूर्ण विकास है, जो स्वयं भगवान् हैं, जो सब अवतारोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनमें पूर्णानन्द, पूर्ण ज्ञान और परमतत्त्व विद्यमान है, वही तत्त्व या अद्वय ज्ञान है। जो अनन्यापेक्षी होकर सब अवतारोंके मूलस्वरूप हैं, जिनका अवलम्बन करके सब अवतार होते हैं, वही तत्त्ववस्तु हैं। जिनका भाव अचिन्त्य है, जो आनन्दस्वरूप हैं, उन्हींको तत्त्व कहना चाहिये। जो तत्त्ववस्तु हैं, जो इस दृश्यमान सृष्टिकी मूलकारणरूपा प्रकृतिके भी कारण हैं, जो अनादि होते हुए भी सबके आदि हैं, जो सर्वेश्वर हैं, सबके प्रभु और कर्ता हैं एवं जो आनन्दघनरूप अप्राकृतिक मूर्ति हैं, वही परमतत्त्व हैं।

अब देखना है कि परमतत्त्वकी अभिधा क्या है? ब्रह्मसंहिता गौडीय वैष्णवोंके लिये अत्यन्त ही आदरकी वस्तु है। स्वयं महाप्रभु इसके सिद्धान्तपर मुग्ध होकर इसे दक्षिणसे लाये थे। श्रीचरितामृतमें कहा है—

सिद्धान्तशास्त्र नाहि ब्रह्मसंहितार सम
गोविन्द महिमा ज्ञानेर परम कारण।
अल्प अक्षरे कहे सिद्धान्त अपार
सकल वैष्णवशास्त्र मध्ये अतिसार॥

इस सिद्धान्तग्रन्थने यह निर्णय किया है कि—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

श्रीचरितामृतकारने इसीके आधारपर कहा है—

---

* तस्य नाम तदिति। (बृहदारण्यक०)

† तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठोप० ५।१५) (श्वेताश्वतर० ६।१४, मुण्डक० २।२।१०)

‡ भागवत १।२।११ श्लोक श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका भाष्य देखिये।

* भागवत १।२।१०

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान् ।

इस परम ईश्वर कृष्णकी प्राप्तिके त्रिविध साधनोंको बतलाते हुए कविराज गोस्वामीने कहा है—

सेइ कृष्णप्राप्ति हेतु त्रिविध साधन ।
ज्ञान योग भक्ति तीनेर पृथक लक्षण ॥
तीन साधने भगवान् तीन स्वरूपे भासे ।
ब्रह्म परमात्मा भगवान् प्रकाशे ॥
ब्रह्म आत्मा शब्दे यदि कृष्णके कहाय ।
रूढ़ीवृत्त निर्विशेष अन्तर्यामी कय ॥
ज्ञानमार्गे निर्विशेष ब्रह्म प्रकाशे ।
योगमार्गे अन्तर्यामीस्वरूपेते भासे ॥
रागभक्ति विधिभक्ति हय दुइ रूप ।
स्वयं भगवत्तत्त्व प्रकाशे दुइ तो स्वरूप ॥

ये कृष्ण ही अद्वयतत्त्व हैं । यह भी स्पष्ट कहा है—

सेइ अद्वय तत्व कृष्ण स्वयं भगवान् ।
जाहाँ बिनु कालत्रये बस्तु नाहिं आन ॥

इसमें यहाँ 'कालत्रयाबाध्यत्वं तत्त्वत्वम् ।'* इस प्राचीन उक्तिकी सार्थकता सम्पादित की गयी है । केवल इतना ही नहीं—

स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्व ।
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्व ॥

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, इसका क्या अर्थ समझना चाहिये ?

जाँर भगवत्ता हइते अन्येर भगवत्ता ।
स्वयं भगवान शब्देर ताहातेइ सत्ता ॥
दीप हइते जैसे बहु दीपेर जलन ।
मूल एक दीप ताहा करिये गणन ॥
तैसे सब भगवानेर कृष्ण से कारण ।

श्रुतिमें जिसको 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य उप० ६ । २ । १) कहा गया है, वही श्रीकृष्ण हैं ।

एक ही साथ विरुद्ध धर्मोंका होना श्रीकृष्णके सिवा और किसीमें भी सम्भव नहीं है । एक ओर जैसे उनसे छोटा और कुछ भी नहीं है, इसी प्रकार दूसरी ओर उनसे बड़ा और कोई नहीं है । विराट् और बिन्दुकी एक साथ कल्पना नहीं की जा सकती । 'अणोरणीयान् महतो महीयान् ।' एक ही समय वे अणुसे भी अणु हैं और महान्‌से भी महान् हैं । यह परम विरुद्धधर्माश्रय वस्तु श्रीकृष्ण ही हैं । वे एक हैं; वशी, सर्वग और स्तवनीय हैं । 'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः ।' (गोपालतापिनी श्रुति) फिर गुण-कर्मानुसार विभिन्न स्वरूपोंके विभिन्न नाम हो गये हैं । अथवा मूलाश्रय श्रीकृष्ण ही अपने अचिन्त्य शक्ति-बलसे विभिन्न स्वरूपोंमें स्थित रहकर विभिन्न गुणोंका प्रकाश करते हुए विभिन्न नाम धारण किये हुए हैं । वैष्णवोंने नाना तत्त्वोंकी आलोचना करके श्रीकृष्णको ही सर्वेश्वर, पूर्णानन्द, मायाधीश, व्रजेन्द्रनन्दन कहकर सर्वोपरि तत्त्व माना है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति और संहारादि विविध कार्य जिनके द्वारा होते हैं, वे श्रीकृष्णके गुणावतार मात्र हैं, पूर्ण ब्रह्म कदापि नहीं । भगवान् अनेकों बार अनेकों रूपोंमें अवतीर्ण हुए हैं, परन्तु श्रीकृष्ण सब समय अवतीर्ण नहीं होते । कभी वे अंशरूपसे अवतीर्ण होते हैं और कभी अंशांशरूपसे । इसीलिये अवतारोंमें अंश और अंशांशको लेकर तारतम्य होता है । शास्त्र कहते हैं कि अनन्तशक्ति, आनन्दमयवपु भगवान् श्रीकृष्ण एक ही साथ ब्रह्मत्व, भगवत्त्व, ज्ञेय और आस्वाद्य, एवं ऐश्वर्य और माधुर्यका प्रकाश करनेके लिये बहुत कालके बाद मथुरामण्डलमें आविर्भूत होते हैं । इसीलिये अन्यान्य अवतारोंमें उनकी गणना नहीं होती । शास्त्रके मतानुसार वे सब अवतारोंके मूलस्वरूप अवतारी हैं, सब अवतारोंके निर्देशक हैं—सब अवतारोंकी प्रतिष्ठा हैं । श्रीचैतन्यचरितामृत वैष्णवसिद्धान्तका सर्वशिरोमणि ग्रन्थ है । उसमें कविराज गोस्वामीने कहा है—

---

* 'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम्'
—मधुसूदन सरस्वती (अद्वैतसिद्धि)

अद्वय ज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप ।

षट्सन्दर्भके भाष्य सर्वसंवादिनीमें गोस्वामिपाद श्रीजीवने कहा है कि श्रीकृष्णके समान या उनके सदृश अन्य किसी भी वस्तुको सत्ता नहीं है इसलिये श्रीकृष्ण अद्वयतत्त्व हैं और यह श्रीकृष्णस्वरूप ही अवतारी है ।

महाप्रभुने राय रामानन्दसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण और राधिकाका स्वरूप बतलाइये । साथ ही कृपा करके रस और प्रेम क्या तत्त्व हैं, इसका भी निरूपण कीजिये ।'

राय रामानन्दने कहा—'मैं तो कुछ भी नहीं जानता, आप जैसे कहलावेंगे, वैसे ही कह दूँगा । मैं तो तोतेकी तरह आपका पढ़ाया हुआ पाठ ही पढ़ूँगा ।' इसपर जब महाप्रभुने फिर जोर दिया तब महाप्रभुकी आज्ञा मानकर राय रामानन्दने कहा—

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान ।
सर्व अवतारी सर्व कारण-प्रधान ॥
अनन्त वैकुण्ठ आर अनन्त अवतार ।
अनन्त ब्रह्माण्ड इहा सबार आधार ॥

वैष्णवोंके श्रीकृष्ण यही हैं ।

सच्चिदानन्द तनु ब्रजेन्द्रनन्दन ।
सर्वैश्वर्य सर्वशक्ति सर्वरसपूर्ण ॥
वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन ।
कामगायत्री कामबीजे जाँर उपासन ॥

अप्राकृत मदन अप्राकृत काम है । यह काम स्त्री-पुरुषोंका पारस्परिक अनुराग नहीं है । इस कामके द्वारा पार्थिव मनोविकार नहीं उत्पन्न होता ।

पुरुष-योषित किवा स्थावर-जङ्गम ।
सर्व-चित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ-मदन ॥

ये श्रीकृष्णरूपी मदन साक्षात् मदनको भी विमुग्ध कर देते हैं । स्त्री-पुरुष, स्थावर-जंगम सभी इनके अप्राकृत भावको देखकर इनमें खिंचे चले आते हैं । इस अप्राकृत भावके अवलम्बनसे जो अनुराग पैदा होता है उसीका नाम कृष्णप्रेम है । जहाँ प्राकृत भावकी तनिक भी गन्ध है, वहाँ कृष्णप्रेम जरा भी नहीं है ।

नाना भक्तेर नाना मत रसामृत हय ।
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय ॥

जब भक्तके हृदयमें नाना रसमय प्रेमभावका उदय होता है तब उस भावके प्रतिदानके लिये—उसी प्रकारसे भजनेके लिये—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४ । ११) इस प्रतिज्ञाके अनुसार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म एक अखिल रसामृतमूर्तिमें प्रकट होते हैं । और उसी क्षण भक्तकी रसभावनाके विषय और आश्रय बन जाते हैं ।

शृंगार रसराजमय मूर्तिधर ।
अतएव आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर ॥

श्रीकृष्ण केवल 'सर्वचित्तहर'—सबके चित्तको हरनेवाले ही नहीं हैं । वे अपने शृंगाररसराज-स्वरूपसे अपने चित्ततकको भी हरण कर लेते हैं । उनका शृंगार भी अप्राकृत है और रस भी अप्राकृत है ।

श्रीकृष्ण—

लक्ष्मीकान्त आदि अवतारेर हरे मन ।
लक्ष्मी आदि नारीगणेर करे आकर्षण ॥

यहाँतक कि—

आपन माधुर्ये हरे आपनार मन ।
आपने आपना चाहे करिते आलिंगन ॥

संक्षेपमें यही श्रीकृष्णका स्वरूप है ।

माधुर्यमें श्रीकृष्णकी तुलना नहीं है, उनके समस्त स्वरूपोंकी तुलनामें माधुर्य सबसे बढ़कर है । इसीलिये शास्त्रने माधुर्यको पूर्णतम कहा है । स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण माधुर्यसार अन्य सिद्धि नाहि तार
तेंहो माधुर्येर गुणखनि ।
आर सब प्रकाशे जाँर दत्त गुण भासे
जहाँ जत प्रकाशे कार्य जानि ॥

यह वैष्णवोंके 'कृष्ण'की व्याख्या है; शास्त्रोंमें उनके 'कृष्ण' नामके अनेकों कारण बतलाये गये हैं। पद्मपुराणमें कहा है—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

कृष् धातु भू अर्थात् सत्तावाचक है—अतएव 'सत्' है। 'ण' वर्ण से निर्वृति अर्थात् उपसर्ग-राहित्य समझा जाता है—अतएव यह 'आनन्द' है। जो 'सत्' और 'आनन्द'-स्वरूप है, वही परम ब्रह्म है। 'सत्' और 'आनन्द'के साथ 'चित्' स्वयं प्रकाशित होता है।

बृहत् गौतमीय तन्त्रमें भी कहा है—'सत्तास्वानन्दयोर्योगात् चित् परं ब्रह्म चोच्यते'। कोई-कोई पुरुष 'कृष्' धातुका अर्थ 'आकर्षण' करके 'कृष्ण' शब्दका अर्थ 'सर्वाकर्षक' करते हैं। पुराणोंमें 'कृष्ण' नामके और भी बहुत-से अर्थ हैं। परन्तु कृष्ण शब्दका जो रूढ़ अर्थ है, उसका जो सहज अर्थ है वही ठीक है, खींचतानकर दूसरा अर्थ निकालनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रीजीव गोस्वामीके कृष्ण-सन्दर्भमें एक श्लोककी व्याख्या करते हुए नामकौमुदीसे एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उसमें कहा गया है 'कृष्ण' शब्दका अन्य कोई अर्थ नहीं है, इस शब्दकी रूढ़िवृत्ति है; अतएव इसका एक मात्र अर्थ है—'तमालश्यामलवपु यशोदानन्दन।'

तमालश्यामलत्विषि श्रीयशोदास्तनन्धये।
कृष्णनाम्नो रूढिरिति सर्वशास्त्रविनिर्णयः॥

श्रीचरितामृतमें कहा है—

प्रभु कहे कृष्ण नामेर बहु अर्थ नाहि मानि।
श्यामसुन्दर, यशोदानन्दन, एइ मात्र जानि ॥

'कृष्ण'शब्दका रूढ़िवृत्तिद्वारा उपलब्ध यही अर्थ है—इसका यौगिक अर्थ व्याकरणके अनुसार बहुत तरहसे किया जा सकता है। जैसे पंकज शब्दका यौगिक अर्थ है 'पंकसे पैदा होनेवाला।' अतएव यौगिक अर्थके अनुसार पंकजके सीप आदि कई अर्थ हो सकते थे परन्तु रूढ़िवृत्तिसे उसका एक मात्र अर्थ कमल ही लिया जाता है। इसी प्रकार 'कृष्ण' शब्दका अर्थ भी इसीके अनुसार श्यामसुन्दर यशोदानन्दन ही समझना चाहिये।

श्रीकृष्णमें ही अवतार-लीला प्रकट होती है। अप्रपञ्चसे प्रपञ्चमें अवतरणका नाम अवतार है।

सृष्टिहेतु सेइ मूर्ति प्रपंचे अवतरे।
सेइ ईश्वर मूर्ति अवतार नाम धरे ॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतरि धरे अवतार नाम ॥

श्रीकृष्ण अखिल अवतारोंके मूल अवतारी हैं। वे भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। भक्त जब धर्मकी ग्लानिमें पड़कर अनन्योपाय होकर एकमात्र भगवान्के शरण हो जाता है और निरन्तर उनका ध्यान करने लगता है, भक्तकी अनन्य लालसा जब भगवान्को अवतरण करनेके लिये व्याकुल कर देती है, तब वे भक्तकी वाञ्छा पूर्ण करनेके लिये अवतीर्ण होते हैं। यही उनके अवतारका प्रधान कारण है। कविराज गोस्वामीने कहा है—

'भक्तेर इच्छाय अवतरे धर्मसेतु ॥'

भक्तकी मनोकामना पूर्ण करना ही अवतारका मुख्य कारण होता है, गौणरूपसे उसीके साथ-साथ धर्मकी ग्लानि भी दूर हो जाती है—धरतीका भार भी हल्का हो जाता है। और इस प्रसंगमें जिनका विनाश होता है उनका भी कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(४।८)

यह श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है। आर्तभक्तके उद्धार, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी संस्थापनाके

लिये भगवान्‌का अवतार होता है। गीतामें अवतार-विषयमें स्पष्टतया यह बतलाया गया है। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

'जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है, अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तभी तब मैं स्वयं अवतीर्ण होता हूँ।' श्रीकृष्णने स्वयं कहा है, मेरी इस अवतारलीलाके जन्म और कर्म दिव्य हैं। जो मेरे आविर्भाव और लीलातत्त्वकी अलौकिकता और अप्राकृतताको जान लेते हैं वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

भक्तकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये, धर्मकी ग्लानि मिटानेके लिये, समाजमें समन्वयात्मक धर्मकी स्थापना करनेके लिये जो आविर्भूत होते हैं, उन्हींको अवतार कहा जाता है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि कार्यसिद्धिके लिये ही अवतारकी आवश्यकता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि कभी कोई भी अवतार क्यों न हो, अवतार सर्वत्र सर्वथा और नित्य है। चण्डीमें कहा है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

जब ही विरोधी शक्तिद्वारा शक्ति-सामञ्जस्य नष्ट होने लगता है, तभी अवतारकी आवश्यकता होती है। अवतार अपने तेजःस्वरूपमें पापपुण्यकी सीमाके बाहर तो रहते ही हैं, उनका प्रत्येक कार्य ही पूर्ण होता है—क्रियामात्र ही उनकी लीला है।* हमारे-आपके पाप-पुण्यकी गजसे अवतारका कार्य नहीं मापा जा सकता। अवतारतत्त्वमें 'अधर्मका उच्छेद और पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये व्यक्तित्व—मानवता धारण किये बिना भगवान्‌का काम नहीं चलता।' अवतारतत्त्वकी यह बात बहुत ही आश्चर्यमयी है। इच्छामयकी इच्छा होनेपर जब उसी क्षण पृथ्वीका समस्त भार तुरन्त ही नष्ट हो सकता है, तब उनको मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेकी और अवतार लेकर मानवताके समस्त दुःखोंको अपने ऊपर उठानेकी क्या आवश्यकता है? यह समझना सम्भवतः मानव-बुद्धिसे परेकी बात है। शायद वे आदर्श सृष्टि करनेका संकल्प करके ही प्रत्येक युगमें स्वयं दुःख सहकर—दुःखका भार उठाकर मनुष्यका मङ्गलविधान करते हैं। यही शायद उनकी अवतार-लीलाकी सनातन रीति हो। ग्लानिका अर्थ होता है 'दुःख' और 'पृथ्वीके भार' से समझना चाहिये 'समाज-विशेषमें दुःखकी उत्पत्ति।' इसीलिये एक विद्वान्‌ने कहा है—'जिसको जिस दुःखका अनुभव नहीं है, वह उस दुःखको दूर नहीं कर सकता। भगवान् अवतार लेकर पहले मानो स्वयं दुःखका उपहार ग्रहण करते हैं, और फिर उस दुःखकी गोदमें ही पलकर—पूर्णरूपसे दुःखका परिचय प्राप्तकर तब अपनेमें 'अतिमानुष' महत्त्वका प्रकाश करते हैं और उसी महत्त्वके प्रभावसे वे समाजका दुःख दूर करते हैं। पृथ्वीका भार हरण करते हैं। इसीलिये जिस समाज-धर्ममें ग्लानि उत्पन्न हुई है, वे उसी समाजमें प्रकट होते हैं, जिस जगत्‌में दुःखका झरना बहने लगता है, वे अधिकांशतः उसी जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं।'

अवतारतत्त्वकी यह विचित्रता है कि—शरीरमें रहनेवालेसे दीखनेपर भी—अवतार स्वयं शरीरधर्मरहित होते हैं। वे जिस समय मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होते हैं, उस समय जैसे उनका मनुष्यभाव सत्य है, वैसे ही उससे भी अधिक उनका चिन्मयभाव सत्य है।

---

* विष्णुपुराण ६।९।१०

वास्तवमें अवतार मनुष्य नहीं है। नराकारमें प्रतीत होनेपर भी वे मानवतासे अतीत पुरुष हैं। वे लीलामानुष हैं—बाह्यतः मनुष्यलिंग होनेपर भी गुप्तरूपसे भगवान् हैं।

शास्त्रका अध्ययन करनेपर यह भी समझमें आ जाता है कि भगवान्का अवतार कोई काल्पनिक घटना नहीं है—वह सत्य तत्त्व है, साथ ही वह दिव्य भी है। अर्थात् वह अलौकिक अप्राकृत और नित्य है। यद्यपि भगवान् अवतारके समय मानुषी तनु धारण करते हैं, तथापि वह तनु अप्राकृत और अपार्थिव है। भगवदवतार सत्-चित्-आनन्दमय, जगत्कारण ब्रह्मका घनीभूत स्वरूप है अर्थात् वह सच्चिदानन्दघनमूर्ति और पुञ्जीभूत परमानन्द है। शास्त्रोंमें इसीलिये उसको परमानन्दसन्दोह कहा गया है। वे ज्ञानात्मा, आनन्दात्मा, सर्वैश्वर्य-सम्पन्न हैं, और उनमें मुक्तिदातृत्व गुण नित्य विराजमान है। इसीलिये गीताभाष्यमें बलदेवने कहा है श्रीकृष्ण 'ज्ञानानन्दात्मत्व, सर्वेशत्व और मोक्षदातृत्व स्वभाव' हैं। इस प्रकारके स्वभाववाले होनेपर भी 'मनुष्यसन्निवेशित्व' और 'मनुष्यचेष्टा-प्राचूर्य' उनके अवतारका विशेषत्व हानेके कारण वे मनुष्यदेह धारण करते हैं। और इसीलिये मनुष्यकी-सी चेष्टा करते हुए उन्हें मानवप्रकृतिका अवलम्बन करना पड़ता है। वस्तुतः उनमें सदोष मानवता है ही नहीं। जीव गोस्वामीने कहा है, उनमें मनुष्योचित दोष रह ही नहीं सकते। क्योंकि वे पार्थिवता और अनैश्वर्यत्वसे सर्वथा विहीन हैं। मनुष्याकृति अवतार होनेपर भो वे नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। उनका जन्म और उनकी लीलाएँ सभी सत्य हैं—मायिक या ऐन्द्रजालिक नहीं हैं।

पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन-मूर्ति हैं। वैष्णव-आचार्योंने श्रुतियोंका मन्थन करके यही सारतत्त्व निकाला है कि यह सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मकी घनावस्था है। यद्यपि सच्चिदानन्दघन-विग्रहका तत्त्व साधारण जीवोंकी समझमें नहीं आ सकता तथापि प्रेमी भक्त उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। स्वयं भगवान्ने गीतामें तैत्तिरीय उपनिषद्के 'ब्रह्म पुच्छम् प्रतिष्ठा' (२।५।१) का अनुवाद-सा करते हुए कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'मैं ब्रह्मकी, अव्यय, अमृतकी, सनातनधर्मकी और ऐकान्तिक आनन्दकी प्रतिष्ठा हूँ।' गीताके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी इस 'प्रतिष्ठा' का अर्थ करते हुए कहते हैं—'प्रतिष्ठा—प्रतिमा, घनीभूतं ब्रह्मैवाहम् यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्यमण्डलम् तद्वदित्यर्थः।' अतएव सिद्ध होता है कि प्रतिष्ठा घनीभूत ब्रह्मको ही कहते हैं। ब्रह्मसंहिताकार गोविन्दभजनके बहाने एक ही साथ भगवद्वाक्य और श्रुतिवाक्योंका तात्पर्य बतलाते हैं—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटित्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें अगणित पृथ्वी आदिके द्वारा जो भिन्न-भिन्न हैं और जो निष्कल, अनन्त और अशेषस्वरूप हैं, वे ब्रह्म जिन गोविन्दकी प्रभा (अंगकान्ति) हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दको मैं भजता हूँ।

यही गोविन्द परमात्मस्वरूप, परमेश्वर रूपवान् हैं। किन्तु वे प्राकृत नेत्रोंके विषय नहीं हैं। देखना चाहते ही उन्हें देखा नहीं जा सकता। वे जिसपर

कृपा करते हैं, उसीके सामने अपना अप्राकृत तनु प्रकट करते हैं। साधारण मनुष्य बाहरी रूपका अवलम्बन किये बिना आनन्दमय भावका ग्रहण नहीं कर सकता, इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि जो साधक भगवद्विग्रहकी साधना करते-करते अपने अन्दर आनन्दमयको ग्रहण कर सकता है, जो अन्तरके भी अन्तरतम हैं, उन 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की धारणा कर सकता है, वही साधक श्रुतिके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और गीताके 'वासुदेवः सर्वमिति' को प्रत्यक्ष करनेका सौभाग्य प्राप्त करता है। और वही आनन्दघन श्रीकृष्णरूपके दर्शनका अधिकारी होता है। वह दिव्य, स्वच्छ, निर्मल नेत्र प्राप्त करके कृष्णानन्दका भोग करता है। इसीलिये वैष्णव साधक कहते हैं—

सर्वत्र कृष्णेर मूर्ति करे झलमल।
सेइ देखे जाँर आँखि हय निरमल॥

श्रीविदेहराजका मण्डप

(लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

जीवमात्रके हृदयमण्डपमें भगवान्का निवास है। यद्यपि भगवान्का निवास सर्वत्र है, पर हृदयमण्डपकी विशेषता है। यहीं उपासना करनेसे भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं—यहींसे भक्तको भगवान्की उपलब्धि होती है। इसीसे हृदयमण्डपको भगवान्का निवासस्थान कहा गया है। पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

वह सच्चिदानन्दघन एक अविनाशी व्यापक ब्रह्म हृदयमण्डपमें सदा रहता है, फिर भी जगत्के सब जीव दीन और दुखी हैं। कारण यह है कि इस मण्डपमें भगवान् अव्यक्तरूपसे निवास करते हैं, इसीसे दुःख-दीनताने भी डेरा डाल रक्खा है, मोह-दारिद्र्यका वहीं अधिकार है। जहाँ राजा छिपा बैठा हो, किसीको पता न हो वहीं चोर-डाकू स्वच्छन्दाचरण करनेमें नहीं हिचकते। यथा—

मम हृदै भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम मोह लोभ अहँकारा। मद कोह बोध रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
(विनयपत्रिका)

अतः राजाको प्रकट करनेका यत्न ही जीवका ध्येय है और यही होना चाहिये। भगवान् भवानीपतिने कहा—

'प्रेमते प्रगट होहिं मैं जाना'

और यह प्रेम होता है—नामस्मरणसे। यथा—

सुमिरिय नामु रूपु बिनु देखे। आवत हृदयँ सनेहँ बिसेषें॥

अतः भगवान्के नामका स्मरण और उनके स्वरूपकी भावना करते-करते भगवान् प्रकट होते हैं—निर्गुण ब्रह्म सगुणस्वरूपको प्राप्त होते हैं।

नाम निरूपन नाम जतनतें। सो प्रगटत जनु मोल रतनतें॥

और जहाँ मोलसे रत्न प्रकट हुआ, वहीं दरिद्रता गयी। भगवान्के प्रकट होते ही वह हृदयमण्डप कुछ दूसरा ही हो जाता है। फिर वह मण्डप वैसा नहीं रह जाता कि जहाँ दुःख-दारिद्र्यको पाँव रखनेका भी साहस पड़ सके। वह भगवान्के निवासयोग्य रत्नमण्डप हो जाता है—उसमें जहाँ देखिये वहीं भक्ति-मणिकी ही कारीगरी दृष्टिगोचर होती है। भक्ति-चिन्तामणिका ही उसमें प्रकाश होता है—

मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥
सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास॥

तब अपने हृदयाभिरामको पाकर जीव कृतार्थ होता है—मोहके दलपर उसे विजय प्राप्त हो जाती है—

फिरत सनेह मगन सुख अपने। नामप्रसाद सोचु नहिं सपने॥

इस प्रकार जीव परमानन्दको प्राप्त होता है।

परन्तु जीवकी चार अवस्थाएँ होती हैं (१) जाग्रत्, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति और (४) तुरीय। एक ही भगवान् इन अवस्थाओंके विभु होकर पृथक्-पृथक् नामोंसे कहे जाते हैं।

जाग्रत् अवस्थाके विभुका नाम 'विश्व' है, स्वप्नावस्थाके विभुका नाम 'तैजस', सुषुप्ति अवस्थाके विभुका नाम 'प्राज्ञ' और तुरीयावस्था 'ब्रह्म' है। यही चतुष्पाद ब्रह्म हैं, यही वेदतत्त्व हैं, इन्हींका नाम एकाक्षर महामन्त्र है।

मंत्र परमलघु जासु बस, बिधिहरिहर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ, बस कर अंकुस खर्ब॥

इस एकाक्षर मन्त्रकी भी चार मात्राएँ हैं—(१) अ, (२) उ, (३) म और (४) अर्धमात्रा। इनमें अकार विश्व है, उ तेजस् है, मकार प्राज्ञ है और अर्धमात्रा तुरीय ब्रह्म है। चतुष्पाद ब्रह्मका प्रकाश होनेसे इस महामन्त्रकी इतनी महिमा है। इसे वेद 'प्राण' कहते हैं। इसके विधि-हरि-हरादि देवता इस भाँति वशवर्ती रहते हैं जिस भाँति महामत्त गजराज अंकुशके वशवर्ती रहता है। कहना नहीं होगा कि विश्व, तेजस्, प्राज्ञ और तुरीयमें वास्तविक कोई भेद नहीं है। अवस्थाके भेदसे ही इनमें भेदका उपचार है और अवस्थाओंके ही भेदसे इनका एकत्र होना दुर्घट है। परन्तु यह रत्नमण्डप (भक्तका हृदय) ही एक ऐसा स्थल है जहाँ यह चतुष्पाद ब्रह्म चारों अवस्थाओंके साथ विराजमान होते हैं। उसी समय अनाहत नादकी तुमुल ध्वनि होती है और महामंगल उपस्थित होता है। यह तो हुई व्यष्टिकी बात। समष्टिमें भी वही बातें हैं जो व्यष्टिमें हैं—सिन्धुमें भी वही गुण है जो बिन्दुमें है। समष्टि भी दुखी होकर भगवान्के शरण जाता है।

यथा—

अतिसय देखि धरमकै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥

और अन्तमें यह गति होती है कि—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय हरि करिय पुकारा॥

भगवान्ने पुकार सुनी और चक्रवर्ती दशरथ महाराजके घर स्वयं प्रकट हुए। बूढ़े वशिष्ठ बाबाने इन्हें पहचाना और चक्रवर्तीजीसे कहा कि 'राजन्! 'वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी' तुम्हारे बेटे तो विश्व, तेजस्, प्राज्ञ और तुरीय हैं।' पर हम तो नहीं पहचान सके कि राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नमेंसे कौन-से कौन हैं? तब गोसाईं बाबाके शरण गये तो उन्होंने रामजीकी ओर इङ्गित करके कहा कि 'तुरीयमेव केवलम्' समझा कि रामजी तुरीय हैं, अर्धमात्रात्मक हैं। इसीसे यह भी पता चला कि भरतजी प्राज्ञ हैं, क्योंकि तुरीयावस्था और सुषुप्तिसे बहुत बड़ा साम्य है। आरम्भमें साधकको भ्रम हो जाता है कि उसे नींद लगी कि समाधि हुई। कुछ दिनोंके अभ्यासके बाद सुषुप्ति और तुरीयका भेद समझमें आता है। और विदेहपुरकी कामिनियाँ कहती हैं कि—

भरत रामही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नरनारी॥

अतः यह पता चला कि भरत प्राज्ञ हैं, 'म'-कारात्मक हैं। फिर भी लक्ष्मण शत्रुघ्नके विषयमें सन्देह शेष रहा। तबतक वशिष्ठजी बोले—

लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।

तब तो लक्षणधाम और जगत्का आधार सिवा जाग्रत् विभुके और हो ही कौन सकता है? सुषुप्तिसे जगत् रहता ही नहीं—स्वप्नका जगत् काल्पनिक है।

अतः यह बात भी मालूम हो गयी कि लक्ष्मणजी 'विश्व' 'अ'कारात्मक हैं—फिर तो शत्रुघ्नजीके तैजस—अर्थात् 'उ'कारात्मक होनेमें कोई सन्देह ही नहीं रहा। कहा भी है—

लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिखतें सब अंग अनूपा॥

जाग्रत् स्वप्नका सादृश्य प्रसिद्ध है।

अब रह गयी यह बात कि राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नका ही जोड़ा क्यों है?—क्यों—

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥

और क्यों—

भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जिमि प्रीति बढ़ाई॥

इसका भी समाधान अवस्थाका विचार करनेसे ही होता है।

सुषुप्ति या स्वप्नसे तुरीया (समाधि) में गति नहीं होती। जब समाधिमें गति होगी तब जाग्रत्से होगी। अतः लक्ष्मण-रामका साथ रहना स्वभावसिद्ध है। इसी भाँति स्वप्न सुषुप्ति छोड़कर जाग्रत्में नहीं होता इसलिये भरत-शत्रुघ्नका साथ भी युक्तियुक्त है। इतनेपर भी सन्देह निर्मूल नहीं होता, यद्यपि रामचरितमानसकी चौपाइयाँ पाणिनीयके सूत्रकी भाँति चारों ओरसे आकर प्रयोग सिद्ध करती हैं फिर भी निगमन करनेसे चूक हो सकती है। तब श्रुति भगवतीने आकर सब सन्देह दूर कर दिया। यथा—

अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः॥
(रामतापिनी उ०)

'अ'कारके अवतार 'विश्व' लक्ष्मण हैं। 'उ'-कारके अवतार तैजसात्मक शत्रुघ्न हैं, प्राज्ञात्मक भरत 'म'कारके अवतार हैं और रामजी साक्षात् आनन्द ब्रह्मकी मूर्ति अर्धमात्रात्मक हैं।

अतः सीताजीका तुरीया, माण्डवीका सुषुप्ति, उर्मिलाका जाग्रत् और श्रुतिकीर्तिका स्वप्नावस्था होना सिद्ध है। ये चारों अवस्थाएँ अपने विभुओंके साथ अर्थात् ये चारों देवियाँ अपने पतियोंके साथ एकत्र दिखलायी नहीं पड़तीं। इनके एकत्र दर्शनके लिये विदेहराजका रत्नमण्डप होना चाहिये। यथा—

हरित मनिन्हके पत्र फल पदुमरागके फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल॥

बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥
कनककलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥
तेहिके रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीर कोरि पचि रचे सरोजा॥

सौरभपल्लव सुभग सुठि, किए नीलमनि कोरि।
हेमबौरि मरकत घवर, लसत पाटमय डोरि॥

दीप मनोहर मनिमय नाना। जाहिं न बरनि बिचित्र बिताना॥

जयधुनि बंदी-बेद-धुनि, मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध, सुरतरु सुमन सुजान॥

ऐसे मण्डप और इस अवस्थामें—

सुंदरी सुंदर बरन्ह सह, सब एक मंडप राजहीं।

तब उपमा कहाँ ढूँढ़ी जाय? अतः गोस्वामीजीने समष्टिकी उपमा व्यष्टिसे दी अथवा अधिदैव तथा आधिभौतिक झाँकीकी उपमा अध्यात्मसे दे डाली और कह उठे—

जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं।

◆

पञ्च-सकार

(दूसरा प्रयोग)

सदाचार

पञ्च-सकारमें दूसरा सकार है सदाचार। साधु पुरुष जिस आचारका पालन करते हैं, सत्पुरुष जिसे सदाचार बतलाते हैं, या जो साधुहृदय पुरुषोंके द्वारा पालन करने योग्य है अथवा जिसके पालन करनेसे मनुष्य सदाचारी साधुहृदय बन सकता है, उसे सदाचार कहते हैं। मनुस्मृति, महाभारत, विष्णुपुराण, नारदीय पुराण, वामन पुराण आदिमें सदाचारका विशद निरूपण है। सदाचारमें लगे हुए मनुष्यका शरीर स्वस्थ, मन शान्त और बुद्धि निर्मल होती है और उसका अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण ही वस्तुतः भगवान्के चिन्तन और ध्यानके योग्य होता है। उसीमें भगवान्का स्थिर आसन लगता है, इसलिये मनुष्यको सदाचार जानना चाहिये और उसका पालन करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(मनु० ४। १५५—१५८)

‘श्रुति और स्मृतिमें कथित, अपने नित्यकर्मोंके अंगभूत, धर्मके मूल इस सदाचारका सावधानीके साथ सेवन करना चाहिये। सदाचारसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप प्रजा और अक्षय धनको प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदाचारसे अपमृत्यु आदिका भी नाश होता है। जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है, तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) होता है। विद्यादि सब लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी होता है और श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी सौ वर्षतक जीता है।’

उपर्युक्त स्मृति, इतिहास और पुराण आदि ग्रन्थों और वैद्यक-सिद्धान्तोंके आधारपर तथा वर्तमान आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर इस लेखके लिखनेकी चेष्टा की गयी है। विज्ञजन क्षमा करें और इसमें कुछ अच्छापन हो तो उसे ग्रहण करें और लाभ उठावें।

शय्यात्याग

सूर्योदय होनेसे लगभग ३ से १॥ घण्टे पूर्व बिछौनेसे उठ जाना चाहिये। इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है, जो सूर्य उगनेके समय सोता है उसकी उम्र और ताकत घटती है और वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है।

उठते ही सबसे पहले भगवान्का स्मरण और ध्यान करे और कम-से-कम दस मिनट भगवान्की प्रार्थना करे। दिनभर सुबुद्धि बनी रहे, शरीर तथा मनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य हों, भगवान्का चिन्तन कभी न छूटे, इसके लिये भगवान्से बल माँगे और आत्मासे यह निश्चय करे कि ‘आज दिनभर मैं कोई भी बुरा कर्म कदापि नहीं करूँगा। भगवान्को याद रखते हुए भले कार्य ही करूँगा।’

मलमूत्रका त्याग

बिछौनेसे उठकर पहले घरसे दूर बाहर जाकर मूत्र त्याग करे। फिर हाथ-मुँह धोवे, कुल्ला करे।

प्रातःकाल लगभग आधा सेर बासी जल नित्य-नियमपूर्वक धीरे-धीरे पी जाय। यह उषापान कहलाता है, इससे कफ, वायु, पित्त—त्रिदोषका नाश होता है, दस्त साफ होता है, पेटके विकार दूर होते हैं। बवासीर, प्रमेह, मस्तक-वेदना, शोथ और पागलपन आदि रोग मिटते हैं। बल-बुद्धि और ओज बढ़ता है।

सुभीता हो तो गाँवसे बाहर नैर्ऋत्यकोणमें दूर जाकर मल त्याग करे। पेड़की छायाके ऊपर, गौ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, गुरुजन और अन्यान्य स्त्री-पुरुषोंके सामने मल-मूत्रका त्याग न करे। जुते हुए खेतमें, पके खेतमें, गौओंकी गोष्ठमें, रास्तेमें, नदी आदिमें, जलाशयमें तथा नदी और तालाबके किनारे और श्मशानमें कभी मल-मूत्रका

त्याग न करे। हो सके जहाँतक दिनमें उत्तर मुख और रातको दक्षिण मुख होकर मल-मूत्रका त्याग करे। मल-मूत्र त्याग करते समय सिरको कपड़ेसे ढँक ले और द्विज हो तो जनेऊ कानपर चढ़ा ले।

शहरोंमें रहनेवाले लोग पाखानों और पेशाबखानोंको साफ रक्खें। चारों ओरकी पक्की या चटाईकी दीवालको कम-से-कम दो फुटतक अलकतरा (डामर) पोत दे। रोज काफी पानीसे सफाई की जाय जिसमें दुर्गन्ध न रहे, और वहाँ मक्खियोंका देश न बस जाय।

दिन-रातमें जब-जब मल-मूत्र त्याग करे, तब-तब जबतक मल-मूत्रका त्याग होता रहे, ऊपर-नीचेके दाँतोंको जोरसे दबाकर सटा रखना चाहिये। इससे दाँत बहुत मजबूत होते हैं और बहुत दिनोंतक चलते हैं। दाँतोंकी कोई बीमारी सहजमें नहीं हो पाती।

मलका त्याग करके ऊपर मिट्टी डाल देना चाहिये जिससे मक्खियाँ उसपर न बैठने पावें। जमीनमें गढ़ा खोदकर उसमें शौच जाना और उसको मिट्टीसे भर देना बहुत ही उत्तम है।

मल-मूत्र त्याग करते समय मौन रहे। मल त्याग करते समय ज्यादा जोर न देवे। जोर देनेसे धातु निकल जाती है जिससे कब्जी और भी ज्यादा बढ़ती है तथा बाँयीं पसलीके नीचे एक प्रकारका दर्द हो जाता है, जो स्थायी होनेपर बहुत दुःखदायी होता है। मन्दाग्नि होती है।

ज्यादा कब्ज रहती हो तो साग अधिक खाय, हर्रेकी फाँकी रातको ले ले। पञ्च-सकार चूर्ण भी अच्छा है। परन्तु ज्यादा जुलाब न ले। जुलाबकी आदत पड़ जानेपर स्वाभाविक पाखाना होना बन्द हो जाता है। मल त्याग करते समय चोटी खुली रहनी चाहिये।

सवेरे एक बार शौच जरूर जावे। शामको भी हो आना अच्छा है। मल त्याग करनेमें जल्दी नहीं करनी चाहिये।

गरम बालूमें, आगमें, राखपर, गरम पत्थरपर, मूत्र-सम्बन्धी रोगीके द्वारा पेशाब की हुई जगहपर मूत्र त्याग न करे। खड़े होकर पेशाब न करे। पेशाब करते समय खयाल रक्खे कहीं बदनपर छींटे न लगने पावें। पेशाब करके पानीसे लिंगको जरूर धोना चाहिये।

मिट्टीसे गुदा-लिंग आदि जरूर धोवे। जो मल त्याग करनेपर गुदाको नियमपूर्वक मिट्टीसे धोते हैं, उनको बवासीरकी बीमारी प्रायः नहीं होती। जबतक गन्ध रहे तबतक धोते ही रहना चाहिये। शौचके लिये पानी काफी ले जाना चाहिये। थोड़े-से पानीसे गुदा ठीक नहीं धुलती। लिंगको एक बार और गुदाको कम-से-कम तीन बार मिट्टी लगाकर धोवे। शौचके लिये जिस लोटेमें पानी ले जाय, पहले हाथ माँजकर उसको कम-से-कम तीन बार माँजना चाहिये। हरेकका लोटा बिना माँजे इस्तेमाल नहीं करना चाहिये।

हाथ धोनेके लिये बाँबीकी, चूहोंके बिलसे निकाली हुई जलके भीतरकी, शौचकार्यसे बची हुई, घरके लीपनकी, चींटी आदि छोटे-छोटे जीवोंकी निकाली हुई या हलसे उखाड़ी हुई मिट्टी न ले। जहाँकी मिट्टीको लोग गंदा कर देते हैं वह मिट्टी भी न ले। साफ मिट्टी ले। जमीन खोदकर मिट्टी निकाली जाय तो वह बहुत अच्छी है। मिट्टीको घरमें जमा रक्खे तो किसी मिट्टीके या टीनके बरतनमें रखना चाहिये। उसे भी ढककर रक्खे जिससे बिल्ली आदि उसे गंदा न कर सकें।

बायें हाथको दस बार और दाहिने हाथको सात बार मिट्टी लगाकर अच्छी तरह धोवे।

दाँत धोना

दाँतोंको पीपल, गूलर, मौलसिरी, चम्पा, आम, नीम, खैर आदिके दँतुअनसे धीरे-धीरे घिसकर साफ करे। ताड़, खजूर, सुपारी, नारियल तथा काँटेदार पेड़ोंके दँतुअन न करे। दँतुअन गाँठ बिनाका तथा बारह अंगुल लम्बा हो। ज्यादा मोटा नहीं होना चाहिये। कत्था, माजूफल, मौलसिरीकी छाल, अकलकरा, फिटकरी, सैंधा, साँभर और काला नमक, हर्रे, बहेड़ा, आँवला, सौंठ, पीपल और मिर्च इन सबको बराबर भाग लेकर मंजन बना ले। यह मंजन दाँतोंके लिये बहुत लाभदायक है। कड़वे (सरसोंके शुद्ध) तेलमें थोड़ा-सा मैदेकी तरह खूब महीन पिसा हुआ सैंधा नमक मिलाकर दाँतों और मसूढ़ोंपर धीरे-धीरे मलकर धोनेसे दाँत बहुत मजबूत और नीरोग होते हैं।

कान, मुँह, दाँत, दमा और हृदयकी बीमारीमें दँतुअन करना ठीक नहीं है। प्रतिपदा, षष्ठी, नवमी,

एकादशी, अमावस्या और रविवारको भी दँतुअन नहीं करना चाहिये । ऐसे रोगियोंको, और उपर्युक्त दिनोंमें सभीको दँतुअन न करके मंजन करना चाहिये ।

दँतुअन घूमते-फिरते न करे । पूर्व मुख बैठकर शान्तिपूर्वक दँतुअन करे । दँतुअनसे दाँत साफ कर चुकनेपर उसको चीरकर दो टुकड़े करके जीभ साफ कर ले । फिर दोनों टुकड़ोंको धोकर कूड़ेकी जगह फेंक दे, चाहे जहाँ न फेंके ।

पेशाब करनेपर तीन और मलत्याग करनेपर ग्यारह कुल्ले अवश्य करने चाहिये । कुल्ला जहाँतक हो ठंडे, ताजे जलसे करना उत्तम है । बहुत गरम तथा अति ठंडे जलसे कुल्ला करनेसे दाँतोंकी जड़ ढीली हो जाती है । कुल्ला बायीं ओरको करना चाहिये । दायें और सामने करनेसे बीमारी बढ़ती है, तथा अन्तरिक्षमें दायें और सम्मुख स्थित रहनेवाले पितर, देवता और ऋषियोंकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है । कुल्ला इस प्रकार करे जिससे दाँतोंके आगे-पीछेके सब हिस्से, जीभ, मसूढ़े आदि सब साफ हो जाय । नदी और तालाबके अंदर कुल्ला नहीं करना चाहिये ।

वायुसेवन

सुबह और शामको नित्य खुली, ताजी और शुद्ध हवामें अपनी शक्तिके अनुसार थकान न मालूम होनेतक साधारण चालसे घूमना चाहिये । नियमपूर्वक घूमनेके व्यायामसे और शुद्ध वायुसेवनसे शरीरको बहुत लाभ पहुँचता है । बहुत ठंडी हवामें, बरसातमें, अंधड़में तथा गंदी जगहोंमें न घूमे ।

तेल लगाना

रोज सारे बदनमें तेल लगानेसे बड़ा लाभ होता है । गलेसे नीचेतक सरसोंका तथा मस्तकपर तिल आदिका तेल लगावे । सिरका ठंढा रहना और पैरका गरम रहना अच्छा है, इसलिये सिरमें कभी सरसोंका तेल न लगावे । अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या, सूर्यकी संक्रान्ति और रविवारके दिन तेल न लगावे । कड़वा तेल पैरोंके तलवेमें लगाना और सरदी होनेपर या कफ-वायुके प्रकोपमें उसका नस्य लेना उत्तम है ।

स्नान करना

प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व स्नान करे । स्वच्छ जलके बहते हुए नद या नदीमें अथवा निर्मल तालाबमें, नहीं तो कुएँसे जल खींचकर उसके पासकी जमीनपर नहावे । ऐसा सुभीता न हो तो नलसे अथवा कुएँसे मँगाये ताजे जलसे नहावे ।

शरीरको अंगोछे और हाथसे खूब मल-मलकर नहाना चाहिये । नहाते समय ऐसा निश्चय करे कि मेरे शरीरके मैलके साथ ही मनका मैल भी धुल रहा है । नहाते समय भगवान्‌का नामोच्चारण अवश्य करते रहना चाहिये । नहानेके लिये बारहों महीने ताजा ठंढा जल ही उत्तम है । बासी जलसे और बहुत गरम जलसे नहाना उचित नहीं । ज्वर, अतिसार आदि रोगोंमें न नहावे । उन्माद, मृगी आदिमें जरूर नहावे । पसीनेमें, मैथुन करके, दौड़कर तथा भोजन करके तुरन्त नहीं नहावे । नहाते समय पहले मस्तकपर जल डालना चाहिये । गरम जलसे खुली जगहमें न नहावे ।

जिस बालटी या डोलके जलमें दूसरा आदमी नहा चुका हो, उसको माँजे और धोये बिना उसीमें नहानेके लिये जल न लेवे । इसी तरह लोटा भी माँज-धो लेना चाहिये ।

घरमें कुआँ हो तो उसे समय-समयपर साफ कराता रहे—जिससे उसमें गंदगी न पैदा हो । लाल दवाई (पोटास) छोड़ना भी अच्छा है । कुएँके आसपास गंदगी न जमा होने दे ।

स्नान करके खद्दरके मोटे अँगोछेसे तमाम शरीरको भलीभाँति पोंछ डाले, नीचेके अंगोंको पोंछनेके लिये अलग अँगोछा रक्खे । कोई भी अंग जलसे भीगा नहीं रहना चाहिये । बहुधा लोग नीचेके अंगोंको ठीक नहीं पोंछते, इससे दाद, खुजली वगैरह रोग हो जाते हैं । दूसरेका इस्तेमाल किया हुआ अँगोछा—तौलिया कभी काममें न लावे ।

स्नान करनेके बाद जलसे भीगी हुई धोती अथवा हाथोंसे शरीरको न पोंछे । खड़े-खड़े केशोंको न झाड़े और आचमन भी न करे ।

स्नान करके अंग पोंछनेके बाद धोया हुआ शुद्ध, सफेद कपड़ा पहने । पूजाके समय ऊनी, अथवा जिसमें हिंसा न होती हो ऐसा रेशमी वस्त्र पहनना उत्तम है दूसरेका पहना हुआ कपड़ा कभी न पहने ।

नहानेके बाद सिरके केशोंको कंघीसे ठीक कर ले, जिसमें कोई छोटा जीव-जन्तु या कूड़ेका कोई कण सिरपर न रहने पावे। दूसरेकी कंघीसे कभी अपने बाल साफ न करे।

घरमें माता, पिता, गुरु, बड़े भाई आदि जो अपनेसे बड़े हों, उनको नित्य-नियमपूर्वक प्रणाम करे। नित्य बड़ोंको प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है।

मस्तकपर चन्दन, गोपीचन्दन या कुंकुमसे अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार तिलक करे।

सन्ध्या-पूजन

द्विजको हो सके तो तीनों काल—नहीं तो—दो कालकी सन्ध्या अवश्य करनी चाहिये। जो द्विज प्रतिदिन प्रमादवश सन्ध्या नहीं करता वह महान् पापी माना जाता है और उसको भयानक नरक-यातना भोगनी पड़ती है। जहाँतक हो, सन्ध्या प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले और सायंकाल तारोंके दिखायी देनेसे पूर्व करनी चाहिये। सन्ध्याके बाद प्रत्येक द्विज दोनों समय कम-से-कम एक-एक माला गायत्री-मन्त्रका जप अवश्य करे।

देवता, ऋषि और पितरोंकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण करे। देवता और ऋषियोंके तर्पणके लिये तीन-तीन बार और प्रजापतिके लिये एक बार जल छोड़े। अपने पिता-पितामहों और नाना-परनानाओंको तथा माता-दादी एवं नानी-परनानी आदिको पितृतीर्थसे जलदान करे। अर्थात् दाहिने हाथके अंगूठेके नीचेसे दक्षिण दिशामें जलदान करे। फिर देवता, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु-पक्षी, जलचर, स्थलचर, वायुभक्षक जीव, नरकोंकी यातना भोगते हुए प्राणी, बन्धु-अबन्धु, पूर्व जन्मोंके बन्धु और भूख-प्याससे व्याकुल जीवमात्रको जलदान दे।

नित्य अपने इष्टदेवकी पूजा तथा स्तोत्र-प्रार्थना आदि करे। जिनको सन्ध्या-गायत्रीमें अधिकार नहीं ऐसे लोग नित्य-नियमपूर्वक अपने-अपने इष्टदेवकी पूजा-प्रार्थना अवश्य कर लें। प्रार्थनाके समय आँखें बन्द रक्खें और चित्तको यथासाध्य एकाग्र किये रहें।

भोजन

रसोई बन चुकनेपर पहले बलिवैश्वदेव करके घरपर आये हुए अतिथिका सत्कार करे और फिर अपने घरमें आयी हुई विवाहिता कन्या, गर्भिणी स्त्री, दुखिया, वृद्ध और बालकोंको भोजन कराकर अन्तमें स्वयं भोजन करे। विष्णुपुराणमें लिखा है कि 'इन सबको भोजन कराये बिना जो स्वयं भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करता है और अन्तमें मरकर नरकमें श्लेष्मभोजी कीट होता है। जो व्यक्ति स्नान किये बिना भोजन करता है वह मल भक्षण करता है, जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त और पूय पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्र-पान करता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले आहार कर लेता है वह विष्ठाहारी होता है।'

पैरोंको धोकर और भलीभाँति कुल्ला करके, हाथ-मुँह धोकर भोजन करे। भोजन करनेसे पहले भगवान्को निवेदन करके प्रसादरूपमें भोजन करे। दिनमें जितनी बार अन्न-जल ग्रहण करे पहले भगवान्को निवेदन करके ही करे। भोजनके समय प्रसन्न रहे, बोले नहीं और खूब चबा-चबाकर प्रेमसे अन्नको खाय। जो अन्नको चबाकर नहीं खाता उसके दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा दाँतोंके बदले उसकी अँतड़ियोंको काम करने पड़ते हैं जिससे मन्दाग्नि हो जाती है। भोजनका समय प्रातःकाल लगभग ११ बजे और सन्ध्याको सूर्यास्तसे पूर्व या सूर्यास्तके १ घंटे बाद होना चाहिये। यों तो भोजनका ठीक समय वही है जब खूब खुल-खुलकर भूख लगी हो। भोजनका समय नियमित होनेसे ठीक समयपर भूख अपने-आप लगेगी।

अप्रसन्न मनसे, बिना रुचिके, भूखसे अधिक और अधिक मसालोंवाला चटपटा भोजन शरीरके लिये बड़ा हानिकारक होता है। भोजन न तो इतना कम होना चाहिये जिससे शरीरकी शक्ति घट जाय और न इतना अधिक होना चाहिये जिसे पेट पचा ही न सके।

बहुत प्यास लगी हो, पेटमें दर्द हो, शौचकी हाजत हो अथवा बीमार हो तो ऐसे समय भोजन नहीं करे।

भोजनमें सभी रसोंकी आवश्यकता है परन्तु मीठा जहाँतक हो कम खाना चाहिये।

अपवित्र स्थानमें, कुर्सी आदिपर बैठकर, सन्ध्याके समय, गंदी जगह, बेत आदिपर रक्खे हुए पात्रमें, फूटी

थालीमें, पात्रमें पात्र रखकर (जैसे थालीमें कटोरी आदि) भोजन न करे।

धूल और दुर्गन्धसे रहित, प्रकाशयुक्त, शुद्ध हवादार स्थानमें भोजन बनना चाहिये। और चारों ओरसे घिरी हुई जगहमें बैठकर भोजन करना चाहिये। भोजन बनाने और परोसनेवाला मनुष्य दुराचारी, व्यभिचारी, चुगलखोर, छूतका रोगी, कोढ़ और खाज-खुजलीका रोगी, क्रोधी, वैरी और शोकसे ग्रसित नहीं होना चाहिये।

जिस आसनपर भोजन करने बैठे उसको पहले झाड़ लेना चाहिये और सुखासनसे बैठकर भोजन करना चाहिये।

भोजन करनेके स्थानमें अपने परिवारके लोग, मित्र और विश्वासी नौकरोंके सिवा और कोई नहीं रहना चाहिये।

जो अन्न चोरी, ठगी, अन्याय अथवा दूसरेका हक मारकर उसके पैसोंसे आया हुआ हो, वैसा अन्न बुद्धिमान् पुरुष न खाय।

भोजन करते समय गुस्सा न हो, कटुवचन न कहे, भोजनके दोष न बतलावे, रोवे नहीं, शोक न करे, जोरसे न बोले, किसी दूसरेको न छूये।

बहुत गरम चीज़ और बहुत ठंढी चीज़ दाँतोंसे चबाकर न खावे। निरा नमक न खावे। पहले मीठे, फिर नमकीन तब खट्टे और अन्तमें कटु तथा तीक्ष्ण पदार्थोंको खाय। वाणीका संयम करके अनिषिद्ध अन्न भोजन करे। अन्नकी निन्दा न करे। भोजनके आदिमें अदरखको कतरकर उसके साथ थोड़ा नमक मिलाकर खाना बहुत अच्छा है। जीभके स्वादवश होकर भूखसे अधिक खा लेना उत्तम नहीं है।

अधिक तीखा, अधिक कड़वा, अधिक नमकीन, अधिक गरम, अधिक रूखा और अधिक तेज भोजन राजसी है। और अधकचा, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा अन्न तामसी है। राजसी, तामसी अन्नका, मांस-मद्यका तथा शास्त्रनिषिद्ध अन्नका त्याग करना चाहिये। भोजनके समय अँगोछा बायें कंधेपर जरूर रक्खे। केवल धोती पहने भोजन न करे।

एक थालीमें दो आदमी न खायँ। इसी प्रकार एक गिलास या कटोरेमें दूध तथा पानी न पीएँ। सोये हुए न खायँ। एक हाथमें अन्न लेकर दूसरे हाथसे न खायँ। दूसरेके आसनपर अथवा गोदमें लेकर अन्न न खायँ। चारपाईपर बैठकर या रखकर न खायँ। जिस घरमें मुर्दा पड़ा हो, वहाँ न खायँ। अपने आसनसे भोजनकी थालीको नीचे न रक्खे। बल्कि स्वयं कुछ नीचे आसनपर बैठकर थालीको ऊँची रक्खे।

सूर्यास्त होनेके बाद जिस चीज़में तिल हो ऐसी कोई चीज न खाय। जिस दूधमें नमक गिर गया हो उसे कभी न पीवे। पीतलके बरतनमें खट्टी चीज़ रखकर न खाय। काँसीके बरतनमें या साफ धोई हुई पत्तलोंमें या हरे पत्तोंमें भोजन करना अच्छा है।

एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्याको व्रत रखना चाहिये। व्रतका अर्थ यह नहीं कि उस दिन अन्नके बदले खोवेका हलुआ आदि चीजें खायी जायँ, उस दिन निराहार या परिमित फलाहार करे।

रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ, कुत्तेका छूआ हुआ, गायका सूँघा हुआ, केश-नख-कीड़ा, लार-थूक इत्यादि पड़ा हुआ, अपमानसे मिला हुआ, तथा वेश्या, कलाल, कृतघ्नी, कसाई और राजाका अन्न नहीं खाना चाहिये।

स्त्री-पुरुषको एक साथ बैठकर, स्त्रीके भोजन करते समय तथा जहाँ स्त्रियाँ मनमाने रूपमें बैठी हों वहाँ, भोजन नहीं करना चाहिये। जिन बरतनोंमें भोजन बनता हो वे सब बरतन भलीभाँति माँजे हुए होने चाहिये।

ताम्बेके बरतनमें दूध न रक्खे। दूध इत्यादि गरम करे तब उन्हें ढक देना चाहिये।

भोजन-सामग्रीकी शुद्धता

भोजनका सामान आटा, दाल, घी, मसाला आदि भण्डारमें जिन बरतनोंमें रहता हो, वे सब बरतन साफ किये हुए हों और ढककर रक्खे जायँ। बिना ढके बरतनोंमें चूहे घुस जाते हैं और वे वहाँ मल-मूत्रका त्याग करते हैं। चूहेके मल-मूत्र दोनोंमें भयानक विष होता है। खुले बरतनोंमें दूसरे जानवर भी घुसकर सामानको गंदा कर सकते हैं।

खानेके सामानको बीच-बीचमें धूपमें रखना चाहिये। और उसी सामानसे भोजन बनाना चाहिये जो भलीभाँति चुग-बीनके साफ किया हुआ हो।

दूध, घी या अचारके बरतनमें अँगुली नहीं डालनी चाहिये। ऐसा करनेसे नखोंका जहर उनमें मिल जाता है। समय-समयपर अचार आदिको धूपमें रखना चाहिये।

चौकेमें भोजन बनाकर जिन बरतनोंमें रक्खा हो, उन सबको ढककर रखना चाहिये। दही, दूध, मिठाई आदि पदार्थ जालीदार अल्मारियोंमें रखने चाहिये ताकि उनपर मक्खी आदि न बैठने पायें।

भोजन बनाते समय और परोसते समय बरतनोंपर जो ढक्कन रहता है, उसको उतारकर प्रायः जमीनपर रख दिया जाता है। ढक्कन भापसे गीला हुआ रहता है जिसमें जमीनके जीव-जन्तु या मिट्टी वगैरह लग जाते हैं। फिर वही ढक्कन बरतनोंपर रख दिया जाता है जिससे उसमें लगी हुई चीजें अंदर जाकर भोजनसामग्रीको दूषित कर देती हैं। अतः यदि ढक्कनको उतारना हो तो किसी साफ थालीपर रक्खे और फिर उस ढक्कनको जब बरतनपर रखना हो तो उसे साफ अँगोछेसे पोंछकर रक्खे।

इसी प्रकार साग, दाल, कढ़ी, खिचड़ी आदि चीजें परोसते समय जिस चम्मचको इनके अंदर डाला जाता है, उन्हें भी पोंछकर डालना चाहिये तथा जमीनपर नहीं रखना चाहिये।

पीनेका पानी जिस बरतनमें रक्खा हो, उसे रोज अन्दरसे धोना चाहिये, उसमें जलको छानकर रखना चाहिये तथा उसे भी ढक रखना चाहिये।

भोजनके बाद आचमन करना चाहिये और दाहिने हाथके अँगूठेको होठोंपर फिराना चाहिये।

भोजन करते समय जल न पीना स्वास्थ्यके लिये बहुत अच्छा है। न रहा जाय तो भोजनके बीचमें थोड़ा जल पी लेना चाहिये। फिर एक-आध घंटेके बाद जल पीना उत्तम है।

पंगतमें भोजन करने बैठे तो सबके साथ उठना चाहिये। अपने जल्दी खानेकी आदत हो और पंक्तिमें कोई धीरे खानेवाले बैठे हों तो धीरे-धीरे खाना चाहिये। नहीं तो हमारी थाली या पत्तलमें कुछ भी नहीं देखकर उन्हें संकोच होगा और वे या तो जल्दी-जल्दी खायँगे जिसमें उन्हें कष्ट होगा, या वे भूखे रह जायँगे।

जिस मनुष्यपर सन्देह हो उसके हाथकी कोई चीज न खाय।

भोजनके बाद क्या करना, क्या न करना

भोजन करनेके अनन्तर दाँतोंको खूब अच्छी तरह साफ करना चाहिये ताकि उनमें अन्नका जरा-सा भी कण न रह जाय। अन्नकण दाँतोंमें रह जानेपर सड़कर दाँतोंको कमजोर बनाता है तथा उसीसे पायरियाका रोग होता है। दाँतोंके बीचमें यदि फाँक हो गयी हो तो उसमें फँसे हुए अन्नकणोंको नीम आदिके तिनकेसे निकालकर अच्छी तरह धो लेना चाहिये।

कुल्ला करते समय मुँहको पानीसे भरा रखकर दस-पन्द्रह बार छींटे देकर आँखोंको धोना चाहिये। मनुष्य दिनमें जितनी बार मुँहमें पानी ले उतनी ही बार यदि ऐसा करे तो उसकी आँखें बहुत तेज रहती हैं तथा उनके बिगड़नेका भय बहुत कम रहता है।

भोजनके बाद हाथ धोये हुए गीले हाथकी हथेलियोंको आँखोंपर फिरानेसे तथा सिरमें कंघी करनेसे भी आँखें तेज होती हैं। कंघी ऐसे करनी चाहिये जिसमें कंघीके काँटे सिरपर स्पर्श करें। इस प्रकार कंघी करनेसे वातरोग भी नहीं होता। कंघी काठ या चन्दनकी होनी चाहिये, रबरकी नहीं।

भोजनके उपरान्त सौ कदम चलना और मूत्र-त्याग करना चाहिये। भोजनके बाद चूल्हेकी राखसे पैरोंको सेकना भी स्वास्थ्यके लिये बहुत उत्तम माना जाता है।

भोजनके बाद दौड़ना, कसरत करना, तैरना, नहाना, आग तापना, घुड़सवारी करना, मैथुन करना और तुरन्त ही बैठकर काम करने लगना स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकारक है। खाकर तुरंत बैठ जानेसे पेट बढ़ता है, दौड़नेसे वायुकी वृद्धि होकर पेटमें शूल हो जाता है और पेटभर खानेके बाद फिर खा लेनेसे तो मृत्युका ही सामना करना पड़ता है। सौ कदम चलनेके बाद कुछ देर सीधे लेटकर फिर कुछ देर बायें करवट लेटना अच्छा है। परन्तु लेटनेका मतलब सोना नहीं। जो भोजन करके तुरंत ही सो जाते हैं, उनका खाया हुआ अन्न नहीं पचता है।

रातको भी भोजन करके तुरंत नहीं सोना चाहिये सोनेसे पूर्व सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और भगवान्‌का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

स्त्री-सहवास

ऋतुकालमें अपनी विवाहिता स्त्रीसे संग करना चाहिये। पहली चार रात्रियाँ और अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा इन आठ रात्रियोंको छोड़कर ऋतुकालके दिनसे गिनकर सोलह रात्रियोंमेंसे आठ रात्रि स्त्री-सहवासके लिये

मानी गयी है। इनमेंसे भी श्राद्ध, पर्व, व्रत, उपवास आदिके दिनोंको बाद देकर शेष रात्रियोंमें केवल दो रात्रि उचित समझी जाती है। बीमार, अप्रसन्न, दुःखिनी, शोकग्रस्ता, क्रोधिता, द्वेषयुक्ता, भूखी और अधिक भोजन की हुई स्त्रीके साथ सहवास न करे। इसी प्रकार अपनेमें भी ये बातें हों तो स्त्री-गमन न करे। रजस्वला और गर्भिणी स्त्रीसे भी अलग रहे। रजस्वलागमन करनेसे बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयुका नाश होता है। आँगन, तीर्थ, मन्दिर, गोशाला, श्मशान, उपवन, जल और लोकालयमें तथा प्रातःकाल, सायंकाल और मल-मूत्रके वेगके संग मैथुन कदापि नहीं करना चाहिये। परायी स्त्रीसे तो वाणीसे क्या मनसे भी अलग रहना चाहिये। परस्त्रीकी आसक्ति मनुष्यको इस लोक और परलोक दोनों जगह भय देनेवाली है। इस लोकमें इससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है और मरनेपर वह नरकमें जाता है।

स्त्री-संग सन्तानोत्पत्तिके लिये ही होना चाहिये। इन्द्रियोंके तृप्तिजन्य मिथ्या आनन्दके लिये नहीं।

स्त्रियोंके साथ व्यवहार

सदाचारी पुरुषको स्त्रियोंसे यथासाध्य सदा ही अलग रहना चाहिये। छींकती हुई, खाँसती हुई और जम्हायी लेती हुई, चाहे जैसे बैठी हुई और नग्न स्त्रीको कदापि न देखे। स्त्रियोंमें जानेकी आवश्यकता हो तो चुपचाप न जाकर 'नारायण' 'नारायण' इत्यादि भगवन्नाम या कोई और शब्द उच्चारण करते हुए जाना चाहिये। ताकि वे सावधान हो जायँ। स्त्रियोंके अङ्गोंकी ओर—विशेषकर मुखकी ओर नजर न डाले, यदि पड़ जाय तो सकुचावे और पश्चात्ताप करे। स्त्रियोंमें जाना हो तो किसी दूसरे सच्चरित्र पुरुषको या अपनी माँ-बहिनको साथ लेकर जाय। स्त्रियोंके समूहमें जाना, उनके आसपास घूमना, बातें करना, गानाबजाना, हँसना-खाँसना, तालियाँ बजाना, पुरुषोंका आपसमें इशारे करना, आपसमें हँसी-मजाक करना कदापि उचित नहीं। परायी स्त्रीको माँ समझे। मित्र, गुरु और राजाकी पत्नीको तथा अपनी सासको सगी माँके समान समझे। और सलहज और सालीको बहनके समान। स्त्रियोंसे कभी लड़ाई-झगड़ा, विवाद, तर्क, शास्त्रार्थ न करे। स्त्री-दूकानदारके पास अगर वह युवती हो तो जहाँतक बने सौदा खरीदने न जाय। आवश्यकता पड़नेपर स्त्रियोंके सामने नहानेमें, वस्त्र पहननेमें बहुत संकोच और सावधानी रक्खे। स्त्रियोंका तिरस्कार न करे, अपनी स्त्रीको अपना मित्र माने। भीख माँगनेवाली स्त्रीका अपमान न करे बल्कि आदर करे, विधवा स्त्रीका संन्यासिनीकी भाँति खूब आदर करे तथा उसे सुख पहुँचावे। गंदी स्त्रियोंके चकलोंमें न जावे। उनके साथ बातचीत न करे। स्त्रियोंके चित्र न देखे और न उनके अङ्गाङ्गोंको दिखानेवाले सिनेमा आदि देखे। स्त्रियोंके पास एकान्तमें न रहे, युवती बहिन और लड़कीके पास भी अनावश्यक एकान्तमें न रहे। युवती स्त्रियोंसे पत्रव्यवहार कम करे।

स्त्री-चिन्तन शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्यके लिये बहुत ही हानिकर है।

शयन

रातको हाथ-पैर धोकर और उन्हें भलीभाँति पोंछकर काठकी चौकीपर या चारपाईपर सोना चाहिये। सोनेके घरमें कूड़ा-करकट न रहे। प्रकाश आता रहे। न हवा तेज आवे और न बिल्कुल बन्द हो। भगवान्के चित्रादि टँगे हुए हों। कमरा धूप इत्यादिसे सुगन्धित हो—ऐसे घरमें सोना चाहिये। चौकी बहुत छोटी, टूटी हुई, ऊँची-नीची, गंदी न हो तथा उसमें खटमल, जूँ आदि जीव-जन्तु न हों। उसपर साफ कपड़ा बिछा हुआ हो। सोते समय सदा पूर्वकी ओर सिर रखकर सोना चाहिये। अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोनेमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उत्तर-पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। सोनेके पूर्व मल-मूत्रका त्याग करके भगवान्का ध्यान कर लेनेके बाद करवटसे सोना चाहिये। यदि मच्छरोंका जोर हो तो मशहरी लगा लेना चाहिये। साधारणतया छः-सात घंटेतक सोना चाहिये। अभ्यास कर लेनेपर छः घंटेसे कम सोनेमें भी आपत्ति नहीं है।

नग्न होकर नहीं सोवे। स्त्री-पुरुष एक चारपाईपर न सोवें। ओढ़नेके एक कपड़ेको ओढ़कर दो आदमी न सोवें।

लेटकर और सिरहानेकी ओर लालटेन रखकर पढ़ना नहीं चाहिये। सोनेके कमरेमें जलती हुई लालटेन नहीं रखनी चाहिये। लालटेनके साथ अँगीठी तो नहीं ही रखनी चाहिये। इन दोनोंके संयोगसे एक जहरीला गैस पैदा होता है जिससे सोनेवालेकी मृत्यु हो जाती है।

सोनेके समय मुँह ढककर और मोजा पहनकर नहीं सोना चाहिये। चारों ओरकी खिड़कियाँ बंद करके नहीं सोना चाहिये। जल्दी ही सोना और जल्दी उठ जाना चाहिये।

सोनेका घर सामानसे भरा हुआ नहीं होना चाहिये । खटमल, पिस्सू और जूँ आदि न पैदा हों इसलिये घरको साफ रखना चाहिये तथा कपड़ों और बिछौनोंको बीच-बीचमें धूप जरूर देना चाहिये ।

साधारण सदाचारके नियम

अपने कुल, शील और देशाचारके अनुसार वस्त्र पहने । निर्दोष लोकाचारका त्याग न करे ।

अतिथिमात्रका सम्मान करे । गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, बिछौना, जल और फल-मूलादिके द्वारा सत्कार किये बिना अतिथिको घरसे नहीं जाने देना चाहिये ।

किसी सम्मान्य अतिथिके आनेकी सूचना पहलेसे मिल जाय और अपने यहाँ रेलवे-स्टेशन हो तो उन्हें लेनेके लिये स्टेशनपर जाना चाहिये । आदरपूर्वक उन्हें घर लाकर उनके सुभीतेके अनुसार ठहराना चाहिये ।

घरपर अचानक अतिथि आ जायँ तो उठकर उनका स्वागत-सत्कार करे । उन्हें ऊँचे आसनपर बैठावे । यथासाध्य उनके अनुकूल स्थान और भोजनादिका प्रबन्ध करे । अच्छा आसन, अच्छे बरतन, अच्छा भोजन, हरेक अच्छी चीज सम्मान्य अतिथिको देनी चाहिये । उनके आराम और सुभीतेका खयाल रखना चाहिये । रूबरू बतलानेमें संकोच हुआ करता है इसलिये उनके साथ नौकर हो तो उससे उनके खान-पान, शयन आदिके बारेमें पूछ ले । नौकर न हो तो नम्रतापूर्वक उन्हींसे पूछ ले । उनके भोजन करते समय स्वयं वहाँ खड़ा रहे और अपने हाथसे उनकी रुचिके अनुसार उन्हें खानेको परोसे । उनसे पहले भोजन न करे । जिस घरसे अतिथि नाराज होकर चला जाता है उसका धर्म वह ले जाता है ।

घरपर कोई (उम्र, विद्या, बुद्धि, यश, धन, वर्ण, गुण आदिमें) अपनेसे बड़े पुरुष आ जायँ तो उठकर उनका स्वागत करे । नम्रतापूर्वक बातचीत करे । अपनेसे ऊँचे आसनपर उन्हें बैठावे ।

केश, नख और दाढ़ी आदिको विशेष न बढ़ने दे । विश्वासी नाईसे हजामत बनवावे । अस्तुरा और कैंची अपनी अलग रक्खे तो बहुत अच्छी बात है । हजामत बनानेसे पूर्व नाईके बरतनोंको तथा हथियारोंको अच्छी तरह मँजवाकर धुलवा दे । पानी अपनी कटोरीमें दे । भोजनके बाद तथा अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्याको हजामत न बनवावे ।

उगते और अस्त होते हुए सूर्यको न देखे । बछड़ेको बाँधनेकी रस्सीको न लाँघे; बरसातमें न दौड़े तथा जलमें अपना मुँह न देखे ।

मिट्टीके ढेर, गौ, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा, बड़ा पीपल आदि प्रसिद्ध वृक्ष रास्तेमें हों तो उन्हें दाहिने देकर जाय ।

बोझा उठाये हुए आदमी, गर्भिणी स्त्री, रोगी, वृद्ध, कुलवती स्त्री, अपनेसे बड़े लोग, विद्वान् और साधु-महात्मा मार्गमें मिल जायँ तो उनके लिये रास्ता छोड़ दे । भोजन, अग्नि, थूक, हड्डीको लाँघकर न जाय ।

कोई स्त्री या पुरुष जो भोजन करता हो, नहाता हो, दवा लेता हो, बच्चेका मल-मूत्र धोता हो तो उसे उस समय दूसरे काममें न भेजे ।

चारपाईके नीचे आग न रक्खे । आकाशका इन्द्र-धनुष किसीको न दिखलावे ।

मल-मूत्र, थूक, अपवित्र वस्तु, जूठन, खून, जहर, काँच आदि चीजोंको तालाबमें या कूएँमें न डाले । बिना सबको बाँटे अकेला स्वादिष्ट अन्न न खाये । दूध पीते हुए बछड़ेको अलग न करे ।

जिस गाँवमें अधार्मिक लोग रहते हों और जहाँ छूतकी बीमारियाँ फैली हों वहाँ न रहे ।

काँसेके बरतनमें पैर न धोवे । वृथा चेष्टा न करे । बैठे-बैठे मिट्टी फोड़ना, नखोंसे जमीन कुरेदना, तिनके तोड़ना बहुत हानिकर है ।

दूसरेके पहने हुए जूते, वस्त्र, जनेऊ, गहने, माला न पहने ।

जूआ कभी न खेले । हाथमें जूता लेकर न चले ।

भाँग, गाँजा, चरस आदि न पीवे, शराब कभी न पीवे ।

ज्यादा हँसी-मजाक न करे, किसीपर आक्षेप न करे, चुभती बात किसीको न कहे ।

केश, राख, हड्डी, टूटे हुए खपड़े, बिनौले, और धानकी भूसीपर न बैठे । इनपर बैठनेसे आयु घटती है ।

नौकरोंके साथ अच्छा बर्ताव करे, बीमारी और तकलीफमें उनकी सेवा और यथाशक्ति सहायता करे । उन्हें नीचा न समझे ।

पतित, चाण्डाल, ढेढ़, मूर्ख, अभिमानी, नट, कृतघ्नी, आलसी, महापापी, चोर, डाकू, अपवित्र और शत्रुओंके साथ न बैठे ।

दोनों हाथोंसे सिर न खुजलावे । जूठे मुँह मस्तकको स्पर्श न करे । चाहे जहाँ न थूके; थूक पोंछे हुए रूमालको रोज धो डाले । दूसरेके रूमालसे अपना मुँह न पोंछे ।

नित्य माता-पिता और गुरुकी सेवा, उनका आज्ञा-पालन तथा पितरोंका श्राद्ध करे ।

देव-मूर्तिकी, 'पिता-गुरुजनोंकी, राजाकी, स्नातककी, आचार्यकी, काली गायकी, यज्ञमें दीक्षा लिये हुए पुरुषकी और चाण्डालकी छायाको इच्छापूर्वक न लाँघे ।

रास्ता देखकर चले, रास्तेमें बातचीत न करे, भीड़में किसीको धक्का न दे, भूलसे धक्का लग जाय तो उससे क्षमा माँगे । अपने लग जाय तो बुरा न माने ।

मध्याह्नके समय, आधीरातको, श्राद्धमें भोजन करके, प्रातः-सायंकालकी सन्धिके समय चौराहेपर न खड़ा रहे ।

शरीरकी मैल उतारनेके लिये लगाये हुए उबटन, नहाये हुए जल, विष्ठा, मूत्र और रक्त, कफ, थूक और उल्टी इन वस्तुओंपर इच्छापूर्वक न खड़ा रहे ।

वैरी, वैरीके सहायक, अधार्मिक मनुष्य, लोभी, कामी, चोर और परस्त्रीका संग कदापि न करे ।

यथासाध्य किसीके यहाँसे कोई चीज मँगनी न मँगावे, यदि आवश्यकतावश मँगानी पड़े तो मँगानेकी अपेक्षा उसे वापस भेजनेका खयाल अधिक रक्खे, चीज बिगड़ जाय तो उससे बिना पूछे ही दूसरी नयी मँगवा दे ।

किसीका थोड़ा-सा भी धन हरण न करे और जरा भी कड़वा न बोले । मिथ्या वचन मीठा हो तब भी न बोले और अप्रिय सत्यसे भी बचा रहे ।

दूसरोंकी स्त्रीमें; दूसरोंके धनमें तथा दूसरोंके साथ वैर करनेमें कभी अभिरुचि न करे ।

किसी दूसरेके यहाँ मेहमान बनना पड़े तो खयाल रक्खे कि जिसमें उसको संकोचमें न पड़ना पड़े । अपनी आवश्यकताओंको वहाँ इतनी घटा ले कि उसे किसी प्रकार भी दिक्कत न हो । उसका सुभीता देखकर उसीके अनुसार सब बातोंमें बरत लेना चाहिये ।

लोकद्वेषी, पतित, पागल और जिसके बहुत-से वैरी हों ऐसे, दूसरोंको सतानेवाले मनुष्य, कुलटा स्त्री, कुलटाके पति, अवारे, झूठ बोलनेवाले, अधिक खर्चीले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और दुष्ट मनुष्योंके साथ मित्रता न करे ।

जलप्रवाहके सामने स्नान न करे, जलते हुए घरमें प्रवेश न करे, पेड़की चोटीपर न चढ़े ।

दाँतोंको परस्पर न घिसे, नाकको अँगुलीसे न कुरेदे । कानमें तिनके न डाले । दाँतोंको पिन, सूई या चाकू वगैरहसे न कुरेदे । मुँहको बंद करके जमुहाई न ले । और न बंद मुँहसे खाँसे-साँसे । नखोंको न चबावे । मूँछके और भ्रूके और पलकोंके केशोंको हाथसे न उखाड़े । जोरसे न हँसे । तिनका न तोड़े और धरतीपर न लिखे । मूँछ-दाढ़ीके बालोंको न चबावे । दो ढेलोंको आपसमें न रगड़े । निन्दित नक्षत्रोंको न देखे । दाँत और सींगवाले पशुओंसे, ओससे, सामनेकी हवासे तथा सिरके ऊपरके धूपसे अपनेको सदा बचावे । नग्न होकर स्नान और आचमन न करे ।

उत्तम या अधम किसी भी आदमीसे विरोध न करे । कलह न बढ़ावे । व्यर्थ वैरका त्याग करे । थोड़ी हानि सह ले किन्तु वैरसे कुछ लाभ भी होता हो तो उसे भी त्याग दे ।

पैरके ऊपर पैर न रक्खे । बड़ोंके सामने पैर न फैलावे । ऊँचे आसन (अभिमानके आसन) पर न बैठे । बैठे हुए लोगोंके बीचसे निकलना हो तो नीचे झुककर दाहिने हाथको फैलाकर मानो रास्ता माँगता हुआ निकले ।

सभाके बीचसे न उठे । खाँसी, पेशाब आदिकी बीमारीके कारण यदि उठनेकी सम्भावना हो तो बीचमें न बैठकर पहलेसे दूर बैठे । सभामें बातचीत न करे, जोरसे हँसे नहीं ।

पूज्य और परिचित आदमीको मार्गमें देखते ही उनके करनेसे पहले ही उनको प्रणाम या उनका अभिवादन करे ।

रातके समय जंगलमें हाथमें लाठी लेकर जाय । बाहर जाना हो तो जूते पहन ले । वर्षा और धूपमें छाता रक्खे । छाता एक हो और दूसरा साथी हो तो छाता पहले उसे देना चाहिये, वह न ले तो उसको छातेके नीचे तो अवश्य ले ले ।

कानें-कुबड़े या लूले-लंगड़ेको, ज्यादे अंगवालेको,

विद्याहीनको, बूढ़ेको, कुरूप और दरिद्रको तथा नीची जातिवालेको, तू 'काना है' 'छः अंगुलीवाला है' 'मूर्ख है' 'कुरूप है' 'कंगाल है' 'नीच' है आदि कहकर कभी चिढ़ावे नहीं।

जूठे मुँह और मल-मूत्रका त्याग करके स्नान किये बिना गाय, ब्राह्मण और अग्निको न छूए। और अपवित्र अवस्थामें सूर्य, चन्द्रमा आदिको न देखे। बिना कारण अपने नीचेके अंगोंका स्पर्श न करे।

यथासाध्य अपने पास जो कुछ हो उससे सब प्राणियोंकी सेवा करे। किसी प्राणीको किसी प्रकारसे दुःख, भय और कष्ट न दे, जान-बूझकर किसीका अहित न करे। पशु-पक्षियोंपर निर्दयता न करे, न होने दे। पीड़ित पशुओंकी सेवा करे-करावे।

भूले हुए मनुष्यको साथ जाकर रास्ता बता दे। पूछनेवालेसे सहानुभूतिके शब्दोंमें बोले।

गरीब-दुखीके साथ बहुत ही मीठा बोले और यथासाध्य उसकी सहायता करे।

रेल-गाड़ी छूटते समय रेलके डिब्बेमें चढ़ते हुए मनुष्योंको नहीं रोके। झूठ ही मुसाफिरोंसे यह न कहे कि 'आगे बहुत डिब्बे खाली हैं।' जिस डिब्बेमें बहुत भीड़ हो, उसमें चढ़कर पहले बैठे हुए लोगोंकी तकलीफ न बढ़ावे, समय हो तो दूसरे डिब्बे ढूँढ़ देखे।

गाड़ीमें रोगी, स्त्री, वृद्ध, या बच्चे खड़े हों तो उन्हें जगह देकर स्वयं खड़ा हो जाय। वे जगते हों तो स्वयं बैठकर उन्हें सोनेको जगह दे दे। यथाशक्ति सभी साथी मुसाफिरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे, परन्तु इनका विशेष खयाल रक्खे।

गाड़ीमें भीड़ हो, और पैसे खर्च करनेकी ताकत हो तो ऊँचे दर्जेका टिकट खरीदकर उसमें बैठ जाय। कमखर्ची बहुत अच्छी, परन्तु कंजूसी अच्छी नहीं।

रेलके डिब्बेमें अंदर न थूके, बाहर मुँह निकालकर थूके। भीतर पानी न उँडेले। हाथ धोने हों तो खिड़कीसे बाहर हाथ निकालकर नीचे करके धोवे, नहीं तो पीछेके डिब्बोंमें बैठे हुए लोगोंको उस पानीके छींटे लगेंगे।

सदाचारका खुद सावधानीके साथ पालन करके बच्चोंको सदाचार सिखावे। बच्चोंको मारकर, उनपर खीझकर उन्हें सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। पहले खुद सदाचारी बननेसे ही वे सदाचारी बनेंगे।

दूसरोंकी बुराइयोंकी न चर्चा करे, न मनमें उनका मनन करे। दूसरोंके ऐबोंको किसीसे न कहे।

अड़ोसी-पड़ोसियोंमें घरमें आपसमें कोई घरू झगड़े हों तो उससे अपना कोई सम्बन्ध न रक्खे, झगड़ोंकी उनसे या किसीसे कोई चर्चा न करे। जिससे बात की जायगी, उसके विरोधीकी बात ठीक बतायी जायगी तो वह नाराज होगा, और उसकी ठीक बतायी जायगी तो उसका विपक्षी नाराज होगा। हो सके तो दोनोंकी बातें सुनकर उनके झगड़ेको मिटा दो। पड़ोसियोंका या गाँववालोंका झगड़ा मिटानेमें समय लगनेके अतिरिक्त अपनेको कुछ खर्च करना पड़े और अपनी सामर्थ्य हो तो खर्च करके भी उनके झगड़ेको मिटा देना चाहिये।

झूठे आदमियोंका, उनकी झूठको सच बतानेमें कभी साथ न दे, इससे अपना विश्वास और नष्ट हो जायगा।

गरीबकी मददसे मुख न मोड़े और पापबुद्धि तथा दूसरोंको सतानेवालेकी मददको पाप समझे।

किसीके धर्म और ईश्वरकी निन्दा न करे। उसके धर्मपालनमें (यदि अपने धर्मानुसार वह पाप न हो तो) यथाशक्ति उसकी सहायता करे।

बुरा करनेवालेका भी उसपर विपत पड़नेपर भला करनेकी ही चिन्ता और चेष्टा करे। किसीका भी बुरा न चाहे और न स्वार्थवश जान-बूझकर करे ही!

लोभवश पापसे धन न कमावे। दूसरेको छलकर, ठगकर, उसकी वस्तु चुराकर, उसका हक मारकर धन कमाना पाप है। पापकी कमाई परिणाममें बहुत ही दुःखदायिनी होती है, एक बार चाहे उसमें सुख और उन्नति दीखे।

दूसरेकी अवनति और पतनमें कभी तनसे, वचनसे या मनसे सहायक न हो। भूलसे, परिस्थितिमें पड़कर, किसीसे कोई दोष बन गया हो और वह उसे पश्चात्तापपूर्वक स्वीकार करता हो तो उसे हृदयसे लगावे। सहानुभूतिके साथ उसे उस कुपथसे हटाकर सुमार्गपर लगा दे। उससे घृणा न करे। न उसके दोषका प्रचार ही करे।

गरीब कुटुम्बीका अनादर न करे, बल्कि उसे विशेष आदर दे। विवाह-शादी आदिमें भाई-बन्धुओंके इकट्ठे होनेपर गरीब भाईका सत्कार करनेमें न भूले। कहीं जाने-आनेमें गरीब भाई साथ हो तो यह विशेषरूपसे

खयाल रक्खे कि हमारे किसी बर्तावसे उसको अपमानका बोध न हो जाय । जहाँ अपना सत्कार-स्वागत होता हो वहाँ अपने साथीको साथ रक्खे । गरीब समझकर उसकी उपेक्षा न करे ।

दो आदमी बातें करते हों तो उनके बीचमें न बोले । उनकी बातोंको सुननेकी चेष्टा न करे । दूसरेके पत्र न पढ़े, न उनकी गुप्त बातोंको जाननेकी कोशिश करे ।

किसी काममें जल्दबाजी न करे । खूब सोच-समझकर भविष्य विचारकर अपनी ताकतका खयाल करके किसी काममें हाथ डाले । काम शुरू करनेपर प्राणपणसे उसे सफल बनानेकी चेष्टा करे । घबरावे या उकतावे नहीं ।

किसीके बारेमें कुछ कहना हो तो सोच-समझकर कहे । ऐसी सच्ची बात भी पीठ-पीछे न कहे जो उसके सामने नहीं कही जा सकती हो । जिन शब्दोंको लोगोंके सामने कहनेमें लज्जा आती हो, उन्हें मनमें भी न आने दे ।

किसीके गुप्त दोष या छिद्रकी बात याद दिलाकर उसे संकोचमें न डाले, न इस हेतुसे—उसे दबाकर अपना कोई काम निकाले ।

अपनी निन्दा सुनकर क्रोध न करे । बड़ाई सुनकर फूले नहीं । दूसरेके गुण सुनकर हरखे, और निन्दा सुननेमें दिलचस्पी न दिखावे । मान-बड़ाईका त्याग मनसे करता रहे । किसीसे विवाद या शास्त्रार्थ न करे । यदि किसी विषयमें तर्क होने लगे और जब यह देखे कि सामनेवाला हार रहा है तो उस प्रसङ्गको इस चतुराईसे बन्द कर दे जिसमें पास बैठे लोगोंको यह पता न लगे कि वह हार रहा है इसलिये प्रसङ्ग रोक लिया गया है ।

किसीका भी अपमान न करे । पुत्र, शिष्य और सेवकका भी नहीं । किसीको जबान न दे और दे तो फिर उसको सावधानी और टेकके साथ निभावे । विश्वासघात न करे । दूसरा अपनी जबान परिस्थितिवश न निभा सके तो उसपर नाराज न हो ।

अपमान या तिरस्कारपूर्वक दान न दे । दान देकर गिनावे नहीं । दान देनेवालेसे अपना मतलब निकालनेकी चेष्टा न करे । अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उसे दबावे नहीं । उपकार सेवा समझकर करे । अभिमानसे उसे दबाने, नीचा दिखाने और काम निकालनेके लिये नहीं ।

बेकारोंको कमाईके काममें लगा देना उनकी बड़ी सेवा करना है । भाई-भाई या हिस्सेदारोंमें जब बँटवारा हो तो कोई चीज न छिपावे, न अधिक हिस्सा पानेकी इच्छा करे, न कोशिश करे और मिलनेपर भी न लेवे ।

जहाँतक चल सके, किसीसे भी कर्ज न ले । कर्ज लिये बिना काम न चले तो उतना ही ले जितना आसानीसे चुकाया जा सके । और उसे चिन्ता रखकर शीघ्र ही चुका दे । जिससे अपने रुपये लेने हों और वह यदि ऐसी तंग हालतमें पड़ गया हो कि रुपये किसी तरह भी न दे सकता हो तो उसे सतावे नहीं । रहनेका घर किसीका भी नीलाम न करावे ।

ऐसा कोई काम न करे जिसमें सहायताके लिये दूसरोंका मुँह ताकना पड़े और चाहे जिसके सामने हाथ फैलाना पड़े ।

भूल किससे नहीं होती । अपने मातहतों, नौकरोंके द्वारा कोई भूल हो जाय तो उनसे नाराज न हो, उन्हें बारबार कोसकर, बुरा-भला कहकर उस भूलको उनके पल्ले न बाँध दे । उनकी भूलको सहे, और प्रेमसे समझा-बुझा करके उनके चित्तमें शान्ति और प्रसन्नता पैदा करके उनको ऐसी स्थितिमें लाना चाहिये, जिसमें उनसे आइन्दा भूल कम हो । भूलसे सर्वथा रहित तो एक परमात्मा ही है ।

रोगीकी सेवा सच्चे मनसे करे, उसको यह न मालूम हो कि इन्हें भार मालूम हो रहा है या यह मेरे ऊपर कोई अहसान करते हैं । रोगीके कपड़े-बिछौने रोज बदले । सहानुभूतिपूर्वक उसकी बातें सुने । दवा ठीक समयपर दे । उसके लिये जो कुपथ्य है, उन चीजोंको उसके सामने लाना और स्वयं खाना तो दूर रहा, उसकी चर्चा भी उसके सामने न करे । सेवा करनेमें अपना सौभाग्य माने । रोगीका थूक, मवाद आदि दूर धरतीमें गाड़ दे । जिन कपड़ोंमें थूक, मवाद आदि लगे हों, उन्हें गरम जलसे साबुनसे तुरंत धुला दे । जिन कपड़ोंसे खून आदि पोंछा जाय, उन्हें जला दे ।

ईश्वर सदा तुम्हारे साथ है, तुम्हारी हरेक क्रियाको—मनकी गुप्त-से-गुप्त क्रियाको भी देखता है । उससे छिपाकर तुम कुछ भी नहीं कर सकते । इस बातको न भूले ।

ईश्वर सदा हमारा सहायक है, हमारी रक्षाके लिये तैयार है । हमारा योगक्षेम वहन करनेको प्रस्तुत है, इस निश्चयसे कभी मनको न डिगने दे ।

श्रीभगवान्‌के नामका जप, कीर्तन, उनके गुणोंका गान और श्रवण, उनके यशका विस्तार, उनके स्वरूपका चिन्तन

और ध्यान यथाशक्ति स्वयं करे और सबसे प्रेमपूर्वक करानेकी चेष्टा करे। जीवको आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गपर लगाकर उसे भगवदभिमुखी करनेसे बढ़कर और कोई भी पुण्य कार्य नहीं है।

परमात्मा ही सत् है, उनमें रमण करना ही सच्चा सदाचार है। परमात्माकी विस्मृति ही दुराचार है। अतएव जहाँतक हो तन-मन-धनको परमात्माके अर्पण करके, सब कुछ परमात्माका समझकर परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे परमात्माके प्रीत्यर्थ ही तन-मन-वचनसे सब क्रियाएँ करनी चाहिये। यही सदाचारका परम साधन है।

स्त्रियोंका सदाचार

स्त्रियोंको स्वास्थ्य, स्नान, भोजन आदिके नियम पुरुषोंकी भाँति ही पालने चाहिये। नित्य प्रातःकाल भगवान्का स्मरण और इष्टदेवताका पूजन अवश्य करना चाहिये। स्नान करके स्त्री सूर्यको अर्घ अवश्य दे। बड़ी स्त्रियोंको प्रणाम करे। सधवा स्त्री पतिको भी प्रणाम करे। स्त्रीको इन बातोंका जरूर त्याग करना चाहिये।

१–जोरसे बोलना।
२–जोरसे हँसना।
३–अपरिचित मनुष्यसे बातचीत करना।
४–पर-पुरुषोंसे व्यर्थ बातचीत करना।
५–मार्गमें जोर-जोरसे बोलना।
६–पुरुषोंके समाजमें अनावश्यक जाना।
७–सिनेमा आदि देखना।
८–खुली जगहमें नहाना।
९–भोजनमें अपने-परायेका भेद रखना। जेठानी, देवरानी, ननद या भौजाईके बालकोंको अच्छी चीज खानेको न देना।
१०–लड़के और लड़कीमें भेद रखना।
११–ऐसे स्थानोंमें कपड़े पहनना या शृङ्गार करना जहाँसे लोग देख सकते हों।
१२–पर-पुरुषसे एकान्तमें मिलना, भाई और पिताके पास भी अनावश्यक एकान्तमें रहना। पुरुषोंसे हँसी-मजाक करना।
१३–गंदे गीत।
१४–बेकाम दूसरोंके घर जाना-आना।
१५–पुरुषोंके आने-जानेके स्थानमें मल-मूत्रका त्याग—
१६–नौकरोंके सामने खुले बदन रहना और उनसे बिना संकोच बातचीत तथा हँसी-मजाक करना।
१७–घूम-फिरकर बेचनेवाले सौदागरोंको घरमें बुलाकर उनसे सौदा खरीदना।
१८–ऐसे महीन वस्त्र पहनना जिनसे अंदरका बदन दिखायी दे।
१९–(भक्ति और श्रद्धाके साथ भी) किसी भी पुरुषका स्पर्श करना। पर-पुरुषके चरण छूना।
२०–पतिसे छिपाव या चोरी करना।
२१–अतिथिका सत्कार न करना।
२२–शारीरिक परिश्रम—पीसना, कूटना आदि न करना।
२३–गहने-कपड़ोंमें अधिक रुचि रखना और केवल उन्हींके सीने-सिलाने और बनानेमें मन लगाये रखना।
२४–अपरिचित लोगोंसे निःसंकोच बातें करना।
२५–पुरुषोंकी सभाओंमें जाकर भाषण आदि करना।

स्त्रियोंको सदा आनन्दमें रहना, घरका काम-काज दक्षतासे करना, घरकी चीजोंको साफ रखना तथा घरके खर्चकी सम्हाल रखना चाहिये।

पतिव्रता स्त्री पतिकी आज्ञाके बिना कोई व्रतादि न करे।

नम्रता, सेवा, विनय, सहनशीलता, प्रेम, कार्यदक्षता आदि स्त्रियोंके खास गुण हैं। इन गुणोंको बढ़ानेकी निरन्तर चेष्टा करे।

विधवा स्त्री मनको शान्त रखकर मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचर्यको पाले। मनु महाराज कहते हैं कि जो विधवा स्त्री ब्रह्मचर्यका पालन करती है वह पुत्रहीना होनेपर भी मोक्ष प्राप्त करती है, पर जो स्त्री पुत्रलोभसे व्यभिचार करती है वह नरकगामिनी बनती है।

पर-पुरुषके स्मरण न करनेका नाम मनःसंयम, पर-पुरुषके गुणोंका बखान न करनेका नाम वाक्-संयम तथा पर-पुरुषके शरीर-स्पर्श न करनेका नाम शरीर-संयम है। जो स्त्री इन तीनों धर्मोंका पालन करती है, वह दिव्य पतिलोकमें जाती है।

बच्चोंका सदाचार

छोटे बच्चे (बालक-बालिका) नित्य सूरज उगनेसे पहले उठें, उठते ही भगवान्को याद करें। आँख, मुँह धोकर पाठ याद करें।

बच्चोंके पढ़नेका स्थान शान्त, सुन्दर, प्रकाशमय और खुली हवाका होना चाहिये। बच्चोंके पढ़नेका सबसे अच्छा समय प्रातःकाल है। बच्चोंको मारना, डराना तथा उनके

सामने भूत-प्रेतकी बातें नहीं करना चाहिये। बच्चोंके सामने माँ-बापको शरीर, मन-वाणीसे संयम रखना चाहिये।

बच्चे प्रातः उठकर माँ-बाप और बड़ोंको प्रणाम करें। नहा-धोकर जो कुछ हो कलेऊ करें। और यथासमय भोजन करें। माँ-बाप तथा गुरुकी आज्ञा मानें। किसीसे लड़ें नहीं, दूसरोंकी चीज न चुरावें। सबसे प्रेमसे रहें। सिरकी ओर लालटेन रखकर न पढ़ें। रोज कसरत करें, खेलें। अपनी चीज दूसरोंको देकर उनकी सेवा करें। पर दूसरोंकी चीज बिना पूछे और बिना काम न लें। खानेकी चीज सबको बाँटकर खायें। अकेले न खावें। गहने-कपड़ोंसे प्रेम न करें।

वानप्रस्थका सदाचार

वानप्रस्थ वनमें रहकर त्रिकाल स्नान-सन्ध्या करे। हजामत न बनवावे। घासके बिछौनेपर सोवे। पञ्चयज्ञ करे। केवल फल-मूलका भोजन करे। सब प्राणियोंके प्रति दयालु हो। नारायण-परायण रहे तथा वेदाध्ययन करता रहे। रातमें भोजन न करे। मैथुन, निद्रा, आलस्य, परनिन्दा, मिथ्या वाक्यका त्यागकर मनमें निरन्तर भगवान्का ध्यान करे। चान्द्रायण आदि व्रत करे, सर्दी-गर्मी सहे और अग्नि-सेवन करे। जब सब वस्तुओंमें वैराग्य हो जाय तब संन्यास ग्रहण कर ले।

संन्यासीका सदाचार

संन्यासी इन्द्रियोंको और मनको जीते हुए हों। काम-क्रोधादिसे रहित हों। वस्त्रहीन रहें या कौपीनादिको धारण करें, सिरपर केश न रक्खें। शत्रु-मित्र, मानापमानमें समान रहें। एक दिनसे अधिक गाँवमें न रहें। तीन दिनसे अधिक नगरमें न रहें। नित्य भिक्षा करके अपना निर्वाह करें। जब गाँवमें चूल्होंका धुआँ बंद हो जाय तब वह उठकर एक गृहस्थके घर जायँ और जो कुछ मिले उसे ही खायें। संन्यासीको नित्य ब्रह्मपरायण, संयतचित्त और जितेन्द्रिय रहना चाहिये। संन्यासी नित्य प्रणवका जप करते रहें, वह आत्माको नारायणस्वरूप, अभय, द्वन्द्व, ममता और मात्सर्यसे रहित शान्त, मायातीत, अविनाशी, पूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप, सनातन, निर्मल और परम प्रकाशमय समझें। आत्मामें न विकार है, न उसका आदि है, न अन्त है, वह गुणातीत है और सर्व है। इस प्रकार साधन करनेवाले दोषरहित, ध्याननिष्ठ संन्यासी परमानन्दस्वरूप सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

सदाचारी पुरुषके लिये सबसे अधिक आवश्यक है, कामक्रोधादि मानसिक दोषोंसे बचकर भगवान्में मन लगाना, इसीसे मनु महाराज कहते हैं कि केवल नियमोंके पालनसे ही काम नहीं चलता। यमोंका पालन भी अवश्य करना चाहिये। यम ये हैं—

आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥

१ प्राणीमात्रपर दया, २ बुरा करनेवालेपर भी क्षमा, ३ सत्यका अवलम्बन, ४ किसी भी प्रकारसे किसी भी प्राणीको पीड़ा न पहुँचाना, ५ इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन, ६ किसी भी वस्तुकी कामनाका न रहना, निष्काम-भाव, ७ भगवान्के ध्यानमें तल्लीनता, ८ चित्तकी सात्त्विक प्रसन्नता, ९ मधुरता और १० सरलता।

अतएव सदाचार पालन करनेवालोंको इनकी ओर लक्ष्य अवश्य रहना चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा है—

सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः पुरुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः॥
मैत्री द्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे॥
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही।
प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत्॥

जो विद्याविनयसम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापीके साथ भी पापमय व्यवहार नहीं करता, कठोर पुरुषोंसे भी प्रियभाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्रीभावनासे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है। जो वैराग्यवान् महापुरुष कभी कामक्रोध और लोभादिके वशमें नहीं होते तथा सदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उन्हींके प्रभावसे पृथ्वी टिकी हुई है। अतः जो कार्य इसलोक और परलोकमें प्राणियोंके उपकारका साधक हो, बुद्धिमान् पुरुषको मन-वचन और कर्मसे उसीका आचरण करना चाहिये।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * *

कल्याणके नियम

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख विना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । विना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता ।

(३) 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है, अतः ग्राहक श्रावणसे ही बनाये जाते हैं । वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु श्रावण-अङ्कसे । कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति विना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेके आरम्भ होते ही कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

(७) श्रावणसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला श्रावण-अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही श्रावणका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है । फिर आषाढ़तक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं । कल्याणके सातवें वर्षसे भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया जा रहा है ।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है । ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है ।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है ।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते ।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये ।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं ।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा ।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये ।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये ।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि '**व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर**' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि '**सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर**' के नामसे भेजने चाहिये ।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता ।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार और उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है । उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं ।

Regd. No. A. 1724.

रूसमें पुनः ईश्वर-पूजा

कल्याणके वर्ष ३ संख्या १२ में रूसमें ईश्वर-विरोधी संघके सम्बन्धमें एक लेख प्रकाशित हुआ था। यदि निम्नलिखित समाचार सत्य है तो हर्षका विषय है रूसमें अनीश्वरवादियोंके प्रयत्न असफल हो गये हैं। मास्कोका १२ मार्चका तार है, उसका सारांश इस प्रकार है—

'सन् १९३२ में ईश्वर-विरोधी संघकी सदस्य-संख्या ५० लाख थी, अब सिर्फ २० लाख रह गयी है। उसका संगठन तोड़ दिया गया है। शिक्षाविभागने धर्म-विरोधी पाँच अजायबघरोंको बन्द कर दिया है। नये शासन-विधानमें लोगोंको पूजा-पाठ करनेको स्वतन्त्रता दे दी गयी है। सेनाका मत लिया गया तो ७० प्रतिशत सैनिक ईश्वरको माननेवाले पाये गये। इसलिये अब वहाँ ईश्वर-विरोधी आन्दोलन बन्द कर दिया गया है।'

कहा नहीं जा सकता कि उपर्युक्त समाचारमें सत्य कितना है। तथापि इतना तो निश्चय है कि रूसकी जनता ईश्वर-विरोधी वातावरणसे घबरा गयी है और वह उससे मुक्त होना चाहती है। वस्तुतः ईश्वर-विरोधी आन्दोलन न कभी टिका है, न टिक सकता है। कारण स्पष्ट है। ईश्वर 'है'—उसकी सत्ता सनातन और अविनाशी है। जो 'है' उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। ईश्वर या धर्मके नामपर अथवा मोहवश दुराचार, दम्भ और पापोंकी वृद्धि होनेसे व्यष्टि या समष्टिके नेत्रोंपर एक घना आवरण-सा छा जाता है, जिससे वह ईश्वरके अस्तित्वको बहुत ही अस्पष्टरूपमें देख पाता है। कभी-कभी तो ज्योति इतनी मन्द पड़ जाती है कि ईश्वरका स्वरूप दीखता ही नहीं, ऐसी अवस्थामें मनुष्य भ्रमवश ईश्वरका अस्वीकार कर बैठता है। परन्तु यह नास्तिकता क्रमशः दुराचार, दम्भ और पापके नाशमें सहायक होकर उस आवरणको हटानेमें विलक्षण कार्यकरी सिद्ध होती है। और जब आवरण हट जाता है तब और भी उज्ज्वल रूपमें ईश्वरकी दिव्य मूर्ति प्रकाशित हो उठती है। पाप-समूहोंका और विषयासक्त पुरुषोंकी मदान्धताका ध्वंस करके प्रभुका निर्मल प्रकाश फैलानेके लिये ही प्रभु-प्रेरित नास्तिकताकी प्रतिक्रिया होती है। इसीलिये ईश्वरके तत्त्वज्ञ पुरुष किसी भी प्रकारकी भयानक नास्तिकताकी आँधीसे भी कभी विचलित नहीं होते। जिसने स्वयं चीनीका स्वाद चक्खा है वह पुरुष कभी चीनीको आँखों न देखनेवालेकी अकाट्य दलीलोंसे क्योंकर चीनीके अस्तित्वमें अविश्वास कर सकता है?

एक बात और है। चाहे हम किसी कारणविशेषसे स्वीकार करनेमें हिचकिचावें, परन्तु प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें—किसीके अधिक बार और किसीके कभी-कभी—ऐसी स्थिति आती है जब उसे बाध्य होकर किसी अदृश्य चेतन सनातन शक्तिकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। यही कारण है कि रूसमें एक समय तामसी उत्साहकी लहरमें, अविवेकके जोशमें, दबावसे या डरसे ईश्वर-विरोधकी जो दुर्निवार-सी धारा बह चली थी, वह अब सूखने लगी है। आशा है हमारे भारतीय भाई जो रूसके अनुकरणमें ही कल्याण समझते हैं, इस परिवर्तनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे।

श्रीहरिः

कल्याण फाल्गुन संवत् १९९३ की

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ-संख्या

१-मनको उपदेश [कविता] (गो० श्रीतुलसीदासजी) ११४५

२-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) ११४६

३-वेदान्त-वाद-सामञ्जस्य (श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी) ११५१

४-महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श शिक्षा (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११६१

५-भक्तगाथा ११७१

६-नामस्मरणकी आवश्यकता (गोरखपुरके अखण्ड हरिनामसंकीर्तनयज्ञमें दिये हुए महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके उपदेशके आधारपर) ११७३

७-होलीपर कर्तव्य ११७६

८-योगक्षेमं वहाम्यहम् (श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०) ... ११७७

९-मधुर अनुभूति (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ११८२

१०-जगद्गुरु स्वामी आदिशङ्कराचार्यका समय-निरूपण (पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी) ११८८

११-रामफगुआ [कविता] (महात्मा श्रीजयगौरीशंकर सीतारामजी 'कवलबास') ११९६

१२-'लौ' (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०) ११९७

१३-प्रार्थना (दीन श्रीरणधीरप्रसादसिंहजी) १२००

१४-परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) १२०१

१५-कहानीका असर (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) १२०४

१६-पञ्च-सकार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १२०८

१७-अभ्यास करो (गोरखपुरके अखण्ड हरिनामसंकीर्तनयज्ञमें वसन्तपञ्चमीके अवसरपर दिये हुए महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषणके उपदेशके आधारपर) १२१६

१८-कल्याण ('शिव') १२२०

१९-कृपालु संत, महात्मा, भक्त और विद्वान् लेखकोंसे प्रार्थना (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १२२१

२०-संतांककी विषयसूची १२२२

अखण्ड हरिनाम-संकीर्तन

सूचना मिली है कि कलकत्ते और नेपालमें एक वर्ष-व्यापी तथा काशीमें छः महीनेके लिये अखण्ड हरिनामसंकीर्तनका आयोजन हुआ है। यह बड़े ही आनन्द और सौभाग्यका विषय है।

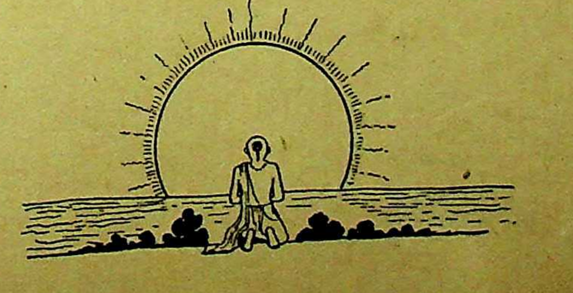

छोटे-बड़े, रंगीन-सादे हर तरहके चित्र * विष्णु-लक्ष्मी, राम-कृष्ण, शिव-शक्तिके दिव्य-दर्शन

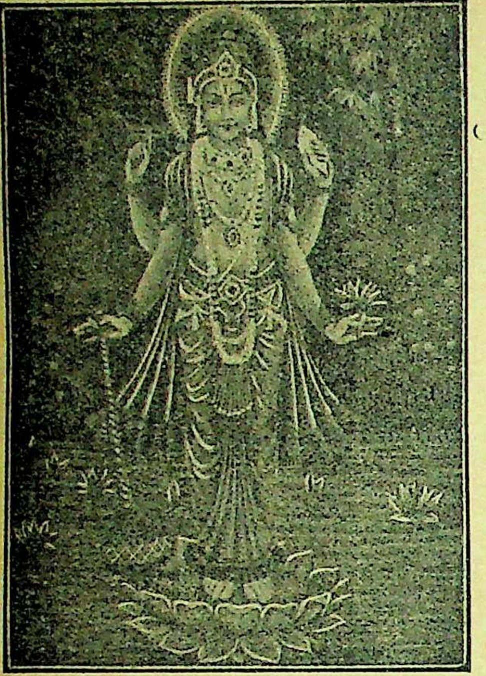

श्रीविष्णुभगवान्

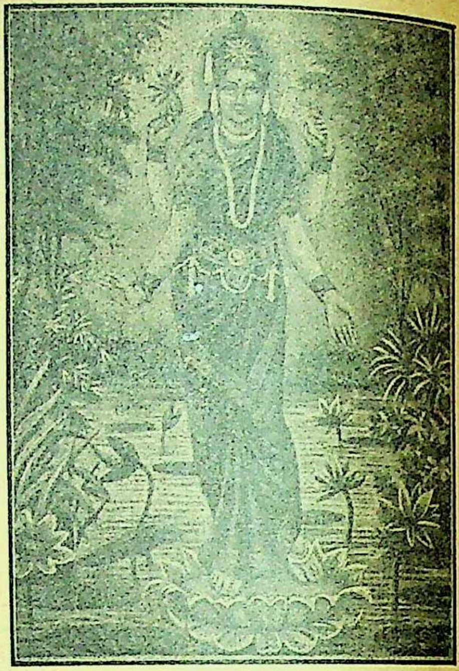

श्रीलक्ष्मीजी

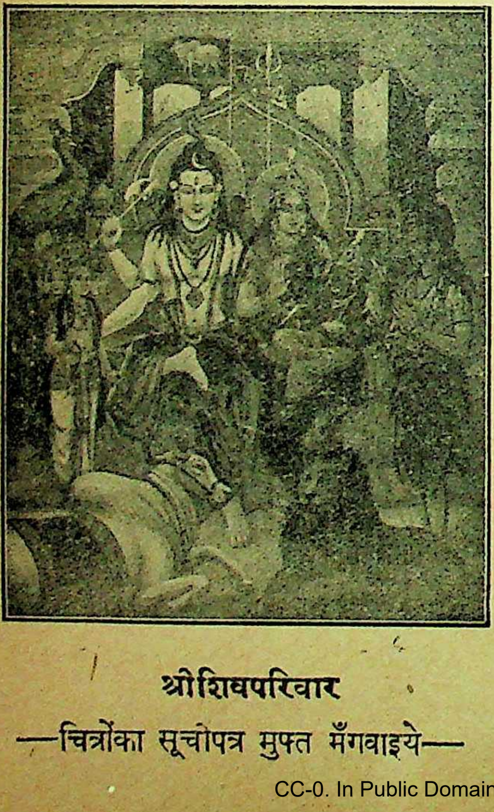

श्रीशिवपरिवार

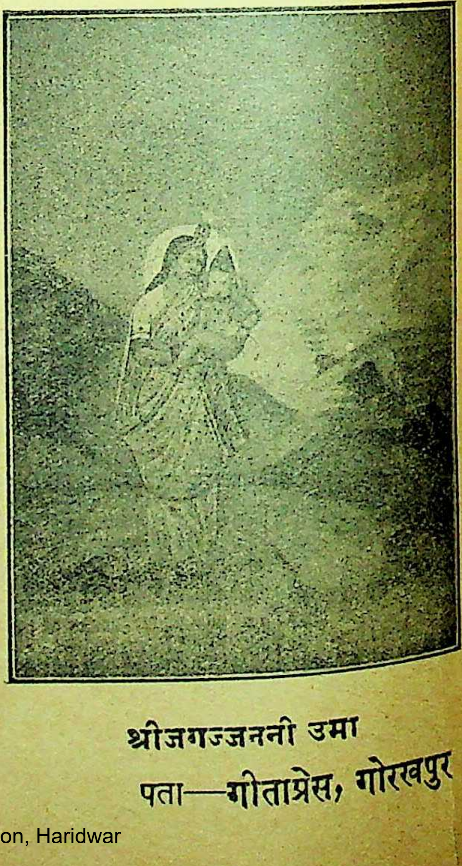

श्रीजगज्जननी उमा

—चित्रोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये—

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

घरको सजाइये— और —दर्शन कीजिये

भगवान् श्रीकृष्णरूपमें

चैतन्यका संकीर्तन-दल

श्रीरामदरबार

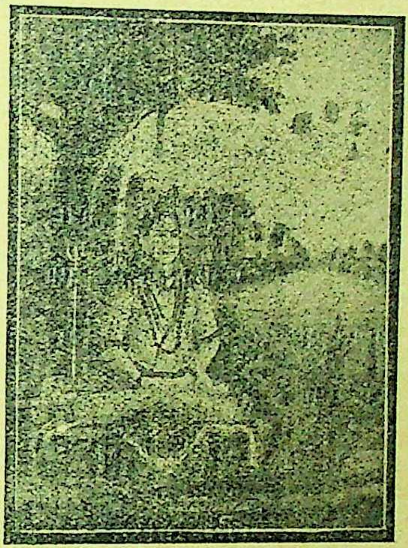
श्रीविश्वनाथजी

श्रीराम-चतुष्टय

श्रीराधेश्याम

श्रीवृन्दावनविहारी

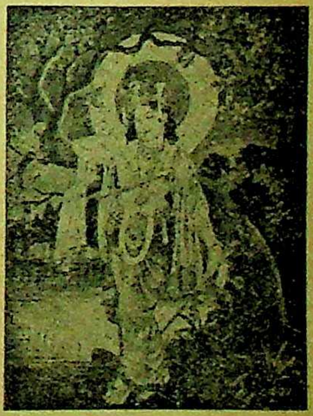
श्रीव्रजराज

—चित्रोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये—

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

सचित्र * सुन्दर * पुस्तकें

लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

ॐ
उपनिषदोंके
चौदह
रत्न

उपनिषदोंके चौदह रत्न

सारे विश्वके साहित्यमें सर्वोपरि ब्रह्मविद्याके ग्रन्थरत्न 'उपनिषद्' ही एक स्वरसे माने जाते हैं । उसी ज्ञान-भण्डारमेंसे सारभूत, चुने हुए सर्वोपयोगी ये चौदह रत्न इस मञ्जूषामें सुरक्षित किये हैं । सरल भाषामें कथाके साथ रहनेसे, इस दिव्य ज्ञानसे स्त्रियाँ और बालक भी लाभ उठा सकते हैं । सोलह पेजी सुन्दर छपी, दस चित्र, पृष्ठ १०२, मूल्य ।≈) मात्र लागतसे भी कम रखा गया है ।

कल्याण-कुञ्ज

कल्याणकामी नर-नारी इस कल्याण-कुञ्जमें प्रवेशकर लाभ उठा सकते हैं । कल्याणमय 'शिव' की कृपासे 'कल्याण' के लेखक 'शिव' के मनमें उठी हुई कुछ तरंगोंका इसमें संग्रह है । सरल भाषामें सुन्दर सोलह पेजी सचित्र पृष्ठ १६४, मूल्य ।) चार आनामात्र । प्रचारके विचारसे साधारण रखा गया है ।

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी
गीताप्रेस
गोरखपुर

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी

सचित्र, आठवाँ संस्करण, ७५००० छप चुकी है

यह पुस्तक कई पाठशालाओंमें पाठ्यपुस्तकके रूपमें पढ़ायी जा रही है । वर्तमान समाजके डावाँडोल और दूषित वायुमण्डलको दृष्टिकोणमें रखते हुए यह पुस्तक प्रेमी सज्जनोंके विशेष आग्रहसे लिखी गयी थी । कन्याओंके कोमल हृदयोंमें इसके निरन्तर पाठसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़नेकी सम्भावना है । सधवा स्त्रियोंके धर्मको बड़ी रोचक शैलीसे विशद वर्णन किया गया है। पतिसेवाके दिव्य व्रतका पालन करती हुई गृह-देवियाँ किस प्रकार मनुष्य-जन्मके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गमें तत्पर, अग्रसर और सफल हो सकती हैं, इसका सप्रमाण उल्लेख करके लेखकने गागरमें सागर भर दिया है । विधवा-धर्मका निरूपण भी उत्तमतापूर्वक किया गया है । प्रश्नोत्तरके रूपमें होनेसे यह पुस्तक बड़ी रोचक बन गयी है । दाम्पत्य-प्रेम और गृहस्थादर्शको हिन्दू घरोंमें देखनेके इच्छुकोंको इसका प्रचार विशेषरूपसे करना चाहिये । पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥ मात्र ।

—पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये— पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

सर्वोपयोगी – पठनीय – पुस्तकें

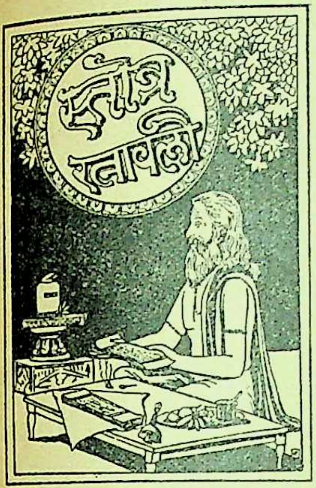

* स्तोत्ररत्नावली *

प्रेम-भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-विनयसे सने हुए शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, राम-कृष्ण, गणेश, गंगा, सूर्य, सरस्वती आदि विविध मधुर स्तोत्रोंका भाषा-टीकासहित यह सुन्दर संग्रह है। नित्यपाठी और विद्यार्थियोंके लिये विशेष उपयोगी है। सुन्दर ४ चित्र, पृष्ठ २३०, सोलह पेजी, मूल्य ।।) मात्र।

ॐ
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली
खण्ड १
लेखक
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

हिन्दीमें नयी चीज, सचित्र, ५ खण्ड

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

बङ्गालको भक्ति और प्रेमकी बाढ़में बहा देनेवाली मुदमंगलदायी, हरिनाम-कीर्तनके प्रसिद्ध प्रचारक श्रीचैतन्य महाप्रभुकी सविस्तर जीवनी जिसके पढ़नेसे हृदयमें भक्ति और आनन्दकी हिलोरें उठने लगती हैं। आबाल-वृद्ध नर-नारी सबके समझनेयोग्य सरल भाषा है। प्रचारार्थ मूल्य बहुत कम रखा गया है—

ॐ
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली
खण्ड ३
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

खण्ड १,	६ चित्र,	पृष्ठ ३६०,	मूल्य ।।।=)	सजिल्द १=)
,, २,	९ ,,	,, ४५०,	,, १=)	,, १।=)
,, ३,	११ ,,	,, ३८४,	,, १)	,, १।)
,, ४,	१४ ,,	,, २२४,	,, ।।=)	,, ।।।=)
,, ५,	१० ,,	,, २६०,	,, ।।।)	,, १)

—पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये—

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

उपहार देनेयोग्य * संग्रहणीय ग्रन्थ

* धूप-दीप *

लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०

समय-समयपर कल्याणके पाठकोंको श्रीमाधवजीद्वारा भेट किये हुए सुमनोंका यह सञ्चय पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है । इसमें हठीला प्यार, संतोंकी प्रेमानुभूति, प्रार्थनाका प्रवाह, प्राणोंको साध, समर्पणकी ज्वाला आदि २१ निबन्धोंका संग्रह है । पृष्ठ २४० की सचित्र पुस्तकका मूल्य केवल ।≡) है, तिरंगा टाइटल, छपाई साफ और सुन्दर है ।

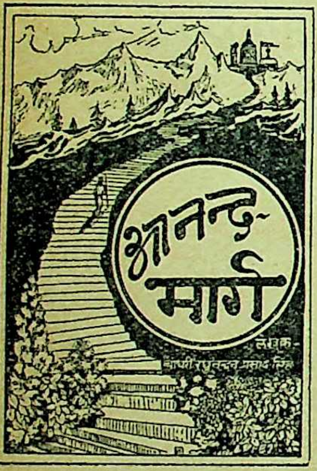

* आनन्दमार्ग *

लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी

इस 'अनित्य-असुख' संसारमें रहते हुए भी मनुष्य 'आनन्दमार्ग' से चलता हुआ 'आनन्दमय' ब्रह्मको पा सकता है । यदि ब्रह्मचर्य-अवस्थासे ही सचेत रहा जाय तो वह और भी सहज सुलभ हो जाता है । इन सब बातोंको समझने और अपने जीवनको आनन्दमय बनानेके लिये, आप 'आनन्दमार्ग' की मदद ले सकते हैं । सरल शब्दोंमें लिखित सोलह पेजी सुन्दर छपी, सचित्र पुस्तक, पृष्ठ ३२४, मूल्य ॥-) मात्र ।

नयी गीता-डायरी सन् १९३७ की

थोड़ी-सी बची है, लेनेवालोंको जल्दी करनी चाहिये, संपूर्ण पंचांग और अनेक उपयोगी विषयोंके सहित इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी आदि तारीखें, १८ अ० गीता, छुट्टियाँ आदि अनेक जरूरी बातें एकत्रित की गयी हैं । ऐसी सुन्दर डायरीका मू० ।) स० ।-) ।

कमीशन रुपयेमें चार आना काटकर एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ॥) और एक सजिल्दके लिये ॥-) तथा दो अजिल्दके लिये ॥।-) और दो सजिल्दके लिये ॥।=) भेजना चाहिये । तीन अजिल्दका १) छः अजिल्दका १॥।-) और तीन सजिल्दका १≡) और छः सजिल्दका २=) होगा । बिना रजिस्ट्री पैकेट खो जानेका डर है । १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

—पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये— पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

क्या आपको गीता चाहिये ?

गीता शांकरभाष्य सरल हिन्दी-अनुवाद-सहित मू० २॥) स० २।।।)
गीता बड़ी भाषासहित सजिल्द पृ० ५७०, १।)
गीता गुजराती टीका-सहित सजिल्द १।)
गीता मराठी टीका-सहित सजिल्द १।)
गीता मझली, भाषाटीका-सहित ॥≶) स० ।।।=)
गीता बंगला टीका-सहित पृ० ५३५, ।।।)
गीता मोटे अक्षरवाली अर्थसहित ॥) स० ॥≶)
गीता केवल मूल मोटे अक्षरवाली ।-) स० ।≶)
पञ्चरत्न गीता मूल, मोटे अक्षर, सजिल्द ।)
गीता केवल भाषा ।)
सजिल्द ··· ।=)
गीता छोटी अर्थ-सहित =)॥ स० ≶)॥
गीता मूल तावीजी =)
गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित सजिल्द -)॥
गीता दो पन्नेमें संपूर्ण -)
गीता दूसरा अध्याय भाषासहित)।
श्रीकृष्णविज्ञान, गीता-पद्यानुवाद ।।।) स० १)
गीता-सूची (गीता-साहित्यकी सूची) ॥)
गीतामें भक्ति-योग (ले० वियोगी हरि) ।-)
गीता-डायरी ।) स० ।-)
गीता-निबन्धावली =)॥
गीताका सूक्ष्म विषय -)।
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)॥
गजलगीता आधा पैसा
सतश्लाकी गीता ,, ,,

—पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये —

"कल्याण" धार्मिक मासिक पत्र

(हर महीनेमें ३७१०० छपता है)

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र, सालभरमें १६०० पेज, सैकड़ों सुन्दर चित्र, मूल्य ४≡), वर्षके आदिमें एक विशेषांक भी निकलता है, जो ग्राहकोंको इसी मूल्यमें मिल जाता है। प्रारम्भसे अबतक १० विशेषांक निकल चुके हैं । उनमेंसे नीचे लिखे इस समय प्राप्य हैं—

१ भक्ताङ्क—पृ० २४६, चित्र ५५, मू० १॥) स० १।।।≡)
२ रामायणाङ्क—पृ० ५१२, चित्र १६७, २॥≡) स० ३≡)
३ योगाङ्क सपरिशिष्टाङ्क—दशवें वर्षका नवीन विशेषांक, पृ० ८८४, चित्र ४७०, मू० ३॥), स० ४)
४ वेदान्ताङ्क—(११ वें वर्षका) दर्शनीय विशेषांक पृ० ७४४, चित्र १९१, मू० ३) सजिल्द ३॥)

(डाकखर्च सबमें हमारा)

आप भी ग्राहक बनकर घर बैठे सत्संग कीजिये ! मित्रोंको उपहार दीजिये और संग्रह करिये।

कल्याणका सुन्दर संस्करण अंग्रेजीमें भी निकल रहा है, इसके भी चार विशेषांक निकल चुके हैं।

(इन सबमें बाहरका विज्ञापन भी नहीं रहता)

व्यवस्थापक—

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

---

* चित्र *

छोटे-बड़े, रंगीन-सादे धार्मिक चित्र

श्रीविष्णु-लक्ष्मी, सीता-राम, राधा-कृष्ण, शिव-शक्ति तथा भक्त और भगवान्‌के दिव्य-दर्शन

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें, वह वस्तु हमारे लिये संग्रहणीय है। भक्तों और भगवान्‌के स्वरूप एवं उनकी मधुर-मोहिनी लीलाओंके सुन्दर दृश्य-चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत्स्मरणमें लग जाता है।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। इनका संग्रहकर प्रेमसे जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्‌को यादकर अपने मन-प्राणको प्रफुल्लित कीजिये।

सजाइये ! दर्शन कीजिये ! उपहार दीजिये !

हमारे यहाँ १५×२०, १०×१५, ७॥×१० और ५×७॥ के बड़े और छोटे, सुनहरे, तिरंगे, एकरंगे चित्र सस्ते-सस्ते दामोंमें मिलते हैं।

सजिल्द चित्रावली भी मिल सकती हैं।

चित्र-सूची अलग मुफ्त मँगवाइये।

अंग्रेजीमें 'कल्याण-कल्पतरु'के नामसे

कल्याणका सुन्दर सचित्र संस्करण, जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है। ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनेके लिये सबसे सविनय निवेदन है।

वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया (विदेशोंके लिये १० शिलिंग)। इसके भी चार सचित्र विशेषांक निकल चुके हैं—

१—गॉड नम्बर (१९३४ ई०) पृ० ३१६, चित्र ४१, मूल्य २॥), सजिल्द ३) (विदेशोंके लिये ५ शिलिंग)
२—गीता नम्बर (१९३५ ई०) पृ० २५६ मू० २॥)
३—वेदान्त नम्बर (१९३६ ई०) पृ० २६४ ,, २॥)
४—कृष्ण नम्बर (१९३७ ई०) पृ० ३०४ ,, २॥)

सजिल्द विशेषांकके ॥) अधिक हैं। ४॥) भेजकर सालाना ग्राहक बननेवालोंको उस वर्षका विशेषांक मुफ्त ही मिलेगा।

चारों वर्षकी फाइलें भी मिल सकती हैं, मूल्य ४॥), सजिल्द फाइलके ।।।) अधिक हैं।

मैनेजर—'कल्याण-कल्पतरु', गोरखपुर

प्राचीन शास्त्र चाहते हों तो इनको पढ़ें !

श्रीविष्णुपुराण–मूल और हिन्दी-अनुवाद, पृ० ५४८, चित्र ८, मू० साधारण जिल्द २॥), बढ़िया २।॥)
अध्यात्मरामायण–मूल और अर्थसहित, पृष्ठ ४०२, चित्र ८, साधारण जिल्द मू० १।॥), बढ़िया जिल्द २)
श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध–सचित्र, सानुवाद पृष्ठ ४२०, मू० ।॥) सजिल्द १)
विष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य, [illegible]नुवाद ॥=)
श्रुति-रत्नावली–श्रुतियोंका सार्थ [illegible]ग्रह, पृ० २८४, ॥)

उपनिषद् सानुवाद, शांकरभाष्यसहित—

ईशावास्योपनिषद्–सचित्र, पृष्ठ ५०, मू० ≡)
केनोपनिषद्– मू० ॥) कठोपनिषद्– ॥–)
मुण्डकोपनिषद्– ।≡) प्रश्नोपनिषद्– ।≡)
माण्डूक्योपनिषद्–कारिकासहित सचित्र, पृ० ३००, १)
तैत्तिरीयोपनिषद् ।॥–) ऐतरेयोपनिषद् ।=)
उपनिषदोंके चौदह रत्न–पृष्ठ १००, चित्र १०, ।=)
प्रेम-दर्शन–नारदसूत्रकी विस्तृत टीका, पृ० २००, ।–)
मूलरामायण–सचित्र, पृ० २४, मू० –)।
मनुस्मृति द्वितीय अध्याय सार्थ, मूल्य –)॥
विष्णुसहस्रनाम–मू०)।॥ श्रीरामगीता–)।॥
सन्ध्या)॥ नारद-भक्ति-सूत्र)।
बलिवैश्वदेवविधि)॥ गीता द्वि० अध्याय)।
पातञ्जलयोगदर्शन)। सप्तश्लोकी गीता आधा पैसा

परमार्थ-ग्रन्थमालाकी नौ मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)–ले० श्रीजयदयालजी गोयन्दका, ११००० छप चुकी, पृ० ३५०, मू० ॥=) स० ॥।–), गुटका संस्करण पृ० ४४८, मू० ।–) स० ।=) पुस्तकमें धर्मका भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठसे सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है । –माधुरी

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २–श्रीगोयन्दकाजीके लेखोंका नया संग्रह, पृ० ६३२, मू० ॥।=) स० १=), गुटका संस्करण, पृ० ७५०, मू० ।=) स० ॥)
मानव-धर्म–धर्मके दश प्रकारके भेद बड़ी सरल, सुबोध भाषामें उदाहरणोंसहित समझाये हैं । मू० ≡)
साधन-पथ–इसमें साधन-पथके विघ्नों, उनके निवारणके उपायों तथा साधनोंका वर्णन है पृ० ७२, मू० =)॥
तुलसीदल–सचित्र, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ लेखोंका संग्रह, पृ० २९२, मू० ॥) स० ॥≡)
माता–श्रीअरविन्द घोषकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद, सुन्दर छपाई, मू० … ।)
परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह, पृ० १४४, मूल्य ।)
नैवेद्य–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ और चुने हुए लेखोंका सचित्र संग्रह, पृ० ३५०, मू० ॥) स० ॥≡)
ईश्वर–लेखक–श्रीमालवीयजी, पृ० ३२, मू० … –)।

भक्तोंके चरित्र

भागवतरत्न प्रह्लाद–८ चित्र, मू० १) स० १।)
देवर्षि नारद–५ चित्र, पृ० २४० मू० ।॥) स० १)
श्रीतुकाराम-चरित्र ९ चित्र, पृ० ६९४, १≡) स० १॥)
श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र–पृ० ३५६, मूल्य ।॥–)
श्रीएकनाथ-चरित्र ॥)
श्रीरामकृष्ण परमहंस–५ चित्र, मूल्य ।≡)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १) ६ चित्र, पृष्ठ ३६०, मू० ।॥=) स० १=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २) ९ चित्र, पृष्ठ ४५०, मू० १=), स० १।=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, चित्र ११, मू० १) स० १।)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ४) पृष्ठ २२४, चित्र १४, मू० ॥=), ।॥=)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५) पृष्ठ २८०, चित्र १०, मूल्य ।॥) सजिल्द … १)
भक्तभारती–७ चित्र ।≡)
भक्त बालक–५ चित्र ।–)
भक्त नारी–६ चित्र ।–)
भक्त-पञ्चरत्न–६ चित्र ।–)
भक्त-चन्द्रिका-७ चित्र ।–)
आदर्श भक्त–७ चित्र ।–)
भक्त-सप्तरत्न–७ चित्र ।–)
भक्त-कुसुम–६ चित्र ।–)
प्रेमी भक्त–९ चित्र ।–)
यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्र, मूल्य ।)
एक संतका अनुभव –)

सस्ता साहित्य

छोटी—पर उपयोगी पुस्तकें

मूल रामायण, सार्थ, सचित्र –)।
गोसाईं-चरित (मूल) –)।
ईश्वर (ले० श्रीमालवीयजी) –)।
मनको वश करनेके उपाय –)।
गीताका सूक्ष्म विषय –)।
सप्त-महाव्रत (ले० श्रीगांधीजी) –)
आचार्यके सदुपदेश –)
एक संतका अनुभव –)
समाज-सुधार –)
ब्रह्मचर्य –)
प्रेम-भक्ति-प्रकाश, सचित्र –)
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय –)
शारीरकमीमांसादर्शन)।॥
हरेरामभजन (दो माला))।॥
विष्णुसहस्रनाम)।॥ स० –)॥
रामगीता (सार्थ))।॥
सन्ध्या (विधिसहित))॥
प्रश्नोत्तरी (सार्थ))॥
सेवाके मन्त्र)॥
सीतारामभजन)॥
भगवान् क्या हैं ?)॥
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय)॥
सत्यकी शरणसे मुक्ति)॥
महात्मा किसे कहते हैं ?)।
प्रेमका सच्चा स्वरूप)।
धर्म क्या है ?)।
त्यागसे भगवत्प्राप्ति)।
हमारा कर्तव्य)।
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है …)।
दिव्य सन्देश)।
नारदभक्ति-सूत्र (सार्थ))।
पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।
कल्याणभावना)।
गीता दूसरा अध्याय)।
सप्तश्लोकी गीता आधा पैसा
गजल-गीता "
लोभमें ही पाप है "

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

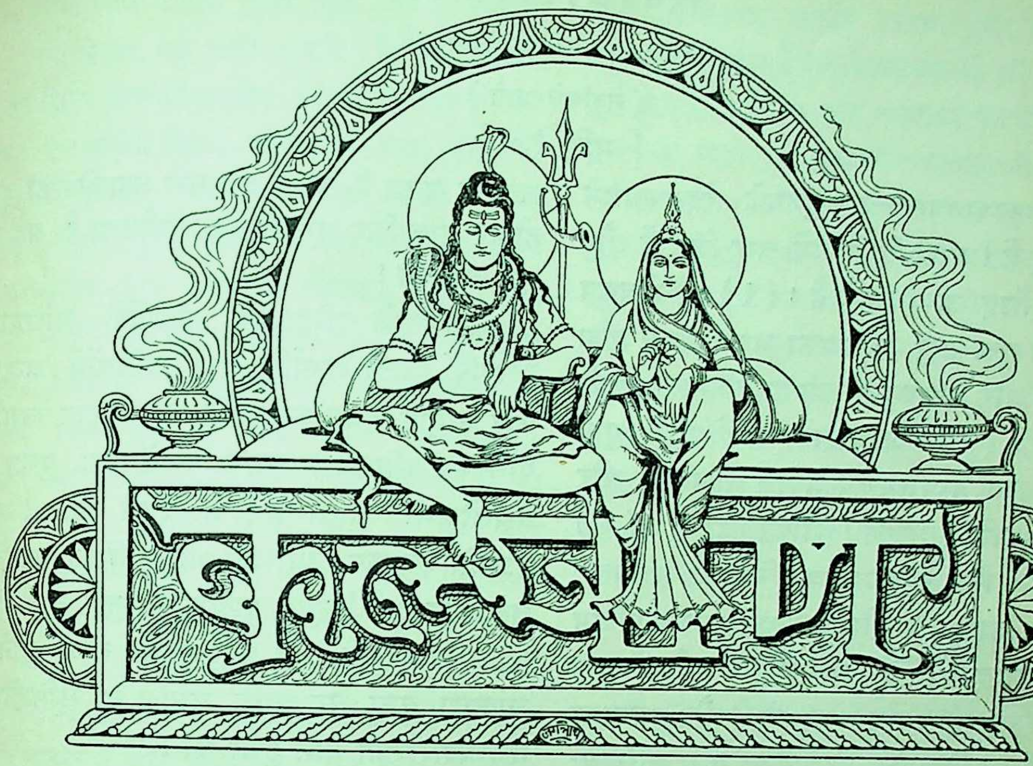

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, फाल्गुन १९९३, मार्च १९३७ { संख्या ८
पूर्ण संख्या १२८

मनको उपदेश

मन ! माधवको नेकु निहारहि ।
सुनु सठ, सदा रंकके धन ज्यों, छिन छिन प्रभुहिं सँभारहि ॥ १ ॥
सोभा-सील ग्यान-गुन-मंदिर, सुंदर परम उदारहि ।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन बिषय-बिकारहि ॥ २ ॥
जो बिनु जोग-जग्य-ब्रत-संजम गयो चहै भवपारहि ।
तौ जनि तुलसिदास निसि-बासर हरि-पद-कमल बिसारहि ॥ ३ ॥

—गो० तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

हृदयकमलका ध्यान—इस पुरुषके हृदयकमलमें पाँच छिद्र हैं। चारों दिशाओंमें चार छिद्र हैं और पाँचवाँ छिद्र ऊर्ध्वभागमें है। (१) अधिदेवरूप आदित्यसे युक्त चक्षु इन्द्रियका अध्यातमरूप प्राण आश्रय है और प्राणका आश्रय हृदयकमलका पूर्व-छिद्र है। (२) अग्निरूप अधिदेवसे युक्त वागिन्द्रियका अध्यातमरूप अपान आश्रय है और अपानका आश्रय दक्षिण दिशाका छिद्र है। (३) अधिदेवरूप दिक्‌से युक्त श्रोत्र इन्द्रियका अध्यातमरूप व्यान आश्रय है और व्यानका आश्रय पश्चिम दिशाका छिद्र है। (४) अधिदेवरूप पर्जन्यसे युक्त मनका अध्यातमरूप समान आश्रय है और समानका आश्रय उत्तर दिशाका छिद्र है। (५) अधिदेवरूप आकाशसे युक्त वायुका अध्यातमरूप उदान आश्रय है और उदानका आश्रय ऊर्ध्व छिद्र है। इन पाँच छिद्रोंसे युक्त हृदयकमलमें सत्यकाम, सत्यसंकल्पादि गुणविशिष्ट सगुण ब्रह्मका जो पुरुष ध्यान करता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। हे पापी जीव ! तूने सगुण ब्रह्मका भी हृदयकमलमें ध्यान नहीं किया, इसलिये तुझे धिक्कार है।

हे पापी जीव ! निर्गुण ब्रह्मकी अपेक्षासे सगुण ब्रह्मका ध्यान अत्यन्त सुगम है, वही तूने न किया तो निर्गुण ब्रह्मका ध्यान तुझसे कैसे होता ? निर्गुण ब्रह्मके ध्यानसे अधिकारी पुरुषको जन्म-मरणादि संसार कदापि प्राप्त नहीं होता। पर्यङ्कादि अहंग्रह उपासनाएँ अन्तर्मुख दृष्टिसे सिद्ध होती हैं, इसलिये कठिन हैं, इन उपासनाओंके प्रभावसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर अधिकारी पुरुष फिर भूमिलोकको प्राप्त नहीं होता, वहीं मुक्तिको प्राप्त होता है। उपासना कठिन जानकर तूने नहीं की परन्तु बाह्य दृष्टिसे सिद्ध होनेवाली पञ्चाग्निविद्या अत्यन्त सुगम है, इसके प्रभावसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर जीव फिर भूमिलोकको लौटता है, वह भी तूने नहीं की।

यजमानके इन्द्रियादि करणोंके अधिष्ठाता इन्द्रादि देवता स्वर्गादि पञ्च अग्नियोंमें श्रद्धादि पञ्च आहुति हवन करते हैं। इस प्रकार स्वर्गादि पाँचोंको अग्निरूपसे ध्यान करनेवाला पुरुष भी ब्रह्मलोकको जाता है। हे पापी जीव ! तूने पञ्चाग्निविद्यारूप उपासना भी नहीं की, इसलिये तुझे धिक्कार है ! पूर्वके पुण्यकर्मसे तुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी, उस पुण्यकर्मके नाश होनेपर आकाश, वायु, मेघ आदि मार्गसे तू भूमिलोकमें मनुष्यशरीरको प्राप्त हुआ था।

गर्भके दुःखोंका निरूपण

हे पापी जीव ! माताके उदरमें कलिल बुद्बुद आदि अवस्थाओंमें जो-जो दुःख तुझे प्राप्त हुआ है, उस दुःखका लेशमात्र भी इस नरकमें नहीं है। दारुण दुःखकी प्राप्ति करानेवाले माताके उदररूप निवास-को तुझ-सरीखे जडके सिवा दूसरा कौन चैतन्य प्राणी सहन करेगा ? तूने ही गर्भनिवासको सहन किया है। हे पापी जीव ! जिस माताके उदरमें तू अनेक बार निवास कर चुका है, वह उदर विष्ठा-मूत्रसे पूर्ण होनेसे अत्यन्त दुर्गंधवाला और कृमियोंसे पूर्ण है, उस माताके उदरमें तू पापात्मा जरायु नामके पटसे ढका हुआ निवास करता हुआ श्वास तथा हस्तपादादि अवयवोंके चलानेमें असमर्थ था। माताका जठराग्नि जिस प्रकार तुझे तपाता था, वैसा ताप लेशमात्र भी नरकमें नहीं है। हे पापी जीव ! माताके उदरमें प्राणरूप वायुसे तू पापात्मा दसों दिशाओंमें भ्रमण करके जो-जो दुःख पाता था, उस दुःखका लेशमात्र

भी नरकमें नहीं है । माताके उदरमें प्रवेश करने और निकलनेमें जैसा दुःख तुझे हुआ है, उसको हम यमकिंकर कह नहीं सकते । हे पापी जीव ! माता जिस अन्नको भोजन करती है, उस अन्नका सूक्ष्म रस गर्भमें स्थित बालकको प्राप्त होता है, माताके भोजन किये हुए कटु, अम्ल, लवण, कषाय, तिक्त, उष्ण पदार्थोंसे दाहको प्राप्त हुआ तू पापात्मा दश मासतक माताके उदरमें कैसे स्थित रहा ? एकशत अग्नियोंके समान तपायमान माताके उदरमें सर्पोंके समान अनेक कृमियोंसे भक्षण किया हुआ तू किस प्रकार स्थित रहा ? गर्भमें तेरी जो-जो दुर्दशा हुई है, उनके कहनेमें हमको भय होता है । हे पापी जीव ! गर्भ धारणके बाद स्त्रीका पुरुषके साथ सुरत करना बालक, गर्भिणी तथा पुरुष तीनोंका दुरन्त है । यह दुरन्त परोक्ष-कालमें होता है, इसलिये लोग उसको दुरन्त नहीं कहते, किन्तु सुरत कहते हैं । विषयसम्भोगका नाम सुरत है और परिणाममें जो दुःखका हेतु हो, उसका नाम दुरन्त है । विषय-सम्भोगरूप दुरन्तको सुरत कहनेका कारण यह है कि शिष्ट महात्मा अपनेसे भिन्न पदार्थोंको उत्कृष्टनामसे पुकारते हैं, निकृष्टनामसे किसी वस्तुको नहीं पुकारते । शिष्ट पुरुषोंके आचारको ग्रहण करके बुद्धिमान् पुरुष विषयसम्भोगरूप दुरन्तको सुरत कहते हैं ।

विषय-सम्भोगमें दुरन्तपना—जो पुरुष अपनी गर्भिणी स्त्रीके साथ सम्भोग करता है, उसको स्त्री और बालककी हत्याका दोष लगता है । जो गर्भिणी स्त्री अपने पुरुषके साथ सम्भोग करती है, उसको आत्महत्या और बालहत्याका दोष लगता है । इस प्रकार गर्भिणीके साथ सम्भोग स्त्री, पुरुष और बालक तीनोंके दुःखका हेतु है । हे पापी जीव ! इस संसारचक्रमें तूने अनेक वार दुःखोंका अनुभव किया है, तो भी उन सब दुःखोंको भूलकर तूने फिर पापकर्म किया है । हे पापी जीव ! जिस शरीरके अभिमानसे तूने पापकर्म किये हैं, वह शरीर माता-पिताके मल-मूत्र-समान शुक्र-शोणितरूप मलसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये मल-मूत्र-समान है । वर्तमान कालमें भी मल-मूत्रसे पूर्ण है और मरणके बाद श्वान-शृगालादिका भक्ष्य है । ऐसे निन्दित शरीरको आत्मा मानकर तूने निषिद्ध कर्म किये हैं, उनका यह दुःखरूप फल तुझे नरकमें हुआ है । जैसे घरमें अग्नि लगते समय कूप खोदना निष्फल है, इसी प्रकार पापके करने और पुण्यके न करनेका तेरा पश्चात्ताप इस समय निष्फल है । हे पापी जीव ! हम यमकिङ्कर तुझे दुःख नहीं पहुँचा सकते, सूर्यके पुत्र यमराज भी तुझे दुःख नहीं दे सकते किन्तु इस मनुष्यशरीरको पाकर तूने दूसरोंको पीड़ा दी है, वही तेरा पापकर्म नरकमें तुझे पीड़ा देता है ।

पूर्वकृत पापोंका निरूपण

हे पापी जीव ! इस मनुष्यशरीरको पाकर तूने सब जीवोंको और विशेष करके साधु स्वभाववाले महात्माओंको दुःख दिया है । जिन दुर्भावनाओंसे तूने उनका निरादर किया है, उनको सुन—जैसे पित्त दोषवाला श्वेत शङ्खको पीला देखता है, उसी प्रकार कामरूप दोषसे दूषित हुआ तू पापात्मा सब जगत्को कामी मानता था । सच्चे संन्यासी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ महात्माओंको देखकर तू कहता था कि जैसे मैं दिन-दिन अन्नपानादि भोजन करनेसे मैथुनका परित्याग नहीं कर सकता, इसी प्रकार ये संन्यासी आदि भी दिन-दिन भोजन करनेसे ब्रह्मचर्यसे रहित ही होंगे । ये संन्यासी एकान्त देशमें स्थित हैं, शब्दादि पाँचों विषयोंको, वागादि पाँच कर्मेन्द्रियोंको, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको तथा मनसे सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं । जिस पुरुषकी वागादि इन्द्रियाँ भोग भोगनेमें समर्थ होती हैं, वह पुरुष जीवनपर्यन्त आहार, निद्रा, मैथुनका त्याग नहीं कर सकता इसलिये ये संन्यासी आहार, निद्रा, मैथुन

अवश्य करते होंगे। इत्यादि अनेक प्रकारकी दुर्भावनाओंसे तूने संन्यासी महात्माओंमें अनेक दोष आरोपण किये हैं, उसीका फल तुझे नरकमें मिला है। हे पापी जीव! पतिव्रता स्त्रियोंको देखकर तू पापात्मा कहता था कि संसारमें यौवनावस्थासे युक्त ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो रूपवान् पुरुषकी इच्छा न करे, सभी करती हैं क्योंकि ये स्त्रियाँ अपने पिता, भ्राता आदिको ही रूपवान् देखकर कामातुर हो जाती हैं, तो पर-पुरुषको देखकर क्यों न होंगी? मान, लज्जा, भय और एकान्त स्थानका अभाव इन चार कारणोंसे स्त्रियाँ पर-पुरुषके समीप नहीं जातीं, अपने मनमें तो सदा ही चिन्तन किया करती हैं। जो स्त्री पर-पुरुषको देखकर नीचा मुख कर ले, उसे लोकमें पतिव्रता कहते हैं, पतिव्रताका यह लक्षण सम्भव नहीं है क्योंकि पर-पुरुषको देखकर जो स्त्री नीचा मुख कर लेती है, वह अपने मनमें पुरुषोंका ध्यान करती है, हे पापी जीव! इत्यादि अनेक दुर्भावनाओंसे पतिव्रता स्त्रियोंमें तू अनेक दूषणोंका आरोपण करता था। हे पापी जीव! प्रतिपादित धर्ममें भी तू अनेक दूषण आरोपण करता था। जैसे माला पुष्पोंको धारण करती है, उसी प्रकार धर्म जगत्‌को धारण करता है, ऐसे धर्मकी तू निन्दा किया करता था। ब्रह्मादि देवता और अपने गुरुओंकी भी निन्दा किया करता था, माता-पितादि, बान्धवोंका निरादर करता था। लोभके वश दूसरोंका धन लेता था, कामके वश दूसरोंकी स्त्रियोंको हरण करता था। हे पापी जीव! तू दुर्बुद्धि दूसरोंको दुःख देनेके लिये इस प्रकार विचार किया करता था—इस शत्रुको अल्प दुःखकी प्राप्ति करानेवाला यह सुगम उपाय है, इसको सिद्ध करके फिर इस शत्रुको महान् दुःख देनेवाले उपायको सिद्ध करूँगा। उस उपायसे उसे परम दुःख होगा, अथवा शत्रुके साथ प्रथम मित्रता करूँगा, जब उसका मुझपर विश्वास हो जायगा, तब उसे परम दुःख दूँगा। हे पापी जीव! इस प्रकार तूने महान् पाप किये हैं, इसलिये तुझे धिक्कार है!

हे जनक! इस तरह नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे यमकिङ्कर पापी जीवका निरादर करते हैं। पश्चात् उस जीवको नाना प्रकारके नरकोंमें डालते हैं। वहाँ उसे महान् कष्ट होता है। हे जनक! पापी जीवोंको नरकमें ही कष्ट होता हो, ऐसा नहीं है किन्तु जैसा दुःख नरकमें होता है वैसा ही दुःख शरीरके जन्म, मरण तथा स्थितिकालमें होता है।

सब जीवोंको जन्मके दुःखकी समानता

हे जनक! ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक, मनुष्यलोक, पाताललोकमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज चार प्रकारके शरीरोंकी उत्पत्ति समान ही होती है, इसलिये जन्मका दुःख भी सबको समान ही होता है। जैसे वृक्षादि शरीर भूमिको उद्‌भेदन करके उत्पन्न होनेसे उद्भिज्ज हैं, इसी प्रकार देवताओंके शरीर भी सूक्ष्मभूतोंको उद्‌भेदन करके उत्पन्न होनेसे उद्भिज्ज हैं। ब्रह्मलोकसे पातालपर्यन्त सब लोकोंमें जो-जो विषयजन्य सुख हैं, वे अतिशय दोषवाले हैं, इसलिये ईर्ष्याकी उत्पत्तिद्वारा जीवोंके दुःखके कारण हैं, पराधीन होनेसे विषयजन्य सुख भयकी उत्पत्ति करते हैं, कर्म उपासनादि साधनोंसे जन्य होनेसे नाशवान् हैं, इसलिये चिन्ताकी उत्पत्तिद्वारा दुःखके कारण हैं। इसलिये ब्रह्मलोकसे पातालपर्यन्त शरीरकी स्थितिकालमें भी सब जीवोंको समान ही दुःख होता है। हे जनक! सब लोकोंमें सब जीवोंको अपने-अपने स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इसलिये उनके वियोगमें परम दुःख होता है। अपना मरण और प्रिय पदार्थोंका नाश ये दो प्रकारका वियोगका दुःख है। इससे सिद्ध होता है कि जितना दुःख मनुष्यलोकमें होता है, उससे अनेक कोटिगुणा

दुःख ब्रह्मलोकादिमें अपने और स्त्री-पुत्रादिके मरणसे प्राप्त होता है। जैसे यहाँ मनुष्यलोकमें कोई पिता, कोई माता, कोई स्त्री, कोई पुत्र, कोई शत्रु, कोई मित्र और कोई उदासीन है, इसी प्रकार ब्रह्मलोकादिमें भी जीवके अनेक सम्बन्धी होते हैं, उनके वियोगसे जीवको महान् कष्ट होता है।

बुद्धिके तादात्म्यका फल—हे जनक! हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, मनुष्यलोकसे लेकर विराट्लोकपर्यन्तके जीवोंको जितना विषयजन्य सुख है, उनसे ब्रह्मा अधिक सुखवाले हैं। ब्रह्मा चारों वेदोंके सम्प्रदायके प्रवर्तक और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं और स्वभावसिद्ध ब्रह्मविद्याके कारण द्वैतभावसे रहित हैं। ब्रह्मारूप वृक्षसे उदुम्बरफलके समान अनेक ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और उसमें ही लयभावको प्राप्त होते हैं। ब्रह्माकी प्रजापति आदि विभूतियाँ अपने-अपने लोकोंमें निवास करती हैं। प्राणरूप पर्यङ्कके ऊपर अपनी भार्यासहित ब्रह्मा ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं। देवराज इन्द्र स्वर्गमें इन्द्राणीसहित निवास करता है। अग्नि आदि सब देवताओंका स्वामी है और तीनों लोकोंका पति है। पूर्वादि दिशाओंके आठ लोकपाल अधिपति हैं। पातालमें वासुकि, तक्षक, पद्मक नाग हैं। मनुष्यलोकमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि जीव हैं। हे जनक! ब्रह्मासे लेकर कृमिपर्यन्त सब देहधारी जीवोंमें जो सुख प्रतीत होता है, वह अविचारसे प्रतीत होता है, विचारदृष्टिसे देखा जाय तो उनमें किञ्चित् भी सुख नहीं है। हे जनक! ब्रह्मासे कृमिपर्यन्त सब जीवोंमें जन्म-मरण, सुख-दुःख, सुख-दुःखके साधन और पाञ्चभौतिक शरीर ये सब पदार्थ समान ही हैं, इसलिये ब्रह्मासे लेकर कृमिपर्यन्त देहधारी जीवोंमें कुछ भी विषमता नहीं है, तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, इन्द्र, लोकपाल तथा वासुकि आदि महान् पुरुष भी शरीरके तादात्म्य सम्बन्धसे जन्म-मरणादि दुःखोंको प्राप्त होते हैं, फिर अस्मदादि जीवोंके दुःखका तो कहना ही क्या है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञानमय आत्मा शरीररहित नहीं होता और जो-जो शरीरवाला होता है, वह दुःखसे रहित नहीं होता। श्रुतिः—

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति'

शरीरधारी जीवके सुख-दुःखकी निवृत्ति नहीं होती। हे जनक! इस प्रकार बुद्धिके तादात्म्य सम्बन्धसे विज्ञानमय नामको प्राप्त हुआ आत्मा नाना प्रकारके ऊँच-नीच शरीरोंको प्राप्त होता है।

मनके तादात्म्यका फल—हे जनक! जब यह आनन्दस्वरूप आत्मा मनके सम्बन्धसे मनोमय संज्ञाको प्राप्त होता है, तब यह आत्मादेव अनेक इच्छावाला होकर शुभ-अशुभ वस्तुके ज्ञानवाला होता है और नाना प्रकारके संशयवाला होता है। श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, चिन्ता, भय ये सब मनके धर्म हैं। जैसे स्त्रीमें आसक्त कामी पुरुष स्त्रीके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपने मानता है, इसी प्रकार मनके तादात्म्य अध्याससे आत्मादेव इच्छादि मनके धर्मोंको अपने मानता है।

प्राणके तादात्म्यका फल—हे जनक! प्राणके तादात्म्य अध्याससे प्राणमय संज्ञाको प्राप्त होकर यह आत्मादेव प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, इन दस प्रकारके भेदको प्राप्त होता है और अनेक नाडियोंमें विचरनेवाले प्राणोंके भेदसे अनेक भावको प्राप्त होता है। प्राणोंके सम्बन्धसे यह आत्मादेव ऊर्ध्व श्वासादि व्यापारोंका तथा जीवनव्यवहारका कारण होता है, अन्नादिका भोक्ता होता है और बलसाध्य अनेक कर्मोंका कर्ता होता है। इस प्रकार प्राणके तादात्म्य अध्याससे यह आत्मादेव सम्पूर्ण प्राणोंके धर्मोंको अपनेमें मानता है।

इन्द्रियोंके तादात्म्य अध्यासका फल—हे जनक! श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों-

के तादात्म्य सम्बन्धसे यह आत्मादेव श्रोत्रमय, त्वङ्मय, चक्षुमय, रसनमय, घ्राणमय संज्ञाको प्राप्त होकर नाना प्रकारके शब्दोंको, कोमल-कठिन स्पर्शोंको, नील-पीतादि रूपोंको, मधुर-अम्लादि रसोंको और नाना प्रकारके गन्धको ग्रहण करता है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियोंके तादात्म्य सम्बन्धसे यह आत्मादेव वाङ्मय, पाणिमय, पादमय, पायुमय, उपस्थमय संज्ञाको प्राप्त होकर शब्दोंको उच्चारण करता है, पदार्थोंको ग्रहण करता है। आता-जाता है, मलादि त्यागता है और विषय-सम्भोगसे आनन्दको प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों और वागादि पाँच कर्मेन्द्रियोंके तादात्म्य अध्याससे आत्मादेव श्रोत्रादि इन्द्रियोंके धर्म अपने मानता है।

पञ्चभूतोंके अध्यासका फल—हे जनक ! आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पाँच भूतोंके तादात्म्य अध्याससे यह आत्मादेव भूतमय संज्ञाको प्राप्त होकर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चार प्रकारके शरीर और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके विषय शब्दादिको उत्पन्न करता है।

अतेजके अध्यासका फल—हे जनक ! अतेजरूप अविद्याके तादात्म्य अध्याससे यह आत्मादेव अतेजोमय संज्ञाको प्राप्त होकर अपने स्वरूपके आवरणका कारण होता है अथवा अतेजरूप अन्धकारके अध्याससे यह आत्मादेव अतेजोमय संज्ञाको प्राप्त होकर निद्रा, स्वप्नादिका कारण होता है।

काम-क्रोधके अध्यासका फल—हे जनक ! कामके तादात्म्य अध्याससे यह आत्मादेव काममय संज्ञाको प्राप्त होकर पुत्रादि प्रजाकी उत्पत्ति और परिणाममें दुःखकी प्राप्ति करानेवाले विषयजन्य सुखका कारण होता है, क्रीडाके मर्कटसमान स्त्रियोंके अधीन होता है, पुण्य-पापका कर्ता होता है, और शुभ-अशुभ कर्मके ज्ञानका कारण होता है। क्रोधके तादात्म्य सम्बन्धसे क्रोधमय संज्ञाको प्राप्त होकर यह आत्मादेव ब्रह्महत्यादि पापकर्म करता है और अग्निकुण्डमें स्थित पुरुषके समान कुम्भीपाकादि नरकोंमें दुःखको प्राप्त होता है, हे जनक ! काम-क्रोध दोनों संसारके कारण हैं, इनको त्यागकर यह आत्मादेव अकाम संज्ञाको प्राप्त होकर जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है।

धर्माधर्मके अध्यासका फल—हे जनक ! धर्म-अधर्मके तादात्म्य अध्याससे यह आत्मादेव धर्ममय तथा अधर्ममय संज्ञाको प्राप्त होकर नाना प्रकारके सुख-दुःख, ऊँच-नीच शरीरोंका कारण होता है।

सर्व अध्यासका फल—हे जनक ! परोक्ष तथा अपरोक्ष पदार्थोंके तादात्म्य सम्बन्धसे यह आत्मादेव सर्वमय संज्ञाको प्राप्त होकर सर्व पदार्थोंके धर्मोंको प्राप्त होता है। जैसे इस लोकमें एक ही पुरुष पाकरूप क्रियासे पाचक, पाठरूप क्रियासे पाठक कहलाता है, इसी प्रकार यह आत्मादेव जिस-जिस आचारको करता है, उस-उस संज्ञाको प्राप्त होता है। वस्तुतः तो यह आत्मादेव साधु-असाधु, पुण्य-पाप सर्व नामोंसे रहित आकाशके समान परिपूर्ण है, अविद्याके सम्बन्धसे जीवभावको प्राप्त होकर जब पुण्यकर्म करता है, तब साधुकारी कहलाता है, यशको और सुखको प्राप्त होता है, और जब पापकर्म करता है, तब असाधुकारी संज्ञाको प्राप्त होकर निन्दा और दुःखको प्राप्त होता है।

* * *

वेदान्त-वाद-सामञ्जस्य

(लेखक—श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी)

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥

हृदय-कमल कल-मध्यगत जय द्विरेफ ॐकार ।
रेफ-बिन्दुमय लसत जो करत सोइ गुञ्जार ॥ १ ॥
सोम-मौलि जेहि सोमतन सोमरूप[1] जो सोम[2] ।
शब्द ब्रह्म-परब्रह्ममय जय शिव ज्ञान-स्तोम ॥ २ ॥
पञ्च कलनि[3] जेहि पञ्च मुख बसत राम इति नाम ।
जयति प्रणव हर उलटि जो लसत उमा[4] है वाम ॥ ३ ॥
अखिल ब्रह्मविद्या-सहित ब्रह्म-शक्ति-ध्रुव-धाम ।
सकल-कला-निधि गुण-जलधि जय मारुति शुभनाम ॥ ४ ॥

अमित-कृशानु-समान तेज जेहि वरुण-अबाधित ।
अमित-भानु-सम ज्ञान राहु-भय-रहित उदित नित ॥
अमित-कुलिश-सम कठिन देह जेहि मेरु मूर्त्तिमत ।
अमित-इन्दु अकलङ्क शील जेहि प्रेम सिन्धु-शत ॥
राम-भानुकुल-भानुके दूत अरुण-सम जय अजय ।
मोह-तिमिरचर तिमिरचर वायुतनय कृत अछय छय ॥ १ ॥

भाव-अभावहुँ-परे भाव इक अनुपम जोई ।
रूप-अरूप-अतीत स्वरूपहुँ अद्भुत कोई ॥
चिदानन्दघन राम सोइ साकेत-विहारी ।
छविही क्रीडा जासु रमत सिययुत अविकारी ॥
सोई परमें अवरमें अन्तरगत है सञ्चरत ।
जीवन अरु आनन्द हू अग जगमें वितरण करत ॥ २ ॥
छन-छन जासु छटानि ते झरत अमित सिद्धान्त ।
जब-जब लखियत तबहिं-तब नवल-नवल वेदान्त ॥ ५ ॥

वेद आधिदैविक सगुणरूपसे जिसका वर्णन करते हैं, वेदान्त आध्यात्मिक एवं निर्गुणभावसे उसीका निर्देश करता है । वेदका ध्येय पुरुष है, तो वेदान्तका ज्ञेय ब्रह्म । जो परमात्मा परम ब्रह्म परम पुरुष श्रीभगवान् रामचन्द्र वेदान्त-वेद्य सच्चिदानन्दाख्य परम तत्त्व हैं, वे ही वेदान्तके परम गुरु भी हैं । उन्हीं ब्रह्मविद्यापतिने अष्टोत्तरशत उपनिषदोंका अपने परम प्रिय पार्षद महावीर श्रीहनुमान्‌जीको उपदेश किया है—'तासु श्रीरामचन्द्रेण रामदूताय सारतरोपनिषद् अष्टोत्तरशतसंख्याका उपदिष्टाः' (महावाक्यरत्नावलिः) । मुक्तिकोपनिषद्में इसका सङ्घटन इस प्रकार है—

अयोध्या नगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यमे ।
सीताभरतसौमित्रिशत्रुघ्नाद्यैः समन्वितम् ॥
सनकाद्यैर्मुनिगणैर्वसिष्ठाद्यैः शुकादिभिः ।
अन्यैर्भागवतैश्चापि स्तूयमानमहर्निशम् ॥

……………………………

भक्त्या शुश्रूषया रामं स्तुवन्पप्रच्छ मारुतिः ।
राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः ॥
इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।
त्वद्रूपं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतो राम मुक्तये ॥

……………………………

साधु पृष्टं महाबाहो वदामि शृणु तत्त्वतः ।
वेदान्ते सुप्रतिष्ठोऽहं वेदान्तं समुपाश्रय ॥
निश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाताः सुविस्तराः ।
तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः ॥
राम वेदाः कतिविधास्तेषां शाखाश्च राघव ।
तासूपनिषदः काः स्युः कृपया वद तत्त्वतः ॥

श्रीराम उवाच—तब श्रीभगवान्‌ने सारतर अष्टोत्तरशत उपनिषदें कहीं ।

उपर्युक्त मुक्तिकोपनिषद्‌के निम्नस्थ मङ्गलाचरणके साथ मैं अपने मङ्गलाचरणको समाप्त करके अब आगे यथासाध्य 'निज पौरुष-परमान जिमि मसक उडाहिं अकास' के अनुसार अपने अधिकृत विषयपर कुछ विचार करनेका प्रयत्न करूँगा—

ईशाद्यष्टोत्तरशतवेदान्तपटलाशयम् ।
मुक्तिकोपनिषद्वेद्यं रामचन्द्रपदं भजे ॥

---

[1] ॐकार-सहित जिनका रूप है । [2] उमा-सहित ।

[3] प्रणवकी पाँच कलाएँ—(१) तारक, (२) दण्डक, (३) कुण्डल, (४) अर्द्धचन्द्र और (५) बिन्दु ।

[4] ओम=अ-उ-मका विपर्यय उ-म-अ=उमा ।

रामरूप जिन कही उपनिषद अष्टोत्तरशत ।
सहस शताधिक-सार-तत्त्व उपदेश्यो हनुमत ॥
होय कृष्ण पुनि समय देखि तेहि और निचोयो ।
हरि गीतासी ताहि बोधि पारथ-भ्रम खोयो ॥
जयति जगतपति जगतगुरु धर्म भागवत धुर-धरन ।
चलित ललित कछु छलित हूँ छटा जासु प्रिय मन-हरन ॥

(१)

'तदैक्षत बहु स्यां' प्रतिज्ञाके अनुसार एक ही महत्से महद्विभु ब्रह्म अणुसे अणुरूपमें अभिव्यक्त हुआ ('अणोरणीयान् महतो महीयान्')। वेदोंका लक्ष्य और परीक्ष्य-स्थान एकपाद्विभूति द्वैताभास जगत् है और वेदान्तका एकमेवाद्वितीय त्रिपाद ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छां०) । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तै०) ।

तथा **'जन्माद्यस्य यतः'** एवम् **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र० सू०)**

आदि वेद-वेदान्त-वाक्योंके अनुसार ब्रह्मसे ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई । और—

'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तपोऽसृजत' (छां०)

—के अनुसार क्रमशः उत्पन्न हुई । यह बात सम्पूर्ण वैदिक साहित्यसे प्रमाणित होती है । अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार, अपनी इच्छाके अनुसार, अपनी अचिन्त्य मायाशक्तिका विकास करके वह अद्वैत ब्रह्म स्वयं जगदाकार हुआ । श्रीभगवान् गीताचार्य भी कहते हैं—

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । (गीता)

वेदान्तके आलोच्य विषय तीन होते हैं, (१) प्रकृति, (२) जीव और (३) ईश्वर या ब्रह्म । इन्हीं तीनों तत्त्वोंपर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे निज-निज रुचि और भावनाके अनुसार विचार करते हुए विद्वान् अपने सिद्धान्त स्थापित करते हैं । अद्वैत (केवलाद्वैत या निर्विशेषाद्वैत) विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत ऐसे ही सिद्धान्त हैं । महर्षि बादरायणकृत ब्रह्मसूत्रपर ही (उसके भाष्यमें ही) ये पाँचों वाद स्थापित हुए हैं । अद्वैत-मूलक शारीरक भाष्यके कर्ता श्रीशङ्कर भगवत्पादाचार्य थे । विशिष्टाद्वैतपरक भाष्यके कर्ता प्रायः तीन हुए हैं, प्रथम देवविशेष-वैशिष्ट्य-विहीन जडविशिष्टाद्वैत भाष्यके कर्ता श्रीविज्ञान भिक्षु, द्वितीय शिव-परक विशिष्टाद्वैती ब्रह्म-मीमांसा भाष्यके कर्ता श्रीकण्ठशिवाचार्य, तृतीय विष्णु-परक विशिष्टाद्वैत-प्रतिपादक श्रीभाष्यके निर्माता श्रीलक्ष्मणाचार्य (आदि रामानुजाचार्य) हुए। इसी प्रकार द्वैत-मूलक भाष्यके कर्ता भी तीन हुए, प्रथम जडवाद-मूलक इष्टविशेष-प्राधान्य-रहित द्वैतोपपादक ब्रह्म-सूत्र भाष्यके कर्ता श्रीभास्कराचार्य, द्वितीय शिव-परक द्वैतवादमूलक श्रीकरभाष्यके निर्माता आचार्य श्रीपति, तृतीय विष्णु-प्रधान द्वैतवाद-प्रतिष्ठापक भाष्यके कर्ता श्रीमध्वाचार्य, तथा द्वैताद्वैत-प्रधान वेदान्त-पारिजात-सौरभभाष्यके रचयिता श्रीनिम्बार्काचार्य, एवं शुद्धाद्वैत भाष्यके प्रणेता श्रीविष्णुस्वामी । श्रीविष्णुस्वामीकी यह विलक्षणता थी कि वे अपने भाष्यका मौखिक ही प्रचार करते थे । उनके बाद गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्य उनके सिद्धान्तके उद्धारक और प्रचारक हुए । मुख्य तीन ही वाद हैं, (१) अद्वैत, (२) द्वैत और (३) द्वैताद्वैत या भेदाभेद । निर्विशेषाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत अद्वैतहीके भेद, उसीकी विशेषताएँ, विलक्षणताएँ और विभिन्न छटाएँ हैं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इनमेंसे अधिक उज्ज्वल और ग्राह्य कौन-सा सिद्धान्त है ? सभी विद्वान् अपने-अपने सम्प्रदाय या गुरु-परम्परा अथवा स्वसंस्कारके अनुसार अपने-अपने पक्षका मण्डन और पर-पक्षका खण्डन करते हैं । शास्त्रार्थ होते हैं । निर्णय न कभी हुआ, न होगा । क्योंकि वास्तविक ब्रह्म-जिज्ञासा और श्रद्धाका सम्प्रति अतिशय ह्रास दिखायी देता है । न विना श्रद्धाके धर्मोपार्जन होता है ('श्रद्धा विना धर्म नहिं होई') और न ब्रह्म-जिज्ञासा बिना ज्ञानोपलब्धि । जिज्ञासाका स्थान जिगीषाने ले लिया है और श्रद्धाका युक्तिने । अहङ्कार और ममकार जिस आचार और विचारके मूलमें होंगे, उससे कलह-विग्रह तो उत्पन्न ही होंगे । देखना यह है कि वेद जो भिन्न-भिन्न देवोंका ईश्वररूपसे स्तवन करते हैं और वेदान्त विविध वादों अथवा सिद्धान्तोंका निरूपण करता है, तो उसका रहस्य

क्या है ? उनका सामञ्जस्य किसमें और कैसे होता है ! एक ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, यह सबको अभिमत है और वही जगत्का भी, किसी भी प्रकार कारण है, यह भी सर्ववादिसम्मत है । चेतनकी जीवत्व भी एक स्थिति है (चाहे वह भ्रमात्मक हो अथवा वास्तविक) यह भी किसीको असम्मत नहीं । दो वादोंसे इनपर विचार होता है, (१) विवर्त्तवाद और (२) परिणामवाद । विवर्त्तवाद कहता है कि जगत् ब्रह्ममें अध्यस्त है, अन्धकारमें जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, उसी प्रकार अज्ञानवशात् ब्रह्ममें जगत्की प्रतीति होती है । अज्ञानसे ही जीवत्वका भी भान होता है । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव नापरः',—इस मिथ्यात्व या भेदभ्रमकी प्रतीतिका हेतुभूत माया-शक्ति है, जो अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, उसके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु वह है अवश्य और अत्यन्त अद्भुत है । इस प्रकार प्रकारान्तरसे माया अथवा शक्तिविशेषका ब्रह्मके साथ स्वीकार हो जाता है । परिणामवाद ब्रह्म या ईश्वरके साथ प्रकृति और जीवको भी नित्य मानता है, जैसा भगवान् गीतामें कहते हैं,—'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।' वह सच्चिदानन्दकन्द परब्रह्म, वह अखिल कल्याणगुणाकर पुरुषोत्तम जीव और प्रकृतिका अन्तर्यामी और नियामक है । चिद् और अचिद् (चेतन और अचेतन) दोनों उसके शरीर हैं, जैसा श्रुति कहती है—'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य पृथिवी शरीरम् ।' ये चिदचिद् दोनों उस परमात्माके अपृथक्सिद्ध विशेषण * हैं ।

माया ब्रह्मरूप चैतन्य-तोयनिधिकी तरङ्ग-सी है । 'तदैक्षत बहु स्याम्' के अनुसार वह ईश्वरकी ईहारूप है । कहना न होगा कि वह उस चैतन्य-तोयनिधि विभुकी तरङ्गरूपा उसकी ईहा होनेसे, चेतन ही होगी । यह ईश्वरकी प्रकृति है, शक्ति है, उसकी महिमा है । यही प्रकृति जगदाकार होती है, इसीमें परिणाम सङ्घटित होता है । वस्तुतः ब्रह्मसे अपृथक्सिद्ध अथवा अभिन्न होनेके कारण वह ब्रह्माकार है और ब्रह्म उसका अन्तर्यामी है, परन्तु यह देवदत्त है और वह यज्ञदत्त है, इस प्रकारके भ्रमके कारण उसमें विवर्त्त भी मान सकते हैं । जिससे हमको देवदत्त एवं यज्ञदत्तकी अन्यथा प्रतीति हुई, यदि हम उस अचिन्त्य मायाके उस मोहोत्पादक अंशको अचिद् मान लें तो कोई हानि नहीं । क्योंकि मोह जडरूप ही है । इस प्रकार, वह ईश्वरी शक्ति माया दो प्रकार की हो गयी, चिदाकार और अचिदाकार । ईश्वरमें सहजसिद्ध होनेके कारण अपने चिदचिद्रूपोंके साथ वह उसका अपृथक्सिद्ध विशेषण हो जाती है । माया या प्रकृति अंशमें परिणाम माननेसे और उसके चिद् और अचिद् अथवा विद्या और अविद्यारूपका स्वीकार करनेसे विवर्त्तवाद और परिणामवादमें बहुत कुछ सामञ्जस्य हो जाता है ।

मनमें भावना उत्पन्न होती है, तरङ्गें उठती हैं, यही इच्छा-शक्ति है । मनमें जितना ही सत्त्वांश होगा (मनका जितना ही चैतन्यसे सम्बन्ध होगा) उतना ही उसकी इच्छा या सङ्कल्पमें शक्ति होगी, प्राण जितने ही पुष्ट होंगे, उनके स्पन्दनमें उतना ही बल होगा । अतः शुद्ध सत्त्वमें इच्छा शक्तिरूपा ही हो जाती है और ईश्वरमें तो उसका भेद ही मिट जाता है । इच्छा उत्पन्न होनेके बाद ही उसका कार्यरूप परिणाम होता है । इसी प्रकार ईश्वरकी इच्छासे 'तदैक्षत बहु स्याम्' के अनुसार जगत् उत्पन्न होता है, जो अपने अनित्यत्वसे मिथ्या है, पर जिसका सङ्घटन सत्य है ।

प्रकृति तीन प्रकारकी है, दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य । अदिव्य स्थूलरूपके अभ्यन्तर उसका कोई दिव्य अतएव चेतन रूप छिपा हुआ है, जैसा हमारे भीतर हमारा शुद्ध चेतनरूप । उसका (प्रकृतिका) यह प्रस्तुत दृश्यरूप, स्थूल जगत् क्रमशः ऊर्ध्वगामी होता हुआ शुद्ध एवं सूक्ष्म होता चला गया है । भूः स्थूल है, भुवः उससे सूक्ष्म एवं दिव्य । भुवःसे सत्यलोकतक अथवा ब्रह्मलोकतक दिव्यता तथा सूक्ष्मता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है । और,

---

* जो धर्मीहीमें हो, उससे पृथक् नहीं, उसे अपृथक्सिद्ध विशेषण कहते हैं, जैसे श्याम राम । यहाँ श्यामता राममें ही सहजसिद्ध है, अतएव अपृथक्सिद्ध विशेषण है । और पृथक्सिद्ध विशेषण वह जो धर्मोंसे पृथक् हो, जैसे किरीटी राम, कुण्डली राम । किरीट और कुण्डल धर्मीसे पृथक् पदार्थ हैं, अतः यह पृथक-सिद्ध विशेषण है ।

जैसे-जैसे उसका रूप पखरता और निखरता गया है, वैसे-वैसे उसमें चेतनता, प्रकाश और आनन्द अधिकाधिक होता गया है। जहाँ, एकपाद्विभूतिका अन्त और त्रिपादका आरम्भ होता है, वहाँ उसके शुद्धस्वरूपका विकास हुआ है। आगे, त्रिपादमें पहुँचकर तो वह सच्चिदानन्दरूपा हो गयी है। विरजाके परे, जहाँसे उसका उद्गम हुआ था, वहीं वह लौट गयी। वही, वह भगवद्धाम है, जिसके सम्बन्धमें श्रीभगवान् गीताचार्य कहते हैं—'तद्धाम परमं मम।' वहीं जाकर जीव अपने शुद्ध स्वरूपको (ब्रह्मरूपको) प्राप्त होकर शास्वत शान्तिलाभ करते हैं और फिर नहीं लौटते, भव-बन्धनमें नहीं पड़ते। श्रीशङ्कर भगवत्पादाचार्यने भी 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' के भाष्यमें इसका स्वीकार किया है, यथा—

'नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरं मदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते।'

अयोध्याहीको अपराजिता कहते हैं और उसे ही साकेत भी। अथर्वणके उत्तरार्धकी निम्नस्थ श्रुति उसका इस प्रकार वर्णन करती है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

यही अयोध्या या अपराजिता वह 'हिरण्मय वेश्म' या 'हिरण्मय कोश' अर्थात् स्वयंप्रकाश-स्वरूप भगवद्धाम है, जहाँसे पुनरावर्त्तन नहीं होता। यही 'ज्योतिषावृत' धाम गोलोक भी है, गो शब्दका अर्थ ज्योति भी है। पुरुषोत्तमकी ऐश्वर्यपीठ राजधानीको अयोध्या या अपराजिता अथवा साकेत कहते हैं और उसके मण्डलको गोलोक। नारदपञ्चरात्रका यही मत है। कहना न होगा कि उस परम धाममें राम-कृष्ण दो नहीं हैं। देश-काल-परिच्छिन्न इस लीलाविभूतिमें ही और विशेषकर हमारी मतिमें ही यह भेद है। अस्तु, भगवत्पाद यह भी मानते हैं कि उसमें दिव्य सरोवर और वृक्ष भी हैं, जैसा श्रुति कहती है—

'तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम्।' (छा० ८।५।३)

कौषितकि ब्राह्मणोपनिषद्में भी ऐसा ही वर्णन है, यथा—

'······विरजानदी तिल्यो वृक्षः सायुज्यं संस्थानं अपराजितमायतनं···।'

अस्तु, यह एकपाद्विभूति, जिसे लीलाविभूति भी कहते हैं, त्रिपादसे सम्बद्ध है। सच्चिदानन्द वहाँ खुला हुआ है तो यहाँ छिपा हुआ है (अन्तर्यामी है), वही एक राम सर्वत्र रम रहा है

रमन्ते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण तेन रामेति भव्यते॥
(पद्म)

अतः अस्ति-भाति-प्रिय जो कुछ है, सो वही सच्चिदानन्द है। जैसे, वह एकमेवाद्वितीय है, वैसे ही उसका विज्ञान भी एक ही है। जैसे उसमें नानात्वका आभास होता है, वैसे ही उसके अद्वितीय विज्ञानमें भी यह जान रखना चाहिये कि परमार्थका ऐसा कोई केन्द्र है, जहाँ सब वाद शान्त हो जाते हैं, सभी रास्ते वहाँ मिल जाते हैं। इसलिये अपने-अपने रास्तेपर आगे बढ़ते जाना चाहिये। जब उस काष्ठापर पहुँचेंगे तब आप ही सब समस्याएँ हल हो जायँगी—एक अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक ज्ञान उत्पन्न होगा, जिसमें सभी परिच्छिन्न अल्प ज्ञान समा जायँगे और अन्तमें वह भी किसी स्वयंप्रकाशमें विलीन हो जायगा। श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें—'सहज-प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥' जबतक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तबतक अनुमान और तर्क पिण्ड नहीं छोड़ते। अतः ब्रह्मसाक्षात्कारके ही रास्तेपर चलना चाहिये। उसके पहले व्यर्थमें मत्था-पच्ची करनेसे कोई लाभ नहीं, जो कुछ कसर है, जो परिच्छिन्नता है, वह अपनेमें है। उसीके मिटानेका उपाय करना चाहिये।

सन्त-मतमें ही सामञ्जस्य है। वह आध्यात्मिक मर्मको समझता हुआ सबकी सङ्गति लगाता है, सबको यथास्थान ठीक मानता है। योगी जब अन्तर्जगत्में प्रवेश करता है और हृदयके देशमें चैतन्यके दर्शन करता है, तब उसकी संस्कृति, धारणा और भावनाके अनुसार दर्शन शब्द दो प्रकारसे चरितार्थ होता है—दृश्यरूपसे और ज्ञानरूपसे। ईश्वरका कोई रूप अथवा दृश्य उसे दीखता है और उसके तत्त्वका ज्ञान भी उसे प्राप्त होता है। यह निश्चित है कि जैसा भगवदीय रूप अथवा दृश्य उसे दिखायी देगा, उसी कोटिका उसे उसका ज्ञान भी प्राप्त होगा। इसी प्रकार सिद्धान्त स्थिर होते हैं और हुए हैं। सभी वादोंके प्रवर्तक और आचार्य महात्मा थे, सिद्ध योगी और भागवत थे। अपने-अपने अनुभवके अनुसार सबने सत्य कहा है। एक ही सत्य, एक ही शाश्वत तत्त्व पात्र-भेदसे सोपाधिक खं-कंकी तरह भिन्न-भिन्न आकारको प्राप्त होता है। वैचित्र्य तो रुचि और मतिमें है, सत्य तो एकरस है। यह निर्विवाद है कि जबतक कहीं भी भेदकी प्रतीति हो, तबतक मायाके क्षेत्रमें ही हैं और उससे प्रभावित हैं।

किसी-न-किसी प्रकार अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों ही एकब्रह्मवादके पक्षपाती हैं। अब मैं एक दृष्टान्तसे इसपर विचार करता हूँ। दूरपर एक वृक्ष है। दूरसे देखनेके कारण वह धूम-समूह-सा दीखता है। कुछ निकट गये, तो मालूम हुआ कि वह आमका पेड़ है। जब पास पहुँच गये, तब उसके शाखा-पत्र-फल सब स्पष्ट दिखायी दिये। सुदूरसे पर्वत भी बादल-से दिखायी देते हैं। मनुष्य भी दूरसे किसी अस्पष्ट आकार-सा प्रतीत होता है। निकटसे ही उसके अङ्ग-अवयव स्पष्ट दिखायी देते हैं। दूरके शब्द भी अस्पष्ट ही सुन पड़ते हैं, कुछ कल-कल-से जान पड़ते हैं। परन्तु वे कुछ शब्द हैं, यह अवश्य अवगत होता है। उनके अर्थके अज्ञानमें भी उनके शब्दत्वका निश्चय होता है। सम्भव है, इसी प्रकार सामान्य ज्ञान-दृष्टिसे स्वतः एकमेवाद्वितीय सर्वत्र परिपूर्ण निर्विशेष ब्रह्म लक्षित होता हो, और समीपसे उसके अङ्ग अथवा अपृथक्-सिद्ध विशेषण चेतन और प्रकृति भी दृष्टिगोचर होते हों। क्योंकि दृष्टि अथवा बुद्धिके दौर्बल्यसे ज्ञान व्याहत हो सकता है। शुद्ध प्रमासे ही प्रमेयका शुद्ध निश्चय होता है। मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है। दूसरा पैर आगे कहाँ पड़ेगा, इसका भी उसे पता नहीं। जितना पशु-पक्षियोंको भविष्यत्का, भवितव्यताका ज्ञान होता है, उतना भी उसे नहीं। प्राकृतिक विकारोंके क्षेत्रमें ही उसका जन्म-कर्म है, उसीमें वह पला है और उसीके वायुमण्डलमें श्वास लेता है। अतः उसमें भ्रम-प्रमादादिका होना स्वाभाविक है। बड़े-बड़े धीर-महापुरुषोंके अन्तःकरणोंमें क्षणमात्रमें विकार उत्पन्न हो जाता है और हो गया है। यह अनुभव-सिद्ध बात है। 'मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही'। 'मुनि विज्ञान-धाम-मन करहिं निमिष महँ छोभ।' यहीं जीव और ईशका भेद स्पष्ट हो जाता है, अल्पज्ञ और सर्वज्ञका स्वरूप खुल जाता है। परीक्षाके समय ही गुणीका गुण मालूम होता है। अस्तु, अखण्डैकरसव्यापक ज्ञान और सर्वशक्तिमत्ता, ये गुण ईश्वरमें ही सिद्ध हैं।

जो सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर-जीवहिं भेद कहहु कस॥

सर्वज्ञता और सनातन समता अथवा पूर्णता उस विभुके विशेष गुण हैं। उसीके चिन्तन और उसमें निष्ठा करनेसे जीव भी तद्रूप और ब्रह्मभूत हो जाता है। उससे एकीभूत होकर उसके दिव्य लक्षणको प्राप्त होता है, भेद और परिच्छेद मिट जाता है। क्योंकि आत्मा तो एक ही है और वह व्यापक है। भेद और परिच्छेद माया अथवा प्रकृतिमें है। भेद सत्य और नित्य नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों भागवत भगवद्भावको प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें भगवदीय कल्याणगुणोंका आविर्भाव होता जाता है। भेद-खेद मिटता जाता है और समता तथा सर्वज्ञता आती जाती है। यह अनुभवसिद्ध है, सन्तोंके चरितोंसे स्पष्ट है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

बिना उस अभेद एवं अद्वैत भगवत्के यह मायिक भेद नहीं मिटता। अतएव सब प्रकार भगवान्का ही आश्रयण करना श्रेयस्कर है। भेद-अभेदके झगड़ेसे भेद कैसे मिटेगा। वह तो और बढ़ेगा ही।

जीव और ईश्वरमें वस्तुतः (तत्त्वतः) भेद नहीं। परन्तु इस ज्ञानकी अभिमानिनी सर्वज्ञ प्रज्ञा या समष्टि बुद्धि

ही हो सकती है, परिच्छिन्न मोह-ममतासक्त मति नहीं। यह अभेदज्ञान साहङ्कार अतएव सभेद अन्तःकरणमें उतरते ही और वाणीका विषय होते ही दूषित और विकृत हो जाता है। निरहङ्कार, निरावरण अथवा अपरिच्छिन्न अशेष-व्यर्थ-संस्कार-विनिर्मुक्त, देहाध्यासशून्य, दिक्कालादिभाव-वर्जित एवं भगवद्भिन्न-व्यष्टि-बुद्धिरहित, ईश्वरीय सङ्कल्पसे निर्मित अतएव किसी व्यापक अन्तःकरणमें ही वह ठीक उतर सकता है। तब भी सर्वकालमें उसकी बाहर-भीतर अविकृत संस्थिति संदिग्ध ही है—

सच तुम्हारी बात है इसमें न शक।
पर तुम्हारे कहते ही होती गलत॥
मिलना मेरा उनका अजब झगड़ेमें है।
वह अगर तो मैं नहीं, गर मैं रहा तो वह नहीं॥

लोकमें बुद्धिसे बाह्य (परे) जो कुछ कहा जाता है, वह प्रलाप कहलाता है, लेकिन परमार्थमें वह सत्य माना जाता है और आदरणीय होता है।

जनूने को कि अज़ कैदे ख़िरद बेरूँ कशम पारा।
कुनद ज़ंजीर पाए ख़्वेश्तन दामाने सहरा रा॥*
—गनी

जीवके स्वभावतः अणु होनेसे उसे प्रायः एक कालमें एक ही अवस्थाका ज्ञान होता है तथा सहज विभु और स्वयं सर्वज्ञ होनेसे ईश्वरको युगपत्कालमें चारों अवस्थाओंका ज्ञान रहता है। यही जीवत्व और ईश्वरत्वकी मार्मिक विशेषता है। तुरीय अथवा तुरीयातीत अवस्थामें प्राप्त होनेपर या समाधिमें स्थित होनेपर जगत्का सम्पूर्ण भान मिट जाता है। जाग्रत्में प्राप्त होनेपर स्वप्न नहीं रह जाता। सुषुप्तिमें तो जाग्रत्-स्वप्न, दोनोंका तिरोभाव हो जाता है, उस प्रगाढ निद्रामें सब कुछ भूल जाता है। परन्तु ईश्वरको, उस अन्तर्यामीको एक ही कालमें चारों अवस्थाओंमें प्राप्त अखिल जीवलोकका एक साथ ही ज्ञान बना रहता है। कौन जीव किस अवस्थामें है, उसे क्या दुःख-सुख है, यह वह अन्तर्यामी, वह हृदयदेशवासी हृदयेश जानता रहता है। यदि जगत् स्वरूपतः असत्य होता, बिल्कुल कुछ नहीं होता, तो ईश्वरके अवतारका प्रयोजन ही क्या रह जाता? उसका जगतपतित्व भी कैसे रहता? जब वह दुःखियोंकी पुकार सुनता है और उनका दुःख देखकर द्रवीभूत होता है और करुणापरवश हो दौड़कर उनकी रक्षा करता है, (जब ऐसा होता है) तब, जगत् अवश्य कुछ है। उन दुखियोंका दुःख भी कुछ है। जितनी दशाएँ हैं वे सब अपनी क्षणिक सत्ता रखती हैं। और अवस्थान्तरमें प्राप्त होनेपर पूर्वावस्थाका सम्यक् अनुभव नहीं होता। उसका यत्किञ्चित् आभासभर रहता है। तुरीयावस्थामें जगत्का लोप हो जाता है, अद्वैत ब्रह्मवादका वही परीक्ष्य स्थान है। वहाँ द्वैतको लिये हुए जगत् और जीव अगाध ब्रह्मपयोनिधिमें विलीन हो जाते हैं। परन्तु यह एक अवस्थाविशेष है। यद्यपि तुरीयावस्थाके सम्बन्धमें उपर्युक्त क्षणिक सत्तावाली नीति संलग्न नहीं है, क्योंकि उसका क्षेत्र आत्मा है और इतर दशाओंका मन, तथापि देशकालपरिच्छिन्न होनेसे भोक्ता (मनुष्य) को उसका तारतम्य होगा ही। इसी प्रकार जाग्रत् भी एक अवस्था है, जो द्वैत अथवा द्वैताभासका क्षेत्र है (द्वन्द्व-प्रधान है)। जीवत्वके स्वतः अणुत्व सिद्ध होनेसे उसमें एक कालमें, एक ही दशाका यथार्थ ज्ञान अथवा अनुभव होता है। जाग्रदभिमानिनी बुद्धि अद्वैत स्थितिका ग्रहण नहीं करती और तुर्यापन्ना द्वन्द्वमूलक प्रपञ्चका। परन्तु ईश्वर सहज विभु होनेसे युगपत्कालमें सर्वावस्थाका ज्ञान रखता है। वह पूर्ण है। अब इसे अधिक स्पष्ट करें। श्रीभगवान् रामचन्द्रजी लङ्कासे लौटनेपर एक ही क्षणमें लाखों अयोध्यावासियोंसे पृथक्-पृथक् मिले और सबको यही अनुभव हुआ कि वे इस समय हमींसे मिल रहे हैं—

छनमहँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥

चित्रकूटमें भी उनसे ऐसे ही मिले थे—

सानुज मिलि पलमहँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुष दारुन दाहू॥

कवि कहते हैं—

यह बड़ि बात रामकी नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥

---

* वह मस्ती जो बुद्धिकी क़ैदसे अपने पैर खींचकर जङ्गलरूप जंजीरमें बाँध देती है, अर्थात् वह प्रेमोन्माद जिससे सुध विभोर होकर मैं निर्जन प्रान्तरों और वन-प्रान्तोंमें फिरा करता हूँ।

सर्वव्यापकताके साथ उस परंब्रह्म पुरुषोत्तमकी इससे अपूर्व करुणा और सहृदयता भी प्रकट होती है। द्वारकामें देवर्षि नारदजीने देखा कि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी एक ही समयमें, सोलह हज़ार एक सौ आठ महारानियोंके महलोंमें हैं। अपनी ज्ञान-वृत्तिको पूर्ण सफलतापूर्वक स्वस्थिर रखता हुआ और अपने प्रत्येक रूप और लीलाका अनुभव करता हुआ केवल ईश्वर ही एक कालमें अनेक देशोंमें रमण कर सकता है। कोई-कोई उत्कृष्ट योगी भी किसी अंशमें ऐसा कर सकते हैं। पर, वह भी उसके आश्रयसे ही और अपनी अल्पताकी सीमामें ही। अतः सहज विभु और पूर्ण ब्रह्म वही एक है, वही अच्युत है। और सभी च्युत और अज्ञानमोहित हो सकते हैं और होते हैं। जबतक अल्प अनल्पमें निविष्ट और निष्ठ रहता है, तभीतक अनल्पत्वका उपभोग कर सकता है, उसके कल्याणगुणों और शक्तियोंसे एक हद्दतक युक्त रह सकता है। 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' का यही तात्पर्य है। वास्तवमें शक्तिविशिष्ट ब्रह्म ही परंब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, भगवत् और ईश्वर कहलाता है। भगवद्रहस्यके एकान्त मार्मिक और परमार्थतत्त्वके विशिष्ट विशेषज्ञ श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीतासहित न बेष घनेरे॥

राम तो बहुत देखे, परन्तु सीतासहित एक ही। आत्माराम अनेक हैं, पर परमात्मा राम केवल एक सीतापति ही।

(२)

एक ही विज्ञान है जिससे सब विज्ञान सिद्ध हैं, एक ही परम तत्त्व है, जो सम्पूर्ण तत्त्वोंका मूल है, और कोई एक स्वतःसिद्ध सिद्धान्त तथा निर्विवाद वाद है, जो सब सिद्धान्तों और वादोंका सामञ्जस्य और पर्यवसितार्थ है। वह विज्ञान—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

है—जो कुछ भी है कहीं, (पर और अवरमें) वह ईश्वर ही है, सच्चिदानन्द ही वह परम तत्त्व है और प्रणव-मौलिमणि रेफ-बिन्दु अथवा नाद-बिन्दु ही समस्त वादों और सिद्धान्तोंका जनक है। वह स्वयंसिद्ध नाद ही वेदका जीवन है, श्रीगोस्वामिपादके शब्दोंमें—

बिधि-हरि-हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥
महामन्त्र जो जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम-प्रभाऊ॥

सब वर्णोंके शीर्षस्थानपर सुशोभित होनेवाले वे 'छत्र-मुकुटमनि' शुद्ध दिव्य, नित्यनव्य, निर्गुण और निखिल कल्याणगुणोंसे परिपूर्ण सब कुछ हैं। वे श्रीहरिके समस्त नाम ('सहस्रनामतत्तुल्य') और सब रूप हैं। सब मन्त्र हैं। सब महावाक्य और श्रुति-समूह हैं। वे ऐसे अद्भुत भाव हैं जो सब भाव हैं और ऐसे अर्थ हैं कि सम्पूर्ण अर्थ हैं एवं शब्द-समूह हैं। वे शब्दब्रह्म, जगद्ब्रह्म और परंब्रह्म हैं। निज-निज संस्कृति, प्रकृति, प्रवृत्ति और धारणाके अनुसार अन्तःप्रविष्ट ब्रह्मनिष्ठोंको वे भिन्न-भिन्न प्रकारसे श्रुतिगोचर होते हैं। वह 'अल्लाः' और 'ला-इलाहे-इल्लिल्लाः' भी है। महात्मा जलालुद्दीन (वसाली) जो एक पहुँचे हुए मस्त फ़कीर हुए हैं, अपनी 'मामुकीमाँ' में कहते हैं—'मींरसद ईंतराना अज़ हर सू। नग़मए ला-इलाहे-इल्लाहू॥' उन्हें चारों ओर यही सुनायी देता था। क्योंकि अन्तरमें सुनते-सुनते जो ध्वनि कानोंमें भर जाती है और जो छवि नयनोंमें बस जाती है, मस्तीमें चारों ओर वही सुनायी और दिखायी देती है। यह जगत् उनकी दृष्टिमें कुछ और ही हो जाता है। मनसूरको वही ध्वनि सोऽहमस्मि-बोधक 'अनलहक़' सुन पड़ी थी। बेदिल तो राम-नामके अनुरागमें बुलबुल होकर उसका राग गाते हुए अखिल दिलरूपी गुञ्चोंको खिला रहे हैं—

बइश्के राम चूँ बुलबुल सराएम।
सरापा गुञ्चए दिलहा कुशाएम॥

बात यह है कि वह शुद्ध दिव्यनाद सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरावरण एवं सहज अपरिच्छिन्न है और स्वयं सच्चिदानन्द-तत्त्व है। वह कुछ ऐसा विलक्षण लक्षण है कि सब कुछ है और वस्तुतस्तु है। भगवान् शङ्कर (जिन्हें रेफ-बिन्दुमय राम-नाम सहज सिद्ध है) के डमरू-निनादमें सनकादिको ब्रह्म-तत्त्वका अनुभव हुआ, उसीमें गौतमको न्यायके द्रव्य-गुणका और पाणिनिको चतुर्दश अणादि माहेश्वर व्याकरण-सूत्रोंका—

नृत्तावसाने नटराजराजो
ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धा-
नेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

जो ऋषि जिस प्रवृत्तिके थे उन्हें उसीके अनुसार वह डमरू-नाद सुन पड़ा और तत्त्व अवगत हुआ। और सबको ठीक अवगत हुआ। दिव्यनाद ऐसा ही होता है। वह ठीक-ठीक सब कुछ है। और सबका मूलोद्गम है। सभी वादरूप वाद्य उसी दिव्यातिदिव्य नादके स्वर (षड्जादि) अपनी-अपनी बोलमें बोल रहे हैं और अपनी-अपनी गतिपर चल रहे हैं।

असलमें भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके उनके निजी पारिभाषिक शब्दोंके कारण विशेषतः विवाद उत्पन्न होता है। यदि उनके तात्पर्यको हृदयङ्गमित करके उनका सामञ्जस्य कर दिया जाय, सद्भावसे उनकी सङ्गति लगा दी जाय, तो विवादके लिये अवकाश ही न रहे। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब एक दूसरेके आशयके समझनेकी चेष्टा करे। यदि अहङ्कार-ममकार तथा द्वेष और दुराग्रहसे प्रेरित होंगे तो फिर कहाँ वैसा हो सकता है ? नास्तिकोंसे टक्कर लेनेके लिये जबसे वेदान्तमें न्यायांशकी प्रबलता हुई, तबसे वेदान्तकी आध्यात्मिकता, उसकी ब्रह्मविद्यावाली विशेषता लुप्त हो गयी। जिससे समाधान एवं शान्ति और समता प्राप्त होती थी, वही आये दिन, अभिमान और कलह-विग्रहका साधन बन गया है।

अद्वैतवादके जगन्मिथ्यात्वका यह तात्पर्य नहीं कि यह प्रत्यक्ष जगत् कुछ हई नहीं या कभी हुआ ही नहीं (क्योंकि श्रुतियोंमें सर्गके उपक्रमका स्पष्ट वर्णन है) किन्तु उसका आशय यह कि ब्रह्मानुभवकी एक स्थितिविशेष ऐसी होती है जिसमें जगत्का लोप हो जाता है, यह दृश्य अदृश्य हो जाता है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' वाक्य सार्थक होता है। भगवान् शङ्कर श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥

एक दशामें और एक दिशामें जिसका अनुभव होता है और जो दिखायी देता है, वह अपने तौरपर अपने ठौर सत्य होते हुए भी दशान्तर और दिशान्तरमें नहीं दिखायी दे सकता। मूर्च्छा और प्रगाढ निद्रामें भी कुछ नहीं दिखायी देता (क्योंकि उस समय चेतना निस्तब्ध और मोहावृत हो जाती है)। निविड अन्धकारमें सब कुछ होते हुए भी नहीं दिखायी देता (ज्ञानोपकरणके व्याहत हो जानेसे)। उसी प्रकार, दिवसमें प्रकाशोत्कर्षके कारण नक्षत्र भी नहीं दीखते। यह अपनी-अपनी दृष्टि और दशाकी अवच्छेदकता एवं विलक्षणतापर अवलम्बित है। दृष्टिके तारतम्यसे दृश्यका तारतम्य हो सकता है। जाग्रत् जाग्रत् ही रहेगा और स्वप्न स्वप्न ही। अतः मिथ्यात्वका तात्पर्य अनित्यत्वसे है। जगत् अनित्य है, परिवर्तनशील है, अतः वह शाश्वत तत्त्व नहीं, सद्वस्तु नहीं। नित्य एकरस रहनेवाली वस्तुको ही सत्य कहते हैं, जगत् ऐसा नहीं है, उसका लय विकास होता रहता है। इसलिये सत्यका विरुद्ध धर्मा होनेसे अनात्म, अशाश्वत और मिथ्या है (वृथा है)। ब्रह्मके अखण्ड व्यापक एकमेवाद्वितीय होनेसे भेदके लिये अवकाश नहीं। अतएव वह भी मुधा एवं मायिक है। माया-का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। क्योंकि वह व्यापक अतएव बृहत् ब्रह्मकी शक्ति है, ('बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते—' विष्णुपुराण)। वह दो प्रकारकी है, (१) विद्या और (२) अविद्या। विशिष्टाद्वैतकी परिभाषामें इन्हें चिद् और अचिद् कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें चिद् और अचिद् माया-शक्तिके अन्तर्गत उसके अभिन्न गुण और धर्मरूपसे हैं। चिदाकार होकर वही विद्या कहलाती है और अचिदाकार होकर वही अविद्या। चिदाकार विद्या ज्ञानरूपा और अचिदाकार मोहरूपा। चिद् विद्या-मायाकी विभूति है और अचिद् अविद्या-मायाकी। माया दोनों ही हैं, अथवा दोनों रूप उसीके हैं। रजनी दोनों हैं, एक तामिस्रा है, तो एक ज्योत्स्नी। विद्या ज्ञानाकार होनेसे अभेद और मोक्षका कारण है और अविद्या अज्ञानाकार होनेसे भेद और बन्धनका। इस प्रकार उस अचिन्त्य माया-शक्तिकी दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं, वह प्रकृति दो प्रकारकी है। ये ज्ञानाज्ञान और बन्ध-मोक्ष उसी महामायाके विलास हैं। अतः जीव हरहर उसी माताकी गोदमें है। अविद्या-मायाके फंदेसे बचनेके लिये सहजसिद्ध-

जन्य-संस्कारसे प्रेरित होकर करुणापूर्वक उस माता, उस जगज्जननीको स्मरण करने और टेरनेके अतिरिक्त तो कोई सरल साधन नहीं दिखायी देता । वही अपनी गोदमें लेकर परमपिता पुरुषोत्तम भगवान्‌के चरणोंमें डाल दे । अस्तु ।

यही चिद्रूपा विद्या माया ब्रह्माकार और ब्रह्माभिन्न है । इसकी द्विधा स्थितियाँ हैं—निष्पन्द और सस्पन्द । निष्पन्द स्थिति ब्रह्मरूप है तथा सस्पन्द जगदाकार । उभय स्थितियाँ पुरुषोत्तमकी महिमाकी छटाएँ हैं । इसी निष्पन्द ब्रह्मात्मिका स्थितिको भगवद्गीता कूटस्थ अक्षर ब्रह्म कहती है । इनके परे और इन्हें पार करके (अतिक्रमण करके) इनका आधार और आश्रय तथा विषय परब्रह्म-परमात्म-संज्ञक परम चेतन पुरुषोत्तम या उत्तम पुरुष है । वेदान्त-शास्त्रोंमें कहीं आत्माशब्द जीवात्माके लिये और कहीं परमात्माके लिये प्रयुक्त हुआ है और कहीं ब्रह्म अक्षरब्रह्मके लिये और कहीं परंब्रह्मके लिये । इसी प्रकार पुरुष भी कहीं आत्मा और कहीं परम पुरुष परमात्माके लिये व्यवहृत हुआ है । 'द्वाविमौ पुरुषौ' का यही तात्पर्य जान पड़ता है कि चैतन्यकी दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं—सक्रिय और निष्क्रिय । सक्रिय क्षर जगदाकार (भूतग्राम) और निष्क्रिय कूटस्थ अक्षर जगद्व्यापार-शून्य । पुरुषोत्तम अथवा उत्तम पुरुषकी प्रकृति-शक्तिकी ये सक्रिय और निष्क्रिय दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं । उत्तम पुरुष, पुरुषोत्तम, भगवत्, ईश्वर, परमात्मा, परंब्रह्म और वासुदेव एक ही परम चेतन तत्त्व सच्चिदानन्द रामके बोधक हैं (चिद्, अग्निबीज र, आनन्द, चन्द्रबीज म और सद्, भानुबीज अकार) । *

जीव ब्रह्म है अथवा ब्रह्मांश है, इन वाक्योंमें कोई विशेष अन्तर नहीं । ये उसी प्रकारके वाक्य हैं, जैसे दो घनिष्ठ प्रेमी मित्रोंके सम्बन्धमें कहा जाता है कि ये दोनों तो एक ही हैं अथवा एक प्रेमी अपने दूसरे अनन्य प्रेमीसे कहता है कि हम तुम तो एक ही हैं अथवा कोई दूसरा उनके प्रेमको लक्ष्य करके कहता है, इन्हें तो उन्हें ही समझो अर्थात् जो वह हैं, वही यह हैं । इन सबका यही तात्पर्य कि प्रेमपूर्वक उन दोनोंमें इतनी घनिष्ठ आत्मीयता अतएव एकता है कि उनमें भेद ही नहीं । इसी प्रकार जीव और ईश्वरका सम्बन्ध है । श्रुति भगवती भी ऐसा ही कहती है, यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(मु०)

ये दोनों जीव और ईश्वर सयुज सखा हैं, एक ही संसाररूप पिप्पल वृक्षपर दोनों आसीन हैं । परन्तु उनमेंसे एक उसके स्वादका उपभोग करता है और दूसरा बिना खाये ही सन्तुष्ट और प्रसन्न है । यही उन दोनों सहज सखाओंमें अन्तर है कि एक तो अर्थात् जीव संसारासक्त है और दूसरा ईश्वर निर्लिप्त । अतिशयोक्ति अलङ्कारसे श्रुतिने इस प्रकार, उपमेय जीव-ईश्वरके सम्बन्धका वर्णन किया है । अतः दोनों सच्चिदानन्दत्वेन समलक्षण हैं, तत्त्वतः एक हैं । स्वरूपतः इतना अन्तर है कि जीव मायाधीन है और ईश्वराधीन माया है, वह मायाधीश है । जीवको जो ईश्वर या ब्रह्म कहा गया है, वह औपचारिक सत्य है, उसी प्रकार, जिस प्रकार श्रेष्ठ महात्माओंके लिये भगवान् शब्दका प्रयोग किया जाता है और राजाको ईश्वर कहा जाता है । जीव स्वतः ईश्वर नहीं है, किन्तु ईश्वरसे अपने शुद्धस्वरूपमें अभिन्न एवं समलिङ्ग होनेके कारण, उसीका और उसी-जैसा होनेके कारण परतः (तत्सम्बन्धसे) ईश्वर कहा जा सकता है । जैसा पहले कहा जा चुका है कि ईश्वरकी प्रकृति शक्तिरूपा और गुण-सत्त्वसे अथवा अपृथक्सिद्ध विशेषण-रूपसे चिद् और अचिद्रूपा भी है । चिदंशसे जीवरूप निष्पन्न होता है और अचिदंशसे शरीर प्रस्तुत होता है । अचिदंशकी अधिष्ठात्री शक्ति, उस अंशविशेषकी नियामिका अविद्या भेद करती है और चिदंशकी अधिष्ठात्री अथवा नियामिकाशक्ति विद्या अभेद, (बन्धनरूप भेद-ग्रन्थि खोलती है) । वही माया-शक्ति भगवती पर और अपरमें अनेक रूपोंमें खेल रही है, वह ईश्वरी है, ईश्वरकी महिमा है—

---

* चिद्वाचको रकारः स्यात् सद्वाच्याकार उच्यते ।
मकार आनन्दवाची स्यात् सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥
—महारामायणे

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥' जगत्की रचनामें चिद् और अचिद् दोनोंके भाग हैं और ईश्वर उनका अन्तर्यामी तथा नियामक। ईश्वरकी वही शक्ति जो उससे अभिन्न है जगद्रचनामें हेतु है, चिदचिद् उत्तम सामग्रियोंसे वह उसकी रचना करती है। अतः परिणाम प्रकृतिहीमें होता है, राम तो अपरिणाम ही हैं। अद्भुत कौशलके कारण यही शक्ति माया कहलाती है, प्रक्रिया अर्थात् सङ्घटन या रचनाकी प्रकर्षताके कारण प्रकृति। अब, यह कहना सरल हो गया कि अपनी प्रकृतिका विकास करके और उसमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होकर ईश्वर ही जगदाकार हुआ। श्रुतिका भी यही तात्पर्य है—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' (ईश०)। श्रीगोस्वामीजीका भी यही मत है—'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।' अतः सबका पर्यवसान इसीमें होता है कि जो कुछ भी है, सब ईश्वर ही है, सब उसीका खेल है, अपने खेलनेहीके लिये क्रीडाशील प्रकृतिके उस श्यामसुन्दर रामने* अपनी शक्तिका विकास किया है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इस ब्रह्मसूत्रका भी यही आशय है। अतः प्रस्थानत्रयसम्मत यह सिद्धान्त जान पड़ता है। सावधानता और सद्भावनापूर्वक करनेसे इसमें अन्य सिद्धान्तोंका भी सामञ्जस्य हो सकता है। भाषाएँ और परिभाषाएँ अनेक हैं और सत्य एक। वादका संवाद वर है और विवाद अभिशाप। जो ज्ञानका ज्ञेय है, वही प्रेमका ध्येय। एकमें सच्चिद् द्वैत है, एकमें चिदानन्दाद्वैत।

उपसंहार

उस अनन्त आकाशमें अपनी शक्तिभर सब उड़ते हैं, परन्तु उसका अन्त नहीं पाते, उस अपार पारावारमें सब तैरते हैं, पर उसका पार नहीं पाते, उसमें बड़े-बड़े डुब्बी मार डूबे, लेकिन उसके तलस्थलका पता न लगा। जो जितना डूबा और जिसे जो रत्न हाथ लगे, वह उन्हें लेकर निकल आया और हाटमें लाया। उस ज्योतिर्लिङ्ग शिवको किसने पाया और उस वरुणको किसने देखा, यह कौन कहे! पर वह खं-कं-पति स्वयं जो कहता है, वह तो यह है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतप॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता)

हमारे 'कविर्मनीषी' श्रीगोस्वामिपाद कहते हैं कि उस कं-पतिने अपने चुने-चुने रत्न डाल दिये, पर उस अलौकिक काकने एक भी नहीं चुगा। उसने तो उस रसाकार रत्नाकरको ही माँगा। फिर तो, वह भक्तभावन रीझकर उसका हो गया, जैसा कि श्रुति भगवती कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

उस भावमय भावुक भक्तभावनने कहा—

सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नाहिं कोउ जग तोहिंसम बड़भागी॥

तथा—

मायासम्भव भरम सब अब नाहिं व्यापिहिं तोहिं।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहिं॥

अब, मानसकारके निम्नस्थ वचनोंके साथ अपने परितोष और प्रबोधके प्रयासरूप मैं इस प्रवचनका पर्यवसान करूँगा—

महिमा नाम-रूप-गुनगाथा। सकल अमित अनन्त रघुनाथा॥
निज-निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। निगम-संत-सिव पार न पावहिं॥
यहि भाँति निज-निज मति-विलास मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भाव-ग्राहक अति कृपालु सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥
अस बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क-संसय सकल।
भजिय राम रघुबीर, करुनाकर सुन्दर सुखद॥

इतना और कह देना चाहता हूँ—'समुझि न परइ झूठ का साँचा।' उसका रहस्य वही जाने। हमें तो उसके चरणोंसे प्रयोजन।

* * *

---

* 'रमु' धातुसे सिद्ध राम शब्दका अर्थ रमणीय अथवा सुन्दर और क्रीडाशील दोनों होता है।

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें यह कहना अयुक्त न होगा कि इस संसारमें उनका जीवन महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिर आदर्श थे। अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मका पालन करनेके विषयमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला एक अलौकिक पथप्रदर्शक है। वे सद्गुण और सदाचारके भण्डार थे। जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिप्लावित हो जाता था। वे अपनेसे बैर करनेवाले व्यक्तियोंसे भी दयापूर्ण प्रेमका व्यवहार करते थे, इसलिये उनको लोग अजातशत्रु कहा करते थे। क्षात्रधर्ममें उनकी इतनी दृढ़ता थी कि प्राण भले ही चले जायँ परन्तु उन्हें युद्धसे मुँह मोड़ना कभी नहीं आता था—इसी कारण वे 'युधिष्ठिर' नामसे प्रसिद्ध थे। उनके जैसा धर्मपालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है। उनमें प्रायः ऐसी कोई भी बात नहीं थी जो हमारे लिये शिक्षाप्रद न हो। एक जुआ खेलनेको छोड़कर उनमें और कोई भी दुर्व्यसन नहीं था। वह भी बहुत कम मात्रामें था। ऐसे तो बड़े-से-बड़े धार्मिक पुरुषोंके जीवनकी सूक्ष्म आलोचना करनेपर ऐसी कई बातें प्रतीत हो सकती हैं जो अनुकरणके योग्य न हों, किन्तु महाराज युधिष्ठिरकी तो सभी बातें अनुकरणीय हैं। गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छलयुक्त मिथ्या भाषण किया था, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप किया करते थे। घरमें उनका बर्ताव इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। ब्राह्मण और साधुसमाज तो उनके विनम्र एवं मधुर स्वभावको देखकर सदा ही उनपर मुग्ध रहा करता था। तात्पर्य यह है कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी और क्षमाशील धर्मात्मा थे। कल्याणके पाठक महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जाता है। मेरा विश्वास है कि महाराज युधिष्ठिरके गुण और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरता

एक समयकी बात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको सन्ताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया जहाँपर पाण्डव निवास करते थे। दुर्योधनका उद्देश्य बुरा तो था ही, देवराज इन्द्र उसकी इस बातको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'जल्दीसे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ।' देवराजकी यह आज्ञा पाकर वह गन्धर्व बात-की-बातमें दुर्योधनके पास पहुँचा और युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले गया। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरन्त महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा और वहाँपर उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया और उसने दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। इतना सुनकर महाराज युधिष्ठिर कब चुप रहनेवाले थे? वे तुरन्त दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुल-

वालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ ! जरा भी विलम्ब मत करो; देखो दुर्योधनको एक गन्धर्व कैद करके लिये जा रहा है ! उसे तुरन्त छुड़ाओ।'* महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—'मेरे वीरश्रेष्ठ बन्धुओ ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है ! शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है ! जिन पुण्यकर्मोंके द्वारा वरप्राप्ति, राज्यप्राप्ति और पुत्रप्राप्ति हो सकती है, उन सबके माहात्म्य एक साथ मिलकर शत्रुरक्षाके अकेले माहात्म्यके बराबर हैं। मैंने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस बंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब विवशता है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो, जाओ—जल्दी जाओ; हे कुरुनन्दन भीमसेन ! यदि वह गन्धर्वराज समझानेसे न माने तो तुम लोग अपना प्रबल पराक्रम दिखलाकर किसी तरह अपने भाई दुर्योधनको उसकी कैदसे छुड़ाओ !' इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन आदि चारों भाइयोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। उन लोगोंके अधर और भुजदण्ड एक साथ फड़क उठे। उन सबकी ओरसे महावीर अर्जुनने कहा—'महाराज ! आपकी जो आज्ञा ! यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है; नहीं तो यह पृथ्वी माता गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी।' अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली। इधर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजके आज्ञानुसार दुर्योधनको यों ही मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने इनकी एक न सुनी। तब लाचार होकर अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् परास्त चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको कैद करनेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मण लोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे!

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना ! निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण ! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर क्रोधको छायाका भी स्पर्श नहीं हुआ। इतना ही नहीं, उसके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं गयी। बल्कि उनका हृदय उलटे दयासे भर गया। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यहींतक नहीं, उनकी इस क्रियासे दुर्योधन दुखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनोंसे उसको आश्वासन भी दिया ! मित्रोंको तो बात ही क्या, दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमारा क्या कर्तव्य है, इसकी शिक्षा स्पष्टरूपसे हमें धर्मराज युधिष्ठिर दे रहे हैं।

धैर्य

यह बात तो संसारमें प्रसिद्ध ही है कि दुर्योधनने कर्णकी सम्मतिसे शकुनिके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको छलसे जूएमें हराकर दावँपर रक्खी हुई द्रौपदीको जीत लिया था। उसके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासनने द्रौपदीको केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपनी लाज बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी। सारी सभा द्रौपदीके व्याकुलतासे भरे हुए करुणापूर्ण रुदनको देखकर दुखी हो रही थी। किन्तु दुर्योधनके भयसे विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस घृणित कुकर्मका विरोधतक नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजखला

---

* शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थे च कुलस्य च।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥
(वन० २४३। ६-७)

थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दुःशासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर उसे नंगी कर देना चाहा। कर्ण नाना प्रकारके दुर्वचनोंद्वारा द्रौपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जाँघ दिखलाकर उसपर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हद ही कर दी! वस्तुतः भारतकी एक सती अबलाके प्रति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी! अब भीमसेनसे नहीं रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फड़क उठे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किन्तु धर्मराजकी आज्ञा और संकेतके बिना उनसे कुछ भी करते न बना। अर्जुन, नकुल, सहदेव भी आँखोंसे अंगारे बरसाकर होठ चबाते ही रह गये। परन्तु धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे। द्रौपदी चीख उठी, उसने अपनी रक्षाके लिये आँखोंमें आँसू भरकर सारी सभासे अनुरोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमें उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके लिये पुकारा और आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी। हमें यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है। वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमें वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता, परन्तु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप क्या हो सकता है, इसको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया! धन्य हैं अपूर्व धैर्यवान् युधिष्ठिरजी महाराज!

अक्रोध, क्षमा

महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे। महाभारतके वनपर्वमें* एक कथा आती है कि द्रौपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमें क्रोधका सञ्चार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की। उसने महाराजसे कहा—'नाथ! मैं राजा द्रुपदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ; मुझको जंगलोंमें मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दुःखसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमें जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है। परन्तु देव! जिस मनुष्यमें तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने योग्य ही नहीं है। जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध करके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है; परन्तु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो, उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है। अतः स्वामी! जान-बूझकर नित्य ही अनेकों अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके पात्र नहीं, बल्कि क्रोधके पात्र हैं। इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये।'

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी, तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है वह अपनेको और उसको दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है।* अतः हे द्रौपदी! धीर पुरुषोंद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ?† क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है। वह अपने गुरुजनोंका नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितकको मार डालती है। क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वह जो चाहे सो अनर्थ बात-की-बातमें कर डालता है। उसे वाच्य-

---

* वनपर्वमें २७, २८, २९ अध्याय देखिये।

* आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥
(वन० २९। ९)

† तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्।
एतद् द्रौपदि सन्धाय न मे मन्युः प्रवर्धते॥
(वन० २९। ८)

अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता *, वह जो मनमें आता है वही बकने लगता है । अतः तुम्हीं बतलाओ, महा अनर्थोंके मूलकारण क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ ? द्रौपदी ! क्रोधको तेज मानना मूर्खता है । वास्तवमें जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता । ज्ञानियोंका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमें क्रोध होता हो नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है, उसीको तेजस्वी कहते हैं । न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है । सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातन लोकको प्राप्त होता है । महामुनि कश्यपने तो कहा है कि क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है । इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है ।† क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य सब कुछ है । इस चराचर जगत्को भी क्षमाने ही धारण कर रक्खा है ।‡ तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा हो है ।§ जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ ।× तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, कर्मियोंको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है । जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये होते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये !* हे द्रौपदो ! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर ।'

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोधके ज्वलन्त उदाहरण हैं ! तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण और किसीमें प्रायः ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता।

सत्य

महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे, यह शास्त्र तथा लोक दोनोंमें ही प्रसिद्ध है । भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके कष्टोंकी ओर ध्यान दिलाकर जूएमें हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की ।† इसपर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'भीमसेन ! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता और प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप धर्मको मानता हूँ । तू मेरी प्रतिज्ञाको सच मान ।‡ कुरुवंशियोंके सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे मैं जरा भी विचलित नहीं हो सकता । तू बीज बोकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर ।' भीमसेनने फिर प्रार्थना की—'महाराज, हमलोग तेरह महीनेतक तो वनवास कर ही चुके हैं, वेदकी आज्ञानुसार आप इसीको

---

* वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥
(वन० २९ । ५)

† क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥

‡ क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥

§ क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥

× तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥

* क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(वन० २९ । ३६, ३७, ४०, ४१, ४२)

† महाभारत वनपर्वके अ० ३३-३४ में यह प्रसंग है।

‡ मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥
(वन० ३४ । २२)

तेरह वर्ष क्यों न समझ लें ?'[*] किन्तु धर्मराजने इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना समझा और उसे स्वीकार नहीं किया । वे अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे ।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे । सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर उठकर चला करता था । सत्यपालनका इतना माहात्म्य है ! महाभारतमें तो एक जगह कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेधयज्ञोंके फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये तो उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध हुआ ।[†]

परन्तु कहाँ सत्यके आदर्शस्वरूप महाराज युधिष्ठिर और कहाँ प्रायः पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका साधारण जनसमुदाय !

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता

एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिणका रूप धारण किया । वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (वह यन्त्र जिससे अग्नि प्रकट किया जाता है) को अपने सींगोंमें उलझाकर जंगलमें चले गये । ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही । ब्राह्मणने धर्मराजसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढुँढ़वाकर उसे दे दें ताकि अग्निहोत्रका काम बंद न हो । यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये । किन्तु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये । कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमें निकले । वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये परन्तु ज्यों ही उन्होंने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाशवाणी हुई—'माद्रीपुत्र नकुल ! यह स्थान मेरा है । मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता । इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर स्वयं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ ।' किन्तु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन हो रहे थे, उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया । फलस्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी । इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवा न करते हुए जलपान कर ही लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी । अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्वयं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा । वहाँ उन्हें अपने चारों भाइयोंको मरा हुआ देखकर, बड़ा भारी दुःख तथा आश्चर्य हुआ । वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे । जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखायी पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीरपर कोई घाव ही दीख पड़े । अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई कारण समझमें नहीं आया । थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े तब फिर वही आकाशवाणी हुई । उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा । आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया । इसलिये मैंने ही इनको मार डाला है । तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो । अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी ।' महाराज युधिष्ठिरने

---

[*] अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥
(वन० ३५ । ३२)
'यो मासः स संवत्सरः' इति श्रुतेः ।

[†] अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
(शान्ति० १६२ । २६)

कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया। यहाँ विस्तारभयसे उन सारे-के-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—

वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुआ कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे वह सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमें करना दम है, सहन करनेका नाम क्षमा है, अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है। तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छाका नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका बैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है वह साधु है, और जो निर्दयी है वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढ़ता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित तथा नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें सन्ताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहङ्कार ही महा अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है। जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है?* जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसन्देह सबसे बड़ा धनी है।† इस प्रकार अनेकों प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने अपने सबसे छोटे भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'अजी, दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुम लोगोंको भरोसा है उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका नाश कर देता है, या यों कहो कि त्याग कर देता है उसका धर्म भी नाश कर देता है। परन्तु जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म करता है।‡ यक्ष! मुझको लोग सदा धर्मपरायण रहनेवाला समझते हैं इसलिये मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता।§ मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं,

---

* अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

† सम्पूर्ण प्रश्नोत्तर वनपर्वके ३१३ वें अध्यायमें देखिये।
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥

‡ धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

§ धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥
(वन० ३१३। ११६, १२१, १२८, १३०)

वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है ।* क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है । उन दोनोंमें कोई भी मेरे लिये न्यूनाधिक नहीं है । इसलिये मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ । (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र) नकुल भी जीवित हो जाय ।† क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है !' महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ । उसने कहा—'हे युधिष्ठिर! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो । तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे । महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की । तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ । तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले गया था ।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा युधिष्ठिरसे वर माँगनेके लिये कहा । महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव ! आप सनातन देवोंके देव हैं । मैं आपके दर्शनोंसे ही कृतार्थ हो गया । आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा । विभो ! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लूँ तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे ।'‡ धर्मने कहा—'पाण्डव ! ये गुण तो स्वभावसे ही तुममें वर्तमान हैं । तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुमने मुझसे जितनी वस्तुएँ माँगी हैं वे सब तुम्हें प्राप्त हों ।'* यह कहकर धर्म अन्तर्धान हो गये ।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको, सम्भव है, आजके नास्तिकयुगमें पैदा होनेके कारण हमलोग न समझ सकें, तथा महाराज युधिष्ठिरका मूल्य न आँक सकें, किन्तु यदि सरल मनसे विचार किया जाय तो हमलोगोंको धर्मराजके महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण हो सकेगा और हम सब लोग उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं समतासे भरे हुए इन वचनोंको सुनकर 'धन्य, धन्य' कह उठेंगे ! धर्मराजके जीवनमें क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका लेश भी नहीं था; दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके वे अधिष्ठान थे; फिर भी उन्होंने उपर्युक्त वरकी ही याचना की ! धन्य है उनकी निरभिमानता !!

पवित्रता

जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ विराटनगरमें छिपे हुए थे तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला । सभी सभासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परन्तु सभी निष्फल हो गये । अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी । उन्होंने कहा—'अबतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काममें लाये गये हैं, तथा अभी काममें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं । क्योंकि साधारण दूतोंद्वारा क्या उनका पता लग सकता है ? उनकी खोज करनेका साधन यह है, आपलोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें । जिस देश और राज्यमें पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका अमंगल नहीं हो सकता ।† उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील,

---

* कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥

† यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥
(वन० ३१३ । १३१-१३२)

‡ जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥

* उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥
(वन० ३१४ । २४-२५)

† तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥

उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे। वहाँ निस्सन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा देश प्रचुरधनधान्यसम्पन्न और पीड़ारहित होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे, पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक होगा, वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी। धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, सन्तोषी तथा अकाल-मृत्युसे रहित होंगे। देवताओंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे। वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। हे तात! महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, ध्रुव क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता, सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं। ऐसे महाराज युधिष्ठिरको बड़े-बड़े ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है?' * इस प्रकार भीष्म महाराजके वचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका समर्थन किया।

पाठक विचार करें, महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी। इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाष्ठा हो गयी है। जिस धर्मराजके निवास करनेसे वहाँका देश पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते!

उदारता

महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी। जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके लिये लाक्षाभवनमें भेजा था, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको तेरह वर्षके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके १५ वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाते समय दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उसके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया उसको देखकर हृदय मुग्ध हो जाता है। महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह सन्देश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है। मेरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है। आप इन्हें इच्छानुसार संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन आदि पुत्र-पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहृदोंका श्राद्ध करके दान देने लगे। वस्त्र, आभूषण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं। बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने जिसको सौ देनेको कहा था उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था, उसे दस हजार दिये।* तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

हमलोग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारताकी ओर देखें और फिर आजकलकी संकीर्णता-

---

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
(विराट० २८। १४-१७)

* धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित्।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम्।
(विराट० २८। ३०-३२)

* शते देये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा।
दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः॥
(आश्र० १४। १०)

से उसका मुकाबिला करें। आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदोंके प्रति भी कैसा व्यवहार करते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती।

त्याग

स्वर्गारोहणके समयकी कथा है, महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्रौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके बर्फमें गिरकर मर गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था, वही धर्मराजका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। धर्मराजने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रने कहा—'नहीं, कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'देवराज, आप यह क्या कह रहे हैं? भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता*। डरे हुएको, भक्तको, 'मेरा कोई नहीं है' ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायँ। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है†। यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदी छोड़ दी, फिर इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है?' धर्मराजने उत्तर दिया—'देवराज, उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना, इन चारके पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है।* अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म, जो कि कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका परित्याग कर दिया। अतः तुम्हारी समता कोई भी स्वर्गवासी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्मने तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर स्वर्गमें ले गये।

पाठक! तनिक आधुनिक जगत्‌की ओर तो ध्यान दें! आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, परन्तु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है? कुत्ते आदि जानवरोंकी बात छोड़ दें, आजकलके तीर्थयात्रियोंके यदि निकटसम्बन्धी भी संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। उनके करुणक्रन्दनकी उपेक्षा करके वे मुक्तिकी खोजमें चले जाते हैं।

---

* भक्तत्यागं प्राहुरनन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथञ्चनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र॥
(महाप्रा० ३। ११)

† भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे॥

* भीतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥
(महाप्रा० ३। १२, १६)

परन्तु यह उनका भ्रममात्र है । दयामय भगवान् केवल भावके भूखे हैं । भावरहितके लिये उनका द्वार सदा बंद है । यथार्थ बात तो यह है कि भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं । यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हम लोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधिपीड़ितों और दुःखग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये । उन्हें मार्गमें छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मंगलमय भगवान्के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है । यदि हम अपने इन कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं !

उपसंहार

इस संसारमें बहुत-से धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किन्तु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं । महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था । इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं ! शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं वे प्रायः सभी उनमें विद्यमान थे । स्मृतिकार महाराज मनुने जो धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं* वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे । गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण† तथा महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि‡ भी प्रायः उनमें मौजूद थे । और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही थे । इस लेखमें उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परन्तु उनका सारा ही जीवन सद्गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था । लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे उनके जीवनकी अन्यान्य महत्त्वपूर्ण घटनाओंका उल्लेख नहीं किया गया ।

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वैरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्गुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रक्खा । सत्यपालन तो उनका प्राण था । इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं । धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और बुद्धिमत्तासे परिपूर्ण होता था, यह यक्षकी आख्यायिकासे और भी स्पष्ट हो जाता है । समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी ! और उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवासभूमि भी परम पवित्र बन जाती थी । उनके शम-दमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर प्रायः समूचा देश संयमी बन जाता था । स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी । एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया । उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था । धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थत्यागकी भावनाका ही परिचायक है । यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे । ऐसे सर्वगुणसम्पन्न महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी सन्देह न रह जायगा । प्रेमी पाठक महानुभावोंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि वे महाराज युधिष्ठिरके इन गुणोंको तथा उनके आदर्श आचरणोंको यथाशक्ति अपनानेकी चेष्टा करें ।

---

* धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनुस्मृति)

† गीतामें अ० १६ श्लो० १, २, ३ देखिये ।

‡ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

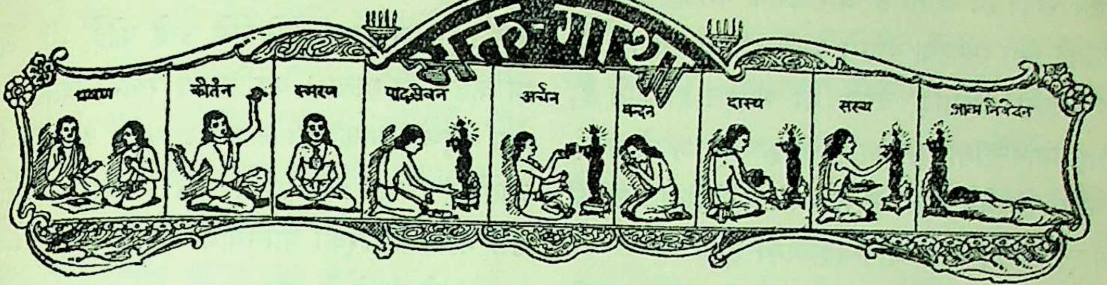

भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य नरपति

दक्षिण पाण्ड्यदेशमें धन्विनगर नामक स्थानमें मुकुन्द नामक ब्राह्मण निवास करते थे। ब्राह्मण बड़े ही धर्मात्मा, सदाचारी, शास्त्रज्ञ और सद्गुणी थे। रोज सवेरे श्रीभगवान्‌का भक्तिपूर्वक पूजन करते थे। जो कुछ मिल जाता था उसीमें वे मस्त रहते थे। परन्तु उनके पुत्र नहीं था। ब्राह्मणोकी प्रबल इच्छा थी कि उन्हें पुत्र हो; उसने इसके लिये श्रीभगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान्‌ने मुकुन्दको स्वप्न दिया कि तुम्हारे घरमें एक बड़ा भक्त पुत्र उत्पन्न होगा। तदनुसार दसवें मास उनके एक सुन्दर पुत्ररत्न पैदा हुआ। उसका नाम रक्खा गया विष्णुचित्त। विष्णुचित्त लड़कपनसे ही भगवान्‌का भक्त था। वह भगवान्‌की कथा बड़ी रुचिके साथ सुनता। लड़कोंमें परस्पर भगवान्‌की लीलाके ही खेल खेलता। परस्पर भगवान्‌की ही चर्चा करता। माता-पिताकी आज्ञा मानता। कभी किसीसे लड़ता नहीं। किसीको सताता नहीं। दूसरेके दोषोंको सह लेता, परन्तु किसीका भी छिद्र किसीके सामने नहीं खोलता। उसकी वाणीमें इतनी मधुरता थी कि वह जिसके साथ एक बार बोल लेता उसीका मन मोह लेता। इस प्रकार बाल्यावस्थामें ही उसमें ऐसे दैवी गुणोंका प्रादुर्भाव हो गया कि उसके साथ खेलनेवाले बालक भी सात्त्विक बुद्धिके होने लगे। पिताने विष्णुचित्तका संस्कार कराया। तदुपरान्त थोड़े ही दिनों बाद पिता परलोक सिधार गये।

विष्णुचित्त जवान हुए, परन्तु उनमें जवानीका मद नहीं आया। सोलहसे चालीसतककी अवस्थाको गधा-पचीसी कहते हैं। इस उम्रमें जिसका जीवन पवित्र रह जाता है उसका जीवन अन्ततक पवित्र रहता है। विष्णुचित्त सुन्दर, मधुभाषी, हृष्ट-पुष्ट थे; परन्तु उनका मन भगवान्‌में होनेके कारण जवानीमें वे प्रमादके वश नहीं हुए। नियमित सध्योपासन, वेदाध्ययन, साधुसेवा चलने लगी। एक दिन विष्णुचित्तके मनमें आया कि भगवान्‌के दसों अवतार ही परम सुन्दर और परम मधुर हैं, परन्तु यदुकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णके समान सौन्दर्य-माधुर्यनिधि तो कोई नहीं है; मुझे अपना जीवन उन्हींके चरणोंमें निवेदन करना चाहिये शुद्ध हृदयके सात्त्विक विचारको दृढ़ निश्चयके रूपमें परिणत होते देर नहीं लगती। विष्णुचित्तने अपनेको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें सम्पूर्णतया समर्पण कर दिया। वे यदुनाथकी करुणापर मुग्ध हो गये। अहा! मेरे स्वामी कितने दयालु हैं—कैसे प्रेममय हैं। नारद और सनकादि मुनि निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, वेद जिन्हें नेति, नेति कहते हैं और ब्रह्मा तथा इन्द्र जिनकी कृपाकोरके लिये सदा तरसते रहते हैं उन साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्णको गोकुलमें नन्दरानी अपना स्तनपान कराकर उनका लाड़ लड़ाती हैं। व्रजके गोपबालक उनके साथ निःसंकोच खेलते हैं। गौएँ उनकी वंशीध्वनिको सुनकर उनके चरणप्रान्तमें

आकर खड़ी हो जाती हैं और उनके मनोहर मुखारविन्दकी ओर एकटक दृष्टिसे देखा करती हैं। इन सब खेलोंसे ब्रह्मादि देवता भी मोहित हो जाते हैं, परन्तु प्रेमानन्दनिधि मेरे स्वामी श्रीकृष्णको अपने भक्तोंके साथ खेलनेमें जरा भी हिचक नहीं होती। उनकी एक-एक लीला परम आनन्ददायिनी है।

इस प्रकारके विचारोंमें—परम स्वामी श्रीकृष्णचन्द्रके गुण-नाम-स्मरणमें ही विष्णुचित्तका समय बीतने लगा। साथ ही शरीर भी उन्हींकी सेवामें लग गया। कभी वे भगवान्‌के लिये पुष्पचयन करके मनोहर माला गूँथते, कभी चन्दन घिसते, कभी नैवेद्यकी तैयारी करते, कभी आरती करते। इस प्रकार श्रीभगवान्‌के कैंकर्य और चिन्तनमें ही वे रत हो गये। उन्होंने एक सुन्दर बाग लगाया और उसमें भगवान्‌के मंगलविग्रहकी स्थापना की। स्वयं रात-दिन वहीं रहकर तन-मन-धनसे भगवान्‌की सेवा करने लगे। भगवान्‌के साथ उनका गूढ़ परिचय हो गया, वे धन्य हो गये!

एक समय उस देशके राजा उस बगीचेके पाससे कहीं जा रहे थे। सुन्दर बगीचा देखकर वहाँ विश्राम करनेकी राजाकी इच्छा हुई। राजा घोड़ेसे उतर पड़े और अन्दर जाकर भगवान्‌के दर्शन किये, फिर विष्णुचित्तजीके पास गये। राजा परम भागवत विष्णुचित्तके तेजोमंडित मुखमंडलको देखते ही प्रभावित होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े और उनसे विनयपूर्वक बोले—"स्वामिन्! मैं रात-दिन अपने राजकाजमें ही लगा रहता हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकारी हो वही उपदेश कृपया मुझे दीजिये।" राजाके विनम्र वचनोंको सुनकर विष्णुचित्तने मुस्कराते हुए स्नेहपूर्ण किन्तु गंभीर शब्दोंमें कहा—

'राजन्! जैसे बनिजारे लोग आठ महीने देश-विदेशमें घूम-फिरकर धन कमाते हैं और फिर चार महीने चौमासेमें घर बैठ कर खाते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग मनुष्य जन्ममें ऐसे पुण्य कर्म करते हैं जिनके फलस्वरूप अन्यान्य योनियोंमें उन्हें कोई भी अभाव या कष्ट नहीं होता। यह स्मरण रखना चाहिये कि एक मनुष्य जन्मकी ही कमाई अन्यान्य शरीरोंमें भोगी जाती है। यहाँ जो पापरूप बुरी कमाई करता है उसे नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए भयङ्कर कष्ट सहने पड़ते हैं और यहाँ जो पुण्यरूप अच्छी कमाई करता है उसे बार-बार उत्तम योनि मिलती है—कहीं पूर्वकर्मवश निकृष्ट योनि मिलती है तो वहाँ भी उसे कोई कष्ट नहीं होता। अतएव मनुष्यदेहको प्राप्त करके जीवको सदा पुण्य कर्म ही करते रहना चाहिये। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि मनुष्यदेहकी सफलता पुण्य कर्मोंमें ही नहीं है। क्योंकि पुण्य कर्म भी पुनः जन्म देनेवाले होते हैं। आखिर वह भी है तो बन्धन ही। बेड़ी लोहेकी हो या सोनेकी, है तो बेड़ी ही। मानवजीवनकी सच्ची सफलता तो इसमें है कि वह पुनर्जन्मका नाश करनेवाले परमात्माके परम पदको प्राप्त करले। अतएव तुमको उसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आजसे पहले असंख्य राजा हो गये और चले गये। उनके नाम भी लोग नहीं जानते। तुम यदि अपने जीवनको राजमदमें खोओगे तो पाप करोगे, विषयवासनामें बिताओगे तो भी पाप होगा। केवल राजकाजमें लगाओगे तब भी जीवन व्यर्थ होगा। अतएव तुम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके परमपावन चरणोंमें अर्पण करके उन्हींके प्रीत्यर्थ, उन्हींकी सेवाके लिये, सब कुछ उन्हींका समझकर, अहर्निश उनके पवित्र नाम-गुणोंका चिन्तन करते हुए ही उनके किंकररूपसे राज-काज करो। किसी प्रकार भी अहंकार, ममता और विषयासक्तिको पास न फटकने दो। अहंकार करो भगवान्‌के दासत्वका, ममता करो उनके चारु चरणोंमें और आसक्त हो जाओ उनकी रूपमाधुरीपर—उनकी

मधुर वंशीध्वनिपर ! जाओ, राज्य उनको अर्पण करके तुम दीवान बन जाओ और उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्यशासन करो । उतना ही अंश अपने काममें लाओ जितना तुम्हारे शरीरकी और परिवारकी स्थितिके लिये आवश्यक हो । देकर खाओ, भगवदर्थ निवेदन करके प्रसादमात्र ग्रहण करो । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तुमपर कृपा करेंगे ।'

परमभक्त विष्णुचित्तकी ओजभरी वाणीने राजाके मनपर जादूका काम किया । राजाकी विषयासक्ति भगवान्की परम अनुरक्तिके रूपमें परिणत हो गयी । वे अपनी राजधानीको लौट आये । उनका जीवन बदल गया । उनके व्यवहारसे सारी प्रजा सुखी हो गयी । उनकी प्रत्येक क्रिया भगवदर्थ होने लगी । वे अपनी प्रत्येक चेष्टासे भगवान्की पूजा करने लगे । उनका जीवन——उनका एक-एक श्वास भगवत्पूजामय बन गया । वे यथार्थ भजनानन्दी हो गये ।

कुछ समय बाद गुरुवर विष्णुचित्तजीकी कृपासे दीनदयालु भगवान्ने लक्ष्मीजीसहित प्रकट होकर राजाको अपने दुर्लभ दर्शन दिये । भगवान्की उस अनुपम छबिका वर्णन कौन कर सकता है ! राजाका जीवन सफल हो गया । वे कृतार्थ हो गये । सत्संग और निष्ठापूर्वक किये हुए भगवद्भजनका फल प्रत्यक्ष देखकर सभी लोग चकित हो गये !

इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों ही भगवान्के कैंकर्यको प्राप्तकर परमधामको सिधारे ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

* * *

नामस्मरणकी आवश्यकता

(गोरखपुरके अखण्ड हरिनामसंकीर्तनयज्ञमें दिये हुए महामना **पं० मदनमोहनजी मालवीयके** उपदेशके आधारपर)

आजकल नामजपपर बहुत जोर दिया जाता है । आप सबलोग भी भगवन्नामके जप और कीर्तनमें ही लगे हुए हैं । किन्तु आप यह तो बतलाइये कि नामजप क्यों करना चाहिये ? इससे क्या लाभ है ? लोग कहते हैं, भगवान्का नाम लेनेसे पाप कटते हैं; परन्तु इसमें युक्ति क्या है ? आपमेंसे कोई भी इसका उत्तर दें । बात यह है कि हम जिस समय किसी वस्तुका नाम लेते हैं तो तत्काल हमें उसकी आकृति और गुण आदिका भी स्मरण हो जाता है । जब हम 'कसाई' शब्दका उच्चारण करते हैं तो हमारे मानसिक नेत्रोंके सामने एक ऐसे व्यक्तिका चित्र अंकित हो जाता है जिसकी लाल-लाल आँखें हैं, काला शरीर है, हाथमें छुरा है और बड़ा क्रूर स्वभाव है । 'वेश्या' कहते ही हमारे हृदयपटलपर वेश्याकी मूर्ति अङ्कित हो जाती है । इसी प्रकार जब हम भगवान्का नाम लेते हैं तो सहसा हमारे चित्तमें भगवान्के दिव्य रूप और गुणोंकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है । भगवन्नामस्मरणसे चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है । भगवदाकार चित्तमें भला पाप-तापके लिये गुंजाइश कहाँ है ? इसीलिये नामस्मरण पापनाशकी अमोघ ओषधि है ।

बिना जाने भगवान्का नाम लेनेसे भी किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषयमें श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धमें एक बड़ी अद्भुत कथा है । अजामिल नामका एक बड़ा ही दुराचारी और दुष्ट प्रकृतिका ब्राह्मण था । उसके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'नारायण' था । जब अजामिलका अन्तकाल उपस्थित हुआ तो उसे लेनेके लिये यमदूत आये । उनके भयङ्कर स्वरूपको देखकर अजामिल डर गया और उसने 'नारायण' कहकर अपने छोटे पुत्रको

पुकारा । उसके मुखसे 'नारायण' शब्द निकलते ही वहाँ विष्णु भगवान्‌के पार्षद उपस्थित हो गये । उन्होंने तुरन्त ही उसे यमदूतोंके पाशसे छुड़ा लिया। जब यमदूतोंने उसके पापमय जीवनका वर्णन करते हुए यमदण्डका पात्र बतलाया तो भगवान्‌के पार्षदोंने उनके कथनका विरोध करते हुए कहा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । ५, ६, ८)

'इसने तो अपने करोड़ों जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर दिया, क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान्‌का मङ्गलमय नाम उच्चारण किया है । इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरोंका नाम उच्चारण किया है, इतनेहीसे इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया । समस्त पापियोंके लिये भगवान् विष्णुका नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है, क्योंकि ऐसा करनेसे भगवद्विषयक बुद्धि होती है ।'

विष्णुदूतोंके इस प्रकार समझानेपर यमराजके सेवक यमलोकको चले गये और वहाँ ये सब बातें धर्मराजको सुनाकर उन्होंने उनसे पूछा—'महाराज! इस लोकमें धर्माधर्मका शासन करनेवाले कितने अधिकारी हैं, और हमें किसकी आज्ञामें रहना चाहिये ? भला, ये दिव्य पुरुष कौन थे और उस महापापीको हमारे पाशसे छुड़ाकर क्यों ले गये ?' तब यमराजने कहा—'परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्' इत्यादि । अर्थात् मेरे भी ऊपर एक और स्वामी है जो समस्त स्थावर-जंगमका शासक है और जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् ओतप्रोत है । उन सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीहरिके दूत, जो उन्हींके समान रूप और गुणवाले हैं, लोकमें विचरते रहते हैं और श्रीहरिके भक्तोंको, उनके शत्रु और मृत्यु आदि सब प्रकारकी आपत्तियोंसे बचाते रहते हैं । संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह नाम-जपादिके द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करे। देखो, यह भगवन्नामोच्चारणका ही माहात्म्य है कि अजामिल-जैसा पापी भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो गया ।'

महाभारत शान्तिपर्वकी कथा है कि जिस समय शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्मसे महाराज युधिष्ठिरने पूछा—

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥
(विष्णुसहस्र० ३)

'सम्पूर्ण धर्मोंमें आपके विचारसे कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है ? और मनुष्य किसका जप करनेसे जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है ?' तब पितामहने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ॥
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ।
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥
(विष्णुसहस्र० ४-१०)

'जो सम्पूर्ण संसारके स्वामी, देवोंके देव, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं उन आदि-अन्तसे रहित, सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर और सबके साक्षी भगवान् अच्युतकी नित्यप्रति उठकर हजार नामोंसे स्तुति करनेसे तथा उन अविनाशी पुरुषोत्तमका ही भक्तिपूर्वक पूजन, ध्यान, स्तवन और वन्दन करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है। वे श्रीविष्णु ब्राह्मणोंके हितकारी, समस्त धर्मोंके ज्ञाता, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकोंके स्वामी, महद्भूत और सम्पूर्ण भूतोंके उत्पत्तिस्थान हैं। मेरे विचारसे मनुष्यके सम्पूर्ण धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म यही है कि जो अत्युत्कृष्ट तेज, अति महान् तप, परमोत्कृष्ट ब्रह्म और बड़े-से-बड़े आश्रय हैं तथा जो पवित्रोंमें पवित्र, मङ्गलोंमें मङ्गल, देवोंमें महान् देव और समस्त भूतोंके अविनाशी पिता हैं उन कमलनयन भगवान्का मनुष्य सर्वदा भक्तिपूर्वक स्तवन करे।'

इस प्रकार भीष्मजीने भगवान्को ही सबसे अधिक पूजनीय देव और भगवन्नामस्मरणको ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। भगवन्नामकी महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारणमात्रसे ग्रह, नक्षत्र एवं दिक्शूलादिके दोष निवृत्त हो जाते हैं। मैंने अपनी मातासे यह वर माँगा था कि मुझे प्रायः नित्य ही बाहर आना-जाना होता है, इसलिये ऐसा आशीर्वाद दो जिससे ग्रहदोषजनित विघ्न उपस्थित न हों। तब मेरी माताने मुझसे कहा, 'तू यात्रा आरम्भ करनेसे पूर्व 'नारायण' इस नामका उच्चारण कर लिया कर, फिर कोई विघ्न नहीं होगा।' माताजीके इस आशीर्वादसे मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है, मैं जिस समय 'नारायण' इस प्रकार उच्चारण करके यात्रा आरम्भ करता हूँ तो सारे विघ्न दूर खड़े रहते हैं।

यही बात श्रीमद्भागवतके नारायणकवचनामक प्रसिद्ध स्तोत्रमें भी बतलायी गयी है। यह स्तोत्र भी भागवतके ६ठे स्कन्धमें ही है। वहाँ कहा है—

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत्केतुभ्यो नृभ्य एव च।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात्।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः॥
(८। २७, २८)

'ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, सरीसृप, हिंस्र जीव अथवा पापोंसे हमें जो भय प्राप्त हो सकते हैं, तथा हमारे श्रेयोमार्गके जो-जो प्रतिबन्ध हैं वे इस भगवन्नामरूप अस्त्र (कवच) का कीर्तन करनेसे क्षीण हो जायँ।'

नाम लेनेसे मनुष्यके सारे पाप उसी प्रकार कट जाते हैं जैसे दूध डालनेसे चीनीका मैल कट जाता है। नामका प्रभाव हमारे चित्तको सर्वथा व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार जलमें तेलकी एक बूँद डालनेपर भी वह सारे जलके ऊपर फैलकर उसे ढक लेती है उसी प्रकार अर्थानुसन्धानपूर्वक किया हुआ थोड़ा-सा भी नामजप मनुष्यके सारे पापोंको नष्ट कर देता है। अतः नामजपसे पापका नाश होकर दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

होलीपर कर्तव्य

क्या करना चाहिये

१–प्रेमसे हलका रंग डालकर होली खेलनेमें हर्ज नहीं है।

२–निर्दोष गायन-वाद्य करनेमें हानि नहीं है। भगवान्के नामका कीर्तन करना चाहिये।

३–वासन्ती नवशस्येष्टि (वसन्तमें पैदा होनेवाले नये धानका यज्ञ) करना चाहिये। हवन करना चाहिये।

४–भक्त प्रह्लादकी कथाएँ तथा लीलाएँ होनी चाहिये।

५–भगवन्नामके महत्त्वका प्रचार करना चाहिये।

६–सब प्रकारके वैरको त्यागकर परस्पर प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये।

७–फागुन सुदी ११ से १५ तक किसी दिन भगवान्की सवारी निकालनी चाहिये—जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नाम-कीर्तनकी व्यवस्था करनी चाहिये।

८–निम्नांकित न करने लायक कार्योंको लोग न करें, इसके लिये जगह-जगह सभा करके सबको इनके दोष समझाने चाहिये।

९–श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाना चाहिये। महाप्रभुका प्राकट्य होलीके दिन ही हुआ था। इस उपलक्ष्यमें हरिनामकी खूब ध्वनि करनी चाहिये।

१०–भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाने चाहिये।

११–भगवान्का दोलोत्सव—झूलनोत्सव मनाना चाहिये।

क्या नहीं करना चाहिये

१–गाली नहीं बकनी चाहिये।

२–राख, धूल, कीचड़ नहीं उछालना चाहिये।

३–गंदे पानीको किसीपर नहीं डालना चाहिये।

४–रंग डालनेसे जिनका मन दुखता हो, उनपर रंग नहीं डालना चाहिये।

५–स्त्रियोंकी ओर गंदे इशारे नहीं करने तथा उन्हें गंदी जबान नहीं बोलनी चाहिये।

६–किसीके भी मुँहपर स्याही, कारिख या नीला रंग आदि नहीं पोतना चाहिये।

७–शराब, भाँग, गाँजा, चरस, नशैला माजून आदि खाना-पीना नहीं चाहिये।

८–वेश्यानृत्य नहीं कराना चाहिये।

९–गंदे अश्लील धमाल, रसिया, कबीर या फाग नहीं गाने चाहिये।

१०–टोपियाँ या पगड़ियाँ नहीं उछालनी चाहिये।

११–जूतोंकी माला पहनकर या पहनाकर, शव बनाकर गंदे गाने गाते बजाते हुए जुलूस नहीं निकालना चाहिये।

* * *

योगक्षेमं वहाम्यहम्

(लेखक—श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

गीताके नवम अध्यायके पहले अंशमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ईश्वरस्वरूपका परिचय देते हुए यह घोषणा की है कि 'मैं नित्य निर्गुण होता हुआ ही सगुण हूँ, नित्य अव्यक्त मूर्त्ति होता हुआ ही नित्य विश्वरूपमें परिव्यक्त हूँ, नित्य, निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होता हुआ ही नित्य, सृष्टि स्थिति प्रलय करनेवाला, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सविशेष और लीलाविग्रहधारी हूँ, नित्य अखण्ड अद्वय सच्चिदानन्दघनस्वरूप होता हुआ ही अनन्त भेदोंसे विभिन्न चेतनाचेतन स्थूल-सूक्ष्म सब पदार्थोंकी योनि, आश्रय और नियन्ता हूँ।' इसको उन्होंने अपना 'ऐश्वरयोग' बतलाया। साधारण जीवबुद्धिके लिये अगम्य होनेपर भी भगवत्स्वरूपमें सभी विरोधोंका सम्यक् प्रकारसे समन्वय है। उनके स्वरूपमें भेदमें अभेद है, क्रियामें अक्रिया है, और सान्तमें अनन्त है। 'पश्य मे योगमैश्वरम्' शीर्षक लेखमें इस ऐश्वरयोगका किञ्चित् आभास दिया गया है।*

नवम अध्यायका जो विशेष वक्तव्य है, उस रहस्यको अभी नहीं खोला गया है। मनुष्य जब भगवान्की इस अचिन्त्य शक्ति और ऐश्वर्यको जानकर, जीव-जगत्के साथ भगवान्के इस कार्य-कारण, आश्रित-आश्रय, प्रकाश्य-प्रकाशक, शक्ति-शक्तिमान् और तादात्म्य सम्बन्धको उपलब्धकर भगवान्को ही एकमात्र—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

—समझकर उनके प्रति अनुरक्त होता है, अनन्य मनवाला होकर उनका भजन करता है, उनको अपने हृदयकमलमें स्थापन करके उनमें प्रेम करता है, सदा-सर्वदा स्मरण-मनन-कीर्तन-प्रणाम और आत्मनिवेदन करके आनन्दमें मग्न होता है और जीवनको सार्थक समझता है, देह-मन-प्राण सबको भक्तिके द्वारा पवित्र करके भगवान्के प्रति समर्पण कर देता है और ऐहिक तथा पारलौकिक सब प्रकारकी भोग-वासनाओंका त्याग कर देता है, कायिक और मानसिक सभी कर्म केवल उन्हींकी सेवा समझकर करता है, तब भगवान्का एक निगूढ स्वभाव उसके सामने प्रकट होता है। भगवान्का यह विशेष परिचय भक्तिके द्वारा ही मिलता है—'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' भक्तिरहित तत्त्वज्ञानसे यह परिचय नहीं मिलता। भक्तिभावित मनुष्यके हृदयमें भगवान्का जो भाव प्रतिफलित होता है, केवल कर्मनिष्ठ चित्तमें या ज्ञानानुसन्धित्सु बुद्धिमें वैसा नहीं होता। कर्म और ज्ञानमें जीव-जगत्के साथ भगवान्का साधारण सम्बन्ध ही प्रकट होता है, परन्तु भक्तिमें भक्तके साथ भगवान्के विशेष सम्बन्धकी उपलब्धि होती है। भक्ति मनुष्य और भगवान्को परस्पर बहुत ही समीप लाकर उनमें परस्पर घनिष्ठ आत्मीयताका सम्बन्ध जोड़कर सामने लाती है, दोनोंको मिलाती है। भक्तिमें मनुष्य भगवान्को केवल सर्वमय, सर्वाश्रय, सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वगुणाधार, गुणातीत, भावातीत, नित्य निरञ्जन परमात्मा परमेश्वर बोलकर ही नहीं जानता, वह उनको अपना घनिष्ठ सम्बन्धी, अपना पिता-माता-धाता-पितामह, अपना स्वामी, सखा, सुहृद्, प्राणोंका प्राण, परम आत्मीयरूपमें अनुभव करता है, उनका स्नेहसम्पन्न करुणार्द्र-हृदय और

---

* इसी वर्षके पाँचवें अङ्कमें पृष्ठ ९६३ पर यह लेख छपा है।

प्रेमसुन्दर रूपमें आस्वाद पाता है । भगवान्‌के स्वभाव-में यह स्नेह, दया और प्रेमका भाव—सौन्दर्य, माधुर्य और रसका भाव भक्तिके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । युक्तिके द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । इसीलिये असूयारहित, मत्सरताहीन विश्वासीके सामने ही अनुभूतिकी इस वस्तुको प्रकट करना उचित है । भक्तिविमुख युक्तिपरायण समालोचकोंके सामने तो यह गोपनीय है । भक्तके साथ भगवान्‌का कैसा विशेष सम्बन्ध प्रकट होता है, बहुत-सी भूमिकाके बाद भगवान् श्रीकृष्णने भक्त अर्जुनको अपने उस गुह्यतम स्वभावका परिचय करानेके लिये संक्षेपमें कुछ श्लोक कहे हैं—

भक्तके साथ भगवान्‌का विशेष सम्बन्ध बतलानेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने अपने अचिन्त्य ऐश्वरयोगको बतलानेके बाद भक्तिप्रसङ्गकी अवतारणा की ।—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥

भगवान्‌ने कहा कि जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, अभय, अहिंसा, तेज, क्षमा, अमानित्व आदि दैवी सम्पदाओंसे विभूषित हैं, वे महात्मा मुझको भूतोंका आदि और अव्यय, विश्वका कारण और नित्य निर्विकार जानकर अनन्य चित्तसे मुझको ही भजते हैं; यत्नपूर्वक नियमितरूपसे कोई मेरा सदा कीर्तन करते हैं, कोई ध्यान करते हैं, कोई नमस्कार करते हैं, कोई ज्ञानयज्ञद्वारा मेरी उपासना करते हैं; कोई-कोई भक्त अद्वैतभावसे और कोई-कोई द्वैतबुद्धिसे मेरा भजन करते हैं । मैं तो विश्वतोमुख हूँ, सभी भावोंकी पूजाओंको ही मैं ग्रहण करता हूँ । उपासकका सभी कुछ मैं हूँ । मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही स्वाहा और स्वधा हूँ, मैं ही मन्त्र और ओषधि हूँ, मैं ही अग्नि और आहुति हूँ, मैं ही सबका पिता, माता, विधाता और पितामह हूँ; मैं ही ओंकार हूँ; मैं ही ऋक्-साम-यजु हूँ, मैं ही सबका गति, स्वामी, नियन्ता, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् हूँ, मैं ही सबका जन्म, स्थिति और प्रलय—आधार और अधिकारी बीज हूँ, मैं ही ताप देता हूँ, मैं ही वृष्टि करता हूँ, मैं ही वृष्टिको रोकता हूँ, मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ, मैं ही सत् और असत् हूँ । जो कुछ भी ज्ञेय या ध्येय है, पानेयोग्य और आश्रय करनेयोग्य है, सभी मैं हूँ, मेरे सिवा और क्या है ? ज्ञानी भक्त बाहर और भीतर मेरा ही दर्शन करता है ।

सातवें अध्यायमें चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चामें भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको अपना ही स्वरूप बतलाया था और ज्ञानी भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय है एवं मैं ज्ञानी भक्तको अत्यन्त प्रिय हूँ, ऐसी घोषणा की थी ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

यद्यपि भगवान्‌की साम्यस्थिति तनिक भी नहीं हिलती-डुलती; उनके लिये 'द्वेष्य' और 'प्रिय'का जरा भी भेद नहीं है, तथापि भक्त और भगवान्‌की परस्पर प्रियताको भगवान् भी स्वीकार करते हैं, और भक्त भी अनुभव करते हैं । नवम अध्यायमें भगवान्‌ने अपने इस भक्त-प्रेमकी और भी स्पष्टरूपमें मुक्तकण्ठसे घोषणा की है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो सब प्रकारकी दूसरी चिन्ताओंको छोड़कर नित्य-निरन्तर मेरा ही चिन्तन करते हैं और सब भावसे

मेरी ही उपासना करते हैं, उन नित्याभियुक्त भक्तोंका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ एवं इस संसारमें उन्हें जो कुछ भी आवश्यक हो सकता है, उसका सब मैं ही सम्पादन करता हूँ। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है। और प्राप्त वस्तुके रक्षणका नाम क्षेम है। अनन्य भक्तकी किसी विषयमें आसक्ति नहीं है, संसारके किसी पदार्थकी ओर उसकी जरा भी नजर नहीं जाती, देहादिके प्रति भी उसका ममत्वाभिमान नहीं है, देहादिके भरण-पोषणके लिये अत्यावश्यक उपकरणोंके संग्रह करने तथा उन्हें संचय करने और उनकी देख-रेख करनेकी ओर भी उसकी दृष्टि नहीं है। वह ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान और ब्रह्मानन्द-रसके पानमें ही निमग्न है। उसके देहेन्द्रियादि मन-बुद्धि, सब कर्म, सब ज्ञान, सब भोग और सब प्रेम सब प्रकारसे भगवान्में ही समर्पित हैं। वह भगवान्का है, भगवान् उसके हैं। ऐसे भक्तका सारा भार भगवान् ही वहन करते हैं। उसके देहादिकी रक्षा और उसके उपयोगी पदार्थोंको जुटानेकी व्यवस्था सब भगवान् ही करते हैं। भगवान्का यह भक्तवात्सल्य उनके ऐश्वरयोगके अतिरिक्त एक विशेष माधुर्यपूर्ण स्वभाव है।

विश्व-ब्रह्माण्डके सभी व्यापार भगवान्की इच्छासे या भगवान्के विधानसे सम्पादित होते हैं; भक्तके योग-क्षेमकी व्यवस्था, अन्न-वस्त्र-गृहादिकी व्यवस्था, उनकी इच्छा या उनके विधानसे ही होती है, इस साधारण अर्थमें यहाँ योग-क्षेमकी बात नहीं कही गयी है। ऐसा होता तो 'नित्याभियुक्त भक्तका योग-क्षेम मैं वहन करता हूँ।' इस कथनमें कोई सार्थकता नहीं रहती, क्योंकि साधारण भावसे सभी जीवोंका योग-क्षेम भगवान् ही तो वहन करते हैं। भगवान्के जागतिक विधानमें सभी मनुष्य अपने अपने योग-क्षेमके सम्पादनके लिये पुरुषार्थ करते हैं और अपने-अपने कर्मानुसार फलको ही पाते हैं। प्रारब्धके अनुसार उन्हें जो कुछ मिलता है, वह भी जन्मान्तरके पुरुषार्थका ही फल है। मनुष्य ऐहलौकिक कामनाकी पूर्ति तथा पारलौकिक सुखैश्वर्य-भोगके लिये नाना प्रकारके याग-यज्ञ करता है और विशिष्ट देवताओंकी आराधना करता है, एवं उसीके अनुसार फल पाता है। परन्तु ये सभी फल अस्थायी और परिमित होते हैं। स्वर्गके भोगका भी अन्त हो जाता है, और जीवको पुनः लौटकर संसारतरंगोंमें गिरना पड़ता है; फिर कर्म करना पड़ता है और फिर योग-क्षेमकी चिन्ता करनी पड़ती है। यह बात इससे पहलेके दो श्लोकोंमें कहकर भगवान् यहाँ अपने अनन्य भक्तके लिये उससे विलक्षण दूसरी तरहकी व्यवस्थाकी बात कहते हैं। अनन्य भक्त अपने लिये कोई भी चिन्ता नहीं करता। वह केवल भगवान्के लिये सारी चिन्ता करता है; अतएव उसकी चिन्ता भी भगवान्को विशेषरूपसे करनी पड़ती है। जो मनुष्य जितने अंशमें अपनी चिन्ता और विषयोंकी चिन्ता छोड़कर भगवान्की चिन्तामें अपनेको भुला सकता है, उसका उतने ही अंशमें सारा भार भगवान् ग्रहण कर लेते हैं। यह भक्तके साथ भगवान्का विशेष सम्बन्ध है, और इस सम्बन्धका—भगवान्की इस भक्तवत्सलताका—अनुभव भक्तिके द्वारा ही होता है। भगवान् कितने दयालु हैं, कितने प्रेमी हैं, कितने निजजन हैं, भक्त ही अपने हृदयमें इस बातको समझ सकता है, भक्तके हृदयमें ही भगवान्के सबसे विलक्षण अनुपम चरित्रका सौन्दर्य और माधुर्य प्रकट होता है।

भक्ति भगवान्के लिये कितने आदरकी वस्तु है, कितनी मूल्यवान् है, कितनी आस्वाद्य है; भक्ति विश्वातीत और विश्वाधार भगवान्को नीचे उतारकर मनुष्यके कितना निकट ले आती है, और आत्मीयताके कितने मधुर बन्धनसे उनको बँधे हुए दिखलाती है,

इस बातको और भी स्पष्टरूपसे समझानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा——

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, पुष्प, फल, जल—जो कुछ भी भक्त मुझको भक्तिके सहित अर्पण करता है, प्रयतात्मा भक्तके उस भक्तिभरे उपहारका मैं भोजन करता हूँ। भगवान्ने यहाँ 'गृह्णामि' न कहकर आदर और आग्रहके साथ 'अश्नामि' क्रियाका प्रयोग किया है। वे दीनदयालु-रूपसे उसको सदयदृष्टिसे देख लेते या स्पर्श कर लेते हैं, इतनी ही बात नहीं है। भक्तका वह भक्तिरसमय पत्र, पुष्प, फल उनके लिये तृप्तिप्रद आहार होता है। भक्तिमें सानकर, भक्तिरससे रसमय बनाकर, भक्त आदरके साथ अपने प्राणप्रिय आराध्य भगवान्को जो कुछ भी अर्पण करता है, मायिक दृष्टिसे वे वस्तुएँ चाहे जितनी मामूली होनेपर भी भगवान् स्वयं उनका भोग लगाते हैं। इस प्रकार संभोक्तारूपमें भगवान्की भगवत्ता अधिकतर प्रकाशित हो उठती है, नये रूपमें प्रकट होती है, उसकी महिमा अचिन्तनोय उज्ज्वलता और मधुरताके साथ अभिव्यक्त होती है। भगवान् केवल अनन्त शक्ति और अनन्त ऐश्वर्यके आधार विश्वभुवनके स्वामी राजराजेश्वर अथवा उदासीन, निर्विकार, निर्गुण, निष्क्रिय सच्चित्स्वरूप ही नहीं हैं, वे इसीके साथ-साथ भक्तप्राण, भक्तवत्सल, प्रेमघनमूर्ति, प्रियतम भी हैं। भक्तके साथ विशेषरूपसे लेन-देन करनेमें; विशेष लीला-खेलमें, भक्तको खिलाने और उसके हाथोंसे खानेमें उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

पहले भगवान् कह चुके हैं कि मैं सबमें और सब मुझमें होनेपर भी न तो मैं किसीमें हूँ और न कोई मुझमें ही है। यह उनका ऐश्वरयोग है। परन्तु प्रेमयोगमें उनका स्वभाव दूसरे ही प्रकारसे प्रकट होता है, इस बातको ऊपरके दो श्लोकोंमें जैसे बतलाया, वैसे ही फिर भी कहते हैं——

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

'मैं सब भूतोंमें सम हूँ, मेरे लिये द्वेष्य या प्रिय कोई नहीं है। यही साधारण सत्य भी है। परन्तु विशेष तथ्य यह है कि जो भक्तिके द्वारा मुझको भजते हैं, वे मुझमें अवस्थित हैं और मैं भी उनमें अवस्थित हूँ।' भक्तिके सम्बन्धमें भगवान् 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु' नहीं हैं; भक्त जैसे सब कुछ छोड़ कर अपनेको भगवान्के चरणोंमें उत्सर्ग कर देता है, और भगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। वैसे ही भगवान् भो अपनेको भक्तके हृदयमें सम्पूर्णरूपसे प्रकट करके भक्तके संभोग्यरूपमें विराजित हो जाते हैं। भक्त जैसे भगवान्के अंदर ही अपनेको पूर्णरूपसे पाता है, भगवान्के अंदर ही अपनी पूर्ण, पवित्र, सुन्दर, मंगलमूर्तिको पूर्णरूपसे विकसित देखता है, भगवान् भी वैसे ही उस ज्ञानवान् प्रेमी भक्तके अंदर ही अपनेको पूर्णरूपसे आस्वादन करते हैं। भगवत्तत्त्वके ज्ञाता, भगवद्गत देह, मन, प्राण भक्तके हृदय-दर्पणमें ही उनकी अव्यक्त मूर्ति भलीभाँति व्यक्त होती है। उनकी सर्वान्तर्यामी, सर्वमय, सत्यज्ञानप्रेमानन्दघन, शिव-सुन्दर मूर्ति परिपूर्णरूपमें प्रकट होती है। भगवान्की महिमा, भगवान्का हृदय-माधुर्य, भगवान्की सर्वैश्वर्यको पराभव करनेवाली प्रेममाधुरी इस सीमाहीन देशकालमें, अगणित स्थावर-जंगमात्मक जगत्में, संख्यातीत कर्मासक्त और कर्मफलभोगी मनुष्यादि जीवोंके जीवनमें सम्पूर्णरूपसे प्रकट नहीं होती, वह तो भक्तके जीवनमें ही विशेषभावसे प्रकट होती है। भागवतमें भगवान्ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

'साधु (भक्त) मेरा हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ । वे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं जानते, मैं भी उनके सिवा और कुछ नहीं जानता ।' भक्तका हृदय भगवान्का अन्तःपुर है, और भगवान्का हृदय भक्तका अपना घर है । भक्ति भगवान्की ही ह्लादिनी शक्ति है । जीवके हृदयमें निहित इस भक्तिके साथ मिलनेपर भगवान्के आनन्दरूपकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, और जीव भी भगवान्को पूर्णरूपसे पाकर उनकी सत्तामें अपनी सत्ताको मिला देता है । इसके बाद भक्त-प्रेमाधीन भगवान्ने और भी नयी बातें कही हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'सर्वथा असदाचारी (पापी) भी यदि अनन्यनिष्ठ होकर मुझको भजता है, तो उसको भी साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि उसने परमतत्त्वमें सम्यक् स्थिति प्राप्त कर ली है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति लाभ करता है । हे कौन्तेय ! तुम प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हो कि मेरा भक्त कभी नाशको प्राप्त नहीं होता । हे पार्थ ! जो लोग अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेते हैं, वे स्त्री हों, वैश्य हों, शूद्र हों किंवा किसी भी पापयोनिमें जन्म लिये हुए क्यों न हों, उनको भी परमगतिकी प्राप्ति होती है ।' यहाँ दृढ़तापूर्वक यह घोषणा की गयी है कि अनन्य भक्तके कृतार्थ होनेमें जाति अथवा कर्मकी नीचतासे कुछ भी बाधा नहीं होती । बाहरसे सुदुराचारी होनेपर भी वह साधु हो गया है, क्योंकि उसने सब धर्मोंके सार धर्म, समस्त पुण्योंके प्रधान प्रयोजनस्वरूप भगवद्भक्तिमें अनन्यता प्राप्त कर ली है । प्रयोजन सिद्ध होनेपर उपायका फिर क्या मूल्य रह जाता है ? भगवान् ही शाश्वत धर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हैं—

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।

भगवान्को आश्रयरूपमें प्राप्त करनेपर, भगवान्में आत्मसमर्पण करनेपर, अपने-आप ही शाश्वत धर्मके परिपूर्ण विग्रह और पराशान्तिके परम आश्रयके स्वरूपमें ऐकान्तिकी निष्ठा प्राप्त हो जाती है । ऐसे भक्तका अन्तर्जीवन भक्तिके द्वारा पवित्र भगवद्भावसे भावित होनेके कारण उसका बहिर्जीवन अपने-आप ही शुद्ध हो जाता है । केवल बहिर्जीवनकी साधुताकी अपेक्षा अन्तर्जीवनकी साधुता अधिक श्रेष्ठ है । ऐसा व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री, यागयज्ञादि सत्कर्म करनेवाला ब्राह्मण हो या कदाचारजीवी चाण्डाल, उसका सारा अभिमान और ममता, सब कर्म और कर्मफल सर्वपावन-पावन परम प्रेमसिन्धु भगवान्में समर्पित हो जानेके कारण उसकी परागतिमें कोई बाधा नहीं होती । वह शुभाशुभ जन्म-कर्मोंके प्राकृत विधानानुसार होनेवाले सभी फलोंसे भगवत्कृपाके प्रभावसे छूट जाता है, और सब अवस्थाओंमें भगवद्भावसे भावित होनेके कारण भगवान्को ही परिपूर्णरूपमें अपनेमें और विश्वमें सर्वत्र उपलब्ध और आस्वादन करता है ।

अनन्य भक्तके हृदयमें आविर्भूत भगवान्के इस प्रेमघनस्वरूपका परिचय,—भक्तके योगक्षेमको वहन करनेवाले, भक्त्युपहृत पत्र-पुष्पादिका भोजन करनेवाले, इहलोक और परलोकका सारा भार अपने ऊपर ले लेनेवाले, समस्त शुभाशुभ बन्धनसे मुक्त करनेवाले, हृदय-शतदलमें विहार करनेवाले और स्वयं अपनेको प्रदान कर देनेवाले प्रेम-मधुर स्वभावका परिचय देना ही नवम अध्यायकी विशेषता है, और इस तत्त्व तथा इसके अनुगामी साधनोंका ही गुह्यतम राजविद्याके नामसे उपक्रमणिकामें प्रशंसा की गयी है ।

मधुर अनुभूति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

धीरे-धीरे सचेत होकर लोग जाने लगे हैं। भीड़ घट गयी है। दो-चार गिने-चुने लोग इकट्ठे होकर आपसमें कुछ कह रहे हैं। क्या बात है, सुननेमें तो कोई आपत्ति नहीं? मालूम पड़ता है माँ यशोदा किसीसे कह रही हैं 'अभी-अभी मेरा कन्हैया सोकर उठा था। मैं उसे स्नान भी नहीं करा सकी, अच्छी तरह अञ्जन भी नहीं लगाया। आज मोर-मुकुट भी कुछ वैसा ही रहा। बड़ी जल्दी भग गया। जब मैं खिला रही थी कितनी शीघ्रता कर रहा था। भरपेट खाया भी नहीं। मक्खन-मिश्री अभी पड़ी हुई है। मैं बार-बार कहती थी—बेटा! थोड़ा और खा ले, अपने हाथसे उसके मुखमें डाल देती थी, फिर भी जितना खाना चाहिये, जितना औरोंने कलेऊ किया उसका आधा भी इसने नहीं किया। उफ! मेरा कन्हैया कितना सीधा-सादा है, अभी उसे दुनियाकी हवा ही नहीं लगी। जो बुलाता है उसीके पास दौड़ जाता है। किसीने ताली बजायी कि इसने नाचना शुरू कर दिया। रातमें चारपाई पर सो जाता है तो फिर सुबह ही उठता है। दिनभर थकनेके कारण तो ऐसा नहीं होता? अब कलसे उसे गौ चराने जानेसे रोकूँगी। समझाऊँगी कि कन्हैया! अकेले मत जाया कर, तू डर जायगा। यदि वह मान गया तो कितना सुख रहेगा, दिनभर आँखोंके सामने देखा करूँगी, बार-बार छातीसे सटा लूँगी। कई बार अपने हाथों खिलाऊँगी। उसका शरीर साफ कर दूँगी। उसे छोड़कर किसी दूसरे काममें न लगूँगी। कामकी क्या चिन्ता है, उसके लिये तो बहुत-से लोग हैं। कितनी मोहिनी मूरत है उसकी, जीमें तो यही आता है कि एक क्षणके लिये भी उसे आँखोंसे ओझल न होने दूँ।'

नन्द-बाबा भी कुछ कहते हुए-से जान पड़ते हैं—'कन्हैयाकी मा! रानी! इतना व्याकुल क्यों होती हो? गोपालन तो अपना कुलधर्म है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन किये बिना हम कैसे सुखी हो सकते हैं? मोहवश कर्तव्य-च्युत होना ठीक नहीं। हम अपनेको संभाल लें, थोड़ा कष्ट सह लें पर कन्हैयाको कर्त्तव्यसे विचलित न करें। इसीमें उसे प्रसन्नता है। गौओंका चराना उसे बड़ा अच्छा लगता है। उसे कोई परिश्रम थोड़े ही करना पड़ता है। गौएँ चाहे जितनी दूर गयी हों दूसरे ग्वाल-बाल उन्हें हाँक लानेके लिये चाहे जितने परेशान हो रहे हों, उसे तो सब गौओंको इकट्ठा कर लेना बायें हाथका खेल है। किसी घनी छायावाले कदम्बके पेड़के नीचे पहुँच एक टीलेपर खड़ा हो गया। कछौटी कस ली। पीताम्बर सँभाल लिया, मयूर-पिच्छोंको ठिकाने करके त्रिभंगी बनाकर खड़ा हो गया। बस, अब मुरली ही बजानेकी देर है। सब गौएँ दौड़ पड़ती हैं। उसने तो उन्हें यहाँतक सिखा दिया है कि वे अपना नामतक समझ जाती हैं और जहाँ उसने काली, गौरी, धौरी कहकर आवाज लगायी कि सब इकट्ठी हो जाती हैं। रानी! तुम सुनकर आश्चर्य करोगी कि उसकी बाँसुरीमें ऐसा जादू भरा है कि गौएँ उस समय जो अपने मुखमें ग्रास लिये रहती हैं उसे न उगल पाती हैं और न खा पाती हैं, वैसे ही मुँहमें लिये कान खड़ा करके मुँह उठा करके उसीकी ओर ताकती रह जाती हैं। बछड़े अभी-अभी जो दूध पीनेमें लगे थे वे दूधका घूँट न घूँटते न उगलते वैसे ही उसके पास खड़े रहते हैं। गौओं और बछड़ोंकी बात तो जाने दो,

हरिणियाँ अपने पतियों और छोटे-छोटे बच्चोंके साथ अपनी स्वाभाविक चञ्चलता छोड़कर निकट आकर खड़ी हो जाती हैं और अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंको अपलक करके उनका पूरा लाभ लेती हैं । उसके वनमें जानेसे कितने प्राणियोंको प्रसन्नता प्राप्त होती है इसका यहाँसे अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता । उसे देखकर वनके पत्ते-पत्ते खिल उठते हैं । हम अपनी तृप्तिके लिये उसकी प्रसन्नता और अनेकों प्राणियोंकी प्रसन्नतापर ध्यान न दें यह ठीक नहीं । इसलिये उसे टोकनेकी बात मुझे नहीं जँचती । अपना कलेजा कड़ा करके दिल मसोसकर हमें यह सब कुछ सहना ही पड़ेगा ।'

नन्दरानी कुछ नहीं बोल रही है, पतिकी आज्ञा है न ! उनकी इच्छाके विपरीत कैसे बोल सकती है ? इन बातोंके सुननेमें मैं तो भूल ही गया, जान पड़ता है वे पण्डितजी चले गये । अब मैं भी वनकी ओर चलूँ ।

दिन अधिक आ गया है । ग्वाल-बालोंकी मण्डली अधिक दूर निकल गयी होगी । गौओंके जानेके निशान देखते हुए चलना ठीक है, अच्छा इधरसे गौएँ गयी हैं, ये आदमियोंके जानेके चिह्न हैं । छोटे-छोटे बच्चे ही अधिक गये होंगे क्योंकि छोटे-छोटे पैर ही अधिक दीखते हैं । ऐं, यह चिह्न तो बड़ा विलक्षण है । इसमें कमल, वज्र, अङ्कुश और ध्वजाके आकार स्पष्ट दीख रहे हैं । तो क्या ये मेरे कन्हैयाके चरण-चिह्न हैं ? यह धूलि भी आज मुझे सुलभ हो गयी । इसे सिरपर चढ़ा लूँ, आँखोंमें लगा लूँ, कलेजेसे सटा लूँ, इसीमें लोटूँ या क्या करूँ ? बुद्धि काम नहीं करती । लोटने लगूँगा तो देर हो जायगी, वहाँ पहुँचना है, इस समय न जाने क्या खेल खेलते होंगे, सम्भव है किसी सखाके पीठपर चढ़ रहे हों या किसीकी आँखें बंद करके उससे पूछ रहे हों नाम बताओ तो छोड़ूँ और वह जान-बूझकर उनके स्पर्शका सुख लूट रहा हो । जल्दीसे उनका नाम न बतलाता हो । बड़ा आनन्द होगा, मैं कब पहुँचूँगा ? मैं पक्षी होता तो उड़कर अभी पहुँच जाता । यदि ब्रह्माने मुझे वायुकी गति दी होती तो आज मैं कितना सुखी होता परन्तु ऐसा नहीं है, अभी पहुँचनेमें न जाने कितनी देरी होगी । कुछ आदमियोंकी आवाज आ रही है देखूँ कौन है ! बड़ी सुन्दर आकृति मालूम पड़ती है । ये तो दो दिव्य पुरुष हैं । एकके सिरपर पिङ्गल जटा है, गौर वर्ण है, हाथमें वीणा और माला दीख रही है । अभी अवस्था अधिक नहीं जान पड़ती । दूसरा विद्यार्थी-सा मालूम पड़ता है । हाँ, पहचान गया । ये तो देवर्षि नारद हैं । इधर कहाँसे आ गये ? अथवा यह आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? जहाँ कन्हैया हैं, वहाँ उसे देखनेके लिये भला ये कैसे नहीं पहुँचेंगे ? कुछ बात कर रहे हैं । देवर्षि नारद तो प्रेमके आचार्य हैं इनकी बात प्रेममयी ही होगी, ये भला दूसरी बात क्यों करने लगे ? इनकी बात सुननेमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ये तो महात्मा हैं, भगवान्के पार्षद हैं । इनकी सभी बातें लोक-कल्याणके लिये ही होती हैं और दूसरी बात यह है ये उधर ही चल रहे हैं । इनकी बात सुनते-सुनते मैं भी चलता रहूँगा । आज अवश्य कोई बहुत सुन्दर लीला होनेवाली होगी । ये बात करते हुए भी बड़ी तेजीसे जा रहे हैं ।

'भाई ! आजकल दिनभर स्वर्ग सूना ही रहता है—सभी देवता और उनकी पत्नियाँ विमानोंपर चढ़कर यहीं आ जाती हैं । देखते नहीं आकाशमण्डल विमानोंसे भर रहा है ? इन्द्र-इन्द्राणी, ब्रह्मा-ब्रह्माणी, सभी तो इस दुर्लभ, दिव्य लीलाको देखनेके लिये उत्सुक रहते हैं । आजकल भोलेबाबाने भी कैलास छोड़कर यहीं डेरा जमा लिया है, वे ग्वालके वेशमें रहते हैं, हमारे कन्हैयाके अन्तरङ्ग सहचरोंमें एक हो

गये हैं और पार्वतीजी भी यहीं एक सखीके रूपमें हैं। और तो कहाँ जाऊँ ? कहीं मन भी तो लगे ? जहाँ रहता हूँ मालूम होता है सारे संसारमें बाँसुरीकी मधुर ध्वनि भर रही है। आजकल सनकादि समाधि नहीं लगाते। ब्रह्माने अपना सृष्टिकर्म छोड़ दिया है। इन्द्रको स्वर्गकी परवा ही नहीं ! यमराजकी बही लिखी नहीं जाती। नरकसे पापी स्वच्छन्द होकर निकल रहे हैं। कोई रोकनेवाला नहीं। इस बाँसुरीने गजब ढा दिया है। देखे बिना रहा नहीं जाता, कितना सुन्दर, कितना मनोहर, कितना आकर्षक रूप है ? देखो ! अब हम निकट पहुँच गये हैं, स्पष्ट दीख रहा है, कैसी अनुपम शोभा है। सरकार एक सखाके कंधेपर एक हाथ रखकर खड़े हैं। मुखमण्डलसे सहस्रों चन्द्रमाके समान शीतल किन्तु करोड़ों सूर्योंके सदृश दिव्य प्रकाश निकल रहा है। प्रकाशकी उज्ज्वलताके अंदर श्यामताकी छटा अनोखी ही है। गलेमें वनमाला पड़ी है। सिरपर मयूरपिच्छ शोभायमान है। नटोंके समान कछनी कसी है। कंधोंपर पीताम्बर फहरा रहा है। दूसरे हाथसे कमल लेकर बड़ी ही सुन्दरताके साथ उसे नचा रहे हैं। इस समय बाँसुरी कमरमें खोंस ली है। कमल नचानेसे सिर हिलनेके कारण घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटककर परमानन्दका आस्वादन कर रही हैं। कैसी प्रेमभरी प्रफुल्लित आँखें हैं। तोतेके चोंचके जैसी नुकीली नासिका है। बिम्बाफलके समान लाल-लाल होठ हैं। लंबे ललाटपर गोरोचनका तिलक है। कितना सुन्दर मुख है ? आँखें बरबस खिंची जा रही हैं। हृदय उछलकर चूम लेना चाहता है। पर क्या करें इस समय पास जाना ठीक नहीं जान पड़ता। यदि यहींसे इन मधुर लीलाओंका आस्वादन करते रहें तो बड़ा अच्छा है। उनके खेलमें कोई बाधा न पड़े और हम भी अपने जीवनका लाभ लेते रहें। सुनो तो, सुबलसे क्या कह रहे हैं'—

'सुबल ! तुम मुझे बड़े सुन्दर लगते हो। इच्छा होती है तुम्हारे साथ खेला करूँ। तुम्हारे घर चला करूँ। हमारी मित्रता हमेशाके लिये पक्की रहे। हम दोनों एक गोलमें ही रहें। अब देखो भैया बलराम और श्रीदामा आदि गोप आ रहे हैं, उनके साथ आज एक खेल खेलना है, तुम मेरे साथ रहना।'

'मेरे कन्हैया ! मैं तो यही चाहता ही था। मेरे हृदयमें न जाने कबसे यही भाव उठ रहे थे। जब मैं घर जाता हूँ तब मेरी बहिन तुम्हारी बात पूछा करती है, वह बहुत भोली है। हम लोगोंकी छोटी-से-छोटी बात जानना चाहती है। एक-एक करके पूछती है। तुम्हारी चर्चा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती है। माताजीने तो एक दिन यह प्रस्ताव किया था कि इसको शादी कन्हैयाके साथ कर दी जाय परन्तु पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया। यों तो मैं पहलेसे ही तुम्हारा हूँ, मेरा हृदय तुम्हारे हाथ बिक गया है। पर उस दिन सम्बन्धकी बात सुनकर और दृढ़ हो गया। तुम्हें देखे बिना रहा नहीं जाता। मेरे प्यारे कन्हैया ! मुझे कभी मत छोड़ना, सर्वदा अपने साथ ही रखना। मैं सर्वथा तुम्हारा ही हूँ। अब ये लोग आ गये। इनके साथ कोई खेल खेला जाय।'

नारदजी तो मुग्ध हो रहे हैं। इनकी बातें सुन-सुनकर इनकी रूप-माधुरीका अतृप्त आँखोंसे उन्मुक्त हृदयसे पान करते-करते अघाते ही नहीं और उस स्नातककी क्या दशा हो रही है ? आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही है। सारा शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, आँखें निर्निमेष उधर ही लगी हुई हैं। सचमुच इनके रूपमें कौन-सा विलक्षण रस है ? सभी पागल-सरीखे हो रहे हैं और मैं ? मेरा हृदय बड़ा कठोर है। यह वज्रका बना हुआ है। मैं सब देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ पर जैसे-का-तैसा बना हूँ। हाँ बलराम, श्रीदामा आदि आ गये—कुछ कह रहे हैं।

'भैया ! आज हम गौओंके पीछे-पीछे बहुत दूर चले गये थे, आनेमें देर हो गयी। यहाँ रहते तो अबतक खेलते होते। कितना आनन्द रहता, इतना समय तुमसे अलग रहकर बीता, कितना बुरा हुआ। आओ ! अब कोई ऐसा खेल खेलें कि बड़ी मस्तीके साथ दिन बीत जाय।'

'हाँ हाँ, मैं तो कबसे प्रतीक्षा कर रहा था, सुबलसे मैंने कहा भी था अब कोई खेल शुरू हो। अच्छा तुम्हीं बताओ क्या हो?—क्या कहते हो आँख-मिचौनी खेलें? उधर देखो श्रीदामाकी सम्मति नहीं मालूम पड़ती, वह तो कह रहा है दौड़कर छूनेकी होड़ लगायी जाय पर कुश्ती हो। बलिष्ठ है न ! उसे यही सब रुचता है। अपने सामने मानो किसीको गिनता ही नहीं। निर्बल ग्वाल-बालोंकी परवा ही नहीं करता। हाँ, मधुमङ्गल ! तुम बताओ तुम्हारी क्या इच्छा है? आज जो तुम कहो वही खेल खेला जाय। अच्छा तो तुम क्या कह रहे हो?'

'भैया ! खेल तो पीछे खेला जायगा अभी तो पेटमें चूहे कूद रहे हैं, पहले पेटपूजा हो ले तो फिर चाहे जो खेल खेलना।'

'हाँ, बात तो सच्ची है। दो पहरके करीब दिन आ गया। अब तो कलेवा करनेका समय ही है। आखिर तो मधुमङ्गल ब्राह्मण है न। भोजनके बारेमें ये लोग बड़े होशियार हुआ करते हैं। अच्छा आओ, पत्ते तोड़ लें। कुछ लोग जाकर जल ले आवें। इसी वृक्षके नीचे बैठकर आनन्दसे भोग लगे।'

यह देखो लड़के दौड़ पड़े। कोई पत्ता तोड़ रहा है, कोई पेड़के नीचे झाड़ू लगा रहा है, कोई पानी लानेके लिये यमुनाकी ओर दौड़ा जा रहा है, कोई पेड़पर टँगे हुए छींकेको उतारकर खोल रहा है, बड़ी चहल-पहल है। सभी हँस रहे हैं। सबके शरीरमें बड़ी स्फूर्ति मालूम हो रही है। इधर कन्हैया भी इकट्ठी की हुई सामग्रीको सजा रहे हैं। कितना आनन्द है, यदि इसी तरह देखते रहनेका सौभाग्य हो तो फिर क्या कहना है। इधर नारदजी बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। अपने साथीसे जो कुछ कह रहे हैं, वह सुनने ही लायक है।

'आज कितने सौभाग्यका दिन है कि भगवान्का साक्षात् प्रसाद प्राप्त होगा। जो ब्रह्मा, शङ्कर, लक्ष्मी और बड़े-बड़े महापुरुषोंको भी दुर्लभ है वही प्रसाद हम बड़ी प्रसन्नताके साथ पायँगे। यह वृन्दावन, यह गोवर्धन कितने महान् भाग्यवान् हैं। इनके सौभाग्यका क्या कहना है। ये अपने झरनोंके जल, अपने वृक्षोंके पत्ते फल-फूल-छाया दान करके अपना जीवन सफल कर रहे हैं। भगवान् इनकी झुरमुटोंमें, कन्दराओंमें छिपकर खेलते हैं, वर्षासे, घामसे बचनेके लिये इनके अंदर बैठते हैं और इनके कन्द-मूल-फल खाते हैं। देखते नहीं घरसे कितने व्यञ्जन लाये हैं फिर भी वे ग्वाल-बालोंसे कह रहे हैं देखो उस टेंटीका फल तोड़ लाओ, वह मुझे बहुत रुचता है। कईके पत्ते मँगा रहे हैं कि उनकी चटनी बनाओ। यह वृक्षोंका सौभाग्य है। वृन्दावनकी महिमा है और उन भक्तवत्सलकी अपार कृपा है। महात्मा लोग अपने हृदयमें जिन्हें ब्रह्म समझकर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि करते हैं, प्रेमी भक्त जिनके चरणोंकी सेवा करके प्रेमरसमें तल्लीन हो जाते हैं, कर्मियोंकी दृष्टिमें जो सारे कर्मोंके प्रवर्तक और मूल आधार हैं वे ही लीलामय प्रभु आज ग्वाल-बालोंके साथ जङ्गलमें पत्तेपर खाने जा रहे हैं। देखो ! कितना प्रेम है? कितना आनन्द है? अब पङ्क्ति बैठने जा रही है। देखो देखो ! कैसा लोकोत्तर सौन्दर्य है, अवर्णनीय शोभा है।

बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं। चारों तरफ गोलाकार मण्डल बनाकर ग्वाल-बाल बैठे हैं। सबका मुख भगवान् श्रीकृष्णकी ओर है। सभी हँस रहे हैं। क्या बात है? भगवान् जो कुछ अपने पत्तेपर रखते हैं उन्हें धीरेसे कोई दूसरा खींच लेता है। वे मुखमें डालनेके बाद ग्रासका कुछ अंश अपने हाथमें रख लेते हैं तो कोई छीननेके लिये झपट पड़ता है। यह देखो! उनके सारे मुखपर दही लिपट गया। सब कह-कहा लगा रहे हैं। इस छीना-झपटीमें बाँसुरी कमरसे गिर पड़ी। वह देखो कोई छिपा रहा है। ऐं, वनमाला पीठकी तरफ चली गयी!

इस छीना-झपटीमें भगवान् श्रीकृष्णकी बन गयी। वे बड़ी शान्तिसे खा रहे हैं। हाथोंमें दही-भात कितना सुन्दर मालूम हो रहा है। नीले मुखपर, लाल ओठोंपर उनकी उज्ज्वलता और भी बढ़ जाती है। दाँतोंसे ऐसी उज्ज्वल ज्योति निकल रही है जिससे उसपर सटे हुए चावलोंका पता नहीं चलता। उनकी आँखें सभीकी पत्तलोंपर पहुँच जाती हैं। किसे क्या चाहिये इसका बराबर खयाल बना हुआ है। बड़े प्रेमसे, आग्रहसे सभीको और लेनेके लिये बाध्य कर रहे हैं, कैसा सौभाग्य है। इन ग्वाल-बालोंका क्या पुण्य है? भगवान्ने इन्हें किस साधनाके बलपर इस प्रकार अपना लिया? क्या किसी साधनामें भी यह शक्ति है कि वह भगवान्को इस तरह अपनानेके लिये विवश करे? नहीं, कभी नहीं। यह तो इन्हींकी अपार कृपा है चाहे जिसे अपनालें। पात्रकी योग्यता क्या महत्त्व रखती है? ये जिसे अपनालें वही पात्र हो जाता है। पर हमारे भाग्य भी कम प्रशंसनीय नहीं हैं। हमें यह देखनेका अवसर मिला यही क्या कम कृपा है? हाँ, मैं क्या-क्या सोचने लगा? यह सब तो खा चुके। हाथ धो रहे हैं। श्रीदामा क्या कह रहा है कि अब खेल शुरू हो। सभी उछलते हुए-से मालूम पड़ते हैं। मधुमङ्गलकी बुरी दशा हो रही है, पेट निकल आया। कुछ कहता है ऐं! भैया अब तो मैं सोऊँगा। भोजनके बाद आराम करना ही चाहिये। खेल-कूदका भी समय होता है। मुझसे तो अब उठा नहीं जाता। सब एक स्वरमें कह रहे हैं, नहीं हम तो खेलेंगे, अवश्य खेलेंगे। दिनमें आलसी सोते हैं। बच्चे भी कहीं सोते हैं? हमारा काम तो खेलने-कूदनेका है।

अच्छा, यह सब तो खेलनेमें जुट गये। ऐसा मालूम होता है कि सब छिपने जा रहे हैं और भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें ढूँढेंगे। जिन्हें वेद ढूँढते-ढूँढते हार जाते हैं वे भगवान् आज इन अहीरोंके छोकरोंको ढूँढने जा रहे हैं। देखो! अब वहाँसे सब दूर चले गये। चलो, हम सब वहाँ पड़ी हुई जूठनको बीनकर खायँ और अपना जीवन सफल करें।'

हाँ, नारदजी तो अपने स्नातकके साथ भगवान्का प्रसाद पानेमें मस्त हैं। उनके चेहरेसे कितनी प्रसन्नता, कितना प्रेम और कितना आनन्द निकल रहा है। उनकी तल्लीनता देखने ही योग्य है। वह कमण्डलुके जलसे हाथ धो रहे हैं और स्नातकसे कुछ कह रहे हैं। भाई! मैंने तुमसे एक बात अबतक नहीं कही थी। आज माँ लक्ष्मी राधाका दर्शन करनेके लिये यहाँ आनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था भगवान्की आह्लादिनी शक्ति इस समय व्रजमण्डलमें अवतीर्ण हुई है। भगवान्का वही प्रेममय, आनन्दमय मूर्तरूप है। हमें भी उनके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं आऊँगी, तुम समयपर वहाँ उपस्थित हो जाना, हम सब उनका दर्शनकर कृतार्थ होंगे। सो भैया! अब वहाँ

चलना चाहिये । यह देखो ! नारदजी अपनी वीणापर कुछ गुनगुनाते हुए बरसानेको ओर जा रहे हैं । कैसा सुन्दर स्वर है । कितना मधुर पद है—

चेतश्चिन्तय चिन्मयभासं नूतनजलधररुचिरविकासम् ।
पीतवसनधरसुन्दरनटवरमधुरपिकस्वरसुललितहासम् ॥

बार-बार उलटकर इधर देखते हैं और फिर वीणाकी मीड़ें छेड़ते हुए धीरे-धीरे गायन करते हुए जा रहे हैं । अब तो उनकी ध्वनि स्पष्ट नहीं सुन पड़ती । मेरे कन्हैया भी उन्हें ढूँढनेके लिये कहीं चले गये हैं । अब तो प्रसाद पानेका अच्छा अवसर है । चलो खूब पावें । यहीं तो बैठे हुए थे । ये चावल गिरे हैं, आह ! कितना सुन्दर स्वाद है, इनमें कितनी मधुरता है । यह दही है । ये फल हैं आज इन्हें पाकर जन्म सफल हुआ । किसीकी पद-ध्वनि मालूम होती है । यहाँ कौन ? कोई मुझे देख तो नहीं रहा है ? हाँ, अब तो पद-ध्वनि बहुत निकट जान पड़ती है । ये सब मयूर उधर ही देख रहे हैं । ये हरिणियाँ जो अभी बड़ी शान्तिके साथ चर रही थीं एकटक देखती हुई उधर ही बढ़ रही हैं, बात क्या है ? अच्छा ! अब समझा, कन्हैया अकेले ही इधर आ रहे हैं । क्या अब मैं छिप जाऊँ ? सामने जानेकी हिम्मत नहीं पड़ती । मेरे-जैसा पापी नीच अनधिकारी क्या उनके सामने जानेका साहस कर सकता है ? मैं अलग आड़में खड़ा हो जाऊँ, वह इधरसे निकल जाँय, तभी ठीक है । पेड़ोंकी ओटसे देखनेका सौभाग्य ही क्या कम है ?

अरे ! वह तो इधर ही आ रहा है । उसने मुझको देख लिया क्या ? मालूम तो ऐसा ही पड़ता है । तब क्या मुझसे बातें करेगा ? मुझे भी अपना बनायेगा । क्या यह सम्भव है ? पर उसके लिये असम्भव क्या है ? उसका हृदय बड़ा कोमल है । कुछ इशारा कर रहा है । मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ आँखोंके इशारेसे मुझे बुला रहा है । क्या मैं दौड़कर चरणोंपर पड़ जाऊँ ? नहीं-नहीं, मैं चरणोंके स्पर्शका अधिकारी नहीं हूँ । तब क्या वह मेरी ओर स्वयं आ रहा है, ऐं, मैं जमीनपर गिर रहा हूँ । क्या ये उसके चरण हैं ? मैं सचमुच उनका दिव्य स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ । क्या यह स्वप्न है ? भला यहाँ स्वप्नका क्या काम ? मैं अपने दोनों हाथोंसे उन सुकुमार दिव्य चरणोंका साक्षात् स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ । कन्हैया ! मेरा स्पर्श मत करो । अपने कोमल करकमलोंसे मुझ पापीका स्पर्श मत करो । अरे ! क्या तुम मुझे उठाकर छातीसे लगाना चाहते हो । नहीं-नहीं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ । अच्छा क्या न मानोगे ? मत मानो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो । यह शरीर तुम्हारा है । यह हृदय-प्राण सब कुछ तुम्हारा है । मैं तुम्हारा हूँ । तुम्हें अधिकार है चाहे जो कर लो । बस, मैं कुछ नहीं बोलता । बोला ही नहीं जाता !!

जगद्गुरु स्वामी आदिशङ्कराचार्यका समय-निरूपण

(लेखक—पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

यद्यपि भारतीय इतिहासकी सामग्रीकी प्रचुरता और इस दिशामें देश और विदेशके विद्वानोंके गवेषणापूर्ण विचारोंकी अधिकतासे इतिहास-प्रसिद्ध स्वामी आदिशङ्कराचार्यके समान महापुरुषके समयका निरूपण करना एक सरल एवं सुखसाध्य कार्य था, तथापि विदेशीय इतिहासलेखकोंके दृष्टिकोणने और उनके ही पदानुगामी भारतीय इतिहासलेखकोंके विचारोंने इस कार्यको ऐसा जटिल बना दिया है, इस मार्गको ऐसा अन्धकारमय और कण्टकाकीर्ण बना दिया है कि साधारण व्यक्तियोंको उसका सुलझाना अथवा उस मार्गकी ओर बढ़ना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो गया है।

एक ओर आचार्यका समय ईसवी सन्‌की आठवीं शताब्दीका अन्तिम समय सिद्ध किया जाता है, तो दूसरी ओर ईसवी सन्‌के आरम्भके पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें आचार्यका होना बतलाया जाता है। इतना ही नहीं इस चौदह सौ वर्षोंके बीचमें और भी न जाने कौन-कौन-से समय आचार्यके आविर्भावके लिये निश्चित किये जाते हैं। इन विभिन्न समयोंके निरूपण करनेवाले विद्वान् अपने-अपने विचारके लिये कारण भी बतलाते हैं और प्रमाण भी दिखलाते हैं। अवश्य ही इस प्रकारका मतभेद बड़े-बड़े विद्वानोंके विचारोंमें और लेखोंमें देखकर साधारण व्यक्तियोंका साहस टूट जाता है और लोग सोचने लगते हैं कि यह विषय हमलोगोंके बूतेका नहीं है।

किन्तु हम इस कार्यमें इस आशासे प्रवृत्त हो रहे हैं कि जो कार्य बड़े-बड़े प्राणी नहीं कर पाते उस कार्यको छोटे-छोटे जीव कर डालते हैं। बालू और शक्करको मिला देनेपर उनके बिलगानेका कार्य हाथी नहीं कर पाता किन्तु चींटियाँ आसानीके साथ कर डालती हैं। इसी प्रकार इस ऐतिहासिक समयको जो विदेशियोंके दृष्टिकोणने पूर्वापरके दीर्घकालमें मिला दिया है यदि बड़े-बड़े विद्वान् बिलगा नहीं रहे हैं तो हमलोग क्यों न बिलगानेकी चेष्टा करें और इस पूर्वापरके चौदह सौ वर्षोंके बीचसे अपने आदिशङ्कराचार्यके आविर्भाव-समयको पृथक् करनेमें क्यों न प्रवृत्त हों।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् रा० ब० पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाने प्राचीन इतिहासकी सामग्रीको चार भागोंमें बाँटा है—

(१) हमारे यहाँकी प्राचीन पुस्तकें।

(२) यूरोप, चीन, तिब्बत और सीलोनवालोंकी तथा मुसलमानोंकी लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें।

(३) प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्र।

(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा तथा शिल्प।

अवश्य ही इन्हीं चार भागोंके अन्तर्गत प्राचीन इतिहासकी अधिकांश सामग्री आ जाती है किन्तु हमारे विचारमें जनश्रुति भी एक विशेष बात है। इसी जनश्रुतिके आधारपर प्राचीन कालके विदेशीय यात्रियोंने हमारे देशके अधिकांश वृत्तान्तोंको लिखा है जो आज दिन हमारे देशके पुष्टतर प्रमाणसिद्ध वृत्तान्तोंसे भी अधिक आदरणीय और प्रामाणिक माने जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जनश्रुतियोंमें प्रायः असत्य, अत्युक्ति और न्यूनोक्तियोंकी भरमार रहती है और इसी कारण विदेशीय यात्रियोंकी लिखी हुई उन प्राचीन पुस्तकोंमें जो वृत्तान्त जनश्रुतिके ही आधारपर लिखे गये हैं, वास्तविकतासे बहुत ही दूर सिद्ध हो रहे हैं, फिर भी यदि अन्यान्य प्रमाणोंके साथ-साथ जनश्रुतिको भी हम मिला लें तो इतिहासकी खोजमें कम सहायता नहीं मिल सकती।

हमारे आचार्यके समयनिर्णयके सम्बन्धके सिक्के, मुद्रा तथा शिल्प हमको नहीं मिलते, अद्यावधि प्राचीन शिलालेख भी हमको नहीं मिले। हाँ, दो ताम्रपत्र ऐसे पाये गये हैं जिनसे स्वामी आदिशङ्कराचार्य अथवा शङ्कराचार्य नामके किन्हीं आचार्यके समयका ज्ञान होता है। विदेशीय विद्वानोंकी पुस्तकों तथा विधर्मियोंकी पुस्तकोंमें भी हमको शङ्कराचार्यका नाम और इस नामके व्यक्तिके समयका पता चलता है और कुछ प्राचीन पुस्तकोंसे भी हमको शङ्कराचार्यके समयका ज्ञान होता है। किन्तु उपर्युक्त ऐतिहासिक सामग्रियोंसे विदेशीय विद्वानोंने तथा भारतके इतिहासप्रेमी विद्वानोंने जो आदिशङ्कराचार्यके समयका विचार किया है उसमें बहुत बड़ा मतभेद है।

हुएनसांग नामके एक चीनी यात्रीने सातवीं ईसवी शताब्दीमें भारतकी यात्रा की थी। उसने शङ्कराचार्यकी चर्चा अपनी यात्राकी पुस्तकमें नहीं लिखी अतएव श्रीयुत अक्षयकुमारदत्तने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ—'भारतवर्षीय उपासकसम्प्रदाय' में शङ्कराचार्यके समयके सम्बन्धमें लिखा

है कि—'चीन देशके तीर्थयात्री 'हिउएन्सांग'ने सप्तम खीष्टाब्दके पूर्वार्द्धमें भारतमें अनेक वर्षतक रहकर सभी स्थानोंको भ्रमण करके भारतवर्षीय ज्ञान, धर्म तथा अन्यान्य नाना विषयोंके सम्बन्धमें जो सविशेष वर्णन किया है, यदि उस समय अथवा उससे कुछ समय पूर्व हिन्दूसमाजमें तादृश धर्मविप्लव सङ्घटित होता या धर्मान्दोलन उपस्थित होता (जैसा कि स्वा० शङ्कराचार्यके समयमें हुआ है) तो उस यात्रीके भ्रमणविवरणमें उस विषयका प्रसङ्ग न आना यह सम्भव नहीं। क्योंकि उस भ्रमणविवरणमें इस प्रकारके धर्मान्दोलनका कुछ भी निदर्शन नहीं है अतएव उस समयके पश्चात् किसी समयमें शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव सब प्रकारसे सङ्गत प्रतीत होता है। जहाँतक बुद्धि जाती है यही विचारमें आता है कि शाङ्करभाष्यकी रचनाका समय सन् ८०४ ई० का है।' यही मत 'बौद्धधर्म' नामक पुस्तकके लेखक श्रीसत्येन्द्रनाथ ठाकुरका भी है (देखो बौद्धधर्म पृ० २६)।

उपर्युक्त दोनों वङ्गीय विद्वानोंके मतसे हमारे आदिशङ्कराचार्यके प्रादुर्भावका समय ईसवी सन्की आठवीं शताब्दीका अन्तिम भाग प्रमाणित होता है किन्तु विचारदृष्टिसे देखें तो 'हिउएन्सांग' के लेखसे ही प्रतीत होता है कि उसकी भारतयात्राके समय अथवा उसकी यात्राके कुछ समय पूर्व नहीं, बहुत दिन पूर्व ही आदिशङ्कराचार्यने बौद्धधर्मविरोधी नहीं, वैदिकधर्मप्रतिपादक वेदान्तधर्मका डंका बजाया था और उसीके प्रभावसे 'हिउएन्सांग'के समयमें अनेकानेक बौद्धस्थान भग्नावस्थामें, खँड़हरके रूपमें तथा अनेक स्थान वैदिकधर्मावलम्बियोंके अधिकारमें हो गये थे किन्तु फिर भी बौद्धों और वैदिकोंमें उस समय विरोधकी अधिक चर्चा न थी। यद्यपि पाश्चात्य विद्याभिमानी जन 'हिउएन्सांग' को यात्रापुस्तकको अधिक महत्त्व देते हैं और उसके द्वारा तत्कालीन भारतकी बहुत-सी बातोंका पता भी चलता है तथापि विवेकपूर्वक उस पुस्तकको पढ़ें तो प्रतीत होता है कि उसने अधिकांश बातें एक स्थानपर बैठे-बैठे लोगोंकी दन्तकथाओंके आधारपर और अपनी तथा अपने महायानपक्षीय बौद्धोंकी प्रशंसाके हेतु कल्पित लिखी हैं। जब कि देशभरके भ्रमणमें उसने बौद्धतीर्थों और बौद्धधर्मके अनुयायियोंके अतिरिक्त हमारे तीर्थोंकी चर्चा नहीं की, हमारे वैदिक विद्वानोंका नामतक नहीं लिया, तब क्या यह सम्भव नहीं कि उस समयके बौद्धधर्मविरोधी देशव्यापी प्रबल आन्दोलनको भी उसने नहीं लिखा। सारांश यह कि 'हिउएन्सांग' की यात्रापुस्तकमें आदिशङ्कराचार्यकी चर्चा न आनेसे यह अनुमान करना सर्वथा अनुचित है कि उसकी यात्राके पश्चात् आठवीं शताब्दीमें आदिशङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ है।

लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर तिलकने अपने गीतारहस्यके परिशिष्टके पाँचवें भागमें लिखा है कि—'प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठकने एक साम्प्रदायिक श्लोकके आधारपर श्रीशङ्कराचार्यका जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् निश्चित किया है परन्तु हमारे मतसे इस कालको सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिये। क्योंकि महानुभाव पन्थके 'दर्शनप्रकाश' नामक ग्रन्थमें यह कहा है कि—'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक ६४२ (विक्रमी संवत् ७७७) में श्रीशङ्कराचार्यने गुहामें प्रवेश किया और उस समय उनकी आयु ३२ वर्षकी थी, अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक ६१० (वि० संवत् ७४५) में हुआ। हमारे मतमें यही समय प्रोफेसर पाठकद्वारा निश्चित किये हुए कालसे कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।'

लोकमान्य तिलकने 'दर्शनप्रकाश' के कर्ता महानुभाव पन्थजीके वचनमें क्या विशेषता पायी और क्यों पाठकजीकी अपेक्षा पन्थजीके लेखको अधिक सयुक्तिक लिखा यह तो भगवान् जानें किन्तु प्रोफेसर पाठकजीके पक्षमें हमको अधिक प्रमाण मिलते हैं। आर्यविद्यासुधाकरमें यज्ञेश्वर शास्त्रीने लिखा है कि—

शङ्कराचार्यप्रादुर्भावस्तु विक्रमार्कसमयादतीते पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशतीमिते संवत्सरे केरलदेशे कालपीग्रामे···। तथा च साम्प्रदायिका आहुः—निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे। शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः ॥ इति ३८८९ ॥ तथा च शङ्करमन्दारसौरभे नीलकण्ठभट्टा अपि एवमाहुः। प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्यामेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्रयाम् ॥ ३८८९ ॥

अर्थात्—शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव ८४५ विक्रमसंवत्में केरलदेशके कालपी ग्राममें हुआ था, जैसा कि सम्प्रदायके जाननेवालोंने कहा है कि ३८८९ (कलियुगीय) गताब्दमें विभव नामक संवत्सर, वैशाखमास, शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको शङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार शङ्करमन्दारसौरभमें नीलकण्ठ भट्टने भी लिखा है कि कलियुगीय चार हजार गताब्दमेंसे एक सौ ग्यारह वर्ष घटा देनेसे जो संख्या शेष रहती है उतने कलिगताब्दमें शङ्कराचार्य प्रादुर्भूत हुए

हैं। इन सबके मतसे शङ्कराचार्यका प्रादुर्भावकाल विक्रम सं० ८४५ ही होता है।

श्रीउपेन्द्रचन्द्र मुखोपाध्यायने अपने वङ्गीय चरिताभिधान ग्रन्थमें जो कुछ लिखा है उसका सारांश यही है कि वेदान्त-सूत्रके भाष्यकर्ता स्वामी शङ्कराचार्य सन् ७८८ ई० (वि० संवत् ८४५) के वैशाख शुक्ल द्वादशीतिथिको दाक्षिणात्य देशके अन्तर्गत केरल राज्यके चिदम्बर ग्राममें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम 'शिवगुरु' और माताका नाम 'विमला' था। इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें भाष्यकी रचना की और सन् ८२० ई० (वि० सं० ८७७) में ३२ वर्षकी अवस्थामें कैलासपर्वतपर निर्विकल्प समाधिके द्वारा मोक्षगामी हुए। सारांश यह कि इस मतसे भी वही प्रो० पाठकजीका मत पुष्ट होता है।

भारतवर्षकी सभ्यता नामक पुस्तकमें सर रमेशचन्द्र-दत्तने लिखा है कि 'प्रसिद्ध शङ्कराचार्य जो कि ८ वीं शताब्दीके अन्तमें हुआ, हिन्दूधर्म (वैदिकधर्म) को पुनर्जीवित करनेका बड़ा भारी पक्षपाती और बौद्धधर्मका सबसे बड़ा विरोधी हुआ।' (पौराणिक कालकी सभ्यताका चौथा भाग) इससे भी प्रो० पाठकका मत पुष्ट होता है।

रा० ब० पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक पुस्तकमें लिखा है कि—'यदि शङ्कराचार्यका जन्म ई० सन् ७८८ (वि० सं० ८४५) और देहान्त ३८ वर्षकी अवस्थामें (केरलोत्पत्तिके अनुसार) माना जावे तो उनका देहान्त ई० सन् (७८८+३८) ८२६ में होना स्थिर होता है।' सारांश यह कि ओझाजीके मतसे भी आचार्यका जन्मकाल प्रो० पाठकके अनुरूप ही आता है।

श्रीप्रियादासजीके भक्तमालकी टीकामें श्रीसीताराम-शरण भगवानप्रसाद रूपकलाजीने श्रीशङ्कराचार्यका जन्म-समय वही ८४५ विक्रमसंवत् लिखा है जो प्रो० पाठकजीने लिखा है किन्तु अन्तमें यह भी लिख दिया है कि 'किसीने कलिसंवत् २५०० ही लिखा है।' पता नहीं रूपकलाजीने किसके मतसे कलि सं० २५०० का उल्लेख किया है। सारांश यह कि रूपकलाजीका मत भी प्रो० पाठकके अनुरूप ही है।

सरस्वती मासिक पत्रिकाके भाग १२ सं० २ के पृ० ७३—७५ में एक लेख छपा था जो मद्रासके इण्डियन रिव्यू नामक अंग्रेजी मासिक पत्रकी जुलाई सन् १९१० ई० की संख्यामें लिखित कोचीन गवर्नमेण्टके ज्योतिषी मि० सी० पी० पिचु ऐयरके लेखका सारांश था। उस लेखमें दक्षिण देशकी प्रसिद्ध जनकथा और शङ्करविजयकाव्यके आधार-पर शङ्कराचार्यका समय निश्चित किया गया है। मि० सी० पी० पिचु ऐयरने शङ्कराचार्यकी जन्मपत्रिकाका उल्लेख भी किया था जो इस प्रकार है।

विक्रम सं० ८६३ कलिवर्ष ३९०७ वैशाख शुदि ५ सोमवार, आर्द्रा नक्षत्र, कर्क लग्न और कलिसे सौर अहर्गण १४२६७१५ घटी १७ पल २५।

जन्मकुण्डलीके ग्रह

सू०	चं०	मं०	बु०	बृ०	शु०	श०	रा०	के०
०	२	९	१	३	१	६	६	०
१६	६	२९	१	१९	२९	१३	७	७
३६	४५	५०	५८	४१	२७	२७	४४	४४

इस लेखके द्वारा भी आचार्यका जन्म आठ सौ वर्ष विक्रमसंवत्के बाद ही सिद्ध होता है और प्रो० पाठकके जन्मकालसे केवल १८ वर्ष अधिक होता है किन्तु महानुभाव पन्थके समयसे ११८ वर्षका अन्तर पड़ता है।

पूनासे निकलनेवाले मराठी भाषाके साप्ताहिक पत्र 'मुमुक्षु' (१६-१०-१३) के अङ्क ३७ में शङ्कराचार्यकी एक दूसरी जन्मपत्री छपी थी जिसका सारांश इस प्रकार है—

कलिगताब्द ३०५८ ईश्वरसंवत्सर वैशाख शुक्ल १५ रविवार आर्द्रा नक्षत्र इष्टकाल ११। १५ मिथुन लग्नमें जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्यका जन्म।

जन्मकुण्डली

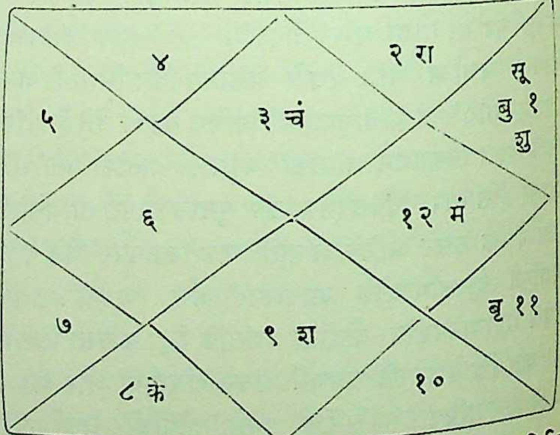

इस जन्मपत्रीके अनुसार आचार्यकी जो जन्मतिथि १५ दी गयी है वह अशुद्ध है वस्तुतः ५ तिथि मालूम होती है क्योंकि वै० शु० १५ को कभी भी आर्द्रा नक्षत्र हो नहीं

सकता और ५ मी को होता है। सम्भवतः लेखकप्रमादसे ५ के स्थानमें १५ का उल्लेख हो गया है। इस कुण्डलीके अनुसार आचार्यका जन्म विक्रम संवत् १४ में प्रमाणित होता है। दोनों जन्मपत्रियोंमें ८३१ वर्षका अन्तर पाया जाता है।

'मुमुक्षु' को जन्मपत्रीके साथ ही नीलकण्ठभट्टके शङ्करमन्दारसौरभका श्लोक भी उद्धृत किया गया है जो इस प्रकार है—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या-
मेकादशाधिकशतोनचतुःसहस्र्याम् ।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणीदशम्याम् ॥
अष्टवर्षे चतुर्वेदो द्वादशे सर्वशास्त्रविद् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥
द्वात्रिंशता गणनया गतवत्सरेषु
श्रीशङ्करार्यगुरुरद्भुतसच्चरित्रः ।
राधे सिते हि गुरौ रविपूर्णिमायां
नारायणेति वचसा स गुहां विवेश ॥

अर्थात् ३८८९ कलिगताब्दमें विभव नामक संवत्सरके वैशाख शुक्ल १० तिथिको शुभ मुहूर्तमें शिवगुरुकी स्त्रीने शङ्कराचार्यको उत्पन्न किया। वे शङ्कराचार्य ८ वर्षमें चारों वेदके वेत्ता, १२ वर्षमें सर्वशास्त्रके ज्ञाता होकर सोलहवें वर्षमें वेदान्तसूत्रके भाष्यकर्ता हुए। और ३२ वें वर्षमें मुनि परम पदको गये। शङ्कराचार्यजी अपने ३२ वें वर्षके वैशाख शुक्ल १५ रविवारको नारायणनामको उच्चारण करते हुए परम पदको प्राप्त हुए। इसके अनुसार भी विक्रम संवत् ८४५ ही आचार्यका जन्म-समय प्रमाणित होता है किन्तु जन्म-तिथिमें अन्तर है। अन्यान्य लेखोंमें वैशाख शुक्ल ५ जन्म-तिथि मानी गयी है किन्तु इस लेखमें १० तिथि मानी गयी है और मोक्षतिथि वैशाख शुक्ल १५ रविवार। उपर्युक्त श्लोकमें अन्तिमार्ध कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि 'हि गुरौ' का कुछ अर्थ ही नहीं होता और एक मात्राकी छन्दमें न्यूनता भी पायी जाती है। बात कुछ भी हो इस श्लोकमें विशेषता केवल यह है कि मोक्षतिथिका भी उल्लेख है जो अन्यान्य लेखोंमें नहीं है।

माधवाचार्यजीने शङ्करदिग्विजय नामक काव्यके दूसरे सर्गमें शङ्कराचार्यके जन्मकालीन ग्रहोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

लग्ने शुभे शुभयुते सुषुवे कुमारं
श्रीपार्वतीव सुखिनी शुभवीक्षिते च ।
जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे
सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे ॥

अर्थात् शुभग्रहसे युत और दृष्ट शुभलग्नमें तथा सूर्य, कुज, शनि एवं गुरुके उच्चस्थ तथा केन्द्रवर्ती होनेपर शिवगुरुकी सती भार्या पार्वतीके सदृश सुखिनीने शङ्कर नामक पुत्रको उत्पन्न किया।

इस माधवके श्लोकके अनुसार जो जन्मपत्री बनती है वह ठीक मि० ऐयरकी वि० सं० ८६३ वाली जन्मपत्रीके अनुरूप होती है अतएव इस जन्मपत्रीके ग्रहोंके साथ संवत्का उल्लेख न होनेपर भी सिद्ध होता है कि माधवके मतसे भी आचार्यका जन्मसंवत् विक्रमी ८६३ है जो प्रो० पाठकके संवत्के समीप और महानुभाव पन्थके समयसे अति दूर है। अनुमानसे पता चलता है कि कोचीन गवर्नमेण्टके ज्योतिषीजीने इसी शङ्करदिग्विजयके आधारपर ही जन्मपत्रकी रचना कर डाली है।

शङ्कराचार्यके किसी शिष्यके लिखे कुछ श्लोक परम्परासे प्रसिद्ध चले आते हैं, उनसे भी जन्म-समयका पता चलता है। श्लोक इस प्रकार हैं—

ऋषिवीरास्तथा भूमिर्मर्त्याक्षौ व्योममेलनात् ।
एकत्वेन भवेदङ्कस्ताम्राक्षस्तर्हि वत्सरः ॥
विश्वजिच्च पिता यस्य निर्यातश्च चिदम्बरे ।
तस्य भार्याम्बिकादेवी शङ्करं लोकशङ्करम् ॥
प्रसूता सर्वलोकस्य तारणाय जगद्गुरुम् ॥

अर्थात् युधिष्ठिरके संवत् २१५७ और ताम्राक्ष नामक गुरुचान्द्रवर्षमें विश्वजित् नामके शङ्करके पिता चिदम्बरमें हुए थे, उनकी स्त्री अम्बिकादेवीने समस्त लोकके उद्धारके लिये लोकके कल्याणकारी जगद्गुरु शङ्कराचार्यको उत्पन्न किया।

प्रतीत होता है कि उपर्युक्त श्लोकके लेखकने राजतरङ्गिणीके अनुसार युधिष्ठिरका संवत् २१५७ लिखा है जो विक्रम संवत्के आरम्भसे पूर्व २३४ वर्ष होता है और ईसवीय सन्से पूर्व २९१ वर्ष होता है।

इतना ही नहीं, स्वामी आदिशङ्कराचार्यके जन्म-कालके द्योतक और भी प्रमाण मिलते हैं जिनमें मुख्य हैं ताम्रपत्र जो समय-समयपर शङ्कराचार्यके मठाधिपति शङ्कराचार्योंको दानवीर नरेशोंद्वारा दिये गये हैं। इसी प्रकारके एक ताम्रपत्र-

का उल्लेख संस्कृतचन्द्रिका (कोल्हापुर) के खण्ड १४ की सं० २-३ में हमको मिला है। इस दानपत्ररूपी ताम्रपत्रको सुधन्वा नामके राजाने शङ्कराचार्यको युधिष्ठिर संवत् २६६३ (वि० सं०के पूर्व ३८१ वर्ष) में दिया था।

एक दूसरे ताम्रपत्रका उल्लेख भी उसी संस्कृतचन्द्रिकाके खण्ड १४ की सं० २-३में हुआ है। इस ताम्रपत्रमें लिखा है कि गुजरातके महाराज सर्वजिद्वर्माने द्वारकाजीके शारदापीठके स्वामी श्रीनृसिंहाश्रम महाराजको दिया है। दानपत्रमें शारदापीठके सबसे प्रथम आचार्य श्रीसुरेश्वरशङ्कराचार्यसे लेकर श्रीनृसिंहाश्रमशङ्कराचार्य तक २८ आचार्योंके शासनकालका सविवरण वर्णन है। उस दानपत्रमें श्रीसुरेश्वराचार्यके शासनके सम्बन्धमें युधिष्ठिरका संवत् २६४९ लिखा है और उनके शासनका समय ४२ वर्ष लिखा है। दशवें आचार्यके सम्बन्धमें शासनारम्भ युधिष्ठिर संवत् ३०४० और शासनकाल १५ वर्ष तथा शासनके अन्तमें विक्रमसंवत् ९ का उल्लेख है। इस ताम्रपत्रके दानका समय ईसवीय सन्की दशवीं शताब्दी बतलाया जाता है। इस ताम्रपत्रके अनुसार आदिशङ्कराचार्यका शासनारम्भकाल विक्रमसंवत्के आरम्भसे पूर्व ३९५ होता है और यदि शासनारम्भकालमें आचार्यकी अवस्था १६ वर्ष मान लें तो आदिशङ्कराचार्यका जन्मसमय ४११ वर्ष विक्रमसंवत्के आरम्भसे पूर्वका होता है। यह समय ईसवीय सन्से पूर्व ४७८ वर्षका प्रमाणित होता है।

संस्कृतचन्द्रिका (कोल्हापुर) मासिक पत्रिकामें एक विद्वान्ने लिखा था कि पारसियोंके धर्मग्रन्थोंमें सिकन्दर यूनानीके वृत्तान्तमें लिखा है कि 'जब सिकन्दर भारतवर्षमें आया तब शङ्कराचार्य नामक एक साधु धर्मोपदेशमें कटिबद्ध थे।' सिकन्दरने भारतपर ई० सन्से पूर्व ३२६ वर्षमें चढ़ाई की थी। इस हिसाबसे पारसियोंके धर्मग्रन्थानुसार भारतवर्षमें उस समय भी एक कोई शङ्कराचार्य नामक धर्मोपदेष्टा थे।

प्रसिद्ध इतिहासलेखक विद्वान् डॉ० विन्सेंट साहबने अपने ग्रन्थमें लिखा है जिसका भावार्थ होता है कि—'स्वामी शङ्कराचार्य, गौतम बुद्धकी मृत्युके ६० वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए।' उन्हीं डॉ० विन्सेंट साहबके मतसे गौतम बुद्धका होना ई० सन्से पूर्व ५५० वर्ष पाया जाता है* अतएव शङ्कराचार्यका समय उनके मतसे ई० सन्के पूर्व लगभग ४९०वर्ष अथवा इसके थोड़े ही समय पश्चात्का हो सकता है।

भविष्यपुराणके मध्यम पर्व, चतुर्थ खण्डके १० वें अध्यायमें भी शङ्कराचार्यके अवतारकी संक्षिप्त कथा है। उसमें लिखा है कि—'भैरवदत्त विप्रके पुत्ररूपसे शङ्करका अंशावतार हुआ और वह पुत्र शङ्कराचार्य नामसे प्रसिद्ध हुआ, उसने शाङ्करभाष्य लिखकर शैवमार्गका समर्थन किया।' यद्यपि भविष्यपुराणमें इस प्रकारकी कथा पीछेसे मिलायी गयी इसमें सन्देह नहीं तथापि जिस किसी समयमें यह कथा लिखी गयी उस समय लोगोंके जो विचार थे लेखकने उन्हींको कथाके रूपमें—भविष्यकथाके रूपमें लिखे होंगे। अतएव मानना पड़ेगा कि किसी समय किसीके मतसे शङ्कराचार्य नामके किसी आचार्यके पिताका नाम भैरवदत्त भी था और उन शङ्कराचार्यने शैवमतका प्रचार भी किया था।

श्रीरामकृष्ण सोमयाजी धर्मानन्दजीने एक 'गुरुपरम्पराचरित्र' नामका काव्यग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ दो खण्डोंमें और १०८ सर्गोंमें समाप्त हुआ है। इस पुस्तकमें लेखकने अपने गुरुवर श्रीमयूरेश्वरानन्दतक १३१ आचार्योंके नाम दिये हैं और उनके चरित्रोंका भी दिग्दर्शन कराया है। आदि-आचार्यका नाम भाष्यकार आदिशङ्कराचार्य आया है। इसी प्रकार शङ्करदिग्विजय, शङ्करविजय और शङ्करदिग्विजयसार आदि अनेक ग्रन्थोंमें हमारे आदिशङ्कराचार्यके सम्बन्धकी कथाएँ वर्णित हैं और देश तथा विदेशके सभी इतिहासलेखक विद्वानोंने आदिशङ्कराचार्यके समयसम्बन्धमें कुछ-न-कुछ लिखा है किन्तु हम देखते हैं कि उनमेंसे बहुत कम ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने इस सम्बन्धमें कुछ स्वतन्त्र विचार भी किया है और लोगोंके विवादास्पद विचारोंकी आलोचना भी की है। जहाँतक हमने देखा है गतानुगतिक-न्याय ही इस विषयमें अधिकतासे दिखलायी देता है। अस्तु, इस सम्बन्धमें अधिक लोगोंके मतोंका उल्लेख न करके जिन लोगोंके विचारोंको अबतक हमने दिखलाया है उन्हींके आधारपर हम अपने आदिशङ्कराचार्यके समयका निरूपण करेंगे और यथाशक्ति यह सिद्ध करेंगे कि प्रायः सभी विद्वानोंके लेख और प्रमाण सत्यके समीप ही हैं किन्तु मतभेदका कारण कुछ और ही बात है।

अबतक हमने जिन विद्वानोंके लेखों, विचारोंका उल्लेख किया है अथवा जिन श्लोकों तथा ताम्रपत्रोंके सम्बन्धके लेख उद्धृत किये हैं उनमें बहुत अधिक लोगोंके मतसे

---

* यद्यपि गौतम बुद्धके स्वर्गवासका समय ई० सन्से पूर्व ४८० वर्ष माना जाता है तथापि इस प्रसङ्गमें हमने उन्हींके वर्षोंको प्रमाण माना है, जिनका लेख है।

शङ्कराचार्यके जन्मका समय विक्रमसंवत् ८४५ आता है। अधिकांश देश और विदेशके इतिहासलेखकोंने, भारतीय सभ्यताके अभिमानी तथा पाश्चात्य विचारके लोगोंने भी इसी मतको अधिक प्रामाणिक माना है। प्रो० काशीनाथ-बापू पाठक, यज्ञेश्वर शास्त्री, नीलकण्ठ भट्ट, उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, रूपकलाजी, शङ्करचरित्रके लेखक तथा अन्यान्य भारतीय इतिहासके लेखकोंने यही माना है कि शङ्कराचार्यजी विक्रमसंवत् ८४५ में उत्पन्न हुए थे।

उपर्युक्त विद्वानोंके विचारका आधार क्या है और वह आधार सत्यकी नींवपर है अथवा किसी कल्पनाकी नींवपर, यह विषय विचारणीय है। हमारे इन लेखकोंने प्रायः एक साम्प्रदायिक श्लोकको ही आधार माना है। अब देखना यह है कि जिस साम्प्रदायिक श्लोकके आधारपर ये सब-के-सब विद्वान् गतानुगतिक हुए हैं वह है कैसा। आर्यविद्या-सुधाकरमें उसको यज्ञेश्वर शास्त्रीने इस प्रकार लिखा है—

निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः॥

अर्थात्–निधि ९ नाग ८ इभ ८ वह्नि ३ (३८८९) संख्यक वर्ष (कलिवर्ष) में, विभव नामक गुरु चान्द्रवर्षमें, वैशाख शुक्ल १० तिथिको शङ्कराचार्यका उदय (प्रादुर्भाव) हुआ। प्रथम तो यह पता नहीं कि यह श्लोक कहाँका है, इसको किसने किस समय बनाया और किस आधारपर बनाया? दूसरे यदि इस श्लोकको हम ठीक मान लें तो इसमें कहीं भी यह नहीं आया कि इस समयमें आदिशङ्कराचार्यका प्रादुर्भाव हुआ। ऐसी दशामें कि जब हम देखते हैं कि आदिशङ्कराचार्यकी गद्दियोंपर प्रत्येक मठकी गद्दियोंपर बैठनेवाले आचार्योंके नामके साथ शङ्कराचार्य शब्द लगा रहता है और सदासे यही प्रथा चली आ रही है, तब कोई कारण नहीं है कि बिना किसी प्रमाणके हम उक्त श्लोक अथवा किसी भी श्लोकके आधारपर अपने आदिशङ्कराचार्यके वास्तविक समयकी उपेक्षा करके मनगढ़न्त समयको स्वीकार करें।

इस सम्बन्धमें हम जोर देकर कहते हैं कि जिन लोगोंने हमारे आदिशङ्कराचार्यका समय विक्रमसंवत् ८४५ माना है, उनका भ्रम है और यदि कोई इस सम्बन्धका प्रामाणिक श्लोक अथवा लेख मिलता है तो वह किन्हीं दूसरे गद्दीधर शङ्कराचार्यके सम्बन्धका है। आदिशङ्कराचार्यके सम्बन्धका नहीं। इतना ही नहीं, इसी समयसे मिलता-जुलता समय भी लोगोंने आदिशङ्कराचार्यके लिये निश्चय किया है। इस विचारके लोगोंमें लोकमान्य तिलक, महानुभाव पन्थ, अक्षयकुमार दत्त, सत्येन्द्रनाथ ठाकुर, मि० सी० पी० पिचु ऐयर और माधवाचार्यके नाम ही विशेष उल्लेखनीय हैं। लोकमान्य तिलकने इस सम्बन्धमें स्वतन्त्र विचार नहीं किया और दर्शनप्रकाशके लेखक महानुभाव पन्थके मतको स्वीकार करके आचार्यके जन्मसमयको विक्रमसंवत् ७४५ मान लिया।

माधवाचार्यका जो श्लोक है, जिसके द्वारा आचार्यका जन्मसमय ८६३ विक्रमी संवत् सिद्ध किया जाता है उसका आधार क्या है यह बात विचारणीय है। प्रथम तो यह कि जिस प्रकारके ग्रहोंका उस श्लोकमें वर्णन है उस प्रकारके ग्रह विक्रमी संवत् ८६३ में थे ही नहीं, दूसरी बात यह है कि माधवाचार्यने कवि कालिदासके रघुवंश सर्ग तीसरेके १३ वें श्लोकका अनुकरण किया है, वास्तविक ग्रहोंका उनको ज्ञान न था और तीसरी बात यह है कि यदि ये सारे-के-सारे श्लोकके योग ठीक हों तो भी यह समय किन्हीं अन्य शङ्कराचार्यका मानना उचित है, आदिशङ्कराचार्यका जन्मसमय यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।

कोचीन गवर्नमेण्टके ज्योतिषी मि० सी० पी० पिचु ऐयरने जो शङ्कराचार्यकी जन्मपत्री लिखी है वह इन्हीं माधवाचार्यके श्लोकके आधारपर लिखी है और जब माधवाचार्यका श्लोक ही अप्रामाणिक है तब उसके आधारपर बनी हुई जन्मपत्री और उस जन्मपत्रीका समय कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? दूसरी बात मि० ऐयरके लेखमें दक्षिण देशकी प्रसिद्ध जनकथाका आधार लिया गया है किन्तु इतने प्राचीन समयके सम्बन्धमें जनकथाओं—दन्तकथाओंका प्रमाण मानना और पुष्टप्रमाणके विरुद्ध दन्तकथाका प्रमाण मानना एक गण्यमान्य ज्योतिषीके लिये उपयुक्त नहीं है। सारांश यह कि मि० ऐयरकी जन्मपत्री जो माधवाचार्यके श्लोकके आधारपर रची गयी है, वह इस कारण अशुद्ध है कि माधवाचार्यके श्लोकके ग्रहोंकी बातें काल्पनिक हैं—कविता है, अतएव माधवाचार्य तथा मि० ऐयरके मतसे जो आचार्यका जन्म विक्रमसंवत् ८६३ माना जाता है वह ठीक नहीं है।

अक्षयकुमार दत्तने अपने पाण्डित्यपूर्ण 'भारतवर्षीय उपासकसम्प्रदाय' में जिस युक्तिके आधारपर शाङ्करभाष्यके रचनाकालके लिये विक्रमसंवत् ८६१ ठहराया है, वह

युक्तिप्रमाणशून्य है। दत्तजीने अनुमान किया है कि चीनी यात्री 'हिउएन्सांग' ने अपने भारतवृत्तान्तमें इस बातका चर्चा नहीं की कि भारतमें शङ्कराचार्यने बौद्धधर्मका घोर विरोध किया है अथवा इस समय कर रहे हैं अतएव उस समय जब चीनी यात्री यहाँ आया था और उसके कुछ पूर्व समय भी शङ्कराचार्य नहीं हुए थे क्योंकि हुए होते तो 'हिउएन्सांग' उनका उल्लेख न करता यह असम्भव है। अवश्य ही यह अनुमान उस समय ठीक हो सकता था जब 'हिउएन्सांग' की यात्रापुस्तकको प्रामाणिक मान लिया जाय और उसकी यात्रापुस्तकको कोई भी इतिहासप्रेमी विद्वान् इतिहासके लिये प्रामाणिक मान नहीं सकता क्योंकि उसकी पुस्तकमें केवल बौद्धधर्ममय भारतको बतलाने और बौद्धभिक्षुओंसे परिपूर्ण असङ्ख्यसङ्घारामोंके वर्णनके साथ ही अपनी विद्वत्ता, अपने दिग्विजयी होने और जैनियों, हीनयानवाले बौद्धों तथा नास्तिकोंको शास्त्रार्थमें पराजित करनेके वर्णनके अतिरिक्त अन्य बातोंको स्थान ही नहीं मिला है। वैदिकब्राह्मणोंका तो उसने नामतक नहीं लिया। हाँ, नास्तिक शब्दके अन्तर्गत यदि उसने ब्राह्मणोंको मान लिया हो तो नास्तिकोंके अस्तित्वकी चर्चा उसने स्थान-स्थानपर अवश्य की है। क्या ऐसी दशामें भी हम आशा करें कि वह बौद्धधर्मके मूलोच्छेदन करनेवाले शङ्कराचार्य अथवा कुमारिलभट्टकी चर्चा कर सकता था? कदापि नहीं।

'हिउएन्सांग' ने भारतभ्रमण किया किन्तु उसने हमारे पवित्र तीर्थोंकी चर्चा नहीं की। मथुराकी कृष्णमहिमा, काशीकी विश्वनाथमहिमा और द्रविड़देशकी भगवद्भक्ति तथा वैदिक धर्म-श्रद्धाकी चर्चा नहीं की क्या इन बातोंसे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि उस समयतक मथुरामें श्रीकृष्णचर्चा न थी, काशीमें विश्वनाथमहिमा न थी और द्रविड़देशमें भगवद्भक्तोंका अस्तित्व न था? चीनी यात्रीने भारतसे २० घोड़ोंपर लादकर ६५७ पुस्तकोंके ले जानेकी बात लिखी है किन्तु उसने कहींपर हमारे वेदान्तसूत्र, गीता, उपनिषदों तथा अन्यान्य वैदिक धर्मानुयायी ग्रन्थोंकी चर्चा नहीं की, क्या इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उस समयतक ये ग्रन्थ भारतमें थे ही नहीं, पीछेसे बनाये गये हैं? यदि नहीं, ऐसा अनुमान करना भूल है तो अक्षयकुमार दत्तजीका यह अनुमान भी भ्रमजनक है कि 'हिउएन्सांग' के समयतक आदिशङ्कराचार्य हुए ही न थे। हाँ, 'हिउएन्सांग' के लेखसे ही हम अनुमान कर सकते हैं कि उस समय भारतमें बौद्धधर्म अपने अस्तित्वको मिटा रहा था और बौद्धधर्मके घोर विरोधी लोग उत्पन्न होकर अपना काम कर रहे थे। यह अनुमान हम 'हिउएन्सांग' के उस लेखके आधारपर कर सकते हैं जिसमें उसने 'मंजुश्रीबुद्धसत्त्व' की भविष्य वाणीका उल्लेख किया है। जिसमें 'बुद्धसत्त्व' की भविष्य वाणीका इस प्रकार वर्णन है कि-'उस दिव्य पुरुषने कहा कि मैं मंजुश्रीबुद्धसत्त्व हूँ। अभी तेरे कर्म ऐसे नहीं हैं कि तू मुझतक आ सके। परन्तु तू (हिउएन्सांग) अब यहाँसे (भारतसे) चला जा क्योंकि दश वर्षके बाद शिलादित्य मृत्युको प्राप्त होगा और उसके पश्चात् भारतवर्ष नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा और चारों ओर भयानक खून-खराबी होगी एवं मनुष्य एक दूसरेको मार डालेंगे'।

इस भविष्यवाणीसे प्रतीत होता है कि 'हिउएन्सांग' के समय ही भारतमें बौद्धोंके नष्ट-भ्रष्ट करने और मार डालनेके कार्य आरम्भ हो गये थे और जैसा कि सायणमाधवने लिखा है कि सुधन्वा राजाका आदेश था कि—

आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानां वृद्धबालकान्।
न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः॥

अर्थात् सेतुसे लेकर हिमालयपर्यन्त बौद्धधर्मावलम्बी जनोंको चाहे वे बूढ़े हों और चाहे बालक मार डालो, जो बौद्धोंको न मारेगा—उनको बचावेगा वह भी मार डालनेके योग्य समझा जायगा। यह आज्ञा राजा सुधन्वाने अपने नौकरोंको दी थी। इसी प्रकारके भाव लोगोंमें उत्पन्न हो गये थे और शिलादित्यके समान दो-एक राजा ही बौद्धधर्मके पक्षपाती रह गये थे। अवश्य ही उस समय बौद्धोंके साथ-साथ उनके धर्म-ग्रन्थ भी नष्ट किये जा रहे होंगे अतएव उन धर्म-ग्रन्थोंको सुरक्षित रखनेके हेतु ही शिलादित्यकी सहायतासे हिउएन्सांग भी २० घोड़ोंपर लादकर ६५७ पुस्तकें साथ ले गया और अपने धर्म-ग्रन्थोंकी रक्षा की।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि 'हिउएन्सांग' की लिखी हुई उपर्युक्त 'मञ्जुश्रीबुद्धसत्त्व' की भविष्यवाणीकी घटनाएँ उस समयकी वर्तमान घटनाएँ थीं जिनको 'हिउएन्सांग' ने दूसरे रूपमें लिखा है। अस्तु, बातें कुछ हों श्रीयुत अक्षयकुमार दत्तका अनुमान ठीक नहीं और यह मानने योग्य बात नहीं कि जो आदिशङ्कराचार्य, उससे सहस्र वर्षसे भी प्रथम अवतरित हुए थे उनका उल्लेख करना अथवा उनके जन्मका वृत्तान्त विदित होना, और उसको अपनी यात्रापुस्तकमें लिखना 'हिउएन्सांग' के लिये आवश्यक था और इस प्रकार उल्लेख न होनेसे उस समयतक आचार्यका न होना मानना सर्वथा भूल है।

सत्येन्द्रनाथ ठाकुरने अपने 'बौद्धधर्म' पुस्तकमें केवल दत्तजीके विचारको ही दोहराया और प्रमाण मानके शाङ्कर-भाष्यका समय ईसवी सन् ८०४ (विक्रमी संवत् ८६१) लिखा है अतएव दत्तजीके विचारोंकी समालोचना हो जाने और भ्रमजनक प्रमाणित होनेसे सत्येन्द्रनाथके विचार भी स्वतः निर्मूल हैं।

मुमुक्षु साप्ताहिक पत्र (१६—१०—१३) की जन्म-पत्रीके अनुसार आचार्यका जन्म-संवत् १४ विक्रमी होता है। जन्मपत्रीका आधार क्या है ? कब बनी ? किसने बनाया ? इन बातोंका जबतक ठीक-ठीक पता न चले, इस सम्बन्धमें अधिक विचार करना व्यर्थ है। एक तो जन्मपत्रीका प्रमाणित होना सम्भव नहीं, दूसरे यह कि संन्यासाश्रमी किन्हीं आचार्यकी जन्मपत्रीका सुरक्षित होना सम्भव नहीं, फिर भी यदि थोड़ी देरके लिये हम मान लें कि जन्मपत्री शङ्कराचार्यकी है तो भी हमको यही मानना पड़ेगा कि विक्रम-संवत् १४ में हमारे शङ्कराचार्यकी गद्दीके कोई आचार्य उत्पन्न हुए होंगे क्योंकि जन्मपत्रीमें जो आदिशङ्कराचार्य जगद्गुरुका जन्म लिखा है यह कोई प्रामाणिक लेख नहीं है। इतना ही नहीं, इस जन्मपत्रीमें अवतारी पुरुषोंके समान कोई उत्तम ग्रह भी नहीं हैं—बहुत ही साधारण ग्रह हैं, अतएव इस जन्मपत्रीको हम आदिशङ्कराचार्यकी जन्मपत्री नहीं मान सकते और न आदिशङ्कराचार्यका जन्म संवत् विक्रमी १४ माना जा सकता है।

'ऋषिवीरा' इत्यादि श्लोक जो किसी शङ्करशिष्यके नामसे लिखा हुआ मिलता है उसके सम्बन्धमें भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसको किसने कब बनाया और इसका आधार क्या है ? ऐसे श्लोक नित्य ही बनाये जा सकते हैं अतएव जबतक कोई पुष्ट प्रमाण न मिले, हम इस श्लोकके आधारपर अपने आदिआचार्यका समय विक्रम-संवत्से २३४ वर्ष पूर्व भी माननेके लिये तैयार नहीं। हाँ, उस समय भी कोई आचार्य हुए हों और उनके ही सम्बन्धका यह श्लोक हो तो आश्चर्य नहीं।

संस्कृतचन्द्रिकामें जिन पारसियोंके धर्म-ग्रन्थोंके आधारपर सिकन्दरके भारताक्रमणके समय शङ्कराचार्य नामक साधुके धर्मोपदेशकी चर्चा है, उन धर्म-ग्रन्थोंके लेख अथवा उनके अनुवाद जबतक देखे न जायँ तबतक उस सम्बन्धमें कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती किन्तु संस्कृतचन्द्रिकाके लेखको यदि हम यथार्थ मान लें तो मानना पड़ेगा कि वि० संवत्से पूर्व ३८३ वर्षपर जब सिकन्दर भारतमें आया था उस समय शङ्कराचार्यनामके साधु यहाँ विद्यमान थे। यदि उस समय उन साधुकी अवस्था २० वर्षकी रही हो तो मानना पड़ेगा कि उनका प्रादुर्भाव वि० संवत्से पूर्व ४०३ वर्षमें हुआ होगा।

प्रसिद्ध इतिहासलेखक डॉ० विन्सैंटकी बात यदि हम मान लें कि बुद्धके निर्वाणकालके पश्चात् ६० वर्षपर आदिशङ्कराचार्य हुए तो हमारे आदिशङ्कराचार्यका जन्मसमय लगभग ४२० वर्ष वि० संवत्से पूर्वका होता है। पारसियोंके धर्म-ग्रन्थोंके लेख और डॉ० विन्सैंटसाहबके विचारमें कोई बड़ा अन्तर नहीं है किन्तु इस सम्बन्धमें हम अपना मत अभी देना नहीं चाहते क्योंकि इन सबसे अधिक पुष्ट प्रमाणपर अभी हमको विचार करना है।

राजा सुधन्वाने जो ताम्रपत्रके द्वारा शङ्कराचार्यको दान दिया था उसमें युधिष्ठिरसंवत् २६६३ लिखा हुआ है। यदि उस दानपत्रके लिखे जानेके समय आचार्यकी अवस्था ३० वर्ष की मान लें तो आचार्यके जन्मका समय युधिष्ठिर-संवत् २६३३ होता है और यह समय विक्रमसंवत्से पूर्व ४११ वर्षका होगा। इसी प्रकार दूसरे ताम्रपत्रके अनुसार द्वारकाके शारदापीठके आदि आचार्य श्रीसुरेश्वरशङ्कराचार्यके शासनारम्भका युधिष्ठिरसंवत् २६४९ लिखा है जो विक्रमसंवत्से पूर्व ३९५ वर्षका समय होता है। यदि आचार्यके शासनारम्भके समय उनकी अवस्था १६ वर्षकी मान ली जाय तो उनका जन्म-समय भी ठीक वही विक्रमसंवत्से पूर्व ४११ वर्षका होता है।

डॉ० विन्सैंटसाहबके मतसे आदिशङ्कराचार्यका जन्म-समय विक्रमसंवत्के पूर्व ४२० और पारसियोंके धर्म-पुस्तकोंके अनुसार ४०३ वर्षके लगभग आता है। विदेशियोंके लेखोंमें यदि इतने प्राचीन समयके निरूपणमें इतना अधिक सादृश्य मिलता है तो इसको हम दोषपूर्ण नहीं मानते क्योंकि डॉ० विन्सैंटसाहबका यह लिखना कि आचार्यका प्रादुर्भाव बुद्ध-निर्वाणके ६० वर्ष पश्चात् हुआ है। आनुमानिक लेख है, इससे यदि उसमें ६० के स्थानमें हम ५० ही रख लें तो आपत्ति नहीं और उनका लेख भी ताम्रपत्रके अनुरूप समयका बोधक हो जाय और पारसियोंकी धर्म-पुस्तकोंके आधारपर हम यह मान लें कि धर्मोपदेशके समय हमारे आचार्यकी अवस्था २८ वर्षकी थी तो उनका लेख भी ताम्रपत्रोंके समयके अनुसार ही समयका बोधक हो जाता है।

इतना ही नहीं, यदि गोवर्द्धनपीठ और शारदापीठकी गुरुपरम्पराको आप देखें तो विदित हो जाता है कि हमारा उपर्युक्त समय ही यथार्थ है । गोवर्द्धनपीठके आदि आचार्यसे अबतकके १४३ आचार्य हुए हैं, क्या इतनी बड़ी परम्पराके लिये २४०० वर्षका समय अधिक है ? यदि नहीं तो आनुमानिक विमानोंकी दौड़ और भारतीय सभ्यताके समयको आधुनिकता प्रतिपादित करनेवाले दृष्टिकोणको बदलके देखिये कि जो हमने समयनिरूपण किया है इसमें कितनी सत्यता है । हमारे विचारमें जितना अधिक सच्चा प्रमाण हमको मठोंकी परम्परासे उनके कागज-पत्रोंसे, उनके दानपत्रोंसे चल सकता है उतना सच्चा प्रमाण विदेशीय विद्वानोंकी यात्रा-पुस्तकोंके वृत्तान्तके आधारपर अनुमान करने और आधुनिकग्रन्थोंके वर्णनोंसे नहीं मिल सकता ।

आदिशङ्कराचार्यने किन-किन ग्रन्थोंकी रचना की और उन्होंने कौन-कौनसे कार्य किये इस सम्बन्धमें विद्वानोंको विचार करना चाहिये क्योंकि हमारे आचार्यकी पीठोंपर जितने आचार्य हुए हैं उन सबका उपनाम शङ्कराचार्य था अतएव जो ग्रन्थ आज शङ्कराचार्यकृत मिलते हैं उनमें कौन-से किन शङ्कराचार्यके बनाये ग्रन्थ हैं यह निर्णय करना सरल कार्य नहीं है । अन्तमें हम फिर एक बार दोहराते हैं कि हमको अपने इतिहासके लिये सबसे प्रथम अपने घरके प्रमाणोंको देखना चाहिये, उसके पश्चात् दूसरे लोगोंके आनुमानिक प्रमाणोंकी ओर ध्यान देना चाहिये । हमारे आदिशङ्कराचार्यका सर्वतोभावसे जन्म-समयका प्रामाणिक निर्णय हो चुका कि अबसे लगभग २४०० वर्ष प्रथम विक्रमसंवत्से पूर्व लगभग ४०० से ४२० वर्षपर उनका प्रादुर्भाव हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।*

यदि इस सम्बन्धमें किन्हीं सज्जनके पास ताम्रपत्रोंसे अधिक पुष्ट प्रमाण किसी दूसरे समयके सम्बन्धमें हों तो वे प्रकट करें हम लोग उनके प्रमाणोंपर बड़ी श्रद्धाके साथ विचार करनेके हेतु प्रस्तुत हैं ।

* * *

रामफगुआ

(लेखक—महात्माजी जय गौरीशंकर सीतारामजी "कवलबास" पतित)

देखो लखन रघुबीरा, सखी तुम ! ॥टेक॥
क्रीट मुकुट माथेपर सोहत, कानोंमें झलकत हीरा ॥१॥
मोतियन माल गले बिच सोहै, करमें सोहै धनुतीरा ॥२॥
ए दोउ लाल दशरथके ढोटा, मारे रावण अस बीरा ॥३॥
निर्मल प्रेम करि सेवरी तर गई, सहजैमें तर गई मीरा ॥४॥
'कवलबास' प्रभु बड़े दयालू, काटैं विषम भव-पीरा ॥५॥

* * *

---

* आचार्यकी जन्म-तिथिके सम्बन्धमें भी मतभेद है, किसीने वै० शु० ५, किसीने १०, किसीने १२ और किसीने १५ तिथि लिखी है । ऐतिह्यप्रमाणसे वै० शु० ५ ही आचार्यकी अवतार-तिथि मानी जाती है और दक्षिणके पञ्चाङ्गोंमें वै० शु० ५ हीको आचार्यकी जन्म-तिथि लिखते हैं ।

'लौ'

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०)

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जगमें रहैं, हरिको भूलत नाहिं॥

विवाहिता स्त्री मायकेमें रहते हुए जिस प्रकार मन, चित्त और प्राणसे अपने पतिका ही स्मरण करती रहती है उसी प्रकार इस संसारमें रहते हुए भी हम अपने प्राणाराम जीवनधन हरिका ही स्मरण करते रहें—यही सभी संतों और समस्त धर्मग्रन्थोंके उपदेशका सारतत्त्व है। जीवकी यही साधना है। मनुष्यका यही परम कर्तव्य, सर्वोत्तम धर्म है। मनको हरिमें डालकर मस्त हो जाना ही आनन्दकी चरम अवस्था है। जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, व्रत, सेवा, दान, सत्संग, सदाचार—सभी प्रकारके सत्कर्मोंका फल है श्रीवासुदेवका अखण्ड स्मरण। यह स्मरण हो भगवान्‌के चरणोंमें सच्ची प्रणति है; यह स्मरण ही सर्वात्मसमर्पणकी सच्ची अभिव्यक्ति है। घनीभूत अखण्ड स्मरणकी हँसती हुई ज्योतिका नाम है 'लौ'। साधनाका प्राण है स्मरण और 'लौ' है स्मरणकी आत्मा।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपकका जलता हुआ प्रकाश। दीयेमें तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और सलाईसे उसे एक बार जला देते हैं। फिर जबतक तेल दीयेमें है, बत्ती बनी हुई है और बाहरके आँधी-तूफानसे वह सुरक्षित है तबतक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी। ध्यान इस बातका रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पावे, बत्ती बुझने न पावे। और जहाँ अखण्ड दीपकी बात है वहाँ तो सतत सावधान रहना ही पड़ेगा। एक क्षणकी विस्मृतिमें दीपकके बुझ जाने और घोर अन्धकारके घिर आनेकी आशंका है।

ठीक यही बात अन्तरकी 'लौ' के सम्बन्धमें है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पड़ता है। एक पलके लिये भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा—सभी श्रीहरिके चरणोंसे झरते हुए मकरन्दका पान करते रहें। वहीं, उस परम दिव्य स्पर्शकी पावन अनुभूतिमें बेसुध बने रहें। बाहर आनेका ध्यान भी न रहे। बाहरके किसी भी पदार्थके अस्तित्वका भान भी न हो। कोई रूप आँखोंको लुभा न सके, कोई शब्द कानोंको मोह न सके। स्मृति सदा हरिके चरणोंको छूती रहे। प्राण सदा प्रभुके पाद-पद्मोंमें प्रणिपात करते रहें। यही अखण्ड जागरण है।

हंसा पाये मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोलै ?

वहाँके आनन्द और शोभाका वर्णन कैसे किया जाय ? वहाँकी तो चर्चा भी नहीं हो सकती। बात चलते ही जी थहराने लगता है। जिसने एक बार भी उस रसका आस्वादन किया है उसके लिये फिर वहाँसे हटना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है—

चरचा करी कैसे जाय।
बात जानत कछुक हमसों, कहत जिय थहराय॥
कथा अकथ सनेहकी उर नाहिं आवत और।
बेद समृती उपनिषदकों, रही नाहिंन ठौर॥

सच्चे प्रेमीको प्रियतमका स्मरण करना नहीं पड़ता। जबतक स्मरण करना पड़ता है, जबतक स्मरण और विस्मरणका युद्ध जारी है तबतक तो 'उस'से प्रेम क्या, परिचय भी नहीं हुआ ऐसा ही मानना चाहिये। पत्नी पतिके नामकी माला नहीं जपती। वह एकान्तमें आँखें मूँदकर, आसन मारकर, प्राणायाम आदि करके पतिके ध्यानमें डूबने नहीं जाती।

वह सब कामोंसे छुट्टी लेकर सत्संगका सेवन, तीर्थोंमें घूमना, दान-पुण्य करना आदिमें अपने जीवनको इस लिये नहीं लगाती कि इनके फलस्वरूप उसे अपने पतिका स्मरण-ध्यान होगा। ऐसा करना उसके लिये अस्वाभाविक होगा। ऐसा करके वह स्वयं अपनी दृष्टिमें तथा लोगोंकी दृष्टिमें उपहासास्पद बनेगी। वह वैसा करने ही क्यों जायगी? अपने प्राणप्यारे प्रीतमके स्मरणके लिये भला योग, जप, तप, ध्यान और एकान्तकी आवश्यकता ही क्या है? वह स्मरण स्मरण नहीं जो करनेसे हो। वह ध्यान ध्यान नहीं जिसमें डूबनेके लिये घोर परिश्रम और कठिन प्रयत्न करना पड़े। वह प्रेम प्रेम नहीं जिसमें प्रेमास्पदकी सहज स्मृति न हो। वह प्यार प्यार नहीं जो बिना बुलाये, अपने आप ही उमड़-घुमड़कर हमारे हृदयके आँगनमें न बरसे।

बिरह जगावै दरदको, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतको, पंच पुकारै पीव॥

रोम-रोममें प्रियतमकी पुकार है। रोम-रोम उसकी प्यारभरी स्मृतिमें पगे हुए हैं। और कोई वस्तु है ही नहीं जो चित्तको एक क्षणके लिये भी अपनी ओर आकृष्ट कर सके। प्रतिपल प्यारेकी स्मृति एक अजीब अदाके साथ आ-आकर प्राणोंको नहला जाती है, सराबोर कर जाती है। ध्यान जमानेके लिये त्राटक आदि मुद्राओंका सहारा नहीं लेना पड़ता और न आँखें ही बन्द करनी पड़ती हैं। उनके नूपुरोंकी ध्वनि सुननेके लिये कान मूँदने नहीं पड़ते और न पहाड़की खोहमें जाकर एकान्तवासकी ही आवश्यकता है; यहाँ तो—

आँख न मूँदौं कानन रूँधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥

खुली आँखों अपने प्राणेश्वरको देखूँ तभी तो देखना है। खुले कान उनकी वंशी और नूपुरकी ध्वनि सुन सकूँ तभी तो सुनना है। सारे रूप, विश्वके विविध रूप उस एक अपरूप रूपमें पलट जाय; जगत्का सारा कोलाहल, हाहाकार और चीत्कार मुरलीकी मधुरध्वनि होकर हमारे कानोंमें समा जाय; जो कुछ सुनूँ, देखूँ, स्पर्श करूँ सभीमें प्राणवल्लभका मौन निमन्त्रण स्पष्ट दीख-सुन पड़े तब तो समझना चाहिये कि उनके प्रेमका आस्वादन हमारे प्राणोंने किया है। नहीं तो, सब कुछ कोरा हठयोग ही है।

एक क्षणके लिये भी जिसे हरिका स्पर्श मिल गया वह उस रसको पूरे पिये बिना रह कैसे सकता है? वहाँ तो पग-पगपर एक अद्भुत आकर्षण बलात् प्राणोंको किसी 'अपने' की ओर खींचे लिये जा रहा है। और इस मार्गमें चलते हुए एक विचित्र उल्लास संगी बना रहता है। वहाँ मिलन और विरहका अद्भुत सम्मिश्रण है। वह अखण्ड मिलन एवं आमरण विरहकी अवस्था है। यहाँ मिलन और विरह दोनों घुले-मिले हुए हैं। इस स्थितिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिकी गति है ही नहीं। यहाँ मायाकी मोहिनी नहीं चलती। यहाँ तो सतत जागरण है। यहाँकी बेहोशी संसारकी सारी बुद्धिसे परेकी है और इसीलिये संसारकी किसी भी वस्तुका आकर्षण वहाँ है हो नहीं। वहाँ तो परमरस, 'रसो वै सः' को पाकर संसारके विविध रसोंकी ओरसे सहज ही उपेक्षा हो जाती है। यह तो आत्मरतिकी सहज स्थिति है। यही सहज समाधि है।

परन्तु इस स्थितिमें प्रवेश किया कैसे जाय? संसारके कोलाहलसे ऊपर उठकर, जगत्के विषयोंके मस्तकपर पैर रखकर हम उस परम प्रियतमके प्रेमका आस्वादन करें कैसे? यह स्थिति जनसाधारणके लिये तो अप्राप्य-सी ही दीखती है। परम प्रेमकी इस

स्थितिमें प्रवेश करनेके लिये हमें एक बार प्राणपनसे लगना होगा। माता-पिताके प्यारमें पली हुई कन्या पतिकी परिणीता होकर, पाणिग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन और सिन्दूरदानके अनन्तर सदाके लिये, जन्म-जन्मान्तरके लिये अपने पतिकी हो जाती है। आश्चर्य होता है कि जिस घरमें वह इतनी सयानी हुई वही घर उसके लिये पराया हो जाता है; और एक पुरुष, जिससे पहले वह सर्वथा अपरिचित थी उसीकी वह एकान्ततः हो जाती है। वह अपना कुल, गोत्र, नाम सब कुछ पतिके कुल, गोत्र और नाममें लय कर देती है। यह प्रायः हम सभीका देखा हुआ, अनुभव किया हुआ रहस्य है।

ठीक वही बात यहाँ भी है। जगत्के प्रपञ्चोंमें पला हुआ प्राणी, जगत्के विषयोंमें रचा-पचा पुरुष एक क्षणके इस विद्युत्-स्पर्शमें अपना लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख—अपना सब कुछ हरिके चरणोंमें निवेदित कर सदाके लिये 'उस' का बिना मोलका चेरा हो जाता है। खेल-खिलवाड़में ही वह पहले इस ओर आनेको ललकता है परन्तु एक बार जहाँ इधर पैर रक्खा कि फिर अपना सर्वस्व अर्पित कर देनेकी ही सनक सवार हो जाती है। यह विवशता भी कितनी दिव्य है!

'पिय-परिचय' की वह दिव्य बेला साधकके लिये परम महोत्सवकी वेला है। 'परिचय' हो जानेपर समर्पण करना नहीं पड़ता। वह आप-ही-आप हो जाता है। वहाँ चारों ओरसे संयम नहीं करना पड़ता। पियके प्राणमें प्राण घुल-से जाते हैं अतएव वहाँ सहज एकाग्रता होती है। वहाँ सब धर्मोंके बन्धनको छोड़ने नहीं जाना पड़ता; 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' सुनना नहीं पड़ता। सभी धर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं। सभी धर्म अपना फल देकर, अपनेको उसके प्रियमिलनमें बाधक समझकर चुपचाप छिप जाते हैं—और वहाँ साधक अपने प्रियतमका प्रेमास्पद बनकर उसके परम प्रेममें अहर्निश छका रहता है।

जिसे मैं चाहता हूँ वह एक बार मेरी ओर निहारे—यह मानवहृदयकी सहज दुर्बलता है। अपने प्रियतमका प्रेम प्राप्त करना प्रेम-साधनाकी एक छिपी हुई साध है। और वहाँ तो प्रियतमकी ओरसे प्रेमकी अखण्ड वर्षा होती रहती है जिसमें प्रेमीके प्राण सदा नहाते रहते हैं। यही बेखुदीकी हालत है।

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमनको होशियारी क्या?
रहैं आज़ाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या?
जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तज़ारी क्या?

हृदयदेशमें छिपा हुआ वह कितनी दूर सर्वथा अपरिचित-सा था। अन्तरका पट हटा और वह सामने आया। और सामने आनेपर तो हम सभी वही गायेंगे जो मीराने गाया था—

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी! मिलि राखिये नैननि रस पीजै हो॥

युग-युगसे, जन्म-जन्मसे जिस प्राणाराध्यकी खोजमें मेरी आत्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक रूपसे दूसरे रूपमें, एक नामसे दूसरे नाममें ढलती आयी है उस परम प्रियतमको पाकर अब क्यों छोड़ना? आओ, उसे सदाके लिये प्राणोंमें छिपा लें और आँखोंकी कोठरीमें पुतलीका पलंग बिछाकर और बाहरसे पलकोंकी चिक डालकर उसके रसको पीते रहें। इसके आगे अब करना ही क्या रहा?

प्रार्थना

(लेखक—दीन श्रीरणधीरप्रसादसिंहजी)

हे भुवनेश्वरी ! मुझमें वह बल दो जिससे मेरा चित्त सदा तुम्हारी ही ओर आकृष्ट होता रहे । मैं जितना ही तुम्हारी ओर बढ़नेकी इच्छा करता हूँ उतना ही अधिक मुझे सुख और शान्तिकी अनुभूति होती है; उस समय तुम्हारी अमरज्योतिकी शीतल रश्मियाँ मेरे सामने एक दिव्य प्रकाश फैलाती हैं, उनके सुखद स्पर्शसे जीवनका समस्त संताप शमन हो जाता है । तुम्हारी भक्ति और पूजाके लिये हृदयमें अधिकाधिक दृढ़ताका भाव उदय होता है । तुम्हारी शरणागतिसे जो सुख मुझे मिलता है उसकी बराबरी संसारकी कोई भी वस्तु नहीं कर सकती । अतः हे जगदम्बिके ! मेरी इच्छाशक्तिको इतनी बलवती बना दो कि तुम्हारी सेवामें सदा-सर्वदा मेरी रति बनी रहे, संसारकी कोई भी विघ्न-बाधा तुम्हारी पूजाकी दृढ़ भावनासे मुझे विरत न कर सके, अपने पाद-पद्मोंमें मुझे वह स्थान प्रदान करो जहाँसे मैं अगणित मनुष्यों-तक तुम्हारी परमज्योति पहुँचा सकूँ, तुम्हारे मङ्गल-मय आशीषका प्रसाद असंख्य मनुष्योंमें वितरण कर आऊँ, तुम्हारे विमल चरणोदकसे प्राणीमात्रका जीवन धन्य कर सकूँ, उनका जीवन शुभ्र कर सकूँ, इतना ही नहीं उनको तुम्हारे चरणामृतसे अमरत्व प्रदान कर दूँ !

हे सर्वेश्वरी ! तुम्हारे राज्यमें देना ही लेना है । जो जितना ही अधिक देता है उतना ही अधिक पाता है । जिसने तुम्हारे चरणोंमें अपना सर्वस्व चढ़ा दिया वही सबसे बड़ा धनवान् है । अतः माँ ! तुम मेरे ज्ञान-कोषको इस भाँति भर दो कि मैं उसके रत्नोंको सर्वदा लुटाता रहूँ । अज्ञानवश जो तुम्हारी सेवासे विमुख हैं उनमेंसे कुछ थोड़ोंको भी तो सच्चे सुख-शान्तिका मार्ग बता सकूँ । इस संसारमें जिनके बीच पैदा हुआ, जीवनमें जिनसे निकटतम सम्बन्ध रहा किन्तु जिन्होंने अभीतक सर्वतोरूपेण तुम्हारे चरणोंमें अपने हृदय, मन और बुद्धिकी भेंट नहीं चढ़ायी उनको तो तुम्हारे सम्मुख ला सकूँ । वरदे ! आशीर्वाद दो कि हम सब अध्यात्म-पथमें साहस, उत्साह और दृढ़ताके साथ आगे बढ़ें । तुम्हारी अमोघ शक्ति और ज्ञानगरिमामें दक्ष महात्माओंके कल्याण-वचनामृत निरन्तर पान करने और दूसरोंको पान करानेमें कभी तृप्तिका अनुभव न करें । जननी ! हम सबको कल्याणमार्गका पथिक बना लो । जहाँ तुमने एक बार आशीर्वाद दिया कि 'कल्याण हो' फिर तो सभी सन्तापोंसे हमारा त्राण हो जायगा । माँ ! हम सब कुपुत्र होते हुए भी तुम्हारे पुत्र ही तो हैं । बस, एक बार कह दो 'कल्याण हो' ।

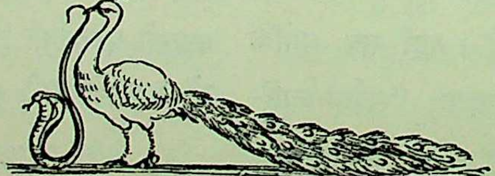

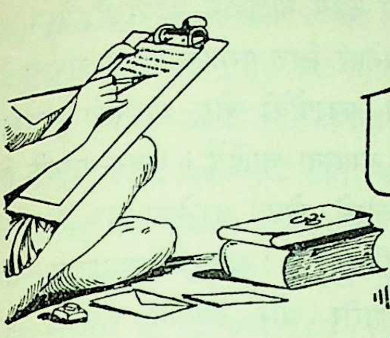

परमार्थ पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

अब आपकी क्या इच्छा है ? आपको किस बातकी जरूरत है ? आपको तो अब केवल अपने कल्याणके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये । मान-अपमानके बोझ-भारको अलग छोड़कर, जिस कामके लिये आपका संसारमें आना हुआ है, उस कामको ही करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये । और विचारना चाहिये कि क्या करनेसे कल्याण हो सकता है ? मैं जो कुछ करता हूँ इससे कितने समयमें कल्याण हो सकता है ? जो इस तरहका विचार करता है वही बुद्धिमान् है, परन्तु जो ऐसी बात अपने मनमें नहीं लाते उन्हें पीछे पछताना पड़ेगा । जब आप यहाँसे कूच कर जायेंगे तब इस संसारमें आपका कुछ भी हिस्सा नहीं रह जायगा और न कोई वस्तु आपके काम ही आवेगी । यह शरीर भी आपके काममें नहीं आवेगा । क्योंकि वह आपका नहीं है । उस समय तो एक श्रीनारायणदेवका भजन-ध्यान ही यदि साधन किया गया होगा तो काममें आवेगा । या उत्तम काममें यदि आपने कुछ रुपये भगवदर्थ लगाये होंगे अथवा इस शरीरसे किसीका उपकार किया गया होगा तो वह काममें आवेगा । इसलिये आपसे प्रार्थना है अब तो आप अपने जीवनके शेष समयको उत्तमसे उत्तम काममें बिता सकें, ऐसी आपको चेष्टा करनी चाहिये, जिससे पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़े । आप इस समय संसारके जालमें फँसे हुए हैं, इसलिये साधनकी विशेष चेष्टा करके इस संसारके मायाजालसे जल्दी निकलनेका उपाय करना चाहिये ।

(२)

सत्सङ्गका प्रभाव जान लेना चाहिये, फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है । इस संसारमें पलभरके सत्सङ्गके समान त्रिलोकीका राज्य भी कोई चीज नहीं है । किन्तु खेद तो यह है कि आप लोग जिस प्रकार रुपयोंका प्रभाव जानते हैं वैसा सत्सङ्गका नहीं जानते, क्योंकि जैसा आप लोगोंका रुपयोंमें प्रेम है, वैसा भगवान्‌में नहीं है । फिर श्रीपरमात्मादेवमें प्रेम हुए बिना सत्सङ्ग-भजनमें कैसे प्रेम हो ? आप लोग समझते हैं, रुपयोंसे सब कुछ हो सकता है, यह बिल्कुल भूल है । रुपयोंसे भगवान् कभी नहीं मिल सकते । भगवान्‌की बात तो दूर रहो भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंसे भी रुपयोंके द्वारा मुलाकात नहीं हो सकती । यदि मुलाकात होती है तो प्रेमसे ही होती है । प्रेमके आधीन तो श्रीनारायणदेव स्वयं रहते हैं, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है ? संसारमें प्रेमके समान कुछ भी नहीं है । किन्तु प्रेमके प्रभाव और मर्मको कोई प्रेमी ही जानता है । भगवत्-विषयक प्रेममें बहुत

आकर्षणशक्ति है, किन्तु एक बार लगनेकी जरूरत है। जबतक मनुष्य भगवान्के प्रभावको, श्रीनारायणदेवके प्रेमके मर्मको नहीं जानता है, तबतक वह कैसे जान सकता है कि भगवान् क्या वस्तु हैं? श्रीनारायणदेवके प्रेममें जो मग्न हो जाता है, उसके लिये तो नारायणदेव स्वयं तैयार रहते हैं, फिर उसके लिये त्रिलोकीका राज्य भी क्या चीज है? क्योंकि त्रिलोकीके स्वामी ही प्रेमवश उसके सामने हाजिर हैं! अपने भक्तके अधीन हैं। फिर उसके लिये क्या पानेसे बाकी रह गया? भाई, इस प्रकारकी बातोंको जानकर यदि विश्वास कर लिया जाय तो फिर इस काममें अपनेको लगा देनेमें कोई बड़ी बात नहीं मालूम पड़ेगी और संसारके रुपयोंका रोजगार बेकार मालूम होने लग जायगा। भले ही कोई नीतिके अनुसार संसारका रोजगार करता भी रहे किन्तु प्रेम तो उसका एकमात्र भगवान्में ही होना चाहिये। भगवत्प्रेमीका भले ही सब कुछ नाश हो जाय परन्तु उसको इस बातकी चिन्ता नहीं होती क्योंकि उसका प्रेम तो संसारके इन नाशवान् तुच्छ क्षणभङ्गुर पदार्थोंमें होता नहीं, उसको तो ये सब प्रत्यक्ष ही नाश हुए दीखते हैं। तब उसका इनमें प्रेम कैसे हो? जो संसारके भोगोंमें आनन्द मानकर उनके लिये मर रहे हैं, वे महामूर्ख हैं, ऐसा भगवान्के भक्त और विरक्त लोग कहते हैं। क्योंकि उन्हें तो संसारके सब भोग फीके ही लगते हैं।

(३)

भगवान्के भजन-ध्यान करते समय अपने चित्तमें विक्षेपका होना लिखा सो ठीक है। वह विक्षेप नामके जपका तीव्र अभ्यास और विषयोंमें दोषदृष्टि करके वैराग्य करनेसे मिट सकता है क्योंकि शरीर और रुपयोंकी आसक्ति ही विक्षेप होनेमें प्रधान कारण है। शरीर और रुपये नाशवान् पदार्थ हैं, ऐसा बार-बार विचार करनेपर चित्त परमात्मामें लग सकता है। संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको और शरीरको नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझना चाहिये। भजन-ध्यानके लिये आपने फिर जोरसे चेष्टा करनेको बात लिखी सो बहुत आनन्दकी बात है। आप-जैसे समझदार व्यक्तिको स्त्री, पुत्र, शरीर और रुपयोंमें फँसकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी वृथा नहीं गँवाना चाहिये। क्योंकि ये सब अनित्य होनेके कारण वास्तवमें तो हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो विवेकदृष्टिसे दुःखरूप ही हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें ये सब साधक नहीं हैं बल्कि बाधक ही हैं। किन्तु ये सब ईश्वरमें लगा देनेपर साधक भी हो सकते हैं। परन्तु सबसे ऐसा होना सहज नहीं। स्त्री, पुत्र, धनकी तो बात ही क्या है शरीर भी अपने साथ जानेवाली वस्तु नहीं है, इस प्रकारका विचार करके जो मनुष्य इनसे प्रेम नहीं करता वही सुखी होता है। मनुष्य जब उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें मुग्ध हो जाता है तब उस समय उसे त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ प्रतीत होता है। किन्तु इसे जानकर भी मनुष्य इन तुच्छ भोगोंमें फँस जाते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

अच्छे पुरुषोंका सत्संग मिलनेपर साधन तेज हो सकनेकी बात आपने लिखी सो ठीक है। यद्यपि अच्छे पुरुषोंका सत्संग बड़े भाग्यसे मिलता है किन्तु कोशिश करनेसे आपके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। समय और रुपयोंकी कोई परवा न हो तब तो अच्छे पुरुषोंसे बहुत दफा मिलना हो सकता है। इसके लिये आप विशेष चेष्टा क्यों नहीं करते हैं? केवल युक्तियोंसे बहुत-सी बातें समझमें नहीं आतीं। इसलिये आपको इस विषयमें विचार करना चाहिये। आप

तुच्छ धनके लिये समय और धनका व्यय करके तो दूर-दूरकी यात्रा करते हैं तथा शारीरिक परिश्रम उठाते हैं किन्तु आप विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानरूपी धनके लिये क्यों नहीं यथोचित परिश्रम करते ? यह बात समझमें नहीं आती। यदि इसका हेतु मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा है तो आपको विचार करना चाहिये कि वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा हमारे किस काम आवेगी ? यदि शरीरके परिश्रमकी कोई बात हो तो फिर शरीर है ही किसलिये ? यदि अज्ञान हेतु है तो उसको विवेकविचारके द्वारा नाश करना चाहिये, नहीं तो बहुत भारी पश्चात्तापका सामना करना पड़ेगा। यदि रुपयोंकी हानि या व्यय इसमें कारण हो तो विचार करना चाहिये फिर वे इकट्ठे किये हुए रुपये आपके किस काम आवेंगे। यदि कुटुम्ब या व्यापार आदिको सुव्यवस्था करनेके कारण सत्संगमें जाना नहीं होता, तब तो आपको विचार करना चाहिये कि इन सबसे बढ़कर जा आपका प्रधान कार्य है, उसकी सुव्यवस्था क्या आपको नहीं करनी है ? जगह, जमीन, मुकदमा, मकान, कुटुम्ब आदिकी सुव्यवस्था तो आपके परलोक सिधारनेके बाद भी आपके उत्तराधिकारी कर सकते हैं, किन्तु आपकी सुव्यवस्था आपके परलोक सिधारनेके बाद आपको छोड़कर और किसीसे होनेकी नहीं है। अतएव जबतक शरीर आरोग्य है और मृत्यु दूर है इसी समय आपको जो करना है उसे अति शीघ्रतासे अपनी आत्माके कल्याणके लिये जोरोंके साथ चेष्टा करनी चाहिये।

(४)

आपके प्रेमके अनुसार मैं पत्र नहीं लिख पाता हूँ, फिर भी आप पत्र देते ही रहते हैं, यह आपकी बड़ी कृपा है। समयपर मेरे पत्र न देनेके दोषको आप दोष नहीं समझते यह आपके प्रेम और विश्वासकी बात है। श्रीभगवान्‌के विषयको लेकर जो प्रेम है वह भगवान्‌के साथ ही प्रेम है। आपके पिताजी बीमार हैं उनकी आज्ञा बिना उन्हें छोड़कर आपका आना ठीक नहीं है। इधर मैं भी कई कारणोंसे नहीं आ सकता। इस प्रकार हम लोगोंके न मिलनेमें कुछ प्रारब्ध भी कारण समझा जा सकता है। परन्तु श्रीनारायणदेवके साथ यदि प्रेम किया जावे तो उनके मिलनेमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। आपको पहले भी लिखा गया था और फिर लिखा जाता है कि श्रीनारायणदेवके साथ पूर्ण प्रेम हो, इसी बातकी चेष्टा करनी चाहिये। संसारमें श्रीभगवान्‌के प्रेमके समान कुछ भी नहीं है। श्रीपरमात्मादेव ही प्रेमके मर्मको अच्छी तरह जानते हैं। उनके साथ प्रेम हो जानेपर उन्हें आना ही पड़ता है। कोई भी उन्हें रोकनेवाला नहीं है। श्रीनारायणदेव प्रेमके आधीन हैं। प्रेमके मर्मको जो कोई जानता है, वही प्रेममें बिक जाता है। श्रीनारायणके जो प्रेमी भक्त हैं उनसे नारायणका वियोग नहीं सहा जाता और इस कारण नारायणदेवको उनके पास आना ही पड़ता है। आप लोग जबतक श्रीभगवान्‌का वियोग सह रहे हैं तभीतक भगवान्‌का वियोग हो रहा है। जिस दिन आप लोग श्रीभगवान्‌के वियोगसे गोपियोंकी भाँति विह्वल हो जावेंगे उसी दिन भगवान्‌को आप लोगोंके पास तुरन्त ही आना पड़ेगा। यदि प्रेमके द्वारा श्रीनारायणदेवको जीतना चाहें तो और भी अधिक प्रेमकी जरूरत है। जो बड़ा प्रेमी होता है वह तो करुणासे विह्वल होकर भगवान्‌से आनेके लिये भी प्रार्थना नहीं करता। उन भक्तोंके मनमें ऐसा भाव होता है कि भगवान् इतने बड़े प्रेमी होकर भी मेरा वियोग सहते हैं, फिर मैं तो साधारण

ही प्रेमका जाननेवाला हूँ । मुझको तो उनके दर्शनके लिये भी आतुर नहीं होना चाहिये । जो प्रेमके अधीन है तथा प्रेमके मर्मको भलीभाँति जाननेवाला है वह प्रेमीके हाथ प्रेममें बिक जानेके लिये सदा तैयार रहता है । वह अपने प्रेमीके पास गये बिना एक पलक भी नहीं रह पाता है । श्रीभगवान् देखते हैं कि यदि मेरा प्रेमी मुझे बुलानेकी प्रार्थना करे तब तो मेरी बात रह जायगी, नहीं तो अन्तमें मुझे जाना तो है ही । यही समझकर प्रेमी कभी भगवान्को बुलानेकी प्रार्थना नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं और प्रमके मर्मको समझनेवाले हैं तथा प्रेमके अधीन हैं । फिर वह किस लिये खुशामद करे ? दूसरी बात वह यह सोचता है कि इतना प्रेमी होकर भी वह तुम्हारा वियोग सह रहा है फिर तुम्हारे लिये इतना वियोग सहना कुछ भी बड़ी बात नहीं होनी चाहिये । क्योंकि तुम तो प्रेमके मर्मको उतना जानते ही नहीं । इसलिये इस विषयमें तुमको शूरवीरता रखनी चाहिये । श्रीभगवान्की शूरवीरताको देखकर भी तुमको शूरवीरता करनी चाहिये । तुम प्रेम करते रहोगे और प्रार्थना नहीं करोगे तो अन्तमें हारकर उनको दर्शन देना ही पड़ेगा । इस विषयमें भगवान् इतने शूरवीर नहीं हैं । यदि तुम खुशामद करोगे तो वे और ज्यादा खुशामद करावेंगे । इसलिये विशेष खुशामद करनेकी जरूरत नहीं । यदि करें भी तो उलटी उनसे गरज करानी चाहिये । यदि तुम उलटी गरज कराओगे और धक्के भी मारोगे तो भी आवेंगे ही, यदि तुम्हारा निष्कामभावसे तीव्र प्रेम होगा तो ।

◆

कहानीका असर

[कहानी]

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचंदजी)

कई साल पहलेकी बात है । मि० सप्रू, इटावेमें डिप्टी कलेक्टर बनकर आये । एक दिन एक विचित्र घटना घटी । सप्रूजी भोजन करके पलंगपर लेटे हुए थे । रातके दस बजेका समय था । मनोहर नाई चरणसेवा कर रहा था ।

सप्रू—मनोहर ! कोई कहानी सुनाओ !

मनोहर—आपको मैं क्या सुना सकता हूँ ? आपने हजारों किताबें पढ़ी हैं और लाखों कहानियाँ सुनी हैं । आप रोज जो मुकदमे करते हैं वे सब कहानियाँ ही तो हैं । आप कुछ कहें और मैं सुनूँ !

स०—नहीं मनोहर ! तुम्हीं कोई कहानी कहो ।

म०—आप नहीं मानते तो सुनिये । बीच-बीचमें 'हूँ' जरूर कहते जावें । नहीं तो आप सो जावें और मैं बकता रहूँ ।

स०—अच्छा !

म०—अरबमें एक बादशाह था । एक रातको दासीने, छतपर, बादशाहका पलंग बिछाया । गरमीके दिन थे । छतपर केवड़ेका छिड़काव किया गया था ।

स०—हूँ !

म०—सोनेका पलंग था, रेशमकी निवारसे भरा गया था, कालीन बिछा था, उसपर गद्दा बिछा था, फिर एक कालीन बिछा था, उसपर सफ़ेदी बिछी थी । आमने-सामने, अगल-बगल चार तकिये

रक्खे थे और फूलोंसे सेज सजाकर, दासी उस पलंगकी शोभा एकटक देख रही थी ।

स०—हूँ !

म०—दासीके मनमें विचार आया कि पाँच मिनट इस पलंगपर लेट लेना चाहिये । मैं भी तो देखूँ कि कैसा लगता है ! मन होता है शैतान ! दासी, बादशाहके पलंगपर लेट गयी ।

स०—अच्छा ! फिर ?

म०—दासी थी बेचारी दिनभरकी थकी और माँदी ! ऊपरसे लगी ठण्डी हवा और नीचेसे उठी फूलोंकी गमक ! तीन मिनट भी नहीं बीते; दासी टपसे सो गयी !

स०—अरे ! फिर क्या हुआ ! शामत आयी होगी ?

म०—एक घंटेके बाद, भोजन करके, बादशाह सलामत आराम करने आये । पूरनमासीकी चाँदनी थी ही, बादशाहने तुरन्त जान लिया कि पलंगपर दासी सो रही है ।

स०—गजब हो गया !

म०—बादशाहने दासीको जगाया । ज़मीनपर खड़ी होकर, मारे डरके, दासी थर-थर काँपने लगी । हाथ जोड़कर चरण पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगी । बादशाहने कहा कि इस क़सूरकी बिल्कुल माफ़ी नहीं हो सकती । हलकी सज़ा दी जायगी ।

स०—अच्छा ! फिर ?

म०—बादशाहने बेगम साहेबाको बुलाया और सब माजरा कह सुनाया । इसके बाद बादशाहने बेगमसे कहा कि आप ही इस दासीकी सज़ा तजवीज करें । क्योंकि इसने आपका ही अपराध विशेष किया है ।

स०—ठीक ! फिर ?

म०—बेगम साहेबाने कहा कि इसने साठ मिनट पलंगपर व्यतीत किये हैं इसलिये साठ बेंतकी सज़ा दी जाती है ।

स०—बहुत सख्त सज़ा दे दी !

म०—रुतबा पा जानेपर आदमी, कसाई हो जाता है !

स०—हाँ, हूँ, आगे चलो !

म०—सज़ा सुनकर बादशाहके भी होश उड़ गये । बादशाहने सोचा कि अगर किसी आदमीने बेंत लगाये तो यह साफ़ मर जायगी ।

स०—हूँ !

म०—तबतक बेगम साहेबाने खुद ही कहा कि बेंत मैं ही लगाऊँगी । खूँटीपरसे चमड़ेका बेंत उठाकर बेगम साहेबाने चार-पाँच हाथ करारे जमा दिये । बेचारी दासी रोती हुई गिर पड़ी । उसके बाद बेगम साहेबा थक गयीं । औरतकी जात मुलायम होती ही है !

स०—हूँ !

म०—बादशाह एक-दो-तीन-चार-पाँच कहकर गिनती गिनने लगे । तीस बेंततक दासी ज़ार-ज़ार रोती रही । परन्तु, इसके बाद दासीकी मति पलट गयी । तीससे साठतक दासी खूब हँसती रही ।

स०—सो क्यों ?

म०—धीरज रखिये । सब बातें आप-ही-आप खुलती जावेंगी ।

स०—अच्छा, हाँ !

म०—सज़ा समाप्त होनेपर बादशाहने दासीसे पूछा कि तू पहले रोयी क्यों और पीछे हँसी क्यों ? दासीने कहा कि चोटके कारण रोयी थी । परन्तु, जब यह समझमें आया कि मैंने एक घंटा पलंगपर

बिताया तब तो साठ बेंत लगे और बादशाह सलामत रातभर सोते हैं सो इनकी न मालूम क्या दशा होगी। पलंगको सजासे बेगम साहेबा भी न बचेंगी। आप दोनोंपर अनगिनती बेंत पड़ेंगे। अतः यह सोचकर मैं हँसी कि सज़ा देनेवालोंको अपनी सज़ाको खबर ही नहीं है। जिस तरहसे पलंगपर मुझे सोता देख आप क्रोधित हुए उसी तरह आपको पलंगपर सोता देख, खुदा कुपित होता है। मेरे हँसनेका यही कारण है। इतना सुनते ही बादशाहकी बुद्धि बदल गयी। बादशाहने ताज फेंक दिया, इमामा फेंक दिया, जामा फेंक दिया और जूते फेंककर फक़ीरी कफ़नी पहिन ली। रामचन्द्रजी दिनको वनको ओर चले थे, बादशाह ठीक आधी रातको वनगामी हो गया।

स०—वाह वाह ! The duty is the beauty.

म०—अंग्रेज़ीमें क्या मुझे गाली देने लगे ?

स०—नहीं मनोहर ? तुमने बहुत अच्छा किस्सा कहा। लेकिन अब हमको भी इस पलंगसे उतरना चाहिये।

Duty is beauty इतना कहकर वह पलंगपरसे उतर पड़े और पृथ्वीपर कम्बल बिछाकर लेट गये।

× × ×

शहरभरमें ख़बर फैल गयी कि फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट मिस्टर सप्रू ५५०) मासिकपर लात मारकर फक़ीर हो गये ! बंगलेके द्वारपर एक इमलीके नीचे, एक कम्बलपर, डिप्टी कलेक्टर, फक़ीरी भेषमें बैठे हैं।

बात-की-बातमें कलेक्टर साहब, सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस, ज़िलेके शेष तीन डिप्टी कलेक्टर और कोतवाल साहब घटनास्थलपर जा पहुँचे।

कलेक्टर—वेल मिस्टर सप्रू ! टुमको क्या हो गया ? टुम कलेक्टरीके वास्ते नामज़द हो गया है। टुमने यह इसटीपा क्यों भेजा ? अम टुमारा इसटीपा मंज़ूर करने नहीं माँगटा !

स०—अभीतक सरकारकी नौकरी की अब मालिककी नौकरी करूँगा।

कलेक्टर—पिकीरी करेगा पिकीरी ? चौबीस घंटेमें पाँच घंटा सरकारी काम करो और बाकी वक्तमें पिकीरी करो। टुम बी राम राम करना——अम बी राम राम करेगा।

स०—सज़ा देनेवाले नहीं जानते हैं कि उनके लिये किस सज़ाकी तजवीज हो रही है। इस बातने मेरा कलेजा काट दिया।

तहसील भरथनाके डिप्टी कलेक्टरने कलेक्टरसे कहा—'हज़ूर ! 'ज्ञानकी बात कृपानकी धारा'—यानी तलवारकी तरह बात भी काट करती है। मेरा मँझला भाई जिला बाँदामें तहसीलदार था। एक रोज उसने देखा कि एक काले साँपने एक मेंढक पकड़ा और निगल गया। भाईने सोचा कि इसी तरह एक दिन मौतका साँप, मुझ मेंढकको गटक जावेगा। उसी वक्त वह साधू हो गया। आजतक पता नहीं कि कहाँ है।'

कलेक्टर—मिस्टर सप्रू ! अगर मेरी बातपर टुम नज़र नहीं डालता तो न सही। वह देखो तुमारी खूबसूरत और तालीमयाफ्ता बीबी, फाटकपर हाथ रक्खे रो रही है। टुमारा छोटा-सा बच्चा भी रो रहा है। टुमारे बिना टुमारे मेम साहबका क्या हाल होगा ? टुमारा बच्चा कैसे तालीम पावेगा ? बच्चेको पढ़ा-लिखा दो तब पिकीर होना। तब हम बी पिकीर होगा।

स०—नहीं हज़ूर ! भूखी-प्यासी, थकी-माँदी पबलिकका पैसा, वेतनके रूपमें लेकर मैंने जो पलंग-

बाज़ी की है, उसकी सज़ा मुझे ज़रूर मिलेगी । अब मैं किसी दूसरेका इंसाफ़ नहीं करूँगा—खुद अपना इंसाफ़ करूँगा । जो अपना इंसाफ़ नहीं करता वह दूसरोंका क्या इंसाफ़ करेगा ?

सबने समझाया—पर सब व्यर्थ । लाचार होकर कलेक्टर साहबने इस्तीफ़ा ले लिया । मनोहर नाई छाती पीट-पीटकर श्रीमती सप्रूके चरणोंमें लोट रहा था और कह रहा था कि 'मैंने नहीं जाना था कि कहानीमें भी असर होता है नहीं तो यह कहानी नहीं कहता !'

× × ×

शहर इटावासे एक मील दक्षिणमें यमुनाजी हैं । एक पक्के घाटपर भूतपूर्व डिप्टी कलेक्टर श्रीयुत सप्रूजी बैठे हैं । फटी कमली है और एक मोटा सोटा है । यमुनामें खड़े होकर आप घाटपर सोटा खटखटाया करते थे और कभी-कभी कहते थे—

'लगा रह खटका !'
'खटकेका खटका—खट पट करता रह !!'
'मत मिटना—खटखटा !!!'

दस बजेके करीब झोली लेकर आप भिक्षा लेने शहरमें जाते थे । पबलिक उनको पहचानती तो थी ही । सभी चाहते थे कि आज हमारे द्वारपर आवें । रोटी लेते थे—रोटियोंको लेकर उस झोलीको यमुनाजीमें डुबाते थे । तदनन्तर उस झोलीको एक इमलीकी शाखमें लटका देते थे । चार बजेतक झोली लटकती रहती थी । फिर कुछ आप खाते और बाकी बन्दरोंको खिला देते थे । फटी कमलीके सिवा कोई वस्त्र पास नहीं रखते थे । इस प्रकार इटावेके एक डिप्टी कलेक्टरने इटावेमें ही बारह साल घोर तपस्या की ।

× × ×

'खट-खट' करते रहनेसे पबलिक उनको 'खटखटा बाबा' कहने लगी । एक बार खटखटा बाबाने भण्डारा किया । घीकी कमी पड़ गयी । कड़ाही चढ़ी हुई थी—शहर दूर था । आपने एक चेलासे कहा कि दो कलसा यमुना-जल लाकर कड़ाहीमें छोड़ दो । वैसा ही किया गया । यमुनाका जल घी बन गया । पूड़ी सेंकी गयी । एक बार कोई सिद्ध यमुनाजीकी बीच धारामें पद्मासन लगाये बैठा हुआ चला जा रहा था । खटखटा बाबाको देखकर कहा कि 'पानी पिला जाओ ।' बाबाजी भी लोटामें जल लेकर, यमुनामें स्थलकी भाँति चलने लगे । पानी पीकर महात्माने कहा—'तुम भी सिद्ध हो गये !'

× × ×

खटखटा बाबाकी समाधिपर अब अनेक इमारतें बन गयी हैं । समाधिका मन्दिर और विद्यापीठकी इमारत दर्शनीय हैं । सहस्रों प्राचीन पुस्तकोंका अपूर्व संग्रह किया गया है । सालमें एक बार मेला लगता है । भारतके विद्वानों, योगियों और पण्डितोंको निमन्त्रण देकर बुलाया जाता है । खूब व्याख्यान होते हैं । खटखटा बाबाकी समाधि, इटावेका तीर्थस्थान है । इटावा ज़िलेका बच्चा-बच्चा खटखटा बाबाके नामसे परिचित है । समाधिके वर्तमान मैनेजरसे मैंने कई बार प्रार्थना की कि 'कल्याण' में प्रकाशित करनेके लिये, खटखटा बाबाका पूर्ण जीवनचरित्र नोट करा दीजिये । परन्तु, उत्तर मिला कि—'महात्माजी नहीं चाहते थे कि उनकी नामवरी की जाय ।'

पञ्च-सकार

(दूसरा प्रयोग)

गतवर्ष 'कल्याण' में पञ्च-सकार शीर्षक एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी । उसमें सहिष्णुता, सेवा, सम्मानदान, स्वार्थत्याग और समता इन पाँच सकारोंकी चर्चा की गयी थी । लेखके अन्तमें टिप्पणीमें यह लिखा गया था कि 'पञ्च-सकार' का दूसरा लेख शीघ्र ही आरम्भ होनेवाला है । उसमें—**सत्सङ्ग, सदाचार, सन्तोष, सरलता और सत्य**-पर विचार किया जायगा । उसीके अनुसार यह पञ्च-सकारकी दूसरी लेखमाला आरम्भ की जाती है । इसमें भी पूर्वकी भाँति क्रमशः एक-एक 'सकार' की चर्चा होगी ।

सत्संग

वस्त्राण्यापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥
मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥
तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥
(महाभारत)

जिस प्रकार फूलोंके संसर्गसे उनकी गन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको सुवासित कर देती है, वैसे ही संसर्गसे होनेवाले गुण भी अपना असर करते हैं । विषयासक्त मूढ़ पुरुषोंका समागम मोहजालकी उत्पत्तिका कारण है और प्रतिदिन साधु-महात्माओंका समागम करना धर्मकी उत्पत्तिका हेतु है । अतएव ज्ञानी महात्माओं, अनुभवी वृद्धों, उत्तम स्वभाववाले तपस्वियों और परम शान्तिको देनेवाले सत्पुरुषोंका ही संसर्ग रखना चाहिये ।

कुसंग

मनुष्यके उत्थान और पतनके जितने कारण हैं, उनमें सङ्ग एक प्रधान कारण है । सङ्गके अनुसार ही मनुष्यका मन बनता है और मनके अनुसार ही मनुष्यसे क्रिया होती है एवं क्रियाके अनुसार ही उसका फल मिलता है । अच्छे हृदयका मनुष्य भी नीच सङ्गसे नीच मनवाला होकर गिर जाता है और असदाचारी मनुष्य भी उत्तम सङ्ग पाकर असदाचारसे छूटकर महात्मा बन जाता है । परन्तु इतना याद रखना चाहिये कि बुरे सङ्गका प्रभाव साधारण मनुष्य-पर जितना शीघ्र और विशेषरूपसे पड़ता है, उतना शीघ्र और उतनी मात्रामें उत्तम सङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता । कारण यह है कि मनुष्यकी प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, अतएव जैसे जल स्वभावसे ही नीचेकी ओर बहता है, इसी प्रकार प्रकृतिके गुणोंमें स्थित पुरुष भी स्वभावतः पतनकी ओर ही जाता है । उसमें यदि कुसङ्गकी सहायता मिल जाती है तो जैसे ऊपरसे गिरता हुआ मनुष्य धक्का लग जानेपर और भी बहुत शीघ्र गहरे गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही कुसङ्गके धक्केसे मनुष्यका पतन बहुत ही शीघ्र तथा गहरा हो जाता है । विषयोंकी आसक्ति, जन्म-जन्मान्तरके दूषित संस्कार, वातावरणका प्रभाव आदि ऐसे कितने ही कारण हैं, जो उत्थानके मार्गमें सदा ही बाधक बने रहते हैं । इसलिये अच्छे सङ्गका असर साधारण मनुष्यपर देरसे और कम मात्रामें होता है । पतन तो निर्बलतामें, अँधेरेमें या अनायास ही हो जाता है परन्तु उत्थानमें बलकी, प्रकाशकी और प्रयासकी आवश्यकता होती है । पतन ध्वंस है, उत्थान निर्माण है—यह सभी जानते हैं कि ध्वंस सहज है परन्तु निर्माण बहुत कठिन है । ध्वंसमें जरा-सी सहायता भी बहुत काम करती है परन्तु निर्माणमें बहुत सहायताकी आवश्यकता पड़ती है ।

इसीलिये यह सिद्धान्त मानना पड़ता है कि साधारण मनुष्यपर कुसङ्गका असर बहुत शीघ्र होता है और सत्सङ्गका देरमें ! अतएव कुसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

कुसङ्गसे केवल बुरे आचरण और बुरे भाववाले मनुष्योंका सङ्ग ही नहीं समझना चाहिये । इन्द्रियोंका और मनका कोई भी विषय, जो हमारे अन्तःकरणमें दुष्ट भाव, दुष्ट विचार और विषयोंके प्रति आसक्ति उत्पन्न करके भगवान्‌के पवित्र पथमें बाधा देनेवाला या उससे गिरानेवाला हो, उसीको कुसङ्ग समझना चाहिये । स्थान, अन्न, जल, परिवार, अड़ोस-पड़ोस, दृश्य, साहित्य, आलोचना, आजीविकाके कार्य और उपासना-पद्धति—कम-से-कम ये दस चीजें ऐसी हैं, जो अच्छी होनेपर हमारे अन्तःकरणको अच्छा या ऊँचा बना सकती हैं और बुरी होनेपर हमें बुरा बनाकर गिरा सकती हैं । इसलिये जिस वस्तुसे जरा भी पतनकी सम्भावना हो, ऐसी किसी भी चेतन या जड़ वस्तुको जहाँतक हो सके नहीं देखे, ऐसी कोई बात न सुने, ऐसी कोई चर्चा न करे, ऐसे किसी वातावरणमें न रहे, ऐसा कोई अन्न न खाय, ऐसा साहित्य न पढ़े, ऐसी कोई आजीविकाका कार्य न करे और न ऐसी कोई उपासना ही करे । कुसङ्गका ज्यों-ज्यों प्रभाव होता है, त्यों-ही-त्यों मनुष्यकी बुद्धि वैसी ही बनने लगती है । यहाँतक कि सात्त्विक पुरुषकी बुद्धि भी कुसङ्गके प्रभावसे राजसभावापन्न होकर अच्छे-बुरेका यथार्थ निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाती है और उसी राजस बुद्धिपर जब कुसङ्गका विशेष प्रभाव पड़ जाता है, तब तो वह विपरीत ही निर्णय करती है । * इस अवस्थामें मनुष्य पहले जिस बातको बुरी समझता था, उसीको अच्छी समझने लगता है । फलतः उसको अपने पतनका पता नहीं लगता, बल्कि वह पतनको ही उत्थान समझने लगता है और प्रयत्नपूर्वक बड़ी तेजीसे पतनकी ओर अग्रसर हो जाता है ।

यद्यपि वातावरण और अन्न-जलादिके संगका प्रभाव कम नहीं पड़ता, तथापि इन सबसे अधिक प्रभाव मनुष्यके संगका पड़ता है । इसीलिये साधारणतया महात्मा पुरुषोंके संगको सत्संग और बुरे मनुष्योंके सङ्गको कुसंग कहा जाता है । इस—

कुसंगसे क्या होता है ?

१—परचर्चा, परनिन्दामें प्रीति होती है ।

२—विषयासक्ति और भोगकामना बढ़ती है ।

३—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर इन छः भीतरके शत्रुओंका बल बढ़ता है तथा इनकी नींव मजबूत होती है ।

४—दम्भ, दर्प, अभिमान, असहिष्णुता, अविवेक, असत्य, कायरता, निर्दयता, हिंसा आदि दुर्भाव और दुर्गुणोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है ।

५—राग, द्वेष, इच्छा, वासना, और अहंकारकी वृद्धि होकर अज्ञानका परदा और भी घना तथा मजबूत हो जाता है ।

६—भाँति-भाँतिके दुराचार और पाप बढ़ते हैं, जिनके फलस्वरूप दुःख, दरिद्रता, आधि-

---

* यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
(गीता १८ । ३१-३२)

'हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे धर्म और अधर्मका तथा कर्तव्य और अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय नहीं होता वह बुद्धि राजसी है । और हे पार्थ ! जो तमसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंमें विपरीत निर्णय करती है, वह तामसी है ।'

व्याधि, निन्दा-अपमान, विषाद-शोक तथा बारंबार जन्म-मृत्युकी प्राप्ति होती है और भीषण नरक-यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥
(३ । ३१ । ३२–३४)

‘जो मनुष्य शिश्नोदरपरायण (स्त्री और भोगोंमें ही आसक्त तथा उन्हींके लिए चेष्टा करनेवाले) नीच पुरुषोंका संग करके उनके-जैसा बर्ताव करने लगता है, वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है। क्योंकि कुसंगसे सत्य, पवित्रता, दया, चित्तकी संकल्प-शून्यता या मननशीलता, बुद्धि, श्री, लज्जा, कीर्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुणोंका नाश हो जाता है । अतएव ऐसे अशान्तचित्त, मूर्ख, खण्डित बुद्धिवाले, स्त्रियोंके हाथकी कठपुतली बने हुए, शोचनीय, असाधु, दुष्ट मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये ।’

सब प्रकारके कुसंगोंमें स्त्रियोंका संग विशेष हानिकर है । इसीलिये कहा गया है—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥
सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३१ । ३६, ४०)

‘दूसरोंके संगसे उसको वैसा मोह और बन्धन नहीं होता जैसा कि युवती स्त्रियोंके संगसे तथा उनके संगियोंके संगसे होता है । मेरी (भगवान्की) सेवासे जिसको आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हुई है और जो योगकी चरमावस्थापर आरूढ होना चाहता है, उसको युवती स्त्रियोंका संग कदापि नहीं करना चाहिये । क्योंकि मुमुक्षु पुरुषके लिये वे नरकका द्वार हैं, ‘तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्’ आदिसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है । इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये युवकोंका संग हानिकर है । स्त्री-पुरुषोंके साथ रहनेसे परस्पर आकर्षण होता है, उससे चित्तवृत्तियाँ दूषित होती हैं, फिर दोनों आचरणभ्रष्ट हो जाते हैं ।’

बात यह है कि जिस किसी भी वस्तुसे चित्तका भोगोंकी ओर आकर्षण होता है, वही वस्तु कुसङ्ग है । इसलिये शास्त्रकारोंने विषयसम्बन्धी बातचीतसे भी बचनेके लिये चेतावनी दी है । क्योंकि विषयोंकी बातें होनेके कारण विषयोंका चिन्तन होता है और उस चिन्तनद्वारा क्रमशः आसक्ति, कामना, क्रोध, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश होकर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है ।* इसीसे कहा गया है—

जनो विषयिणा साकं वार्तातः पतति क्षणात् ।
विषयं प्राहुराचार्याः सितालिप्तेन्द्रिवारुणीम् ॥
(शिवपुराण)

‘विषयासक्त मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे मनुष्य तुरंत ही पतित हो जाता है । आचार्योंने विषयको मिश्रीमें सनी हुई मदिरा बतलाया है ।’

और जिन लोगोंका आचरण दूषित है, उनका संग तो बिल्कुल ही छोड़ देनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है । क्योंकि—

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ।
(नारदभक्तिसूत्र ४४)

सम्भाषाद्दर्शनात्स्पर्शादासनाद् भोजनात्किल।
पापिनां संगमाच्चैव किल्बिषं परिसञ्चरेत्॥
(पद्मपुराण)

'उन पापी मनुष्योंके साथ बातचीत करने, उन्हें देखने, उनका स्पर्श करने, उनके साथ बैठने, एक पंक्तिमें भोजन करने तथा उनके संग रहनेसे ही उनका पाप अपनेमें आ जाता है।'

इसलिये बड़ी ही सावधानीसे मनुष्यको कुसंगसे बचकर सत्संग करना चाहिये।

सत्संग

स्थान, अन्न, जल आदि उपर्युक्त दसों चीजें अच्छी होनेपर सत्संगका काम देती हैं—इसका निर्देश किया जा चुका है। जिन वस्तुओंसे हमारे अन्तःकरणमें स्थित दुष्ट विचारोंका नाश होकर सद्विचारोंकी उत्पत्ति हो और चित्तवृत्तिकी गति भगवान्‌की ओर होने लगे, वही विषय सत्स्वरूप परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध करानेवाला होनेके कारण 'सत्' है और उसका संग सत्संग है। इसलिये, जहाँतक बन सके, देखने, सुनने, चर्चा करने, खाने-पीने, पढ़ने-लिखनेके विषय तथा आजीविकाका कार्य, वातावरण एवं उपासना-पद्धति सभी ऐसे होने चाहिये जो हमारे चरित्र-सुधारमें, उत्थानमें सहायता देनेवाले हों। जैसे कुसंगसे बुद्धि राजसी-तामसी हो जाती है, वैसे ही सत्संगसे बुद्धि क्रमशः तमोगुण और रजोगुणसे ऊपर उठकर सात्त्विकी बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धि यथार्थ निर्णय करती है और उसके प्रभावसे मनुष्य अपने वास्तविक कर्तव्यको पहचानकर उसपर आरूढ़ हो जाता है*। मनुष्यकी तमसावृत बाहरी आँखें सत्संगके प्रकाशसे ही खुलती हैं और सत्संगके बलसे ही वह उठकर उत्थानकी ओर अग्रसर होनेका प्रयास कर सकता है। अब देखिये इस—

सत्संगसे क्या होता है?

१—भगवच्चर्चा, भगवद्गुणनामकीर्तन, भगवद्गुण-नामश्रवण और भगवच्चिन्तनमें मन लगता है।

२—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और प्रेमकी बातें सुननेसे तथा भजन करनेसे विषयासक्ति एवं भोगकामनाका नाश होकर भगवान्‌में अनुरक्ति और भगवत्प्राप्तिकी कामना होती है।

३—अन्तःकरणमें स्थित कामादि समस्त शत्रुओंका नाश होकर निर्भयता आदि दैवी सम्पदाके छब्बीस गुणोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है।

४—अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, ममता-अहंकार और अज्ञानका नाश होता है।

५—स्वाभाविक ही तन, मन, धनसे संसारके जीवोंकी सेवा बनती है।

६—सर्वत्र सब प्राणियोंमें सदा-सर्वदा और सर्वथा भगवद्दर्शन हो सकते हैं।

७—भगवान्‌का तत्त्वज्ञान होकर सनातन दिव्य आनन्द और परम शान्ति तथा दिव्य परम प्रेमकी प्राप्ति होती है।

८—परम मधुर और परम आत्मीय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यके सागर भगवान्‌की परम सेवाके सामने मुक्ति भी तुच्छ प्रतीत होने लगती है।

स्वयं भगवान् कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

---

* प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३०)

'हे पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि यथार्थरूपसे जानती है, वही सात्त्विकी है।'

'हे उद्धव ! दूसरे समस्त संगोंका निवारण करनेवाले सत्संगके द्वारा मैं जैसा वशमें होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम—किसीसे नहीं होता ।'

अतः जिस सत्संगसे स्वयं भगवान् वशमें हो जाते हैं, उससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु या साधना हो सकती है ?

यह सत्संग जिन सद्-वस्तुओं या जिन महात्मा सत्पुरुषोंसे प्राप्त होता है, उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यको अपने जीवनकी बाजी लगाकर करनी चाहिये । यह चेष्टा ही साधना है । वास्तविक संत या महात्मा पुरुष मिल जायँ और उन्हें हम पहचान लें, फिर तो मानवजीवनकी सर्वोपरि सफलतामें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता । परन्तु जबतक वैसे पुरुष न मिलें तबतक श्रद्धापूर्वक अन्यान्य सद्वस्तुओंका, सच्छास्त्रोंका और सात्त्विक वृत्तिवाले श्रेय-साधकोंका संग करना चाहिये। ऐसे साधकोंका, अथवा यदि भगवत्कृपासे प्राप्त हो जायँ तो सिद्ध महापुरुषोंका श्रद्धापूर्वक संग करना और उनके परमार्थपूर्ण वचनोंको प्रेम एवं आदरके साथ सुनना, फिर तदनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करना सत्संगका एक श्रेष्ठ स्वरूप है ।

सच्चे सत्पुरुषों और महात्माओंकी पहचान होना बहुत कठिन है । क्योंकि हम अपनी जिस विषयासक्त, कामनाग्रस्त, अज्ञानविमोहित और अनिश्चयात्मिका बुद्धिकी कसौटीपर कसकर सत्पुरुषोंको या महात्माओंको पहचानना चाहते हैं, उस कसौटीपर कसी जानेवाली वस्तु उन महापुरुषोंमें रहती ही नहीं । उन महात्मा पुरुषोंमें कोई दोष नहीं रहनेपर भी हम अपनी अश्रद्धा और तमसावृता बुद्धिसे उनकी चेष्टाके रहस्यको न समझकर उनमें दोषारोपण कर सकते हैं । वस्तुतः बाहरी चिह्नसे महात्मा पहचाने ही नहीं जा सकते । क्योंकि एक ढोंगी आदमी भी जीवनभर महात्मा-सा बना रह सकता है और यथार्थ महात्मा पुरुष भी अपनी बाहरी क्रियाओंसे साधारण स्थितिमें मनुष्य समझे जाकर जीवनभर छिपे रह सकते हैं । वास्तवमें तो महात्माओंकी पहचान तभी हो सकती है जब वे स्वयं कृपा करके अपनी पहचान करा देते हैं । परन्तु हमारी अश्रद्धा इसमें प्रधान बाधक होती है। हम महात्माओंकी कृपा प्राप्त करनेका मन नहीं रखते, हम तो अश्रद्धाको साथ लिये उन्हें अपनी तुच्छ कसौटीपर कसते फिरते हैं और जहाँ कहीं हमारी कसौटीसे उनमें जरा भी कसर मालूम पड़ी वहीं उनके महात्मा न होनेका फतवा दे बैठते हैं । बहुतसे महात्मा तो ऐसे छिपे रहते हैं कि उनका महात्मापन किसीपर विदित हो नहीं होता ! ऐसे लोगोंके पास तो प्रायः कोई जाता ही नहीं । परन्तु इतना होनेपर भी यह तो कहना ही पड़ता है कि आजकलके दम्भपूर्ण जगत्में बहुत सोच-समझकर ही किसीको महात्मा, संत या महापुरुष मानना चाहिये । जिनके मन, वचन और तनमें सात्त्विकताका बोध हो और जिनके संगसे दैवी सम्पदा और भगवत्परायणताकी वृद्धि हो, उनका सङ्ग करना उत्तम है । परन्तु ऊपरसे उत्तम दीखनेपर भी जिनके सङ्गसे आसुरी सम्पदा तथा भगवद्विमुखताकी वृद्धि होती हो उनके संगसे बचना चाहिये ।

शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर सत्पुरुषोंके और महात्माओंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१—२४)

भगवान् कपिलरूपसे अपनी माता देवहूतिको कहते हैं—जो किसी भी प्रतिकूलता और अनुकूलतामें विषाद तथा हर्षको प्राप्त नहीं होकर स्वाभाविक ही सहनशील हैं, दयालु हैं, प्राणिमात्रके प्रति अकारण ही प्रेम रखनेवाले सुहृद् हैं, जिनके मन कोई शत्रु है ही नहीं, जो शान्तचित्त हैं, साधुचरित्र हैं, साधुता ही जिनका भूषण है, जो मुझको तत्त्वसे जानकर अनन्य भावसे मेरी दृढ़ भक्ति करते हैं, मेरे लिये जो समस्त कर्मोंका एवं स्वजन-बान्धवोंका त्याग कर चुके हैं, जो मुझपर निर्भर हैं, मेरी ही पवित्र तथा मधुर कथाको कहते, सुनते हैं, ऐसे मद्गतचित्त साधुओंको संसारके विविध ताप नहीं तपा सकते। हे साध्वी ! सब संगोंसे रहित ऐसे सत्पुरुष ही विषयासक्तिसे उत्पन्न हुए दोषोंका नाश करते हैं। अतः इन्हींका संग करना चाहिये।

इसी प्रकार स्वयं भगवान् भी भक्तवर उद्धवसे कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९-३१)

'जो समस्त प्राणियोंके प्रति कृपालु है, किसीके साथ भी द्रोह नहीं करता, तितिक्षावान्, सत्यशील, पवित्र अन्तःकरण, समदर्शी और सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनासे रहित है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, जो मृदु स्वभावका, सदाचारी, अकिञ्चन, निःस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त, स्थिरमति और मेरे शरण है तथा मेरे स्वरूप-गुणोंका ही चिन्तन करता है, जो प्रमादरहित, गम्भीर अन्तःकरणवाला धैर्यवान् और भूख-प्यास, शोक-मोह, तथा जन्म-मृत्यु इन छः प्राण, मन और शरीरके गुणोंको जीत चुका है अर्थात् इनसे जो मोहित नहीं है, जो स्वयं मानका त्यागी होकर दूसरोंको मान देता है, समर्थ है, सबका मित्र है, दयालु है और तत्त्वका ज्ञाता है, वह साधु है।'

महाभारत-शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने सत्पुरुषोंका लक्षण बतलाते हुए धर्मराजसे कहा है—

'अब मैं उन पुरुषोंके लक्षण बतलाता हूँ जिनका संग करनेसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता, अर्थात् जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है—वे पुरुष मांसाहार नहीं करते, प्रिय-अप्रियको समान मानते हैं, शिष्ट पुरुषोंका आचार उन्हें प्रिय है। इन्द्रियाँ सदाके लिये उनके वशमें हैं, सुख-दुःखमें वे समबुद्धि हैं, सत्यपरायण, दानशील, किसीका परिग्रह न लेनेवाले और दयालु हैं, वे पितर, देवता तथा अतिथियोंका सत्कार करते हैं, सबका मंगल करनेकी चेष्टा करते हैं, परोपकारी, वीर और धर्मका पालन करनेवाले हैं। प्राणिमात्रका हित करनेवाले, अवसर आनेपर सर्वस्व दे डालनेवाले और सत्यके मार्गपर अडिग रहनेवाले हैं। उनका व्यवहार धर्ममय होता है, वे प्राचीन सत्पुरुषोंके किये हुए आचरणका खण्डन नहीं करते, किसीको त्रास नहीं देते, चञ्चलबुद्धि नहीं होते, भयानक नहीं होते और सदा सन्मार्गपर स्थित रहते हैं। उनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होती है, वे काम, क्रोध, ममता और अहंकारसे रहित होते हैं, मर्यादामें स्थिर रहते हैं, धन या कीर्तिके लिये धर्मका पालन नहीं करते, बल्कि स्नान-भोजनादि शारीरिक क्रियाओंके समान धर्मपालन उनका स्वाभाविक कार्य होता है। उनमें भय, क्रोध, चपलता और शोक नहीं होता, वे धर्मपालनका ढोंग नहीं करते, वे सत्यवादी और सरल होते हैं। लाभमें उन्हें हर्ष नहीं होता, और हानिमें व्यथा नहीं होती। वे सदा

सत्त्वमें स्थित, समदर्शी और लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मृत्युमें सम रहते हैं। वे दृढ़ पराक्रमी, परमश्रेयको प्राप्त और सत्त्वमार्गपर स्थित होते हैं।'

गीतामें भी अध्याय १२ श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके नामसे, अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ तक गुणातीतके नामसे एवं श्रीमद्भागवतमें स्कन्ध ११ अध्याय २ श्लोक ४५ से ५५ तक 'भागवत' के नामसे इन्हीं महापुरुषोंका वर्णन है। कहाँतक कहा जाय, महापुरुषोंके लक्षणोंसे और उनकी महिमासे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। महात्माओंके संगकी महिमामें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २६। ३१-३३)

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। २०)

महात्मा जडभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—'हे रहूगण! यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान या भगवत्प्रेम तप, यज्ञ, दान, गृहस्थाश्रमद्वारा किये जानेवाले परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्यकी उपासनासे नहीं मिलता। वह तो केवल महापुरुषोंकी चरण-धूलिमें स्नान करनेसे ही मिलता है।'

भगवान् कहते हैं—'हे उद्धव! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, उसी प्रकार संत पुरुषोंके सेवनसे पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय (ताप) और अज्ञानरूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते। जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये नौकाके समान इस भयानक संसार-सागरमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त संत पुरुष ही परम अवलम्बन हैं। जैसे अन्न ही प्राणियोंका जीवन है, मैं ही आर्त पुरुषोंका आश्रय हूँ तथा धर्म ही परलोकमें जीवका धन होता है, वैसे ही संसारभयसे व्याकुल पुरुषोंके लिये संत जन ही परम आश्रय हैं।'

भगवान् कपिल कहते हैं—'तत्त्वज्ञ पुरुष इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि संग आत्माके लिये कभी जीर्ण न होनेवाला प्रबल बन्धन है। परन्तु वही संग यदि साधु पुरुषोंका हो तो वह मोक्षका खुला दरवाजा है।'

उत्तम सत्सङ्गके भी दो स्वरूप हैं—एक वह जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें कारण बनकर मोक्षकी प्राप्तिमें साधनरूप होता है और दूसरा वह जिसके क्षणकालकी भी मोक्षके साथ तुलना करना असंगत माना गया है। इनमें पहलेकी अपेक्षा दूसरेकी विशेष महिमा है। श्रीमद्भागवतमें सूतजीके ये वचन हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

'भगवत्संगी प्रेमियोंके निमेषमात्रके संगकी तुलना, स्वर्गादिकी तो बात ही क्या है, पुनर्जन्मका नाश करनेवाले मोक्षके साथ भी नहीं की जा सकती, फिर मर्त्यलोकके राज्यादिकी तो बात ही कौन-सी है?' ऐसे मोक्षसंन्यासी भगवत्प्रेमी महापुरुष भगवान्की अपार कृपासे ही मिलते हैं!

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस युगमें ऐसे महापुरुषोंका अभाव हो गया है! अवश्य ही सच्चे हीरे जैसे जहाँ-तहाँ नहीं मिलते, इसी प्रकार ऐसे महापुरुष भी सहजमें नहीं मिलते। संतों और भगवत्प्रेमियोंकी जमात नहीं होती, तथापि श्रद्धा और

उत्कण्ठाका बल होनेपर भगवान्‌की कृपासे ऐसे महात्माओंके दर्शन भी हो सकते हैं । ऐसे महात्माओंका दर्शन, स्पर्श, श्रवण, एक साथ निवास और स्मरण भी अमोघ होता है । न पहचाननेपर भी केवल दर्शनके फलस्वरूप ही मनुष्यके सारे पाप-तापोंका और अज्ञानका नाश होकर उसका कल्याण हो सकता है ।

परन्तु दर्शनके अमोघ फलकी बात सत्य होनेपर भी साधकोंके लिये महात्माओंको पहचानकर उनकी सेवा करना और उनके आज्ञानुसार चलना ही उचित है । ऐसा करनेपर मोक्षसंन्यासी या बहुत ऊँची तत्त्वज्ञानकी स्थितिपर पहुँचे हुए महात्माकी जगह उच्च कोटिके साधक महात्माकी सेवा करनेसे भी लाभ हो सकता है । सेवाका अर्थ उनके समीप रहना या उनके शरीरकी सेवा करना ही नहीं है । समीप रहनेसे भी लाभ है,* परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व-की सेवा उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण करना है । जो मनुष्य महात्माओंके पास तो रहता है परन्तु उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण करनेमें अरुचि रखता है, वह उस महात्माकी यथार्थ सेवा नहीं करता । महात्माकी अनुमति हो तो उनके पास रहकर उनकी रुचिके अनुसार चलनेका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ होता है । जन्म-जन्मान्तरके संगृहीत कुसंस्कारोंके कारण शीघ्र ही प्रत्यक्ष लाभ न दीखे तो यह नहीं मानना चाहिये कि लाभ नहीं होता । पहले मनके कुसंस्कार दबते हैं—सर्वथा नाश नहीं होते (इसीसे बीच-बीचमें उनके प्रकट होनेपर लाभ न होना दीखता है), परन्तु यदि उनका दबना जारी रहता है तो वे जल्दी ही पिसकर मर जाते हैं । फिर उनका लेश नहीं रहता । परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक धैर्यपूर्वक सत्संगका यथार्थ सेवन करते रहना चाहिये । महात्मा पुरुषोंके सेवनसे निश्चय ही पापोंका नाश होकर संसारसागरसे उद्धार हो जायगा, इस बातपर मनमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये ।

यह याद रखना चाहिये कि महात्मा पुरुष दुर्भावों और दुर्गुणोंसे सर्वथा रहित होते हैं । प्रारब्धवश शरीर और अन्तःकरणकी स्थिति जहाँतक रहती है, वहाँतक शरीर और अन्तःकरणकी स्थिति किस आधारपर है, इस बातको बतलानेके हेतुसे केवल अज्ञानियोंको समझानेभरके लिये उनमें लेशाविद्याकी कल्पना की जाती है । वस्तुतः उनमें अविद्याका लेश रहता नहीं । जब अविद्या नहीं, तब उसके कार्य दुर्भाव और दुर्गुणोंका तो उनके अन्तःकरणमें रहना सर्वथा असम्भव ही है । ये दुर्भाव और दुर्गुण अन्तःकरणके विकार हैं—दोष हैं, धर्म नहीं हैं । इनका नाश तो साधनकी उच्च स्थितिपर पहुँचनेसे पहले ही अधिकांशमें हो जाता है । तभी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । और शुद्धान्तःकरणमें ही ज्ञानका प्रकाश होता है । अतएव महात्मा पुरुषोंमें दोषोंकी कल्पना करना ही भूल है । ऐसे ही महात्मा पुरुषोंको खोजकर उनकी शरण हो जाना चाहिये । सच्ची लगन होगी तो थोड़ी ही खोजमें भगवत्कृपासे ऐसे संतजन प्राप्त हो सकते हैं और उनके सत्संगद्वारा हमारा इस भवसागरसे उद्धार ही नहीं, बल्कि हमें दुर्लभ भगवत्प्रेमकी भी प्राप्ति हो सकती है । महासंत देवर्षि नारदजीके इन शब्दोंको याद रखिये—

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ।

(नारदभक्तिसूत्र)

अतएव उस महत्संग (सत्संग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

---

* कुछ भी न करके उनके पास रहनेसे भी लाभ होता है—

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु । पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ (महा० वन० १ । २७)

स्वयं कुछ भी कार्य न करनेपर भी हमलोग पुण्यशील साधुके पास रहनेसे पुण्य, और पापियोंके पास रहनेसे पाप ही प्राप्त कर सकते हैं ।

अभ्यास करो

(गोरखपुरके अखण्ड हरिनामसंकीर्तनयज्ञमें वसन्तपञ्चमीके अवसरपर दिये हुए महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषणके उपदेशके आधारपर)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

गीतापर कुछ कहनेके लिये आप लोगोंकी आज्ञा है। इस अवसरपर हमारे मनमें भक्तिरसामृतसिन्धुका एक श्लोक आ गया है जिसे कहे बिना मन मानता नहीं। भगवान्‌की वंशीध्वनिपर वह श्लोक है, जो इस प्रकार है—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

भगवान्‌की वंशीध्वनिकी जय हो। वह वंशीध्वनि परमहंसकुल अर्थात् सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, शुकदेव आदि महान् विरक्त संतोंकी निर्विकल्प समाधिको बलात् भङ्ग कर देती है। वंशीकी मोहक ध्वनिको सुनते ही उनका ध्यान टूट जाता है और वे विवश हो जाते हैं। वंशीके रसवर्षणसे अमरलोककी सुधा भी लज्जित हो जाती है—सुधाकी माधुरी भी कुण्ठित हो जाती है। वह चेतनाहीन जड पदार्थोंको भी आनन्दसिन्धुके गर्तमें, गभीरताके भीतर डुबो देती है। चेतनको जड और जडको चेतन बना देती है। कंसनिषूदन भगवान् कृष्णकी वंशीध्वनिकी जय हो, जय हो!

गीताके विषयमें मुझसे कहनेको कहा गया था, परन्तु वंशीकी ध्वनिका स्मरण हो आया—इसमें भगवान्‌की ही प्रेरणा है। अब वंशीका स्वर हम लोगोंके कानमें आता नहीं—हमलोग उसे सुनते नहीं। भगवान्‌की नित्यलीलामें वंशी तो नित्य बज रही है। अहर्निश, निरन्तर, अविरल बज रही है। वह व्रजसुन्दर वंशी बजाकर हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। अभी सूरदासका जो पद आप लोगोंने सुना वह कितना मधुर था। सूरदासके एक और पदका स्मरण हो आया—

मुरली मधुर बजावत श्याम।
मन मोहि लियो, बिसरी देह गेह, बिबस भईं ब्रजबाम॥

देह-गेहकी चिन्ता मिट गयी। व्रजनारियाँ विवश हो गयीं। हम लोगोंका अभाग्य है कि हमारे कानमें वह शब्द पहुँचता ही नहीं। शास्त्र कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
(मु० ३।१)

देहरूप इस वृक्षमें दो पक्षी हैं। वे परस्पर मित्र हैं। दोनों परस्पर मिलकर रहते हैं। उनमेंसे एक संसारी जीव है, मोहवश इस संसाररूप पीपलके फलस्वरूप सुख-दुःखको भोगता है। दूसरा इस फलको भोगता नहीं—उसका काम देखना मात्र है। उसका काम प्रकाश करना है। उसका सखा जीव अपने कर्मवश संसारके सुख-दुःखको भोगता हुआ उसे भूल जाता है—परन्तु वह इसे नहीं भूलता। वह तो जीवको रास्ता दिखलानेके लिये, सुख-दुःखके बन्धनसे हटाकर परम आनन्दका अमृत पिलानेके लिये सदा उत्कण्ठित रहता है। वह सदा हमारे साथ है। पग-पगपर वह हमें चेता रहा है कि संसारके विषवृक्षके विषैले सुख-दुःखरूप फलोंको जहाँ खाया कि गये। परन्तु हम तो ग्रह-गृहीतकी भाँति, उन्मत्त पिशाचकी भाँति और मदिरा पिये हुए पागलकी भाँति संसारमें अधिकाधिक आसक्त हुए चले जा रहे हैं, मानो उसके शब्द हमारे कानोंतक पहुँचते ही नहीं। कैसी विडम्बना है।

वह हमारा परम सखा, परम सुहृद् नित्य-निरन्तर हमारे साथ है। वह सदा हमें अपनी ओर खींच रहा है। एक क्षणके लिये भी उसकी वंशीध्वनि रुकती नहीं, रुकना जानती ही नहीं। परन्तु हमने उस ओरसे कान मूँद लिये हैं। वह वंशीध्वनि हमारे कानोंमें ध्वनित नहीं होती—क्यों? काम, मोहके आवरणसे हम घिर गये हैं, हमने अपने द्वार आप ही बन्द कर लिये हैं, अपने कानोंको आप ही रूँध लिया है। वंशीवदन श्रीकृष्ण परम दयामय हैं। हमारी इतनी अवहेलनापर भी वे हमें छोड़ नहीं सकते, वे हमें अपनी मुरलीका अमृत पिलाकर ही छोड़ेंगे। उस वंशीकी ध्वनि सुननेकी तैयारीके लिये एक ही मार्ग है। वह मार्ग इतना प्रशस्त, इतना उदार है कि सभी उसपर चल सकते हैं और चलकर वंशीकी ध्वनि सुन सकते हैं। गीताका राग

छेड़कर वंशीवदन हमें अपनी सुधाधारामें नहला देना चाहते हैं। और उन्हें प्राप्त करने तथा उनकी वंशीध्वनि सुननेके लिये एक ही मार्ग है—वह है गीता। आचार्य कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीताको नित्य गाओ। अच्छी तरह गाओ। सुर, लय, तालके साथ गाओ। समझमें न आनेपर भी खूब गाओ, गाया करो। शास्त्रोंका रहस्य समझनेकी हमारी सामर्थ्य नहीं। भेद-अभेद, निर्गुण-सगुण आदिके परे श्रीकृष्णकी लीलाएँ हैं। काम, क्रोध, लोभ आदिके कारण हम उनकी छवि, महिमा, लीला और लावण्यको कैसे समझ सकें? समझनेकी हमारी शक्ति नहीं। शास्त्रोंमें पारङ्गत होना महान् कठिन है। उसे छोड़ दो। न समझ पानेपर भी गीताको गाया करो। यह गीता साक्षात् भगवान् पद्मनाभ, मुरलीमनोहर श्रीकृष्णके मुखसे निकली है। भगवान् श्रीकृष्णने वंशी बजाकर जगत्के मनको मोह लिया था। जड़ चेतन हो गये, चेतन जड़ हो गये—जगत्के कण-कणको अमृतरसने परिप्लावित कर दिया। उन्हीं भगवान्के मुखपद्मसे गीता निकली है। वंशीके विवरसे निकलकर जिस मधुर तानने चर-अचरको मोहित कर लिया वही तान गीतामें भी है। गीता तो साक्षात् उनके मुखसे निकली हुई है। इसमें वंशीका व्यवधान नहीं है।

शङ्कर, रामानुज, मध्व, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्योंने गीताकी अनेकों व्याख्याएँ की हैं। उनमें भिन्न-भिन्न मतोंका प्रतिपादन किया गया है। इनका तात्पर्य समझना कठिन है। भगवान्ने गीतामें जो कुछ कहा है उसका अर्थ गीतामें ही है। गीतामें ही ऐसी शक्ति है, उसका परम गुह्य तत्त्व क्या है, उसके भीतरका रहस्य क्या है उसे स्वयं गीता ही समझा देती है। भेदवाद, अभेदवाद, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगकी प्रधानताका विचार छोड़कर गीताको गाओ। वह अपना स्वरूप आप बतला देगी। जो अधिकारी हैं, विद्वान् हैं, तत्त्ववेत्ता हैं वे उसकी टीका लिखा करें। उसपर भाष्य रचा करें। हमारा कर्तव्य तो गीताको अच्छी तरह गाना है। गीताने अपने स्वरूपको समझानेके लिये जो कुछ कहा है उसीके विषयमें आज कुछ निवेदन करूँगा।

यह गीता जिस तत्त्वका उपदेश करती है, जहाँ यह ले जाना चाहती है उसका स्वरूप क्या है? वह वस्तु यदि हाथ लग गयी, उस परम गोपनीय तत्त्वमें यदि हमारा प्रवेश हो गया तो बस, हम कृतकृत्य हो गये, क्योंकि उससे परे कोई वस्तु पानेयोग्य नहीं रह जाती। जीवनमें उससे बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं। जीवके लिये उससे बढ़कर सुखकी वस्तु कोई है ही नहीं। वेदान्तियोंकी दृष्टिमें आत्यन्तिक दुःखका निवारण ही मोक्ष है, पर गीता कहती है कि जिस तत्त्वका निर्देश वह करती है भगवान्की भक्ति होनेपर उस अवस्थाको पाकर मनुष्य भारी-से-भारी दुःख—लड़का मरा, स्त्री मरी, ऐश्वर्य जाता रहा, कीर्ति नष्ट हो गयी, मानमें ठेस पहुँची—जिन सबके कारण लोग विषपान कर लेते हैं—ऐसे महान्, घोर, दारुण दुःखके आनेपर भी वह अवसाद या विषादको प्राप्त नहीं होता, वह कम्पित नहीं होता। हँसते हुए, मुसकाते हुए, आनन्द और उल्लासके साथ वह सभी प्रतिकूल परिस्थितियोंमें निर्द्वन्द्व रहता है।

ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग सभी यही कहते हैं कि कष्टोंसे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। जीवभाव जबतक है, देहका कष्ट अवश्यंभावी है। वह तो प्राक्तन कर्मका फल है। कर्मी हो चाहे ज्ञानी हो, जबतक देहके साथ सम्बन्ध है कष्ट अवश्य है। न्यायदर्शनमें एक स्थानपर लिखा है कि शुकदेव हों या नारद, रास्तेके काँटेपर जब उनके चरण पड़ेंगे और काँटा चुभेगा तो उन्हें कष्ट होगा ही। कष्टसे जो हम घबड़ा जाते हैं—विषादसे जो घिर जाते हैं—यह विषादकी अवस्था ही कष्ट-दुःखसे अधिक दारुण है। गीतोक्त भक्ति, ज्ञान, कर्म—किसी भी 'योग' की प्राप्ति होनेपर दुःखकी यह तीक्ष्णता, उसका विषाद, उसका दंशन, तज्जन्य व्याकुलता होती ही नहीं। कष्ट आ सकता है परन्तु कष्टजनित पीड़ा नहीं आती। गीताके योगकी यह सबसे बड़ी विशेषता है।

गीताके अधिकारी सब हैं—मनुष्यमात्र हैं। पुण्ययोनि, पापयोनि सभी गीता पढ़ सकते हैं, सुन सकते हैं, गा सकते हैं। गीताका द्वार किसीके लिये बंद नहीं है। गीता भगवान्के समीप जानेका सबसे सरल, सुगम और निश्चय मार्ग है और इस मार्गपर बेरोकटोक कोई भी जा सकता है। गीताका गेट (द्वार) सदैव ओपेन (मुक्त) है। उसमें शास्त्रीय निषेध है ही नहीं। गीतामाहात्म्यमें यह स्पष्ट है कि जिसने मनुष्यजन्म पाकर गीताका पाठ नहीं किया उसका मनुष्यजीवन व्यर्थ गया। अपने दुःखको जो हटाना चाहता है, अध्यात्ममार्गमें आकर वंशीकी ध्वनि सुनना

चाहता है उसे चाहिये कि वह गीता सुने, गीता गावे। गीतामें अधिकारीका विचार नहीं । जिसके भी चित्तमें भगवान्‌की वाणी सुनने, भगवान्‌का संगीत सुननेकी उत्कण्ठा हो वह गीताकी शरण ले, गीताको गावे। 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्' ।

मैंने थोड़ा-सा शास्त्रोंका अनुशीलन किया है। उनमें मुझे गीताशास्त्रके पठन-पाठनका निषेधकारी वचन कहीं नहीं मिला। जो अन्तर्यामी पुरुष हैं, घटघटव्यापी हैं, सभी जीवोंके हृदयदेशमें विराजनेवाले हैं, वे एक क्षणके लिये भी हमें नहीं छोड़ते। जीवको सन्मार्गपर ले जानेवाला वह सखा, वह परमकृपालु सुहृद् सदा हमारे साथ है। उसी परम पुरुषने जीवोंके उद्धारके लिये—सबको अपने मार्गपर लानेके लिये गीताका उपदेश किया, अपना प्रेमदान करनेके लिये जीवमात्रको अर्जुनके बहाने गीताका अमृत पिलाया। सब लोग इसके अधिकारी हैं। उसमें कहीं किसीके लिये निषेध नहीं। गीताकी साधना बहुत सहज—सुलभ है। मनमें रुचि-श्रद्धा चाहिये। इसका साधनमार्ग बहुत सरल है।

और जितने भी साधनमार्ग हैं वे सब-के-सब बहुत ही कठिन हैं और उनमें जरा-सी चूक हो जानेपर, एक बार फिसल जानेपर साधक सदाके लिये भ्रष्ट हो जाता है। परन्तु गीताकी साधनामें यह बात नहीं है। श्रौतयाग यदि हम आज करना भी चाहें तो कैसे कर सकते हैं? विशुद्ध घीका मिलना असम्भव-सा हो रहा है। जबसे adulteration (मिलावट) शुरू हुआ है तबसे शुद्ध घी मिलना कठिन हो गया है। घी शुद्ध मिल भी गया तो चित्तकी शुद्धि कैसे होगी? अशुद्ध चित्तसे किया हुआ कोई भी योग, याग अथवा कर्म सफल नहीं हो सकता।

जिन्हें धर्मकार्योंकी उपयोगितामें विश्वास नहीं है, जिन्हें यह निश्चय नहीं है कि जो कुछ याग-योग हम करते हैं उससे लाभ होगा ही, उन्हें वास्तवमें उस कर्मका कोई फल नहीं मिलता। श्रौतयागके लिये तो द्रव्यशुद्धि चाहिये, चित्तशुद्धि चाहिये, देहशुद्धि चाहिये—इसमें एकका भी होना कठिन ही नहीं वरं असम्भव-सा है। देह शुद्ध नहीं, चित्त शुद्ध नहीं, द्रव्य शुद्ध नहीं—हम यज्ञ-याग करें तो कैसे? और करें भी तो फल क्या? तपस्या, याग आदिमें यदि हमारी श्रद्धा नहीं, रुचि नहीं, तो उन्हें करनेसे भी क्या लाभ होगा?

परन्तु गीताके साथ ऐसा अवरोध नहीं। संसारमें दुःख मिटानेके लिये ही हम नाना प्रकारके प्रयत्न करते हैं। परन्तु आजतक दुःख मिटानेका उपाय कोई निकला नहीं। एक बार गीताका अनुशीलन करो—

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

जिस योगभावमें स्थित हो जानेपर गुरुतर दुःखसे भी हम विचलित नहीं होते—ऐसी ही गीताकी उक्ति है—ऐसी ही सर्वलोकमहेश्वर, चराचर विश्वके परम सुहृत्‌की शान्तिदायिनी वाणी है। गीतोक्त कर्मयोगके उपदेशमें गंगाप्रवाहकी तरह निमग्न होनेसे ही चित्तमें शान्ति, प्रसाद आ जाता है। जन्म-कर्मका सारा श्रम मिट जाता है। गीतामें अवगाहन करनेवालेको अखण्ड शान्ति और अननुभूत आनन्द मिलता है। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—जिस योगका आप उपदेश कर रहे हैं, हे भगवन्! उसे मैं चित्तकी चञ्चलताके कारण देख नहीं पाता—

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥

अर्जुन तो एक उपलक्षणमात्र है। उसने संसारके सभी जीवोंकी ओरसे यह प्रश्न किया है। जीवमात्र ही चित्तकी चञ्चलताके कारण भगवान्‌के बताये हुए मार्गका अनुगमन नहीं कर सकते, चित्तकी चञ्चलताके कारण ही हम भगवान्‌की मधुर वंशीध्वनिको सुन नहीं पाते। इस प्रश्नपर भगवान्‌ने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

भगवान् कहते हैं कि मनको रोकना अवश्य कठिन है। मनका स्वभाव ही चञ्चल है। मनकी तरफ दृष्टि करनेसे यह सहज ही पता लग जाता है कि मन सदा ही चञ्चल है। यह चञ्चलता जबतक रहेगी तबतक परमार्थतत्त्वकी प्रतीति, स्वरूपज्ञान नहीं हो सकता। इस चञ्चलताको दबानेके लिये, इसे मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चञ्चल मनको पकड़ा जा सकता है। वैराग्य तो दूरकी बात है, किन्तु अभ्यास तो हम कर ही सकते हैं। वैराग्यके लिये गीतामें कोई विशेष मार्ग-वर्णन नहीं है। किन्तु अभ्यासके द्वारा मनको वशीभूत करनेकी अनेक विधियाँ हैं। हाँ, वैराग्य अवश्य कठिन है—'बैराग जोग कठिन ऊधौ!'

असंख्य जन्म बीत गये, मनकी अवस्था ऐसी है कि इसके लिये वैराग्यमार्ग बहुत कठिन है। अभ्यासका तो हमें बचपनसे ही अभ्यास है। बचपनमें परीक्षाओंमें पास

होनेसे लेकर, धनोपार्जन करने तथा संसारके एक-न-एक काममें लगे रहनेका अभ्यास हमारा दृढ़ हो गया है। वह अभ्यास इस कर्मयोगमें प्रवेश करनेके लिये बहुत सहायक सिद्ध होगा। इस अभ्यासयोगका श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करना चाहिये।

इस अभ्यासका गीतामें भगवान्‌ने जो क्रम बतलाया है उसीकी मैं संक्षेपमें व्याख्या करूँगा। भगवान् कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

मन चञ्चल है, अस्थिर है। जहाँ जिस विषयमें जाता है उसका आस्वादन करके आगे बढ़ जाता है। एक क्षण भी ठहरना नहीं जानता। गीताके अनुशीलन करनेवालोंकी सेवामें निवेदन है कि चौबीस घंटेमें पाँच मिनट समय अवश्य निकालकर—हाथ-पैर धोकर, शुद्ध वस्त्र पहनकर, शुद्ध एकान्त स्थानमें किसी प्रान्तर, नदी-तीर अथवा अन्य किसी रम्य एकान्त स्थानमें जाकर—निर्विघ्न एकान्त देशमें वैठिये। वह स्थान जनकोलाहलसे बहुत दूर हो। शुद्धभावसे एकान्तमें वैठिये। परमात्माका जो स्वरूप सच्चिदानन्दघन, रसघन है उसमें चित्त ले जानेका प्रयत्न कीजिये। आप ज्यों-ज्यों प्रयत्न करेंगे मन भागेगा। उसे पुनः-पुनः बार-बार पकड़िये—जहाँ जिस विषयमें मन जाय उसी समय मनको वहाँसे हटा लीजिये। स्थानकी निर्जनता, शान्ति और एकान्तता आपकी सहायता करेगी। मन जहाँ एक पलके लिये रुका और स्थिर हुआ कि वह रसघन आनन्दकन्द श्रीहरिसे जा लिपटेगा। योगका स्वरूप क्या है? आप इस पाँच मिनटके अभ्यासयोगको श्रद्धाके साथ एक महीने नियमपूर्वक करके देखिये। इसके आगे कुछ कहना ही नहीं। योगका मार्ग योग ही बतलाता है। चित्तकी एकाग्रतासे आपको इतना अधिक आनन्द, इतनी अधिक शान्ति मिलेगी कि आप पुनः इसे छोड़ना ही नहीं चाहेंगे। आत्मस्वरूपमें स्थिति इसीको कहते हैं। जीवस्वरूप जो 'हम' है उसकी और सब उपाधियोंको हटाकर आत्मस्वरूपमें स्थिति निश्चल हो जानेपर फिर मनको भटकानेके लिये प्रलोभन रहेगा ही कहाँ? गीताशास्त्रको समझनेके लिये न भाष्यकी आवश्यकता है, न टीकाकी। गीताका अर्थ तो गीतामें ही है। गीताका श्रद्धा और रुचिके साथ पाठ करो। इसे प्रेमके साथ, निष्ठापूर्वक गाओ, यह अपना रहस्य स्वयं तुम्हें चुपके-से तुम्हारे हृदयमें बतला देगी।

गीताका चरम उपदेश क्या है? गीताका परम गुह्य रहस्य क्या है?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

शाश्वत नित्यवस्तुको स्थिररूपमें पकड़नेका हमारा स्वभाव नहीं। जो नित्य है, शाश्वत है, सनातन है उसे अपने अभिमान, अपने मैं-पन, अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्वके अहंकारके कारण मनुष्य पा नहीं सकता। मेरे-जैसा बुद्धिमान् कोई है ही नहीं, मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ, मैं यह भोगूँगा, वह भोगूँगा—इसीमें सारा प्रपञ्चविस्तार है। जीवका अभिमान ही जीवके पतन और विनाशका कारण है। साधनमार्गमें जानेवालेके लिये मुख्य, सर्वप्रधान उपदेश यह है कि ऋषि, महर्षि, याज्ञिक ही नहीं, पतंगसे लेकर हाथी, मनुष्य, देव सभीके हृदयदेशमें, हे अर्जुन! भगवान् स्थित हैं। नित्यसिद्ध हृदयमन्दिरमें बसनेवाले परम कारुणिक, सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपेक्षा करके बाहर ढूँढ़नेवालेको वह कैसे मिले? उसे नहीं देखा तो सब कुछ व्यर्थ है। पहले मनको हृदयदेशमें स्थित हरिमें मिलाओ। वह दयामय हरि अपने-आप आकर तुम्हारे हृदयदेशमें विराजमान है। घट-घट हरिका मन्दिर है। इसीके भीतर सर्वशक्तिमान् परमकारुणिक वंशीको बजानेवाले परमपुरुष विद्यमान हैं। उन्हीं परमात्माकी शरण लो।

हमें कौन सुला देता है? कौन जगा देता है? नींद टूटनेके पहले शब्द सुना या सुननेके पहले नींद खुली? पहले सुना नहीं तो नींद खुली कैसे, नींद खुली नहीं तो सुना कैसे? बताओ, हमें कौन जगा देता है? वह हृदयस्थित सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हमारी निद्राको भंग कर सकते हैं। यह मायायन्त्र—देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिके साथ अभेदभावका जो मायायन्त्र है उसीपर वे हमारे हरि हमें नचा रहे हैं। कभी नचाना छोड़कर आत्मशक्ति दिखला देते हैं। छोड़ो अभिमान—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और यशका अभिमान, सतर्क होकर, अभिमान हटाकर उसकी शरणमें जाओ—सर्वभावेन—सभी भावसे। गाली भी देना है तो उन्हींको दो। गाली दो या स्तुति करो, करो उन्हींकी। निर्दय! कुटिल! छलिया!—

सब कुछ कहो, चाहे जितनी गाली दो—दो उसको ही—उसे ही अवलम्बन करके दो। यदि गाली छोड़कर, प्रेमभाव, प्रीतिभावसे उसे भजो, परम आत्मीय, परम सखा समझकर—और सभी विषयको छोड़कर उसकी शरण लो तो फिर क्या पूछना ?

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

उन्हींकी कृपासे तुम्हें उसका 'प्रसाद' प्राप्त होगा, उस प्रसादके कारण तुम्हें शाश्वती शान्ति मिलेगी। तुम्हें वहाँ सदाके लिये शान्ति, आनन्द और तृप्ति प्राप्त होगी। उन्हींकी इच्छासे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र उदय होते हैं। उनकी समदृष्टि है। परन्तु गीता तो 'सर्वभावेन' कहती है—दास्य हो, सख्य हो, कान्ताभाव हो, किसी भी भावसे भगवान्‌का आश्रय लो।

गीताका सार यही है कि अभ्यास करो—वह ऐसा अच्छा लगेगा कि उसे छोड़ोगे नहीं। अनन्यशरण होकर उन्हें पुकारो—हे दीनदयाल ! हे अशरणशरण ! मुझे तुम स्वीकार करो, मुझे अपनाओ। सारे अभिमानको जलाञ्जलि देकर उस हरिकी शरण लो—शरण लेते ही सब कुछ शान्तिमय, आनन्दमय, प्रेममय हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

कल्याण

विश्वास करो, तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है; तभी तो तुम्हें मनुष्यका देह मिला है। यह और भी विशेष कृपा समझो जो तुम्हें भजन करनेकी बुद्धि प्राप्त हुई और भजनके लिये सुअवसर मिला। इस सुअवसरको हाथसे मत जाने दो, नहीं तो पछताओगे।

× × ×

तुम चाहे राजा हो या राहके भिखारी—तुम बड़े भाग्यवान् हो, अगर तुम अपने मनको भगवान्‌के भजनमें लगाते हो। भजनका धन जिसके पास है वह राहका भिखारी भी राजा है, और जो इस धनसे कंगाल है उस राजाको राहके भिखारीसे भी ज्यादा कमनसीब समझो।

× × ×

भजनमें तुम्हें कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ता—काम वैसे ही करो जैसे करते हो। अब जो अपने लिये करते हो, इस शरीरके लिये करते हो—फिर भगवान्‌के लिये करोगे—अपनेको और शरीरको भगवान्‌की सेवाका साधन बना दोगे। काम तब भी ज्यों-का-त्यों ही होगा। हाँ, तुम्हारे सिरसे बड़ा भारी अहंकारका बोझ उतर जायगा। तुम मालिकके सेवक बनकर निश्चिन्त हो जाओगे। तुम्हारा मन करेगा उनका चिन्तन, शरीर करेगा उनकी सेवा, तुम तो खुद उनमें जा बसोगे।

× × ×

देखो, एक स्त्रीके लिये इंगलैंडके राजाने राज्य छोड़ दिया। क्या तुम भगवान्‌के लिये मनकी दिशाको भी नहीं बदल सकते ? मोड़ दो न मनके मुँहको—उसे भोगोंकी ओरसे फिराकर भगवान्‌की ओर कर दो—गति ज्यों-की-त्यों ही रहेगी। हाँ, तब नरकके निन्दनीय और गंदे गर्तसे निकलकर तुम दिव्य स्वर्गकी—महान् सुखकी—परम शान्तिमय आनन्दकी सुधामयी भूमिकापर जरूर पहुँच जाओगे।

× × ×

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करनेसे यह सब कुछ आप ही हो जायगा। विश्वास करो—अपनेको उसके द्वारा सुरक्षित समझो। उसकी पग-पगपर झाँकी करो। देखो, भगवत्कृपा बरस रही है—सदा, सब समय, सब ओरसे, अनन्त धाराओंसे, अविराम बरस रही है, उसमें नहाकर कृतकृत्य हो जाना तुम्हारे ही हाथ है।

'शिव'

कृपालु संत, महात्मा, भक्त और विद्वान् लेखकोंसे प्रार्थना

संतांक

आगामी श्रावणमें आपका 'कल्याण' ग्यारहवाँ वर्ष समाप्तकर बारहवेंमें प्रवेश करेगा। अचिन्त्य लीलामय भगवान्की कृपा, प्रेरणा और शक्तिसे अबतक 'कल्याण' के द्वारा विश्वरूप भगवान्की किसी अंशमें जो कुछ पूजा-अर्चा हुई है उसका कुछ-कुछ हम सभीको अनुमान है। इस समय 'कल्याण' प्रतिमास ३७,१०० छप रहा है। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें सभी सम्प्रदायके लोग कल्याणको बड़े चावसे पढ़ते हैं और अनेकों नर-नारी उसमें प्रकाशित सामग्रीसे लाभ उठाकर अपने जीवनको उन्नत, सदाचारपरायण एवं भगवन्मुखी बनानेकी चेष्टा कर रहे हैं। 'कल्याण'के विशेषाङ्क तो लोगोंको विशेषरूपसे प्रिय होते हैं।

इस बार बारहवें वर्षका प्रवेशाङ्क 'संतांक' निकालनेका निश्चय हुआ है। 'संतांक' सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंको माननेवालोंके कामकी चीज होगी, क्योंकि संत सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंमें हुए हैं, बल्कि यह भी कहें कि संतोंकी कोई जाति अथवा सम्प्रदाय नहीं होता तो भी अनुचित न होगा। संत तो सारे विश्वकी सम्पत्ति होते हैं। चाहे उनका जन्म किसी भी देश, किसी जाति अथवा किसी भी धर्ममें हुआ हो, उनके चरित्र और उपदेश सभी देशों और सभी धर्मोंके लोगोंके लिये आदर्श, अनुकरणीय एवं अनुसरणीय होते हैं। उनसे समस्त विश्वका कल्याण होता है। उनके उपदेश अजर, अमर होते हैं और उनसे युग-युगान्तरतक संसारका उपकार होता रहता है। संतोंकी महिमा सभी धर्मों और सभी शास्त्रोंने गायी है। उन्हीं संतोंके लोकपावन चरित्रों और मङ्गलमय उपदेशोंका संग्रह 'संतांक' में देनेका आयोजन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त संतोंसे सम्बन्ध रखनेवाले निम्नलिखित विषयोंपर भी यथाशक्य प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जायगी। 'संतांक'में देशी-विदेशी तथा प्राचीन-अर्वाचीन सभी मार्गों और सभी सम्प्रदायों तथा जातियोंके प्रसिद्ध संतोंका समावेश रहेगा, जिनके जीवनकी प्रसिद्ध घटनाएँ तथा उपदेश उपलब्ध हो सकेंगे और जिनमेंसे कुछके नाम विषय-सूचीमें दिग्दर्शनार्थ दिये जाते हैं। यों तो संत अनन्त हैं और उनकी महिमा भी अनन्त है। इसके अतिरिक्त भगवान्के तथा संतोंके जीवनसम्बन्धी अनेक सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे। कहना न होगा कि 'कल्याण' की नीतिके अनुसार 'संतांक' में उन्हीं संतोंके चित्र-चरित्र रहेंगे जिनके भौतिक विग्रह इस समय जगत्में नहीं हैं। यों तो सभी कुछ भगवान् ही करते-कराते हैं और उन्हींकी तथा उन्हींके आत्मभूत संतोंकी कृपापर इस अङ्ककी सफलता निर्भर है, तथापि उसमें निमित्त आप-जैसे कृपालु एवं आदरणीय संत, महात्मा, भक्त एवं विद्वानोंकी सहायता ही हो सकती है। अतः आपकी सेवामें सविनय एवं सानुरोध प्रार्थना है कि आप इस महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपयोगी विशेषाङ्ककी सामग्री सजानेमें निम्नलिखित विषयोंमेंसे किसी विषयपर लेख अथवा किसी संतकी जीवनी, उपदेश अथवा चित्र भेजकर हमारी सहायता करें। लेख बड़ा नहीं होना चाहिये और जीवनी भी किसी एक संतकी फुल्सकेप साइज़के दो पृष्ठसे अधिक नहीं होनी चाहिये। चित्रोंके बनवाने तथा भेजने आदिमें जो खर्चा पड़ेगा उसे 'कल्याण' सहर्ष स्वीकार करेगा।

संतोंकी जीवनीमें उनका जीवनकाल, उनका जन्मस्थान तथा उन्होंने जहाँ अपना जीवन व्यतीत

किया हो उसका वर्णन तथा उनके संक्षिप्त उपदेश अवश्य होने चाहिये। अपने प्रान्तके किसी प्रसिद्ध संतकी जीवनीसे सम्बन्धित घटनास्थलके चित्र तथा वे जिस स्थानमें रहते थे उसका चित्र भी उपलब्ध हो सके तो भेजनेकी चेष्टा करनी चाहिये। संतांक'को अधिक-से-अधिक उपयोगी तथा रोचक बनानेमें और भी किसी प्रकारकी सहायता हो सके तो आप अवश्य करेंगे, ऐसी आशा है।

पोस्ट ऑफिसके नये नियमके अनुसार 'संतांक'को श्रावणके प्रारम्भमें ही निकालना अनिवार्य होगा, इसलिये अबकी बार सामग्री तैयार करने और उसे छपानेके लिये अबसे केवल पाँच ही महीने बाकी हैं, जिसमेंसे लगभग ४०,००० छापनेके लिये कम-से-कम तीन महीने तो छपाईके लिये ही चाहिये। फिर लेखोंके चुनने, चित्रोंके तैयार कराने और उनके ब्लॉक आदि बनवानेके लिये भी पर्याप्त समय चाहिये। अतः विशेषाङ्क समयपर निकल सके इसके लिये यह आवश्यक है कि सब लेख आगामी चैत्र शुक्ला प्रतिपदासे पहले-पहल आ जायँ। अबतक तो अङ्क देरीसे निकलता रहा है जिससे ज्येष्ठ अथवा आषाढ़ वदी तक आये हुए लेखोंसे भी लाभ उठाया जाता रहा है, परन्तु अब ऐसा करना सम्भव न होगा। अतः आपसे प्रार्थना है कि आप अपना लेख आगामी चार सप्ताहोंके भीतर ही भेजनेका कष्ट उठावें तो बड़ी कृपा होगी और काममें सुभीता होगा।*

विनीत—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

संतांकको विषयसूची

१–संतोंके लक्षण (सर्वमान्य) और उनका लक्ष्य।

२–संतोंके लक्षण (वैदिक, बौद्ध आदि विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुसार)।

३–संतोंके लक्षण (सामुद्रिक और ज्योतिष आदिके अनुसार)।

४–संतोंकी स्थिति—जीवन्मुक्ति या उससे विलक्षण (जीवन्मुक्ति और संतकी स्थितिका तुलनात्मक विचार)।

५–संतोंका अप्राकृत भगवत्प्रेम।

६–संतोंका सर्वात्मभाव।

७–तुरीया तथा तुरीयातीत अवस्थाका वर्णन।

८–संतोंके निर्वाणभेद।

- (१) ब्रह्मनिर्वाण।
- (२) शून्यनिर्वाण।
- (३) परिनिर्वाण।
- (४) महापरिनिर्वाण।
- (५) सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्यके स्वरूप।
- (६) परमेश्वरका नित्यकैंकर्य।

९–विश्वलीलाके द्रष्टारूपमें संतोंकी स्थिति।

१०–अप्रकट नित्यलीला तथा प्रकट अनित्यलीलामें संतोंका सहयोग।

११–संतोंका परमेश्वरके साथ साधर्म्य।

१२–संत और भगवान्की एकता।

१३–पिण्ड तथा ब्रह्माण्डके ऊपर संतोंकी स्थिति।

१४–शून्य, महाशून्य तथा अतिशून्यका विचार।

१५–कर्म-ज्ञान-भक्ति-जन्य सिद्धिमें भेदाभेदविचार।

१६–द्वन्द्वातीत अवस्था और आनन्दमय अवस्थामें भेद।

१७–सब मार्गों और सम्प्रदायोंके संत परम सिद्धावस्थामें एक हो जाते हैं या नहीं ?

१८–सर्व लोकोंमें संतोंकी अबाधित गति और व्यापार।

१९–लोकसंस्थान।

२०–कायसिद्धि अथवा अप्राकृत देहमें नित्यस्थिति।

२१–आश्रयपरावृत्तिका स्वरूप।

२२–बंकनाली तथा भ्रमरगुहाका वर्णन।

२३–ज्ञानकी सप्तभूमियाँ।

२४–विद्वान्से लेकर विद्वद्वरिष्ठ अवस्था-पर्यन्त ज्ञानका विकास क्रम।

२५–संन्यासका प्रकारभेद।

- (क) विविदिषा संन्यास तथा विद्वत्संन्यासका विवरण।
- (ख) कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस।

२६–वैराग्य और संन्यासका परस्पर सम्बन्ध।

२७–संतोंका प्रकृतिप्रेम।

---

* नोट–लेख संस्कृत, मराठी, बँगला, गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी इनमेंसे किसी भाषामें भेजे जा सकते हैं।

२८–संतोंका विश्वप्रेम।
२९–संतोंका सेवाभाव।
३०–संतोंका साधुभाव।
३१–संतोंके दो विशेष गुण—सरलता और निर्भयता।
३२–संतोंका रहस्यमय जीवन।
३३–संतोंके जीवनमें स्वार्थ और परार्थका सम्बन्ध।
३४–संतोंके जीवनमें समदृष्टि और करुणाका स्थान।
३५–पूर्ण प्रज्ञा और अपरिमित करुणाका परस्पर सम्बन्ध।
३६–संतोंके जीवनमें चमत्कार।
३७–संतोंके बाह्य प्रकृतिभेद।
३८–संतोंके आचरण।
३९–संतोंके बाल, जड़, उन्मत्त, पिशाचवत् बाह्य रूपभेद।
४०–संतोंके आचरण अनुकरणीय हैं या उपदेश?
४१–युगोंके अनुसार संतोंकी विभिन्न क्रियाएँ।
४२–संत विधि-निषेधके परे।
४३–संतोंद्वारा लोकसंग्रह।
४४–संतोंद्वारा शास्त्ररक्षण।
४५–संतोंद्वारा वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा।
४६–जगत्पर संतों और संतचरित्रोंका प्रभाव।
४७–संतसे कुल, जननी, जन्मभूमि और जगत्की कृतार्थता।
४८–संत और श्रद्धा।
४९–संत और बुद्धिवाद।
५०–संत और शक्तितत्त्व।
५१–संत और जगत्।
५२–संत और राजनीति।
५३–संत और समाजसुधार।
५४–संत और साहित्य।
५५–संत और काव्य।
५६–आदिगुरु भगवान् श्रीशिवके साथ संतपरम्पराका सम्बन्ध।
५७–निवृत्तिमार्गी संत।
५८–प्रवृत्तिमार्गी संत।
५९–संत—राजा।
६०–संत—योगी।
६१–संत—भक्त।
६२–संत—गृहस्थ।
६३–संत—स्त्री।
६४–संत—बालक।
६५–संत—हीनजाति।
६६ (क)–संतभावकी प्राप्तिके उपाय [इसमें कर्म, भक्ति, ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध और उनका स्वरूप वर्णन अपेक्षित है। प्रसङ्गतः स्मृत्युक्त एवं तन्त्रोक्त आणव, शाक्त, शाम्भव आदि उपायोंका भी सविशेष वर्णन होना चाहिये]
  (१) अष्टाङ्ग या षडङ्गयोग। [प्रसङ्गतः हठ, मन्त्र, लययोगादिसे इसका सम्बन्ध प्रदर्शनीय है]
  (२) निष्काम कर्मयोग(गीतोक्त)।
  (३) पतञ्जल्युक्त क्रियायोग (तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानात्मक)।
  (४) सांख्ययोग या ज्ञानयोग।
  (५) भक्तिके दो, तीन, नौ और ग्यारह प्रकार।
  (६) शरणागति अथवा आत्मसमर्पण।
  (७) नामसाधन [इसमें नामापराध, नामाभासप्रभृतिका विचार अपेक्षित है]
(ख) अनुपाय मार्ग।
६७–संतभावकी प्राप्तिमें जीवका अपना पुरुषार्थ तथा भगवत्कृपा एवं दोनोंका परस्पर सम्बन्ध।
६८–भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि।
६९–गुरुकरण।
७०–ज्ञानतन्तुसंरक्षण।
७१–शक्तिपात अथवा शक्तिसञ्चार।
७२–दीक्षा तथा उपदेशके प्रकारभेद [कलावती, मान्त्री, आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, प्रभृति दीक्षाभेदोंका वर्णन। प्रसंगतः शाक्तादि अभिषेकों तथा षडध्वशुद्धिका विचार भी अपेक्षित है।]
७३–उपासनारहस्य।
७४–जीवदया तथा परोपकारतत्त्व।
७५–चेतनशब्दप्रभाव।
७६–अचेतन शब्दमें चैतन्यसम्पादनकी प्रक्रिया।
७७–कामादि षड्रिपुओंपर विजय।
७८–शिवशक्तिसामरस्य (प्रसङ्गतः अप्राकृत युगलमिलनका अर्थात् कुण्डलिनी और परमशिवके संयोगका स्वरूप और फलनिर्देश)।
७९–नादानुसन्धान।
८०–शब्द तथा ज्योतिका परस्पर सम्बन्ध।
८१–आवागमन तथा चौरासी लक्ष योनियोंका विचार।
८२–बद्ध जीवोंका उद्धारक्रम।
८३–कर्मतत्त्व–सञ्चित, प्रारब्ध तथा क्रियमाणका विचार।
८४–अविद्यासे कर्मका सम्बन्ध।
८५–त्यागमार्ग।
८६–भोगमार्ग।
८७–त्याग और भोगका समन्वय।
८८–प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गका परस्पर सम्बन्ध।
८९–कर्मके ऊपर ज्ञान तथा भक्तिका प्रभाव।
९०–सत्सङ्गका स्वरूप।
९१–सत्सङ्गकी महिमा।
९२–असंतके लक्षण।
९३–असंतसे जगत्की हानि।
९४–संत-अपमानका भीषण फल।
९५–संतोंकी महिमा।
९६–संतोंकी दिव्य विभूतियाँ।
९७–संतकृपा।
९८–संतोंके स्वानुभव।
९९–संतोंके उपदेश।
१००–संतमत।
१०१–संतचरित्रः—

अति प्राचीन संत

नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, दक्षिणामूर्ति, ऋषभदेव, व्यास आदि अवतारकोटिके संत ।

शेष, गरुड़, नारद, हनुमान् आदि भगवान्के नित्य-परिकर तथा भरत, लक्ष्मण आदि चतुर्व्यूहान्तर्गत संत ।

गणेश, सूर्य, वरुण, यम आदि देवकोटिके संत ।

चतुर्दश मनु, सनकादि नित्यसिद्ध महर्षि तथा अन्य वैदिक, उपनिषत्कालीन तथा पौराणिक कालके ऋषि, स्मृतिकार तथा आस्तिक दर्शनसूत्रोंके रचयिता ।

काकभुशुण्डि, जटायु, सुग्रीव, अङ्गद, नल-नील, जाम्बवान् आदि तिर्यग्योनियोंके संत ।

वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि, विभीषण आदि दानव तथा राक्षस संत ।

प्रियव्रत, इक्ष्वाकु, अम्बरीष, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, शिबि, निमि, खट्वाङ्ग, जनक, युधिष्ठिर, परीक्षित आदि राजर्षि संत ।

भीष्म, विदुर, अक्रूर, अर्जुन, उद्धव, सुदामा आदि अन्य भक्त संत ।

गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा, शबरी, मन्दोदरी, कुन्ती, द्रौपदी आदि संत नारियाँ ।

प्राचीन संत

पारसनाथ आदि जैन तीर्थङ्कर, जरथुस्त्र, कन्फ्यूशस, लॉत्शे, मूसा आदि ।

गौतम बुद्ध तथा उनके परवर्ती बौद्ध आचार्य ।

मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जलन्धरनाथ, गोपीचन्द, भर्तृहरि (विचारनाथ), गनीनाथ आदि नाथसम्प्रदायके संत ।

शठकोपाचार्य तथा दक्षिणके प्राचीन अलवार संत ।

गौडपादाचार्य, गोविन्दभगवत्पाद, श्रीआद्यशंकराचार्य तथा उनके चार प्रधान शिष्य एवं शाङ्करसम्प्रदायके परवर्ती आचार्य ।

प्राचीन मिश्र, बेबीलन, असीरिया, ग्रीस तथा रोमदेशके संत ।

जीजस क्राइस्ट (ईसामसीह) तथा उनके परवर्ती ईसाई संत ।

हज़रत मुहम्मद तथा उनके परवर्ती मुसलिम संत, फकीर, औलिये और दरवेश ।

मध्य युगके संत

तिलोप्पा आदि तिब्बती संत; नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, वेदान्तदेशिक आदि विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके आचार्य; शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके परमाचार्य विष्णुस्वामी; द्वैताद्वैतसम्प्रदायके आचार्य निम्बार्क; द्वैतसम्प्रदायके आचार्य मध्व (आनन्दतीर्थ); रेवनाराध्य प्रभृति शिवाचार्य; बिल्वमंगल (लीलाशुक), जयदेव (गीत-गोविन्दकार); चाङ्गदेव, ज्ञानेश्वर, बिसोबा सराफ, नामदेव, जनाबाई; रामानन्द, कबीर, जलालुद्दीन रूमी, शेखसादी, लतीफ़शाह (सिद्ध रामभक्त) आदि मुसलिम संत; सेण्ट बर्नार्ड आदि ईसाई संत; दामाजी पन्त, शान्तोबा पवार, नरहरि सुनार, गोरा कुँभार, चोखामेला, कूबाजी, रंका-बंका, सदन आदि महाराष्ट्र संत आदि-आदि ।

नवीन संत

शुद्धाद्वैतके आचार्य वल्लभ तथा सूरदास, नन्ददास प्रभृति अष्टछापके संत कवि; नानक, गोस्वामी तुलसीदास, रैदास, मीराबाई, नरसी मेहता, सहजोबाई, जगजीवनदास, भीखासाहब, गरीबदास, मलूकदास, दरियासाहब, दयाबाई, धरमदास, चरनदास, पलटू साहब, केनाराम अघोरी; केशव भारती, ईश्वरपुरी, अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा उनके समसामयिक गौडीय वैष्णव संत (राय रामानन्द, यवन हरिदास, रूप-सनातन, जीव गोस्वामी प्रभृति), साधक कमलाकान्त, साधक रामप्रसाद आदि; एकनाथ, तुकाराम, समर्थ रामदास, सखूबाई, वामन पण्डित, जोगा परमानन्द आदि महाराष्ट्र-संत; धन्ना, पीपा, श्रीचन्द्र महाराज, नानकके परवर्ती सिक्ख गुरु आदि-आदि ।

अति नवीन संत

स्वामिनारायण, नारायण स्वामी, राधास्वामी, मगनीराम ब्रह्मचारी, तैलंगस्वामी, भास्करानन्द स्वामी, भास्कर राय, काष्ठजिह्वा स्वामी, बाबा गम्भीरनाथ, पवहारी बाबा, बड़े काठिया बाबा, छोटे काठिया बाबा, संतदास बाबाजी, अनन्त महाप्रभु, महात्मा युगलानन्यशरणजी, रामाजी, रूपकलाजी, गोमतीदासजी, प्रभु जगद्बन्धु, वामा क्षेपा, श्रीरामकृष्ण परमहंस, साधु नाग महाशय, खाकी बाबा, श्यामाचरण लाहिड़ी, शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी, विजयकृष्ण गोस्वामी, चरणदास बाबाजी, बाबा महाराज साखरे, साईं बाबा, वासुदेवानन्द सरस्वती, सिद्धारूढ स्वामी, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा सियारामजी परमहंस, बखन्नाथजी आदि-आदि ।

॥ श्रीहरिः ॥

योगांकका

तीसरा नवीन संस्करण पुनः छप रहा है !

यह पहिले-दूसरे दो संस्करणोंमें ३४१५० छपा था, वह सब बिक गया। इसलिये फिर तीसरा नया संस्करण छापा जा रहा है। कल्याणके केवल इसी एक विशेषांकको तीसरी बार छपनेका मौका मिला है। यह उत्तम सामग्रियोंसे पूर्ण, स्वास्थ्य, सुख, प्रेम और परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों अनुभवपूर्ण साधनों तथा रहस्योंसे युक्त है।

योगियोंके चमत्कार, महात्माओंके सदुपदेश, स्फूर्तिदायक विचार, ओजस्वी लेख और सैकड़ों रंगीन तथा सादे चित्रोंसे सुशोभित है। अनेक तरहके नये-पुराने योगोंपर प्रकाश डाला गया है।

उपहार देने और पुस्तकालयोंमें संग्रहार्थ चाहें तो मँगा सकते हैं।

इस सुन्दर, सचित्र, उपादेय ग्रन्थका मूल्य केवल ३।।), सजिल्द ४), पृष्ठ ८८४, चित्र ४६७ हैं। दसवें वर्षका ४≡) भेजनेवालेको पूरी फाइलके साथ योगांक भी मिल जायगा।

व्यवस्थापक—**'कल्याण' गोरखपुर।**

Regd. No. A. 1724.

॥ श्रीहरिः ॥

भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कौन है ?

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ (श्रीमद्भागवत)

जो पुरुष समस्त भूतप्राणियोंमें अपने ही आत्माको ब्रह्मरूपसे अनुस्यूत देखता है और जो भगवद्रूप अपने आत्मामें सारे भूतप्राणियोंको देखता है वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

जो पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करके भी, यह सारा जगत् भगवान् विष्णुकी माया है ऐसा समझता हुआ प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकल विषयोंको पाकर हर्षित नहीं होता वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

जो पुरुष भगवान्का स्मरण करता हुआ देहके धर्म—जन्म-मरण, इन्द्रियोंके धर्म—श्रम, प्राणके धर्म—क्षुधा-तृषा, मनका धर्म—भय और इन्द्रियोंका धर्म—आशा, इन सांसारिक धर्मोंसे मोहित नहीं होता वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

जिसके चित्तमें काम, कर्म और उनकी वासना उत्पन्न ही नहीं होती और जिनके भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं वह उत्तम भगवद्भक्त है ।

जिसे उत्तम कुलमें जन्म, तप आदि श्रेष्ठ कर्म, तथा वर्ण, आश्रम और जातिको लेकर इस शरीरमें कुछ भी अहंकार नहीं होता वह पुरुष भगवान्का प्यारा भक्त है ।

जिसका धन तथा शरीरमें अपना-पराया भाव नहीं है और जो प्राणिमात्रमें समान-बुद्धि रखता हुआ शान्त रहता है उसे उत्तम भगवद्भक्त समझना चाहिये ।

भगवान्में ही सदा चित्तको लगाये रखनेवाले देवादिक भी जिनकी खोज करते रहते हैं ऐसे भगवान्के चरणारविन्दोंसे जो त्रिभुवनकी सम्पत्ति मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी अपना ध्यान नहीं हटाता और निरन्तर उनका स्मरण करता रहता है वह वैष्णवोंमें श्रेष्ठ है ।

पराधीनताकी दशामें भी लिया हुआ जिनका नाम पापोंके समूहको नष्ट कर डालता है वे श्रीहरि जिस पुरुषकी प्रेमरज्जुमें बँधकर उसके हृदयको कभी छोड़ते नहीं उसे शास्त्रोंमें प्रधान भगवद्भक्त कहा गया है ।

श्रीहरिः

कल्याण पौष संवत् १९९३ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१-सुमित्राका त्याग [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ९८५
२-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) ९८६
३-ईश्वरमें विश्वास (स्वामीजी श्रीभोलानाथजी महाराज) ९९४
४-मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा [कविता] (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) ... १००१
५-कल्याण ('शिव') १००२
६-श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना ... १००३
७-पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश १००५
८-शरणागति (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १००६
९-राजकी टेर [कविता] (पं०श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय) १०१२
१०-मौन-व्याख्यान (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १०१३
११-दण्डी स्वामी श्रीगोपालतीर्थजी महाराजके उपदेश (प्रे०-भक्त रामशरणदासजी) ... १०१६
१२-रासलीला-रहस्य (एक महात्मा) ... १०१७
१३-दस दोषोंसे बचकर नामजप कीजिये (महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाईजी शास्त्री) ... १०२१
१४-एक क्षणके लिये (श्री 'सुदर्शन' जी) ... १०२४
१५-ज्ञानकी सप्तभूमिकाएँ [कविता] (श्रीप्रेमयोगी 'मान') १०२५

पृष्ठ-संख्या

१६-त्याग और वैराग्यके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर (श्रीताराचन्दजी पांड्या बी० ए०) ... १०२६
१७-अन्तिम समयपर नामोच्चारण (पं० श्रीहरदत्तजी शास्त्री) १०३१
१८-स्वप्न और स्वप्नपर अधिकार (श्रीरामदित्तामलजी भाटिया) १०३४
१९-रामनामका प्रभाव [कविता] (गो० श्रीतुलसीदासजी) १०३५
२०-७४॥ [कहानी] (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) १०३६
२१-परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) १०४०
२२-दो बिना क्रीड़ा नहीं [कविता] (बाँके पिय) १०४६
२३-भक्तोंके प्रकार (महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा) १०४७
२४-चोर-जार-शिखामणि (हनुमानप्रसाद पोद्दार) १०४९
२५-संसार-जय (पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०) १०५९
२६-प्रार्थना [कविता] (भगवतरसिकजी) ... १०६१
२७-भक्त-गाथा (प्रे०—पं०श्रीहरद्वारीलालजी शर्मा 'हिन्दीप्रभाकर') १०६२
२८-राम-नाम-प्रश्नोत्तरी [कविता] (पं०श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश') ... १०६४

◆

ग्रन्थलेखक महानुभावोंसे निवेदन

गीताप्रेसमें जो पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, उनका निर्णय करनेके लिये एक कमेटी बनी हुई है, इस कमेटीमें स्वीकृत ग्रन्थ ही प्रेसमें छप सकते हैं या प्रकाशित हो सकते हैं। इधर मेरे विभागका काम इतना बढ़ गया कि मैं जिम्मेवारीके साथ पुस्तकप्रकाशनसम्बन्धी कार्यमें समय नहीं दे सकता। जिन सज्जनोंको पुस्तकादिके प्रकाशन या मुद्रणके सम्बन्धमें पत्रव्यवहार करना हो, उनसे मेरा विनीत निवेदन है कि वे अब मुझसे पत्रव्यवहार न कर सीधे मैनेजर, 'गीताप्रेस' गोरखपुरसे पत्रव्यवहार करें।

विनीत-

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

प्रेमी ग्राहकोंसे निवेदन

१–'कल्याण' कार्यालयमें सभी विभागोंमें काम बढ़ जानेके कारण खर्च बहुत बढ़ गया, परन्तु पृष्ठ तथा चित्रोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहनेके कारण आमदनी नहीं बढ़ी; इससे कुछ नुकसान ही रह जाता है। यदि ग्राहक और प्रेमी महानुभाव विशेष चेष्टा करके कुछ ग्राहक और बढ़ा दें तो यह नुकसान पूरा हो सकता है। **एक सज्जनने ऐसा प्रस्ताव किया है कि यदि कल्याणके प्रत्येक ग्राहक विशेष चेष्टा करके दो-दो ग्राहक और बढ़ा दें तो ग्राहक-संख्या एक लाख हो सकती है। और वैसी अवस्थामें कल्याणमें घाटा नहीं रह सकता। सम्भव है, ऐसा होनेपर ग्राहकोंको कुछ और भी सुविधा मिल जाय। इस प्रस्तावपर विचार करके ग्राहक-अनुग्राहक महानुभाव चेष्टा करके कुछ नये ग्राहक और बना देनेकी कृपा करें तो वास्तवमें ही उनके 'कल्याण' की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। आशा है कल्याणके प्रेमी महानुभाव इस निवेदनपर ध्यान देंगे।**

२–अंग्रेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के नामसे इस चौथे वर्ष (१९३७ ई०) के जनवरीका प्रथम अङ्क 'श्रीकृष्णाङ्क' के नामसे विशेषाङ्कके रूपमें बहुत सजधजके साथ प्रकाशित हो रहा है। इसमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों तथा कृष्ण-प्रेमियोंके लेख संग्रह किये गये हैं। ऐसे अनेक कलापूर्ण चित्रों-सहित करीब २५० पृष्ठके इस सुन्दर विशेषाङ्कका मूल्य २॥) है। 'कल्याण' का यह सुन्दर सचित्र अंग्रेजी संस्करण, जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है।

इसके ग्राहक बढ़ानेके लिये कल्याणके पाठक महानुभाव कुछ चेष्टा करनेकी कृपा करें तो इस क्षेत्रमें भी कल्याणमय भावोंका प्रसार अनायास हो सकता है। आशा है कल्याणके प्रेमी अंग्रेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के भी ग्राहक बनायेंगे।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

गीताप्रेसके नामपर धोखा

आजसे कुछ समय पूर्व गणेशप्रसाद शुक्ल एम० ए० नामधारी किसी आदमीने गीताप्रेस तथा कल्याणके नामपर भिन्न-भिन्न बहाने बनाकर हमारे काशीवासी कुछ प्रेमी तथा कृपालु महानुभावोंसे रुपये ठगे थे। उस आदमीकी इस करतूतका पता पाते ही दैनिक 'आज' और साप्ताहिक 'भारत' आदि पत्रोंमें उस आदमीसे सावधान रहनेके लिये, तथा इस प्रकार गीताप्रेसके नामपर किसीको भी कुछ नहीं देनेके लिये सूचना छपवा दी गयी थी। परन्तु खेद है कि इतना करनेपर भी हमारे प्रयागवासी कुछ प्रेमी तथा कृपालु महानुभाव फिर एक आदमीद्वारा गीताप्रेस अथवा कल्याणके नामपर ठगे गये हैं। और उस ठगनेवाले आदमीकी जो पहचान हमारे पास आयी है, उससे पता चलता है कि वह वही आदमी है, जिसने काशीमें इस प्रकारकी धोखा-धड़ी की थी। और यदि यह वही आदमी है तो काशीके ही एक भुक्तभोगी महानुभावद्वारा हमें उस आदमीका पूरा पता चल चुका है तथा उसके सम्बन्धमें उचित कार्रवाई करनेका विचार किया जा रहा है। उस आदमीका नाम गणेशप्रसाद शुक्ल ठीक है। वह औरैया जिला इटावेका रहनेवाला है। कद लंबा और शरीर दुबला-पतला है। आकृति नशेबाजकी-सी मालूम होती है। दमेका कुछ रोग है। अवस्था लगभग ५० वर्षकी है। मुँहपर शीतलाके दाग हैं। आवाज कुछ मोटी तथा भर्रायी हुई-सी है। और अपनेको एम० ए० बतलाता है।

अतः इस सूचनाद्वारा अपने समस्त कृपालु तथा प्रेमी महानुभावोंसे यह प्रार्थना की जाती है कि वे ऐसे आदमीसे सावधान रहें। गीताप्रेस अथवा 'कल्याण' की ओरसे इस प्रकारका कोई भी आदमी बाहर नहीं भेजा जाता है, जो इस तरह रुपये माँगता फिरे। अतएव सबको सावधान रहकर ऐसे किसी भी आदमीको कुछ नहीं देना चाहिये।

मैनेजर—**गीताप्रेस**

* श्रीहरिः *

कल्याण और उसके दर्शनीय विशेषांक

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्रमासिक पत्र)

प्रतिमास ३७१०० छपता है। सालभरमें १६०० से ऊपर पेज, सैकड़ों सुन्दर चित्र और अमूल्य विशेषाङ्कों-सहित वार्षिक मूल्य ४≡)

(इसमें कमीशन नहीं दिया जाता है)

इसके ग्राहक बनकर घर बैठे सत्संगका लाभ उठाइये। इसके लेख स्त्री-पुरुष सबके पढ़नेयोग्य धार्मिक भावोंके ही होते हैं। इसमें बाहरके विज्ञापन भी नहीं रहते।

देखिये कल्याणके विषयमें कौन क्या कहते हैं—

'···मैं इसके भक्तिविषयक लेखोंको पढ़कर जिस आनन्दकी प्राप्ति करता हूँ उसका अनुभव मेरा हृदय ही कर सकता है। ईश्वर करे यह सबका कल्याण-साधन करे···।'

—हिन्दीके आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी।

'···कल्याणने निकलकर हिन्दी-साहित्यके एक बड़े अंगकी पूर्ति की है। अबतक धर्म और दर्शनविषयक इतना सुन्दर और सुसम्पादित पत्र जहाँतक मैं जानता हूँ, कोई न था···।'

—रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

'हिन्दीके अध्यात्म-ज्ञान और भक्ति-क्षेत्रमें 'कल्याण' जो कार्य कर रहा है वह अनुपमेय है। अपने विषयका यह बिल्कुल अनोखा पत्र है। सुन्दर लेख-चयन और अच्छी छपाई-सफाईके साथ-साथ विज्ञापन न छापनेके आदर्शका पालन करते तथा प्रतिवर्ष एक इतना सुन्दर विशेषांक निकालते हुए भी वह सिर्फ ४≡) वार्षिकमें अपने पाठकोंके हृदयमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी जो सुरसरि बहाता है वह सर्वथा प्रशंसनीय है XXXX आशा है कि हिन्दीके पाठक ऐसे अच्छे पत्रको खूब अपनायेंगे।'

—प्रताप (कानपुर)

—कल्याणके विशेषांक—

हिन्दी-संसारमें 'कल्याण' के ही इतने बड़े-बड़े सात विशेषांकोंको दुबारा और तिबारातक छपनेका मौका मिला है। इनमें कमीशन नहीं दिया जाता है, इनका डाकखर्च हम देते हैं।

१ भगवन्नामांक

दोनों संस्करण—अप्राप्य। (द्वितीय वर्षका विशेषांक)

२ भक्तांक

दूसरा संस्करण * पुनः छप गया * नवीन संस्करण कई नये चित्र बदल दिये गये हैं। सुन्दर छपाई, पृष्ठ २४६, चित्र ५५, मूल्य १।।) सजिल्द १।।≥), तीसरे वर्षकी फाइलके साथ भी मिलता है। मूल्य ४≥) सजिल्द ४।।≥)

३ गीतांक—अप्राप्य

४ श्रीरामायणांक

* दूसरा नवीन संस्करण *

पाँचवें वर्षका विशेषांक, जिसकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रेमी लालायित थे वही 'रामायणांक' पुनः छापा गया था। मूल्य २।।≥), सजिल्द ३≥), विदेशोंके लिये ३।।) ही रक्खा गया है। जिन सज्जनोंकी माँग लौटा दी गयी थी, वे अब मँगवा सकते हैं। पृष्ठ ५१२ और चित्र एकरंगे-तिरंगे १६७।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइंडिंग सब सुन्दर है।

रामायणांकमें श्रीरामकी लीलाओंके अनेक सुनहरे, बहुरंगे, सादे एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायणप्रेमियोंके लेख हैं।

रामायणांक सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

रामायणांकपर

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये

······सुन्दर, सस्ता और उपयोगी निकला है।··· ··पढ़नेसे······अनेक ज्ञातव्य बातोंका पता चल जाता है।······अङ्क संग्रहणीय है। —भारत (इलाहाबाद)

लेख बडे-बड़े विद्वानोंकी लेखनियोंसे लिखे गये हैं। कई लेख तो भारतसे भिन्न देशोंसे भी मँगवाये गये हैं। ······लेख प्रायः सब तथ्यपूर्ण एवं जानकारीसे भरे हुए हैं।······कई सहस्र रुपया व्यय करना पड़ा होगा, फिर

भी इसका मूल्य केवल २॥=) रक्खा गया है···। अवश्य संग्रह करना चाहिये। —आर्यमित्र (आगरा)

······विषयोंकी व्यापकताकी दृष्टिसे तो रामायणपर यह अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होगा।······सच्ची लगनके बिना ऐसे गुरुतर कार्य सिद्ध नहीं होते। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस···से पूरा लाभ उठावेंगे। —प्रताप (कानपुर)

······'रामायणांक' हिन्दी-जगत्की एक स्थायी सम्पत्तिके रूपमें सदा आदर पाता रहेगा········। अपने ढंगका अद्वितीय ग्रन्थ है, साथ ही 'कल्याण' नामको सार्थक करता है।······हमारी प्रत्येक हिन्दीप्रेमीसे अपील है कि वे इस विशेषांकको मँगवाकर अवश्य पढ़ें, इससे 'लोकलाहु परलोकनिबाहू' दोनों साधनाएँ सफल होंगी।

—माधुरी (लखनऊ)

······हिन्दी भाषा इतनी सुलभ आहे कीं, हिन्दी भाषेषी विशेष परिचय नसणारया महाराष्ट्रीय वाचकांनाहिं यांतील सर्व लेख समजण्या जोगे आहेत। —केसरी (पूना)

······अपनी शानका अनोखा ही है।······विशेष संग्रहणीय है। —शुद्धिसमाचार (दिल्ली)

५ श्रीकृष्णाङ्क—अप्राप्य (६ ठे वर्षका विशेषांक)

६ श्रीईश्वराङ्क—दूसरा संस्करण भी अप्राप्य

७ श्रीशिवाङ्क—दोनों संस्करण अप्राप्य

८ श्रीशक्ति-अङ्क—दोनों संस्करण अप्राप्य

९ श्रीयोगाङ्क—(दसवें वर्षका विशेषांक)

तीसरा नवीन संस्करण पुनः छप रहा है।

इसमें क्या है? यह तो देखकर ही जान सकते हैं। पहिले-दूसरे दो संस्करणोंमें ३४१५० छपा था, वह शीघ्र ही बिक गया। उपयोगिताका इससे सुन्दर और क्या प्रमाण होगा? मासिक पत्रोंको इस प्रकार तीसरी बार छापनेका मौका शायद ही मिलता हो।

यह अद्भुत और दुष्प्राप्य सामग्रियोंसे पूर्ण, स्वास्थ्य, सुख, प्रेम और परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों अनुभवपूर्ण साधनों तथा रहस्योंसे युक्त है।

योगियोंके चमत्कार, महात्माओंके सदुपदेश, स्फूर्तिदायक विचार, ओजस्वी लेख और सैकड़ों रंगीन तथा सादे चित्रोंसे सुशोभित है। अनेक तरहके नये-पुराने योगोंपर प्रकाश डाला गया है। ऐसे सुन्दर, सचित्र, उपादेय ग्रन्थका मूल्य केवल ३॥), सजिल्द ४), पृष्ठ ८८४, चित्र ४७० हैं। दसवें वर्षका ४≡) भेजनेवालेको पूरी फाइलके साथ योगांक भी मिल जायगा।

१० श्रीवेदान्ताङ्क—

(यह ग्यारहवें सालका विशेषाङ्क है)

३७१०० छापा गया है और अधिकांश बिक भी गया है। लेनेवाले जल्दी करें! दूसरा संस्करण निकट भविष्यमें शीघ्र ही छपे, ऐसी आशा नहीं है।

वेदके सर्वोपरि भागका नाम वेदान्त है, भगवत्तत्त्वका निरूपण वेदान्तमें है, वेदान्त ही सबका परम ध्येय है। ब्रह्म, हरि, परमात्मा, नारायण, शङ्कर, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सबका तत्त्वदर्शन इस वेदान्तमें ही होता है, यहाँतक कि जगत्का सारा रहस्य वेदान्तमें ही भरा है।

वेदान्तके विविध रूप, तत्त्व-निरूपण, ज्ञान-भक्ति-प्रेमके गूढ़ सिद्धान्त, उपाय और साधना, वेदान्तका इतिहास आदि अद्भुत विषयोंसे पूर्ण सुन्दर, सचित्र ग्रन्थका मूल्य केवल ३) स० ३॥), पृ० ७४४, चित्र १९१। ११ वें वर्षका ४≡) भेजनेवालोंको पूरी फाइलके साथ वेदान्ताङ्क भी मुफ्त मिलेगा।

मैनेजर—**'कल्याण' गोरखपुर**

२—अंग्रेजीमें 'कल्याण-कल्पतरु' के नामसे

कल्याणका सुन्दर सचित्र संस्करण, जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है। ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनेके लिये सबसे सविनय निवेदन है।

वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया। इसके भी चार विशेषांक निकल चुके हैं—

१—गॉड नम्बर (१९३४ ई०) पृ० ३०७ चित्र ४१ मूल्य २॥)
२—गीता नम्बर (१९३५ ई०) पृ० २५१ सचित्र मूल्य २॥)
३—वेदान्त नम्बर (१९३६ ई०) पृ० २४८ ,, ,, २॥)
४—कृष्ण नम्बर (१९३७ ई०) पृ० २५० ,, ,, २॥)

सजिल्दके ॥) अधिक हैं। चारों वर्षकी फाइलें भी मिल सकती हैं। ४॥) भेजकर ग्राहक बननेवालोंको उस वर्षका विशेषांक मुफ्त ही मिलेगा।

मैनेजर—**'कल्याण-कल्पतरु', गोरखपुर**

सुन्दर ❀ गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें ❀ सचित्र

१-श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ५१९, चित्र ३, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जि० २॥।)
२-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५७०, ६६००० छप चुकी, ४ चित्र मू० १।)
३-श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५६०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
४-श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह, मोटा टाइप, सचित्र, पृ० ५७०, सजिल्द, मूल्य ··· १।)
५-श्रीमद्भगवद्गीता-(श्रीकृष्ण-विज्ञान)अर्थात् गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७५, मू०॥।) सजिल्द १)
६-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृ० ४६८, मू० ॥≡) स० ॥।=)
७-श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, हिन्दी गीता ॥≡) वालीकी तरह, पृ० ५३५ मूल्य ··· ··· ॥।)
८-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, नं० ९ की तरह मोटे टाइप, साधारण भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≡)
९-गीता-साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, पृष्ठ ३५२, ४८०००० छप चुकी =)॥ स० ≡)॥
१०-गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृ० १०६ मूल्य ।-) सजिल्द ··· ।≡)
११-गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मूल्य ।) सजिल्द ··· ।=)
१२-गीता-पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप पृ० ३२८ सजिल्द मूल्य ··· ··· ।)
१३-गीता-मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च, ७५००० छप चुकी है, पृ० २९६, सजिल्द, मूल्य ··· =)
१४-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, ११९९०० छप चुकी है, पृ० १३०, मूल्य -)॥
१५-गीता-७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ··· ··· ··· -)
१६-गीता-सूची (Gita-List)-संसारकी (भिन्न-भिन्न ३१ भाषाओंकी) अनुमान २००० गीताओंका परिचय, मूल्य ॥)
१७-गीता-डायरी पञ्चाङ्गसहित सन् १९३७, गतवर्षोंमें लाखों बिक चुकी, मूल्य ।) सजिल्द ··· ।-)
१८-ईशावास्योपनिषद्-हिन्दी-अनुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ··· ≡)
१९-केनोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ··· ··· ॥)
२०-कठोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ··· ··· ॥-)
२१-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य ··· ··· ।≡)
२२-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ··· ··· ।≡)
उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ··· २।-)
२३-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद शाङ्करभाष्य एवं गौडपादीय कारिकासहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ··· १)
२४-तैत्तिरीयोपनिषद् ,, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ··· ··· ॥।-)
२५-ऐतरेयोपनिषद् ,, ,, पृष्ठ १०४, मूल्य ··· ··· ।=)
उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) मूल्य ··· २।=)
२६-श्रीविष्णुपुराण-हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥) कपड़ेकी जिल्द २॥।)
२७-अध्यात्मरामायण-सातों काण्ड, सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवादसहित, पृ० ४००, ८ चित्र, मूल्य १॥।) स० २)
२८-प्रेमयोग-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, ११००० छप चुकी, मोटा एण्टिक कागज, पृष्ठ ४२०, मू० १।) स० १॥)
२९-भक्तियोग-'भक्ति' का सविस्तर वर्णन, सचित्र, पृ० ७०८, मू० ··· ··· १=)
३०-भागवतरत्न प्रह्लाद-३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १।)
३१-विनय-पत्रिका-गो० तुलसीदासकृत सरल हिन्दी-भावार्थसहित, ६ चित्र, अनु०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मू० १), स० १।)
३२-गीतावली- ,, सरल हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, अनु०-श्रीमुनिलालजी, पृ० ४६० मूल्य १) स० १।)
३३-श्रीतुकाराम-चरित्र-पृष्ठ ६९४, चित्र ९, मूल्य १≡) सजिल्द ··· ··· १॥)
३४-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)-ले० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी सचित्र, पृष्ठ ३६०, मू० ॥।=) स० १=)
३५- ,, ,, (खण्ड २)-९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मूल्य १=) सजिल्द १।=)
३६- ,, ,, (खण्ड ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, मूल्य १) सजिल्द ··· ··· १।)
३७- ,, ,, (खण्ड ४)-१४ चित्र, २२४ पृष्ठ, मूल्य ॥=) सजिल्द ··· ··· ॥।=)

३८-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५)-१० चित्र, पृष्ठ २८०, मूल्य ॥।) सजिल्द ... ... १)

३९-मुमुक्षुसर्वस्वसार-भाषाटीकासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य ॥।-) सजिल्द ... ... १-)

४०-तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, एण्टिक कागज, मू० ॥=) स० ॥।-)

४१- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४८, गुटका, प्रचारार्थ मूल्य ।-) स० ।=)

४२- ,, ,, २- ,, ,, ,, ,, ६३२, एण्टिक कागज, मूल्य ॥।=) स० १=)

४३- ,, ,, ,, ,, ,, ,, गुटका, पृष्ठ ७५०, प्रचारार्थ मूल्य ।=) स० ॥)

४४-श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र-सचित्र, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संतकी जीवनी और उपदेश, सचित्र, पृ० ३५६, मूल्य ... ॥।-)

४५-पूजाके फूल-श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्माके अनुभवपूर्ण भावमय लेखोंका संग्रह, पृ० ४१४, मूल्य ... ॥।-)

४६-एकादश स्कन्ध-(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित । यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है । मू० ॥।) स० १)

४७-श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, सचित्र, पृ० २७५, मूल्य ... ॥=)

४८-देवर्षि नारद-५ चित्र, पृष्ठ २४०, मू० ॥।) स० १)

४९-शरणागतिरहस्य-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ॥≥)

५०-शतपञ्च चौपाई-सानुवाद, सचित्र, पृ० ३४० मू० ॥=)

५१-आनन्दमार्ग-सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ॥-)

५२-सूक्तिसुधाकर-सानुवाद सचित्र, पृ० २७६ मू० ॥=)

५३-श्रुति-रत्नावली-सचित्र, ले०-श्रीभोलेबाबाजी, मू० ॥)

५४-स्तोत्ररत्नावली-हिन्दी-अनुवाद-सहित, मूल्य ॥)

५५-नैवेद्य-लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार,
पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥) सजिल्द ... ॥≥)

५६-तुलसीदल-सचित्र, पृष्ठ २९२, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≥)

५७-श्रीएकनाथ-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥)

५८-दिनचर्या-सचित्र, पृष्ठ २२२, मूल्य ॥)

५९-The Story of Mira Bai—Page 96.As. 10

६०-Mind: Its Mysteries and Control—As. 8

६१-श्रीरामकृष्ण परमहंस-सचित्र, पृष्ठ २५०, मूल्य ।≥)

६२-धूपदीप-लेखक-श्री 'माधव' जी, मू० ।≥)

६३-उपनिषदोंके चौदह रत्न-पृष्ठ १००, चित्र १०, मू० ।=)

६४-लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण, पृ० ३५० ।=)

६५-तत्त्वविचार-सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ।=)

६६-भक्त-भारती-(७चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र।≥)

६७-भक्त बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, ।-)

६८-भक्त नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ८०, ।-)

६९-भक्त-पञ्चरत्न—६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९८, ।-)

७०-आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ११२, ।-)

७१-भक्त-चन्द्रिका-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९२, ।-)

७२-भक्त-सप्तरत्न-७ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०६, ।-)

७३-भक्त-कुसुम-६ चित्रोंसे सुशोभित, पृ० ९१, ।-)

७४-प्रेमी भक्त- ७चित्रोंसे सुशोभित, पृ० १०३ ।-)

७५-यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ-३ चित्रोंसे सुशोभित, पृ०९२ ।)

७६-विवेक-चूडामणि-सचित्र, सटीक, पृष्ठ २२४, मू० ।-)

७७-प्रेमदर्शन-(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका) ।-)

७८-गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला पृ० १८२, ।-)

७९-गीतामें भक्तियोग-सचित्र, ले०-श्रीवियोगी हरिजी ।-)

८०-श्रुतिकी टेर-सचित्र, ले०-श्रीभोलेबाबाजी, मूल्य ।)

८१-व्रजकी झाँकी-वर्णनसहित लगभग ५६ चित्र, मू० ।)

८२-श्रीबदरी-केदारकी झाँकी—सचित्र, मूल्य ।)

८३-परमार्थ-पत्रावली-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके
कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह, पृ० १४४, ।)

८४-माता-श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother)
का हिन्दी अनुवाद, सुन्दर छपाई, ।)

८५-ज्ञानयोग-इसमें जाननेयोग्य अनेक पारमार्थिक
विषयोंका सुन्दर वर्णन है, पृ० १२५, ।)

८६-कल्याणकुञ्ज-सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)

८७-प्रबोध-सुधाकर—सचित्र, सटीक, पृ० ८०, ≥)॥

८८-मानवधर्म-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ११३, ≥)

८९-साधन-पथ—ले०— ,, (सचित्र) =)॥

९०-प्रयाग-माहात्म्य-(१६चित्र) पृ० ६४, मूल्य =)॥

९१-माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य-सचित्र पृ० ९४, मू० =)॥

९२-गीता-निबन्धावली-ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका =)॥

९३-वेदान्त-छन्दावली-ले०-श्रीभोलेबाबाजी, पृ० ७४, =)॥

९४-अपरोक्षानुभूति-मूल श्लोक और अर्थसहित, पृ० ४८, =)॥

९५-मनन-माला-सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है, मू० =)॥

९६-चित्रकूटकी झाँकी-(२२ चित्र), मूल्य =)

९७-भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०-श्रीवियोगी हरिजी =)

९८- ,, दूसरा भाग ,, =)

९९- ,, तीसरा भाग ,, =)

१००- ,, चौथा भाग ,, =)

१०१- ,, पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) सं०—
श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य =)

१०२-The Immanence of God (By Malaviyaji) as. 2
१०३-शतश्लोकी-हिन्दी-अनुवादसहित, मूल्य =)
१०४-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग-मूल्य)॥
१०५-मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित, मूल्य −)॥
१०६-हनुमानबाहुक-सचित्र, सटीक, मूल्य −)॥
१०७-आनन्दकी लहरें-(सचित्र), मूल्य −)
१०८-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी-(सचित्र) मूल्य −)॥
१०९-गोपी-प्रेम-(सचित्र) पृष्ठ ५०, मूल्य −)॥
११०-गोविन्ददामोदरस्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ ३७, मूल्य −)
१११-मनको वश करनेके कुछ उपाय-सचित्र, मूल्य −)।
११२-गीताका सूक्ष्म विषय-पाकेट-साइज, पृ० ७०, −)।
११३-ईश्वर-लेखक-पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय,मू०−)।
११४-मूल रामायण-मूल्य −)।
११५-मूल गोसाईं-चरित-मूल्य −)।
११६-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-मूल्य −)
११७-श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश-सचित्र, मूल्य −)
११८-त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सचित्र, मूल्य)।
११९-ब्रह्मचर्य-ले०-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मूल्य −)
१२०-भगवान् क्या हैं ? मूल्य)॥
१२१-समाज-सुधार-मूल्य −)
१२२-आचार्यके सदुपदेश-मूल्य −)
१२३-एक संतका अनुभव-मूल्य −)
१२४-सप्त-महाव्रत-मूल्य −)
१२५-हरेरामभजन-२ माला, मूल्य)।।।
१२६-विष्णुसहस्रनाम-मूल, मोटा टाइप)।।। सजिल्द −)॥
१२७-श्रीरामगीता-मूल, अर्थसहित (पाकेट-साइज),मूल्य)।।।
१२८-सेवाके मन्त्र-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१२९-वर्तमान शिक्षा-पृ० ४५, मूल्य −)
१३०-शारीरकमीमांसादर्शन मूल, पृ० ५४,)।।।
१३१-सीतारामभजन-(पाकेट-साइज) मूल्य)॥
१३२-प्रश्नोत्तरी-श्रीशंकराचार्यकृत (टीकासहित), मूल्य)॥
१३३-सन्ध्या-(हिन्दी-विधि-सहित), मूल्य)॥
१३४-बलिवैश्वदेव-विधि-मूल्य)॥
१३५-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृ० ३५, मूल्य)॥
१३६-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, गुटका, ,,)॥
१३७-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे
मुक्ति-पृष्ठ ३२, गुटका, मूल्य)॥
१३८-ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि
साधन है, पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१३९-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, गुटका, मूल्य)।
१४०-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २०, गुटका,मू०)।
१४१-महात्मा किसे कहते हैं ?-पृष्ठ २०, गुटका, मूल्य)।
१४२-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २२, गुटका, मूल्य)।
१४३-पातञ्जलयोगदर्शन-(मूल), गुटका, मूल्य)।
१४४-नारद-भक्ति-सूत्र-(सार्थ गुटका), मूल्य)।
१४५-गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज,मूल्य)।
१४६-धर्म क्या है ?-मूल्य)।
१४७-दिव्य सन्देश-मूल्य)।
१४८-श्रीहरिसंकीर्तनधुन-मूल्य)।
१४९-कल्याण-भावना ले०-श्रीताराचन्द्रजी पांड्या,गुटका)।
१५०-लोभमें पाप-(गुटका), मूल्य आधा पैसा
१५१-गजलगीता-(,,), मूल्य आधा पैसा
१५२-सप्तश्लोकी गीता-(,,), मूल्य आधा पैसा
१५३-रामायणांक-१६७चित्र,५१२पृष्ठ,मू०२॥≋) स० ३≋)

* * *

सुन्दर, सस्ते, धार्मिक, दर्शनीय चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र सुनहरी—
नेट दाम प्रत्येकका −)॥
बहुरंगे ,, ,, −)
कागज-साइज १०×१५ सुनहरी—
नेट दाम प्रति चित्र)॥
बहुरंगे ,, ,,)।½
कागज-साइज ७॥×१० इञ्च
सुनहरी चित्र, नेट दाम)।½

बहुरंगे ७॥×१० नेट दाम)।
एकरंगे ,, ,, नेट दाम १) सैकड़ा
कागज-साइज ५×७॥ इञ्च
बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा।
चित्रोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

मैनेजर—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

नोट—विशेष जाननेके लिये पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

कल्याणके नियम

उद्देश्य-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है, अतः ग्राहक श्रावणसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु श्रावण-अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेके आरम्भ होते ही कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) श्रावणसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला श्रावण-अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही श्रावणका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर आषाढ़तक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। कल्याणके सातवें वर्षसे भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया जा रहा है।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों, तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक-कल्याण, गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार और उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

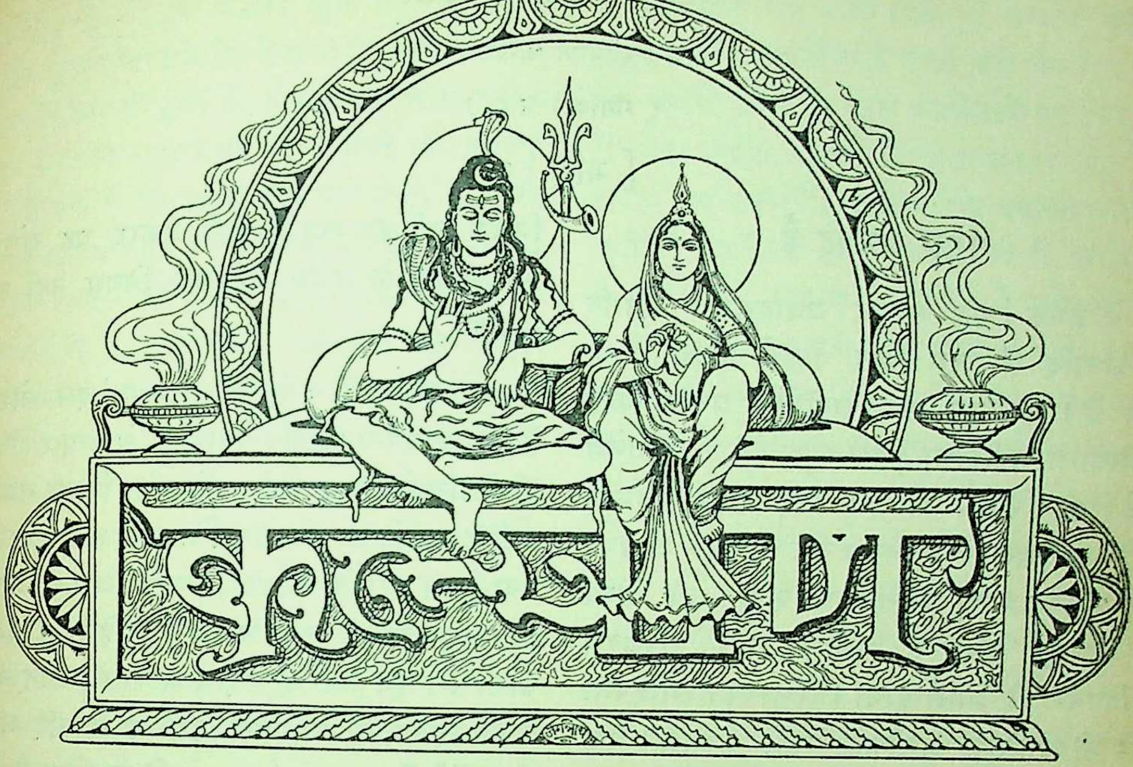

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ गोरखपुर, पौष १९९३, जनवरी १९३७ संख्या ६
पूर्ण संख्या १२६

सुमित्राका त्याग

सुनि रन घायल लषन परे हैं ।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं ॥ १ ॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं ।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं ॥ २ ॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं ।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं ॥ ३ ॥
'तात ! जाहु कपि सँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं ।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं ॥ ४ ॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं ।
'तुलसी' सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥ ५ ॥

—तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

संसार अनादि है

हे जनक ! यह संसार प्रवाहरूपसे अनादि है। अनादि संसारमें कोई पदार्थ सबसे प्रथम नहीं है। इसलिये सब शरीरोंसे प्रथम किस जातिवाला शरीर था ? इस शंकाका उत्तर देनेमें कोई विद्वान् समर्थ नहीं है। यदि वादी वर्तमान शरीरको देखकर यह नियम करे कि इस जीवका मनुष्य अथवा पशु जातिवाला शरीर ही योग्य है, तो पूर्व शरीरोंके अज्ञानसे इस संसारमें सादिपना ही प्राप्त होगा। संसारका सादिपना कोई भी आस्तिक अंगीकार नहीं करता। एक चार्वाक नास्तिकके सिवा सम्पूर्ण आस्तिक संसारको प्रवाहरूपसे अनादि मानते हैं, इसलिये नियमपूर्वक शरीरके समान ही दूसरा शरीर प्राप्त होता है, यह नियम माननेमें संसारका अनादिपना ही नहीं रहेगा।

संसारके सादिपनेका खण्डन—हे जनक ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंमें जैसे यह जाग्रदवस्था सब जाग्रदवस्थाओंमें प्रथम है, यह स्वप्नावस्था सब स्वप्नावस्थाओंमें और यह सुषुप्ति सब सुषुप्ति अवस्थाओंमें प्रथम है, यह नियम नहीं हो सकता, इसी प्रकार इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयमें, यह उत्पत्ति सब उत्पत्तियोंमें, यह स्थिति सब स्थितियोंमें, यह लय सब लयोंमें प्रथम है, यह नियम भी नहीं हो सकता, इसलिये जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों प्रवाहरूपसे अनादि हैं। जैसे कूपमेंसे जल निकालनेके घटीयन्त्रकी रस्सीके साथ बँधे हुए घटीपात्रोंमें यह पात्र सबसे प्रथम है, यह नियम नहीं कर सकते, इसी प्रकार यह संसार सब संसारोंसे प्रथम है, यह नियम नहीं कर सकते।

सत्कार्यवादकी रीति—हे जनक ! इस लोकमें जितने कार्यरूप घटादि पदार्थ हैं, वे उत्पन्न होकर ही स्थितिको प्राप्त होते हों, यह नियम सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व अत्यन्त असत् घटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति मानी जाय तो अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्रकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये, इसलिये उत्पत्तिसे पूर्व घटादि पदार्थ अत्यन्त असत् नहीं हैं किन्तु अपनी उत्पत्तिसे पूर्व मृत्तिकादि अपने कारणोंमें स्थित होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि स्थितिको प्राप्त हुए घटादि पदार्थ उत्पत्तिको प्राप्त होते हैं और उत्पत्तिको प्राप्त हुए पदार्थ फिर स्थितिको प्राप्त होते हैं, और उत्पत्ति, स्थितिके बाद नाशको प्राप्त होते हैं और नाश होनेके बाद फिर कारणरूपसे स्थित होते हैं और कारणरूपसे स्थित हुए फिर उत्पत्तिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार घटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका बारंबार व्यवहार होता है, इसलिये उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय घटीयन्त्रके समान प्रवाहरूपसे अनादि है।

संसारको सादि कहनेवालेसे पूछना चाहिये कि संसारके सादिकालको तू जानता है या नहीं ? यदि वह कहे कि मैं नहीं जानता, तो वह संसारका सादिपना कैसे सिद्ध कर सकता है ? नहीं कर सकता। इसलिये उसकी प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि वादी अत्यन्त दुराग्रहसे कहे कि जिस समय मेरा शरीर उत्पन्न हुआ, उसी समयमें संसारका

सादिपना है, तो यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि उससे पूछना चाहिये कि तेरा शरीर मातापितादि कारणों बिना ही हुआ है, अथवा कारणोंसे उत्पन्न हुआ है। यदि वादी प्रथम पक्ष माने तो सम्भव नहीं है क्योंकि जो पदार्थ कार्यरूप होता है, वह किसी कारणसे ही उत्पन्न होता है। जैसे कार्यरूप घटादि पदार्थ मृत्तिका कुलालादि कारणोंसे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कार्यरूप यह स्थूल शरीर भी किसी कारणसे ही उत्पन्न हुआ होगा, इसलिये वादीका यह कथन अत्यन्त विरुद्ध है कि मेरा शरीर मातापितादि कारणों बिना ही उत्पन्न हुआ है। यदि वादी कहे कि मातापितादि कारणोंसे मेरा शरीर उत्पन्न हुआ है, तो यह पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिसे नियमपूर्वक जो पूर्व हो, उसको बुद्धिमान् कारण कहते हैं, इसलिये अपने शरीरकी उत्पत्तिसे मातापितादि कारणोंकी विद्यमानता अवश्य माननी पड़ेगी, इसलिये वादीकी यह प्रतिज्ञा मिथ्या है कि मेरे शरीरकी उत्पत्तिकालमें संसारका आदिपना है। यदि वादी कहे कि मेरी अपेक्षासे संसार सादि है, मेरे पिता, पितामहादिकी अपेक्षासे सादि नहीं है, यह कथन भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उससे पूछना चाहिये कि तेरे मनमें संसारका क्या स्वरूप है। यदि वह कहे कि स्थूल शरीर संसार है, तब तो उसका कहना ठीक ही है क्योंकि स्थूल शरीरका सादिपना हम भी मानते हैं, किन्तु यह शरीर सब शरीरोंसे प्रथम है, यह बात हम नहीं मानते किन्तु इस शरीरसे पूर्व भी अनेक शरीर हो चुके हैं, ऐसा हम मानते हैं, हमारे इस सिद्धान्तको कोई खण्डन नहीं कर सकता।

यदि वादी कहे कि यह मेरा शरीर सब शरीरोंसे प्रथम है, तो उससे पूछना चाहिये कि तू देहस्वरूप है अथवा देहसे भिन्न है? यदि मैं देहस्वरूप हूँ, यह प्रथम पक्ष वादी माने, तो सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे लोकमें कोई पुरुष कहे कि मेरा घर सब घरोंसे प्रथम है, ऐसा कहनेवाले पुरुषका घरसे भेद प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह मेरा शरीर सब शरीरोंसे प्रथम है इस वचनसे वादीका शरीरसे भेद सिद्ध होता है, इसलिये मैं शरीररूप हूँ, यह कथन अत्यन्त विरुद्ध है। मैं शरीरसे भिन्न हूँ, यह दूसरा पक्ष यदि वादी माने तो उससे पूछना चाहिये कि जब तेरा यह शरीर उत्पन्न नहीं हुआ था, तब तू कहाँ था और इस शरीरके उत्पन्न होनेपर किस प्रयोजनसे तू इस शरीरमें आया है? यदि वादी कहे कि इस शरीरकी उत्पत्तिसे पूर्व और किसी शरीरमें स्थित नहीं था किन्तु अपने आत्मामें स्थित था और इस शरीरकी उत्पत्तिके बाद मैं इस शरीरमें यदृच्छासे आया हूँ। यहाँ वही चिन्तन किये हुए पदार्थकी प्राप्ति करनेवाले स्वभावका नाम यदृच्छा है। ऐसे कहनेवाले वादीसे पूछना चाहिये कि इस शरीरकी प्राप्तिसे पूर्व तू दूसरे शरीरको क्यों प्राप्त नहीं हुआ? जिस यदृच्छासे यह शरीर प्राप्त हुआ है, वह यदृच्छा इस शरीरसे पूर्व तुझे क्यों नहीं हुई? इन दोनों प्रश्नोंका कुछ भी उत्तर वादी नहीं दे सकता।

यदि वादी शरीरके अभावकी सिद्धि करनेको ऐसा अनुमान प्रमाण माने कि यदि इस शरीरसे पूर्व मुझे दूसरे शरीरोंकी प्राप्ति हुई होती, तो इस शरीरमें मुझे स्मरण होता, पूर्व शरीरका स्मरण मुझे है नहीं, इससे सिद्ध होता है कि पूर्वमें मुझे कोई शरीर प्राप्त नहीं हुआ। इस अनुमानका आकार यह है 'मैं पूर्व शरीरोंके अत्यन्ताभाववाला हूँ, पूर्व शरीरोंकी स्मृतिके अभावसे अन्य पुरुषके समान।' वादीका यह अनुमान सम्भव नहीं है क्योंकि जितने पदार्थोंका जीव अनुभव करते हैं, उन सबकी नियमसे किसीको स्मृति नहीं होती, तो वादीका अनुमान पूर्व शरीरोंके अत्यन्ताभावको

सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिये यह व्यभिचारी अनुमान है। इस अनुमानसे किसी अर्थकी सिद्धि नहीं होती। इन दूषणोंके सिवा अनेक प्रकारके दूषण संसारके सादिपनेमें प्राप्त होते हैं, इसलिये संसारको प्रवाहरूपसे अनादि मानना चाहिये। ऐसा माननेसे पुण्यवान्को सुखरूप और पापीको दुःखरूप फल प्राप्त होगा, इस प्रकारकी शास्त्रकी व्यवस्था सुखपूर्वक हो सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि यह जीवात्मा स्थूल शरीरको त्यागकर उसी जातिवाले शरीरको प्राप्त होता हो, इस प्रकारके नियममें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है किन्तु यह तात्पर्य है कि यह संसार अनादि है। अनादि संसारमें जैसे जीवात्मा अब शरीरको प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार पूर्व भी जिस-जिस जातिवाले शरीरको प्राप्त हुआ है, उस-उस जातिवाले शरीरको फिर प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि यह जीवात्मा पशु, पक्षी आदि जिस-जिस शरीरको प्राप्त होता है, उस-उस शरीरके खान, पान, मैथुन आदिका सम्पूर्ण व्यवहार उपदेश बिना ही करता है, इससे सिद्ध होता है कि इस जीवात्माको पशु आदि जातिवाले शरीर पूर्वमें भी प्राप्त हो चुके हैं, इनके संस्कारोंसे उपदेश बिना ही खानपानादि सब व्यवहार करता है। यहाँतक यह अर्थ कथन किया कि जबतक जीवको आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तबतक पुण्य-पापकर्मके वश एक स्थूल शरीर त्यागनेके बाद दूसरा स्थूल शरीर अवश्य प्राप्त होता है, यह शरीर चाहे पूर्व जातिका हो, चाहे विलक्षण हो।

अन्य शरीरप्राप्तिका प्रकार

हे जनक ! क्षत्रियाणी मातामें वैश्य पितासे उत्पन्न हुए पुत्रको शास्त्रवेत्ता उग्र कहते हैं, अथवा हिंसादि उग्र कर्म करनेवाले पुरुषका नाम उग्र है। अथवा हीन जातिवाली मातामें उत्कृष्ट जातिवाले पितासे उत्पन्न हुए पुत्रको शास्त्रवेत्ता अनुलोम कहते हैं और उत्कृष्ट जातिवाली मातामें निकृष्ट जातिवाले पितासे उत्पन्न हुए पुत्रको शास्त्रवेत्ता प्रतिलोम कहते हैं। इन अनुलोम और प्रतिलोम नामके पुरुषोंको शास्त्रवेत्ता उग्र कहते हैं। ब्राह्मणी मातामें क्षत्रिय पितासे उत्पन्न हुए पुत्रको शास्त्रवेत्ता सूत कहते हैं। इन सूत नामक पुरुषोंकी दो प्रकारकी जीविका होती है। कोई तो सारथी होते हैं और कोई भागवतादि पुराणोंके ज्ञाता होते हैं। अथवा राजाके धनसे अपने कुटुम्बका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों तथा अनुलोमा-प्रतिलोमा नामके पुरुष, इन सबको शास्त्रवेत्ता सूत कहते हैं। अथवा माताके उदरसे निकलनेवाले प्राणीका नाम सूत है। सूत शब्दका यह अर्थ सब देहधारियोंमें घटता है। पापी पुरुषको दण्ड देनेवाले राजाके भृत्य और नगरके लोगोंको नीतिमार्गमें चलानेवाले प्रधानादि, इनको शास्त्रवेत्ता प्रत्येनस कहते हैं। ग्रामके लोगोंको नीतिमार्गमें चलानेवाले पुरुषोंको ग्रामणी कहते हैं। हे जनक ! इस प्रकारके उग्र, सूत, प्रत्येनस तथा ग्रामणी और इनके सिवा राजाके धनसे कुटुम्बका पोषण करनेवाले अन्य पुरुष जब देशके राजाका आगमन सुनकर राजाके सम्मुख होते हैं तब राजाकी प्रसन्नताके लिये अनेक प्रकारके कौतुक और मंगलगान करते हैं। कोई तुरही बजाता है, कोई कानोंको आनन्ददायक गान करता है और कोई आरती करता है, इत्यादि अनेक कौतुक करते हुए अपने महाराजाके सामने आते हैं। और महाराजाके आनेसे पूर्व ही ये लोग इस प्रकारकी व्यवस्था कर रखते हैं कि इस गृहमें महाराजा निवास करेंगे, इस घरमें प्रधान मन्त्री निवास करेंगे, इस गृहमें महाराजकी सेना निवास करेगी, इस प्रकार राजाके निवासके लिये नाना प्रकारके गृहोंकी कल्पना करके वे उग्रादि पुरुष उन गृहोंमें शरीर, मन और नेत्रादि इन्द्रियोंको सुख देनेवाले अन्न-वस्त्रादि पदार्थ यथायोग्य रख देते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारकी सामग्री

तैयार करके वे उग्रादि पुरुष नगरको छोड़कर महाराजाका अभिनन्दन करनेको दूर जाते हैं और महाराजा अभी आनेवाले हैं, इस समय आवेंगे, अब आनेमें इतनी देर है इत्यादि परस्पर महाराजाकी बातें करते हैं। हे जनक! इसी प्रकार यह जीवात्मारूप महाराजा इस स्थूल शरीरको त्यागकर जब दूसरे शरीरको प्राप्त होनेको होता है, तब जीवके कर्मानुसार भोग देनेवाले आदित्यादि देवता और दूसरे शरीरके आरम्भक पञ्चभूत सम्पूर्ण भोगसामग्री तैयार करके इस जीवात्मारूप महाराजाके आगमनकी बाट देखते हुए परस्पर इस प्रकार वार्ता करते हैं—हमारा कर्ता, भोक्ता यह जीवात्मारूप महाराजा देवदत्त नामक पुरुषका पुत्र होनेको उसकी ऋतुस्नाता पत्नीमें जन्म लेनेको अभी आता है।

जनक—हे भगवन्! यह जीवात्मारूप महाराजा इस स्थूल शरीरको त्यागकर अकेला ही दूसरे शरीरमें जाता है, अथवा कोई वस्तु साथ ले जाता है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! जैसे महाराजा जब अपनी पुरी छोड़कर दूसरी पुरीमें जानेकी इच्छा करता है, तो महाराजाके अभिप्रायको जानकर उग्रादि भृत्य उसके साथ जाते हैं, इसी प्रकार जब यह जीवात्मारूप महाराजा इस स्थूल शरीरको छोड़कर परलोकमें जाना चाहता है तब वागादि दश इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण तथा अन्तःकरण ये सब जीवात्माके साथ जाते हैं।

संसार और संसारके साधन

हे जनक! मरणकालमें अत्यन्त दुर्बलताको प्राप्त हुआ जीवात्मा जब वागादि इन्द्रियोंसे किसी पदार्थको नहीं जानता तब वागादि इन्द्रियोंको उनके स्थानोंसे लेकर जीवात्मा हृदयाकाशमें आता है। हे जनक! जैसे सुषुप्ति अवस्थामें यह जीवात्मा वागादि इन्द्रियोंको लेकर हृदयदेशमें मायाविशिष्ट परमात्माके साथ अभेदभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार मरणकालमें भी सब इन्द्रियोंको लेकर हृदयदेशमें परमात्माके साथ अभेदभावको प्राप्त होता है। उस समय यह जीवात्मा किसी इन्द्रियसे किसी पदार्थको ग्रहण नहीं करता किन्तु इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होता है। यह बात केवल शास्त्रमें ही प्रसिद्ध नहीं है किन्तु लोकमें भी प्रसिद्ध है क्योंकि जब यह पुरुष मरणावस्थाको प्राप्त होता है, तब स्त्री-पुत्रादि बान्धव इसको भूमिमें शयन कराके परस्पर इस प्रकार कहते हैं 'अब यह मेरा पिता मेरी तरफ नहीं देखता, मेरे वचनको भी नहीं सुनता, कण्ठमें पड़ी हुई पुष्पमालाकी गन्धको नहीं सूँघता, मुखमें डाले हुए दधिके रसको भी ग्रहण नहीं करता, हमारे साथ बोलता भी नहीं है, हमारा स्पर्श भी नहीं करता, सर्व इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है, इससे जान पड़ता है कि मन अथवा बुद्धिसे भी यह किसीको नहीं जानता! जैसे सुषुप्तिमें हमलोगोंकी सर्व इन्द्रियाँ व्यापारसे रहित होती हैं, इसी प्रकार मरणकालमें यह मेरा पिता सर्व इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है। इस समय मेरे पिताकी सर्व इन्द्रियाँ हृदयमें जाकर एकत्र हुई हैं, इसलिये यह किसी इन्द्रियका व्यापार नहीं करता।' हे जनक! इस प्रकारके लोगोंके वचनसे भी मरणकालमें सर्व इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव और हृदयमें उनकी स्थिति सिद्ध होती है।

हे जनक! मरणकालमें यह जीवात्मा परमात्माके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर यद्यपि अन्य सर्व विशेष ज्ञानोंसे रहित होता है, तो भी परलोकगमनके अनुकूल ज्ञानका अभाव नहीं होता बल्कि परलोकका मार्ग दिखानेके लिये चिदाभासयुक्त वृत्तिसे हृदयका अग्रभाग प्रकाशमान होता है। यही बात दृष्टान्तसे स्पष्ट करता हूँ। जैसे महाराजा अपनी पुरी छोड़कर जब दूसरी पुरीमें

जानेकी इच्छा करता है तब राजाके चलनेके मार्गमें अनेक प्रकारके दीपक प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार यह जीवात्मारूप महाराजा स्थूल शरीरको त्यागकर जब परलोक जाना चाहता है तो हृदयके अग्रभागरूप राजमार्गको चिदाभासयुक्त वृत्तिरूप दीपक प्रकाश करता है। पश्चात् यह जीवात्मारूप महाराजा इस स्थूल शरीरसे ग्यारह द्वारोंमेंसे किसी एक द्वारसे बाहर निकलता है। ग्यारह द्वारोंके ये नाम हैं—दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो नासिका, मूर्धद्वार, मुख, नाभि, उपस्थ और पायु ये ग्यारह द्वार हैं !

द्वारोंमेंसे निकलनेका फल—हे जनक ! मरणकालमें यह जीवात्मा यदि पायुद्वारसे बाहर जाता है तो नरकको प्राप्त होता है, उपस्थ द्वारसे निकलता है तो अत्यन्त कामातुर कपोतादि शरीरोंको प्राप्त होता है। यदि नाभिद्वारसे निकलता है तो प्रेतशरीरको प्राप्त होता है। यदि मुखद्वारसे निकलता है तो अन्नमें अत्यन्त आसक्त प्राणियोंके शरीरको प्राप्त होता है। यदि नासिकाद्वारसे निकलता है तो गन्धमें आसक्त प्राणियोंके शरीरको प्राप्त होता है। यदि श्रोत्रद्वारसे निकलता है तो गन्धर्वलोकको प्राप्त होता है। यदि चक्षुद्वारसे निकलता है तो सूर्य, चन्द्र अथवा अग्निलोकको प्राप्त होता है। यदि मूर्धद्वारसे निकलता है तो ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। हे जनक ! इन ग्यारह द्वारोंमें पायुद्वारसे परे कोई निकृष्ट द्वार नहीं है और मूर्धद्वारसे परे कोई उत्कृष्ट द्वार नहीं है। इन दोनों द्वारोंके सिवा दूसरे द्वारोंमें किसी द्वारकी अपेक्षासे उत्कृष्टता है और किसीकी अपेक्षासे निकृष्टता है।

हे जनक ! जब बुद्धिरूपी ज्ञानशक्तिवाला जीवात्मा स्थूल शरीरको छोड़कर बाहर जाता है, तो क्रियाशक्तिवाला प्राण भी उसके साथ जाता है। वागादि इन्द्रियाँ भी प्राणके साथ ही बाहर निकलती हैं। जैसे सुषुप्तिमें यह जीवात्मा सर्व विशेष ज्ञानसे रहित होता है, इसी प्रकार मरणकालमें हृदयदेशमें परमात्माके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर सर्व विशेष ज्ञानसे रहित हुआ भी जीवात्मा फिर विशेष ज्ञानको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्तिमें तो सर्व विशेष ज्ञानका अभाव होता है और मरणकालमें दो प्रकारका ज्ञान होता है। एक तो हृदयके अग्रभागरूप मार्गको विषय करनेवाला ज्ञान और दूसरा इस शरीरके त्यागनेके बाद प्राप्त होनेवाले भावी शरीरको विषय करनेवाला ज्ञान। इन दो प्रकारके ज्ञानोंके सिवा अन्य सर्व विशेष ज्ञानोंका अभाव होता है, इतनी ही सुषुप्तिसे मरण-अवस्थामें विशेषता है।

हे जनक ! पुण्य-पापके फल सुख-दुःखको भोगनेवाला यह जीवात्मा जब शरीरसे बाहर निकलता है तब पूर्व-पूर्व शरीरोंमें अनुभव किये हुए पदार्थोंके संस्कार तथा पुण्य-पापरूप कर्म ये दोनों जीवात्माके साथ जाते हैं। उनमेंसे कर्म तो सुख-दुःख भोगनेके अनुकूल शरीरकी प्राप्ति कराते हैं और पूर्वके संस्कार इस जीवको उस-उस जातिवाले शरीरके व्यवहारमें प्रवृत्त करते हैं। हे जनक ! स्थूल शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरके आलम्बन बिना यह जीव स्थित नहीं होता किन्तु दूसरे शरीरके आलम्बनसे ही पूर्व शरीरका परित्याग करता है। जैसे तृणजलौका कृमि दूसरे तृणका आलम्बन करके ही प्रथम तृणका त्याग करता है, आलम्बन बिना प्रथम तृणका त्याग नहीं करता, यह बात लोगोंके अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी भावी शरीरका आलम्बन करके ही इस स्थूल शरीरका त्याग करता है, आलम्बन बिना नहीं करता। दूसरा दृष्टान्त यह है—जैसे इस लोकमें कोई महाराजा अथवा धनी पुरुष अपने जीर्ण घरका त्याग करता है, तो दूसरा नवीन गृह सम्पादन किये बिना

त्याग नहीं करता किन्तु नवीन गृह सम्पादन करके ही पूर्वके जीर्ण गृहका परित्याग करता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी दूसरे भावी शरीरके आलम्बन विना प्रथम शरीरका त्याग नहीं करता।

जनक—हे भगवन् ! जो पदार्थ परिच्छिन्न होता है वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाता है। जैसे घटादि परिच्छिन्न पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते हैं। आत्मादेव परिच्छिन्न है नहीं, किन्तु सर्वत्र पूर्ण है, इसलिये आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना सम्भव नहीं है। यदि आत्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जायगा तो घटादिके समान परिच्छिन्न हो जायगा।

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! यह आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि वस्तुतः सर्वत्र परिपूर्ण तथा सर्वभेदसे रहित है, इसलिये आत्माका परलोकमें जाना सम्भव नहीं है तो भी जैसे परिपूर्ण आकाश घटरूप उपाधिके सम्बन्धसे आता-जाता है, इसी प्रकार बुद्धिरूप उपाधिके तादात्म्यसम्बन्धसे यह परिपूर्ण आत्मा भी लोकान्तरमें आता-जाता है। तात्पर्य यह है कि घटरूप उपाधिके सम्बन्धसे आकाशमें आना-जाना प्रतीत होता है, विचारकर देखा जाय तो आकाशमें आना-जाना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार बुद्धिउपहित आत्मामें आना-जाना प्रतीत होता है, विचारकर देखा जाय तो आत्मामें आना-जानारूप क्रिया सम्भव नहीं है किन्तु बुद्धिरूप उपाधिसे ही सम्भव है।

शङ्का—हे भगवन् ! तृणजलौकाके समान इस शरीरमें स्थित बुद्धि दूसरे शरीरको प्राप्त होती है, यह आपका कथन नहीं बनता क्योंकि परिच्छिन्न मूर्त पदार्थका दूसरे देशके साथ क्रियाजन्य सम्बन्ध होता है, यह सम्बन्ध पूर्व देशके विभाग विना नहीं हो सकता किन्तु प्रथम क्षणमें मूर्त पदार्थमें क्रिया होती है, दूसरे क्षणमें मूर्त पदार्थका पूर्व देशके साथ विभाग होता है, तीसरे क्षणमें मूर्त पदार्थका पूर्व देशके साथ जो संयोग-सम्बन्ध है, उस संयोगका नाश हो जाता है। चौथे क्षणमें मूर्त पदार्थका उत्तर देशके साथ संयोग होता है और पाँचवें क्षणमें मूर्त पदार्थकी क्रियाका नाश हो जाता है। इस प्रकार पूर्व देशके साथ विभाग होनेके बाद ही मूर्त पदार्थका उत्तर देशके साथ सम्बन्ध होता है, इसलिये मरणकालमें एक शरीरमें स्थित बुद्धिका दूसरे शरीरके साथ सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

समाधान—हे जनक ! जैसे तेजरूप चक्षु इन्द्रिय अपने गोलकमें स्थित हुआ ही वृत्तिद्वारा सूर्य-चन्द्रादि दूर देशमें प्राप्त होती है, इसी प्रकार पूर्वकर्मवश पूर्वसंस्कारके प्रभाव और परमेश्वरकी इच्छासे एक शरीरमें स्थित बुद्धि भी वृत्तिद्वारा दूसरे भावी शरीरको प्राप्त होती है। यदि चक्षु इन्द्रिय अपने गोलकको त्यागकर सूर्यमण्डलादि देशको प्राप्त होती हो, तो चक्षु इन्द्रियके जानेके बाद यह पुरुष अन्धा होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता; इससे सिद्ध होता है कि गोलकको विना त्यागे ही चक्षु इन्द्रिय दूर देशमें जाती है, इसी प्रकार बुद्धि भी भावी शरीरको प्राप्त होती है।

शङ्का—हे भगवन् ! जैसे मरणकालमें बुद्धि दूर देशको प्राप्त होती है, इसी प्रकार जीवित अवस्थामें वृत्तिद्वारा भावी शरीरको क्यों नहीं प्राप्त होती ?

समाधान—हे जनक ! जब वर्तमान शरीरके भोग देनेवाले कर्मोंका क्षय हो जाता है और भावी शरीरके भोग देनेवाले कर्मोंका आविर्भाव होता है, तभी परमात्मासे प्रेरी हुई बुद्धि वृत्तिद्वारा भावी शरीरको प्राप्त होती है, अन्य कालमें प्राप्त नहीं होती।

शङ्का—हे भगवन् ! यदि मरणकालमें बुद्धि भावी शरीरको प्राप्त होती हो, तो मैं दूसरे शरीरको प्राप्त हुई हूँ, ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता ?

समाधान—हे जनक ! जैसे चक्षु इन्द्रिय जड और अत्यन्त वेगवाली है, इसलिये सूर्यादि मण्डलमें प्राप्त होनेका अनुभव नहीं करती, इसी प्रकार बुद्धि भी पञ्चभूतोंका कार्य होनेसे जड और अत्यन्त वेगवाली है, इसलिये भावी शरीरको प्राप्त होकर भी मैं प्राप्त हुई हूँ, ऐसा अनुभव नहीं करती। और पूर्व तृणजलौकाके दृष्टान्तसे जीवको दूसरे शरीरकी प्राप्ति जो कही है, उसका यह अभिप्राय है कि जैसे कोई महाराजा जीर्ण गृहको त्यागकर नवीन घरमें जाना चाहता है, तो उसके भृत्य उसका अभिप्राय जानकर दूसरा नवीन गृह तैयार करते हैं और महाराजाके आनेसे पूर्व ही हस्ती, अश्वादि राज्यसामग्रीको वहाँ ले जाते हैं और उस सामग्रीको देखकर नगरवासी परस्पर कहते हैं कि राजा आया है, राजा आया है। यद्यपि महाराजा उस समय जीर्ण गृह अथवा मार्गमें ही है तो भी अश्वादि सामग्रीको देखकर नगरवासी कहते हैं कि यह राजा नवीन गृहमें आया है, इसी प्रकार यह जीवात्मारूप महाराजा जब स्थूल शरीररूप जीर्ण गृहका परित्यागकर मरणके बाद दूसरे शरीररूप नवीन गृहको प्राप्त होता है जो कर्मरूप भृत्य पञ्चभूतोंसे दूसरे शरीरको तैयार करते हैं, वहाँ जीवात्मारूप महाराजाके पूर्वशरीरमें स्थित हुए ही कर्मरूप भृत्य प्रथम बुद्धिवृत्तिरूप राजसामग्रीको भावी शरीरमें ले जाते हैं। इस अभिप्रायसे ही तृणजलौकाके दृष्टान्तसे जीवात्माको भावी शरीरकी प्राप्ति कही है।

हे जनक ! यही बात स्पष्ट करके कहता हूँ—यह जीवात्मा इस स्थूल शरीरको त्यागकर जिस भावी शरीरको प्राप्त होता है, वह भावी शरीर जीवात्माके भविष्यद्भोगका साधन है और जिस शरीरको त्यागता है, वह पूर्वभोगका साधन है, इसलिये इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध सम्भव है, जैसे कोई पुरुष अपने शरीरमें पुष्पोंकी माला अथवा वस्त्र धारण करता है और जब वे जीर्ण हो जाते हैं, तो दूसरी माला अथवा वस्त्र धारण करनेकी इच्छासे उनको बारंबार देखता है, इसी प्रकार मरणकालमें स्थूल शरीरके त्यागकी इच्छा करता हुआ जीवात्मा पुण्य-पाप-कर्मानुसार भावी शरीरको देखता है। तात्पर्य यह है कि मरणकालमें जीवात्माको पुण्य-पाप-कर्मके अनुसार भावी शरीरका जो ज्ञान है, वह ज्ञान ही भावी शरीरकी प्राप्ति है । जैसे दाह और प्रकाश करनेवाला प्रज्वलित अग्नि तादात्म्यसम्बन्धसे लोहपिण्डको अपने समान दाह और प्रकाश-शक्तिवाला करता है और जब लोहपिण्डका त्याग करता है तो वह लोहपिण्ड दाह और प्रकाश-शक्तिसे रहित अपने पूर्व स्वभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार यह आत्मादेव भी तादात्म्यसम्बन्धसे इस जड शरीरमें चैतन्यभाव प्राप्त करता है और जब इस शरीरको त्यागता है तब स्थूल शरीर अपने पूर्व स्वभावको प्राप्त हो जाता है। जैसे अग्निका त्याग ही लोहपिण्डका हनन है, इसी प्रकार जीवात्माका स्थूल शरीरको त्यागना ही स्थूल शरीरका मरण है। यह आनन्दस्वरूप आत्मा अपने तादात्म्यसम्बन्धसे जैसे पूर्वके शरीरको चैतन्य करता था और अपने सुखका साधन मानता था, इसी प्रकार दूसरे शरीरको अपने तादात्म्यसे चैतन्य करता और अपने सुखका साधन मानता है। हे जनक ! जैसे सुनार एक ही सुवर्णपिण्डसे कभी कंकण कभी कुण्डल बनाकर एक ही सुवर्णपिण्डको नाना भावकी प्राप्ति कराता है, इसी प्रकार यह परमात्मादेव भी एक ही अविद्यासे कभी मनुष्य, कभी देवता और कभी पशुशरीर उत्पन्न करके एक ही अविद्याको नाना शरीरभावकी प्राप्ति कराता है।

शङ्का—हे भगवन् ! लोकमें कारणकी विलक्षणतासे कार्यकी विलक्षणता होती है। जैसे मृत्तिका और तन्तुरूप कारणकी विलक्षणतासे घट

और पटरूप कार्यकी विलक्षणता होती है। कारणोंकी विलक्षणता बिना कार्योंकी विलक्षणता नहीं होती। यहाँ प्रसंगमें मनुष्यादि शरीरोंका परिणामी उपादानकारण अविद्या एक है और विवर्त उपादानकारण चेतन भी एक है, फिर मनुष्यादि शरीरोंमें विलक्षणता क्यों है ?

समाधान—हे जनक ! यद्यपि चेतन आत्मा तथा अविद्यारूप कारण एक ही है, तो भी जीवोंका पुण्य-पापरूप कर्म विलक्षण है, इसलिये शरीररूप कार्य भी विलक्षण होते हैं, मरणकालमें भावी शरीरके भोग देनेवाले कर्मोंका प्रादुर्भाव होनेसे जीवात्मा पूर्वके उत्कृष्ट शरीरको भी निकृष्ट जानता है और भावी निकृष्ट शरीरको भी उत्कृष्ट मानता है।

शङ्का—हे भगवन् ! आपके इस कथनमें मुझे आश्चर्य होता है, उत्कृष्टको निकृष्ट और निकृष्टको उत्कृष्ट मानना असम्भव-सा है।

समाधान—हे जनक ! आश्चर्य मत कर, मरणकालमें पापकर्मके प्रभावसे बुद्धि विपरीत हो जाती है इसलिये उत्कृष्ट शरीरको निकृष्ट और भावी निकृष्ट शरीरको उत्कृष्ट मानता है। जैसे कोई व्यभिचारिणी स्त्री किसी धनी पुरुषको किसी मन्त्र या ओषधिके प्रभावसे वश कर लेती है। वह व्यभिचारिणी चाहे कुष्ठरोगसे युक्त, मृत्तिकासे आवृत तथा कर्ण-नासिकासे हीन हो, तो ऐसी कुरूपिणीको भी धनी पुरुष इन्द्राणीके समान सुन्दर मानता है और कुलीन, पतिव्रता सुन्दर स्त्रीको निकृष्ट मानकर उसका परित्याग करता है, यह बात लोकमें प्रसिद्ध है, इसी प्रकार मरणकालमें पाप कर्मसे मोहित जीवात्मा देवता और चक्रवर्तीके शरीरको निकृष्ट मानता है और भावी श्वानादि नीच शरीरोंको उत्कृष्ट मानता है।

हे जनक ! मरणकालमें जब इस जीवात्माका कोई पूर्वका पुण्यफल देनेको सम्मुख होता है, तो जीवात्मा स्थूल शरीरको त्यागकर पूर्व पुण्यकर्म और शुभ संस्कारोंके प्रभावसे पितरलोक, गन्धर्वलोक, देवलोक, प्रजापतिलोक अथवा ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट शरीरको प्राप्त होता है, और जब पुण्यपाप दोनों सम्मुख होते हैं तो यह जीवात्मा स्थूल शरीरको त्यागकर मनुष्यशरीरको प्राप्त होता है। और जब पापकर्म सम्मुख होता है, तो श्वानादि नीच शरीरोंको प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त आत्मज्ञानरहित प्राणी पुण्यपापके वशसे संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं।

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलानाथजी महाराज)

१. प्रश्न—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

उत्तर—रोटी क्यों खानी चाहिये ? पानी क्यों पीना चाहिये ? श्वास क्यों लेना चाहिये ? सोना क्यों चाहिये ? इन प्रश्नोंका यही उत्तर मिलता है कि क्षुधाका कष्ट विवश करता है कि खाना खाओ। प्यास पानी पीनेको विवश करती है। जीवन श्वास लेनेको विवश करता है। थकावट सोनेको विवश करती है। इसी प्रकार कष्ट और दुःखका संसारमें अनुभव और दुःखका संसारमें होना विवश करता है कि ईश्वरको जानो। यदि संसारमें दुःख न होता अथवा संसारमें दुःखका प्रतीकार होता तो अवश्य इस प्रश्नकी उपेक्षा कर दी जाती। परन्तु आजतक किसी दार्शनिक, महात्मा या वैज्ञानिकने हमको यह नहीं बताया कि संसारमें कष्टको दूर करनेका क्या उपाय है।

इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान (साइन्स) ने दुःखको कम करनेकी बहुत-सी रीतियाँ समझायीं अपितु शुद्धभावसे बहुत सीमातक इस दुःखको दूर करनेका यत्न किया जिसके लिये मेरे हृदयमें असीम कृतज्ञता है। परन्तु शोक ! ऐसा करनेसे संसारका दुःख कम न हुआ। बाह्य उन्नतिसे हार्दिक उन्नति न मिली। विज्ञानने क्या किया—हवाई जहाज़ बनाये, रेलें बनायीं, तार बनाये, जहाज़ बनाये, बिजलियाँ निकालीं, इत्यादि। इनसे मनुष्यको बहुत आराम मिला। दुःख कम हुआ परन्तु क्यों इन बातोंसे हार्दिक शान्ति नहीं मिली ? सकल सुख-साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी हैरान हैं और पूछते हैं कि शान्ति कहाँ है ?

पूर्वकालमें यदि युद्ध होते थे तो शस्त्र कम होनेके कारण लोगोंपर आक्रमण निर्बलरूपमें होता था और जीवन कम नष्ट होते थे। अब विज्ञानने इस प्रकारके शस्त्रास्त्र प्रत्येक देशमें तैयार कर दिये जिनसे बहुत अधिक मनुष्योंका संहार सामान्यसे प्रयत्नसे हो सकता है। यह मानव-उन्नति मनुष्यकी ही हत्याके लिये हुई। विषय-भोगकी सामग्री जितनी बढ़ी उतनी ही ईर्ष्या, एक दूसरेसे बढ़नेकी डाहभरी इच्छा, बढ़ती गयी। परिणाममें एक दूसरेसे हार्दिक वैर हो गया। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि यह सब व्यर्थ हुआ। पर हाँ, इससे चैन नहीं मिला।

जिस शान्तिकी खोजमें विज्ञान और संसारका प्रत्येक परमाणु लगा हुआ है वह संसार और उसके पदार्थोंमें विद्यमान नहीं है। परन्तु इस वैज्ञानिक उन्नतिने हमें वह शिक्षा दी जिसकी प्राप्ति अन्य हर प्रकारसे कठिन थी। इसका कहना है कि तुम लोग जिन पदार्थोंमें आराम चाहते हो वह इनमें नहीं; देख लो मैंने संसारकी आत्यन्तिक उन्नतिका दृश्य तुम लोगोंके सम्मुख ला रक्खा है परन्तु फिर भी उस सुखका कोई पता ही नहीं मिला जिसकी खोजमें स्वभावतः ही प्रत्येक व्यक्ति है। यदि यह उन्नति न होती तो यह विचार बना रहता कि शायद इस प्रकारकी उन्नति होनेसे वह सुख मिल जाता। विज्ञानने बहुमूल्य अनुभव अपने सच्चे और न थकनेवाले प्रयत्नोंसे हमारे समक्ष रक्खा है जिसके लिये इस (विज्ञान) को अपार धन्यवाद है। लौकिक दृष्टिसे सुख-साधनमें जो उन्नति हो सकती है वह इसने प्रस्तुत की। परन्तु फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इससे पूर्ण सुख मिला ?—जिसका उत्तर चारों ओरसे यही मिलता है कि 'नहीं'।

क्या आप इस दुःखमें प्रसन्न रह सकते हैं ? नहीं। क्या आप सुखकी खोज और इच्छाको छोड़ सकते हैं ? नहीं।

अब संसारमें तो सुख नहीं और सुखकी खोज छूटती नहीं, फिर क्या करें ? इसका उत्तर यही मिलता है कि या तो भटक-भटककर उस मृगकी भाँति मर जायँ जो प्यासका मारा मरुभूमिमें माया-मरीचिकाके पीछे दौड़ता है, पर वहाँ कहीं भी उसे पानी नहीं मिलता और इससे तड़पकर प्राण त्याग देता है और या किसीसे पूछकर जलकी खोज करें।

अब इस प्रश्नका क्या उत्तर है ? क्या आप संसारमें सुखको पा सकते हैं ? या किसीने पाया है ? अथवा इस सुखकी खोजको छोड़ सकते हैं ? तो उत्तर केवल 'नहीं' मिलता है। हाँ ! इस उत्तरमें कितनी बेबसी और कितना दुःख है ! परन्तु इसका यही एक उत्तर है कि कोई प्रश्न

बिना उत्तरके नहीं हो सकता । जिसका उत्तर नहीं, वह प्रश्न ही नहीं । कोई आवश्यकता बिना पदार्थके उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसके प्रति पदार्थ नहीं वह आवश्यकता ही नहीं ।

यह सिद्धान्त माना हुआ है; थोड़े-से मननके पश्चात् समझमें आ सकता है ।

फिर इस प्रश्नका उत्तर क्या है कि सुख कैसे मिले ? उत्तर केवल यही है कि ईश्वरको जानो । ईश्वर हमारी उस आवश्यकताकी पूर्त्ति है जो संसारसे पूरी नहीं हो सकती । मेरे विचारमें अब तो समझमें आ गया होगा कि हमें ईश्वरको क्यों जानना चाहिये ।

किसीने पूछा किसीसे जाकर हुसूले[1] वहदतमें लुत्फ़[2] है कुछ ?
लगे वो कहने तलाशे[3] क़तरामें बहर[4] मिलना मलाल[5] है क्या ?
'नाथ'

२. प्रश्न–ईश्वरको न माननेसे क्या-क्या हानियाँ हैं ?

उत्तर–यह स्वयमेव विदित हो जायगा जब कि प्रथम उसके जाननेके लाभ ज्ञात हो जायँगे । परन्तु इस प्रश्नपर विचार करनेसे पूर्व यह देखना है कि ईश्वर क्या वस्तु है ? ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, दयालु और मोक्षके देनेवाले हैं । अतः ईश्वरसे मिलनेके लाभ हुए कि हमको वह आनन्द मिलेगा जिसकी हमको खोज है; और उस सर्वशक्तिमान्से सम्बन्ध जोड़नेसे हमारी निर्बलताएँ दूर होंगी और सर्वव्यापक समझनेसे पाप कम होंगे, चित्त प्रसन्न रहेगा, दयालु समझनेसे धैर्य स्थिर रहेगा और न माननेसे इसके विपरीत सब बातें होंगी अर्थात् अशान्ति रहेगी जोकि सब दुःखोंकी जननी है ।

३. प्रश्न–ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर–ईश्वरकी सत्ताका मुख्य प्रमाण तो हमारी आवश्यकता तथा हमारी इच्छा है जिसका उत्तर संसारमें नहीं मिलता । दृष्टान्तके रूपमें पतङ्गके हृदयमें दीपकके प्रति प्राकृतिक प्रेम है, वह प्रत्येक वस्तुके पास बैठा हुआ यह समझता है कि मैं इसके लिये नहीं और न यह मेरे लिये है क्योंकि उसको उसमें शान्ति नहीं मिलती परन्तु जिस समय वह दीपकको देखता है तो तत्क्षण समझ लेता है कि यह वही वस्तु है जिसके लिये मैं बेचैन था ।

संक्षेपतः जीवकी स्वाभाविक परमानन्दकी इच्छा ही ईश्वरके अस्तित्वका मुख्य प्रमाण है क्योंकि संसारकी कोई वस्तु पूर्ण आनन्द नहीं दे सकती ।

दूसरे—संसारका दृश्य और उसका नियम ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण बनता है । बताइये वह कौन शक्ति है जिसने शिशुके लिये जन्मते ही स्तनोंमें दूध उत्पन्न किया ? नेत्रोंके लिये सूर्य किसने बनाया ? जीवनके लिये वायु किसने उत्पन्न की ? इत्यादि ।

वह शक्ति निर्जीव है वा सजीव अर्थात् जड है वा चेतन ? यदि निर्जीव वा जड है तो उसने यह समझा क्योंकर ? और यदि चेतन है तो वह अल्पशक्ति है वा सर्वशक्ति ? पुनः यदि अल्पशक्ति है तो उसने यह सब कुछ कैसे बनाया ? और यदि सर्वशक्ति है तो फिर वही ईश्वर है ।

तीसरे—दूधमें माखन होता है पर दिखायी नहीं देता । परन्तु बिलोनेसे मिल जाता है । इसी प्रकार ईश्वर हृदयमें विद्यमान है, परन्तु हृदयकी शुद्धिसे मिलता है । हम नेत्र बंद करके सूर्यकी सत्ताका प्रमाण पूछते हैं । यदि कोई अन्धा सूर्यको उसके प्रकाशसे नहीं देख सकता तो फिर मोमबत्तीसे उसको कैसे देखेगा ?

चौथे—अच्छा ! जलके अस्तित्वका प्रमाण क्या है ? प्यास । और वायुकी सत्ताका प्रमाण ?—श्वास लेनेकी आवश्यकता । इसी प्रकार हमारी निर्बलताएँ और संसारमें आनन्दका अभाव उसकी सत्ताका बड़ा प्रमाण है । बिन्दु समुद्रका प्राकृत प्रमाण है । किरण सूर्यको प्रकाशित करती है । व्यष्टि समष्टिका प्रमाण है । अतः हमारा जीवत्व ही ईश्वरत्वका प्रमाण है । यदि ईश्वर न होता तो हम संसार और उसके पदार्थोंमें ही प्रसन्न रहते, क्योंकि फिर हमारा मूलतत्त्व यह संसार ही होता और प्रत्येक मनुष्य अपने मूलसे मिलकर प्रसन्न होता । परन्तु यहाँ कोई प्रसन्न नहीं । वह किसी अन्य वस्तुको पाना चाहता है । राजा, महाराजा, महात्मा, दार्शनिक विद्वान्–सब किसी वस्तुकी खोजमें हैं । वह वस्तु क्या है ?–ईश्वर । यह आँखमिचौनीका खेल है । हम उसको बाहर ढूँढते

---

[1] –एकत्वप्राप्ति । [2] –आनन्द । [3] –बूँदकी खोज । [4] –समुद्र । [5] –रंज़ ।

हैं, वह हृदयमें छिपा बैठा है; क्योंकि वह यह जानता है है कि यहाँ मुझे ढूँढ़ने सहसा कोई आवेगा नहीं ! कौन समझ सकता है कि जिसको मुझे पकड़ना है वह मेरे ही अन्दर आकर छिप गया होगा ? यदि कोई ईश्वरके अस्तित्वको समझना चाहे तो वह प्रथम उसकी आवश्यकता प्रतीत करे, जिस प्रकार तृषार्तको जलकी होती है और क्षुधापीडितको भोजनकी। तत्पश्चात् एकान्तमें जाकर ईश्वरसे प्रार्थना करे–व्याकुलताके साथ–तड़पके साथ–आँसुओंके साथ करे और कहे कि हे ईश्वर ! मुझे आपकी आवश्यकता है, मेरी बुद्धि मुझे भ्रान्तिमें डालती है, मेरी निर्बलताकी ओर देखकर मुझे अपनी सत्ताका प्रमाण दो। मैं आपकी परीक्षा नहीं लेता अपितु विश्वास चाहता हूँ—

माना कि तेरी दीदके[1] क़ाबिल[2] नहीं हूँ मैं,
तू मेरा शौक़[3] देख, मेरा इन्तज़ार[4] देख।

इसके पश्चात् यदि आपको अपने जीवनमें इस प्रकारके वृत्तान्त मिलने लगें जो आपको स्वयमेव विश्वास दिलाते जायँ तो आपको अपने-आप ही ज्ञात हो जायगा कि ईश्वर है और सच्चा विश्वास भी वही होता है जो अनुभवके आधारपर स्थापित हो। जो कहते हैं कि ईश्वर है उनसे मिलो, और अतीव नम्रतापूर्वक याचना करो कि हमको भी दिखाओ, वह कहाँ है। फिर जिस प्रकार वे कहें, करो। और उसके पश्चात् परिणामको देखो। इन महानुभावोंके मिलनेसे पूर्व यदि आपको उसकी सत्ता स्वीकार करना कठिन होता हो तो नकार भी किस बलपर करते हैं ?

उसकी सत्ताका प्रबल प्रमाण उसकी सत्ताको न माननेवाले हैं। क्योंकि जिन शक्तियों—अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदिद्वारा वे अस्वीकार करते हैं, वे शक्तियाँ ही उसके अस्तित्वके प्रमाण हैं। क्योंकि उनकी रचनामें पूर्ण रचयिता (ईश्वर) के स्पष्ट दर्शन होते हैं; और दूसरे, ये नास्तिक ही तो उसके लिये स्वीकृतिके प्रमाण उत्पन्न करनेवाले हैं। यदि ये नकार न करें तो आपको अस्तित्वके लिये युक्तियाँ कहाँसे सूझें ? सच बात तो यह है कि ये नकार करनेवाले अपने नकारके तानेसे उसको प्रकट करते हैं। यदि ये नकार न करें तो उसको अपना आपा क्यों दिखाना पड़े ? इसका ऐतिहासिक प्रमाण भी यह मिलता है कि जब-जब नास्तिकता प्रबल हुई तब-तब आस्तिकताका भी बल बढ़ा। वस्तुतः ईश्वर भी तो इन्हींसे मिलने आते हैं। अज्ञान ज्ञानको उत्पन्न करता है, अन्धकार प्रकाशको, और अविद्या विद्याको। यदि पहले न हों तो दूसरे क्यों आयें ?

वस्तुतः ये न माननेवाले (नास्तिक) उन माननेवालों (आस्तिकों) से श्रेष्ठ हैं जिनको उसकी सत्तामें विश्वास ही नहीं क्योंकि पहले सच्चे हैं और दूसरे झूठे। पहले समझते नहीं इसलिये अङ्गीकार नहीं करते; दूसरे जानते नहीं किन्तु स्वीकार करते हैं। झूठे दावेदार ईश्वरको मानते-मानते सत्का भी त्याग कर बैठते हैं। उनकी अपेक्षा ईश्वर न माननेवालों (नास्तिकों) को शीघ्र मिलेगा क्योंकि ये सच्चे तो हैं। झूठे दावेदार लोगोंको पहले नकार करना पड़ेगा अर्थात् सच्चे बनना पड़ेगा, फिर ईश्वर इनको मिलेगा।

(२) ये नकार करनेवाले किससे नकार करते हैं ? ईश्वरसे। अर्थात् इनका नकार ईश्वरसे स्थिर होता है। नकार स्वयं कुछ वस्तु नहीं। नकार किससे स्थिर होता है ? 'ईश्वर नहीं' इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर 'नहीं' को स्थिर कर रहा है—निःसन्देह 'नहीं' के रूपमें। अतः जिससे 'नहीं' स्थिर हुआ उस 'नहीं' से वह कैसे मिटा ? जब कि ईश्वर सत्तामात्र है तब यह 'नहीं' भी तो बिना सत्ताके व्यक्त नहीं हो सकता। अतः जिसकी सत्तामात्रसे 'नहीं' कहते हैं वही ईश्वर है।

नास्तिक कहता है, वह है नहीं। हम कहते हैं—कौन नहीं ? वह कहता है ईश्वर नहीं। हम कहते हैं ईश्वर सत् है, अतः तुम सत्तासे क्योंकर नकार कर सकते हो जब कि तुम्हारा नकार भी अपने अस्तित्वके लिये सत्ताके अधीन है। अब या तो तुम्हारा नकार 'है' या 'नहीं' है। यदि नहीं है तो भी ईश्वर स्थिर रहा। यदि नकार 'है' तो भी स्थिर रहा, क्योंकि 'है' से 'नहीं' और 'है' दोनों सिद्ध होते हैं।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः 'सत्' उसका पहला गुण है। संसारमें प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्वकी सिद्धिके लिये उस सत्रूपी परमात्माकी अपेक्षा करती है। अँगूठी बनकर, स्वर्णकी सत्ताका प्रमाण पूछती है तो क्या यह हास्यका विषय नहीं। बुलबुला जलका प्रमाण पूछे। घड़ा मिट्टीका

---

[1]–दर्शन। [2]–योग्य। [3]–उत्सुकता। [4]–प्रतीक्षा।

प्रमाण पूछे तो आप क्या कहेंगे जब कि ये प्रथम उनको सिद्ध करके स्वयं सिद्ध होते हैं ? पुत्र उत्पन्न होकर पितासे किस प्रकार नकार कर सकता है ?

सच्चा प्रमाण—ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण, उसके भक्त और उनके हृदय हैं जहाँ वह बैठकर लोगोंको अपने दर्शन देता है। जिन मनुष्योंको कोई आस्तिक न बना सका उनको इन (भक्तों) की एक दृष्टिने परिवर्तित कर दिया। विश्वास दिया, श्रद्धा-दान दिया—

अर्जो[१] समा कहाँ तेरी वुसअतको[२] पा सके।
मेरा ही दिल है वो कि जहाँ तू समा सके॥

ईश्वरके नामकी उन्नतिका कारण नास्तिकजन हैं, क्योंकि जितना ही ये नकार करते हैं उतनी ही उसकी सत्ताकी चर्चा बढ़ती जाती है अर्थात् न मानने और माननेवाले दोनों नाम लेने लगते हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है अतः उसको सर्वत्र होना चाहिये, इस हेतुसे वह नास्तिकके साथ 'नहीं' में और आस्तिकके साथ 'है' के रूपमें विद्यमान है। दृष्टिकी सत्ताका प्रमाण अन्य वस्तुएँ हैं। यदि कोई वस्तु सम्मुख न हो तो दृष्टिका ज्ञान ही नहीं हो सकता। श्रोत्र (कानों) की सत्ताका प्रमाण शब्द है। यदि शब्द न हो तो कान (सुननेकी शक्ति) का ज्ञान कैसे हो ? इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण नकार और अङ्गीकार करनेवाले हैं। यदि ये न हों तो उसका ज्ञान क्योंकर हो ?

एक नास्तिकने प्रश्न किया कि आप मुझसे प्रेम क्यों करते हैं ? मैंने कहा कि जिसकी सत्तासे आप 'नाहीं' करते हैं, मैं उसीको आपमें देखकर प्यार करता हूँ।

वस्तुतः ईश्वरकी सत्ता युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं करती, अपितु युक्तियाँ अपने अस्तित्वके लिये उसकी अपेक्षा करती हैं। युक्तियाँ मस्तिष्कसे निकलीं। मस्तिष्क शरीरसे सम्बन्ध रखता है। शरीर संसारसे और संसार ईश्वरसे। यदि ईश्वर न होता, संसार न होता अतः शरीर न होता और मस्तिष्क भी न होता तो फिर युक्तियाँ कहाँसे आतीं ? अतः ईश्वरकी सत्ता युक्तियोंके अधीन नहीं, अपितु ये सब वस्तुएँ उसकी सत्ताके अधीन हैं; वह संसारके प्रत्येक परमाणुमें बैठकर 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहा है। किन्तु हम नाम-रूपको देखकर उसको भूल जाते हैं। यदि आप चाहते हैं कि सिनेमाके पर्देपर चित्र आवें तो खिड़कियाँ बंद करके देखिये ! जब बाह्य प्रकाश बन्द हो जायगा, चित्र प्रकट हो जायँगे।

इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ बाह्य प्रकाश अर्थात् इच्छाओंको लाकर मनपर फेंकना बंद कर देती हैं तो उसकी सत्ताका प्रमाण मिल जाता है।

ईश्वरको पानेसे पूर्व उसकी इच्छाको उत्पन्न करना आवश्यक है। चक्षु सूर्यकी सत्ताका प्रमाण है परन्तु उसीके प्रकाशसे उसको देखता है। नेत्रमें सुर्मा जिस दृष्टिको बढ़ाता है उसीसे छिप जाता है। वस्तुतः ईश्वरकी सत्ताका बड़ा प्रमाण वे महात्मा हैं; जिन्होंने अपने आपको उसके मार्गमें मिटा दिया है। ये महात्मा कैसे मिलें और उनकी पहचान क्या है ? इसका उत्तर यह है कि इच्छा होनेपर ये स्वयं ही मिल जाते हैं। और उनकी पहचान केवल यह है कि सम्मुख आते ही हृदय उन्हें मान लेता है जिससे बड़ी गवाही कोई नहीं। किसी व्यक्तिने किसी महात्मासे प्रश्न किया कि 'महाराज ! ईश्वरकी सत्ताका बड़ा प्रमाण क्या है? हम उसको क्योंकर मानें ?' उन्होंने कहा—'बेटा ! तुम मुझे अपने जीवनकी कोई ऐसी घटना सुनाओ जब कि तुमपर कोई घोर कष्ट आया हो।' उसने कहा 'महाराज ! एक बार मैं जहाज़पर सवार था। जहाज़ नष्ट हो गया। मेरे सम्मुख एक तख़्ता था, मैंने तैरकर उसको पकड़ना चाहा, उस समय मुझको बहुत कष्ट हुआ था।' महात्माजीने कहा—'बेटा ! उस समय तुम्हारे अंदर क्या भाव उत्पन्न हो रहा था ?' उसने कहा—'महाराज ! यही कि कोई बचावे, कहींसे सहायता मिले, कोई हाथ पकड़नेवाला प्रकट हो अर्थात् हर प्रकार हृदय सहायताको चाहता था। और बार-बार किसीकी ओर सम्बोधित होता था।' महात्माने कहा—'बेटा ! वही ईश्वर है अर्थात् जिस समय तुम अपनी विवशताको अनुभव करते हो तो उस समय जिसकी ओर तुम्हारा हृदय सम्बोधित होता है और सहायता माँगता है वही ईश्वर है।' यह सहायता मिलनेका विचार प्राकृतिक है, कल्पित और बुद्धिसम्बन्धी नहीं अतः इस स्वाभाविक इच्छाका जो प्रतीकार है वही ईश्वर है। यदि कोई ईश्वर न होता तो मनुष्यमें अपनी विवशताके समय ईश्वरका विचार ही उत्पन्न न होता। तुम्हारी विवशता ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण है। दूसरे, जो तुम्हारे संकल्पोंके विरुद्ध करता है वही ईश्वर है। अर्थात् जिस समय तुम विचार करते हो

---

[१] भूमि, आकाश। [२] विस्तार।

कि मैं यह अवश्य करूँगा और उसके लिये सब साधन भी विद्यमान होते हैं, ऐसे समयमें जो उन सारे संकल्पोंको तोड़ देता है और परिणाम तुम्हारे विचारके विरुद्ध निकालता है वही ईश्वर है ।

देखिये तो आपके सम्मुख एक कुर्सी है । आपने उसके बनानेवालेको नहीं देखा परन्तु उसकी रचना और निर्माण-शैलीने तत्काल निर्णय कर दिया है कि इसका कोई कर्ता अवश्य है । फिर इतनी सुन्दर सृष्टिको देखनेसे क्या उसके बनानेवालेका ज्ञान नहीं होता ? कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि स्वयमेव बन गयी है । क्या कोई वस्तु स्वयं बन सकती है ? अच्छा, यदि यह ठीक है तो मैं पूछता हूँ, सृष्टि इच्छासे बनी वा बिना इच्छाके ? इसका बनना सिद्ध करता है कि वह पहले न थी । अर्थात् जब सृष्टि न थी तब सृष्टि स्वयं बन गयी । 'स्वयं' शब्द सृष्टिके अभावमें किससे सम्बन्ध रक्खेगा ? सृष्टिने स्वयं सृष्टिको बनाया वा किसी अन्यने ? स्वयं बनानेके ये अर्थ हैं कि मैं अपने कंधेपर आप सवार हूँ । और यदि किसी अन्यने बनाया तो वही ईश्वर है । यदि कोई यह कहे कि नहीं,अनादिकालसे सृष्टिका प्रवाह इसी प्रकार चला आ रहा है, इसलिये किसी कर्ताकी आवश्यकता नहीं तो क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सृष्टि सावयव है वा निरवयव ? यदि निरवयव है तो बनना असङ्गत हो गया, और यदि सावयव है तो इसके अर्थ ये हैं कि कभी इसके अवयव मिले और कभी पृथक् हुए । अब वह मिलाने और पृथक् करनेवाली शक्ति कौन है ? जड प्रकृतिमें तो संकल्पका अभाव है । अमुक रूप इस प्रकार है और अमुक इस प्रकार, ऐसा कोई संकल्प जड-में नहीं हो सकता । और यहाँ तो अखिल सृष्टि विधिपूर्वक बनी है । नेत्रके लिये सूर्य, श्रोत्रके लिये शब्द, जीवनके लिये वायु, प्यासके लिये पानी इत्यादि । दिनके लिये सूर्य, रात्रिके लिये चन्द्रमा । पुनः आकर्षण अर्थात् (Law of gravitation) के सिद्धान्त, और संसारका इस प्रकार स्थिर रहना, ऋतुओंका समयपर बदलना, क्या जड प्रकृतिका खेल है ? अतः सृष्टि अपना कारण आप नहीं बन सकती, इसलिये इसका कर्ता ईश्वर है ।

(३) ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण वे महात्मा हैं जो कहते हैं कि हमने उसको जाना है । नास्तिक तो केवल यही कहते हैं कि हमारे अनुभवमें कोई ईश्वर नहीं आया, पर इनसे बड़े प्रेमसे केवल इतना ही पूछना है कि कभी इन्होंने उसके मार्गपर चलकर उसके देखनेका प्रयत्न किया जिसका वर्णन महात्माओंने अनुभव करके लिखा है ? जाइये और टुक उनसे पूछिये, फिर यदि समझ न आयी तो नकार कर देना ।

तेरी नासिहा ! यह चुना ओ चुनी ।
कि है खुदपसन्दी के ये सब करीं ॥
न देगी दिखाई तुझे ये कहीं ।
सुझाया किसीने कभी जो कहीं ॥

अर्थात् हे उपदेशक ! तेरी ये युक्तियाँ और कुतर्क सब अहंमानिताको अलंकृत करनेवाली हैं । ये तुझे दिखायी भी न देंगी जो कभी किसी (गुरु) ने बोध करा दिया अर्थात् फिर तर्क-वितर्ककी आवश्यकता न रहेगी—सब संशय निवृत्त हो जायँगे ।

यह आपके सम्मुख एक पुष्प है । आप नेत्रसे उसमें वर्ण, श्रोत्रसे शब्द, जिह्वासे रस, नासिकासे सुगन्ध, त्वचासे कोमलता (नरमी) आदिको अनुभव करते हैं, परन्तु चक्षुके लिये केवल वर्णका संसार है और कुछ नहीं । यदि उससे पूछा जाय कि इसमें सुगन्धि आदि भी है ? तो वह स्पष्ट नहीं कर देगा, क्योंकि उसके लिये तो केवल रंग एवं रूपका ही संसार है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंकी अवस्था है । परन्तु जैसे नेत्रके शब्दसे नकार करनेपर भी, श्रोत्र उसे अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार कौन कह सकता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके अतिरिक्त भी पुष्पमें और कोई वस्तु विद्यमान नहीं है ? जिस प्रकार शब्दसे चक्षुने नकार किया था और श्रोत्रने उसको अङ्गीकार किया था उसी प्रकार इन्द्रियाँ उस छठी (६ वीं) सत्तासे नकार करती हैं, परन्तु हृदयके नेत्र अर्थात् पवित्र हृदय—प्रेमपूर्ण हृदय—उसको अङ्गीकार करता है । सभी महात्माओंने लिखा है कि उसको पवित्र हृदयसे जानो ।

प्रथम हृदयको पवित्र करो । हृदयकी पवित्रता क्या वस्तु है ? नम्रता (विनय), प्रेम, विश्वास, प्रार्थना, सहनशीलता, आत्मसमर्पण—इन बातोंको प्रथम अन्धविश्वाससे मान लेनेपर हृदय शुद्ध हो जाता है । इसके उपरान्त जिसकी सत्तासे नकार किया जाता है वह स्वयं ही स्वीकृति (आस्तिकता) में परिवर्तित हो जाती है ।

एक घटना सुनाता हूँ । एक बार लाहौरमें कुछ प्रेमी मुझको सैरके लिये नहरपर ले गये और वहाँ जाकर कुछ फल खानेको दिये । उन फलोंको देखकर मेरे मनमें गन्नेका

76178

ध्यान उत्पन्न हुआ। वह स्थान नगरसे बहुत दूर था, इसलिये गन्नेका लाना बहुत कठिन था। मैंने मनसे कहा—'भाई! एक गन्नेके लिये अपना साम्राज्य क्यों बेचते हो? जबतक तुम्हारे अंदर कोई इच्छा नहीं तुम राजा हो; क्योंकि इच्छाकी दासतासे जगत्‌की दासता करनी पड़ती है।' मैंने उस इच्छाको बड़ी सरलतासे उठाकर फेंक दिया या ईश्वरार्पण कर दिया। अब सुनिये—वह प्रेमी जो मुझे मोटरमें नहरपर लाये थे, अपनी टोपीको सिरसे उतारकर कहने लगे 'महाराज! यह मैली हो गयी है' और झट नहरमें फेंक दी। मैंने उनसे कहा कि 'आपने यह क्या किया?—अच्छा होता यदि आप इसको किसी निर्धनको दे देते क्योंकि उसके लिये यह मुकुटका काम देती चाहे आपके लिये यह एक अनुपयोगी वस्तु थी।' उनको अपनी इस चेष्टापर अनुताप हुआ और उन्होंने टोपी पकड़नी चाही, परन्तु टोपी उनसे रुष्ट होकर दूसरे तटपर जा लगी। इनको यह ध्यान हो गया था कि मैंने अच्छा नहीं किया जो टोपीको इस प्रकार उतारकर फेंक दिया। इसलिये दौड़े और टोपीको लानेका यत्न किया। पार जानेके लिये एक पुल था जो कि बहुत दूर था। किन्तु ये दौड़े और पुलपर जा पहुँचे। क्या देखते हैं कि वहाँ एक गन्नेवाला खड़ा है। उन्होंने उससे कहा कि 'क्या आप मुझे टोपी निकालनेके लिये गन्ना दे सकते हैं, इसके अनन्तर मैं वापिस कर दूँगा।' उसने देखा कि भले आदमी हैं और गन्ना दे दिया। उन्होंने गन्नेसे टोपीको निकाला और मुझे पुकारा कि 'महाराज! क्या गन्ना चूसेंगे? मैं ले आऊँ?' मैंने कहा 'जैसे आपका मन चाहे।' अस्तु, वह गन्ना लाये और आकर गीली टोपीको अपने सिरपर रख लिया। मैंने कहा—'यह किसी दरिद्रको दे दो, आप क्यों पहनते हैं?' उन्होंने कहा 'मुझसे अधिक दरिद्र कौन है? मैं इसे अवश्य पहनूँगा।' इधर टोपी उनके सिरपर थी, उधर गन्ना उनके हाथमें था। मैं इस घटनाको देखकर हँसने लगा। उन्होंने कहा 'महाराज आप क्यों हँस रहे हैं?' मैंने कहा 'क्या बताऊँ। अभी-अभी गन्नेका विचार उत्पन्न हुआ था। यहाँ गन्ना मिलना कठिन था मैंने उस विचारका त्याग कर दिया अर्थात् ईश्वरार्पण किया। भगवान्‌ने गन्ना मुझतक पहुँचानेके लिये आपके अन्दर यह विचार उत्पन्न किया कि आपकी टोपी मैली है और उसको आपके सिरसे नहरमें फिंकवाया और मुझसे यह कहलवाया कि अच्छा होता यदि आप इस टोपीको किसी निर्धनको दे देते, तदनन्तर आपको पश्चात्ताप हुआ और आप पकड़ने भागे परन्तु टोपी दूसरे तटपर जा लगी; आपको यहाँ भी सन्तोष न हुआ, इसलिये आप दौड़कर पुलपर गये, वहाँ गन्नेवाला खड़ा था। आपने उससे गन्ना लेकर अपनी टोपी निकाली और उसके साथ गन्ना भी मोल ले आये। अब टोपी फिर आपके सिरपर है और गन्ना मेरे सामने है।' वे हँसकर कहने लगे कि यदि आपको गन्ना चूसना था तो आपने मुझसे क्यों न कहा, मैं बाज़ारसे ले आता, मेरी टोपी क्यों फिंकवायी? और हँसने लगे। मैंने कहा यही ईश्वर है जो हमारे सङ्कल्पोंको इस प्रकार पूरा करता है। कतिपय मनुष्य इसको संयोग वा 'यदृच्छा' (chance) कहते हैं परन्तु इतनी नियमितता क्या 'संयोग' से सम्बन्ध रख सकती है, फिर 'यदृच्छा' तो वह वस्तु है जिसका कोई कारण न हो—और जिसका कारण नहीं वह वस्तु ही मिथ्या है, वहम (भ्रम) है, धोखा है।

एक दिन मुझे प्यास लगी। मेरे पास सुराही और गिलास था। मैंने गिलासमें पानी डालकर पीना चाहा, सब प्रेमी उस समय मुझको सुलाकर चले गये थे। पानी पीते समय ध्यान आया कि जब मैं बच्चा हूँ तो अपने हाथसे क्योंकर पानी पी सकता हूँ। बुद्धिने कहा 'तो फिर यहाँ कौन-सी माँ बैठी है जो पानी पिलायेगी!' मैंने कहा, 'क्या यही आस्तिकता है कि यहाँ कौन-सी माँ बैठी है? मेरी माँ तो हर समय उपस्थित है।' मैं पानी अवश्य पी लेता, परन्तु उस समय मैं अपने आपको नन्हा बच्चा कल्पना कर रहा था, इसलिये पानी न पीया और माँके हाथोंसे पानी पीनेका विचार किया। उधर प्यास पानीके लिये बेचैन कर रही है, इधर बचपनका विचार पीने नहीं देता! बुद्धि हँसी उड़ा रही है और मैं चुपकेसे लेटा पड़ा हूँ। माँकी प्रतीक्षा है। कुछ ही मिनटके पश्चात् एक प्रेमी मिस्टर आर० आर० खन्ना आकर कहने लगे—'महाराज! क्या पानी पीयेंगे?' मैं हँसने लगा। उन्होंने कहा 'आप हँसते क्यों हैं?' मैंने कहा कि 'मेरी माँ मुझको पानी पिलाने आयी है, क्या आप नहीं देखते?' बुद्धि लज्जित और चकित थी और मैं हँस रहा था—यही ईश्वर था। इस प्रकारकी सहस्रों घटनाएँ जीवनमें प्रायः आती रहती हैं और प्रत्येक मनुष्यके ही आती हैं। परन्तु हमारी बुद्धि या तो उनको भूल जाती है और या संयोग कहकर टाल देती है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि जब हमारे प्रश्नोंका उत्तर कोई निरन्तर देता रहे और स्वयं दृष्टि

न आये तो क्या हम यह न समझेंगे कि हमारे प्रश्नोंका उत्तर देनेवाला अवश्य कोई है ?

एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ जिसमें ईश्वरके दर्शनका प्रमाण तो नहीं मिलता, परन्तु उसके दर्शन करानेवालोंका प्रमाण अवश्य मिलता है। जो दृष्टिसे काया पलट सकते हैं, उनमें ये शक्तियाँ यदि ईश्वरकी नहीं तो किसकी हैं ? जिस समय मैं बालक था, मेरे मनमें एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि मुझे ईश्वरको जानना चाहिये जिसकी चर्चा कोने-कोनेमें हो रही है। क्योंकि उसके जाननेसे बहुत आनन्द मिलता है। संसारके सब पदार्थ मिटनेवाले हैं, इनमें चैन कहाँ ? मैं इस इच्छाको लेकर अपने श्रीमहाराजके चरणोंमें उपस्थित हुआ और प्रार्थना की, 'हे पिता ! हे गुरो ! लोग दूर-दूरसे आपके दर्शनोंको आते हैं और आनन्दित होकर जाते हैं। आपसे भगवान्‌का नाम पूछते हैं। और आप बताते हैं। क्या मैं भी अपनी बाल्यावस्थामें यह प्रश्न कर सकता हूँ कि ईश्वर क्या वस्तु है ?' महाराज मेरी इस बातको सुनकर मुसकराये और आदेश किया, 'बेटा ! तुम्हारा खेलना, कूदना ही इस समय तुम्हारा ईश्वर है।' मैंने निवेदन किया—'भगवन् ! इस इच्छासे पूर्व मैं इसीको सब कुछ समझता था परन्तु जब उसके जाननेका ध्यान उत्पन्न हुआ, मेरा ईश्वर यह नहीं।' महाराजने आदेश किया—'तो क्या तुम ईश्वरको जानना चाहते हो ? अच्छा यदि यह बात है तो अमुक-अमुक बात किया करो; तुमको ईश्वर मिल जायगा।' मैंने विनती की—'भगवन् ! मेरी उत्सुकता मुझे इस धैर्यका पाठ नहीं पढ़ा सकती। भगवान् अपनी कृपासे उसको दिखायें, मेरी उपासनाकी ओर न देखें।' मैंने कहा 'भगवन् ! अपनी ऐनक दे दीजिये, मैं देखकर लौटा दूँगा।' बोले 'मेरी ऐनक तुम्हें क्योंकर लगेगी ?' मैंने कहा 'पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिको ले सकता है या नहीं ? यदि यह सत्य है तो मुझे अपनी कमाईमेंसे भाग दीजिये।' कहने लगे 'अपने ही स्वार्थकी बात करते हो।' मेरे हृदयमें उस समय ईश्वरके लिये अपार उत्सुकता थी। महाराजने आदेश किया 'बेटा ! जाओ, एकान्तमें जा बैठो, जो होगा, स्वयं ही ज्ञात हो जायगा।' मैं आज्ञानुसार अपना कमरा बन्द करके बैठ गया। मैं बालक था और यह समझता था कि शायद ईश्वर इस प्रकारका होगा वा उस प्रकारका होगा। एक बालकके ईश्वरके सम्बन्धमें क्या विचार हो सकते हैं ! परन्तु थोड़े ही समयके पश्चात् बिना किसी उद्योगके सब वस्तुएँ बाहरकी लुप्त होने लगीं। मैं क्या देखता हूँ कि सृष्टि अन्तर्हित हुई जा रही है। मैं चकित हुआ इसके साथ-साथ शरीरका दृश्य भी लुप्त हो गया, केवल यह ध्यान रहा कि कुछ नहीं रहा। चिरकालके पश्चात् इससे भी पृथकृता मिली। अब क्या अनुभव किया—किस प्रकार वर्णन करूँ ! हाँ, इतना कह सकता हूँ कि आनन्दका अनन्त समुद्र लहरा रहा था। मैं उस अवस्थामें गया और पुनः लौट आया। किस प्रकार गया ? किस प्रकार आया ? विदित नहीं। हाँ, जो कुछ अनुभव किया उसकी स्मृति शेष रही। पुनः प्रयत्न किया—किस प्रकार पहुँचता ? अन्तको महाराजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा—'क़दहे बलबम् बूदो शिकस्ती रब्बी' अर्थात् अमृतका प्याला मेरे मुखतक आया और तूने उसे तोड़ दिया। आदेश किया 'यथासमय मिल जायगा; तुम विश्वास चाहते थे सो तुमको दिया गया।'

जो कुछ उस अवस्थामें अनुभव हुआ, वह ईश्वर था वा कोई अन्य, इससे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु इतना अवश्य कहता हूँ कि वह अवस्था बालकका हृदय बदलनेके लिये अद्भुत प्रभाव रखती थी। इस दृष्टान्तसे यदि ईश्वरकी सत्ताका दर्शन नहीं प्रमाणित होता तो उसतक पहुँचनेके साधन तो ज्ञात होते हैं वा मार्गकी वस्तुएँ तो दृष्टि आती हैं चाहे लक्ष्यस्थान न आता हो। इसमें पहली बात यह है कि इस प्रकारके महात्मा एक दृष्टिसे ईश्वरका विश्वास देते हैं; काया पलट देते हैं तो क्या ये महात्मा ईश्वरकी सत्ताके लिये प्रमाण नहीं हैं ? लोग कहते हैं, प्रथम ईश्वर दिखाओ फिर विश्वास करेंगे। महात्मा कहते हैं कि पहले इङ्गलैण्ड दिखाओ फिर चलेंगे। यदि इङ्गलैण्ड बिना गये देखा नहीं जाता तो ईश्वर बिना विश्वासके क्योंकर मिलेगा ? महात्माओंका वाक्य मानकर इतना मान लीजिये कि वह है और इस धारणासे जीवन व्यतीत करना सीखिये। हर समय उसको स्मरण रखिये। उसको आवश्यकताके समय बुलाइये। आनन्दके समय उसको धन्यवाद दीजिये, अन्तमें अपने आपको उसके अर्पित करके दुःख और सुखके विचारको छोड़ दीजिये। यदि आपकी पुकारोंका उत्तर मिलने लगा तो फिर किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता रहेगी ? जिस मनुष्यने पानी पीकर प्यास बुझायी है उसका विश्वास कौन खण्डित कर सकता है ? परन्तु जिसने केवल यह समझा है वा सुना है वा युक्तियोंद्वारा सिद्ध किया है कि पानीमें प्यास

बुझानेकी शक्ति है तो सम्भव है उसके इस विश्वासको कोई दूसरा उससे अधिक ज्ञान रखनेवाला तोड़ दे ।

फ़ल्सफी[1] को बहस[2] के अन्दर खुदा[3] मिलता नहीं ।
डोर को सुलझा रहा हूँ और सिरा मिलता नहीं ॥ १ ॥
मारफत[4] खालिक[5] की आलम[6] में बहुत दुश्वार[7] है ।
शहरे तन[8] में जबकि खुद[9] अपना पता मिलता नहीं ॥ २ ॥

वस्तुतः यह खोज ही उसको गुप्त कर देती है । यथा—आप और आपकी 'मैं' हर समय उपस्थित है, परन्तु जैसे ही आप इसको ढूँढ़ना आरम्भ करते हैं तो उसका पता नहीं मिलता । सच बात तो यह प्रतीत होती है कि यह सृष्टि स्वयं नहीं बनी । इसका बनानेवाला अवश्य कोई है जिसकी आज्ञा वा नियम इस संसारके अन्दर कार्य कर रहे हैं । इन सिद्धान्तोंकी नियमितता उसकी सत्ताका प्रमाण है । जो अनियमितताएँ संसारमें प्रतीत होती हैं वे हमारी बुद्धिकी निर्बलताएँ हैं । हम जिस समय सूर्यको किसी छिद्रद्वारा देखते हैं तो बहुत छोटा प्रतीत होता है । अतः ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण अन्धविश्वास है या थोड़ा विश्वास है । पहले विश्वास, फिर सुना सुनाया स्मरण कीजिये । तत्पश्चात् परिणाम स्वयं ही सामने आ जायगा ।

अन्तमें मेरी ईश्वरसे यही प्रार्थना है कि वह स्वयं ही अपनी कृपासे हम सृष्टिके क्षुद्र जीवोंको अपना विश्वास दे; नहीं तो जिस बुद्धिसे संसारका एक परमाणु भी समझमें नहीं आता, उससे उसके कर्त्ताका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

इति

मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा

(गीत)

मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा !
सुखमें भी, दुखमें भी मालिक ! तेरी याद करूँगा ।
मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा ॥
सुखमें—जिससे मद न समाये; मन विनम्र, झुकता ही जाये ।
दुखी भाइयोंकी पीड़ामें यथाशक्य वह कम कर पाये ॥
सहयोगी समृद्धि छितराता तेरी याद करूँगा ।
मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा ॥
और दुःखमें—पतन न आये, मन विशुद्ध, निर्भय रह पाये ।
कातर हो वैभवके तलुवे कभी न वह भूले सुहलाये ॥
सत्य और कर्त्तव्यनिरत मैं तेरी याद करूँगा ।
मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा ॥
सुखमें भी, दुखमें भी मालिक ! तेरी याद करूँगा ।
मालिक ! तुझे नहीं भूलूँगा ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

---

[1] नैयायिक । [2] विवाद । [3] ईश्वर । [4] वेदान्त । [5] ईश्वर । [6] संसार । [7] कठिन । [8] शरीररूपी नगरी । [9] स्वयं ।

कल्याण

सदा अपने मनको देखते रहो। अभिमान, काम, क्रोध और मोह आदि लुटेरे मनरूपी महलमें ऐसे दुबककर छिपे रहते हैं कि साधारण दृष्टिसे देखनेपर यह पता ही नहीं चलता ये अन्दर मौजूद हैं। परन्तु मौका पाकर ये प्रकट हो जाते हैं और फिर सद्गुण और सद्विचाररूपी धनको ऐसी निर्दयतासे लूटते हैं कि उम्रभरका किया-कराया प्रायः सब नष्ट हो जाता है।

× × × ×

अपनेको निर्भय मानकर कभी निश्चिन्त और असावधान न रहो। जबतक इन लुटेरोंका तुम्हारे मनमें बीजनाश न हो जाय तबतक बराबर इन्हें मारनेकी चेष्टा करते रहो। बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे ये तुम्हारे मित्र और आज्ञाकारी सेवक-से बनकर अन्दर रहना चाहेंगे, परन्तु इनपर कभी विश्वास न करो। जरा-सा पता चलते ही पछाड़नेका जतन करो।

× × × ×

जहाँतक बने, अभिमानी, कामी, क्रोधी और लोभी मनुष्योंका इच्छापूर्वक संग न करो। उनके संगसे तुम्हारे हृदयमें कलुषित भाव पैदा होंगे, और उनसे तुम्हें कोई सच्ची सहायता नहीं मिलेगी।

× × × ×

किसीकी निन्दा मत करो। याद रक्खो इससे तुम्हारी जबान गन्दी होगी, तुम्हारी वासना मलिन होगी। जिसकी निन्दा करते हो उससे वैर होनेकी सम्भावना रहेगी और चित्तमें कुसंस्कारोंके चित्र अङ्कित होंगे।

× × × ×

बिना विशेष आवश्यकताके बड़े आदमियोंसे, सरकारी अफसरोंसे और मान-प्रतिष्ठा चाहनेवाले पुरुषोंसे न मिलो। क्योंकि ऐसे लोग तुम्हारी सच्ची बात सुनना नहीं चाहेंगे। उनकी हाँ में हाँ मिलाकर तुम्हें अपने शुद्ध विचारोंकी अवहेलना करनी पड़ेगी। कहीं उनकी रायके विरुद्ध सच बोलोगे तो वे नाराज होंगे।

× × × ×

याद रक्खो—संसारमें दोषी लोग ही दूसरेके दोषोंको ढूँढ़ा करते हैं। क्योंकि उन्हें अपने दोषोंको ढँकनेके लिये दूसरेके दोषोंकी आड़ आवश्यक होती है। साधुलोग तो सब जगह साधुता ही खोजते हैं, और दिखलायी भी देती है उन्हें साधुता ही। वे नीर-क्षीरविवेकी हंसकी तरह गुण ही ग्रहण करते हैं।

× × × ×

बन-ठनकर बाहरसे लोगोंसे बहुत सुन्दर दिखायी देने लगे, इससे क्या हुआ। जबतक हृदय कलुषित है, जबतक अन्तर्यामी परमात्माके सामने तुम्हारा अन्तःकरण सुन्दर होकर नहीं आता तबतक बाहरी सुन्दरता वैसी ही है जैसे शराबसे भरा हुआ सोनेका कलसा।

× × × ×

प्रारब्धवश जगत्‌में तुम्हारी बड़ी कीर्ति हो गयी, लोग पूजने लगे। इससे क्या हुआ। जबतक तुम्हारा हृदय मलिन है, जबतक तुम लुक-छिपकर पाप करते हो, तबतक मानसिक अशान्ति, सन्ताप और नरकदुःखसे कदापि नहीं बच सकते।

× × × ×

भक्ति और ज्ञानके नामपर बुरे कर्म करना भगवान्‌को ठगनेकी गन्दी चेष्टा करना है। इन लोगोंसे वह कहीं अच्छे हैं जो बुरे कर्म करते हैं, परन्तु बुरे कहलाते हैं। भक्ति और ज्ञानके नामको जो कलंकित नहीं करते।

× × × ×

'परायी चुपड़ी' देखकर जलो मत और अपनी एक रोटीमेंसे गरीबको एक टुकड़ा देकर खाओ। दुखीको देना और सुखीके सुखमें प्रसन्न होना उनकी सेवा करना है। सबका हित चाहो, सबका हित करो और हित होते देखकर सुखी होओ।

'शिव'

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥
प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
रामनाम द्विजश्रेष्ठ सर्वाशुभनिवारणम्।
कामदं मोक्षदं चैव स्मर्त्तव्यं सततं बुधैः॥
नाम्नो हि लभ्यते भक्तिर्भक्त्या प्रेम हि लभ्यते।
प्रेम्णा लभ्यते गोविन्द स्तुतो नाम्नः परं न हि॥

'कलियुगमें केवल हरिनाम ही है। हरिनामके सिवा और उपायसे गति है ही नहीं। यह श्रीकृष्णनाम मधुर-से-मधुर और मङ्गलोंका मङ्गल है। निगम-कल्पलताका यह चित्स्वरूप सरस फल है। हे भृगुवर! अवहेलनासे या श्रद्धासे कैसे भी एक बार कृष्णनामका कीर्तन करनेपर वह सब पापोंसे तार देता है। मरनेके बाद हरिनाम ही प्राणोंका साथी होकर जाता है, संसारकी शारीरिक और मानसिक सभी व्याधियोंको नष्ट करनेके लिये हरिनाम ही महान् औषध है। और यह हरिनाम ही दुःख-शोकोंसे परित्राण करता है। जैसे आग अनिच्छासे भी स्पर्श होनेपर जला देती है वैसे ही किसी भी तरह हरिका नाम स्मरण होनेपर वह पापोंको हर लेता है। हे द्विजश्रेष्ठ! यह रामनाम सब अशुभोंको निवारण करनेवाला, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। बुद्धिमान् पुरुषोंको सदा इसका स्मरण करना चाहिये। नामसे भक्ति ही प्राप्त होती है, भक्तिसे प्रेम मिलता है और प्रेमसे भगवान् श्रीगोविन्दकी प्राप्ति होती है। अतएव नामसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है।'

इस अङ्कमें नाममहिमापर और भी लेख छपे हैं। जिन लोगोंने नामजप कीर्तनका सच्चे हृदयसे आश्रय लिया है उनको इसके आनन्दका पता है। यह आनन्द सबको मिले इसीलिये कल्याणके ग्राहक-अनुग्राहक और पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष नाम जपने और जपवानेके लिये प्रार्थना की जाती है। और आनन्दका विषय है कि श्रद्धालु पाठक भगवन्नामका जप स्वयं करके तथा दूसरोंके द्वारा करवाकर लाभ उठाते हैं।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक, ढाई महीनेमें उपर्युक्त १६ नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़की जगह अठारह करोड़से अधिक मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जाती है। आशा है, भगवद्रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्य-कार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके

समयसे लेकर रातको सोनेतक, चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है । संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है । अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है । बीमारी या अन्य किसी कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये । यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तो कोई आपत्ति नहीं । निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है । थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है ।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अंक प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है । अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये ।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये ।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

३–प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये ।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें । जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं । केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें ।

५–संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं । उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ होती है । जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं । जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करे उस दिनसे फाल्गुन सुदी पूर्णिमा-तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

६–संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है ।

७–सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश

प्र०—श्रीभगवान् सबके सामने प्रकट होकर सबको दर्शन कैसे दे सकते हैं ?

उ०—भगवान् चाहें तो सबके सामने प्रकट होकर दर्शन दे सकते हैं। और यदि भक्त चाहे कि जिस समय मैं ध्यान करूँ उस समय भगवान् सबको दर्शन दें तो भगवान् उसकी प्रार्थनासे सबके सामने प्रकट होकर भी दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—यदि भक्तोंसे भगवद्दर्शन करानेकी प्रार्थना की जाती है तो वे कह देते हैं कि ऐसी प्रार्थना करनेका हमारा अधिकार नहीं है। ऐसी अवस्थामें क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—भक्तोंको प्रार्थना करनेका अधिकार क्यों नहीं है ? नारदादिने अनेकों बार भगवान्से प्रार्थना की है। भगवान्ने अपने भक्तोंके लिये छान छायी है, उनके प्रेमके वश होकर उनके सामने नृत्य किया है। इसलिये भक्तकी इच्छाके अनुसार भगवान् सब कुछ करनेको तैयार हैं। हाँ, भक्त वैसा अनन्य प्रेमी अवश्य होना चाहिये।

प्र०—महाराजजी, आपसे बढ़कर भक्त खोजनेके लिये कहाँ जायँ ? आप ही भगवान्से ऐसी प्रार्थना कीजिये कि वे सबके सामने प्रकट होकर सभीको दर्शन दें।

उ०—मैं तो वैसा भक्त नहीं हूँ। जो ऐसे भक्त हैं उनके सामने यह प्रस्ताव रक्खा जाय।

प्र०—महाराजजी ! ऐसे बृहत् सम्मेलनोंकी* सफलता तो तभी समझी जा सकती है जब कि भगवान् सबके सामने प्रकट होकर दर्शन दें।

उ०—यह कोई असम्भव बात तो है नहीं। किन्तु यह कार्य ऐसे सम्मेलनोंमें नहीं हुआ करता। इसके लिये तो अलग ही केवल उच्च-उच्च कोटिके सन्त और भक्तोंका सम्मेलन हो और केवल वे ही लोग इसके लिये प्रयत्न करें तो ऐसा कार्य हो सकता है।

प्र०—तो फिर महाराजजी, ऐसे संकीर्तनोत्सवोंका लक्ष्य क्या होना चाहिये ?

उ०—मैं तो कहता हूँ कि हरिनामसंकीर्तन हरिनाममें आसक्ति होनेके लिये ही होने चाहिये ? भगवान्के दर्शन या किसी अन्य हेतुसे नहीं।

प्र०—तो क्या भगवन्नाममें आसक्ति होना भगवद्दर्शनसे भी बढ़कर है ?

उ०—हाँ, अवश्य बढ़कर है। भगवन्नाममें आसक्ति हो जानेके बाद दर्शन हों चाहे न हों, उसको परवा नहीं रहती। उसको दर्शन देनेके लिये तो भगवान् तैयार ही रहते हैं।

प्र०—मन तो लगता नहीं; ऐसी अवस्थामें क्या केवल जिह्वासे नाम-जप करते रहनेसे विशेष लाभ हो सकता है ?

उ०—अवश्य लाभ होता है, क्योंकि सांसारिक काम भी बिना मन लगे करनेसे पूरा हो ही जाता है। जैसे बहीखातेका काम करते समय भी मन भ्रमण करता रहता है, किन्तु इस प्रकार बिना मन लगे भी करते रहनेसे वह काम पूरा हो ही जाता है, वैसे ही बिना मन लगे केवल जिह्वासे ही जप करते रहनेपर भी सफलता अवश्य मिलेगी।

---

* इस समय महाराज श्रीहरिबाबाजीके बाँधपर पधारे थे, वहाँ एक बृहत् संकीर्तनोत्सव हो रहा था।

शरणागति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शरणागतिका प्रारम्भिक स्वरूप क्या है तथा बादमें उसका क्या स्वरूप हो जाता है—इसी विषयपर इस निबन्धमें विचार करना है। यह विषय बहुत ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। जो व्यक्ति इस रहस्यको हृदयङ्गम कर लेता है वह सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रमें पहले मन-निरोधके लिये अभ्यास और वैराग्यका कथन किया है और फिर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' कहकर शरणागतिका महत्त्व प्रतिपादन किया है। रामायण और गीता आदिमें भी ईश्वरशरणको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया गया है। शरणागति और भक्ति—दोनोंका एक ही तात्पर्य है। इनके पूर्व 'अनन्य' शब्द जोड़ देनेपर भक्ति और शरणागतिमें पूर्णता आ जाती है।

शरणका आरम्भ 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ' इस कथनमात्रसे ही हो जाता है। यही कथन आगे चलकर यथार्थ शरणागतिके रूपमें परिणत हो जाता है। मारवाड़में क्यामख्यानी नामकी एक मुसलमान जाति है। सुना जाता है कि पहले ये लोग हिन्दू थे। जिस जगह ये प्रधानतासे रहा करते थे वहाँके शासकने इन्हें मुसलमान बना लेनेकी नीयतसे यह कहा कि 'तुम लोगोंसे मैं एक बातकी आशा करता हूँ। वह यह कि तुम लोग वास्तवमें चाहे मुसलमान न भी बनो पर कम-से-कम पूछनेपर अपनेको मुसलमान बतलाते रहो।' इस राजाज्ञाको मान लेनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। उनके घरू व्यवहार और वैयक्तिक रहन-सहन ठीक हिन्दुओंके जैसे ही बने रहे, पर पूछनेपर वे अपनेको मुसलमान ही बतलाते थे। आश्चर्य है कि मुसलमान शासककी यह दूरदर्शितापूर्ण नीति शीघ्र ही काम कर गयी और आज उनके खान-पान और रहन-सहन आदि समस्त व्यवहार मुसलमानी ढाँचेमें पूर्णरूपसे ढल गये। अब वे लोग अपनेको वास्तवमें पूरे मुसलमान मानने लगे हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार यदि हम अपने ईश्वररूप राजाके व्यापक राज्यमें रहकर यह स्वीकार कर लें कि 'हे प्रभो ! हम आपके हैं तो फिर हमें सच्चा भक्त बन जानेमें देर नहीं लगेगी, क्योंकि उस दयालु परमेश्वरने तो डंकेकी चोट यह घोषणा ही कर रक्खी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

अर्थात् मेरी शरण आनेके लिये जो एक बार भी यह कह देता है कि 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ तो मैं उसे समस्त भूतोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।' महाभारत-युद्धके आरम्भमें अर्जुन भी इसी प्रकार शरणागतके रूपमें हमें दृष्टिगत होता है। वह मनस्तापसे व्यथित होकर अपने चिरन्तन सखा भगवान् श्रीकृष्णके सामने कातर स्वरमें कह उठता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(गीता २ । ७)

अर्थात् कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला, धर्मके विषयमें मोहित चित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

इसके पूर्व गीतामें कहीं भी शरणागतिका वर्णन नहीं आया और यह शरणागति भी केवल प्रारम्भिक

ही है । क्योंकि इसके बाद ही भगवान्‌की आज्ञा होनेपर भी वह कहने लगता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' संजय कहते हैं—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥
(गीता २ । ९)

अर्थात् हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाला अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर, फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌को युद्ध नहीं करूँगा ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया ।

अर्जुनकी इस 'न योत्स्ये' वाली उक्तिको सुनकर भगवान् अपनी मुस्कराहटको रोक न सके, क्योंकि एक तरफ तो वह कह रहा है कि 'मैं आपके शरण हूँ, मुझे उपदेश दीजिये' और दूसरी ओर अपनी मनमानी कहता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' यह व्यवहार तो उस झगड़ालूकी तरहका-सा हुआ कि जो अपने किसी विश्वासभाजन पञ्चके पास जाकर कहता है कि 'मेरा एक नालीके सम्बन्धमें पड़ोसीसे झगड़ा हो गया है । आप उसका निपटारा कर दीजिये । मुझे आपका निर्णय सर्वथा मान्य होगा । किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इस नालीका पानी तो जहाँ मैं चाहता हूँ वहीं गिरेगा ।' इस बातको सुनकर पञ्च उसके इस आग्रहको देखकर मन-ही-मन हँसता है और न्यायके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी सलाह देता है । यहाँ अर्जुनकी भी दशा इसी तरहकी-सी देखी जाती है । वह कहता है कि मैं आपके शरण हूँ, आप कहेंगे सो करूँगा, परन्तु युद्ध नहीं करूँगा । इस दशामें भी दयामय भगवान्‌को अर्जुनके इस कथनपर कोई अन्यथाभाव नहीं हुआ, उन्होंने उसे अपने शरणसे दूर नहीं किया । बल्कि हर तरहसे समझा-बुझाकर मार्गपर लानेकी सफल चेष्टा की । क्योंकि वह 'त्वां प्रपन्नम्' 'मैं आपके शरण हूँ' ऐसा एक बार कह चुका था ।

इस कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तवमें अर्जुनकी भगवद्भक्तिमें कमी थी । उसकी भक्तिमें कमी होती तो भगवान् उसके रथके घोड़े ही क्यों हाँकते? बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी लीलासे अर्जुनको मोहित-सा करके यहाँ लोकशिक्षार्थ प्रारम्भिक शरणागतिका स्वरूप दिखलाया है ।

यह तो प्रारम्भिक शरणकी बात हुई । अब शरणागतिके स्वरूपको समझनेकी आवश्यकता है । इन्द्रिय, मन, शरीर और आत्मा सबसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेका नाम ही अनन्य शरणागति है । परमेश्वरके नाम, रूप, गुण, लीला और रहस्यका सदा मनन करते रहना मनसे भगवान्‌के शरण होना है । वाणीसे भगवन्नामका उच्चारण करना, चरणोंसे भगवान्‌के मन्दिर आदिमें जाना, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति आदिके दर्शन एवं शास्त्रावलोकन करना, कानोंसे उनके गुणानुवादादि सुनना तथा हाथोंसे उनके विग्रहकी पूजा करना तथा श्रीहरिकी आज्ञाओंका पालन करना इत्यादि इन्द्रियोंसे उनके शरण होना है । और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करना आदि शरीरसे भगवान्‌के शरण होना है । तथा भगवत्प्रेमके सिवा और किसीको भी हृदयमें स्थान न देकर भगवान्‌के परायण होना ही भगवान्‌के चरणोंमें अपने आपको समर्पित कर देना है । शास्त्रोंमें तो परमदयालु परमात्माको केवल एक ही बार प्रणाम कर देनेका भी बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथे न तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(महाभारत शान्ति० ४७ । ९१)

अर्थात् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम करनेकी तुलना दशाश्वमेधके अवभृथ स्नानसे भी नहीं की जा सकती, क्योंकि दशाश्वमेध करनेवाला तो संसारमें

वापस लौटता है परन्तु श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला वापस नहीं लौटता ।

इसी प्रकार श्रीहरिके पावन नामका केवल एक ही बार उच्चारण कर देनेसे भी समस्त पापोंका नाश होकर अकथनीय फलकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्षमें वैसा फल दृष्टिगत न होनेमें हमारी अश्रद्धा ही प्रधान कारण है ।

वाणीसे शरण होना जितना सुगम है, शरीरकी शरणागति उतनी सुगम नहीं है । एक आदमी किसीका अपराध कर देता है तब वह अपनेको सङ्कटापन्न समझकर क्षमा-याचनाके लिये उसके शरणमें जाता है । उस समय वह अपने मुँहसे तो उससे क्षमा माँग लेता है पर उसके चरणोंमें गिरने आदिमें उसे संकोच होता है । फिर भी वह केवल कथनद्वारा भी अपने अपराधोंकी क्षमा करवा ही लेता है । वाणी और शरीरसे शरण होनेकी अपेक्षा इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणद्वारा शरण होना और भी कठिन है । क्योंकि मनुष्य वाणीसे कह देता है कि मैं आपके शरण हूँ और शरीरसे भी चरणोंमें गिरकर शरणागत हो जाता है परन्तु मनसे शरण होना इससे भी कठिन है । मनसे शरण हो जानेका फल यह है कि भगवान्के सिवा किसी अन्य वस्तुका चिन्तन ही न हो । और इसका फल है आत्मनिवेदन । आत्मनिवेदन होनेपर तो उसे नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम वासुदेव ही सर्वत्र विराजित दीखने लगते हैं ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके शरण हो जानेपर किसी-किसी साधकको तो अपने तनकी भी सुधि नहीं रहती । वह भगवान्से परे और किसीको नहीं जानता और भगवान्के ही अनन्य प्रेममें मग्न रहता है । इस शरणागतिमें पूर्वोक्त सभी भेदोंका अन्तर्भाव है ।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि हम उस प्रभुकी शरणके लिये कहाँ जायँ ? मन्दिरमें जाकर उसके विग्रहकी शरण लें अथवा सब जगह प्रतिष्ठित सर्वव्यापक विभुकी शरण ग्रहण करें ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि जिसकी जैसी रुचि हो वह उसीके अनुसार भगवान्की शरण ले सकता है । यदि कारणविशेषसे मन्दिरोंमें जानेमें असुविधा प्रतीत हो तो जो जहाँ हो वह वहीं भगवान्की शरण हो सकता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक हैं, कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों । यदि हम उन्हें कोई वस्तु अर्पण करना चाहें तो वे तत्काल उसे ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि वे 'सर्वतःपाणि' अर्थात् सब ओर हाथोंवाले हैं । यदि हम उन्हें नमस्कार करना चाहें तो वे हमारे नमस्कारको भी सब जगह स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वतःपाद' अर्थात् सब जगह पैरवाले हैं । यदि हम उन्हें अपनी श्रद्धामयी पूजा-क्रियादिको दिखलाना चाहें तो वे उन्हें देख भी सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वतोऽक्षि' अर्थात् सब जगह नेत्रोंवाले हैं । यदि हम उनके मस्तकपर प्रेमपुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहें तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वतःशिरः' अर्थात् सब स्थानोंपर सिरवाले हैं । हमारे द्वारा किये गये गुणानुवादोंको भी वे प्रभु सभी जगह सुन सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वतःश्रुतिमत्' अर्थात् सब जगह कानोंवाले हैं । इसी प्रकार प्रेमसे अर्पण किये हुए हमारे नैवेद्यको भी वे 'सर्वतोमुखः' भगवान् निःसंकोच खा सकते हैं ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

अर्थात् पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ

यह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीति-सहित खाता हूँ ।

ऊपरकी पंक्तियोंमें भगवान्‌के निमित्त पूजा आदि क्रियाओंको करनेकी विधिका निरूपण किया गया । अब निराकार सर्वत्र व्यापक भगवान् विभुकी आज्ञाएँ कैसे प्राप्त की जायँ इस विषयपर कुछ लिखा जाता है । गीताके उपदेशोंको ही भगवान्‌की आज्ञा मानकर अर्जुनकी तरह अपने-आपको उसके अनुगत बना दें । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि किसी सन्दिग्ध विषयको न समझ सकनेकी दशामें उसका समाधान किस प्रकार किया जाय । इसका उत्तर यह है कि एकान्तमें बैठकर 'सर्वभूताशयस्थित' भगवान्‌को अपने मनके समस्त सन्देह सुना दे, ऐसा करनेपर वे स्वतः ही हृदयमें प्रेरणा कर देंगे । इसपर भी हृदयकी मलिनताके कारण यदि कोई बात समझमें न आ सके तो भगवान्‌के भक्तोंको पूछना चाहिये । उन भक्तोंका पता भी भगवान् ही बतला सकेंगे, वे जिनके लिये हृदयमें प्रेरणा करें वे ही हमारे लिये भक्त कहे जा सकते हैं ।

हम भगवान्‌की शरण हो गये—इसका निश्चय कैसे हो ? हम अपनी तरफसे तो मुँहसे कहकर शरण हो जाते हैं और भगवान् भी एक प्रकारसे स्वीकार कर लेते हैं, पर यह स्वीकृति साधारण है, पूर्ण नहीं । भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥
(गीता १८ । ६३)

अर्थात्—इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर ।

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन अभीतक पूर्णतया शरण नहीं हुआ था । किन्तु जब भगवान्‌ने अर्जुनको 'यथेच्छसि तथा कुरु' सुनकर उदास-सा हो गया देखा तब भगवान्‌ने कहा कि 'हे अर्जुन ! तू मेरा अतिशय प्रिय भक्त है इसलिये फिर भी मैं तेरे हितके लिये अत्यन्त गुह्यतम रहस्यकी बात सुनाता हूँ ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८ । ६५)

इस श्लोकमें शरणागतिकी चारों बातें आ गयीं । 'मन्मना' अर्थात् मेरेमें मन लगानेवाला हो । 'मद्भक्तः' मुझमें ही, स्त्री-पुत्रादिमें नहीं—प्रेम करनेवाला हो । 'मद्याजी' से भगवान्‌की पूजा और आज्ञापालन समझना चाहिये । 'नमस्कुरु' अर्थात् मेरे चरणोंमें प्रणाम कर । प्रणाम करनेका महत्त्व तो लोकमें भी प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है । जब अपराधी चरणोंमें गिर पड़ता है तो चाहे कोई कितना ही निष्ठुरहृदय क्यों न हो उसे उसको क्षमा प्रदान करनी ही पड़ती है । बालक अपराध करके अपनी माताकी गोदमें जा बैठता है और बड़ा चरणोंमें गिर पड़ता है । इसी प्रकार भक्त अपने परम सुहृद परमात्माके पादपद्मोंमें गिर पड़े । फिर वे चाहे मारें या तारें; इसकी कोई परवा नहीं, भगवान्‌के द्वारा किये हुए विधानमें सदा प्रसन्न रहे, भारी-से-भारी दुःख पड़नेपर भी कभी विचलित न हो । जिस समय बालकके फोड़ेकी चीराफाड़ी होती है उस समय वह अपनी माताकी गोदमें सुखसे बैठा रहता है, जरा भी घबराता नहीं । वह रोता हुआ भी इस बातको जानता है कि मेरी स्नेहमयी जननी कभी स्वप्नमें भी मेरा अहित नहीं कर सकती । उसका प्रत्येक विधान मेरे लिये सदा मंगलमय ही होता है । इसी प्रकार भक्त निःशङ्क होकर विश्वासपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा रहता है । भारी-से-भारी दुःखके उपस्थित होनेपर भी

बुद्धिके विचारसे वह उसके गर्भमें अपने कल्याणको देखता रहता है किन्तु कभी-कभी प्रणय-कोप भी कर बैठता है और कभी-कभी रोने भी लगता है। प्रभु उसके बालकपनको समझकर उसके दुःखकी, उसके रोनेकी परवा नहीं करते और अन्तमें उसे ऐसा बना देते हैं कि—वह प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहता है। अनिकेत बन जाता है—देह और गेह उसके निकेत नहीं रहते। उसका देहाभिमान छूट जाता है और उसकी गृहासक्ति नष्ट हो जाती है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२।१९)

इस प्रकार बुद्धिके स्थिर हो जानेपर वह प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहता है। गीताके १२ वें अध्यायके श्लोक १३ से २० तकमें भक्तोंके जितने लक्षण भगवान्‌ने बतलाये हैं यदि वे हममें घटने लगें तो समझ लेना चाहिये कि हम भगवान्‌के पूर्ण शरण हो गये।

यहाँतक शरणागतिकी प्रारम्भिक और अन्तिम स्थितिका प्रतिपादन किया गया। अब उसके क्रमिक विकास उसकी बीचकी सीढ़ियोंपर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार हनुमान्‌जीने छलाँग मारकर ही समुद्रको पार कर लिया था उसी प्रकार भक्त भी बीचकी सीढ़ियोंपर चढ़े बिना भी संसारसमुद्रसे पार होकर परमात्माकी दयासे अपने अभीष्ट धामको पहुँच सकता है। भक्तराज विभीषण, भक्त बिल्वमङ्गल आदि इसी श्रेणीके भक्त हुए हैं, जो बीचकी सीढ़ियोंपर बिना ही चढ़े भगवत्कृपासे उच्च स्थितिपर पहुँच गये थे।

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा वर्णित अध्याय १६ के आरम्भके 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' आदि दैवीसम्पदाके २६ गुणोंको अपने हृदयमें धारण कर लेना ही शरणागतिकी अन्तिम अवस्था—अन्तिम सीढ़ीपर चढ़ना है। इसका फल भगवत्प्राप्ति है।

यदि कहें कि दैवीसम्पत्तिके लक्षण भक्तिमार्गके साधन क्यों मानें जायँ, तो भगवान्‌ने ९ वीं अध्यायमें स्पष्ट कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गीता ९।१३)

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे तो मेरेको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त हुए निरन्तर भजते हैं।'

यहाँ 'भजन्ति' शब्द आया है और इसके अगले श्लोकमें—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९।१४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मेरेको बारंबार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त हुए अनन्य भक्तिसे मुझे उपासते हैं।'

इस श्लोकमें भक्ति (शरणागति) के लक्षणोंका वर्णन किया है इसलिये दैवीसम्पत्तिको भक्तिके प्रकरणमें लेना उचित ही है। शरणागतिके मार्गपर चलनेवाले साधकके हृदयमें दुर्गुण और दुराचार स्वतः ही नष्ट होते जाते हैं, तथा सदाचार और सद्‌गुणका विकास भी भगवान्‌की दयासे अपने-आप ही होता जाता है। दैवीसम्पदाकी प्राप्ति और आसुरीसम्पदाके नाशमें भगवान्‌की दया ही प्रधान हेतु है। यदि सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती न दीखे तो समझना चाहिये कि शरणमें

अभी त्रुटि है । जैसे सूर्यकी शरण ले लेनेपर अन्धकारको कहीं भी स्थान नहीं रह जाता वैसे ही भगवान्की शरण हो जानेपर हृदयमें किसी प्रकारका दोष रह ही नहीं सकता । शरणागतिकी दृढ़ताके लिये साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये । वह अपने मनको सदा देखता रहे कि उसमें भगवान्का वास हो रहा है या विषयोंका । वह ध्यान रक्खे कि उसकी वाणी भगवद्गुणानुवादका रसानुभव कर रही है या नहीं । उसकी क्रियाएँ भगवान्के बदले कहीं भोगोंके लिये तो नहीं हो रही हैं ? शरीरको समर्पित कर देनेपर तत्सम्बन्धी सुख-दुःखोंमें साधकको भगवान्की दया स्पष्टरूपसे दीखने लगती है । ज्यों-ज्यों भगवान्में प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों विषयोंमें आनन्द कम होता जाता है और भगवान्में बढ़ता जाता है । यही प्रेमकी कसौटी है । इसमें वैराग्यके साधनकी प्रधानता नहीं है, प्रभुमें प्रेम करनेकी आवश्यकता है । भगवान्में जितना प्रेम बढ़ता जायगा—भगवान्का ज्ञान होता जायगा, उतनाही सांसारिक विषयोंमें वैराग्य होकर उनमें स्वतः ही आनन्द कम प्रतीत होने लगेगा । धीरे-धीरे भगवान्के प्रेमका आनन्द बढ़ेगा और फिर उसके सामने त्रिलोकीका आनन्द भी तुच्छ प्रतीत होगा ।

भगवान्के शरणार्थीको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं, सब मंगल ही करते हैं । उनके प्रत्येक विधानमें दया और न्याय मानकर आनन्दित होना चाहिये । उन्हीं नवीन कर्मोंको करना चाहिये जिनसे भगवान् प्रसन्न हों । भगवान्को हर समय याद रखना चाहिये । स्त्री-पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर यह समझे कि भगवत्-प्राप्तिमें सहायताके लिये ये मिले हैं, और इनके नाश होनेपर यह समझे कि मैं इनकी आसक्तिमें फँस गया था इसलिये भगवान्ने दया करके इनको हटा लिया है । इसी प्रकार अन्य विषयोंकी प्राप्ति और विनाशमें भी समझना चाहिये ।

यों करते-करते मनका जितना-जितना विकार हटता जाता है, उतना-उतना ही वह प्रभुके नजदीक जाता रहता है । प्रभुकी दयासे उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होती रहती है । वह किसीकी सेवा करता है तो यह समझता है कि मैं प्रभुकी ही सेवा कर रहा हूँ । हरेक कालमें उसका निःस्वार्थ भाव रहता है । जैसे पतिव्रता स्त्री अतिथियोंकी सेवा करती है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होती, इसी प्रकार भक्त भी सारी दुनियाकी सेवा करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता ।

किसी-किसी भक्तमें ऐसा भी होता है कि जब सेवा करनेसे उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है तब यद्यपि आरम्भमें तो वह उससे प्रसन्न-सा होता है और खूब सेवा करता है परन्तु आगे जाकर विचार करता है कि मैं तो मान-बड़ाईके लिये सेवा कर रहा हूँ, प्रभुके लिये कहाँ ? धीरे-धीरे उसकी मान-बड़ाईकी चाह कम होती जाती है और वह स्वयं मान-बड़ाईके उद्देश्यको छोड़ता जाता है परन्तु फिर भी दूसरोंके द्वारा दी गयी मान-बड़ाईको कहीं स्वीकार कर बैठता है । इसके बाद वह मान बड़ाईके प्राप्त होनेपर लज्जित हो जाता है। मनमें समझता है कि पृथ्वी फट जाय तो उसमें धँस जाऊँ, और इसके बाद तो जहाँ ऐसा मौका आनेकी सम्भावना होती है वहाँ वह वैसे ही जाना नहीं चाहता, जैसे पतिव्रता स्त्री बुरे वातावरणमें नहीं जाना चाहती । ऐसी अवस्थामें उसे मान-बड़ाईमें दुःख और अपमान तथा निन्दामें सुख-सा प्रतीत होने लगता है । इसी प्रकार क्रमशः उसके अहंकारका नाश होता जाता है, वह विचार करता है कि मुझमें जो 'मैं' था, वह 'मैं' तो प्रभुके शरण हो गया ।

अब तो मैं प्रभुकी कठपुतली मात्र हूँ । इसी स्थितिको बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं—

> **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।**
> **अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥**
> **तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।**
> **भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥**
> (गीता १२ । ६-७)

अर्थात् जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं । हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।

मतलब यह कि जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार जैसे नचाता है वह वैसे ही नाचती है । अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं करती । वैसे ही वह भक्त अपने अहंकारसे कुछ भी नहीं करता । उसके द्वारा जो कुछ होता है, सब भगवान् ही करते हैं, इसीलिये उसकी प्रत्येक क्रिया परम पवित्र और आदर्श होती है । उससे ऐसा कोई कार्य होता ही नहीं जो भगवान्की आज्ञा और रुचिके प्रतिकूल हो । यही कर्मोंका अर्पण है । उसके मन, शरीर और इन्द्रियाँ सब कुछ भगवान्के ही अर्पित होती हैं । इससे वह किसी प्रकारके भी सुख-दुःखकी प्राप्तिमें किसी प्रकार भी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता । वरं उसे भगवान्का विधान समझकर पद-पदमें भगवान्की दयाका दर्शन करता हुआ मुग्ध रहता है । उसका चित्त अनन्यरूपसे केवल भगवान्के ही चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी विषयके अस्तित्वकी भी कल्पना उसकी वृत्तिमें नहीं आती । इस प्रकार कर्मसे, शरीर और इन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिसे जो सर्वथा भगवान्के अर्पित हो जाता है उसे भगवान् स्वयं अति शीघ्र संसारसागरसे उद्धारकर अपना परमप्रेमी बना लेते हैं । और स्वयं उसके परमप्रेमी बन जाते हैं । ऐसी स्थितिमें उसको सब ओर प्रभुका ही रूप दीखने लगता है । वह अपने-आपको सर्वथा भूलकर प्रेममय बन जाता है । तब उसे नीतिका भी ज्ञान नहीं रहता और धर्मकी मर्यादाकी भी सुधि नहीं रहती । वह मस्त हो जाता है । यही पूर्ण शरणागति है, इसीको अनन्यभक्ति कहते हैं, यही अपने-आपको भगवान्के समर्पण करना है ।

* * *

गजकी टेर

गाहत ही गह्यौ गाह अथाहमैं लै गयो खींच थक्यौ बल सारो ।
मीच नगीच है बेगि उबारिय औगुन एक न नेक बिचारो ॥
आरत तोहिं पुकारत हौं हरे ! हेरत हौं असहाय सहारो ।
हारो हियो चलै चारो नहीं करुना करिकै करुनेस निहारो ॥

—रामनारायणदत्त पाण्डेय

मौन-व्याख्यान

(लेखक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

उपदेशकका पद वस्तुतः बहुत ही दायित्वपूर्ण है । अनुभवी पुरुष ही दूसरोंको उपदेश करनेका अधिकारी होता है । जबतक साधना करते-करते किसी विषयमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक उस विषयका उपदेशक बनना अपने और दूसरोंके साथ ठगी करना है । और इसी कारण उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता । खास करके पारमार्थिक विषयमें तो उपदेशक बनना बहुत ही कठिन है । उपदेशकमें निम्नलिखित पाँच बातें अवश्य ही होनी चाहिये । १—जिस विषयका उपदेश करे उसका पारदर्शी हो, २—जिस साधनाका उपदेश करे, उसको स्वयं करनेवाला हो, ३—उपदेशमें धन, मान, पूजा आदिकी प्राप्तिके रूपमें अपना किञ्चित् भी स्वार्थ न हो, ४—जिस विषयका उपदेश करे वह विषय परिणाममें सबके लिये कल्याणकारक हो और ५—उपदेशमें किसी प्रकारका भी दम्भाचरण न हो । जिस उपदेशकमें ये पाँचों बातें होती हैं, उसके उपदेशका बड़ा प्रभाव पड़ता है । यद्यपि आकर्षक भाषा, शब्दसौन्दर्य और यथायोग्य भावोंका प्रदर्शन आदि साधन श्रोताओंके चित्तको खींचनेमें बहुत सहायक होते हैं, परन्तु ये सब व्याख्यान-कलाकी चीजें हैं । कलाके साथ हृदयके परम शुद्ध और कल्याणकारक भावोंका संयोग हो, तभी उस कलासे विशेष लोकोपकार होता है । जो कला केवल कलाके लिये होती है अथवा जिस कलाके प्रदर्शनमें कुवासनाओंके उत्पादक और वर्द्धक दूषित भावोंका संयोग होता है, वह कला समाजके लिये कभी हितकर नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही विकसित और आकर्षक क्यों न हो । इसके विपरीत जिस अनुभवपूर्ण वाणीमें सत्य, प्रेम, सरलता और निःस्वार्थ लोकसेवाकी भावना होती है, वह कलाकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेपर भी समाजके लिये अत्यन्त कल्याणकारिणी होती है । उपदेशकमें उपर्युक्त पाँच गुणोंके साथ वाग्मिताकी कला भी हो तो वह सोनेमें सुगन्धके समान है । और ऐसा उपदेशक जगत्की बहुत सेवा कर सकता है । परन्तु यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि जबतक मनुष्यके मनमें आत्मसुधारकी प्रबल आकांक्षा नहीं है—और आत्मसंशोधन और आत्मोत्थानके लिये प्राणपणसे प्रयत्न नहीं किया जाता, तबतक उपदेशक बननेकी इच्छा करना या उपदेशक बनना विडम्बनामात्र है ।

सच्ची बात तो यह है कि जिनमें उपदेश देनेके योग्य सद्गुण हैं, उनको भी उपदेशक बननेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये । जबतक ऐसी इच्छा है तबतक कुछ-न-कुछ दुर्बलता मनमें छिपी है । महापुरुषोंके आचरण ही आदर्श सत्कर्म और उनके स्वाभाविक वचन ही उपदेश होते हैं । वे वस्तुतः न तो उपदेशक बनते हैं और न कहलाते हैं । उनको करनी-कहनीसे अपने-आप ही जगत्को उपदेश मिलता है, और इस सच्चे उपदेशका क्षेत्र आरम्भमें बहुत विस्तृत न होनेपर भी इसका जो कुछ प्रभाव होता है, वह बहुत ही ठोस, स्थायी और आगे चलकर बहुत ही व्यापक हो जाता है । उपदेश देनेकी तो इच्छा ही मनमें न होनी चाहिये । अपने शरीर-मन-वाणीसे होनेवाली क्रियाओंमें भी यह भाव न रहे कि इन्हें देखकर लोग इनसे शिक्षा ग्रहण करें । ऐसी चेष्टा करे जिसमें स्वाभाविक ही सब क्रियाएँ सत्यके आधारपर हों और निर्मल हों, निरन्तर इस बातको देखता रहे कि मेरे अन्दर सत्त्वगुण बढ़ रहा है या नहीं । यदि सत्त्वगुण बढ़ गया तो रज और तम अपने-आप ही दब जायँगे । सत्त्वकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है । जिसके हृदयमें शुद्ध सत्त्वभाव है और जिसकी क्रियाओंमें सत्त्वगुणकी प्रबलता है, उसके द्वारा जो कुछ होता है, सभी लोककल्याणकारी होता है । वह जहाँ निवास करता है, वहाँका वातावरण शुद्ध

होता है। वातावरणकी शुद्धिसे परमाणुओंमें शुद्धि आती है और वे परमाणु जहाँतक फैलते हैं, जिसके साथ जाते हैं, वहीं शुद्धि करते हैं।

उपदेशक बनना कोई पेशेकी चीज नहीं है। यह तो बहुत बड़े अधिकारकी बात है जो वैसी योग्यता होनेपर ही प्राप्त होता है। जहाँ अयोग्य और अनधिकारी उपदेशक होते हैं, वहाँ प्रथम तो उपदेशका असर नहीं होता, और जो कुछ होता है वह प्रायः विपरीत होता है। उपदेशककी वाणीके साथ जब लोग उसके आचरणका मिलान करके देखते हैं और जब वाणी एवं आचरणमें परस्पर बहुत अन्तर पाते हैं, तब उनकी या तो उस वाणीपर श्रद्धा नष्ट हो जाती है, अथवा इससे उन्हें यह शिक्षा मिलती है कि कहनेमें अच्छापन होना चाहिये, क्रिया चाहे उसके विपरीत ही हो। और ऐसी शिक्षाके ग्रहण हो जानेपर मनुष्यमें दम्भादि दोष सहज ही आ जाते हैं, जिनसे उसका पतन हो जाता है। व्यक्तियोंके भाव ही समाजमें फैलते हैं और यों समाजभरका पतन होने लगता है। समाजके इस पतनमें प्रधानतया अयोग्य उपदेशक ही कारण होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग स्वयं सुधरे हुए नहीं हैं, जिनमें स्वयं सद्गुण नहीं हैं, जो स्वयं किसी विषयके अनुभवी नहीं हैं, वे यदि उपदेशकका बाना धारणकर किसी स्वार्थसे या दम्भसे सुधारका और सद्गुणोंका उपदेश करते हैं अथवा बिना अनुभव किये विषयमें अपनी दक्षता प्रकट करते हैं तो समाजके प्रति अपराध करते हैं। अवश्य ही साधकोंका परस्पर हरिचर्चा करना, कथावाचकोंका कथा कहना, मित्रमण्डलीमें सत्-चर्चा करना, स्कूलके अध्यापकोंका बच्चोंके प्रति उपदेश करना आदि इस अपराधमें नहीं गिने जा सकते, तथापि यहाँ भी इतनी बात तो है ही कि उपदेशके साथ आचरण होता तो उसका परिणाम कुछ विलक्षण ही होता।

पारमार्थिक गुरुका आसन तो बहुत ही जिम्मेवारीका पद है। इसमें तो मनुष्यके जीवनको लेकर खेलना है। अनुभवी गुरुओंके अभावसे ही शिष्योंका पतन होता है। गुरुओंमें जैसा आचरण होता है, शिष्य उसीका अनुसरण करते हैं। गुरु यदि विषयी होता है, कामी, क्रोधी या लोभी होता है तो शिष्य भी वैसे ही बन जाते हैं, अतएव गुरुका पद स्वीकार करना तो खाँड़ेकी धारके समान है। जो विषयी गुरु अपने दुर्गुणोंका आदर्श सामने रखकर शिष्योंके पतनमें कारण होता है, उसकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुभवी तत्त्वज्ञ गुरुकी कृपाके बिना भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता, और यह भी ध्रुव सत्य है कि ऐसे गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परब्रह्म समझकर सतत प्रणाम और आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत्कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

मुझको आचार्य गुरु समझना, मनुष्य समझकर मेरी अवज्ञा या असूया न करना, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।

परन्तु यह बात उन्हीं गुरुओंपर लागू होती है जो शिष्यके अज्ञानका नाश करनेके लिये भगवत्सेवाके भावसे ही गुरुपदको स्वीकार करते हैं, जो गुरु बनकर भी परम ज्ञान-दानके द्वारा भगवत्स्वरूप शिष्यकी सेवा ही करना चाहते हैं, ऐसे गुरु ही शिष्यका भवबन्ध काटनेमें समर्थ होते हैं। जो अपने शरीरकी सेवा कराना चाहते हैं, शिष्यके धनसे अपने लिये विलाससामग्रीका संग्रह करनेकी इच्छा रखते हैं, एवं मान और पूजाके लिये ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं, उन गुरुओंसे भवबन्धका छेदन नहीं हो सकता। और न उनके लिये ये शब्द ही हैं।

शिष्यकी श्रद्धाके प्रतापसे कहीं-कहीं अयोग्य गुरुसे भी लाभ हो जाता है परन्तु इसमें शिष्यको श्रद्धा ही कारण होती है, जिसके कारण वह उस लाभमें अपनी

श्रद्धाको कारण न समझकर गुरुकृपाको ही कारण मानता है। परन्तु गुरु बननेवालेको ऐसे अवसरोंपर सावधान रहना चाहिये, और शिष्यकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करके अपनेको ठगना नहीं चाहिये।

सच्चे गुरुओंको विशेष उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, उनके आचरणसे ही शिक्षा मिल जाती है। यहाँतक कि उनके कृपालु हृदयमें शिष्यकी स्मृति हो जाने मात्रसे अथवा उनकी कृपामयी मूर्तिके दर्शन मात्रसे ही कल्याण हो जाता है। इसीलिये सत् शिष्य साधक 'गुरोः कृपा हि केवलम्' मानते हैं। ऐसे गुरुओंकी अज्ञात कृपासे चुपचाप शिष्यके हृदयमें शक्तिसञ्चार होकर उस शक्तिके प्रतापसे शिष्यका समस्त संशय नष्ट हो जाता है। यों अदृश्यरूपमें गुरु-शक्तिकी क्रिया चलती रहती है। यद्यपि गुरुकृत मौखिक उपदेशकी सार्थकता है, और साधारणतया उसकी आवश्यकता भी बहुत है, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि वाणीकी अपेक्षा संकल्पकी शक्ति कहीं अधिक है। और एक बात यह भी है कि कुछ बहुत ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महान् पुरुषोंको छोड़कर अन्य लोगोंकी, जो वाणीका बहुत अधिक प्रयोग करते हैं, पवित्र संकल्पशक्तिका ह्रास भी हो जाता है। इसीलिये बहुत-से सत्पुरुष यथासाध्य बहुत ही कम बोला करते हैं। (यद्यपि यह नियम नहीं है) ऐसे संकल्पशक्तिसम्पन्न महात्मा यदि चाहें तो मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर केवल अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे, आभ्यन्तरिक स्वाभाविकी शुभ भावनासे, अथवा संकल्पशक्तिके प्रभावसे शिष्यका अशेष कल्याण कर सकते हैं। और यह जाना गया है ऐसे महापुरुषगण शिष्यकी मानसिक स्थिति देखकर, उसकी धारणाके योग्य पात्रताका अनुभवकर धीरे-धीरे चुपचाप उसमें यथायोग्य शक्ति-सञ्चार करते हुए उसकी मानसिक स्थिति और धारणाभूमिको क्रमशः उच्चसे उच्चतर अवस्थामें पहुँचाते रहते हैं और जब देखते हैं, कि यह शक्तिको पूर्णतया धारण करनेयोग्य हो गया, तब उसमें शक्तिका पूरा सञ्चारकर क्षणमात्रमें ही दिव्य प्रकाशकी ज्योतिसे उसका अनादिकालीन अज्ञानान्धकार हर लेते हैं। यों बिना ही उपदेशके उसका जीवन धन्य और कृतकृत्य हो जाता है!

इसीसे यह कहा गया है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

'क्या ही आश्चर्य है, पवित्र वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और युवा गुरु विराजमान हैं। गुरुका मौन-व्याख्यान हो रहा है और उसीसे शिष्योंका संशय कट गया है।'

वस्तुतः आत्माराम महापुरुषमें आत्माकी दृष्टिसे बाल, युवा या वृद्ध किसी अवस्थाका होना सम्भव नहीं। आत्मा नित्य ही युवा है क्योंकि वह एकरस है। ऐसे गुरुके समीप आनेवाले अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए जीवरूप शिष्योंका अत्यन्त वृद्ध होना भी उचित है। परन्तु जो ऐसे गुरुके सामने आ गया और जिसको ऐसे गुरुने शिष्य स्वीकार कर लिया, उसके अज्ञानका नाश हो ही गया समझना चाहिये। क्योंकि ऐसे महापुरुषोंका किसीको स्वीकार कर लेना निश्चय ही अमोघ होता है।

परन्तु आजके ज़मानेमें जहाँ गली-गली उपदेशक और गुरु मिलते हैं, ऐसे सद्गुरु महात्माओंका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ऐसे महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। अतएव जिनको इस प्रकारके महात्माओंके दर्शन और गुरुरूपसे वरण करनेकी प्रबल इच्छा हो उन्हें भगवान्के सामने कातरभावसे रोना चाहिये। भगवान्की कृपा होनेपर उनकी प्रेरणासे ऐसे महात्मा आप ही आकर मिल जायँगे, अथवा स्वयं भगवान् ही ऐसे गुरुरूपसे प्रकट होकर शिष्यका उद्धार कर देंगे।

दण्डी स्वामी श्रीगोपालतीर्थजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

प्रश्न—प्रेम किसे कहते हैं ?

उत्तर—हृदयकी आकर्षण सत्ताका नाम साधारण भाषामें प्रेम है। और यही बहुरूपा शक्ति है। जैसे जब यह प्रेम छोटोंपर किया जाता है तब इस प्रेमका रूप स्नेहमें परिणत हो जाता है, जब यह प्रेम दीन-दुखियोंपर किया जाता है, तो दया कहलाता है, जब यह प्रेम बड़ोंपर किया जाता है, तब यह श्रद्धाका रूप धारण कर लेता है, और जब स्त्री आदिमें किया जाता है तो यही प्रणयका रूप धारण कर लेता है। प्रेमकी बड़ी सत्ता है। क्योंकि श्रद्धा विश्वासस्वरूप प्रेम ही है।

प्रश्न—भगवत्-प्राप्तिका सरल साधन कौन-सा है ?

उत्तर—हृदयकी सरलता यानी हरमें हर देखना।

कृष्ण समायो जगतमें, व्यापक और स्थूल।
डाल पात फल फूलमें, वही बीज वहि मूल॥
जो तू चाहत एकको, तो एक एकमें देख।
जैसे फूटी आरसी, टूक टूकमें देख॥

हृदयकी सरलता वही है कि जिससे अभिमान छोड़कर सबमें सर्वज्ञको देखा जाता है। किसी बनावटका आश्रय नहीं होता।

प्रश्न—कीर्तनको आप कैसा समझते हैं ?

उत्तर—कीर्तन एक उत्तम साधन है। क्योंकि इसमें मन, कर्म, वचन तीनोंसे कार्य लिया जाता है। और भगवान्‌को प्रसन्न करनेका यही सरल साधन हो सकता है। इसीको पूज्यपाद भगवान् पतञ्जलिने संयम बतलाया है (त्रयमेकत्र संयमः) तीनोंको एकत्र करना ही संयम है।

प्रश्न—भक्तिके विघ्न कौन-से हैं ?

उत्तर—अश्रद्धा अर्थात् कार्य करना किन्तु मनकी चञ्चलता या मलिनतासे उसपर दृढ़ विश्वास न होना। मनकी मलिनता क्या है ? अस्मिता अर्थात् अहङ्कार।

गीतामें लिखा है जो श्रद्धावान् पुरुष मुझे भजता है वह मेरा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। और जो श्रद्धासे नहीं भजता उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न—नामकी क्या महिमा है ?

उत्तर—

कहौं कहाँ लगि नाम-बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई॥

वास्तवमें नामका गान तभीतक होता है, जबतक नामीसे पूर्णतया सान्निध्य प्राप्त न हो। जब भक्तोंको वह नामी प्राप्त हो जाता है, तब भक्तजन अपने प्रभुको पाकर आनन्दमें विभोर हो जाते हैं। तब नाम-गान कीर्तन या प्रेमीको पुकारना समाप्त हो जाता है। इसीको समाधि कहते हैं। इसमें प्रभुका नाम जपने और पुकारनेवाला प्रभुके मिलनानन्दमें उस पुकारको भूल जाता है। तब भक्तको अपनी सत्ताका भी किञ्चित् भान नहीं रहता, फिर कौन किसको कैसे पुकारे ?

प्रश्न—भक्त कौन है ?

उत्तर—भक्तिके ये लक्षण जिसमें पाये जायँ वही भक्त है। नामको सुनकर रोमाञ्च और गद्गद कण्ठ हो जाय, नेत्र अपने प्रेम-विन्दुओंसे भगवान्‌के कण्ठमें मुक्तमाल पहिनाते हों, मस्तिष्क भगवान्‌के भावमें परिपूर्ण होकर अपनी सत्ताका समर्पण भगवान्‌के चरणोंमें करता हो, भक्तोंको पाकर उन्हें भगवान्‌के कृपापात्र जानकर उनसे छलरहित नम्र वाणीसे भगवान्‌का गुणानुवाद सुननेकी अभिलाषासे कर्ण उत्सुक हों, समस्त जगत्‌को भगवान्‌का विराट्स्वरूप जानकर आदरसहित व्यवहार करे, हर समय अपने मनोमन्दिरमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन और पूजा करे। भक्तोंके असीम गुण हैं। भक्तोंका असली लक्षण तो यह है कि भगवान्‌से रहित किसी स्थानको न जाने।

रासलीला-रहस्य

(लेखक—एक महात्मा)

[गताङ्कसे आगे]

अब 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' इसपर कुछ और विचार करते हैं। 'रात्रीः परमरससमर्पयित्रीः' अर्थात् परमानन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्ण और गोपांगनाओंको परमरस समर्पण करनेवाली उन रात्रियोंको देखकर। यहाँ 'ताः' शब्द विलक्षणताका द्योतक है। उनमें मुख्य विलक्षणता तो यही थी कि जिन भगवान् श्रीकृष्णके विप्रयोगमें गोपांगनाओंको एक-एक पल युगोंके समान बीतता था उन्हींने इन रात्रियोंको अपने सहवास-सौभाग्यके लिये नियुक्त किया था। व्रजांगनाएँ संसारमें सबसे बड़ा सौभाग्य क्या समझती थीं ? वे कहती हैं—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम
सख्यः पशूननु विवेशयतो वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥

यहाँ व्रजांगनाओंने संसारभरमें सबसे बड़ा फल यही बताया है कि जिन्हें विधाताने नेत्र दिये हैं, वे अपने समवयस्क बालकोंके साथ पशुओंको गोष्ठमें प्रवेश कराते हुए दोनों नन्दकुमारोंके अनुरक्त कटाक्षमोक्षमण्डित वंशी-विभूषित मुखारविन्दका पान करें। इसके सिवा कोई और भी फल हो सकता है, परन्तु हम तो जानती नहीं। स्मरण रहे, ये श्रुतियाँ हैं—साक्षात् श्रुतिदेवियाँ हैं, यदि ये ही नहीं जानतीं तो और कौन जानेगा ?

इस श्लोकमें 'व्रजेशसुतयोः' यह तो द्विवचन है किन्तु 'वक्त्रम्' एक वचन है। इसका क्या रहस्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि गोपांगनाओंका अभिमत तो केवल भगवान् श्रीकृष्णका ही मुखचन्द्र है; परन्तु परकीया थीं न ? इसलिये अपना भाव छिपानेके लिये द्विवचन दिया। किन्तु जबतक वे प्रेमातिशयसे विभोर न हुईं तबतक तो भावगोपन कर लिया, पर प्रेमातिरेक होनेपर वे अपनेको न सम्हाल सकीं और उनके मुखसे 'वक्त्रम्'…'अनुवेणुजुष्टम्' निकल ही गया।

उस वेणुजुष्ट मुखका विशेषण 'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्' दिया है। यह उसकी मधुरता और लावण्य सूचित करनेके लिये है। अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णके मुखचन्द्रपर अनुरागिणी गोपांगनाओंके कटाक्षबाण छूटते थे; अथवा जिस मुखमें अनुरागिणी व्रजांगनाओंके लिये कटाक्षमोक्ष होता था। अतः भगवान्का रसस्वरूप मुख ही व्रजबालाओंका ध्येय है, इन्हें भगवत्सम्बन्ध ही परम अभिलषित था। इसीके लिये वे दूसरोंसे ईर्ष्या भी करती थीं। एक जगह वे कहती हैं—

धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥

उन्हें इस समय यह भी ध्यान नहीं था कि ये हरिणियाँ चेतन हैं या अचेतन—इन्हें वस्तुतः भगवान्के प्रति अनुराग है या नहीं। इसीसे वे कहती हैं कि इन हरिणियोंका जो प्रेमरसप्लुत नेत्रोंसे निरीक्षण है उसके द्वारा वे मानो भगवान्की पूजा ही करती हैं। यही नहीं, वे वहाँकी भीलनियोंके सौभाग्यकी भी सराहना करती हैं—

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥

वृन्दारण्यके जो तृण-गुल्म-लतादि हैं उनसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका संयोग होनेके कारण उनमें जो भगवान्के पादपद्मोंमें लगा हुआ प्रियतमाओंका कुचकुङ्कुम लग गया है उसके सौगन्ध्यसे विमुग्ध होकर कामज्वरसे सन्तप्त हुई भीलनियाँ उस कुङ्कुमको अपने हृदयमुखमें लगाकर उस तापको शान्त करती हैं। वे बड़ी भाग्यशीला हैं।

उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके साथ अनुरागिणी व्रजांगनाओंका संयोग करानेवाली इन रात्रियोंकी विलक्षणताका कौन वर्णन कर सकता है ? जबसे भगवान्ने कहा था कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' तभीसे गोपांगनाओंकी दृष्टि इन्हीं रात्रियोंपर

लगी रहती थी। इन रात्रियोंका सर्वत्र ताः इमाः आदि सर्वनामोंके सहित ही वर्णन किया गया है। एक बार भगवान्ने भी उद्धवजीसे कहा था—

> **तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता**
> **मयैव वृन्दावनगोचरेण ।**
> **क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां**
> **हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥**

हे उद्धव ! उन व्रजांगनाओंने अपने परम प्रियतम मेरे साथ वे अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ आधे क्षणके समान बिता दी थीं। जिस प्रकार समाधिस्थ योगियोंको अत्यन्त दीर्घ-काल भी कुछ मालूम नहीं होता उसी प्रकार मेरे साथ उन्हें वे रात्रियाँ कुछ भी न जान पड़ीं। किन्तु अब मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये कल्पके समान हो जाती थीं।

यहाँ 'मया' शब्दमें भी विलक्षणता है। इससे अस्मत्-प्रत्ययगोचर शुद्ध परब्रह्म भी ग्रहण किया जा सकता है। उसके साथ योग होनेपर भी समय कुछ मालूम नहीं होता। अतः इससे पूर्ण योगीन्द्र भी ग्रहण किये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ अस्मत्प्रत्ययगोचर शुद्ध ब्रह्म अभिप्रेत नहीं है बल्कि वृन्दावन-गोचर परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही अभिप्रेत हैं। फैली हुई वस्तु यदि इकट्ठी हो जाय तो उसमें कुछ विलक्षणता हो ही जाती है। अतः जो व्यापक पूर्णतत्त्व श्यामसुन्दर-रूपमें वृन्दारण्यमें गोचर हुआ उसमें विलक्षणता होनी ही चाहिये।

अथवा 'वृन्दावने गाः चारयतीति वृन्दावनगोचरः'—वृन्दावनमें गौ चरानेके कारण ही भगवान् वृन्दावनगोचर हैं। जो परब्रह्म निर्विशेष है वही यदि वृन्दावनमें गौ चरानेवाला हो जाय तो उसके प्रति प्रेमातिशय होना ही चाहिये; क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वारसिकी प्रीतिका विषय नहीं हो सकता। उसका विषय तो यह वृन्दावनस्थ कृष्ण ही हो सकता है। स्वारसिकी प्रीति प्रायः सजातीयोंमें ही होती है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम तो मनुष्यरूपमें अभिव्यक्त हुए; फिर गोप होनेके कारण अपने सजातीय ही थे। इसलिये ऐश्वर्यादिशून्य होनेके कारण उनके प्रति गोपोंका निःसंकोच भाव रहता था। इसीसे गोपालरूपसे प्रकट हुए भगवान्के प्रति उन गोपालिकाओंकी निःशङ्क प्रीति हुई।

अथवा '**वृन्दावने वृन्दावनवर्तिनां गाः इन्द्रियाणि चारयति स्वस्मिन् प्रवर्तयति इति वृन्दावनगोचरः**'—वे वृन्दावनवर्ती गोप, बालक, गोपांगना, वत्स, पशु, पक्षी और सरीसृप सभीकी इन्द्रियोंको अपने प्रति प्रवृत्त करते हैं। इसलिये वृन्दावनगोचर हैं। अहो ! जो भगवान् ब्रह्मादिकी भी इन्द्रियोंके अगोचर हैं, जो बड़े-बड़े योगीन्द्र मुनीन्द्रोंकी इन्द्रियोंके भी विषय नहीं होते वे ही अपनी असीम कृपासे वृन्दावनवर्ती जीवोंकी समस्त इन्द्रियों-के विषय हो रहे हैं। इसीसे कहा है—

> **इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या**
> **दास्यङ्गतानां परदैवतेन ।**
> **मायाश्रितानां नरदारकेण**
> **साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥**

उन परम पुण्यवान् व्रजवासियोंने उन भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रके साथ क्रीडाएँ कीं जो सत्पुरुषोंके लिये साक्षात् ब्रह्मा-नन्दमूर्ति, भावुक भक्तोंके परम इष्टदेव और मायामोहित पुरुषोंके लिये नरबालक थे। भावुकोंका तो ऐसा कथन है कि जो ब्रह्म औपनिषदोंके लिये केवल वृत्तिव्याप्य है, बड़े-बड़े भक्तोंकी भी केवल भावनाका ही विषय है और जो अज्ञानियों-के लिये केवल एक बालकमात्र है, वही जिन्हें खेलनेको मिल गया उन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी क्या महिमा कही जाय?

> **ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितम् ।**

उन गँवार ग्वालबालोंके साथ वे ग्रामीणोंकी-सी ही चेष्टाएँ किया करते थे। यह उनके प्रेमातिशयका ही फल था।

यदि कहो कि ऐसा हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि वचनोंके अनुसार ब्रह्म तो समस्त इन्द्रियोंका अविषय है। वह वृन्दावनवासियोंकी इन्द्रियोंका विषय कैसे हो सकता है! तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार वह समस्त इन्द्रियोंका अविषय होनेपर भी 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुतिके अनुसार सूक्ष्म बुद्धिका विषय तो है ही। इसी प्रकार वह प्रेमदृष्टिका भी विषय हो ही सकता है। जिस प्रकार 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुतिको देखकर आप यह कल्पना करते हैं कि वह संस्कृत बुद्धिका ही विषय होता है असंस्कृत बुद्धिका विषय नहीं होता, उसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि वह प्रेमदृष्टिका विषय है; क्योंकि इस सम्बन्धमें ये वाक्य प्रमाण हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः ।

यदि कहो कि नहीं, मनसे ब्रह्म नहीं देखा जा सकता । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस वाक्यका अर्थ केवल इतना ही है कि महावाक्यके श्रवणसे ब्रह्मका आवरण निवृत्त होता है; फिर तो स्वयंप्रकाश ब्रह्मका स्वतः ही स्फुरण हो जायगा । तो हम भी यही कह देंगे कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, प्रेमदृष्टिसे केवल उसका आवरण निवृत्त हो जाता है । अब यदि तुम्हारा ऐसा विचार हो कि इन्द्रियगोचरत्वरूप हेतुके कारण ब्रह्म मिथ्या है तो ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियोंकी अविषयता तो परमाणुओंमें भी है, तथापि वे मिथ्या ही माने गये हैं । अतः बाधित होनेके कारण इन्द्रिय-गोचरतारूप हेतु मिथ्यात्वका साधक नहीं है ।

इससे सिद्ध हुआ कि मेरे सहवासके कारण ही व्रजांगनाओंने अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ क्षणार्धके समान बिता दी थीं और अब मेरे बिना ही उन्हें साधारण रात्रियाँ भी कल्पके समान हो रही हैं । अतः जिन रात्रियोंने उन्हें इतना सुख पहुँचाया वे अवश्य विलक्षण ही थीं ।

इसका एक दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है । महाराज परीक्षितको एक बड़ा सन्देह था । उनके मनमें इस बातका बड़ा उद्वेग था कि भगवान् तो बड़े ही भक्तवत्सल हैं, उन्होंने सदा ही भक्तोंके ऊपर बड़ा अनुग्रह प्रदर्शित किया है; नन्द, उपनन्द आदि वृद्ध गोपोंको तो उन्होंने अपनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ दिखाकर परमानन्द प्रदान किया, तथा उन्हें ब्रह्महृद और महावैकुण्ठका भी दर्शन कराया; परन्तु जो गोपांगनाएँ अनेकों जन्मोंसे उनकी मधुरभावसे उपासना कर रही थीं, जिनमें अन्यपरा श्रुतियाँ, ऋषिचरी और देवकन्या आदि साधनसिद्धा व्रजांगनाएँ सम्मिलित हैं; यहाँतक कि उनमेंसे अनेकोंने तो भगवत्संस्पर्शकी कामनासे ललिता-विशाखा आदि यूथेश्वरियोंकी ही उपासना की थी—उन सबकी ओरसे न जाने भगवान् क्यों उदासीन थे ? उनकी मनोकामना भी तो पूर्ण होनी ही चाहिये थी । भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर गोपांगनाओंकी मनोकामना कैसे पूर्ण हो ? गोपांगनाओंकी तो यह अभिलाषा बहुत समयसे थी किन्तु जबतक भगवान्को रमणाभिलाषा न हो तबतक उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है ? परीक्षितको यह सन्देह हो ही रहा था कि श्रीशुकदेवजी बोल उठे—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

तात्पर्य यह है कि 'भगवानपि उपाश्रितः उपासितः मायां वीक्ष्य ता रात्रीश्चक्रे'—उनके द्वारा इस जन्म और पूर्वजन्मोंमें उपासित हुए भगवान्ने भी मायाकी ओर देखकर वे विलक्षण रात्रियाँ बनायीं ।

इन मुनिरूपा और श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंके भी कई भेद हैं । श्रुतिरूपा व्रजांगनाओंमें जो अनन्यपरा हैं उनमें भी मानिनी और अनभिज्ञा दो भेद हैं । जो श्रुतियाँ निषेधमुखसे परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं वे मानिनी हैं; जैसे 'नेति नेति' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । भावुकोंने इसके बड़े विलक्षण तात्पर्य व्यक्त किये हैं । जिस प्रकार मानिनी नायिका ऊपरसे अनभिलाष दिखलाते हुए भी भीतरसे सर्वथा नायकका ही अनुसरण करती है उसी प्रकार ये निषेधमुख श्रुतियाँ भी 'न-न' करके ही अपने परम ध्येय परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं । 'नेति-नेति वचनामृत बोलती' तथा अनभिज्ञा साक्षात्रूपसे परब्रह्मका निरूपण करती हैं; जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यः साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादि ।

इनके सिवा जो अन्यपरा श्रुतियाँ, मुनिचरी और देवकन्यारूपा व्रजांगनाएँ हैं उनमें कोई तो सख्यभाववाली हैं और कोई कान्तभाववती हैं । इनमें सख्यभाववती परिपक्वा हैं और कान्तभाववती अपरिपक्वा हैं । सख्यभाववालियोंका नित्यनिकुञ्जलीलामें भी प्रवेश है, क्योंकि उनका व्रत तत्सुखसुखित्व है तथा जो कान्तभाववाली हैं वे भी ललितादिकी उपासना करके सख्यभाववती हो जाती हैं; जैसा कि कहा है—

मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥

अर्थात् जो मेरेमें जारभाव रखनेवाली और मेरे स्वरूपको नहीं जानती थीं वे भी यूथेश्वरी आदिके संगसे मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो गयीं ।

इसका यह भी तात्पर्य है कि जो पहले **कान्तभाववाली** थीं वे पीछे सख्यभाववाली हो गयीं । तब इसी श्लोकका

दूसरी प्रकार अर्थ किया जायगा। 'मम इमाः मत्काः'— जो मेरी ममताकी आस्पद हैं; मैं स्वयं बड़े-बड़े योगीन्द्रोंकी ममताका आस्पद हूँ और उनमें मेरी भी ममता है। और अबला हैं; 'बलं आत्मनिष्ठादार्ढ्यं तच्छून्या' अर्थात् आत्मनिष्ठाकी परिपक्वतासे रहित हैं; और मेरी प्राप्ति आत्मनिष्ठोंको ही होती है, क्योंकि श्रुति कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। इसीसे यह भी कहा है—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगसे श्रुतियोंका परमतात्पर्य ब्रह्ममें निश्चितकर फिर बाल्यसे—बलभावसे यानी संशय-विपर्ययरहित होकर स्थित हो। इस प्रकार जो मदीया होनेपर भी मेरेमें पूर्णतया परिनिष्ठिता नहीं हैं अथवा मेरे प्रति पूर्ण आत्मीयताका भाव नहीं रखतीं; और कैसी है? 'अस्वरूपविदः' अर्थात् मैं शुद्ध-बुद्ध-परब्रह्म हूँ ऐसा नहीं जानतीं अथवा जिन्हें मेरी परम प्रेमास्पदताका ज्ञान नहीं है; क्योंकि भगवान्‌के साथ प्रेमसम्बन्ध हो जानेपर तो भक्त उनपर अपना अधिकार समझने लगता है; तब तो भक्तवर बिल्वमंगलकी तरह वह भी कहने लगता है—

हस्तमुत्क्षिप्य जातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

फिर तो विवश हो जानेके कारण उसके हृदयसे हरि कभी हटते ही नहीं।

विसृजति न यस्य हृदयं हरिरित्यवशाभिहतोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

जिस प्रकार पिघले हुए लाखमें यदि हल्दी मिला दी जाय तो फिर उनका पार्थक्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्तके द्रवीभूत मनसे जब भगवान्‌के स्वरूपका तादात्म्य हो जाता है तो उनका कभी विप्रयोग नहीं होता। फिर भक्त-हृदय भगवान्‌को नहीं भूल सकता और भगवान् भक्तके हृदयको नहीं छोड़ सकते। उन गोपांगनाओंका भाव इतना प्रौढ़ नहीं हुआ था; इसीसे वे अबला और अस्वरूपविदा थीं; किन्तु उन्होंने भी 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः'—मुझ परब्रह्मको प्राप्त कर लिया। कौन ब्रह्म? 'परमम्'—परा उत्कृष्टतमा अभिमता मा श्रीराधा यस्य तम्। अर्थात् जिसको पराशक्ति मा*—श्रीराधिकाजी ही अभिमत हैं उस परम ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। यह अर्थ सख्यभाववती गोपांगनाओंके लिये अनुकूल ही है, क्योंकि श्रीवृषभानुसुता स्वाधीनभर्तृका होनेके कारण मुख्य नायिका हैं; अतः वे ही भगवान्‌की परमप्रेयसी हैं। शेष सब सखियाँ कान्तभावशून्य सख्यभाववाली हैं; इसलिये वे उन सबकी भी सेव्य हैं।

वह परब्रह्म कैसा है? 'मा रमणम्—मायां रमणं यस्य' अर्थात् जिसका ब्रह्माकार प्रमा अथवा श्रीवृषभानुनन्दिनीमें रमण है; और कैसा है 'जारम्' अर्थात् जो जारबुद्धिसे वेद्य है, वस्तुतः जार नहीं; क्योंकि परमात्मा है। अथवा 'जरयति कामवासनाम् इति जारम्' कामवासनाको जीर्ण कर देता है इसलिये ब्रह्म जार है। ऐसे मुझ परब्रह्मको 'ताः शतसहस्रशः संगात्प्रापुः'—उन सैकड़ों-हजारों गोपांगनाओंने (ललितादिके) संगसे प्राप्त कर लिया। अर्थात् पहले वे कान्तभाववाली थीं किन्तु इनके सहवाससे सख्यभाववाली हो गयीं।

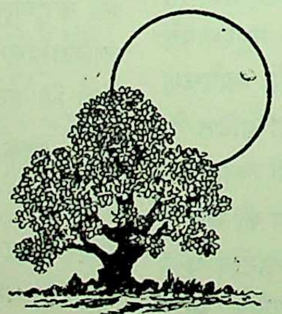

---

* मीयते सेव्यते प्राप्यते ज्ञायते योगीन्द्रमुनीन्द्रैर्वेदैश्च या सा मा।

दस दोषोंसे बचकर नामजप कीजिये

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाईजी शास्त्री)

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा गुरुशास्त्रवेदवचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः ।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ च धर्मान्तरैः
साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

भगवान्‌के नामजपका माहात्म्य शास्त्रोंमें सर्वत्र वर्णित है । 'नवधाभक्ति' में जो कीर्तनका स्थान है, उससे नामजपका विधान प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात यह है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हुए 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—' कहकर नामजपकी महिमाका स्पष्टतापूर्वक वर्णन किया है । शास्त्रोंमें वर्णित नामजप-माहात्म्यके उद्धरण विस्तारभयसे यहाँ अधिक नहीं दिये जा सकते, अतः एक-दो उदाहरणोंसे ही सुविज्ञ पाठक सन्तोष करें । एक जगह यह श्लोक आता है—

प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥

तात्पर्य यह है कि कर्म करनेमें प्रमादका हो जाना मनुष्य-स्वभाव-सुलभ होता है । अतएव यज्ञकर्ता यदि यज्ञकी समाप्तिके अनन्तर भगवान् विष्णुका नाम-स्मरण कर ले तो उसके प्रमादसे यज्ञकर्ममें जो त्रुटियाँ हो गयी हैं, उन सबका निवारण हो जाता है और यज्ञ सम्पूर्ण हो जाता है । इसी प्रकार सूत-संहितामें कहा गया है—

नमः शिवाय मन्त्रोऽयं वागेषा वशवर्तिनी ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं नरकं यान्ति मानवाः ॥

अर्थात् 'नमः शिवाय'—यह पञ्चाक्षर मन्त्र वेदमें साक्षात् सुप्रसिद्ध है और इस मन्त्रका जप करनेवाली वाणी भी अपने अधीन है । परन्तु फिर भी लोग नरकमें जाते हैं—यह मोहका—अज्ञानका कैसा आश्चर्यकारी माहात्म्य है ! उसी स्थानपर निम्नलिखित श्लोकका भी उल्लेख है और यह श्लोक उस प्रश्नका भी उत्तर दे रहा है, जो नामजप होते हुए भी उसके फलमें वैगुण्य दीखनेपर उठा करता है—

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि द्विजः ।
लिङ्गस्योपरि सन्दध्यान्न स भूयोऽभिजायते ॥

अर्थात् 'प्रणवयुक्त पञ्चाक्षर मन्त्रद्वारा शिवलिंगके ऊपर एक ही पुष्प चढ़ानेसे मनुष्य पुनर्भवसे मुक्त हो जाता है ।' इस प्रकार शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंपर नाम-महिमाका वर्णन पाया जाता है और यह दोहा तो आम लोगोंके मुँहसे सुननेमें आता है—

राम नाम सब जपत हैं, दस ऋत जपे न कोय ।
एक बार दस ऋत जपे, कोटि यज्ञ फल होय ॥

इस दोहेका भाव बहुत ऊँचा है । इसके 'दस ऋत' पदका अर्थ है—'दस दोषोंसे वर्जित होकर ।' अर्थात् नाम-जपके जो दस दोष हैं, उनमेंसे एक दोषसे भी युक्त होकर नामकी अनन्त आवृत्ति की जाय और इसकी अपेक्षा यदि दस दोषोंसे रहित होकर एक बार भी नामजप किया जाय तो उसका फल अपरिमेय होता है । अतः यहाँपर नामजपके उन दस दोषोंका विवेचन उपर्युक्त श्लोकोक्त-क्रमसे किया जाता है—

(१) 'सन्निन्दा'—इससे सत्पुरुषोंकी निन्दा, सच्छास्त्रोंकी निन्दा, सन्मन्त्रोंकी निन्दा इत्यादिसे मतलब है । इनमेंसे किसीकी निन्दाके साथ किया हुआ नामजप सदोष होनेके कारण भगवत्तुष्टिजनक नहीं होता है ।

(२) 'असति नामवैभवकथा'—असत्पुरुषके समक्ष नामका माहात्म्य कहनेसे नामके फलमें ह्रास

हो जाता है। एक कथा है कि किसी पामर पुरुषको रामायणकी कथा सुनायी गयी। कथा सुनकर उस पामर प्राणीने कथावाचकसे पूछा—'व्यासजी, आपने मुझको जो यह कथा सुनायी है, इसमें राक्षस कौन था—राम या रावण ?' इस प्रश्नको सुनकर व्यासजी चौंके और उन्होंने सावधानीके साथ उत्तर दिया—'भैया, राक्षस न तो राम थे और न रावण था। राक्षस तो मैं हूँ जो तुम्हारे-जैसे मनुष्यके सामने मैंने रामायणकी कथा सुनायी।' इसका तात्पर्य यह है कि पामर प्राणी नाममाहात्म्यको सुनकर भी अपने हृदयके अनुरूप ही कार्य करता है। अतएव नामकी महिमाका महत्त्व कम हो जाता है। यही नहीं, अन्न भी पामरोंका स्पर्श पाकर दूषित हो जाता है। जैसे—

विद्याविनयसम्पन्ने श्रोत्रिये गृहमागते।
क्रीडन्त्योषधयः सर्वा यास्यामः परमां गतिम्॥
भ्रष्टशौचव्रताचारे विप्रे वेदविवर्जिते।
रोदित्यन्नं दीयमानं किं मया दुष्कृतं कृतम्॥

अर्थात् यदि किसी गृहस्थके घर विद्या और विनय-सम्पन्न कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण आ जाता है, तो उस गृहस्थके घरमें रखे हुए गेहूँ, चावल आदि अन्नकण आनन्दित हो जाते हैं और सोचते हैं कि 'आज हम एक महात्मा पुरुषके मुखमें जाकर उत्तम गति पायेंगे।' किन्तु जब उसी गृहस्थके घरमें कोई पवित्र आचार अथवा व्रत आदिसे भ्रष्ट, वेदवर्जित विप्र अतिथि बनता है तब वे ही अन्नकण रोने लगते हैं कि 'हाय, हमने कौन-सी दुष्कृति की थी जिसके फलस्वरूप आज इस पतित पुरुषके मुखमें जानेके कारण हमारी दुर्गति होगी।' अस्तु, इन सब बातोंसे यही सिद्ध होता है कि असज्जनों अथवा अनधिकारी पुरुषोंके सामने सुनाये गये मन्त्रोंके दूषित हो जानेका भय रहता है।

(३) 'श्रीशेशयोर्भेदधीः'—श्रीश—विष्णु और ईश—शिव इन दोनों महादेवोंमें भेद-बुद्धि रखकर इनमेंसे चाहे किसीका नामजप किया जाय, वह व्यर्थ जाता है। बल्कि इस तरहका नामजप उलटे अधोगतिका कारण बन जाता है। यथा—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।
एतयोरन्तरं मत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्॥

'शिवका हृदय विष्णु है और विष्णुका हृदय शिव है। इसलिये इन दोनोंमें अन्तर माननेवाला प्राणी रौरव नरकका गामी होता है।' एतदर्थ जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने—

सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—कहा है, उसी प्रकार प्रत्येक भक्तके लिये यह उचित है कि वह सम्पूर्ण विश्वको अपने इष्टदेवमय देखे, ताकि उसको किसीकी निन्दा करनेका अवसर ही न मिले। महात्मा भट्ट माहेश्वरने क्या ही अच्छा कहा है—

ये ये भक्तजनाः निजेष्टशरणाः श्रेष्ठं सदोपासते
ते जल्पन्ति मृषान्यदैवतमिदं मन्यामहे नो वयम्!
अस्माकं तु शशाङ्कशेखरपदद्वन्द्वैकनिष्ठात्मनां
सर्वं खल्विदमम्बिकेश्वरमयं चित्ते जगद् भासते॥

—जो भक्तजन सदा अपने इष्टदेवकी शरणमें रहकर तथा उनको उत्तम मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे तो ठीक हैं; परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि हमारे उपास्यदेवकी अपेक्षा 'अन्य देवता मृषा हैं'—उनकी यह बात मुझको नहीं जँचती है। क्योंकि मुझको तो सारा ब्रह्माण्ड अपने उपास्यदेव श्रीचन्द्रशेखर-मय ही दीख पड़ता है। फिर मैं किसको मृषा—असत् कहूँ ?' यह कथन प्रत्येक भक्तके ध्यानमें रहना चाहिये।

(४) 'गुरुवाक्यमें अश्रद्धा'—यह भी बहुत बड़ा दोष है। इसीलिये गुरु बनानेके पहले बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है। मुण्डकोपनिषद्में सद्गुरुके दो विशेषण बतलाये गये हैं—'श्रोत्रियं' और 'ब्रह्मनिष्ठम्'।

इन दो गुणोंको देखे बिना किसीको भी गुरु बनानेका साहस नहीं करना चाहिये । ऐसा करना पीछे चलकर पश्चात्ताप अथवा अश्रद्धा उत्पन्न होनेसे बचाता है । सद्गुरु वही है जो वेदवेदांगका पारंगत हो, शमदमादि शुभगुणोंसे सम्पन्न हो और कामक्रोधादिसे रहित हो । ऐसे सद्गुरुके वचनमें अश्रद्धा उत्पन्न हो जानेसे उनके उपदिष्ट मन्त्रका जप लाभदायक नहीं होता है । उससे सर्वथा फलसिद्धि नहीं होती ।

(५) 'शास्त्रवचनमें अश्रद्धा'—भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

अर्थात् 'जो पुरुष शास्त्रोक्त विधिका परित्याग करके अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार आचरण करता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न वह परलोकको ही प्राप्त करता है ।' यह बिल्कुल ठीक है । इस बातको हम दूसरी तरहसे भी समझ सकते हैं—दूसरे स्थानमें जानेवाली चिट्ठीके लिफाफेके ऊपर डाकखानेकी एक आनेवाली टिकट लगानेका नियम है । उस टिकटकी एवजमें यदि हम एक आने पैसेकी पुड़िया बाँधकर भीतर लिफाफेमें बन्द कर दें और उस लिफाफेको लेटरबक्समें छोड़ दें तो नतीजा क्या होगा ? यही न कि क्लियरंस करनेवाला आदमी लिफाफा खोलकर एक आने पैसेको तो अपनी जेबमें रख लेगा और चिट्ठी फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें फेंक देगा ! इसका कारण क्या है ? इसका कारण पत्रके लिफाफेके ऊपर एक आनेकी टिकट चिपकाकर उसको लेटरबक्समें डालनेकी जो विधि है उसका अपालन है । अतः विधिमें वैगुण्य होनेके कारण निष्फलता ही नहीं, बल्कि विपरीतफलता हो जाती है । इसीलिये भगवान्की आज्ञा है—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते ।' अस्तु, शास्त्रप्रमाणाधीन रहकर विधिसहित जो नामजप होता है, उसीसे सफलता मिलती है । इसके प्रतिकूल शास्त्रके प्रति बनी रहनेवाली अश्रद्धा नामजपके महाफलमें प्रतिबन्धक होती है ।

(६) 'वेदवाक्यमें अश्रद्धा'—कहा गया है कि—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—चारों वेद धर्मके मूल हैं । ऐसी स्थितिमें जब धर्मके मूलस्वरूप वेदोंमें ही अश्रद्धा होगी तब नामजपरूपी धर्मवृक्ष फल किस प्रकार दे सकेगा ?

(७) 'नाम्न्यर्थवादभ्रमः'—'राम' इस दो अक्षरवाले नामका जप करनेवाला मनुष्य मुक्तिको प्राप्त होता है—'रामेति द्वयक्षरं नाम जपन्मुक्तिमवाप्नुयात्' ऐसे वचनोंमें 'अर्थवादभ्रम' होना—जैसे यह कहना 'अजी यह तो लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये अतिशयोक्ति है, भला कहीं केवल राम-नाम लेनेसे भी मुक्ति मिल सकती है ?' नाम-जपकी फलप्राप्तिमें बाधक होता है । ऐसे भ्रममें फँसे हुए मनुष्य श्रवणादि उपनिषदुक्त साधनोंसे वंचित होकर नामजपमें असफल हो जाते हैं ।

(८, ९) 'नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ'—कोई पुरुष यदि यह कहता रहे कि 'मुझको केवल भगवन्नामका आधार है । मैं यदि हिंसा, असत्य भाषण, व्यभिचार आदि दुष्कर्म भी कर दूँगा तो मुझको कोई पाप नहीं लगेगा । भला भगवन्नामके आगे ये सन्ध्या-वन्ध्या आदि कोई चीज है ? मुझको विधि-निषेधकी कोई परवा नहीं है, मैं तो केवल नामसे ही कृतार्थ हूँ ।' और ऐसी स्थितिमें नामजप करता रहे तो ऐसा अभिनिवेश जपकर्ताको अधोगति पहुँचाता है । इसलिये इसको भयङ्कर दोष समझकर इसका परित्याग कर देना चाहिये ।

(१०) 'धर्मान्तरैः साम्यम्'—इसका तात्पर्य है भगवन्नाम-जप और इतर धर्ममें समानता मानना । जैसे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

यह कलिसन्तरणोपनिषद्का महामन्त्र है । इसमें भगवान्के सोलह नाम हैं । इस महामन्त्रका साढ़े तीन कोटि पुरश्चरण करनेके लिये कहा गया है । इसके सम्बन्धमें यदि यह भावना की जाय कि, 'अजी, धर्म तो सभी समान हैं । चाहे 'हरे राम—' कहा जाय चाहे अल्लाह या क्राइस्ट कहा जाय, सबका फल बराबर होता है । इसी महामन्त्रमें कोई विशिष्टता नहीं है ।' तो ऐसी भावना करना भी नामजपमें बहुत बड़ा दोष है । क्योंकि अपने धर्मशास्त्रोंमें तो राम, कृष्ण, शिव, गोपाल, भवानी, सूर्य, गणपति इत्यादि जितने भी नाम हैं, उन सब नामोंके जपका भी पृथक्-पृथक् फल बतलाया गया है । फिर खुदा या ईसामसीहके नामोंके फलसे किस प्रकार समानता की जा सकती है ? स्वधर्म अथवा यों कहिये कि अपने इष्टदेवके नामजपके साथ धर्मान्तरकी समानताका भाव रखना सर्वथा त्याज्य है । अनादरणीय है ।

ये दस दोष हैं । इनसे सर्वथा मुक्त होकर जब नामजप किया जायगा, तभी वह यथेष्ट फलदायक हो सकता है । न्यायशास्त्रमें प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट कारण कार्योत्पादनमें समर्थ माना जाता है, अतएव नामजप-यज्ञकी फलसिद्धिके लिये प्रतिबन्धकस्वरूप उपर्युक्त दसों अपराधोंका परिवर्जन करना चाहिये । तभी जप-यज्ञ यथेष्ट फलसम्पादनमें समर्थ हो सकता है । परन्तु इतना याद रहे कि इन दस अपराधोंका प्रायश्चित्त भी नाम-जप ही है ।

◆

एक क्षणके लिये

(लेखक—श्री 'सुदर्शन' जी)

शान्ति और प्रकाशकी एक किरण—

प्रकट होती है जीवनके उस भीषण तमाच्छन्न व्योममण्डलमें, जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण उद्योग एवं बलकी इतिश्री समझकर निराश हो जाता है।

अन्धकार—केवल अन्धकार । मार्गका पता नहीं । भटकनेकी चरणोंमें शक्ति नहीं । अंगुलियाँ ठोकरोंसे फूटकर रक्तसे लथपथ हो रही हैं । पदतल कण्टकोंका पञ्जर बना हुआ है ।

आह ! बैठा भी तो नहीं जाता । ये विषैले दन्दशूक बैठने भी दें तब तो । तनिक हिले—उफ ! अनेकों कण्टक शरीरमें छिद गये ।

प्रभो ! करुणासिन्धु ! आर्तिविनाशन ! दयामय !……

बस—यही होती है सच्ची पुकार । इसी समय हृदय वास्तवमें उसे पुकारनेकी योग्यता प्राप्त करता है । निश्छल, निष्कपट, सत्यताके साथ ।

इसे जीवनका सर्वोत्तम स्वर्णिम क्षण कहेंगे ।

प्रकाशकी वह अनादि नित्य किरण सिञ्चित कर देती है अणु-अणुमें अपूर्व मादकता । भर देती है अनोखी शान्ति ।

आनन्द—केवल आनन्द—शान्ति—अविचल शान्ति ।

कहते हैं—यह दुःखद है, भयङ्कर है और जाने क्या-क्या है । पर मेरे लिये ? मधुर है, सुखद है, सुन्दर है ।

दोगे जनार्दन ! वह—हाँ वही घोर अन्धकारमय पर प्रकाशका पूर्ववर्ती क्षण—एक क्षणके लिये ? इसी जीवनमें ।

आ जायगा फिर तो स्वतः ही वह मंगल मधुर शाश्वत प्रकाश··

ज्ञानकी सप्तभूमिकाएँ

(रचयिता—श्रीप्रेमयोगी ‘मान’)

निज स्वरूपमें जागिबो, ज्ञान कहावै सोय।
सात अवस्था चित्तकी, ‘मान’ भूमिका होय॥

१—शुभेच्छा

जौ हियमें इमि भाव जगैं, अति-
मूढ़ हौं, सत्य नहीं अपनी मति।
हाय! कहाय सरीरिनकौं, सिर-
मौर गँवाइ दई सिगरी पति॥
लीन मलीन रहौं नितही, भव-
सिंधु मँझारि सिवारन मैं अति।
संगति साधु शुभेप्सित है, सत-
शास्त्र विलोकि लहौं सुमहागति॥

२—विचार

जाल जँजालमें हौं अरुझ्यो,
यह मारग तौ अति ही दुखमूल है।
झूठ प्रलोभन हैं जगके,
सहनो इनके सँग संसृति सूल है॥
सत्य असत्य लखाइ प्रतच्छ,
सुशास्त्र बताइ रहे भ्रम भूल है।
‘मान’ अपावन आवन-जावन-
सागर माँहि विचारहि कूल है॥

३—तनुमानसा

सुभ इच्छा सह अस विचार उर आनिये।
इन्द्रिय स्वादनसों विराग मन मानिये॥
करै तत्त्व अभ्यास न मन विषयनि फँसा।
तृतिय भूमिका कहैं ताहि तनुमानसा॥

४—सत्त्वापत्ति

सुभइच्छु विचार सों युक्त जबै,
तनु-मानसमें तनुमानसा लावै।
उपराम अराम सों इन्द्रिनके,
जगके सब राग विराग बसावै॥
सुनिकै गुनिकै निदिध्यासन सों,
निज सत्य स्वरूपमें आपु समावै।
इमि साधन सा-धन सोधन ‘मान’
अमान तौ सत्वअपत्तिहि पावै॥

५—असंसक्ति

चारि भूमिकाका जु फल, शुद्ध विभूत महान।
असंसक्त ता मँह रहै, असंसक्ति सो ‘मान’॥

६—पदार्थाभावनी

जाइ दृश्य सब भूल, हेय पदारथ जगतके।
गुनै ‘मान’ सुख मूल, ताहि पदार्थाभावनी॥

७—तुरीया

बार बार धारि धारि, दीर्घ काल लौं अभ्यास,
भूलि भ्रम भेद भूरि, भव भायकौं अभाय।
ह्वै सुषुप्तिके समान, कर्तृ ज्ञानसों अज्ञान,
एकसों न भिन्न आन, संवित स्वरूप लाय॥
देख्यौ अनदेख्यौ सम, रहै कहाँ! अहं मम?
ताको कहा करै यम, रूप रूपमें बिलाय।
जीवित ही मुक्त ‘मान’ तुरिया पदस्थ जान,
कोऊ महाभाग्यवान, आतम स्वरूप पाय॥

× × ×

सप्तभूमिका ज्ञानकी,
मुनि बशिष्ठ व्याख्यान।
एकहुमें आचरत जे,
बन्दनीय ते ‘मान’॥

त्याग और वैराग्यके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पांड्या बी० ए०)

प्रश्न—दुनियामें सभी चीजें भोगके लिये हैं। अगर वे न भोगी जावें तो क्या वे निरर्थक नहीं हो जायँगी ?

उत्तर—कई बार शेर मनुष्योंको खा जाता है। तो क्या मनुष्य इसीलिये है कि शेर उसे खा जाय, और यदि शेर मनुष्यको खाना छोड़ दे तो क्या इस कारण मनुष्यजाति निरर्थक हो जायगी ? यदि गोभक्षी गायका मांस खाना छोड़ दे तो क्या गाय निरर्थक हो जायगी ? यदि गाय बोलकर समझा सकती होती तो क्या वह इसका उत्तर 'हाँ' में देती ? दरअसल हरएक चीज अपने खुदके लिये है, अपनी सत्ताके लिये किसी अन्यपर निर्भर नहीं है, अपने गुणोंके अनुसार बरतती रहती है, और उसमें जो तबदीलियाँ होती हैं वे उसकी प्रकृतिके अनुसार होती रहती हैं। प्राणियोंके कर्मोंकी वजहसे वह अवस्थाविशेषमें एक दूसरेके सुख-दुःखका निमित्तरूप या इच्छा-तृप्तिका साधनरूप माल्म होती है। यह प्राणियोंकी दुर्बलता है कि अपने सुखको उन्होंने बाह्य वस्तुओंके आश्रित कर रक्खा है, और इस दुर्बलता, पराधीनता, माया, भ्रम या कर्मके पाशसे सदाके लिये छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इसीको असली त्याग और वैराग्य भी कहते हैं।

अगर चीज़ें भोगके ही लिये होतीं तो (१) ज़रूरत रहते भी इच्छित वस्तुका या उसकी वाञ्छित अवस्थाका अभाव या वियोग क्यों होता ? (२) भोगसे व्याधि आदि दुःख क्यों होते हैं ? आखिरमें, जैसा कि भर्तृहरिने कहा है, यही प्रमाणित होता है कि 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' अर्थात् हम भोगोंको नहीं भोगते हैं किन्तु भोग ही हमें भोगते हैं।

मच्छर बैलकी नाकपर बैठकर खयाल करे कि यह मेरे ही लिये है वैसे ही मनुष्यका यह मानना है कि दुनिया मेरे भोगके लिये है। विपत्ति, बीमारी, भूकम्प आदिसे उसका यह अहंकार कैसा चूर्ण हो जाता है। इतने दुःखों और दुखियोंके होते भी दुनियाको भोगके लिये समझना आश्चर्यजनक है। सबल होनेसे जो अपनेको भोग करनेका हकदार मानते हैं वे ही अनिवार्य परिस्थितिवश निर्बल होकर दूसरोंके भोग्य बन सकते हैं !

किसी चीज़के भोगके तरीके, ज़रूरत और औचित्यके सम्बन्धमें प्राणियोंकी अपनी-अपनी मानसिक स्थिति आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न समझ होती है। विष्ठाको जिस निगाहसे ग्राम्यशूकर देखता है क्या उसी निगाहसे मनुष्य भी देखता है ? एक सुन्दरीके उपयोगके प्रति उसकी सन्तान, उसके कामुक पति, और एक सच्चे योगीकी दृष्टियोंमें कितना अन्तर है ? मांसके बारेमें मांसभक्षीके और शराबकी ज़रूरतके बारेमें शराबीके जो विचार होते हैं क्या वैसे ही औरोंके भी होते हैं ? एक व्यभिचार करता है, दूसरा स्वस्त्रीसे ही प्रसन्न रहता है, और तीसरा स्वस्त्रीसे भी विषयभोगको अनावश्यक या अनुचित महसूस करता है। प्राणी-वध, सम्पत्ति आदिके बारेमें भी इसी तरह विचार किया जा सकता है। एक सञ्चयमें, और दूसरा दानमें सुख अनुभव करता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त प्रत्येक वस्तुके बारेमें आसानीसे सोचे जा सकते हैं।

जन्मान्तरोंकी अपेक्षासे ही नहीं किन्तु एक जन्ममें भी प्राणियोंकी मानसिक स्थिति, आवश्यकताएँ, आदि पलटती रहती हैं और पलटी जा सकती हैं, इसलिये वस्तुओंको भोगके लिये मानना काल्पनिक ही ठहरता है।

वस्तुओंका सम्बन्ध और वियोग हमेशा अपने अधीन नहीं है, अतः अपने सुखको उनसे स्वाधीन बनाना ही वाञ्छनीय है । यही अपने आपको परिस्थितियोंसे अधिक बलवान् बना लेना है ।

इच्छाके कम होने या नष्ट होनेके प्रमाणमें चीजोंकी जरूरत भी कम या नष्ट हो जाती है । सभी मजहब अपनी ख्वाहिशों और जरूरतोंको जितना कम कर सकें, कम करनेपर जोर देते हैं ।

भोग ससीम, पराधीन, आकुलतासहित, अतृप्त्य, परविरोधी और अनित्य है । स्वाधीन आनन्द इससे विपरीत है । त्याग और वैराग्यका अर्थ उदासी नहीं है किन्तु यह है कि मनुष्य, और मनुष्य ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र, स्वभावसे ही आनन्द और स्वाधीनताके लिये है ।

प्रश्न—अगर सभी आदमी त्याग कर दें तो दुनिया कैसे चले ?

उत्तर—जब कोई आदमी वकील बनता है तो वह यह नहीं सोचता है कि यदि सभी वकील बन जायँगे तो क्या होगा ? इस विशाल ब्रह्माण्डमें आदमीके कामकी गणना ही क्या है ? यह विश्व जिन नियमोंके द्वारा परिचालित होता है उनका ठीक पता किसे है ? 'मैं दुनियाको चलानेवाला हूँ' इस अहंकारको छोड़कर और विश्वम्भरा शक्तिमें विश्वास रखकर मनुष्यको अपना सुधार करना चाहिये । इस तरीकेसे वह योग्य और आदर्श बनकर संसारके हितमें भी भाग ले सकेगा । जो प्रलयमें विश्वास करते हैं उन्हें तो दुनियाके नाशका डर ही न होना चाहिये ।

अगर त्याग और वैराग्यसे सभी आनन्दमय, स्वाधीन और पूर्ण बन जायँ तो इसमें दुनियाका नाश क्या हुआ ? यह तो दुःख और अपूर्णताका नाश हुआ, दुनियाका सुधार हुआ । जीवोंका तो नाश हुआ नहीं, उनकी पूर्णता ही हुई । और जबतक एक भी इच्छाग्रस्त प्राणी है और उसकी इच्छा-पूर्तिके लिये उसके प्रारब्ध है तो उसके साधन भी अवश्य होंगे—प्रारब्धके बिना तो भरे तालाबमें भी उसे एक भी बूँद नहीं मिल सकती ।

अगर दुनिया जिस हालतमें है उस हालतका रहना ही दुनियाका चलना माना जाय तो यही मसल होगी कि अस्पताल कायम रखनेके लिये रोगोंको कायम रखना या चोरीका जुर्म होते रहनेके लिये चोरोंसे चोरी करना नहीं छुड़ाना चाहिये !

परन्तु हकीकतमें तो दुनियाकी हालत जैसी है वैसी ही हमेशासे रही है और विश्वास करनेके लिये सबब है कि हमेशा ऐसी ही रहेगी । निःसन्देह अनेकों आत्माएँ इच्छा-पाशसे सर्वथा मुक्त बनती रही हैं परन्तु उनकी संख्या दुनियाके अनन्तानन्त प्राणियोंकी अपेक्षा अनन्तवाँ भाग ही रही हैं । उनको देखकर या हजारों साधु योगियोंको देखकर, त्यागका उपदेश सुनते हुए या देते हुए भी दुःखितावस्थामें भी विवेकशील मनुष्योंमेंसे भी कितने वासनाका मोह छोड़ते हैं ? जिस भोग-सुखके त्यागसे कोई पीड़ा नहीं होती है उसका भी त्याग कितना कठिन है, फिर त्याग और वैराग्यमें तो दुखमें भी सुखवत् प्रेम करना पड़ता है । त्यागमें रागका ही नहीं किन्तु द्वेष और भयका भी त्याग होता है ।

तो भी आदर्शकी उत्तमता और सम्भवतामें अविश्वास नहीं करना चाहिये । श्रद्धासे सांसारिक जीवनमें भी शान्ति मिलती है ।

असलमें दुनिया भी स्वार्थ और भोगसे नहीं किन्तु त्याग, प्रेम और सेवा-भावसे ही चलती है । जहाँ प्रेम और सेवाभाव है वहाँ त्याग जरूरी होता ही है ।

बिना त्यागके न तो शान्ति होती है और न कर्तव्य-पालन ही होता है । माता अगर अपने बच्चेके लिये अपने आरामका त्याग न करे तो बच्चेका जीवनधारण कैसे हो ? राजा अगर प्रजाको भोगकी वस्तु समझ ले तो प्रजाका क्या हाल हो ? अगर सभी मनुष्य क्रोधादिकी और अपनी इच्छाओंकी गतिको अबाधरूपसे बहने दें और परधन, परस्त्रीके हरणमें या एक दूसरेको मारने-पीटनेमें लगे रहें तो दुनियाकी क्या हालत हो ? पक्षपात, बन्धुजनोंका मोह, घूस आदिका त्याग किये बिना न्यायाधीश अपने कर्तव्यका पालन कहाँतक कर सकता है ? अगर पिता अपने वयस्क लड़केके लिये अपने अधिकारोंका पर्याप्त त्याग न करे तो लड़केका गार्हस्थ्य जीवन कितना कठिन हो जाय ? देशके लिये युद्धमें जाते समय सिपाहीको अपने परिवारका और अपने प्राणोंके मोहका कितना त्याग करना होता है ?

त्यागशीलता ही सच्ची सभ्यता है । जो केवल अपने इन्द्रियभोगोंमें रत है उससे वह अधिक उन्नत है जो परिवारके लिये स्वार्थका त्याग करता है । पारिवारिक जीवनसे भी सच्चे देशसेवकका जीवन अधिक उन्नत है, और इसमें परिवारादिका भी मोह छोड़ना पड़ता है । विश्व-प्रेममें तो सर्वस्वका त्याग होता है ।

यह स्मरण रहे कि त्याग जिस अनात्मीय वस्तुको आत्मीय मान रक्खा है उसीका अर्थात् ममता-आसक्तिका ही होता है । आसक्तिके तीव्र और मन्द दो रूप होते हैं । निःसन्देह आसक्ति घटनेमें उसका तीव्ररूप कम होकर मन्दरूप होगा । मन्दता न होकर तीव्रता होना तो आसक्तिका बढ़ना है—त्याग नहीं है । तीव्र आसक्तिका रूप स्वशरीरादिसम्बन्धी सुखका (अर्थात् स्वार्थका) मोह है, और मन्द आसक्तिका रूप इस स्वार्थका कम होकर परोपकारादि हैं । अतः स्वार्थ या धनादिके लिये परिवारादिके हितसे विमुख रहना, स्वार्थ या परिवारादिके मोहसे समाज या देशके प्रति स्वकर्तव्यका पालन न करना, सत्कर्मोंका त्याग करके इन्द्रियपरायण रहना—ये त्याग नहीं हैं ।

त्याग अपनी स्थितिके अनुसार होता है । अपने स्वार्थका—अपने सुखका—त्याग करनेका अधिकार तो प्रत्येक प्राणीको है । परन्तु दूसरोंके स्वार्थोंसे सम्बन्धित स्वस्थितियोग्य अपने कर्तव्योंका भी त्याग यदि कोई मनुष्य अधिक उन्नतिके लिये या अधिक उपकारके लिये करना आवश्यक समझे तो उसे पहले अपनी स्थिति भी बदल देनी चाहिये वरना वह क्रूरता और विश्वासघात-सा होगा । जो अपनी नहीं है उसका त्याग करनेका क्या अधिकार है ? किसी राजाके लिये जिस तरह विलासितामें पड़कर खजानेको खर्च कर देना या प्रजाकी रक्षा न करना अनुचित है उसी तरह रात-दिन निवृत्तिपरक जीवन बिताना, मुनियोंके योग्य क्षमा धारणकर दुष्टोंका निग्रह न करना, अपरिग्रहके लिये खजानेको खाली कर देना, आदि भी अनुपयुक्त हैं । उसे चाहिये कि पहले राज-काज किसी योग्य व्यक्तिको सँभला दे और खुद इससे हाथ खींच ले ताकि प्रजा उसके भरोसे नहीं रहे । प्रजाके सांसारिक स्वार्थ उस राजाकी दृष्टिमें चाहे जितने स्वप्नवत् निःसार हों परन्तु प्रजाकी वर्तमान स्थितिमें उनकी उचित रक्षा आवश्यक है और उनकी रक्षाके बिना प्रजाको महान् कष्ट और उसका पतन होगा, और असलमें उनकी रक्षाके लिये ही राजाको राजा माना जाता है । अपने ट्रस्टीपनका कर्तव्य पालन करना चाहिये । कर्तव्यका त्याग करते समय परिस्थिति, न्याय, अपनी आवश्यकता और परिणामोंकी विशुद्धता आदिको भलीभाँति तौल लेना चाहिये ।

पारिवारिक कर्तव्योंके सम्बन्धमें भी सच्चा त्यागी इस प्रकार विचार कर लेता है ।

त्याग और वैराग्यका अर्थ प्रेमका संकोचन नहीं किन्तु विस्तार है । त्यागमें स्वार्थका मोह घट जानेसे प्रेम निर्मलतर हो जाता है । यह स्पष्ट है कि जो स्त्रीको विषयभोगकी वस्तु नहीं समझता वह उसकी आत्मिक या अन्य गुणोंके विकासमें अच्छी सहायता कर सकता है । पूर्ण आत्मलीनता अर्थात् पूर्ण वैराग्यका अर्थ है विश्व-ज्ञानसे प्रेम अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओंकी सम्पूर्ण त्रिकालीन अवस्थाओंसे नित्य और एक सरीखा प्रेम । इसे ही समताभाव कहते हैं ।

बिना त्यागके भोगकी भी सिद्धि नहीं होती । संयमके बिना व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । इच्छाओंको काबूमें न रखनेसे और दूसरोंके स्वार्थोंके लिये अपने स्वार्थोंको कम न करनेसे विरोधियोंकी संख्या बढ़ जाती है । यदि इच्छाएँ बढ़ाते ही रहें तो न्यायनिष्ठा, शान्ति और सुख तिरोहित हो जाते हैं, (क्योंकि इच्छाओंकी सीमा नहीं), और दुनियाकी जो हालत हो जाती है वह तो आजकल पाश्चात्य सभ्यताके परिणामसे ही प्रकट है ।

यह प्रकट सत्य है कि अभीष्ट लक्ष्यके लिये काफी त्याग किये बिना सांसारिक कार्योंमें भी पर्याप्त सफलता नहीं मिलती है । Plain living and high thinking सादा जीवन और उच्च विचार त्यागशीलता बिना कैसे हो ?

अज्ञानी तो विषयसुख, लोकलज्जा, मोह, लोभ, भय आदिके कारण त्याग करके कर्तव्यपालन किया करते हैं । परन्तु आत्मान्वेषक इच्छा-दमनके लिये, चित्तशुद्धिके लिये, स्वार्थत्याग करते हैं, अतः वे अपनी स्थिति-योग्य अपने लौकिक कर्तव्योंका भी अधिक दृढ़ता और उत्तमतासे पालन कर सकते हैं क्योंकि उनमें विवेक होता है और वे निःस्वार्थतामें ही अपना स्वार्थ निश्चलतासे मानते हैं ।

प्रश्न—त्याग तो अकर्मण्यता है ।

उत्तर—सच्चा त्याग और वैराग्य क्या है यह थोड़ा-बहुत दूसरे प्रश्नके उत्तरमें दिखाया जा चुका है । आध्यात्मिक जगत्‌में आत्मलीनताके लिये समस्त बाह्य वस्तुओंसे अपने उपयोगको खींचकर आत्मामें सम्पूर्णतया लगा देना ही त्याग और वैराग्य है । असलमें वस्तुएँ तो कभी आत्माकी होती नहीं । अतः उनके प्रति अपनी आसक्तिको छोड़ना ही त्याग है । वस्तुके संसर्गका त्याग इसके साधनमें सहायक है—परन्तु यदि इससे आसक्ति न छूटे तो यह त्याग निष्फल ही है । अतः सच्चा त्याग तो राग, द्वेष, कामना, भय, दुराग्रह, अहंकार आदिका ही त्याग है । समस्त क्रियाओं और समस्त आसक्तिका त्याग तो साधनाकी अन्तिम अवस्था ब्राह्मी स्थितिमें ही सम्भव है, और उस अवस्थामें जहाँ एकदृष्टिसे सर्व वस्तुओंका त्याग होता है वहाँ दूसरी दृष्टिसे सर्व वस्तुओंका ग्रहण भी होता है, क्योंकि आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है ।

आसक्तिकी तीव्रतासे लोककी कैसी हानि होती है, और मन्द आसक्तिवाले कैसे कर्म-कुशल होते हैं, यह पहले दिखाया जा चुका है । वीरता मोह और भयके त्यागको, और दुःखसे न घबड़ानेको ही कहते हैं । इस दृष्टिसे त्यागीमें वीरता सबसे बढ़ी-चढ़ी रहती है ।

सर्वस्वत्यागी सिद्ध महात्माओंसे जगत्‌को कम लाभ नहीं होते हैं । उनके आदर्शसे दुनियाको शान्ति मिलती है, सदाचरणमें प्रवृत्ति होती है और

परम स्वाधीनता और परम उन्नतिका मार्ग सूझता है। उनके प्रभावसे और उनकी विभूतियोंसे लौकिक मंगल भी अतुलनीय होता है। वे कामनाओंको जीतकर, अपनी जरूरतोंको स्वल्पातिस्वल्प करके और वस्तुओंके संग्रहका त्याग करके, अर्थसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी संसारके आर्थिक संग्रामकी और पारस्परिक प्रतिस्पर्धाकी भीषणताको कम करनेमें सहायता देते हैं।

महावीर, बुद्ध, शङ्कराचार्य, ईसामसीह, कबीर, तुलसीदास, रामकृष्ण, रामतीर्थ आदि पूर्व और पश्चिमके अनेक सिद्ध पुरुष सन्त महात्मा त्यागी साधु थे। उन्हें अकर्मण्य कौन कह सकता है? अनेकों राजाओंने राज्यलक्ष्मीका त्यागकर तपोलक्ष्मीको स्वीकार किया। इसे कापुरुषों और दरिद्रोंके योग्य ही कैसे कह सकते हैं?

सच्चे साधुपनके लिये जितने धैर्य, जितनी नम्रता, सहनशीलता, दया और निर्भयता, जितने साहस, विवेक, सत्य, दृढ़सङ्कल्प आदि गुणोंकी आवश्यकता होती है उतनेके अंशमात्रसे भी गृहस्थी प्रचुर सांसारिक सम्पत्तिको प्राप्त कर सकता है। ऐसे असाधारण गुणधारी साधुपनेको अकर्मण्यता और कायरता, दुनियाकी कठिनाइयोंका सामना न कर सकनेपर पीठ दिखाकर भाग जाना—कैसे कह सकते हैं? (और असलमें संसारको कठिनाइयोंसे डरना कोई बुराई भी नहीं है, क्योंकि संसार दुःखमय है तभी तो वैराग्य, स्वाधीनता और आत्मलीनता वाञ्छित हैं।) जैसा कि पहले कहा जा चुका है साधुपनेमें दुःखमें भी समता रखनी पड़ती है, और साधु-जीवनके लिये जो यथाशक्ति तप आदि कुछ शरीरके लिये कष्टकारी क्रियाओंका विधान शास्त्रोंमें पाया जाता है, उसका उद्देश्य पूर्वकर्मोंका क्षय, देहासक्तिके त्यागका अभ्यास आदिके सिवा एक व्यावहारिक उद्देश्य यह भी दीखता है कि तपस्वी जीवनकी कठिनाइयोंको और उसकी त्यागपरायणताको देखकर कायर, लोलुप, और अनधिकारी व्यक्ति उसमें प्रवेश करनेका साहस न कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि उच्चावस्थामें इन तपादि क्रियाओंकी जरूरत नहीं रहती है परन्तु उस अवस्थामें तो आत्मलीनता हो जानेसे, देहासक्ति नष्ट हो जानेसे घोर-से-घोर कष्ट आ पड़नेपर भी आत्मा रंचमात्र भी आकुलित नहीं होती है। यह तो शाश्वत निस्पृहता—समाधिकी अवस्था है। परन्तु खेद है कि आजकल दुःखको सहन न कर सकनेवाले, शास्त्रोंकी क्रियाओंको अहङ्कारसे ठुकरानेवाले, जिह्वालोलुप, भोगपरायण, परिग्रही मनुष्य भी केवल बाह्य भेष बनाकर या वेदान्तज्ञानकी लम्बी-चौड़ी बातें करके अथवा मस्तिष्कीय ज्ञान या लेक्चरबाजीके जरिये ख्याति प्राप्त कर लेनेसे साधु मान लिये जाते हैं। इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ता है। सच्चे साधुका मुख्य आन्तरिक चिह्न तो आत्मदर्शन है, और बाह्य लक्षण अहिंसा, अपरिग्रह, मौन या हित, मित, सत्य वचन, नम्रता, निर्भयता, आत्मसंयम, सहनशक्ति आदि हैं। साधारण सद्गृहस्थोंसे तो अधिक सद्गुण और त्याग साधुमें होने ही चाहिये।

[शेष आगे]

अन्तिम समयपर नामोच्चारण

(लेखक—पं० श्रीहरदत्तजी शास्त्री)

उत्क्रान्तिवाद (प्राणोत्कर्ष) का शास्त्रीय सिद्धान्त और भजनसे अनुभवात्मक विचार यही है, जैसे स्वप्नसे स्वप्नान्तरकी गति होती है वैसे ही देहसे देहान्तरकी प्रगति है । मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एक शरीरसे सञ्चित कर्मोंके भोगकी योग्यता जिस शरीरमें हो, जीवात्मा वैसे शरीरको बनाकर उसमें विकसित होता है । इन कर्मोंका मौलिक अधिष्ठान मनोमय भावना या सङ्कल्प है । गीतामें कहा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

इसी सिद्धान्तपर भगवान्‌का उपदेश है कि 'मामनुस्मर युध्य च' जिस प्रकार स्मरण या नामोच्चारणकी भावनाका स्वभाव डालेगा, वैसा अन्तिम समयतक रहेगा । शास्त्रतात्पर्यके ज्ञाताओंका कथन है कि 'अन्ते मतिः सा गतिः' । प्राणोत्क्रमण कालमें दो प्रकारकी भावना होती है, एक प्राकृतिक, दूसरी शास्त्रीय भावनात्मक । प्राकृतिक गति तो अबोध चेतन संसारके गुणोंके तारतम्यसे स्वतः होती जाती है । शास्त्रीय गति शास्त्रज्ञानपूर्वक भगवद्भजनसे प्राप्त होती है । इन प्राकृतिक गतियोंके चौरासी लाख भेद हैं, यानी इतने प्रकारकी गुणमयी गतियाँ होती हैं । शास्त्रीय गतिका एकमात्र ध्येय और प्राप्य निर्वाण, आनन्द, मोक्ष है । इन दो गतियोंका जैविक प्रवाह दो प्रकारका है । जीवसत्ताका नीचेकी ओरसे निःसरण होना अर्थात् अधोभागसे प्राणोत्क्रमण होना चौरासी लाख गतिभेदवाला है । ऊपरी भाग ब्रह्मरन्ध्रसे उस तेजोमय सत्ताकी उत्क्रान्ति मोक्षपदकी गति है । इसी सिद्धान्तपर योगशास्त्रने कुण्डलिनी-उत्थान और षट्‌चक्रभेदनपूर्वक सहस्रदलमें उस सत्ताको लानेका अभ्यास कराया है । यही ऊद्‌र्ध्वगतिका सिद्धान्त है । पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यने इस पवित्र शक्तिके सहस्रदलमें सञ्चालनको इस प्रकार लिखा है—

मही मूलाधारे कमपि मणिपूरं हुतवहे
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि पवनमाकाशमुपरि ।
मनोपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥

उपनिषद्‌गीतामें इस भावको बनानेको यों कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

'ॐ परमात्माका पवित्र नाम है । इस नामका उच्चारण करते हुए जिसकी प्राणोत्क्रान्ति होती है वह परमधामको पहुँचता है ।' तात्पर्य 'ॐ' इस शब्दको पद्मासन बाँधकर पहले परा, तब पश्यन्ती फिर मध्यमामें सञ्चालन कर फिर वैखरीमें लावे और निरन्तर एकरससे उच्चारण करे तो स्वयं अनुभव होता जायगा कि कोई शक्ति ऊद्‌र्ध्वगामिनी हो रही है । इस नामका यह प्रबल प्रताप है कि इस उच्चारणसे प्राणशक्ति उद्‌र्ध्वगामिनी होती है । इसीलिये उपनिषदोंमें परमात्माके असंख्य नामोंमें 'ॐ' को श्रेष्ठ नाम कहा है । पतञ्जलिने भी 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्रसे प्रणव-जपको श्रेष्ठ बताया है । अन्यान्य मन्त्रजप सब सिद्धिप्रद होते हुए भी मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका सर्वोत्तम नामजप, प्रणवजप है ।

प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।

इस ॐकार जप पर जिसकी निष्ठा है उसको कोई भय नहीं है । कठोपनिषद्‌में नचिकेताके आत्मदर्शनाधिकारमें—'एतदालम्बनं श्रेष्ठम्' कहा है इस प्रणवका आश्रय सर्वश्रेष्ठ है । तन्त्रशास्त्रमें सम्पूर्ण मन्त्रोंका दीपक और

सेतु प्रणवको कहा है । माण्डूक्योपनिषद्में चतुर्वर्ग-साधनका एकमात्र प्रणव बताया है । यह 'अ' 'उ' 'म्' विशुद्धचक्र और स्वाधिष्ठानदलके सञ्चालनसे विकास होता है । यह शब्द जल और आकाश दो तत्त्वोंका विकास करता है । यही वैष्णव और महाशिव-धामका साधन है । जल और आकाश ये दो चैतन्य सत्ताके आधार हैं । उपनिषद्में आता है 'अस्य लोकस्य का गतिः' इस ब्रह्माण्डका कहाँपर आधार है ? उत्तर—'आकाश इति होवाच' । आकाश है । उस आकाशतत्त्वकी परम्पराको विकास करनेका विद्युत्-प्रभाव चमत्कार दिखानेवाला प्रणवोच्चारण है । अर्थात् चाहे यावज्जीवन त्रिगुणात्मक देहसम्बन्धसे उससे इष्ट-अनिष्ट, शुक्ल-कृष्ण कोई भी कर्म क्यों न हुए हों, यदि प्राणोत्क्रान्तिकालमें 'ॐ' कार-का अभ्यास हो जाय तो उसके रजस्—तमके भाव विलय होकर शुद्ध सत्त्वगुणका विकास आकाश ब्रह्म उसमें व्याप्त हो जाता है । इसीलिये कहा है यदि सद्यजात बालक 'ओ-ओ' न करे तो जानना कि इसमें जीवका विकास नहीं है । रोगाक्रान्त व्यक्ति जब किसी प्रकार भी चैन नहीं पाता तब ज़ोरसे 'ओह-ओह' कहकर कुछ शान्ति पाता है । बालक जब किसी खेल-कूदमें जय पाते हैं तब ओह-ओह कहकर आनन्द प्रकट करते हैं । इन व्यावहारिक दृष्टान्तोंसे स्पष्ट है कि ॐकार नामोच्चारण परम माङ्गलिक है । उत्क्रान्ति समयमें इस प्रकार इसका साधन है—

इहस्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमुदरे
समारोप्य प्राणान् प्रमुदितमना प्राणनिलये ।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगतां
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम् ॥

भ्रूमध्यसे ज़रा उन्मनीके स्थानके शिखरपर अन्तिम समयपर प्रसन्नतासे प्राणोंको रखकर जो प्राण विसर्जन करता है वह परमपुरुष या परमपदको पहुँचता है यह शास्त्रीय सिद्धान्त है । अतः महान् मोक्षलाभ 'यल्लाभान्नापरो लाभः' जिस नामको विधिवत् उच्चारण करनेसे प्राप्त होता है वह प्रणव भगवान्का सर्वोत्तम नाम है । तन्त्रशास्त्रका सिद्धान्त है कि मन्त्रोंको सिद्ध करनेसे उसके अधिष्ठात्री देवताका साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् इस पवित्र नाममन्त्रको जो विष्णु-पादमें जपते हैं उनको आकाशतत्त्वके रंग और जल-तत्त्वके रंग पहली-पहली स्थितिमें ज्ञात होते हैं । पीछे जल आकाश संकल्पित देवता विग्रह और अन्तमें अनेकों जन्मोंके दुरितशमनपूर्वक आत्मसाक्षात्कार होजाता है । फिर वह दुःखमय संसारमें नहीं आता है, 'न स पुनरावर्तते' ।

इसी प्रकार नारायणनाम उच्चारण करनेसे अजामिलको परम गति मिली । शिवनाम उच्चारण करनेसे व्याधादिको उच्च गति मिली—

शिवेति द्व्यक्षरं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातकराशयः ॥

भगवान् गीतामें श्रीमुखसे स्वयं कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः ॥

जो अनन्यभावसे भगवन्नामोंका स्मरण करता है उसको साधु समझना चाहिये । 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' वह तत्काल धर्मात्मा होकर परमशान्ति मोक्ष-पदको पाता है । पुराणमें कहा है—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः ॥

भगवान्के नाम उच्चारण करनेमें पापनाशिनी शक्तिका जितना बल होता है, इतना शरीरसे किये

हुए पापका बल नहीं । उदाहरण अजामिल आदि हैं। स्मृतिसंग्रहमें स्पष्ट लिखा है—

न तावत्पापमस्तीह यावन्नाम हरेर्हरेः ।
व्यतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तान्तरं बुधाः ॥
(शान्तिपर्व)

ऐसा कोई पाप नहीं है जो भगवान्के नाम-उच्चारणसे दूर न हो । जैमिनिने कहा है—

हृदि भावयतां भक्त्या भगवन्तमधोक्षजम् ।
यः कोऽपि दैहिको दोषो जातमात्रो विनश्यति ॥

भक्तिसे हृदयमें जो भगवान्का चिन्तन करते हैं, उनके शरीरसे किया हुआ ऐसा कोई पाप नहीं है जो उससे नष्ट न हो जाय ।

कृष्ण कृष्णेति भजतां न भवो नाशुभा गतिः ।
प्रयान्ति मानवास्ते तु तत्पदं तमसः परम् ॥

'कृष्ण कृष्ण' इस नामके भजनेवालोंका फिर जन्म नहीं होता है और न नीच योनिमें ही जाना पड़ता है।

भागवतके छठे स्कन्धमें यमराजने अपने दूतोंसे कहा है कि 'खबरदार, वैष्णव भक्तोंको यहाँ मत लाना ।' तब यमदूतोंने यमसे पूछा कि 'महाराज ! हम यमपुरीमें किसको लावें क्योंकि संसारमें सभी तो वैष्णव भक्त हैं ।' इसपर यमने कहा—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

'जिसकी जिह्वा भगवान्के नामका उच्चारण नहीं करती हो, जिसका चित्त भगवान्के चरणोंका स्मरण न करता हो तथा जिसका शिर भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम नहीं करता हो; उन भगवत्सम्बन्धी कर्मोंको न करनेवाले दुष्ट मनुष्योंको यमलोकमें लाना ।' इससे स्पष्ट है कि भगवान्का नामोच्चारण करनेवालोंको यमपुरीमें जाना नहीं होता । बल्कि वे 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' उस परमपदको पहुँच जाते हैं ।

भगवान् व्यासजीने संसारके उपकारार्थ विष्णुसहस्रनाम-पाठका आदेश किया है । मनुष्यको चाहिये कि सर्वदा जिह्वासे भगवान्के सत्य नाम-उच्चारणका अभ्यास डाले । माधवाचार्य शङ्करदिग्विजयमें लिखते हैं 'वन्ध्यासूनुखरीविषाणसदृश' अर्थात् राजामहाराजाओंके नामपर प्रशंसात्मक मिथ्या शब्दोंसे जिह्वापर जो पाप लग गया है उसे आज शङ्करके नाम उच्चारण करनेसे मैं शुद्ध करता हूँ । वाल्मीकिजीकी कथा सबपर विदित है । राम-राम कहते-कहते उनकी कायापलट हो गयी ।

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥

इस राम-नामकी महिमा मारुतीय कदम्बमें देखिये । उसमें लिखा है कि हे राम! आपने उतना पुरुषार्थ नहीं किया, जितना कि आपके नामने । ऐसा है भगवान्के नाम-उच्चारणका महत्त्व । और मृत्युसमय जो इसका आश्रय रहे तो कहना ही क्या ।

'स याति परमां गतिम्'

स्वप्न और स्वप्नपर अधिकार

(लेखक—श्रीरामदित्तामलजी भाटिया)

निद्रावस्थामें शरीर और मनके भावोंकी जो अनुभूति होती है, उसे स्वप्न कहते हैं । अर्थात् जब मनुष्य सोता है, होशसे बेहोशीमें जाता है, होशसे बेहोशीमें जाते समय जब वह कुछ होशमें भी होता है और बेहोशीमें भी होता है, तब शरीरमें व्याप्त प्रधान पदार्थ अथवा चित्तकी प्रधान वृत्तिके अनुसार वह कुछ अनुभव करता है; जैसे—पित्त प्रकृतिवाला मनुष्य प्रायः अग्नि और प्रकाश, वातप्रधान व्यक्ति वायु और आकाशमें गमन और कफवाला जलाशय, नदी-नालेका दृश्य देखता है । यही स्वप्न है ।

निद्रित अवस्थामें मनुष्यका शरीर और मन अचेत, तमसावृत होता है, इस कारण स्वप्नमें पदार्थोंकी जाँच करनेमें भ्रान्ति होती है । हाँ, जब कभी किसीके शरीर अथवा मनमें विक्षेप कम होता है तब स्वप्नमें भूत, वर्तमान या भविष्यके यथार्थ दृश्य उसके सामने आते हैं और वे ठीक भी निकलते हैं । इसके अतिरिक्त मानसिक कर्मों अर्थात् वासनाओं या चेष्टाओंका, जो क्रियात्मक रूपमें अभी नहीं आयी हैं, भोग भी स्वप्नमें मिलता है । जैसे कभी-कभी हम यह देखते हैं कि बिना इच्छाके ही स्वप्नमें सुख-दुःखका अनुभव होता है । और कोई स्वप्न उस अवस्थामें अनेक वर्षोंके तथा अनेक जन्मोंके जीवनके होते हैं; जैसे कोई रंक अपने-आपको राजाके रूपमें देखता है और वैसा ही जीवन व्यतीत करता है अथवा कोई राजा अपनेको फकीरके रूपमें देखता है । कभी-कभी तो स्वप्नकी शृङ्खला कई वर्षोंतक चलती रहती है ।

इस स्वप्नावस्थाको यदि अधिकृत कर लिया जाय तो उससे सारी सृष्टिका साक्षात्कार हो सकता है, पूर्वजन्मका ज्ञान हो सकता है; सविकल्प समाधिकी प्राप्ति हो सकती है । योगी प्रयत्न करके इसी स्वप्नावस्थाको सविकल्पमें बदलकर शीघ्र जन्म-मृत्यु और जीवनसे मुक्त होनेके लिये अपने शेष मानसिक और शारीरिक भोगोंको दग्ध कर डालते हैं । यहींसे चित्तका निर्माण होता है, जिसका वर्णन योगसूत्रमें इस प्रकार आया है—'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।' ऐसा न भी हो तो कम-से-कम स्वप्नपर अधिकार कर लेनेपर स्वप्नमें जो जाग्रदवस्थाका भ्रम होता है और इस कारण जो भय, शोक, दुःख आदि होते हैं, वे नहीं होंगे ।

ऐसी स्थितिमें स्वप्नपर अधिकार प्राप्त करना बड़ा आवश्यक प्रतीत होता है और इसके लिये प्रत्येक व्यक्तिको प्रयत्न करना चाहिये । परन्तु अब प्रश्न यह है कि स्वप्नपर अधिकार कैसे प्राप्त किया जाय ?

ऊपर कहा जा चुका है कि स्वप्न निद्रावस्थामें कुछ क्षणतक दिखायी देनेवाले दृश्योंको कहते हैं । ये दृश्य क्षणिक और नाशवान् होते हैं । उनपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि स्वप्नको स्वप्नके रूपमें देखनेका अभ्यास किया जाय । इसका अभ्यास करते-करते जब वृत्ति परिपक्व हो जायगी तब स्वप्नमें स्वप्नका ही भान होगा, भ्रम नहीं होगा ।

दूसरा, परन्तु सबसे मुख्य साधन है 'विवेक' । विवेकके द्वारा जब संसारके वास्तविक स्वरूपका (जो स्वप्नवत् है) ज्ञान हो जायगा तब संसारका कोई पदार्थ किसी अवस्थामें भी न तो ग्राह्य प्रतीत होगा और न ग्रहण ही किया जायगा अर्थात् इस तरह अपरिग्रह सिद्ध हो जायगा—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म-

कथन्नासम्बोधः ।' फिर तो सारी सृष्टिका सार रहस्य पूर्णरूपसे मालूम हो जायगा ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि जाग्रत् भी प्रायः कल्पित ही है । जिस वस्तुके विषयमें हमने जैसा सुना है, अथवा जैसी कल्पना की है, उसीके अनुसार उसे मानकर हम चलते हैं । फिर संसारके भी सभी पदार्थ क्षणिक हैं । जब हम जाग्रदवस्थामें व्यवहार करते समय इस नाशवान्, क्षणिक, असार जगत्को, जो स्वप्नसे अधिक और कुछ भी नहीं, सत्य मानते हैं तो फिर स्वप्नमें भी हमारे अन्तःकरणमें वैसी ही स्फुरणा होती है । स्वप्न तो भावनासे ही बनता है और जैसी मनकी धारणा जाग्रदवस्थामें इस स्थूल या सूक्ष्म जगत्के विषयमें होती है, वैसी ही प्रतीति उसके प्रतिबिम्बस्वरूप स्वप्नकी भी होती है । स्वप्नमें जिस तरह हम नाना प्रकारके कल्पित दृश्योंके कारण सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, ठीक उसी तरह जाग्रदवस्थामें भी तो मनके ही अभ्यासके अनुसार विभिन्न पदार्थोंमें सुख-दुःखकी कल्पना करके हम सुख-दुःखका अनुभव करते हैं । अन्यथा यह जड प्रकृति शुद्ध चेतन जीवात्माको कैसे हानि-लाभ पहुँचा सकती है ? मनकी प्यासके कारण ही जीव अपने आपको सुखी-दुखी मान रहा है ।

अतः जीवनके प्रत्येक क्षणमें विवेकके द्वारा जागतिक समस्त पदार्थोंको क्षणिक, नाशवान्, दुःखरूप मानकर मनकी प्यासको एकदम मिटा देनेका अभ्यास करना चाहिये । मनपर विजय प्राप्त कर लेनेपर सर्वत्र विजय निश्चित है, सर्वाधिकार सुरक्षित है । इसके बिना अन्य सारे साधन व्यर्थ हैं, खेलवाड़मात्र हैं ।

* * *

रामनामका प्रभाव

अपत-उतार, अपकारको अगारु, जग जाकी छाँह छुएँ सहमत ब्याध-बाधको ।
पातक-पुहुमि पालिबेको सहसाननु सो, काननु कपटको, पयोधि अपराधको ॥
तुलसी-से बामको भो दाहिनो दयानिधानु, सुनत सिहात सब सिद्ध, साधु, साधको ।
रामनाम ललित ललामु कियो लाखनिको, बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आधको ॥
सब अँग हीन, सब साधन बिहीन, मनबचन मलीन, हीन कुल-करतूति हौं ।
बुद्धि-बल-हीन, भाव-भगति-बिहीन, हीन गुन, ग्यानहीन, हीन भाग हूँ, बिभूति हौं ॥
तुलसी गरीबकी गई-बहोर रामनामु, जाहि जपि जीहँ रामहूको बैठो धूति हौं ।
प्रीति रामनामसों, प्रतीति रामनामकी, प्रसाद रामनामकें पसारि पाय सूतिहौं ॥

—गो० तुलसीदासजी

* * *

७४॥

(कहानी)

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचन्दजी)

(१)

बादशाह—महाराज बीरबल ! हम और आप सात महीनेसे चित्तौड़में लड़ाई कर रहे हैं। अनगिनत बन्दे बेक़सूर मारे गये। क्यों मारे गये ?

बीरबल—बादशाह सलामत ! अमीरोंकी मूर्खताएँ—गरीबोंको भोगनी पड़ती हैं। खास रामायणमें लिखा है—

“और करइ अपराध कोउ, और करइ फल भोग।”

बादशाह—कितने आदमी मारे गये इस लड़ाईमें ?

बीरबल—आदमी और औरतको तो मैं जानता नहीं ! दिल्ली और चित्तौड़की इस भयानक लड़ाईमें इतने हिन्दू मारे गये हैं कि उनके जनेऊ ७४॥ मन हुए हैं ! यह एक महाभारत आपने कराया क्यों ? मेरा भी रोकना न मानकर आपने बेकार इस नर-संहारको निमन्त्रण ही क्यों दिया ?

बादशाह—७४॥ मन जनेऊ ! अजी पंडीजी—आप फ़रमाते क्या हैं ?

बीरबल—वह देखिये—आमकी शाखमें तराज़ू झूल रही है। नम्बरी मनका बाट भी वहाँ रक्खा है—और सब जनेऊ भी वहाँ रक्खे हैं। चलिये और अपनी करतूतका मुलाहज़ा कीजिये।

बादशाह—७४॥ मन जनेऊ ? या अल्लाह ! या रामचन्दर ! मगर पंडीजी—आपने जनेऊ क्यों इकट्ठे कराये ?

बीरबल—ब्राह्मण और क्षत्रिय पलटनें जनेऊधारी हैं। अहीर और जाटोंकी पलटनें जनेऊहीन हैं। ७४॥ मन जनेऊ आधे मृतकोंके समझने चाहिये। उसके दूने कर लीजिये—उतने आदमी आपने इसलिये मरा डाले कि आज आप दिल्लीके सिंहासनपर विराजमान हैं ! अत्याचार या जुल्म इसीको कहते हैं। मैं जानता था कि आप युद्धमें मरने और घायल होनेवालोंकी गनती पूछा करते हैं। इसीलिये यहाँकी सूक्ष्म मर्दुम-शुमारी, सूतके तीन डोरोंकी शकलमें, देख लीजिये !

(२)

बादशाह—या अल्लाह ! या राजा रामचन्दर ! मुझे वहाँ मत ले चलो—पंडीजी माराज ! मुझे बड़ा अफसोस होगा ! माफ करो—खुदाके वास्ते !

बीरबल—खुदा माफ़ करेगा ? अगर खुदा ऐसा करे तो खुद खुदा ही खुद जाय ! चित्तौड़के रेगिस्तानको आपने ख़ूनकी झील बना दिया है ! यह दृश्य खुदाको क्या इस वक्त दिखलायी नहीं देता होगा ? माफ़ करने योग्य आपका यह क़सूर है ?

बादशाह—अरे चित्तौड़के क़िलेमें यकायक आग लग गयी है ! लोगोंको भेजो—आग बुझा दें !

बीरबल—लोग कहाँ ? लोग तो केवल दो शेष रहे हैं। एक आप—एक मैं। चलिये हम दोनों आग बुझावें ! मगर शत्रुके महलमें आग है—आपके महल-में तो है नहीं—फिर आपको खुशी मनाना चाहिये या रोना चाहिये ?

बादशाह—दुश्मन कोई नहीं है—सभी दोस्त हैं। सभी कलेजेसे लगा लेनेके क़ाबिल हैं। माराज ! किसी तरहसे भी इस आगमें पानी डलवा दीजिये !

बीरबल—यह आग वह नहीं है कि जिसको पानी खा सके ! यह आग वह है कि जिसमें पानी मिट्टीके

तेलकी तरह जलता है । आप फिकर न करें । जिसे आप आग समझते हैं—वह आग नहीं है !

बादशाह—आग नहीं है ? आग है आग ! आग ही आग है ! किलेको खाने आयी है । उदयसिंहके इस किलेको बचाओ—बीरबल !

बीरबल—बादशाह सलामत ! ज़रा होशमें आइये ! जिसको आप आग समझ रहे हैं वह 'जौहर'की आग है !

बादशाह—हैं ? जौहर हो रहा है ? महारानी सती हो रही है ?

(३)

बीरबल—जी गरीबपरवर ! केवल एक महारानी ही नहीं—एक हज़ार पतिव्रताओंकी जमात भी जल रही है !

बादशाह—दौड़कर चलो ! सतियोंको जलनेसे जल्दी बचाओ ! वरना—मुगल खानदान आगे चलकर बरबाद हो जायगा !

बीरबल—उस भावी बरबादीकी शिला आज आपने खुद ही रख दी । चित्तौड़के आसपास अगणित शव सड़ रहे हैं—रक्तने झीलका रूप धारण किया है और महलमें सतियाँ जल रही हैं । तवारीख क्या कहेगी ? कलमवाले क्या लिखेंगे ?

बादशाह—या अल्लाह ! या श्रीरामचन्दर ! बिल्कुल बेक़सूर था—महाराना ! चित्तौड़को एक स्वतन्त्र राज्य मान लेनेमें मेरी कोई हानि नहीं थी ।

बीरबल—फिर क्यों अपना मुँह काला किया ? साथ रहनेके कारण मेरा भी मुँह काला हुआ या नहीं ?

बादशाह—बैठ जाओ ! मेरे पैर काँपते हैं । इरादा होता है कि मैं भी इसी आगमें कूद पड़ूँ ! मगर बैठना कैसा ? जल्दी चलो—अभी आग जलायी ही गयी है—हिन्दू माता अभी जली नहीं होंगी ।

बीरबल—हिन्दू माता ! हिन्दू माताके पास हम और आप पहुँच ही नहीं सकते ! जब उनके पति मारे गये तब सारा रनवास सती हो जायगा ! उनको इस कामसे रोकनेवाला न बीरबल है और न बादशाह है ! अगर ब्रह्माजी चाहें तो वह भी नहीं रोक सकते !

बादशाह—तो क्या हुआ ! करीबसे चलकर दर्शन करेंगे !

बीरबल—इस वक्त आपकी मति मारी गयी है । आपके सिरपर ७४॥ मनके दूनेका पाप आ बैठा है । आगे चलकर यह संख्या एक क़सम बन जायगी । अगर कोई अपनी चिट्ठीपर ७४॥ का अंक डालेगा तो वह आन हो जायगी । जो कोई उस पत्रको पढ़ेगा उसको ७४॥×२ पापका कुछ भाग मिलेगा ।

(४)

बादशाह सलामत ! मैंने आपके इस युद्धका पाप 'चुराकर पत्र पढ़नेवालों' पर डाल दिया है ! प्रथम तो किलेका ताला अन्दरसे बन्द है—दूसरी बात यह कि—शत्रुके किलेमें आपको जाना नहीं चाहिये ।

अकबर—वाह पंडीजी माराज—वाह ! इस बोझेसे आपने हलका कर दिया—इसका निहायत मशकूर रहूँगा । मुझे मजबूरन चित्तौड़से लड़ना पड़ा ।

बीरबल—किसके कहनेसे यह लड़ाई हुई ?

बादशाह—एक फकीरके कहनेसे ।

बीरबल—क्या कहा था उसने ?

बादशाह—तबकी बात है जब आप वज़ीर नहीं थे । दिल्लीमें एक ऐसा फकीर आया कि जो सोना बनाता था । जब उससे मैंने सोना बनाना पूछा तो वह मुकर गया । मैंने उसे आजीवन कारागारका दण्ड दिया । मगर खाना ले जानेके लिये मैं खुद खानसामाके स्वाँग करता था । अच्छा खाना ले जाता था । उस फकीरकी

सेवा जिस्मानी भी किया करता था । जो चीज़ मँगाता था—चुपचाप दे आता था । अफ़ीम खानेकी लत थी । मैं अठन्नी भर अफ़ीम शामकी शामको थमा आता था । छः महीनेमें बाबाजी—बड़े खुश ! एक दिन मैं रोना-सा होकर चुपचाप बैठ गया । पूछनेपर कह दिया कि लड़कीकी शादी आ गयी है और घरमें चूहे डंड पेल रहे हैं । फकीरने कहा—रुपयेके लिये अफसोस करना बेकार है । मैं तुझे सेरभर सोना बना दूँगा ।

बीरबल—उस फकीरका नाम क्या था ?

अकबर—नाम तो मैं नहीं जानता, था बड़ा औलिया ।

बीरबल—आपने एक इस्लामी अमर फकीरको बिना कारण कैद कर लिया था? एक औलियाको आपने जेलमें ठूँसा था ? यों कहिये कि आप जुल्मके आदी हैं ! मुझपर लोग इसीलिये नाराज़ रहते हैं कि मैं—कलम-तोड़ जवाब देता हूँ ! पीछे चाहे स्याह हो या सुफेद हो !

(५)

बादशाह—आप भिगो कर मारनेमें लासानी हैं——माराज ! इसीलिये मैं आपके सब क़सूर माफ किये बैठा हूँ ।

बीरबल—हाँ, फिर—सोना बना ?

बादशाह—फकीरने कहा—तीन चीज़ें ले आ । (१) चमड़ेकी धोंकनी और कोयला (२) ताँबा और (३) पारा । आगपर ताँबा गलाया और पारेका दिल मिलाया—वही सोना बना ! मगर इस्म आज़मके बिना पारा अपना दिल नहीं देता है ! वह आगपर उड़ जाता है । वह कुछ नहीं बनता हुआ सब कुछमें समा जाता है ! ख़ैर साहब—खुदा आपका भला करे । मैं रातमें तीनों चीज़ें ले गया । उसने ताँबा गलाया और पारेका दिल मिलाया । सोना तो क्या चीज़—कुन्दन बन गया—पंडीजी !

बीरबल—आपने सोना बनाना सीख लिया है ?

बादशाह—हाँ ! जिसे आप 'अकबरी मुहर' समझते हैं वह रसायनका सोना है । जौहरी लोग उसे क़ीमती सोना कहते हैं । यह सोना मैं ख़ुद बनाता हूँ ।

बीरबल—उस फकीरने और क्या बात कही थी ?

बादशाह—उसने कहा था कि देखो मैंने मन्त्रसहित तरकीब तुमको बतला दी है । तुम किसीको यह इल्म मत बतलाना । बादशाहने मुझे इसीलिये क़ैद किया है कि मैंने उसे तरकीब बतानेसे इन्कार कर दिया । अगर बादशाह खुशामद करता तो बतला देता । चार चीज़ें अगर बादशाह पा जावे तो वह दिल्लीके तख़्तपर हमेशा क़ायम रह सकता है ।

बीरबल—कौन चार चीज़ें ?

बादशाह—(१) एक सन्तकी मिहरबानी, (२) एक सतीकी मिहरबानी, (३) रसाइन, और (४) चित्तौड़का किला !

बीरबल—पाया क्या-क्या ?

बादशाह—कबीर साहब संतकी मिहरबानी पा ली है । रसाइन पा ली है । चित्तौड़का किला पा लिया है । सिर्फ़ सतीकी मिहरबानी बाकी रही ।

(६)

बीरबल—यही बाकी—बाकी तीनोंकी—बाकी निकाल देगी !

बादशाह—क्या फ़रमाया—पंडीजी ?

बीरबल—जिस दिल्लीके सिंहासनपर युधिष्ठिर और पृथ्वीराज 'अमर राजा' न बन सके—उसपर आप कैसे बनेंगे ?

बादशाह—एक सतीकी मिहरबानी बाकी है। अगर मेरे चारों काम पूरे हो जावें तो फिर मैं देखता हूँ कि मुझे कौन मारता है !

बीरबल—वह देखिये ! संग्रामभूमिके बीचोबीच एक सती-दाह होने जा रहा है। चिता जल उठी है—सती परिक्रमा कर रही है। आपको चाहिये कि सतीकी मिहरबानी प्राप्त करें। चलिये, वहाँ चलिये।

दोनों सतीके सामने जा पहुँचे। दोनोंने सतीको प्रणाम किया। बादशाहने हाथ जोड़कर सतीसे बात-चीत की—

बादशाह—आपका मकान कहाँ है ?

सती—डोंगरपुर।

बादशाह—डोंगरपुरकी जागीर—चित्तौड़से काफ़ी दूर है। आप यहाँ क्यों आयीं ?

सती—मेरे पति लड़ाईमें मारे गये हैं।

बादशाह—आपके पतिका नाम ?

सती—राजकुमार श्रीमानसिंह !

बादशाह—आपका नाम ?

सती—लाजवन्ती !

बादशाह—मगर डोंगरपुरके राजा साहब मेरे दोस्त हैं।

लाजवन्ती—परन्तु उनके राजकुमार आपके दुश्मन थे।

बादशाह—आपने मुझे पहचान लिया ?

सती—अपने शत्रु और मित्रको पशु-पक्षी तक पहचानते हैं।

बादशाह—आपका विवाह कब हुआ था ?

सती—अभी नहीं ! मँगनी हुई थी !

बादशाह—जिसके साथ विवाह नहीं हुआ था—उसके साथ जल जाना नादानी है। आप मेरे साथ दिल्ली चलें ! मैं आपकी पूजा करूँगा ! आप जिसके साथ चाहेंगी अपना विवाह कर सकेंगी। डोंगरपुरकी मालगुजारी माफ कर दी।

(७)

सती—पागल है, तू हिन्दू सतीका महत्त्व नहीं समझता, तू इसे नादानी बता रहा है, यही तेरी बड़ी नादानी है, हिन्दूस्त्री एक बार जिसे मनमें पति मान लेती है, वही उसका पति है ! यह भारतीय पातिव्रत-की शान है कि मँगनीवाली लड़की अपने भावी पतिके साथ सती हो रही है ! मगर याद रख अब आपसमें लड़नेवाले ये हिन्दू और मुसलमान दिल्लीके सिंहासनपर नहीं हो सकेंगे।

बादशाह—गजब हो गया !

बीरबल—सतीने भयानक शाप दे दिया !

सती—दिल्लीपर कोई तीसरी जाति राज्य करेगी। वे लोग हिन्दू और मुसलमान दोनोंके कान पकड़ेंगे।

बादशाह—मैं आया था महर माँगने !

बीरबल—मिला कहर !

बादशाह—मेरी तकदीरमें 'अमर बादशाह' होना नहीं लिखा है—बीरबल !

बीरबल—नहीं लिखा है—बादशाह सलामत ! हम लोग झोंपड़ीमें रहकर—महलका सपना देखा करते हैं !

बादशाह—चित्तौड़की लड़ाईने मेरा सारा मन्सूबा मिट्टीमें मिला दिया। सतियोंके शापने मेरी राज्यश्री हरण कर ली है। मेरा ख़ानदान—तैमूरी ताज—बहुत दिनों-तक नहीं चलेगा। एक हज़ार साल भी नहीं चलेगा।

पतिके शवको अपनी गोदमें रखकर लाजवन्ती सती हो गयी ! बादशाहने वहीं प्रतिज्ञा की कि अब मैं किसीके साथ युद्ध नहीं करूँगा। सतीके चरणोंकी भस्म अपने मस्तकमें लगाते हुए दोनों लौट आये !

* * *

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

ईश्वर-विषयक आपके तीनों प्रश्न बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनका उत्तर लिखनेमें मैं अपनेको अयोग्य और असमर्थ ही पाता हूँ। फिर भी आपके प्रेमके लिये अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

आपका प्रश्न है कि माता, पिता, स्त्री, पुत्रकी भाँति साकार ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं ?

इस प्रश्नका साधारण विवेचन गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्वचिन्तामणि भाग १ नामक पुस्तकके १७६ एवं १८२ के पृष्ठोंमें किया गया है। आप उस पुस्तकमें देख सकते हैं। इसके सिवा अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ और भी लिख रहा हूँ।

विशुद्ध प्रेम ही ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शनका प्रधान उपाय है। यह प्रेम किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करना चाहिये। सबसे प्रथम यह विश्वास होना आवश्यक है कि ईश्वर है और वह सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परमदयालु, प्रेममय, आनन्ददाता है एवं सर्वत्र साक्षात् विराजमान है। जबतक इस प्रकारका विश्वास नहीं होता तबतक मनुष्य परमात्मासे मिलनेका अधिकारी ही नहीं है। पवित्र अन्तःकरण होनेसे ही मनुष्य अधिकारी हो सकता है। निष्कामभावसे किये हुए भजन-ध्यान, सेवा-सत्संग मनुष्यके हृदयको पवित्र करते हैं और पवित्र हृदय होनेपर ही मनुष्य अधिकारी भी बनता है। ईश्वरका ज्ञान भी उसके अधिकारी बननेके साथ-ही-साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जब मनुष्यको ईश्वरका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है यानी ईश्वरको वह भलीभाँति तत्त्वसे जान लेता है तब ईश्वरसे वह जिस रूपमें मिलना चाहता है भगवान् उसी रूपमें उसे दर्शन देते हैं। वे सर्वव्यापी परमात्मा सच्चिदानन्दरूपसे तो सर्वदा वर्तमान हैं ही पर भगवान्के रहस्यका ज्ञाता भगवद्भक्त जिस सगुण साकार चिन्मय मूर्तिसे मिलनेकी इच्छा करता है उसी मोहिनी मूर्तिमें वह नटवर अपने प्रेमी भक्तसे मिलता एवं बातें करता है। इसमें प्रधान कारण प्रेम और पूर्ण विश्वास है जिसको विशुद्ध श्रद्धा भी कहा जाता है। इसकी भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६ । ४७)

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गीता १२ । २)

हे अर्जुन ! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अतिश्रेष्ठ मानता हूँ। वे सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन प्रभु सगुण साकाररूपसे किस प्रकार प्रकट होते हैं ? इस रहस्यको यथार्थतासे भगवान्का परम श्रद्धालु अनन्य प्रेमी पूर्ण भक्त ही जानता है। क्योंकि यह इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण विषय है कि अन्तःकरणकी पवित्रताके बिना साधारण

मनुष्योंकी बुद्धिमें आना सम्भव नहीं । पर जो परमेश्वरका नित्य-निरन्तर स्मरण करते हैं उनके लिये भगवान्‌का यह रहस्य समझना पूर्णतया सहज है ।

यद्यपि साधु महात्मा और शास्त्रने इस तत्त्वको समझानेके लिये बहुत प्रयत्न किये हैं पर करोड़ोंमें कोई एक विरला ही पुरुष इस तत्त्वको समझ पाता है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २ । २९)

हे अर्जुन ! यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(गीता ७ । ३)

परन्तु हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है । जिस प्रकार चुम्बक लोहेको आकर्षित करता है, फोनोग्राफकी चूड़ी और रेडियो शब्दको आकर्षित करते हैं एवं कैमरेका प्लेट जैसे आकारको खींचता है उसी प्रकार उस भगवान्‌का प्रेमी भक्त अपने अनन्य प्रेमसे भगवान्‌को आकर्षित कर लेता है । कोई देश, कोई वस्तु, कोई काल उससे खाली नहीं, वह सर्वत्र परिपूर्णरूपसे सर्वदा अवस्थित है । प्रेमी भक्त उसको जिस मूर्तिमें, जिस रूपमें और जिस समय प्रकट करना चाहता है वह लीलानिकेतन नटवर उस प्रेमीके अनन्य प्रेमसे मोहित होकर उसी मूर्ति और उसी रूपमें और उसी समय साक्षात् प्रकट हो जाता है ।

ये जितने प्रकारके उदाहरण मैंने ऊपर दिये हैं जडपदार्थविषयक होनेके कारण कोई भी उस चेतनरूप परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घट सकते । क्योंकि परमात्माके सदृश कोई वस्तु है ही नहीं जिसका उदाहरण देकर परमेश्वरके विषयको समझाया जा सके ।

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं, सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है उससे प्रेम करते हैं । इसलिये जो पुरुष भगवान्‌को सुखस्वरूप और सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्दस्वरूप किसी वस्तुको नहीं समझता एवं इस बातपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है वह पुरुष ईश्वरको छोड़कर और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता । समस्त संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है । परन्तु वह क्षणिक, अल्प और अनित्य है । परमेश्वर नित्य-पूर्ण-चेतन और आनन्दघन है । इसलिये उस नित्य-विज्ञान-आनन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती । भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है । बतलाइये ! जो इस प्रकार उस परमानन्दके वास्तविक तत्त्वको समझ लेता है वह कैसे इस सांसारिक तुच्छ विषयजन्य नाशवान् अनित्य सुखमें फँस सकता है ?

अतएव मनुष्यको परमेश्वरमें अनन्य प्रेम होनेके लिये भजन-ध्यान सेवा-सत्संग सदाचार आदिकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये ।

आपका दूसरा प्रश्न है कि ईश्वरमें तर्करहित श्रद्धा किस अभ्याससे हो सकती है ?

उस परम प्यारेकी मनमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन करनेवाले एवं उसके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले पुरुषोंद्वारा ईश्वरके गुण, प्रेम और प्रभावकी बातोंको प्रेमसे सुनने एवं समझनेसे ईश्वरमें तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है ।

यदि ऐसे महात्माओंसे मिलना न हो तो प्रेम और श्रद्धासे परमेश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले साधक पुरुषोंका सत्संग करना चाहिये एवं उनसे ईश्वरविषयक गुण प्रेम और प्रभावकी चर्चा करनी चाहिये । ऐसा करनेसे भी भगवान्में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है । यदि इस प्रकारके उच्च श्रेणीके साधकका संग भी न मिले तो मनुष्यको जिनमें ईश्वरके प्रेम, प्रभाव, गुण और तत्त्वकी बातें लिखी हों एवं जो ईश्वर या महापुरुषोंद्वारा रचे हुए हों ऐसे शास्त्रोंका विचारपूर्वक प्रेमसे अध्ययन करना चाहिये । सम्पूर्ण शास्त्रोंमें ईश्वरतत्त्वके ज्ञानके लिये श्रीमद्भगवद्गीताके समान दूसरी पुस्तक नहीं है । महाभारतमें लिखा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीता सुगीता करने योग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णु भगवान्के मुखारविन्दसे निकली हुई है, फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?

गीताके अध्ययनसे भी ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा हो सकती है । यदि इन ग्रन्थोंके समझनेकी बुद्धि भी न हो तो उन परम पिता परमात्मासे नित्यप्रति एकान्तमें सच्चे हृदयसे विनयभावपूर्वक गद्गद होकर प्रेमसहित विशुद्ध श्रद्धा होनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । उस दयासागरके सामने की हुई सच्चे हृदयकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती । इस अभ्याससे परमात्मामें तर्करहित पूर्ण श्रद्धा हो सकती है ।

बिना श्रद्धाके ईश्वरतत्त्वका ज्ञान हो ही नहीं सकता वरं उत्तरोत्तर उसका पतन ही सम्भव है । जैसे गीतामें लिखा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
(गीता ९ । ३)

हे परंतप ! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं ।

अतः ईश्वरतत्त्वके जाननेके लिये श्रद्धाकी परम आवश्यकता है । क्योंकि श्रद्धासे ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान होकर परम शान्तिकी प्राप्ति होती है । गीतामें लिखा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४ । ३९)

हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा होनेके लिये कटिबद्ध चित्तसे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे किसी एकका या अधिकका जो जितना अभ्यास करेगा उसकी उतनी ही श्रद्धा बढ़ेगी एवं उस परमपिता परमेश्वरमें उतना ही अधिक प्रेम होगा । सभी साधनोंका पालन करनेसे शीघ्र ईश्वरमें श्रद्धा हो सकती है एवं आदर और प्रेमसे किया हुआ अभ्यास अन्तःकरणको पवित्र करके बहुत श्रद्धा बढ़ा देता है ।

आपका तीसरा प्रश्न है—

सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

ऐसी सच्ची भावना कैसे हो ?

उपर्युक्त साधनोंका प्रेम और आदरसे जितना अधिक अभ्यास किया जाता है उतना ही शीघ्र मनुष्यका हृदय पवित्र हो जाता है। हृदय पवित्र होनेके साथ-ही-साथ परमेश्वरमें श्रद्धा बढ़ती है। श्रद्धाकी वृद्धिसे परमेश्वरमें सर्वदा दृढ़ भावना बढ़ती है। भावनाके दृढ़ होनेसे सर्वत्र ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। उस समय वह सर्वव्यापी परमेश्वर सीयराममय देखनेवालोंको सीयराममय एवं केवल राममय देखनेवालेको राममय दिखलायी पड़ने लगता है।

(२)

ज्ञान तो भक्तिके पीछे है। श्रीभगवान्‌की भक्ति करनेसे ज्ञान आप ही हो सकता है। वैराग्य चित्त शुद्ध होनेपर होता है। वह भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे चित्त शुद्ध होकर हो जाता है। यों भक्तिसे ज्ञान-वैराग्य आप ही हो सकते हैं। भागवतमें लिखा है भक्ति माता है और ज्ञान-वैराग्य दोनों भक्तिके पुत्र हैं। भक्ति सदा जवान रहती है और ज्ञान-वैराग्य वृद्ध हो गये। अतएव श्रीभगवान्‌की भक्तिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये। श्रीभगवान्‌की भक्ति और शरण एक ही वस्तु है। शरणका साधारण स्वरूप यह है—

(१) श्रीभगवान्‌के अनुकूल होना और उनकी इच्छाके अनुसार चलना।

(२) श्रीभगवान्‌के नाम, रूप और गुणोंको हर समय याद रखना।

(३) जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त हो उसमें आनन्द मानना। उसमें भगवान्‌की दया समझना और उनका किया हुआ विधान समझकर प्रसन्न रहना। मन मलिन न करना।

(४) आत्माके (अपने) कल्याणके लिये श्रीभगवान्‌पर ही निर्भर रहना। कुछ भी चिन्ता नहीं करना। श्रीभगवान्‌पर पूरा विश्वास रखना और अपनेको उनके चरणोंकी शरणमें समझना।

निर्भयता, धीरता, सन्तोष, शान्ति और प्रसन्नता आदि शरण होनेके लक्षण हैं।

बन सके तो दोनों समय ठीक समयसे सन्ध्या, दो या तीन माला रोज गायत्रीजाप, कम-से-कम एक अध्याय गीताका अर्थसहित पाठ, सात या चौदह माला सोलह नामवाले 'हरे राम' मन्त्रका जाप और 'प्रेमभक्ति' के अनुसार नित्यप्रति भगवान्‌की पूजा-ध्यान-स्तुति ये सब नित्य-नियमपूर्वक करने चाहिये।

भोजन-वस्त्रका संयम, व्यापारमें सत्य भाषण, लोभ-कपटका त्याग, सबके साथ स्वार्थ छोड़कर विनयपूर्वक प्रेमभरा सद्‌बर्ताव करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

सदाचार, संयम, सेवा और साधन ये चार सकार धारण करनेसे मुक्तिमें कुछ भी शङ्का नहीं है। बहुत जल्दी कल्याण हो सकता है। लोगोंको समझानेकी बात है।—

इन्द्रियों और मनको विषयोंसे रोकनेको संयम, दुखी जीवोंको हर प्रकारसे मदद करनेको सेवा, सत्पुरुषोंद्वारा आचरित और कहे हुए मार्गको सदाचार और भजन-ध्यान-सत्संग-शास्त्रके अभ्यास आदिको साधन समझना चाहिये। इन्हींका विस्तार चाहे जितना कर सकते हैं। सूत्ररूपसे बातें लिखी गयी हैं। ये अमृत हैं, इनको काममें लानेसे मुक्ति सहजमें ही दासी बन जाती है। ये बातें लोगोंको भलीभाँति समझाने और स्वयं अच्छी तरह काममें लानेकी हैं। इनसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। इनसे अपार सन्तोष, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्‌की यादमें भूल ज्यादा पड़े तो उसका उपाय तीव्र अभ्यासकी चेष्टा करना ही है। और

भगवान्‌में प्रेम बढ़नेका उपाय पूछा सो आपको पहले लिखा ही था। भगवान्‌के गुणानुवाद पढ़ने, सुनने और कहनेसे एवं उसके लक्षण, आशय और प्रभावकी तरफ खयाल करनेसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ सकता है। ऊपर लिखी हुई बातें सब भजन और सत्संग तीव्र करनेसे हो सकती हैं। भजन और सत्संग ज्यादा होनेमें तीव्र इच्छाकी जरूरत है। जिस वस्तुकी तीव्र इच्छा होती है उसके लिये प्रयत्न और चेष्टा भी बहुत अधिक होती है। जिसे रुपयोंकी जरूरत होती है वह रुपये पैदा करनेके वक्त उन्हींका चिन्तन और उन्हींके लिये तन-मनसे चेष्टा करता है। उसके मनमें प्रायः हर समय यही चिन्ता रहती है कि रुपया किस प्रकारसे पैदा हो। रुपया कमानेके विचारमें वह अपने मन-बुद्धिको अर्पण कर देता है। इसी प्रकार जिनको भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा होती है उन्हें अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में अर्पण करना पड़ता है और भजन और सत्संग जो भगवान्‌के मिलनेके उपाय हैं उनके लिये तीव्र इच्छा हो जाती है। तीव्र इच्छा होनेपर उनके लिये उपाय तथा चेष्टा भी तीव्र होती है। कोई आदमी ज्यादा बीमार होता है और वैद्य कहता है कि अमुक वस्तुके आनेसे बच सकता है, उस समय उस वस्तुके लिये जितनी अधिक चेष्टा होती है वैसी ही चेष्टा भजन और सत्संगके लिये होनी चाहिये। तीव्र इच्छा होनेसे ही तीव्र चेष्टा होती है और तीव्र चेष्टा होनेसे वस्तुकी प्राप्ति होती है। मिथ्या सांसारिक वस्तु तो चेष्टा करनेपर भी शायद न मिले और मिलनेपर रोगीको उससे आराम भी हो या न हो परन्तु भजन-सत्सङ्गके लिये चेष्टा करनेसे चेष्टा जरूर सफल होती है। और भजन-सत्सङ्गरूपी ओषधिके श्रद्धापूर्वक दीर्घकालतक सेवन करनेसे जन्ममरणरूपी बीमारीका जरूर नाश हो जाता है। सत्यकी चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं जाती।

जपमें भूल होनेकी बात लिखी सो जपके अधिक अभ्यास करनेसे जपकी भूल दूर हो सकती है। बिना हुए भी प्रसन्न मनसे जप करनेका अभ्यास डालनेसे आगे चलकर प्रेमसहित जप हो सकता है और जिस समय जप निरन्तर होता है उस समय प्रेमसहित ही होता है। वैराग्य होनेसे तो जप-ध्यान बिना ही चेष्टाके निरन्तर होता है और भजन-ध्यान-सत्सङ्गसे ही वैराग्य होता है। 'भगवान्‌की स्मृति हर समय बनी रहनी चाहिये' ऐसी इच्छा ही निरन्तर भगवच्चिन्तन होनेमें हेतु होती है। जप करते समय संसारकी स्फुरणा हो तो उसकी जगह जबरदस्ती भगवत्-विषयकी स्फुरणा करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेसे जपके साथ ध्यानकी वृद्धि और संसारकी वासनाका क्षय हो सकता है। यदि सत्ता और आसक्तिरहित स्फुरणा हो तो कुछ हर्ज नहीं। सांसारिक सत्ता और आसक्तिके नाश होनेके लिये जप और सत्सङ्गके तीव्र अभ्यासकी जरूरत है। भगवान्‌के नामकी याद हरवक्त बनी रहनी चाहिये, फिर अधिक अभ्यास होनेसे संसारमें वैराग्य तथा भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिति भी हो सकती है। श्रीपरमात्मदेव स्वामीकी तो सदा-सर्वदा सभीके ऊपर कृपा है, जिसे ऐसा निश्चय हो जाता है वही भगवान्‌की कृपाका पात्र है। उसे फिर भगवान् शीघ्र ही मिल जाते हैं क्योंकि बिना मिले उनको चैन नहीं पड़ता है। संसार और शरीरको मिथ्या नाशवान् देखनेसे और सर्वव्यापी परमात्माको पूर्ण आनन्दस्वरूप देखनेसे भी वैराग्य हो सकता है और संसारमें घृणा होनेसे संसारका चिन्तन कम हो सकता है। संसारको मिथ्या, कल्पित तथा दुःखरूप देखनेसे संसारके चिन्तनमें घृणा हो सकती है। परमात्माके स्वरूपका चिन्तन, नामका जप और सत्सङ्ग ही प्रेम होनेके उपाय हैं। जितनी अधिक

चेष्टा होगी, उतना ही अधिक जप होगा । जो आदमी भगवान्‌को सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, दयासिन्धु तथा विना ही कारण हित करनेवाला जानेगा वह तो कभी किसी भी बातके लिये प्रार्थना नहीं करेगा । यदि प्रार्थना करेगा तो 'प्रेमभावसहित निरन्तर चिन्तन होता रहे' इसी बातके लिये करेगा । हर समय नामके स्मरणका अभ्यास हो जानेसे फिर बहुत समयतक ध्यानकी स्थिति भी रह सकती है । भगवान्‌को याद रखते हुए ही सांसारिक काम हो ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये । संसारके कामोंसे भजन-ध्यानको बहुत ही उत्तम और अमूल्य समझना चाहिये । संसारके काममें चाहे जितना हर्ज हो पर मिथ्या कामके लिये भजन-ध्यानको नहीं छोड़ना चाहिये । इस प्रकार पक्की धारणा होनेसे संसारके कामोंको करते हुए भी भजन-ध्यान हो सकते हैं । संसारके काम मानो नदीका प्रवाह है । जो पुरुष ध्यानके द्वारा भगवच्चरणरूपी नौकाका आश्रय ग्रहण कर लेता है तथा भगवन्नाम-रूपी रस्सेको पकड़ लेता है वह बच जाता है और जो नदीके प्रवाहमें बह जाता है उसकी बहुत बुरी दशा होती है ।

× × × ×

भजन-सत्सङ्ग ज्यादा होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, फिर धारणा होनेमें देर नहीं होगी । फिर संसारकी कामना नहीं रह सकती, सो आपकी चेष्टा है ही फिर इसके लिये और अधिक पुरुषार्थ करना चाहिये । इस काममें अभ्यास ही प्रधान है । और अभ्यास भगवान्‌की कृपासे स्वतन्त्र है । दिन बीते जा रहे हैं । अपने मनमें विचारना चाहिये कि मैंने इस संसारमें आकर क्या किया 'और क्या करना चाहिये ।' इसी तरह यदि और भी समय बीतेगा तो फिर कैसे जल्दी कामयाबी होगी । समयको अमूल्य काममें विताना चाहिये । फिर संसार, रुपये तथा ये भोग किस काम आवेंगे । वस्तु तो वही है जो भगवान्‌में अधिक प्रेम करावे । उसके सिवा बाकी सब मिट्टी है । सोने और पत्थरके पहाड़ोंमें क्या फर्क है । कोई भी साथ जानेवाला नहीं है । शरीर भी मिट्टीमें मिलनेवाला है ऐसा जानकर इस शरीरसे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये । भगवान्‌के भजन-ध्यान विना एक पल भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये । क्योंकि भगवान्‌के सिवा सभी कुछ अनित्य और असत् है, अनित्य और असत्‌के लिये अपना अमूल्य समय हाथसे कभी नहीं गँवाना चाहिये ।

◆

स्रवै न सलिल सनेह तुलसी सुनि रघुबीर-जस ।
ते नयना जनि देहु, राम करहु बरु आँधरो ॥
रहै न जल भरिपूरि, राम ! सुजस सुनि रावरो ।
तिन आँखिनमें धूरि भरि-भरि मूठी मेलिये ॥

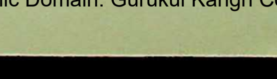

दो बिना क्रीड़ा नहीं

भगवत् अनादि माया अनादि भगवत्का अंश कहाया मैं ।
दो बिना नहीं क्रीड़ा होती इस हेतु गया निरमाया मैं ॥
पुरुषोत्तमने अपने करसे सृष्टी अरु 'मैं'[१] की रचना की ।
क्रीड़ाके हेतु भवन चहिये इसलिये बना सामान सभी ॥
चौबीस तत्त्वका बना भवन अनहद बजना दुशवार नहीं ।
भगवत् स्वतन्त्रसे प्रश्न करैं इतना हमको अधिकार नहीं ॥
पीटैं डौंड़ी उस मालिककी इसलिये गया विठलाया मैं ।
दो बिना नहीं क्रीड़ा होती इस हेतु गया निरमाया मैं ॥ १ ॥

बाज़ीगरका है खेल यही रचता है पुनि समेट लेता ।
दिखलाकर खेल विचित्र सभी मायासे मुग्ध बना देता ॥
जैसे मकड़ी जाला निकाल निरमाण भवन इक कर देती ।
उस जालमें कीट फँसाकर वह भोजन कर फिर समेट लेती ॥
तैसे ही भगवत् मायासे 'मैं' द्वारा गया फँसाया मैं ।
दो बिना नहीं क्रीड़ा होती इस हेतु गया निरमाया मैं ॥ २ ॥

सत् चिदानन्द भगवत् स्वरूप, है बहिरंगा माया दासी ।
जो अन्तरंग रस प्रेम भरा सो है श्रीराधाकी शक्ती ॥
चैतन्य अंश हूँ मैं तटस्थ परिचालकका आज्ञाकारी ।
अपने ही निकट बुलानेको दिखला दी यह लीला सारी ॥
भगवत्की सेवा करनेको भगवत्-आदेशसे आया मैं ।
दो बिना नहीं क्रीड़ा होती इस हेतु गया निरमाया मैं ॥ ३ ॥

पर तत्त्व, रसिक, कौतुकी महा श्रीकृष्ण सभीका प्यारा है ।
श्रीराधाजीका वल्लभ है मुरलीधर नन्ददुलारा है ॥
रसिकोंके निकट सदा रहता अरु विमुख जीवसे न्यारा है ।
'बाँके पिय' उसके कौतुकका यह सारा जगत पसारा है ॥
है विटप वही अरु बीज वही फल सुन्दर निरख लुभाया मैं ।
दो बिना नहीं क्रीड़ा होती इस हेतु गया निरमाया मैं ॥ ४ ॥

—बाँके पिय

---

[१] —जीव

भक्तोंके प्रकार

(लेखक—महात्मा पं० श्रीशम्भुदयालजी शर्मा)

(१) एक इस प्रकारके भक्त होते हैं कि उनकी सांसारिक वासनाएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई होती हैं। उनके पास न तो अर्थोपार्जन करने योग्य बुद्धि होती है और न अन्यान्य भोगसाधन ही। वे अपने साथियोंको सांसारिक भोगोंमें रमण करते हुए देखते हैं तो उनकी वह भोग-लालसा और भी अग्निकी भाँति प्रज्वलित हो उठती है। फिर वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनी साहूकार संतों-भक्तों और महात्माओंकी तन-मन-धनसे सेवा करते हैं तो उनके मुँहमें पानी आ जाता है। उनके भीतर जो भोग-लिप्साकी नदी झाल मारती है वह अब अन्य ही रूपमें बाहर निकलना चाहती है। उन्हें भोगोंके भोगनेका अन्य कोई साधन न सूझकर, भक्त अथवा साधुके स्वाँगमें ही उक्त वासनाको पूर्ण करनेकी सूझ पड़ती है। अन्तमें वे साधु अथवा भक्तका स्वाँग रच ही डालते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि असलीसे नकली वस्तु थोड़ी देरके लिये अधिक भव्य दिखलायी दिया करती है। उनका वह स्वाँग लोगोंको अपनी ओर काफी खींचता है। बस, उनका एकमात्र उद्देश होता है—विविध भोगोंका आनन्द लूटना, अपने पैर पुजवाने और निकम्मे पड़े रहना।

इस प्रकारके नकली भक्त वा साधु उन कच्चे बेरोंके समान हैं जो दीखनेमें लाल वर्ण और चखनेमें खट्टे होते हैं। जिन्हें 'बहलाने बेर' कहते हैं। इनसे बचना ही भला है।

(२) दूसरी प्रकारके वे भक्त होते हैं जिनके हृदयमें स्वाभाविक ही कुछ ईश्वरकी ओर भी लगन रहती है। उन्हें साधु-संत और भक्त अकारण ही प्रिय लगा करते हैं। उन्हें अच्छी-अच्छी बातोंमें हमेशा ही रुचि रहती है। परन्तु वे भली प्रकारसे यह नहीं जानते कि यह लगन कहाँसे उत्पन्न हुई है और कहाँ पहुँचायेगी। वे यों ही अपनी अच्छी प्रकृतिके वश हुए समय-समयपर अच्छी बातोंमें ध्यान दे लेते हैं। परन्तु ज़ोर नहीं लगाते। वे उस बालकके समान हैं जो अपने जवान भाईकी देखा-देखी अपने शरीर और वस्त्रोंको बार-बार सजाता है। उस नन्हें बच्चेको मालूम नहीं कि वह तो किसीके प्रेमके लिये यह तकलीफ उठा रहा है। परन्तु वह बच्चा उसके देखा-देखी, अपने वस्त्रों और शरीरको अवश्य बनाना सीख जाता है जो भविष्यमें उसको लाभदायक होंगे। यही हाल इन दूसरे भक्तोंका है जो अच्छे भक्तोंकी देखा-देखी ईश्वरके प्रेमकी रीति सीख लेते हैं। ऐसे भक्तोंको 'अनुकरणी भक्त' कहना चाहिये। जो समयसे कल्याणमार्गपर आ पहुँचते हैं।

(३) तीसरे वे भक्त हैं जो अपने सांसारिक भोगसाधनोंके नष्ट होनेसे अपने प्रियवर्गका सदैवके लिये वियोग होनेसे, अथवा हृदयपर कोई आकस्मिक आघात लगनेसे विरक्त हो जाते हैं। उन्हें यह संसार नीरस-सा भासने लग जाता है। तब वे ईश्वर-भक्तिकी ओर अग्रसर होते हैं। ईश्वर-भक्तिके प्रतापसे उनका मान-सत्कार होने लगता है। लक्ष्मी अनायास ही हाथमें आने लगती है। तब वे इस स्थानसे या तो पतित हो जाते हैं या उनकी गति आगे बढ़नेसे रुक जाती है। इस प्रकारके विरक्त भक्तोंमेंसे कोई विरला ही ठिकानेपर पहुँचता है, नहीं तो अधिकांश अधूरे ही

रह जाते हैं । वास्तवमें वे ईश्वर-प्रेममें रँगकर भक्तिके अखाड़ेमें नहीं उतरते हैं । वे तो दुःखोंके सताये हुए इस पथपर आरूढ़ होते हैं । इस भक्तिपथमें जब उन्हें सुख मिल जाता है तो वे आगे बढ़ना भूलकर वहीं लिप्त हो जाते हैं ।

(४) चौथे वे भक्त हैं जो धन, जन, बल, विद्या, वैभवमें सर्वथा भरपूर हैं । उन्हें न किसी प्रकारका कष्ट है और न किसी वस्तुका अभाव ही । परन्तु वे पूर्वजन्मके संस्कारी होते हैं ! विवेकशील होते हैं । उन्हें उगते ही विचार उदय हो जाता है । वे संसारकी प्रत्येक घटनाको मूलतः विचारनेका प्रयत्न करने लगते हैं । इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके तख़मीने लगानेमें दत्तचित्त होते हैं । वे इसके बनानेवालेको भी जानना, देखना और प्राप्त करना चाहते हैं । वे अपने जीवनको क्षणिक समझते हैं । वे इन सांसारिक पदार्थोंको भुलावामात्र समझते हैं । उनकी दृष्टि सर्वसाधारणकी दृष्टिसे ऊपर होती है । वे प्रत्येक वस्तुकी तहमें घुसकर उसके तत्त्वकी थाह लाते हैं । वे भोगप्रिय नहीं होते हैं । उनकी प्रतिभा सूँघनेवाले श्वानकी भाँति तत्त्ववस्तुको सूँघती ही फिरती है । अन्तमें वे ईश्वरके प्रेममें रँगे जाते हैं । उसी ध्यानमें विलीन होकर अपने जन्मकी सफलता प्राप्त कर जाते हैं । ऐसे भक्त 'तत्त्वज्ञ' कहलाते हैं ।

(५) पाँचवीं प्रकारके भक्त ऐसे होते हैं कि उन्हें उस तत्त्वकी खोज करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती । वे तो इस जन्ममें ऐसे आते हैं जैसे कोई लड़का किसी घरमें इस प्रकार निःसन्देह प्रवेश करे कि मानो उसको उसकी इष्ट वस्तुका ठिकाना निश्चयरूपसे विदित है । ऐसे भक्त जन्मसे ही विश्वासी, प्रेमी और लगनदार होते हैं । वे तो ईश्वर-ही-ईश्वर पुकारते आते हैं और अपने प्यारेसे बगलगीर होकर मूकवत् होकर चले जाते हैं । वे दुनियाको फूटी आँखसे भी नहीं देखते । वे दुनियाकी निन्दा-स्तुतिको कुत्तेकी भोंकसे अधिक महत्त्व नहीं देते । ऐसे भक्त अपने परम पिताकी गोदमें बैठकर शाही तख्तोंकी ओर थूका करते हैं । वे किसीको वचनोंद्वारा ईश्वरका मार्ग बतलायें या न बतलायें उनका रोम-रोम ईश्वरका पथप्रदर्शक हो जाता है । ऐसे भक्त ही जीवोंका हित कर जाते हैं । इस प्रकारके भक्तोंसे कुल, ग्राम और देश पवित्र हो जाता है । इनके दर्शनसे ही जीवोंका कल्याण होता है । ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान्ने कहा है कि—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी मुनिकी चरणरेणुसे मैं अपनेको पवित्र करनेके लिये सदा उसके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ ।

भक्तके वशमें है ये प्रान ।

मेरी है जंजीर प्रेम ही और प्रेम ही बान,
मुझे लूटते प्रेमी जन ही करके मनका दान ।
प्रेम-रागपर जब कब मेरी टूटा करती तान,
प्रेम-डोरका मैं पतंग हूँ भरता फिरूँ उडान ॥

चोर-जार-शिखामणि

(लेखक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥
अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मीसरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे ।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीलामदमुदितवदनशशिमधुरिमनि लीये ॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम'में भगवान्‌का एक नाम 'चोर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच वृत्तियाँ हैं। भगवान्‌के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्‌में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है? और यदि उनमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है? और यदि वास्तवमें भगवान्‌में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे बिना कैसे बचेंगे? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्बन्धमें आपका मत जानना चाहता हूँ?

इसके उत्तरमें अपनी अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। प्रश्नकर्त्ता महोदयको इससे कुछ सन्तोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्त्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं। और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं वे कदापि विवेकवान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते। और भगवान्‌में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खताकी सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्‌का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्‌को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्‌में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शंका भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये। स्वरूपभूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्‌में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके आचार्य और विश्वके भरण-पोषण-कर्त्ता होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेष सद्गुणालङ्कृत हैं, और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्‌रूपमें उन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसारके सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं,* सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि········ (गीता ७।१२)

अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

आता । उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं ।*

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्का है । क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'† हैं, और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मा-रूपसे वही स्वयं विराजित हैं‡ । इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न तो परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्य-का ही ।

परन्तु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्त्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार मंगलविग्रह भगवान्के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं । उनका कहना है कि 'धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो ।'

इसके उत्तरमें यों तो ऐसा कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्पर माया-जगत्-के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं । वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है । और वे जो कुछ कहते हैं वही शास्त्र है । अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना हरेकके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही है; क्योंकि भगवान्की क्रिया भगवान्के स्वधर्मानुकूल होती है । जीवमें भगवत्ता न होनेसे वह भगवान्के धर्मका आचरण नहीं कर सकता । भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्य-को छिपा दिया, बाललीलामें कनिष्ठिका अंगुलीपर पहाड़ उठा लिया, और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया । जीव इनमेंसे कोई-सा भी कार्य नहीं कर सकता । इसीलिये भगवान्की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता । हाँ, उनकी वाणीका—उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये । और इसीमें जीवोंका कल्याण है !

ऐसा होनेपर भी साकार मंगलविग्रह भगवान्की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो शास्त्र-विरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों । मोहवश मूढ़ लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओंपर दोषारोपण कर बैठते हैं* । तब फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है ? अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है । यों तो वेदोंमें भी भगवान्को 'स्तेनानां पतये नमः' चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है । भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुभवी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने

---

* न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
(गीता ९ । ९)

अर्थात् हे अर्जुन ! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते ।

† सर्वलोकमहेश्वरम् (गीता ५ । २९)

‡ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
(गीता १० । २०)

हे अर्जुन ! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ ।

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ मनुष्य ही मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्को नहीं पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं ।

'लोचन सुखद विश्वचित-चोरा' कहा है। परन्तु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे बारंबार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परमात्मा घोषित किया है। और इन भगवान्का 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रक्खा गया है उन व्रजगोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं*, और स्वयं भगवान् जिनका अपनेको ऋणी घोषित करते हैं†।

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदंबपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये। और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये। परन्तु इस माखन-खोरी, चीर-चोरी और रास-रमणके प्रेमराज्य-सम्बन्धी रहस्यका किञ्चित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि

---

* तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि, 'हे भगवन्! मुझे इस धरातलपर व्रजमें विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय जिससे मैं गोकुलवासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरणरजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है (परन्तु पाती नहीं।)'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६४)

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊँ, (जिससे उन गोपियोंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो) क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जाने योग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरणरेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ जिनका भगवान्की लीला-कथाओंका गान त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

† न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्चय तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--हे प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इसी साधुकार्यका बदला मैं देवताओंकी आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपनी ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।

न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीसंगरूप व्यभिचार ही है।

शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसंगानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते हैं। वेदोंमें और गीतामें भी अच्छे भावोंमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वयं एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते हैं। * धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते हैं। † गोपियोंके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है। ‡ श्रुतियोंमें और गीतामें 'रति' शब्द आता है। § गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है। + परन्तु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये। गीतामें भगवान्के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं परन्तु वे स्वयं अर्जुनसे कहते हैं, मेरे कई जन्म हो चुके हैं। × साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है ÷। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है? वह अजन्माका जन्म है। दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्का 'काम', उनकी 'चोरी', उनकी 'जारी', उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्में बहिरंगा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

तब फिर ये क्या हैं? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है, और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरंगा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक अत्यन्त स्थूल रूप है जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरंगा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्यराज्यके खेलको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है? इसीलिये ऐसे शब्दोंको पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्को अपने ही सरीखे प्राकृत शरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषारोपणकर, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में

---

* 'सोऽकामयत' (तैत्तिरीय० २ । ६)

† 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !
(गीता ७ । ११)

अर्थात् हे अर्जुन ! धर्मसे अविरुद्ध 'काम' मैं हूँ।

‡ प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्।

§ आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः
(मुण्डक० ३ । १ । ४)

+ 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता ३ । १७)
तुष्यन्ति च रमन्ति च (गीता १० । ९)

× बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि…… (गीता ४ । ५)

÷ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।

अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टाकर घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं ! यह हमारा ही अज्ञान है । अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है । इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है । * यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है । इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका जो यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूपमय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंके समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हींपर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्‌की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं ।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्‌के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुखी होती थी । श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावितमति गोपिकाओंका तन-मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था । वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये । उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं । श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं । प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं । यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी । स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं । रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिको ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानीसे पहुँच सके; फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और लुटावें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ । रातभर गोपी इसी विचारमें रहती । प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही बिलोकर माखन निकालकर छींकेपर रखती । कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन

---

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
(गीता १८ । ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी आकांक्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूपतत्त्वको भलीभाँति जानता है ।

सोचती,—'हा ! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया ! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे ? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे ?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती । 'श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं'—सखियोंसे पूछती । एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता । भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर भोग लगाते, भक्तको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुणा बढ़ा देते !

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है ? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है ? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फलस्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है । फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है ?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथ-रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं । गोपियोंका भगवान्को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी । स्वरूपभूता गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे ? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये,—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं ! जिस प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखानेके लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने दिव्य परिकर और अपने दिव्यधाम सहित अवतीर्ण होकर व्रजमें मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्र-हरण भी एक अनोखी लीला थी । यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है । विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये बिना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता । विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो भगवान्की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर काफ़ी है कि 'श्रीकृष्ण उस समय छः वर्षके बहुत छोटे बालक थे । किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके लिये बन ही नहीं सकता । अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नंगी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है;* ऐसा नहीं करना चाहिये ।' परन्तु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है । उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका, सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते हैं । भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें—मल और विक्षेपरूपी दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है । आवरणका नाश सहजमें

---

* 'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।'
(श्रीमद्भा० १० । २२ । १९)

नहीं होता । अज्ञान इस सुकौशलसे जीवको बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्के सामने निरावरण—बेपर्द होकर जानेकी अनुमति नहीं देता ! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है । आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती । देह-गेह, लज्जा-संकोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी कुछ उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं । फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है ? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णके एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये फट जाता है, उन भगवान्का साक्षात् सङ्ग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओंमें सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होनेवाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तिसे विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना करना तो भगवदपराध ही है । गोपिकाओंकी और भगवान्की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं ! जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलंकरूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है ? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमास्पदमें किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं तब एक ही भगवान्के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है ? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है ? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अङ्ग कैसे छिपाकर रक्खा जा सकता है ? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है । परन्तु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज़ मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे संकोच होता है वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण कर अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिङ्गनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबोकर रसमय बनानेके उद्देश्यसे ज़बरदस्ती उसके आवरणको हर लेते हैं । यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है । क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका सन्देह हो सकता है ? क्या इस आवरण-भङ्गलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं ?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्को अपना मन देना चाहता है अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं ! जिसका मन चोरा गया वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है ? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है । भक्तराज लीलाशुक चोरशिरोमणि बालकृष्णके लिये कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।

विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतस्समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस पथसे न जाना, वह गली बड़ी भयानक है । वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रखे जो तमालके तुल्य नीलवर्णका एक दिगम्बर बालक खड़ा है वह केवल देखनेमात्रको ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने समीपसे निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता ।' धन्य है इस चोरको और इसकी चित्तहरनी चोरीको !

अबतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अब जारके अर्थपर कुछ विचार करना है । यह बात तो पहले कही ही जा चुकी है कि सब जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्में कभी औपपत्यकी—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती । परन्तु यहाँ साकार दिव्य मङ्गल-विग्रह भगवान्को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसीपर विचार करना है । भगवत्सम्बन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य । इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है परन्तु भगवान्के साथ सम्बन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्प्रेमके उत्तरोत्तर बढ़े हुए पाँच भाव बन जाते हैं । इन पाँचोंमें सबसे ऊँचा रस है—माधुर्य । माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं । यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है । इस रसके रसिक लोग भोग-मोक्ष सबको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें मतवाले रहते हैं । इसीसे इसका नाम मधुर है । शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकासमात्र होता है । दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है परन्तु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं, और भक्त दीन है, दास है और सेवक है । इसमें कुछ अलगाव-सा है; भय और संकोच-सा है । परन्तु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं । सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है । वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छाया-सी आती है,—भक्तमें स्नेहका विकास रहता है, और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर—अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं । इस रसमें न प्रार्थना है, न कामना है, न भय है और न संकोच है । समयविशेषपर प्रसङ्गानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है । प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं । इस रसमें भगवान्की जो सेवा होती है वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है । प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है । इस माधुर्यभावमें दो प्रकार हैं—स्वकीया और परकीया । अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है उसे स्वकीयाभाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो परपुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है उसे परकीयाभाव कहते हैं । लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है और नरकका कारण है; अतएव सर्वथा त्याज्य है । क्योंकि लौकिक परकीयाभावमें अङ्ग-सङ्गकी घृणित कामना है और प्रेमास्पद 'जार' पुरुष है । परन्तु भगवत्प्रेमके दिव्य कान्ताभावमें परकीयाभाव स्वकीयासे कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अङ्ग-सङ्गकी या इन्द्रियसुखकी कोई आकांक्षा नहीं है और प्रेमास्पद 'जार' नहीं, परन्तु पति-पुत्रोंके, अपने और समस्त विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् हैं । स्वकीयाभावमें भी पतिव्रता पत्नी अपना नाम-

गोत्र, मन-प्राण, धन-धर्म, लोक-परलोक—सभी कुछ पतिके अर्पणकर जीवनका प्रत्येक क्षण पतिकी सेवामें ही बिताती है परन्तु उसमें तीन बातोंकी परकीयाकी अपेक्षा कमी होती है। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, उससे मिलनेकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, और प्रियतममें किसी भी दोषका न दीखना—ये तीन बातें निरन्तर एक ही घरमें एक साथ निवास होनेके कारण स्वकीयामें नहीं होतीं इसीलिये परकीयाभाव श्रेष्ठ है। भगवान्‌से नित्यमिलनका अभाव न होनेपर भी परकीयाभावकी प्रधानताके कारण गोपियोंको भगवान्‌का क्षणभरका अदर्शन भी असह्य होता था।* वे हरेक काम करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका चिन्तन करती थीं † और श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें ऐसी दिव्य गुणमयी दीखती थी कि एक क्षणभरके लिये भी उनसे उनका चित्त हटाये नहीं हटता था। अवश्य ही यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषय-वासनासे सर्वथा विमुक्त दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज विना इहार अन्यत्र नाहिं वास॥

सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसीलिये इस प्रेमराज्यके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'

गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम इस परकीयाभावका था। इसीसे उनके लिये 'जारबुद्ध्यापि सङ्गता' कहा गया है। जारबुद्धि अर्थात् जारभाव था, न कि विषय-वासनायुक्त कामप्रेरित घृणित मनोविकार!

भगवान्‌की अन्तरङ्गा शक्तियोंमें 'ह्लादिनी शक्ति' सर्वप्रधान है। यही भगवान्‌की 'स्वां प्रकृति' 'आत्ममाया' या योगमाया हैं। भगवान्‌का रसराजरूपमें प्राकट्य इसी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे हुआ है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, दिव्य लीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका दिव्य रसास्वादन करनेके लिये ह्लादिनी शक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं और उसीसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधाकी प्रेम-लीलामें श्रीराधाकी सहचरी होकर रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णके प्रेममिलनमें इन सबका संयोग रहता है और यही

---

* अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्‌दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं हे श्यामसुन्दर! जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब वनसे लौटते समय हम आपके घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित श्रीमुखको देखती हैं तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं। (क्योंकि पलक पड़ना हमें सहन नहीं होता)।

† या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

जो गोपियाँ गायोंका दूध दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू लगाते समय प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है!

श्रीगोपियाँ हैं । इन गोपियोंका दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको भगवान् आवाहन करते हैं । भगवान्के आवाहनको सुनकर भला किससे रहा जा सकता है ? जिन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया है वे 'कृष्णगृहीतमानसाः' गोपियाँ उस दिव्य अनङ्गवर्धन वंशीसङ्गीतको सुनकर—जो जिस अवस्थामें थीं—उसी अवस्थामें प्रियतमसे मिलनेके लिये भाग निकलती हैं; परन्तु स्थूल देहसे नहीं । उनका वह देह तो वहीं रह जाता है जिसको प्रत्येक गोप अपने पास सोया हुआ देखता है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोयी हुई देखा ।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे परे केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य-भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मङ्गलविग्रह भगवान् योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं । वह रमण किस प्रकारका होता है । इसपर भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । १७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया !' यह है संक्षेपमें भगवान्के जाररूपकी स्थूल व्याख्या ! भला, इस दिव्य प्रेमलीलाको—परमात्माकी और जीवात्माकी या भगवान् और भक्तकी इस आदरणीय मिलनलीलाको कोई व्यभिचार कह सकता है ?

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मनःप्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किन्तु असंख्य देहोंमें, असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्म-रमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डंकेकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखामणि' कहा और ठीक ही कहा !!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्की इस दिव्यलीलाको लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं परन्तु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है ! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें, भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयोग करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगामी होते हैं !

संसार-जय

(लेखक—पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०)

अन्दर जो कामना है, बाहर वही संसार है—कामनाकी जो मूर्ति बाहर प्रकट है, वही संसार है । जो कामनापर विजय पा सकते हैं, भोगेच्छाका त्याग कर सकते हैं, स्वयं त्यागकर दूसरोंको त्यागकी शिक्षा दे सकते हैं, वे ही संसार-जयी पुरुष हैं ।

भीष्मदेव संसार-जयो पुरुष थे । 'पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है, पिता ही परम तप है, पिताको सन्तुष्ट करनेसे सब देवता प्रसन्न होते हैं ।' शास्त्रने यही शिक्षा दी है । परन्तु आज ऐसे कितने मनुष्य हैं जो इस शिक्षाके अनुसार कार्य करते हैं ? भगवान्-भगवान् बहुत लोग करते हैं, परन्तु उनमें बहुतेरे पितृद्रोही, मातृद्रोही और गुरुद्रोही हैं, यदि भगवान्को साथ रखकर कहीं घर करना पड़ता तो वे भगवद्द्रोही भी हो जाते ! ऐसे लोग भगवान्को कहाँ पायेंगे ? ये क्या साधन करेंगे ? चरित्रवान् या चरित्रवती हुए बिना क्या भगवान् मिलते हैं ? जो मनुष्य अपने पितामाताके लिये भी अपना जरा-सा सुख नहीं त्याग सकता—भोगको नहीं छोड़ सकता, उसमें चरित्र कहाँ है ? ऐसी प्रकृतिके मनुष्य,—जो पिता-माता आदि गुरुजनोंके कड़े व्यवहारको मानकर नहीं चलते, साधनमार्गपर चलने योग्य नहीं हैं । इनका साधन करना दम्भ होता है । इन्हें पहले सीखना चाहिये संसारमें तितिक्षु होना, बड़े आनन्दसे दूसरेके सुखके लिये अपनी भोगेच्छाका त्याग करना । ऐसा करनेपर फिर भगवान्के मार्गपर चलना सहज हो जायगा । संसारको जीतनेकी कला सीखे बिना भगवान्के समीप नहीं पहुँचा जाता ।

भीष्मदेव संसारपर विजय पा सके थे । पिताके सन्तोषके लिये उन्होंने जीवनभर स्त्रीका ग्रहण नहीं किया । पिताकी बात तो दूर—पिता जिसकी कन्यासे विवाह करना चाहते थे, उसके सामने राज्यत्याग और आजीवन स्त्रीत्यागकी प्रतिज्ञा किये बिना पिताका अभिलाष पूर्ण नहीं होगा, ऐसा समझकर भीष्मदेवने हँसते-हँसते जीवनभरके लिये कामिनी और काञ्चनका सर्वथा त्याग कर दिया । वे ही सच्चे संसार-जयी थे । भीष्मदेव विरक्त होकर संसारसे भागे नहीं, बल्कि विमाताके पुत्रको सिंहासनपर बैठाकर स्वयं उसके रक्षक बनकर रहे । यही सच्ची विजय है !

भीष्मदेव हमारे आदर्श हैं । इस संसार-जयी महापुरुषने मृत्युको भी जीत लिया था । ईसामसीहका क्रॉससे विंध जाना अवश्य ही प्रशंसाकी बात है । परन्तु भीष्मदेव हजारों तेज धारवाले बाणोंसे विंधे होनेपर भी अविचलित थे । इच्छामृत्यु होनेपर भी हजारों तीरोंको शरीरमें विंधे रखकर ही उन्होंने धर्मका उपदेश किया था, और आनन्दके साथ उत्तरायणतक जीवनको रक्खा था । इस ऐतिहासिक सत्यको असम्भव मानकर इसे कहानी कहकर उड़ा देनेसे काम नहीं चलता । आज इसपर विश्वास नहीं होता, इसमें हमारी मूढ़ बुद्धि ही कारण है । जब पहले-पहल रेल-तार चले थे तब ग्रामीण किसानोंको उनपर विश्वास नहीं हुआ था । आज हम चरित्रबल, धर्मबल, तपोबल आदिके सम्बन्धमें सर्वथा अज्ञान हैं । निरक्षर, ग्रामीण किसानकी अपेक्षा भी हमारी अवस्था गयी-गुजरी है । इसीसे हमें विश्वास नहीं होता । परन्तु इससे भीष्म काल्पनिक नहीं हो जाते । इसीलिये हमने कहा था कि पितामह संसार-जयी पुरुष थे ।

सर्वाङ्गीण संसार-जयके आदर्श हैं भगवान् श्रीराम।

धर्ममार्गे चरित्रेण ज्ञानमार्गे च नामतः।
तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं यस्य पूजनात्॥

यही श्रीभगवान्की महिमा है। अभिषेककी तैयारी हो गयी है। प्रातःकाल राजा होंगे। बहुत दूर-दूरसे लाखों नर-नारी अभिषेकके लिये आये हैं। सब कुछ तैयार है, ऐसे समय श्रीभगवान् राज्य छोड़कर वनको चले जाते हैं—पिताके सत्यकी रक्षाके लिये! श्रीभगवान्ने पिताके चरित्रपर विचार नहीं किया। बल्कि जिन्होंने पिताके चरित्रपर विचार करके उसमें दोष दिखलाया, उन्हें यह समझा दिया कि पिताका दोष ही नहीं हो सकता—पिताका दोष देखनेसे पुत्रका पुत्रत्व ही नहीं रहता।

पिताने किस प्रकारसे, किसके सामने, किस अवस्थामें दानकी बात स्वीकार की थी। प्रभुके मनमें इसका विचार ही नहीं आया। पिता किसी भी प्रकारसे, किसी भी अवस्थामें आज्ञा क्यों न दें, उनकी आज्ञाको बिना विचार पालन करना चाहिये। यही चरित्र है। इसीका नाम संसार-जय है। यही सत्यता है। पितामें दोष देखना तो असभ्यता—वर्वरता है। 'पिता भगवान् हैं, पिताका दोष हो ही नहीं सकता। मैं अभागा शैतानके जालमें फँसकर पिताकी बातें नहीं मानता हूँ।' जिसका हृदय इस प्रकार कहता है, वह एक दिन संसार-विजयी हो सकता है!

एक बात और! वनगमनके समय पिताने प्रभुको रोकना चाहा। प्रभुने विचार किया, और विचार करके कहा— आप इस समय जो कुछ कह रहे हैं, यह स्नेह है। स्नेहमें पड़कर मनुष्यको सत्यका त्याग करके असत्यका ग्रहण नहीं करना चाहिये। यह भारतके असाधारण धर्मका फल है। साधारण धर्म दूसरे देशोंमें है। पर असाधारण धर्म तो भारतमें ही है। इस धर्मका कोई अंश यदि अन्यत्र देखा जाता है तो वह इस देशसे आनेकी ही सूचनामात्र है। इस देशके जीवोंका कर्मसूत्रमें बँधकर वासनावश अन्य देशोंमें जन्म हो गया है। इसीसे पूर्वसंस्कारवश वे किसी अंशमें इस देशका व्यवहार कर बैठते हैं।

श्रीभगवान्ने एक और भी कठिन लीला की थी। उन्होंने कलंकशून्या, निरपराधा सहधर्मिणीको भी त्याग दिया था। कञ्चनका त्याग ठीक है, कामिनीका ग्रहण न करना भी ठीक है। परन्तु ग्रहण करके, पूर्णरूपसे उसे पवित्र जानकर और रमणीयताकी साक्षात् मूर्ति देखकर भी 'स्वामिगतप्राणा', 'समचित्त-स्पन्दनवती' का परित्याग कर देना और कहीं नहीं है! श्रीभगवान्ने देवीका त्याग क्यों किया? राजाका कर्त्तव्य पालन करनेके लिये? यह कर्त्तव्य प्रजारञ्जन है। प्रजाके लिये सारे सुखोंका विसर्जन कर देना ही राजधर्म है। आश्रितके लिये अपने सुखकी कामनाका त्याग ही पूर्णमात्रामें संसार-जय है।

प्रजा अज्ञानी हो सकती है—आश्रितजन मूर्ख हो सकते हैं—परन्तु राजा यदि अज्ञानी मूर्ख आश्रितोंको क्षमा कर उनके दोषोंको न सुधार सके तो राजधर्म कैसे रह सकता है? इस प्रकारके कार्योंसे राजाको महान् क्लेश होगा। अपने प्रधान स्वार्थका त्याग करना पड़ेगा। परन्तु राजा यदि ऐसा नहीं करे तो उसकी प्रजाका, उसके आश्रितोंका अपने अज्ञानवश और भी मन मैला होगा—उनका अज्ञान और भी बढ़ जायगा, और उनके अज्ञानसे राज्य पापसे भर जायगा। इसलिये राजा अपने किसी भी दुःखकी परवा न करके प्रजाका उपकार ही करता है। श्रीभगवान्ने जनकनन्दिनीका त्याग किया। कहा जा सकता है कि

प्रजाके अज्ञानके लिये राजाने महारानीके साथ अविचार किया। बिना ही अपराधके उसका त्याग कर दिया। हम कहते हैं, यह त्याग त्याग नहीं था, यह थी प्रतिष्ठा। यही संसार-जय है।

स्थूल देहको आँखोंसे अलग करना ही क्या त्याग है? सूक्ष्मभावसे सीताको निरन्तर मनोराज्यमें स्थापन कर लेना उसका त्याग है या स्थापना? सीताको त्यागकर भगवान्ने जितना दुःख सहा, उतना दुःख क्या सीताको हुआ था? 'रे रे दहिने हाथ! तूने सीताका त्याग कर दिया था फिर आज धर्मके लिये शूद्रके बधरूपी निष्ठुर कर्ममें क्यों हिचक रहा है?' श्रीभगवान्की इस कातरोक्तिमें त्यागकी बात है या चिरस्थापनाकी? अश्वमेध यज्ञमें सीताकी स्वर्णमयी मूर्तिको वामभागमें स्थापन करके यज्ञ सम्पादन करना त्याग है या स्थापना? जगत्के हितके लिये जो स्थूलका त्याग करके सूक्ष्मकी स्थापना कर सकते हैं, वे ही यथार्थ संसार-जयी हैं। और जो संसार-जयी हैं वही पुरुष संयमी हैं।

श्रीभगवान्ने स्वयं आचरण करके जो आदर्श दिखलाया, वैसा और कहाँ है? ऐसा संसार-जय और कौन दिखा सकता है? आओ आओ, इस आदर्शका अनुकरण करनेके लिये हम प्राणप्रण करें। पिता, माता, गुरु, स्वजनोंके लिये हम संसार-जय करें। कर्त्तव्यके लिये आदर्शको अक्षुण्ण रखकर मनुष्य बनें!

कर्त्तव्यके सामने अपनी कामनाकी चरितार्थता? प्रेमके सामने कामका कदर्य कार्य? तुम्हारे जरा-से सुख-त्यागसे यदि परिवारका मंगल होता है, समाजका कल्याण होता है, जातिका, चरित्रका और धर्मका महत्त्व प्रतिष्ठित होता है तब क्या स्वार्थरूप पशुत्वका विसर्जन कर देना उचित नहीं है? अपना आहार, निद्रा,भय और मैथुन ही तो पशुत्व है। स्वयं पशुत्वको जय करके—दूसरेको पशुत्वके जय करनेकी शिक्षा देना क्या कर्त्तव्य नहीं है? पशुत्वको त्यागकर देवत्वके ग्रहणके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देना ही क्या बुद्धिमान् पुरुषके जीवनका उद्देश्य नहीं होना चाहिये? पशुत्व-जयकी चेष्टाको क्या संसार-जय नहीं कहा जा सकता?

प्रार्थना

जै जै रसिक रवनीरवन।
रूप-गुन-लावन्य-प्रभुता-प्रेम पूरन भवन॥
बिपति जनकी भानवैकौ तुम बिना कहु कवन।
हरहु मनकी मलिनता ब्यापै न मायापवन॥
बिषैरस इन्द्री अजीरन अति करावहु बवन।
खोलिये हियके नयन दरसै सुखद बन-अवन॥
चतुर-चिंतामनि दयानिधि दुसह दारिद-दवन।
मेटियै भगवत बिथा हँसि भेटियै तजि मवन॥

—भगवतरसिकजी

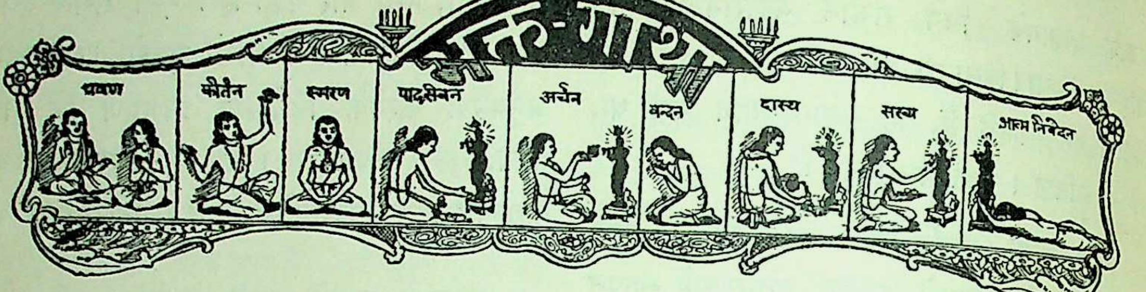

भक्त किशनसिंहजी

(प्रे०—पं० हरद्वारीलालजी शर्मा 'हिन्दीप्रभाकर')

बीकानेर-राज्यान्तर्गत गारबदेसर एक ताजीमी ठीकाना है। भक्त किशनसिंहजी वहींके ठाकुर थे। उनका गोलोकवास हुए लगभग साठ वर्ष हुए हैं। ठाकुर साहेब श्रीमुरलीधरजीके बड़े भक्त थे। जनतामें प्रसिद्ध है कि उनको प्रत्येक दिन पूजनके पश्चात् सवा मासा सोना भगवान्‌से मिला करता था और वे उक्त सोनेको नित्य ब्राह्मणोंको दान कर दिया करते थे। अद्यावधि मूर्तिके अधरोष्ठपर सोनेका चिह्न है। एक दिन ठकुरानी साहेबाने हठ करके सोना अपने पास रख लिया था, उसके बाद मूर्तिद्वारा सोना प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी ही अनेक बातें उनके सम्बन्धमें जनताद्वारा सुननेमें आती हैं। उनमेंसे कुछका पाठकोंको परिचय कराया जाता है। सम्भव है कि आजकलके वैज्ञानिक विद्वान् इन बातोंपर विश्वास न करें परन्तु जो भगवान्‌के भक्त हैं उनके हृदयमें इनका अक्षर-अक्षर प्रेम और भक्तिका उद्रेक उत्पन्न किये बिना न रहेगा क्योंकि भगवत्-प्रभावकी ये बातें जितनी भक्तलोग समझते हैं उतनी और कोई नहीं। अस्तु !

ठाकुर साहेब ईश्वरकी शपथका बहुत मान रखते थे, यहाँतक कि कई बार दुष्ट प्रकृतिवालोंने उनको शपथ दिलाकर धोखा देनेका भी प्रयत्न किया था।

एक बार कुछ चोरोंने उनको यह शपथ दिला दी थी कि 'ठाकुर साहेब हम ऊँटोंको ले जाते हैं यदि आपने किसीसे कहा तो आपको भगवान्‌की आन (शपथ) है।' ठाकुर साहेबने किसीसे नहीं कहा परन्तु चोर ऊँटोंको तमाम रात दौड़ाकर सबेरे वापिस उसी गाँवके पास आ गये। प्रातःकाल चोरोंने पूछा यह कौन-सा गाँव है ? लोगोंद्वारा गारबदेसर सुनकर उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ और पकड़े जानेके भयसे वे भयभीत होकर ऊँटोंको वहीं छोड़कर भाग गये।

एक साल गारबदेसरके चारों ओर सभी जगह वर्षा हो गयी थी, परन्तु वहाँ एक बूँद भी नहीं पड़ी। इससे ठाकुर साहेबने कहा कि—

सो कोसाँ बिजली खिंवें, यामें कौन सँदेह।
किसनाकी तृसना मिटे, जो आँगन बरसे मेह॥

भगवान्‌ने उनकी प्रार्थनापर तुरन्त ध्यान दिया। उसी समय बादलोंकी घटा छा गयी और अच्छी वर्षा हुई।

ठाकुर साहेब जागीरदार होते हुए भी हमेशा काठकी तलवार ही म्यानमें रखा करते थे। एक बार किसी चुगलखोरने बीकानेरनरेशसे कह दिया कि गारबके ठाकुर समयपर क्या काम आयेंगे वे तो काठकी तलवार लटकाये रहते हैं। इसपर दशहरेके उत्सवमें, जब कि सभी जागीरदार मौजूद थे, महाराजा साहेबने कोई प्रसङ्ग उठाकर सबको अपनी-अपनी तलवार दिखानेकी आज्ञा दी। सभीने अपनी-अपनी तलवारें निकाल लीं परन्तु ठाकुर साहेब इतने डरे कि वे थर-थर काँपने लगे और मन-ही-मन ईश्वरसे प्रार्थना की, 'हे भगवन् ! आज 'किशने' की इज्जत आपके ही हाथ है।' और डरते-डरते उन्होंने तलवारको म्यानसे

निकाला परन्तु तलवारके निकालते ही राजसभामें तलवारकी चमकसे सबकी आँखोंमें चकाचौंध छा गयी। तब महाराजा साहेबने उस चुगलखोरको बहुत ही बुरा-भला कहा। यह देखकर ठाकुर साहेबने केवल इतना ही कहा कि 'इन्होंने तो सत्य ही कहा था, परन्तु ईश्वरने इनको झूठा कर दिया है इसमें इनका कुछ भी अपराध नहीं है!'

एक बार ठाकुर साहेब किसी यात्रामें महाराजा साहेबके साथ जा रहे थे। राहमें पूजाका समय हो जानेसे ठाकुर साहेब कपड़ा ओढ़कर घोड़ेपर ही भगवान्की मानसिक पूजा करने लगे। पूजामें आप भगवान्को दहीका भोग लगानेकी तैयारी कर रहे थे, इसी बीचमें महाराजा साहेबकी दृष्टि उधर पड़ गयी। महाराजा साहेबने दो-तीन बार पुकारकर कहा, 'किशनसिंह! नींद ले रहे हो क्या?' ठाकुर साहेब पूजामें मग्न थे। उनको महाराजा साहेबका पुकारना सुनायी ही नहीं पड़ा। इससे महाराजने रुष्ट होकर अपने घोड़ेको उनके घोड़ेके पास ले जाकर उनका कपड़ा खींचकर दूर कर दिया। फिर महाराजा साहेबने उधर दृष्टि डाली तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ क्योंकि घोड़ा और काठी सबपर दही-ही-दही फैला हुआ था। उन्होंने ठाकुर साहेबसे पूछा, 'किशनसिंह यह क्या है?' कुछ समय तो ठाकुर साहेब चुप रहे परन्तु महाराजा साहेबके अधिक आग्रह करनेपर उन्होंने स्पष्ट बता दिया कि 'महाराज! मैं मानसिक पूजनमें भगवान्को दहीका भोग लगा रहा था पर आपके वस्त्र खींचनेसे मैं चौंक उठा। अकस्मात् हिल जानेसे मेरा मानसदही गिर गया। वही दही भगवान्की लीलासे प्रत्यक्ष हो गया मालूम होता है।' यह सुनकर महाराजा साहेबने गद्गद होकर उनसे कह दिया कि आप घर चले जायँ और भगवान्का भजन करें।

एक बार सरकारी बकाया देनेमें देरी होनेसे इनपर महाराजा साहेबने रुष्ट होकर कहा—'किशनसिंह! यह ठीक नहीं है, समयपर सरकारी लगान जमा हो जाना चाहिये।' ठाकुर साहेबके मुँहसे निकल गया—'दीपावलीतक ठहरिये, आपके रुपये जमा करके ही मैं दीपावलीका पूजन करूँगा।' यों कहकर ठाकुर साहेब घर लौट आये। परन्तु समयपर रुपये इकट्ठे न हो सके। ठीक दीपावलीकी सन्ध्यातक उन्होंने इधर-उधरसे जुटाकर रुपये एकत्र किये। पूजन करनेका समय हो जानेसे भीतरसे आदमी बुलाने आया, पर वे बिना ही पूजन किये रुपये लेकर घोड़ेपर सवार हो गये और सुबहतक साठ मील चलकर बीकानेर पहुँचे। महलमें उनको देखते ही महाराजा साहेबने उनसे पूछा, 'किशनसिंह! तुम कल ही जानेवाले थे न? क्या बात है? गये कैसे नहीं? रातको तुम्हारी तबीयत तो नहीं बिगड़ गयी?' महाराजा साहेबकी बातें सुनकर ठाकुर साहेबने कहा—'अन्नदाताजी! मैं तो अभी-अभी रुपये जमा देनेके लिये सीधा गाँवसे चला आ रहा हूँ। मैं कल यहाँ था ही नहीं, आपको किसी दूसरेकी बातका ध्यान रह गया होगा।'

यह सुनकर महाराजा साहेबने कहा 'तुम क्या कहते हो? अभी रुपये जमा कराने आये हो? रुपये तो तुमने कल ही जमा करा दिये थे।'

ठाकुर साहेबने जवाब दिया कि 'नहीं अन्नदाता! मैं तो कल गाँवमें ही था। आप यह क्या फ़र्माते हैं?' अन्तमें महाराजा साहेबने रोकड़में जमा किये हुए रुपये और उनके हस्ताक्षर दिखाये। उनको देखते ही ठाकुर सहेबकी आँखें प्रेमाश्रुसे भर गयीं और उनके मुँहसे केवल इतना ही निकला—'हाँ, हस्ताक्षर तो मेरे-जैसे ही हैं।' ठाकुर साहेब अपने भगवान्की लीलाको समझकर गद्गद हो गये। बीकानेरनरेश भी भक्तकी महिमा और भगवान्की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध हो गये! ठाकुर साहेबने लौटकर भगवान् मुरलीधरजीका मन्दिर बनवाया जो अभीतक उनकी कीर्तिको बढ़ा रहा है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय।

राम-नाम-प्रश्नोत्तरी

(रचयिता—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

१ कौन छत्र वह, जिसके धारणसे न सताता माया-घाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
२ कौन नाम वह, पावन जिससे सीधा और नहीं है नाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
३ कौन गूँज जो, गूँज रही है शंकरके मन आठों याम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
४ कौन तीर्थ वह, जिसमें बसते अड़सठ तीरथ चारों धाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
५ कौन मंत्र वह, जिसे जप रहे अष्टादश छः ऋक्, यजु, साम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
६ कौन योग वह, योगी जिसपर वार फैंकते प्राणायाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
७ कौन कर्म वह, त्रैकालोंमें जिसका सुखदायक परिणाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
८ कौन मेघ वह, जिसमें लसती मुक्ति निरंतर विद्युत् दाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
९ कौन देव वह, जिसके भयसे होता सरल, विधाता वाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
१० कौन त्रिशूली, जिसके भयसे खड़ा काँपता है खल काम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
११ कौन सुसाधन है वह, जिससे होते सिद्ध सहज सब काम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
१२ कौन अमृत वह, जिसको पीकर पाते जन अमरत्व ललाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है; राघव राम ।
१३ कौन भुवन वह, जिसमें बस कर पाता जीव सहज विश्राम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
१४ कौन वर्ण दो, चार वर्णके दूषणहर भूषण अभिराम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
१५ शबरीने जो शास्त्र पढ़ा था बतलाना तू 'तुलसीराम' ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।
१६ कौन नमन वह, जिसमें सारे देवोंको साष्टांग प्रणाम ?
राम राम है, राम राम है, राम राम है, राघव राम ।

THE "SHRI KRISHNA NUMBER" of THE "KALYANA-KALPATARU"

The fourth annual Special Number of the "Kalyana-Kalpataru", which is due to be published in January 1937, will be designated as the "Śrī Kṛṣṇa Number". The issue will contain articles from the pen of pious saints, men of spiritual experience and many distinguished scholars, and will contain several illustrations representing both the Indian and English schools of art. The manifestation of the Supreme Being as Śrī Kṛṣṇa and the teachings enunciated by the Lord will be discussed therein from different angles of vision. Like the previous three Special Numbers, the "Śrī Kṛṣṇa Number" too, will provide a rich feast of spiritual food to its readers.

WHAT WILL THE "SHRI KRISHNA NUMBER" CONTAIN ?

1. The "Śrī Kṛṣṇa Number" will discuss the Doctrine of Avatāravāda with particular reference to Śrī Kṛṣṇa who is regarded as God Himself 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'.
2. The "Śrī Kṛṣṇa Number" will give a brief outline of the different divine Līlās of Bhagavān Śrī Kṛṣṇa, including the Vraja-Līlā, with special reference to the Rāsa-Līlā and Śrī Rādhā-Tattva. An attempt will also be made to throw light on debatable questions with a view to helping the modern man to realize the spiritual significance of the various Līlās.
3. The "Śrī Kṛṣṇa Number" will throw light on the teachings of the different Āchāryas of the Kṛṣṇa school of Vaishnavism.
4. The "Śrī Kṛṣṇa Number" will discuss the historicity of Śrī Kṛṣṇa and the various aspects of His character.

CONTRIBUTORS TO THE "SHRI KRISHNA NUMBER".

The following are some of the contributors to the "Śrī Kṛṣṇa Number":—

His Holiness Jagadguru Sri 1108 Sri Sankaracharya of Govardhana Mutt, Puri; Pujya Malaviyaji Maharaj; Srimat Swami Abhedanandji, Ph. D., President, Ramakrishna Society; Mahamahopadhyaya Dr. Ganganath Jha; Acharya A. B. Dhruva; Mahamahopadhyaya Pt. Pramathnath Tarkabhusaṇa, Principal, Oriental College, Benares Hindu University; Mahamahopadhyaya Pandit Gopinath Kaviraj, Principal, Govt. Sanskrit College, Benares; Prof. Dr. H. V. Glasenapp, Koenigsberg University (Germany); Dewan Bahadur K. S. Ramaswami Sastri; Syt. Basant Kumar Chatterji, Accountant-General, Nagpur; Principal P. Seshadri; Dr. Radhakamal Mukerji, Lucknow University; Prof. Akshaya Kumar Banerji; Acharya Rasikmohan Vidyabhusaṇa; Syt. Sridhar Majumdar; Dr. I. J. S. Taraporewala, B. A., Ph. D., Bar-at-law; Rev. Arthur E. Massey; Syt. Chintaharan Chakravarti; Swami Asanganand, Sri Ramakrishna Mission, Ceylon; Swami Aseshanand, Sri Ramakrishna Mission, Mysore; Dr. Jadunath Sinha; Prof. M. S. Srinivas Sarma; Syt. Jayadayal Goyandka; Syt. Hanumanprasad Poddar.

Price Rs. 2/8- only; cloth-bound Rs. 3/-. Those who will subscribe for the whole year and pay Rs. 4/8 will get the "Śrī Kṛṣṇa Number" free.

Intending subscribers are requested to enrol themselves at an early date.

अंग्रेजीमें 'कल्याण-कल्पतरु' के नामसे

कल्याणका सुन्दर सचित्र संस्करण, जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है। ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनेके लिये सबसे सविनय निवेदन है। वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया। इसके भी चार विशेषांक निकल चुके हैं।

Manager,
Kalyana-Kalpataru,
GORAKHPUR. (INDIA.)

Regd. No. A. 1724.

श्रीहरिः

नाम-महिमा

संस्मृत्य शम्भोर्नामानि यत्किञ्चित् कुरुते नरः ।
कर्म वेदादिशास्त्रोक्तं तदक्षयतमं भवेत् ॥
शिवेति विश्वनाथेति विश्वेशेति हरेति च ।
गौरीपते प्रसीदेति यो नरो भाषते सकृत् ॥
तस्य संरक्षणार्थाय पृष्ठतः प्रमथैः सह ।
शूलमादाय वेगेन स्वयं धावति धावति ॥
शिवनाम स्मरन् मर्त्यस्त्यक्त्वा देहं महामते ।
साक्षान्महेशतां याति कृतपापशतोऽपि चेत् ॥
यत्र कुत्र च संस्थाय संस्मरेत् परमेश्वरम् ।
तत्रैव सर्वतीर्थानि निवसन्ति महामते ॥

भगवान् शङ्करके नामोंका अच्छी प्रकार स्मरण करके जो मनुष्य वेदादि शास्त्रोंमें कहे हुए किसी भी कर्मको करता है उसका वह कर्म विशेषरूपसे अक्षय हो जाता है ।

जो मनुष्य एक बार भी 'हे शिव, हे विश्वनाथ, हे विश्वेश्वर, हे हर, हे गौरीपते, मुझपर प्रसन्न होओ' इस प्रकार कहता है उसकी रक्षाके लिये स्वयं भगवान् शङ्कर अपने गणोंके साथ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ते हैं ।

हे महामते ! जो मनुष्य सैकड़ों पाप करके भी शिवजीके नामोंका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह साक्षात् शङ्करस्वरूप हो जाता है ।

हे महामते ! मनुष्य परमेश्वर (भगवान् शङ्कर) का भलीभाँति स्मरण करता हुआ जिस स्थानमें रहता है वहाँ सारे तीर्थ बस जाते हैं ।

श्रीहरिः

निवेदन

कल्याण-कल्पतरु (अंग्रेजी) मासिक पत्रका चौथे वर्षका (जनवरीका) प्रथम अङ्क श्रीकृष्णांकके नामसे विशेषांकके रूपमें प्रकाशित होनेकी बात हुई है। ४।।) भेजकर सालभरके ग्राहक बननेवालोंको इन्हीं दामोंमें मिलेगा। जो केवल श्रीकृष्णांक ही लेना चाहें वे २।।) भेज सकते हैं।

मैनेजर—**कल्याण-कल्पतरु, गोरखपुर।**

कल्याण मार्गशीर्ष संवत् १९९३ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या
१-माका स्नेह [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ··· ९०५
२-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) ९०६
३-भेंट [कविता] (कुमारी कुसुम) ··· ९१३
४-भक्तवर श्रीअङ्गदके जीवनका रहस्य (श्री-जयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· ९१४
५-कर्मयोगकी सुगमता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९२१
६-कल्याण ('शिव') ··· ··· ९२५
७-श्रीगीताजयन्ती ··· ··· ९२७
८-त्यागका स्वरूप और साधन (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ··· ··· ९२८
९-भक्त उद्धवरामजी ब्रह्मचारी (श्रीसोहनलालजी गुप्त) ··· ··· ··· ९३२
१०-सती जयदेवीजी (मास्टर श्रीपारसचंदजी) ··· ९३३
११-वसन्त-वेला (पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग) ९३६
१२-रासलीला-रहस्य (एक महात्मा) ··· ९३७
१३-कहावतें [कविता] (स्वामी श्रीअग्रदासजी) ९४१

पृष्ठ-संख्या
१४-दरिद्र और श्रीमान् (बहिन श्रीजयदेवीजी) ··· ९४२
१५-उसका पता [कविता] ('सुदर्शन') ··· ९४६
१६-ज्ञानसाधनाभ्यास (महात्मा श्रीरामस्वामीजी) ९४७
१७-पवित्र जीवनका दूसरा साधन (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ··· ··· ··· ९५४
१८-भगवान् अवतार कब लेते हैं ? (पं० श्री-विष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) ··· ··· ९६०
१९-पश्य मे योगमैश्वरम् (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०) ··· ··· ९६३
२०-भगवान् सदा किसपर सन्तुष्ट रहते हैं ? ··· ९६८
२१-वैष्णव-धर्मका दार्शनिक आधार (श्री-नलिनीमोहनजी सान्याल, एम०ए०, भाषातत्त्वरत्न) ९६९
२२-रोना (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· ९७२
२३-भक्त-गाथा ··· ··· ··· ९७७
२४-परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दका-के पत्र) ··· ··· ··· ९८२
२५-विनाशी जगत् ··· ··· ··· ९८४

स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी
गीताप्रेस
गोरखपुर

दाम घटानेकी सूचना

ता० १६। १२। ३६ से स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरीका दाम =) दो आनेसे घटाकर -)।। डेढ़ आना कर दिया गया।

गीताडायरी सन् १९३७

नये वर्षकी डायरी प्रायः १०००० बिक चुकी है। इस बार पञ्चाङ्ग भी लगाया गया है।

मैनेजर—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

ॐ

तारका पता—
गीता

टेलीफोन नं.
२९,३०

गीताप्रेस, गोरखपुर

कलकत्तेमें
३०, बाँसतल्ला गली

धार्मिक साहित्य-
प्रचारक संस्था

संस्कृतके अध्यापक एवं छात्रगण,
..................पाठशाला

माननीय !

लघुसिद्धान्तकौमुदी

सप्रेम हरिस्मरण !

हमने परीक्षोपयोगिनी टिप्पणीसहित "लघुसिद्धान्तकौमुदी" प्रकाशित की है। इस पुस्तककी टिप्पणीमें कठिन सूत्रोंका अर्थ सरल संस्कृतमें देकर उदाहृत पदोंमें उसका समन्वय भी दिखलाया गया है। प्रत्येक प्रकरणके कठिन पदोंका संस्कृतमें साधन किया गया है, इससे परीक्षामें विद्यार्थियोंको बहुत सहायता मिल सकती है। उदाहरणमें आये हुए प्रत्येक शब्दका अर्थ भी दे दिया गया है, जिससे अनुवाद आदिमें सहायता मिलेगी। कारक, णिजन्त, भावकर्म, कर्मकर्तृ आदि गम्भीर प्रकरणोंका मर्म सरलतासे समझाया गया है। कृदन्त-शब्दोंके मूल धातुओंका भी परिचय कराया गया है, इससे अध्यापक और विद्यार्थी दोनोंके लिये सुविधा हो गयी है।

पुस्तकके परिशिष्ट भागमें शब्दोंके लिङ्गका ज्ञान करानेके लिये 'लिङ्गपरिचय' दिया गया है, जिसमें बहुत-से शब्दोंका एकत्र संग्रह हुआ है, अनुवाद करनेमें इस प्रकरणसे अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। सूत्र, वार्तिक और धातुओंकी अकारादिक्रमसूचीके साथ ही धातुओंमें सकर्मक, अकर्मक आदिका भी संकेत कर दिया गया है। अभ्यासके लिये छः वर्षोंके प्रश्नपत्र भी संकलित हैं। पुस्तककी भूमिकामें पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, भट्टोजि दीक्षित और वरदराज भट्टाचार्य आदिके जीवनपर भी प्रकाश डाला गया है, इन सब बातोंसे यह ग्रन्थ परीक्षार्थी विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

इतनेपर भी इसका मूल्य प्रचारार्थ केवल छः आना मात्[illegible]क्खा गया है। कमीशन काटकर ।)॥ में ही यह पुस्तक सबको प्राप्त हो सकती है। एक पुस्तकमें लगभग ५ छटाँक वजन होनेके कारण डाकखर्च बहुत बढ़ जाता है, अतः एक साथ मिलकर अधिक पुस्तकोंका आर्डर देना चाहिये। सबसे अच्छा अपने गाँवके बुकसेलरोंसे ही खरीदना है।

विनीत सेवक—
व्यवस्थापक
गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्य पुस्तकोंके लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

माताका हृदय

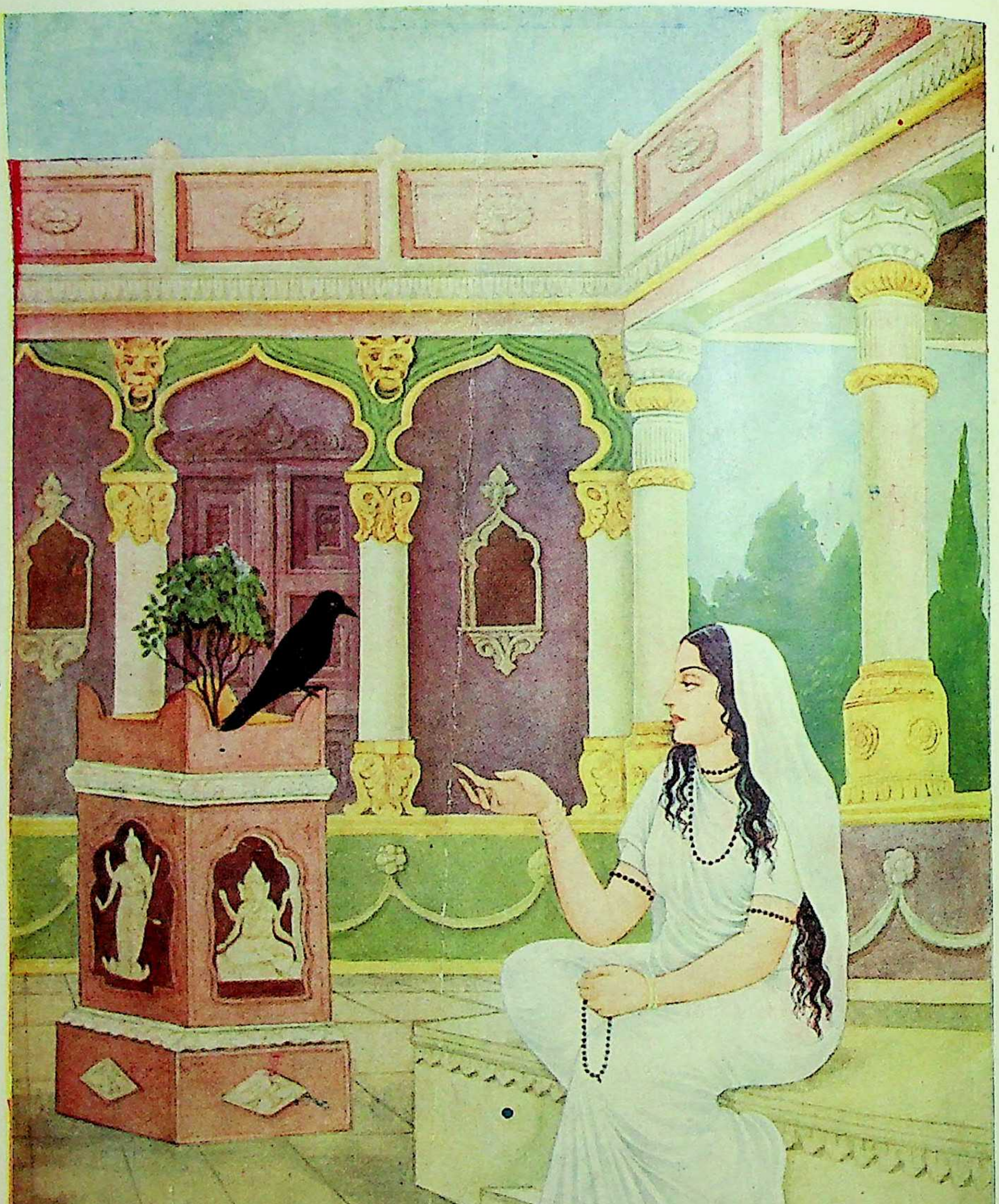

बैठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग ! फुरि बाता ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

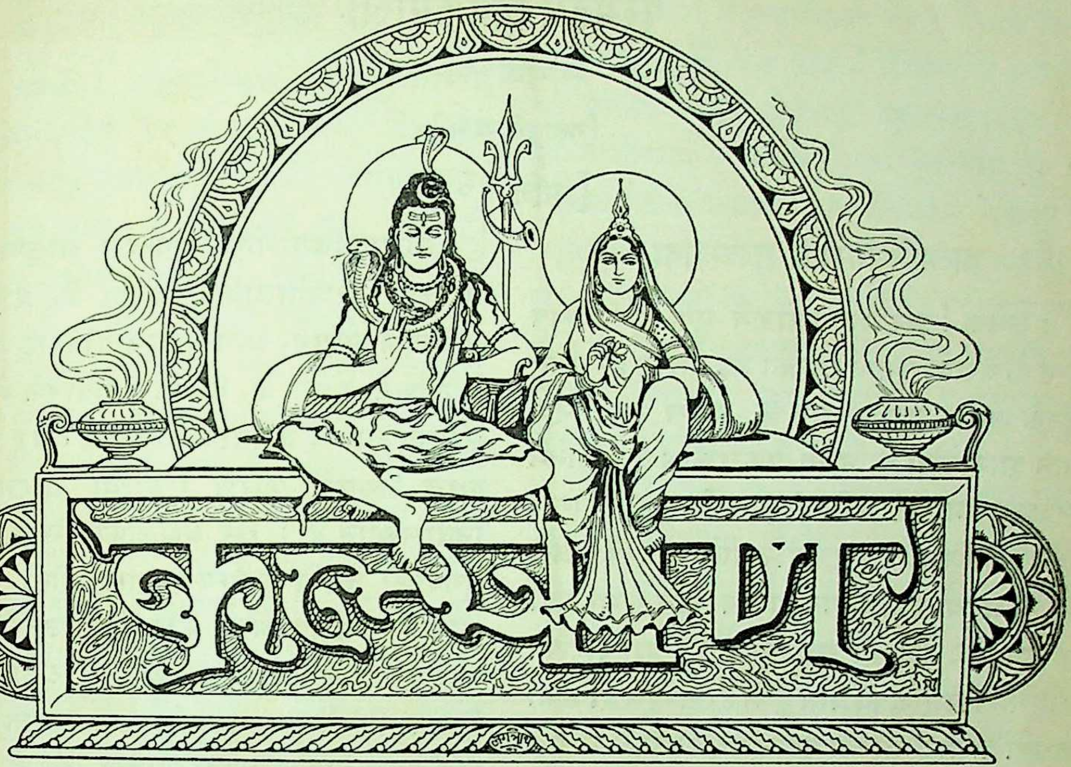

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, मार्गशीर्ष १९९३, दिसम्बर १९३६ { संख्या ५
पूर्ण संख्या १२५

माका स्नेह

बैठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु, काग ! फुरि बाता ॥ १ ॥
दूध-भातकी दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सियसहित बिलोकि नयन भरि राम-लषन उर लैहौं ॥ २ ॥
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी ।
गनक बोलाइ, पाँय परि पूछति प्रेम-मगन मृदु बानी ॥ ३ ॥
तेहि अवसर कोउ भरत निकटतें समाचार लै आयो ।
प्रभु-आगमन सुनत तुलसी मनो मीन मरत जल पायो ॥ ४ ॥

—तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[गताङ्कसे आगे]

[मणि १०]

आत्मामें निरपेक्ष सुखरूपता

हे जनक ! इस मनुष्यलोकमें एक पुरुष खूब जवान है, वज्रके समान उसका दृढ़ शरीर है, भीम-अर्जुनके समान वह बलवान् है, व्यास भगवान्के समान शास्त्रवेत्ता है, नाना प्रकारके अस्त्र चलानेमें महादेवके समान है, अश्विनीकुमारके समान रोगसे रहित है, अणिमादि अष्ट सिद्धियोंसे युक्त है। जैसे श्रीकृष्ण भगवान्की सहायतासे पाण्डव समृद्धिको प्राप्त हुए थे, वैसे ही यह पुरुष भी शूरवीरोंकी सहायतासे समृद्धिको प्राप्त हुआ है, सम्पूर्ण द्वीपोंका चक्रवर्ती राजा है, लोकमें महान् यशवाला है, भोगके साधन स्त्री-पुत्रादिसे युक्त है, मनुष्यलोकके सब पदार्थ उसको प्राप्त हैं, पदार्थोंके भोगनेकी शक्ति भी है और पूर्ण आयुवाला भी है। ऐसे पुरुषको जैसा आनन्द होता है, वैसा मनुष्यलोकमें किसीको नहीं होता, इसलिये हमलोगोंकी अपेक्षासे इस चक्रवर्ती राजाका आनन्द परमानन्द है। इस चक्रवर्ती राजाको जो विषयजन्य आनन्द होता है, उस आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द पितृलोकमें पितरोंको होता है इसलिये चक्रवर्ती राजाकी अपेक्षासे पितरोंका आनन्द परम आनन्द है। पितरोंके आनन्दसे सौगुना आनन्द गन्धर्वलोकमें गन्धर्वोंको होता है। गन्धर्वोंके आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द कर्मदेवताओंको होता है, अग्निहोत्रादि कर्मोंसे जिनको देवभाव प्राप्त होता है, उनका नाम कर्मदेवता है। कर्मदेवताओंके आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द आजानदेवताओंको होता है। सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न हुए अग्नि आदि देवताओंका नाम आजानदेवता है। आजानदेवताओंके आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द प्रजापतिलोकमें होता है, प्रजापतिके आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द विराट् भगवान्के लोकमें होता है, विराट् भगवान्के आनन्दसे सौगुना आनन्द ब्रह्मलोकमें होता है। यह ब्रह्मलोक स्थूल जगत्के कारण सूत्रात्मा हिरण्यगर्भका निवासस्थान है। इस ब्रह्मलोकमें स्थित उपासक पुरुषोंको जो विषयजन्य आनन्द होता है, उस आनन्दसे अधिक और कोई विषयजन्य आनन्द नहीं है। मनुष्यलोकसे लेकर विराट्लोक पर्यन्त जितना विषयजन्य सुख है, उस समस्त सुखकी अवधिरूप हिरण्यगर्भका आनन्द है। हे जनक ! मनुष्यलोकसे ब्रह्मलोकतक विषयजन्य सुखकी न्यूनाधिकता जो श्रुतिने कही है, उसका अभिप्राय यह है कि विषयजन्य आनन्दोंमें सबसे अधिक जो हिरण्यगर्भका आनन्द है, उस आनन्दकी भी मनुष्यको जबतक इच्छा रहती है तबतक उसको आत्मारूप आनन्दका भान नहीं होता, इसलिये जिस पुरुषको आत्मारूप आनन्दकी इच्छा हो, उसको हिरण्यगर्भके आनन्दकी भी इच्छा न करनी चाहिये। इस प्रकारके परम वैराग्यमें श्रुतिका तात्पर्य है। मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतक जितने विषयजन्य आनन्द और आनन्दोंके साधन जो स्त्री, पुत्र, शरीरादि हैं, उन सबको काकविष्ठाके समान असार जानकर उनकी इच्छा न करनेका नाम परम वैराग्य है, जिस पुरुषको इस प्रकारका परम वैराग्य होता है, उसी पुरुषको वस्तुतः आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है।

वैराग्यकी न्यूनाधिकताका फल

हे जनक ! मनुष्यलोकसे ब्रह्मलोकतकके आनन्दोंकी प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं, एक तो कालान्तरमें आनन्दरूप फलको देनेवाले कर्म-उपासनारूप साधन हैं और दूसरे कुछ शीघ्र ही आनन्दरूप फलको देनेवाले साधन हैं। दूसरे साधन ये हैं—जिस पुरुषने विधिपूर्वक गुरुमुखद्वारा वेदोंका पाठ और वेदोंके अर्थका अध्ययन किया है, जो सब पाप-कर्मोंसे रहित है, सम्पूर्ण विषयजन्य सुखकी कामनासे रहित है, ऐसे वेदवेत्ता निष्काम पुरुषको मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त होते हैं, किन्तु इस लोकमें इतनी विशेषता है कि जो वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष चक्रवर्ती राजाके विषयजन्य सुखको काकविष्ठाके समान असार जानकर उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता, परन्तु पितृलोकके आनन्दकी इच्छा करता है, उस वेदवेत्ता निष्पाप पुरुषको केवल चक्रवर्ती राजाके सुखकी ही प्राप्ति होती है, पितृलोकादिके सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार जो वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष पितृलोकके आनन्दकी इच्छा नहीं करता किन्तु गन्धर्वलोकादिके आनन्दकी इच्छा करता है, उसको पितृलोकके आनन्दकी प्राप्ति होती है, गन्धर्वलोकादिके आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार ऊपरके लोकोंमें भी जिस-जिस लोकके आनन्दको यह वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष असार जानकर प्राप्त करना नहीं चाहता, उस-उस लोकके आनन्दको प्राप्त होता है, जो वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष ब्रह्मलोकके आनन्दको भी काकविष्ठाके समान असार जानकर उसकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता, वही वेदवेत्ता निष्पाप पुरुष ब्रह्मलोकके आनन्दको प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म-उपासना आदि साधनों विना ही वह वेदवेत्ता निष्काम पुरुष सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता है।

हे जनक ! मनुष्यलोकसे लेकर जितने विषयजन्य आनन्द हैं, उन सम्पूर्ण आनन्दोंसे ब्रह्मलोकका आनन्द अधिक है। यह ब्रह्मलोकका आनन्द भी आत्मारूप आनन्दका एक लेशमात्र है। यह आनन्दस्वरूप आत्मा मन-वाणीका अविषय है, न्यूनाधिकतासे रहित है, इसीलिये वह ब्रह्मलोकके आनन्दसे भी अधिक है। इस अर्थको बोधन करनेके लिये ही श्रुतिभगवतीने निष्काम पुरुषको ब्रह्मलोकके आनन्दकी प्राप्ति कही है। आनन्दस्वरूप आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है।

देवी–हे डोरूशंकर ! जब इस प्रकारका याज्ञवल्क्यने राजाको उपदेश किया, तब जनक अपने ज्ञानकी अपूर्णता बोधन करता हुआ इस प्रकार कहने लगा—

जनक–हे मुनि ! यह जो साधारण विद्याका आपने मुझे उपदेश किया, इस विद्याकी गुरुदक्षिणामें एक सहस्र गौ मैं आपको देता हूँ, इस गुरुदक्षिणाको आप अंगीकार कीजिये। अब जिस विद्यासे मोक्षकी प्राप्ति हो, उस विद्याका मुझको उपदेश कीजिये।

देवी–हे वत्स ! जिस अभिप्रायसे राजाने यह वचन कहा है, राजाके उस अभिप्रायको सुन—

जनकका अभिप्राय

हे मुनि ! आपने पूर्वमें मुझे यह उपदेश किया था कि वस्तुतः संगसे रहित स्वयंज्योति एक ही आत्मा अविद्याके सम्बन्धसे जीवभावको प्राप्त होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें निरन्तर भ्रमण करता है। पुण्यपापके वशसे कभी जाग्रत्को और कभी स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है और वहाँ पुण्यके वशसे सुखको और पापके वशसे दुःखको भोगता है, जब जाग्रत्-स्वप्नके फल देनेवाले कर्म समाप्त हो जाते हैं तब जैसे आकाशमें भ्रमण करके थका हुआ पक्षी आकाशको छोड़कर अपने घोंसलेमें आ जाता है, इसी प्रकार जाग्रत्-

स्वप्नके व्यापारसे थका हुआ स्वयंज्योति आत्मा सुषुप्तिको प्राप्त होता है। हे भगवन् ! इस प्रकार तीनों अवस्थाओंसे भिन्न करके आत्माका स्वरूप आपने मुझसे कहा, इतने ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि दूसरे शरीरकी प्राप्तिरूप जो जन्म है, और स्थूल शरीरका परित्यागरूप जो मरण है और जन्म-मरणका कारण जो नाना प्रकारकी कामनाएँ हैं, इन जन्मादि विकारोंका सम्बन्ध जो आत्मामें प्रतीत होता है, उस सम्बन्धका अनेक युक्तियोंसे आपने खण्डन नहीं किया है। इसलिये जन्म-मरणादि विकारवाला यह संसारी आत्मा परमानन्दरूप कैसे हो सकता है? हे भगवन् ! जन्म-मरणादि संसारधर्मोंको न विषय करनेवाले आत्माका ज्ञान जबतक अधिकारी पुरुषको नहीं प्राप्त होता तबतक करोड़ों जन्मोंतक भी मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये हे भगवन्! मोक्षकी प्राप्तिके लिये जन्म-मरणादि विकारोंसे अलग करके आत्माका यथार्थ स्वरूप मुझसे कहिये।

देवी–हे वत्स ! इस प्रकारके अभिप्रायको मनमें रखकर जब राजाने अपने ज्ञानकी अपूर्णताका बोधन किया, और आगे उपदेश करनेको कहा तब राजा जनकके अभिप्रायको जानकर मुनि भयको प्राप्त हुए !

डोरूशंकर–हे देवी ! क्या राजा जनकके प्रश्नोंका याज्ञवल्क्य मुनि उत्तर नहीं दे सकते थे? यदि दे सकते थे तो फिर भयको क्यों प्राप्त हुए?

देवी–हे वत्स ! सूर्यभगवान्के समान सर्वज्ञ याज्ञवल्क्य मुनि राजा जनकके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ न हों, यह बात नहीं है। भयको प्राप्त होनेका कारण दूसरा ही है। उनको जिस विचारसे भय हुआ उसको सुन। मुनिने विचार किया—

याज्ञवल्क्यका विचार

मेरे अनेक बुद्धिमान् शिष्य चारों वेदोंका अध्ययन करनेवाले हैं परन्तु उन शिष्योंमें जनक राजाके समान विद्वान् कोई नहीं है क्योंकि जो विद्या अनेक वर्षोंतक अध्ययन करनेसे प्राप्त नहीं हो सकती, उस सम्पूर्ण विद्याको यह जनक कामप्रश्नरूप वरदान लेकर थोड़े ही कालमें लेना चाहता है, इसलिये यह अत्यन्त बुद्धिमान् है, कामरूप वर यह मुझसे ले चुका है, इसलिये सत्यवचनरूप पाशमें इसने मुझे बाँध लिया है, अतएव सूर्यभगवान्की आराधनासे जो विद्या मुझे प्राप्त हुई है, वह सब ब्रह्मविद्या अपना वचन सत्य करनेके लिये मुझे जनक राजाको उपदेश करनी पड़ेगी।

ऐसा विचारकर हे प्रियदर्शन ! याज्ञवल्क्य मुनि भयको प्राप्त हुए और पश्चात् इस प्रकार कहने लगे—

याज्ञवल्क्य–हे जनक ! बुद्धि आदि समस्त संघातके साक्षी जिस स्वयंज्योति आत्माका मैंने तुझसे उपदेश किया है, वह स्वयंज्योति आत्मा कभी जाग्रत् अवस्थासे प्रथम सुषुप्ति अवस्थाको और सुषुप्तिके बाद स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है और कभी सुषुप्तिकी प्राप्ति बिना ही प्रथम स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है। स्वप्नावस्थामें यह स्वयंज्योति आत्मा स्त्री आदिके साथ नाना प्रकारका व्यवहार करता हुआ, अनेक नाड़ीरूप मार्गोंसे भ्रमण करता हुआ पुण्यपापरूप कर्मोंके फल सुख-दुःखको देखता है पश्चात् स्वप्नावस्थाको त्यागकर नाड़ीरूप मार्गोंद्वारा जाग्रदवस्थाको प्राप्त होता है और वहाँ पुण्यपापरूप कर्मोंके वशसे नाना प्रकारके सुख-दुःखोंको प्राप्त होता है, हे जनक ! जैसे स्वप्नावस्थाके भोग देनेवाले कर्मोंका क्षय होनेपर जाग्रत्के भोग देनेवाले कर्मोंका प्रादुर्भाव होता है, तब यह जीवात्मा स्वप्नावस्थाको त्यागकर जाग्रदवस्थामें आता है, इसी प्रकार इस स्थूल शरीरके भोग देनेवाले कर्मोंका जब क्षय हो जाता है और जन्मान्तरमें फल देनेवाले कर्मोंका उदय होता है

तव यह जीवात्मा इस स्थूल शरीरका परित्याग करके दूसरे शरीरको प्राप्त होता है।

परलोकका दृष्टान्त

जैसे कोई धनी पुरुष जव अपने ग्रामको छोड़कर दूसरे ग्रामको जानेके लिये तैयार होता है, तव अपनी गाड़ीपर अन्न, धन, स्त्री, पुत्रादि अनेक प्रकारकी सामग्री लादता है और तदनन्तर अनेक शब्द करती हुई गाड़ी मार्गमें धीरे-धीरे चलती है, इसी प्रकार मरणकालमें इस स्थूल शरीरको त्यागकर परलोक जानेवाले जीवात्मारूप धनी पुरुषका परलोकको जानेके साधन पुण्यपापरूप सामग्रीसे पूर्ण सूक्ष्मशरीररूप रथ होता है। मरणकालमें यह सूक्ष्मशरीररूप रथ नाना प्रकारके शब्द करता हुआ परलोकको जाता है। सूक्ष्मशरीरके शब्द ये हैं—

सूक्ष्मशरीरके शब्द

हे जनक! मरणकाल समीप आनेपर यह पुरुष इस प्रकारके शब्द उच्चारण करता है— हे मेरे गुणी पुत्र! हे मेरी प्राणप्यारी नवयौवना स्त्री! हे मेरे धन! तुमको वहुत यत्न करके मैंने एकत्र किया था! हे मेरे हितकारी वान्धवो! तुम सवको छोड़कर मैं भाग्यहीन अकेला ही दूर देशमें जा रहा हूँ! इसलिये मुझे धिक्कार है! मैं आयुभर पापकर्म ही करता रहा! वाल्यावस्थामें मैं पापात्मा दुर्वल वालकोंको मारता था, गालियाँ देकर उनका निरादर करता था, पूजन करनेयोग्य देवताओंके मस्तकपर पैर रखता था! जिस मेरी हितकारिणी माताने पत्थरके समान मुझको नौ मासतक अपने उदरमें रक्खा था, उस पूजनीया माताको भी मैं नाना प्रकारके क्लेश देता था! जैसे लोहेका क्रकच काठको चीरता है, इसी प्रकार हितकारिणी माताके योनियन्त्रको विदीर्ण करके मैं दुरात्मा माताके उदरसे वाहर निकला था! पश्चात् वाल्यावस्थामें मेरे विष्ठा-मूत्रको जो माता अपने हाथोंसे उठा-उठाकर पालती थी, अन्नादिके भक्षण करनेमें मुझे असमर्थ देखकर अपने स्तनोंका दुग्ध पिलाती थी, उत्तम-उत्तम पदार्थ भोजन करके उनको मेरे उदरमें पहुँचाती थी और हिताहित ज्ञानसे रहित मुझ मूढ़की अनेक उपायके द्वारा अग्नि-सर्पादिसे रक्षा करती थी, ऐसी हितकारिणी माताका मैं दुर्वुद्धि कृतघ्न वाल्यावस्थामें राक्षसके समान निरादर करता था और कठोर वचन कह-कहकर उसके कानोंको पीड़ा देता था! शत्रुके वचनोंके समान हितकारिणी माताके वचनोंको नहीं मानता था! वाल्यावस्थामें मैं दुर्वुद्धि पिता-पितामहादि वृद्ध पुरुषों, शास्त्रवेत्ता व्राह्मणों तथा सुहृद् मित्रोंको अनेक कठोर वचन कहकर पीड़ा देता था, अभक्ष्य पदार्थ भक्षण करता था, लोक-वेद-निन्दित कर्म करता था, इसलिये मुझे धिक्कार है! यौवनावस्थामें भी मैंने पापकर्म ही किये! जैसे विष्णुभक्त एकाग्रचित्त करके विष्णुभगवान्का ध्यान करता है उसी प्रकार मैं दुर्वुद्धि यौवनावस्थामें अपने हृदयरूपी मन्दिरमें अपनी अथवा परस्त्रीको स्थापन करके उन स्त्रियोंका निरन्तर ध्यान किया करता था, एक क्षणमात्र भी मैंने परमेश्वरका ध्यान नहीं किया! यौवनावस्थामें धन एकत्र करनेका मुझे लोभ था, लोभवश मैं दुर्वुद्धि व्राह्मणादि महान् पुरुषोंके सुवर्ण, पशु, गृह, क्षेत्र, अन्न, स्त्री आदिका हरण करता था, धनादिकी प्राप्तिकी इच्छामें अमूल्य समयको व्यर्थ व्यतीत करता था, दिनभर कमानेमें और रात्रिको स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करनेमें विताता था, धनके लोभसे व्रह्महत्यादि कुकर्म किया करता था, ये दुष्कर्म न मालूम कितने जन्मोंतक दुःखोंकी प्राप्ति करावेंगे। यौवनावस्थामें मैं दुरात्मा कामवश होकर वन्दरके समान नाचता था और स्त्रीके मोहसे अपने माता-

पिताका भी मैंने परित्याग कर दिया था, अहङ्कारसे युक्त मैं मूढ़ पितादि वृद्ध पुरुषोंका उपहास करता था ! इनके सिवा और भी अनेक पापकर्म यौवनावस्थामें मैं करता रहा, इसलिये मुझे धिक्कार है ! वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर मैं दुरात्मा जीव अपने हाथ-पैर चलानेमें भी असमर्थ हो गया था परन्तु मेरे काम, क्रोध, लोभ, मोह ये चारों बढ़ गये थे । वृद्धावस्थामें कामसे आतुर हुआ मैं मूढ़ स्त्रीकी अप्राप्तिसे दुःखी होता था और स्त्री प्राप्त होनेपर भोगनेकी सामर्थ्य न होनेसे दुखी होता था ! वृद्धावस्थामें मुझ दुरात्माको क्रोधरूप अग्नि और लोभादि विकारोंसे जो-जो दुःख हुए हैं, उन दुःखोंको मुझ जडके सिवा कौन चेतन पुरुष सहन कर सकेगा ? वृद्धावस्थामें काम-क्रोधादिसे मेरा हृदयकमल ककड़ीके समान फट नहीं गया, यह मुझे आश्चर्य है ! जो स्त्री-पुत्रादि मुझे प्राणोंके समान जानते थे, वे ही मुझे वृद्ध हुआ देखकर श्वानके समान मेरा निरादर करते थे ! विषयोंको आयुपर्यन्त भोगनेसे भी मेरे काम-क्रोधादि शान्त नहीं हुए, जैसे घी डालनेसे प्रज्वलित अग्नि शान्त नहीं होता, उलटा बढ़ता है, इसी प्रकार विषयोंकी प्राप्तिसे कामादिकी शान्ति न हुई, वे उलटे दिन-प्रति-दिन बढ़ते ही गये ! एक आत्मविचार ही कामादिकी शान्तिका उपाय है, उस आत्म-विचारको मैंने सम्पादन नहीं किया, मरण-पर्यन्त अपने शरीर और कुटुम्बके पालनमें ही लगा हुआ मैं दुरात्मा अनेक प्रकारके पापकर्म ही करता रहा, इसलिये मुझे धिक्कार है !

मरणकालके दुःखका अनुभव

हे जनक ! तदनन्तर यह जीवात्मा मरणकालके दुःखका अनुभव करता हुआ कहता है—जैसे गन्दे मैले जलसे भरे हुए तालाबमें स्थित मछली मिट्टीसे ढकी रहती है और सूर्यके तापसे तपायमान होती है, उस मछलीको लेने जैसे धीवर आता है, इसी प्रकार स्त्री-पुत्रादिरूप मलिन जलसे पूर्ण इस गृहरूप तालाबमें मैं दुरात्मा मत्स्यरूप अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन प्रकारके दुःखरूप सूर्यके तापसे तपायमान रहता था और कामक्रोधादिरूप मिट्टीसे ढका हुआ था, ऐसे मत्स्यरूप मुझ दीनको मृत्युरूप धीवर लेने आया है । जैसे हिंसास्थानमें कोई निर्दयी पुरुष लोहेके क्रकचसे पशुओंके अङ्गोंको छेदन करता है, इसी प्रकार निर्दय मृत्यु मेरे अङ्गोंको छेदन करता है, इसलिये मुझे महान् कष्ट होता है । अनेक तीक्ष्ण सुइयोंसे मेरे अङ्गोंको कोई वेध रहा है, उस वेधन करनेवालेको मैं नहीं जानता । मेरे हाथ-पैर लकड़ी हो गये हैं ! जैसे दुष्ट अश्व सारथीके वश नहीं होता, इसी प्रकार इस समय मेरी नेत्रादि इन्द्रियाँ मेरे वशमें नहीं हैं, मैं अन्धेके समान किसी पदार्थको नहीं देखता, बहिरेके समान किसी शब्दको नहीं सुनता, मेरा कण्ठ कफसे रुक गया है, जठराग्नि अपने स्थानसे हटकर मेरे शरीरको जलाता हुआ ऊपर चला आ रहा है, प्राणवायु भी अपने स्थानको छोड़कर मेरे शरीरको सुखाता हुआ ऊपर चला आ रहा है ! जैसे करोड़ों बिच्छू क्रोधित होकर शरीरमें वारंवार डङ्क मारते हों, ऐसी पीड़ा इस समय मुझे हो रही है !

हे जनक ! इस प्रकार अनेक वचन मरणकालमें मन-ही-मन जीवात्मा कहता है । मरणकालमें वाणी रुक जानेसे घुर-घुर शब्द गलेमें होने लगता है । इस प्रकार अनेक शब्द करता हुआ यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरको त्यागकर परलोकमें गमन करता है । और पूर्वके पुण्यपापरूप कर्मानुसार दूसरे शरीरको प्राप्त होता है ।

स्थूल शरीर त्याग करनेका प्रकार

हे जनक ! मरणकालमें बहुत स्थानोंपर तो यह रीति है कि प्रथम यह जीवात्मा दुर्बलताको प्राप्त होकर ऊर्ध्वश्वासोंसे उपलक्षित दीन दशाको

प्राप्त होता है। यह दुर्बलता दो कारणोंसे होती है, एक तो जरावस्थासे और दूसरे व्याधिसे। उस दुर्बलतासे दीन दशाको प्राप्त होकर यह जीव मरणकालमें ऊर्ध्वश्वास लेता है। हे जनक! दीन दशाको प्राप्त हुआ जीवात्मा जिस प्रकार स्थूल शरीरको त्यागता है, उसको कहता हूँ, सुन! जैसे इस लोकमें आम, गूलर तथा पीपलका फल जब पक जाता है, तब वृक्षकी शाखासे टूटकर भूमिपर गिर पड़ता है, अनेक उपायोंसे भी पका हुआ फल वृक्षमें स्थित नहीं रह सकता, इसी प्रकार इस स्थूल शरीरके आरम्भ करनेवाले पुण्यपापरूप प्रारब्ध-कर्म जब भोगसे क्षय हो जाते हैं, तब यह जीवात्मा इस स्थूल शरीरको शीघ्र ही त्याग देता है। जैसे नीचे गिरनेसे पूर्व आम आदि फलोंका वृक्षके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है इसी प्रकार मरणसे पूर्व जीवात्माका भी इस स्थूल शरीरसे तादात्म्य सम्बन्ध होता है, इसी कारणसे 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, स्थूल हूँ' इत्यादि प्रकारकी प्रतीति लोगोंको होती है, जैसे फलोंका तादात्म्य सम्बन्ध होनेपर भी परिपक्व अवस्थामें उनका वृक्षसे अवश्य वियोग होता है, इसी प्रकार स्थूल शरीरके साथ जीवका तादात्म्य सम्बन्ध होनेपर भी मरणकालमें शरीरसे जीवका वियोग अवश्य होता है। और हे जनक! जैसे वृक्षसे गिरा हुआ फल किसी आधार विना नहीं रहता, गिरनेके बाद भूमिके आश्रित रहता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर त्यागनेके बाद किसी आधार विना नहीं रहता, किन्तु इस स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीर दूसरे किसी शरीरको प्राप्त होता है। हे जनक! यह सूक्ष्मशरीर-विशिष्ट आत्मा जिस प्रकार पूर्व शरीरको प्राप्त होता है तथा जिस जातिवाले शरीरको प्राप्त होता है उसी प्रकार तथा उसी जातिवाले दूसरे शरीरको प्राप्त होता है, यह अर्थ जो श्रुति भगवतीने कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि पूर्वकृत पुण्यपापरूप कर्मके वश यह जीवात्मा कभी पूर्वशरीरके समान जातिवाले शरीरको प्राप्त होता है और कभी नहीं भी होता। पूर्वशरीरके समान जातिवाले शरीरको ही प्राप्त हो, इस प्रकारके नियममें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है किन्तु एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरको अवश्य प्राप्त होता है, यही श्रुतिका अभिप्राय है। यह शरीर उसी जातिका हो अथवा दूसरी जातिका हो, यह नियम नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करके कहता हूँ।

हे जनक! प्रारब्ध कर्मके क्षय होनेपर यद्यपि स्थूल शरीरका नाश हो जाता है, तो भी जबतक अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार न हो, तबतक सूक्ष्म शरीरका नाश नहीं होता, ब्रह्मज्ञानसे ही सूक्ष्म शरीरका नाश होता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर विना स्थित नहीं रहता, वह किसी भी प्रकारके स्थूल शरीरका आश्रयण करके ही स्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानसे पूर्व संसारदशामें सूक्ष्म शरीरकी दो प्रकारकी अवस्था होती है। एक तो कारण अज्ञानमें संस्काररूपसे स्थिति और दूसरी स्थूल शरीरको आश्रयण करके स्थिति। सुषुप्तिकालमें यह सूक्ष्म शरीर कारण अज्ञानमें संस्काररूपसे रहता है और सुषुप्तिसे भिन्न कालमें स्थूल शरीरका आश्रयण करके रहता है। इन दोनों अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थाका आश्रयण करके यह सूक्ष्म शरीर रहता है। हे जनक! पापकर्मके वशसे यह सूक्ष्म शरीर नरकको प्राप्त होकर नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है और पुण्यकर्मके वशसे स्वर्गादि लोकोंको और उपासनाके बलसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वहाँ नाना प्रकारके सुखको प्राप्त होता है। नरकमें, स्वर्गमें अथवा ब्रह्मलोकमें सुखका भोग स्थूल शरीर विना सम्भव नहीं है, इसलिये वहाँ स्थूल शरीरका आश्रयण करके ही सूक्ष्म शरीर रहता है। अवश्य

स्थूल शरीर वहाँ दूसरे प्रकारके होते हैं ।

जनक—हे भगवन् ! आपने सूक्ष्म शरीरकी जो दो अवस्थाएँ कहीं, वह सम्भव नहीं है, सूक्ष्म शरीरकी तो तीन अवस्थाएँ होती हैं क्योंकि जब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरको त्यागकर परलोकमें जाता है तब संस्काररूपसे कारण-अज्ञानमें नहीं रहता और स्थूल शरीरके आश्रय भी नहीं रहता, इसलिये मरणकालमें सूक्ष्म शरीरकी तीसरी अवस्था माननी चाहिये ।

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! जबतक स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीर दूसरे स्थूल शरीरको नहीं प्राप्त होता तबतक उसकी यदि तीसरी अवस्था हो, तो भले हो, मुझे उसमें कोई आग्रह नहीं है परन्तु सुख-दुःखके भोगके लिये जो सूक्ष्म शरीरकी स्थिति है, वह स्थूल शरीर बिना नहीं होती यह मेरे कथनका तात्पर्य है । हे जनक ! स्थूल शरीरको त्यागकर जबतक सूक्ष्म शरीर दूसरे स्थूल शरीरको नहीं प्राप्त होता, तबतक मध्यकालमें सुख-दुःखका भोग नहीं होता । जैसे गृध्र पक्षी मुखमें मांस लेकर उड़ता है, यद्यपि उड़ते समय भी वह मांस भक्षण करनेमें समर्थ है, तो भी आकाशमें उड़ता हुआ मांसको भक्षण नहीं करता, वृक्षादिपर बैठकर भक्षण करता है, इसी प्रकार स्थूल शरीर त्यागकर सूक्ष्म शरीर जबतक दूसरे स्थूल शरीरको ग्रहण नहीं करता तबतक किसी पदार्थके भोगनेमें समर्थ नहीं होता । इसीलिये दूसरे शरीरको अवश्य प्राप्त होता है । यह शरीर चाहे पूर्वके समान जातिवाला हो, चाहे विलक्षण हो, इसमें नियम नहीं है क्योंकि नरकमें केवल पापकर्मका फल भोगनेवाले जीवका जब पूर्वकृत पुण्य-पापरूप मिश्रित कर्म उदय होता है तब नरकवासी नरकके स्थूल शरीरको त्यागकर भूमिलोकमें मनुष्यशरीरको प्राप्त होता है । और यदि उसका केवल पुण्यकर्म उदय होता है, तो वह नरकके स्थूल शरीरको छोड़कर स्वर्गमें देवताशरीरको प्राप्त होता है । और स्वर्गमें स्थित कर्मदेवताका जब कोई पूर्वका पुण्यपापमिश्रित कर्म उदय होता है तो वह स्वर्गके स्थूल शरीरको त्यागकर इस लोकमें मनुष्यशरीरको प्राप्त होता है और उस मनुष्यशरीरके त्याग करते समय कोई पूर्वका पाप उदय होता है, तो वह मनुष्यशरीरको त्यागकर नरकके शरीरको प्राप्त होता है । इस प्रकार स्थूल शरीरके त्यागकालमें उस जीवका जो-जो पुण्यपापरूप कर्म उदय होता है, इस कर्मके अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त होता है, इसलिये पूर्वकी जातिवाला ही शरीर प्राप्त हो, यह नियम नहीं हो सकता ।

जनक—हे भगवन् ! यह जीव अल्पज्ञ है, इसलिये इस स्थूल शरीरको त्यागकर मैं इस जातिवाले शरीरको प्राप्त होऊँगा, ऐसा ज्ञान जीवको नहीं हो सकता और पुण्यपापरूप जडकर्मोंमें भी आगेके शरीरका ज्ञान नहीं हो सकता, फिर इस जीवको दूसरे शरीरकी प्राप्ति कौन कराता है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! जैसे इस लोकमें लंबी लकड़ीके साथ सूतसे बँधे हुए काठके बन्दरोंके साथ बालक खेलता है और जिस बन्दरको क्रीड़ा कराना चाहता है, उसी बन्दरके सूतको खींचता है, सूतके खींचनेसे वह बन्दर अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करता है, इसी प्रकार यह अनादि संसार लंबी लकड़ीके समान है और चराचर प्राणी बन्दरके समान हैं, जीवोंके कर्म सूत्रके समान हैं और मायाविशिष्ट अन्तर्यामी परमात्मा बालकके समान है । इसलिये परमात्मारूप बालक क्रीड़ा करनेके लिये जिस-जिस प्राणीरूप बन्दरके पुण्यपाप-कर्मरूप सूत्रको खींचता है, वह-वह जीवरूप बन्दर संसारमें नाना प्रकारकी चेष्टा करता है । तात्पर्य यह है कि इस जीवने पूर्व जन्मोंमें अनेक पुण्यपापरूप कर्म किये हैं, उनका ज्ञान जीवको नहीं है, सर्वज्ञ

परमात्माको उनका ज्ञान है। जब यह जीव स्थूल शरीरका त्याग करता है, तब परमात्मादेव जीवके जिन पुण्यपापरूप कर्मोंको सुख-दुःखरूप फल देनेके लिये सम्मुख करता है, उन्हीं कर्मोंके अनुसार यह पराधीन जीव दूसरे जन्मको प्राप्त होता है इसलिये कर्म करने, फल भोगने और दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें जीव स्वतन्त्र नहीं है, परमात्माके अधीन है। वह परमात्मादेव जीवके कर्मानुसार जिस शरीरको रचता है, उस शरीरको जीव प्राप्त होता है। इसलिये पूर्वकी जातिवाले शरीरको ही जीव प्राप्त हो, यह नियम नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अत्यन्त अल्प तृणशरीरमें स्थित यह जीव पूर्वके किसी पुण्यके प्रभावसे ब्रह्माके शरीरको प्राप्त हो जाय अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट ब्रह्माके शरीरमें स्थित यह जीव पूर्वके किसी पापके प्रभावसे तृणके शरीरको प्राप्त हो जाय। जैसे पिशाच-शरीरोंका और मेघोंका गमन वायुके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक तथा भूमिलोकमें इस जीवका गमन स्वतन्त्र नहीं है। कर्मानुसार परमेश्वरकी प्रेरणासे ही जीवका परलोकमें गमन होता है।

जनक--हे भगवन्! यदि यह जीव पूर्वके समान जातिवाले शरीरको नहीं प्राप्त होता, तो श्रुतिने इस जीवको पूर्वशरीरके समान जातिवाले दूसरे शरीरकी प्राप्ति क्यों कही है?

याज्ञवल्क्य--हे जनक! पूर्वके समान जातिवाले शरीरको ही यह जीव प्राप्त होता हो, इस प्रकारके नियममें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। किन्तु यह जीवात्मा जब इस स्थूल शरीरको त्यागता है, इस समय यदि उसी शरीरके समान जातिवाले दूसरे शरीरकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंका उद्भव हो तो यह जीवात्मा पूर्वके संस्कारवश उसी जातिवाले शरीरको फिर प्राप्त होता है और यदि पूर्व शरीरसे विलक्षण शरीरकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंका उदय होता है, तो यह जीवात्मा पूर्व शरीरसे विलक्षण शरीरको प्राप्त होता है, एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरको अवश्य प्राप्त होता है, इस प्रकारके नियममें ही श्रुतिका तात्पर्य है। हे जनक! यदि नियमसे इस जीवको पूर्वके समान शरीरकी प्राप्ति होती हो, तो पुण्यपापरूप कर्मके सुख-दुःखरूप फलका बोधन करनेवाले शास्त्र अप्रमाण हो जाते क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म करनेवाले पुरुषको स्वर्गमें देवताशरीरकी प्राप्ति और उपासना करनेवालेको ब्रह्मलोककी प्राप्ति शास्त्रमें कही है। ब्रह्महत्यादि पापकर्म करनेवालोंको श्वानादि नीच शरीरकी प्राप्ति कही है, यह विधिनिषेधरूप सर्व शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। (क्रमशः)

भेंट

देव, तुम्हारा एक उपासक अति अमोल रत्नोंका हार।
तुमपर चढ़ा रहा है, देखो, हाय, कहाँ मेरा संसार॥
मेरा जगमें शेष रहा क्या जब चरणोंपर अर्पित प्राण।
और आज आयी हूँ तुम तक मनमें धर पूजाका ध्यान॥

× × × ×

रत्नहार तो नश्वर जगका, उसपर मेरा क्या अधिकार?
नाथ, दूसरेके धनका मैं कैसे तुमको दूँ उपहार!
इन व्याकुल नयनोंमें प्रियतम, मम केवल आँसू अवशेष।
इसीलिये यह अश्रुहार तुमपर मैं चढ़ा रही प्राणेश॥

—कुमारी कुसुम

भक्तवर श्रीअङ्गदके जीवनका रहस्य

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

जिस प्रकार श्रीसुग्रीवजीको श्रीरामदर्शनका फल चरितार्थ हुआ—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

—उसी प्रकार जब बालिके सम्मुख उसकी घायल अवस्थामें—

स्याम गात सिर जटा बनाये। अरुन नयन सरचाप चढ़ाये॥

—श्रीरामजी प्रकट हुए, तब बालिने अपना और अपने पुत्र अङ्गदका भी जन्म सफल कर लिया। यथा—

पुनि पुनि चितै चरन चित दीन्हा। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा

'प्रभु चीन्हा' शब्द यहाँ भी व्यवहृत हुआ है। इससे सूचित होता है कि बालिको भी सुग्रीवकी भाँति यह पहचान मिल गयी थी कि ये चक्रवर्ती कुमार नहीं, बल्कि साक्षात् परब्रह्मके अवतार हैं। शबरीके प्रसंगमें अपने लिये 'मम' शब्द लाकर श्रीरघुनाथजीने भी यही लक्ष्य किया था। 'मम दरसन फल परम अनूपा' इसमें 'मम' से तात्पर्य यह है कि मैं वास्तवमें जो हूँ, उसका बोध प्राप्त करके जो मेरा दर्शन करता है—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

उसे अपने खास और सहज स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। और जिन्हें ईश्वरकी भावना नहीं होती, जो मुझे राजपुत्रादि जानते हैं, उन्हें निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति क्यों हो? जैसे, जनकपुरमें कुटिल राजाओंको नहीं हुई। उनका वर्णन इस प्रकार आता है—

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा॥

उन अज्ञोंको प्रभुका दर्शन होनेपर भी अज्ञान बना ही रहा। वे बकते ही रहे कि—

लेउ छुड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरे धनुष काज नहिं सरई। जीअत हमहिं कुँअरि को बरई॥

इत्यादि।

रावणको बार-बार दूसरोंके द्वारा शिक्षा मिलनेपर भी कदापि बोध न हुआ और राजपुत्रके रूपमें ही दर्शन करते रहनेसे उसे कभी निज सहज स्वरूपका बोध न हो सका, न उसकी मोहमाया हटी, न दुराचार छूटा, न वह भजन स्वीकार कर सका और मृत्युपर्यन्त रामविमुख ही बना रह गया।

अतएव बालिके लिये 'प्रभु चीन्हा' शब्द देकर ऐश्वर्य (अवतार) रूपका दर्शनकर जन्म सफल कर लेना दिखाया गया है। चतुर बालिने अपने पुत्र अङ्गदको श्रीभगवान्‌के शरणागत बनाकर तथा श्रीचरणोंमें अपनी दृढ़ प्रीति जमाकर प्राण छोड़े थे। यथा—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिये॥
रामचरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानै नाग॥

दृढ़ प्रीतिसे तात्पर्य यह है कि पहले भी बालिको रामचरणमें प्रीति थी। यथा—

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितै रामकी ओरा॥

—परन्तु वह विचलित होकर अपने पुत्र अङ्गदपर चली गयी थी। अतः उसे भी प्रपन्न कराकर उस पुत्रका कल्याणसाधन कर दिया। फिर अन्तमें श्रीचरणोंमें ही दृढ़ प्रीति लगायी, जिसमें एक रामचरणके सिवा स्त्री, पुत्र, देह, गेह आदि किसीका भी स्नेह, स्मरण न रहे और तब तनको त्याग दिया।

श्रीअङ्गदजीकी बाँह गहने अर्थात् शरणमें स्वीकार कर लेनेके कारण ही सुग्रीवको राजतिलक देते समय अङ्गदको युवराजका पद दिया गया। चतुर बालि-

की यह भी एक चातुरी थी कि राजगद्दी फिर भी अपने ही वंशजोंमें आ जाय । शरणागतके लोक-परलोक दोनोंका सुधार किया जाता है । यथा—

लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन बिप्र समाज ।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुवराज ॥

अंगदसहित करौ तुम्ह राजू । संतत हृदय धरेहु मम काजू ॥

श्रीअङ्गदजीकी सच्चे शरणागतोंकी ही भाँति भगवत्सेवामें श्रद्धा थी, उसीके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था तथा उन्हें यह विश्वास था कि मेरी रक्षाका एकमात्र आधार केवल मेरे शरण्य एक श्रीरघुनाथजी ही हैं । यथा—

इहाँ बिचारहिं कपि मनमाहीं । बीती अवधि काज कछु नाहीं ॥
कह अंगद लोचन भरि बारी । दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥
इहाँ न सुधि सीता कइ पाई । उहाँ गये मारहिं कपिराई ॥
पिता बधे पर मारत मोहीं । राखा राम निहोर न ओही ॥
अस कहि लवन सिंधुतट जाई । बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥
जामवन्त अंगद दुख देखी । कही कथा उपदेस बिसेखी ॥
तात राम कहँ नर जनि मानहु । निरगुन ब्रह्म अजित अज जानहु
हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥
निज इच्छा अवतरइ प्रभु, सुर महि गो द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥

जिस तरह सुग्रीव और बालिको यह बोध हो चुका था कि श्रीराघवजी चक्रवर्ती राजकुमार ही नहीं हैं वरं साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं, उसी तरह जाम्बवन्तके द्वारा श्रीअङ्गदजीको भी दृढ़ताके साथ यह धारणा करा दी गयी थी कि हे तात अङ्गदजी ! श्रीरामचन्द्रजीको मनुष्य मत जानियेगा; वे साक्षात् अज, अगुण, अजित ब्रह्म हैं । हम सब सेवक सदा सगुण ब्रह्मानुरागी हैं और इसलिये बड़भागी हैं । जब-जब निज इच्छानिर्मित तन धारणकर सुर, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मणोंके हितार्थ प्रभु परमधामसे अवतरित होते हैं, तब-तब हम सब नित्य सगुण उपासक सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य आदि सब प्रकारके मोक्षोंको त्यागकर भगवान्‌के संग रहते हैं ।

अस बिचारि जे परम सयाने । मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥

इसके उत्तरमें अङ्गदने कहा कि हे जाम्बवन्तजी ! जबतक श्रीरामजीकी सेवाका कार्य पूरा नहीं होता और न हमारे ही प्राण समर्पित कर दिये जाते हैं तबतक हम अपनेको बड़भागी कैसे मान सकते हैं ? बड़भागी तो हम श्रीजटायुजीको ही मान सकते हैं, जिन्होंने रामकार्यके लिये ही तन त्यागकर परमधाम प्राप्त किया है । यथा—

कह अंगद बिचारि मन माहीं । धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ॥
रामकाज कारन तनु त्यागी । हरिपुर गयउ परम बड़ भागी ॥

जिस समय सब वानर समुद्र लाँघनेकी हिम्मत हार गये और जाम्बवन्तजीने श्रीहनुमान्‌जीको सचेत एवं उत्तेजित करनेके लिये उन्हें पूर्वबलका स्मरण कराकर जोश दिलाया उस समय भी श्रीमारुतिजीके बोलनेसे पहले श्रीअङ्गदजी स्वामि-कार्यके लिये, अपने सामर्थ्यमें संदेह होनेपर भी समुद्र पार जानेके लिये तत्पर हो गये थे; परन्तु जाम्बवन्तजीके रोकनेपर और श्रीमारुतिजीके तैयार हो जानेपर रुकनेके लिये विवश हो गये । यथा—

अंगद कहा जाउँ मैं पारा । जिय संसय कछु फिरती बारा ॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक । पठइय किमि सबही कर नायक ॥

स्वामी श्रीरामजीके कार्यकी पूर्ति होनेपर, श्रीसीतामाताकी सुधि प्राप्त कर लेनेपर श्रीअङ्गदजीको कितना अपार हर्ष हुआ, इसका परिचय भी राजबाग मधुवनके फल लुटवानेसे स्पष्ट ही मिलता है, जो राजाज्ञाके विना असम्भव बात थी । यथा—

तब मधुबन भीतर सब आये । अंगद सम्मत मधु फल खाये ॥
रखवारे जब बरजै लागे । मुष्टि प्रहार हनत सब भागे ॥
जाइ पुकारे ते सबन, बन उजार जुवराज ।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आये प्रभु काज ॥

जिस समय रावणके दरबारमें जानेके लिये श्रीमुखसे आज्ञा हुई—

बालितनय बल बुधि गुन धामा । लंका जाहु तात मम कामा ॥

—उस समय भी श्रीअङ्गदजीके वाक्योंसे उनकी इस

धारणाका स्पष्ट परिचय मिलता है कि वह श्रीरघुनाथजीको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही जानते थे तथा उनके सुबोध होनेके प्रमाण तो 'बुधि गुन धामा' एवं 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ' ये श्रीमुखवाक्य ही दे रहे हैं । अङ्गदजी श्रीचरणोंमें इस प्रकार नम्र निवेदन करते हुए जाते हैं—

प्रभु आज्ञा धरि सीस, चरन बन्दि अंगद उठे ।
सो गुनसागर ईस, राम कृपा जापर करहु ॥
स्वयंसिद्ध सब काज, नाथ मोहिं आदर दियेउ ।
अस बिचारि जुवराज, तनु पुलकित हरषित हिये ॥
बन्दि चरन उर धरि प्रभुताई । अंगद चलेउ सबहिं सिर नाई ॥
प्रभु प्रताप उर सहज असंका । रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥

'सो गुनसागर ईस, रामकृपा जापर करहु' से वचन, 'स्वयंसिद्ध सब काज, नाथ मोहिं आदर दियेउ' 'अस बिचारि' से मन तथा 'तनु पुलकित' से तन अर्थात् मन, कर्म, वचन तीनोंसे वे श्रीरामजीमें लग गये । 'हरषित हिये' से शुभ सगुन (होइ काज मन हरष बिसेषी) और धन्यवाद सूचित होता है; 'उर धरि प्रभुताई' 'प्रभु प्रताप उर सहज असंका' से ऐश्वर्यबोध होनेका प्रमाण मिलता है; तथा 'बन्दि चरन' चलनेसे श्रीचरणको ही आधार माननेकी सूचना मिलती है जो सब प्रकारकी विघ्नबाधाओं तथा अमंगलोंसे रक्षा करनेवाला है ।

रावणसे बातचीत करते समय—

सुनु सठ भेद होइ मन ताके । श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ॥

—कहनेसे अपने हृदयस्थ इष्टका सदा ध्यान तथा—

सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई ॥

एवं 'राम मनुज कस रे सठ बंगा' इत्यादि वचनोंसे सतत ऐश्वर्यका स्मरण सूचित होता है । रावणके वाद-विवादमें अमर्षके समयमें भी श्रीअङ्गदजीकी कार्पण्यता (शरणागतके गुण), नीचानुसंधान विचलित नहीं हुआ । उन्होंने अपनेको दासानुदास ही बतलाया—

तैं निसिचरपति गरब बहूता । मैं रघुपतिसेवक कर दूता ॥

श्रीरघुनाथजीकी निन्दा सुनकर जब अङ्गदको क्रोध हो आता है तो वे पृथ्वीपर अपने भुजदण्ड पटकते हैं, जिससे पृथ्वी काँप उठती है और रावण सभासमेत मुँहके बल गिर पड़ता है । उसके गिरे हुए चार मुकुटोंको अङ्गदजी श्रीरामदलकी ओर फेंककर अपने बाहुबलका प्रत्यक्ष परिचय देते हैं । यथा—

जब तेहि कीन्ह रामकर निन्दा । क्रोधवन्त अति भयेउ कपिन्दा ॥
कटकटान कपि कुंजर भारी । दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी ॥
डोलति धरनि सभासद खसे । चले भाजि भय मारुत ग्रसे ॥
गिरत दसानन उठेउ सँभारी । भूतल परेउ मुकुट षटचारी ॥
कछु तेहि लै निज सिरन्हि सँवारे । कछु अंगद प्रभु पास पवारे ॥

जब रावण अङ्गदको लबार, झूठा कहता है तब श्रीरघुनाथजीका प्रताप स्मरण करके वह मध्य सभामें अपना पग अड़ा देते हैं और प्रण ठानते हैं कि यदि तुमलोगोंमेंसे कोई भी मेरा पैर हटा देगा तो मैं श्रीसीताजीको हार जाऊँगा और श्रीरामजी लौट जायँगे । यथा—

राम प्रताप सुमिरि कपि कोपा । सभा माँझ प्रन करि पद रोपा ॥
जौं मम चरन सकसि सठ टारी । फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥

जिस श्रीरामप्रतापको स्मरण करके प्रण ठाना गया था, वह प्रताप क्या है ? वह था—

उमा जासुकी भृकुटि बिलासा । होइ बिस्व पुनि पावइ नासा ॥
तृन तें कुलिस कुलिस तृन करई । तासु दूतपन कहु किमि टरई ॥

अङ्गदजीको यह पूरा विश्वास था कि सरकारी प्रतापसे पग हटेगा ही नहीं । अतः चाहे जो शर्त लगा देनेमें भी क्या भय है ? शर्त तो तब पूरी करनी होगी जब पहले पग हट जाय । इस विश्वासकी महिमा श्रीगोस्वामिपादके दोहावली-ग्रन्थके इस दोहेसे स्पष्ट होती है—

तासु सभा रोप्यो चरन, जेहि तोल्यौ कैलास ।
स्वामीकी महिमा कहौं, कि सेवकको बिस्वास ॥

श्रीअङ्गदजीके इस निश्चित विश्वास और श्रीरामप्रतापकी महिमाका खयाल न कर लोग अङ्गदकी प्रतिज्ञामें शङ्का करके 'फिरहिं राम सीता मैं हारी'

का भाँति-भाँतिसे प्रसङ्गविरुद्ध अर्थ किया करते हैं। यदि श्रीसीताजीके हारनेकी बाजी न लगायी गयी होती तो रावणादि चरण उठानेमें प्रवृत्त ही क्यों होते और उन्हें श्रीरामप्रतापका ऐश्वर्य कैसे मालूम कराया जाता ? शर्तमें श्रीसीताजीके हारनेकी बात सुनते ही रावणने तत्काल आज्ञा दी कि 'पद गहि धरनि पछारहु कीसा' और आज्ञा पाते ही इन्द्रजीत आदि करोड़ों बली योद्धा टारते-टारते हार गये। उस चरणको पृथ्वीदेवी ही नहीं छोड़ती थीं। क्योंकि उन्हें भी अवसर मिल गया था। उन्हींकी पुकारपर तो अवतार हुआ था; वह कैसे चरण छोड़ देतीं ? भूमि ही स्वयं पगमें लिपट गयी थीं। यथा—

भूमि न छाड़ति कपि चरन, देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न तें संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥
कपि बल देखि सकल हियँ हारे। उठा आपु जुबराज प्रचारे॥
गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा॥
गहसि न रामचरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥
भयउ तेजहत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई॥
जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिस्रामा॥

जब अङ्गदने प्रचारा तब स्वयं रावण भी उठा। परन्तु ज्यों ही वह पग पकड़कर उठाने चला त्यों ही श्रीअङ्गदजीने उसके परम हितकी बात यह कही कि मेरे चरण पकड़नेसे तेरा उद्धार नहीं होगा, तू श्रीरामजीके चरणोंकी शरण क्यों नहीं लेता ? ऐसी चुभती हुई बात सुनकर अङ्गदके चरण छूनेमें उसे लज्जा मालूम हुई और वह लौट पड़ा। वह तेजहत होकर ऐसा फीका पड़ गया जैसे दोपहर दिनके समय कभी-कभी श्रीहत चाँद (फीकी पीतलकी गन्दी थालीकी भाँति) दिखायी देता है। श्रीरामजी विश्वात्मा हैं, उनसे विमुख होकर कोई कैसे विश्राम पा सकता है ? तत्पश्चात्—

रिपु बल धरषि हरषि कपि, बालितनय बलपुंज।
सजल सुलोचन पुलक तनु, गहे राम पदकंज॥

श्रीअङ्गदजी इस प्रकार प्रतिपक्षियोंको परास्त करके, पुलकांगशरीर तथा प्रेमाश्रुपूर्ण नयनके साथ श्रीरामजीके चरणकमलोंमें जा पड़े। तब अति आदरसे समीप बैठाकर और समाचारोंके साथ पहले श्रीरघुनाथजीने यही पूछा कि राक्षसेन्द्र महाबली रावणके चार मुकुट जो यहाँ फेंके गये हैं, हे तात ! वे किस प्रकारसे तुमको मिल गये ! इसका कैसा अनुपम उत्तर श्रीअङ्गदजी प्रभुसे निवेदन कर रहे हैं ! इससे भी उनकी बुद्धि और निष्ठाकी महिमा प्रकाशित होती है। वह कहते हैं—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धरमके चरन सोहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥

धरमहीन प्रभुपद बिमुख, काल बिबस दससीस।
आये गुन तजि रावनहिं, सुनहु कोसलाधीस॥
परम चतुरता स्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार।
समाचार पुनि सब कहे, गढ़के बालिकुमार॥

श्रीअङ्गदजी यह प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं दीन, हीन, तुच्छ उन्हें कैसे प्राप्तकर भेज सकता था ? वे चारों मुकुट नहीं बल्कि साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार भूपगुण हैं जो राजाओंके हृदयमें वास करते हैं; श्रीचरणोंमें नीति और धर्मकी मर्यादा देखकर वे स्वयं चले आये हैं। हे श्रीकोशलाधीश सरकार ! रावणको धर्महीन, प्रभुपदसे विमुख तथा कालविवश जानकर उसे त्यागकर उन चारों भूपगुणोंने श्रीचरणोंकी शरण ली है। इस प्रकार श्रीअङ्गदजीकी मर्मयुक्त गम्भीर विनय सुनकर उदार श्रीरामजी हँस पड़े और तत्पश्चात् लङ्काका समस्त हाल अङ्गदने विस्तारसे निवेदन किया।

लङ्का-युद्धमें जैसी सेवा अङ्गद और हनुमान्‌ने की, वह पाठकोंसे छिपी नहीं है। श्रीअवधधाममें राम-राज्याभिषेकके पश्चात् भक्त वानरोंकी विदायीके समय

तो श्रीअङ्गदजीकी भक्तिका भण्डार ही खुल पड़ा था। पहले तो अङ्गदकी अगाध भक्तिको जानकर श्रीरघुनाथजी प्रेमवश उनसे विदायीके लिये कह ही नहीं सके। यथा—

अंगद बैठि रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥

'नहिं डोला' से सूचित होता है कि अङ्गदका देहानुसन्धान ही जाता रहा था, चित्रवत् अडोल बैठे ही रह गये थे, विदायीकी बात जानते ही उनकी यह दशा हो गयी थी। अतः उस दशाको देखकर ही श्रीरामजीने उन्हें नहीं छेड़ा। जब अङ्गदको कुछ चेत हुआ तब उठकर वे प्रार्थना करने लगे—

तब अंगद उठि नाइ सिर, सजल नयन कर जोरि।
अति बिनीत बोले बचन, मनहुँ प्रेमरस बोरि॥
सुनु सर्बज्ञ कृपा सुख सिन्धो। दीन दयाकर आरतबन्धो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछे घाली॥
असरन सरन बिरद संभारी। मोहि जनि तजहु भगतहितकारी
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहिं बिचारि कहहु नरनाहा।प्रभु तजि भवन काज मम काहा
बालक ज्ञान-बुद्धि-बल हीना। राखहु सरन जानि जन दीना॥
नीच टहल गृह कै सब करिहौं।पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं॥
अस कहि चरन परे प्रभु पाहीं।अब जनि नाथ कहहु गृह जाहीं॥

श्रीअङ्गदजीके नेत्रोंमें आँसू भर रहे हैं; वे दोनों हाथ जोड़े, अत्यन्त नम्रतापूर्वक सिर नवाये, प्रेमसे सने वचनोंसे प्रार्थना कर रहे हैं कि हे सर्वज्ञ! हे कृपा और सुखके समुद्र! हे दीन और दयाकी खानि! हे आरतजनबन्धु! मेरी पुकार सुन ली जाय। हे नाथ! मेरे पिता बालिने मरते समय मुझ दीनको आपकी गोदीमें डाल दिया था। हे अशरणशरण! हे अनाथोंके नाथ! अपनी विरदावलीकी सँभाल करनेवाले! हे भक्तहितकारी प्रभु! मेरे तो गुरु, पिता, माता, स्वामी सब कुछ आप ही हैं। आपके चरणकमलोंको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ? हे पुरुषोत्तम! आप ही विचार करके बतलावें कि श्रीप्रभुको छोड़कर घर जानेका मेरा क्या प्रयोजन है? मैं आपका बुद्धि-बलहीन, अज्ञ बालक हूँ; अपना दीनजन जानकर चरणोंकी शरणमें रख लेनेकी दया करें। सरकारी धामकी छोटी-से-छोटी सेवा मैं करूँगा और श्रीप्रभुके चरणकमलोंके दर्शन करके भवसागरसे पार हो जाऊँगा। ऐसा कहते हुए वे चरणोंमें गिर पड़े कि हे नाथ! इस शरणागतको अब घर (किष्किन्धा) जानेकी आज्ञा न दी जाय।

जिस तरह श्रीसुग्रीवजीने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'सब परहरि करिहौं सेवकाई', ठीक उसी तरह श्रीअङ्गदजीने भी सब कुछ त्यागकर सेवकाई करनेकी प्रार्थना निष्कपट भावसे की। बालिने तो उन्हें पहले ही श्रीभगवान्‌की शरणमें दे दिया था; परन्तु उन्होंने भी स्वयं प्रपत्तिका निश्चय किया था, इसका ज्वलन्त प्रमाण उपर्युक्त विनतीमें मिलता है।

अंगद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुनासींव।
प्रभु उठाय उर लायऊ, सजल नयन राजीव॥
निज उर माला बसन मनि, बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्ह भगवान तब, बहु प्रकार समुझाइ॥
अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिर फिर चितव रामकी ओरा॥
बार-बार करि दंड प्रनामा। मन अस रहन कहँहि मोहि रामा॥

राम बिलोकनि बोलनि चलनी।
सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥
प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी।
चलेउ हृदय पदपंकज राखी॥

× × × ×

पुन्यपुंज तुम्ह पवन कुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहै सुनहु हनुमंता॥

कहेहु दंडवत प्रभु सन, तुमहिं कहौं कर जोरि।
बार-बार रघुनायकहिं, सुरति करायेहु मोरि॥
अस कहि चलेउ बालिसुत, फिरि आयेउ हनुमन्त।
तासु प्रीति प्रभु सन कही, मगन भये भगवन्त॥
कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित खगेस अस रामकर, समुझि परै कहु काहि॥

अङ्गदजीके बिनीत वचन सुनकर करुणाके सींव श्रीरघुनाथजी भी सजलनयन हो गये अर्थात् उनके हृदयमें भी वात्सल्यस्नेह (करुणा-रस) भर गया, जिससे नेत्रकमलोंमें करुणाश्रु आ गये और अपनी आजानु भुजाओंसे उठाकर अङ्गदको हृदयसे लगा लिया। फिर उन्होंने स्वयं अपने गलेकी माला, वस्त्र तथा मणिभूषणादि प्रसादरूपमें अङ्गदको पहनाकर बहुत प्रकारसे समझा-बुझाकर विदा किया। अङ्गदके हृदयमें प्रेमकी कोई सीमा नहीं थी, इस कारण बार-बार पीछे मुड़कर वे श्रीरामजीकी ओर देखते जा रहे थे। और इस आशासे बार-बार प्रणाम करते जाते थे कि अब भी श्रीरघुनाथजी दया करके मुझे रुक जानेकी आज्ञा दे दें। श्रीरामजीकी प्रेमपूर्ण चितवनि, उनकी मधुर बोली, उनकी सरल चाल, हँस-हँसकर दासोंसे प्रेमपूर्वक मिलना स्मरण कर-करके सोचते जाते थे। श्रीप्रभुजीका सब प्रकारसे विदा करनेका ही रुख देखकर, उनके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर अर्थात् बाहरी तनसे वियोग अनिवार्य देखकर मनसे प्रभु-चरणोंका संयोग करके अङ्गदजी श्रीरामजीसे विदा हुए। कुछ दूर पहुँचानेके बाद जब श्रीहनुमान्‌जी कपिराज श्रीसुग्रीवकी आज्ञा लेकर लौटने लगे तब सब कपियोंने उनसे कहा कि हे पवनकुमार! आप पुण्यपुञ्ज हैं; आपको सदा श्रीकृपागार भगवान् रामकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्रीअङ्गदजीने कहा हे हनुमन्त! श्रीप्रभुजीको मेरा दण्डवत् निवेदन करना और बारंबार श्रीरघुनायकजीको मेरी याद दिलाते रहना। ऐसी प्रार्थना करके अङ्गद विदा हुए और श्रीहनुमान्‌जीने लौटकर उनके प्रेमको श्रीरघुनाथजीसे निवेदन किया, भगवान् रामजी भी वह प्रेम सुनकर मग्न हो गये। श्रीरामजीका चित्त भक्तविरोधियोंके लिये वज्रसे भी कठोर और निज भक्तोंके लिये पुष्पसे भी कोमल है। हे गरुड़जी! ऐसे उभय अवधिवाले चित्तको कोई कैसे समझ सकता है?

श्रीसुग्रीवजीको 'मेली कंठ सुमनकी माला' और श्रीअङ्गदजीको—

निज उर माला बसन मनि बालितनय पहिराइ।

—इन बातोंसे दोनों शरणागतोंकी एकता सूचित होती है। क्योंकि जब राजसी वस्त्राभूषणका त्याग था तब जो पुष्पमाला श्रीविग्रहके गलेमें पड़ी थी, उसे ही उन्होंने पहना दिया तथा जब राजगद्दी स्वीकृत हुई थी तब उस समय जो अनुपम, अमूल्य मणिमालादि, राजसी वस्त्राभूषण थे, उन्हें भी प्रदान कर दिया गया। अन्तिम दोहेमें 'कुलिसहुँ चाहि कठोर अति' का सम्बन्ध भक्तराज प्रेमावधि श्रीअङ्गदजीसे नहीं है, बल्कि उसके द्वारा श्रीसरकारके चित्तकी दोनों पक्षोंमें असीमताका ऐश्वर्य प्रकट किया गया है। उसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भक्तद्रोहियोंके लिये भक्तवत्सल प्रभु इतने कठोर हो जाते हैं कि अङ्गदके पिता बालिके लिये तो—

ब्रह्म रुद्र सरनागतहुँ, गये न उबरहिं प्रान।

—की प्रतिज्ञा पूरी की और उसी बालिके बेटे अङ्गदपर निज भक्तिके नाते प्रेम बरसा दिया, उसके प्रेममें विभोर होकर बेसुध भी हो गये। ऐसे भक्तवत्सल सरकारकी जय हो।

उपर्युक्त दोहेका अर्थ यदि यह किया जाय कि भक्तोंके प्रति कठोर होते हैं तो समस्त शास्त्रके निरर्थक होनेका दोष आता है और दूसरे भगवान् अपने भक्तके प्रति कभी वज्रसे भी कठोर हो जायँ, यह असम्भव है। प्रभुका अचल विरद है कि—

जेहि जनपर ममता अरु छोहू। तेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥

—यदि नारदकी भाँति कुपथपर जानेपर कठोरता या माताकी भाँति व्रण (फोड़ा) चिरानेकी कठोरताका

अर्थ यहाँ करें तो यह भी घटित नहीं होता; क्योंकि श्रीअङ्गदजीकी प्रार्थना ध्येय अर्थात् पथ्यरूपकी थी, वह हेय, कुपथ्य और सांसारिक कामनाओंसे सम्बन्ध नहीं रखती थी । उसपर शरण्य प्रभुके कठोर होनेका अर्थ कैसे उचित हो सकता है ? जब 'अङ्गद हृदय प्रेम नहिं थोरा' था, उनका 'राम पुनीत प्रेम अनुगामी' होना प्रसिद्ध है, तथा—

अंगद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुनासींव ।
प्रभु उठाय उर लायउ, सजलनयन राजीव ॥

तब कठोरताके लिये स्थान कहाँ रहा ? क्या वज्रके समान कठोर होनेपर ये लक्षण प्रकट होते हैं ? 'करुनासींव' विशेषण करुणाका सूचक है या कठोरताका ? अङ्गदको उठाकर उरसे चिपका लेना क्या बाहरी दिखावा माना जायगा ? प्रभु भीतरसे वज्रके समान कठोर हो रहे थे और बाहरसे झूठमूठ ही छातीसे लगाये हुए थे, भला यह अनर्थकी बात कैसे हो सकती है ? 'सजलनयन राजीव'——भगवान्के कमलवत् नेत्रोंमें जो अश्रु भर आये थे, इसका कारण क्या चित्तकी कठोरता थी; किसीके प्रति चित्त कठोर होनेपर क्या उसके लिये किसीके नेत्रोंमें कभी पानी भर सकता है ? 'निज उर माला बसन मनि' बालितनयको कठोरचित्त होकर पहनाये गये अथवा दयाके कारण ? बहुत प्रकारसे समझाना और सन्तुष्ट करके विदा करना कठोरचित्त होना सूचित करता है अथवा करुणापूर्ण दयार्द्र होना ? प्रेमी पाठक इन बातोंपर विचार करें ।

श्रीअङ्गदजीकी प्रार्थना थी कि 'मोहि जनि तजहु भगतहितकारी'; इसपर उन्हें भली प्रकार समझाया गया कि मैं अपने शरणागतको कभी नहीं छोड़ता, तुम किष्किन्धामें रहो अथवा कहीं भी रहो, कदापि तुम मुझसे त्यागे हुए नहीं हो, सदा मेरे ही हो । मेरे द्वारा मेरा प्रपन्न जहाँ कहीं रहे, सदा रक्षित रहता है । तुम मेरी आज्ञा मानकर जाओ और मेरे दिये हुए युवराजपदको सत्य करो । यह आज्ञापालन ही मेरी परम सेवा है । तुम्हारे पिता बालिने भी अन्तमें मेरी शरण ली थी और तुमको भी शरणमें रख दिया था । मेरी आज्ञा माननेसे अर्थात् युवराजपद स्वीकार करते हुए मेरा भजन करनेसे उस प्रपन्न बालिका भी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा । इस तरह समझा-बुझाकर अङ्गदको अपने अङ्गकी माला, वस्त्र, आभूषण इत्यादि प्रसादरूपमें देकर अति स्नेह और सम्मानके साथ विदा करना कठोरताकी सीमा कही जायगी या कोमलताकी ? जो कुछ हो, उसे तो भगवान् और उनके भक्त ही जानते हैं । इस बुद्धिहीन दीनको किसी प्रकार साहस न हो सका कि यह भगवान्के, अपने प्रेमावधि भक्तपर, उसकी परमोचित विनती सुनकर, कठोरताकी अवधि बन जानेका अर्थ सिद्ध करे । मानसप्रेमी मेरी इस ढिठाईको क्षमा करेंगे ।

सियाबर रामचन्द्रकी जय !

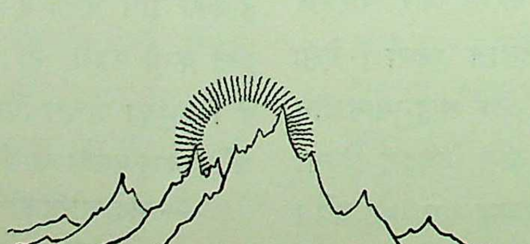

कर्मयोगकी सुगमता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुतसे भाई कहते हैं कि 'गीतामें श्रीभगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है और ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको सुगम बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि यहाँतक कहा है कि कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगका सफल होना कठिन है। किन्तु यह सुगमता समझमें नहीं आती। न वर्तमान कालमें ऐसे बहुतसे कर्मयोगी और उनके द्वारा किया हुआ कर्मयोगका आचरण ही देखनेमें आता है। क्योंकि कर्मोंमें फल और आसक्तिके त्यागका नाम कर्मयोग है; किन्तु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्म किस प्रकारसे होते हैं, इस बातको समझानेवाला या करके दिखलानेवाला ऐसा कोई नहीं दीखता जिसको आदर्श मानकर हमलोग कर्मयोगके पथपर चल सकें। अतएव हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तवमें क्या बात है। गीतामें जो कर्मयोग बतलाया है और जिसे सुगम कहा है उसका सम्पादन तो बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। यह कर्मयोग कथनमात्र है या सम्पादनयोग्य है? यदि सम्पादनके योग्य वास्तविक साधन हो तो उसके जाननेवाले और करनेवाले होने चाहिये; और यदि कोई भी जाननेवाला और करनेवाला नहीं, तो फिर यह सुगम साधन कैसे है?'

ज्ञानयोगका प्रकरण अति गहन, दुर्विज्ञेय और अति सूक्ष्म है; इससे सबके लिये उसका करना तो दूर रहा, समझना भी कठिन है। इसलिये उसकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन सुगम बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ज्ञानयोगका सम्पादन स्वतन्त्ररूपसे तो बहुत ही कठिन है। क्योंकि जबतक अन्तःकरण मलिन है तबतक देहाभिमान है और देहाभिमानीसे ज्ञानयोगका साधन बनना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिये आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है और ज्ञानयोगका साधन बनता है तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है; परन्तु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें अ० ५।२ के श्लोकमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

श्रीभगवान्ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २।४८, १८।९), कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६।४), और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८।११) या कर्मफल न चाहनेको (६।१) ही कर्मयोग कहा है। वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। फल और आसक्ति दोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है। इसलिये दोनोंके त्यागको कर्मयोग कहना तो ठीक है ही; जहाँ कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिका त्याग कहा है वहाँ भी ऐसी ही बात है। काञ्चन, कामिनी, देह, मान-बड़ाई आदि पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग होनेसे उन पदार्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छाका यानी फलका त्याग स्वतः ही हो जाता है। क्योंकि फलकी इच्छाके उत्पन्न होनेमें आसक्ति ही प्रधान कारण है। कारणके त्यागमें कार्यका त्याग स्वतः ही हो जाता है। इसलिये

पदार्थोंमें आसक्तिके त्यागसे फलका त्याग स्वतः हो जानेके कारण पदार्थोंमें आसक्ति न होनेको कर्मयोग कहना युक्तिसंगत ही है । अब रही केवल सर्वकर्मफलके त्यागकी या फल न चाहनेकी बात, सो कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिके त्यागसे कर्मफलका त्याग हो जाता है । अर्थात् एकके त्यागसे दूसरेका त्याग स्वाभाविक ही हो जाता है । इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छाका त्याग ही फलकी इच्छाका त्याग है, इसीको स्वार्थत्याग कह सकते हैं । इस स्वार्थत्यागरूप धर्मके सेवनसे समस्त अनर्थोंकी मूल हेतु आसक्तिका शनैः-शनैः त्याग हो जाता है, इसलिये फलके त्यागसे स्वतः ही आसक्तिका त्याग हो जानेके कारण सर्वकर्मफलके त्याग या कर्मफल न चाहनेको कर्मयोग बतलाना युक्तिसंगत है ।

यदि कोई कहे कि जब 'सर्वकर्मफलके त्याग या फलके न चाहनेको ही कर्मयोग कहते हैं, तब फिर श्रीभगवान्ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागके साथ ही जो आसक्तिके त्यागकी बात कही है उसकी क्या आवश्यकता है ?' इसका उत्तर यह है कि कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग होकर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है । और आसक्तिका त्याग हुए बिना सर्वथा स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म हो नहीं सकते । अतएव स्वार्थके त्यागसे आसक्तिका त्याग उसके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये । असलमें दोनोंका त्याग ही कर्मयोग है । इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आसक्तिसहित कर्मफलका त्याग ही कर्मयोग है' भगवान्का यह कथन युक्तियुक्त ही है ।

प्रायः सभी संसारके मनुष्य मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त-से हो रहे हैं । उनमें कोई-सा ही समझदार पुरुष आत्माके कल्याणके लिये कोशिश करता है, और कोशिश करनेवालोंमें भी कोई-सा ही पुरुष उस परमात्माको पाता है । ऐसी परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंसे हमारी भेंट होना भी दुर्लभ ही है । भेंट होनेपर भी श्रद्धाकी कमीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते, इसलिये वर्तमान कालमें ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए योगी और ऐसे योगियोंद्वारा किये हुए आचरण यदि देखनेमें नहीं आते तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

भगवान्ने स्वयं भी (गीता ४ । २ में) कहा है कि यह कर्मयोग बहुत कालसे नाशको प्राप्त हो गया है । इससे यह बात सिद्ध होती है कि उस कालमें भी इस योगको समझनेवाले बहुत लोग नहीं थे और इस समय भी बहुत नहीं हैं । क्योंकि सारे भूतप्राणी रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे संसारमें मोहित हो रहे हैं । इसलिये परमात्माके बतलाये हुए इस कल्याणमय कर्मयोगके रहस्यको नहीं जानते । जिन पुरुषोंका स्वार्थत्यागरूप कर्मद्वारा पाप नाश हो गया है वही पुरुष इस कर्मयोगके रहस्यको जानते हैं ।

वस्तुतः आजकल परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंका अभाव है; ऐसा नहीं कहा जा सकता; परन्तु हमें श्रद्धाकी कमीके कारण उनका दर्शन और परिचय नहीं प्राप्त होता । ऐसी अवस्थामें जब कर्मयोगका आचरण करके बतलानेवाला हमें कोई नहीं दीखता तो कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको भगवान्के बतलाये हुए उपदेशोंको ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

गीतामें बतलाया हुआ कर्मयोग कथनमात्र नहीं है, सम्पादन करनेयोग्य है । किन्तु उसके सम्पादनका तत्त्व न जानने तथा शरीर और संसारके पदार्थोंमें आसक्ति होने एवं श्रद्धाकी कमी होनेके कारण ही कठिन प्रतीत होता है, वास्तवमें कठिन

नहीं है । भगवान्‌के कहे हुए वचनोंमें विश्वास करके उसकी आज्ञानुसार स्वार्थका त्याग करके शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते-करते आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान होता चला जाता है । इस प्रकार करते हुए जब आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तब कर्मयोगका सम्पादन कठिन नहीं प्रतीत होता ।

कर्मोंमें सब प्रकारके फलकी इच्छाके त्यागका नाम ही स्वार्थत्याग है । स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंका एवं राग-द्वेषादिसे होनेवाले दुराचारोंका नाश हो जाता है । अतएव मनुष्यको उचित है कि भगवान्‌के शरण होकर स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंका सम्पादन करे । किन्तु इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कर्मोंमें स्वार्थत्याग किसका नाम है । हम मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी भी शास्त्रविहित कर्मका आरम्भ करते हैं और उसका फल स्त्री, धन, पुत्र और शरीरका आराम आदि नहीं चाहते, इतने मात्रसे ही स्वार्थका त्याग नहीं समझा जाता । इन सबका त्याग तो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी कर सकता है । अतएव मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका एवं स्वर्गादिके भोगकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके उस त्यागके अभिमानका भी त्याग होनेसे सर्वथा स्वार्थत्याग समझा जाता है ।

हमलोग छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वार्थको जो खो बैठते हैं, इसमें हमारी बेसमझी या मूर्खता ही कारण है । हमें इससे जो बड़ा भारी नुकसान होता है, इस बातपर मूर्खताके कारण हमारा विश्वास नहीं है । यत्किञ्चित् विश्वास है भी तो वह शङ्कायुक्त है । क्योंकि परमानन्द और परमा शान्तिकी प्राप्तिकी बातें हम ग्रन्थोंमें पढ़ते हैं, इनकी प्राप्ति तो कभी हुई नहीं । शास्त्र और महात्मा पुरुष कहते हैं, मान और बड़ाईकी इच्छाको विषके समान समझकर त्याग दो । ये मान और बड़ाई भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बड़े भारी कण्टक हैं । साधकके लिये भगवान्‌के मार्गमें बाधा देनेवाले हैं । एवं इनकी विशेष लालसा होनेसे तो ये दम्भ और पाखण्डको उत्पन्न करके साधकका पतन करनेवाले भी हो जाते हैं । बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ऐसी प्रतीति भी होती है । परन्तु मान और बड़ाईकी प्राप्ति होनेपर प्रत्यक्षमें सुख प्रतीत होता है और उसमें आसक्ति उत्पन्न होकर मान-बड़ाईकी इच्छा हो ही जाती है । इन सभी बातोंमें हेतु हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही है । जैसे कोई रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके वशीभूत हो कुपथ्य सेवन करके अपना दुःख बढ़ा लेता है, कोई-कोई तो मृत्युको प्राप्त हो जाता है । इस कुपथ्यके सेवनमें भी विचार करके देखा जाय तो जैसे रोगीकी मूर्खता ही हेतु है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, देह और मान-बड़ाई आदिमें जो हमारी आसक्ति है, उसमें भी मूर्खता ही हेतु है । जो रोगी वैद्य, औषध और पथ्यपर श्रद्धा करके कुपथ्यसे बचकर औषधका सेवन और पथ्यका पालन करता है वह आरोग्य हो जाता है । ऐसे ही जो मनुष्य शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा बतलाये हुए दुर्गुण और दुराचाररूप कुपथ्यको त्यागकर, ईश्वरभक्तिरूप औषधका सेवन और सदाचार-सद्गुणरूपी पथ्यका पालन करता है वह जन्म-मरणरूप महान् भवरोगसे मुक्त हो जाता है । लौकिक औषधका सेवन करनेवाला तो अदृष्ट प्रतिकूल होनेसे शायद आरोग्य नहीं भी होता, परन्तु इस औषध तथा पथ्यका सेवन करनेवाला तो निश्चय ही जन्म-मरणरूप दुःखोंसे मुक्त हो जाता है । क्योंकि इसमें अदृष्ट बाधक नहीं हो सकता ।

हम लोग जितने कर्म करते हैं, सबमें प्रथम यही भाव मनमें उत्पन्न होता है कि इससे हमको

क्या लाभ होगा । स्वाभाविक ही हमारी बुद्धि स्वार्थकी ओर चली जाती है । अतएव क्रियाके आरम्भके समय जब स्वार्थबुद्धि उत्पन्न हो तभी उसका बाध कर देना चाहिये । हम जिसको लाभ समझते हैं, वह सांसारिक लाभ वास्तवमें लाभ ही नहीं है । लाभ वही है जो वास्तविक हो और जिसका कभी अभाव न हो । ऐसा वास्तविक लाभ सांसारिक लाभोंके त्यागसे प्राप्त होता है । अतएव क्रियाके आरम्भके समय व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थकी जो इच्छा उत्पन्न हो उसको अनर्थका मूल समझकर तुरन्त उसका त्याग कर देना चाहिये ।

हमलोगोंमें भौतिक स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि हम अपने असली स्वार्थको तो समझ ही नहीं पाते । इसके लिये हमें पद-पदपर परमेश्वरका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम सदा सावधान रह सकें और अपना असली स्वार्थ वस्तुतः किस बातमें है—इसको समझकर अनर्थकारी भौतिक स्वार्थोंसे बच सकें ।

जिन पुरुषोंने भगवान्के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो यह कर्मयोगका तत्त्व और भी सुगम है, यद्यपि पुत्र, स्त्री, गृह, धन और देहादिमें प्रीति होनेके कारण इनकी प्राप्तिरूप स्वार्थका त्याग होना कठिन है तथा मान-बड़ाईका त्याग तो इनसे भी अत्यन्त ही कठिन है । शरीर और संसारमें आसक्ति होनेके कारण संसारके पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है और आवश्यकताके कारण कामना होती है एवं कामनाकी पूर्तिके लिये मनुष्य कर्मोंका सम्पादन करता है । उनसे कामनापूर्ति न होनेपर वह याचनातक करनेको प्रवृत्त हो जाता है । अतएव इन सब अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है, जिसे हम 'राग' कह सकते हैं । यह राग अनुकूलतामें होता है और सुखके देनेवाले पदार्थ ही मनुष्यको अनुकूल प्रतीत होते हैं । इससे प्रतिकूल दुःखदायी पदार्थोंमें द्वेष होता है और उस द्वेषसे बैर, ईर्षा, क्रोध, भय और सन्ताप आदि अनेकों दुर्भाव उत्पन्न होकर हिंसादि कर्मके द्वारा मनुष्यका पतन हो जाता है । अतएव सारे अनर्थोंके हेतु ये रागद्वेष ही हैं । इन रागद्वेषका कारण मोह (अज्ञान) है । जब इस बातका रहस्य मनुष्यकी समझमें आ जाता है, तब उसके रागद्वेष क्षीण हो जाते हैं और क्षीण हुए रागद्वेष श्रीपरमेश्वरके नाम, रूप, गुण और प्रभावके स्मरण और मननसे नाशको प्राप्त हो जाते हैं । फिर मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उसके अधीन हो जाती हैं । ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन बड़ी सुगमतासे होता है, जिससे वह परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

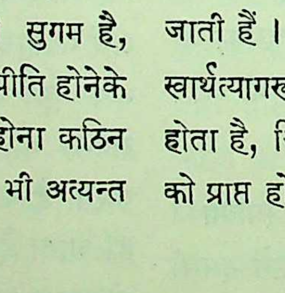

कल्याण

दुनियाके सुधार और उद्धारकी चिन्ता छोड़कर पहले अपना सुधार और उद्धार करो । तुम्हारा सुधार हो गया तो समझो कि दुनियाके एक आवश्यक अंगका सुधार हो गया । यदि ऐसा न हुआ, तुम्हारे हृदयमें उच्च भावोंका संग्रह नहीं हो सका, तुम्हारी क्रियाएँ रागद्वेषरहित, पवित्र नहीं हुईं और तुमने दुनियाके सुधारका बीड़ा उठा लिया तो याद रक्खो, तुमसे दुनियाका सुधार होगा ही नहीं । यह मत समझो कि तुम लोकसेवक हो, लोकसेवा करते हो तो फिर तुम्हारे व्यक्तिगत चरित्रसे इसका क्या सम्बन्ध है । तुम्हारा चरित्र कलुषित या दूषित होगा तो तुम लोकसेवा कर ही नहीं सकते । लोकसेवा तुम उस सामग्रीसे ही तो करोगे जो तुम्हारे पास है । दुनियाके सामने तुम वही चीज रक्खोगे, उसको वही पदार्थ दोगे जो तुम्हारे अन्दर है । दुनियाको तुम स्वाभाविक ही वही क्रिया सिखलाओगे, जो तुम करते हो । इससे दुनियाका कल्याण कभी नहीं होगा ।

× × ×

जबतक तुम्हारी आभ्यन्तरिक आँखोंपर राग-द्वेषका चश्मा चढ़ा है, तबतक तुमको वस्तुस्थितिका यथार्थ दर्शन नहीं होगा । और यथार्थ ज्ञान विना तुम इस बातका विचार नहीं कर सकोगे कि किस बातसे किसका सुधार या उद्धार होगा । विचार करोगे भी तो वह यथार्थ नहीं होगा । क्योंकि तुम्हारे विचारमें वही कार्य ठीक जँचेगा जिसमें तुम्हारा राग है । परन्तु सम्भव है, वह कार्य ठीक न हो ।

× × ×

तुम यथार्थमें सुधरे हुए नहीं हो और दुनियाका सुधार करना चाहते हो, तो ऐसी हालतमें दो बातें होंगी । या तो तुम अज्ञानसे अपनेको उत्तम स्थितिमें पहुँचा हुआ—दुनियाको सुधारनेकी योग्यता रखनेवाला उच्च कोटिका पुरुष मानकर अभिमानके वश हो जाओगे, अथवा दम्भ और कपट करने लगोगे । दोनों ही तरहसे तुम्हारा पतन होगा । दुनियाका सुधार तो होगा ही नहीं ।

× × ×

अभिमान दूसरोंको तुम्हारी दृष्टिसे अपनेसे नीचे गिरे हुए दिखावेगा । तुम उनपर शासन करना चाहोगे, उनके नेता बननेकी इच्छा करोगे, अपने झंडेके नीचे लाकर उन्हें अनुयायी बनाना चाहोगे । वे तुम्हारे अभिमानसे चिढ़ेंगे । परस्पर वैमनस्य होगा—द्वेषपूर्ण दलबंदियाँ होंगी । तुम्हारी और उनकी शक्ति एक-दूसरेको नीचा दिखानेमें खर्च होने लगेगी । चित्त अशान्त रहेगा और इस चिन्तामें दुनियाके सुधारकी बात भूलकर दुनियाका बड़ा अकल्याण कर बैठोगे ।

× × ×

याद रक्खो—जिस क्रियासे या चेष्टासे दुनियाकी यथार्थ भलाई है, उसमें तुम्हारी भलाई अवश्य ही निहित है । परन्तु दुनियाकी भलाई स्वयं भले बने विना तुम कर ही नहीं सकते । इसलिये पहले खुद अपना सुधार करो । अपना सुधार होनेके बाद तुम दुनियाके सुधारका बीड़ा नहीं उठाओगे । फिर तो तुम्हारी हरेक क्रिया दुनियाका सुधार करेगी । तुम्हारा जगत्में रहना, तुम्हारा श्वास लेना, तुम्हारा खाना-पीना, तुम्हारा सोना-उठना, तुम्हारा व्यवहार करना, सभी कुछ स्वाभाविक दुनियाकी भलाई ही करनेवाला होगा ।

× × ×

जबतक तुम्हारे मनमें यह बात है कि मेरे विना संसारका भला कैसे होगा, तबतक संसारका तुमसे

भला नहीं होगा । जबतक तुम यह समझते हो, मैं उत्तम हूँ, मुझमें सद्गुण हैं; मैं ऊँचा हूँ, दूसरे लोग निकृष्ट हैं, दुर्गुणी हैं, नीच हैं, तबतक तुम जगत्का कल्याण नहीं कर सकोगे । जबतक तुम यह चाहते हो कि मैं दुनियाका भला करूँ और दुनिया मुझे अपना नेता माने, अपना पूज्य समझे, अपना सेव्य समझे और मेरा सम्मान करे, मेरी सेवा-पूजा करे और मेरी बड़ाई हो, तबतक तुम उनका यथार्थ कल्याण नहीं कर सकते । क्योंकि तुम्हारे मनमें नेता, पूज्य और सेव्य बननेकी जो चाह है वह तुम्हारे अन्दर एक ऐसी कमजोरी पैदा करती रहती है, जिससे तुम दुनियाके सामने सच्ची बात नहीं कह सकते । किसी भी अंशमें हो तुम्हें उनके मनके अनुकूल ही बातें करनी पड़ेंगी । तुम्हारे मनमें यह डर रहेगा कि कहीं ये लोग नाराज न हो जायँ । क्योंकि उनकी नाराजीमें तुम्हें सेवा-पूजा और मान-प्रतिष्ठा न मिलनेकी आशंका है ।

× × ×

याद रक्खो—जबतक तुम मान-बड़ाईके लिये लोकसेवा करते हो, लोकसेवा करके मान-बड़ाई पानेमें प्रसन्न होते हो, तबतक तुम्हारे मनमें लोकसेवाके साथ-ही-साथ मान-बड़ाईकी एक ऐसी चाह छिपी है जो धीरे-धीरे तुम्हें लोकसेवासे हटाकर लोकरञ्जनकी ओर ले जाती है । और जब तुम्हारे मनमें लोकरञ्जनका भाव हो जायगा—तुम्हारा उद्देश्य लोकरञ्जन हो जायगा, तब तुम्हें लोकसेवा बिल्कुल छोड़नी पड़ेगी । फिर तो तुम वही करोगे जिसमें लोकरञ्जन होगा । क्योंकि उसीसे तो तुम्हें मान-बड़ाई मिलेगी । जिस क्रिया और चेष्टासे तुम्हें मान-बड़ाई नहीं मिलेगी, उसे तुम नहीं करोगे—चाहे वह लोकहित और अपने हितके लिये कितनी ही आवश्यक क्यों न हो । और जिस क्रिया या चेष्टासे तुम्हें मान-बड़ाई प्राप्त होगी, उसको बुरा माननेपर भी तुम करोगे । तुम्हारा जीवन दम्भ और कपटपूर्ण बन जायगा ।

× × ×

इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुम लोकसेवा करना छोड़ दो । लोकसेवा करो—खूब करो, परन्तु साथ ही अपनेको लोकसेवाके योग्य भी बनाते रहो । कूड़ा भरे हुए झाड़ूसे दूसरेका घर झाड़ने जाओगे तो वहाँ झाड़नेके बदले कूड़ा बिखेर दोगे । तुम्हारे अन्दर जितनी ही पवित्रता आवेगी, उतनी ही तुम लोकसेवाकी योग्यता प्राप्त करोगे । इसलिये बड़ी सावधानीसे अपने भावोंको पवित्र बनाओ, अपने चरित्रको सुधारो, अपने आचरणोंको ऊँचा बनाओ, राग-द्वेषका त्याग करो और मान-प्रतिष्ठाकी चूहड़ी चाहको छोड़ो; फिर तुम जो कुछ करोगे उसीसे दुनियाका सुधार या उद्धार होगा, चाहे उस समय तुम्हारी क्रियाएँ सर्वथा निवृत्तिपरक ही क्यों न हों ।

'शिव'

श्रीगीताजयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को श्रीगीता-जयन्तीका महोत्सव है । इसी दिन साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्णने रणक्षेत्रमें मोहित हुए भक्त अर्जुनको गीता सुनाकर कर्तव्यपथपर आरूढ़ किया था । गीता श्रीभगवान्का हृदय है, श्रीभगवान्का सिद्धान्त है और श्रीभगवान्का स्वरूप ही है । गीताके रूपमें भगवान्की शरण होकर जो मनुष्य गीताके उपदेशोंके अनुसार चलता है वह शोक-मोहसे सदाके लिये छूट जाता है । गीता मनुष्यमात्रको अपने-अपने धर्मपर आरूढ़ करके भगवत्प्राप्तिका सरल मार्ग बतलाती है । गीता व्यवहारमें परमार्थ-साधनका सुगम उपाय समझाती है; गीता भक्ति, ज्ञान और कर्मका अपूर्व समन्वय करके सब सम्प्रदायों, सभी धर्मोंका आधार बनकर सभीको सुन्दर प्रकाश दिखलाती है । ऐसी गीता माताकी जयन्ती मनाना मनुष्यमात्रका परम धर्म है । जयन्तीके महोत्सवमें अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार गीताप्रेमी सज्जनोंको नीचे लिखी सभी बातें करनी चाहिये, और हो सके तो निम्नलिखित एक श्लोकके अनुसार अपना जीवन निर्माण करनेका मन-ही-मन संकल्प करके उसमें लग जाना चाहिये । गीताके इस एक ही श्लोकसे हमारा जीवन सफल हो सकता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मन लगा, मेरा ही भक्त बन, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझको ही नमस्कार कर; ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है ।'

प्रत्येक गीताप्रेमी भाई-बहिनसे सविनय प्रार्थना है कि सभी लोग जो गीताशास्त्रको मानते हों, चाहे वे किसी भी देश, वर्ण, जाति या श्रेणीके हों, उस दिन यथासाध्य नीचे लिखे कार्य करने-करानेका नम्र प्रयत्न अवश्य करें ।

(१) गीता-ग्रन्थकी पूजा ।

(२) गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण और गीता-रचयिता श्रीव्यासदेवका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण ।

(४) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान और गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण ।

(५) गीतातत्त्वको समझने और गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-प्रवचन तथा व्याख्यान ।

(६) गीताजीकी सवारीका जुलूस ।

(७) लेखक और कवि लेखों तथा कविताओं-द्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें ।

त्यागका स्वरूप और साधन

(लेखक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

शास्त्रोंकी ऐसी घोषणा है और सभी विचारशील पुरुष इस बातको स्वीकार करते हैं कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। संसारमें बहुत-से लोग इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये यत्किञ्चित् चेष्टा भी करते हैं, परन्तु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष बहुत थोड़े होते हैं जो शीघ्र ही लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हों। शास्त्रकारोंने और अनुभवी संतोंने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें कई विघ्न ऐसे बतलाये हैं जिनको पार किये बिना भगवान्की प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। उन विघ्नोंमें प्रधान विघ्न हैं—अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति। अज्ञान या मोह तो इन सबका मूल कारण है ही। अज्ञानके नाशसे इन सबका नाश अपने-आप हो जाता है। अज्ञान कहते हैं न जाननेको। न जानना भगवान्के स्वरूपका। जिनको भगवान्के स्वरूपकी जानकारी हो जाती है वे इन सारे विघ्नोंको सहज ही पार कर जाते हैं। बल्कि उनके लिये इन विघ्नोंका सर्वथा नाश ही होता है। परन्तु जबतक अज्ञान नाश न हो, जबतक भगवान्के तत्त्व—स्वरूपकी जानकारी न हो, तबतक क्या हाथ-पर-हाथ धरे यों ही बैठे रहना चाहिये? नहीं, आसक्ति, कामना, ममता और अहंकारका प्रयोग बुद्धिमानीपूर्वक भगवान्में करना चाहिये। आदर्श ऐसा होना चाहिये कि एकमात्र श्रीभगवान्में ही आसक्ति हो, एकमात्र श्रीभगवान्को पानेकी ही अनन्य कामना हो, एकमात्र श्रीभगवच्चरणोंमें ही अहैतुकी ममता हो और एकमात्र श्रीभगवान्के दासत्वका ही भक्तहृदयमें शान्ति-सुधा बरसानेवाला आदरणीय अहङ्कार हो। इस प्रकार इन चारोंके दिशापरिवर्तनका अभ्यास करनेसे क्रमशः इनका दूषित रूप नष्ट होता जायगा। तब ये मोहके पोषक न होकर उसका नाश करनेमें सहायता देंगे और ज्यों-ज्यों मोहका नाश होगा त्यों-ही-त्यों भगवान्के स्वरूपकी जानकारी होगी, और ज्यों-ज्यों भगवान्के स्वरूपका ज्ञान होगा, त्यों-ही-त्यों एकमात्र उन्हींके साथ इन चारोंका सम्बन्ध बढ़ जायगा। फिर तो इनका नाम भी बदल जायगा। और इन्हें विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्तिके रूपमें पाकर भक्त कृतार्थ होगा। उस भक्तिके द्वारा भगवान्की यथार्थ जानकारी—भगवत्तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होगा और उस ज्ञानका प्रादुर्भाव होते ही भक्त अपने भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगा।

विषयोंके दुःख-दोषभरे भयंकर स्वरूपका, और भगवान्के चिदानन्दमय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका—भगवान्के स्वरूपका, स्व-भावका हमें ज्ञान नहीं है; इसीसे हमारी चित्तवृत्तियोंकी प्रवृत्ति भगवान्की ओर न होकर विषयोंकी ओर हो रही है। यदि श्रीभगवान्की परमानन्दरूपता और विषयोंकी भयानकतापर वस्तुतः विश्वास हो जाय तो मनुष्यका मन विषयोंकी ओर कभी नहीं जा सकता। आज यदि किसीसे कहा जाय कि तुम्हें सौ रुपये दिये जायँगे, तुम एक तोला अफीम या थोड़ा-सा संखिया खा लो, तो कोई भी खानेको तैयार नहीं होगा। क्योंकि अफीम और संखिया खानेसे मृत्यु हो जायगी, इस बातपर उसका शंकारहित निश्चित विश्वास है। भगवान्ने कहा है—'यह लोक अनित्य और असुख (सुखरहित) है। अथवा यह जन्म अनित्य और दुःखालय है, इसे पाकर तुम मुझको ही भजो।' यदि भगवान्के इस कथनपर शंकारहित निश्चित विश्वास होता और यदि इन वचनोंके अनुसार जगत्के

विषय हमें यथार्थमें दुःखरूप और अनित्य जान पड़ते तो हम उनमें क्यों रमते ? और यदि भगवान्के अखिल-आनन्दसुधासिन्धु स्वरूपपर जरा भी विश्वास होता तो हम क्यों उसकी उपेक्षा करते ? परन्तु ऐसा करते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि हम पढ़ते, सुनते और कहते तो हैं, परन्तु यथार्थमें हमें इन बातोंपर पूरा विश्वास नहीं है । इसीसे हम इन बातोंकी परवा न करके विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं और जैसे दीपककी ज्योतिके रूप-मोहमें फँसकर उसकी ओर जानेवाला पतङ्ग जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार हम भी भस्म हो जाते हैं ।

हमारी वृत्तियाँ सदा ही बहिर्मुखी रहती हैं, विषयोंमें–कार्यजगत्में ही लगी रहती हैं । इसमें जहाँ-जहाँ हमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पदार्थ दीख-सुन पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ ही हमारा चित्त जाता है । हम उन्हींमें सुख खोजते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि दिनके साथ रातकी भाँति इस सुखका सहचर दुःख सदा इसके साथ रहता है । हम सुख चाहते हैं, और दुःखसे बचना चाहते हैं, इसीलिये हमें दुःख भोगना पड़ता है; यदि वास्तवमें हमें दुःखसे बचना है तो सुखकी स्पृहा भी छोड़ देनी पड़ेगी । हम उस परम सुखको तो चाहते नहीं जो सदा रहता है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं, जो असीम और अनन्त है । हम तो चाहते हैं क्षणिक इन्द्रियसुखको, जो वास्तवमें है नहीं, केवल भ्रमसे भासता है और बिजलीकी ज्यों एक बार चमककर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है । परन्तु हम अबोध इस बातको जानते नहीं, इसीसे उसके पीछे पड़े रहते हैं और एक दुःखके गड़हेसे निकलकर तुरन्त ही दूसरा गहरा गड़हा खोदने लगते हैं !!

इस इन्द्रियसुखके प्रधान साधन माने गये हैं– दो पदार्थ । एक 'स्त्री' और दूसरा 'धन' । इसीलिये शास्त्रोंने बड़े जोरोंसे इनकी बुराइयोंकी घोषणा करके कामिनी-काञ्चनके त्यागका बार-बार उपदेश किया है । बात यह है कि विषयासक्त मनुष्यकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंकी ओर दौड़ती हैं । कामिनी-काञ्चनमें रमणीयता प्रसिद्ध है । इनकी ओर लगनेके लिये किसीको उपदेश नहीं करना पड़ता । अपने-आप ही इन्द्रियाँ मनको इनकी ओर खींच ले जाती हैं । जगत्के इतिहासको देखनेसे पता लगता है कि संसारके महायुद्धोंमें—भीषण नरसंहारमें 'कामिनी और काञ्चन' ही प्रधानतया कारण हुए हैं । यहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिये कि पुरुषके लिये जैसे स्त्री आकर्षक है वैसे ही स्त्रीके लिये पुरुष है । 'कामिनी' शब्दसे यहाँ केवल स्त्री न समझकर यौनसुख प्रदान करनेवाला व्यक्ति समझना चाहिये । स्त्रीके लिये पुरुष—और पुरुषके लिये स्त्री । जैसे पुरुषका चित्त कामिनी-काञ्चनके लिये छटपटाया करता है, उसी प्रकार स्त्रीका चित्त भी पुरुष और धनके लिये ललचाता रहता है ।

परिणाम नहीं जानते, इसलिये पुरुष नारीके सौन्दर्यपर और नारी पुरुषके सौन्दर्यपर मोहित होती हैं । और इसीलिये, विलासिताका सामान एकत्र करनेकी अभिलाषासे नर-नारी धनकी ओर आकर्षित होते हैं । जैसे स्त्री या पुरुषके अधिक भोगसे धन, धर्म और जीवनी शक्तिका नाश होता है, वैसे ही धनके लोभमें भी स्वास्थ्य, धर्म-कर्म और जीवनकी बलि देनी पड़ती है । एक बार इनकी प्राप्ति या संयोगमें कुछ सुख-सा दिखायी देता है, परन्तु परिणाममें भयानक दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति अनिवार्य होती है । जबतक इनका वास्तविक त्याग नहीं हो जाता तबतक कभी शान्ति नहीं मिलती । शान्तिकी प्राप्ति तो इनके सर्वतोभावेन त्यागसे ही होती है ।

परन्तु क्या मनुष्यके लिये इनका त्याग सम्भव है ? है तो फिर उस त्यागका स्वरूप क्या है, और वह त्याग कैसे हो सकता है ? संसारमें पुरुष या स्त्री कोई भी ऐसा नहीं है जो स्त्री-पुरुषके संसर्गसे शून्य हो । माता-पिताके रज-वीर्यसे ही शरीर बनता है । पालन-पोषण भी माता-पिता या बहिन-भाई आदिके द्वारा ही होता है । इसी प्रकार सर्वत्यागी संन्यासीको भी कौपीन, फटे कंथे और भिक्षाकी तो आवश्यकता होती ही है, जो अर्थसाध्य है । ऐसी हालतमें कोई भी स्त्री या धनका सर्वथा त्याग कैसे कर सकता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि पहले त्यागके अर्थको समझना चाहिये । किसी वस्तुका ग्रहण या व्यवहार न करना बाहरी त्याग है । और उस वस्तुमें आसक्तिहीन रहना भीतरी त्याग है । अब विचार कीजिये, हम एक चीजका त्याग कर देते हैं परन्तु मन-ही-मन उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसका अभाव हमारे मनमें खटकता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है । ऐसी हालतमें उस वस्तुका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है । त्याग तो असली वही है जिससे उस वस्तुमें आसक्ति ही न रहे । जिस त्यागमें वस्तुका चिन्तन और आस्वाद मन-ही-मन होता है वह त्याग वास्तविक नहीं है । अवश्य ही भोगमय जीवनकी अपेक्षा आन्तर त्यागके साधनरूपमें बाह्य त्याग सराहनीय है और आवश्यक भी है, उससे आन्तर त्यागमें सहायता मिलती है और त्यागकी वृत्ति स्वाभाविक होती है; परन्तु असली त्याग तो आसक्तिका त्याग ही है । आसक्तिके त्यागसे द्वेष, भय, हर्ष, शोक आदिका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है । फिर आगे चलकर तो त्यागके अभिमान और त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना पड़ता है । यही त्यागका स्वरूप है, और इस त्यागकी प्राप्ति आसक्तिके दोष और भगवान्के यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होती है। यह सत्य है कि स्वरूपसे स्त्री और धनका त्याग सभी अंशोंमें होना कठिन है । तथापि शास्त्र इसीलिये इनके त्यागपर इतना जोर देते हैं कि सर्वथा त्यागकी बात कहनेसे ही मनुष्य कहीं उचित रूपमें इनका व्यवहाररूपमें ग्रहण करेंगे । मनसे तो त्याग होना ही चाहिये । बाह्य त्यागमें पुरुषको चाहिये कि स्त्रीजातिमें देवीकी भावना करे—'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु', और भगवती जानकर उन्हें मातृभावसे नमस्कार करे । स्त्रियोंको चाहिये कि पुरुषोंको पिता, भाई या पुत्रके रूपमें देखें । जहाँतक हो सके, किसी भी रूपमें स्त्री-पुरुषका परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना लाभदायक नहीं है, परन्तु जहाँ आवश्यक हो वहाँ उपर्युक्त भावसे मिले । इसी प्रकार न्यायमार्गसे उतना ही धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करे जिससे गृहस्थका कार्य सीधे-सादेरूपमें चल जाय । इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये और शरीरके आरामके लिये परमेश्वरको भूलकर, न्यायपथको त्यागकर, दूसरेको धोखा देकर, दूसरेका हक मारकर और असत्यका आश्रय लेकर धन उपार्जन करनेकी चेष्टा कभी न करे ।

अवश्य ही भगवान्की सृष्टिमें स्त्री और धनकी भी सार्थकता है, उसकी भी आवश्यकता है; परन्तु वह होनी चाहिये परमार्थमें सहायकके रूपमें । यह भी नहीं समझना चाहिये कि परस्त्रीका त्याग करना चाहिये, पराये धनके त्यागकी उतनी आवश्यकता नहीं है । जैसे नीच कामवृत्तिका गुलाम होनेसे मनुष्य पशुसे भी अधम, नीच या असुर हो जाता है, वैसे ही अपनेको विलासिता और मौज-शौकके प्रवाहमें बहा देनेवाला अर्थलोभी मनुष्य भी राक्षस हो जाता है । वह अपने शरीरको आराम पहुँचानेके लिये क्या नहीं करता ? गरीबोंके—दीनदुखियोंके तप्त अश्रुओंसे अपने

भोग-विलासकी प्यास बुझानेवाला और शरीरको आराममें रखनेवाला मनुष्य राक्षस नहीं तो और क्या है ? अपने शरीरकी रक्षाके लिये जितना आवश्यक होता है, उतने ही अर्थपर वस्तुतः हमारा अधिकार है। अपने आराम या भोगके लिये उससे अधिक खर्च करना तो भगवान्‌की सम्पत्तिका बेईमानीसे दुरुपयोग करना है। उस धनसे तो गरीब-दुखियोंकी सेवा करनी चाहिये। परन्तु इस सेवामें भी अहंकार नहीं आना चाहिये। यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान्‌की चीजसे भगवान्‌की सेवा की जाती है। याद रखना चाहिये कि त्याग करना है भोगोंका और आसक्तिका, निष्काम प्रेम और सेवाका नहीं। वास्तविक प्रेम और सेवा त्याग होनेपर ही होती है। और यही सेवा भगवत्सेवा कहलाती है। अस्तु !

वास्तवमें कामिनी-काञ्चनकी क्षणभंगुरता, निःसारता, और दुःखरूपताका निश्चय हो जानेपर तो इनमें मन रहेगा ही नहीं। फिर तो इनके त्यागमें एक विलक्षण आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी। और जिस त्यागमें आनन्द और शान्ति मिलती है वही यथार्थ त्याग है।

इनसे भी बढ़कर त्याग करने योग्य एक चीज और है—वह है कीर्तिकी इच्छा। 'किसी प्रकारसे भी हमारी कीर्ति हो; लोग हमें उत्तम समझें; आज कोई चाहे न जाने, परन्तु इतिहासोंमें हमारा नाम उज्ज्वल रहे। हमारा नाम न सही, हमारे वंशका, हमारी जाति या हमारे देशका नाम रहे (यद्यपि ऐसी इच्छा व्यक्तिगत कीर्तिकी इच्छासे उत्तम है क्योंकि इसमें कुछ त्याग है) और इस सुकीर्तिके लिये स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्राण आदि किसी भी वस्तुका त्याग क्यों न करना पड़े।' इस प्रकारकी कीर्तिकामनाका त्याग होना बहुत ही कठिन है। और जबतक इसका त्याग नहीं होता तबतक बड़े-से-बड़े अनुष्ठान, पुण्यकर्म, साधन और तप इसके प्रवाहमें सहज ही बह जाते हैं। मनुष्य अपने जीवनभरका किया-कराया सब कुछ इस कीर्तिपिशाचीके चक्रमें पड़कर नष्ट करता रहता है। वह प्रत्येक काम करनेके पहले ही यह सोचता है कि इसमें मेरी कीर्ति होगी या नहीं, इसलिये उसे अकीर्तिकर कल्याणमय कर्मसे वञ्चित रहना पड़ता है। और आगे चलकर ऐसा कीर्तिकामी पुरुष दम्भाचरणका आश्रय लेकर साधनके पथसे पतित हो जाता है। भगवान्‌की स्मृति छूट जाती है। भगवान्‌के स्थानपर हृदयमें बाहरसे बहुत ही सुन्दर सजी हुई कीर्तिकी कराल मूर्ति आ विराजती है और येन-केन-प्रकारेण उसीकी सेवामें मनुष्यका बहुमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है ! इन सब प्रतिबन्धकोंका मूल है मोहरूप विघ्न, और उसके सहायक हैं उसीसे पैदा हुए पूर्वोक्त अहंकार, ममता, कामना और आसक्तिरूप दोष। इनका अपने पुरुषार्थसे सहसा त्याग होना बड़ा कठिन है। भगवत्कृपाके बलसे तो सब कुछ हो सकता है। भगवत्कृपा सबपर होते हुए भी उसका अनुभव विश्वासी और नामाश्रयी पुरुषोंको होता है। अतएव भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे इन चारोंका मुँह विषयोंकी ओरसे घूमकर भगवान्‌की ओर हो जायगा। भगवान् अपनेमें ही सबका प्रयोग करा लेंगे। फिर तो गोपियोंकी भाँति हम भी कह सकेंगे—

स्याम सरबस तुम हमारे ।
तुम्हींसे अभिमानिनी हम, नित सुहागिनि प्राणप्यारे ॥
तुम्हींको चाहैं सदा हम, तुम्हींमें मन हैं हमारे ।
तुम्हींमें रमतीं निरंतर, तुम्हींसे सुख सब हमारे ॥
तुम्हींसे जीवन हमारा, तुम्हीं रक्षक हो हमारे ।
तुम्हीं तन-मनमें भरे हो, तुम्हीं हो जीवन हमारे ॥
प्राण तुम, प्राणेश तुम, हो प्राणके आधार प्यारे ।
ध्यान तुम, ध्याता तुम्हीं हो, ध्येय तुम ही हो हमारे ॥
तुम्हीं माता पिता स्वामी बंधु सुत बित तुम हमारे ।
तुम्हीं हम हैं, हमीं तुम हौ, खेल हैं ये भेद सारे ॥

* * *

भक्त उद्धवरामजी ब्रह्मचारी

(लेखक—श्रीसोहनलालजी गुप्त)

भक्त उद्धवरामजीका जन्म बदायूँ जिलेमें हुआ था। आपको जन्मसे ही वैराग्य था। आप संसारकी प्रत्येक वस्तुको तृणवत् समझते और सदैव संसारकी असारताका खयाल कर उसमें फँसे हुए जीवोंको देखकर दुखी होते। आपके बड़े भाई महान् ईश्वरभक्त थे। कहते हैं कि उनको ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन कई बार हुए थे। बाल्यावस्थामें ही ईश्वरका गुणगान और कीर्तन सुनकर उनके हृदयमें श्रीकृष्णभक्तिका बीज अंकुरित हो उठा था और धीरे-धीरे उन्हें संसारसे वैराग्य हो गया था। एक बार इनके बड़े भाई पतितपावनी भगवती भागीरथीके तटपर स्नान करने हरद्वार गये। परम पुनीत जाह्नवीके जलके स्पर्शमात्रसे ही उन्हें रोमाञ्च हो आया। उसी समय उनके हृदयमें दैवी प्रकाश हुआ और भक्तवत्सल आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिने उनके सम्मुख प्रकट होकर उनको एक शालग्रामकी मूर्ति प्रसादरूपमें प्रदान की। घर लौटनेपर उन्होंने यह कथा उद्धवरामजीसे कही और उन्होंने वह मूर्ति उनसे माँग ली। वे उसकी नित्यप्रति विधिपूर्वक पूजा करते, जिससे उन्हें बड़ी शान्ति मिलती। एक बार इनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश हुआ और इनकी इच्छा भगवान्के लीलास्थलोंका दर्शन करनेकी हुई। तब आपको स्वप्नमें आदेश हुआ कि श्रीबदरिकाश्रम जाओ, वहाँ तुम्हें श्रीकृष्णानन्द ब्रह्मचारीके दर्शन होंगे, और तुम उन्हें गुरु बना लेना।

भगवान्की आज्ञानुसार आप बदरिकाश्रम पहुँचे। श्रीबदरिकाश्रमकी सुन्दर झाँकीके दर्शन करते ही आप प्रेममें विह्वल होकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उसी समय भाग्यसे श्रीकृष्णानन्दजी वहाँपर हरिदर्शनकी लालसासे आये। प्रेममें सराबोर हुए उद्धवरामजीको देखकर उनका मन स्वभावतः ही इनकी ओर आकृष्ट हो गया और उन्होंने इन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया, जिससे इन्हें चेतनता लाभ हुई। उन महर्षिकी उस प्रकारकी वेशभूषा और रूप देखकर इन्हें अपने स्वप्नका स्मरण हो आया और ये उन महात्माके चरणोंमें गिर पड़े और उन्हें अपना गुरु बना लिया। स्वामीजीने इन्हें गुरुमन्त्रकी दीक्षा दी, जिसे सुनते ही ये आनन्दावेशमें मूर्च्छित हो गिर पड़े। कुछ समय बाद आप अपने घर बदायूँ श्रीगुरुजीके साथ आये; वहाँ कुछ दिन अपने गुरुके साथ रहे, फिर उनके आदेशानुसार आप 'शीरपुर' (बम्बई-प्रान्तमें एक स्थान) चले गये। यहाँ आप नित्य गुरुसेवा और श्रीपातालेश्वर नामक महादेवकी पूजा-अर्चनामें तत्पर रहकर कालयापन करने लगे। कुछ समय बाद इनके गुरु नर्मदाके तीरपर स्थित एक स्थानमें, जो बिम्बलेश्वरके नामसे प्रसिद्ध है, चले गये; इससे आपको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु आपने इसे ईश्वराज्ञा समझकर शिरोधार्य किया और अपना सब समय ईश्वरभजन तथा श्रीपातालेश्वरकी सेवामें व्यतीत करने लगे।

एक बार आपको भगवान् शिवके साक्षात् दर्शनकी उत्कट लालसा हुई। मूर्तिरूप शिवकी पूजा-अर्चना तो ये श्रीपातालेश्वरके मन्दिरमें नित्य ही किया करते थे; परन्तु आज इनका मन साक्षात् शिव-दर्शनके लिये विशेषरूपसे अधीर हो उठा, आप शिवमूर्तिके सम्मुख जाकर प्रार्थना करने लगे—

'हे प्रभो ! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिसके फलस्वरूप मैं अभीतक आपके दर्शनके लाभसे वञ्चित हूँ। प्रभो ! मैंने सुना है कि आप

बड़े दयालु हैं, तो फिर आप मुझपर दया क्यों नहीं करते ? यह सत्य है कि मैं पतित हूँ, पर नाथ! आप तो पतितपावन कहलाते हैं। यह ठीक है कि मैं आपकी विधिपूर्वक पूजा करनेमें असमर्थ हूँ, पर प्रभो! आप तो आशुतोष कहलाते हैं। आप तो अकारण ही कृपा करनेवाले हैं। फिर हे प्रभो! क्यों नहीं मुझे दर्शन देते? प्रभो! दया करो, नाथ! इस दासको क्यों अभीतक अपने दर्शनके लाभसे वञ्चित कर रक्खा है?' यों कहते-कहते आप श्रीचन्द्रशेखरकी मूर्तिके सम्मुख प्रेमविह्वल हो फूट-फूटकर रोने लगे। भक्तकी पुकार सुनते ही भक्तवत्सलने साक्षात् प्रकट होकर भक्तको हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌को अपने सम्मुख उपस्थित देखकर इनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये और कण्ठ रुँध गया। आपने प्रभुकी स्तुति करनी चाही, पर अधिक प्रेमावेश होनेके कारण कर न सके; तब भगवान् चन्द्रमौलिने अपना वरद हस्त इनके मस्तकपर रक्खा और तब इन्होंने प्रभुकी बहुत प्रकारसे स्तुति की। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें वरदान माँगनेको कहा। परन्तु जो संसारकी असारताको समझ चुका है उसे इसके सुखकी परवा क्यों होने लगी? जिसके सामने त्रिलोकीके नाथ खड़े हों उसे और किस धनकी चाह रह सकती है? अन्तमें भगवान्‌के अनुरोध करनेपर आपने कहा—'हे दीनवत्सल! केवल आपकी कृपाकोरसे ही सब क्लेश दूर हो जाते हैं। मुझे तो आपने अनुग्रह करके दर्शन दे दिये हैं, अब मुझे किसी भी वस्तुकी चाह नहीं है। परन्तु यदि आपकी यही इच्छा है और आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपाकर मुझे यही वरदान दीजिये कि आपके चरणकमलोंमें मेरा विशेष अनुराग हो, और मेरे प्राण-पखेरू अभी आपके सामने ही निकलकर आपमें विलीन हो जावें।' इतना कहते ही श्रीउद्धवरामजीके प्राण-पखेरू इस नश्वर शरीरको छोड़कर परमब्रह्ममें जा मिले!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

सती जयदेवीजी

[कहानी]

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचंदजी)

(१)

तेईस साल पहलेकी घटना है। जिला मैनपुरीमें जरावली नामक एक गाँव है। उस गाँवमें रामलाल नामक एक ब्राह्मण युवक रहता था। रामलालकी अवस्था तीस सालकी थी। वह बटेश्वरके मेलेमें बैलोंकी एक जोड़ी खरीदने गया था। जोड़ी तो मिली नहीं, रामलाल बीमार होकर घर लौट आया। उसकी स्त्रीका नाम जयदेवी था। जयदेवीकी उमर बाईस सालकी थी। ज्यों ही जयदेवीने बीमार पतिका मुख देखा त्यों ही उसने कह दिया कि 'ये आठ दिनके मेहमान हैं।' घरके लोग इलाज कराने लगे। जयदेवी उनकी दवादारूमें शरीक नहीं हुई और बोली—'इनके प्राणोंकी रक्षा भगवान् धन्वन्तरितक नहीं कर सकते। अगले सोमवारको इनका शरीर छूट जायगा।' परन्तु किसीने जयदेवीकी बातपर विश्वास नहीं किया। लोगोंने समझा कि जयदेवी सनक गयी है। भला, भविष्यकी बात कौन बता सकता है? जयदेवीने पचास रुपयेकी रेजगारी अपने पास जमा की। इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी और अठन्नी चार तरहकी रेजगारी मँगायी। कपूर, सिंदूर और मेवा भी मँगाया। घरवाले कहने लगे—'पति तो मर रहा है और यह सिंदूर मँगा रही है। मालूम होता

है कि पागल हो गयी है ।' जयदेवी रात-दिन तुलसीके पास बैठी रामायणका पाठ करती रहती थी । भोजन एक प्रकारसे त्याग ही दिया था । जयदेवीके तेजके मारे कोई घरवाला उसके सामने कुछ कह नहीं सकता था । रानीकी तरह जयदेवी भी स्वतन्त्र थी ।

(२)

सोमवारके दिन प्रातःकाल पण्डित रामलालका स्वर्गवास हो गया । घरमें कुहराम मच गया । परन्तु जयदेवीकी आँखोंमें आँसू न थे । वह अन्य दिनोंकी अपेक्षा आज विशेष आह्लादित दिखलायी दे रही थी । लोगोंने समझा कि जयदेवी सचमुच पागल हो गयी है । जयदेवीने घूँघट डालना बंद कर दिया । वह स्नान करके रेशमी साड़ी पहनने लगी । इसके बाद उसने समस्त आभूषण धारण किये । आँखोंमें काजल लगाया और सिरमें सिंदूर लगाया । मस्तकपर बेंदी लगायी और चाँदीके बिछिया पहिने । उसका सुहागरात-जैसा श्रृंगार देख घरवाले जल-भुन गये । परन्तु न तो जयदेवीसे किसीने पूछा कि यह सब उलटा काम क्यों किया जा रहा है और न जयदेवीने ही किसीसे कहा कि मैं सती होने जा रही हूँ । लोगोंने रथी बनायी और मृतकको श्मशानकी ओर ले चले । जयदेवी भी पीछे-पीछे चल दी । एक थालीमें मेवा, फूल और रेज़गारी भरी थी । वह थाली जयदेवी बायें हाथपर रक्खे थी और दाहिने हाथसे कभी फूल, कभी मेवा और कभी रेज़गारी फेंकती जाती थी । मेवा और रेज़गारी तो पृथ्वीपर गिरती जाती थी, जिसे दीन-दुखी लोग उठाते जाते थे; परन्तु फूल आकाशको ओर चले जाते थे और गुप्त हो जाते थे । जब सब लोग श्मशानपर पहुँचे तब मृतकको स्नान कराया गया और कफ़न पहनाया गया । इसके बाद शवको चितापर लिटा दिया गया । उसी समय जयदेवी भी चितापर चढ़ आयी और पतिका मस्तक अपनी गोदमें रखकर बैठ गयी । गाँवके मुखियाकी निगाह पड़ी । उसका माथा ठनका ।

(३)

मुखिया—आप वहाँ क्यों बैठी हैं ?

जयदेवी—अन्धा है क्या ? दिखलायी नहीं पड़ता कि मैं सती होना चाहती हूँ ।

मुखिया—सरकारकी इच्छा नहीं है कि कोई सती हो ।

जयदेवी—सरकारकी इच्छाको तुम-जैसे नासमझ नहीं समझ सकते । सरकार परीक्षा लेकर सती होने देती है । ताकि प्रथा बनाकर लोग असतियोंको भी ज़बरदस्ती न जला मारें ।

मुखिया—(चौकीदारसे) तुम अभी भागते हुए थानेमें जाओ और थानेदारको साथ ही लेते आओ । कहना कि रामलाल मर गया है और उसकी स्त्री सती होना चाहती है । मुखियाका रोकना नहीं मानती ।

जयदेवी—(मुखियासे) जबतक तेरा बाप यहाँ आवेगा तबतक क्या मैं बैठी ही रहूँगी ?

मुखिया—कहाँ चली जाओगी ?

जयदेवी—सती हो जाऊँगी । पतिको लेकर इस संसारसे गायब हो जाऊँगी । जहाँ तुम्हारे-जैसा पापी और मूढ़ आदमी मुखिया हो वहाँ क्या मैं तबतक बैठी रहूँगी ?

मुखिया—जबतक थानेदार नहीं आ जायगा तबतक तुम सती नहीं हो सकती ।

जयदेवी—कौन रोकेगा ?

मुखिया—मैं रोकूँगा । यहाँपर जो दो-तीन हजार आदमी जमा हैं, सब मेरी आज्ञानुसार काम करेंगे ।

जयदेवी—तुम किस तरह मुझे रोकोगे ?

मुखिया—आग नहीं लगाने दूँगा ।

जयदेवी—श्यामलाल ! जाओ घरसे पाँच सेर घी ले आओ ।

श्यामलाल था जयदेवीका देवर । वह अपनी भाभीका बड़ा मान किया करता था। वह जयदेवीका भक्त था । मुखियाके मने करनेपर भी श्यामलाल घरकी ओर भागा और घी ले आया । जयदेवीने वह घी चितापर इधर-उधर छिड़क दिया ।

जयदेवी—श्यामलाल ! जाओ, आग ले आओ ।

मुखिया—खबरदार श्यामलाल ! अगर आग लेनेको कदम बढ़ाया तो इसी नीमसे बँधवा दूँगा ।

श्यामलाल—आप अपने कर्तव्यमें स्वतन्त्र हैं और मैं अपने कर्तव्यमें ।

ज्यों ही श्यामलाल आग लेने गाँवकी तरफ दौड़ा त्यों ही मुखियाके हुक्मसे पाँच आदमियोंने उसे पकड़ लिया और रस्सीद्वारा नीमके वृक्षसे कसकर बाँध दिया ।

जयदेवी—तुम आग नहीं मिलने दोगे ?

मुखिया—नहीं । जब थानेदार आ जावे तब चाहे आग मँगाना और चाहे पानी मँगाना ।

जयदेवी—बिना आगके मैं सती नहीं हो सकती ?

मुखिया—कैसे हो सकती हो ?

जयदेवीने अपने सारे आभूषण उतार डाले । गहनोंकी पोटली श्यामलालके आगे फेंककर कहा—'गरीबोंको बाँट देना । तुम हमेशा खुश रहोगे । परमात्मा तुम्हारी रक्षा करेंगे ।'

मुखिया—अगर तुम सती हो तो आग पैदा कर लो ।

जयदेवी—मैं स्वयं आग हूँ । आगमें घुसनेसे मुझे आँच नहीं लगती, क्योंकि आग आगको नहीं जलाती । मैं अपनी आगसे अपनेको बादमें जलाऊँगी, पहले तुझे जलाऊँगी ।

इतना कहकर जयदेवीने पतिके कानमें कुछ कहा । इसके बाद उसने कपूर अपने हाथोंमें मल लिया । तीन बार ताली बजाकर ज्यों ही उसने नेत्र ऊपर उठाये त्यों ही मुखिया मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । सतीके नेत्रोंसे मानो वही ज्योति निकल रही थी जो कामदेवको भस्म करनेके लिये शिवजीके नेत्रोंसे निकली थी । भीड़में दो वैद्य और एक डाक्टरी पढ़नेवाला छात्र भी मौजूद था । तीनोंने बहुत उपचार किया; परन्तु मुखियाकी हालत सुधरना तो दूर, उलटी बिगड़ती गयी । मुखियाकी स्त्रीने जो यह दारुण घटना सुनी तो वह सिर खोले रोती हुई सतीके पास आयी और बारंबार साष्टांग प्रणाम करती हुई कहने लगी—'माता ! तुम्हारे प्रभावको मुखिया नहीं जानता । जगदम्बा, मेरे सुहागकी रक्षा करो । देवी, मुझे विधवा बनाकर सती मत होना । मुखियाको अपना एक अनजान बच्चा समझकर क्षमा कर दो । मैं आँचल पसारकर अपने पतिके प्राणोंकी भीख आपसे माँगती हूँ, महारानी !'

दयालु जयदेवीने अपने दायें हाथको ऊपर उठाकर आकाशकी ओर देखकर कहा—'क्षमा कर दो !'

(४)

सचेत होकर मुखिया खड़ा हो गया । आध घंटेतक वह बेहोश रहा था । उसकी ओर देखकर जयदेवी मुस्करायी और बोली ।

जयदेवी—अब आग दोगे या अब भी नहीं ?

मुखिया—प्राण रहते आग नहीं लगाने दूँगा ।

जयदेवी—तो रोको, आग आ रही है ।

इतना कहकर जयदेवीने फिर कपूर हाथोंमें रगड़ा और दोनों हाथोंसे तीन बार ताली बजायी । उसने अपने स्वामीके कानोंमें कुछ कहा और दोनों हाथ सूर्यनारायणकी ओर करके आग माँगी । जयदेवीने सूर्यनारायणसे कहा—'यदि मैं वास्तवमें सती होऊँ तो आग भेजो, भगवन् !'

जयदेवीके दोनों हाथ जलने लगे । चितामें भी अपने-आप आग लग गयी । जबतक थानेदार साहब और दीवान वहाँ पहुँचे, तबतक चिता जल चुकी थी और भस्म रह गयी थी ।

दौराजजके यहाँ मुकदमा चला । गवाहियाँ लेकर दौराजजने सबको छोड़ दिया । जजने फैसलेमें लिखा था—'जयदेवीको सती होनेमें किसीने सहायता नहीं दी । उसने मुखियापर बिजलीका प्रहार कर दिया था । एक घंटेमें मुखियाकी मृत्यु हो जाती । जयदेवीने आग खुद ही पैदा कर ली थी । इस प्रकारकी तेज़ मिजाज सती अभीतक मेरे सुननेमें नहीं आयी । वह सच्ची सती थी और कोई उसे उसके कर्तव्यसे विचलित नहीं कर सकता था ।'

पबलिकने बहुत अच्छा सतीचौरा निर्माण किया । जज और थानेदारने भी चंदा दिया था ।

वसन्त-वेला

[गद्य-गीत]

(लेखक—पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग)

जीवनकी इस पतझड़ वेलामें—अन्तरकी इस निर्दल निकुञ्जमें, क्या आओगे, ऋतुराज बन, अपना भव्य साज सजाकर ? नवलताका उद्भव कर—मृदुलताका सञ्चार कर, आओगे क्या, इस सूनेपनके संसारमें, मञ्जुल पीताम्बर धारण कर ?

हा ! मिट गया, इस उर-उद्यानकी वल्लरियोंसे सौन्दर्य—उठ गया, सुमन-राशिसे पावन परिमल !!

विरहिणी कोकिलाकी करुण रागिनीसे अपना राग मिलाकर मेरा यह भग्न हृदय भी कर रहा है, पागल प्रलाप !!

अनन्त कालसे—अचिन्त्य वेदनासे !

कितनी वसंतें बीत गयीं—कितनी कोकिलाओंने सूने-सूखे बागोंमें अपनी कलकाकली भरी—कितनी विरहिणियोंकी व्योमस्पर्शिनी ज्वाला-लपटोंने कराल लीलाएँ दिखायीं !!!

पर हा ! न आये, प्राणधन—न आये, जीवनेश !!

क्या अब भी बनी रहेगी, यह वसन्त नीरस ? होगा, कभी इस नीरसताका अन्त ? और आवेगी, इस जीवनमें वही सुमनसम उत्फुल्ल प्यारी वसन्त-वेला—अपने सर्वस्व 'ऋतुराज' को लेकर !!!

रासलीला-रहस्य

(लेखक—एक महात्मा)

[गतांकसे आगे]

इस श्लोकका एक अर्थ यह भी हो सकता है—'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान्‌ने भी रमण करनेकी इच्छा की। किस लिये ? 'ताः वीक्ष्य'—अज्ञानिजनरूपा जो प्रजा है उसे देखकर उसका कल्याण करनेके लिये। वह प्रजा कैसी है—'रात्रीः'—रात्रिके समान अज्ञानरूप तमसे व्याप्त। ये सब प्रजाएँ अनादि हैं; अतः भगवान्‌का रमण उनके कल्याणके ही लिये है। इसके सिवा वह प्रजा 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' भी है—

'शरदायां जाड्यमय्यां व्यवहारभूमौ उत्फुल्लमल्लिकास्विव सुखबुद्धयः'

अर्थात् सुखदुःखमोहात्मिका जो जाड्यमयी व्यवहारभूमि, जो कि उत्फुल्लमल्लिकाके समान आपातरमणीय है उसमें सुखबुद्धि करनेवाली। तात्पर्य यह है कि दुःखमयी व्यवहारभूमिमें सुखबुद्धि करनेवाली प्रजाको स्नेहार्द्र दृष्टिसे देखकर रमणकी इच्छा की; क्योंकि अज्ञानी प्रजाकी सुखदुःखमोहातीत परब्रह्ममें स्थिति होना अशक्य है। अतः जो प्राकृत लीलाएँ उनकी अभिरुचिके अनुकूल हैं, उनके कल्याणके लिये भगवान्‌ने उन्हींके समान रमण करनेकी इच्छा की। इसलिये—

'योगमायामुपाश्रितः'—'अयोगेषु चित्तवृत्तिनिरोधादिनिःश्रेयससाधनशून्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य'

अर्थात् योग—चित्तवृत्तिनिरोधादि निःश्रेयसके साधनोंसे शून्य जो प्रजा उसपर जो कृपा वही नहीं है माया, उसका आश्रय लेकर रमण करनेका विचार किया। क्योंकि जो शुद्ध परब्रह्म अशेष-विशेषशून्य है उसका साक्षात्कार तो निरोधादिद्वारा ही किया जा सकता है।

इसलिये इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है—

'अयोगेषु सर्वथा अयोग्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य'—

—जो प्राणी अत्यन्त निकृष्ट कोटिके हैं उनके ऊपर जो कृपा उसका आश्रय लेकर रमण करनेका विचार किया। भगवान् पतितपावन हैं, इसीसे भावुक भक्त अपनेको सर्वसाधनशून्य देखकर भी भगवत्कृपाके भरोसे निश्चिन्त रहते हैं।

हौं पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने।

अतः यह भगवान्‌की लीला मानो अत्यन्त अयोग्य पुरुषोंके ऊपर कृपा करनेके ही लिये है; क्योंकि भगवान्‌के जो वात्सल्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि गुण हैं उनकी सफलता तो बिना पतितोंके हो ही नहीं सकती। वस्तुतः उदारता और दीनवत्सलता ये सब तो इन्हीं अंशोंको लेकर होते हैं कि स्वयं परमोत्कृष्ट होकर भी अत्यन्त निम्न कोटिके पुरुषोंके साथ मिलकर उनके साथ पूर्ण आत्मीयताका बर्ताव करे। किन्तु निर्विशेष परब्रह्म या गोलोकवासी भगवान्‌के साथ ऐसे पतितोंका सहवास कैसे हो सकता है ? वहाँ उन निकृष्टातिनिकृष्ट पुरुषोंके आत्मीय होकर भगवान् कैसे विहार कर सकते थे ?

अथवा—

'अयोगेषु स्वप्नेऽप्ययुज्यमानेषु या माया कृपा तामुपाश्रितः'

—जिनकी मनोवृत्ति स्वप्नमें भी भगवान्‌की ओर नहीं जाती ऐसे अपनेमें अयुक्त पुरुषोंके प्रति जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की; क्योंकि यह लीला अत्यन्त साधनशून्योंको भी अपनी ओर आकर्षित करनेवाली है। अतः भगवान्‌ने बहिर्मुख पुरुषोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये ही यह लीला की थी। निर्विशेष भगवान्‌में तो प्राकृत पुरुषोंकी वृत्ति पहुँचनी अत्यन्त कठिन है; इसीसे भगवान्‌ने यह लोकमनोभिरामा लीला की थी, जिससे विषयी और पशुप्राय जीवोंका चित्त भी भगवान्‌की ओर लग जाय। अहो ! भगवान्‌का यह खेल कैसा मनोमोहक था ?

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरूणाम्।

उसे देखकर जो गतिमान् थे उनमें निस्पन्दता आ जाती थी और वृक्षोंकी रोमावली खड़ी हो जाती थी। अर्थात् चेतन पदार्थोंमें जडता आ जाती थी और जडोंमें चेतनकी क्रिया होने लगती थी। अतः भगवान्‌ने बहिर्मुख पुरुषोंको

अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ही यह अति अद्भुत मनोरम लीला की थी ।

ऐसा कहा जाता है कि प्राणियोंके पतनका जो प्रधान हेतु है वह भगवद्विमुखता ही है । तथा भगवदुन्मुखता ही सर्वानन्दका साधन है ।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुधमाभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मम् ॥

अर्थात् जो पुरुष भगवान्से विमुख है जो नामरूपात्मक प्रपञ्चमें ही व्यासक्त है उसे ही भगवान्की मायासे मोहित होकर भगवद्विस्मृति हुआ करती है । स्वरूपविस्मृतिके पश्चात् फिर विभ्रम होता है, जो असङ्ग आत्मामें सङ्गका, अकर्तामें कर्तृत्वका और एकमें अनेकत्वकी भ्रान्ति करा देता है । उस विभ्रमसे द्वैतबुद्धि होती है, द्वैतबुद्धिसे भगवद्विमुखता होती है और भगवान्से विरोध होनेपर ही भय होता है । अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि अनन्यबुद्धिसे उस पूर्ण परब्रह्म परमात्माका ही भजन करे । इससे माया इस प्रकार भाग जाती है जैसे क्रुद्ध तपोधनोंके सामनेसे वेश्या ।

मायासे ही स्वरूपकी विस्मृति हुआ करती है और जब भगवदुन्मुख होनेपर वह भाग जाती है तो स्वरूपसाक्षात्कार हो ही जाता है । और फिर विभ्रमका उच्छेद हो जानेके कारण निर्भयताकी प्राप्ति हो जाती है । अतः भगवान्ने अज्ञानीरूपा प्रजाका उद्धार करनेके लिये ही यह मार्ग निकाला था, क्योंकि भगवान्की माया बड़ी प्रबल है, उससे वे ही बच सकते हैं जो एकमात्र भगवान्का ही आश्रय लेते हैं ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

अतः भगवान्ने सर्वसाधनशून्य पामर पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही यह लीला की थी, जिससे कि किसी भी प्रकार उनका चित्त भगवान्में लगे ।

अथवा 'ताः' शब्दसे मुमुक्षुरूपा प्रजा समझनी चाहिये । उसपर कृपा करनेके लिये भगवान्ने रमणकी इच्छा की । वह मुमुक्षुरूपा प्रजा कैसी है ? रात्रीः—'रा दाने' इस कोशके अनुसार दान करनेवाली अर्थात् दानोपलक्षित यज्ञादि कर्म करनेवाली । जैसा कि कहा है—'तमेतं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसा ब्रह्म विविदिषन्ति' । अथवा 'भगवति स्वरूपेण सह सर्वसमर्पयित्री' जो भगवान्में अपने स्वरूपके सहित सर्वस्व समर्पण करनेवाली है; तथा जो 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' है ।

'शरादिवत् घ्नन्ति अवखण्डयन्ति उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासां सा'—

अर्थात् उत्फुल्लमल्लिकाओंके समान जो स्त्री-पुत्रादिरूप सांसारिक सुख हैं उनका जो शरादि अस्त्र-शस्त्रके समान खण्डन करती है उस मुमुक्षुरूपा प्रजाको देखकर । इससे उन मुमुक्षुओंकी पूर्ण योग्यता दिखायी गयी है, क्योंकि पूर्ण मुमुक्षु तभी होता है जब कि उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट सांसारिक सुख भी दुःखरूप दिखायी देने लगें । वास्तवमें तो मुमुक्षुता होती ही उस समय है जब संसार भयानक दिखायी देने लगे । जिसे सांसारिक सुख शरादिके समान छेदन करनेवाले दिखलायी देते हैं वही मुमुक्षु हो सकता है । ऐसी प्रजाओंको देखकर—

'योगमायामुपाश्रितः—योगाय स्वेन सहासम्बन्धविच्छेदाय'

अपने साथ उनके असम्बन्धका छेदन करनेके लिये, अर्थात् अपने साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करनेके लिये भगवान्ने रमणकी इच्छा की, क्योंकि यहाँ केवल व्रजदेवियोंके साथ ही क्रीडा नहीं करनी थी, बल्कि श्रुतियोंका आवाहन करके उनका भी अपनेमें तात्पर्य दृढ़ करना था ।

भगवान्की यह लीला ओषधिरूपा होगी । जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषोंके लिये यह श्रोत्रमनोभिरामा है वैसे ही मुमुक्षुओंके लिये यह भवौषधिरूपा है । अतः—

'ताः मुमुक्षुरूपाः प्रजाः वीक्ष्य ताश्च श्रुतीः आहूय ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे'—

उस मुमुक्षुरूपा प्रजाको देखकर और उन श्रुतियोंका भी आह्वान कर उनके साथ रमण करनेकी इच्छा की । अर्थात् मुमुक्षुओंको संसारसे निर्विण्ण देखकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की । मुमुक्षुलोग संसारसे निर्विण्ण क्यों हैं ? इसका हेतु यह है—वे विशुद्धान्तःकरण हैं, इसलिये विवेकसम्पन्न हैं और विवेकीके सब

कुछ दुःखरूप ही है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'। उनके लिये संसारके सारे सुख भाले और बर्छियोंके समान हो जाते हैं। उनके उद्धारका उपाय क्या है? यही कि श्रुतियोंका परम तात्पर्य एकमात्र परब्रह्ममें ही निश्चित हो। किन्तु पहले यह होता नहीं था, अतः भगवान्ने उनका आह्वान कर अपनेमें उनका तात्पर्य दृढ़ किया। यहाँ जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने व्रजाङ्गनाओंका आवाहन किया था उसी प्रकार व्यासरूपसे उन्होंने ब्रह्मसूत्ररूप वेणुनादद्वारा समस्त श्रुतियोंका आवाहन करके उनका परम तात्पर्य परब्रह्ममें निश्चित किया है।

गिरा अर्थ जलु बीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न।

यहाँ अर्थ तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा है और शब्द ये श्रुतियाँ हैं। अतः श्रुतियाँ तरङ्ग हैं और ब्रह्म समुद्र है। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ तरङ्ग हैं और भगवान् श्रीकृष्ण समुद्र हैं। इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध है। उन श्रुतियोंका आवाहन कर अर्थात् अपनेमें उनका तात्पर्य निश्चयकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की।

यहाँ भावुकोंकी दृष्टिसे एक और ही अर्थ होता है—

'योगमायामुपाश्रितः'—यः 'अगमायाम् उपाश्रितः' —'न गच्छतीति अगा अगा चासौ मा अगमा'

—अर्थात् नित्यश्लिष्टा वृषभानुनन्दिनी। वह कौन है? —यामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे, अर्थात् जिसका आश्रय लेकर भगवान्ने भी रमण करनेकी इच्छा की। क्यों इच्छा की? शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रियोंको देखकर।

अथवा यों समझो—

योगमायामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे— योगाय अघटितघटनाय या माया इति योगमाया तामुपाश्रितः।

अर्थात् जो माया अघटितघटनापटीयसी है उसका आश्रय लेकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की। यहाँ भगवान्को अपना ऐश्वर्य छिपाना था, क्योंकि यह मधुर लीला है, अतः इसमें ऐश्वर्यभाव रसका विघातक है। इसमें प्राकृतांश ही अधिक उपयुक्त है। इसीसे भगवान्की जिन लीलाओंमें प्राकृतांश विशेष है उन्हींका महत्त्व भी अधिक है, क्योंकि प्राकृत व्यापारोंमें व्यासक्त प्राणियोंको आकर्षित करनेमें प्राकृत भाव अधिक उपयोगी है।

अतः 'योगमायामुपाश्रितः—योगमायां सामीप्येन आश्रितः न तु साक्षात्'—सामीप्यवश योगमायाका आश्रय लेकर, साक्षात् रूपसे नहीं, जिस प्रकार स्वाभाविक होनेके कारण सूर्य भगवान् अपनी किरणोंका आश्रय लेते हैं। उन्हें किरणें धारण नहीं करनी पड़तीं, बल्कि जहाँ वे रहते हैं वहाँ उनकी किरणें भी रहती ही हैं, इसी प्रकार भगवान्की योगमाया भी उनके साथ रहती ही है। अतः अघटनघटनमें समर्थ जो योगमाया उसका सर्वथा समाश्रयण न करके भगवान्ने प्राकृतवत् लीलाएँ कीं, जिससे प्राकृत प्राणियोंका विशेष आकर्षण हो सके।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान्की योगमाया सर्वदा उनके साथ रहती है, इसलिये हठात् अपना काम कर देती है। जब मिट्टी खानेके समय भगवान्ने मुख देखनेको कहा तो उन्होंने यह नहीं समझा कि मैया सचमुच मेरा मुख देखेगी। वे यही समझते थे कि ऐसा कहनेसे मुझे निर्दोष समझकर वह छोड़ देगी। परन्तु जब उसने कहा 'दिखा' तो उनका मुख फैल गया।* भगवान्ने मुख फैलाया नहीं बल्कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे कमल खिल जाता है उसी प्रकार माताके कोपरूप सूर्यका ताप पाकर भगवान्का मुखकमल खुल गया। उस समय योगमायाने देखा कि मुखमें मिट्टी देखकर माता हमारे प्रभुको मारेगी; इसीसे उसने उनके मुखमें सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया। इसी प्रकार इस लीलामें भी योगमाया कई ऐश्वर्यभाव दिखावेगी।

अथवा भगवान्ने उन रात्रियोंको देखकर 'योगमायामुपाश्रितः—योगाय संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां योगमायां वंशीम्'—व्रजाङ्गनाओंके योग—संश्लेषके लिये माय† (शब्द) जिसमें रहते हैं उस वंशीका नाम योगमाया है; उसका आश्रय करके भगवान्ने व्रजाङ्गनाओंको बुलाकर रमणकी इच्छा की। यह उचित भी है, क्योंकि जिस प्रकार गिरिराजका आश्रय लेकर भगवान्ने इन्द्रके दर्पका दमन किया था उसी प्रकार कन्दर्पदर्पदमन इसके

---

* यहाँ अकर्मक 'व्यादत्त' क्रियाका प्रयोग किया गया है।
(देखिये भा० १०। ८। ३६)

† मीयते वक्ता अनेन इति मायः शब्दः।

द्वारा होगा। वंशी क्या है ? यह महारुद्र है और कामदेवके दर्पका दमन महारुद्र ही कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि अपने संसर्गद्वारा स्वस्वरूप बना लेनेपर ही किसीके साथ रमण हो सकता है। वस्तुतः भगवद्व्यतिरिक्त तो कोई पदार्थ है नहीं। भगवद्रूपमें ही भिन्नताकी प्रतीति हुआ करती है; और भगवत्सम्बन्धसे ही उसकी निवृत्ति होकर भगवद्रूपताकी प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध क्या है ? व्यवधानकी निवृत्ति। व्यवधानके निवृत्त होते ही भगवान्से अभेद हो सकता है। अतः भगवान्ने वंशीध्वनिद्वारा अपनी अधरसुधाका सञ्चार करके समस्त वृन्दारण्य और तद्वर्ती गुल्म, लता एवं गोपाङ्गनादिको स्वस्वरूप बना दिया। इसीसे 'योगाय भगवत्संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां वंशीं उपाश्रितः'—योग अर्थात् भगवत्संश्लेषके लिये जिसमें माय अर्थात् शब्द है उस वंशीका आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। मानो उस वंशीकी उपासना करके ही भगवान् व्रजाङ्गनाओंके मनोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए।

भगवान्की अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमाया श्री, भूः और लीलारूपा है। इनमेंसे प्रधानतया लीलाशक्तिका आश्रय लेकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। पहले जहाँ मुमुक्षुरूपा प्रजाका उल्लेख किया है वहाँ 'योगमायामुपाश्रितः' इस पदका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—'योगाय स्वस्मिन् योजनाय या माया कृपा' अर्थात् योग यानी अपनेमें जोड़नेके लिये जो माया (कृपा); अथवा 'योगाय स्वलीलासुखे योजनाय या माया कृपा'—योग यानी अपने लीलासुखमें युक्त करनेके लिये जो कृपा; अथवा 'यः भगवान् अगमायामुपाश्रितः'—जो भगवान् अगमामें उपाश्रित हैं उन्होंने रमणकी इच्छा की। अगमा क्या है ? 'न गच्छति चलति इति अगः कूटस्थं ब्रह्म तस्य मा प्रमा' अर्थात् जो गमन नहीं करता उस कूटस्थ ब्रह्मका नाम अग है, उसकी प्रमा यानी अपरोक्ष साक्षात्कार ही अगमा है;'तस्यां अगमायां तत्सम्पादने मुमुक्षुभिरुपाश्रितः यः सः'—उस अगमामें अर्थात् उसका सम्पादन करनेमें जो मुमुक्षुओंद्वारा आश्रय किया जाता है, उस परब्रह्मने मुमुक्षुओंपर अनुग्रह करनेके लिये ही रमण करनेको मन किया, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप श्रीहरिका अपरोक्ष साक्षात्कार उनकी लीलाकथाओंके अनुशीलनसे ही होता है।

पानेन ते देव कथासुधाया
विवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं वरिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

भाव यह है कि हे देव ! कोई तो आपके कथामृतपानसे बढ़ी हुई भक्तिके कारण विशुद्धान्तःकरण होकर वैराग्य ही जिसका सार है ऐसा बोध प्राप्त करके आपके निर्द्वन्द्व धामको प्राप्त होते हैं और कोई आत्मसंयमके द्वारा समाधि लाभकर उससे उत्कृष्ट प्रकृतिको जीतकर आप परमपुरुषको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन्हें श्रम होता है और आपकी सेवामें कोई कष्ट नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्ने यह लीला मुमुक्षुओंके कल्याणके ही लिये की थी, जिससे वे उस लीलाकथाका पान करते हुए भगवान्को प्राप्त कर सकें।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पद समझा जाय तो 'न युज्यते उपाधिसङ्गं न प्राप्नोति इति अयोगः तस्य मा प्रमा तस्यामुपाश्रितः' अर्थात् जो उपाधिसंसर्गको प्राप्त नहीं होता उसकी प्रमा यानी अपरोक्षानुभवके लिये जो मुमुक्षुओंद्वारा आश्रित है। अथवा 'योगः उपाध्यध्यासः, तस्य अभावः अपवादः अयोगः'—उपाधिजनित अध्यासके अभावका ही नाम अयोग है, उसकी जो प्रमा है उसका नाम अयोगमा है, उस अयोगमाके लिये जो भगवान् मुमुक्षुओंद्वारा उपाश्रित है उसने रमणकी इच्छा की, क्योंकि यह नियम है कि उपाधिजनित अध्यासका निराकरण सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्मके ज्ञानसे ही होता है। यह ज्ञान कब होता है ? इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

अर्थात् मेरी पवित्र गाथाओंके श्रवण और कीर्तनद्वारा जैसे-जैसे यह अन्तरात्मा स्वच्छ होता जाता है वैसे-वैसे ही

साधक सूक्ष्म वस्तुका साक्षात्कार करता जाता है, जिस प्रकार कि अञ्जनयुक्त नेत्र ।

अतः उपाध्यध्यासकी निवृत्तिका एकमात्र साधन भगवल्लीलाओंका अभ्यास ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स त्वं न चेद्धातरिदं निजं वपु-
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥

हे भगवन् ! यदि आप यह लीलामय विग्रह धारण न करें तो अज्ञानका भेदन करनेवाले विज्ञानकी सफाई ही हो जाय । यदि कोई कहे कि हम अनुमान कर लेंगे, क्योंकि चक्षु, श्रोत्र एवं त्वचा आदि इन्द्रियोंद्वारा जो विषयोंका ग्रहण हुआ करता है वह आत्मतत्त्वके अस्तित्वका द्योतक है। जिस प्रकार शीतलता और उष्णतासे रहित लोहपिण्डमें दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व देखकर वहाँ दाहकत्व-प्रकाशकत्व समर्पण करनेवाले नित्य-दाहकत्व-प्रकाशकत्वगुण-विशिष्ट अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयप्रकाशनसामर्थ्यसे चिन्मय आत्माका अनुमान होता है। साथ ही जिस प्रकार यह देखा जाता है कि लोहपिण्डादिमें जो दाहकत्व-प्रकाशकत्व है वह सातिशय है और अग्निमें निरतिशय । उसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियादिका प्रकाशक आत्मा निरतिशय ज्ञानमय है । परन्तु यह केवल अनुमान ही तो है, इसे साक्षात्कार नहीं कह सकते । अतः यदि साक्षात्कार करना है तो भगवान्‌की लीला आदिका श्रवण करना चाहिये । इससे प्रेमकी अभिवृद्धि होगी । प्रेमसे चित्तमें शिथिलता आवेगी, इससे वह निर्वृत्तिक होगा और निर्वृत्तिक चित्तपर ही परब्रह्मका प्रकाश होगा । अतः भगवत्साक्षात्कारके लिये भगवल्लीलाओंका श्रवण-कीर्तन अनिवार्य ही है । इसीसे भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की ।

कहावतें

(स्वामी अग्रदासजी)

(१)

"गंग कठौती माझ है, जो मन चंगा होइ ।"
जो मन चंगा होइ अविद्या-संग निवारै ।
श्रीगुरुके उपदेस, हृदय हरिपद दृढ धारै ॥
बातनहीके दीप, तिमिर कहुँ जात न देख्यौ ।
जलप्रबाह पर चित्र, कहो, कौने अवरेख्यौ ॥
'अग्र' भरम कहि मन कथा, करी भरोस न कोइ ।
गंग कठौती माझ है, जो मन चंगा होइ ॥

(२)

"जो दिन जाइ अनंद में, जीवनको फल सोइ ।"
जीवनको फल सोइ, कृपानिधि उर मैं धारै ।
मंत्री ज्ञान विवेक, असुभ अज्ञान निवारै ॥
पदुम-पत्र जिमि रहै, काल सम विषय पिछानै ।
जग-प्रपंच सब झूठ, सत्य सीतापति जानै ॥
'अग्र' अजाके स्वाद तें, त्रिपित न देख्यौ कोइ ।
जो दिन जाइ अनंद में, जीवनको फल सोइ ॥

(३)

"इक द्वै द्वै अरु चूपरी, पुनि लाडू दोउ हाथ ।"
पुनि लाडू दोउ हाथ, गाथ हरिजन मिलि गावै ।
जीवत जस जग माहिं, परम गति सो पुनि पावै ॥
देव-पितर-नर-लोक, कोऊ बाँधो नहिं करई ।
अनन भजन गुरुगदित, नित्त गोबिंद अनुसरई ॥
'अग्र' उभय ताकी बनी, है संतनके साथ ।
इक द्वै द्वै अरु चूपरी, पुनि लाडू दोउ हाथ ॥

दरिद्र और श्रीमान्

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।

श्यामा—बहिन, मैं सुनती हूँ कि ईश्वर सम है, परन्तु यह जगत् तो प्रत्यक्ष ही विषम दिखायी देता है। यहाँपर कोई दरिद्र है तो कोई श्रीमान् है, कोई सुखी है तो कोई दुखी है। फिर ईश्वरने ऐसे विषम जगत्को क्यों और कैसे बनाया ? हरिभक्तोंका कथन है कि हरि ही जगत् है और जगत् ही हरि है। इस कथनसे दरिद्र और श्रीमान् सब हरि ही हुए। परन्तु देखनेमें यह आता है कि दरिद्र प्रायः दुखी रहता है और श्रीमान् प्रायः सुख भोगता है। इस प्रकार दुखी और सुखी भी हरि ही हुए। किन्तु जब हरि ही दुखी और सुखी हुए तो फिर वे सम कहाँ रहे ? स्वभाव तो किसीका बदलता नहीं है। जैसे आग उष्ण है, वह शीतल नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम हरि भी विषम नहीं हो सकते। विषम न होनेसे दरिद्र या श्रीमान् नहीं हो सकते तथा दरिद्र या श्रीमान् न होनेसे सुखी या दुखी नहीं हो सकते। परन्तु जगत्में तो इस प्रकारकी विषमताएँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, इसलिये यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध पड़ता है।

कोकिला—ठीक है बहिन, पर तुम्हारा यह प्रश्न अपने आत्मास्वरूप हरिको न जाननेके कारण ही उठ रहा है। वरना हरि तो निर्गुण अविकारी होनेके कारण सर्वदा एक समान ही हैं। हरिके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवालोंको ही जगत्में दरिद्र और श्रीमान्का भेद दिखायी देता है तथा वे अपनी धारणाके अनुसार अपनी अथवा अन्यकी दरिद्रता एवं श्रीमन्तताका आरोप श्रीहरिमें भी करते हैं परन्तु वास्तवमें यह उनकी भ्रान्ति ही है। पारमार्थिक दृष्टिसे तो कोई दरिद्र अथवा श्रीमान् है ही नहीं, यदि लौकिक दृष्टिसे भी देखा जाय तो कोई दरिद्र अथवा श्रीमान् सिद्ध नहीं होता। क्योंकि लोकमें तो साधारणतया निर्धनको ही दरिद्र और धनीको ही श्रीमान् कहा जाता है। परन्तु यहींके विद्वान् पुरुषोंका कथन है कि धनहीन दरिद्र नहीं है, प्रत्युत जिसकी तृष्णा बहुत बड़ी है, वह चाहे कितना ही धनशील क्यों न हो, वस्तुतः वही दरिद्र है। और जिसके पास सन्तोष है, वह चाहे कितना ही निर्धन क्यों न हो, वही श्रीमान् है। इसी बातको पूज्यपाद श्रीभाष्यकारजीने भी 'प्रश्नोत्तरी' में कहा है। और लोकमें तो ये कहावतें प्रचलित ही हैं कि 'अमीरी मनसे है, धनसे नहीं। जिसका मन उदार है, वह कङ्गाल भी मालामाल है और जिसका मन दीन है, वह मालामाल होनेपर भी कङ्गाल है।' इस सम्बन्धमें मैं तुमको एक शिक्षाप्रद कहानी सुनाती हूँ, सुनो—

एक सेठानी थी, दूसरी ठकुरानी। उन दोनोंमें बड़ी मित्रता थी ! वे परस्पर सहोदर बहिनों-जैसा बर्ताव करती थीं। पहले तो दोनों ही मालदार थीं, पर पीछे दैवयोगसे अथवा यों कहिये कि पूर्वका पुण्य क्षय हो जानेसे, उनमेंसे ठकुरानी कंगाल हो गयी। एक दिनकी बात है, सेठानी ठकुरानीके घर आयी और उसके हाथमें दस रुपये देकर इस प्रकार कहने लगी—'बहिन, लक्ष्मी बड़ी ही चञ्चल है, वह सर्वदा एकके पास नहीं रहती। कभी यहाँ, कभी वहाँ, इसी प्रकार उसका फेरा लगा करता है। आजकल तुम्हारे यहाँ रुपये-पैसेकी तंगी है। इसलिये मैं ये दस रुपये तुम्हें देती हूँ, ये तुम्हारे लड़केबालोंके काम आ जायँगे। मेरा धन तुम्हारा ही धन है तथा

तुम्हारे बाल-बच्चे मेरे ही बाल-बच्चे हैं । मुझमें और अपनेमें भेद मत मानो, ये रुपये ले लो । और भी समय-समयपर मैं तुम्हारी मदद करती रहूँगी।'

इस बातको सुनकर ठकुरानीने उत्तर दिया—'बहिन, मैं तुम्हारा उपकार मानती हूँ, पर हम दोनोंमें इस धनके कारण मित्रता नहीं हुई है । बल्कि हम दोनों परस्पर प्रेमके कारण ही मित्र बनी हैं । यह ठीक है कि तुम्हारा धन मेरा ही धन है तथा मेरे बाल-बच्चे तुम्हारे ही बाल-बच्चे हैं, फिर भी तुम मुझको जैसी निर्धन समझती हो, वैसी मैं नहीं हूँ । मेरे यहाँ धनकी तो जरूर कमी है, परन्तु मेरा मन कदापि दरिद्र नहीं है । वह उदार है । कोई मालमें मस्त है तो कोई खालमें मस्त है । अपने रुपये तुम अपने पास रक्खो अथवा किसी दानके पात्रको दे दो । दान लेनेके वास्तविक अधिकारी ब्राह्मण ही हैं, क्षत्रिय और वैश्य तो दान देनेके ही अधिकारी हैं । मेरे पास दान देनेके लिये धन नहीं है, यह दूसरी बात है । पर बिना अधिकार और बिना परिश्रमके मैं तुम्हारे रुपये लेना उचित नहीं समझती । क्षमा करना । क्या तुमने राजा विक्रमादित्यकी कथा नहीं सुनी है ? उन्होंने तो बिना परिश्रम प्राप्त हुई रत्न-राशिको भी ठुकरा दिया और देनेवालेको अनेक प्रकारसे धिक्कारा ।'

सेठानी इस बातको बड़े गौरसे सुन रही थी । उसने कहा—'बहिन, राजा विक्रमकी पूरी कथा क्या है, जरा उसे भी तो सुनाओ ।'

ठकुरानी बोली—'राजा विक्रमके पहले उनका भाई उज्जैनमें राज्य करता था । उसने विक्रमादित्यको अपने अधिकारका कंटक समझकर राज्यसे बाहर निकाल दिया था । विक्रमादित्य जंगलमें मारे-मारे फिरते थे । उनके साथ केवल एक ब्राह्मण था जो उनका पुराना मित्र था । एक दिन उस ब्राह्मणने विक्रमादित्यसे कहा—'मित्र, अभी तुम्हारे राजा होनेमें तो देर है, परन्तु मैंने सुना है कि यहाँसे कुछ दूरपर 'रत्नद' नामका एक पर्वत है । वहाँ जाकर, जो कोई उससे रत्न माँगता है, उसको वह मुँहमाँगा रत्न दे देता है । यदि तुम्हारी इच्छा हो तो आओ हम दोनों वहाँ चलें । शायद, कुछ रत्न हाथ लग जायँ ।'

ब्राह्मणकी इस बातपर विक्रमादित्यको बड़ा अचम्भा हुआ । वे वहाँ जानेके लिये उद्यत हो गये । निदान वे दोनों मित्र उस पर्वतकी ओर चल पड़े । वहाँ पहुँचनेपर ब्राह्मणने विक्रमको पर्वतके पास खड़ा कर दिया और स्वयं बस्तीमें एक कुम्हारके घर गया । उसने कुम्हारसे पर्वत खोदनेके लिये कुदाल माँगी और उससे रत्न मिलनेकी युक्ति पूछी । कुम्हारने उत्तर दिया–'हे महाराज, जो कोई इस पर्वतके पास खड़ा होकर–'हा दैव, मैं दीन हूँ, दुखी हूँ, मुझे रत्न दीजिये'–ऐसा कहता है और ऐसा कहकर उसके ऊपर कुदाल चलाता है, उसे तुरंत रत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है । यदि इतना न कह सके तो 'हा दैव' इतना तो कहना ही पड़ता है । बिना इतना कहे रत्न नहीं मिलता ।'

यह सुनकर ब्राह्मणने कुदाल उठायी और वह विक्रमादित्यके पास चल दिया । मार्गमें ब्राह्मणने सोचा कि 'विक्रमादित्य बड़े धीर, वीर और उदार पुरुष हैं । वे कुम्हारकी बतलायी हुई इस बातको अपनी जबानपर कभी नहीं ला सकेंगे । उनके मुँहसे तो पूरी बातको कौन कहे, 'हा दैव' इतना भी न निकल सकेगा । तब फिर रत्नोंकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? अच्छा, एक उपाय है । विक्रमसे ऐसे कुछ न कहकर, जब वह कुदाल चलाने लगेंगे तब मैं उनको उनकी माताके मर जानेकी सूचना दे दूँगा । उस समय कुदाल भी चल जायगी और

उनके मुँहसे 'हा दैव' भी निकल जायगा। बस, इतनेसे ही काम बन जानेकी आशा है। अन्य कोई उपाय नहीं है' यह सोचते-सोचते ब्राह्मण विक्रमके निकट पहुँच गया और कुदालको उनके हाथमें दे दिया। विक्रमने समझा केवल कुदाल चलानेसे रत्न मिल जायगा और उन्होंने उस पर्वतपर कुदाल आजमायी। इतनेमें ब्राह्मणने झटसे उनकी माताकी मृत्युका संवाद सुना दिया। विक्रम यह सुनते ही सहम गये और 'हा दैव, मैं मारा गया'—ऐसा कहकर उन्होंने कुदालको फेंक दिया तथा बैठ गये। इधर कुदालका पर्वतपर गिरना था कि रत्न निकल आये। थोड़ी देर बाद ब्राह्मणके कहनेसे विक्रमने रत्नोंको उठा लिया और दोनों वहाँसे चल पड़े। मार्गमें ब्राह्मणसे न रहा गया। उसने विक्रमसे कुम्हारका और अपना सारा वृत्तान्त सुना दिया। अपनी उस युक्तिको भी वह छिपा न सका। यह सब सुनते ही वीर विक्रम झुँझला पड़े। उनको बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने रत्नोंको पीछे फेंक दिया और वे पर्वतको सम्बोधित करके गरजकर बोले—

'अरे ओ पर्वत, तेरा नाम तो रत्नद है, पर है तू वास्तवमें कष्टद। तू कृपणोंमें भी निकृष्टतम कृपण है। बल्कि तुझको कृपण भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कृपण तो केवल अपना धन ही दूसरेको नहीं देता है, उसे सञ्चित रखता है। पर तू तो लुटेरा है। तू दूसरेकी धीरता, वीरता, उदारता आदि सम्पत्तियोंको छीनकर, उसे सर्वथा दीन बनाकर, बदलेमें कुछ थोड़ेसे रत्न देता है। बोल, यही तेरी उदारता है? तू उदार कहाँ रहा? उदार पुरुष तो दूसरेका उपकार करते हैं परन्तु तू तो दूसरेकी सुविशाल सम्पत्ति छीनकर और उसके बदलेमें थोड़ा-सा रत्न देकर वास्तवमें उसका अपकार करता है। तेरे पास रत्न लेने जो आते हैं, उन्हें धिक्कार है और उनसे भी अधिक तेरे-जैसे अपकारी, और लुटेरेको धिक्कार है, बारंबार धिक्कार है!'

इतनी कथा कह लेनेके बाद ठकुरानीने सेठानीसे कहा—'समझी बहिन, उन्हीं राजा विक्रमके वंशमें मेरा जन्म हुआ है। तुम्हीं बतलाओ, मैं अपने कुल-धर्मके विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकती हूँ? मैंने अपने जीवनमें आजतक बिना दाम दिये अथवा बिना पारिश्रमिक चुकाये कोई वस्तु नहीं ली। और न कभी घरसे अकेली निकलकर बाहर पाँव रक्खा। अपने पूर्वजोंकी इन्हीं दो बातोंको तो मैंने आजतक निभाया भी है। और भगवान्‌की कृपा हुई तो आगे भी निभानेकी कोशिश करूँगी।'

कोकिला—सुना बहिन, तुमने? ठकुरानीके इस प्रकार धीरता, वीरता और उदारतायुक्त वचनोंको सुनकर सेठानीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसके धैर्य और सन्तोषकी मन-ही-मन प्रशंसा की और वह राजा विक्रमकी निस्पृहतापर आश्चर्य प्रकट करती हुई अपने घर चली गयी। इस तरह तुमने देखा कि क्षत्रिय और वैश्य जो वास्तवमें अपने धर्मका पालन करते हैं, वे कदापि दान नहीं लेते। ब्राह्मणोंमें भी जो चतुर ब्राह्मण हैं, वे अनुचित दान नहीं लेते हैं। कैसे नहीं लेते हैं, इसको मैं तुम्हें सुनाती हूँ। एक बार हमलोग मेरठ शहरमें गये थे। वहाँपर एक ब्राह्मणी हमारे पास आयी थी। वह कई वर्षोंसे तिजारी नामक रोगका शिकार बन गयी थी। मैंने उसको बतलाया कि यहाँपर अमुक औषधालयमें मुफ्त दवा मिलती है, वहाँ जाकर दवा ले लिया करो तो तुम्हारा रोग अच्छा हो सकता है। इसको सुनकर ब्राह्मणीने कहा—वहाँ गरीबोंको दवा मिलती है, पर मैं गरीब थोड़े ही हूँ। मेरे हृदयमें तो सब सेठोंके सेठ, सब राजाओंके राजा लक्ष्मीपति भगवान् जनार्दन बैठे हुए हैं। तब मैं कंगालिनी बनकर बिना दामकी

दवा लेने क्यों जाऊँ ? भगवान्की इच्छा होगी तो वे स्वयं किसी-न-किसीके हाथ दवा भेज ही देंगे। अथवा बिना दवाके ही मेरा रोग अच्छा हो जायगा। अपना रोग देखकर तो मुझे ऐसा अनुमान होता है कि पूर्व जन्ममें मेरे पास तृष्णा बहुत अधिक थी उसीका फल इस जन्ममें मुझे यह रोग मिला है। क्योंकि शास्त्रकारोंने तिजारीको तृष्णाका स्वरूप बतलाया है। तृष्णासे मनुष्यको कितना दुःख होता है, यह किसीसे छिपा नहीं है। तृष्णावाला मनुष्य न तो खा सकता है, न पहिन सकता है, और न दान ही दे सकता है। वह सदा 'और-और' के ही फेरमें पड़ा हुआ धन कमाने और जोड़नेकी ही चिन्तामें डूबा रहता है। इसलिये तृष्णावाले मनुष्यको यहाँ जो दुःख होता है, वह तो है ही, मरनेके बाद दूसरे जन्ममें भी तृष्णा उसका साथ नहीं छोड़ती है। वह दूसरे जन्ममें तिजारी रोगके रूपमें साथ रहती है और पीड़ित करती है। ऐसा संस्कारवेत्ताओंका मत है। इसके अतिरिक्त अनुचित दान पचता भी नहीं है। यदि उस औषधालयमें सबको मुफ्त दवा दी जाती, तब वहाँसे मुझे भी दवा लानेमें कोई आपत्ति नहीं थी। पर वहाँ केवल गरीबोंको ही दवा दी जाती है, इसलिये गरीबोंकी चीज़पर मेरा कोई अधिकार नहीं है।

कोकिला—क्या कहूँ, बहिन, ब्राह्मणीकी इस बातको सुनकर मुझे प्रसन्नताके साथ-साथ बड़ा आश्चर्य हुआ। तुम्हीं सोचो, उसने कितनी अच्छी बात कही। अब तुमने तृष्णाका स्वरूप समझ लिया होगा। तृष्णा ही धनी या गरीबकी सृष्टि करती है। तृष्णाके सम्बन्धमें मैंने विद्वानोंके मुखसे यह भी कहानी सुनी है—

एक नाई और उसकी स्त्री दोनों जो कुछ कमाते थे, उसको वे उसी दिन खर्च कर दिया करते थे। दूसरे दिनके लिये कुछ भी शेष नहीं रखते थे। एक दिन नाइनसे एक यक्षिणीकी मुलाकात हो गयी। नाइनने उसकी बड़ी सेवा की। यक्षिणी उसकी सेवासे प्रसन्न हो गयी और उसने मुहरोंसे भरी हुई सात डेगें नाइनको दे दीं। छः डेगोंमें तो उनके मुखतक मोहरें भरी थीं, केवल एक डेग कुछ खाली थी। नाई और नाइनने जब उन डेगोंको देखा तो वे दोनों मारे लोभके खाना-पीनातक भूल गये। उन्होंने सोचा—यह जो एक डेग खाली है, इसको भर देना चाहिये। यह सोचकर वे दोनों अपनी कमाईसे उस डेगको भरने लगे। दोनों जो कुछ कमाकर लाते थे, सब उसीमें डालते जाते थे। परन्तु यह मसल है कि यक्षोंकी डेग कभी नहीं भरती। वे दोनों पति-पत्नी सालभरतक उसको भरते रहे, पर डेग किसी प्रकार न भरी। तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे चिन्तामें सूखने लगे। उनके शरीरका रक्त सूख गया, गाल पिचक गये, आँखोंसे कम दिखायी देने लगा, कमर झुक गयी। परन्तु फिर भी उन दोनोंपर लोभका ऐसा भूत सवार था कि वे उस खाली डेगको भरनेकी ही कोशिशमें लगे थे। परन्तु डेगकी यह दशा थी कि वह उतनी-की-उतनी ही खाली रहती थी। इस बातको एक संत जानते थे। उनको इस दम्पतिकी दुर्दशा देखकर बड़ी दया आयी। उन्होंने अपनी तन्त्रविद्यासे उस यक्षिणीको बुलाया और उससे कहा कि तुम अपने इन सब डेगोंको उठा ले जाओ। यक्षिणीने ऐसा ही किया। इधर नाई और नाइनने जब डेगोंको लापता देखा तो वे रोने-पीटने लगे।

पर दो-तीन दिनोंतक ही उनकी यह दशा रही । अन्तमें सन्तोष करके वे बैठ गये । यहाँतक कि कुछ दिनोंके बाद वे फिर पहले-जैसे सुखी हो गये । अस्तु,

बहिन, इन सब बातोंको देख-सुनकर मैं तो यही कहूँगी कि तृष्णा क्षयरोगके समान अत्यन्त दुःखदायिनी है । वह धनीको भी कंगाल और शूरको भी कायर बना देती है । उससे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय सन्तोष है । सन्तोषद्वारा ही इस तृष्णाकी निवृत्ति होती है । भगवान् पतञ्जलिने कहा है कि सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। अपने आत्मास्वरूप ईश्वरसे बढ़कर और किसीमें सुख नहीं है । योगदर्शनकारका भी यही अभिप्राय है कि सन्तोषसे ही परमोत्तम सुख अथवा परमात्माकी प्राप्ति होती है । और इसके प्रतिकूल तृष्णासे पुनः दुःखरूप संसारकी प्राप्ति होती है । इसलिये भाष्यकारका यह कथन कि विशाल तृष्णा ही दरिद्रता और सम्पूर्णरूपसे सन्तोष ही श्रीमत्ता है, ठीक ही है । अतः श्रेयाभिलाषियोंका यह परम कर्तव्य है कि वे संसारकी ओर ले जानेवाली तृष्णाका मनसे परित्याग और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले सन्तोषका प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करें । अच्छा बहिन, फिर कभी । इस बातको तो इतना ही और कहकर समाप्त करती हूँ—

धनी निर्धनी सभी दुखी हैं दुखिया दुनिया सारी ।
सुखी नहीं है कोई जगमें नर हो अथवा नारी ॥
सन्तोषी ही सुखी एक है, तृष्णा जिसने मारी ।
'जयदेवी' के धन लक्ष्मीपति प्रणतपाल गिरिधारी ॥
राजा-रंक सभी हैं मरते त्यागी या व्यापारी ।
तृष्णा डाइन ही नहिं मरती दुनिया इससे हारी ॥
तृष्णा त्यागी, वही धीर है, शूर वही है भारी ।
'जयदेवी' तू भी तृष्णा तज, भज ले कृष्णमुरारी ॥

* * *

उसका पता

जहाँ न निष्ठुर अट्टहास है, जहाँ न पीड़ित-आँसू-दान ,
जहाँ न होता नीरव रोदन, जहाँ न उठता उन्मद गान ।
जहाँ न कोई मुकुट-शिरोमणि, या पाता कोई अपमान ,
जहाँ न कोई हीन दीन है, कोई भरा हुआ अभिमान ॥
जहाँ न शिशुका मृदुल हास्य है, या वृद्धोंका जरठ शरीर ,
जहाँ न होता शवका रोदन, या जन्मोत्सवकी शुभ भीर ।
जगतीकी इस चंचलताके-इस उत्थान पतनके पार ,
प्रेम-राज्यकी धवल पताका—मेरे हृदयेश्वरका द्वार ॥

—'सुदर्शन'

* * *

ज्ञानसाधनाभ्यास

(लेखक—महात्मा श्रीरामस्वामीजी)

(१)

नामस्मरण एक योग ही है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—इस सूत्रमें महामुनि पतञ्जलि चित्तकी रजस्तमोवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहते हैं।* नामस्मरणके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध अर्थात् एकाग्रता होती है, इसलिये नामस्मरणको 'योग' कहना असङ्गत नहीं। अब देखें, नामस्मरणके अभ्यासद्वारा उपर्युक्त योगका फल किस प्रकार प्राप्त होता है। शब्द आकाशका गुण, और कर्णका विषय है। सब विषयोंके बीच शब्दका ज्ञान जो कर्णको होता है, वह बहुत ही सरल (अनायास) है; अर्थात् अवशिष्ट चार इन्द्रियोंके प्रातिस्विक विषयग्रहणमें कुछ-न-कुछ श्रम पड़ता है। रूपग्रहण करनेके लिये नेत्रोंको खोलकर देखनेकी आवश्यकता होती है। गन्धग्रहणके लिये श्वासको ऊपर खींचना पड़ता है। अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी यही बात है; किन्तु कर्णको शब्दग्रहण करनेके कर्ममें कुछ भी आयास नहीं करना पड़ता। मनुष्य चाहे कहीं भी बैठा हो, और शब्द कहीं भी उत्पन्न हो, वह स्वतः कर्णमें जाकर आघात करेगा। अतः सब विषयोंकी अपेक्षा शब्दग्रहण नितान्त सुकर है। और मन जितना शब्दमें अथवा नादमें लीन होता है, उतना अन्य विषयोंमें नहीं होता। मन सङ्कल्प-विकल्पात्मक है। वह सङ्कल्प-विकल्प बहुधा दो प्रकारका होता है—भूतस्मरण और भविष्यचिन्तन। 'मैंने अमुक शुभ वा अशुभ कर्म किया' इस प्रकार अतीत व्यापारका स्मरण, और 'अमुक कर्म करूँगा, जिससे शुभ वा अशुभ परिणाम होगा' इत्यादि भावि-विषयका चिन्तन—इन दोनोंके अतिरिक्त मनुष्यके मनमें और किसी प्रकारका विचार नहीं होता। वर्तमानकालिक विचार भी जलप्रवाहवत् न्यूनाधिकरूपसे इन्हींमें प्रविभक्त होता है। नामस्मरणके योगसे भूतस्मरण और भविष्यचिन्तन, ये दोनों ही वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, इस विषयका अनुभव साधकोंको होता ही है। इसके द्वारा पूर्वोक्त दो प्रकारकी कल्पनाका निरोध होनेपर अनायास चित्तवृत्तिनिरोध सम्पन्न होता है। किसी शब्दकी बार-बार आवृत्ति करनेपर उसमें चित्तका लय होता है। परन्तु परमेश्वरके नामको छोड़कर अन्य शब्दोंमें वैषयिक सम्बन्ध रहनेके कारण मन यदि एकाग्र होता है तो उसकी शुद्धि नहीं होती; इस कारण परमार्थके कर्ममें उसका उपयोग नहीं होता, वरं उससे अधिक अनिष्टकी ही सम्भावना है। परमेश्वरके नामोंका गुणस्मरणसहित उच्चारण करना और उनका स्मरण करना अत्यन्त पवित्र है; इसलिये उसके द्वारा मनकी शुद्धता और एकाग्रता होती है। नामस्मरणके विषयमें लोगोंका वितर्क यह है कि नामस्मरण करते रहनेपर मुखसे यद्यपि नामोच्चारण होता रहता है, तथापि मन चाहे जहाँ दौड़ता है। परन्तु इस प्रकारका जो विक्षेप होता है उसका कारण यह है कि, हम नामस्मरण करते हुए उधर सम्यक् ध्यान या लक्ष्य नहीं देते। मुखद्वारा नामोच्चारण करते हुए उस उच्चारणके प्रति मनःसंयोगपूर्वक कर्णपात करना, इसीका नाम ध्यान या लक्ष्य देना है।* ये दोनों बातें एक साथ चलती रहनेपर लोगोंके उपर्युक्त वितर्कका अवकाश नहीं रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इसलिये चित्तकी एकाग्रताके लिये नामस्मरण परमोत्तम उपाय है। प्राणायामादि चित्तनिग्रहोपायोंमें जो क्लेश होता है, वह न होकर अनायास पतञ्जल्युक्त योगका फल नामस्मरणद्वारा साधकको प्राप्त होता है।

(२)

प्रत्येक मनुष्य अज्ञातरूपसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी उपासना करता है।

मनुष्यके प्रत्येक श्वासोच्छ्वासमें नासिकाद्वारा ऊपरकी ओर जो वायु आकृष्ट होता है उसको 'उच्छ्वास' और जो बाहर फेंका जाता है उसे 'निःश्वास' कहते हैं। यह श्वासोच्छ्वासकी क्रिया एक समान चलती रहती है। चौबीस घंटोंमें २१६०० श्वासोच्छ्वास होते हैं। शास्त्रने इन श्वासोच्छ्वासोंकी गणनापर ही मनुष्यका आयुःप्रमाण निर्धारित किया है। सूक्ष्मदृष्टिसे लक्ष्य करनेपर प्रत्येक श्वासोच्छ्वासकी क्रियामें भीतर जानेवाले श्वासमें 'सकार' के तुल्य ध्वनि, और बाहर छोड़े हुए निःश्वासमें 'हकार' के तुल्य ध्वनि सुननेमें आती है। अधिक सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो अन्तःप्रविष्ट वायुमें 'सो' और

---

* जिनके द्वारा चित्तनिरोध होता है, उन सभी उपायोंकी गणना योगमें ही करनी चाहिये।

* वैखरीसे नामोच्चारण करनेकी अपेक्षा मध्यमा-वाणीद्वारा (मन-ही-मन) नामोच्चारण करना एकाग्रताके लिये अधिक उपयोगी है।

बहिर्निर्गत वायुमें 'हं' की-सी ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। इन दोनों ध्वनियोंको मिलानेसे 'सोऽहं' ऐसा संस्कृत-वाक्य होता है। इसका अर्थ–'सः' अर्थात् 'वह' और 'अहं' अर्थात् 'मैं', इस प्रकार 'वह मैं हूँ' ऐसा होता है। इससे यह रहस्य उपलब्ध होता है कि ईश्वरने प्रत्येक प्राणीमें 'वह मैं हूँ' ऐसा जप स्वभावतः ही लाकर रख छोड़ा है। 'वह' अर्थात् परमात्मा मैं हूँ, ऐसा इसका तात्पर्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा जो वेदका महावाक्य है, उसीका यह ईश्वरदत्त पर्यायवाक्य है। इसको अपौरुषेयवाक्य कहनेमें कोई आपत्ति नहीं। इसीको शास्त्रमें 'अजपा गायत्री' कहते हैं। इतना बड़ा रहस्य ईश्वरप्रदत्त होनेपर भी गुरूपदेश बिना मनुष्यकी समझमें नहीं आता; इसलिये मनुष्यकी अज्ञानावस्थामें जितने श्वासोच्छ्वास होते हैं वे सब व्यर्थ जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस रहस्यको समझा देनेमें तब गुरुने कौन-सी बड़ी बात की, यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो उससे हम यह पूछते हैं कि इससे अधिक और क्या हो सकता है? किसी कंगाल मनुष्यके घरमें पूर्वपुरुषोंद्वारा स्थापित धनभाण्डको यदि कोई पुरुष दिखला दे, तो क्या यह थोड़ा उपकार होगा? जगत्में हमको जितने लाभ होते हैं, वे बहुधा इसी प्रकारके होते हैं। हमें गुरुके द्वारा जो विद्या मिलती है, क्या गुरु उसे अपनी गाँठसे देते हैं? सारांश यह कि उपर्युक्त रहस्यके उद्घाटनके लिये ईश्वर और गुरुका जितना उपकार माना जाय उतना ही थोड़ा है। इसपर कोई कहे कि हाँ, यह रहस्य तो है, किन्तु इसका उपयोग क्या? तो इसमें वक्तव्य यह है कि इस रहस्यको गुरुमुखसे समझनेके पश्चात् साधकको सर्वदा इसी ओर लक्ष्य रखना चाहिये। श्वासोच्छ्वासमें साधकका जितना लक्ष्य बैठेगा, उतना ही जप उसके पल्ले पड़कर कुछ दिनोंके बाद उसके देहाभिमानका नाश और चित्तकी शुद्धि होकर उसको सुलभ रीतिसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी। अतः चित्तकी शुद्धि तथा निरोधका यह एक उत्तम उपाय है। इसको 'प्रणवाभ्यास' भी कहा जा सकता है।

(३)

आत्मज्ञानके लिये लयचिन्तनका निरतिशय उपयोग है।

पृथिव्यप्सु पयो वह्नौ वह्निर्वायौ नभस्यसौ।
नभश्चाव्याकृते तच्च शुद्धे शुद्धोऽस्म्यहं हरिः॥

(शंकराचार्य)

'पृथिवीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अव्यक्त माया वा प्रकृतिमें, और अव्यक्तका शुद्ध चैतन्यमें लयचिन्तन करे। लयावसानमें जो शुद्ध चैतन्य अवशिष्ट रह जाता है वही 'हरि' है; और मैं ('अहं'-पदवाच्य जीवात्मा) वही शुद्ध चैतन्यस्वरूप हरि हूँ।'

लयचिन्तन एक प्रकारकी उपासना है। ब्रह्मसे आकाशादि देहपर्यन्त जिस क्रमसे सृष्टि हुई है, उसके विपरीत क्रमसे अर्थात् कार्यका कारणमें लय करके बुद्धिको आत्मपर्यन्त पहुँचाकर उसका जो चिन्तन किया जाता है, उसको 'लयचिन्तन' कहते हैं। उसकी प्रणाली इस प्रकार है। यथा–आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे ओषधि, ओषधिसे अन्न, अन्नसे रेतस् (वीर्य) और रेतस्से पुरुष; इस क्रमको पहले मनमें लाकर पुरुषसे उलटा उपसंहार करते जाना; अर्थात् एकान्तमें आसनासीन हो, सद्गुरुका ध्यान कर 'देहोपाधिक जो मैं हूँ, वह देहदृष्ट्या पिताके वीर्यसे उत्पन्न हुआ। कार्य कारणसे अभिन्न होता है, इसलिये वह कारणरूप ही है—इस न्यायसे मैं रेतोरूप हूँ; ऐसा जो रेतोरूप मैं हूँ, वह उसी न्यायसे अन्नरूप हूँ; अन्नरूप जो मैं हूँ, वही ओषधिरूप हूँ; ओषधिरूप जो मैं हूँ, वही पृथ्वीरूप हूँ; पृथ्वीरूप जो मैं हूँ, वही उदकरूप हूँ; उदकरूप जो मैं हूँ, वह अग्निरूप हूँ; अग्निरूप जो मैं हूँ, वही वायुरूप हूँ; वायुरूप जो मैं हूँ, वही आकाशरूप हूँ; आकाशरूप जो मैं हूँ, वही अव्याकृत (अव्यक्त प्रकृति, मूलमाया) रूप हूँ; अव्याकृतरूप जो मैं हूँ, वही ब्रह्म किंवा आत्मा हूँ; वही मैं शुद्ध, बुद्ध (ज्ञानसम्पन्न), नित्यमुक्त, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दरूप हूँ।' ऐसा चिन्तन करते जानेपर अन्तःकरणवृत्ति ब्रह्माकार होकर पूर्वकृत विचारके साहाय्यसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है।

(४)

मनोनाशसे वासनाक्षय और वासनाक्षयसे मनोनाश होता है।

यावद् विलीनं न मनो न तावद् वासनाक्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥

(योगवासिष्ठ)

'जबतक मनका लय नहीं होता, तबतक वासनाका क्षय नहीं होता। जबतक वासना क्षीण नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता।'

मनोनाश अर्थात् चित्तवृत्तिका निरोध–मन जबतक है, तबतक बाह्य विषयोंकी ओर उसकी वृत्ति प्रधावित होकर

काम-क्रोधादि नानारूप वासनाओंको उत्पन्न करती है। परन्तु उस मनोवृत्तिका निरोध किये जानेपर, बाह्य विषयका भान ही नहीं होता। अतः काम-क्रोधादि वासनाकी उत्पत्तिका कोई भी निमित्त न रहनेके कारण उनका क्षय हो जाता है। इसके विपरीत काम-क्रोधादि वासना जबतक उत्पन्न होती है, तबतक मन नितान्त क्षुब्ध होनेके कारण उसका निरोध अत्यन्त कठिन है। किन्तु वह वासना जैसे-जैसे क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे मनोनिग्रह सुलभ होता जाता है। इसलिये साधकको नित्य इन दोनोंका ही अभ्यास करना चाहिये।

(५)

आत्मज्ञानसे मनोनाश और मनोनाशसे आत्मज्ञान सुलभ होता है।

यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत् तत्त्ववेदनम्॥

(योगवासिष्ठ)

'जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ? जबतक चित्तशान्ति नहीं होती, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता।'

आत्मज्ञान अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ, और जगत् मिथ्या है' इस प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जायगा, त्यों-ही-त्यों रूप-रसादि विषय तुच्छ प्रतीत होनेके कारण चित्तवृत्तिका निरोध सुकर होता जायगा। जिस प्रकार अग्निमें इन्धन न डालनेसे उसकी ज्वाला शान्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानसे बाह्य विषय शून्यवत् हो जानेके कारण मनरूप वह्निकी वृत्तिरूप ज्वाला स्वतः शान्त हो जाती है। इसके विपरीत, मनोनाश न होनेपर वृत्तिग्राह्य रसादि विषयका मोह उत्पन्न होकर प्रत्यक्ष विरोधकी शङ्काके कारण 'अद्वितीय ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' ऐसा निश्चय होना कठिन पड़ता है।

(६)

वासनाक्षयसे आत्मज्ञान और आत्मज्ञानसे वासनाक्षय सुलभ होता है।

यावन्न वासनानाशस्तावत् तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद् वासनाक्षयः॥

(योगवासिष्ठ)

'जबतक वासनाका नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँ? जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाक्षय नहीं होता।'

क्रोधादि वासना नष्ट हुए बिना मनुष्यको शम-दमादि साधनकी प्राप्ति नहीं होती। और शम-दमादि साधनके बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती। इसलिये वासनाक्षय तत्त्वज्ञानका कारण है। इसके विपरीत, आत्मज्ञान न होनेपर, क्रोधादि वासनाके कारणभूत बाह्य विषय सत्य हैं, ऐसा भ्रम रहनेके कारण वासना अनिवार्यरूपसे बनी रहती है, उसका शीघ्र क्षय नहीं होता। अतः तत्त्वज्ञान वासनाक्षयका कारण है।

(७)

कल्पनाका निरीक्षण करते रहनेपर उसका अभाव-सा हो जाता है।

(इसीको 'ज्ञानयोग' कहते हैं।)

कल्पना मात्रके उपरमको पतञ्जलिने चित्तवृत्तिनिरोध कहा है। चित्तवृत्तिनिरोध करनेके दो उपाय हैं—प्रथम प्राणनिरोध, और द्वितीय विचार। विचारसे होनेवाले चित्तवृत्तिनिरोधको 'ज्ञानयोग' कहते हैं। यह योग एकान्तमें बैठकर अपनी कल्पनाकी ओर निरीक्षण करनेसे सिद्ध होता है। आत्मा सब कल्पनाओंका साक्षी अर्थात् द्रष्टा है; इसलिये आत्मस्वरूपाकार वृत्तिका ज्ञान होनेके निमित्त साधकको अपनी कल्पनाके निरीक्षणका अभ्यास रखना चाहिये। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है। यथा—मन एक ही समयमें दो पदार्थोंको व्याप्त नहीं कर सकता, इसलिये एक ही समय वह दृश्य और द्रष्टा दोनोंको व्याप्त नहीं कर सकता। वह एक समयमें केवल दृश्यरूपसे अथवा द्रष्टृरूपसे ही रह सकता है। मनुष्यके मनमें जब काम-क्रोधादि विकार प्रबल होते हैं, तब वह उन विकारोंके साथ तादात्म्यको प्राप्त होता है, अर्थात् वह सर्वथा तद्रूप ही हो जाता है, अर्थात् उन विकारोंके अधीन हो जाता है। काम-क्रोधादि विकार ही मनकी कल्पना वा वासना है। जब-जब यह कल्पना मनमें उत्पन्न हो, तब-तब उस कल्पनाको अपनेसे भिन्न देखनेका अभ्यास करते रहनेपर मन शनैः-शनैः दृश्याकार छोड़कर द्रष्टाकार होने लगता है। जब वह द्रष्टाकार होता है, तब दृश्यकी कल्पना अभावग्रस्त हो जाती है। दृश्य और द्रष्टा ये दो कल्पनाएँ परस्पर सापेक्ष हैं। अतः दृश्यके अभावग्रस्त होनेपर उस दृश्यके कारण उत्पन्न हुआ आत्माका द्रष्टृत्व भी अभावग्रस्त हो जाता है और वृत्तिरहित एक आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। इस स्थितिको 'समाधि' कहते हैं। और इस स्थितिका पूर्ण अनुभव ही 'साक्षात्कार' है।

(८)

षड्रिपुओंका निरीक्षण करना ही उनको जीतना है।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥

'अपकार करनेवालेके प्रति यदि तुझे क्रोध होता है, तो उस क्रोधके प्रति तेरा क्रोध क्यों नहीं होता जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चतुर्वर्गोंका बलात्कारसे नाश करनेवाला प्रबल शत्रु है ?'

काम-क्रोधादि षड्रिपु भी कल्पनामात्र ही हैं। इस कल्पनाका स्वरूप उसके निरीक्षण बिना समझमें नहीं आता। कल्पनाके निरीक्षणसे ही उसका अभाव होता है, यह पहले कहा जा चुका है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि जो कल्पना उसके निरीक्षणके द्वारा अभावग्रस्त होती है, वह उस निरीक्षणके निरुद्ध होनेपर क्या पुनः उत्पन्न होगी ? तो फिर उसका जीतना कैसा हुआ ? इसका समाधान यह है कि कल्पनाके निरीक्षणसे एक बार उसका अभाव होकर मनको स्वरूपाकार होनेका माधुर्य प्राप्त होनेपर यदि वह पुनः उत्पन्न होती है तो साधक उसके अधीन नहीं होता। कदाचित् वह दीखती भी हो, तो वह मिथ्या है ऐसा उसका निश्चय होता है। इस कारण उखाड़े हुए दाँतवाले सर्पसे जिस प्रकार भय नहीं होता, उसी प्रकार निर्जीव कल्पनासे उसको बाधा नहीं पहुँचती।

(९)

दो कल्पनाओं किंवा दो अवस्थाओंके बीचका अवकाश वा सन्धि ही आत्मस्वरूप है।

नष्टे पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावद् विभासते ॥

(वाक्यवृत्ति)

'पूर्व कल्पनाका नाश होनेपर जबतक अन्य कल्पनाका उदय नहीं होता, तबतक सर्वकल्पनातीत चैतन्यस्वरूप स्पष्ट प्रकाशित होता है।'

बाह्य जगत्में एक पदार्थ देखकर दूसरा पदार्थ देखनेके पूर्वका, और मनमें एक कल्पनाका लय होकर दूसरी कल्पना उत्पन्न होनेके पूर्वका, तथा इसी प्रकार निद्रावस्थाकी समाप्ति होकर जाग्रत्का उदय होनेके पूर्वका जो मध्यवर्ती अवकाश है, उसीको आत्मस्वरूप समझना चाहिये। समुद्रके जलमें जैसे एकके पश्चात् एक तरङ्ग उत्पन्न होती है, वैसे ही आत्मस्वरूपमें एकके पश्चात् एक कल्पना वा अवस्था उत्पन्न होती है। पहली कल्पना उत्पन्न होकर स्वरूपमें लीन हो जाती है तब दूसरी कल्पना उत्पन्न होती है। आत्मस्वरूपके नित्य होनेके कारण वह जैसे कल्पनाके पूर्वमें रहता है, वैसे ही कल्पनाके अनन्तर भी है; इसलिये दोनों कल्पनाओंके बीचकी सन्धिमें भी उसे रहना ही चाहिये। जैसे पूर्वोक्त उदाहरणमें समुद्रका जल जैसा तरङ्ग उत्पन्न होनेके पूर्व रहता है वैसा ही वह तरङ्गके विलीन होनेके पश्चात् भी रहता है; इसलिये दो तरङ्गोंके बीचकी सन्धि भी जलरूप ही है इसी प्रकार दो कल्पनाओंके बीचकी सन्धि आत्मस्वरूप ही है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि आत्माको पूर्वमें कल्पनाका साक्षी कहा गया है, जब कल्पना नहीं रहती तब उसका देखना अर्थात् साक्षित्व भी नहीं रहता, तो फिर साक्षीरूप आत्मा दो कल्पनाओंके बीचकी सन्धि कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि आत्माका दृश्य, ऐसी जो कल्पना होती है, उसके अभावमें आत्माके साक्षित्वका यदि अभाव हो गया तो उसका अस्तित्व कहाँ जायगा ? सुषुप्तिमें कल्पनाका अभाव होनेपर भी आत्माका अस्तित्व रहता ही है।

(१०)

जो निद्रा जब आवश्यक हो तब शनैः-शनैः लायी जाय, वही योगीकी समाधि है, और ऐसी क्रमिक निद्रा सम्पादन करनेका अभ्यास ही योगाभ्यास है।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(गीता)

'धैर्यद्वारा वशमें की हुई बुद्धिकी सहायतासे शनैः-शनैः विषयसे निवृत्त हो; फिर मनको आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठापित करके किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे।'

यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ॥

(पञ्चदशी)

'अभ्यासके प्रयोगसे जितने अंशमें अहङ्कारकी विस्मृति होती है, सूक्ष्मदृष्टिसम्पन्न पुरुषका उतने ही अंशोंमें स्वरूपानन्दका अनुभव होता है ऐसा अनुमान किया जाता है।'

हमारी स्वाभाविक निद्रा और समाधिमें इतना ही भेद है कि निद्रा मनुष्यके अधीन नहीं है; उसे बुलानेकी इच्छा मनुष्यको हो या न हो, वह यथासमय अकस्मात् आवेगी ही। इसीलिये उस समय आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं रहता। तेज़ घामसे सहसा घरमें आनेपर मनुष्यके नेत्रोंमें चकाचौंध हो जाती है और दर्शनयोग्य प्रकाश रहनेपर भी उसे कुछ भी नहीं दीखता। परन्तु उसी मनुष्यके शनैः-शनैः घामसे घरमें आनेपर उसको घरके पदार्थ क्रमशः दीखने लगते हैं। अरुन्धती-जैसा सूक्ष्म नक्षत्र लगातार देखते रहनेवालेको सूर्योदय होनेपर भी दीखता रहता है, ऐसा बहुत लोगोंका अनुभव है। किन्तु उस प्रकार देखते न रहनेपर सूर्योदयके उपरान्त अकस्मात् आकाशकी ओर देखनेसे वह नहीं दीखेगा। इसी प्रकार सहसा निद्रा आनेपर आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं रहता। परन्तु वही निद्रा यदि शनैः-शनैः लायी जावे, तो ज्ञाननेत्रका सहसा अभिभव न होकर पूर्ण निर्विकल्पावस्थामें भी उसका भान स्थिर रहता है। समाधिके अभ्यासमें भी ऐसा ही क्रम है। उसमें अहङ्कारका विस्मरण सहसा न होकर शनैः-शनैः होता है, इसलिये स्वरूपका भान स्थिर रहता है। इसी कारण हमने इसे 'क्रमिक निद्रा' यह नाम दिया है।

(११)

जीवसृष्टि ही हमारे सुख-दुःखका कारण है, ईशसृष्टि नहीं।

सर्वस्य जीवलोकस्य बन्धकृन्मानसं जगत्।
नबाधकं साधकञ्च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्॥

(पञ्चदशी)

'समस्त जीवलोककी मनोमयी सृष्टि ही उसके बन्धनकी उत्पादिका है। परमेश्वररचित द्वैतप्रपञ्च (अर्थात् सृष्टि) बाधक अर्थात् पीड़ा देनेवाला नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्रका साधक अर्थात् निर्वाहक है।'

सृष्टिके दो प्रकार हैं—एक 'ईशसृष्टि', और दूसरी 'जीवसृष्टि'। केवल ईश्वरकी निर्माण की हुई सृष्टि 'ईशसृष्टि' कहलाती है; यथा—मनुष्य, घोड़ा, पेड़, पत्थर, जल इत्यादि। जीव जब अपनी कल्पनाके योगसे ईशसृष्ट पदार्थोंका भिन्न-भिन्न उपयोग करके उनको भिन्न-भिन्न नाम देता है, तब उसको 'जीवसृष्टि' कहते हैं। ईश्वर सृष्टिका कर्त्तामात्र है, परन्तु जीव उसका उपभोग करता है। उदाहरण—लोभी, संन्यासी और ज्ञानी ऐसे तीन पुरुषोंने मार्गमें जाते हुए एक हीरेके टुकड़ेको पड़ा हुआ देखा। उसे देखकर लोभीको आनन्द हुआ, संन्यासी साधकके मनमें उसके प्रति तिरस्कारका और ज्ञानीके मनमें तुच्छताका भाव उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक हीरकखण्डके विषयमें तीन पुरुषोंकी तीन प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न हुई। यह बुद्धिभेद ही 'जीवसृष्टि' है। दूसरा उदाहरण—घरमें एक ही स्त्री है; किन्तु वह अपने पतिकी भार्या, सासकी बहू, ननदकी भावज और पुत्रकी माता है। इस प्रकार एक अस्थि-मांससे बनी हुई स्त्री-मूर्त्तिमें भिन्न-भिन्न सम्बन्धानुसार भिन्न-भिन्न मानसिक स्त्रियाँ जीव कर डालता है। यह जीवसृष्टि ही मनुष्यके सुख-दुःखका कारण होती है। कारण, जबतक यह मानसप्रपञ्च है तभीतक सुख-दुःख होते हैं; उसके अभावमें न सुख ही होता है, न दुःख ही। उदाहरण—बाह्य पदार्थके न रहनेपर भी मनुष्यको स्वप्नमें सुख-दुःख होते हैं; और बाह्य पदार्थके चारों ओर रहनेपर भी समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओंमें सुख-दुःखकी बाधा अणुमात्र भी नहीं होती। हीरकखण्डके उदाहरणमें ज्ञानीके तुल्य ही अन्य दोनोंने उसकी उपेक्षा की होती तो उसके सम्बन्धसे उनके मनमें यथाक्रम राग तथा द्वेष उत्पन्न नहीं होते। यहाँ उपेक्षित हीरकखण्ड 'ईशसृष्टि' है, और उसके विषयमें राग वा द्वेषकी वृत्ति 'जीवसृष्टि' है। अतः ईशसृष्टिपर गुण-दोषका आरोप न करके सभी पदार्थ समदृष्टिसे देखे जायँ, तो मनुष्यको सुख-दुःखकी बाधा होनेका कोई कारण नहीं।

(१२)

जीवसृष्टिका अत्यन्त त्याग ही जीवन्मुक्तिका लक्षण और साधन है।

हर्षामर्ष* परित्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते।

(योगवासिष्ठ)

जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।

(पञ्चदशी)

'जिसको वस्तुके लाभमें हर्ष नहीं होता, और उसके नष्ट होनेपर दुःख नहीं होता; वही जीवन्मुक्त है', 'जीवकल्पित भेदबुद्धिरूप सृष्टिके परित्यागसे जीवन्मुक्तिकी चरम सीमापर पहुँचा जाता है।' जीवसृष्टि ही सुख-दुःखका कारण है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। उसीसे यह परिणाम निकलता है कि जीवसृष्टिका त्याग

---

* हर्ष—अपने लाभमें उत्साह। अमर्ष—दूसरेके लाभमें असहिष्णुता वा विद्वेष।

किया जानेपर हर्षामर्ष न रहनेके कारण मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है ।

(१३)

गुण-दोषदृष्टि—यही दोष, और वैसी दृष्टिका अभाव (समदृष्टि)—यही गुण ।

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ।

(भागवत)

गुण अर्थात् अच्छा और दोष अर्थात् बुरा । जगत्में अमुक वस्तु किंवा अमुक बात अच्छी और अमुक बुरी, ऐसा नहीं कहा जा सकता । जो वस्तु या जो बात एक कालमें किंवा एक देशमें एक मनुष्यकी दृष्टिसे अच्छी और ग्राह्य ठहरती है, वही वस्तु या वही बात दूसरे कालमें किंवा दूसरे देशमें दूसरे मनुष्यकी दृष्टिसे बुरी और अग्राह्य ठहरती है । उदाहरण—ठंडा जल उष्ण देशमें, उष्ण कालमें तथा उष्ण पदार्थ सेवन करनेवालेको अच्छा और ग्राह्य ठहरता है, तो शीत प्रदेशमें, शीतकालमें, तथा अशक्त मनुष्यकी दृष्टिसे वही बुरा लगता है । इस प्रकार सभी पदार्थोंके गुण-दोष-सम्बन्धमें व्यभिचार (अनियतित्व, अनियम) देखा जाता है । जिसको मिष्ट पदार्थ अच्छा लगता है, उसको तीक्ष्ण वा लवणयुक्त पदार्थ अच्छा नहीं लगता । इसलिये तत्त्वदर्शी लोगोंने ऐसा निर्णय किया है कि किसी वस्तुको अच्छी या बुरी बतलाना ही बुरा है, और वैसा न कहकर समदृष्टिसे देखना ही अच्छा है । इसका कारण यह है कि, ईश्वरसृष्ट पदार्थ अच्छा भी नहीं, बुरा भी नहीं । उसमें अच्छापन या बुरापन आता है वह केवल मनुष्यकी दृष्टिसे ही आता है । इसी दृष्टिको 'जीवसृष्टि' कहते हैं । अतः यह दृष्टि ही दोष है, और ऐसी दृष्टि न होना ही गुण है ।

(१४)

साधकको प्रथम केवल अशास्त्रीय जीवसृष्टिका ही त्याग करके, अनन्तर शास्त्रीय जीवसृष्टिका त्याग करना योग्य है ।

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्त्वस्यावबोधनात् ॥
आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥

(पञ्चदशी)

'जीवनिर्मित द्वैतप्रपञ्च शास्त्रीय और अशास्त्रीय भेदसे दो प्रकारका है । जबतक तत्त्वज्ञान न हो तबतक शास्त्रीयको ग्रहण करना चाहिये । आत्मा और ब्रह्म इन दोनोंके स्वरूपका विचार शास्त्रीय मनोमय जगत् है । तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् उसे भी छोड़ देना चाहिये—ऐसा श्रुतिका आदेश है ।'

जीवसृष्टिके शास्त्रीय और अशास्त्रीय—ये दो भेद हैं । परमार्थमें उपयोगी गुरुशास्त्रादि साधनोंको 'शास्त्रीय जीवसृष्टि' कहते हैं । और इतर प्रापञ्चिक व्यवहार 'अशास्त्रीय जीवसृष्टि'में परिगणित होते हैं । यहाँ जीवसृष्टिका त्याग करनेके क्रममें साधकको ऐसी एक भ्रान्ति होनेकी सम्भावना है कि प्रथम अशास्त्रीयका त्याग न करके शास्त्रीयका ही त्याग कर दें । इस प्रकारके भ्रमवश गुरु-शास्त्रादि मोक्ष-साधनोंका त्याग प्रथम ही हो जानेके कारण पश्चात् मोक्षप्राप्ति अशक्य हो जायगी; कारण, ऐसा होनेसे गुरु-शास्त्रका महत्त्व ही मनसे हटकर ऋण-परिशोधसे पहले ही ऋण-पत्र फाड़ फेंकनेकी-सी बात हो जायगी । अतः जीवसृष्टिका त्याग उपर्युक्त सिद्धान्तानुरूप क्रमशः ही करना चाहिये ।

(१५)

उच्च साधनके स्वीकारके लिये उससे निम्न-श्रेणीका साधन छोड़ना चाहिये ।

परमार्थके अभ्यासके क्रममें उपर्युक्त तत्त्व ध्यानमें रखना चाहिये । सकाम कर्म, सकामोपासना, सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि और ज्ञान आदि इनमें एक-से-एक अधिक, ऐसा साधनका सोपान है । उनका क्रमसे ही त्याग होना चाहिये । अन्यथा स्नान-सन्ध्यादि नित्यकर्म-त्यागी आजकलके-से वाचाल भ्रष्ट वेदान्तियोंका ही घर-घरमें प्राचुर्य होगा । पक्षान्तरमें, समाधिके अभ्यासमें निमग्नचित्त होनेके कारण प्रसङ्गवशात् आपतित स्नान-सन्ध्यादि-त्यागके विषयमें कौन दोष दिखला सकता है ?

(१६)

ब्रह्माभ्यासके लिये देश-कालादिका नियम नहीं है; वह चाहे जब जिस किसी स्थितिमें किया जा सकता है ।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वञ्च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

(पञ्चदशी)

'तत्त्व-वस्तुका ही चिन्तन, उसीका कथन और उसीको परस्पर समझाना—इस प्रकार तत्त्ववस्तुमें जो एकपरता, एकाग्रता, तन्मयता की जाती है, उसे ज्ञानीलोग 'ब्रह्माभ्यास' कहते हैं।'

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥

(पञ्चदशी)

सत्य ब्रह्मवस्तुमें असत्ताकी भावना, और असत्य विश्वप्रपञ्चमें सत्यताकी भावना—इसको विपरीत भावना कहते हैं। यह क्षुधाके तुल्य प्रत्यक्ष दुःख देनेवाली है। इसे किसी भी उपायसे जीतना (दबाना) चाहिये। इस विषयमें अनुष्ठानका कोई क्रम अपेक्षित नहीं।

शास्त्रमें फल दो प्रकारके कहे गये हैं—दृष्ट और अदृष्ट। शास्त्रोक्त विधि-निषेधरूप कर्मका जो पुण्यरूप किंवा पापरूप फल मनुष्यको मरणानन्तर प्राप्त होता है, उसको 'अदृष्ट' फल कहते हैं; और इसी जन्ममें उसके किये हुए कर्मका जो निश्चित फल मनुष्यको मिलता है, वह 'दृष्ट' फल है। उदाहरण—क्षुधाशान्ति भोजनक्रियाका दृष्ट फल है; कारण वह प्रत्यक्ष है। और जप, तप इत्यादि क्रियासे उसके अनुष्ठाताको जो फल मिलता है, वह प्रत्यक्ष न होनेके कारण 'अदृष्ट'में गिना जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दृष्ट फलकी प्राप्तिके लिये जो कर्म करना हो, उसमें देश-कालादिके नियमकी आवश्यकता नहीं है। फल हस्तगत होनेतक वह कर्म करना होता है; फिर तुम उसे दिनमें करो किंवा रात्रिमें करो, घरमें करो किंवा अन्यत्र, अधिक समय करो किंवा अल्प समय, चाहे जिस प्रकार करो; तुमको फल मिलनेसे मतलब है। भोजनका ही उदाहरण लो। जितनी क्षुधा होती है, उतना ही मनुष्य खाता है। किसी प्रकार क्षुधा-निवारणसे ही मतलब होता है। परन्तु जप, तप इत्यादिका प्रकार वैसा नहीं; वे कर्म शास्त्रोक्त विधिसे ही करने चाहिये, अन्यथा प्रत्यवाय (दोष) होता है। शीर्षकमें उल्लिखित 'ब्रह्माभ्यास' भोजनवत् दृष्ट फलका देनेवाला है, इसलिये उसे देहात्मबुद्धि तथा जगत्सत्यत्वभावना निःशेष हटनेतक करना चाहिये। उसके लिये विधि या नियमका प्रयोजन नहीं है।

अब इन सिद्धान्तोंको सम्यक् स्मरण रखनेके लिये इनका सार संक्षेपतः संस्कृत श्लोकोंमें लिखकर उपसंहार किया जाता है—

हरेर्नामजपाच्चित्तनिरोधो जायते यतः ।
योग एव स मन्तव्यो योगश्चित्तेति सूत्रतः ॥ १ ॥
अज्ञात्वा प्राणिनः सर्वे जपं कुर्वन्ति सर्वदा ।
उपदेशं विना किन्तु तद् सर्वं निष्फलं भवेत् ॥ २ ॥
आत्मानात्मविवेकं यः कर्तुं शक्तो न मानवः ।
कुर्याद् गुरूपदिष्टः सन् श्रद्धया लयचिन्तनम् ॥ ३ ॥
यावद् विलीनं न मनो न तावद् वासनाक्षयः ।
प्रक्षीणायां वासनायां मनः शाम्यत्ययत्नतः ॥ ४ ॥
आत्मज्ञानेन चित्तस्य विनायासं भवेल्लयः ।
मनोनाशे भवेज्ज्ञानं सुलभत्वेन योगिनः ॥ ५ ॥
यावन्न वासना क्षीणा न तावत्तत्त्ववेदनम् ।
तत्त्वज्ञानं भवेद्यस्य क्षीयते तस्य वासना ॥ ६ ॥
वृत्तिसाक्षित्वयोगेन क्षीयन्तेऽखिलवृत्तयः ।
अयमेव ज्ञानयोगः कैवल्यं तेन लभ्यते ॥ ७ ॥
कामक्रोधादिवृत्तीनां साक्षित्वेन निरीक्षणम् ।
अयमेव जये तेषामुपायः सम्यगीरितः ॥ ८ ॥
द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये यः सन्धिरवलोक्यते ।
निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तत्र विभासते ॥ ९ ॥
समाधिः सैव सुप्तिः स्यात् प्राप्यते या शनैः शनैः ।
एवं मुमुक्षुणाभ्यासः कृतश्चेद् योग एव सः ॥१०॥
जीवकल्पितसृष्टिः स्याद्धेतुर्नः सुखदुःखयोः ।
बाधकं न भवेत् क्वापि द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ॥११॥
जीवद्वैतपरित्यागो जीवन्मुक्तेः सुसाधनम् ।
तदेव लक्षणं तस्या यत्र स्यान्निर्विकल्पता ॥१२॥
गुणदोषदशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ।
एवं श्रीभगवानाह निर्णयं गुणदोषयोः ॥१३॥
जीवद्वैतमशास्त्रीयं शास्त्रीयमिति तद् द्विधा ।
बोधात् पूर्वं त्यजेदाद्यं द्वितीयं तदनन्तरम् ॥१४॥
स्वीकृत्य साधनं श्रेष्ठमवरं त्यज्यते बुधैः ।
एवं यः साधनत्यागः क्रियतेऽसौ सुसम्मतः ॥१५॥
देहबुद्धिभ्रमो यावत्स्यात्तावद् ब्रह्म चिन्तयेत् ।
जपवद् देशकालादिनियमो न कदाचन ॥१६॥

* * *

पवित्र जीवनका दूसरा साधन

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

विचारोंकी पवित्रता

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे,
बाक़ी न मैं रहूँ न मेरी आरज़ू रहे।
जब तक कि तनमें जान रगोंमें लहू रहे,
तेरा ही ज़िक्र हो औ तेरी जुस्तजू रहे॥

हमारा कर्तव्य है कि हम प्रत्येक कार्यको प्रभुकी इच्छा समझकर करें। इस प्रकारकी भावना करते-करते हम देखेंगे कि हमारा सारा जीवन प्रभुसेवामय हो रहा है। इस भावनासे हमारे सारे कार्य पवित्र होते जायँगे जिसकी कि बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि हमारे भीतर यह भावना न आयी तो हमारी प्रार्थनाका भी कुछ विशेष अर्थ न निकलेगा। जो व्यक्ति केवल प्रशंसा खरीदनेके लिये ही प्रार्थनामें सम्मिलित होता है या दान देता है उसमें हम देखेंगे कि यह भावना उसके भीतरसे तिरोहित हो रही है। उसके सारे कार्य प्रायः दम्भ और पाखण्डसे आच्छादित हो जायँगे। और जहाँ पाखण्ड होगा वहाँसे वास्तविकता कितनी दूर होगी यह सभी जानते हैं। जहाँ प्रभुकी इच्छाको कारण समझा जायगा तथा उसीके निमित्त सारे कार्य किये जायँगे वहाँके आनन्दका तो कहना ही क्या ? मालिककी मर्ज़ीको अपनी मर्ज़ी बना लेनेवाले सत्पुरुष धन्य हैं, उनके सौभाग्यका क्या कहना ? आह, कितना सुन्दर होगा वह दिन जिस दिन हमारी भावनाएँ ऐसी हो जायँगी।

पशु किसी कार्यके परिणामको नहीं जानते, मनुष्य जान लेता है। मनुष्य और पशुमें यही तो मुख्य भेद है। जो मनुष्य शुभ परिणामवाले कार्य करता है उसे सत्पुरुष कहा जाता है। विपरीत करनेवालेको असत्-पुरुष। भले और बुरे मनुष्यमें केवल यही अन्तर है। दो व्यक्ति प्रार्थना करते हैं। एकको उससे शान्ति प्राप्त होती है, दूसरेको उससे कुछ लाभ नहीं होता! क्यों ? कारण केवल यही है कि एक सच्चे दिलसे प्रार्थना करता है दूसरा केवल दिखाऊ। एककी प्रार्थनामें उसकी सारी इच्छाओंका, सारी भावनाओंका, सारे प्रेमका अवलम्बन होता है—वह मंगलमय प्रभु। दूसरेका कुछ नहीं, वह केवल मुखसे प्रार्थनाके शब्दोंका उच्चारणमात्र करता है। उसका मन न जाने कहाँके सैर-सपाटे किया करता है, उसकी भावनाएँ न जाने कहाँ चक्कर काटा करती हैं। उसकी प्रार्थनामें कोई दिलचस्पी नहीं, वह तो सिर्फ़ बड़ाई पानेके लिये ही सब कुछ करता है। फिर यदि उसे प्रार्थनासे कुछ भी लाभ नहीं होता तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? नाटकके पात्रोंके झूठे आँसुओंसे भी कहीं वस्तुतः हमारा हृदय द्रवित हुआ करता है ? हम जानते हैं कि वे कल्पित हैं अतः उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। वास्तविकताकी तो कुछ और ही बात है। कबीरदासजी कहते हैं कि—

काँकर पाथर जोरिके मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा हुआ ख़ुदाय?

सच है प्यारे ! वह तो चींटीकी भी पुकार सुनता है। चिल्लानेकी ज़रूरत ही क्या है ? भला ऐसा भी कहीं हो सकता है कि तुम सच्चे दिलसे उसे पुकारो और वह न सुने ? क्यों न सुनेगा, अवश्य सुनेगा। घबड़ानेकी बात नहीं। विश्वास और श्रद्धाकी आवश्यकता है। प्रेमका वार कभी खाली नहीं जाता।

असर सोज़े मुहब्बतमें न हो यह ग़ैर मुमकिन है।
शमाका जिस्म घुल जाता है गर पर्वाना जलता है॥
शमा जलती है पहिले फिर फ़िदा होता है पर्वाना,
यह दोनों बेधड़क जलते हैं उल्फतका असर देखो॥

पर उस सर्वान्तर्यामीके दरबारमें ढोंगके लिये स्थान नहीं है। वहाँ तो सच्चे आँसू चाहिये। दिखाऊ नहीं। सच्चे प्रेमियोंके चरणोंकी धूलि लेनेके लिये वह स्वयं लालायित रहता है। तभी तो यह हो नहीं सकता कि तुम उसे सच्चे दिलसे पुकारो और वह तुम्हारी आवाज़पर ध्यान न दे। तुम्हारी पुकार पहुँचनेभरकी देर है वह तो दस्तबस्ता तुम्हारी ख़िदमतमें आकर हाजिर हो जायगा।

कोई व्यक्ति बीमार पड़ा है, एक व्यक्ति सेवाके दृष्टिकोणसे जाकर उसकी सेवा करता है। दूसरा किसी लाभकी आशासे या दिखाऊ सेवा करता है। सेवा दोनों करते हैं, पर दोनोंकी सेवाओंमें कितना अधिक अन्तर है? ज़मीन और आसमानका। एककी सेवा वास्तविक सेवा कही जायगी। दूसरेकी वास्तविक नहीं। ऊँची और नीची भावनाओंका अन्तर ऐसा ही होता है।

× × × ×

बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुरदुरलभ सदग्रन्थन गावा॥
साधन धाम मोच्छकर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सुधारा॥
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं करमहिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय॥
—तुलसी

इस मानवतनको पाकर भी यदि हमने इसे व्यर्थमें ही खो दिया तो इसे प्राप्त करनेसे लाभ ही क्या रहा? इस शरीरको रत्नचिन्तामणि कहा जाता है, क्योंकि इसी देहद्वारा हम अपने सर्वोच्च लक्ष्य प्रभु-साक्षात्कारतक पहुँच सकते हैं।

नर समान नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाँचत जेही॥

यदि यह अमूल्य तन और जीवन हमने कौड़ी-मोल लुटा दिया तो फिर हमारे समान अभागा और कौन होगा?

कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति न चाहेगा कि ऐसे अमूल्य जीवनको सांसारिक प्रपञ्चों, विषयभोगोंमें बिताकर इसे व्यर्थ खो दिया जाय। इसलिये यह परमावश्यक है कि इसके एक-एक क्षणका हम सदुपयोग करें। पापोंसे सर्वथा दूर रहें। सन्मार्गपर चलें और सदैव अपना जीवन पवित्रतापूर्वक बितावें। इसके लिये पवित्र विचारोंकी अत्यधिक आवश्यकता है। हमारे विचार जैसे होते हैं—हम भी वैसे ही बन जाते हैं। यदि हमारे विचार पवित्र होंगे तो फिर हमारे पवित्र होनेमें कोई सन्देह नहीं। जब कोई पापवासना हमारे मस्तिष्कमें आवेगी ही नहीं फिर उसके चरितार्थ होनेकी बात ही क्या? अतः मनुष्यके वास्तविक कल्याणके लिये पवित्र विचारोंकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीरके लिये आत्माकी, वृक्षके लिये जड़की, संसारके लिये सूर्यकी, नदीके लिये जलकी, और मकानके लिये नींवकी होती है। जिस व्यक्तिके विचार पवित्र नहीं होते उसके सारे कार्य अनावश्यक व्यर्थ और पापोंसे पूर्ण हुआ करते हैं। विचारोंके अनुकूल ही कार्य होते हैं और कार्यके अनुसार ही फल मिलता है। बुरे कार्यका फल बुरा होगा ही और अच्छेका अच्छा। इस नियमका व्यतिक्रम हो नहीं सकता। 'बोया पेड़ बबूलका आम कहाँ ते होय?' विचारों, कार्यों और फलोंका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें विचारोंका स्थान सर्वोपरि है। अतः यदि हम चाहें कि हमारे कार्योंका परिणाम शुभ हो तो सबसे पहले हमारा कर्तव्य है कि हम अपने विचार अच्छे बनावें। विचारोंको पवित्र बनाना अत्यावश्यक है।

विचारोंको पवित्र बनानेके उपाय

१—बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जगमें होय हँसाय॥
—गिरिधर कविराय

किसी भी कार्यको करनेके पूर्व उसके परिणामको भलीभाँति सोच लो। इस बातपर ख़ूब विचार कर लो कि तुम उस कार्यको क्यों कर रहे हो। उसका शुभ

परिणाम प्राप्त करनेके लिये तुमने जो उपाय सोच रक्खे हैं वे कहाँतक ठीक हैं ? ठीक भी हैं अथवा नहीं ? उसके परिणाममें वास्तवमें तुम्हारा हित होगा या नहीं । इन सब बातोंपर ख़ूब गम्भीरतासे विचार करो। बिना विचारे कोई काम मत करो। अन्यथा यह निश्चय समझो कि अन्तमें तुम्हें पछताना पड़ेगा ।

२–किसी भी कार्यके प्रारम्भमें उस मङ्गलमय प्रभुका स्मरण अवश्य करो । इससे एक तो यह होगा कि हम कोई भी कार्य उस प्रभुकी आज्ञा बिना न करेंगे, दूसरे प्रभु-इच्छाको हम उस विषयमें विशेष महत्त्व प्रदान करेंगे । उसके परिणामको प्रभुकी इच्छापर छोड़ देंगे । इस प्रकार निष्काम कर्म और कर्मफलत्याग सीखेंगे । तीसरे, ऐसा कार्य जिसमें हम प्रभुको सम्मुख रक्खेंगे शुभ होगा ही—क्योंकि किसी भी अशुभ या अपवित्र कार्यको प्रारम्भ करते समय हम उस सर्वशक्तिमान् परमपिता परमेश्वरका नाम लेनेमें हिचकते हैं । उसके लिये हमारी अन्तरात्मा हमें रोकती है । इसीलिये अमङ्गल-कर्मोंमें प्रभु हमारा साथ नहीं देते । जब हम इस प्रकारका कोई कार्य करने जाते हैं तो हमें बड़ी लज्जा प्रतीत होती है, झिझक मालूम होती है । यदि उस समय कोई उस पवित्र न्यायकारी भगवान्का नाम ले लेता है तो हम काँप उठते हैं और यदि उस समय कोई यह कह बैठे कि 'तुम ऐसा कार्य कर रहे हो तुम्हें ईश्वरका डर नहीं है ?' तो हमारे रोंगटे सतर हो जाते हैं । इसीलिये हम उस समय उस प्रभुका नाम लेना नहीं चाहते । जिस कार्यके प्रारम्भमें हमें भगवान्का नाम लेनेमें झिझक मालूम पड़े उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिये, वह कार्य पवित्र नहीं है । शुभ कार्योंमें हमारा हृदय सदैव निर्भय रहता है अतः हम बिना झिझके उस दयालु परमेश्वरसे उसके लिये प्रार्थना करते हैं । हमें उस कार्यमें उसके आशीर्वादकी पूर्ण आशा रहती है और उसकी कृपापर पूर्ण और दृढ़ विश्वास रखनेसे हम देखते हैं कि हमें निराश नहीं होना पड़ता । उसपर दृढ़ विश्वास रक्खो । बिना विश्वासके कुछ न होगा ।

बिनु बिसवास भगति नहि, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव कि लह बिश्राम ॥

—तुलसीदास

३–प्रत्येक कार्यको प्रारम्भ करते समय उस मंगलमय भगवान्की सच्चे दिलसे प्रार्थना करो जिसके फलस्वरूप वह तुम्हें उसकी पूर्तिके लिये केवल आशीर्वाद देकर ही न रह जावे प्रत्युत तुम्हारे कार्यको पूर्णतया पवित्र भी बना दे । यदि उसके पवित्र होनेमें कुछ भी कमी हो तो वह उस कमीको पूर्णतया निकाल दे । तुम्हारे विचारों, तुम्हारी भावनाओं और तुम्हारे कार्यों–सभीको पवित्रताकी ओर ले जावे । ऐसी प्रार्थनाके साथ-ही-साथ एक कार्य और भी करो । प्रत्येक कार्यको प्रभुको समर्पण कर दो ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

इस बातका सदैव स्मरण रक्खो कि पवित्र और सदिच्छाओंके साथ जो कार्य किये जाते हैं–मालिककी भेंट करनेके लिये वे ही सर्वोत्तम होते हैं । उस परमब्रह्म परमेश्वरको—जो कि पवित्रसे भी पवित्र है भला कोई मलिन वस्तु किस प्रकार भेंट को जा सकती है ? उसके मन्दिरमें तो केवल पवित्र वस्तु ही चढ़ायी जा सकती है । उसके लिये तो शुद्ध ही भेंट चाहिये ।

जब हम किसी वस्तुका किसीको समर्पण कर चुकते हैं तो फिर उस व्यक्तिका कर्तव्य हो जाता है कि वह उस वस्तुका संरक्षण करे । समर्पण करनेवाला तो अपना काम कर चुका । अब वह उसकी रक्षाका ज़िम्मेवार नहीं । तुम भी जब अपने कार्यको उस मालिककी खिदमतमें पेश कर दोगे तो फिर तुम अपने हक़से बरी हो जाओगे । फिर यह उस मालिकका

कर्तव्य होगा कि उस कार्यको अन्ततक पहुँचावे। लेकिन वह उसे अन्ततक पहुँचावे अथवा न पहुँचावे तुम्हें इससे क्या ? तुम तो अपना कर्तव्य कर चुके। तुम तो अपने फर्जसे अदा हो चुके। अब यह उसकी मर्ज़ीकी बात कि चाहे जो कुछ करे। तुम्हें उसके लिये प्रसन्न अथवा दुःखित होनेकी आवश्यकता नहीं, जिसका काम है वही जाने। तुम्हें क्या—

जा विधि राखे राम ताही विधि रहिये।

४—कार्य करते-करते बीच-बीचमें समय मिलते ही अपनी प्रार्थनाको दुहराते रहो। इसका ख़ूब स्मरण रक्खो। करते-करते कहीं यह न सोचने लग जाना कि इसका कर्ता मैं हूँ। तुम अब उसके कर्ता थोड़े ही हो। अब तो वह दयालु परमेश्वर उसका कर्ता है। तुम तो केवल निमित्तमात्र हो। सच्चे सेवककी भाँति पूरी लगनके साथ दृढ़चित्तसे उसमें लगे रहो। उसीकी मर्ज़ीको अपनी मर्ज़ी बना लो। उससे दिल खोलकर कह दो कि—

'राज़ी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा है।'

प्यारे! सेवककी अपनी इच्छा ही क्या ? उसे तो अपनी सारी इच्छाओं, सारी कामनाओंका दमन करना पड़ेगा। मालिककी ख़िदमतके लिये अपनी हस्तीको ही मिटा देना पड़ेगा, क्योंकि—

है गुमराह जिस दिलमें बाक़ी ख़ुदी है,
मिला तुझसे जिसने ख़ुदीको गँवाया॥

ख़ुदी-अहंकार-अभिमान आदिके हृदयमें रहते हुए भी कहीं सच्चे दिलसे काम हो सकता है ? अतः प्यारे कल्याणमार्गके पथिको! इस 'मैं' पनके अहंकारको हृदयसे निकाल फेंको। ख़ुदीको जला डालो, सफलताकी यही कुञ्जी है।

मुनव्वर अंजमन होता है महफिल गर्म होता है।
मगर कब? जब कि ख़ुद जलता है शमए अंजमन पहिले॥

अतः—

अगर है शौक मिलनेका तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर ख़ुदनुमाईको भसम तनपर रमाता जा॥
पकड़कर इश्क़की झाड़ू सफाकर हिज्रए दिलको।
दुईकी धूलको लेकर मुसल्ले पर उड़ाता जा॥

यदि तुम्हें सफलता प्राप्त करनेकी इच्छा है तो अपने आपको भूल जाओ। अपने कर्तापनके अहंकारको मिटा डालो। जिस काममें लगो उसीमें अपने अस्तित्वको डुबा दो। कर्ता और कार्यमें कुछ भी भेद न रहे। सफलता पानेकी इच्छातकको काम करते-करते भूल जाओ। देखोगे सफलता तुम्हारे पास आये बिना रह नहीं सकती।

प्यारे! ख़ुदीको मिटा दो, ख़ुदा मिल जावेगा।

५—कार्यके बीचमें यह मत भूल जाओ कि तुम इस कार्यको प्रभुको समर्पण कर चुके हो। इस प्रकार यदि कहीं पथसे विचलित हो गये तो बड़ा बुरा होगा। आत्मप्रशंसा, क्षणिक सुख अथवा किसी पापमें जाकर आबद्ध हो जाओगे। 'आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास' वाला हाल हो जायगा। इस प्रकारसे पथभ्रष्ट होनेका परिणाम कितना भयङ्कर होगा सोचनेसे आश्चर्यान्वित होना पड़ेगा। जैसे—तुम किसी स्त्रीको ब्रह्मचर्यपालनका उपदेश दे रहे हो और इसके लिये तुम एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त उसे सुना रहे हो जिसमें अब्रह्मचर्यसे रहने अथवा व्यभिचार करनेके भयानक परिणाम और उसकी निस्सारताका बड़ा सुन्दर वर्णन है—पर मान लो तुम्हारे श्रोता तुम्हारी कथा कहनेकी सुन्दर शैलीपर मोहित हो जाते हैं और जिसके फलस्वरूप वह तुम्हें ही चाहने लगते हैं और कथाके सार—पापसे घृणा करने, व्यभिचारसे बचनेकी ओर उनका मन ही नहीं जाता! ज़रा सोचो तो कि इसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा ? कल्याणमार्गमें इस प्रकारकी अनेकों बाधाएँ आवेंगी।

ध्यान रखना कहीं वह तुम्हें पथसे विचलित न कर दें। इस विषयमें खूब सतर्क रहना आवश्यक है। देखना अपना लक्ष्य न भूल जाना। तुम्हें अपने मंज़िले-मक़सूदपर पहुँचना है। वहाँ पहुँच करके ही विश्राम लेना।

६—कार्य करते-करते बीचमें यदि कोई आकस्मिक घटना हो जाय जिससे तुम्हें कुछ लाभ प्राप्त होनेकी आशा हो तो उससे कुछ भी लाभ उठानेका प्रयत्न न करो। मान लो तुम किसी सत्य घटना अथवा कथाका वर्णन कर रहे हो अकस्मात् उसमें तुम्हारे किसी शत्रुकी बात आ जाती है—यद्यपि कथा प्रारम्भ करनेके पूर्व उसका वर्णन लानेकी तुम्हारी लेशमात्र भी इच्छा न थी। उसके वर्णन करनेसे तुम्हारे शत्रुका अनिष्ट हो सकता है, उसकी हानि हो सकती है, उसे दण्ड मिल सकता है (सांसारिक दृष्टिसे यह तुम्हारे हितकी बात है) किन्तु तुम कभी भी ऐसा मत करो। यदि कभी ऐसा कोई प्रलोभन तुम्हारे मार्गमें आ जावे तो भूल करके भी उसके वशीभूत न हो जाओ। प्रलोभन तुम्हारा सर्वनाश ही करेंगे। उनके वशमें हो जानेसे तुम्हारा कोई भी वास्तविक लाभ न होगा। उनपर विजय प्राप्त करो।

७—धर्मके प्रत्येक कार्यमें उसके सारे सहायक साधनोंको भी सम्मिलित कर लो। इससे आवश्यकता पड़नेपर मान लो तुम्हें एकाध साधन छोड़ना पड़ा तो दूसरे सहायक साधन तुम्हें कर्तव्यपथपर दृढ़ बनाये रक्खेंगे। उससे तुम्हारी कुछ विशेष हानि न होगी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति शरीरपर विजय प्राप्त करनेके हेतु उपवास करता है, जिस समय वह बीमार पड़ जाता है अथवा कमज़ोर हो जाता है और उसे दवा खानेका आदेश मिलता है तो वह शरीरपर दयास्वरूप अथवा अपने स्वभावके कारण उपवास तोड़नेके लिये प्रलोभित हो सकता है। उसका सारा नियन्त्रण बेकार हो जाता है। परन्तु जो व्यक्ति अपने उपवासमें केवल आहारकी राजसिकता और तामसिकतापर ही नियन्त्रण नहीं रखता प्रत्युत उसके साथ ही सांसारिक तमाम भोगोंसे विरक्तिका अभ्यास करता है, मनके रहस्योंकी खोज-बीनकर उनपर नियन्त्रण रखता है, नम्रता, दयालुता, दान, प्रभु-प्रार्थना आदि-आदि तमाम साधन साथ-ही-साथ करता रहता है—उपवास तोड़नेके लिये बाध्य होनेपर भी उसकी कुछ विशेष हानि नहीं होती। वह उपवास तोड़ देनेपर भी अपने स्वादपर विजय प्राप्त करनेका अभ्यास करता रहता है, साथ ही अन्य सब साधनोंका भी पूर्ववत् अभ्यास करता रहता है। अतः लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये जितने अधिक साधन साथ-साथ चला सको चलाते रहो।

८—जो वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान् होती है उसके लिये उतना ही अधिक त्याग करना पड़ता है, उतना ही अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। मिट्टीका एक साधारण घड़ा बहुत ही मामूली चीज़ है। अतः वह हमें एक-दो पैसेमें मिल जाता है किन्तु यदि हम उसी तरह एक हीरेका मूल्य आँकने बैठें तो फिर हो चुका! मिट्टीके घड़ेकी अपेक्षा एक हीरेका मूल्य लाखों गुना अधिक है। उसके लिये यदि हज़ारों रुपये हमें देने पड़ें तो फिर इसमें आश्चर्यकी क्या बात है। जो स्थान जितना अधिक दूर होता है उसमें उतने ही अधिक कण्टकोंके आनेकी सम्भावना रहती है। सारे जगत्के स्वामी, राजाओंके भी राजा, सर्वशक्तिमान् परमब्रह्म परमेश्वरका भला कौन मूल्य आँक सकता है! ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये हमें यदि अत्यधिक त्याग करना पड़े, अनेकों कष्ट उठाने पड़ें, बहुतसे दुःख सहन करने पड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या!

प्रभु ऐसी अमूल्य वस्तुके मार्गमें सांसारिक प्रलोभन, दुःख कष्ट आदि बहुत-सी बाधाएँ आती हैं। यदि हमें उसतक पहुँचना है तो हमें हँसते-हँसते इन सबका सामना करना पड़ेगा। कोई भी प्रलोभन, कोई भी बाधा, कोई भी सङ्कट जब हमें विचलित न कर सकेगा तभी हम अपने लक्ष्यतक पहुँच सकेंगे। कितना सत्य निहित है श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालके इन शब्दोंमें—

मिलनेको प्रियतमसे जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी कुछ भी दूरीको वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता किंचित भी शत शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बंसरी नन्दकिशोर॥
मिली हुई जो कभी भाग्यवश उसको हैं आँखें होतीं।
वही जानता क़ीमत जो उस रूपमाधुरीकी होती॥
कुछ भी क़ीमत हो, परन्तु है रूपरसिक जो जन होता।
दौड़ पहुँचता लेनेको तत्काल, नहीं पलभर खोता॥

प्यारे! तुझे उस अलबेले यारके दरवाजेतक पहुँचना है। अपनी राहपर तेज़ीसे चलता चला जा। विघ्नबाधाओंकी परवा ही न कर।

९—कार्य चाहे छोटा हो चाहे बड़ा उसके निमित्त सच्चे हृदयसे पूर्ण विश्वासके साथ प्रार्थना करनी चाहिये। देखोगे, तुम्हें सफलता मिलेगी। प्रार्थना निष्फल नहीं जाती। प्रभु शरणागतवत्सल हैं, बड़े ही दयालु हैं, कृपालु हैं, न्यायकारी हैं, उनके दरबारमें अन्यायके लिये स्थान ही नहीं है। शुभ कार्योंके हेतु सच्चे दिलसे की गयी प्रार्थना अवश्य सफल होती है यह दृढ़ विश्वास रक्खो। यह प्रार्थना और प्रभुपर विश्वास——तुम्हारे विचारोंको शोधकर पूर्णतया पवित्र बना देगा।

१०—जो धन, जो समय हमें ईश्वरसेवार्थ प्राप्त हुआ है उसे उसीमें लगाना हमारा कर्तव्य है। अन्यथा करनेसे हम कर्तव्यच्युत होते हैं। कर्तव्यच्युत होना मनुष्यके लिये बड़ी लज्जाकी बात है। हम यदि ध्यानपूर्वक विचार करें कि हम इस प्रकारके कार्य कब करते हैं तो स्पष्ट पता चल जायगा कि जब हम किसी वासना काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदिके वशीभूत हो जाते हैं और अपने मनको क़ाबूमें नहीं रख पाते हैं तभी हम इस प्रकारके कार्य करते हैं। प्यारे! हमारे भीतर जबतक इस प्रकारकी गन्दगियाँ भरी रहेंगी तबतक न तो हम पवित्र हो सकेंगे, न हमारे कार्य पवित्र हो सकेंगे और न हमारे विचार पवित्र हो सकेंगे! किसी भी कल्याणकामीका बिना इन्हें जीते काम नहीं चल सकता। इनपर विजय प्राप्त कर लेना यद्यपि सहज नहीं है तो भी अभ्यास करते-करते क्या नहीं हो जाता?

करत करत अभ्यासके जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिलपर होत निसान॥

गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(६। ३५)

सांसारिक सारे प्रलोभनों, सारी कामनाओं, वासनाओं, भोगों आदिसे सर्वरूपेण विरक्ति और भगवत्प्रेममें सदैव निमग्न रहनेका सदैव अभ्यास करते रहो, बस, देखोगे कि हमारे विचार स्वयमेव पवित्र होते जा रहे हैं, कामनाओंका अन्त होता जा रहा है, मन क़ाबूमें आता जा रहा है, उस सच्चिदानन्दके श्रीचरणोंमें दिन-प्रति-दिन नित नूतन प्रेम बढ़ता जा रहा है। विचारोंको पवित्र रखनेका यह सर्वोत्तम साधन है।

* * *

भगवान् अवतार कब लेते हैं ?

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०)

इस समय दुनियाभरमें ऐसा घोर पाप, अन्याय और क्रूराचार फैला हुआ है कि निर्बल और धर्मभीरु पुरुषका निर्वाह और टिकाव भी कठिन हो गया है; और इन पापादिके स्वाभाविक परिणामके रूपपर कष्ट भी ऐसी असंख्य और असह्य अवस्थातक पहुँच चुके हैं कि जिनको पाप-पुण्य और उनके परिणामका यथार्थ बोध है ऐसे पुरुष बिलबिला उठे हैं, यद्यपि साथ ही मोह भी इस दशातक फैल चुका है कि मानो कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है जिससे ऐसे विवेकी पुरुष भी इने-गिने रह गये हैं। परन्तु परिस्थिति ऐसी हो गयी है कि मनुष्यकी शक्तिके भीतर उद्धारका कोई उपाय भी दिखायी नहीं देता। ऐसी असहाय दशामें स्वाभाविक है कि विवेकी लोग जिज्ञासा करें कि भगवान् अवतार कब लिया करते हैं जिससे वे ही उनका उद्धार करें।

इस विषयपर शास्त्रावलोकन, अनुभव और तर्कसे जो सिद्धान्त हमारी शक्तिके अनुसार हमको जान पड़े हैं उनको हम पाठकोंके समक्ष रखते हैं। यदि उचित दिखायी दे तो वे उनपर विचार करें।

१—इस बातको हम स्वीकार करते हैं कि किसी व्यक्तिविशेषको अवश्यम्भावी कर्मका फल देनेके लिये अथवा किसी निरपराध व्यक्तिकी रक्षा करनेके लिये अथवा उसपर क्रूराचार करनेवाले दुष्टको रोकने अथवा उसको दण्ड देनेके लिये, भगवान् किसी भी युगके किसी समयमें, किसी अन्य व्यक्ति अथवा निमित्तको खड़ा कर सकते हैं; और जहाँ ऐसा अवसर न हो वहाँ स्वयं औरके अथवा अपने ही रूपमें उस कार्यको कर सकते हैं। क्योंकि शास्त्रानुसार कर्मफलदाता भगवान् हैं और वे कृतहान और अकृताभ्यागम नहीं होने दे सकते अर्थात् जो सुख-दुःख मनुष्यको पूर्वकर्मानुसार भोगने हैं उनको नष्ट नहीं होने दे सकते और जिन सुख-दुःखको भोगने योग्य उसके पूर्वकर्म हैं ही नहीं उनको होने भी नहीं दे सकते। इसके उदाहरण इस घोर समयमें भी मिलते हैं। परन्तु यदि ये अवतार मान लिये जायँ तो भी व्यक्त्यर्थक हैं जिनके विषयमें न जिज्ञासा है और न यह लेख है।

२—जिज्ञासा और इस लेखके विषय तो लोकार्थक अवतार हैं, जिसके सिद्धान्त सूत्रोंके तौरपर श्रीमद्भगवद्गीताके नीचे लिखे प्रसिद्ध श्लोक हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

परन्तु इन श्लोकोंका यह अर्थ नहीं है कि जहाँ धर्मकी घटती और अधर्मकी बढ़ती प्रारम्भ हुई और दुष्टलोगोंने साधु पुरुषोंको सताना प्रारम्भ किया कि भगवान्ने अवतार लिया। यदि ऐसा हो तो अधर्म और दुष्ट तो कभी सिर उठा ही नहीं सकते और जब देखो तब धर्म और साधुओंका बोलबाला ही रहे। यह अवस्था रहे तो स्वर्गादि लोकोंमें तो रहनेको स्थान ही न रहे और मनुष्य तथा नरकादि लोक उजड़ जायँ और कदाचित् सृष्टि भी अधिक कालतक न चले। यदि यह दशा हो जाय तो सृष्टिके मदारीका खेल ही बिगड़ जाय और उसको झोलीझंडा उठाकर चल ही देना पड़े। उस मायावीका यही तो खेल है कि प्रत्येक युगमें धर्माधर्मका कुछ-न-कुछ तारतम्य

बना ही रहे जिससे परिवर्तन, नवीनता और सृष्टि-वैचित्र्यका प्रवाह नदीके जलकी भाँति चलता ही रहे, न कि तलैयाके पानीकी भाँति एक दशामें रहकर और रुककर सड़ और सूख जाय ।

३–चारों युगोंमें धर्माधर्मका तारतम्य विशेष रहता ही है । मान लीजिये कि सत्ययुगमें प्रतिसैकड़े ८० अंश धर्मके और २० अंश अधर्मके; त्रेतामें ६० धर्मके और ४० अधर्मके; द्वापरमें ४० धर्मके और ६० अधर्मके; और कलियुगमें २० धर्मके और ८० अधर्मके रहते हों तो ये ही युगधर्म हैं । जबतक धर्माधर्मका यह तारतम्य बना रहेगा तबतक भगवान्‌को अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं है । इसीलिये नारदने कलियुगके सम्बन्धमें भक्तिसे कहा है कि—

अयन्तु युगधर्मो हि वर्त्तते कस्य दूषणम् ।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटस्थितः ॥
(भागवत माहात्म्य १ । ७६)

४–भगवान्‌का अवतार भी लोगोंके कर्मानुरूप ही होता है । अन्यथा उनपर कृतहान और अकृताभ्यागम और वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है । पूर्व-पूर्व युगोंमें उत्तरोत्तर युगोंसे लोग अधिक संख्यामें और अधिक मात्रामें धर्मात्मा अथवा आध्यात्मिक शक्तिशाली होते हैं । इसलिये जहाँ पूर्व-पूर्व युगोंमें साधारण प्रसङ्गोंपर भी भगवान् अवतार ले सकते हैं वहाँ उत्तरोत्तर युगोंमें विशेष अवसरोंपर ही ले सकते हैं ।

५–अवतार भी तभी हो सकता है जब धर्मात्माओंका विशेष समुदाय स्वयं अधर्मसे डरकर उसको न करे और अधर्मियोंके दुराचारोंसे इतना पीड़ित हो जाय कि उसका रोम-रोम त्राहि-त्राहि करने लग जाय और उद्धारके लिये दिनरात भगवान्‌में लौ लगा दे । अवतारोंके प्रसङ्गमें पुराणोंमें प्रायः उल्लेख रहता है कि जब धर्मात्मा लोगों, देवताओं, अथवा पृथ्वीने भगवान्‌के शरणमें जाकर गुहार की तब अवतारविशेष हुआ । परन्तु कर्मानुरूपता वहाँ भी अनुगत है, अर्थात् धर्मात्माओंके कर्म ही ऐसे नहीं थे कि अधर्मी लोग अधिक समयतक उनको सता सकते । इसीलिये उनको बचानेके अर्थ दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये भगवान्‌को अगत्या अवतार लेना पड़ा ।

६–यह बात नहीं है कि वर्तमान कालमें पापोंकी वृद्धि और धर्मका क्षय स्वाभाविक होते हुए भी ऐसा घोर समय अभी नहीं आया है कि जिसके कारण भगवान्‌को अवतार लेना पड़े । ऐसा समय तो कभीसे आ गया, परन्तु पापोंको पाप और तज्जन्य कष्टोंको कष्ट समझकर पापोंसे स्वयं बचनेवाले और कष्टोंसे उद्धारके लिये भगवान्‌में लौ लगानेवाले विवेकी, अश्रद्धा, अर्थान्धता और मोहके बेढब तौरपर फैल जानेसे इने-गिने रह गये हैं और शेष सब लोग धन, अधिकार और भोग-विलासके पीछे किसी पापको पाप और तज्जन्य कष्टोंको कष्ट नहीं समझते और पापपरिस्थितिको दूर करनेकी जगह प्रसन्न हो-होकर उससे भरपेट लाभ उठाना चाहते हैं । ऐसी दशामें किसके लिये भगवान् अवतार लें ? कौन जाने इने-गिने विवेकियोंके भी ऐसे ही कर्म हों जिनसे उनको ऐसे भयङ्कर समयमें कष्ट उठाना और अगतिक होकर स्वयं पथविचलित होना आवश्यक हो । यदि उनके ऐसे कर्म न हों तो भगवान्‌के नियमानुसार ऐसी दशामें भी कष्ट और पाप उनको नहीं छू सकते ।

७–भगवान्‌के हाथमें और उपाय रहते हुए वे व्यर्थ अवतार भी क्यों लें ? पापियोंकी आँखें खोलनेके लिये वे भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी आदि उपायोंको काममें ले सकते हैं और संग्रामोंके द्वारा भी दुष्टोंका परस्पर ध्वंस कर सकते हैं । दुष्टोंको

सन्मार्गपर लानेके लिये वे सत्यपर आरूढ़ महापुरुषोंको उत्पन्न और प्रेरण भी कर सकते हैं । इतनेपर भी यदि उनकी आँखें न खुलें तो इसका अर्थ यही है कि पापकर्मोंने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर रक्खी है और न उनके पापकर्मोंका सिलसिला समाप्त होता है और न उनकी दुर्गतिका अन्त होता है । जब सब लोक ही पापमें डूबा हुआ हो तो किस भागके उद्धार और किस भागके दण्डके लिये भगवान् अवतार लें ? ऐसी दशामें तर्कशास्त्रके मतसे लाघव इसीमें है कि 'किये जाओ और भोगे जाओ और आपसमें मरे-कटे जाओ; किसी दिन तुम्हारे कर्मोंका लेखा बराबर हो जायगा तो तुम्हारा छुटकारा आप हो जायगा ।'

८–रहा कल्कि-अवतार । सो उसके विषयमें पुराणोंमें स्पष्ट तौरपर लिख रक्खा है कि वह कलियुगके अन्तमें सत्ययुग स्थापन करनेके लिये होगा । अभी कलियुग लगा ही है और उसका अन्त होनेको लाखों वर्ष बाकी हैं और धर्माधर्मके तारतम्यमें एक साथ भारी परिवर्तन करनेके लिये उसका होना परमावश्यक ही है । परन्तु अभीसे उसकी आशा बाँधना व्यर्थ है । इस बीच कलियुगके योग्य धर्माधर्मके तारतम्यको मर्यादाके भीतर रखनेके लिये भगवान्के पास अवतारके बिना भी अनेक उपाय हैं ।

निष्कर्ष यह है कि हजारों वर्षोंसे हमारी नस-नसमें आध्यात्मिक और सांसारिक स्वार्थपरताने तो भरपूर घर कर ही रक्खा था, अब तो पाश्चात्य शासन और शिक्षाके प्रभावसे हम धन, अधिकार और भोगविलासके पीछे ऐसे आटा बाँधकर पड़े हैं कि ईश्वर और धर्म दोनोंको हमने ताकमें रख दिया है; यहाँतक कि—

हस्तो हस्तं परिमुषेद्युगान्ते प्रत्युपस्थिते ।
(महा० वन० १९०।३८)

अर्थात् सगा भाई सगे भाईको खा जानेमें संकोच नहीं करता । यही क्यों, तनिकसे अर्थके लिये आज मनुष्य समग्र स्वजाति और स्वदेशका गला काट सकता है । आज तो मनुष्यका यह सिद्धान्त हो गया है कि—

'Who dies, if I live?
Who lives, if I die?'

यह राक्षसी अर्थपरता घोरसे घोर पापोंका मूल और भण्डार है । इसीके फलस्वरूप हम सैकड़ों वर्षोंसे अनेक सन्ताप तो उठा ही रहे हैं, परन्तु दूर दृष्टिसे इस आसुरी अर्थपरताके भविष्य परिणामको विचारा जाय तो आगे हमको ऐसी अग्नि-परीक्षामें उतरना है जिसमें धन, अधिकार और भोगविलास ही स्वप्न नहीं हो जायँगे किन्तु एक-एक घड़ी निकालना कठिन हो जायगा । धन, अधिकार और भोग-विलासको तिलाञ्जलि देकर 'स्वार्थो यस्य परार्थ एव' इस न्यायसे स्वजातिसेवामें लग जानेके सिवा इसके उद्धारका और कोई उपाय ही नहीं ।

कैसे आश्चर्यकी बात है कि—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥
(जीवन्मुक्तिविवेक)

कैसी विडम्बना है कि कुल्हाड़ी तो अपने पैरोंपर अपने हाथसे मारें और जानना यह चाहें कि हमारे हाथसे कुल्हाड़ी छीननेके लिये भगवान् अवतार कब लेंगे ?

* * *

पश्य मे योगमैश्वरम्

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

'विश्वगुरु श्रीकृष्ण' शीर्षक लेखमें गीताके अष्टम अध्यायतक श्रीकृष्णने जो आत्मपरिचय दिया है उसपर आलोचना की गयी थी। नवम अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण पूर्वके अध्यायोंमें वर्णित सिद्धान्तोंका संक्षेपमें कथन करके अपना और भी निगूढ़ परिचय देते हैं। अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुनके मनोयोगको विशेषरूपसे आकर्षण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥
(गीता ९। १-२)

'तु' शब्दके प्रयोगद्वारा भगवान् यह इशारा करते हैं कि इससे पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यहाँ कुछ विलक्षण—नयी बात कही जाती है। भगवान्का यह वक्तव्य तत्त्व बहुत ही गुह्य है, सब जगह इसे नहीं कहा जा सकता, जिसके हृदयमें गुरुवाक्यके प्रति अश्रद्धा और दोषदृष्टि है एवं जिसका भगवान्में अनुराग नहीं है, ऐसे मनुष्यके हृदयमें इस तत्त्वके स्वरूपतः प्रकाशित होनेकी सम्भावना नहीं है। ऐसे मनुष्योंके सामने इस तत्त्वके कहे जानेसे वे इसका यथार्थ तत्त्व न समझकर विकृत अर्थ ही ग्रहण करेंगे। इन्हीं सब बातोंको समझानेके लिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा, 'यह गुह्यतम रहस्य है और तुम 'अनसूयु' भक्त हो इसीसे तुम्हारे सामने यह प्रकट किया जा रहा है। यह तत्त्वज्ञान और इसका साधनमार्ग दोनों ही मैं तुम्हें बतलाता हूँ। इसको जानकर तुम सब प्रकारके अशुभोंसे अनायास ही छूट जाओगे। याद रखना, यह विद्या सब विद्याओंकी राजा है और रहस्यमयी विद्याओंमें अतिशय रहस्य है। इसके समान पवित्र और कुछ भी नहीं है। इसकी सत्यता प्रत्यक्ष अनुभूतिके योग्य है, एवं इस विद्याकी एक और भी विशेषता यह है कि सब धर्मोंका सार इसमें समाया हुआ है, तथा इसका साधन बहुत सहज है और फल अनन्त है।'

भगवान् मानवचित्तको स्तरोंके अनुसार ही अपने अप्रमेय अतर्क्य स्वरूपका परिचय दिया करते हैं। मानवचित्तका जैसा विकाश होता है, भगवान्का प्रकाश भी उसमें वैसा ही होता है। मनुष्य जब भोगोंके पीछे पागल होता है, तब भगवान् उसकी बुद्धिमें भोग देनेवाले देवताके रूपमें प्रतीत होते हैं। मायामुग्ध मानव इहलौकिक और पारलौकिक विशेष-विशेष भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये वासनाके द्वारा सञ्चालित होकर उसीके अनुकूल नाना प्रकारकी विशेष-विशेष कर्मपद्धतियों और नियमोंको स्वीकार करता है। अपनी शक्तिकी अल्पताका अनुभव करनेके साथ ही वह अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवताओंकी कृपा चाहता है। देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिये नाना प्रकारके उपचारोंसे उनकी पूजा-अर्चना करता है। विश्व-प्रकृतिके अधिष्ठाता वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् भी प्रकृतिराज्यमें विभिन्न विभागोंके नियन्त्रणके लिये नियोजित अपने विभूतिस्वरूप विशेष-विशेष देवताओंके रूपमें ही अपनेको प्रकट करके उस सकाम भावसे पूजा करनेवाले मनुष्यकी इच्छा पूर्ण करते हैं। ऐसे मनुष्योंके वासनावासित चित्तमें समग्र विश्वप्रकृतिमें ओतप्रोत ऐक्यसूत्र नहीं दिखायी पड़ता। उसके अधिष्ठाता एक अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी भी उन्हें उपलब्धि

नहीं होती। उनके हृदयमें भगवान् अपने स्व-रूपसे प्रकट नहीं होते। बुद्धिके विकाश और निर्मलताके साथ ही साथ मनुष्य क्रमशः विश्वके अनन्त प्रकार वैचित्र्यमें ऐक्य देखना सीखता है और तब इस विश्वके स्रष्टा, नियन्ता, संहर्ता और कर्मफलविधाता एक अद्वितीय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरका अस्तित्व भी उसके लिये सत्य प्रतीत होने लगता है।

परन्तु परमेश्वरके अस्तित्वका ज्ञान होनेसे ही उनके स्व-रूपका परिचय नहीं हो जाता। वे साकार हैं या निराकार, सगुण हैं या निर्गुण, सविशेष हैं या निर्विशेष और सक्रिय हैं या निष्क्रिय? यदि उनमें आकार, गुण या क्रिया हैं तो उनका वह आकार कैसा है? हमारे इन्द्रियग्राह्य किसी आकारके साथ उसका किसी तरहका सादृश्य है या नहीं? उनके गुण और कर्म किस प्रकारके हैं? जीव-जगत्में हम जिन गुणों और क्रियाओंको जानते हैं, भगवान्के गुण और कर्म भी उसी जातिके हैं या उससे भिन्नजातीय हैं, यदि उनमें कोई विशेषता, भेद या वैचित्र्य है तो वह कैसा है? जगत्के साथ और जागतिक मनुष्यादि जीवों, विचित्र वस्तुओं और व्यापारोंके साथ उनका किस प्रकार सम्बन्ध है? वे जगत्के बाहर या भीतर, किसी स्थानविशेषमें विराजित रहकर अपनी शक्तिसे अपनेसे बाहरके समस्त पदार्थों और व्यापारोंका नियन्त्रण करते हैं या वे सर्वव्यापी हैं? जगत्का प्रत्येक व्यापार उन्हींकी इच्छासे परिचालित होता है या जगत्की सृष्टि करके उसके प्रत्येक विभागका शासन करनेके लिये उन्होंने कुछ अलंध्य धर्मविधियोंको बनाकर—कानून पास करके—छोड़ दिया है और वे आप उसके बारेमें निश्चिन्त और निश्चेष्ट होकर केवल आत्मसुखानुभूतिमें डूब रहे हैं? वे सर्वव्यापी हैं तो उनका सर्वव्यापित्व कैसा है? वे आकाशादि जड वस्तुओंकी भाँति सर्वत्र फैले हुए हैं या रसयुक्त वस्तुओंमें रसकी तरह सब वस्तुओंमें अनुस्यूत हैं, अथवा अन्तर्यामी आत्माके रूपमें समस्त वस्तुओंके भीतर रहकर सबकी सब प्रकारकी गति, क्रिया और परिणामका नियन्त्रण करते हैं, या विश्वजगत्के अधिष्ठान और आश्रय होनेके कारण ही औपाधिक दृष्टिसे उन्हें सर्वव्यापी कहा जाता है? जीव और जगत् परमेश्वरसे स्वरूपतः भिन्न है या अभिन्न? अथवा भिन्न भी है और अभिन्न भी है? जगत् सचमुच है या वस्तुतः एकमात्र वे ही हैं और उन्हींमें जगत्का केवल प्रातीतिक भावमात्र हो रहा है? जीवके साथ जगत्का क्या सम्बन्ध है? जीव जगत्के सम्पर्कसे पूर्णतया मुक्त होता है या नहीं, और मुक्त होनेपर वह परमेश्वरके साथ सम्पूर्ण रूपसे एक हो जाता है या उनके साथ किसी सम्बन्धमें जुड़कर अपने वैशिष्ट्यकी रक्षा करता है? भगवान् दयामय, प्रेममय, सुन्दर और मधुर हैं, इन सब बातोंमें कोई वास्तविक सार्थकता है या नहीं?

मानवीय बुद्धि जिस परिमाणमें जाग्रत्, मार्जित और सुसंस्कृत होती है, उसी परिमाणमें ऐसे नाना प्रकारके प्रश्न चित्तमें पैदा होते हैं और इनका उत्तर पानेकी चेष्टा की जाती है। इसी तत्त्वजिज्ञासासे दार्शनिक गवेषणाओंका विस्तार होता है। विषयग्राहिणी बुद्धि प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान और युक्तिपर निर्भर करके सर्वविषयातीत परमतत्त्व-सम्बन्धी इन समस्याओंके समाधानका आग्रह करती है। फल यह होता है कि कोई भी समाधान सर्वग्राह्य नहीं होकर अनेकों प्रकारके मतमतान्तर बन जाते हैं। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें एक विशेष विघ्न यह है कि विषयाभिमुखी बुद्धिके लिये परमतत्त्वको अपने विषयरूपसे प्राप्त करनेकी चेष्टाको छोड़ना भी सम्भव नहीं, और

बुद्धिके प्रतिसंवेदी बुद्धिके अविषय इस परमतत्त्वका बुद्धिके विषयरूपमें प्राप्त होना भी सम्भव नहीं। जो सब बुद्धियोंका प्रकाशक है, जिसकी चैतन्य-ज्योतिसे बुद्धि सचेतन और ज्योतिष्मती होकर अपने विषयोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होती है, उसको विषयरूपमें प्रकाशित करनेकी बुद्धिकी सामर्थ्य कहाँ है? बुद्धि स्वयं जड है, वह अपना प्रकाश करनेमें असमर्थ है; तथापि अन्य सब जडोंकी अपेक्षा स्वच्छ होनेके कारण वह चैतन्य-प्रभासे प्रभान्वित और प्रकाश-स्वभाववाली होकर अन्य समस्त जडवर्गको प्रकाशित कर सकती है—अपने ज्ञानका विषय बना सकती है। परन्तु चैतन्य तो उसका विषयी है—विषय नहीं है। बुद्धि उस चैतन्यका चिन्तन करनेमें उसपर विषयके धर्मका आरोप कर बैठती है, जड विषयके सम्बन्धमें जिस तरह युक्तियोंका प्रयोग करना उसका स्वभाव है, विषयी चैतन्यके सम्बन्धमें भी वह उन्हीं युक्ति-तर्कोंका प्रयोग करने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह सर्वविषयातीत, सर्वविषयप्रकाशक, सर्वविषयाश्रय चैतन्यस्वरूप परमतत्त्व मानो उन युक्ति-तर्कोंके पीछे रहकर उसका उपहास किया करता है।

इतना होनेपर भी इस बुद्धिके द्वारा ही तो उस परमतत्त्वको पहचानना होगा। बुद्धिमें उसके स्वरूपका भास हुए बिना उसको जानना सम्भव ही नहीं है। उसको जाने बिना बुद्धिकी सत्यकी खोजकी सार्थकता कहाँ है? मानव-जीवनकी सफलता कहाँ है? और दुःखसन्तापके हाहाकारसे छुटकारा ही कहाँ है? फिर उपाय क्या है? उपाय यही है कि बुद्धिको विषयाभिमुखी वृत्तिका त्याग करके अन्तर्मुखी होना पड़ेगा, विषयावलम्बी युक्तितर्कोंसे आस्थाको सर्वथा हटाकर अपने अन्तर्यामी प्रकाशक परमात्माकी ओर वृत्ति लगा देनी पड़ेगी। विषयोंके पीछे दौड़नेवाली दृष्टि और विषयाश्रयी युक्तितर्कोंके मोहसे छूटकर बुद्धि जितनी-जितनी परमात्मनिष्ठ, निर्मल और निश्चल होकर उच्च-से-उच्चतर स्तरपर पहुँचती है, उस बुद्धिमें स्तर-स्तरपर भगवान् उतना-उतना ही अपने स्वरूपका प्रकाश करते रहते हैं, और उतना-उतना ही क्रमशः सब समस्याओंका समाधान—सभी आपातविरोधी भावोंका समन्वय अपने-आप होता जाता है। विशुद्ध बुद्धिमें भगवान्‌का प्रकट होना ही भगवान्‌को जाननेका एकमात्र उपाय है। इस सम्बन्धमें विशेष आलोचना साधनतत्त्वके प्रसंगमें की जा सकती है।

नवम अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूपके सम्बन्धमें जिस रहस्यको खोलना चाहते हैं उसकी भूमिकास्वरूप उन्होंने सप्तम और अष्टम अध्यायमें दिये हुए परिचयकी पुनरुक्ति की, और उक्तिको ऐसी भाषामें कहा कि जिसमें जडविहारिणी बुद्धिको वह अपनेसे विरोधी प्रतीत हो, और बुद्धिके साधारण स्वभावका परिवर्तन करके ही भगवान्‌के स्वरूपको पहचाननेकी चेष्टा करनी पड़ेगी, इस बातका भी इशारा मिल जाय। इसीसे उन्होंने कहा—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

"मुझ 'अव्यक्तमूर्त्ति' के द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है, और सभी पदार्थ मुझमें हैं। दूसरी ओर, मैं उनमें नहीं हूँ। वे पदार्थ भी वस्तुतः मुझमें नहीं हैं। मेरा यह 'ऐश्वरयोग' देखो। मैं स्वरूपतः (ममात्मा) भूतसमूहका उत्पादक और धारक होकर भी उनके साथ किसी प्रकार भी लिपायमान नहीं हूँ।" बातें आपातविरोधी-सी मालूम पड़ती हैं। मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ, सब कुछ मुझमें है और कुछ भी मुझमें नहीं है। न्यायकी युक्तिसे ऐसे

परस्परविरोधी दोनों पक्षोंका स्वीकार किसी हालतमें ठीक नहीं समझा जा सकता । भगवद्वाक्य या शास्त्रवाक्य मानकर यदि इनकी सत्यता स्वीकार करनी पड़ती है तो फिर इनका विरोध मिटानेके लिये इनके अर्थके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी कल्पनाओंका आश्रय लेना पड़ता है । एक पक्ष तात्त्विक या पारमार्थिक है, दूसरा पक्ष औपाधिक या व्यावहारिक है; एक पक्ष मुख्य अर्थमें है तो दूसरा गौण अर्थमें है । इस प्रकारकी अनेकों कल्पनाएँ दार्शनिकोंने की हैं और युक्तितर्कद्वारा अपनी कल्पनाका समर्थन और दूसरोंकी कल्पनाओंका खण्डन किया है ।

मनुष्यकी साधारण बुद्धिमें एक ही व्यक्तिका एक ही समय सर्वव्यापी और सर्वातीत, सर्वभूतोंके निवास और सर्वभूतोंके संस्पर्शसे रहित, सर्वविशिष्ट और सर्वसंगरहित, सगुण और निर्गुण होना असम्भव प्रतीत होगा । अनन्यसाधारण उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण इस बातको जानते हैं परन्तु इस अहंभावनाका निराकरण करनेके लिये वे तर्कानुमोदित युक्तिजालका विस्तार न करके केवल इतना ही कहते हैं—'पश्य मे योगमैश्वरम् ।'—देखो, मेरा 'ऐश्वरयोग' कैसा है । सब होकर भी कुछ न होना, सर्वत्र रहकर भी कहीं न रहना, सब गुणोंका आधार होकर भी गुणातीत रहना, पदार्थमात्रका आश्रय होकर भी सदा असंगस्वरूप रहना, नियत परिणामशील विश्वरूपमें अपनेको अभिव्यक्त करके भी नित्य अद्वितीय अपरिणामी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्दघन रूपमें स्थित रहना—यह परमेश्वरकी अघटनघटनापटीयसी असाधारणी शक्ति है । इसीका नाम 'ऐश्वरयोग' है ।

विषय-ज्ञानकी गजसे ईश्वरकी शक्तिका माप नहीं किया जा सकता । ऐश्वरयोग या ईश्वरकी अनन्यसाधारण शक्ति और ईश्वरका स्वभाव वैषयिकी बुद्धिके लिये अगम्य है । परन्तु बुद्धि जब विषयोंकी चिन्ता और विषयोंको तौलनेवाले तराजूको पीछे फेंककर अपने और विश्वप्रपञ्चके प्रकाशक चैतन्यस्वरूपमें समाहित होती है, तब वह चित्‌में समाहित बुद्धि समझ पाती है कि जड प्रकृतिमें जो कुछ विरोध या असम्भव है, चित्स्वरूपमें वह विरोध या असम्भव है नहीं । कार्यजगत्‌में जडमिश्रित जीवके लिये जो विरोध या असम्भव है, जीव-जडातीत सर्वकारणकारण परमेश्वरमें वह विरोध या असम्भव नहीं है । बुद्धिके मापक यन्त्रमें जितना विरोध या असामञ्जस्य है, वह सब विषयक्षेत्र या कार्यजगत्‌में ही है; सम्पूर्ण विरोध और असामञ्जस्यकी परिसमाप्ति और पूर्णरूपसे लय परमेश्वरमें—जीवप्रकृति और जडप्रकृतिके अधिष्ठाता, क्षराक्षरातीत अद्वितीय पुरुषोत्तममें है ।

पार्थसारथि-रूपमें स्थित, घोड़ोंकी लगाम थामे हुए 'मानुषीं तनुमाश्रितः' श्रीकृष्ण अपनेको 'अव्यक्तमूर्ति' कहते हैं, और 'मया' पदके विशेषणरूपमें 'अव्यक्तमूर्ति' पदका व्यवहार करते हैं । इस 'अव्यक्त' शब्दका अर्थ अनभिव्यक्त या अप्रकाशित नहीं है, न सांख्योक्त 'मूला प्रकृति' या सप्तमाध्यायोक्त 'अपरा प्रकृति' ही है । अष्टम अध्यायमें भगवान्‌ने इस अव्यक्तमूर्तिका परिचय दिया है ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्॥

उस (सांख्योक्त प्रकृतिरूप या भगवान्‌की अपरा प्रकृतिरूप) अव्यक्तसे भी अतीत अन्य एक अविकारी सनातन 'अव्यक्त' भाव है । इस 'अव्यक्त' को अक्षर भी कहते हैं । यह अव्यक्त अक्षर ही परमा गति है । अर्थात् इससे परे और कुछ भी नहीं है । यह अव्यक्त जैसे सांख्यके प्रकृतिरूप अव्यक्तसे ऊपर है, वैसे ही

यह अक्षर भी सांख्यके पुरुषरूप अक्षरसे ऊपर है । इस सर्वातीत, देश-काल-अवस्था-परिणामसे अतीत, प्रकृतिपुरुषाश्रय, सच्चिदानन्दघन परम अव्यक्त या परम अक्षर भावको ही भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मूर्ति बतलाते हैं । सातवें अध्यायमें भी भगवान्ने इस जीव-जडातीत अव्यक्त भावको ही अपना स्वरूप——अपना अव्यय, अनुत्तम (सर्वोत्तम) परम भाव बतलाया है ।

इन अव्यक्तमूर्ति भगवान् पुरुषोत्तममें जड और चेतन——क्षर और अक्षर——जगत् और जीव परस्परके सहित अभिन्नभावसे समाहित हैं । बुद्धिके विषयरूपमें जड और चेतन परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । इसीलिये बुद्धि जड और चेतनके संयोगकी कोई समीचीन व्याख्या नहीं कर सकती । संयोग तो जडका धर्म है । और जड अपने अस्तित्व, प्रकाश, परिणाम आदि सभी बातोंके लिये चेतनकी अपेक्षा रखता है, और चेतनको भी अपनी अभिव्यक्तिके लिये जडकी अपेक्षा है । जड जगत्को प्रकाशित और धारण करके ही, अखण्ड वैचित्र्यमय विश्वको आलिंगन करके ही चेतन अपनी सत्ता और स्वरूपको व्यक्त कर रहा है । जड प्रकृति भी इसीसे अनन्त रूपों और अनन्त भावोंमें विकसित हो रही है । इन दोनोंके सम्बन्धको अस्वीकार नहीं किया जा सकता । बुद्धि भले ही इसको अविवेककृत संयोग या अविद्याजनित अध्यास कहकर जरा सुस्ता ले । परन्तु इससे सम्बन्ध और परस्परापेक्षित्वका हेतुनिर्देश कहाँ होता है ? आत्यन्तिक विलक्षण दो सत्ताओंका सम्बन्ध और परम्परापेक्षित्व क्या सम्भव है ?

इस प्रकार इनके अनिवार्य परस्परापेक्षित्वसे यही धारणा होती है कि मूलतः इन दोनोंकी एक अभेद-भूमि है । अविकारी प्रकाशधर्मी चेतनकी विशुद्धावस्था और विकारी जडकी सूक्ष्मतम आदि कारणावस्था दोनों ही स्वरूपतः एक है या परस्पर अभेदमें स्थित है । जिस परिपूर्ण स्वप्रकाश अखण्ड सत्तामें चेतन और जड अविभक्त और अभिन्नरूपसे सम्मिलित हैं, जिस सत्तामें चेतन सत्ता चेतनका भी मूलस्वरूप है और जडका भी मूलस्वरूप है, वही सत्ता पूर्वोक्त अव्यक्तमूर्ति भगवान् और श्रीकृष्णकी अहंपदवाच्य है ।

इस अव्यक्त अक्षर पुरुषोत्तमकी अनन्यसाधारणी अघटनघटनापटीयसी अचिन्त्य प्रकृति या शक्ति ही परस्परविलक्षण परस्परापेक्षी और परस्परालिङ्गी चेतन और जडके रूपमें अभिव्यक्त है । सातवें अध्यायमें इस चेतन और जड दोनोंको ही भगवान्ने अपनी प्रकृति बतलाया है । दोनोंके ही आत्मा, स्वरूप, अधिष्ठाता, आश्रय, स्वामी और नियन्ता वे भगवान् ही हैं । इसलिये जड-चेतनके संयोगसे जिस विश्वकी उत्पत्ति हुई है, उस विश्वमें सभी पदार्थोंके आत्मा, स्वरूप, अधिष्ठान, आश्रय, स्वामी और नियन्ता वे भगवान् ही हैं । प्रकृति और उसका कार्य प्रकृतिमान्से अलग नहीं है । अतएव सब कुछ वही हैं, सर्वत्र वही हैं और सभी कुछ उनकी सत्तासे सत्तावान् है, उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशमान है, उन्हींके आश्रयसे स्थितिशील है, और उन्हींमें विलयशील है । इस प्रकार अपनी प्रकृतिमें और प्रकृतिके कार्यमें आत्मप्रकाश करते हुए भी वे अपने अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूपसे कभी विच्युत नहीं होते । प्रकृति और उसके कार्यके दोषगुण उनका स्पर्श नहीं करते । उनके अव्यय अनुत्तम अक्षर परमभावमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता । यही उनका ऐश्वर्ययोग या योगमाया है ।

इस सिद्धान्तके अनुसार भगवान् अव्यक्तमूर्ति हैं और जीव-जगत् उन्हींकी व्यक्तमूर्ति है; भगवान् निर्गुण हैं और उन्हींसे सब गुणोंका प्रकाश है अतएव वे सर्वगुणमय हैं; भगवान् सृष्टि, स्थिति और प्रलय

करनेवाले होकर भी उदासीन हैं; सर्वकारी होकर भी निष्क्रिय हैं; सविशेष होकर भी निर्विशेष हैं; अनन्त प्रकारके भेद उन्हींको आश्रय करके विद्यमान हैं, तथापि वे अखण्ड अद्वितीय और सर्वभेदरहित हैं; वे सबके अन्तर-बाहरमें रहनेवाले होकर भी सर्वातीत और सर्वसम्बन्धसे रहित हैं, जगत्का प्रत्येक व्यापार उन्हींकी इच्छासे सम्पादित होनेपर भी वे इच्छा-अनिच्छासे रहित आत्मानन्दमें नित्य प्रतिष्ठित हैं। भगवान्के इस अचिन्त्य स्वभावके साथ किसी भी जीवके स्वभावकी तुलना नहीं हो सकती। यही उनकी अनन्य साधारण शक्ति या ऐश्वर्य है। विशुद्ध बुद्धिमें उनके इस स्वरूपकी अनुभूति होती है। परन्तु अन्यान्य विषयोंकी भाँति बुद्धिवृत्ति उनको विषय नहीं कर सकती।

नवम अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णका जो गूढ़ आत्मपरिचय दिया गया है, इस अचिन्त्य ऐश्वरयोगमें भी वह सम्यक् प्रकारसे व्यक्त नहीं हो सका है। इस सम्बन्धमें फिर कभी आलोचना की जा सकती है।

भगवान् सदा किसपर सन्तुष्ट रहते हैं ?

यो दयावान् द्विजश्रेष्ठ सर्वभूतेषु सर्वदा।
अहंकारेण हीनश्च तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
कर्म कुर्यान्मदर्थं यो भक्तिभावसमन्वितः।
ब्रूते यथार्थं पृच्छन्तं तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
मिष्टं वस्तु समासाद्य दत्त्वा मे योऽत्ति मानवः।
मानापमानसदृशस्तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
सर्वभूतशरीरस्थं यो मां जानाति मानवः।
परहिंसाविहीनो यस्तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
कर्माणि कुरुते यस्तु सुविचार्य पुनः पुनः।
गोब्राह्मणहितैषी च तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
स्वयं निरुक्तं वचनं यत्नाद्यः परिपालयेत्।
प्रपन्नान् पाति यत्नाद्यस्तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥
दानान्यनुपकारिभ्यो यो ददाति द्विजोत्तम।
मयि चित्तं सदा यस्य तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥

(पद्मपुराण)

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे ब्राह्मण! जो मनुष्य सब प्राणियोंपर सदा दयालु रहता है और जो अहंकारसे रहित है उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। जो भक्तिभावसहित मेरे लिये ही कर्म करता है और पूछनेवालेको सच्ची बात कहता है उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। जो मीठी वस्तु प्राप्त होनेपर मुझे निवेदन करके उसे खाता है और जिसके मानापमान समान है, मैं उसपर सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। जो मनुष्य मुझको सब भूतोंके शरीरमें स्थित देखता है और जो किसी जीवकी हिंसा नहीं करता, उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। जो मनुष्य बार-बार अच्छी तरह सोच-विचारकर कार्य करता है और जो गौ-ब्राह्मणका हितैषी है उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। जो अपने कहे हुए वचनोंका यत्नपूर्वक पालन करता है और जो शरणमें आये हुए पीडित मनुष्यकी रक्षा करता है उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ। और हे द्विजोत्तम! जो पुरुष अनुपकारी व्यक्तिको (सात्त्विक) दान करता है और जिसका चित्त नित्य-निरन्तर मुझमें लगा है, उसपर मैं सदा सन्तुष्ट रहता हूँ।

वैष्णव-धर्मका दार्शनिक आधार

(लेखक—श्रीनलिनीमोहनजी सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न)

'वैष्णव-धर्मकी उत्पत्ति और विकास' शीर्षक लेखमें मैंने दिखाया था कि श्रीकृष्णने भागवत एकान्तिक पञ्चरात्र, सत्वत वा वासुदेव धर्मका प्रचार किया था। श्रीकृष्ण छान्दोग्य उपनिषदोक्त सूर्योपासक वीर आङ्गिरस ऋषिके शिष्य थे। गीताका बीज इन्हीं ऋषिके उपदेशोंमें निहित है, और श्रीकृष्णने अपनी प्रतिभासे उस बीजको गीतारूपी महान् महीरुहमें परिणत करके अपने शिष्यों अर्थात् भागवतोंको शिक्षा दी थी। इन उपदेशोंको पीछे उनके शिष्य-सम्प्रदायने लिपिबद्ध करके प्रचार किया था, और यह काव्य महाभारतान्तर्गत प्राचीन काव्योंमें गिना जाता है।

गीतामें भागवत धर्मोक्त 'व्यूहवाद' का उल्लेख नहीं है, किन्तु घसुंडी और बेसनगरके शिलालेखों तथा पातञ्जल महाभाष्यमें जो ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दीके हैं, उल्लेख मिलता है। अतएव भागवतधर्ममें व्यूहवादका प्रवेश गीताके प्रचारके पीछे और ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दीके पहले हुआ था। गुप्त-कालके किसी शिला-लेखमें व्यूहोंका इशारा नहीं मिलता। इस समय अवतारवादने जोर मारा था। अवतारवादकी प्रबलताके कारण व्यूहवादका लोप हो गया था, और व्यूहवादके निराकरणसे ही भागवत-धर्म वैष्णव-धर्ममें परिवर्तित हो गया था। गुप्तोंके समय कृष्ण और विष्णु अभिन्न माने गये थे। और सांख्यदर्शनका प्रभाव वैष्णव-धर्मपर पड़ा था। प्रकृति और पुरुषके आदर्शसे युगलरूपकी आराधना जारी हुई थी।

इसके पीछे दाक्षिणात्यमें ही वैष्णव-धर्मका अनुशीलन ज़ोर-शोरसे हुआ था। तामिल देशमें एक श्रेणीके भक्तोंका आविर्भाव हुआ था जो 'अल्वार' कहलाते थे। नानाघाटके गुहा-लेखसे मालूम होता है कि ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दीके पहले ही भागवतधर्मने तामिल देशमें प्रवेश-लाभ किया था। आभीर नामक एक जाति ईस्वी संवत्के बहुत पहले ही उत्तर भारतमें बस गयी थी और भारतीय जन-समूहमें मिल गयी थी। मथुरा प्रान्त इस जातिका केन्द्र था, और इसकी एक शाखा पाण्ड्य राज-वंशके साथ तामिल देशमें पहुँची थी। इस जातिके उपास्य देवता गोप कृष्ण थे। यही जाति पीछे दाक्षिणात्यमें फैली थी और अपने साथ श्रीकृष्णके बाल्यजीवनकी कहानियाँ ले गयी थी। सम्भवतः इन कहानियोंके आधारपर भक्तिमार्गकी साधनाका उस देशमें विशेष विकास हुआ था। 'अल्वार' लोग श्रीकृष्णके उपासक थे और उन्होंने अपने रचित भजनोंमें भक्तिकी पराकाष्ठा दिखायी थी। बारह 'अल्वार' प्रसिद्ध थे।

दाक्षिणात्यमें अल्वारोंके पश्चात् 'आचार्यों' का अभ्युदय हुआ था। वे वैष्णव-धर्मके ज्ञानमूलक तथा दार्शनिक तत्त्वोंकी आलोचनामें नियत थे। प्रथम आचार्य नाथमुनि थे। उन्होंने अपने 'न्यायतत्त्व' नामक ग्रन्थमें विशिष्टाद्वैतवादके सब तत्त्वोंकी विस्तारसे आलोचना की थी। इनके पौत्र यामुनाचार्यने श्रीवैष्णवसम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की थी। इन्होंने अपने 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थमें 'अविद्या' का खण्डन किया था, और जीवात्मा तथा परमात्माकी वास्तवता प्रमाणित की थी। इन्होंने अपने 'गीतार्थसंग्रह' में दिखाया है कि गीतामें मुख्यतः भक्ति-योगकी शिक्षा दी गयी है। वैष्णव-धर्मके विकासके इतिहासमें यामुनाचार्यका स्थान बहुत ऊँचा है।

यामुनाचार्यके परवर्ती आचार्य रामानुजाचार्य थे।

रामानुजाचार्यने यामुनाचार्यके मतोंके आधारपर विशिष्टाद्वैतवादकी प्रतिष्ठा की थी । विशिष्टाद्वैतवादमें शङ्कराचार्य-प्रतिष्ठित अद्वैतवादका खण्डन है । शङ्कराचार्य ज्ञानमार्गके समर्थक थे और विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवगण भक्तिमार्गके । रामानुज कहते हैं कि जगत् मिथ्या नहीं है,—प्रत्युत ब्रह्मसे अभिन्न है—लीलामयकी लीलाका विकासमात्र है ।

रामानुजके पूर्ववर्ती कई मनीषी थे जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवादका समर्थन तथा पुष्टिसाधन किया है—टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, शठकदमन तथा नाथमुनि । अतएव देखा जाता है कि विशिष्टाद्वैतवाद रामानुजका कल्पनाप्रसूत नया मत नहीं है । रामानुजने केवल नाना प्रमाण तथा युक्तियोंके द्वारा सुपरिचित प्राचीन मतको सुप्रतिष्ठित किया है ।

आचार्य शङ्करने जिस समय अद्वैतवादका प्रचार किया था, उस समय बौद्धधर्मका पूर्ण प्रभाव था । अतएव विशाल बौद्धधर्म ही उस समय अद्वैतवादके प्रचारका घोर विरोधी था किन्तु शैवोंके सिवा आचार्य रामानुजके कोई प्रतिपक्ष न थे, उनको उस समय शङ्करके मतोंके खण्डनका ही प्रयोजन था । शङ्करने अपने मतोंके समर्थनके लिये प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपनिषदोंसे प्रमाण संग्रह किया था । किन्तु रामानुजको यह सुविधा नहीं मिली थी । विवश होकर उन्हें दूसरे दर्जेके उपनिषदोंका सहारा लेना पड़ा था । अपने मतके स्थापनमें वह कहाँतक सफल हुए थे यह कहना कठिन है । किन्तु साहसके साथ यह कहा जा सकता है कि शङ्करके जितने विपक्ष हैं, उनमें रामानुजका स्थान सबसे ऊँचा है । कहीं-कहीं रामानुजकी प्रतिभाके समीप शङ्करकी प्रतिभा भी म्लान-सी प्रतीत होती है । किन्तु रामानुजकी भाषा शङ्करकी भाषाके समान सरल तथा मधुर नहीं है ।

जिन विषयोंमें शङ्करके साथ रामानुजका मतभेद है, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है ।*

(१) शङ्करने कहा है—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे जाना जाता है कि ब्रह्म एक, अखण्ड और अद्वितीय है—सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदशून्य है । ब्रह्मके अतिरिक्त और किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है ।

रामानुजने कहा है— यह ठीक है कि ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है, किन्तु वह निरंश नहीं है, और उनका स्वजातीय तथा विजातीय भेद न रहनेपर भी उनका स्वगत भेद अवश्य है,—जीव तथा जगत् ही उनके स्वगत भेद हैं ।

(२) शङ्करने कहा है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है कि ब्रह्म है सत्य, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप, और वह है साक्षीवत् उदासीन, निर्गुण और निर्विशेष शुद्ध चैतन्य ।

रामानुजने कहा है—'ब्रह्म निर्गुण नहीं—वह है ज्ञान, आनन्द, दया इत्यादि निखिल सद्गुणोंका आकर । वह निर्विशेष भी नहीं है—वह है सविशेष; ज्ञान, आनन्द इत्यादि उनके विशेष धर्म हैं, और चेतनाचेतन-समन्वित जगत् भी उनका विशेषणभूत शरीर है । जिन श्रुतियोंमें उनके निर्गुणत्वका उल्लेख है, उनका अर्थ है कि ब्रह्ममें हेय प्राकृतिक गुणसम्बन्ध नहीं है ।'

(३) शङ्करने कहा है—दृश्यमान जगत्-प्रपञ्च मिथ्या मायामय है; वह माया ब्रह्मकी शक्ति होनेपर भी अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है ।

रामानुजने कहा है—जगत् मायामय होनेपर भी असत्य नहीं । जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है और ब्रह्मका

---

* महामहोपाध्याय श्रीयुक्त दुर्गाचरण सांख्य-वेदान्ततीर्थ ।

शरीरस्थानीय है—अतएव मिथ्या नहीं हो सकता। और ब्रह्मशक्ति माया जब ब्रह्ममें ही आश्रित है तब वह अनिर्वचनीय मिथ्या पदार्थ नहीं हो सकता।

(४) शङ्करने कहा है—जीव ब्रह्मका ही आभास या प्रतिबिम्ब है, और ब्रह्मके ही समान-स्वभाव-विशिष्ट स्वप्रकाश और नित्यमुक्त है।

रामानुजने कहा है—जीव कभी ब्रह्मका आभास या प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, और स्वप्रकाश तथा नित्यमुक्त भी नहीं है। जीव अग्नि-स्फुलिंगकी नाईं ब्रह्मसे निर्गत हुआ है और ब्रह्मका अंश है। जीव ब्रह्मका समस्वभाव नहीं है—जीव है अणु या क्षुद्र और ब्रह्म है विभु या अति महान्। जीव है अल्पज्ञ और अल्पशक्ति, और ब्रह्म है सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्—जगत्का स्वामी।

(५) शङ्करने कहा है—घट टूटनेपर घटाकाश जैसे महाकाशमें मिल जाता है—उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती, वैसे ही बुद्धिरूप उपाधिके चले जानेपर जीव भी परब्रह्मके साथ मिलकर एक हो जाता है—तब उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता—कुछ भोग्य भी नहीं रहता।

रामानुजने कहा है—जब जीव ब्रह्मका ही अंश है, और क्षुद्र तथा क्षुद्र शक्ति-सम्पन्न है, तब उसके लिये ब्रह्मके साथ एकीभावापन्न होना कभी सम्भव नहीं है। जीव अब भी जैसे पृथक् है, बराबर वैसे ही पृथक् रहेगा। मुक्तिदशामें केवल ब्रह्मानन्दका अनुभव करना ही उसका विशेष लाभ है।

(६) शङ्करने कहा है—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति-वाक्य सुननेसे जो विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे जीवका अज्ञान और अज्ञानज संस्कारसमूह नष्ट हो जाते हैं। जीव अपना ब्रह्मभावका अनुभव करता है—'अहं ब्रह्मास्मि' यही उसकी मुक्तिकी अवस्था है।

रामानुजने कहा है—ध्रुवानुस्मृतिरूपा भक्ति ही जीवकी मुक्तिका एकमात्र उपाय है। भक्तिसेवित भगवत्-प्रसादसे ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु क्षुद्र जीव कभी ऐसा अनुभव नहीं कर सकता कि मैं ब्रह्म हूँ। जीव है क्षुद्र, ब्रह्म है महान्। जीव है अधीन दास और ब्रह्म है उसका सेव्य प्रभु। दास होते हुए अपने-आपको प्रभु समझना भारी अपराध है। जो जीव भ्रमसे अपने-आपको ब्रह्म खयाल करता है वह राजद्रोही प्रजाके समान सज़ाके योग्य होता है, मुक्ति तो दूरकी बात है। 'तत् त्वमसि' वाक्यका अर्थ है—तू उनका है—तू उनका दास या सेवक है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य साधकका उत्साहवर्धक स्तुतिवाक्यमात्र है, यथार्थ ऐक्योपदेशक नहीं।

(७) शङ्करने कहा है—माया, अविद्या तथा अज्ञान ये तीनों एक ही पदार्थ हैं, केवल नामोंमें इनकी विभिन्नता है। यही माया ब्रह्मको आश्रय करके नाना विवर्त (भ्रम) के कार्य उत्पन्न करती है।

रामानुजने कहा है—माया और अज्ञान एक ही पदार्थ नहीं हैं। माया है भगवत्-शक्ति, और ब्रह्ममें आश्रित। अज्ञान है ज्ञानका अभाव, और जीवमें आश्रित। अज्ञान जीवको ही विमोहित कर रखता है—अनन्त ज्ञानाधार ब्रह्मको स्पर्शतक नहीं कर सकता। यह अज्ञान ही जीवको संसारमें आबद्ध किये रहता है, फिर भक्ति-लब्ध भगवत्-प्रसाद उपस्थित होनेसे अपने-आप अन्तर्हित हो जाता है।

(८) शङ्करने कहा है—'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न ज्ञान ही मुक्तिलाभका एकमात्र साधन है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

रामानुजने कहा है—ज्ञान भी मुक्तिका सहायक है, किन्तु भक्ति ही मुक्तिलाभका प्रधान उपाय है। भक्तिसेवित भगवत्-प्रसादसे ही जीव ब्रह्म-सायुज्यादि-रूप मुक्ति प्राप्तकर कृतार्थ होता है।

(९) शङ्करने कहा है—जीव इसी देहमें ही ब्रह्मसाक्षात्कार पाकर जीवन्मुक्त हो सकता है, और जीवन्मुक्त देहान्तके बाद लौकिक सुख-दुःखसे अतीत होकर सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

रामानुजने कहा है—जीवकी जीवन्मुक्ति एक असार वाक्य है—देह रहते हुए किसीकी मुक्ति सम्भव नहीं। देह छूट जानेपर भी जीव जीव ही रहता है—कभी ब्रह्म नहीं होता। उस समय वह ब्रह्मानन्दका उपभोग करता हुआ सब तरहके भयसे मुक्त रहता है।

(१०) शङ्करने कहा है—जीवमें पहले कौन वस्तु नित्य है, कौन वस्तु अनित्य है इस ज्ञानका उदय होता है। तब ब्रह्म-जिज्ञासाका अधिकार होता है।

रामानुजने कहा है—पहले नित्यानित्यका ज्ञान नहीं होता—पहले कर्म तथा कर्मफलकी अनित्यता इत्यादिका ज्ञान होता है; उसके बाद ब्रह्म-जिज्ञासामें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

रामानुजका विशिष्टाद्वैतवाद ही वैष्णवधर्मकी मूल भित्ति है। इसीका विकास किया गया है परवर्ती वैष्णव आचार्योंके द्वारा।

* * *

रोना

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवने नामानुरागी भक्तोंकी दशाओंका चित्र खींचते हुए तीन बातोंपर विशेष जोर दिया है। भगवान् और भगवन्नामके सच्चे अनुरागी संतोंके मुखसे नाम उच्चारण होते ही उनकी आँखोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहने लगती है, उनके मुखमण्डलपर प्रेमकी एक अद्भुत आभा आ जाती है, कण्ठ रुक जाता है और गला भर आता है तथा सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो आते हैं। ऐसी जिनकी दशा हो उन्हें समझना चाहिये, ये नामके यथार्थ अनुरागी हैं।

उस दिन गोस्वामीजी महाराजने कहा था, कोई ऐसी बात होनी चाहिये कि भगवत्-अनुराग उत्पन्न हो। किन्तु यह अपने वशकी बात तो है नहीं। प्रभुके हाथमें है, जिसके हृदयको अनुरागका पात्र समझें उसमें अनुराग उत्पन्न कर द। अनुराग कुछ साधन-साध्य तो है नहीं, वह तो कृपासाध्य है। उनकी कृपा कब होती है, किनपर होती है इसे वे ही जानें। अपने पास एक ही साधन है रोना। सो मैंने गोस्वामीजीसे कहा था—महाराज, रोनेका अभ्यास करना चाहिये। वह यदि दर्शन देता भी है तो रोनेसे ही देता है।

बिन रोये क्यों पाइये प्रेम पियारा मीत।

इसपर किसीने यह शङ्का की थी कि 'वह रोना स्वाभाविक न होगा, बनावटी हो जायगा। रोना जो स्वाभाविक ही हो, वही असली रोना है।' बात तो ठीक है, किन्तु अभ्यासमें सब बातें पहले बनावटी ही होती हैं। उस बनावटमें सीखना लक्ष्य न होकर दिखावा या स्वार्थसिद्धिकी भावना हो तब तो उससे असली लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती। यदि भावना शुद्ध है, तो बनावट ही एक दिन यथार्थ बन जाती है क्योंकि 'नकलसे असल बनी'। फौजवालोंको नकली निशाना दिखाकर उसपर अभ्यास कराया जाता है, अभ्यास होनेपर वे असली निशाना भी लगाते हैं, आँखोंको बनानेवाले डाक्टर

पहले नींबूको पानीमें डालकर उसपर नश्तर चलाना सीखते हैं और हाथ सध जानेपर आँखोंको भी बनाने लगते हैं । अतः जिस चीजका अभ्यास करना होगा, उसमें पहले-पहल तो नकल ही होगी ।

भक्तिके दो भेद हैं, एक तो स्वभावजा, दूसरी अभ्यासजा । बहुतसे माताके पेटसे ही भक्त पैदा होते हैं, उन्हें अनुरागके लिये अभ्यास नहीं करना होता । अनेक जन्मोंके अभ्याससे वे शुक-सनकादिकी तरह उत्पन्न होते ही असली अनुरागी हो जाते हैं । उन्हें नकलकी जरूरत नहीं, वे तो बने-बनाये हैं । दूसरी भक्ति अभ्याससे होती है । शास्त्रों तथा गुरुओंके द्वारा भक्तिमाहात्म्य सुनकर उसकी ओर बढ़नेका प्रयत्न करना, इसे अभ्यासजा भक्ति कहते हैं और इसके लिये अभ्यास, साधन सभी कुछ करना होता है । अतः हमें तो अभ्यास आदि सभी करने होंगे क्योंकि हममें प्रायः सभी उसी भक्तिके अधिकारी होंगे । स्वभावसे भक्त तो कोई विरले ही होंगे ।

भक्तिके लिये अभ्यास क्या हो ? भक्तिका लक्षण शास्त्रकारोंने बताया है कि भगवान्‌के प्रति अनुराग होनेका नाम ही भक्ति है । उसका लक्षण बताते हुए देवर्षि नारदजीने कहा है, जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर दे और तनिक-से भी भगवत्-विस्मरणसे व्याकुल होकर छटपटाने लगे वही भक्त है । इसमें अन्तका लक्षण ही प्रधान और महत्त्वपूर्ण है, हृदयमें भगवान्‌को छोड़कर जहाँ भी विषयोंकी स्मृति आयी, श्यामसुन्दर जहाँ भी आँखोंसे ओझल हुए, वहीं हृदय फटने लगे । उन्हें पानेके लिये हृदयमें हूल पैदा हो, दिल तड़पने लगे । यही भक्तिका लक्षण है । श्यामसुन्दरको छोड़कर और किसीकी याद ही न आवे । इसके उदाहरणमें नारदजीने व्रजकी गोपिकाओंको रक्खा है, वे दूध दुहते, धान कूटते, रोटी बनाते और समस्त घरके काम करती हुई भी निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करती रहती थीं । उनके हृदयसे वह साँवरी सोहनी सूरत कभी दूर ही नहीं होती थी । उन्होंने श्रीकृष्णदर्शनके लिये जो साधन किये हों वे ही साधन अनुराग उत्पन्न करनेके असली साधन माने जा सकते हैं ।

वैसे तो भगवान् गोपियोंके पास सदा ही रहते थे । किन्तु प्रेमका लक्षण है, प्रतिक्षण बढ़ते रहना । संसारी चीजें उत्पन्न होती हैं, बढ़ती हैं, नष्ट हो जाती हैं । किन्तु प्रेममें यह विशेषता है कि प्रेम उत्पन्न होता है, बढ़ता है, किन्तु नष्ट नहीं होता, वह बढ़ता ही जाता है । कहाँतक बढ़ता है ? इसका पता नहीं । क्योंकि इसके बढ़नेका कोई अन्त नहीं, इससे परे कोई दूसरी वस्तु नहीं अतः अनन्त अपार होनेसे यह निरन्तर बढ़ता ही रहता है अनादि अनन्त कालतक ।

गोपियोंकी जो भी लीलाएँ थीं वे सब उस अनुरागको बढ़ानेको ही थीं । भगवान्‌की भुवनमोहिनी तानको सुनकर वे उनसे मिलनेकी लालसासे दौड़ीं । प्रभु मिले । मिलनेके बाद फिर लालसा मिट जानी चाहिये । प्यासेको पानी मिल गया । बस, समाप्ति । किन्तु यहाँ यह बात नहीं । यहाँ तो मिलनके बाद भी रसको बढ़ाना है । मिलकर प्रभु अन्तर्धान हो गये । अब तो बड़ी आफत । पहले मिलनेकी इच्छामें मुरलीकी मधुर तानका सहारा था; वह सुरीली तान पथप्रदर्शिका थी । जहाँ इस तानका उद्गम स्थान होगा, वहीं हमारे प्राणधन जीवनसर्वस्व प्रभु होंगे, इस लालसासे वे पगली बिना कुछ देखे उस तानको लक्ष बनाकर दौड़ी चली आयी थीं, किन्तु यहाँ आकर तो नाव मझधारमें लाकर डुबो दी । न तो वह पथप्रदर्शिका तान ही रही और न उस मनमोहिनी

तानके उद्गमस्थान हमारे प्राणधन प्रभु ही रहे । अब वह उत्कण्ठा दुगुनी हुई । उत्कण्ठा जितनी ही बढ़ेगी प्रेममें उतना ही अधिक आनन्द भी आवेगा । भूख जितनी ही जोरकी लगी होगी प्रसादमें उतनी ही अधिक रुचि और प्रियता प्रतीत होगी । पदार्थोंमें स्वाद थोड़े ही है । स्वाद तो भूखमें है । प्रेममें मादकता थोड़े ही है वह तो उत्कण्ठा, अनुरागका आनन्द है । गोपियोंके सामनेसे श्यामसुन्दर अन्तर्धान हुए तो उन्हें पानेके लिये क्या उपाय किया गया ? इसपर रसिकशिरोमणि भगवान् शुकदेव अत्यन्त ही अनुरागके साथ महाराज परीक्षितसे कहते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥

हे राजन् परीक्षित ! इस प्रकार वे गोपियाँ बहुत ही सुन्दर तरहसे गाती हुई, नाना प्रकारके प्रलाप करती हुई, तालस्वरके साथ रोने लगीं । क्यों रोने लगीं—उनकी एकमात्र इच्छा थी श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शनोंकी ।

इससे यही सिद्ध हुआ कि जिन्हें श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा हो उन्हें सुन्दर स्वरके सहित रोना चाहिये । 'सुस्वर रुदन' क्यों कहा ? वह इसलिये कि रोते तो हम संसारी कामोंके लिये भी हैं । भाई, भतीजा, पुत्र, सगा सम्बन्धी मर जाय, धन चला जाय, भारी विपत्ति आ जाय तो हम रोने लगते हैं, किन्तु यह रुदन बेसुरा है, इस रुदनमें विषयोंकी लालसा है । जिसमें केवल श्रीकृष्णदर्शनलालसा ही हो वही रुदन सुस्वर है । उस रुदनके लिये स्वर बनाना नहीं पड़ता, पान-कुलंजन खाकर स्वरको महीन नहीं बनाना पड़ता । उस रुदनमें स्वर अपने आप ही सुस्वर बन जाता है । ऐसे रुदन करनेवाला संसारी ग्राम्य गीत नहीं गाता, किन्तु वह तो 'प्रगायन्त्यः' अर्थात् उन प्रभुके ही परप्रिय पदोंका निरन्तर गान करता रहता है । उसे बनावटी बातें अच्छी नहीं लगतीं, लोगोंको रिझानेको वह शब्दाडम्बरोंकी भरमार नहीं करता । संगति, अनुक्रमणिका, भूमिकाकी उसे परवा नहीं । वह तो 'प्रलपन्त्यः' प्रलाप करता है, जो मनमें आती है, उस प्रेमके नशेमें बक-झक जाता है और उनके दर्शनोंकी लालसामें निरन्तर रोता रहता है । इसका परिणाम क्या होता है ?

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

उनके बीचमें वे शौरि हँसते हुए प्रकट हो जाते हैं, उनका आविर्भाव हो जाता है । श्यामसुन्दर स्वभावसे ही टेढ़े हैं, उलटे भी हैं । जहाँ लोग हँसते हैं वहाँ वे सुस्त पड़ जाते हैं, और जहाँ कोई सुस्वरमें रोता है वहाँ वे हँसते हुए प्रकट हो जाते हैं । इसलिये उन्हें पानेका असली उपाय तो रोना ही है । दूसरा कोई मार्ग नहीं । दूसरे मार्ग उन्हें जाननेके, उनके ऐश्वर्यको पहचाननेके, उनको ही सर्वत्र माननेके होंगे । किन्तु कृष्णदर्शन 'लालसा' वालोंके लिये जो केवल

पीताम्बरधरस्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः

के दर्शन चाहते हैं उनके लिये रोना ही एकमात्र उपाय है । उसी सुस्वर रुदनका नाम संकीर्तन है ।

नेत्रोंमें अश्रु भर आनेका ही नाम रोना नहीं है । नेत्रोंमें आँसू तो धूएँसे भी आ जाते हैं, हमने देखा है, किन्हींकी आँखोंका छिद्र खुल जाता है इससे उनकी आँखोंसे निरन्तर पानी बहता रहता है । रोना तो हृदयका हो । हृदय रुदन कर उठे वही असली रोना है । हृदयके रुदन करनेपर आँसू रुक नहीं सकते, इससे आँखें भी टपकती रहती हैं, किन्तु बहुत-से गम्भीर शान्त रसवाले महात्मा ऐसे भी देखे गये कि उनका हृदय तो रोता है, किन्तु आँखोंके आँसुओंको बाहरी छिद्रसे नहीं निकलने देते । उसे भीतरके

ही छिद्रसे खींचकर विरहाग्निमें सुखा देते हैं । हमारी आँख, कान और नाक आदि इन्द्रियोंमें जैसे बाहरको ओर छिद्र हैं वैसे भीतर भी हैं, हम मूढ़ लोग बाहरी छिद्रोंसे ही काम लेते हैं इससे हमें यह बाहरी संसार ही दीखता है । कुछ धीर विवेकी पुरुष बाहरकी दृष्टिको बंद करके भीतरके दरवाजोंको खोल लेते हैं, किन्तु यह प्रेमानुराग मार्गसे थोड़ा भिन्न शान्त ज्ञानमार्ग है । फल दोनोंका ही परा भक्ति है । किन्तु शान्त ज्ञानमार्गके अधिकारी बहुत कम होते हैं । अपने लोगोंमें इतनी योग्यता कहाँ कि अनुराग उत्पन्न करें, फिर अश्रुओंको रोककर उन्हें भीतर ही करनेका प्रयत्न करें । हमारी इन फूटी आँखोंसे तो वैसे ही आँसू नहीं निकलते, यदि इनमेंसे दो-चार बूँदें टपक ही पड़ें तो यही हमारे लिये बहुत है । हमें तो रोना ही आ जाय यही हमारे लिये परम सौभाग्यकी बात है । श्यामसुन्दरके लिये जिन आँखोंमें आँसू आ गये वे आँखें तो धुल गयीं, प्यारेके ठहरने योग्य बन गयीं । घर सूखा पड़ा रहता है, उसमें मकड़ी जाला बना लेती है, सूखी धूलिसे भरा रहता है, उसमें आर्द्रताका नाम नहीं । जहाँ वह सुन्दर पानीसे धोया गया ऊपर-नीचेसे तर करके उसकी धूलि-मिट्टी बहायी गयी, समझ लो इसमें कोई बड़ा आदमी ठहरनेवाला है । तभी तो यह खूब धोया जा रहा है । इन आँखोंमें जहाँ श्यामसुन्दरकी आभायुक्त जल छा गया और वह कपोलोंपरसे लुढ़कता-पुढ़कता टप-टप करके पृथ्वीमें विलीन हो गया, वहाँ समझो इन आँखोंका भाग्य खुलनेवाला है । इनकी यह शुष्कता मिटनेवाली है । श्यामसुन्दरकी अनुपम बाँकी झाँकी होनेवाली है । जहाँ धुलते-धुलते एकदम मलरहित निर्मल ये आँखें बन गयीं, चम-चम करके ये चमकने लगीं, तहाँ मधुर-मधुर मुरली बजाती हुई उस मोहिनी मूर्तिकी झाँई इन चमकती हुई आँखोंमें पड़ेगी तभी चिल्लाकर कह उठोगे।

जिन आँखिनमें यह रूप बस्यो उन आँखिनसों अब देखिये क्या ?

फिर सचमुच ये संसारी पदार्थ अच्छे ही न लगेंगे । फिर मिश्री खाकर सीराको चाटनेकी इच्छा कौन करेगा ? फिर तो इन आँखोंका एकमात्र काम ही यह हो जायगा कि उस तिरछी चितवनवाले जादूगरको निहारती रहें । फिर तो वह चिल्ला उठेगा—

तुम्हें देखा तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें ।
ये आँखें फूट जायें गरचे इन आँखोंसे हम देखें ॥

फिर तो 'जित देखों तित स्याममयी है ।' अहा ! यत्र तत्र सर्वत्र वे ही श्यामसुन्दर दिखायी पड़ते हैं 'सावनके अंधहि ज्यों सूझत हरो हरो' फिर तो बस, श्यामसुन्दर और उनकी मूर्ति ।

अच्छा, श्यामसुन्दरके देखनेके बाद तो रोना बंद हो जायगा ? नहीं, सो बात नहीं । वह तो कभी-कभी बढ़ जाता है । सो क्यों ? वह इसलिये कि इन आँसुओंके ही सहारे तो वे प्राणप्यारे मिले । ये भी उमड़कर उनका दर्शन करना चाहते हैं । ये जहाँ नेत्रोंमें आये तहाँ श्यामसुन्दरके दर्शन नहीं होने पाते, वे ओझल-से दीखते हैं । बस, उनके न दीखनेपर एक प्रकारकी तड़पन हुई । घबराहट होने लगी । नेत्रोंमें आँसू भर आये । अब दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु आँसू बीचमें पड़ जाते हैं, वे दर्शन होने नहीं देते और बिना दर्शनके चैन नहीं । छटपटाहट होती है, अतः अश्रु बहते रहते हैं, अनुराग बढ़ता जाता है । इसीलिये उद्धवजीने जाकर कहा था ।

श्यामसुन्दर ! तुम्हारे वियोगमें ग्वाल-बाल, गौ-बछड़े सब दुबले हो गये हैं, सबका शरीर सूख गया है, हाँ, एक यमुना जरूर बढ़ गयी है । यमुनाके बढ़नेका एक कारण है, वे गोपिकाएँ निरन्तर रोती रहती हैं

सो उनके आँसुओंके मिलनेसे यमुनाजीमें बाढ़ आ गयी है। वह बाढ़ मथुराको भी न छोड़ेगी। श्यामसुन्दर! मथुरामें भी उसका प्रभाव पड़ेगा उसे भी डुबावेगी। श्यामसुन्दर यह सुनकर फूट-फूटकर रोने लगे। उद्धवने उनका यह रुदनरूप पहले ही पहल देखा था। देखते भी कैसे? पहले कभी उद्धवजी रोये ही नहीं, उद्धवजी नहीं रोये तो मनमोहन क्यों रोते। इनकी तो प्रतिज्ञा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अब जब उद्धवजी आँसू बहाने लगे तो श्यामसुन्दरका भी बाँध टूट गया, वे भी हिलकी भर-भरकर हा राधे! हा राधे! हा वृषभानुनन्दिनी! कहकर रोने लगे।

उनका रोना नित्य संयोगका था। क्या ग्वालबाल और व्रजाङ्गनाएँ कभी श्रीकृष्णसे अलग हो सकती हैं। उनका अनादिकालका संयोग है, वियोगकी तो वहाँ गन्ध भी नहीं किन्तु यह रुदन नित्य अनुरागवर्धक था, उद्धवको अपना असली रूप दिखाकर भगवान्‌ने यह रहस्य समझा दिया।

सचमुच रुदनसे हृदय शीतल हो जाता है एक मन्द-मन्द मरोर-सी होने लगती है, मीठा-मीठा आनन्द-सा आने लगता है। एक उर्दू कविने कुछ अस्पष्ट स्वरमें इसे ही स्वीकार किया है—

शायद इसीको इश्क कहते होंगे ग़ालिब!
सीनेमें जैसे कोई दिलको मला करे।

सीनेमें दिलके मलनेमें जो गुदगुदी होती है उसीको तो प्रेम नहीं कहते? इसे कविने कैसे सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है। क्योंकि प्रेम उत्पन्न होकर बढ़ता ही रहता है साथ ही गुदगुदी भी बढ़ती है, इसलिये जब गुदगुदाहट अधिक होने लगती है तो बच्चा छटपटाने लगता है, हँसते-हँसते भी उसकी आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। यह गुदगुदाहट तभी मालूम होगी जब सुन्दर प्रेमसुगन्धयुक्त वारिसे आँखोंकी कोठरी धो दी जायगी, फिर तो कबीर साहबके शब्दोंमें—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डालकर, प्रीतम लियो रिझाय॥

कोठरी धुलनेपर, साफ होनेपर प्राणधन जीवन-सर्वस्व प्रियतम आपसे-आप पधार जायँगे। क्योंकि वे बड़े रिझवार हैं।

नन्दको लाल बड़ो रिझवार है जो कहूँ नेसिक रीझि ढरेगो।
वह रसखानि अहीरको छोहरा पीर हमारे हियेकी हरेगो॥

आँखोंमें विराजेंगे और हियेकी पीर हरेंगे यह उनकी अद्भुत लीला है।

अतः भाइयो! भगवान्‌को पानेका उनके दर्शनोंका एकमात्र साधन रोना है। एकान्तमें बैठिये पद गाइये। प्रेमियोंके मुखसे सुनिये इसीसे प्रेम बढ़ेगा।

श्रीभगवान्‌के चरणोंमें हम सब यही भीख माँगते हैं, यही उपहार चाहते हैं—हमारे हृदयमें अनुराग हो, हमें रोनेका वरदान मिले। हम रोते रहें और ऐसे रोवें कि—

स्मयमानमुखाम्बुजः साक्षान्मन्मथमन्मथः

—हमारे सामने प्रकट होकर हमें छातीसे चिपटा लें और अपना बना लें।

हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिन होय॥

ॐ शान्तिः

भक्त-गाथा
श्रवण
कीर्तन
स्मरण
पादसेवन
अर्चन
वन्दन
दास्य
सख्य
आत्मनिवेदन

भक्त राजा रत्नग्रीव

त्रेतायुगकी कथा है। कांची नामक नगरीमें उस समय राजा रत्नग्रीव राज्य करते थे। रत्नग्रीव थे राजा, परन्तु वे अपनेको प्रजाका सेवक मानते थे और भगवान्की वस्तु मानकर ही राज्यकी रक्षा तथा भगवान्के ही निजजन समझकर प्रजाकी सेवा करते थे। वस्तुतः वे भगवान्की सेवा-पूजाके भावसे राज्यसञ्चालन करते थे। उन्हें न राजा होनेका अहंकार था और न वे राज्य-कोषसे अपने साधारण खर्चके सिवा एक पैसा भी विलासिता या मौज-शौकमें खर्च करते थे। उनका जीवन मानो मूर्तिमान् धर्म था। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है, इस न्यायके अनुसार कांची-राज्यमें सभी लोग धर्मात्मा थे। वर्णाश्रम-धर्मका पूरा पालन श्रद्धापूर्वक किया जाता था। वहाँके ब्राह्मण अपने षट्कर्ममें रत थे। क्षत्रिय समस्त प्राणियोंके हित-साधनमें तत्पर और धर्मयुद्धमें सदा उत्साही थे। वैश्य परद्रव्यसे विमुख होकर सदा निर्दोष और न्याय-संगत कृषि-वाणिज्यमें लगे हुए अर्थके द्वारा सबका पालन करते थे। शूद्र अपना कर्तव्य समझकर समाजकी सेवा करते थे। सभी लोग भगवान्में भक्ति और परस्त्रीमें मातृभाव रखते थे एवं परायी बुराईसे सदा बचे रहते थे। उनकी जिह्वापर सदा श्रीराम-नाम बसता था। कांचीपुरीमें दया, सत्य, शान्ति और दान आदि उत्तम कार्य सब ओर सदा दिखायी देते थे। कोई भी मनुष्य ऐसा शब्द मुँहसे नहीं बोलता था जिससे दूसरेको कष्ट हो, उसका अपमान हो या उसके मनमें काम-क्रोधादिका विकार पैदा हो। मतलब यह कि किसीके मुँहसे घमंडभरी, दुःखदायिनी और गन्दी जबान नहीं निकलती थी। पराये धनमें किसीको कोई लोभ नहीं था, और कोई भी मनुष्य पाप नहीं करता था। राजा रत्नग्रीव लोभ छोड़कर प्रजासे केवल छठा हिस्सा कर वसूल करते थे। इसके सिवा प्रजापर कोई टैक्स नहीं था। इस करमेंसे भी अधिकांश द्रव्य वे प्रजाके हितमें ही खर्च कर देते थे। इस प्रकार धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेमें उनकी उम्रका बहुत अंश बीत गया। यद्यपि उनका राज्यकार्य भगवत्सेवा ही था। वास्तवमें क्रियाका इतना महत्त्व नहीं है, जितना भावका है। रागद्वेषरहित निष्काम भावसे की हुई साधारण क्रिया भी रागद्वेषयुक्त सकाम भावसे की हुई महान् पुण्यस्वरूप क्रियासे कहीं अधिक महत्त्व रखती है। जहाँ भाव और क्रिया दोनों उत्तम हों वहाँ तो सोना-सुगन्ध दोनों हैं। इसीलिये राजाने अब अपना शेष जीवन तीर्थसेवन करते हुए उत्तम-से-उत्तम क्रिया—श्रीभगवान्के भजनमें ही लगाना चाहा। इसी उद्देश्यसे उन्होंने एक दिन अपनी पतिव्रता पत्नी विशालाक्षीसे कहा—

रानी ! हमलोगोंकी वृद्धावस्था समीप आ चुकी है। अब हमें किसी महान् तीर्थमें जाकर अपना बाकी जीवन केवल श्रीभगवान्के भजनमें ही बिताना चाहिये। भगवान्के अनुग्रहसे राज्यमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है। प्रजाकी सेवा करनेके लिये

पुत्र सुयोग्य हो गये हैं । अब मनुष्यजीवनके परम लाभ भगवत्प्राप्तिके लिये ही हम लोगोंको जी-जानसे लग जाना चाहिये । जो मनुष्य जीवनभर केवल उदर-पोषणमें ही लगा रहता है, भगवान्‌की पूजा नहीं करता, उसको तो मनुष्यरूपमें बैल ही समझना चाहिये—

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः ।
न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः ॥

रानीने बड़े हर्षसे पतिके प्रस्तावका समर्थन किया । राजाने राज्यका समस्त भार पुत्रको सौंपकर तीर्थयात्राकी तैयारी की । भगवान्‌के ध्यानमें लगे हुए राजाको रातके समय नींद आ गयी । नींदमें राजाने देखा एक महान् तपस्वी ब्राह्मण आये हैं । दूसरे दिन सवेरे राजाने राजसभामें देखा एक जटावल्कलधारी दुबले-पतले तपस्वी ब्राह्मण पधारे हैं । राजाने ब्राह्मणको मस्तक नवाकर प्रणाम किया और बड़े हर्षके साथ उनकी पूजा की । भोजन और आराम कर लेनेपर राजाने ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! आपके दर्शनसे मेरे सब पाप दूर हो गये । महापुरुष दीन पापी मनुष्योंके पाप नष्ट करके उन्हें पवित्र करनेके लिये ही कृपापूर्वक उन लोगोंके घर जाया करते हैं । उन्हें और क्या प्रयोजन है ? आप महात्मा हैं; मेरी तीर्थसेवनकी इच्छा है, कृपा करके बतलाइये, मैं किस तीर्थमें जाकर निवास करूँ । किस पुण्यक्षेत्रमें रहकर किनका भजन करनेसे मैं जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट सकूँगा ?' ब्राह्मणने अयोध्या, हरद्वार, अवन्ती, कांची, काशी आदि तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन करके अन्तमें कहा—'राजन् ! आप नीलाचलमें पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाकर भगवान् श्रीरामचन्द्रका भजन कीजिये । वहाँ जानेसे ही आपका कल्याण हो जायगा ।' श्रद्धालु राजाने ब्राह्मणके वचन सुनकर उसीके अनुसार पुरुषोत्तमक्षेत्र जानेका निश्चय कर लिया । तीर्थयात्राकी विधि पूछनेपर ब्राह्मणने कहा—

तीर्थयात्राकी विधि

तीर्थयात्राके लिये श्रद्धापूर्वक मनमें निश्चय करके पहले स्त्री-पुत्र-धन-मकान आदि पदार्थोंको अनित्य और मायिक जानकर इनमें वैराग्य करे और एकमात्र श्रीहरिको सत्य और नित्य समझकर मनसे उनका स्मरण करता रहे । फिर राम-नामका उच्चारण करता हुआ घरसे निकले और एक कोश जाकर वहाँ तीर्थादिमें विधिपूर्वक स्नान करे और क्षौर करावे । कहते हैं कि तीर्थोंमें मनुष्यके पाप उसके केशोंका आश्रय करके रह जाते हैं, इसीसे मुण्डनकी विधि है । तीर्थयात्री मनुष्य लोभादि त्यागकर दण्ड (लाठी), कमण्डलु (पात्र) और आसन लेकर तीर्थवेशमें चले । जिसके चरण श्रीहरिके क्षेत्रमें उत्साहपूर्वक गमन करते हैं, जिसके हाथ श्रीहरिकी सेवामें लगे हैं, जिसका चित्त भगवान्‌के चिन्तनमें रत है, जो श्रीहरिके ज्ञानको ही 'विद्या', श्रीहरिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कठोर साधनको ही 'तपस्या' और श्रीहरिके कैङ्कर्यमें ही 'कीर्ति' मानता है उसीको तीर्थका सम्यक् फल प्राप्त होता है । 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, भक्तवत्सल हे हरे । जगन्नाथ शरण्य भगवन् विष्णु कृष्ण हरे हरे ॥' आदि नामोंका जीभसे उच्चारण और मनसे निरन्तर श्रीहरिका स्मरण करते हुए बुद्धिमान् पुरुषको पैदल ही तीर्थयात्रा करनी चाहिये । किसी सवारीपर चढ़कर जानेसे तीर्थका फल कम हो जाता है ।

तीर्थयात्राकी तैयारी और यात्रा

राजाने ब्राह्मणके वचन सुनकर इसी विधिसे तीर्थयात्रा करनेका मनमें निश्चय करके उनका चरण-वन्दन किया और मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे कहा—'मन्त्रिगण ! आपलोग सारे राज्यमें इस बातकी घोषणा कर दें कि राजा तीर्थयात्राको जा रहे हैं । जिनकी इच्छा हो, जो यमदण्डसे मुक्त होकर भगवान्‌को पाना चाहें वे उनके साथ जायँ । माताओंको भी

श्रीहरिकी सेवा करनी चाहिये और अपनी सन्तानको उत्साहित करना चाहिये । जिनके पुत्र-पौत्र श्रीहरिके शरणागत नहीं होते उनको जन्म देनेवाली माताओंको सूअरियोंके दलकी तरह गन्दी चीजें भक्षण करनी पड़ती हैं—

येषां पुत्राश्च पौत्रा वा हरिं न शरणं गताः ।
शूकरीयूथवत्तेषां प्रसूतिर्विट्प्रभक्षिका ॥

जिन भगवान्के नामोच्चारणमात्रसे उसी समय पापोंका नाश हो जाता है, उन हरिको सर्वांगसे मेरी सारी प्रजाका नमस्कार है ।'

मन्त्रियोंने इस राजाज्ञाका प्रचार सारी प्रजामें कर दिया और तदनुसार प्रजामेंसे बहुत-से नर-नारी आनन्दरसमें डूबे हुए-से अपने उद्धारका निश्चय करके प्रजावत्सल पितातुल्य नरपतिके साथ पुरुषोत्तमक्षेत्रकी ओर चलनेको तैयार हो गये । राजा अपनी प्रातःकालीन नित्यक्रिया करके ब्राह्मणदेवको साथ लेकर भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा और उमगते हुए उत्साहके साथ तीर्थयात्राको निकले । प्रजालोग पीछे-पीछे चले । काम, क्रोध और लोभकी वृत्तियोंसे शून्य राजा भगवान्का भजन और ध्यान करते हुए चलने लगे । एक कोश चलकर उन्होंने विधिपूर्वक क्षौर कर्म कराया और तीर्थयात्रीका वेश धारण किया और सब लोग 'जय माधव जय भक्तजनप्रिय, जय पुरुषोत्तम जय माधव' इस गोविन्द नामका कीर्तन करते हुए चलने लगे । रास्तेमें जहाँ टिकते वहीं भगवान्की कथा, भगवान्के लीलागुणके सुन्दर पदोंका गायन हुआ करता । दीन-दुखियोंको यथायोग्य दान दिया जाता । यों यात्रा करते-करते राजा गण्डकी नदीके तीरपर पहुँचे । साथी ब्राह्मण देवताने गण्डकीका और शालग्रामका माहात्म्य सुनाते हुए कहा कि जिसके मस्तकपर तुलसी हो, हृदयपर सुन्दर शालग्राम शिला हो, मुँहसे रामनामका उच्चारण या कानसे श्रवण हो वह निश्चय ही संसार-बन्धनसे मुक्त होता है । राजाने अपने समस्त सङ्गियोंसहित गण्डकीतीर्थमें स्नान-तर्पणादि करके शालग्रामजीकी पूजा की ।

गंगासागर-संगमपर भगवद्दर्शन

तदनन्तर चलते-चलते सब गङ्गासागर-सङ्गमपर पहुँचे । तब राजाने ब्राह्मणसे कहा—'भगवन् ! अब नीलाचल कितनी दूर है ?' ब्राह्मण बोले—'महाराज ! हम नीलपर्वतके अन्दर ही तो आ गये हैं । क्या तुम यहाँ भगवान्की महिमा नहीं देख पाते हो ?' राजाने कहा—'भगवन् ! मुझको आप यहाँ भगवान्के दर्शनका उपाय बताइये । आप जो कुछ कहेंगे, मैं वही करूँगा ।' इसपर ब्राह्मण देवताने कहा—'जबतक भगवान्के दर्शन न हों तबतक यहीं बैठकर सब लोगोंको भगवान्का नामकीर्तन करना चाहिये । कीर्तनसे प्रसन्न होकर भगवान् शीघ्र ही दया करेंगे । भक्तवत्सल भगवान् कभी भक्तकी उपेक्षा नहीं कर सकते । अतएव हे राजन् ! भक्तिपूर्ण हृदयसे भगवान्का नाम-गान करो ।'

ब्राह्मण देवताकी आज्ञानुसार सब लोग नामकीर्तनमें लग गये । तदनन्तर उपवासव्रती राजाने भगवान्से निम्नलिखित स्तुति की—

जय दीनदयाकर प्रभो
जय दुःखापह मङ्गलाह्वय ।
जय भक्तजनार्तिनाशन
कृतवर्ष्मन् जय दुष्टघातक ॥
अम्बरीषमथ वीक्ष्य दुःखितं
विप्रशापहतसर्वमङ्गलम् ।
धारयन् निजकरे सुदर्शनं
त्वं ररक्ष जठराधिवासतः ॥
दैत्यराजपितृकारितव्यथः
शूलपाशजलवह्निपातनैः ।

श्रीनृसिंहतनुधारिणा त्वया
रक्षितः सपदि पश्यतः पितुः ॥
ग्राहवक्त्रपतिताङ्घ्रिमुद्धटं
वारणेन्द्रमतिदुःखपीडितम् ।
वीक्ष्य साधु करुणार्द्रमानस-
स्त्वं गरुत्मति कृतारुहक्रियः ॥
त्यक्तपक्षिपतिरात्तचक्रको
वेगकम्पयुतमालिकाम्बरः ।
गीयसेऽसुभिरमुष्य नक्रतो
मोचकः सपदि तद्विनाशकः ॥
यत्र यत्र तव सेवकार्दनं
तत्र तत्र बत देहधारिणा ।
पाल्यतेऽत्र भवता त्वया निजः
पापहारिचरितैर्मनोहरैः ॥
दीननाथ सुरमौलिहीरकोद्-
घृष्टपादतल भक्तवल्लभ ।
पापकोटिपरिदाहक प्रभो
दर्शयस्व मम पादपङ्कजम् ॥
पापकृद्यदि जनोऽहमागतो
मानसे तव तथा हि दर्शय ।
तावका वयमघौघनाशन
विस्मृतं न हि सुरासुरार्चित ॥
ये वदन्ति तव नाम निर्मलं
ते तरन्ति सकलाघसागरम् ।
सच्छ्रुतिर्यदि कृता तदा मया
प्राप्यतां सकलदुःखहारकः ॥

'हे दीनोंके लिये दयाकी खान प्रभो ! आपकी जय हो । आप दुःखका नाश करनेवाले और मङ्गलरूप हैं । आपकी जय हो । भक्तोंके कष्ट नाश करनेवाले, सद्गति देनेवाले आपकी जय हो, दुष्टोंका वध करके उद्धार करनेवाले आपकी जय हो । भगवन् ! ब्राह्मणके शापसे जिसके मङ्गल नष्ट हो रहे थे उस अपने भक्त अम्बरीषको दुखी देखकर सुदर्शन धारण करके आपने गर्भवास (पुनर्जन्म) से उसकी रक्षा की थी । दैत्यराज हिरण्यकशिपुने जब अपने पुत्र प्रह्लादको शूलसे मारकर, फाँसीमें बाँधकर, जलमें और आगमें डालकर मारना चाहा था, तब आप उसकी व्यथा मिटाकर श्रीनृसिंहावतार धारण करके दैत्यके सामने प्रकट हुए थे । ग्राहके मुखसे जिसका पैर पकड़ा गया है ऐसे गजराजको महान् पीड़ित देखकर दयार्द्र होकर आप गरुड़का त्याग करके सुदर्शनचक्र लिये गजराजकी रक्षाके लिये ऐसी जल्दीसे दौड़ पड़े थे कि आपकी वनमाला और पीताम्बर हिलने लगे थे और उसी समय साधुओंने ग्राहको मारकर गजराजको उबारनेके लिये आपका यश गाया था । हे मनोहर ! हे पापनाशक भगवन् ! जहाँ-जहाँ भक्तोंपर भीर पड़ती है, वहाँ-वहाँ आप दिव्य विग्रह धारण करके भक्तोंकी रक्षा करते हैं । हे दीननाथ ! देवताओंके प्रणाम करते हुए उनके मस्तकपर रहनेवाले हिरण्यमय मुकुटोंसे जिनके चरणतल घिस गये हैं ऐसे हे भक्तवल्लभ ! हे करोड़ों पापोंका दाह करनेवाले प्रभो ! मुझे अपने चरणकमलोंका दर्शन कराइये । आप मुझे पापी समझते हैं, तब भी आपको चरणकमलोंके दर्शन कराने पड़ेंगे । क्योंकि हे सुरासुरोंसे पूजित, पापराशिका नाश करनेवाले देव ! मैं आपका ही हूँ, और मैंने आपके नामको नहीं भुलाया है । जो लोग आपके निर्मल नामका उच्चारण करते हैं वे समस्त पापसागरसे तर जाते हैं, यदि यह श्रुति सत्य है तो मैं आपका सर्वदुःखहारी दर्शन पानेका अधिकारी हूँ ही ।'

इस प्रकार स्तुति और कीर्तन करते हुए और 'हे कृपानाथ ! हे पुरुषोत्तम ! मुझे अपना स्वरूप दिखलाइये ।' (दर्शयस्व कृपानाथ स्वतनुं पुरुषोत्तम) आर्त्तभावसे यों पुकारते हुए उपवासव्रती राजाको पूरे पाँच दिन बीत गये । तब भगवान्ने विचार किया कि 'मेरे नामगुणगानसे राजा पापशून्य हो गया है

अब इसे दर्शन देना चाहिये।' और संन्यासीके वेशमें राजाके सामने भगवान् प्रकट हो गये। हरिचिन्तनपरायण राजाने 'ॐ नमो विष्णवे' कहकर नमस्कार, अर्घ्य, पाद्य और आसनादिद्वारा उनकी पूजा करके कहा—'भगवन्! मैं बड़ा ही भाग्यशाली हूँ, जिससे मुझे आपके दर्शन हुए। अब निश्चय ही मुझे श्रीगोविन्द दर्शन देंगे।'

संन्यासीने कहा—'राजन्! मैं अपने ज्ञानबलसे तीनों कालकी बात जानता हूँ। उसी ज्ञानके बलपर मैं तुमसे कहता हूँ कि कल मध्याह्नके समय तुमको श्रीहरिके दुर्लभ दर्शन प्राप्त होंगे। दर्शन ही नहीं, तुम अपने चार सुहृदों—तुम्हारे मन्त्री, तुम्हारी रानी, तपस्वी ब्राह्मण और तुम्हारे नगरमें रहनेवाला करम्ब नामक साधुचरित्र जुलाहा—सहित परमपदको प्राप्त कर सकोगे।' इतना कहकर तेजपुञ्ज संन्यासी अदृश्य हो गये। राजा आश्चर्यचकित होकर देखते रह गये। उन्होंने इधर-उधर बहुत खोज की, परन्तु कहीं संन्यासीका पता नहीं लगा। तब तापस ब्राह्मणने कहा—'राजन्! तुम्हारे महान् प्रेमसे आकर्षित होकर भगवान्‌ने ही संन्यासीरूपमें तुम्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया है। अब कल मध्याह्नके समय हम सबको भगवान् अपने दिव्यस्वरूपमें दर्शन देंगे।' राजाको तापस ब्राह्मणके इन वचनोंसे जो अभूतपूर्व आनन्द मिला, उसकी कोई तुलना नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं—

इतिवाक्यसुधापूरनाशितस्वान्तसंज्वरः ।
हर्षं यमाप स नृपो ब्रह्मापि न हि वेत्ति तम् ॥

तापस ब्राह्मणके वाक्यामृतप्रवाहसे राजाका चित्तज्वर नाश हो गया और उन्हें इतना आनन्द हुआ कि ब्रह्मा भी उसका अनुभव नहीं कर सकते।

जिसके प्राणधन प्रियतमके दर्शनके लिये प्राणमन अत्यन्त व्याकुल हों, उसके दर्शनका निश्चित समय मालूम हो जानेपर ऐसा ही होता है। कहते हैं—

महानन्दस्तदा ह्यासीद्राजराजस्य चेतसि ।
गायन् हरिं क्षणं तिष्ठन् नृत्यन् जल्पन् हसन् ब्रुवन् ।
आनन्दं प्राप सुघनं सर्वसन्तापनाशनम् ॥

उस समय राजाके हृदयमें ऐसा महान् आनन्द हुआ कि वे कभी तो श्रीहरिका नाम-गुण गाते हुए हँसने लगे, कभी नाचने लगे, कभी लीला सुनाने लगे, कभी नामकीर्तन करने लगे। इस प्रकार वे सर्वसन्तापनाशक अत्यन्त घनआनन्दको प्राप्त हो गये। भगवान्‌के मिलनकी आशाके अमृतानन्दमें ही रात हो गयी। रातको भगवान्‌की लीलासे राजाको नींद-सी आ गयी। उन्होंने नींदमें देखा—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और शार्ङ्ग धनुष धारण किये हुए भगवान् विष्णु अपने पार्षदों तथा श्रीमहादेवजी आदिके साथ नृत्य कर रहे हैं। प्रातःकाल जगकर राजाने स्वप्नकी सारी बातें तापस ब्राह्मणसे कहीं। ब्राह्मणने हर्षित होकर कहा—'राजन्! मालूम होता है भगवान् तुमको अपना सारूप्य देना चाहते हैं।' राजाके आनन्दका पार न रहा। सब लोग भगवन्नामका गान करते हुए चले। इतनेमें मध्याह्नकाल हो गया। स्वर्गमें देवता दुन्दुभी बजाने लगे और राजाके मस्तकपर स्वर्गीय पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। इतनेमें ही राजाने देखा करोड़ों सूर्योंके तेजको निष्प्रभ करनेवाला तेजोमय नीलाचल शोभित है, उसके चारों ओर चाँदी और सोनेके शिखर हैं। ब्राह्मणने कहा यही नीलगिरि है। इसके अनन्तर राजाको भगवान्‌के दिव्य दर्शन हुए। राजाने पत्नी और सेवकोंसहित जगत्पतिको प्रणाम करके उनकी विधिपूर्वक पूजा की और फिर दिव्य शब्दोंमें उनकी स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर राजाको अपना नैवेद्य दिया और कहा—

नैवेद्यभक्षणं त्वं हि शीघ्रं कुरु मनोहरम् ।
चतुर्भुजत्वं प्राप्तः सन् गन्तासि परमं पदम् ॥

इस नैवेद्यका भोग लगाओ, इससे शीघ्र ही तुम दुर्लभ चतुर्भुज शरीरको प्राप्त करके परमपदको चले जाओगे। राजा भगवान्‌के दिये हुए नैवेद्यको पाकर कृतार्थ हो गये । राजाने देखा आकाशमण्डलसे एक विचित्र विमान उतर रहा है । तदनन्तर भगवान्‌की आज्ञासे राजा अपनी पत्नी, सत्य नामक मन्त्री, तापस ब्राह्मण, और करम्ब नामक जुलाहेके साथ विमानपर सवार हो गये । सभीको दिव्य चतुर्भुज स्वरूप प्राप्त हो गया । विमान चला । भगवान्‌का विमान भी साथ-साथ चला । देवताओंने दुन्दुभी बजायी। महात्माओंने स्तवन किया । प्रजालोग इस आश्चर्यघटनाको देखकर राजाकी प्रशंसा करते हुए तीर्थस्नान करके घर लौटे ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

तुमने लिखा, जब हमलोगोंपर दुःख आता है तभी हम आपकी याद करते हैं। निरन्तर याद रक्खें तो सदाके लिये दुःख मिट सकते हैं, सो ऐसा नहीं लिखना चाहिये । दुःखोंका सदाके लिये नाश तो श्रीभगवान्‌को याद करनेसे ही हो सकता है । इसके समान और कोई भी उपाय नहीं है । श्रीभगवान्‌को याद करनेसे बहुत जल्दी बहुत सुगमतासे भगवान् मिल सकते हैं । गीता अध्याय ८ श्लोक १४ को अर्थसहित पढ़ना चाहिये। कलियुगमें तो इस तरहका दूसरा उपाय है ही नहीं ।

तुमने लिखा 'ध्यान क्या वस्तु है मैं तो यह जानता भी नहीं । काम करते समय भजन भी मुझसे नहीं होता' सो ठीक है । संसारमें ध्यानके समान और कुछ भी नहीं है । भजन, सत्संग, सेवा सब कुछ भगवान्‌के ध्यानके लिये ही है । अतएव ध्यान क्या वस्तु है, इसके जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये । भजन तो साधारण चेष्टा करनेसे और भगवान्‌को सबसे उत्तम समझनेसे निरन्तर हो सकता है । गीता अध्याय १५ श्लोक १९ को अर्थसहित देखना चाहिये । भगवान्‌को सबसे उत्तम समझनेके बाद भगवान्‌का भजन छूट नहीं सकता । समझदार आदमी वही काम करता है जिसमें अधिक लाभ हो । यदि यह कहा जाय सोने, चाँदी, लोहे और कोयलेकी किसी भी खानको खोद सकते हो तो मूर्ख मनुष्य भी हर समय सोनेकी खान खोदकर सोना निकालनेका काम ही करेगा। इसी तरह भगवान्‌का मर्म या प्रभाव समझनेवाला मनुष्य भी संसारके नाशवान् भोगपदार्थोंको छोड़कर हर समय श्रीभगवान्‌को ही भजेगा ।

तुमने लिखा, आपमें जिनका प्रेम है, उनके दर्शनसे भी आनन्द मिलता है सो इस प्रकार मेरी बड़ाईके शब्द नहीं लिखने चाहिये । तुमने लिखा कि कल्याण तथा आपके पत्र मिले, पढ़नेसे भगवान्‌की स्मृति हुई सो यह तुम्हारे प्रेम, भाव और विश्वासकी बात है ।

तुमने लिखा 'मुझमें समझदारी नहीं है । मैं समझदार होता तो आपसे सुनी हुई बातोंको काममें लाता । सो तुम सुनी हुई बातोंको तो काममें लानेकी चेष्टा रखते हो । तुम मेरी बातें जितनी काममें लाते हो उसके बदलेमें मैं भी तो तुम्हारी सेवा नहीं कर सकता । तुम और भी काममें लाने लगोगे तो फिर मुझसे बदला चुकाना कठिन हो जायगा । तुम्हारे प्रेम, विश्वास, भाव और बर्तावका बदला या प्रतिदान

मैं नहीं कर पाता, इसलिये लाचार हूँ । तुम प्रेमके कारण मेरी भूलोंकी ओर ध्यान नहीं देते ।

भजन, ध्यान निरन्तर करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये । तुमने सत्सङ्गविषयक पत्र लिखनेके लिये कहा था, इसीसे आज यह पत्र लिखा है । विशेष समाचार नहीं लिख पाया । समय बहुत कम मिलता है । परन्तु काममें लानेसे इतनी बातें भी बहुत हैं । तुमको विचारना चाहिये, तुम किस लिये आये हो ? क्या करना है और क्या कर रहे हो ? संसारकी कोई भी चीज तुम्हारे साथ नहीं जायगी । एक भगवान्को छोड़कर और कोई भी तुम्हारा नहीं है । फिर महामायाके जालमें फँसे हुए तुम अपने जीवनके समयको व्यर्थ ही क्यों बिता रहे हो ? अब चेतना चाहिये । ऐसा अवसर बार-बार मिलना मुश्किल है । और कुछ भी न कर सको तो भजन, ध्यान, सेवा, सत्संगकी चेष्टा तन-मनसे करनी चाहिये । इतना भी नहीं कर सको तो निरन्तर निष्काम भावसे भगवान्के नामका जप ही करना चाहिये । इस युगमें केवल नामके जपसे ही श्रीभगवान्की प्राप्ति हो सकती है ।

(२)

समय बीत रहा है । गया हुआ समय फिर हाथ नहीं आता । इसलिये जबतक स्वास्थ्य ठीक है, मृत्यु दूर है, तभीतक जो कुछ करना है सो कर लेना चाहिये । जिससे पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े । संसारकी दृष्टिसे इस समय तुम्हारे सब कुछ ठीक हैं । इससे अधिक ठीक और क्या होनेवाला है ? इस समय भी तुम न चेतोगे तो फिर कब चेतोगे ? एक भगवान्को छोड़कर तुम्हारा और कोई भी नहीं है । अतएव उस परमप्रेमी भगवान्को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये । तन, धन आदि कोई भी वस्तु साथ नहीं जायगी । इन सबको देकर बदलेमें साथ जानेवाली वस्तुको खरीद लेना चाहिये । यानी शरीरको भगवान्के भजन, ध्यान, सेवा, सत्संगमें लगाना चाहिये । रुपयोंको परोपकारमें लगाना चाहिये । रुपयोंसे जब अधिकार छिन जायगा तब पछतानेसे कुछ भी काम नहीं होगा । मनुष्यजन्मको सफल बनाना ही मनुष्यत्व है । मनुष्यजन्ममें ही आत्माका सुधार और उद्धार हो सकता है । अन्य किसी भी योनिमें नहीं हो सकता । इस प्रकार समझकर अपना उद्धार शीघ्र हो जाय इसके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । समयको अमूल्य समझकर अमूल्य काममें ही उसे लगानेकी चेष्टा रखनी चाहिये । और कुछ न बन सके तो हर समय ध्यानसहित श्रीभगवान्के नामका निष्काम प्रेम-भावसे निरन्तर जप करनेके लिये तो अवश्य ही विशेष चेष्टा करनी चाहिये । नामजपके प्रतापसे भगवत्कृपासे बहुत जल्दी आत्माका सुधार और उद्धार हो सकता है ।

(३)

शोक, चिन्ता, भय कभी नहीं करना चाहिये । यदि मनुष्य करता है तो वह मूर्ख है । सांसारिक भोग-विलास, धन, स्त्री, पुत्रकी वृद्धि देखकर जो प्रसन्न होता है वह भी मूर्ख है और सांसारिक वस्तुकी हानि देखकर जो चिन्ता करता है वह भी मूर्ख है । सर्वत्र भगवान्की दया समझकर हर वक्त प्रसन्न रहे । सांसारिक वस्तुओंके हानि-लाभमें भगवान्की लीला देखे, बहुत खुशी हो और पद-पदपर भगवान्की दया देखे । शरीरमें किसी प्रकारकी बीमारी होनेसे उसे तपस्या समझकर 'मैं तप कर रहा हूँ' ऐसा समझे और खूब प्रसन्नचित्त रहे । भगवान्ने दया करके भजन, ध्यान, भगवत्प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है । सांसारिक भोग-विलासमें इसे नहीं खोना चाहिये । पापीसे पापी हो तब भी भगवान्के भजन, ध्यानसे वह पापसे छूटकर भगवान्को प्राप्त हो जाता है । हमसे जो कुछ भी अच्छा काम होता है वह भगवान्की दयासे होता है—और जो बुरा कर्म होता है वह हमारे स्वभाव-दोषसे होता है, ऐसा समझकर बुरा कर्म कभी नहीं करना चाहिये । हर समय भजन, ध्यान, सत्संग और सेवाके लिये कटिबद्ध होकर चेष्टा करना ही मनुष्यका कर्तव्य है ।

विनाशी जगत्

इस जगत्में कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है। अभी एक वस्तु जिस रूपमें है, दूसरे क्षण वह उस रूपमें नहीं रहती। जो अभी है, वह दूसरे ही क्षण मृत्युके गर्भमें विलीन हो जाता है। दुःख तो यह है कि पद-पदपर इस सत्यका प्रत्यक्ष करनेपर भी हम सचेत नहीं होते और इस अनित्य और अस्थिरको नित्य और स्थिर समझकर यथार्थमें सदा नित्य और स्थिर परमात्मासे वञ्चित रह जाते हैं। हमें चाहिये कि जो कुछ हमें मिला है, उसका नित्य और स्थिर परमात्माकी प्राप्तिमें प्रयोग करें तभी उसके और हमारे जीवनकी सार्थकता है। नहीं तो, वह वस्तु तो रहेगी नहीं, और फिर पछतानेसे कुछ भी लाभ नहीं होगा। इस प्रकार यों तो सभी चीजें जा रही हैं परन्तु जब कोई खास चीज जाती है, तब उसका अभाव हमें विशेषरूपसे खटकता है और तब कुछ समयके लिये हमारा ध्यान उस विषयकी ओर आकर्षित होता है; इधर कुछ ही समयमें हमारे बीचसे ऐसे तीन रत्न चले गये हैं जिनसे हमें बड़ा लाभ था और हम चाहते तो और भी बहुत लाभ उठा सकते थे। परन्तु अब उनके लिये हमारे हाथमें सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी नहीं रह गया। इन तीन रत्नोंका संक्षिप्त परिचय यह है—

१—स्वामीजी श्रीश्रीपरमानन्दजी महाराज

भगवद्भक्ति आश्रम रिवाड़ीके प्रतिष्ठाता, सञ्चालक और आत्मा महाराज श्रीश्री-परमानन्दजीका पवित्र नाम कल्याणके अनेकों पाठक जानते होंगे। आपमें बहुत-से आदर्श गुण थे। सैकड़ों मनुष्योंने आपके उपदेशोंसे लाभ उठाया और जीवनको यथासम्भव पवित्र किया। आज भी आपकी स्मृतिसे अन्तःकरणमें पवित्रताका अनुभव होता है। आपकी भव्य विशाल मूर्ति, सदा प्रसन्नमुख और सरल भाषाके दिव्य उपदेश सभीको आनन्द देनेवाले थे।

२—पण्डित भवानीशंकरजी महाराज

आप बहुत उच्च श्रेणीके महात्मा थे। दया और प्रेम आपके स्वाभाविक गुण थे। कहते हैं अन्तरिक्षचारी महात्माओं और सद्गुरुओंसे आपका प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। और समयसमयपर उनसे आपको आवश्यक सन्देश मिलते थे। इधर बहुत दिनोंसे आप अधिकतर काशी रहने लगे थे। आपके दर्शन और उपदेशोंसे बड़ी ही शान्ति मिलती थी।

३—उपन्यास-सम्राट् श्रीप्रेमचन्दजी

प्रेमचन्दजी हिन्दी-जगत्के एक उज्ज्वल रत्न थे। उनके हृदयमें वस्तुतः प्रेमकी प्रबलता थी। अभी कुछ ही महीनों पूर्व आप गीताप्रेसमें पधारे थे। तब यह कह गये थे कि मैं कुछ समय बाद यहाँ पुनः आकर महीने-दो-महीने ठहरूँगा, उस समय यह कौन जानता था कि इतने ही दिनोंमें आपका शरीरवियोग हो जायगा और हमलोगोंको आपके दर्शन भी नहीं होंगे। विधाताका विधान कौन जानता है?

उपर्युक्त तीनों ही महानुभाव हमपर बड़ी कृपा रखते थे। इनके न होनेसे आज हमें कई बातोंका अभाव प्रतीत हो रहा है, परन्तु कोई उपाय नहीं है!

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुरके अखण्ड संकीर्तन-यज्ञकी विविध सूचनाएँ

आषाढ़ी पूर्णिमासे जो गोरखपुरमें अखण्ड हरिनामसंकीर्तन-यज्ञ हो रहा है। उसे इसी मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको पूरे ६ महीने हो जायँगे । इसके उपलक्ष्यमें मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीसे पौष कृष्णा ११ तक विशेष उत्सव मनानेका निश्चय किया गया है। बाहरसे बहुत-से संत-महात्मा, कीर्तनकार तथा विद्वानोंको बुलाया गया है और बहुतोंकी स्वीकृति भी आ गयी है । अतः संकीर्तनप्रेमी महानुभाव इस अवसरपर आकर संत-महात्माओंके उपदेशोंसे लाभ भी उठा सकते हैं और साथ ही संकीर्तन-यज्ञके कार्यक्रमको भी देख सकते हैं ।

नये साधकोंसे—

६ महीने पूरे हो जानेपर जो केवल ६ ही महीनेके लिये यज्ञमें सम्मिलित हुए थे ऐसे साधक चले जायँगे। अतः जो आगामी ६ महीनेके लिये इस यज्ञमें सम्मिलित होना चाहें वे शीघ्र-से-शीघ्र पत्रव्यवहार करें। अपना नाम, गाँव, पता, वर्ण, अवस्था, पारिवारिक परिस्थिति, स्वास्थ्य तथा पूर्वजीवनकी बातें लिखें और यह भी बतावें कि वे फलाहार आश्रमके खर्चसे करेंगे या १५) मासिक देंगे। यहाँसे स्वीकृतिपत्र आनेपर फौरन चले आवें, क्योंकि समय थोड़ा है। पौषकी अमावस्यातक ६ महीनेके लिये साधक प्रविष्ट हो सकेंगे।

पाठप्रेमी साधकोंसे—

अखण्ड संकीर्तनके साथ ही आजकल अखण्ड गीतापाठ, अखण्ड भागवत तथा अखण्ड रामायणपाठ भी होते हैं। आगामी ६ महीनोंमें इन पाठोंको अखण्ड रखनेका विचार तो नहीं है, किन्तु पाठप्रेमी महानुभाव यहाँ रहकर नियमित जपके साथ पाठ भी करना चाहें तो वे भी रक्खे जायँगे। जो महानुभाव पाठमें सम्मिलित होना चाहें वे भी शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

विशेष सत्संगियोंके लिये—

जो महानुभाव यहाँके नियमोंका पालन करते हुए फलाहार न करके अन्नाहारपर ही रहकर महीने दो महीने कीर्तन या सत्संगका लाभ उठाना चाहें तो उनके लिये भी यथाशक्ति स्थान रिक्त होनेपर प्रबन्ध किया जा सकता है।

निवेदक
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
व्यवस्थापक, अखण्ड हरिनामसंकीर्तन-यज्ञ,
गोरखपुर ।

राममनाममाहात्म्य

भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

अहो चित्रं मनुष्याणां चरित्रमिदमद्भुतम् । रामेति मुक्तिदं नाम न स्मरन्ति दुराशयाः ॥
वक्तुं नास्ति श्रमोऽल्पोऽपि श्रोतुमत्यन्तसुन्दरम् । तथापि रामनामेति न स्मरन्ति दुराशयाः ॥
अत्यन्तदुःखलभ्यापि मुक्तिर्जगति मानवैः । लभ्यते रामनाम्नैव कर्मास्ति किमतः परम् ॥
तावत्तिष्ठन्ति पापानि देहेषु देहिनां द्विज । रामेति नाम यावद्वै न स्मरन्ति सुखप्रदम् ॥
मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत् । स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने ॥
रामनाम द्विजश्रेष्ठ सर्वाशुभनिवारणम् । कामदं मोक्षदं चैव स्मर्तव्यं सततं बुधैः ॥
रामेति नाम विप्रर्षे यस्मिन्न स्मर्यते क्षणे । क्षणः स एव व्यर्थः स्यात् सत्यमेतन्मयोच्यते ॥
रामनामामृतस्वादभेदज्ञा रसना च या । तन्नाम रसनेत्याहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेतन्मयोच्यते । स्मरन्तो रामनामानि नावसीदन्ति मानवाः ॥

जन्मकोटिदुरितक्षयमिच्छुः सम्पदं च विपुलां भुवि मर्त्यः ।
रामनाम सततं द्विज भक्त्या मोक्षदायि मधुरं स्मरतु स ॥

अहो ! दुष्ट मनुष्योंके चरित्र कैसे अद्भुत हैं जो वे मुक्ति देनेवाले रामनामका स्मरण नहीं करते । रामनाम लेनेमें जरा भी श्रम नहीं होता, सुननेमें भी अत्यन्त सुन्दर है, तो भी दुष्ट मनुष्य उसका स्मरण नहीं करते । जगत्में मनुष्योंके लिये मुक्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है, परन्तु रामनामसे वह मिल जाती है; फिर इससे बढ़कर मनुष्यके लिये और क्या कर्तव्य होगा ? मनुष्योंके शरीरमें पाप तभीतक रहते हैं, जबतक कि वह सुखोंके देनेवाले रामनामका स्मरण नहीं करते । हे द्विजश्रेष्ठ जैमिनि ! मृत्युसमय जो मनुष्य रामनामका स्मरण करता है वह महान् पापात्मा होनेपर भी मोक्षको प्राप्त करता है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! रामनाम समस्त अशुभोंका निवारण करनेवाला, कामना पूर्ण करनेवाला और मोक्ष देनेवाला है; बुद्धिमानोंको सदा रामनाम-स्मरण करना चाहिये । मैं सत्य कहता हूँ—जिस समयमें मनुष्य रामनामका स्मरण नहीं करता, वही समय व्यर्थ जाता है । जो रसना (जीभ) रामनामामृतके स्वादको जानती है, तत्त्वज्ञानी मुनि उसी जीभको रसना कहते हैं । मैं बार-बार यह सत्य कहता हूँ कि रामनाम-स्मरण करनेवाला मनुष्य कभी दुःखको प्राप्त नहीं होता । जो करोड़ों जन्मोंके संगृहीत पापोंका नाश और संसारमें महान् सम्पत्ति चाहते हैं उन्हें भक्तिपूर्वक निरन्तर श्रीरामनामका स्मरण करना चाहिये ।

(पद्मपुराण)

श्रीहरिः

कल्याण कार्तिक संवत् १९९३ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१–राजा राम [कविता] (गोस्वामी तुलसीदासजी) ··· ८२५

२–ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके विचार (श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज) ··· ८२६

३–रासलीला-रहस्य (एक महात्मा) ··· ८३४

४–जगत् सत्य है या मिथ्या ? (पूज्यपाद १०८ भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश) ··· ··· ८३८

५–कल्याण ('शिव') ··· ··· ८४४

६–'दया' की दृष्टि ('माधव') ··· ··· ८४६

७–हमारा प्राप्य या लक्ष्य क्या है ? (श्रीरमण महर्षिके एक शिष्य) ··· ··· ८५०

८–भक्त-गाथा ··· ··· ८५३

९–वेदान्तकी सार्वभौमता (श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य काव्यसांख्ययोगन्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न स्वामी श्रीभागवतानन्दजी मण्डलीश्वर) ··· ८५७

पृष्ठ-संख्या

१०–श्रीसुग्रीवजीका महत्त्व (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· ··· ८६३

११–स्वप्न [कविता] (पं० श्रीरामचन्द्रजी वैद्य शास्त्री 'राम') ··· ··· ८६९

१२–परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) ८७०

१३–एक भक्तके उद्गार (अ०–श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न) ८७५

१४–भगवद्विश्वास (एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा) ··· ··· ८७६

१५–भक्त कलेक्टर साहब (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) ८८४

१६–कहावतें [कविता] (स्वामी श्रीअग्रदासजी) ८८८

१७–परमार्थपत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· ··· ८८९

१८–अमर प्रसून [कविता] (श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु') ८९०

१९–युगल सरकारकी उपासना और ध्यान (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ··· ८९१

२०–जीवनकी विनश्वरता [कविता] (श्रीरामाधारजी त्रिपाठी 'जीवन') ··· ··· ९०४

श्रीहरिः

प्रेमी ग्राहकों और कल्याणके सुहृद् महानुभावोंसे निवेदन

१—वेदान्ताङ्क सब ग्राहकोंकी सेवामें पहुँचनेमें इस बार बहुत देर हो गयी। देर तो प्रकाशनमें ही हो गयी थी, फिर एक महीनेसे अधिक समय रजिस्ट्री और वी. पी. जानेमें लग गया। वी. पी. के रुपये अबतक भी पूरे नहीं आये हैं। वेदान्ताङ्ककी वी. पी. जा रही थी इसीलिये आश्विनका छपा हुआ अंक भी नहीं भेजा जा सका। और अब कार्तिकके अंकके साथ ही वह जा रहा है। इस अव्यवस्था तथा विलम्बके लिये हम अपने सब प्रेमियोंसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं। परिस्थितिको समझकर महानुभाव हमें क्षमा करें।

२—'कल्याण' कार्यालयमें सभी विभागोंमें काम बढ़ जानेके कारण खर्च बहुत बढ़ गया, परन्तु पृष्ठ तथा चित्रोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहनेके कारण आमदनी नहीं बढ़ी; इससे कुछ नुकसान ही रह जाता है। यदि ग्राहक और प्रेमी महानुभाव विशेष चेष्टा करके कुछ ग्राहक और बढ़ा दें तो यह नुकसान पूरा हो सकता है। **एक सज्जनने ऐसा प्रस्ताव किया है कि यदि कल्याणके प्रत्येक ग्राहक विशेष चेष्टा करके दो-दो ग्राहक और बढ़ा दें तो ग्राहक-संख्या एक लाख हो सकती है। और वैसी अवस्थामें कल्याणमें घाटा नहीं रह सकता। सम्भव है, ऐसा होनेपर ग्राहकोंको कुछ और भी सुविधा मिल जाय। इस प्रस्तावपर विचार करके ग्राहक-अनुग्राहक महानुभाव चेष्टा करके दो-दो ग्राहक और बना देनेकी कृपा करें तो वास्तवमें ही उनके 'कल्याण' की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। आशा है कल्याणके प्रेमी महानुभाव इस निवेदनपर ध्यान देंगे।**

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर**

अखण्ड हरिनामसंकीर्तन और परमार्थ यज्ञ

आगामी मार्गशीर्ष शु० १५ को छः महीने पूरे हो जायँगे। इस अवसरपर विशेष उत्सव मनानेका विचार है। जिन महानुभावोंको अगले छः महीनेके लिये साधक बनना हो वे कृपाकर नीचे लिखे पतेपर शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
संचालक, संकीर्तन-यज्ञ
गीताप्रेस, गोरखपुर

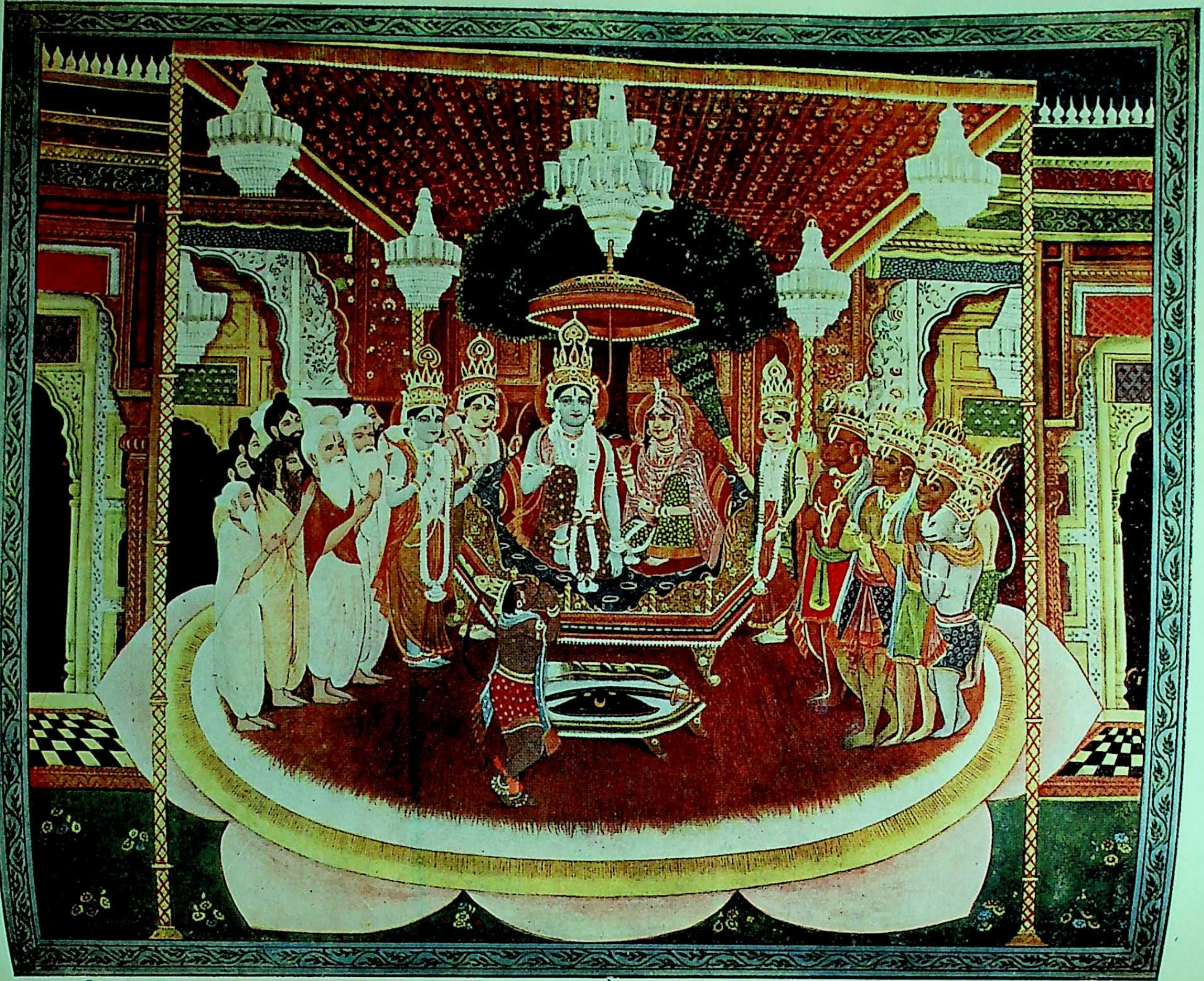

रामसभा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

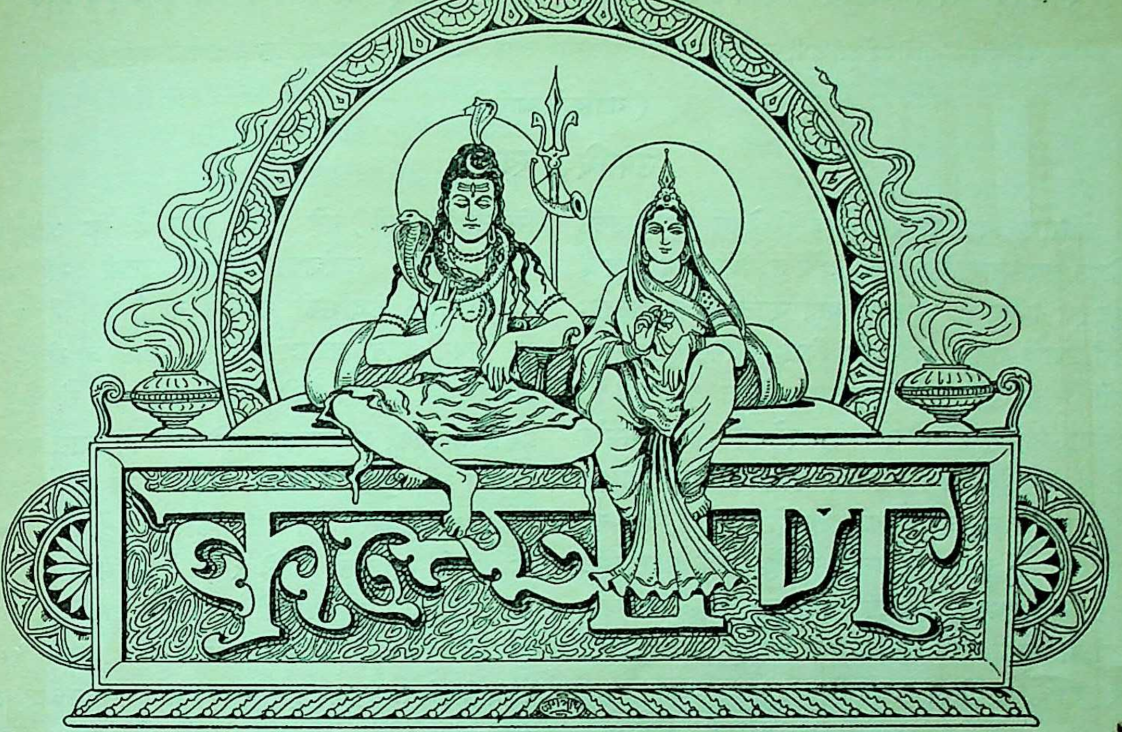

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, कार्तिक १९९३, नवम्बर १९३६ { संख्या ४
पूर्ण संख्या १२४

राजा राम

बनतें आइकै राजा राम भये भुआलु ।
मुदित चौदह भुवन, सब सुख सुखी सब सब कालु ॥
मिटे कलुष-कलेस-कलुषन, कपट-कुपथ-कुचालु ।
गये दारिद, दोष दारुन, दंभ दुरित दुकालु ॥
कामधुक महि, कामतरु तरु, उपल मनिगन लालु ।
नारि-नर तेहि समय सुकृती, भरे भाग सुभालु ॥
बरन-आश्रम-धरमरस, मन बचन बेष मरालु ।
रामसिय-सेवक-सनेही, साधु, सुमुख, रसालु ॥
राम-राज-समाज बरनत सिद्ध-सुर-दिगपालु ।
सुमिरि सो तुलसी अजहुँ हिय हरष होत बिसालु ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीशंकराचार्यके विचार

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज)

(गतांकसे आगे)

उपाधिका स्वरूप

प्रतिपाद्य विषयका अबतक जो विश्लेषण हुआ उससे न केवल अपने वास्तविक स्वरूप और लक्ष्यका बोध होता है प्रत्युत इस बातका भी बहुत कुछ पता चलता है कि वस्तुतः हमारी उपाधि क्या है और वह किस उपायसे दूर की जा सकती है। कारण, अद्वैत सिद्धान्त यह घोषित करता है कि यह संसार स्वयं कुछ भी नहीं है, इसे हम जैसा निर्माण करते हैं, यह वैसा ही है। हम ही इसे बनाते या बिगाड़ते हैं। जीव और मनके स्वरूपका ज्ञान हो चुकनेपर अब यह काम रहा कि हम इस मनको पकड़ें, इसके पंख छाँट डालें, इसकी इधर-उधर भटकनेवाली चञ्चल रुचियों और वृत्तियोंका निरोध करके इसे आत्माके अनुकूल करके उसीकी ओर घुमा दें। स्मृतिका वचन है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

'मनुष्यके बन्धन और इस बन्धनसे उसकी मुक्ति, दोनोंका कारण उसका मन ही है।'

उदाहरणार्थ, ऐसा हो सकता है कि कोई राजा वैभव-सम्पन्न हो, पर फिर भी उसे सन्तोष-सुख न हो; उसी प्रकार कोई मनुष्य गरीब हो और फिर भी उसे न केवल सन्तोष, प्रत्युत शान्ति, सुख और आनन्द भी प्राप्त हो। यह क्या बात है? अवश्य ही गरीबके इस सुखके कारण बाह्य पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि उसके पास धन नहीं है। यदि बाह्य पदार्थोंमें सुख होता तो विलासिताकी सामग्रीसे घिरे रहनेवाले लोग दुखी क्यों होते? आधुनिक प्रवृत्ति अनावश्यक पदार्थोंको निर्माण करने और उन्हें घर-घर पहुँचानेकी ओर है, इस तरह ये लोग नये-नये पदार्थ निर्माण करके उनकी आवश्यकता उत्पन्न करते हैं। कृत्रिम उपायोंसे, इस तरह, आवश्यकताएँ बढ़ायी जाती हैं यह अच्छी बात नहीं है। कारण, जब आप आवश्यकताओंको गुणित करते और बढ़ाते हैं तब उससे आप अपने सुखको ही विभाजित करते और घटाते हैं। किसी अपूर्णाङ्कके लवकी क्या गति होती है जब आप उसके छेदको बढ़ाते हैं? अपूर्णाङ्क ही इससे घटता है। कारलाइलने इसी बातको (अपने 'सार्टर रिसार्टस' ग्रन्थमें) बड़े मजेसे कहा है कि अपूर्णाङ्ककी कीमत उसके लवांशकी वृद्धिसे उतनी नहीं बढ़ती जितनी उसके छेदांशको घटानेसे बढ़ती है। पर हम लोग तो अपनी आवश्यकताओंको ही बढ़ाते जा रहे हैं, और परिणाम यह हो रहा है कि हमारे दुःख बढ़ रहे हैं। इस प्रकार जीवनकी आवश्यकताओंके सम्बन्धमें हमारी मानसिक कल्पना और सुखके सम्बन्धमें हमारा मानस मान ही हमारे सब दुःखोंका कारण है। इसी प्रकार, यह सोचनेकी बात है कि किसी मनुष्यको पहले ५०) वेतन मिलता था और उस वेतनमें वह सुखी था, पीछे उसकी इतनी बढ़ती हुई कि उसे १०००) मासिक मिलने लगा, अन्तमें ५००) पेंशन मिलने लगी, पर इस ५००) में अब उसका काम नहीं चलता—नहीं चल सकता, और बड़े कष्टसे अब उसके दिन बीतते हैं। ऐसा क्यों? कारण यही है कि मनको एक कृत्रिम मानस मानका अभ्यास पड़ गया है और उसीके पीछे वह उसे ढकेले लिये जाता है। आवश्यकताएँ जितनी ही हमारी कम होंगी, सुख हमारा उतना ही अधिक होगा। यदि हमारा जीवन सादा और विचार उदात्त हो तो हम लोग अधिक सुखी हो सकते हैं। जब किसी पदार्थकी कामना की जाती है और वह पूरी नहीं होती तो उसका फल दुःख है; परन्तु यदि सुखकी आशा करते हुए हम दुःखके लिये तैयार रहें तब निराशाका कोई कारण नहीं; फल भी कोई दुःख नहीं। तात्पर्य, हमारा सुख-दुःख हमारे मनका ही कार्य है, मन ही इसके लिये जिम्मेदार है।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। मद्रासमें रहनेवाले किसी सज्जनका एक पुत्र है जो बम्बईमें रहता है, वहाँ उसे ५००) वेतन मिलता है। कुछ काल बाद वह मर जाता है पर इसकी कोई खबर उसके पिताको नहीं दी जाती। पिता यही समझता है कि बेटा कमाता है, सुखसे रहता है और बेटेके इस कल्पित सुखसे पिता भी सुखी है। पर जब उसे बेटेके मरनेकी खबर मिलती है तब वह दुखी होता है। अथवा ऐसा मान लीजिये कि समाचारपत्रोंमें कोई ऐसी

खबर छप गयी कि अमुक व्यक्ति मर गया, पर वास्तवमें वह मरा नहीं है, गलत ही खबर छपी है। पर इससे उसका पिता दुखी होता है क्योंकि उसके दिमागमें यह बात भर गयी है कि पुत्रकी मृत्यु हो गयी है। अर्थात् पुत्रका सुख या पुत्रकी मृत्यु पिताके सुख-दुःखका कारण नहीं है बल्कि पिताके मनकी कल्पना ही कारण है, मनःसृष्टिवादका यही सिद्धान्त है।

इसी प्रकार, मान लीजिये कोई मनुष्य आपको गालियाँ दे रहा है, गाली बकते-बकते उसका मुँह और शरीर दर्द कर सकता है (उसके मन और मुखकी पीड़ाका यह भौतिक परिणाम हो सकता है); पर कम-से-कम आपके कान तो नहीं दर्द कर सकते। फिर भी आपको दुःख तो होता है! क्यों? इसलिये कि ऐसे सब मामलोंमें आपका दुःख आपके सुने हुए शब्दोंका आपके कानोंपर होनेवाला कोई भौतिक परिणाम नहीं है। बल्कि आपका मन आपको उन शब्दोंका जो अर्थ और अभिप्राय सुझाता है उसीका वह परिणाम है। कभी-कभी तो ऐसा भी हो जाता है कि कुछ फासलेपर बैठे दो आदमी कुछ बात कर रहे हैं, उनकी भाषा हम नहीं जानते न उनका एक शब्द भी हमें सुनायी देता है, फिर भी हमारे ही चित्तमें यह सन्देह होता है कि ये दोनों हमारे विरुद्ध कुछ बोल रहे हैं। बस, मनमें इस कल्पनाके उदय होते ही हम दुखी हो जाते हैं। वे लोग चाहे जो कह रहे हों, वह यहाँ हमारे दुःखका कारण नहीं है; पर हमारे मनकी कल्पना ही दुःखका कारण है। यथार्थमें कृतापराध स्वयं ही शङ्कित होकर अपने दुःखका आप ही कारण होता है। इसी प्रकार, किसी पुलिस कांस्टेबलको पीछे-पीछे आता देख चोर यह समझता है कि कांस्टेबल मेरा ही पीछा कर रहा है (कांस्टेबलके चित्तमें कोई सन्देह भी नहीं है कि यह चोर होगा), पर चोर अपने ही अपराधसे ऐसा मान लेता है, उस कांस्टेबलपर झपटता है या कम-से-कम वहाँसे भागनेकी चेष्टा करता है, और इस तरह अपने ही कार्यसे सन्देह उत्पन्न करता, अपने आपको धोखा देता और पकड़ा जाता है। यह भी 'कृतापराधः स्वयमेव शङ्कते' का उदाहरण है। न्यायदण्डके भयसे भागे हुए मनुष्योंका यही हाल होता है, भेस बनाकर रहते और सदा डरते रहते हैं कि कोई हमें पहचान न ले, इनको जैसी यन्त्रणा इस हालतमें सदा भोगनी पड़ती है उससे इनका पकड़ा जाना इनके लिये अधिक अच्छा है, एक बड़ी भारी यन्त्रणासे तो मुक्ति मिल जाती है। ये सभी बातें ऐसी हैं जो अपने मनसे ही निकलती हैं अर्थात् इनका कारण मन है।

उपाधि-निरसन

परन्तु यदि हम वेदान्तसे इस बातको जानें कि हमारे आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है और हमारा लक्ष्य क्या है, यदि हम उस स्वान्तःस्थित गूढ दिव्य आनन्दस्वरूपको अपने अन्दर अनुभूत करें, यथावत् निदिध्यासनके मार्गपर चलना सीखें और सीधे उसके समीप पहुँचनेका यत्न करें (जैसे कोई शर अपने लक्ष्यको वेधकर तन्मय हो जाता है) तो वह असीम आनन्द हमें यहीं और अभी प्राप्त हो सकता है। यदि हम अपने दुःखोंका ही चिन्तन करते रहें और उन्हें राईसे पर्वत बनाया करें तो वे दुःख और भी अधिक प्रतीत होंगे, क्योंकि भ्रमरकीटन्यायसे प्रकृतिका यह अनिवार्य नियम है कि हम सतत जिसका चिन्तन करते हैं उसीकी हमें उपलब्धि होती है और वही हम हो जाते हैं। यही व्यावहारिक मनोविज्ञान है जिसका प्रयोग आधुनिक डाक्टर अपने रोगियोंपर किया करते हैं; हिपनाटिज़्म और मेसमेरिज़्मकी क्रियाओंका यही रहस्य है। प्राचीन पौराणिक गाथाओंसे यह मालूम होता है कि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकरण, कंस आदि दैत्योंने अन्तकालमें ईश्वरको प्रत्यक्ष देखा था। यह कैसे देखा? इसी तरह कि वे (अपश्यंस्तन्मयं जगत्) सदा उसीका दिनमें मनन करते थे, और रातको उसीका स्वप्न देखते थे; अवश्य ही प्रेमसे नहीं बल्कि द्वेष और भयसे। हेतु उनका चाहे जो रहा हो पर मनन और निदिध्यासन वे उसीका करते थे; और इसीका यह परिणाम हुआ कि अपने जीवनके अन्तिम क्षणमें उन्हें ईश्वरका साक्षात्कार हुआ। हाँ; अन्तर इस बातका अवश्य था कि इन दैत्योंने ईश्वरको उसी रूपमें देखा जिस रूपमें उन्होंने उसका चिन्तन किया था। भक्त सदा भगवान्, पिता, गुरु आदि रूपोंमें उसका चिन्तन करते हैं और इसलिये इन्हीं रूपोंमें भगवान् इन्हें प्राप्त होते हैं; और जो लोग उसे शत्रुरूपमें भजते हैं उन्हें अन्तकालमें कालरूप भगवान् ही प्राप्त होते हैं।

और श्रीकृष्णकी बाललीलाके प्रसङ्गसे हमलोग पहले यह देख ही चुके हैं कि किस प्रकार मध्यग्रीष्मके मध्याह्नमें भी सूर्यके बाह्य प्रखर प्रकाशको भी हम चाहें तो, नेत्र बन्द करके, देखनेसे इन्कार कर सकते हैं; पर जब अन्तर्ज्योति प्राप्त होती है तब

अन्दर भी देख सकते हैं और बाहर भी; कारण, आखिर यह मन ही तो है जो हमारे लिये सब कुछ करता है। इस मनको पकड़कर अपने काबूमें करो। लक्ष्यपर सदा ध्यान रक्खो, लक्ष्यको निश्चय ही प्राप्त करोगे और सब तरहसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी।

जो सब लक्ष्योंका लक्ष्य, महान् लक्ष्य हमारा एकमात्र वास्तविक लक्ष्य है वह क्या है और कहाँ है? यह लक्ष्य, जैसा कि पहले बताया जा चुका, उन सर्वव्यापी भगवान्‌के साथ एकत्वकी प्राप्ति है जो सर्वत्र हैं और इसलिये हमारे अंदर भी हैं। यदि भगवान् बाहर भी हैं और अंदर भी, तो हमारे इस शरीरकी क्या गति है? यह केवल बाह्य आवरण या कोष है जिसके भीतर जीवात्मा स्थित है। यदि इस बातको हमलोग अच्छी तरह समझ लें और (शरीरसम्बन्धी अपने भ्रमको तथा उस भ्रमके कारण प्रतीत होनेवाले शरीररूप बन्धनसे अपने आपको अलग करके) अपने दिव्य आत्मस्वरूपको जान लें तो सिद्धि निश्चित है। इतना महान् अपना लक्ष्य है और इतना सरल उसका रास्ता। इससे अधिक महान् लक्ष्य और क्या हो सकता है और रास्ता भी इससे सरल और कौन हो सकता है?

शंकासमाधान

इसपर यह पूछा जा सकता है कि, 'अच्छा, यदि हम ईश्वर हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, और मृत्यु, अज्ञान तथा दुःख केवल उपलक्षण हैं जो बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होते और बाहरसे ही आते हैं, तो फिर हमलोगोंको अपने लिये कुछ भी करनेका क्या प्रयोजन है? अज्ञान और असुख—उष्णजलकी उष्णताके समान—क्या आप ही क्रमशः क्षीण होकर सदाके लिये हमसे अलग न हो जायँगे?' इसका उत्तर यह है कि, 'हाँ, गरम जल यों ही रक्खा रहे तो यथासमय वह आप ही ठंडा हो जायगा; पर हमने यह तो नहीं कहा कि वह आगपर रक्खा रहे तो भी ठंडा हो जायगा। आगपर रक्खा रहेगा तो ठंडा होनेके बदले और भी गरम होगा। इसी प्रकार दुःखमय जीवनके जो-जो कारण हैं वे कारण यदि बने रहेंगे, बने रक्खे जायँगे, अर्थात् यदि अज्ञान और दुष्कर्म बने रक्खे जायँगे तो उनके परिणामस्वरूप दुःख और क्लेश क्षीण ही कैसे हो सकेंगे और हम भी अपने मूलस्वरूपभूत लक्षण जो अव्यय सनातन आनन्द है उसे कैसे प्राप्त करेंगे?'

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब एक ईश्वर ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है तो हम दो मिथ्याओंमेंसे—अर्थात् पुण्य और पाप इन दोमेंसे पापका त्याग और पुण्यका ग्रहण, ऐसा पंक्तिभेद क्यों करें?' इसका उत्तर संस्कृतके इस नीतिवाक्यमें दिया गया है—

कण्टकं कण्टकेनैव गरेण च यथा गरम्।

तुम्हारे तलवेमें यदि कोई काँटा गड़ जाय तो तुम यह चाहोगे ही कि यह काँटा निकाला जाय और उससे होनेवाली पीड़ा दूर की जाय। यह काँटा कैसे निकालोगे? सुईसे, पिनसे अथवा अन्य किसी काँटेसे ही। तब यह तो नहीं कहोगे कि यह भी काँटा है और वह भी काँटा है, दोनों ही काँटे हैं उनमें भेद क्यों करें? हैं तो दोनों काँटे ही, पर उनमें अन्तर यह है कि एक काँटा दुःख देनेवाला है और दूसरा दुःख दूर करनेवाला। इसी प्रकार, कोई डाक्टर किसी विषको नष्ट करनेके लिये जो दवा देता है वह उस विषको मारनेवाला प्रतिविष (एंटी डोट) ही होता है जो उस विषसे भी अधिक उग्र विष होता है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों ही विष हैं, पर दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि एक जीवनको नष्ट करनेवाला विष है और दूसरा, उस प्रसंगमें, जीवनको बचानेवाला विष है। पाप और पुण्यकी ठीक यही बात है, दोनों ही मिथ्या हैं और एक-से ही मिथ्या हैं; पर दोनोंमें अन्तर यह है कि पापके मिथ्यात्वका (शास्त्र और अनुभवसे भी सिद्ध) रूप वह है जो पीड़ा पहुँचाता और दुःखका कारण होता है और पुण्यके मिथ्यात्वका (शास्त्र और अनुभवसे भी सिद्ध) रूप यह है कि यह दुःख दूर करता और सुखका कारण होता है। यदि दुःख ग्रहण करनेमें तुम्हें कोई एतराज न हो तो पाप ग्रहण करनेमें भी कोई एतराज नहीं; पर यदि तुम सुख चाहते हो तो तुम्हें पुण्य करना होगा। और फिर, अपने शास्त्र यह बतलाते हैं कि पहला काँटा जब दूसरे काँटेसे उखड़ जाता है तब जैसे दोनों ही काँटे फेंक दिये जाते हैं वैसे ही जब पुण्य पापका प्रतिविष बनकर उसे नष्ट करके अपना काम पूरा कर चुकता है तब पाप और पुण्य दोनोंको ही फेंक देना होता है। 'उभे पुण्यपापे विधूय।'

दूसरा प्रश्न जो जिज्ञासु कर सकता है, यही नहीं बल्कि जो जिज्ञासुको करना चाहिये वह यह है—'अच्छा, यदि आगे फिर कोई पाप न किया जाय और इस तरह दृष्टान्तगत जलके नीचेसे आग हटा ली जाय, तब तो जल अपने आप

ठंडा होगा ? यदि होगा तो इतना ही कहना क्या पर्याप्त नहीं है कि 'आगे अब कोई पाप मत करो ?' आत्म-साक्षात्कार और उसके आनन्दके साधनके तौरपर आत्माके और परमात्माके साथ उसके तादात्म्यके वास्तविक स्वरूपका श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी क्यों आवश्यक बतलाया जाता है ?'

इस प्रश्नका उत्तर द्विविध है—

(१) हाँ, यदि आग बिलकुल हटा दी जाय और सदाके लिये हटा दी जाय तो जल अवश्य ठंडा होगा; पर इसके ठंडा होनेमें जो समय लगेगा वह तुम्हारी इच्छाके अधीन न होगा बल्कि जिस तापतक जल पहुँचा हुआ होगा उसीपर निर्भर करेगा। परन्तु यदि तुम्हें ऐसी प्यास लगी हो कि रहा न जाता हो और जल ठंडा हो लेनेतक ठहरना असह्य हो तो यह कहनेसे काम न चलेगा कि 'यथासमय जल तो ठंडा होगा ही'; इसके लिये कुछ उपाय ही करना होगा (जैसे जलको एक पात्रसे दूसरेमें डालना, बर्फके साथ रखना इत्यादि) जिसमें जल जल्दी ठंडा हो। वही बात यहाँ भी है। हमलोगोंने पापपर पाप करके पापोंके ढेर लगा दिये हैं, केवल इसी जन्ममें नहीं बल्कि जो असंख्य जन्म पहले बीत चुके हैं उनमें यही करते आये हैं; और इसी कारण राशि-राशि दुःख, क्लेश और दुर्गति हमारे हिसाबमें हमारे नाम बाकी हैं। यदि इन सब पापोंके खतम होनेतकका सारा समय तुम इनके खतम होनेकी प्रतीक्षामें ही बिता सकते हो और आगे बिना कोई पाप किये रह सकते हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इसे तुम असम्भव समझते हो और इस सारे बखेड़ेको जल्द ही पार करना चाहते हो। यदि तुम्हें कोई पीडा, दुःख या क्लेश नहीं होता, तब तो हम तुमसे कोई औषध-उपचार करनेको न कहेंगे। परन्तु दुःखका अनुभव तो तुम्हें होता है और जबतक होता है तबतक औषधोपचार भी आवश्यक ही है। यदि दर्पणमें अपना मुँह देखनेसे कोई ऐसा प्रतिबिम्ब नहीं देख पड़ता जो आपत्तिजनक हो तो तुम्हें अपनी आँखें बन्द कर लेनेकी कोई जरूरत नहीं है; परन्तु जबतक तुम प्रतिबिम्बको देखते हो और जबतक तुम ऐसे देख पड़ना नहीं चाहते, तबतक तुम्हें दर्पणसे अपनी आँखें बन्द कर लेनी ही पड़ेंगी। ठीक वैसी ही बात यहाँ समझनी चाहिये। यदि तुम्हें कोई दुःख नहीं है, सदा शाश्वत सुखसे सुखी हो तो तुम अपना उद्देश्य पूरा कर चुके, अपने लक्ष्यको पहुँच गये; अब तुम्हारे लिये श्रवणादि साधनका कोई काम न रहा। परन्तु यदि तुम दुखी हो और दुःखसे छूटना चाहते हो, तब तो, गरम जलको जल्द ठंडा करनेका जैसे उपाय है वैसे ही यहाँ भी श्रवण-मननादि साधन है जिससे समस्त सञ्चित पापको पारकर तुम शीघ्र मोक्षको प्राप्त हो सकोगे।

(२) और फिर गरम जलके नीचेसे आगको हटानेका भी अभिप्राय यहाँ क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर तब ठीक तरहसे बन सकता है जब यह ठीक तरहसे मालूम हो जाय कि यहाँ (दार्ष्टान्तमें) आग क्या है। शास्त्र कहते हैं— 'अविद्याकामकर्मभिर्जन्म'; और अपने अनुभवसे भी यह ज्ञात होता है कि तीन बातें ऐसी हैं जिनसे हम बँध जाते हैं और जिनके कारण हमें बार-बार इन विविध शरीरोंमें जन्म लेना पड़ता है और फिर अपने अशाश्वत मर्त्यशरीरमें बद्ध होकर हमलोग अपने सदात्माका परमात्मत्व ही भूल जाते हैं। ये तीन बातें क्या हैं ? ये तीन बातें हैं— (१) अपने अनन्तस्वरूपके विषयमें अज्ञान या अविद्या, और (२) इस कारणसे क्षुद्र पदार्थोंकी इच्छा या काम, और (३) इन कामोंकी पूर्त्तिके लिये नानाविध मूर्खतापूर्ण कर्म। अविद्यासे ये काम उत्पन्न होते हैं और कामसे ये कर्म; और फिर इन कर्मोंके फल भोगनेके लिये विविध शरीरोंमें जन्म लेना पड़ता है, शरीरसे और इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे तथा संसारसे बद्ध होना पड़ता है। अतः जन्मबन्धका मूल कारण जो अविद्या है, उसका जबतक नाश नहीं होता तबतक बन्धन कदापि नष्ट नहीं हो सकता। अर्थात् यहाँ जो आग हटानी है वह आत्मोपलब्धिके आनन्दवारिके नीचेसे अविद्याका हटाया जाना है; और जबतक हम श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा इस अविद्यारूपी अग्निको नहीं हटा देते तबतक दृष्टान्तगत अग्नि बनी ही हुई है। इससे यह स्पष्ट हुआ होगा कि श्रवणादि साधन क्यों आवश्यक हैं।

फल

श्रीभगवान्के पूजनमें अपने चित्तकी वृत्ति कैसी होनी चाहिये, इस विषयमें शास्त्रकी यह आज्ञा है—

'सोऽहंभावेन पूजयेत् ।'

'भगवान्के साथ तादात्म्यभाव करके भगवान्का पूजन करें।'

इस प्रकार जिसका चित्त तदात्मभूत हुआ है उसके विषयमें श्रीमद्भागवतका यह वचन है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

'भगवान्‌का उत्तम भक्त वह है जो सब भूतोंमें भगवान्‌को और अपने आपको देखता है और सब भूतोंको भगवान्‌में और अपने आपमें देखता है ।'

और श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'बिरलोंमें बिरला वह महात्मा है जो सब पदार्थोंको वासुदेवरूपमें—सर्वव्यापक श्रीभगवान्‌के रूपमें देखता है ।'

ऐसे ही पुरुषके विषयमें यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

'यह सारा विश्व और मैं वही एक वासुदेव (सर्वव्यापक) परम पुरुष परमेश्वर है, ऐसी जिनकी हृदयगत अनन्तमें अचला मति है उन्हें दूरसे ही देखकर चल दो—उनके पास न जाओ (क्योंकि वे मृत्युको पार कर चुके हैं और अब तुम्हारे या मेरे अधिकारक्षेत्रमें नहीं हैं) ।'

यह दिव्य फल कैसे प्राप्त होता है, इसका अब विचार करें ।

कारणमीमांसा

ज्ञानकी इस अवस्थाको जब हम प्राप्त होते हैं और केवल निष्काम कर्म करते हैं, तब हम कर्म केवल इसलिये करते हैं कि उन कर्मोंको करना हमारा कर्तव्य है, इसलिये नहीं कि उन कर्मों या उनके फलोंमें कोई आसक्ति हो । और इसका यह फल होता है कि पाप और दुःखकी जो प्रभूत राशियाँ हमलोगोंने कमाकर इकट्ठी कर रक्खी हैं वे जलकर भस्म हो जाती हैं । अविद्याका न होना ही कामका न होना है, कामका न होना ही कर्मका न होना है और कर्मका न होना ही जन्मका न होना है; अर्थात् जन्ममरणका जो यह चक्र है यह पीछे छूट जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है ।

इस तरह कोई नया कर्म नहीं होता; पर पिछले कर्मोंका क्या होता है ? वेदान्तसूत्र इसका उत्तर देता है—

'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ'

अर्थात् ज्ञानीका सञ्चितकर्म जल जाता या नष्ट हो जाता है, उसका आगामि कर्म निष्काम होनेके कारण रह ही नहीं पाता अर्थात् उसे जन्म प्राप्त करानेवाला बन्धन नहीं बनता; और जो प्रारब्ध कर्म है (कर्मका वह भाग जिसके कारण यह जन्म हुआ है और जिसने फल देना आरम्भ किया है) वह भी इसी जन्ममें भोग देकर नष्ट हो जाता है । अब यह ऐसी अवस्था हुई जैसी उस मनुष्यकी होती है जिसका बैंकमें जमा रुपया नष्ट हो गया हो, नयी कमाई जिसकी कुछ भी न हो, और पास जो रुपया खर्चके लिये रक्खा था वह भी खर्च हो गया हो, अर्थात् जो अब सब तरहसे ठनठनगोपाल हो गया हो । सञ्चित नष्ट हो गया, आगामि कुछ है नहीं, प्रारब्धका भी क्षय हो गया, कोई कर्म ही बाकी नहीं रह गया जिसके कारण उसे पुनः जन्म लेना पड़े । तब आगे उसकी क्या गति होती है । वेद कहते हैं—

'उसके भगवत्स्वरूपके साथ उसका पुनर्मिलन होनेमें उतना विलम्ब है जितनेमें उसका प्रारब्ध भी क्षय हो जाय ।' और वह भी जब हो चुका, तब—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ।

'उसके प्राण बाहर निकलकर उसे अन्य लोकमें नहीं ले जाते (क्योंकि कहीं कोई कर्म करनेके लिये शेष नहीं रहा) ।'

अत्र ब्रह्म समश्नुते ।

वह ब्रह्मको प्राप्त होता है (सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरके साथ—यहीं—एक हो जाता है) । कोई व्यावहारिक दृष्टान्त लेकर यह बात स्पष्ट की जा सकती है । कोई कैदी है—मान लीजिये—जो छोड़ा नहीं गया है बल्कि एक जेलसे दूसरे जेलमें भेजा जाता है; उसके साथ पुलिसकी गारद रहती है जो उसे यहाँसे वहाँ पहुँचाती है । पर जब वह छोड़ दिया जाता है तब उसके साथ गारद नहीं रहती । इसी प्रकार जीव जब मुक्त नहीं किया जाता बल्कि एक शरीरके कैदखानेसे दूसरे शरीरके कैदखानेमें भेजा जाता है तब प्राण (पुलिसकी गारदकी तरह) उसके साथ वहाँ जाते हैं; पर जब वह सर्वथा मुक्त हो जाता है तब प्राण उसे कहीं ले जानेके लिये उसके साथ नहीं जाते, क्योंकि उसको किसी खास जगह जाना नहीं है, वह तो स्वयं अनन्त परमात्माके साथ ही जो एक हो गया ।

इस प्रकार यदि हम अपने प्राचीन महर्षियोंद्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलें तो हमलोग जहाँसे गिरे हैं वहीं

अर्थात् ईश्वरमें पहुँचेंगे। हम आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें आ गिरे थे, और अब 'जनि विपरीत क्रम' का अनुसरण कर (जैसा कि स्वामी सदाशिवेन्द्र सरस्वतीने वर्णन किया है) हम अपने कैवल्यको प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार अधोगत जीवका ऊर्ध्वकी ओर विकास पूर्ण होता है और इस प्रकार उस मानवजीवनका महदुद्देश्य सिद्ध होता है जिस मानवजीवनके द्वारा हमें पदार्थोंको समझने, सदसत्‌का विवेक करने और सत्कर्म करनेका महदधिकार प्राप्त हुआ है। अन्य योनियाँ—पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि तथा देवयोनियाँ भी—केवल भोगभूमियाँ हैं; उन योनियोंमें हम केवल वही कर सकते हैं जिसे करनेके लिये हम अपने पूर्वकर्मसे बँधे हैं और उन्हीं फलोंको भोग सकते हैं जो पूर्वकर्मोंके फल हैं; परन्तु मनुष्यशरीर कर्मक्षेत्र है। इसके द्वारा हम न केवल प्राक्तन और वर्तमान कर्मोंके फल ही भोगते हैं किन्तु ऐसे नये कर्म भी कर सकते हैं जो हमारे लिये मोक्षके द्वार भी खोल दें। इसलिये हमें जो यह मानवशरीर प्राप्त हुआ है यह वास्तवमें सबसे बड़ा अधिकार प्राप्त हुआ है। इसलिये जबतक हमलोग इस मानवदेहके साथ इस लोकमें हैं तबतक हमलोग यह काम बना लें कि अपने अन्तःस्थित परमात्मापर अपनी दृष्टि, अपना ध्यान स्थिर और एकाग्र हो जाय। यदि ऐसा किया जाय तो हमलोग सन्मार्गपर हैं और अपने लक्ष्यको निश्चय ही प्राप्त करेंगे। यह कहना ठीक नहीं कि हमें प्रपञ्च-सम्बन्धी बहुत-से काम करने पड़ते हैं और इसलिये इन पारमार्थिक बातोंके लिये हमें अवकाश नहीं मिलता। वेदान्त यह तो नहीं कहता कि अपने कर्तव्योंका पालन मत करो या कर्तव्योंका परित्याग करके इस रास्तेपर आओ। प्रत्युत वेदान्त तो अपने कर्तव्योंका पालन और भी अधिक अच्छी तरहसे, पूर्ण दक्षताके साथ करना और इन कर्तव्योंका पालन करते हुए ही मनको इस ओर लगाना सिखलाता है। यही इसका कौशल है। जनकराज थे, वे ऐसे ही कर्मयोगी थे; उन्होंने अपने राजधर्मसम्बन्धी किसी भी कर्तव्यकर्मकी कभी किञ्चित् भी कोई उपेक्षा नहीं की; तथापि राजधर्मका यथाविधि पालन करते हुए भी उनका ध्यान परमात्मामें लगा रहता था। परमेश्वरके साथ अपना एकत्व अनुभव करनेका यही मार्ग है।

संसारकी रंगभूमि

एक और प्रश्न यह किया जा सकता है कि 'यह कैसे हो सकता है?' यदि हम इस बातको मान भी लें (जैसा कि मनःसृष्टिवादको सिद्ध करनेके लिये हेतुमूलक सृष्टिवाद तथा परमतत्त्वानुसन्धानवादकी विश्लेषणात्मक युक्तियोंद्वारा पहले दिखाया जा चुका है) कि हमारा वास्तविक स्वरूप सत् चित् आनन्द है और मृत्यु, अज्ञान और दुःख हमारे ऊपर मायाके द्वारा केवल अध्यारोपित हैं, तो ज्ञानीको भी जब आधिभौतिक दुःख और क्लेश होते ही हैं (धन्य है उसका प्रारब्ध!) और वह भी जब इनसे मुक्त नहीं; तब भी वह यदि स्वरूपभूत आनन्द अनुभव करता है तो कैसे करता है? इस प्रश्नका उत्तर होना चाहिये, क्योंकि इसका समाधान होनेपर ही जीवन्मुक्तिके सिद्धान्तकी स्थिरता निर्भर करती है। विदेहमुक्तिका प्रतिपादन करना सुगम है; परन्तु यहीं अभी इसी जीवनमें, नाना प्रकारके दुःखों और सङ्कटोंके बीचमें परमानन्द लाभ करना लोहेके चने ही चबाना है। इसलिये यह काम अच्छी तरहसे होना चाहिये। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य स्वामी प्रश्नका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छत्यन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥

'दो यात्री हैं, यात्रा करते-करते दोनों ही एक-से ही थक गये हैं; पर इनमेंसे एक यह जानकर कि अब थोड़ा ही रास्ता और तै करना है ढाढस बाँध लेता और उत्साहके साथ आगे बढ़ता है (यह सोचता हुआ कि अब घर पहुँचकर ही आराम करेंगे), पर दूसरा, मंजिलको दूर जानकर, हिम्मत हार देता है, आगे नहीं बढ़ता और वहीं खतम हो जाता है।'

इस बातको और अच्छी तरहसे समझनेके लिये हमलोग ऐसी कल्पना करें कि हम किसी नाटक-गृहमें गये हैं, वहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अभिनय हो रहा है और वहाँ जगज्जननी भगवती श्रीसीताजीके दर्शन होते हैं और फिर यह देखते हैं कि दैत्यराज रावण उन्हें हरण करता है और वे सिसक-सिसककर रो रही हैं! इस दृश्यको हमलोग जो शान्तिके साथ देख लेते हैं, या यदि रावण बना हुआ व्यक्ति अपना पार्ट अच्छी तरहसे अदा करता है तो हमलोग जो कभी-कभी 'वन्स मोर, वन्स मोर' चिल्लाकर भी उसका बार-बार स्वागत कर सकते हैं, इसका कारण क्या है? अब नाटकके इस दृश्यके मुकाबले एक दूसरा दृश्य रखिये जिसमें कोई बदमाश सड़कपर किसी ऐसी स्त्रीपर

जिसे हम जानतेतक नहीं, अपना अपवित्र हाथ डालता है और उसके सतीत्वको लाञ्छित करनेका प्रयत्न करता है, तो, हमारी क्या हालत होती है? मारे गुस्सेके हम उस बदमाशपर टूट पड़ते हैं और उसे मार-मारकर अधमरा तक कर डालते हैं। इन दो प्रकारके दृश्योंमें हमारे नेत्रों, कानों और अन्य इन्द्रियोंने जो साक्ष्य दी वह तो एक-सी ही है अर्थात् यही कि एक बदमाश एक असहाय अबलापर बलात्कार करना चाहता है; हाँ, एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि सीताजी हमारी माता हैं और वह स्त्री परिचित भी नहीं। तथापि यह देखिये कि मातापर जो अत्याचार हो रहा है उसे तो हम चुपचाप देख लेते हैं—अत्याचारीको रोकनेका कोई भी प्रयत्न नहीं करते, पर उस अपरिचित स्त्रीकी रक्षाके लिये अत्याचारीपर टूट पड़ते हैं! हमारे व्यवहारकी इस अस्वाभाविक-सी विषमताका कारण क्या है? भगवती सीता मातापर रावणका अत्याचार और माताका रोना देखकर भी, आपका मन जो इस बातको जानता है कि यह न सीता है और न यह रावण (बल्कि दोनों ही अपने ही कोई मित्र या सम्बन्धी हैं और सीताका पार्ट करनेवाला तो स्त्री भी नहीं बल्कि पुरुष ही) है और पहलेसे इस बातको जानकर ही यह खेल देखनेके लिये टिकट खरीदते हैं और उस खेलको फिर मौजसे देखते भी हैं। परन्तु जो दूसरा दृश्य है उसमें आपका मन यह जानता है कि वह मनुष्य बदमाश है, वह स्त्री अत्याचारके भयसे भीत है और इसलिये आप उस अबलाकी सहायता करनेके लिये उस बदमाशको ठोककर दुरुस्त करते हैं। तात्पर्य, आपके चित्तका भाव और आपका व्यवहार नेत्रादि इन्द्रियोंकी साक्ष्यपर नहीं निर्भर करता बल्कि आपके मनकी कल्पनापर निर्भर करता है। इसी उदाहरणको अब हम चाक्षुषसत्यवादी और वेदान्तीकी विचारप्रणालियोंपर घटाकर देखें कि क्या परिणाम निकलता है। दोनों ही, इन्द्रियोंके द्वारा एक-से ही दृश्योंको देखते और एक-सी ही बातोंको सुनते हैं पर दोनोंमें जो मूलगत मुख्य अन्तर है वह यह है कि द्वैती (चाक्षुषसत्यवादी) यह समझता है कि उसके सब दुःख और क्लेश सत्य हैं और इस कारण हतोत्साह और निराश होता है, और अद्वैती (व्यावहारिक वेदान्ती) अपने इन सब क्लेशों और दुःखोंको मिथ्या जानता है (जैसे नाटकके रावण और सीता मिथ्या हैं) और इसलिये—अपनी इन्द्रियोंकी साक्ष्यके विरुद्ध होते हुए भी—अविचल रहता है, यहीं नहीं, प्रत्युत प्रसन्न और सुखी रहता है।

रासलीला

परमेश्वर और जीवके बीच किस प्रकारका सम्बन्ध है और किस प्रकार उसका सब कार्य होता है, इसकी बड़ी सुन्दर शिक्षा भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलासे मिलती है। इस रासलीलाको मूर्खलोग ठीक तरहसे नहीं समझ पाते और बहुतेरे कुत्सित लोगों और मूर्खोंने इसे कुछ-का-कुछ समझकर दुष्टतासे या मूर्खतावश इसके अर्थको विपरीत करके संसारमें इसे बदनाम करनेकी चेष्टा की है। यह रासलीला यथार्थमें विश्वनृत्य है जो सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् विश्वके साथ नाच रहे हैं। बाइबलमें जो 'सुलेमानका गीत' है वह और कुछ नहीं, इसी श्रीमद्भागवतान्तर्गत रासलीलाके प्रचण्ड भुवनभास्करके विशाल दिव्यकिरणजालकी किरणोंमेंसे एक किरणके अस्पष्ट-से प्रतिबिम्बकी हलकी-सी छायामात्र है। रासपञ्चकका यहाँ विस्तारके साथ पूर्ण वर्णन और विश्लेषण करनेकी आवश्यकता नहीं, उसका केवल अतिसंक्षेपमें तात्पर्यमात्र व्यक्त कर देते हैं। यह हमारे सामने अत्यन्त शोभनरूपमें इसी मूलभूत सत्यका चित्र खींच देता है कि किस प्रकार विश्वात्मा श्रीभगवान् और विश्व अपना परस्पर सम्बन्ध निबाहते हैं। श्रीभगवान्का रास इस प्रकार वर्णित हुआ है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः
संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

रासमण्डलमें श्रीभगवान् होते हैं और असंख्य जीव होते हैं जिन्हें लेकर ही सारा विश्व है (इन्हीं जीवोंको गोपी कहा है जिसमें पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रदर्शित हो और यह पति-पत्नी-सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो भगवान् और जीवके बीच प्रतीत और अनुभूत होना चाहिये)। उस मण्डलमें प्रत्येक अंगनाके पार्श्वमें तथा मण्डलके मध्यमें भी श्रीभगवान् नृत्य कर रहे और अपनी बाँसुरीसे सकललोकमोहक गीत बजा रहे हैं। इससे यह शिक्षा मिलती है कि जीव—व्यक्ति—असंख्य हैं और भगवान् एक ही हैं और उन्हींको तुम्हें अपनी चारों ओर जानकर प्रत्यक्ष करना है (जैसा कि गोपियोंने किया)

आगे कथा यह है कि यह लीला—**'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'**—हो रही है और इसी बीच गोपियोंमें अहंकार (अभिमान, अतिमान, अहंमान) बढ़ता है! त्यों ही, यह देखिये क्या हो गया! भगवान् जिनके साथ वे सब आनन्दमें मगन होकर गा रही थीं, नाच रही थीं और खेल रही थीं—

'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।'

वे अकस्मात् गायब हो जाते हैं। तब विषाद और नैराश्यके गहरे गर्त्तमें गिरकर वे सब दिशाओंमें भटकती हुई उन्हें ढूँढ़ती हैं, उन्हें अपनी चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी देता है। और तब, उन्हें बाहर ढूँढ़नेका व्यर्थका परिश्रम परित्यागकर वे धीरे-धीरे उन्हें सर्वथैव आत्मसमर्पण करती हुई अपने आपको भूलकर—

'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।'

—हो जाती हैं। अर्थात् उनका सारा विचार और चिन्तन उन्हींमें एकाग्र होता है, उन्हींकी वे बातें करती हैं और उनके कार्य उन्हींके द्वारा चेष्टित होते हैं और इस प्रकार वे अपने शरीरतककी पृथक् सत्ताका भाव खोकर उन्हींमें मिलकर एक हो जाती हैं। और तब क्या होता है?—

'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।'

वे हँसते हुए फिर आ जाते हैं, उनके मध्यमें और उनकी चारों ओर यहाँ-वहाँ सर्वत्र जैसे कि पहले थे, और पुनः अपना परमोल्लास-संगीत और सनातन अव्ययानन्दका विश्वनृत्य प्रारम्भ करते हैं। कथाका तात्पर्य इतना स्पष्ट और असंदिग्ध है कि अनायास ही कोई भी समझ ले सकता है। अहंकार जब सिर ऊँचा करता है तब भगवान् सब ओरसे अन्तर्धान हो जाते हैं और हमारी चारों ओर अन्धकार छा जाता है; और जब हम अपने क्षुद्र अहंकारको त्याग देते हैं और पूर्ण आत्म-समर्पण करके उनमें निमज्जित हो जाते हैं तब हम उन्हें अपनी चारों ओर और अपने अन्दर देखते हैं और उन्हींके उस परम प्रकाश, हर्ष और आनन्दसे विभोर होकर अपने जीवनको उन्हींका परम सुन्दर मधुर गीत और नृत्य बना देते हैं। अर्थात् इस देहके रहते हुए ही इसी लोकमें यह नर नारायण हो जाता है और सदा नारायण बना रहता है। अब एक बार फिर हम लोग इस बातको सोचें कि परमेश्वरके साथ एक हो जानेसे बढ़कर और बड़ा लक्ष्य किसीका भी क्या हो सकता है और इस लक्ष्यको प्राप्त करनेका इस वेदान्त-प्रतिपादित मार्गकी अपेक्षा और सरल मार्ग भी और क्या हो सकता है?

उपसंहार

वेदान्तकी यह महिमा है, अपने लक्ष्यके सम्बन्धमें उसकी यह दिव्य शिक्षा है और उसका बताया हुआ यह मार्ग है। आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व वेदान्तके इन उपदेशोंकी छान-बीनकर महर्षि वेदव्यासने इन्हें वेदान्त-सूत्रोंके रूपमें प्रकट किया; और भगवान् श्रीआदिशङ्कराचार्यने, जिनका अवतार कलियुगके मूढ मानवोंको बोध करानेके लिये आजसे २५०० वर्ष पूर्व हुआ था, महर्षि वेदव्यासके इन ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों और गीताका भाष्य करके इनका तात्पर्य सबके लिये सुलभ किया।

उन्हीं अपने परम स्वामीको अन्तमें अपने हृदयकी यह स्तुति-सुमनाञ्जलि अर्पणकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं—

उद्धारार्थं मुमुक्षोररचिषत पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वैपायनेन श्रुतिपरमतिनाम्नायशीर्षार्थवक्त्रा।
कृत्वा भाष्यं तदीयं निखिलबुधनुतं गूढतत्त्वोपदेष्टा
निर्द्वैतानन्ददायी भुवि जयति सदा शङ्करो देशिकेन्द्रः॥

ॐ तत्सत्

रासलीला-रहस्य

(लेखक—एक महात्मा)

[गतांकसे आगे]

इस लीलाका दूसरा प्रयोजन जीवोंका कल्याण है। यहाँ जो अनन्यपूर्विका नायिका हैं उनका जो भगवान्‌के प्रति अतिशय अनुराग है उससे होनेवाली लीला आगे चलकर लोगोंको ध्येय होगी। यह बात पहले कही जा चुकी है कि इस प्रकारकी काम-विजय-लीलाका चिन्तन करनेसे लोगोंको कामजयरूप फल प्राप्त होगा। इसके सिवा यह भी देखना है कि इस प्रकारके उपासकोंका ध्येय क्या होगा? भगवान् श्रीकृष्ण या गोपियाँ? सो कोई नहीं, बल्कि उन दोनोंका जिस प्रेमपाशसे बन्धन है वह प्रेमश्रृंखला ही उनकी ध्येय होगी, क्योंकि उसके अधीन तो वे दोनों ही हैं। जिस प्रकार यदि किसी ऊँट या बैलको पकड़ना होता है तो उसकी नकेल या नाथ ही पकड़ते हैं, उसी प्रकार इस प्रेम-बन्धनको पकड़नेसे श्रीकृष्ण और गोपियाँ दोनों ही स्वाधीन हो जायँगे। इसके सिवा इस लीलासे सर्वसाधारणको यह भी उपदेश मिलेगा कि इस प्रकारके नायक-नायिकाओंमें जैसा उत्कट स्नेह होता है वैसा ही उन्हें भी अपने इष्टदेवोंके प्रति रखना चाहिये।

इन व्रजाङ्गनाओंमें जो अन्यपूर्विका हैं उनसे यह उपदेश भी मिलता है कि जिस प्रकार वे लौकिक-वैदिक श्रृङ्खलाओंका विच्छेद करके भगवत्परायणा रहती थीं, उसी प्रकार साधकोंको भी सारे व्यवधानोंको छोड़कर अपने ध्येयमें संलग्न होना चाहिये। साधारण पुरुषोंको इससे भगवान्‌की उदारता और करुणाका भी ज्ञान होता है। प्राणियोंमें सदा ही कोई-न-कोई त्रुटि तो रहा ही करती है। उस समय अपनी हीनताको देखकर अनाश्वास हो जाना स्वाभाविक ही है। जहाँ ऐसा नियम है कि प्राणी वैदिक एवं स्मार्त उपासना करके ही भगवान्‌को प्राप्त करनेकी योग्यता पा सकता है, वहाँ जो सर्वसाधनहीन स्थूलदर्शी लोग हैं उन्हें ऐसी आशा होना कि भगवान् हमपर भी उन गोपाङ्गनाओंके समान कृपा करेंगे, बहुत बड़ा आश्वासन है।

आगे चलकर कहा है कि वे गोपियाँ जारभावसे भगवान्‌को प्राप्त हुईं 'जारबुद्ध्यापि संगता'। अहो! जो गोपाङ्गनाएँ वैदिक और स्मार्त श्रृंखलाओंका उल्लङ्घन करके भगवत्परायणा हुईं और जिन भगवान्‌का सर्वथा शुद्ध भावसे आश्रय लेना चाहिये था उनका ऐसे दूषित भावसे आश्रय लिया उनका भी भगवान्‌ने कल्याण कर दिया। यह ऐसी ही बात हुई जैसे पूतनाने विषलिप्त स्तनपान कराकर भी परमपद प्राप्त किया। जिन भगवान्‌का सर्वस्व समर्पण करके अर्चन करना चाहिये था उन्हें विषपान कराना महान् अपराध था तो भी विषयके माहात्म्यसे उसने सद्गति प्राप्त की। उसी प्रकार यद्यपि कामबुद्धिसे भगवान्‌का आश्रय लेना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि यह सोपाधिक प्रेम है—काम-वासनाकी पूर्तितक ही रहनेवाला है—और भगवान् सर्वभूतान्तरात्मा होनेके कारण निरुपाधिक प्रेमसे ही अभ्यर्चित होने चाहियें, तथापि उनका परम हित ही हुआ। इसके सिवा एक दोष इसमें यह भी हो सकता था कि जो भगवान् उनके वास्तविक परम पति थे उनमें तो उन्होंने जारबुद्धि की और जो अस्वाभाविक प्राकृत पति थे उनमें पति-बुद्धि की, जिस प्रकार तरंगोंका मुख्य पति तो समुद्र ही है, तरङ्गान्तरोंसे तो उनका आगन्तुक सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीवका स्वाभाविक सम्बन्ध तो अपने आश्रयभूत परब्रह्मसे ही है, अन्य जीवोंसे तो केवल आगन्तुक सम्बन्ध है, इसलिये वह अनित्य भी है, अतः सर्वान्तर्यामी भगवान्‌का जारबुद्धिसे आश्रय लिया गया—यह भी एक बड़ा दोष था। ये सारे अनौचित्य 'अपि' शब्दसे सूचित होते हैं। किन्तु ये सब दोष होनेपर भी भगवान्‌से सम्बन्धित होनेके कारण गुण हो गये। यह आलम्बनका ही माहात्म्य था। उस जारबुद्धिसे यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जारके प्रति परकीया नायिकाका स्वकीयाकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हें भी भगवान्‌के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकोंको बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटिपूर्ण होनेपर भी उन्हें भगवत्कृपाकी आशा बनी रहती है। और प्रेममार्गमें आशा बहुत बड़ा अवलम्बन है, क्योंकि जीव आशा होनेपर ही प्रपन्न हो सकता है। इस प्रकार भगवान्‌ने अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका दोनोंकी प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेममार्गको सबके लिये सुलभ कर दिया है। यह द्वितीय 'ताः' का तात्पर्य हुआ।

अब तृतीय 'ताः' का अर्थ करते हैं। इस 'ताः' का अर्थ है 'तदात्मिकाः' अर्थात् भगवत्स्वरूपा। पहले 'ताः' से तो वे गोपाङ्गनाएँ विवक्षित थीं जिनका भगवान्‌के साथ भृंगीकीटन्यायसे साधनद्वारा अभेद हुआ था। दूसरे 'ताः' से वे गोपाङ्गनाएँ कही गयीं जो समुद्र और तरङ्गके समान मूलतः अभिन्न थीं। किन्तु यह समुद्र अचिन्त्यानन्द-सुधा-सिन्धु है। इससे एक तो तरङ्गोंका अभेद और दूसरा जैसे उसके सुधासे सुधागत माधुर्यका अभेद। यह बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकारकी स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाएँ ही तीसरे 'ताः' से कही गयी हैं।

जिस प्रकार जलमें मधुरता, शीतलता आदि कई गुण हैं उसी प्रकार भगवान्‌में भी कई शक्तियाँ हैं। भगवान्‌की परमान्तरंगा आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उन्हींकी अवान्तर विकासरूपा ललिता-विशाखा आदि तीसरे 'ताः' से अभिप्रेत हैं। उन श्रीवृषभानुनन्दिनीकी पदनख-चन्द्रिकाकी जो विभिन्न दीप्तियाँ हैं उन्हींके अन्तर्गत ये ललिता-विशाखा आदि हैं। भगवान्‌की सर्वान्तरतम दिव्यातिदिव्य शक्ति तो श्रीराधिका ही हैं, उन्हींकी अंशभूता उनकी प्रधान सहचरी हैं। यद्यपि उनमें तारतम्य है तथापि वे हैं सब-की-सब परमान्तरंगा ही।

यहाँ जो 'अपि' शब्द आया है उसका अर्थ 'च' और समझना चाहिये। अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको और उन त्रिविध गोपाङ्गनाओंको देखकर भगवान्‌ने रमण करनेको मन किया। किन्तु उन्होंने मन किया कैसे? इसपर कहते हैं कि स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म भगवान्‌ने आप्तकाम होकर भी योगमायाका आश्रय लेकर मन बनाया। योगमायाका आश्रय लेनेसे क्या अभिप्राय है? योगाय स्वेन सह तासां संश्लेषाय या माया कृपा तामुपाश्रित्य अर्थात् योग यानी अपने साथ संश्लेष करनेके लिये जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर। यहाँ 'माया' शब्दका अर्थ कृपा है, 'माया कृपाया दम्भे च'। अतः कृपापरतन्त्र भगवान्‌ने स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म होकर भी केवल कृपावश मन किया।

दूसरी बात यह भी हो सकती है कि—

युज्यते सदा संश्लिष्यत इति योगा महालक्ष्मीः परमान्तरङ्गशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी तस्या माया कृपा योगमाया तामुपाश्रित्य।

अर्थात् जो युक्त यानी सदा संश्लिष्ट रहती हैं वे परमान्तरंगशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी ही योगा हैं, उनकी माया—कृपा ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर रमणकी इच्छा की। तात्पर्य यह है कि अपनी कृपाके अधीन होकर नहीं बल्कि जो श्रीवृषभानुसुताकी कृपापात्रभूता तथा उनके चरणकमल-मकरन्दका आस्वादन करनेवाली व्रजाङ्गनाएँ हैं उनकी प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये ही भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की, क्योंकि ऐसा करनेसे ही वे अपनी परमान्तरंगा आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजीको प्रसन्न कर सकते थे! जो मधुरभावके उपासक हैं उनकी यह पद्धति है कि वे पहले अपने आचार्योंका आश्रय लेते हैं, फिर उनके द्वारा गोपाङ्गनाओंकी प्रसन्नता लाभ करते हैं, उनकी प्रसन्नतासे उन्हें प्रधान-प्रधान यूथेश्वरियोंका प्रसाद प्राप्त होता है और तत्पश्चात् श्रीहरिकी चिरसंगिनी श्रीराधिकाजीकी कृपा होती है। इस प्रकार श्रीप्रियाजीके कृपापात्र होनेपर ही भगवान्‌का अनुग्रह होता है। इसमें यह भी भेद है कि शुद्ध परब्रह्मका पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता 'असङ्गो न हि सज्जते'। अतः यह मानना पड़ता है कि वृत्त्युपहित चेतन ही पदार्थोंका प्रकाशक होता है। यदि शुद्ध चेतन ही पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होता तो उसकी सत्ता तो सर्वत्र है परन्तु घट-कुड्यादिसे पदार्थोंको प्रकाशित करनेका सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवा चेतनकी सत्तामात्रसे ही पदार्थोंकी प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि चेतनका संश्लेष तो सन्निकृष्ट-असन्निकृष्ट सभी वस्तुओंके साथ है। परन्तु प्रकाश केवल उन्हीं वस्तुओंका होता है जिनके साथ प्रमाणजन्य वृत्त्यभिव्यक्त चेतनका संसर्ग होता है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध सभी व्रजाङ्गनाओंसे है तथापि जिस प्रकार स्वप्रकाश चेतन अतःकरणादिवृत्त्युपहित होकर ही वस्तुओंके प्रकाशका हेतु होता है वैसे ही भगवान् भी अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजीके कृपापात्रोंपर ही अनुग्रह करते हैं। जिस प्रकार मङ्गलमय सुधासिन्धुमें जो मधुरिमा है वह उसका स्वरूप ही है उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु भगवान्‌की जो आह्लादिनी शक्ति है वह भगवान्‌से अभिन्न ही है।

जिस प्रकार घटादिका प्रकाश अन्तःकरणवृत्त्युपहित चेतनसे ही होता है किन्तु अन्तःकरणके प्रकाशके लिये किसी अन्य अन्तःकरणकी आवश्यकता नहीं होती; तथा अन्तःकरणादि तो स्वतन्त्रतासे चेतनके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकते हैं किन्तु घटादि अन्तःकरणवृत्त्युपहित होनेपर ही उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकते हैं, उसी प्रकार यहाँ जो

वृषभानुनन्दिनी हैं वे तो परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके साथ निरपेक्षभावसे असाधारण रमणरूप सम्बन्धका भोग कर सकती हैं किन्तु अन्य गोपाङ्गनाएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। अतः उनमें भी भगवान्का सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये श्रीवृषभानुदुलारीका सम्बन्ध सम्पादन करना पड़ता है। अतः पहले वे इनसे तन्मय हो लेती हैं उसके पश्चात् भगवान्से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं। इसीलिये भगवान्ने योगमायाका आश्रय लिया।

अथवा 'योगाय सम्बन्धाय या माया वञ्चना तामुपाश्रितोऽपि ताः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'—योग जो असाधारण सम्बन्ध उसके लिये भी माया यानी वञ्चनाका आश्रय लेकर उन्होंने रमणके लिये मन किया। भगवान् रमणके लिये भी मायाका आश्रय लिया करते हैं। इसीसे जब ऋषिपत्नियाँ गयी थीं उस समय भी उन्होंने मायाका ही आश्रय लिया था, और उन्हें भी पातिव्रतका ही उपदेश किया था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो परब्रह्म हैं। उनका सम्बन्ध भला किसको अभीष्ट न होगा? उनका संसर्ग ही तो परम कल्याण है। उसमें लौकिक भावोंका आरोप करना अर्थात् पारमार्थिक तत्त्वमें अपारमार्थिक भावोंका निवेश करना माया ही है। अतः 'योगे सम्बन्धे या माया वञ्चना सा योगमाया' ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये। अथवा 'अयोगमाया' ऐसा पद मानें तो 'अयोगाय असम्बन्धाय या माया वञ्चना सा अयोगमाया' अयोग यानी असम्बन्धके लिये जो माया-वञ्चना उसीका नाम अयोगमाया है। अर्थात् अपने साथ सम्बन्ध न होने देनेके लिये जो माया उसका उन्होंने आश्रय लिया।

'ताः वीक्ष्य' वे जो पूर्वोक्त प्रकारकी गोपाङ्गनाएँ थीं, जो इस प्रकार स्वस्वरूपानुसन्धानमें तत्पर थीं उन्हें दयार्द्र दृष्टिसे देख वञ्चनाको भूलकर उन्होंने रमण करनेके लिये मन किया। अथवा—

'युज्यते इति योगा सदासंश्लिष्टरूपा या वृषभानुनन्दिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे'—

अपनी स्वस्वरूपभूता जो वृषभानुनन्दिनी उनकी प्रसन्नता करनेके लिये रमण करनेको मन किया। अर्थात् उन्हें जो रासाभिलाषा हुई उसकी पूर्तिके लिये उन व्रजाङ्गनाओंको देखकर रमण करनेकी इच्छा की।

अथवा 'न गच्छतीति अगा अगा चासौ मा इति अगमा अगमायां उपाश्रितः यः स भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे' अर्थात् जो अचला (नित्यसंगिनी) लक्ष्मीरूपा वृषभानुनन्दिनी हैं उनमें अनुरक्त जो भगवान् उन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। क्योंकि यह रासलीला श्रीराधिकाजीकी ही प्रसन्नताके लिये है। भावुकोंका ऐसा मत है कि भगवान्के जितने कृत्य हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनीकी प्रसन्नताके लिये हैं और श्रीवृषभानुसुताके जितने कृत्य हैं वे श्रीहरिकी तुष्टिके लिये हैं। यहाँ जो अन्यान्य गोपाङ्गनाएँ हैं वे सब श्रीराधिकाजीकी ही अंशांशभूता हैं।

यहाँ जो 'अपि' है उसका तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि व्रजदेवियोंको तो पहलेहीसे भगवान्के साथ रमणकी इच्छा थी। इस समय मानो परीक्षितके चित्तमें इस बातका सन्ताप था कि अहो! व्रजाङ्गनाओंने तो कात्यायिनी-अर्चनादि कठोर तपस्या करके भगवान्को प्रसन्न किया और भगवान्ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्ट वर दिया; किन्तु अब, जब कि प्रेमातिशयके कारण भगवत्-सम्भोगकी प्रतीक्षामें गोपाङ्गनाओंको एक-एक पल युगके समान हो रहा था, भगवान् क्यों उपेक्षा कर रहे थे? इस समय भगवान्की उदासीनता देखकर मानो महाराज परीक्षित मन-ही-मन उनकी निन्दा कर रहे थे, कि इतनेहीमें श्रीशुकदेवजी कहने लगे—'भगवानपि ता रात्रीः' अर्थात् व्रजाङ्गनाएँ तो पहलेहीसे अभिलाषा रखती थीं, परन्तु आज भगवान्ने भी उनके साथ तादात्म्यापत्तिरूप रमणकी इच्छा की।

इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान्की इच्छा भक्तोंकी भावनाका अनुसरण किया करती है। कहा भी है—

यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुःप्रणयसे सदनुग्रहाय।
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि……………॥

भावुक लोग अपनी-अपनी भावनामयी बुद्धिसे उन अरूप, अनाम, अप्रमेय परब्रह्मका जिस-जिस रूपसे ध्यान करते हैं वैसा ही रूप भगवान्को धारण करना पड़ता है। इसीसे यद्यपि अभीतक भगवान्को रमणकी इच्छा नहीं तथापि गोपाङ्गनाओंकी भावनाके अधीन होनेसे उनमें भी रमणेच्छाका प्रादुर्भाव हो गया।

किन्तु इन व्रजाङ्गनाओंका भाव तो 'तत्सुखसुखित्व' है। इन्हें अपने सुखकी कुछ भी इच्छा नहीं है। संसारमें तो अपने सुखकी कामनासे ही सबसे प्रीति की जाती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। तथापि गोपाङ्गनाओंका प्रेम तो लोक तथा वेदसे अतीत ही है। अतः उन्हें

अपने लिये भगवान्में प्रेम नहीं था, बल्कि वे तो भगवान्के ही लिये प्राण धारण करती थीं। उनका तो यही लक्ष्य था कि हे मनमोहन ! ये प्राण और देह आपके काम आते हैं इसीसे हम इन्हें धारण करती हैं, नहीं तो हमें इनकी क्या आवश्यकता है ? भगवान्का वियोग होनेपर भी उन्होंने इसीलिये अपने शरीरादिको रख छोड़ा था कि वे भगवत्सेवाके साधन थे। उनका कहना था कि श्रीकृष्णसे वियुक्त होकर भी जो हम जीवित हैं इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे प्राण हमारे अधीन नहीं हैं। विधाताने शरीर तो हमें दिया है; किन्तु प्राण श्रीकृष्णके अधीन कर दिये हैं। उनका कथन था 'भवदायुषां नः' अर्थात् आप ही हमारी आयु हैं। अतः उनका जीवन भगवान्के सुखके लिये ही था। हाँ, उन्हें सुख पहुँचानेमें उनको भी सुख मिलता ही था। जो पुरुष भगवान्को सुगन्धित माला और पुष्प समर्पण करता है उसे भी सान्निध्यवश उनका सुवास मिलता ही है। किन्तु यह सुखानुभव आनुषङ्गिक है, उसमें अपना सुख अभिमत नहीं होता।

इस प्रकार जैसे गोपाङ्गनाएँ भगवान्के ही सुखमें सुख माननेवाली हैं वैसे ही भगवान् भी उन्हींको सुख पहुँचानेके लिये सारी लीलाएँ करते हैं। यह तो उनका पारस्परिक भाव है किन्तु इसका पर्यवसान कहाँ होता है ? इस सम्बन्धमें कह सकते हैं कि वह लोककल्याणके ही लिये है।

परन्तु यदि वे दोनों ही निरपेक्ष हैं, दोनोंको ही आप्तकाम होनेके कारण सुखकी अपेक्षा नहीं है तो फिर यह लीला किसे सुख पहुँचानेके लिये है ? ठीक है, सिद्धान्त भी यही है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओंके रूपमें एक ही परमानन्दसुधासिन्धु प्रस्फुटित हुआ है तो दोनों ही आप्तकाम हैं। इससे लीलाका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। और लीला हुई ही थी, यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह विभाग ही क्यों हुआ। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो, इसका प्रयोजन कुछ भी नहीं है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह विभाग केवल आत्मसुखके ही लिये है।

किन्तु यह विभाग चाहे लोककल्याणके लिये हो और चाहे 'एकोऽहं न रेमे'—मैं अकेला रममाण नहीं होता, इसलिये 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस प्रकारके सङ्कल्पपूर्वक हो, तथापि जबतक लीला, लीलानायक और दर्शकोंको लीलामें आसक्ति न हो तबतक तो लीला व्यर्थ ही है। माना कि यह त्रिविध विभाग एकमें ही हुआ है तथापि यदि वह स्वस्वरूपमें ही परितृप्त है तो लीलाका कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता।

अतः यहाँ स्वस्वरूपभूत परमानन्दका आवरण अपेक्षित है। किन्तु उसका आवरण करनेमें कौन समर्थ है ? माया आवरण कर सकती है, परन्तु भगवान्का आवरण करनेमें वह भी समर्थ नहीं है। अतः भगवान्के आश्रित रहनेवाली उनकी परमान्तरंगा मोहिनी शक्ति, जो कि अनिर्वचनीयतामें अन्य समस्त शक्तियोंके समान ही होनेपर भी शुद्धतामें उनसे उत्कृष्ट है, भगवान्के शुद्ध स्वरूपका आच्छादन करती है और उसीसे स्वरूपभूत परमानन्दका आवरण हो जानेपर यह लीला और लीलापात्रोंकी कल्पना हो जाती है। जिस प्रकार स्वेच्छासे भाँग पीकर अपनेको मोहित किया जाता है उसी प्रकार भगवान्का यह व्यामोहन भी स्वेच्छासे होता है। यदि इस प्रकार अपने स्वरूपभूत परमानन्दका आवरण न होता तो अपनेसे भिन्न रमणसामग्रीकी अपेक्षा क्यों होती ? अतः पहले आवरण हुआ, उससे अतृप्ति हुई और फिर लीला हुई। इसीसे उनकी चेष्टाएँ एक दूसरेकी परितृप्ति करनेवाली हुईं। इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं है, रमणकी भी व्यवस्था ठीक हो जाती है और 'अपि' शब्दका तात्पर्य भी बन जाता है।

* * *

जगत् सत्य है या मिथ्या ?

(लेखक–पूज्यपाद १०८ भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश)

(पृष्ठ २६ से आगे)

जन्मादि षड्भावविकार अविच्छिन्न प्रवाहात्मक हैं

जन्मादि भावविकारका अविच्छिन्न प्रवाह ही जगत् है। जन्मके बाद स्थिति, स्थितिके बाद विपरिणाम, विपरिणामके बाद वृद्धि, वृद्धिके बाद अपक्षय और अपक्षयके बाद विनाश; विनाशके बाद फिर जन्म, फिर स्थिति, फिर विपरिणाम, इस प्रकार अपवर्गतक, अर्थात् जबतक पूर्णत्वकी प्राप्ति नहीं होती तबतक, सभीको अविराम जन्मादि भावविकारोंसे विकृत होना पड़ेगा, सदा परवश होकर जन्मादि परिणामस्रोतमें बहते रहना पड़ेगा।

जन्मादि छः भावविकारोंके जन्म आदि नामोंके बदले यदि हमलोग बीजगणितकी भाषाका प्रयोग करें, अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ और च, इन छः अक्षरोंका व्यवहार करें, तो स्पष्टतः मालूम पड़ेगा कि जन्मादि भावविकार नियत-परिवर्तनशील होनेपर भी इनका तत्त्व विनष्ट नहीं होता। भगवान् पतञ्जलिदेवने कहा है कि जिसका तत्त्व विनष्ट नहीं होता, वह भी नित्यपदवाच्य है। अतः जगत् प्रवाहरूपसे नित्य है। जागतिक भावजात व्यक्तितः असत्य वा अनित्य होनेपर भी तत्त्वतः सत्य हैं, जगत् सदसदात्मक है।

बीजगणितकी भाषामें लिखित जगत्की मूर्ति

क+ख+ग+घ+ङ+च इत्यादि=प्रवाहरूपसे नित्यता (Constant quantity) *।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।

(पा० द० ४। १२)

भगवान् पतञ्जलिदेवने इस अमूल्य सूत्रके द्वारा 'जगत् प्रवाहरूपसे नित्य है' यही बात समझायी है। जो सत् है—जो वस्तुतः है, उसका अभाव—एकबारगी नाश और जो असत् है, जो वस्तुतः नहीं है, उसका सद्भाव असम्भव है †। अतः अतीत और अनागत स्वरूपतः विद्यमान हैं। एक ही सत्त्वकी क्रियाभेदसे भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तिमात्र होती है। धर्म या गुणहीका अध्वभेद—विपरिणाम (Change of condition) होता है, धर्मी वा वस्तु यथावत् रहती है, सत्ताका ध्वंस नहीं होता। (पाठक 'परिवर्तन' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ स्मरण करें।)

तो फिर जगत्को मिथ्या क्यों कहा जाता है ?

जैसे मध्याह्नकालमें सूर्यके अखिल अन्धकारका नाश करनेवाले और दशों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले निर्मल प्रकाशसे प्रकाशित आकाशमें तारागण हमारे देखनेमें नहीं आते, विद्यमान रहनेपर भी उनका अस्तित्व अदृश्य रहता है; जैसे शुभ्र स्फटिक अपने स्वच्छ स्वभावके कारण हरी,

---

* वैज्ञानिक पण्डित स्टुअर्ट बालफ़ोर (Stuart Balfour) ने अपने The Conservation of Energy नामक ग्रन्थमें जगत्का प्रवाहरूपसे नित्यत्व वा वस्तुतत्त्वका अनश्वरत्व समझाते हुए जो कुछ कहा है, सो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"Now, whether we regard the great universe, or this small microscosm, the principle of conservation of energy asserts that the sum of all the various energies is a constant quantity; that is to say, adopting the language of Algebra—

$$A + B + C + D + E + F + G + H = \text{constant quantity.}$$

This does not mean, of course, that A is constant in itself, or any other of the left-hand members of this equation; for, in truth, they are always changing about into each other—now some visible energy being changed into heat or electricity; and, anon, some heat or electricity being changed back again into visible energy—but it only means that the sum of all the energies taken together is constant. We have, in fact, in the left hand, eight variable quantities, and we only assert that their sum is constant, not by any means that they are constant themselves."

—The Conservation of Energy, pp 82-83.

† प्रसिद्ध विदेशीय दार्शनिक पण्डित Hamiltonने अपने "Lectures on Metaphysics" नामक ग्रन्थमें कारणका लक्षण निर्देश करते हुए जो कुछ कहा है, उसे चिन्ताशील पाठकोंके लिये हम यहाँपर उद्धृत कर रहे हैं। पाठक मूलोक्त वचनोंके साथ Hamilton के उद्धृत वाक्योंका सादृश्य देखें—

"When we are aware of something which begins to be, we are, by the necessity of our intelligence, constrained to believe that it has a cause. But what does this expression 'that it has a cause' signify? If we analyse our thought, we shall find that it simply means that, as we cannot conceive any new existence to commence, therefore all that now is seen to arise under a new appearance had previously an existence under a prior form. We are unable, on the one hand, to conceive nothing becoming something or something becoming nothing."

—Hamilton's Lectures on Metaphysics, Vol II. p. 377.

नीली, लाल आदि उपाधियोंके संयोगसे तत्तत् रूपमें प्रतीत होनेपर भी तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें सिवा अपने शुभ्र रूपके दूसरे रूपमें प्रतीत नहीं होता; वैसे ही जगत् भी अद्वैत-ज्ञानरूपी प्रभाकरसे प्रकाशित, अज्ञानान्धकारसे रहित हृदयाकाशमें प्रतिफलित नहीं होता, इसीलिये तत्त्वदर्शी पुरुष जगत्को सच्चिदानन्द ब्रह्मसे भिन्न रूपमें सत् नहीं कहते; उनके लिये ब्रह्मभिन्न जगत् मृत्तिकाविरहित घट अथवा तन्तुहीन पटकी भाँति असत् है। ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत्का वास्तविक अस्तित्व आकाशकुसुमवत् मिथ्या है। अतः ब्रह्मवेत्ता पुरुष जगत्को मिथ्या कह सकते हैं। परन्तु जिनमें अभीतक ब्रह्मज्ञानका प्रकाश नहीं हुआ है, जो अविद्याप्रसूत द्वैतज्ञानके अधीन हैं, जिनके हृदयमें सुख-दुःखका पूर्ण पार्थक्यबोध सदा जागरूक है, इच्छित पदार्थकी प्राप्तिसे जिनको हर्ष और अप्राप्तिसे दुःख होता है, मुँहसे 'मुझको ब्रह्मज्ञान हो गया है' कहनेपर भी जिनका अन्तर राग और द्वेषसे पूर्ण है, शास्त्रानुमोदित कर्मका त्याग कर सकनेपर भी शास्त्रविरुद्ध कर्मका त्याग करनेमें जो प्राकृतिक नियमोंसे असमर्थ हैं, उनके लिये जगत् मिथ्या नहीं है; वे कभी जगत्को आकाशकुसुमवत् अलीक नहीं बतला सकते। जगत् मिथ्या है, दुखीके दुःखसे दुःखित या करुणार्द्रहृदय होना ब्रह्मज्ञानका बाधक है, दूसरेके दुःखसे कातर होना ब्रह्मज्ञानीके लिये अकर्त्तव्य या असम्भव है,—मायाके वशमें रहकर किसी जागतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अथवा आत्माकी प्रवञ्चना करनेके लिये मुँहसे इन शब्दोंका उच्चारण करनेपर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनके हृदयका विश्वास बिलकुल इसके विपरीत है। वेदान्ताध्ययनके प्रसादसे अथवा आजकलके सहज प्रतिभाबल (Intuition) से एक ही दिनमें इस प्रकार वाक्योच्चारण करनेका सामर्थ्य आ जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है; परन्तु अनादिकालप्रवर्त्तित, मिथ्याज्ञानसम्भूत, हृदयप्ररूढ़ द्वैतबुद्धिको हृदयसे दूर करना अवश्य ही बहुत कठिन कार्य है, कठोरसाधनासाध्य है।

क्रियाके भेदसे ही वस्तुका भेदज्ञान होता है। विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष होनेसे जिस प्रकारकी क्रिया होती है, द्रष्टा या ज्ञाताके अन्तःकरणमें जिस प्रकार परिवर्तन होता है उसकी अनुभूति ही—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजनित क्रिया या परिवर्तनकी उपलब्धि ही विषयकी अनुभूति है, और क्रियाके भेदसे ही पदार्थसम्बन्धी अनुभूति विभिन्न हुआ करती है। अग्निके साथ त्वगिन्द्रियका सन्निकर्ष होनेसे जो क्रिया होती है, वह क्रिया या परिवर्तनकी उपलब्धि जलके साथ त्वगिन्द्रियके सन्निकर्षसे होनेवाली क्रिया या परिवर्तनकी उपलब्धिसे भिन्न है; इसलिये हमलोग अग्निको 'अग्नि' और जलको 'जल' (अर्थात् इन दो पदार्थोंको एक दूसरेसे सर्वथा पृथक्रूपमें) समझा करते हैं। तापमें वस्तुओंके अणु परस्पर विश्लिष्ट होते हैं, आणविक विश्लेषण (Dissolution—Segregation) और प्रसारण (Expansion) तापका कार्य है। शैत्यमें वस्तुओंके अणु आकुञ्चित—परस्पर दृढ़रूपसे संश्लिष्ट हुआ करते हैं; अतः आणविक आकुञ्चन (Contraction) शैत्यका कार्य है। जिस शक्तिके द्वारा परमाणु परस्पर संहत होते हैं, उसे आणविक आकर्षण (Molecular attraction) कहते हैं। तापशक्ति इस आणविक आकर्षणके विरुद्ध क्रिया करती है—परस्परसंश्लिष्ट अणुओंको यह विश्लिष्ट कर देती है। शैत्य आणविक आकर्षणके अनुकूल क्रिया करता है। अतः शैत्य संसर्गवृत्ति और ताप भेदवृत्ति है।

क्रियामात्र ही भेद-संसर्गवृत्तिकी शक्तिद्वारा निष्पाद्य है

कोई भी क्रिया या परिवर्तन हो, वह भेद-संसर्ग-वृत्ति-शक्तिसाध्य है–पुंशक्ति और स्त्रीशक्ति, अथवा सविता और सावित्री, अथवा प्रवृत्ति और संस्त्यान (Attractive and Repulsive forces) इन परस्परविरुद्ध द्विविध शक्तियोंद्वारा निष्पाद्य है। निरी भेदवृत्ति अथवा निरवच्छिन्न संसर्गवृत्तिशक्तिद्वारा किसी प्रकारका परिवर्त्तन या क्रिया हो नहीं सकती, कर्मक्षेत्रमें निरी भेदवृत्ति अथवा निरवच्छिन्न संसर्गवृत्तिशक्ति रह नहीं सकती। जगत् शक्तिके वैषम्यभावसे उत्पन्न हुआ है, अतः केवलभाव (शक्तिसाम्य) वैषम्यमय (कर्मात्मक) जगत्में रहना सम्भव नहीं।

यदि 'परिवर्तन' शब्दके यथार्थ अर्थका स्मरण रहे, तो क्रियामात्र ही परस्परविरुद्ध दो शक्तियोंके द्वारा साध्य है, यह बात दुर्बोध्य न होगी। एक भावसे दूसरे भावमें जानेका नाम परिवर्तन वा क्रिया है। परिवर्तनके इस लक्षणहीसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि परस्परविरुद्ध शक्तिद्वयकी युगपत् अनुभूति ही परिवर्तनकी अनुभूति है। कारणकी आत्मभूत शक्ति है, और शक्तिका आत्मभूत कार्य है; अतः कार्यका पूर्वभाव शक्ति है और शक्तिहीका अपरभाव कार्य है। एक ही भाव वा सत्ता पौर्वापर्यके अनुसार यथाक्रमसे शक्ति और कार्य नामसे कही जाती है। जगत् नियतपरिवर्तनशील है, कोई भी

जागतिक पदार्थ क्षणभर भी एक भावमें (बिना परिवर्तित हुए) रह नहीं सकता—इस वाक्यका तात्पर्य जिनकी समझमें आ गया है, वह अवश्य ही कहेंगे कि कार्यात्मभावके या क्रियाके पौर्वापर्यकी युगपत् उपलब्धि ही जागतिक उपलब्धि है। यही बात समझानेके लिये परमकारुणिक पूज्यपाद भगवान् यास्कने कहा है—जन्म, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश, इन छः भावविकारों वा परिवर्तनोंकी उपलब्धि ही जगत् है। जन्म या आविर्भाव-विकारसे विनाश वा तिरोभाव-विकारतक हमलोग जो कुछ क्रिया वा परिवर्तनकी उपलब्धि किया करते हैं, वह सिवा देशकालकृत भावपौर्वापर्यके और कुछ नहीं है।

ब्रह्मज्ञानी क्यों जगत्को मिथ्या कह सकते हैं ?

समझमें आया कि क्रियाकी अनुभूति ही वस्तुकी अनुभूति है, और क्रियाभेदसे ही वस्तुका भेदज्ञान हुआ करता है। ब्रह्मज्ञानी या सिद्ध पुरुषके देहपर अग्नि, जल, अमृत, गरल इत्यादि वस्तु विभिन्नरूप क्रिया नहीं कर सकतीं; अतः वे क्यों इनको परस्परविभिन्न पदार्थ मानेंगे। पृथिव्यादि पञ्चभूतोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व, ये पाँच प्रकारकी अवस्थाएँ हैं। जो भूतोंकी स्थूलत्वादि पञ्चविध अवस्थाओंपर योगशास्त्रोक्त नियमानुसार संयम कर सिद्धिलाभ कर सकते हैं, वे भूतजयी होते हैं। पञ्चभूत तादृश सिद्ध पुरुषके वशीभूत होते हैं—पृथिवी उनको बाधा नहीं दे सकती, जलमें वे क्लिन्न नहीं होते, अग्नि उनके शरीरको दग्ध नहीं कर सकता, वायु उनको शुष्क नहीं कर सकता; उनमें अणिमादि अष्टैश्वर्य प्रादुर्भूत होते हैं*। जिस तरह क्षित्यादि पञ्चभूतोंकी पाँच प्रकारकी विशेष-विशेष अवस्थाएँ हैं, उसी तरह हर एक ऐन्द्रियिक क्रियाकी भी ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पाँच प्रकारकी अवस्थाएँ हैं; जो व्यक्ति इन पाँच अवस्थाओंपर संयम करके इन्द्रियजय कर सकते हैं, उनकी मनकी भाँति (मन जिस तरह क्षणकालमें बड़ी दूर जा सकता है उसी तरह) शरीरकी उत्तम गति होती है। जितेन्द्रिय व्यक्ति थोड़े ही समयमें बड़ी दूर जा सकते हैं; उनके इन्द्रियगण शरीरकी अपेक्षा न रखकर विषय ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं; शरीरसे बहुत दूरपर विद्यमान पदार्थ भी जितेन्द्रिय योगीके इन्द्रियग्राह्य होते हैं; अधिक क्या कहा जाय, प्रकृति उनकी वशीभूता—आज्ञाकारिणी होती है †।

भूत तथा इन्द्रियजयी सिद्ध पुरुष अनायास ही कह सकते हैं कि अग्निमें दाहिका शक्ति नहीं है और अमृत-गरल भी भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ब्रह्मज्ञानी सिवा एक ब्रह्मके दूसरा कोई पदार्थ देख नहीं पाते; अतः उनके लिये, ब्रह्मको छोड़कर जगत् मिथ्या ही है। ब्रह्मज्ञानीके लिये रज्जुमें रज्जुबोध अथवा विषको विष जानना और रज्जुमें सर्पबोध या विषमें अमृतबुद्धि, ये द्विविध ज्ञान ही भ्रम हैं—एक संवादी भ्रम है, दूसरा विसंवादी भ्रम, एक तात्त्विक मिथ्याबुद्धि है, दूसरी प्राधानिक मिथ्याबुद्धि है। ब्रह्मज्ञानी एक-भिन्न द्वितीय वस्तु नहीं देखते; इसलिये ब्रह्म ही उनकी दृष्टिमें वस्तु वा सत् है, सिवा उसके कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, सिवा उसके सभी कुछ स्वरूपतः अवस्तु है—सभी मिथ्या है‡।

---

* स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।
(यो० ३ । ४४)
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।
(यो० ३ । ४५)

† ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ।
(यो० ३ । ४७)
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।
(यो० ३ । ४८)

शास्त्रमें जो कुछ है, साक्षात्कृतधर्मा शास्त्रसारक पूज्यपाद महर्षियोंने जो कुछ कहा है, उसपर हम पूर्णरूपसे (किसी अंशको छोड़कर नहीं) विश्वास करते हैं। यह भी हम बहुत चाहते हैं कि और लोग भी ऐसे ही विश्वास करें; पर जिन्होंने जिन विषयोंपर विश्वास करनेके उपकरण लेकर जन्म नहीं लिया है, उनको कोई उन विषयोंमें विश्वास करा सकता है, यह हम माननेके लिये तैयार नहीं हैं। श्रुतिने कहा है—व्रत वा कर्म करते-करते दीक्षा—योग्यता होती है, दीक्षा वा योग्यता होनेसे दक्षिणा—कृतकर्मका फललाभ होता है, कृतकर्मके फलकी प्राप्ति होनेसे श्रद्धा वा विश्वास उत्पन्न होता है, और श्रद्धा वा विश्वास उत्पन्न होनेसे सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥
(शु० य० सं० १९ । ३०)

कर्म न करनेसे दीक्षा नहीं होती, बिना दीक्षाके दक्षिणा नहीं मिलती, और दक्षिणा न मिलनेसे श्रद्धा नहीं होती। अतः जिन्होंने कभी योगाभ्यास किया नहीं है, योगविभूतिपर उनका विश्वास कभी हो नहीं सकता।

‡ न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्। (बृहदा०)

अर्थात् जिनमें अद्वैतज्ञान विकासप्राप्त होता है, कर्तृकरणादि-कारकविभक्तज्ञान विलुप्त होकर जिनमें अविभक्तज्ञान प्रकाशित होता है, उनमें द्वैतबुद्धि क्यों रहेगी।

द्वैतज्ञानीके लिये जगत् क्यों सत्य है ?

अग्निमें हाथ डालनेसे जब हमलोगोंको दाहयन्त्रणा भोग करनी पड़ती है, संखिया (Arsenic) खाते ही जब हमलोग मर जाते हैं; यह मेरा पुत्र है, वह बालक मेरा कोई नहीं है, ये मेरे मित्र हैं, वह मेरा परम शत्रु है—जब इस प्रकारकी घोर द्वैतबुद्धि हमलोगोंमें प्रबल है, तब हमलोग यह नहीं कह सकते कि अग्निमें दाहिका शक्ति नहीं है, अथवा अमृत और गरल समान पदार्थ (एक ही चीज़) हैं। एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, ऐसी बात हमलोगोंकी दृष्टिमें अवश्य ही उन्मत्तप्रलापकी नाईं अश्रद्धेय वा अर्थशून्य है। द्वैतज्ञानीके लिये अग्नि अग्नि है और जल जल है, द्वैतज्ञानी अमृत और गरलको कभी एक नहीं कह सकता। कर्तृ करणादि कारकद्वारा विभक्त ज्ञानका आश्रय करके ही द्वैतज्ञानी रहा करते हैं, सिवा स्वस्वामिभावादिसम्बन्धज्ञानके द्वैतज्ञानी अविभक्त या अद्वैतज्ञानका विमल प्रकाश देख नहीं पाते।

'द्वैत' शब्दके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थसे क्या शिक्षा मिलती है ?

द्वि+इत=द्वीत; 'द्वीत' से 'भाव' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय करके 'द्वैत' पद निष्पन्न हुआ है। दोके द्वारा जो इत अर्थात् एकाधिक भावद्वारा जो ज्ञात—बुद्धिका विषयीभूत होता है, उसे 'द्वीत' कहते हैं; द्वीतके भावको 'द्वैत' कहते हैं। 'द्वैत' शब्दकी दूसरी प्रकार निरुक्ति भी हो सकती है, यथा—दोका भाव=द्विता; जो द्विता वा एकाधिकभावसम्बन्धी है, वह द्वैत है।

पहले कहा जा चुका है कि किसी भी क्रियाके होनेमें प्रवृत्ति और संस्त्यानके संयोगकी आवश्यकता होती है। बिना पुंशक्ति और स्त्रीशक्तिके संयोगके किसी प्रकारकी क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। अतः क्रियाज्ञान प्रवृत्ति और संस्त्यान अथवा आविर्भाव और तिरोभाव, इन दो भावविकारोंके ज्ञानद्वारा सिद्ध होता है। जगत्का ज्ञान क्रियाज्ञान है; जगत् क्रिया, कार्यात्मभाव वा भावविकार है। अतः द्वैतज्ञान ही जगत् है।

एकयुक्त एक=दो (१+१=२)। एक क्या है ? अवश्य ही इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर यही है कि एकरूप क्रियानुभूति ही एक है। तो फिर दो कौन-सा पदार्थ है ? दो प्रकारकी क्रियानुभूति ही दो है। समझमें आया कि द्वित्वज्ञान अपेक्षाबुद्धिज वा आपेक्षिक (Relative) है।

एक और दूसरा एक, अथवा एकयुक्त एक, इस वाक्यको सुनकर हमलोग क्या समझते हैं ?

एक और दूसरा एक, अथवा एकयुक्त एक (१+१), यह वाक्य अवश्य ही पूर्वापर दो अनुभूतियोंका समाहारसूचक है। पूर्वानुभूति और अपरानुभूति वा पूर्वानुभूतियुक्त अपरानुभूति—एक और दूसरा एक, अथवा एकयुक्त एक, इस वाक्यका यही अर्थ है। पौर्वापर्य देशकालकृत है। तो एक और दूसरा एक, अथवा एकयुक्त एक, इस वाक्यका तात्पर्य यहां है—पूर्वकालानुभूति + अपरकालानुभूति, अथवा पूर्वदेशानुभूति + अपरदेशानुभूति। काल और क्रिया एक पदार्थ हैं*। पहले यह बात कही गयी है कि क्रिया, कार्यात्मभाव वा भावविकार एक ही पदार्थ हैं; अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि कार्यात्मभाव या जगत् द्वैतज्ञानमूलक है।

ऋग्वेदने द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनोंको ही माना है।

कार्यके कारणका अनुसन्धान करना ही तत्त्वजिज्ञासुका तत्त्वज्ञानलाभमूलक एकमात्र कर्म है। कोई भी कार्य अमूल वा निष्कारण नहीं, बिना कारण किसी कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। कार्यके कारणका अनुसंधान करते-करते जब ऐसे कारणप्रकोष्ठमें पहुँचा जाता है जो कारणान्तरद्वारा ढका नहीं है, जो अकार्य वा अविकृति है, अतः जो परमकारण है, कारणानुसन्धान तभी समाप्त होता है। अतः प्रत्येक कार्यका परमकारणतक अनुसन्धान न करनेसे, कारणानुसन्धानकी इच्छा चरितार्थ नहीं होती। निम्नोद्धृत श्रुतिवचनद्वारा भगवान्ने यही बात समझायी है—

एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। (छान्दोग्योपनिषद्)

अर्थात् बिना कारण किसी कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, सभी कार्य समूल हैं—ब्रह्मविद् महर्षि उद्दालकके ब्रह्मजिज्ञासु अपने पुत्र श्वेतकेतुको इस प्रकार उपदेश देनेपर, श्वेतकेतुने पितासे पूछा, 'पिताजी, जब सभी कार्य समूल हैं, तो अवश्य ही शरीररूप कार्यका भी मूल या कारण है; अतः शरीरका मूल क्या है, उसे समझा दीजिये।' महर्षि उद्दालकने पुत्रद्वारा इस

---

* 'क्रियैव कालः'।

तरह पूछे जानेपर उत्तर दिया–वत्स ! सिवा अन्न (अशित-पदार्थ) के शरीररूप कार्यका और क्या कारण है ? खाया हुआ अन्न, जलद्वारा* द्रवीभूत और जठराग्निद्वारा पच्यमान होकर, रसादिभावमें परिणत होता है । रससे शोणित, शोणितसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्र नामके पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अन्नविकार शुक्र-शोणितके संयोगसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, और खाये हुए अन्नद्वारा ही यह बढ़ता है । अतः अन्न ही देहका मूल है । जिस अन्नको देहका मूल निर्देश किया गया, वह भी उत्पत्तिविनाशशील है; अतः वह भी कार्य वा विकार है । जो कार्य है, अवश्य ही उसका कारण है । अतः हे श्वेतकेतो ! अन्न देहका मूल या कारण है, इतना ही जानकर सन्तुष्ट न रहना; जबतक परम कारणके समीप नहीं पहुँच जाते, तबतक यह न मानना कि कारणानुसन्धानकी समाप्ति हो गयी है । ऐसा करनेसे तुझको यथार्थ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न होगी । इसलिये कहते हैं–अन्नका कारण क्या है, उसकी भी पर्यालोचना करो । जैसे अन्न देहका कारण है, वैसे ही जल अन्नका मूल है, अन्न जलसे उत्पन्न होता है । जल भी कार्य वा विकार है, तेज इसका कारण है । तेज भी मूलपदार्थ नहीं है, यह भी कारणान्तरके गर्भधृत है । सत्पदार्थ ही तेजका कारण है । यह सत्पदार्थ ही परमकारण है, यह अकार्य है, यह कारणान्तरद्वारा ढका नहीं है; अतः यही जगत्का मूलकारण है; स्थावर-जङ्गम निखिल प्रजाका ही यह अद्वितीय, यह अकारण सत्स्वरूप परब्रह्म ही कारण है । इसका कोई कारण नहीं है । इतना ही नहीं कि जगत् सन्मूल है, स्थितिकालमें भी यह सदाख्य परब्रह्महीके आश्रय रहता है । जैसे घटकारण मृत्तिका बिना घटकी स्थिति असम्भव है, वैसे ही जगत्कारण इस सत् नामक पदार्थ बिना जगत्की सत्ता या स्थिति भी असम्भव है । जगत् सन्मूल, सदायतन और सत्प्रतिष्ठ है; अर्थात् सत् वा ब्रह्म ही जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है । मृत्तिकाको छोड़नेसे जिस तरह घटका अस्तित्व 'घट' नाममात्रमें पर्यवसित होता है–घटका वास्तव अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है, वैसे ही विश्वके मूलकारण सदाख्य पदार्थ बिना विश्वका अस्तित्व नहीं रहता ।

ज्ञान (Consciousness) का हमलोग साधारणतः जो अर्थ समझते हैं, वह उत्पत्तिविनाशशील है, वह आपेक्षिक है । परिवर्तन—क्रिया वा कार्यात्मभावके ज्ञानहीको हमलोग ज्ञान मान लेते हैं । कार्य कारणहीकी परिच्छिन्न (Conditioned) अवस्था है; कार्यमात्रहीका एक परम-कारण (Unconditioned cause) है, अथवा परिच्छिन्नभावके मूलमें अवश्य ही अपरिच्छिन्नभाव—अनन्तसत्ता (Absolute Reality by which it is immediately produced) है,—पारमार्थिक सत्ता-ज्ञान चिन्ताशील सांसारिक पुरुषद्वारा इसी तरह अनुमितमात्र होता है । योगाभ्यासद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध न कर सकनेसे—वृत्त्यधीन ज्ञान पूर्णरूपसे तिरोहित न होनेसे, पारमार्थिक ज्ञानका विकास नहीं हो सकता । अतएव जबतक चित्तवृत्ति सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध नहीं होती, तबतक सभीको परिच्छिन्न ज्ञान या द्वैतबुद्धि लेकर ही रहना होगा । अद्वैत या अविभक्त ज्ञान स्वरूपतः सत्य होनेपर भी, संसारी पुरुष यथार्थरूपसे उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता । सांसारिक पुरुषके लिये द्वैतज्ञान ही प्रधान है । समस्त लोक-व्यवहारका निर्वाह द्वैतज्ञानद्वारा ही होता है ।

मृत्तिका और घट, ये दो वस्तुएँ आपसमें कार्यकारण-सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं । मृत्तिका कारण है, घट इसका कार्य है । कारणशून्य कार्य नहीं रह सकता । जबतक घट रहेगा, तबतक मृत्तिका उसे त्याग नहीं सकती । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मृत्तिका घटका कारण है, यह भी सत्य है कि मृत्तिकाको छोड़नेसे घटका अस्तित्व नहीं रहता; पर मृत्तिकाज्ञान और घटज्ञान एक नहीं है, 'घट' के बदले 'मृत्तिका' शब्दका प्रयोग करनेसे 'घट' शब्दके उच्चारणका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता । कुम्हार सदासे ही मृन्मय घट बनाते आ रहे हैं, तो भी मृत्तिकाके मृत्तिकारूपका अस्तित्व विलुप्त नहीं हुआ, सारी मृत्तिका घटरूपमें परिणत नहीं हो गयी, मृत्तिका और घटकी (कारण और कार्यकी) स्वतन्त्र सत्ता अव्याहत ही है । इसके पहले हम कह चुके हैं कि कार्यात्मा और कारणात्माके भेदसे भाव द्विविध हैं, उनमेंसे कारणात्मभाव कूटस्थ-नित्य है और कार्यात्मभाव प्रवाहरूपसे नित्य है । हम यह भी बतला चुके हैं कि जगत् कार्यात्मभाव है, और यह प्रवाहरूपसे नित्य है । तथा पर और अपर भेदसे ब्रह्मके द्विविध भाव हैं; उनमेंसे परब्रह्म सत्त्वलक्षण—सन्मात्रलिङ्ग हैं । वे रूप, रस और

---

* 'अशितं ह्यन्नमद्भिर्द्रवीकृतम् ।'—शाङ्करभाष्य । Acid fluid or gastric juice and alkaline fluid or intestinal juice, etc.

गन्धमय वा विकारात्मक नहीं हैं।* वे अमृत—अपरिणामी हैं। अपरब्रह्म भावविकार तथा (सत्त्व, रज और तमरूप) त्रिगुणमय है। उभय पार्श्वमें आविर्भावात्मक रज और तिरोभावात्मक तम, और मध्यमें विशुद्ध सत्त्व—अपरब्रह्मका यही स्वरूप है। भगवान यास्कने रजको काम और तमको द्वेष बताया है†। यह भी हम पूर्व ही कह आये हैं कि राग और द्वेष ही कर्मके हेतु हैं‡ और जगत् कर्मकी मूर्त्ति है। अतः क्रिया वा परिवर्त्तनका ज्ञान ही जागतिक ज्ञान है, क्रिया वा परिवर्त्तनका ज्ञान ही द्वैतज्ञान है, अतः जागतिक ज्ञान और द्वैतज्ञान एक ही वस्तु है। जगत् वा कार्यात्मभाव प्रवाहरूपसे नित्य है, अतः द्वैतज्ञान भी प्रवाहरूपसे नित्य है।

द्वैतज्ञान और अद्वैतज्ञानका सम्बन्ध

घटके साथ मृत्तिकाकी भाँति द्वैतज्ञानके साथ अद्वैतज्ञानका अर्थात् कार्यके साथ कारणका नित्यसम्बन्ध है। द्वैतज्ञानके पीछे अद्वैतज्ञान सदा विद्यमान है, अपरभाव कभी परभावरहित होकर नहीं रहता। द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों ही सत्य हैं। शुद्धसत्त्व, निष्काम ब्रह्मज्ञानीके लिये अद्वैतज्ञान ही अव्यभिचारी ज्ञान है; ब्रह्मज्ञानी एक ब्रह्मके सिवा दूसरी वस्तु नहीं देख पाता। अविद्या-काम-कर्मद्वारा सम्यग् बद्ध विक्षिप्तचित्त बहिर्मुख व्यक्ति सिवा द्वैतज्ञानके अद्वैतज्ञानका कोई संवाद नहीं रखता, द्वैतज्ञानके पीछे होनेवाला अपरिच्छिन्न या अद्वैतज्ञान उसके लिये अगम्य है। ऋग्वेदसंहितामें निम्नलिखित मन्त्रोंके द्वारा द्वैताद्वैत दोनों ही ज्ञानोंका सत्यत्व प्रतिपादन किया गया है—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

(ऋग्वेदसंहिता २।३।२१।२२)

अर्थात् 'इदं' पदवाच्य जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्म या आत्मासे पृथक् वह कोई वस्तु नहीं है, कार्य कारणसे स्वरूपतः भिन्न नहीं है*; इत्यादि शास्त्रवचनोंका यथार्थ मर्म जिनको मालूम हो गया है, वे अनायास ही कह सकते हैं कि मैं हो विश्व हूँ, मुझ (अहं) को वा सच्चिदानन्द ब्रह्मको छोड़ जगत्की स्वतन्त्र आकृति—पृथक् सत्ता नहीं है, रह नहीं सकती। सुना है कि ब्रह्म ही जगत् है, आत्मा ही विश्व है, मैं ही कृत्स्न प्रपञ्च हूँ; पर कार्य-कारण वा द्वैताद्वतके बीच वर्त्तमान, अविद्याद्वारा सम्यग् बद्ध (मायापरिवेष्टित), बहिर्मुख, अतः विक्षिप्तचित्त होकर मैं कैसे कहूँगा कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही जगदाकारमें (वर्त्तमान) हूँ'। मेरा हृदय परिच्छिन्न है, अहं और मम अथवा मैं और मेरा—इस प्रकारकी द्वैतबुद्धि मुझमें पूर्णरूपसे विद्यमान है, दुःखसे मेरा चित्त सङ्कुचित और सुखसे प्रसारित होता है, मुझको निन्दासे क्लेश और स्तुतिसे हर्ष होता है, आजतक मैं दुर्जय कामरिपुको जय करनेमें समर्थ न हुआ, तब मैं कैसे कह सकता हूँ कि 'अहमेवेदं सर्वम्', अर्थात् मैं ही सब कुछ हूँ, मुझको छोड़ कोई दूसरी वस्तु नहीं है; अतः मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही विश्व हूँ, यह बात मैं स्पष्टतः नहीं कह सकता; 'एकमेवाद्वितीयम्'—एक ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं, इस शास्त्रोद्भासित तत्त्वज्ञानको सम्यक्‌रूपसे अनुभव करनेके योग्य मैं नहीं हूँ। तो क्या मैं केवल कार्य ही हूँ? शुद्ध द्वैत हूँ? नहीं, ऐसा नहीं, मैं यह भी समझता हूँ कि अद्वैतभाव मेरे पृष्ठभागमें वर्त्तमान है, मैं द्वैताद्वैतके बीचमें हूँ। 'मनसा चरामि', अर्थात् अविद्याद्वारा सम्यक्‌बद्ध होकर द्वैताद्वैतमय जगत्‌में—संशयात्मक मनके वशमें रहकर मैं विचर रहा हूँ—इन्द्रियाधीन होकर विविध दुःख भोग रहा हूँ, मैं इस समय वृत्त्यधीन हूँ†। क्या अद्वैतज्ञानका—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इत्याकारक अपरिच्छिन्न बुद्धिका विकास होना कभी सम्भव नहीं? क्या द्वैताद्वैतके मध्यवर्त्ती मानव कभी सर्वदुःखहर, शान्तिमय अद्वैतज्ञानमें परिनिष्ठित नहीं हो सकते? उत्तर—हाँ; हो सकते हैं। जब ऋत या परब्रह्मका प्रथमज—प्रथमोत्पन्न—चित्तप्रत्यक्‌प्रवणजनित अनुभाव—आदिभूतज्ञान मुझको प्राप्त होगा,—ऐन्द्रियिक ज्ञानको भूलकर जब मैं अतीन्द्रिय सनातन ज्ञानमें परिनिष्ठित हो सकूँगा, जब मैं योगशास्त्रोक्त नियमानुसार बहिर्मुखी चित्तवृत्तिको अन्तर्मुखी कर सकूँगा, तभी मेरा अद्वैतज्ञान विकासको प्राप्त होगा, मेरे समस्त

---

* शब्दस्पर्शादि घातप्रतिघातजनित वीचितरङ्ग (vibratory motion) के सिवा और कुछ नहीं हैं।

† 'महानात्मा त्रिविधो भवति सत्त्वं रजस्तम इति। सत्त्वं तु ... ... मध्ये विशुद्धं तिष्ठत्यभितो रजस्तमसी।'। निरुक्तपरिशिष्ट।

‡ "The attractions and repulsions exerted between the molecules of bodies, are forces."—Ganot's Natural Philosophy.

—इस वाक्यको पाठक स्मरण करें।

* 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्।' 'आत्मैवेदं सर्वम्।' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।'

† 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'—पा० द०।

संशय दूर होंगे, सिवा एक ब्रह्मके दूसरी कोई वस्तु नहीं, इस अमूल्योपदेशका मर्म तभी मेरी उपलब्धिमें आवेगा।* अतः समझमें आया कि ऋग्वेदने द्वैत और अद्वैत इन दोनों मतोंका ही समादर किया है। जगत् कार्य है, 'कार्य' शब्दका अर्थ ही है द्वैतभाव; परिवर्तन कभी एक भावमें रहकर हो नहीं सकता।

◆

कल्याण

निश्चय करो मानो सत् चित् और आनन्दका महान् समुद्र उमड़ा चला आ रहा है और तुम उसमें डूब गये हो। इतने गहरे डूबे हो कि तुम भी सत् चित् आनन्दरूप ही बन गये हो। सत् चित् आनन्दको छोड़कर और कुछ भी नहीं रहा। अब कल्पनाको छोड़ दो और इसी स्थितिमें, जबतक कोई दूसरी स्फुरणा न हो तबतक, मस्त बने रहो। जब दूसरी स्फुरणा हो, तब उसे महासमुद्रकी एक लहर समझकर पुनः उसीमें मिला दो।

× × × ×

निश्चय करो, जो कुछ भी पदार्थ तुम्हें मनसे या इन्द्रियोंसे दिखलायी पड़ते हैं सब कल्पित हैं, बिना हुए ही कल्पनाकी दृष्टिसे दीखते हैं। वस्तुतः कुछ भी नहीं है। इसके बाद निश्चय करो कि स्थूल शरीर नहीं है, फिर निश्चय करो कि इन्द्रियाँ नहीं हैं, तदनन्तर मन-बुद्धिका भी निश्चयके द्वारा अभाव कर दो। जब इतना हो जाय तब इस निश्चय करनेवाली वृत्तिको भी छोड़ दो। जिस चित्तवृत्तिकी सहायतासे सबका अभाव किया, उस चित्तवृत्तिका भी अभाव कर दो। परन्तु याद रक्खो जबतक किसी भी वृत्तिका त्याग किया जाता है, तबतक कोई-न-कोई वृत्ति रहती ही है; यह शेष रही हुई वृत्ति भी जब अपने-आप शान्त हो जाय, तब वह वास्तविक सबके त्यागकी स्थिति होती है। यही परमात्माका स्वरूप है। सबके सर्वथा मिट जानेपर जो बच रहता है, जिसको मिटानेवाला कोई नहीं रहता वही सत्-स्वरूप है।

× × × ×

जैसे एक ही महान् विराट् आकाशमें असंख्य नगर, गाँव, घर, कोठरियाँ बने हुए हैं, और उन सबके अन्दर भी वही आकाश अविच्छिन्नरूपसे व्याप्त है, इसी प्रकार एक ही परमात्मसत्तामें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड बसे हुए हैं और सब ब्रह्माण्डोंमें वही एक परमात्मसत्ता व्याप्त है। ऐसा समझकर यह निश्चय करो कि जैसे कोठरीके अन्दरवाला आकाश महान् विराट् आकाशसे भिन्न नहीं है वैसे ही तुम भी परमात्मासे भिन्न नहीं हो। जैसे परमात्माकी दृष्टिसे सब कुछ परमात्मामें ही है, इसी प्रकार तुम भी व्यष्टिमेंसे

---

* पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषद्, चतुर्थी वल्ली।

अर्थात् स्वप्रकाश परमात्माने रूपरसादि बाह्य विषयोंका ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियोंकी सृष्टि की है; लोग इसलिये इन्द्रियद्वारा बाह्य विषय ही देखा करते हैं, अन्तरात्माको नहीं देख पाते। इन्द्रियगण अन्तरात्माको देखनेयोग्य करण नहीं हैं। तो फिर कौन किस उपायसे उसको देख पाते हैं? संसार अनित्य है, संसार दुःखमय है—जिनके हृदयमें यह विश्वास स्थिर हो गया है; हम लोग जिसे चाहते हैं, संसार उसे नहीं दे सकता, उसे देनेकी शक्ति संसारमें नहीं है—जिन्होंने यह बात भलीभाँति समझ ली है, ऐसे अमृतत्व वा मुक्तिलाभके इच्छुक धीर (विवेकी) व्यक्ति बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंका निरोध करके—बहिर्मुख चित्तको अन्तर्मुख करके, अन्तरात्माको देख पाते हैं। उपर्युक्त ऋङ्मन्त्रका तात्पर्य ही कठोपनिषद्वचनद्वारा व्याख्यात हुआ है।

अपने अहंकारको निकालकर सर्वाधार और सर्वव्यापी परमात्मामें स्थिर करके देखो—समस्त संसार तुम्हारे ही अन्दर बसा है और तुम सबमें समानरूपसे व्याप्त हो। ऐसा निश्चय हो जानेपर देखोगे कि तुम्हारा यह शरीर भी तुम्हारी ही विराट् सत्ताके किसी एक क्षुद्र अंशमें स्थित है, और इस क्षुद्र अंशमें स्थित क्षुद्रतम शरीरके अन्दर भी तुम ही हो। वस्तुतः शरीर भी तुमसे भिन्न नहीं। क्योंकि जैसे आकाशमें बने हुए घरमें दीवालोंके अन्दर आकाश व्याप्त है और दीवाल भी आकाशमें आकाशसे पैदा होनेवाले चार भूतोंके सहित आकाशसे ही बनी है वैसे ही तुम्हारे अन्दर बने हुए इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें तुम्हीं व्याप्त हो और यह ब्रह्माण्ड भी तुम्हारी सत्तासे क्रियाशील बनी हुई और तुम्हारे ही संकल्पसे पैदा हुई प्रकृतिके साथ तुम्हारी सत्तासे बना है। इस प्रकार निश्चय करो, सब कुछ आत्मा समझकर आत्ममय बन जाओ।

× × × ×

जैसे स्वप्नमें स्वप्नके दृश्य, उनको देखनेवाला और देखना—तीनों तुमसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, तुम्हीं देखनेवाले हो, तुम्हीं दीखनेवाली चीज़ें हो, और तुम्हीं दर्शन हो। इसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डके द्रष्टा और ब्रह्माण्डका दर्शन सब एक परमात्मा ही है, और उस परमात्मासे तुम सर्वथा अभिन्न हो। ऐसा निश्चय करके अपनेको परमात्ममय बना लो।

× × × ×

निश्चय करो—तुम आनन्दमय हो, तुम्हारे आनन्दमें कभी कमी हो ही नहीं सकती। किसीकी ताकत नहीं जो तुम्हारे आनन्दमें बाधा दे सके और तुम्हारे आनन्दको मिटा सके। निश्चय करो तुम्हारी अखण्ड सत्ता है, किसीकी शक्ति नहीं जो तुम्हारी सत्ताको हिला सके। मौत तुम्हें मार नहीं सकती। क्योंकि मौत भी तुम्हारी ही सत्तासे सत्तावान् है। तुम्हारी सत्ता अखण्ड , अनन्त है, अमर है, सनातन है। देहके नाशसे तुम्हारा कभी नाश नहीं होता। निश्चय करो तुम चेतन हो, नित्य चेतन हो। तुम्हारी चेतनतामें कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता। तुम्हारी ही चेतनासे सबमें चेतना है। तुम्हारी यह चेतना अखण्ड और असीम है। निश्चय करो—तुम स्वतन्त्र हो। मायाका कोई भी कार्य तुम्हें बाँध नहीं सकता। कोई भी किसी भी कालमें तुम्हें परतन्त्र नहीं कर सकता। जेलकी काली कोठरीमें भी तुम सदा स्वतन्त्र हो। कोई भी दीवाल तुम्हारी स्वतन्त्रतामें—तुम्हारी मुक्तिमें बाधा नहीं डाल सकती। निश्चय करो तुम स्वामी हो—बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर सब तुम्हारे गुलाम हैं। तुम इन्हें वशमें कर सकते हो। तुमपर इनका कोई बल नहीं चल सकता। अपने बलको—अपने स्वरूपको भूल रहे हो, इसीसे अपनेको इन मन और इन्द्रियाँ आदिके वशमें मान रहे हो। अपने स्वरूपको सँभालो—बलको याद करो। फिर देखोगे तुम्हीं सबके स्वामी हो--सब तुम्हारे अनुचर हैं, आज्ञावाही चाकर हैं। इस प्रकार अपनेको आनन्दरूप, सत्तारूप, चेतनरूप, स्वतन्त्र और प्रभु समझो। वस्तुतः तुम्हारा आत्मस्वरूप ऐसा ही है। शरीर और मनसे कोई भी प्रभु, स्वतन्त्र, चेतन, सत् और आनन्दरूप नहीं है, उनसे ऐसा मानना तो अज्ञान और अहंकार है। और आत्मासे ऐसा न मानना अज्ञान है। आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तो तब समझी जाती है कि ऐसी स्थिति हो जाय, मानने न माननेका प्रश्न ही न रह जाय। वस्तुतः तुम ऐसे ही हो।

'शिव'

'दया' की दृष्टि

(लेखक—'माधव')

सावन-भादोंके महीनेमें आकाशमें उड़ते हुए सजल श्यामल मेघखण्डसे जब धीमी-धीमी मृदङ्गकी-सी मदभरी ध्वनि आने लगती है, समस्त चर-अचर एक दिव्य आर्द्रतामें सराबोर हो जाता है—उस समय किसी एकान्त वनके अज्ञात कोनेमें पंख पसारकर नाचते हुए मोरके आनन्दको शब्दोंमें कैसे नापा जाय ? बहुत दिनोंके बिछुड़े हुए अपने परम प्रियतमके मनोहर दर्शन और प्यारभरे आश्वासनकी वाणीको सुनकर प्रेमीके प्राण कूक उठते हैं । उधर आकाशमें मेघ एक विचित्र ताल-स्वरके साथ गर्जन-तर्जन करता है इधर मोर हृदयके बेसँभारमें नाच उठता है । इतनी तीव्र प्रतीक्षाके अनन्तर, वैशाख-ज्येष्ठकी लू और ज्वालाको सहनेके बाद ही श्यामघनका उमड़ते हुए आना और अपने प्रेमीके प्राणोंको स्नेहवर्षासे जुड़ाना—प्रेमियोंके लिये कितना बड़ा आश्वासन है ! इसी आशामें ये प्राण अटके हुए हैं कि एक-न-एक दिन उनकी दृष्टि इधर फिरेगी ही, वे ढलेंगे ही और उस समय उस महामिलनके सुखकी आशा और प्रतीक्षामें जीवनका यह रेतीला पथ भी कितना सुखकर है ! पियका पन्थ चाहे जितना भी लंबा, कण्टकाकीर्ण और रपटीला क्यों न हो उसमें पग-पगपर एक परम दिव्य आनन्दकी अनुभूति होती है—इस आशामें कि आज न सही कल, कभी-न-कभी प्रियतमके दर्शन तो होंगे ही । मार्गकी कठिनाईकी ओर ध्यान भी नहीं होता ।

प्रभुके दर्शन और स्पर्शको पाकर संत-महात्मा भी अपने-आपको बिसारकर लोककी लाज और परलोककी चिन्ता छोड़कर, जीव, जगत् और मायासे परे जाकर, अपने हृदय-धनमें सर्वथा एकीभूत होकर आनन्दविह्वलदशामें अपने रोम-रोम फैलाकर नाच उठते हैं, कूक उठते हैं—

पियको रूप अनूप लखि कोटि भानु उँजियार ।
'दया' सकल दुख मिटि गयो प्रगट भयो सुखसार ॥

लोकरञ्जनके लिये, लोगोंको सन्मार्गपर लानेके लिये वे वैसा करते हों—ऐसी बात नहीं । जहाँ प्राणाधार हरिके सिवा कुछ रह ही नहीं गया, जहाँ अपनी भी सुध नहीं है, जहाँ नयनोंमें निरन्तर नन्दलाल बसे हुए हैं वहाँ 'पर उपदेश' की विषैली वासना उगेगी ही कैसे ? वहाँ तो एक अजीबकी अलमस्ती है, विचित्र बेहोशी है—

'दया' प्रेम प्रगट्यौ तिन्हैं, तनकी तनि न सँभार ।
हरिरसमें माते फिरैं गृह बन कौन बिचार ॥
कँहू धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह ।
'दया' मगन हरिरूपमें, दिन-दिन अधिक सनेह ॥

हरिरसमें छके हुए ऐसे अलमस्त प्रेमी संतोंको शरीरकी सँभाल रखना असम्भव है । उन्हें घर-वनका कौन-सा विचार है ? पैर कहीं रखते हैं कहीं पड़ता है । देह डगमगा रही है । हरिके रूपका दर्शन, हरिके अङ्गका स्पर्श, हरिके चरणोंका वन्दन—इस मधुर प्रक्रियामें प्राण इतने मुग्ध हैं कि अन्यत्र कहीं देखने-सुननेका अवकाश ही नहीं । प्रतिपल एक नवीन आनन्द उमड़-घुमड़कर हृदयमें बरस जाता है !

जित देखों तित श्याममयी है !

प्रभुप्रेमकी दीवानी, श्रीहरिचरणोंकी एकान्त अनुरागिणी, प्रेम और वैराग्यकी मूर्ति दयाबाई ऐसे ही संतोंमें हैं जिनके स्मरणमात्रसे चित्तकी काई धुल जाती है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और हरिके चरणोंमें प्रीति उमड़ आती है । प्रायः सभी संतोंने 'हरि मोर पिउ मैं हरिकी बहुरिया' की मधुर अनुभूतिमें अपने प्राणोंकी भूख-प्यासको शान्त किया है । वैसा करनेके लिये, उस भावमें भावित होनेके लिये, सर्वभावेन हरिचरणोंमें निवेदित होनेके लिये उन्हें साधनाके बहुत लंबे मार्गको तय करना पड़ा है । परन्तु नारी संतोंके लिये यह कठिनाई नहीं आती । वे तो स्वतःसिद्ध हरिकी बहुरिया होती हैं; इसीलिये हृदयकी भेंट लेकर भगवान्के चरणोंमें अर्पित करनेमें उन्हें सहज सहायता मिलती है । वास्तवमें हमारा पुरुषाभिमान ही हमारी साधनाका सबसे बड़ा प्रत्यवाय है । इस झूठे अभिमानका आवरण हटाकर सर्वथा शिथिल होकर जब हम हरिके चरणोंमें आत्मार्पणके लिये गिरते हैं तो वह अन्तर्यामी प्रभु एक मृदुल मुसकानका दान देकर हमें सदाके लिये स्वीकार कर लेता है । पुरुष होनेका अभिमान जबतक पूर्णतः नष्ट नहीं होगा तबतक हमारा समर्पण सर्वांगीण हो नहीं सकता । दया, सहजो और मीराकी साधना इसीलिये सम्पूर्ण समर्पणकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है । उन्हें नारी-

भावमें भावित नहीं होना पड़ा, उन्हें कुछ और 'बनना' नहीं पड़ा। ये तो उत्सर्गकी, सर्वार्पणकी बनी-बनायी मूर्ति ही थीं। अस्तु।

जीवन-चरित्र, आत्मकथा आदिका हमारी भारतीय संस्कृतिकी परम्पराके साथ मेल नहीं खाता। सूर, तुलसी, कबीर, दादू, मीरा आदि संतोंके जीवनके सम्बन्धमें उनकी लेखनीसे कुछ भी पता नहीं चलता। प्राचीन कालके ऋषि-महर्षियोंसे लेकर आजतकके सच्चे संत-महात्माओंके जीवनके सम्बन्धमें पूरा-पूरा पता लगाना कठिन ही नहीं असम्भव है। किस सन्-संवत्‌में जन्म हुआ, कहाँ शिक्षा मिली, माता-पिता कैसे थे, संसारके कौन-कौन-से साधन सहज उपलब्ध थे आदि ऐसी बातें हैं जिनको भारतीय साधना सदासे उपेक्षाकी दृष्टिसे देखती आयी है। चरित्र अथवा कथा बाह्य वस्तुओंको लेकर तैयार होती है जिसका साधनासे कोई सम्बन्ध नहीं; और साधनको हमारे यहाँ उतना गोपनीय रखनेका आदेश है जितना संभ्रान्त घरकी बहू जारके प्रेमको गुप्त रखती है। इस कारण इतिहासके कुतूहल-प्रिय व्यक्ति भारतीय साधना-परम्पराकी इस गहरी उपेक्षासे क्षुब्ध भले ही हों परन्तु भारतीय साधना कभी उनकी माँगके सामने सिर नहीं टेक सकती। हमारी एकान्त साधना विज्ञापन और प्रकाशनके भारसे बहुत दूर भागती है; उसे हृदयमें छिपाये रखने, लोकदृष्टिसे अछूता रखनेमें ही उसकी वास्तविक शोभा है।

दयाके जीवनचरितके सम्बन्धमें भी हम कुछ भी पता नहीं लगा सके। लोग इतना ही जान पाये हैं कि दयाबाई महात्मा चरनदासजीकी शिष्या, सहजोकी गुरुबहिन, जातिकी वैश्य, मेवात (राजपूताना) में रहनेवाली थीं और संवत् १८०० के लगभग वर्तमान थीं। इसके सिवा इनके सम्बन्धमें और कुछ भी पता नहीं चलता। दयाके दोहोंको पढ़कर उनके अद्भुत प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, अनन्यता और विनयके भावोंसे हृदयको परम शान्ति मिलती है। प्रेम और वैराग्य इन दोनोंका दिव्य सम्मिश्रण और कहाँ मिलता है ?

केवल चरनदासी पंथमें ही नहीं अपितु समस्त संतमतमें साधनपथमें प्रवृत्त होनेके पूर्व श्रीगुरुचरणोंका आश्रय आवश्यक माना जाता है। संसारकी मोहिनी मायाका आकर्षण इतना तीव्र है, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मार्गके इतने भयङ्कर शत्रु हैं, पग-पगपर बटमार छिपे बैठे हैं और साधकको लुभाने तथा पथभ्रष्ट करनेके लिये इतने उद्यत हैं कि यदि एक पलके लिये भी विस्मरण हुआ कि हम सदाके लिये गये। इसीलिये मार्गमें एकनिष्ठ होकर चलने तथा अपने उद्देश्यको प्राप्त करनेके लिये अनुभवी संतगुरुके चरणोंकी शरण ही एकमात्र साधन है। गुरुदेव साधनपथके विघ्न-बाधाओंको भलीभाँति जानते हैं, वे इस मार्गको तय कर चुके हैं, उन्हें खाई-खन्दकोंका पूरा पता है अतएव उनके हाथमें अपनेको पूर्णतः सौंप देनेसे ही हम सर्वथा निश्चिन्त हो सकते हैं। गुरुके समान यहाँ 'अपना' कोई है ही नहीं—

या जगमें कोउ है नहीं गुरुसम दीनदयाल।
सरनागत कूँ जानिकै, भले करैं प्रतिपाल॥
मनसा बाचा करि 'दया' गुरु चरनौं चित लाव।
जग समुद्रके तरन कूँ नाहिन आन उपाव॥

सद्गुरु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं—उन्हें मनुष्यरूपमें नहीं देखना चाहिये। उन्हें ही साक्षात् नारायण मानकर वन्दन करना चाहिये। हरिका दर्शन श्रीगुरुकी अनुकम्पापर निर्भर है—वे जब चाहें अज्ञानके तिमिरको छिन्न-भिन्न करके ज्ञानाञ्जनशलाकाके द्वारा हमारे अन्तश्चक्षुओंको खोल देते हैं और तभी हमारा सत्यसे साक्षात्कार होता है—

सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं, मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै 'दया' ते हैं पसू समान॥
नितप्रति बंदन कीजिये, गुरु कूँ सीस नवाय।
'दया' सुखी कर देत हैं हरि सरूप दरसाय॥

गुरुके हाथमें अपनेको सर्वथा सौंप देनेपर, अपना सब पाप-पुण्य श्रीचरणोंमें निवेदन कर चुकनेपर हृदय जब सर्वथा उन्मुक्त और निर्मल हो जाता है तभी प्रभुसे हमारा परिचय होता है। यह परिचय ही साधनाका प्राण है। इस परिचयको ही संतोंने परम महोत्सव तथा महामंगलकी घड़ी माना है। होता तो है यह एक क्षणमें ही परन्तु जीवनभर उसका नशा, उसकी मधुर उन्मदस्मृति बनी रहती है। महात्मा लोग इसे बड़े उल्लासके साथ स्मरण किया करते हैं। वह घड़ी धन्य है जिसमें प्रभुने हमारे हाथको अपने हाथमें लिया, सदाके लिये हमें अपने चरणोंमें स्वीकार कर लिया। वह घड़ी वास्तवमें कितनी दिव्य है !

सेत सिंहासन पीव को, महा तेजमय धाम।
पुरुषोत्तम राजत तहाँ, दया करत परनाम॥
बिन दामिन उजियार अति, बिन घन परत फुहार।
मगन भयो मनुवाँ तहाँ, दया निहार निहार॥

महातेजोमय धाममें प्रीतमका श्वेत सिंहासन बिछा हुआ है। उस दिव्य सिंहासनपर पुरुषोत्तम हरि विराजमान हैं। दया उनके चरणोंमें प्रणाम कर रही है। बिना बिजलीके ही वहाँ अत्यन्त प्रकाश है। बिना मेघके ही रिमझिम-रिमझिम

फुहियाँ झर रही हैं । उसे निहार-निहारकर मनुवाँ मगन हो रहा है, अपनेको खो रहा है ।

इस 'परिचय' के अनन्तर साधककी बड़ी विचित्र दशा हो जाती है । जगत्की ओर पीठ करके और प्रभुकी ओर मुख करके वह बेतहाशा दौड़ता है । सुख और दुःख दोनोंसे परे जाकर वह प्रभुप्रेममें तड़फड़ाने लगता है । प्रेमके समुद्रमें जाकर कोई ऊपर नहीं आता । जन्म-जन्मके बिछुड़े हरिकी एक हल्की झाँकी पाकर वह सदाके लिये उसे अपना लेनेके लिये तड़प उठता है । इस मधुर परन्तु तीव्र वेदनाकी अनुभूति किसी-किसी परम भाग्यवान् पुरुषको ही होती है—साधनाकी यह परम मनोहर स्थिति है—

जनम जनमके बीछुरे, हरि अब रह्यो न जाय ।
क्यों मनको दुख देत हौ, बिरह तपाय तपाय ॥
बौरी है चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर ।
छिन ऊठूँ छिन गिर परूँ, राम दुखी मन मोर ॥

प्रेमीकी यह विरह-वेदना ही भगवान्का प्रसाद है । पता नहीं 'वह' किस राहसे आ जाय ऐसा सोचकर 'दया' छनमें उठती है, छनमें गिरती है और राहकी ओर एकटक दृष्टि लगी हुई है । वह कब आ जाय, किधरसे आ जाय—इस प्रकारकी आतुर प्रतीक्षाका स्वाद कितना मधुर है ।

प्रभुप्रेमके दीवाने संतोंकी अटपटी बातें कोई क्या समझे ! इस अलमस्त फक्कड़पन और बेहोशीके सामने त्रिभुवनकी सारी सम्पदा, जगत्के सभी वैभव तिनकेसे भी तुच्छ हैं । यही तो शाहंशाही है; राजाओंका राजा बनकर अपनी ही मस्तीमें छके रहना है; अपनी ही बेहोशीमें बेपरवाह डोलना है । अपनी मौजमें कभी हँसना, कभी रोना, कभी गाना, कभी नाचना ! हरिके रसका ऐसा ही विचित्र नशा है । यहाँ तो न ऊधोका लेना है न माधोका देना । दृष्टिके सामने हरिके सिवा कोई है ही नहीं । मनुवाँ बेपरवाह हरिके प्रेमसमुद्रमें तैर रहा है, किल्लोल कर रहा है । वहाँ नेम और व्रतकी गुंजाइश ही नहीं है । वहाँ तो बस, अन्तर-बाहर केवल हरि-ही-हरि हैं ! 'दया' की कैसी उन्मत्त अवस्था है !

'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नाहिं ।
झुके रहैं हरिरस छके, थके नेम व्रत नाहिं ॥
प्रेममगन जे साधवा बिचरत रहत निसंक ।
हरिरसके माते 'दया' गिनै राव ना रंक ॥
हरिरस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध ।
त्रिभुवनकी संपति 'दया' तृन सम जानत साध ॥

हरि ही हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, सखा-मित्र, पुत्र-कलत्र सब कुछ केवल हरि ही हैं । वे ही मेरे सर्वस्व हैं । उन्हींमें सदा-सदैव रमना है । उन्हींमें अहर्निश बसना है । इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही भक्तको सब ओरसे सदाके लिये अभय कर देता है । उसे अब किसी औरकी ओर देखना नहीं पड़ता, किसीकी अपेक्षा नहीं होती । उसके मस्तकपर प्रभुके वरद हस्त सदा-सदैव बने रहते हैं । उसके हृदयमें त्रिभुवनसुन्दर हरिकी मंगलमयी मूर्ति अखण्डरूपसे बसी रहती है और आनन्दकी अजस्र वर्षा करती रहती है । सोते-जागते बस एकमात्र वही हरि !

सोवत जागत हरि भजौ, हरि हिरदे न बिसार ।
डोरी गहि हरिनाम की, 'दया' न टूटै तार ॥

हरिनामका तार न टूटे । हृदयमें हरिनामकी गंगा अखण्ड बहती रहे । लोक-परलोक सबको भुलाकर हरिको भीतर जगाये रखना है । सब ओरसे मुँह मोड़कर हरिकी शीतल गोदमें जा सोना है । 'अब हम अमर भये, न मरेंगे ।'

हरिकी गोदके सिवा शान्ति अथवा सुखका एक कण भी कहीं प्राप्त नहीं हो सकता । अन्यत्र कहीं शान्ति है ही नहीं, सुख है ही नहीं । जगत्के विषयोंमें जो हमारी सुखबुद्धि है वह मृगजलसे प्यास बुझानेके समान है । वहाँ तो केवल आगकी लपट है, भयानक ज्वाला है । वहाँ तो बस उलझि-उलझि मर जाना है । हरिको बिसारकर जो जगत्में पगे हैं वे आत्महननके भागी होते हैं । अपने आप अपनी हत्या कर रहे हैं ।

मनमोहनको ध्याइये, तन मन करिये प्रीति ।
हरि तज जे जगमें पगे, देखौ बड़ी अनीति ॥
'दया' दास हरिनाम लै, या जगमें यह सार ।
हरि भजते हरि ही भये, पायो भेद अपार ॥

हरिकी अपार अहैतुकी अनुकम्पा और अपनी अपात्रतापर जब साधककी दृष्टि जाती है तो उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है । वह देखता है, अपने हृदयमें इस बातका तीव्र अनुभव करता है कि प्रभुने हमारे सारे पापोंपर पर्दा डालकर, हमारी त्रुटियों और अपराधोंको बिसारकर हमें अपनाया है । प्रभुकी दृष्टि हमारे पापोंपर गयी ही नहीं—ऐसा ही प्रतीत होता है । हम अपने पाप और त्रुटियोंको ज्यों-ज्यों प्रभुके चरणोंमें निवेदन करते जाते हैं त्यों-त्यों प्रभुका हमारे प्रति वात्सल्य प्यार उमड़ता आता है । बालक जितना ही दुर्बल होता है माँ उतना ही उसका अधिक सँभाल रखती है । प्रभुने एक बार जिसे स्वीकार किया उसे

किसी भी कारण विलग नहीं किया । जिसकी बाँह उन्होंने एक बार पकड़ी उसे कभी छोड़ा नहीं । यही उनकी विरद है । एक बार उनके सम्मुख होनेभरकी आवश्यकता है । फिर कोई भी विकार भक्तको स्पर्शतक नहीं कर सकता ।

परन्तु भगवत्कृपाकी प्राप्ति प्रभुकी अनुकम्पापर ही निर्भर है । हम अपनी साधनासे प्रभुको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते—इस बातको साधक एक क्षणके लिये भी नहीं भूलता । साधकको अपनी साधनाका बल नहीं होता उसे एकमात्र प्रभुकी अनुकम्पाका ही भरोसा रहता है । वह बड़ी उत्कण्ठाके साथ प्रभुकी कृपाकी प्रतीक्षा किया करता है क्योंकि वह जानता है कि हममें अगणित पाप भरे पड़े हैं, प्रभुको प्रसन्न करनेलायक एक भी गुण नहीं है, फिर भी प्रभु इन सबको अनदेखी, अनसुनी करके हमें अपनाये हुए हैं । उनकी कृपाका ही एकमात्र आसरा-भरोसा है ।

केहि विधि रीझत हौ प्रभु का कहि टेरूँ नाथ ।
लहरि मिहरि जब हीं करो, तब ही होउँ सनाथ ॥

तुम किस प्रकार रीझते हो, कैसे ढलते हो, तुम्हें क्या कहकर टेरूँ—हे प्रभो ! मैं यह कुछ भी नहीं जानता । अपनी ही ओरसे जब तुम दयाकी वर्षा करो तभी मैं तुम्हें पा सकता हूँ और तभी सनाथ हो सकता हूँ । संसार-सागर अथाह है । इसका कहीं ओर-छोर नहीं है । उस पार कैसे उतरूँ ? तैरते-तैरते थक गया हूँ, वारपार नहीं सूझता । तुम्हारी कृपाका बस एक कटाक्ष हो जाय तो मैं पार उतर जाऊँ । तुम जानते ही हो मैं किस प्रकार असहाय-सा संसारमें जल-तप रहा हूँ । कहीं कोई आश्रय नहीं । जहाँ कहीं जाता हूँ तिरस्कृत, अपमानित और लाञ्छित होता हूँ । चारों ओरसे आश्रयहीन होकर, अनाथ होकर तुम्हारे चरणोंकी छायामें आया हूँ क्योंकि तुम ही मेरे एकमात्र अवलम्ब हो, मेरे अशरणशरण हो, मुझ निराधारके आधार हो ।

भवजल नदी भयावनी, किस बिध उतरूँ पार ।
साहिब मेरी अरज है, सुनिये बारम्बार ॥
पैरत थाको हे प्रभु, सूझत वार न पार ।
मिहर मौज जब ही करौ, तब पाऊँ दरबार ॥
निरपच्छी के पच्छ तुम निराधार के धार ।
मेरे तुम ही नाथ इक जीवन प्रान अधार ॥

जितने भी पापके कर्म हैं—एक भी मुझसे छूटे नहीं । प्रभु ! मेरी करनीकी ओर देखोगे तो कभी भी मेरा उद्धार सम्भव नहीं । अपनी विरद और बानेकी ओर देखो । तुम्हारी विरद ही अधम-उधारन है । यह सुनकर मैं सर्वथा निडर हूँ । तुम तो घटघटवासी मेरे अन्तर्यामी प्रभु हो; तुमसे क्या छिपा है, तुम मेरी क्या नहीं जानते ?

जेते करम हैं पापके मोसे बचे न एक ।
मेरी ओर लखो कहाँ, बिर्द बानो तन देख ॥
जो जाकी ताकै सरन, ताको ताहि खभार ।
तुम सब जानत नाथ जूं कहा कहौं विस्तार ॥

न मैं पूजा जानता हूँ, न अर्चना और न बंदगी ही । मुझसे न स्मरण ही होता है न ध्यान ही । मेरेमें न संयम है, न साधना; न तो तीरथ सेया, न व्रत किया और न दान ही दिये । जिस प्रकार एक नादान बालक अपनी माँके भरोसे रहता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे ऊपर आश्रित हूँ । तुम्हारे सिवा मेरा कोई आश्रय नहीं—

पूजा अर्चन बंदगी, नहिं सुमिरन नाहिं ध्यान ।
प्रभुजी अब राखै बनै, बिर्द बाने की कान ॥
नहिं संजम नहिं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान ।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान ॥

बच्चेसे लाख चूक हो जाय फिर भी माँ उसे कैसे छोड़ेगी ? माँ तो अपने भूलभरे, धूलभरे बालकको चूम-चुचुकारकर गोदमें उठा लेती है और अपने आँचलमें छिपा लेती है । वह जानती है कि उसका बालक इतना अबोध है कि आगको आग और पानीको पानी नहीं समझता । माँ यह भी जानती है कि यदि एक क्षणके लिये भी वह बच्चेको स्वतन्त्र छोड़ देगी तो वह आगमें अपना शरीर जला लेगा, पानीमें जा डूबेगा । इसीलिये वह उसका इतना ध्यान रखती है । बच्चा एकमात्र माँपर सर्वथा निर्भर है !

संसारमें तेरा कहाकर जी रहा हूँ । सभी यह जानते हैं कि मैं तुम्हारी शरणमें हूँ और तुमने मेरी बाँह पकड़ी है । चिड़ियाका बच्चा डैना फड़फड़ाता है पर उड़ नहीं सकता ऐसी ही मेरी दशा है । यह सीस तुम्हारे ही सामने नवे, तुम्हींसे अपनी दीनता सुनाऊँ । झगड़ूँ भी तो तुम्हींसे, अधीनता स्वीकार करूँ तो केवल तुम्हारे चरणोंका ही । संसारमें रंक, राव, शाह, बादशाह कोई नजर ही न आवे; किसीके सामने आँचल न पसारूँ, हाथ न फैलाऊँ । ध्यान सदैव तुम्हारे चरणोंका ही रहे—चाहे जहाँ भी रहूँ ।

सीस नवै तो तुमहिं कूँ, तुमहिं सूँ भाखूँ दीन ।
जो झगरूँ तो तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन ॥

हमारा प्राप्य या लक्ष्य क्या है ?

(लेखक—श्रीरमण महर्षिके एक शिष्य)

हमारा लक्ष्य बन्धनसे मुक्त होना है। यद्यपि वास्तविक बात जिसे अन्य प्रसङ्गमें कहना है, यह है कि बन्धन और मुक्ति दोनों ही असत्य हैं।

जिसे हम मुक्ति कहते हैं उसकी असलियत इतनी ही है कि, हम अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि हमारी वर्तमान अवस्था वास्तविक नहीं है; हम अपने असली स्वरूपमें नहीं हैं। हम जिसे जीवन समझते हैं, उसमें हमारी यथार्थ सत्ता नहीं है—या तो हम मन, बुद्धि या शरीरके रूपमें एकाकार होकर रहते हैं या किसी दूसरे व्यक्ति या समुदायमें मिले रहते हैं या किसी जड़ वस्तुके साथ ही संलग्न हो जाते हैं। इन सब अवस्थाओंमें हम अपने स्वरूपसे भिन्न होते हैं और यही भिन्नता जीवनके समस्त अवगुणोंकी मूल है। इस अवस्थासे मुक्ति या छुटकारा पानेके लिये हमें केवल इन अपर वस्तुओंसे पृथक् हो जाना है।

यही अद्वैतवाद तथा शेष सारे सम्प्रदायोंके बीचका भेद है। श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र यही बात इस रूपमें कहते हैं—

याचे ह्यभिनवं ते चन्द्रकलोत्तंस किञ्चिदपि वस्तु।
मह्यं प्रदेहि भगवन् मदीयमेव स्वरूपमानन्दम्॥

अर्थात् 'हे चन्द्रकलाका अवतंस (मुकुट) धारण करनेवाले भगवान् (महादेव)! मैं आपसे एक विलक्षण वरदान माँगता हूँ। मुझे वही आनन्द-स्वरूप प्रदान करो जो वास्तवमें मेरा ही है।'

हम स्वभावसे ही मुक्त और आनन्दस्वरूप हैं। हमें मुक्त होनेकी आवश्यकता नहीं है। इस तथ्यको समझनेमें हम असमर्थ हैं, किन्तु हम मुक्तात्मा अवश्य हैं। मुक्तात्मा तो सदैव स्वतन्त्र है। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुषके लिये इस प्रश्नका उत्तर एक बँधी प्रणालीसे देना असम्भव है कि वे कब मुक्त हुए अथवा वे मुक्त हैं या नहीं? यदि वे इसका कुछ उत्तर दे सकते हैं तो यही कि 'मुझे कुछ नहीं हुआ, मैं सदैव एक-सा ही हूँ।' महापुरुष प्रत्येक व्यक्तिकी यथार्थता समझाते हुए इसके रहस्यको स्पष्ट कर देते हैं।

इस अवस्था या स्वरूपको ही परमेश्वर या भगवान्के साथ एक होना कहते हैं। यह एकाकार, (ऊपरसे) प्राप्त करनेकी वस्तु नहीं है, यह तो है ही, यद्यपि हमारे अज्ञानके कारण प्रत्यक्ष नहीं है। वास्तवमें हमारा यथार्थ स्वरूप तो यही एक है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यह बात कैसे सिद्ध होती है? इसका उत्तर यह है कि भगवान् इस विश्वसृष्टिसे पृथक् नहीं हैं वरं हममें और सारी सृष्टिमें जो एकमात्र सत्य सत्ता है वही वे हैं। इसका समर्थन हिब्रू भाषाकी बाइबलमें भी प्राप्त होता है? जहाँ भगवान् (खीष्ट) ने महात्मा मूसाको उत्तर देते हुए कहा है 'मैं वही हूँ जो मैं हूँ।' महर्षि रमण इस वाक्यकी ओर विशेषरूपसे हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं क्योंकि सम्पूर्ण बाइबलमें यही एक वाक्य है जो बड़े अक्षरोंमें लिखा हुआ है। इसका अर्थ यदि कुछ हो सकता है तो यही कि ईश्वर ही वह 'मैं हूँ' है जो प्रत्येक जीवधारीमें व्याप्त हो रहा है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ईश्वरको देखना' या उसके 'समक्ष उपस्थित होना' आदि वाक्योंका अभिधार्थ कुछ भी नहीं है। उनका अर्थ तब हो सकता है जब उनसे इसी एकत्व-प्राप्तिका भाव ग्रहण किया जाय। परन्तु इससे अन्य सम्प्रदायोंमें उपदेश की गयी सेवा तथा ईश्वरोपासनाकी शिक्षाओंका विरोध नहीं पड़ता। स्वयं स्वामीजी इन मार्गोंका निर्देश उन समस्त साधकोंके लिये करते हैं जो पूर्ण वैराग्यके योग्य नहीं हुए हैं। कहना न होगा कि यह

पूर्ण वैराग्य ही स्वामीजीकी शिक्षाओंका सार है। किन्तु वे अपने शिष्योंसे कहते हैं कि ये अपर मार्गावलम्बी भी यथासमय अद्वैतीके ही गन्तव्य स्थानतक पहुँच जायँगे। वे भी भगवान्‌से एक हो जायँगे।

गुरु महोदयके इस निरूपणके सम्बन्धमें हमें अटल विश्वास करना चाहिये, क्योंकि इसमें उनकी साधनाका साक्ष्य तो है ही, उनके पूर्वज अन्य पुरातन तत्त्वदर्शियोंका भी प्रमाण है। तथापि इसे स्वीकार करनेमें उनके अद्वैतवादी शिष्य जितना निर्विकल्प भाव रखते हैं उतना अन्य नहीं रखते। अद्वैतवादी तो उसे बिना मीन-मेखके सर्वांशमें मान लेते हैं पर अन्य लोग उसका अर्थ करनेमें कुछ-न-कुछ खींच-तान करते देखे जाते हैं।

स्वामीजीकी यह स्पष्ट शिक्षा है कि पूर्ण और आत्यन्तिक मुक्ति यही है—इसके अतिरिक्त और जो कुछ है उसका मूल्य और महत्त्व इतना ही है कि वह इस आत्मस्वरूपतक पहुँचानेमें किसी हदतक हमारा साथ देता है। इसी प्रकार हम सारी बुराइयोंको पार करते और तत्त्वको उसकी पूर्णताके साथ ग्रहण करते हैं—वह तत्त्व जो स्वयं हममें है, चाहे वह जो हो।

परन्तु बुद्धिके संस्कारोंके अनुसार, जीवनकी अनन्त परिस्थितियोंके कारण, कोई शिष्य इस सम्बन्धमें शङ्का कर सकता है कि यह अवस्था जिसे स्वामीजीने बतलाया है, कहाँतक अभीष्ट है। वह पूछ सकता है कि इस आत्मस्वरूपमें रक्खा ही क्या है कि इसके लिये कष्ट उठाकर परिश्रम किया जाय, इसके लिये शेष सम्पूर्ण वस्तुओंका परित्याग कर दिया जाय? क्या आत्मस्वरूपको प्राप्त करना किसी दूसरी दुनियाँमें चले जाना है या कुछ ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त करना है जिनके सम्बन्धमें हम जनश्रुतियाँ सुना करते हैं—जैसे अणिमा, महिमा आदि या अप्सराएँ, कल्पतरु, कामधेनु आदि।

स्वामीजी कहते हैं—नहीं, जब हम एक बार मूल व्याधिसे दूर हो गये; मिथ्या स्वार्थका हमने विनाश कर दिया, तब तो हम तत्त्वसे एकाकार ही हो गये। तब तो तत्त्वके अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं गया। जो लोग इस तत्त्वको छोड़कर वैसी सिद्धियोंके लिये उत्सुक हैं उन्हें नीचेके स्थानोंमें देरतक भटकते रहना होगा। गीतामें कही गयी—

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।'

(यह अलंकृत भाषा जो मूर्खलोग बोलते हैं) की अलंकृत या पुष्पित भाषा ही हाथ लगेगी। तत्त्वके प्राप्त करनेका तो वही एक उपाय है, उसीसे पूर्ण निर्विघ्नता और शान्ति प्राप्त होती है।

दुर्बल मस्तिष्कवाले व्यक्तियोंमें एक और भी शंका उत्पन्न होती है। वे पूछते हैं कि जब आत्माके अतिरिक्त उस अवस्थामें कुछ और रहता ही नहीं तब उसे आनन्दकी अवस्था कैसे कह सकते हैं? इसपर गुरुजीका कथन है कि आनन्दकी कल्पना करते हुए तुम मान लेते हो कि वह किसी बाह्य वस्तुके संसर्गसे उत्पन्न होता है, उसके उपभोगके लिये कोई दूसरा आधार चाहिये। पर बात ऐसी नहीं है। आनन्द तो आत्माका स्वभाव ही है। यह वही आनन्द है जिसे तुम इस समय स्वल्पांशमें प्राप्त करते हो और यह समझते हो कि वह आनन्द किसी वस्तुसे प्राप्त हुआ। यह तुच्छ और खण्डित आनन्द है और तबतक इसी रूपमें रहेगा जबतक आत्मबोध नहीं होता। जब आत्मा ही एक तन्त्र रहती है तब यह आनन्द शाश्वत और अपार हो जाता है। यदि ऐसी बात नहीं है तब तो दूसरी बात यही हो सकती है कि जितनी अधिक बाह्य वस्तु या भौतिक द्रव्य तुम्हारे पास हो उतना ही आनन्द तुम्हें प्राप्त होगा, और उसकी कमी होनेपर आनन्दकी भी कमी होगी। जब उक्त द्रव्यका नितान्त अभाव हो जायगा जैसे गाढ़ी नींदमें सोते हुए—तब आनन्दका भी अभाव हो जायगा। पर यह बात अनुभवसे सिद्ध नहीं

होती। गाढ़ी नींदकी अवस्थाको हम सुखकी नींद कहते हैं। उसमें आनन्दका अभाव नहीं होता वरं उसकी बड़ी मात्रा रहती है। अतः तुम्हारा यह विचार भ्रमपूर्ण है कि आनन्दका आधार बाह्य वस्तु है।

अबतक तो हमें यह बताया गया कि आत्मस्वरूपकी स्थिति सांसारिक स्थितिसे किस प्रकार भिन्न है, अभी हमें यह नहीं बताया गया कि वह स्थिति है क्या ? अर्थात् अबतक नकारात्मक चर्चा ही हुई है। इसके परिणामस्वरूप कुछ लोग यह समझने लगते हैं कि उक्त आत्मस्थिति शून्यकी स्थितिमात्र है और उसके प्राप्त होनेपर कोई वास्तविक सत्ता नहीं रहती। स्वामीजी इसे पूर्णरूपसे अस्वीकार करते हैं। वे समझते हैं कि शब्दोंके द्वारा कोई यह नहीं कह सकता कि वह स्थिति क्या है, क्योंकि वह तो मन, बुद्धिके क्षेत्रके बाहर है। यदि वह हमारे विचारकी सीमामें होती और यदि उसका स्पष्ट रीतिसे भी शब्द-द्वारा निर्वचन किया जा सकता तो वह प्राप्य वस्तु न होती। तब तो वह देश और कालकी सीमामें ही रह जाती और सम्पूर्ण सांसारिक वस्तुओंकी भाँति असन्तोषजनक भी सिद्ध होती।

यह अवस्था अनिर्वचनीय होती हुई भी वास्तविक है और हमारी सम्पूर्ण श्रद्धाकी अधिकारिणी भी है, यह अनुभव हम स्वामीजीके निकट रहकर स्वतः कर सकते हैं। जिसने उस प्रकाशके महासिन्धुमें स्नान किया है, उसे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होगी। न उसे कोई दूसरी गवाही ही चाहिये। वह तो दृढ़ निश्चय कर लेता है कि भगवान् पुरुषोत्तमका स्वरूप प्राप्त करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है और उसे वह यथासमय प्राप्त कर सकता है।

तथापि स्वामीजी उस अनिर्वचनीय अवस्थाका दूसरे प्रकारसे आभास देते हैं, वे यह प्रदर्शित करते हैं कि उस अवस्थामें और मनुष्यकी वर्तमान अवस्थामें, जिसमें वह जीवन बिता रहा है, क्या अन्तर है। जीवनमें तो हमपर सर्वदा अपनेपनका अर्थात् अहंकार या स्वार्थका प्रभाव बना रहता है—वह अहंकार जो निरन्तर 'मैं-मैं' की पुकार करता रहता है, जिसका अर्थ इस नाशवान् शरीरके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह स्पष्ट है कि नाशवान् शरीर आत्मा नहीं है। जब हम इस शरीरमें ही आत्मभाव मानने लगते हैं तभी बन्धनमें फँसना आरम्भ करते हैं। संसार तथा हमारे सारे कार्य इसी बन्धनसे ग्रस्त रहते हैं। यह अहंकार उक्त आत्मिक स्थितिमें किञ्चिन्मात्र नहीं रहता। और संसार इसी अहंकारके कारण दिखायी देता है इसलिये आत्मस्वरूप प्राप्त होनेपर संसार नहीं रह जाता।

अपने इस जीवनमें एक ऐसी अवस्था है जो उक्त अवस्थासे कुछ-कुछ समता रखती है; वह है सुषुप्तिकी—गाढ़ी नींदकी अवस्था। इसलिये अद्वैतवादी अधिकतासे इस सुषुप्तिकी उपमासे उस बन्धन-मुक्त अवस्थाका आभास दिया करते हैं। दोनों ही इस रूपमें एक-से हैं कि दोनोंमें अहंकार-तत्त्वका नाम नहीं रहता और न संसारका भान ही होता है। पर यह समता यहीं समाप्त हो जाती है। वस्तुतः मुक्तावस्था उस प्रकारकी शून्य या निःसत्त्व अवस्था नहीं है जैसी सुषुप्ति है। वह तो पूर्ण प्रकाशकी अवस्था है। वही सच्ची जागृति है इसलिये उसे जागृत-निद्रा कहा करते हैं। जिस जागृतिसे हम अपने इस जीवनमें परिचित हैं वह वास्तविक जागृति नहीं है। वह तो एक प्रकारका स्वप्न है जो हम मोह-निद्रामें सोते हुए देखा करते हैं। इसी निद्रासे अभिभूत होकर ही हमारा जीवन व्यतीत होता है। इसी मोह-निद्रासे जागना, संसारके स्वप्नका त्याग करना, यही सच्ची जागृति है जिसमें हम पूर्ण सचेत रहते हैं। ऐसे ही उदाहरणोंसे स्वामीजी हमें मुक्तिकी वास्तविकता बतलाते और उसके प्रति उत्साह तथा भक्ति उत्पन्न करते हैं।

भक्ति-गाथा
श्रवण
कीर्तन
स्मरण
पादसेवन
अर्चन
वन्दन
दास्य
सख्य
आत्मनिवेदन

भक्त आरण्यक मुनि

त्रेतायुगसे पहलेकी बात है । आरण्यक मुनि वनमें रहकर घोर तपस्या करते थे । उनका उद्देश्य था परमात्माको जानकर परमानन्द और परम शान्तिको प्राप्त करना । परन्तु उद्देश्य सफल नहीं हुआ । तब मुनिवर मूल परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये किसी ज्ञानी महापुरुषकी खोजमें निकले । अनेकों तीर्थोंमें घूमे, बहुत लोगोंसे बातें कीं परन्तु कहीं भी मनोरथ पूरा नहीं हुआ । एक दिन उन्होंने देखा कि दीर्घ-जीवी महर्षि लोमश तीर्थयात्राके लिये स्वर्गसे आये हैं । मुनिने जाकर लोमशजीके चरणोंमें प्रणाम किया और विनयपूर्वक पूछा—'हे भगवन् ! दुर्लभ मनुष्यदेहको प्राप्त करके जीव किस उपायसे इस दुस्तर संसार-सागरसे पार जा सकता है ? ऐसा कोई देवता, व्रत, दान, जप या यज्ञ हो तो कृपा करके बतलाइये, जिसके सेवनसे मैं घोर संसार-समुद्रसे पार हो सकूँ ।' आरण्यक मुनिकी बात सुनकर महर्षि लोमशने कहा—'दान, तीर्थ, व्रत, यम, नियम, योग, यज्ञ आदि सभी साधन उत्तम हैं परन्तु इनका फल स्वर्ग ही है । स्वर्ग विनाशी है । पुण्य जबतक रहता है तबतक जीव स्वर्गके भोग भोगता है, पुण्य पूरे होते ही वहाँसे उसे फिर नीचे गिरना पड़ता है । अतएव जो लोग नाशवान् स्वर्ग-सुखके लिये ही दान-पुण्यादि करते हैं, वे कुछ भी शुभ कर्म न करनेवाले मूढ़ पुरुषोंकी अपेक्षा उत्तम होनेपर भी वस्तुतः बुद्धिमान् नहीं हैं । मैं तुम्हें एक गोपनीय बात बतलाता हूँ—श्रीरामसे बढ़कर कोई देवता नहीं, रामसे उत्तम कोई व्रत नहीं, रामसे उत्कृष्ट कोई योग नहीं और रामसे ऊँचा कोई यज्ञ नहीं है । श्रीरामके नामका जप और श्रीरामका भक्तिपूर्वक पूजन करनेसे मनुष्य इस लोक और परलोकमें परम सुखी होता है और अनायास ही संसार-सागरसे तरकर भगवान्को प्राप्त होता है । श्रीरामका स्मरण और ध्यान करनेसे मनुष्यकी सारी कामनाएँ श्रीरामकी कृपासे पूरी होती हैं और वह जिससे परमपदको प्राप्त कर सके, ऐसी दुर्लभ अपनी भक्ति श्रीराम उसे दे देते हैं । उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्तम कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये तो कहना ही क्या है, चाण्डाल भी श्रीरामका प्रेमपूर्वक स्मरण करके परम गतिको प्राप्त होते हैं । श्रीराम ही एकमात्र परम देवता हैं, रामार्चन ही प्रधान व्रत है, रामनाम ही सर्वोत्तम मन्त्र है और जिनमें रामकी स्तुति है, वही उत्तम शास्त्र हैं । अतएव तुम मन लगा कर दिव्य मनोहर मूरति श्रीरामचन्द्रका ही भजन करो । श्रीरामके भजनसे तुम अपार संसार-सागरसे गोपदकी तरह तर जाओगे ।'

महर्षि लोमशकी बात सुनकर आरण्यक मुनिको बड़ी आशा हुई और प्रसन्नचित्तसे उन्होंने फिर पूछा कि 'भगवन् ! यदि मुझपर आपकी परम कृपा है तो

अनुग्रह करके मुझे श्रीरामचन्द्रका स्वरूप बतलाइये जिससे मैं उस स्वरूपका ध्यान करके कृतार्थ हो सकूँ ।' इसपर महर्षि लोमश सन्तुष्ट होकर कहने लगे कि 'हे मुनिवर ! सुनो, मैं तुमसे श्रीरामचन्द्रका ध्यानके योग्य स्वरूप बतलाता हूँ । इस स्वरूपका मन लगाकर ध्यान करनेसे सब मनोरथ निश्चय ही पूर्ण हो जाते हैं ।'

'रमणीय अयोध्या नगरीमें कल्पतरुके नीचे विचित्र मण्डपमें भगवान् श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं । महामरकतमणि, नीलकान्तमणि और स्वर्णसे बना हुआ अत्यन्त मनोहर उनका सिंहासन है । सिंहासनकी प्रभा चारों ओर छिटक रही है । नवदूर्वादलश्याम सौन्दर्यसागर देवेन्द्रपूजित भगवान् श्रीरघुनाथजी सिंहासनपर बैठे अपनी छटासे मुनियोंका मन हरण कर रहे हैं । उनका मनोमुग्धकारी मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंकी छविको लज्जित कर रहा है । उनके कानोंमें दिव्य मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं, मस्तकपर किरीट शोभित है । किरीटमें जड़ी हुई मणियोंकी रंग-बिरंगी प्रभासे सारा शरीर रञ्जित हो रहा है । मस्तकपर काले घुँघराले केश हैं । उनके मुखमें सुधाकरकी किरणों-जैसी दन्तपंक्ति शोभा पा रही है । उनके होठ और अधर विद्रुममणि-जैसे मनोहर कान्तिमय हैं । जिसमें अन्यान्य शास्त्रोंसहित ऋक्, साम आदि चारों वेदोंकी नित्य-स्फूर्ति हो रही है, जवाकुसुमके समान ऐसी मधुमयी रसना उनके मुखके भीतर शोभा पा रही है । उनकी सुन्दर देह, कंबु-जैसे कमनीय कण्ठसे सुशोभित है । उनके दोनों कन्धे सिंह-स्कन्धोंकी तरह ऊँचे और मांसल हैं । उनकी लंबी भुजाएँ घुटनोंतक पहुँची हुई हैं । अँगूठीमें जड़े हुए हीरोंकी आभासे अंगुलियाँ चमक रही हैं । केयूर और वलय निराली ही शोभा दे रहे हैं । उनका सुमनोहर विशाल वक्षःस्थल, श्रीलक्ष्मी और श्रीवत्सादि विचित्र चिह्नोंसे विभूषित है । उदरमें त्रिवली है, गम्भीर नाभि है और मनोहर कटिदेश मणियोंकी करधनीसे सुशोभित है । उनके सुन्दर निर्मल जंघाएँ और मनोहर घुटने हैं । योगिराजोंके ध्येय उनके परम मंगलमय चरणयुगलमें वज्र, अंकुश, जौ और ध्वजादि रेखाएँ अंकित हैं । हाथोंमें धनुषबाण और कन्धेपर तरकस शोभित हैं । मस्तकपर सुन्दर तिलक है और अपनी इस छविसे वे सबका चित्त जबरदस्ती अपनी ओर खींच रहे हैं ।'

इस प्रकार भगवान्के ध्यानस्वरूपका वर्णन करके लोमशजीने कहा—'हे मुनि ! तुम इस तरह श्रीरामका ध्यान और स्मरण करोगे तो अनायास ही संसार-सागरसे पार हो जाओगे ।'

लोमशजीकी बात सुनकर आरण्यक मुनिने उनसे विनम्र शब्दोंमें कहा—'भगवन् ! आपने कृपा करके मुझे श्रीरामका ध्यान बतलाया सो बड़ा ही अच्छा किया । मैं आपके उपकारके भारसे दब गया हूँ परन्तु नाथ ! इतना और बतलाइये कि ये राम कौन हैं, इनका मूलस्वरूप क्या है ? और ये क्यों अवतार लेते हैं ?'

महर्षि लोमशजीने कहा कि 'हे वत्स ! पूर्ण सनातन परात्पर परमात्मा ही श्रीराम हैं । समस्त विश्वब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है, यही सबके आधार, सबमें फैले हुए, सबके स्वामी, सबके सृजन, पालन और संहार करनेवाले हैं । सारा विश्व इन्हींकी लीलाका विकास है । समस्त योगेश्वरोंके भी परम ईश्वर दयासागर ये प्रभु जीवोंकी दुर्गति देखकर उन्हें घोर नरकसे बचानेके लिये जगत्में अपनी लीला और गुणोंका विस्तार करते हैं, जिनका गान करके पापी-से-पापी मनुष्य भी तर जाते हैं । ये राम इसी हेतु अवतार धारण करते हैं ।'

इसके बाद आरण्यक मुनिके पूछनेपर लोमशजीने संक्षेपमें समस्त रामचरित्र उन्हें सुनाया और उनसे कहा कि 'भगवान् श्रीरामजीके अश्वमेधयज्ञके घोड़ेके साथ रहनेवाले रामानुज शत्रुघ्नजी जब तुम्हारे आश्रमपर पधारेंगे, तब उनसे पता पाकर तुम भगवान् श्रीरामका साक्षात् दर्शन कर सकोगे और तभी तुम उनमें लीन हो सकोगे ।'

महर्षिवर लोमशजीके उपदेशानुसार मुनि आरण्यक रेवा नदीके तटपर एक जीर्ण-सी कुटियामें निवास करते हुए अपना सारा समय श्रीरामजीके भजन और ध्यानमें लगाने लगे ।

इस प्रकार बहुत काल बीत गया । मुनिवर भगवान् श्रीरामके भजन-ध्यानमें मस्त होकर तनकी सुधि भूल गये और नित्य परमानन्दमें मग्न रहने लगे । तदनन्तर एक दिन श्रीरामके अश्वमेधयज्ञका घोड़ा मुनिकी कुटियाके पास आ पहुँचा । उसके पीछे-पीछे विशाल सेनाके साथ बड़े-बड़े वीरोंके संग श्रीशत्रुघ्नजी भी चले जा रहे थे । उन्होंने रेवाके तटपर जीर्ण-सा आश्रम देखकर अपने साथी वीरवर सुमतिसे पूछा कि यह आश्रम किस मुनिका है । सुमतिके बतलानेपर शत्रुघ्नजी मुनिकी कुटियापर पहुँचे । मुनिने उनका स्वागत किया । और अन्तमें यह जानकर कि ये रामानुज श्रीशत्रुघ्न हैं, उन्हें लोमशजीके वचन याद आ गये । मुनि हर्षके मारे उछल पड़े । 'अहा ! आज चिरकालकी साध पूरी होगी । आज मुझे इन आँखोंसे भगवान् श्रीरामके दर्शन होंगे, आज मेरा जीवन सफल होगा ।' यों मनोरथ करते-करते मुनिवर आरण्यक अयोध्याजीकी ओर चल पड़े । उन्होंने देवदुर्लभ परम रमणीय अयोध्यानगरीमें जाकर देखा—सरयूजीके तटपर एक सुरम्य मण्डपमें पद्मपलाशलोचन नवदूर्वादलश्याम भगवान् श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं । अनेक महामहिम मुनियोंने उन्हें चारों ओरसे घेर रक्खा है । उनके दोनों ओर भरत और लक्ष्मण विराजित हैं । दीन-दरिद्रोंको मनमानी वस्तुएँ दी जा रही हैं । मुनिवर आरण्यक भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके त्रिभुवन-कमनीय सौन्दर्यराशि मधुर स्वरूपको देखकर मन्त्रमुग्धकी भाँति एकटकी लगाये खड़े रह गये । उनकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं, शरीर पुलकित हो गया, आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह चली । मुनिने आज अपने जीवनको सफल और धन्य समझा । इधर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जब परम तेजस्वी तपोमूर्ति मुनिको इस दशामें देखा तो वे सहसा उठ खड़े हुए और मुनिके चरणोंमें प्रणाम करने लगे । इन्द्रादि बड़े-बड़े देवता सिर झुकाकर अपने किरीट-मणियोंकी प्रभासे जिनके चरणयुगलोंको चमकाते रहते हैं, वही देवेन्द्रवन्दित-चरण भगवान् श्रीरामचन्द्र 'हे ब्राह्मणदेव ! आज आपने मेरे शरीरको पवित्र कर दिया' यों कहकर मुनिके चरणोंपर गिर पड़े । महा तपस्वी आरण्यक मुनिने उन प्रणतप्रिय प्रभु भगवान् रामचन्द्रको शीघ्र ही दोनों भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया । तदनन्तर भगवान् श्रीरामचन्द्रने मुनिको ऊँचे मणिमय आसनपर बैठाकर उनके चरण धोये और 'आज मैं अपने बन्धुबान्धवोंसहित पवित्र हो गया ' यों कहकर मुनिके चरणोदकको अपने मस्तकपर छिड़क लिया । इसके बाद बड़ी ही विनयपूर्ण भाषामें भगवान्ने कहा—'हे स्वामिन् ! मेरा अश्वमेधयज्ञ आपके यहाँ पधारनेसे सफल हो जायगा । आपकी चरणधूलिसे पवित्र होकर यह अश्वमेधयज्ञ शीघ्र मुझे रावण-कुम्भकर्णादि ब्राह्मणसन्तानके वधसे प्राप्त हुई ब्रह्महत्यासे मुक्त कर देगा ।'

भगवान् श्रीरामके इन शब्दोंको सुनकर मुनिने हँसकर बड़े ही मधुर शब्दोंमें कहा, 'भगवन् ! आप मर्यादाके रक्षक ऐसी बातें न कहेंगे तो और कौन कहेगा ? वेदज्ञ ब्राह्मण आपकी ही मूर्ति हैं । आप दूसरे राजाओंके सामने सुन्दर आदर्श रखनेके लिये ही ऐसा आचरण कर रहे हैं परन्तु भगवन् ! ब्रह्महत्याके पापसे छूटनेके लिये आप अश्वमेधयज्ञ कर रहे हैं यह सुनकर तो मैं अपनी हँसीको नहीं रोक सकता । धन्य है मर्यादापुरुषोत्तम आपकी मर्यादाको ! भला, सारे शास्त्रोंसे विपरीत आचरण करनेवाला सर्वथा मूर्ख और पापी मनुष्य भी जिसका नाम स्मरण करते ही पापोंके महान् समुद्रको लाँघकर परमपदको पा जाता है, वह ब्रह्महत्याके पातकसे मुक्त होनेके लिये अश्वमेधयज्ञ करे, यह क्या कम मज़ाककी बात है ? हे भगवन् ! जबतक मनुष्य आपके नामका भलीभाँति उच्चारण नहीं करता तभीतक ब्रह्महत्यादि महान् पाप गरजा करते हैं । हे महाराज ! रामनामरूपी सिंहकी गर्जना सुनते ही महापापरूपी सब हाथी जान बचानेके लिये न मालूम किधर भाग जाते हैं, कि फिर ढूँढ़नेपर भी उनका पता नहीं लगता । मैंने पहले गंगातीरवासी मुनियोंसे सुना था कि जबतक सुस्पष्टरूपसे आपके मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं किया जाता, तभीतक व्याकुलहृदय महापापी मनुष्योंको पापतापका भय रहता है । हे श्रीरामचन्द्र ! मैं धन्य हूँ जो आज आपके दर्शन पाकर अनायास ही संसारतापसे मुक्त हो गया हूँ ।'

आरण्यक मुनिके इन वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उनकी यथोचित पूजा की । उपस्थित मुनिगण श्रीरामकी यह लीला देखकर 'धन्य, धन्य' की ध्वनि करने लगे । मुनिवर आरण्यकने, सदा जिनका ध्यान किया करते थे, उन भगवान्का साक्षात् दर्शन करके परम आनन्दित होकर मुनियोंसे कहा—'हे मुनिगण ! आपलोग मेरे महाभाग्यकी ओर तो देखिये । स्वयं भगवान् रामचन्द्र जब मुझको प्रणाम करके मेरा स्वागत करते हैं तब मेरे समान जगत्में दूसरे किस भाग्यवान्ने जन्म लिया है । वेद नित्य जिनके चरणकमलोंकी खोजमें लगे रहते हैं, वे भगवान् मेरा चरणोदक लेकर अपनेको पवित्र मानते हैं ! अहा ! आज मैं धन्य हो गया ।' यों कहते ही भगवान् श्रीरामके सामने ही मुनिका ब्रह्मरन्ध्र फट गया । बड़े जोरकी आवाज हुई । स्वर्गमें दुन्दुभी बजने लगी । आकाशसे देवता फूल बरसाने लगे । मुनियोंने आश्चर्यचकित होकर देखा, आरण्यकके देहमेंसे एक विचित्र तेज निकलकर श्रीरामके सुन्दर वदनमें समा गया !

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

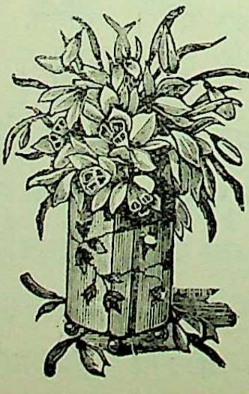

वेदान्तकी सार्वभौमता

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकाव्यसाङ्ख्ययोगन्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न स्वामी श्रीभागवतानन्दजी मण्डलीश्वर)

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।

(ऋग्वेद १० । १४ । १५; अथर्ववेद १८ । २ । २; तैत्तिरीयारण्यक ६ । ५ । १)

सांसारिक नाना प्रकारके क्लेश-तापोंसे सन्तप्त प्राणी उद्विग्नमना होकर किसी निर्बाध शाश्वत शान्तिप्रद स्थानकी भगीरथप्रयत्नसे गवेषणा करता है । उत्तुङ्ग-तरङ्गालिङ्गित प्रकृति-सागरमें डूबता हुआ यह जीव किसी नौकादि साधनकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त अधीर हो उठता है । दुरदृष्टवश यह जीव भीषण असाध्य रोगोंका रंगस्थल बना हुआ है, सद्वैद्यके अलाभके कारण रोगसे मुक्ति नहीं पाता । यह जीव बहुत दिनोंका भूखा है, बुभुक्षासे विह्वलहृदय होनेसे और औचित्यानौचित्यविवेचिनी बुद्धिशक्तिके विलुप्त होनेके कारण सुन्दर भोज्य अन्नके स्थानमें विकराल गरल खा लेता है, विषधर भुजङ्गको मनोहर पुष्प-माला समझकर पकड़ बैठता है । अनेकविधपुरातनपुण्यपुञ्जैकलभ्य देदीप्यमान चिन्तामणिको प्राप्त करके भी दुर्भाग्यवश उसे दाहक अग्निखण्ड समझकर उपेक्षाकर कस्तूरिका मृगके सदृश सुख-प्राप्तिका साधन पानेके लिये वायुवेगसे आगे दौड़ता है, परन्तु इस दौड़-धूपका परिणाम क्या होता है ? इसका उत्तर हम निज शब्दोंमें न देकर भगवान् भाष्यकार आचार्य श्रीशङ्कर स्वामीके शब्दोंमें देते हैं—

अविचार्य यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् । (शारीरकभाष्य १ । २ । २)

बिना विचार जिस किसी साधनको पकड़ लेनेका फल मुक्तिसे वञ्चित रहना और अनर्थकी प्राप्ति है ।' भाष्यकारके 'निःश्रेयस', 'अनर्थ' इन दो शब्दोंमें सभी प्रकारके सुख और दुःखोंका समावेश है । फलतः यह सार निकलता है कि अविचार सब दुःखोंका कारण है, विचार सब सुखोंका कारण है, अतः सच्चे सुखके इच्छुकको उस उत्तम साधनकी खोज करनी चाहिये, वह साधन है आत्मज्ञान—

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' (श्वेता० १ । ११)

प्रकाशशील आत्माके ज्ञानसे सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।

(श्वेता० २ । ८)

विज्ञ पुरुष ब्रह्मविद्यारूपी नौकासे भयजनक प्रखर वेगवाहिनी सांसारिक दुर्वासनानिचयादिरूप नदियोंको पार करे ।

'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७ । १ । ३)

आत्मज्ञानी शोकसागरसे पार हो जाता है ।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

(यजुर्वेद ३१ । १८)

उस परमात्माको जानकर ही मृत्युका उल्लङ्घन किया जा सकता है अर्थात् मुक्त हो सकता है, अन्य मार्ग मुक्ति-प्राप्तिका नहीं है ।

'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः'

(अथर्ववेद १० । ८ । ४४; ऋग्वेद १ । १६७ । २२)

उस आत्माको जानकर ही यह मनुष्य मृत्युसे डरता नहीं है ।

इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'आत्मज्ञान' ही सच्चे सुखका साधन है । यद्यपि साधारणरूपसे आत्मज्ञानके साक्षात् अथवा परम्परया साधनोंका उपदेश प्रायः सभी दर्शनोंमें है, क्योंकि निःस्वार्थ परोपकारैकधृतव्रत उन दर्शनशास्त्रोंके प्रणेता ऋषिगण समग्र संसारका भला चाहते थे तथापि विशेषतया सर्वोत्तम साधन बतलानेवाला 'वेदान्तदर्शन'[1] ही है, 'वेदान्तदर्शन'[2] चक्रवर्ती राजा है, अन्यान्य दर्शन उसके करदराजमण्डलस्वरूप हैं, वेदान्तदर्शन सार्वभौम (चक्रवर्ती) है, अन्य दर्शन क्षुद्र ग्रामाधिपति हैं, वेदान्तकी विजयपताका (झंडे) के नीचे सर्व

१–'वेदस्यान्तो बोधकतासम्बन्धेन तात्पर्यविषयो यत्रेति वेदान्तः' वेदोंके अन्तिम एवं निश्चित तात्पर्यके विषय ब्रह्मका बोधक होनेके कारण 'वेदान्त' कहलाता है ।

२–'वेदान्तदर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम्' (सिद्धान्तबिन्दुकी गौड़ ब्रह्मानन्दकृत रत्नावली टीका) अर्थात् वेदान्तदर्शन सब दर्शनोंमें विशेषरूपसे द्रष्टव्य श्रद्धेयतम दर्शन है ।

दर्शनरूपी जनताको आना ही पड़ता है । वेदान्तको छोड़कर अन्यत्र निर्भयता कहाँ ? अपार शान्तिका दर्शन कहाँ ? यही कारण है कि वेदान्तकी सार्वभौमताको नतमस्तक हो गौरवपूर्वक निःसङ्कोचभावसे एवं मुक्तकण्ठसे सबको स्वीकार करना ही पड़ता है ।

आइये सुज्ञ पाठकगण ! प्रथम[1] व्याकरणके ग्रन्थोंको देखिये कि वे वेदान्त-सिद्धान्तको कैसे स्पष्ट शब्दोंमें अर्थात् लक्षणा, व्यञ्जना, अध्याहारादिके विना ही प्रतिपादन करते हैं ।

'वृद्धिरादैच्' सूत्रमें 'पर्वतो वह्निवान्' के सदृश उद्देश्य-विधेयभावकी प्रतीतिके लिये 'आदैच् वृद्धिः' ऐसा कहना चाहिये, विपरीत क्यों कहा ?

ऐसी जिज्ञासा उठाकर भाष्यकार[2] उत्तर करते हैं कि इस सूत्रको प्राथमिक होनेके कारण अष्टाध्यायीके मङ्गलाचरणके लिये 'वृद्धि' पदका प्रयोग प्रथम किया है, मङ्गलाचरणवाले शास्त्रोंका प्रचार होता है, ऐसे शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापन करनेवाले सर्वथा समृद्ध होते हैं ।

शेखरमें नागेश भट्ट[3] भी इसका समर्थन करते हैं । असद्भावनासे यह 'वृद्धि' पद ब्रह्मके स्मरणरूप मङ्गलको सूचित करता है ।

ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् ।

(शारीरकभाष्य १ । १ । १)

बृह् धातुसे सिद्ध[4] होनेके कारण 'ब्रह्म' शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे नित्यशुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं । उक्त भाष्यकी 'भामती' टीकामें वाचस्पतिमिश्र भी कहते हैं—

वृद्धिकर्मा हि बृहतिरतिशायने वर्तते तच्चेदमतिशायनमनवच्छिन्नं पदान्तरावगमितनित्यशुद्धबुद्धत्वाद्यस्याभ्यनुजानातीत्यर्थः ।

'बृह' धातुका निरतिशय वृद्धिवाला अर्थ है—

निरवग्रहमहत्त्वसम्पन्नं वस्तु ब्रह्मपदार्थः ।

(पञ्चपादिका)

निरतिशय महत्त्वविशिष्ट वस्तु 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है । इन वाक्योंके पर्यालोचन करनेसे 'वृद्धि' पद 'ब्रह्म' की ओर इशारा करता मालूम पड़ता है ।

'द्रव्यं नित्यम्' (महाभाष्य १ । १ । १)

असत्त्वोपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यपदवाच्यमित्यर्थः ।

(भाष्यप्रदीप—कैयट)

घटादिद्रव्यस्य कथं नित्यतेत्याह—असत्त्वेति ।

(उद्योतमें नागेशभट्ट)

असत्त्व उपाधिसे विशिष्ट (उपहित) ब्रह्म द्रव्य कहलाता है यह उक्त भाष्यादिकोंका सारार्थ है, ऐसा ब्रह्मवेदान्त-सिद्धान्त है, अतः महाभाष्य कैयट और नागेशका वेदान्तमत प्रतीत होता है ।

सर्वाकारं निराकारं विश्वाध्यक्षमतीन्द्रियम् ।
सदसद्रूपतातीतमदृश्यं माययावृतैः ॥ १ ॥
ज्ञानलोचनसंदृश्यं नारायणमजं विभुम् ।
प्रणम्य परमात्मानं सर्वविद्याविधायिनम् ॥ २ ॥
महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम् ।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः ॥ ३ ॥

(प्रदीपका मंगलाचरण)

सर्वाकारत्वं सर्वोपादानकारणत्वान्मृदादिवत् । कार्या

---

[1] १—'मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्' (पाणिनीयशिक्षा ४२) व्याकरण वेद-पुराणादि शास्त्रोंका मुख है । 'सर्ववेदपारिपारिषदं हीदं शास्त्रम्' (महाभाष्य २ । १ । ५८) व्याकरण सब वेदोंका समानरूपसे उपकारक अथवा परिचारक है, अतः प्रथम व्याकरणका विचार करना उचित ही है, व्याकरण भी 'पाणिनीय दर्शन' कहलाता है, देखो 'सर्वदर्शनसंग्रह' ।

[2] २—'कथं वृद्धिरादैजिति' एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ताश्च यथा स्युरिति' (महाभाष्य १ । १ । १)

[3] ३—'विधेयत्वेऽपि तस्य पूर्वप्रयोगो मङ्गलार्थः' (लघुशब्देन्दुशेखर—'वृद्धिरादैच्' सूत्र) । अन्य धातुओंका प्रथम प्रयोग न करके प्रथम भ्वादिगणमें 'भू' धातुका प्रयोग भी ब्रह्मस्मारकतया मङ्गलार्थ ही शेखरकारने माना है ।

[4] ४—'बृंहेर्नोऽच्च' इस उणादिसूत्र (४ । १४६) से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध होता है, 'बृंह' धातुसे 'मनिन्' प्रत्यय होता है । इदित्निमित्तक 'नुम्'के नकारको अकार आदेश होता है, पीछे 'यण्' करनेपर 'ब्रह्म' बनता है ।—लेखक

तिरिक्तदृश्यस्वरूपाभावान्निराकारत्वम् । कर्तृत्वाद्विश्वाध्यक्षत्वम् । स ऐक्षतेति श्रुतेः ।

अतीन्द्रियं विगतेन्द्रियत्वेन पश्यत्यचक्षुरित्यादि श्रुतेः । सर्वप्रत्यक्षीकरणं तु स्वरूपचैतन्येनैव । इन्द्रियाविषयत्वेन वातीन्द्रियत्वम् । सदसद्रूपता प्रपञ्चधर्मः । एतच्च 'स्त्रियाम्' इति सूत्रे वक्ष्यते । तामतीतं तद्रहितमित्यर्थः । एवं च सदेवेति भावः । नन्वीदृशमस्माभिः कुतो न दृश्यत इत्यत आह—अदृश्यमित्यादि । माययावृतैरित्यस्य कृत्यमाह—ज्ञानेति । तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजनिताखण्डाद्वितीयसच्चिदानन्दब्रह्माकारा वृत्तिर्ज्ञानं तदेव लोचनम् ।

(नागेशभट्टरचित उद्योत)

'सर्वका कारण सर्वमय निराकार विश्वका साक्षी सदसद्रूपतासे रहित, अज्ञानसे आच्छादित जनोंको अदृश्य ज्ञानियोंसे जाननेयोग्य परमात्माको प्रणाम करके जैयट-पुत्र मैं कैयट भाष्य-प्रदीपको बनाता हूँ, जो ग्रन्थ व्याकरणमहाभाष्यरूपी अपार सागरके पार करनेको महानौका (जहाज) रूपी है। इन श्लोकोंकी नागेशने वेदान्ताभिमत व्याख्या करके अपनी वेदान्तानुयायिता स्पष्ट बतला दी है।

यद्यपि 'छाया' नामक व्याख्याकारने लिखा है कि—'सदसद्रूपता प्रपञ्चधर्मः' इससे अनिर्वचनीयतावाद सिद्ध नहीं होता। 'स्त्रियाम्' इस सूत्रपर भाष्यकारने अनिर्वचनीयतावादका खण्डन किया है इत्यादि। परन्तु हमारे विचारसे तो 'स्त्रियाम्' सूत्रके भाष्यको देखनेसे 'गन्धर्वनगर' 'मृगतृष्णिका' आदिके दृष्टान्तसे अनिर्वचनीयतावाद ही स्फुटतया प्रतीत होता है, भाष्यमें 'अनिर्वचनीयतावाद' का खण्डन नहीं है, विस्तृत विचार होनेके कारण वहाँका भाष्य उद्धृत नहीं किया, अतः 'छाया' कारकी उक्ति सङ्गत प्रतीत नहीं होती।

अस्तु, अन्य बहुत-से वैयाकरणोंकी सम्मतिसे भी यह विषय पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाता है। बहुत-से प्रामाणिक आप्त विद्वानोंकी सम्मतिके सम्मुख एककी सम्मति उपेक्षणीय होती है। 'बहूनामनुग्रहो न्याय्यः' इस न्यायके अनुसार विद्वानोंका बहुमत एक महत्त्वकी वस्तु है।

ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः ।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्वे प्रौढमनोरमाम् ॥

(मनोरमाका मङ्गलाचरण)

इस श्लोकमें परब्रह्मका स्मरण करके ग्रन्थारम्भ बतलाया गया है।

'परं सर्वजगदुपादानम्' 'कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भव्यावृत्तय इदम्' । (मनोरमाकी सुप्रसिद्ध व्याख्या 'शब्दरत्न')

इस मङ्गलश्लोकमें 'परम्' यह विशेषण कार्यब्रह्म जो हिरण्यगर्भ है उसकी व्यावृत्तिके लिये दिया गया है, यह शब्दरत्नका भाव है।

ऐसा ब्रह्म वेदान्तमें ही सुप्रसिद्ध है। वस्तुतः 'ब्रह्म' यह पद व्यापारियोंके ट्रेडमार्ककी भाँति वेदान्तियोंका ही रजिस्टर्ड है, ऐसा कहनेमें 'ब्रह्मेति वेदान्तिनः' यह प्रसिद्धि भी अनुकूल है। 'द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः' यह उक्ति वेदान्ती अपने 'ब्रह्म' पर भी लगा सकते हैं। अतः जो उनके सिद्धान्तको ससम्मान स्वीकार करेगा उसे हम वेदान्तभक्त या वेदान्ती कहें तो अनुचित न होगा।

नत्वा साम्बं शिवं ब्रह्म नागेशः कुरुते सुधीः ।
बालानां सुखबोधाय परिभाषेन्दुशेखरम् ॥

इस परिभाषेन्दुशेखरके मङ्गलश्लोकमें 'साम्बं शिवं ब्रह्म[1]' कहनेसे विशिष्ट या शुद्ध ब्रह्मका निर्देश होता है। वस्तुतः ब्रह्म मायारहित है परन्तु अम्बा—मायाके सम्बन्धसे नाना कार्य करता है। यहाँ भी वेदान्तसिद्धान्तसिद्ध ब्रह्मको प्रणाम कर 'नागेश' अपनेको 'वेदान्ती' होनेकी घोषणा कर रहा है, इसमें सगुण-निर्गुण उभयविध ब्रह्मको बतलाया गया है। भैरवी, भूति, जटाजूट, विजया आदि अनेक प्राचीन-नवीन टीकाकारोंने इस श्लोकको वेदान्तसिद्धान्तानुसरण करके सगुण आदि परक ही लगाया है।

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं च विकल्पितम् ।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥

(वाक्यपदीयसम्बन्धसमुद्देश)

द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप त्रिपुटीकी कल्पना वस्तुतः जहाँ नहीं होती उस आत्माको वेदान्ती सत्य कहते हैं।

अनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

(वाक्यपदीय १ । १)

---

[1] 'अम्बयति जीवयत्यम्बा उत्पादनशक्तिः। शेतेऽस्मिन् जगदिति शिवः संहारशक्तिः। बृंहयति पालयति—इति ब्रह्म पालनशक्तिमत्' इत्यादि अनेक अर्थ किये जाते हैं। (भूतिटीका)।

जन्मनाशरहित शब्दरूप विकारशून्य जो ब्रह्म है वही अर्थरूपसे विवर्तित होता है, परिणत नहीं । उसीसे इस नामरूपात्मक जगत्‌की उत्पत्ति होती है ।

इस उक्तिसे यह तो निःसन्देह सिद्ध होता है कि व्याकरणके मर्मज्ञ व्याकरण महाभाष्यके व्याख्यानरूप 'वाक्यपदीय' ग्रन्थके कर्ता महावैयाकरण भर्तृहरि विवर्तवादी कट्टर वेदान्ती थे । वाक्यपदीयके प्रसिद्ध टीकाकार पुण्यराज आदि भी वेदान्ती ही थे ।

'सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः'

(वाक्यपदीय)

'सकल पदार्थोंमें अनुगत सच्चिद्रूप सत्ता ही नित्य है, वही ब्रह्म है, उस सत्ताको ही त्व, तल्[१] आदि प्रत्यय कहते हैं ।' उक्त वाक्यपदीय हरिकारिकाकी व्याख्या 'पाणिनीयदर्शन' में माधवाचार्य ऐसी करते हैं—

सा च सत्तोदयव्ययवैधुर्यान्नित्या, सर्वस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्ततया देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदराहित्यात्सा सत्ता महानात्मेति व्यपदिश्यत इति कारिकार्थः ।

जन्म और नाशरहित होनेसे वह आत्मारूपा सत्ता नित्य है, सब संसार उसका ही विवर्त है, देशकालवस्तुकृत त्रिविध परिच्छेदशून्य होनेके कारण उस सत्ताको महान् आत्मा (ब्रह्म) कहते हैं ।

वाच्यात्मा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक्ततः ।
अपृथक्त्वेऽपि सम्बन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥

(वाक्यपदीयद्रव्यसमुद्देश)

इसकी व्याख्या पाणिनीयदर्शनमें इस प्रकार की है—

तत्तदुपाधिपरिकल्पितभेदबहुलतया व्यवहारस्याविद्यामात्रकल्पितत्वेन प्रतिनियताकारोपाधीयमानरूपभेदं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दविषयः । अभेदे च पारमार्थिके संवृतिवशाद् व्यवहारदशायां स्वप्नावस्थावदुच्चावचः प्रपञ्चो विवर्तत इति कारिकार्थः ।

'वह ब्रह्मसत्ता सब शब्दोंका वाच्य अर्थ है, उसके वाचक स्फोटरूप शब्दसे वह पृथक् नहीं है, वाच्य-वाचकका परमार्थतः अभेद होनेपर भी उसका सम्बन्ध व्यवहारदशामें अविद्यावश भासता है, भेदप्रतीति कल्पनाबलसे मालूम पड़ती है ।

'वैयाकरणभूषण' में यह विषय शङ्का और उत्तररूपसे ऐसे लिखा है—वेदान्तदर्शनमें सत्ताजातिको भी अनित्य माना है, तब वह ब्रह्मका लक्षण कैसे हो सकती है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहा कि वह धर्मविशेष (सत्ता) अविद्या है, या आविद्यक है, अर्थात् वह धर्मधर्मिभाव काल्पनिक है, वह तो केवल अखण्ड सत्यस्वरूप है, उस ही सत्यको स्पष्ट करते हैं—

इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।
ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥

(भूषण ७४ कारिका—स्फोटनिरूपण)

यह 'भूषण' की अन्तिम कारिका है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिसिद्धाद्द्वयी सृष्टिः । उक्तरूपस्येव नाम्नोऽपि तदेव तत्त्वम् । प्रक्रियांशस्त्वविद्याविजृम्भणमात्रम् ।

इस प्रकार निष्कृष्ट मायाकलङ्करहित जिस शब्दतत्त्वको अक्षर ब्रह्म कहते हैं, उस पूर्ण ब्रह्मको नमस्कार हो । नामरूपसे व्यक्तिकरण होनेसे दो प्रकारकी सृष्टि है, नामात्मक सृष्टिकी तरह रूपात्मक जगत्‌का भी कारण ब्रह्म ही है । सब जगत्‌की उत्पत्ति आदि प्रक्रिया अविद्याका विलासमात्र है । वाक्यपदीयमें स्पष्ट कहा है—

'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते'

नानाविध प्रक्रियाओंसे शास्त्रोंमें अविद्याका ही वर्णन किया जाता है ।

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'

(वाक्यपदीय)

कल्पित असत्य मार्गसे ही शनैः-शनैः विवेक करते हुए पञ्चकोशादिसे आत्माके विवेकके सदृश अग्रसर होनेसे सत्य वस्तुकी प्राप्ति होती है । वाक्यपदीय ग्रन्थ तो वेदान्तसिद्धान्तसे परिपूर्ण है । इस प्रबन्धसे यह स्पष्ट हो गया है कि वैयाकरण वेदान्तसिद्धान्तको सादर स्वीकार करते हैं, यहाँ तो संक्षेपसे ही कहा गया है, विशेष जिज्ञासु आकर ग्रन्थोंको देखें । वैयाकरण विवर्तवाद मानते हैं, विवर्तवाद वेदान्तियोंका है यह तो सुप्रसिद्ध ही है ।

संक्षेपशारीरकमें कहा है—

आरम्भवादः कणभक्षपक्षः
संघातवादस्तु भदन्तपक्षः ।
सांख्यादिपक्षः परिणामवादो
वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः ॥

(२ । ३)

---

१. 'तस्य भावस्त्वतलौ' (अष्टाध्यायीसूत्र ५ । १ । ११९)

आरम्भवाद नैयायिक-वैशेषिकोंका, परमाणुपुञ्जवाद बौद्धोंका, सांख्ययोगका परिणामवाद, और वेदान्तका विवर्तवाद है।' आलङ्कारिक विद्वान् भी वेदान्तभक्त हैं—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
(साहित्यदर्पण ३ । २)

रजोगुण तमोगुणसे अनभिभूत सत्त्वगुणके उद्रेकसे अखण्ड स्वयंप्रकाश आनन्दज्ञानरूप दृश्यवर्गीय सम्बन्धशून्य ब्रह्मरूप ही रस है। पण्डितराज जगन्नाथ भी 'रसगङ्गाधर' में कहते हैं—

भग्नावरणा चिदेव रसः । (रसप्रकरण)

अज्ञानरूप आवरणसे रहित चेतन (ब्रह्म) ही रस है।

श्रुति भी इस पक्षका समर्थन करती है—

'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'।
(तैत्ति० २ । ७)

वह परमात्मा ही रसरूप है, इस रसको प्राप्त करनेसे आनन्दित होता है।

मीमांसकशिरोमणि कुमारिल भट्ट भी अपने 'श्लोकवार्तिक' में वेदान्तपर असीम श्रद्धा और गौरव प्रदर्शित करते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु मीमांसकोंके असाध्य कार्यको पूर्ण करनेकी क्षमताका प्रमाणपत्र (सार्टिफिकेट) वेदान्तहीको देते हैं—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु-
रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥
(श्लोकवार्तिक १४८ आत्मवाद)

'इस प्रकार मीमांसा दर्शनके भाष्यकार शबर स्वामीने युक्तियोंसे नास्तिकमतका निराकरण (खण्डन) करके आत्माके अस्तित्वको सिद्ध कर दिया है, परन्तु इसकी दृढ़ता वेदान्त-विचारसे ही होगी।'

'श्लोकवार्तिक' के सुप्रसिद्ध टीकाकार 'शास्त्रदीपिका' के निर्माता 'पार्थसारथिमिश्र' उक्त वार्तिककी 'न्यायरत्नाकर' नामक टीकामें ऐसी व्याख्या करते हैं—

ननु प्रतिपादितोऽप्यात्मनः शरीरादिविवेको न दृढरूपेण हृदयेऽवतिष्ठते, अहं स्थूलोऽहं गच्छामीति शरीर एव बलादहंमानो भवति, तदत्र कोऽभ्युपायो येनाभिप्रेतविविक्तात्मबोधो निश्चलो दृढो भवति, अत आह—इत्याह इति । नित्यात्मसत्तामात्रेण वेदप्रामाण्ये सिद्धे तन्मात्रमिह प्रतिपादितम् । दार्ढ्यार्थिभिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवणमनननिदिध्यासनादिषु यतितव्यमिति ।

'शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न आत्माका प्रतिपादन करनेपर भी आत्मनिश्चय हृदयमें दृढरूपसे स्थित नहीं होता, बलात् शरीर आदिमें अहं-मम अभिमान हो जाता है, इसलिये कौन उपाय करना चाहिये, जिससे उक्त आत्मज्ञान निश्चल हो सके ? इस प्रश्नके उत्तरमें वार्तिककार कहते हैं कि 'इत्याह नास्तिक्येति'। हम मीमांसकोंका कर्तव्यपालन शरीरादिसे आत्माको पृथक् सिद्ध करनेमात्रसे ही हो गया, इससे आगेका विचार अनधिकारचेष्टा होगी, अतः उक्त आत्मबोधकी दृढ़ता चाहते हो तो वेदान्तके ही श्रवण-मनननिदिध्यासनादिके विषयमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् आत्मज्ञानकी दृढ़ता केवल वेदान्तसे ही होती है।

जो मीमांसक वेदकी कठिन-कठिन समस्याओंको और ग्रन्थियोंको हल करनेमें विश्वविख्यात हैं, जिन्होंने अपनी प्रखर वाग्धाराके प्रवाहसे नास्तिकोंको बहाकर वैदिक धर्मकी नौकाको डूबनेसे बचा लिया था, जिनके सम्बन्धमें अब भी हमारे मानसभवनमें—

'मा विषीद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले'

यह उत्साहप्रदायिनी सूक्ति 'को वेदानुद्धरिष्यति' इसके उत्तररूपमें कही गयी वर्तमान है, वही कुमारिल भट्ट वेदान्तको इतना महत्त्व देते हैं। वस्तुतः यहाँ वार्तिककार तथा उसके टीकाकारने अपनी सत्यप्रियताको बड़ी उदारतासे प्रदर्शित कर दिया है, 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' होना ही चाहिये। इससे बढ़कर वेदान्तके प्रति मीमांसाका और प्रेम क्या हो सकता है ? यह वेदान्त-श्रद्धाका अपूर्व आदर्श है।

और देखिये—

प्रभाकरभट्टयोस्तु वेदान्तदर्शने विद्वेषाभाव इत्याह नास्तिक्य (श्लो० वा०) इत्यादिकारिकया वेदान्तदर्शनपुरस्कारात् ।
(सिद्धान्तविन्दुकी गौड़ ब्रह्मानन्दप्रणीत रत्नावलीटीका)

प्रभाकर और भट्टका वेदान्तशास्त्रके प्रति लेशभर भी द्वेष नहीं है, बल्कि ये लोग 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुः' इस वार्तिकसे वेदान्तका गौरव स्पष्टरूपसे बतलाते हैं।

इसी प्रकार न्यायाचार्य उदयनाचार्यकी भी वेदान्तके प्रति कितनी अपार श्रद्धा है, यह उनके वाक्योंसे ही समझिये, जो कि 'अद्वैतसिद्धि' की प्रसिद्ध 'लघुचन्द्रिका' (गौड ब्रह्मानन्दी) नामक टीकामें उद्धृत किये गये हैं—

'अद्वैतमतस्य सर्वमतश्रेष्ठतया बौद्धाधिकार एवोक्तत्वात्'

'न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति-
स्तद्बाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः ।
नो चेदनित्यमिदमीदृशमेव विश्वं, तथ्यं
तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः' इति ।

'विज्ञानवादी बौद्धमतके खण्डनप्रसङ्गमें 'बौद्धाधिकार—आत्मतत्त्वविवेक' ग्रन्थमें कहा है कि—घटादि बाह्य पदार्थके सद्भावस्वीकारके बिना ज्ञानकी स्थिति नहीं देखी गयी है। घटादि बाह्य पदार्थोंके बाधक अद्वैत ब्रह्मरूप अधिष्ठानके साक्षात्कार होनेपर तो बौद्ध, नैयायिक, साङ्ख्यादि सबकी अपेक्षासे निरतिशय बलशाली वेदान्तके मतमें जयश्री है, अर्थात् वेदान्त ही विजयी है। चित्तशोधक निष्काम कर्मके अनुष्ठान न करनेसे श्रवणादि करनेपर भी साक्षात्कार न होनेसे असत्य संसारको आपातदृष्टिसे नैयायिक सत्य कह सकता है। बौद्धसिद्धान्तके प्रवेशका यहाँ अवकाश कहाँ ?

'किञ्चोदयनाचार्याणां वेदान्तदर्शन एव महती श्रद्धा, यतो बौद्धाधिकार एव सर्वदर्शनानि निराकृत्य वेदान्तदर्शनमेव पुरस्कृतं तैः' 'किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तयेति'

(गौड ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धिकी टीका मिथ्यात्वामिथ्यात्वनिरुक्ति)

'अद्वैतमत ही सब मतोंमें श्रेष्ठ है' ऐसा उदयनाचार्य ने 'बौद्धाधिकार' ग्रन्थमें कहा है, और उदयनाचार्यकी 'वेदान्तदर्शन' में ही परम श्रद्धा है, क्योंकि उन्होंने 'बौद्धाधिकार' में सब दर्शनोंका खण्डन करके अन्तमें वेदान्तमतमें ही अपनी श्रद्धा और सन्तोष एवं गौरव खुले शब्दोंमें प्रकट किये हैं। अदरक बेचनेवाले बनियेको जहाजकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, अनधिकारी होनेसे। अर्थात् वेदान्ती बड़ा व्यापारी है, जिसका अनेक देशदेशान्तरोंमें व्यापक व्यापार है, नैयायिक गलियोंमें अदरक बेचनेवालेके समान है। विशुद्ध आत्मज्ञान-जैसे हीरे-मोतियोंका व्यापार वेदान्तीका है नैयायिक अपने द्रव्य गुणादिके गणनारूप अदरकका क्षुद्र व्यापारी है।

सुज्ञ पाठकगण स्वयं विचारें कि वेदान्तके लिये न्यायके प्रसिद्ध आचार्य उदयनाचार्यसे इससे अधिक और क्या गौरव प्रदर्शन किया जा सकता है।

'माया दुरुन्नीततः' 'दुर्बोधभयतोऽविद्या'

(न्यायकुसुमाञ्जलि १ । २०)

जिस परमेश्वरकी शक्ति दुर्विज्ञेय होनेसे 'माया' और तत्त्वज्ञानसे डरनेवाली होनेसे 'अविद्या' कहलाती है। यद्यपि कुसुमाञ्जलिके टीकाकार 'वर्धमानोपाध्याय' ने 'माया' 'अविद्या' का अर्थ अदृष्ट किया है, परन्तु यह अर्थ क्लिष्टकल्पनाविशिष्ट है, एवं वेदविरुद्ध भी है, और यह केवल मताभिनिवेशमात्र है, क्योंकि—

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात्संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेऽपि ॥

(कुसुमाञ्जलि २ । ४)

'जो आकाशादि द्रव्यसमुदायको बना-बनाकर संहार करता हुआ अपनी मायाके वशसे संहार करके इन्द्रजालके सदृश जगत्को बनाता हुआ क्रीडा करता है, उस विश्वसनीय संसारके कारण प्रतिबन्धरहित इच्छाप्रभाववाले शिवको मैं अन्तके समयमें भी प्रणाम करूँ। इस श्लोकमें 'इन्द्रजाल' पद 'माया' पद वेदान्तियोंके सिद्धान्त माननेसे ही ठीक लग सकते हैं, अदृष्ट अर्थ माननेसे नहीं। यह विवेचन पाठक स्वयं विचारकर करें। जब वही उदयनाचार्य 'आत्मतत्त्वविवेकादि' ग्रन्थोंमें 'वेदान्तमत' के सम्मुख नतमस्तक होकर वेदान्तसिद्धान्त स्वीकृत कर चुके हैं, तब समझमें नहीं आता कि टीकाकार क्यों 'माया' को अदृष्टकी ओर घसीटते हैं, अतः केवल आग्रह ही है।'

नन्दिकेश्वरकाशिकामें भी 'अइउण्' आदि व्याकरणके सूत्रोंका वेदान्तानुसारी अर्थ किया है—

'अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु' इत्यादि ।

यहाँ स्पष्टरूपसे ब्रह्मपरक अर्थ प्रतीत हो रहा है, इसपर उपमन्युकृत टीका है, जो कि पूर्ण वेदान्तानुसारी है। वेदान्तकी महत्ताके पोषक अन्य भी बहुतसे प्रमाण मिलते हैं; परन्तु लेखकलेवरवृद्धिभयसे उन सबको यहाँ उद्धृत न करके 'स्थालीपुलाकन्याय' से कतिपय प्रमाण ही प्रदर्शित किये हैं। आशा है पाठकगण इससे अवश्य लाभ उठावेंगे।

धीधना ! बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छत ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणौ लब्धमब्धौ प्रयच्छत ॥

(खण्डनखण्डखाद्य १ । २४)

'हे अपनेको बुद्धिमान् कहने एवं कहलानेवालो ! यदि दुर्लभ अमूल्य चिन्तामणि समुद्रमें फेंकना पसंद करते हो तो इस अद्वैतबुद्धिका त्याग करना। अर्थात् अद्वैतबुद्धिका त्याग करना मानो हाथमें आयी हुई चिन्तामणिको अगाध समुद्रमें फेंकना है।' इस खण्डन ग्रन्थकी उक्तिपर पाठकोंका ध्यान आकृष्टकर इस लेखको समाप्त करता हूँ, पुनः कभी इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायगा। इति ।

श्रीसुग्रीवजीका महत्त्व

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

किष्किन्धाके भक्तराज श्रीसुग्रीवजीका प्रसंग रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डके आरम्भसे ही प्रारम्भ होता है जब उन्हें सर्वप्रथम श्रीराम और श्रीलक्ष्मणके दर्शन प्राप्त हुए हैं । यथा—

आगे चले बहुरि रघुराया । ऋष्यमूक परवत नियराया ॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवाँ । आवत देखि अतुल बलसीवाँ ॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना । पुरुष जुगल बलरूप निधाना ॥
धरि बटुरूप देखु तैं जाई । कहेसु जानि जिय सैन बुझाई ॥
पठवा बालि होहिं मन मैला । भागौं तुरत तजौं यह सैला ॥

सुग्रीवजीके आदेशानुसार श्रीहनुमान्‌जी ब्राह्मणका रूप धारणकर श्रीरामजी और श्रीलखनलालजीके समीप गये और उन्हें क्षत्रियके रूपमें देखकर भी उन्होंने इसलिये मस्तक नवाकर पूछा कि उनके अनुमानमें वे दोनों तीन वन्दनीयोंमेंसे ही कोई थे, जैसा कि उनके प्रश्नसे स्पष्ट होता है । वे पूछते हैं कि आप दोनों (१) ब्रह्मा और विष्णु हैं या शिव और विष्णु हैं, अथवा (२) नर-नारायण ही तो नहीं हैं, या (३) समस्त ब्रह्माण्डके नायक, जगत्‌के परम कारणने ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुज-अवतार धारण किया है ? त्रिदेव, नर-नारायण तथा अखिलभुवनपति तीनों ही नमस्कारके योग्य हैं । श्रीरघुनाथजीने जब अपना नाम, धाम, रूप, लीला चारों बातें बतला दीं—'कौशलेश' शब्दसे धाम, 'दशरथके जाये' शब्दसे रूप, 'हम पितु बचन मानि बन आये' वचनसे लीला तथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई' कहकर नाम बतलाया—तब 'प्रभु पहिचानि * परे गहि चरना'—प्रभुको पहचानकर उन्होंने पैर पकड़ लिये और सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌को अपने अनुकूल देखकर सुग्रीवपर भी कृपा करनेके लिये प्रार्थना की । फिर सुग्रीवकी 'कहेसु जानि जिय सैन बुझाई' आज्ञाके अनुसार उन्होंने 'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई'—दोनों भाइयोंको पीठपर चढ़ाकर सुग्रीवको यह इशारा किया कि ये ऐसे अनुकूल हैं कि मैं इन्हें कन्धेपर लादकर ला रहा हूँ । इस प्रकार सुग्रीवके पास प्रभुको पधराकर मैत्री करायी गयी—

जब सुग्रीव राम कहँ देखा । अतिसय जनम धन्य करि लेखा ॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा । भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा ॥
कपि कर मन बिचार एहि रीती । करिहैं बिधि मोसन ये प्रीती ॥

तब हनुमन्त उभय दिसि की सब कथा सुनाइ ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ ॥

तत्पश्चात् श्रीलखनलालने श्रीरघुनाथजीका सम्पूर्ण चरित (सीता-हरण आदि) सुग्रीवको सुनाया । तब सुग्रीवने कहा—

कह सुग्रीव नयन भरि बारी । मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी ॥
मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा । बैठि रहेउँ मैं करत बिचारा ॥
गगनपंथ देखी मैं जाता । परबस परी बहुत बिलपाता ॥
राम राम ! हा राम ! पुकारी । हमहिं देखि दीन्हें पट डारी ॥
माँगा राम तुरत तें दीन्हा । पट उर लाय सोच अति कीन्हा ॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥
सब प्रकार करिहौं सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥

सखा बचन सुनि हरषे, कृपासिंधु बलसीवँ ।
कारन कवन बसहु बन, मोंहि कहहु सुग्रीवँ ॥

उपर्युक्त बातोंसे सुग्रीवकी अपनी सेवामें परायणता और तत्परता देखकर कृपासिन्धु, बलकी सीमा, भगवान् श्रीरामजीने प्रसन्न होकर उनसे भी यह प्रश्न किया

---

* श्रीहनुमान्‌जी साक्षात् शिवके अवतार हैं (रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान–दोहावली); अतः यह जो आकाशवाणी हुई थी कि 'तुमहिं लागि धरिहौं नरबेसा ॥ अंसन सहित मनुज अवतारा । लैहौं दिनकर बंस उदारा ॥ नारद बचन सत्य सब करिहौं ।' इत्यादि, उससे उन्होंने पहचान लिया ।

कि हे सुग्रीव ! आप किस कारणसे इस वनमें निवास कर रहे हैं, मुझसे कहिये ।

श्रीसुग्रीवजीने निवेदन किया कि हे नाथ ! बालि और मैं, हम दो भाई हैं। एक दिन आधीरातको मायावी नामक असुरके ललकारनेपर महाबली बालिने उसका पीछा किया । मैं भी भाईके संग हो लिया । वह दैत्य भागकर एक गिरिगुहामें घुस गया । तब बालिने मुझे आज्ञा दी कि मैं गुहामें जा रहा हूँ, तुम एक पखवाड़ेतक मेरी राह देखना । यदि पखवाड़ेके भीतर मैं विजय प्राप्त करके न आ सका तो समझ लेना कि बालि ही मारा गया । मैं भाईकी प्रीतिवश एक महीनेतक गुफाके द्वारपर उपस्थित रहा, अन्तमें क्या देखता हूँ कि खूनकी एक बड़ी धारा उस गुफासे निकल रही है । तब मैंने अनुमान किया कि बालिका ही बध हुआ है, अब मुझे भी वह दैत्य आकर मारेगा । ऐसा सोचकर गुहाका द्वार एक शिलासे बंद करके मैं वापस भाग आया । मन्त्रियोंने गद्दी सूनी देखकर मुझे ही बरबस राज्य दे दिया । पीछे बालि उसका बध करके घर आया और मुझे गद्दीपर बैठा हुआ देखकर उसने मनमें बड़ा भेद माना । उसने सोचा, यदि सुग्रीवने मुझे मरा ही समझा तो भी गद्दी मेरे पुत्र अंगदको ही मिलनी चाहिये थी, यह स्वयं क्यों राजा बन गया ? ऐसा सोचकर उसने मुझे वैरीकी भाँति मारा और मेरी स्त्री तथा मेरा सब कुछ हरण करके मुझे निकाल दिया । हे कृपालु रघुवीर ! मैं उसके भयसे भुवनभरमें भागता फिरा, परन्तु कहीं ठौर नहीं मिली । यहाँ वह शापके कारण, नहीं आता, फिर भी मैं भयभीत ही रहा करता हूँ ।

सेवक सुग्रीवका दुःख सुनकर दीनदयालु श्रीराघवजीकी दोनों भुजाएँ फड़क उठीं और वे बोले—

सुन सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागतहु गये न उबरिहि प्रान ॥

हे सखा ! अब तुम मेरे बलपर सोच छोड़ दो । इसपर सुग्रीवजीने कहा कि हे नाथ ! बालि बड़ा रणधीर और महाबली है । देखिये, यह दुन्दुभि दैत्यकी हड्डी है, जिसे बालिने मारा था । यह किसीसे हिल भी नहीं सकती । और ये सर्पाकार सात तालके वृक्ष हैं । जो उस अस्थिको हटा देगा और इन सातों वृक्षोंका भेदन करेगा, वही उस बालिपर विजय प्राप्त कर सकता है ।

तब श्रीरघुनाथजीने पैरके अंगूठेसे उठाकर उस अस्थिको इस तरह फेंका कि वह दस योजन (४० कोस) पर जाकर गिरी—

'पादांगुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम्'

(मूलरामायण)

और फिर एक ही बाणसे सातों तालवृक्षोंको गिरा दिया । इस तरह श्रीप्रभुका अमित बल देखकर सुग्रीवने पहचान लिया कि ये साक्षात् ईश्वरावतार हैं और बारंबार चरणोंमें सिर नवाया । उन्हें अब यह पूरा विश्वास हो गया कि यह अवश्य बालिका बध करेंगे । यथा—

सखा सोच त्यागहु बल मोरे । सब बिधि घटब काज मैं तोरे ॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । बालि महाबल अति रनधीरा ॥
दुन्दुभि अस्थि ताल देखराये । बिनु प्रयास रघुबीर ढहाये ॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधब इन्ह भइ परतीती ॥
बार-बार नावइ पद सीसा । प्रभुहि जानि मन हर्ष कपीसा ॥

यहाँपर यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्रीग्रन्थकारजीने 'बल', 'महाबल' और 'अमित बल' शब्दोंके द्वारा कितनी उत्तरोत्तर अधिकता दिखायी है । जब श्रीमुखसे केवल 'बल' शब्द निकला—'सखा सोच त्यागहु बल मोरे', तब सुग्रीवने कहा कि बलके भरोसे शोचका त्याग कैसे करूँ, बालि तो 'महाबल अति रनधीरा' है । परन्तु जब उन्होंने बालिके 'महाबल'से

भी कोटि गुना 'अमित बल' प्रत्यक्ष देखा तब उन्हें विश्वास हुआ और उनकी प्रीति बढ़ी—

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥
सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥
ये सब राम भगतिके बाधक। कहँहि संत तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र दुख सुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥
अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिनराती

जब सुग्रीवको यह बोध हो गया कि श्रीरघुनाथजी साक्षात् ईश्वरावतार हैं तब उनके हर्षका पारावार न रहा। इस भावसे बारंबार चरणोंमें गिरनेसे तथा श्रीविग्रहके दर्शन करनेसे उनके हृदयके पट खुल गये। श्रीमुखका ही वचन है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

उनके अन्दर पारमार्थिक ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब वे बोले कि हे नाथ! आपकी अहैतुकी कृपासे अब मेरा मन एकाग्र (शान्त) हो गया। सुख, धनधाम, पुत्र-कलत्र और मान-बड़ाई इन चारोंको छोड़कर मैं अब आपका ही भजन करूँगा, बालिने सुग्रीवकी इन चारों चीजको छीन लिया था—(१) सुखका हरण कर लिया था, वह दुखी ('मारेसि अति भारी' के कारण पीड़ित) होकर जंगलमें पड़े थे; (२) सम्पत्ति छीन ली थी (हरि लीन्हेसि सर्वस); (३) परिवार भी ले लिया था (हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी) और (४) बड़ाई भी छीन ली थी, संसारभरमें मारे-मारे फिर रहे थे, भयके कारण छिपकर पर्वतपर बैठे थे—

('सकल भुवन मैं फिरेउ बिहाला।
इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मनमाहीं॥)

अब इन चारोंका त्याग सुग्रीव स्वयं कर रहे हैं। जिन चार चीजोंकी चाहके कारण अबतक वह रातदिन शोकान्वित रहते थे, उन्हींको अब वे अपने मार्गका बाधक मान रहे हैं। फिर सुग्रीव यह प्रार्थना कर रहे हैं हे नाथ! आपके पादानुरागी सन्तजन इन चारोंको आपकी भक्तिमें बाधक मानते हैं; संसारमें जो शत्रु-मित्र, सुख-दुःख भास रहा है, यह सब मायाकृत है, इसमें वास्तविक परमार्थ कुछ भी नहीं है। बालिको तो मैं अब अपना परम हित समझ रहा हूँ, क्योंकि उसीके कारण समस्त दुःखोंके निवारक श्रीराम (आप) मुझे प्राप्त हुए हैं। अब तो यदि स्वप्नमें भी मैं यह देखूँ कि मैं बालिसे लड़ रहा हूँ तो जागते ही मेरा मन सकुच जायगा कि ऐसे परम कल्याणकारी हितूसे लड़ाईका स्वप्न क्यों देखा? अतएव हे प्रभु! अब ऐसी ही कृपा हो कि मैं सब कुछ छोड़कर दिनरात केवल आपके भजनमें ही लग जाऊँ।

श्रीसुग्रीवजीके सम्बन्धका यह प्रसंग बड़े महत्त्वका है। उनका यह कथन ऊपरी मनसे नहीं था, बल्कि हृदयका दृढ़ निश्चय था, उनके हृदयका यह वास्तविक परिवर्तन था, जिसकी सत्यता श्रीमुखवाक्योंसे ही प्रमाणित हो रही है। श्रीसुग्रीवजीके उत्तरमें श्रीमुखवचन है—'हे सखा! आप सत्य कह रहे हैं। ये वचन वैराग्यपूर्ण हैं।' यथा—

सुनि बिराग संयुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

श्रीसुग्रीवजीकी इसी धारणाकी यह महिमा है कि उनकी तुलना श्रीभरतलालजीसे की गयी है—

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई॥

—तथा इसी प्रतिज्ञाका यह असर है कि—

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली
सोइ करतूति बिभीषण केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥

—पीछे बालिकी ही भाँति पर-पत्नी ताराके साथ

सुग्रीवद्वारा 'कुचालि' होनेका श्रीरामजीने स्वप्नमें भी खयाल नहीं किया, बल्कि भरत-सरीखे निष्कलङ्कको भेंटनेमें उन्हें सम्मान प्रदान किया और श्रीअयोध्याकी रामराज्यकी विमल राजसभामें उन सुग्रीवकी निज श्रीमुखसे प्रशंसा की। इस सारी महत्ताका कारण वह सच्ची शरणागति (प्रपत्ति) ही है, जिसे निष्कपट होकर, सच्चे हृदयसे, दृढ़ भावसे सुग्रीवजीने धारण किया था। श्रीभगवान्‌की तो प्रतिज्ञा ही है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम॥
(वाल्मीकि रा०)

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसीम निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये॥

कोई कैसा भी हो, सब विधि हीन हो, यदि वह सकृत (एक बार) किसी क्षणमें श्रीरघुनाथजीकी सच्ची शरणागति ले ले तो उसके बाद वह निर्भय हो जाता है, फिर तो—

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हियेकी॥

—श्रीसुग्रीवजीकी ही हालत देखें। ऊपर सुग्रीवजीका यह कथन आया है कि—

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहिं राज बरियाईं॥

और यह भी कहा गया है कि इसी अनुचित कार्यको देखकर बालि जल मरा कि मेरे बेटेका हक़ इसने छीन लिया है। यदि सुग्रीवजी अपनी धारणामें दृढ़ होते तो मन्त्रियोंके लाख जोर लगानेपर भी दूसरेका हक़ कदापि स्वीकार न करते। श्रीभरतजीसे अयोध्याके राज्यके लिये क्या लोगोंने कम आग्रह किया था ? दूसरे, उन्हें तो श्रीपिताजीने राज्य करनेका वरदान ही दिया था। परन्तु मन्त्रियों, माताओं तथा गुरुओंतकका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया। उन्हें किसीने बरियाईं राज्यपर क्यों नहीं बैठा दिया ? पीछे जब सुग्रीवजीको राज्यासनसे उतारकर बालिने उनका सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई इत्यादि सब छीन लिया, तब उनकी बड़ी दुर्दशा थी, 'तन बहु ब्रन चिन्ता जर छाती'—शरीर बालिके मारनेसे घावोंसे भर रहा था और मानसिक चिन्तासे छाती जल रही थी। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रपत्तिसे पूर्व वे अज्ञानावस्थामें पड़े थे और उनका मन अपने वशमें नहीं था। उसके बादकी अवस्थाका भी प्रमाण स्वयं उनके ही वचनोंसे मिलता है। श्रीरघुनाथजीने वर्षा गत हो जानेपर सुग्रीवकी ओरसे ढिलाई देखकर उन्हें भयभीत करके सुधारनेके लिये श्रीप्रवर्षण पर्वतपर क्रोध-प्रदर्शनकी लीला की थी। यथा—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतउँ मूढ़ कहँ काली॥
जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥
जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥
लछिमन क्रोधवन्त प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥

तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुनासींव।
भय दिखाइ लेइ आवहु, तात सखा सुग्रीवँ॥

ठीक उसी समय इधर किष्किन्धामें श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें स्फुरणा हुई कि श्रीरामकार्यको सुग्रीवजीने बिसार दिया; इसलिये उन्होंने सुग्रीवजीके पास जाकर नमस्कार किया और चारों विधि (साम, दाम, भय, भेद दिखाकर) समझाया; कहा, साम और दाम दोनों श्रीरामजी आपके साथ निभा चुके हैं अर्थात् उन्होंने मित्र बनाया है और राज्य दिला दिया है। अब भगवान्‌की सेवासे विमुख होनेपर भय (दण्ड) और भेदका भी बर्ताव करना उन्हींके अधीन है। दण्ड (भय) के लिये वही बाण मौजूद है, जिससे बालिका वध हुआ है और भेदके लिये अङ्गद मौजूद ही हैं। ऐसी सिखावन सुनकर सुग्रीवको बड़ा भय हुआ। उन्होंने कहा—विषयने मेरे ज्ञानको हर लिया—'विषय मोर हर लीन्हेउ ज्ञाना।' हे हनुमान्‌जी !

अब शीघ्र ही दूतोंको भेजकर मेरी सारी वानरी सेनाको पन्द्रह दिनके भीतर एकत्र कराओ और कड़ी आज्ञा दो कि जो हाजिर नहीं होगा उसका बध मेरे हाथों किया जायगा । श्रीहनुमान्‌जीने तुरन्त वैसा ही किया । इतनेमें ही श्रीलखनलालजी क्रोध दरसाते हुए किष्किन्धा आ पहुँचे और उन्होंने धनुष चढ़ाकर कहा कि मैं अभी किष्किन्धाको भस्म किये डालता हूँ । यथा—

इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा । रामकाज सुग्रीव बिसारा ॥
निकट जाइ चरनन्हि सिर नावा ।
चारिहुँ बिधि तेहि कहि समुझावा ॥
सुनि सुग्रीव परम भय माना । बिषय मोर हर लीन्हेउ ज्ञाना ॥

× × ×

तेहि अवसर लछिमन तहँ आये । क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाये ॥
धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार ।
ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार ॥

श्रीलक्ष्मणजीके क्रोधकी बात सुनकर सुग्रीव भयभीत हो गये और उन्होंने ताराको हनुमान्‌जीके साथ भेजकर उनका क्रोध शान्त कराया तथा अन्तमें स्वयं भी चरणोंपर पड़कर अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी—

नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं । मुनि मन छोभ करइ छन माहीं ॥

इससे भी स्पष्ट है कि वह अपनी अज्ञता स्वीकार कर रहे हैं । पुनः जब अङ्गदादि कपियोंके साथ श्रीलखनलालको आगे करके सुग्रीव श्रीरघुनाथजीके समीप आये तो वहाँ भी उन्होंने यही बात कही—

चरन नाइ सिर कह कर जोरी । नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी ॥
अतिसय प्रबल देव तव माया । छूटै राम करहु जौं दाया ॥
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी । मैं पावँर पसु कपि अति कामी ॥
नारि नयन सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥
यह गुन साधन तें नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥
तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥

भक्त सुग्रीव श्रीरघुनाथजीसे हाथ जोड़कर चरणोंमें मस्तक नवाकर विनय करते हैं कि 'हे नाथ ! मेरा क्या वस है ? हे देव ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है । वह तभी छूट सकती है जब आप ही दया करके छुड़ा दें । हे स्वामी ! जब सुर, नर और मुनि लोग भी विषयके वशमें हैं तब मैं तुच्छ पशु वानर, जिनकी गणना अति कामियोंमें है, किस गिनतीमें हूँ । हे श्रीराघवजी ! जिसे कामिनियोंके कटाक्ष-शर न लगे हों अर्थात् जो कामसे अजित हो, क्रोधकी घोर अँधेरी निशामें जो न सोया हो अर्थात् क्रोधसे बचा हुआ हो और लोभरूपी फँसरीसे जिसका गला न बँधा हो अर्थात् लोभसे विमुक्त हो, जो कोई आपकी कृपाके बिना इन तीनों प्रबल शत्रुओंपर निज बलसे विजय प्राप्त कर चुका हो, वह मनुष्य आपके ही समान है । क्योंकि साधारण मनुष्योंके लिये यह सम्भव नहीं । यह योग्यता किसी मनुष्यके साधन (पुरुषार्थ) से नहीं प्राप्त होती; जब आपकी ही कृपा होती है तभी किसी-किसी कृपापात्रको यह गुण प्राप्त होता है । इस प्रकारकी विनती सुनकर श्रीरघुनाथजीने प्रसन्न होकर कहा कि तुम मुझे भरतके समान प्रिय हो ।

श्रीभरतजीके समान कहनेका रहस्य भी उस एक बार सच्ची शरणागति ले लेनेसे ही लक्षित हो रहा है जिस प्रकार श्रीभरतजी सब प्रकारसे निष्कलङ्क और निर्दोष होनेपर भी अपना ही दोष स्वीकार करते रहे हैं (यथा—'मैं सठ सदा सदोष', 'दोष सब जनहीं'—अवधकाण्ड), उसी प्रकार श्रीसुग्रीवजी यद्यपि अपनी ओरसे प्रतिज्ञापूर्वक सच्चा त्याग कर चुके थे—जैसे, 'सब परिहरि करिहौं सेवकाई', 'यह सब रामभक्तिके बाधक', 'सब तजि भजन करौं दिन राती' इत्यादि—तथा पीछे भगवान् श्रीरामजीकी आज्ञासे ही प्रवृत्त हुए थे । यथा—

जो तुम्ह कहेहु सत्य सब सोई । सखा बचन मम मृषा न होई ॥

तथा इसी कारण यह चौपाई भी वहीं दी हुई है कि—

नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥

—तथापि भक्तभूषण श्रीसुग्रीवके मुखसे कदापि यह उत्तर नहीं निकलता कि 'हे रघुनाथजी ! मैं तो सब प्रपञ्चों और विषयोंको त्याग चुका था, आपकी ही आज्ञासे मैं पुनः उसमें प्रवृत्त हुआ था, इसमें मेरा क्या अपराध है, बल्कि वह अपनेको ही सब अपराधोंका भाजन, विषयासक्त, कामी, अज्ञानी इत्यादि स्वीकार करते हैं। भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामजीने इस नम्रता, कार्पण्य और दैन्य भावको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें श्रीभरतजीका दरजा प्रदान किया। जिस भगवद्भक्तिके नाते श्रीसुग्रीवजीको यह महत्त्व प्राप्त हुआ, उस प्रपत्तिका वास्तवमें यही स्वरूप है कि—

गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू॥

उस शरणागतिका यही मूल बीज है कि अपनेमें कोई भी गुण और योग्यता भूलकर भी न माने और उपाय, उपेय सब कुछ अपने शरण्य भगवान्को ही जाने, सब प्रकारसे एकमात्र दयामय स्वामीपर ही दृढ़ भरोसा रक्खे। प्रपन्नजन अपनेको सदैव सदोष ही समझते हैं; उनकी दृष्टिमें यह जीव सदा ही दोषी है, प्रभुकी कृपाके बिना कदापि इसका उद्धार नहीं होता। श्रीसुग्रीवजी इस धारणामें आदर्श बन गये थे; भगवत्-कैंकर्य ही उनके विचारमें जगत्में सार वस्तु थी। उन्हें जब श्रीरघुनाथजीके ऐश्वर्यस्वरूपका पूर्ण बोध हुआ था, तभी उन्होंने यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया था। इस बातकी पुष्टि उनके उपर्युक्त वाक्योंसे होती है। उन्होंने अपनी इसी दृढ़ धारणाको श्रीसीताजीकी खोजमें भेजते हुए वानर-दलके सामने भी अपने उपदेशके रूपमें प्रकट किया है—

सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मति धीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूछेहु सब काहू ॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु॥
भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामी सर्व भाव छल त्यागी॥
तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनज्ञ सोई बड़ भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥

श्रीसुग्रीवजीका यह सिद्धान्त है कि देह धारण करनेका यही फल है कि सब कामोंको त्यागकर श्रीराम-भजन ही किया जाय। उनके मतसे वही सब प्रकारसे गुणज्ञ और वही बड़ा भाग्यशाली है जो श्रीरामजीके चरणोंका अनुरागी हो जाय। इसीलिये वे श्रीरामचन्द्रजीके कार्यको (सेवाको) मन, कर्म और वचन तीनोंसे तल्लीन होकर सँवारनेका उपदेश कर रहे हैं। उनकी शिक्षा है कि जहाँ जैसी नीतिकी आज्ञा है वहाँ वैसे ही कार्य करनेसे कल्याण होता है। जैसे, 'भानु पीठ सेइय', सूर्यका सेवन पीठकी ओर करना चाहिये, 'उर आगी', अग्निका उर (छाती) की ओर सेवन करना चाहिये, 'स्वामी सर्व भाव छल त्यागी', स्वामीका सब प्रकारसे छलका त्याग करके सेवन करना चाहिये तथा 'तजि माया सेइय परलोका' मायाका सर्वथा त्याग करके परलोकका सेवन करना चाहिये, तभी 'मिटहिं सकल भवसंभव सोका' समस्त संसारजन्य शोक मिट सकते हैं, ऐसी नीति है। (संतोंको नीति सदा प्रिय रहती है, 'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।') सुग्रीवजी भी भागवत हैं—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय, राग रिस जीति।
तुलसी संतनके मते, इहै भगतकी रीति ॥

यहाँ 'सेइय' शब्द कितना रहस्यपूर्ण है! सूर्यको जो पीठसे सेवन करता है (पीठपर धूप लेता है), उस सेवककी आँखोंको हानि नहीं पहुँचती और शारीरिक स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है; सूर्यको उससे कोई हानि-लाभ नहीं। इसी प्रकार जो आगका सेवन छातीसे करता है, वह अनजानमें (पीठकी

ओर) वस्त्रादि जलनेसे निर्भय रहता है और उसके ही शारीरिक स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है; अग्निको उससे कोई हानि-लाभ नहीं । जो मायाका सर्वथा त्याग करके परलोक (परमार्थ, मोक्षादि) का सेवन करता है, उसे ही मायारहित होनेसे परलोकका लाभ होता है; परलोकको उसके सेवन करनेसे कोई हानि-लाभ नहीं । इसी भाँति सुग्रीवका कहना है कि हे सुभटो ! आपलोगोंकी सेवा श्रीरघुनाथजीके, जो साक्षात् सर्वेश्वर हैं, लाभ या हानिसे सम्बन्ध नहीं रखती, उन पूर्णकामका कार्य तो स्वयंसिद्ध है, उन्हें सब प्रकारसे निश्छल होकर सेवन करनेमें आपलोगोंका ही परम लाभ है, फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले । शरीर धारण करनेको सफल कर लेनेका यह सुअवसर बड़े ही भाग्यसे प्राप्त हुआ है; अतः कृतार्थ हो जाना चाहिये । सूर्य, अग्नि तथा परलोककी ही भाँति श्रीरघुनाथजी भी हमारी-तुम्हारी सेवाके मुहताज नहीं हैं, हमें-तुम्हें अपनी गरज पूरी करनेका सुयोग है ।

इस प्रकार यथार्थ परमार्थमार्गका उपदेश देकर समस्त दलको श्रीरामभजनमें लगाकर उन्होंने सबका भवसागरसे उद्धार कर दिया, बल्कि यों कहें कि सुग्रीवजी अपनी वानरी सेनाके साथ संसारमात्रके उद्धारका उपाय बन गये हैं, जैसा कि लङ्काविजयके प्रसङ्गमें स्वयं श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है । वे कहते हैं—हे वानरो ! मुख्यतः तुम भागवतोंकी और गौणतः मेरी भी कीर्ति जो लोग प्रेमसे गावेंगे वे अपार भवसागरको बिना प्रयास ही पार कर जायँगे । यथा—

मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं ।
संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥

(लंका० दो० १०७)

संसारतारन और स्वयं तरनरूप, परम भागवत, शरणागतिके आदर्श, श्रीरामसखा महाराज सुग्रीवजीका महत्त्व कहाँतक कोई लिख सकता है, जिन्हें स्वयं श्रीपरमप्रभुजीने ही श्रीअयोध्यामें विमानपर लाकर पूजन किया और सम्मान प्रदान किया—'पूजे भवन अपने आनि ।' (विनयपत्रिका) ।

'भक्तराज सुग्रीवकी जय हो' ।

◆

स्वप्न

(रचयिता—पं० श्रीरामचन्द्रजी वैद्यशास्त्री 'राम')

रात सखी सुपनेमें देखे, जसुमतिसुत वृषभानु-लली री ।
वे दोउ आवत जमुनातटसों, मैं अपने घरसों निकली री ।
देखि रूप मोहित भई आली, सुध-बुध तनकी नाँह रही री ॥
मोर मुकुट मृगमदको टीको, कौस्तुभमणि बनमाल सजी री ।
दै गलबाँही बंसी बजावत, नूपुर-धुनि सुरताल भरी री ॥
जे ब्रजगोप देव भये सगरे, ब्रज जुवती सब देवबधू री ।
बेदबानिसों बिनय करत सब, उच्चारणकी रीति नई री ॥
माया ब्रह्म जोग जुत दीखे, मैं तनबिच इक जीव रही री ।
'राम' कूँ आस एक जदुबरकी, इतनेमें खुल आँखि गई री ॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[भाग १० पृष्ठ १५४६ से आगे]

[मणि १०]

जनक–हे भगवन् ! वन्ध्यापुत्र मिथिलापुरीका राज्य करेगा, यदि यह वचन प्रमाणरूप हो, तो इस वचनके बलसे वन्ध्यापुत्रकी सत्ता सिद्ध हो, परन्तु यह वचन ही प्रमाणरूप नहीं है, इसलिये इस वचनसे वन्ध्यापुत्रकी सत्ता सिद्ध नहीं होती ।

याज्ञवल्क्य–हे राजन् ! शब्द प्रमाणमें तीन दोषोंसे अप्रमाणता है । एक मिथ्या अर्थकी बोधकता, दूसरे किसी अर्थको बोधन न करना और तीसरे संशय उत्पन्न करना । इनमें जो वादी प्रमाणके बलसे प्रमेय पदार्थकी सत्ता मानता है, उस वादीके मतमें मिथ्या अर्थकी बोधकतारूप प्रथम दूषण सम्भव नहीं है और वन्ध्यापुत्र मिथिलापुरीमें राज्य करेगा, इस वचनमें अर्थकी अबोधकता और संशयकी जनकता, ये दो दूषण हैं नहीं, इसलिये यह वचन वादीके मतमें प्रमाण ही है । इसलिये इस वचनसे वन्ध्यापुत्रकी सिद्धि होनी चाहिये । और इस वचनसे वन्ध्यापुत्रकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, इसलिये प्रमाणके बलसे प्रमेयकी सिद्धि न माननी चाहिये किन्तु प्रमेय पदार्थके बलसे ही प्रमाणकी सत्ता माननी उचित है । इसलिये जिस प्रमाणसे वादी आत्माके नाशको और उस नाशके कारणको सिद्ध करता है, उस प्रमाणकी सत्ता तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि आत्माके नाशरूप प्रमेयकी सत्ता और उस नाशके कारणकी सत्ता सिद्ध हो । और आत्माका नाश और उस नाशका कारण लोकमें कहीं देखनेमें नहीं आता, इसलिये आत्माके नाश और नाशके कारणका सिद्ध करनेवाला वादीका प्रमाण निष्फल है । यहाँतक आत्माके नाशमें सामान्यतासे प्रमाणकी अविषयता दिखायी, अब विशेष रूपसे प्रमाणकी अविषयता दिखाते हैं ।

जो वादी आत्माके नाशमें और उस नाशके कारणमें प्रमाण मानता है, उससे पूछना चाहिये कि आत्माके नाशमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनुमान प्रमाण है अथवा शब्द प्रमाण है ? इनमेंसे आत्माके नाशमें प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रतियोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता । जैसे कि घटरूप प्रतियोगीके ज्ञान बिना घटाभावका ज्ञान नहीं होता । और यहाँ प्रसंगमें आत्माका नाशरूप जो अभाव है, उस अभावका प्रतियोगी आत्मा है । यह आत्मा रूपादि गुणोंसे रहित है, इसलिये नेत्रादि इन्द्रियोंसे आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और आत्मारूप प्रतियोगीके प्रत्यक्ष बिना उसका अभाव प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, क्योंकि जो पदार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय होता है, उस पदार्थके अभावका ही प्रत्यक्ष होता है और जो पदार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय होता है, उस पदार्थके अभावका ही प्रत्यक्ष होता है और जो पदार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय नहीं होता, उस पदार्थके अभावका प्रत्यक्ष नहीं होता । इस कारणसे ही शून्य स्थानमें पिशाचकी शङ्का करके लोग निवास नहीं करते, इसलिये आत्माके नाशमें प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव नहीं है । आत्माके नाशमें अनुमान प्रमाण भी सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणकी सहायता बिना अनुमान प्रमाण किसी अर्थकी सिद्धि नहीं कर सकता, प्रत्यक्ष-प्रमाणकी सहायतासे ही अनुमान प्रमाण किसी पदार्थकी सिद्धि करता है, जैसे जिस पुरुषने अपने घरमें अग्निके साथ धूमका सहचार बहुत बार देखा है, वही पुरुष कालान्तरमें पर्वतमें धूम देखकर अग्निका अनुमान करता है और जिसने धूम और अग्निको कभी नहीं देखा, उस पुरुषको धूम देखनेसे अग्निका अनुमान नहीं होता । इस प्रकार अनुमान प्रमाणको प्रत्यक्ष प्रमाणकी अपेक्षा है ।

पूर्वोक्त रीतिसे आत्माके नाशमें प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव है नहीं, इसलिये अनुमानसे आत्माके नाशकी सिद्धि नहीं हो सकती। और आत्माके नाशमें तीसरा पक्ष शब्द प्रमाण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि जितने शब्द प्रमाण हैं, उनमें कहीं भी आत्माका नाश नहीं कहा, उलटे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें, और—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

इत्यादि स्मृतिवचनोंमें आत्माको अविनाशी कहा है, इसलिये आत्माके नाशमें शब्द प्रमाण भी सम्भव नहीं है। यहाँतक आत्माके नाश और नाशके कारणमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका खण्डन किया, अब लोगोंके अनुभवसे भी आत्माका नाश सिद्ध नहीं होता, किन्तु अविनाशीपना सिद्ध होता है, यह दिखलाते हैं।

हे जनक! सब लोगोंको इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है कि जिस मैंने स्वप्नावस्थामें हाथीको देखा था, वही मैं अब जाग्रदवस्थामें नील कमलको देखता हूँ और नाना प्रकारके शब्दोंको सुनता हूँ और जो मैं जाग्रदवस्थामें नील कमलको देखता था, और नाना प्रकारके शब्दोंको सुनता था, वही मैं सुषुप्ति अवस्थामें कुछ भी नहीं जानता था, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञानरूप अनुभव सब लोगोंको होता है। इस अनुभवसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और वृद्ध, इन तीनों अवस्थाओंमें आत्माकी नित्यता सबके अनुभवसिद्ध है, क्योंकि जो मैं बाल्यावस्थामें अपने माता-पिताको देखता था, वही मैं अब यौवनावस्थामें अपने स्त्री-पुत्रादिको देखता हूँ, और जो मैं यौवनावस्थामें स्त्री-पुत्रादिको देखता था, वही मैं वृद्धावस्थामें अपने पौत्रों और दौहित्रोंको देखता हूँ, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञारूप अनुभव सब लोगोंको होता है, इस अनुभवसे बाल्य, यौवन और वृद्धावस्थामें आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

जनक—हे भगवन्! इस प्रकारके अनुभवसे इस जन्ममें यद्यपि आत्माका अविनाशीपना सिद्ध होता है, परन्तु पिछले और आगेके जन्मोंमें आत्माकी नित्यता सिद्ध नहीं होती।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! बाल्यावस्थासे लेकर वृद्धावस्थातक जैसे आत्माका अविनाशीपना है, इसी प्रकार पूर्वजन्मोंमें तथा भावी जन्मोंमें आत्मा अविनाशी है, क्योंकि इस लोकमें माताके उदरसे निकला हुआ बालक उसी क्षण माताके स्तनपानमें प्रवृत्त हो जाता है, यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। और लोकमें चेतन पुरुषकी जो-जो प्रवृत्ति होती है, वह-वह 'यह पदार्थ मेरे सुखका साधन है' इस प्रकारके इष्टसाधनज्ञानसे होती है, इष्टसाधनके ज्ञान बिना किसी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती, यह बात भी सबके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिये जन्मकालमें माताके स्तनपानमें बालककी जो प्रवृत्ति है, वह प्रवृत्ति भी 'यह स्तनपान मेरे सुखका साधन है,' इस प्रकारके इष्टसाधनके ज्ञान बिना सम्भव नहीं है, इसलिये उस बालककी प्रवृत्तिरूप हेतुसे बालककी इष्ट साधनता ज्ञानका अनुमान होता है। और जन्मकालमें इष्टसाधनताका ज्ञान जो बालकको हुआ है, वह ज्ञान इस जन्मका अनुभव हो, ऐसा सम्भव नहीं है इसलिये वह इष्टसाधनताका ज्ञान स्मृतिरूप मानना होगा, और लोकमें जो-जो स्मृतिज्ञान होता है, वह-वह अनुभव संस्कारजन्य होता है, पूर्वसंस्कारोंके बिना अनुभवज्ञान नहीं हो सकता, यह बात भी सबके अनुभवसिद्ध है। इसलिये बालकके स्मृतिरूप इष्टसाधनके ज्ञानसे पूर्वजन्मके संस्कारोंका अनुमान होता है। रूपादिके समान संस्कार आश्रय बिना स्वतन्त्र नहीं होते, इसलिये उन पूर्वजन्मोंके संस्कारोंसे आश्रयरूप आत्माका अनुमान होता है। इस प्रकार पूर्वजन्ममें आत्माका अविनाशीपना सिद्ध होता है।

भावी जन्ममें आत्माका अविनाशीपना—इस लोकमें शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले बुद्धिमानोंकी यज्ञादि पुण्यकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है और ब्रह्महत्यादि पापकर्मोंमें निवृत्ति होती है। यहाँ यज्ञादि कर्म करनेसे उनको किञ्चिन्मात्र भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती, उलटे क्लेश प्राप्त होता है, इससे यह जाननेमें आता है कि यज्ञादि पुण्यकर्मोंसे जन्मान्तरमें उन्हें सुखकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार भावी जन्ममें भी आत्माका अविनाशीपना सिद्ध होता है। यहाँतक नाना प्रकारकी युक्तियोंसे आत्माका अविनाशीपना सिद्ध करके अब पूर्वके प्रसङ्गका निरूपण करते हैं।

हे जनक ! पूर्वोक्त रीतिसे यह द्रष्टा आत्मा अविनाशी है, इसलिये उस आत्माका स्वरूपभूत जो ज्ञानदृष्टि है, उसका भी नाश नहीं होता किन्तु वह सर्वदा रहती है, जैसे अग्निके विद्यमान होनेपर अग्निकी स्वरूपभूता उष्णता निवृत्त नहीं होती किन्तु अग्निके नाश होनेपर ही उष्णताका नाश होता है, इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा नाशसे रहित है, इसलिये आत्माके स्वरूपभूत ज्ञानदृष्टिका कभी नाश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति अवस्थामें यह आत्मदेव द्वैतप्रपञ्चको जो नहीं देखता, इसमें आत्माके स्वरूपभूत ज्ञानका अभाव कारण नहीं है। किन्तु सर्वप्रपञ्चका अभाव ही कारण है और हे जनक ! जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें भेदरूप कार्य अविद्या विद्यमान है, इसलिये जाग्रत् और स्वप्नमें यह द्रष्टा पुरुष रूपादि दृश्य पदार्थोंको अपनेसे भिन्न मानता है और नेत्रादि इन्द्रियोंको भी अपनेसे भिन्न मानता है और भिन्न मानी हुई नेत्रादि इन्द्रियोंसे भिन्न रूपादि विषयोंको देखता है। सुषुप्तिमें भेदरूप कार्य अविद्या, काम और कर्मका अभाव होता है इसलिये सुषुप्तिमें यह द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूपसे भिन्न कल्पित प्रपञ्चको नहीं देखता किन्तु अपनेसे अभिन्न देखता है, क्योंकि सुषुप्तिमें यह सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च यदि आत्मासे भिन्न हो, तो उस प्रपञ्चको आत्मा देखे, परन्तु सुषुप्तिमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आत्मासे भिन्न नहीं होता इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें यह द्रष्टा पुरुष इस जगत्‌को अपनेसे भिन्न नहीं देखता।

हे जनक ! सुषुप्ति अवस्थामें स्थित आनन्दस्वरूप आत्मा सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदसे रहित है इसलिये एक अद्वितीय रूप है। यही आत्मादेव ब्रह्मरूप, स्वयंज्योति और परम लोकरूप है। हे जनक ! इस आत्माका स्वरूप ही अधिकारी पुरुषोंको यज्ञादि वहिरंग साधनोंसे और विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत् त्वं पदार्थोंका शोधन, इन आठ अन्तरंग साधनोंसे प्राप्त करना योग्य है। आत्माके सिवा सर्व अनात्म पदार्थ नाशवान् हैं, इसलिये अधिकारी पुरुषको प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। इसलिये श्रुति भगवती आनन्दस्वरूप आत्माको परम गति कहती है, हे जनक ! इस लोकमें जितनी सम्पदा है, उसमें सबसे अधिक कुबेरकी सम्पदा है, इसलिये लोकमें कुबेरकी सम्पदाको परम सम्पदा कहते हैं। इसी प्रकार सुषुप्तिमें स्थित आनन्दस्वरूप आत्मासे अधिक कोई सम्पदा नहीं है इसलिये श्रुति भगवती आनन्दस्वरूप आत्माको परम सम्पदा कहती है। हे जनक ! सुषुप्तिमें नित्य प्राप्त होने योग्य आत्मासे परे कोई पदार्थ देखने योग्य नहीं है, यह आत्मा ही देखने योग्य है, इसलिये श्रुति भगवती आत्माको परमलोक कहती है। हे जनक ! इस आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा रूपादि गुणोंसे युक्त सुन्दर स्त्रियाँ भी परमलोक नहीं है और सर्वगुणसम्पन्न आज्ञाकारी पुत्र भी इस जीवका लोक नहीं है और अत्यन्त सुन्दर और कोमल अपना शरीर भी परम लोक नहीं है। और हे जनक ! पर्वतके समान आकारवाले हस्ती, वायुमें आकाशमार्गमें दौड़नेवाले अश्व, मेघके समान गर्जना करनेवाले रथ, भयसे रहित अत्यन्त शूरवीर पदाति पुरुष, कोटि संख्यावाले धनके

कोश, नाना प्रकारके अन्नोंसे पूर्ण कोठियाँ, स्वर्गकी अप्सराओंके समान सुन्दर वारांगनाएँ, इन्द्रके वैजयन्त नामके घरके समान अनेक गृह, इन्द्राणीके समान सुन्दर स्त्रियाँ, धनधान्यसे पूर्ण आज्ञाकारी प्रजा, इत्यादि भोग्य साधनोंसे युक्त राज्य भी इस जीवका परम लोक नहीं है। राज्यके भोगनेसे जो सुख होता है, वह सुख भी जीवका परम लोक नहीं है, किन्तु सुषुप्तिमें प्राप्त होने योग्य अद्वितीय आत्मा ही इस जीवका परम लोक है। सुषुप्ति अवस्थामें जिस आनन्दस्वरूप आत्माको यह जीव प्राप्त होता है, वह आनन्दस्वरूप आत्मा सर्व लौकिक आनन्दसे अधिक है, इसीलिये श्रुति भगवती उस आनन्दस्वरूप आत्माको परम आनन्द कहती है।

जनक—हे भगवन्! सर्व लौकिक आनन्दोंसे यह आत्मा किस प्रकार अधिक है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! यह आत्मा आनन्दका समुद्र है, इस आत्माके लेशमात्र आनन्दको लेकर सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी आनन्दको प्राप्त होते हैं। घृतादि स्निग्ध पदार्थको हाथमें ग्रहण करके उनके परित्यागके बाद हाथमें जो चिकनाई रह जाती है, उसका नाम लेश है। इस प्रकार आत्मानन्दका लेश लेकर सब प्राणी जीते हैं। हे जनक! जैसे सर्व जलोंके निधि समुद्रके लेशमात्र जलको लेकर वर्षाकालमें मेघ दिखलायी देते हैं, इसी प्रकार आनन्दसमुद्र आत्माके लेशमात्र आनन्दको लेकर ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सर्व प्राणी जीवनको प्राप्त होते हैं, इस कारणसे ही श्रुति भगवती आत्माको परम आनन्दरूप कहती है। आत्मामें परमानन्दता स्पष्ट करनेके लिये संसारदशामें परमानन्दको अप्रतीतिके कारणका निरूपण करते हैं।

आत्मामें परमानन्दकी अप्रतीतिका कारण

हे जनक! विषयोंकी प्राप्तिसे मनुष्यादि प्राणियोंको जो सुख होता है, उस सुखको ही लोग आनन्द कहते हैं। और स्त्री, पुत्र, धन आदि विषयोंको लोग सुखका कारण मानते हैं, इसमें विचार करना चाहिये कि उन स्त्री-पुत्रादिमें सुखकी उत्पादकतारूप कारणता है अथवा प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा सुखकी अभिव्यञ्जकतारूप कारणता है। इसमेंसे आत्मारूप नित्य सुखकी विषयोंद्वारा उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये सुखकी उत्पादकतारूप प्रथम कारण यद्यपि विषयोंमें सम्भव नहीं है तो भी स्त्री-पुत्रादि विषयोंमें प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा सुखकी अभिव्यञ्जकतारूप दूसरी कारणता सम्भव है। क्योंकि जैसे तृषासे आतुर कोई मूढ़ पुरुष तृणोंसे ढके हुए समीपके जलको त्यागकर मृगतृष्णाके जलको पीने जाय, इसी प्रकार सुखप्राप्तिकी इच्छावाले अज्ञानी जीव अज्ञानसे ढके हुए अत्यन्त समीपवर्ती आनन्दरूप आत्माका परित्याग करके बाहरके विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं और उन विषयोंकी इच्छासे अज्ञानी जीवोंको दुःखकी प्राप्ति होती है। यह इच्छाजन्य दुःख आत्मारूप आनन्दका प्रतिबन्धक है। जैसे मणि-मन्त्रादि प्रतिबन्धक जबतक अग्निके समीप रहते हैं, तबतक अग्नि दाह नहीं करता, उसी प्रकार जबतक इच्छाजन्य दुःख अन्तःकरणमें विद्यमान है, तबतक आत्मस्वरूपका भान जीवोंको नहीं होता। और जैसे मणि-मन्त्रादि प्रतिबन्धकके निवृत्त होनेपर अग्नि दाह करता है, उसी प्रकार इस जीवको जिस-जिस विषयकी इच्छा होती है, उस-उस विषयकी प्राप्ति होनेपर इच्छाकी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु उस इच्छाकी निवृत्ति तभीतक रहती है जबतक उसी विषयमें अथवा अन्य विषयमें जीवकी पुनः इच्छा उत्पन्न न हो। नयी इच्छाके उत्पन्न होनेपर पूर्व इच्छाकी निवृत्ति नहीं रहती और विषयकी इच्छारूप कारणके नाश होनेपर इच्छाजन्य दुःखका नाश हो जाता है। जबतक उस दुःखका अभाव अन्तःकरणमें रहता है, तबतक विक्षेपसे रहित तथा अज्ञानसे आवृत आत्मस्वरूप

आनन्दकी प्रतीति जीवोंको होती है। उसी आत्मस्वरूप आनन्दको अज्ञानी जीव सुख कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस लोकमें दो प्रकारका प्रतिबन्ध है—एक आवरणरूप, जैसे सूर्यके दर्शनमें मेघ आवरणरूप प्रतिबन्धक है; दूसरा विक्षेपरूप प्रतिबन्ध, जैसे घटादि पदार्थोंके दर्शनमें नेत्रोंकी अत्यन्त चञ्चलता विक्षेपरूप प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार यहाँ प्रसंगमें विषयोंकी इच्छासे बुद्धिकी चञ्चलतारूप विक्षेप आत्मस्वरूप आनन्दमें प्रतिबन्धक है। जिस विषयकी इच्छासे बुद्धि चञ्चल होती है, उस विषयकी जब प्राप्ति होती है तब बुद्धि चञ्चलतारूप विक्षेपको त्याग देती है और जबतक दूसरे विषयकी इच्छा न हो, तबतक बुद्धि स्थिर रहती है। स्थिर बुद्धिमें अज्ञानसे ढके हुए आनन्दस्वरूप आत्माका स्पष्ट भान होता है। अज्ञानसे ढके हुए इसी आत्मारूप आनन्दको अज्ञानी पुरुष विषयजन्य सुख कहते हैं।

जनक—हे भगवन्! विषयप्राप्तिके कालमें अज्ञानसे ढके हुए आत्मानन्दका भान होता है, यह बात कैसे जानी जाय?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! विषयकी प्राप्तिके कालमें अज्ञानी जीवोंको यदि आवरणरहित आत्मानन्दका भान होता हो, तो जैसे मुक्ति अवस्थामें ज्ञानी पुरुषोंको 'मैं सुखरूप हूँ' इस प्रकार सुखका अनुभव होता है, इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको विषयकी प्राप्तिके कालमें 'मैं सुखरूप हूँ' ऐसा अनुभव होना चाहिये। परन्तु 'मैं सुखरूप हूँ' ऐसा अनुभव अज्ञानी जीवोंको नहीं होता, किन्तु 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयकी प्राप्तिकालमें जो आत्मानन्द प्रतीत होता है, वह अज्ञानसे आवृत ही प्रतीत होता है। केवल मुक्ति अवस्थामें ही आवरणरहित आत्माका भान होता है।

विषयजन्य सुखकी न्यूनाधिकतामें दृष्टान्त-जैसे अन्धकारयुक्त आकाशके किसी अंशमें स्थित खद्योत जन्तु अथवा मणि आकाशके जितने देशका अन्धकार निवृत्त करता है, उतने देशमें ही आकाशका स्फुरण होता है, अधिकका नहीं होता, उसी प्रकार आत्मारूप आकाशमें स्थित इच्छाजन्य दुःखरूप अन्धकारके जितने अंशका विषयकी प्राप्तिरूप खद्योतादि निवृत्त करते हैं, उतने परिमाणमें ही आत्मारूप सुख विक्षेपरहित प्रतीत होता है, अधिक नहीं होता। इस प्रकार एक ही आत्मारूप सुखकी न्यूनाधिकता प्रतीत होती है। यहाँतक इच्छाजन्य दुःखरूप प्रतिबन्धके अभावमें आत्मानन्दकी प्रतीतिकी विद्यमानतारूप अन्वय दिखाया। अब उस दुःखरूप प्रतिबन्धके अभावके न होनेपर आत्मानन्दकी प्रतीतिकी अविद्यमानतारूप व्यतिरेकका निरूपण करते हैं।

हे जनक! जैसे अन्धकारयुक्त आकाशमें खद्योतके तथा मणिके विद्यमान होनेपर आकाशके जिस देशका स्फुरण होता था, वह आकाशका देश खद्योत तथा मणिके निवृत्त होनेके बाद फिर अन्धकारसे ढका हुआ होनेसे प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार विषयकी प्राप्तिकालमें विषयकी इच्छाजन्य दुःखके निवृत्त होनेपर जो आत्मारूप आनन्द प्रतीत होता था, वह आनन्द दूसरे विषयकी इच्छा उत्पन्न होनेपर प्रतीत नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि विषयकी प्राप्तिजन्य दुःखाभाव ही अन्वयव्यतिरेकसे आत्मरूप सुखकी प्रतीतिका कारण है।

जनक—हे भगवन्! विषयकी प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति होती है, इच्छा निवृत्त होनेसे दुःखकी निवृत्ति होती है और विक्षेपरूप दुःखकी निवृत्ति होनेपर आत्मारूप सुखकी प्राप्ति होती है, इस प्रकारका आपका कहा हुआ नियम स्त्री-पुत्रादि विषयजन्य सुखमें घटता है किन्तु पीनस रोगवाले पुरुषको छींककी अथवा उद्गारकी प्राप्तिसे जो सुख होता है, उस सुखमें यह नियम नहीं घटता। क्योंकि आपने विषयकी इच्छाकी निवृत्ति आत्मरूप सुखकी

प्रतीतिमें कारण कही है। छींक तथा उद्गारमें किसीकी इच्छा नहीं होती,इसलिये वहाँ इच्छाकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! जब किसी निमित्तसे छींक तथा उद्गारका निरोध होता है, तब छींक तथा उद्गारमें लोगोंकी इच्छा प्रत्यक्ष दिखायी देती है; इसलिये छींक तथा उद्गारकी प्राप्तिमें जीवोंको जो सुख होता है, वह सुख भी इच्छाकी निवृत्तिसे ही होता है, इसलिये पूर्वोक्त नियमका किसी स्थलमें विरोध नहीं है। इसलिये हे जनक ! इस लोकमें न्यूनाधिक भावसे स्थित जितना वैषयिक सुख है, वह सुख आत्मारूप आनन्दसे भिन्न नहीं है किन्तु आत्मानन्दरूप ही है। इसलिये स्त्री-पुत्रादि विषयोंकी प्राप्ति आत्मरूप सुखकी उत्पत्तिका कारण नहीं है किन्तु विषयोंकी प्राप्ति इच्छाकी निवृत्तिद्वारा सुखकी अभिव्यक्तिका कारण है। (क्रमशः)

* * *

एक भक्तके उद्गार

(अनु०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)

झूठी आशा और गर्वका त्याग

(१)

वह मूर्ख है, जो मनुष्य और जीवोंपर विश्वास रखता है।

ईश्वरप्रेमके लिये, दूसरोंकी सेवामें तथा संसारमें दरिद्र समझे जानेके हेतु लज्जित मत हो।

स्वयं अपनेपर भरोसा मत रक्खो, किन्तु प्रभुमें अपनी आशाको लगाओ।

अपनी शक्तिसे जो हो, उसे करो और ईश्वर तुम्हारी सदिच्छामें सहायता देगा।

न तो अपने ज्ञान और न किसी अन्य जीवकी बुद्धिपर विश्वास करो, किन्तु ईश्वरकी शक्तिपर विश्वास रक्खो। वह विनम्र मनुष्यको सहायता देता है और स्वाभिमानीको नीचा दिखलाता है।

यदि धन हो तो धनमें, और शक्तिवान् होनेके कारण मित्रोंमें शान न मानो, किन्तु उस प्रभुकी शान समझो, जो सब वस्तुएँ देता है तथा स्वयं अपनेको तुम्हें दे डालनेकी इच्छा रखता है।

अपनी क़दकी ऊँचाई अथवा शरीरके सौन्दर्यके कारण अपनी प्रशंसा मत करो, क्योंकि यह ज़रासे ज्वरसे कुरूप और नष्ट हो सकता है।

अपनी नैसर्गिक प्रतिभा अथवा ज्ञानमें आनन्द न मानो, नहीं तो वह ईश्वर अप्रसन्न हो जायगा, जिसकी प्रदान की हुई वे सारी चीज़ें हैं जो तुम्हें प्रकृतिसे मिली हैं।

दूसरोंसे बढ़कर अपनेको न मानो, ताकि तुम ईश्वरकी दृष्टिमें, जो जानता है कि किस मनुष्यमें क्या है, उनसे भी बुरे न दिखलायी पड़ो।

सत्कार्यके लिये घमंड न करो, क्योंकि ईश्वरका निर्णय मनुष्यके निर्णयसे भिन्न है; अक्सर जो वस्तु मानवको प्रसन्न करती है वही ईश्वरको अप्रिय लगती है।

यदि तुममें कुछ भी अच्छापन हो तो विश्वास रक्खो कि दूसरोंमें वह और भी अधिक मात्रामें है, ताकि तुम अपनेको नम्र बनाये रख सको।

अपनेको सबके अधीन रखनेमें तुम्हारी कोई हानि नहीं है, किन्तु किसी एक पुरुषसे अपनेको बढ़कर समझनेमें तुम्हारी बड़ी हानि है।

विनम्र पुरुष स्थायी आनन्द प्राप्त करता है, किन्तु अभिमानीके हृदयमें ईर्षा और कभी-कभी क्रोध निवास करता है।

(२)

कौन तुम्हारी ओर है और कौन विरोधी है, इसपर विशेष ध्यान न दो। तुम क्या हो, इसपर विचार करो और ध्यान रक्खो कि तुम्हारे प्रत्येक कार्यमें ईश्वर तुम्हारे साथ है।

अन्तःकरण पवित्र रक्खो और भगवान् तुम्हारी रक्षा करेगा।

जिसे ईश्वर सहायता देगा, उसे किसी मनुष्यका दुर्भाव पीड़ित नहीं कर सकेगा।

यदि तुम शान्तिपूर्वक कष्ट सहन कर सकते हो तो निश्चय देखोगे कि ईश्वर तुम्हें सहायता देगा।

वह तुम्हारी रक्षाका उचित समय और विधि जानता है। अतः तुम अपनेको उसीपर छोड़ दो।

अपमानसे बचाना और सहायता देना ईश्वरका काम है।

अपनेको अधिक विनम्र बनाये रखना प्रायः लाभजनक होता है ताकि दूसरे हमारे दोषोंको जान सकें और परख सकें।

जब मनुष्य अपने दोषोंके लिये अपनेको छोटा बना लेता है, तब वह सुगमतासे दूसरोंको शान्त कर लेता है तथा विरोधियोंको शीघ्र सन्तुष्ट कर लेता है।

भगवान् विनम्र मनुष्यकी रक्षा और त्राण करता है, उसे प्रेम और सुख देता है। वह स्वयं विनम्रकी ओर झुक जाता है, विशेष श्री देता है एवं नम्रताके बाद उसे गौरव प्रदानकर उच्च बनाता है।

विनम्र पुरुषके सम्मुख भगवान् मुक्तिके रहस्य प्रकट करता है और उसे अपनी ओर मधुरताके साथ आकर्षित तथा आमन्त्रित करता है।

विनम्र पुरुषको चाहे लज्जित होना पड़े, पर वह शान्तिमें निवास करता है; क्योंकि वह संसारपर नहीं, ईश्वरपर निर्भर रहता है।

जबतक तुम अपनेको सबसे छोटा नहीं समझते तबतक यह मत समझो कि तुम उन्नति कर रहे हो।

भगवद्विश्वास

(लेखक—एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)

जिस समय अधिकांश लोगोंको स्वभावतः भगवान् और भगवत्-साधन-भजनमें विश्वास था, उस समय भगवान्के अस्तित्वके सम्बन्धमें प्रमाण एकत्र करनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती थी। अविश्वासी लोगोंकी निन्दा करनेके पहले इस बातका विचार कर लेना होगा कि उनके अविश्वास करनेके मूलमें कोई विशेष कारण है या नहीं। आजकल विशेषकर पाश्चात्य जगत्में एक प्रचण्ड सन्देहका, अविश्वासका युग चल रहा है। प्रत्यक्ष प्रमाण पाये विना सहज ही कोई किसी वातको माननेके लिये, उसपर विश्वास करनेके लिये तैयार नहीं है। ये लोग सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्त्वोंतकको स्थूल रूपमें प्रत्यक्ष न देख सकनेपर एकदम अस्वीकार कर देते हैं। इस अविश्वासके लिये सब देशोंके धर्मरक्षक और धर्मप्रचारक अल्पाधिक मात्रामें अवश्य ही उत्तरदायी हैं। अनेक स्थानोंमें धर्मके नामपर अधर्मका प्रचार हो रहा है, धर्मकी दुहाई देकर नाना रूपोंमें, नाना प्रकारसे स्वार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा हो रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कभी-कभी धर्ममत और साधनप्रणाली इतनी विकृत मालूम होती है कि उसपर विश्वास करना साधु और विद्वान् पुरुषोंके लिये भी असम्भव हो जाता है। धर्मकी दुहाई देकर कितने सच्चे साधु पुरुष आजतक लाञ्छित किये गये, इसका कोई हिसाब नहीं है। विज्ञानकी उन्नतिके फलस्वरूप अब इसका प्रतिशोध लेनेका समय आया है। अनेक मनीषियोंके मतसे अधिकांश धर्ममत इस प्रकारसे विकृत हो गये हैं कि उनके अंदर अनेक स्थलोंमें वास्तविक साधन-तत्त्वका पता नहीं लगता। भगवत्स्वरूपका जैसा वर्णन किया गया है—साधनप्रणाली जिस रूपमें अनुष्ठित होती है, उसके अंदर सन्देह करनेका पर्यात कारण है। इसके द्वारा समाजका, देशका इष्टकी अपेक्षा अनिष्ट होनेकी आशंका अधिक है। पृथ्वीकी सारी अशान्ति दूर करनेमें ये सब विकृत धर्ममत और साधनप्रणालियाँ समर्थ हैं, ऐसा विश्वास बहुत-से लोग

नहीं करते। धर्मविश्वासने आजकल अनेक स्थानोंमें शान्ति-स्थापन और उन्नतिसाधनमें सहायक न होकर, सामाजिक और नैतिक पूर्णता प्राप्त करनेके लिये जिन सुधारोंका होना आवश्यक है उनमें बाधा उपस्थित करना आरम्भ कर दिया है, जीव-जीवमें भ्रातृभाव उत्पन्न न कर भेदभावकी ही सृष्टि कर रहा है। बहुत-सी जगहोंमें प्रेमके स्थानमें भय दिखाकर लोगोंको धर्ममतमें विश्वास स्थापित करनेके लिये बाध्य किया जाता है। अर्थ परमार्थका आसन दखल करके बैठ गया है। इन्हीं सब कारणोंसे स्वाधीन पाश्चात्य जगत्‌में नास्तिकताका एक प्रबल स्रोत बह चला है। भारतमें भी आज उसका प्रभाव दिखायी दे रहा है। इसके हाथसे भारतकी रक्षा करनेके लिये सब विषयोंमें, विशेषकर धर्म और साधनप्रणालीमें उचित सुधार करनेकी विशेष आवश्यकता है। धर्मप्रचारक गुरुओंका जीवन ऐसा पवित्र, ऐसा आकर्षक होनेकी जरूरत है जिसे देखकर सब लोगोंमें भगवान्‌में विश्वास करने तथा साधन-भजन करनेके लिये लोभ उत्पन्न हो। भगवत्तत्त्व और साधनप्रणालीको इतने सुन्दर रूपमें ज्ञानविज्ञानकी भित्तिपर स्थापित करना होगा जिससे विज्ञानकी उन्नति धर्ममतपर आक्रमण न कर उसका पोषण करना आरम्भ कर दे। ऐसा करना होगा जिसमें सब लोग यह समझने लगें कि भगवान्‌पर विश्वास करना ही देशके कल्याणका, जीवके कल्याणका, पूर्णता प्राप्त करनेका और शान्तिस्थापन करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

वास्तवमें पृथ्वीपर नास्तिकोंकी संख्या अधिक नहीं है—जो लोग जीवित रहना चाहते हैं, स्वस्थ रहने, ज्ञान प्राप्त करने, आनन्दपूर्वक रहनेके लिये सचेष्ट हैं, वे जानमें या अनजानमें सच्चिदानन्दका, भगवान्‌का ही अनुसन्धान कर रहे हैं। अतएव जिनका भगवद्भाव और धर्मज्ञान हमारे साथ मेल नहीं खाता उन्हें हमलोगोंको नास्तिक नहीं समझना चाहिये। ईसाको जो एकमात्र उद्धारक नहीं मानता वह ईसाई-जगत्‌में नास्तिक समझा जाता है; जो मुहम्मदको एकमात्र सर्वश्रेष्ठ नबी नहीं मानता वह बहुत-से मुसलमानोंके लिये काफिर (नास्तिक) है; देवदेवीमें, सामाजिक आचार-व्यवहारमें विश्वासका अभाव होनेके कारण बहुत-से हिन्दू नास्तिक समझे जाते हैं। इन सब सीमित भावोंको दूर करना होगा। भगवान्‌का प्रकृत स्वरूप क्या है, वास्तविक धर्म किसे कहते हैं, इसे सरल, सुन्दर, उदार रूपमें सर्वसाधारणके सामने रखना होगा। अपने मतका पोषण करनेके लिये वास्तविक सत्यको अस्वीकार करनेसे काम नहीं चलेगा। ज्ञान-विज्ञानको, समस्त न्यायानुमोदित संस्कारोंको आदरके साथ वरण करना होगा।

किसी भी विषयपर कुछ कहने या लिखनेसे पहले यह अच्छी तरह समझ लेना होगा और सदा ध्यानमें रखना होगा कि वह विषय क्या है। मनुष्य मरता है या नहीं, इस बातपर विचार करनेसे पहले इस बातका निश्चय कर लेना होगा कि मनुष्य किसे कहते हैं और मृत्यु क्या चीज है। उसके बाद यह निश्चय करना होगा कि उस 'मनुष्य' शब्दके साथ 'मृत्यु' शब्दका सम्बन्ध किस प्रकारका है। इसी तरह भगवान्‌पर विश्वास रखनेकी उपयोगिता और अनुपयोगिताके विषयमें विचार करनेसे पूर्व यह निश्चय करना होगा कि भगवान् क्या वस्तु हैं और उनपर विश्वास रखना या न रखना क्या है। 'भगवान्' शब्दकी प्रायः सब देशोंमें सबसे अधिक आलोचना और गवेषणा हुई है। जीवनका चरम उद्देश्य एवं उसका साधनोपाय क्या है, किस प्रकार कार्य करनेसे संसारमें शान्तिराज्य स्थापित हो सकता है, इत्यादि बातोंके साथ भगवान् और साधन-भजन-तत्त्व विशेष रूपसे सम्बद्ध हैं। इसीलिये इस विषयको इतना महत्त्वपूर्ण मानकर इसका विचार और वर्णन किया गया है।

सब देशोंके सिद्ध आदर्श महात्माओंने इस भगवत्तत्त्व और उसकी साधनप्रणालीका निर्देश कर इस बातकी यथासम्भव चेष्टा की है कि सर्वसाधारण उस आदर्शके अनुसार जीवन बिताकर परम शान्ति प्राप्त करें। हम यह नहीं कहते कि विभिन्न देशोंके आदर्शोंके, विशेषतः उनके शिष्योंके मतभेदने अनेक समय प्रचुर अनर्थकी सृष्टि नहीं की है। फिर भी मुख्य विषय (Essential points) में उनके अंदर अधिक मतभेद था, ऐसा नहीं मालूम होता। गौण विषय देशकालपात्रद्वारा नियमित हैं, अतएव परिवर्तनीय हैं। उनका वास्तविक उद्देश्य जीवकी पूर्णताप्राप्ति और परमानन्दप्राप्ति होनेपर भी उनकी साधनप्रणालीमें देशकालपात्रजनित भेदभाव रहना स्वाभाविक और मङ्गलप्रद है। भगवत्तत्त्व चरम तत्त्व है—चाहे वह किसी भी नामसे, किसी भी रूपमें प्रचलित क्यों न हो; वह सब धर्ममतोंका सारतत्त्व है। यह जिस परिमाणमें विज्ञान, दर्शन और अनुभवसम्मत होगा, ठीक उसी परिमाणमें इसका वास्तविक स्वरूप भी युक्तियुक्त और ग्राह्य मालूम होगा।

विज्ञानशास्त्र परम तत्त्वको एक ऐसा शक्तिजातीय पदार्थ मानता है जो विभिन्न आधारोंके भीतरसे होकर अपना स्वरूप प्रकट करनेमें व्यस्त है। जिस तरह एक ही विद्युत्-शक्ति विभिन्न यन्त्रोंका अवलम्बन लेकर विभिन्न कार्य

करती है, उसी तरह एक ही शक्तिने जगत्के विभिन्न तत्त्वोंके भीतरसे होकर विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न प्रकारसे आत्मप्रकाश करके जगत्को इतना सुन्दर और मधुर बना दिया है; स्थूल पञ्चभूतोंके अंदरसे होकर इस अतुल सौन्दर्य, माधुर्य और लावण्यकी सृष्टि की है; सूक्ष्म इन्द्रियोंके भीतरसे ज्ञान, प्रेम और आनन्दकी सहायतासे जगत्को इतना रमणीय, वरणीय और आकर्षक बनाया है। कहना न होगा कि यह शक्ति ही प्रकृतिका अन्तरात्मा है—दार्शनिक पण्डितोंने सत्, चित् और आनन्द कहकर और किसी-न-किसी अव्यक्त तत्त्वके रूपसे इसीका वर्णन किया है। सभी पदार्थ जीवित रहने, जानने, जनाने, आनन्द लेने और आनन्द देनेके लिये व्यस्त हैं। इस सत्ता, चैतन्य और आनन्दकी चरम अवस्थाको ही लक्ष्य करके पण्डितोंने उसका उल्लेख भगवान्के नामसे किया है। सत्के चरम परिणामको षड्विध विकाररहित नित्यतत्त्वरूपमें प्रकट किया गया है—ज्ञान और आनन्दको ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूपसे पूर्णत्वमें स्थापित किया गया है। यह सच्चिदानन्दतत्त्व स्वरूपतः 'मूकास्वादनवत्, अनिर्वचनीयम्, स्वयमेव तत्त्वम्, स्वयमेव बोध्यम्' है; यह जो समझ गया है, उसीने समझा है—भाषामें इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। इतनेपर भी भाषामें वर्णन किये बिना भी काम नहीं चलता—साधारण लोगोंके लिये अपने-अपने अधिकारके अनुसार कुछ-न-कुछ कल्पना और साधना करनेकी जरूरत है। भाषामें वर्णन करनेसे थोड़ी-बहुत विकृति आ ही जाती है। इसीलिये समय-समयपर धर्ममें संशोधन करनेकी व्यवस्था युग-युगान्तरसे चली आ रही है। समय पाकर 'भगवान्' शब्दके साथ अनेक प्रकारके विशेषण युक्त हो गये हैं। आदर्श मनीषी इस तरहके विशेषणोंको पसंद नहीं करते। हाँ, कोई-कोई कुछ अप्राकृत विशेषणोंको स्वीकार भी कर लेते हैं।

भगवान् बुद्धने इस चरम तत्त्वको 'शून्य' कहा है। जागतिक भावोंको, कामना, वासना, आसक्तियोंको शून्यमें परिणत किये बिना वह वचन-मनसे अगोचर स्वयंप्रकाश-तत्त्व प्रकट नहीं हो सकता—अनुभूत नहीं हो सकता। इसीलिये उस धर्ममें 'यत्किञ्चिदवशिष्यते' आदि बातोंका उल्लेख रहनेपर भी चरम तत्त्वकी ओर विशेष दृष्टि न दे केवल साधनप्रणालीकी ओर ही ध्यान रक्खा गया है। भगवान् बुद्धकी दृष्टिमें चरम तत्त्वसम्बन्धी भावना प्रचलित 'भगवान्', 'ब्रह्म' आदि नाना प्रकारके विशेषणोंद्वारा विकृत हो गयी है।

लययोगियोंने इस चरम तत्त्वको अनेक स्थलोंमें अव्यक्त और कहीं-कहीं ज्योतिर्मय आदि रूपोंमें प्रकट किया है। उनके मतसे भी मनको निर्विषय, कामना-वासना-संस्कारसे मुक्त करना वास्तविक साधना है, 'ध्यानं निर्विषयं मनः'।

राजयोगियोंके मतसे परम तत्त्व ज्योतिर्मय ब्रह्म आदि रूपोंमें अनुभूत होता है। चित्तको शुद्ध, शान्त, संस्कार-आसक्तिरहित बनानेकी चेष्टा ही साधना है। इनमेंसे कोई-कोई समाधिसुखमें निमग्न रहते हैं। राजर्षि जनक आदिकी तरह कोई-कोई स्वरूपस्थित रहकर सर्वभूतहितमें रत रहते हैं।

सांख्यमतानुसार चरम तत्त्व है पुरुषको प्रकृतिसे मुक्त कर चरम कैवल्यावस्थामें स्थिति प्राप्त करना। कहना न होगा कि यह ज्ञानप्रधान मत है। कोई-कोई सांख्यमतावलम्बी प्रकृति-पुरुषसे ऊपर भी एक उत्तम पुरुषको चरम तत्त्व बतलाते हैं।

वर्तमान युगके अनेक शिक्षित लोग सांख्यमतको त्यागप्रधान संन्यासधर्मका पक्षपाती मानते हैं और इस साधनप्रणालीके बड़े विरोधी हैं; उनका खयाल है कि सांख्य मनुष्यकी कर्महीनता, आलस्य और उदासीनताको प्रश्रय देता है। उनको यह विचार करनेका सुयोग नहीं मिलता कि उनके द्वारा वास्तवमें जगत्का कितना कल्याण हो रहा है। भगवान् बुद्ध और कपिलके शिष्योंके द्वारा एक दिन जगत्में कितनी शान्ति स्थापित हुई थी, यह उनकी धारणासे परेकी बात है। वर्तमान समयमें मानवजाति जिस रूपमें उच्छृंखलता—ध्वंस—के मार्गपर अग्रसर हो रही है, उससे त्राण पानेके लिये बुद्धकी मैत्री और दर्शनशास्त्रका ब्रह्मभाव एक प्रधान उपाय है, इसे वे सोच-विचारकर नहीं देखते। बिना सोचे, बिना समझे, बिना साधना किये जो सिद्ध हो जाते हैं, उनके लिये इस तरहकी भूल और मतिभ्रान्तिका होना स्वाभाविक है।

वेदान्तियोंमें शुद्ध अद्वैत मतवालोंका परम तत्त्व गुणातीत, वचन-मनसे अगोचर, अखण्ड अद्वय ज्ञानतत्त्व है। इनकी साधना चित्तको शुद्ध, कामना-वासना आदिसे रहित करके परब्रह्मका ध्यान करना है। विशिष्टाद्वैत मतवालोंका परम तत्त्व प्राकृत गुणोंसे रहित, अनन्त गुणोंके आधार, अनन्तवीर्य, अनन्तसौन्दर्य, माधुर्य, ज्ञान, प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् हैं। इनकी साधना है दास्यभावसे श्रीभगवान्में प्रीति बढ़ाना और उनके प्रिय कार्य सम्पादन करना। ये लोग विधातासे प्रेम करने तथा उनके विधानके पालनमें तत्पर रहनेको ही साधना मानते हैं। द्वैतवादियोंके मतसे परम तत्त्व अखण्ड अद्वय सच्चिदा-

नन्दविग्रह—अप्राकृत रूपमें सगुण सक्रिय साकार हैं। इनकी साधना है शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना और उसका अधिकार प्राप्त करनेके लिये चौसठ प्रकारके साधकाङ्गोंका अनुष्ठान करना।

ब्रह्मवादी परम तत्त्वको निर्गुण, निराकार, चैतन्यस्वरूप अथच अनन्त दया, प्रेम, ज्ञान और आनन्दसे विभूषित मानते हैं एवं चित्तको शुद्ध और शान्त करके उस परब्रह्मके ध्यान, धारणा और समाधिके द्वारा उसीके भावसे परिभावित होनेको ये साधना मानते हैं।

ईसाई साधकोंने परम तत्त्वको स्वर्गीय पिता मानकर उन्हें स्वर्गराज्यमें स्थापित किया है। उन्होंने अपने प्रियपुत्र आदर्श ईसाको जगत्‌में भेजा जिन्होंने आदर्श जीवन प्राप्त करनेकी साधनप्रणालीकी शिक्षा जीवोंको प्रदान की। स्वर्गराज्यमें जाकर पिताकी सेवाका अधिकार प्राप्त करना और आनन्दका उपभोग करना ही इनका लक्ष्य है।

मुसलमानोंका परम तत्त्व निराकार एकेश्वरवाद है। भगवान् अनन्त गुणोंके आधार, परम प्रेममय, अतुल ऐश्वर्यके अधिपति हैं। एक ईश्वरमें विश्वास करना और जीवोंके प्रति भ्रातृभाव और प्रेम रखनेकी चेष्टा करना इनकी साधना है। इनमें जो सूफी होते हैं, वे शुद्ध अद्वैत और विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार साधना करते हैं।

सौरसम्प्रदायके लोग परम तत्त्वका ब्रह्मज्योतिके रूपमें ध्यान करते हैं। चित्तको शुद्ध और शान्त करना इनकी साधना है।

गाणपत्य परमतत्त्वको सिद्धिदाता मानते हैं; चित्तको कामना, वासना और आसक्तिसे शून्य करके, फलाकांक्षासे रहित होकर, विशेष रूपसे कर्मयोगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेकी चेष्टा करना इनकी साधना है।

शाक्तमतानुसार परम तत्त्व शिव-शक्तिसे युक्त ब्रह्मतत्त्व है। शक्तिमान् धारणासे अतीत है, शक्ति ही अनुभववेद्य है और इस कारण हमारी आराध्या है। चित्तको शून्य (शव) में परिणत करके, आद्याशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि करके उसी शक्तिसे शक्तिमान् होकर अपना और जगत्‌का कल्याण करनेके उपयुक्त और तत्पर होनेकी चेष्टा करना इनकी साधना है। अनधिकारीके हाथमें पड़कर साधनाके विकृत हो जानेकी जिम्मेदारी सच्चे साधकपर नहीं है।

वैष्णव मतानुसार परम तत्त्व ज्योतिर्मय, सच्चिदानन्दविग्रह, अनन्त, अप्राकृत गुणोंका आकर है। परम तत्त्वकी शिक्षा देनेके लिये परम करुणामय श्रीभगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूपोंमें, अप्राकृत शरीरसे पृथिवीपर अवतीर्ण होकर, जीवको अपना अप्राकृत स्वरूप दिखाकर, अप्राकृत भगवद्धाममें ले जाकर, आनन्दभोगका मार्ग दिखा दिया है। इनकी साधनप्रणाली है इन्द्रियसंयमके द्वारा चित्तको शुद्ध, शान्त और पवित्र बनाकर अप्राकृत गुण, ज्ञान और प्रेमसे विभूषित होकर भगवानसे प्रीति और उनका प्रिय कार्य करना तथा जीवोंकी सेवा करनेकी चेष्टा करना।

गीताके मतसे भगवान् गति, भर्ता, विभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद् आदि गुणोंसे भूषित उत्तम पुरुष हैं। साधना है इन्द्रियसंयम और चित्तशुद्धिके द्वारा गुणातीत, द्वन्द्वातीत अवस्थामें स्थित होकर कर्म, ज्ञान और भक्तिके सामञ्जस्य और पूर्ण परिणतिके द्वारा पुरुषोत्तमकी शरणापत्ति तथा उनके भावसे भावित होकर उनकी इच्छा पूर्ण करना—सर्वतोभावसे सर्वभूतहितमें रत रहना।

विज्ञानशास्त्र जगत्‌के परम तत्त्वका निर्णय करनेमें अभीतक सचेष्ट है और उस तत्त्वके समस्त गुणों और शक्तिसे भूषित होकर, उसी शक्तिकी सहायतासे जगत्‌का सब प्रकारसे हित करनेमें नियुक्त रहनेका उपदेश देता है।

भक्तोंके परम तत्त्व भगवान् हैं—वास्तविक भक्त केवल दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्त्वको लेकर तृप्त होनेके लिये प्रस्तुत नहीं होते। दूसरोंके लिये भगवान् सिर्फ एक बात हैं—वे केवल बातोंमें भगवान्‌का अस्तित्व स्वीकार कर इस प्रकारसे संसारमें रहते हैं जिससे मालूम ही नहीं होता कि वे भगवान्‌में विश्वास करते हैं। वे मुँहसे कहते हैं कि भगवान् सब देखते हैं, परन्तु उन्हें अन्याय्य कार्य करनेमें संकोच नहीं होता। वे मुँहसे कहते हैं कि भगवान् जगत्‌के मातापिता, अन्तरात्मा हैं; परन्तु संसारके जीवोंके, भगवान्‌के जीवन्त विग्रहोंके हृदयको चोट पहुँचानेमें उन्हें दुविधा नहीं होती। वे भगवान्‌को दीनबन्धु कहते हैं, और साथ ही दीन-दुखियोंके विषयमें उदासीन रहते हैं। उनमेंसे अधिकांश मुँहसे भक्त और भाव तथा क्रिया नास्तिक होते हैं। बहुत-से लोग डरते हुए स्वार्थसिद्धि या प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये मुँहसे भगवान्-भगवान् चिल्लाते हैं और साधन-भजनका ढोंग करते हैं, परन्तु उनमें भगवद्भाव दिखायी नहीं देता। सच्चे भक्त, सच्चे साधकके लिये उनके भगवान् उनके सर्वस्व हैं। भगवान्‌के बिना उनका काम ही नहीं चलता, भगवान्‌के बिना उनका जीवन ही नहीं। उनकी देहके प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक रन्ध्र, प्रत्येक इन्द्रियको श्रीभगवान्‌ने

तैयार किया है; उनकी सब जगहोंमें उनके श्रीभगवान् अधिष्ठित हैं; भगवत्-शक्ति, भगवत्-कृपाके बिना वे कोई काम नहीं कर सकते। भगवद्विधान, भगवत्कृपाके सिवा उनके नेत्र कुछ नहीं देख सकते, कान कुछ नहीं सुन सकते, मन दूसरा कुछ नहीं सोच सकता—थोड़ेमें कहा जाय तो वे एक क्षण भी जी नहीं सकते। इसीसे तो भक्तोंके भगवान् उनके लिये—'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः' हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके भीतरसे भक्त भगवान्के रूप, रस, सौन्दर्य और माधुर्यको देखते हैं, यहाँतक कि उनके कातर आह्वानको सुनते हैं। जगत्का सब सौन्दर्य-माधुर्य उनके उन परम सुन्दरकी लीलाविभूति है, जगत्का समस्त ज्ञान उनका चिदाभास है, सब आनन्द-प्रेम उनके ही आनन्दका विकासमात्र है—एक वाक्यमें कहें तो समस्त जगत् उन्हींकी मूर्ति है। साधु-सज्जनोंके अंदरसे उनका शान्तभाव, समस्त सेव्य-सेवकोंके भीतरसे उनका दास्यभाव, सब मित्रोंके भीतरसे उनका सख्यभाव, मा-बापके भीतरसे उनका वात्सल्यभाव और पति-पत्नीके भीतरसे उनका मधुरभाव झर रहा है। उन्हींका प्रेम इन सब विभिन्न आधारोंके अंदरसे होकर हमारे अधिकारके अनुसार विभिन्न रूपोंमें प्रकट हो रहा है। उन्हीं रसस्वरूपके, प्रेमस्वरूपके, आनन्दस्वरूपके प्रेमानन्दरसने जगत्को मतवाला बना रक्खा है। वे पुत्रसे, वित्तसे, अन्य सब चीजोंसे, यहाँतक कि आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं—इसीलिये तो वे परमात्मा हैं, 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् यदेष अन्तरतम आत्मा।' उनको जान लेनेपर सब ज्ञात हो जाता है; उनको पा लेनेपर सब प्राप्त हो जाता है। उन्हें प्राप्त किये बिना जन्म व्यर्थ है, जीवन व्यर्थ है, सब कुछ व्यर्थ है। उनका सौन्दर्य-माधुर्य जीवको ऐसा पागल बना देता है कि उस समय भगवान्को पाये बिना उसका काम नहीं चलता। इसीलिये भक्त प्राणोंकी बाजी लगाकर भगवान्को चाहता है, भगवान्की तृप्तिका कहीं अभाव न हो जाय इस डरसे वह कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता, उसके सारे कार्य होते हैं केवल भगवान्की तृप्तिके लिये—'कृष्णसुखैकतात्पर्य गोपीभाववर्य'। ऐसा कोई काम नहीं जिसे वह भगवान्के लिये नहीं कर सकता—उसी चेष्टामें, उसी साधनामें उसकी देहगेहस्मृतिपर्यन्त लोप हो जाती है। भक्तके भगवान् एक अलौकिक वस्तु हैं—उसके भगवान् उसके अपने अस्तित्वसे भी अधिक सत्य हैं; उसकी बातें, भाव और कार्य भगवान्की महिमाको प्रकट करते हैं—घोर नास्तिकको भी विश्वास करा देते हैं; उसके प्रेमके कारण जंगली हिंस्र जन्तुतक हिंसा-द्वेष भूल जाते हैं—पतित, पापी, तापी तर जाते हैं।

यह हमने देख लिया कि भगवत्तत्त्वके सम्बन्धमें गौणरूपसे मतभेद होनेपर भी मुख्यतः विशेष मतभेद नहीं है। अधिकांश मतानुसार जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता, सर्वव्यापी, अनन्त गुण, ज्ञान, प्रेम और आनन्दके मूलाधार, परम कारुणिक, जीवके कल्याणसाधनमें तत्पर एक अनिर्वचनीय तत्त्वविशेषको 'भगवान्' शब्दके द्वारा निर्देश किया जाता है। वे एक ही आधारमें विधान और विधाता हैं, समस्त जगत् उनकी मूर्ति है, विधानके द्वारा ही वे अनुमेय और अनुभूत हैं। उनके प्रति अनन्य प्रेमभाव रखना और उनके प्रिय कार्योंको करना ही उपासना या साधना है। ऋषि-मुनियोंने शुद्ध–शान्त होकर उनके विधानोंका दर्शन करके पीछे 'शास्त्र' नामसे उनका प्रचार किया है। वे सब विधान जीवोंकी पूर्णताप्राप्ति, शान्ति और ज्ञानप्राप्तिमें सहायक हैं; उनका उद्देश्य है जगत्में धर्मराज्य, दिव्यराज्य स्थापित करना। साधनाका उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति–पूर्णताप्राप्ति–सच्चिदानन्दका पूर्णरूपेण, अबाधित रूपसे स्फुरण, जीवित रहना, ज्ञान प्राप्त करना। जो आनन्दपूर्वक रहना नहीं चाहता, ऐसा जीव, यहाँतक कि ऐसा पदार्थ जगत्में दुर्लभ है। अतएव जो सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्को नहीं चाहता, उन्हें जानमें या अनजानमें पानेकी चेष्टा नहीं करता, ऐसा मनुष्य संसारमें दुर्लभ है।

भगवान्में क्यों विश्वास करें, उनमें विश्वास करनेसे क्या लाभ है, विश्वास नहीं करनेसे क्या अनिष्ट हो जायगा, क्यों 'महती विनष्टि' होगी–इन बातोंको विशेष रूपसे अनुभव करनेके लिये हमें यह अनुभव करना होगा कि वे हमारे भीतर और बाहर बैठकर किस प्रकार हमारा कल्याण करनेमें लगे हुए हैं। और उनकी उस कार्यप्रणालीको अनुभव करके जब हम अपने देहयन्त्रको, अपने मनको उनकी उस सहायताको पानेके अनुकूल बना लेंगे तब इस बातका हमें अनुभव होगा कि वे किस रूपमें कितनी सहायता कर सकते हैं—हम किस तरह पूर्णता प्राप्त करके पूर्णशान्ति, पूर्णज्ञानका अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। हमारे इस देह और जगत्के समस्त तत्त्वोंकी आलोचना जिन लोगोंने विशेष रूपसे की है, उनका मत है कि हमारी इस देहके अंदर सभी तत्त्व अवस्थित

हैं। इसके स्नायुकेन्द्रों (Nerve Centres) में समस्त शक्तियाँ बीजरूपसे, सूक्ष्मरूपसे निद्रित (Latent) अवस्थामें वर्तमान हैं। कार्यविशेषके द्वारा, भावविशेषके द्वारा उन शक्तियोंको जाग्रत् (Patent) करनेपर हम सब प्रकारकी अलौकिक (दूरदर्शन, दूरश्रवण, दिव्यदर्शन, दिव्य अनुभूति आदि) शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् हमारे अंदर पूर्णशक्ति, पूर्णज्ञान और आनन्दके साथ विराजमान हैं। वे प्रकट होनेके लिये सचेष्ट हैं—हमारी अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, हमारी कामना, वासना, आसक्ति उनके प्रकट होनेमें बाधा पहुँचा रही है। इन बाधाओंको दूरकर उनके प्रकट होनेका मार्ग खोल देना ही साधना है। अतएव भगवद्विश्वास, भगवत्साधना हमलोगोंको भगवद्भावसे भर सकती है, भगवद्गुणोंसे अलंकृत कर सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इससे अधिक लाभकी सम्भावना जगत्में दुर्लभ है; अतएव इसके अभावमें जितना अनिष्ट है, उसकी अपेक्षा अधिक अनिष्ट और किसी बातसे नहीं हो सकता।

उपकार-अनुपकारके विषयमें विचार करनेसे पूर्व यह देखना होगा, समझना होगा कि उपकार कहते किसको हैं—इसके लिये यह जाननेकी जरूरत है कि हम चाहते क्या हैं। अतएव पहले यह विचार कर लेना उचित है कि हमारे जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है। ऋषि, साधक कहते हैं कि जीवका परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। भगवत्प्राप्तिका अर्थ है पूर्णताप्राप्ति। भगवत्प्राप्तिका मतलब है सत्ता, चैतन्य और आनन्दसे पूर्णरूपमें भूषित होना—इस बातको ध्यानमें रखनेपर ऋषियोंकी बातमें सन्देह नहीं होगा। शरीरको स्वास्थ्य, वीर्य, सौन्दर्य और माधुर्यसे विभूषितकर सब कामोंके योग्य बनाना, मनको समस्त ज्ञान, प्रेम, आनन्दसे परिपूर्णकर सब भूतोंके हितसाधनमें रत रखना, सर्वत्र भगवान्के दर्शन, अनुभव और सेवाकी योग्यता प्राप्त करना जीवनकी चरम सार्थकता है, इसमें सम्भवतः कोई सन्देह नहीं करेगा। और ये सब अत्यन्त आवश्यक तत्त्व सच्चिदानन्दकी प्राप्ति—भगवत्प्राप्तिके अन्तर्गत हैं, यह बुद्धिमानोंने अनुभवद्वारा जाना है, अतएव यह स्वीकार करने योग्य है। भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति—भयसे हो या प्रेमसे हो—मनुष्यको हिंसा-द्वेष, लड़ाई-झगड़ोंसे बचाती है और समस्त जीवोंके प्रति एक पवित्र, मधुर भ्रातृभावकी सृष्टि करती है। भक्तिके प्रभावसे जीवन मधुर हो जाता है, समाज मधुर हो जाता है, जगत् मधुर हो जाता है। भक्तिका बीज अंकुरित होकर समस्त जीवनको फूलफलसे, समस्त सद्गुणोंसे सुशोभित करता है। भक्तका हृदय सात्त्विक भावोंसे, आनन्दसे इतना मधुर बन जाता है कि उसके संसर्गमें आकर असंख्य नर-नारी अपने प्राणोंकी ज्वाला शान्त करते हैं, आनन्दरसका पान करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं। सच्चा विश्वासी भगवद्भक्त जगत्को दिव्य राज्यमें, आनन्दधाममें परिणत कर देता है। भक्तके जीवनमें भगवदिच्छा पूर्ण सफलता प्राप्त करती है। विश्वासकी कमी, नास्तिकताके प्रभावसे आज पृथिवी एक पैशाचिक रंगभूमिके रूपमें पलट गयी है। स्वार्थके लिये, प्रतिष्ठाके लिये ऐसा कोई काम नहीं जिसे हम नहीं कर सकते—जिसमें बल है वह, दूसरेका सब कुछ छल, बल, कौशलसे छीन लेनेमें तत्पर है। विद्वेष-हिंसाकी आग सर्वत्र धधक रही है। वैज्ञानिक आविष्कार तक आज इन्हीं दुष्कर्मोंमें सहायक हो रहे हैं, जीवनका नाश करनेमें उनका प्रयोग हो रहा है। इस श्मशानसदृश पृथ्वीकी रक्षा करके उन्नतिकी ओर, पूर्णताप्राप्तिकी ओर, शान्तिकी ओर ले आनेमें एकमात्र भगवद्विश्वास और सच्ची साधना ही सब प्रकारसे समर्थ है।

भगवान्के अस्तित्वका प्रमाण

विज्ञानशास्त्रने शक्ति और जडतत्त्वके मूलका निर्देश करते हुए जिस प्रकृतिका परिचय दिया है, उस प्रकृतिके अन्तरात्मा अन्तर्यामी पुरुषको ही दर्शनशास्त्रने जगत्का मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर आदि शब्दोंद्वारा लक्षित करा उनके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कही हैं। दर्शनशास्त्रने साधारण तौरपर सृष्टिको देखकर स्रष्टा, जगत्कौशलको देखकर भगवान्, विधान और नीतिकी नियमावली देखकर उस विधाताके अस्तित्वके सम्बन्धमें जिन प्रमाणोंको दिया है, उनकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, ये प्रमाण माने गये हैं।

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥

—आदि श्लोकोंके द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण सीमाबद्ध और दोषयुक्त है, यह दिखाया है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि इन्द्रियोंकी अपटुता, चित्तकी मलिनता और संस्कार आदिके कारण मनुष्य किसी पदार्थको ठीक-ठीक देखने और समझनेमें असमर्थ है। उसके बाद अनुमान प्रत्यक्षमूलक

होता है; अतएव उसके ऊपर भी बराबर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिये अतीन्द्रिय विषयमें दर्शनशास्त्रने आगमके मतको ही श्रेष्ठ प्रमाणके रूपमें ग्रहण किया है। सिद्ध महात्माओं, अपरोक्षदर्शी ऋषियोंने साधनबलसे जिन तत्त्वोंको प्रत्यक्ष देखा है, उनमें सन्देह करना उचित नहीं। जो तत्त्व साधारणतः प्रत्यक्ष नहीं है, सूक्ष्म है, उसे स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कामना, वासना, आसक्ति और संस्कारकी छाया रहनेपर स्वयंप्रकाश ईश्वरतत्त्व अनुभूत भी नहीं होता। यह सब तत्त्वानुभूति साधनसापेक्ष है। इसके लिये या तो सिद्ध-महात्माओंकी बातपर विश्वास करना होगा या उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलकर अनुभवकी योग्यता प्राप्त करनी होगी। इसके अतिरिक्त भगवत्तत्त्वकी उपलब्धिका और कोई मार्ग नहीं है। पहले कहा गया है कि असली मूलतत्त्वके सम्बन्धमें सिद्ध-महात्माओंमें मतभेद नहीं है और गौण लक्षणके विषयमें जो मतभेद है, उससे विचलित होनेका कोई कारण नहीं है। कहते हैं, शिव और राम परस्पर मित्र हैं; दोनों ही एक दूसरेका गुरुरूपमें सम्मान करनेमें व्यस्त रहते हैं। परन्तु शिवके भक्त भूतों और रामके भक्त वानरोंके बीचका विवाद कभी मिटनेवाला नहीं।

एक-एक तत्त्वकी अनुभूतिके लिये एक-एक इन्द्रिय निर्दिष्ट है; जैसे देखनेके लिये नेत्र, सुननेके लिये कान, सोचनेके लिये मन है, वैसे ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगवत्तत्त्वका अनुभव करनेके लिये जरूरत है दिव्य चक्षुकी। वह दिव्य दृष्टि साधनाके फलस्वरूप भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होती है। भगवान्‌के सखा अर्जुनतकको दिव्यदृष्टिके बिना भगवद्दर्शन करनेकी योग्यता नहीं प्राप्त हो सकी थी। यह वर्णन आया है कि एक बार महात्मा व्यासदेव शिष्योंके सामने भगवत्-तत्त्वका वर्णन करते समय धीरे-धीरे समाधिस्थ हो गये। समाधि टूटनेपर जब उन्हें मालूम हुआ कि शिष्योंने भगवत्-तत्त्वका वर्णन केवल आधा ही सुना है, तब उन्होंने कहा—'तुमलोगोंने केवल मेरे मुँहसे निकला हुआ वर्णन सुना है; मैंने मनके द्वारा और अन्तमें आत्माके द्वारा जिन भावोंको बतलाया है, उसे तुमने मन और आत्माके द्वारा अनुभव करनेकी चेष्टा नहीं की है; अतएव वह तत्त्व तुम्हारे सामने प्रकट नहीं हुआ है।' किसी चक्रवर्ती महाराजके अन्तःपुरका गुप्त रहस्य रास्तेके आदमियोंको कैसे मालूम होगा? अचिन्त्य तत्त्व केवल विचारद्वारा नहीं जाना जा सकता—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

प्रकृत भगवत्तत्त्व प्रकृतिसे परे, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अतएव विचारद्वारा उसका निर्णय नहीं हो सकता। भगवद्दर्शनके लिये दिव्यचक्षु (सचक्षुरचक्षुरिव), भगवान्‌की वंशीध्वनि सुननेके लिये दिव्य कर्ण (सकर्णः अकर्ण इव) की आवश्यकता है। मनुष्यको हम कितना जानते हैं? शरीरको, मनको देखकर उसके अंदर आत्माका अनुमान हम करते हैं, उसी तरह जगत्‌के विधानोंको देखकर विधाताको पकड़नेकी चेष्टा करो, जगत्‌के पास थोड़ा सँभलकर जाओ, जगत्‌को जरा अच्छी तरह देखो, विधानोंका पालन करो, धीरे-धीरे जगन्नाथ अपने-आपको प्रकट करना आरम्भ करेंगे। पहले यह निश्चित करो कि तुम हो या नहीं; पीछे तुम देखोगे कि वे हैं, तुम्हें कुछ सोचना नहीं होगा—'कंगाल' की इस उक्तिके साथ पाश्चात्य पण्डित सुकरातकी इस उक्तिका सुन्दर सादृश्य है कि 'अपनेको जानो, तभी भगवान्‌को जान सकोगे' (Man, know thyself and then you will know God)। हम जगत्‌में जो कुछ देखते, सुनते, चखते हैं, वह सब भगवद्विभूति है; अतएव भगवान्‌को हम बिलकुल नहीं जानते, नहीं समझते, नहीं देखते, यह बात सत्य नहीं है। जब हम अपने इस सीमाबद्ध दर्शन और अनुभवको अनन्ततक फैला देंगे तब भगवद्दर्शन, भगवदनुभूति सहज हो जायगी। ठीक तरहसे, पूर्णरूपमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधनाके द्वारा इन्द्रियोंको संयत, चित्तको शुद्ध, शान्त, संस्काररहित करना होगा। तब उस विशुद्ध, स्वच्छ, प्रेमोद्भासित चित्तमें स्वयंप्रकाश भगवत्तत्त्व धीरे-धीरे प्रकट होना आरम्भ होगा। भगवद्दर्शन, भगवदनुभूतिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतएव भगवान्‌के अस्तित्वके विषयमें ऋषियोंकी वाणी ही श्रेष्ठ प्रमाण है। उन्हें देखा, जाना, पाया जा सकता है, ऐसी आदर्श सिद्ध पुरुषों, ऋषियोंकी उक्ति है। अवश्य ही पूर्णस्वरूपको पूर्ण रूपमें पाना अपूर्ण जीवके लिये सम्भव नहीं है। उन्हें प्राप्त करनेका कार्य समाप्त नहीं हो सकता—एक भक्त कहता है, 'तुम अनन्त हुए हो, यह अच्छा ही किया है; सदा अनन्त, अपार बने रहो।'—भक्त-भगवान्‌का यह आँखमिचौनीका खेल एक नित्य तत्त्व-विशेष है। भगवान् बुद्धके बुद्धत्व, कपिलके कैवल्यको हम भगवत्प्राप्तिके सिवा और कुछ नहीं मान सकते। विधान जिस तरह विधाताको प्रकट करता है, उसी तरह भक्तका वचन, भक्तका अनुभव, भक्तका आनन्द भी मनुष्यको

भगवान्में विश्वास करनेके लिये बाध्य करता है—भगवान्का अनुसन्धान करनेके लिये प्रलुब्ध करता है। ज्ञानी, भक्त या प्रेमीके मतसे भगवान्में विश्वास करना ही स्वाभाविक है—विश्वास न करना ही एक अस्वाभाविक और असम्भव बात है। समय-समयपर ऐसे महापुरुष देखे जाते हैं जिन्हें देखनेपर फिर भगवान्में विश्वास किये बिना रहा नहीं जा सकता। वे ही मानो भगवान्की जीवन्त मूर्ति हैं—भगवत्सत्ताके श्रेष्ठ प्रमाण हैं। स्वामी विवेकानन्द परमहंसदेवको देखकर, पाकर ही भगवान्की सत्तामें विश्वास करनेके लिये बाध्य हुए। श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

वेदके ज्ञानके द्वारा, मेधाके द्वारा भगवान्को नहीं जाना जा सकता—केवल 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' अनर्थकी निवृत्ति होनेपर भगवद्विधानके अनुसार—भगवत्कृपासे नित्यसिद्ध भगवद्विश्वास, भगवत्प्रेम अपने-आप फूट निकलता है। साधना और भगवत्कृपाके अतिरिक्त भगवद्विश्वास, भगवद्दर्शनका और दूसरा उपाय नहीं है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

भगवत्कृपाकी अनुभूति

१—प्रायः ३५ वर्षसे कभी मैंने रुपये-पैसेको हाथ नहीं लगाया, वस्त्र या भोजनके लिये किसीसे भी प्रार्थना नहीं की, फिर भी जंगलमें बर्फके पहाड़पर घूमते समय भी एक दिन भी भोजनकी असुविधा या कष्ट नहीं हुआ। बहुत बार तो लोगोंने इस तरह अन्न-वस्त्र लाकर दे दिया जैसे कोई स्वप्नमें ला दे। इसमें मैंने बहुत अच्छी तरहसे भगवत्कृपाका अनुभव किया।

२—असमयमें लोगोंने स्वप्न देखकर नौका और मोटरगाड़ी लाकर सहायता की है। इस प्रकारसे भगवत्कृपाका अनुभव हुआ है कि उसके फलस्वरूप यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि माँ जिस तरह छोटे बच्चेके आवश्यक कामोंको किये बिना नहीं रह सकती, हमारे भगवान् भी उसी तरह अपने विधानके अनुसार हमारे सब अभाव दूर करनेके लिये बाध्य हैं। विश्वाससे सब होता है, सब प्राप्त होता है।

३—चित्त जितना शुद्ध और शान्त होता जाता है उतना ही जगत्, जीव सुन्दरसे सुन्दरतर माळूम होता जाता है। तत्पश्चात् जितना ही अपनेको, अपने संस्कार, कामना, वासना, यहाँतक कि अस्तित्वतकको भुलाया जाता है, उतना ही सब कुछ एक प्रकारकी ज्योतिसे भरता जाता है। अन्तमें एक ऐसी अवस्था आ पहुँचती है जब 'तुम' भी नहीं रहता, 'मैं' भी नहीं रहता—कोई द्वन्द्वभाव नहीं रहता—रह जाता है केवल एक अनन्त ज्योतिका समुद्र, जिसके अन्दर अनन्त जीवजगत् ज्योतिके हिमखण्डकी तरह तैरता रहता है। समय-समयपर तब सर्वत्र इष्टदर्शन, देवमूर्ति आदिके दर्शन भी होते हैं। उस समय ऐसे अनेक अलौकिक अनुभव होते हैं जिनकी सत्यता समाधि टूटनेपर प्रमाणित होती है।

४—बहुत बार बर्फके पहाड़से गिरनेका मौका आते ही ऐसा अनुभव हुआ है मानो किसीने हाथ पकड़कर रोक लिया है और इस तरह जीवनकी रक्षा की है। अनेक समयोंमें आकाशवाणीकी तरह अत्यन्त मधुर शब्दने आकर विपत्तिसे मेरी रक्षा की है, वस्त्र पहनकर अपनी रक्षा करनेके लिये इशारा किया है।

५—स्वप्नमें अवतारविशेषके द्वारा गीता, वेदान्त आदिके सम्बन्धमें शंकाका निवारण हुआ है।

६—ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें ज्योतिर्दर्शन, सब भूतोंके अंदर आत्मदर्शन और अनेक बार स्वप्नमें अलौकिक ढंगसे भगवद्विभूतिका दर्शन तथा उसके फलस्वरूप सब जीवोंके प्रति प्रेमभावकी वृद्धिका अनुभव प्रायः सभी सच्चे साधक करते हैं। बीच-बीचमें ऐसा दर्शन होने लगता है, जिससे सब पदार्थ, सब जीव ज्योतिर्मय माळूम होते हैं और फिर अपने और दूसरोंके भीतर सर्वत्र एक अलौकिक ज्योति सबके अंदर भरी हुई माळूम होती है, जिसके फलस्वरूप दिव्य आनन्दकी प्राप्ति होती है और समस्त जगत् आनन्दसे परिपूर्ण माळूम होता है।

७—मेरे प्राण मानो निकलनेहीवाले हैं, ऐसी अवस्थामें विचित्र ढंगसे जंगलमें, बर्फके पहाड़पर ऐसी बहुत-सी चीजें मिली हैं, जिनके रहनेकी वहाँ कोई सम्भावना नहीं थी और इस तरह उनके द्वारा जीवनकी रक्षा हुई है। साधक भक्तोंके जीवनमें प्रायः सब घटनाओंमें भगवत्कृपाका आभास पाया जाता है। जिसे आँखें होती हैं, वह देखता है; जिसके प्राण हैं, मन है, वह अनुभव करता है।

भक्त कलेक्टर साहब

[कहानी]

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचंदजी)

अलीगढ़के कलेक्टर साहब बड़े ही भक्त थे। गीता और रामायण आपको कंठ थी। आप प्रत्येक मुकदमेका फैसला केवल सरकारी कानून और नजीरसे न करके गीता और रामायणके कानूनसे किया करते थे। आपके कुछ संस्मरण 'कल्याण' के पाठकोंके लाभार्थ नीचे प्रकाशित किये जाते हैं।

× × ×

आप बालब्रह्मचारी थे। एक बार आपके मित्रोंने एक अंग्रेज़ कुमारीको 'कोर्टशिप' के लिये आपके पास भेजा। आपने उससे कहा कि 'तुम मेरे साथ विवाह करना चाहती हो या मेरे वेतनके साथ? अगर मेरे साथ विवाह करनेकी इच्छा है तो मैं इस्तीफ़ा लिखे देता हूँ, फिर विवाह कर लेना! अगर मेरे वेतनके साथ विवाह करना है तो मुझे धन-लोलुप साथीकी आवश्यकता नहीं।' इस उत्तरको सुनकर वह मेम चुपचाप खिसक गयी!

× × ×

आप बड़े दानी थे। बाईस सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। केवल दो सौ रुपये अपने लिये रखकर शेष दो हजार रुपये मासिक दान किया करते थे। एक दिन कहने लगे—'ये जो दो सौ रुपये अपने ऊपर खर्च करता हूँ, इसका मुझे बड़ा कलंक है। यह रुपया 'मिट्टी' हो जाता है। दो हजार रुपयेका दान—भविष्यकी बैंकमें जमा होकर 'सोना' हो जाता है!' भक्त, विधवा और विद्यार्थी ही आपके दानपात्र थे। आप परीक्षा लेकर दानका अधिकारी चुनते थे।

× × ×

एक दिन प्रातः आठ बजे दो विधवाएँ देहातसे आयीं। सबको हर समय मिलनेकी आज्ञा थी ही। अगर कोई नौकर किसी मिलनेवालेके मार्गमें कंटक बिछाता तो वह तुरंत बरखास्त कर दिया जाता था। इस विषयमें साहबका खास आर्डर था—'जो मुझसे मिलने आवे उसे मत रोको। नहीं तो उसकी आत्माको दुख होगा। आत्माको दुखानेवाला ही परमात्माका शत्रु है।' दोनों विधवाओंसे साहबने कहा कि अपना घूँघट खोलो। एक स्त्रीने घूँघट खोल दिया और एकने नहीं खोला। जिस स्त्रीने घूँघट खोल दिया उसको पाँच रुपये देकर साहबने कहा—'तुमको मददकी जरूरत नहीं। तुमने लाजको दूर कर दिया है। तुम मिहनत करके अपना पेट पाल सकती हो। तुमको कुछ भी नहीं देना चाहिये था, परन्तु दूरसे आनेके कारण कुछ देता हूँ—विमुख करना भी बे-कानून है। मगर अब कभी यहाँ मत आना।' इसके बाद घूँघट न खोलनेवाली स्त्रीके हाथपर साहबने पचीस रुपये रख दिये और कहा—'तुम सहायताकी पात्र हो। तुमने लाजकी रक्षा की है। जब यह रुपया खर्च हो जावे, तब और ले जाना, बहिन!'

× × ×

सन् ३० में 'गाँधीकी आँधी' ने सन् २० जैसा प्रचंड रूप धारण किया था। एक विद्यार्थी प्रातःकाल साहबके बँगलेमें आया। उसने एक पुड़िया मेज़पर रख दी। साहबने कागज खोला तो उसमें बनाया हुआ नमक रक्खा था।

साहब—ओह ! तुमने नमकका कानून तोड़ दिया । तुमको जेल जाना पड़ेगा ।

विद्यार्थी—मैं इसीलिये आया हूँ कि आप मुझे जेल भेज दें । निर्धनताके कारण मैं शिक्षा प्राप्त करनेमें असमर्थ हूँ । जेलमें रोटी तो मिलेगी—बाहर तो रोटीके भी लाले हैं ।

साहब—मैं तुम्हारी रोटीका इन्तजाम जरूर करूँगा । यह जो नमक तुमने बनाया है वह साफ नहीं है—मैला है । कल इसीको साफ़ करके लाओ तब मैं तुमको सजा दूँगा ।

दूसरे दिन ठीक उसी समय वह छोटा-सा विद्यार्थी फिर आया । खद्दरका कुर्ता, खद्दरकी टोपी और नंगे पैर ! साहबने पुड़िया खोलकर नमक देखा और एक चुटकी जबानपर रखकर कहा—'हाँ, यह ठीक है । देखनेमें भी उजला है और ज़ायकेमें भी कड़ुवापन नहीं है । मैं पाँच रुपया मासिक तुम्हारी वृत्ति मुकर्रर करता हूँ ।'

× × ×

एक पटवारीने रिश्वत लेकर एक काश्तकारको मारूसी ज़मीन शिकमी कर दी थी । मुकदमा चला । कलक्टर साहब पटवारीपर बिगड़ रहे थे ।

साहब—तुमने ज़मींदारको फ़ायदा पहुँचानेके लिये एक गरीबका खून कर दिया । मैं तुमको कड़ी-से-कड़ी सज़ा दूँगा । मैं तुमको बरखास्त करूँगा और तीन सालके लिये जेल भेजूँगा ।

पटवारी था चंट । उसने सुना था कि साहबको गीता और रामायणसे बड़ा प्रेम है । उसने रामायणका सहारा लिया ।

पटवारी—

छमहु चूक अनजानत केरी । चहिअ आपकहुँ कृपा घनेरी ॥

साहब—

जौं सठ दंड करौं नहि तोरा । भ्रष्ट होइ श्रुति-मारगु मोरा ॥

पटवारी—

जेंहि अघ बध्यो ब्याध जिमि बाली ।
सोइ सुकंठ पुनि कीन्हि कुचाली ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी ।
सपनेहुँ नाहिं राम हियँ हेरी ॥

इसपर कलेक्टर साहेब चुप हो गये । पटवारीको सावधान करके छोड़ दिया । केवल ज़मीन शिकमी कटवाकर पुनः मारूसी लिखा दी ।

× × ×

एक दिन एक बुढ़िया एक लौकी लिये कलेक्टर साहबके बँगलेसे होकर निकली । बँगलेका फाटक पूर्वकी ओर है और वहींपर सड़क है । साहब मोटरपर बैठकर प्रातःकालीन वायुका सेवन करनेके लिये गये थे । खानसामाने बुढ़ियाको पास बुलाकर लौकीकी कीमत पूछी । अलीगढ़की लौकी लंबी बहुत होती है । उसने छः पैसा मूल्य बताया । इसपर खानसामाने आधी लौकी काट ली और कहा—जा, इस आधीको बेचकर मेरे पास आना । जितने पैसे इसके मिलेंगे उतने ही पैसे मैं भी दूँगा ।

बुढ़ियाने समझ लिया कि ये पैसे गये । वह गरीब बेचारी अपने बच्चेकी बीमारीका इलाज करानेके लिये पैसे संग्रह कर रही थी । टोकनीमें लौकी रक्खे हुए और अपने दुःखके आँसुओंको पोंछती हुई वह सड़कके किनारे-किनारे चली जा रही थी । तबतक साहबकी मोटर आ निकली । साहबने देखा कि एक बुढ़िया रोती हुई रास्ता चल रही है । कौतूहलवश साहबने मोटर रोक दी और वृद्धाको समीप बुलाकर रोनेका कारण पूछा । बुढ़ियाने कहा—'वह जो पीला बँगला दिखायी पड़ता है—आग लगै उस बँगलेमें—उसमें कोई निर्दयी साहब रहता है—बिजली गिरै उस साहबपर—उसके खानसामाने मेरो आधी लौकी काट ली—काला साँप खा जावै उस खानसामाको ।'

साहब–उसने पैसे नहीं दिये ?

बुढ़िया–नहीं ।

साहब–क्या कहा ?

बुढ़िया–कहा कि इस आधीको बेचकर दाम दिखाना, उतना ही दाम मैं दे दूँगा । अब वह दाम क्या देगा ? सरकारके राज्यमें भी 'आलम अंधेर' है । यह सरकार, गरीबपरवर नहीं है—अमीरपरवर है ।

साहब–मेरे पीछे आओ । तुम्हारी आधी लौकी मैं खरीदूँगा ।

जब साहबकी मोटर उसी पीले बँगलेमें घुसी तब तो बुढ़ियाका माथा ठनका ! क्योंकि उसने उस बँगलेको और उसमें रहनेवाले अज्ञात साहबको कोसा था । परन्तु वह चली गयी । उसने सोचा—मेरी गालीको साहबने क्यों समझा होगा ।

साहबने वह आधी लौकी ले ली और उसके मूल्यमें एक नोट दे दिया ।

साहब–जाओ, खानसामाके पास जाओ, और इतना ही दाम उससे वसूल कर लाओ ।

बुढ़ियाने जाकर खानसामाको वह नोट दिखाया ।

खानसामा बोला–यह १००) का नोट कहाँसे उठा लायी ? सड़कपर पड़ा मिला था ? इसे मुझे दे दे, वरना तू पकड़ी जायगी । ले, मैं तुझे छः पैसे देता हूँ जो तूने माँगे थे । आधी लौकी किसे बेच आयी है ?

तबतक एक सिपाही आया और उसने कहा—'खानसामा और बुढ़ियाको कलेक्टर साहब बुला रहे हैं ।'

खानसामाके पैरोंकी ज़मीन निकल गयी । उसने सोचा कि साहबने ही सौ रुपयेमें आधी लौकी खरीदी है । दोनों साहबके सामने गये । अब बुढ़ियाको मालूम हुआ कि यह बँगला कलेक्टर साहबका है ।

साहब–क्यों खानसामा ! क्या यह सच है कि तुमने इस बुढ़ियाकी आधी लौकी काट ली और पैसोंके लिये कहा कि आधी बेचकर आना तब उतने दाम दूँगा जितनेमें आधी बिकेगी ?

खानसामा–जी हजूर ! सच है ।

साहब–धिक्कार है तुझको जो तूने ऐसा बेकानूनी काम किया । धिक्कार है मुझको जो तेरे हाथका भोजन करता रहा । तुझको एकदम डिसमिस किया । एक घंटेके अंदर बँगला ही नहीं, अलीगढ़ छोड़कर चला जा । ला, आधी लौकीकी कीमत उसको सौ रुपये मिले हैं—तू भी आधीकी कीमत उतनी ही दाखिल कर ।

खानसामा–मर जाऊँगा हजूर ! मिट जाऊँगा—गरीबपरवर ! इतने संगदिल न बनो—मालिक !

साहब—अच्छा, बुढ़िया ! नोट वापस करो । वास्तवमें आधी लौकीकी कीमत सौ रुपये ज्यादा है । पचीस रुपये कीमत ठीक है ।

इतना कहकर साहबने नोट ले लिया और पचीस रुपये नक़द बुढ़ियाको देकर खानसामासे कहा कि 'पचीस तुमको देने ही पड़ेंगे ।' खानसामा गया और इधर-उधरसे माँग-जाँचकर पचीस रुपये लाया और बुढ़ियाको दिये । जब खानसामा चला गया तब साहबने बुढ़ियासे कहा—'यह नोट भी लेती जाओ, क्योंकि यह तो मैं पहले ही दे चुका था । इस प्रकारसे एक लौकीकी कीमत डेढ़ सौ रुपये मिली । बुढ़िया असीस देती हुई चली गयी । उसने कहा—'परमात्मा करे सरकारका राज्य हमेशा कायम रहे ! साहेब बहादुरकी दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की हो ।'

× × ×

एक दिन एक बुढ़ियाने आकर कहा कि मेरा खेत पटवारीने ज़मींदारके नाम कर दिया है और दो-तीन सालसे वही उसको जोतता है। किसी तरहसे मुझे मेरा खेत मिलना चाहिये।

साहब–कल इतवारको मैं तुम्हारे खेतपर आऊँगा। दो मज़दूरोंको लेकर मुझे तुम खेतपर हाज़िर मिलना। तुम्हारे खेतमें कोई पेड़ है?

बुढ़िया–बबूलका एक पेड़ है।

साहब–ठीक है, तुम जाओ। कल मिलना, भूलना मत।

इतवारको नौ बजे घोड़ेपर सवार होकर साहब उस खेतपर जा पहुँचे। दो आदमी साथ लिये बुढ़िया बैठी थी। घोड़ेको वृक्षसे बँधाकर साहबने कहा।

साहब–देखो जी! जो मैं कहूँ वही तुम करना। नहीं तो खेत नहीं मिलेगा।

तीनोंने साहबकी आज्ञामें चलनेकी कसम खायी।

साहब–मुझको भी इसी बबूलमें बाँध दो। फिर मेरे शरीरमें दो-तीन डंडे मारो और मेरे सिरपर तीन-चार जूते लगाओ। इसके बाद तुम तीनों यहाँसे भाग जाना।

हाथ जोड़कर बुढ़ियाने कहा—और सब बात मानूँगी। पर जूते नहीं मार सकती। एक तो आप राजा, दूसरे देवता, तीसरे अतिथि! इस पापसे मुझे नरकमें जाना पड़ेगा। खेत मिले या न मिले, जूते नहीं मार सकती। डंडा मारनेको भी जी नहीं चाहता।

साहब–अच्छा तो डंडेसे मेरी टोपी तुड़वा दो और मेरे ऊपर धूल फेंककर सब लोग भाग जाओ।

साहबको कंटकमय बबूलसे बाँध दिया गया। उनकी टोपी तोड़ डाली गयी और साहबके सिरपर धूल डालकर तीनों रफ़ू हो गये।

थोड़ी देरमें राहगीरोंने गाँवमें खबर दे दी कि किसीने कलेक्टर साहबको बाँधकर खूब पीटा है। गाँवका चौकीदार, नंबरदार, ज़मींदार, पटवारी और अन्य लोग घटनास्थलपर जा पहुँचे। लोगोंने साहबको बन्धनमुक्त कर पूछा कि 'आपको किसने बाँधकर मारा है?' साहबने कहा—'जिसका यह खेत है उसीने मारा है।'

किसीने उस खेतको अपना नहीं बताया। साहबने ज़मींदारकी ओर मुखकर कहा——

साहब–यह खेत तुम्हारा है?

ज़मींदार–जी नहीं, हज़ूर!

साहब–किसका खेत है?

ज़मींदार–एक बुढ़ियाका खेत है——सरकार!

साहब–बेल पटवारी! अपना बस्ता मँगाओ।

पटवारी भागकर घर गया। बस्ता और कलमदान लाकर साहबको सलाम किया।

साहब–इस नंबरपर बुढ़ियाका नाम लिखो, जैसा ज़मींदार बयान दे रहा है।

पटवारीने लाल स्याहीसे ज़मींदारका नाम काटकर बुढ़ियाका नाम लिख दिया।

साहब–क्यों पटवारी! तुमने रिश्वत लेकर बेचारी बुढ़ियाका खेत ज़मींदारके नाम लिख दिया था? गरीबोंको कतल करनेके लिये सरकार तुमको तनखाह देती है? रिस तो ऐसी लगती है कि तुमको ऐसी सज़ा दी जाय जो जीवनभर कभी भूलो नहीं। अब तुम्हीं बताओ कि तुमको क्या सज़ा मिलनी चाहिये?

पटवारी–मुझे जो सज़ा दी जावे वही थोड़ी है । मेरी वजहसे हजूरको बबूलमें बँधना पड़ा और अपमान सहना पड़ा है ।

साहब–बुढ़ियाके पैरोंपर अपनी टोपी रक्खो और क्षमा माँगो । अगर वह क्षमा कर देगी तो मैं भी पाँच रुपये जुर्माना करके माफ कर दूँगा । नहीं तो डिसमिस कर दिये जाओगे ।

तुरंत बुढ़ियाको बुलाया गया । बुढ़िया थी जातिकी अहीर और पटवारी था जातिका कायस्थ ! पटवारीको अपनी टोपी बुढ़ियाके पैरोंपर रखनी पड़ी और क्षमा माँगनी पड़ी । बुढ़ियाने क्षमा कर दिया । टूटी टोपी सिरपर रखकर भगत कलेक्टर साहब अपने बँगलेको चले गये । आशा है कि इस कहानीसे हाकिम लोग शिक्षा ग्रहण करेंगे ।

* * *

कहावतें

(रचयिता—स्वामी श्रीअग्रदासजी)

"सोई नारि सतेवरी, जाकी कोठी ज्वारि ।"
जाकी कोठी ज्वारि, जाहि सीतापति भावै ।
श्रवन सुनै हरिकथा, रसन गोबिंद-गुन गावै ॥
मारज बिदुषि उदार, सुमति सकुलीनी सोई ।
हृदय बसैं हरि-चरन, जगत डारै करि छोई ॥
'अग्र' कहै ता दासपर, तन-मन डारौं वारि ।
सोई नारि सतेवरी, जाकी कोठी ज्वारि ॥१॥
"प्रीतम बात न बूझई, धरयो सुहागिन नाउँ ।"
धरयो सुहागिन नाउँ, बिषय-कुटनी बहकावै ।
ब्यभिचारिन बेगुनी, नाह नेरो नहिं आवै ॥
हृदय सुद्ध बिन नारि कहाँतें खसम पिछानै ।
बातनके पतिब्रर्त, कंत कोबिद क्यों मानै ॥
'अग्र' कहै या चाल तें, कैसे स्वामि सुहाउँ ।
प्रीतम बात न बूझई, धरयो सुहागिन नाउँ ॥२॥
"जैसे कंता घर रह्यो, तैसे गयो बिदेस ।"
तैसे गयो बिदेस, लोक परलोक न साध्यो ।
पुर पट्टन बहु फिरयो, ताप तीनों मिलि दाध्यो ॥
कियो न नेही स्याम, भजन बिन जनम गमायो ।
मनो गोइ चोगान, जहैं तहँ दसदिसि धायो ॥
'अग्र' स्वामि-अनुराग बिन, नहीं धर्मको लेस ।
जैसे कंता घर रह्यो, तैसे गयो बिदेस ॥३॥
"लै पारोसिनि झोंपड़ी, नित उठि करती रारि ।"
नित उठि करती रारि, जाहि भावै तेहि दीजै ।
यह घर अँगना द्वार, खुसी आवै सोइ कीजै ॥
नकटी निलज सुभाय, दुहूँ भाँतिन दुखदाई ।
रीझैं फोरै नयन, खीझि अपमान कराई ॥
'अग्र' कहै नर पोटरी, रघुपति-द्वार उतारि ।
लै पारोसिनि झोंपड़ी, नित उठि करती रारि ॥४॥
"सहज चलौंगी आपुनी, अनखि मरैंगे लोग ।"
अनखि मरैंगे लोग, बेद-कुलकानि न करिहौं ।
भली बुरी सिर धारि, अनन मारग अनुसरिहौं॥
देव-पितर बिधि-अबिधि, लोक-परलोक न सूसो ।
सरबस सीताराम, कोऊ रूसो, कोउ तूसो ॥
'अग्र' सुमति-पथ हरि बरौं, करिहौं दृढ संयोग ।
सहज चलौंगी आपुनी, अनखि मरैंगे लोग ॥५॥
"कुतिया चोरन मिलि गई, को केहि पहरो देय ।"
को केहि पहरो देय, जीव जा मिल्यो अबिद्या ।
काम क्रोध मद मोह, लगे लूटन पुर बिद्या ॥
हतो ब्रह्मको अंस, कुमति नीचन-सँग कीन्हो ।
लोलुप-इंद्रिय-स्वाद, सदन सूना करि दीन्हो ॥
'अग्र' कहै तजि स्वान-गति, नर ! हरिपद दृढ सेय ।
कुतिया चोरन मिलि गई, को केहि पहरो देय ॥६॥

* * *

परमार्थपत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

तुमने लिखा 'मेरा चित्त बहुत व्याकुल है। दशा बहुत खराब है। ऐसी दशा कभी नहीं हुई। आगे क्या दशा होगी कुछ समझमें नहीं आता।' सो भैया! जो हुआ सो तो हो चुका। अब तो चेतना चाहिये। अब तो तुम इस बातको भलीभाँति जान ही गये कि सत्संगके बिना भजन-ध्यान होना कठिन है और भजन-ध्यान हुए बिना दशा बिगड़ जाती है। अतएव अब तुम्हें भजन-ध्यान-सत्संगके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये। सत् शास्त्रोंका स्वाध्याय भी एक तरहसे सत्संग ही है। अतएव जबतक सत्संगकी व्यवस्था न हो तबतक सद्ग्रन्थोंका अभ्यास करना चाहिये।

(२)

भाई! तुमको जिस कामके लिये मनुष्यशरीर मिला है उसको इस तरह भुलाना नहीं चाहिये। प्रथम तो मनुष्यका जन्म ही बहुत कठिन है, फिर द्विजवर्ण, तथा माता, पिता, भाई, स्त्री, बच्चे और व्यापार आदि सबका मनके अनुकूल होना तो बड़े ही भाग्यकी बात है। आवश्यकतानुसार घर-मकान तथा रुपये भी हैं। इस समय भी तुम आत्माके उद्धारका उपाय नहीं करोगे तो फिर कब करोगे? इस प्रकारकी अनुकूल व्यवस्था सदा नहीं रहेगी। इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, शरीर आरोग्य है और सब व्यवस्थाएँ भी ठीक हैं, तभीतक जो कुछ उत्तम कर्म करना हो, बहुत शीघ्रतासे कर लेना चाहिये जिससे पीछे पछताना न पड़े। उपर्युक्त व्यवस्थामें दो-चार बातें कम-ज्यादा हो जायँ, अनुकूल न रहें, तो कोई हर्ज नहीं। परन्तु अब गाफिल नहीं रहना चाहिये। अब तुम सांसारिक विषयोंमें किस बातकी और अनुकूलता चाहते हो? तुम्हें ऐसी किस चीजकी कमी है, जिसकी पूर्ति करके तुम अपने कल्याणके लिये चेष्टा करोगे? संसारमें एक श्रीभगवान्‌को छोड़कर और कोई भी तुम्हारा नहीं है। माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, मकान, धन सभी नाशवान् हैं। इनका संग बहुत ही थोड़े दिनोंका है। इनमेंसे कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जायगा। और तो क्या, तुम्हारा यह शरीर भी यहीं रह जायगा।

हमलोगोंके संयोग भी सदा नहीं रहनेका। शरीरका कुछ भी भरोसा नहीं। मेरे रहते तुम्हारे द्वारा अपनी परमगतिके लिये विशेष चेष्टा न हुई और मेरा शरीर पहले जाता रहा तो ऐसा अनुमान होता है कि फिर शायद तुम्हारे कल्याणके साधनमें और भी ढिलायी आ जाय।

तुम नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थोंके लिये तत्पर होकर जितनी चेष्टा करते हो उतनी यदि श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये करने लगो तो बहुत ही शीघ्र तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवान्‌के समान तुम्हारा प्रेमी, दयालु और सर्वशक्तिमान् और कोई भी नहीं है। फिर किसलिये तुम उस सच्चे प्रेमीका प्रेम प्राप्त करनेके लिये चेष्टा नहीं कर रहे हो? तुच्छ रुपयोंके पीछे रात-दिन क्यों लग रहे हो? जब यह शरीर ही तुम्हारे काम नहीं आवेगा, तब रुपये तो किस काम आवेंगे। शरीरके नाशके बाद तो पहले किया हुआ भजन-ध्यान-सत्संग और शास्त्राभ्यास ही काम आवेगा। शरीरका नाश जरूर होगा। इसे बचानेका कोई उपाय नहीं है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होगा। अतएव शरीरके नाश होनेके बाद आत्माको सदाके लिये परम आनन्द प्राप्त हो जाय इसीके लिये तत्पर होकर दिन-रात अथक चेष्टा करना मनुष्यजन्मका कर्तव्य है। इससे सच्चिदानन्द भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इसीलिये मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तत्पर होकर साधन करना चाहिये।

अमर प्रसून

(१)

खींच दे रे ! चित्रकार !
पार-दर्शक-मुकुरके हृद्-यन्त्रसे उस पार देख ।
विस्फुरित प्रभवृत्तमें रे ! नव्य छवि-भण्डार देख ।
विश्वका सौन्दर्य्य सार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
आज जगती भी लखे 'उन्माद क्यों होता' अरे !
पर न खुद तू नाच उठना तूलिका रंगमें अरे ।
वस्त्र सब अपने उतार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
व्योमके मसिपात्रमें ले कुञ्चिका आलोककी ।
अप्रतिम प्रतिमा सुचित्रण कर अभय निःशोककी ।
ग्रह गणों सा रत्नहार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
रे ! अमर शैशव असम भ्रकुटी नयन उन्माद कर ।
विश्वमोहन विन्दु माथे केश घन वदनेन्दु पर ।
मञ्जु मायाका प्रसार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
दिव्य वपु नवनीत सा कोमल अरे ! रे !! निर्वसन !
रञ्जनी क्यों रुक गई री ! देख मन्दस्मित हसन ।
हो गई सब तार तार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
श्याम ज्योति मूर्ति मञ्जुल अरुण पंकजपर लसी ।
चरण नन्होंमें विमुग्धा विश्वकी लक्ष्मी बसी ।
पी रही पय वार वार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥
शक्तियोंके दिव्य उरसे क्षीर निर्झर प्रस्रवण ।
विश्व-प्रेमोन्मत्त राधा वृत्तिका रस उत्प्लवन ॥
आ ! अरे !! अब ले निहार ।
खींच दे रे ! चित्रकार ॥

—ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु'

युगल सरकारकी उपासना और ध्यान

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः । गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥

एक सज्जनने बहुतसे प्रश्न लिख भेजे हैं और बड़े आग्रहके साथ 'कल्याण'के द्वारा प्रश्नोंका उत्तर देनेकी आज्ञा की है, उनकी आज्ञानुसार प्रश्नोंको सिलसिलेवार जँचाकर उनका उत्तर लिखनेकी चेष्टा की जाती है। उत्तरमें जो कुछ लिखा जायगा, उसका आधार शास्त्र और संतवाक्य हैं। उत्तर यथार्थ ही होगा इस बातका कोई दावा नहीं है, हाँ, इस बहाने भगवत्सम्बन्धी विचारोंमें कुछ समय लगेगा, यही सोचकर उत्तर लिखनेका प्रयास किया जाता है।

भगवान्‌का रूप

प्रश्न—भगवान्‌के अनेक रूप बतलाये जाते हैं, उनमें क्या कोई न्यूनाधिकता है, है तो क्यों और कैसी ? साधकको किस रूपकी उपासना करनी चाहिये ?

उत्तर—एक ही भगवान् अनेक नामरूपोंमें पूजित होते हैं, इसलिये उनमें न्यूनाधिकताकी या छोटे-बड़ेकी किसी कल्पनाको कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म, शिव, विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि सब उन्हीं एक भगवान्‌के दिव्य नाम-रूप हैं। लीलाकी दृष्टिसे न्यूनाधिकताकी कल्पना हो सकती है, जैसे एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न समय, भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगा हुआ भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जा सकता है, जैसे एक ही मनुष्य लौकिक सम्बन्धके कारण किसीका पिता, किसीका पति, किसीका पुत्र, किसीका मित्र, किसीका गुरु, किसीका शिष्य कहलाता है, और इस प्रकार उसमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है, ऐसे ही लीलामय भगवान् भी विभिन्न लीलाओंके कारण विभिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट करते हैं और लीलाको न समझनेवाले व्यक्ति मोहसे, और लीलाके संगी भगवान्‌के अनुचरगण लीलासे उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। वास्तवमें भगवान् एक हैं और वे सब समय सब लीलाओंमें सब ओरसे पूर्णतम हैं इसलिये जो साधक जिस रूपकी उपासना करता है, उसे उसी रूपकी उपासना करनी चाहिये और यह मानना चाहिये कि हमारे ही उपास्यदेव समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न नामरूपोंसे पूजित होते हैं। शिवका उपासक यह समझे कि हमारे भोलानाथ शिव ही राम, कृष्ण आदिके रूपमें प्रकट हैं और राम, कृष्णके उपासक यह मानें कि हमारे राम या कृष्ण ही शिव, शक्ति आदिके रूपमें लोगोंके द्वारा पूजित होते हैं। इस प्रकार किसी भी रूपकी उपासनाका विरोध न करके अपने उपास्य इष्टकी उपासना अनन्यभावसे करनी चाहिये। और उसीको सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वतोचक्षु, सच्चिदानन्दघन एकमात्र प्रभु मानना चाहिये।

निराकार और साकारके उपासककी गति

प्रश्न—क्या निराकार और साकारके उपासक दोनों एक ही गतिको प्राप्त होते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही तत्त्वतः परमात्मा एक होनेसे एक ही गतिको प्राप्त होते हैं। लीलाकी दृष्टिसे लीला-जगत्‌में अन्तर माना जाता है और वह रहता भी है, परन्तु तत्त्वदृष्टिसे वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिसहित उपासना

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌की उपासना उनकी शक्तिसहित करनी चाहिये, और कुछ लोग कहते हैं कि अकेले भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है ?

उत्तर—भगवान् और भगवान्‌की शक्ति दो अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। जैसे अग्नि और उसकी

दाहिका शक्ति एक ही वस्तु है, इसी प्रकार भगवान् और उनकी शक्ति है। दाहिका शक्ति है इसीलिये वह अग्नि है नहीं तो उसका व्यक्त अग्नित्व ही नहीं रहता, और अग्नि न हो तो दाहिका शक्तिका कोई आधार नहीं रहता। अतएव दोनों मिलकर ही एक अग्नि बना है या अग्निके ही ये दो नाम हैं, इसी प्रकार भगवान् और भगवान्की शक्ति सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें भेद मानना ही पाप है। इस दृष्टिसे जो भगवान्की उपासना करता है वह उनकी शक्तिकी उपासना करता ही है और जो शक्तिका उपासक है, वह भगवान्की उपासना करनेको बाध्य है, अतएव एककी उपासनामें ही दोनोंकी उपासना आप ही हो जाती है परन्तु उपासक यदि चाहें तो विग्रहके रूपमें दोनोंकी अलग-अलग मूर्तियोंमें भी उपासना कर सकते हैं। इतना याद रखना चाहिये कि लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि सब एक ही हैं, इनमें अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार किसी भी युगल रूपकी उपासना हो सकती है। यहाँ इतना जरूर कह देना चाहिये कि युगल रूपकी उपासना विशेष अधिकारीको ही करनी चाहिये। नहीं तो उसमें अनर्थ होनेका डर है। जगज्जननी लक्ष्मी, उमा, राधा या सीताके स्वरूपमें कहीं पापभावना हो गयी तो सारी उपासना नष्ट होकर उलटा विपरीत फल हो सकता है, और जो लोग वैराग्यवान् नहीं हैं, उनके द्वारा स्त्रीरूपकी उपासनामें मनमें विकार होनेका डर है ही, क्योंकि ऐसे लोग भगवान्की दिव्य स्वरूपाशक्तिके तत्त्वको न जानकर अपने अज्ञानसे इन्हें प्राकृत स्त्री ही समझ लेते हैं और प्राकृत स्त्रीरूपका आरोप करके विषयासक्तिके कारण विकारके वश हो जाते हैं। भगवान्की रासलीला देखनेवाले एक मनुष्यने तथा श्रीराधाजीका ध्यान करनेवाले एक दूसरे मित्रने अपनी ऐसी दुर्घटनाएँ सुनायी थीं, इससे यह पता चलता है कि दिव्य अनन्तसौन्दर्य-सुधामयी इन स्वरूपाशक्तियोंके साथ भगवान्को उपासना करनेवाले सच्चे अधिकारी विरले ही होते हैं। अतएव साधारण श्रेणीके साधकोंको भगवान्की अकेले ही पुरुषरूपमें उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न—श्रीराधा, सीता, उमा आदि भगवान्की स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाके अधिकारीमें कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिये?

उत्तर—सबसे पहली बात तो यही है कि उसे कामविजयी होना चाहिये। कामी पुरुष दिव्य स्वरूपाशक्तियोंकी उपासनाका अधिकारी कदापि नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य आवश्यक बातें दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आगे आ सकती हैं।

प्रश्न—मैं यह तो नहीं कहता कि मुझे वैराग्य प्राप्त है, परन्तु इतना अवश्य है कि भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर मेरा चित्त बहुत कम जाता है। मैं समझता हूँ कि भगवान् ही मेरी रक्षा करते हैं मुझे श्रीराधा-कृष्णका स्वरूप अत्यन्त प्रिय है। मैं यत्किञ्चित् इन युगल सरकारकी उपासना करता हूँ और इसीमें अपना जीवन बिता देना चाहता हूँ। कृपया बतलाइये किन साधनोंसे और किस भावसे उपासना करनेपर मैं पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीराधा-कृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर सकता हूँ। मैंने सुना है इस उपासनामें द्वादश सिद्धि, पञ्चप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न साधनोंकी आवश्यकता होती है, इन साधनोंके रूप भी बतलाइये।

उत्तर—आपका चित्त भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर बहुत कम जाता है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। भगवान्की कृपाके बलसे असम्भव भी

सम्भव हो सकता है। भगवत्कृपाकी शक्ति अनन्त है। परन्तु सदा सावधान रहना चाहिये। कहीं भगवत्कृपाके आश्रयकी विस्मृति न हो जाय, अभिमान न पैदा हो जाय। विषयोंमें बहुत बड़ा प्रलोभन होता है। कई बार तो ऐसा धोखा हो जाता है कि मनुष्य भगवान्‌के नामपर विषयोंका सेवन करता रहता है। शृंगार, भोग, उत्सव, कीर्तन आदिकी शोभा और महत्ता इसीलिये भक्तके मनमें होनी चाहिये कि वे भगवान्‌से सम्बन्ध रखते हैं। भगवान्‌से ही शृंगारकी शोभा है, भगवान्‌का प्रसाद होनेसे ही भोगमें परम स्वाद है, भगवान्‌की स्मृति करानेवाला होनेके कारण ही उत्सव कर्तव्य है और भगवान्‌का नाम-गुणगान होनेके कारण ही कीर्तन भक्तका परम आदरणीय साधन है। यदि भगवान्‌को भुलाकर केवल शृंगारकी शोभामें, अन्नके स्वादमें, उत्सवकी चहल-पहलमें और संगीतकी ध्वनिमें ही आकर्षण है तो वह विषयसेवन ही है। अवश्य ही भगवान्‌से सम्पर्क हो जानेके कारण किसी अंशमें वह भी है शुभ ही। भगवान् श्रीराधा-कृष्णके दिव्य स्वरूपको समझकर ही उनकी उपासना करनी चाहिये, उन्हें विषयलोलुप इन्द्रियासक्त भोगकामी आशिक-माशूकोंकी तरह मानकर ही नहीं। ऐसा न होगा तो पतन ही होगा। भगवान् श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपका किञ्चित् दिग्दर्शन आगे चलकर आपके दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कराया जायगा। इसके पहले आप द्वादश शुद्धि, पञ्चप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पणको संक्षेपमें समझ लें और दूसरे मुख्य साधनों तथा भावोंको भी कुछ जान लें।

द्वादश शुद्धि

द्वादश शुद्धि दो प्रकारकी है। जिनमें एक प्रकार है—चार मनकी, चार वाणीकी और चार शरीरकी। १–विशुद्ध और अनन्य प्रेम, २–श्रद्धापूर्वक भगवच्चिन्तन, ३–चित्तकी प्रसन्नता और ४–प्राणिमात्रकी हितकामना—ये चार मनकी शुद्धि हैं। १–भगवन्नामगुणका कीर्तन करना, २–सत्य बोलना, ३–हितकर बात कहना और ४–मीठे शब्दोंमें बोलना—ये चार वाणीकी शुद्धि हैं। एवं १–दूसरोंकी सेवा करना, २–हाथोंसे सात्त्विक दान करना, ३–शरीरके आरामको छोड़कर तप करना और ४–ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये शरीरकी शुद्धि है। यों त्रिविध बारह प्रकारकी शुद्धि है।

द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है—

गृहोपलेपनं चैव तथानुगमनं हरेः।
भक्त्या प्रदक्षिणं चैव पादयोः शोधनं पुनः॥
पूजार्थं पत्रपुष्पाणां भक्त्यैवोच्चयनं हरेः।
करयोः सर्वशुद्धीनामियं शुद्धिर्विशिष्यते॥
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥
तत्कथाश्रवणं चैव तस्योत्सवनिरीक्षणम्।
श्रोत्रयोर्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते॥
पादोदकं च निर्माल्यमालानामपि धारणम्।
उच्यते शिरसः शुद्धिः प्रणतस्य हरेः पुरः॥
आघ्राणं तस्य पुष्पादेर्निर्माल्यस्य तथा प्रिये।
विशुद्धिः स्यादन्तरस्य प्राणस्यापि विधीयते॥
पत्रपुष्पादिकं यच्च कृष्णपादयुगार्पितम्।
तदेकं पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत्॥

भगवान् श्रीहरिके मन्दिरमें जाकर उसके आँगन-लीपनसे, मूर्तिके पीछे-पीछे चलनेसे और भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भक्तिसहित भगवान्‌की पूजाके लिये पुष्पादिका चयन करनेसे दोनों हाथ शुद्ध होते हैं, सब शुद्धियोंमें यह शुद्धि विशेष है। भक्तिपूर्वक परमदेव श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे वाणीकी शुद्धि होती है। श्रीहरिकी कथा सुननेसे कानोंकी और उनके उत्सव देखनेसे नेत्रोंकी भलीभाँति शुद्धि होती है।

सिर झुकाकर भगवान्का चरणोदक लेनेसे और उनकी निर्माल्य माला धारण करनेसे मस्तककी शुद्धि होती है। भगवान्के निर्माल्य पुष्पादिके सूँघनेसे ही अन्तःकरण और प्राणोंको शुद्धि होती है। सारांश यह कि श्रीकृष्णके चरणयुगलपर चढ़ी हुई पत्र-पुष्पादि कोई भी वस्तु सबको पवित्र करनेवाली होती है। यह द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है। दोनों ही प्रकारोंसे शुद्ध होना आवश्यक है।

पञ्चप्रकार पूजा

पञ्चप्रकार पूजाके भी दो प्रकार हैं—

प्रथम यह है—

मनसे भगवान्का चिन्तन करना, वाणीसे भगवान्के गुण गाना, हाथोंसे भगवान्की पूजा करना, मस्तकसे भगवान्को प्रणाम करना और अपना सर्वस्व भगवान्के निवेदन कर देना।

दूसरा प्रकार यह है—

इसमें अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या—ये पाँच प्रकार माने गये हैं—

तत्त्वाभिगमनं नाम देवतास्थानमार्जनम्।
उपलेपं च निर्माल्यदूरीकरणमेव च॥
उपादानं नामगन्धपुष्पादिचयनं तथा।
योगो नाम स्वदेवस्य स्वात्मनैवात्मभावना॥
स्वाध्यायो नाममन्त्रार्थसन्धानपूर्वको जपः।
सूत्रस्तोत्रादिपाठश्च हरेः सङ्कीर्तनं तथा॥
तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायः परिकीर्तितः।
इज्या नाम स्वदेवस्य पूजनं च यथार्थतः॥

अपने इष्टदेवके स्थान साफ करने और उसे लीपने और इष्टविग्रहके निर्माल्य उतारनेका नाम अभिगमन है। गन्ध-पुष्पादिके चयनका नाम उपादान और इष्टदेवके साथ अपने आत्माको एक कर देनेकी भावनाका नाम योग है। मन्त्रके अर्थका ध्यान करते हुए जप करने, सूक्त-स्तोत्रादिके पाठ, हरिनाम-संकीर्तन और तत्त्वनिरूपण करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासको स्वाध्याय कहते हैं, एवं अपने इष्टदेवकी यथार्थ रूपसे पूजा करना ही इज्या है।

न्यास

भगवान्के चरणकमल ही मेरे एकमात्र जीवनाधार, रक्षक, स्वामी और सहायक हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास करके अन्य सब आश्रयोंके त्यागको न्यास कहते हैं।

प्रपत्ति

मैं एकमात्र भगवान्के श्रीचरणोंका ही गुलाम हूँ। श्रीचरणोंकी कृपासे जो कुछ हो रहा है और होगा उसीमें मेरा परम कल्याण है। श्रीचरण ही मेरे एकमात्र अवलम्बन हैं। दृढ़ श्रद्धाके साथ किये हुए ऐसे निश्चित संकल्पका नाम प्रपत्ति है।

शरणागति

अपना भला किस बातमें है, इस बातको न जाननेवाला मैं दुःखपीड़ित अज्ञानी जीव आपके (प्रभुके) श्रीचरणोंके शरण हूँ, आपके चरणोंकी शरणमें ही मेरा परम कल्याण है। मैं कहीं भी, किसी भी दशामें रहूँ, सदा आपके श्रीचरणोंकी शरण मुझे प्राप्त रहे, इस निश्चयके साथ भगवान्के प्रत्येक विधानमें आनन्द मानना, भगवान्के परममंगलमय नामका चिन्तन निरन्तर करते रहना, भगवान्की रुचिके अनुकूल आचरण करना और भगवान्के भरोसेपर अपनेको छोड़कर उनसे किसी भी अवस्थामें कुछ भी न माँगना, भगवान्को परम पिता, परम पति, परम गति, परम धाम, परम सुहृद् मानकर उनके चरणोंपर सदाके लिये लोट पड़ना शरणागति है।

आत्मसमर्पण

मैं भगवान्का हूँ, मेरा सब कुछ भगवान्का है,

मेरा 'मैं' भी मेरा नहीं, उन्हींका है, इस अपनी वस्तुको वे चाहे जैसे उपयोगमें लावें, चाहे जैसे भोगें, चाहे सो करें; इस भावसे अपनेको भगवच्चरणोंमें निवेदन कर देना आत्मसमर्पण कहलाता है ।

वस्तुतः न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पण एक ही साधनकी उत्तरोत्तर विकसित स्थिति हैं। आत्मसमर्पण तो मनुष्य कर नहीं सकता। इसकी तो वह तैयारी मात्र करता है । फिर भगवान् उसे स्वयं उसी प्रकार खींच लेते हैं, जैसे निखालिस लोहेको चुम्बक खींच लेता है ।

प्रश्न—'न्यास' शब्दसे क्या अंगन्यास और करन्यास नहीं लिया जा सकता है ?

उत्तर—क्यों नहीं ? तन्त्रमें तो अंगन्यास और करन्यासके बिना काम ही नहीं चलता । हाँ, भक्तिसाधनामें न्यासका अर्थ अंगन्यास करन्यास नहीं किया जाता । अंगन्यास-करन्यासके सम्बन्धमें मन्त्रसम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें कुछ कहा जायगा । अब युगल सरकार श्रीराधाकृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिके कुछ मुख्य साधनों और भावोंके सम्बन्धमें कुछ देखना है ।

मुख्य साधन और भाव

दम्भ, द्रोह, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और विषयासक्तिके त्यागसे ही इस प्रेममार्गकी साधना आरम्भ होती है । जिन पुरुषोंमें दम्भादि छः दोष हैं, और जो विषयोंमें आसक्त हैं अर्थात् जिनका मन सुन्दर रूप, बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ, मनोहर गन्ध, कोमल स्पर्श और सुरीले गायनपर रीझा रहता है, वे इस मार्गपर नहीं चल सकते । त्यागी-विरागी महज्जन ही इस प्रेमपन्थके पथिक हो सकते हैं । क्योंकि इस उपासनामें दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश करना पड़ता है और वहाँ बिना गोपी-भावको प्राप्त किये किसीका प्रवेश हो नहीं सकता । एवं गोपी-भावकी प्राप्ति विषयासक्त पुरुषको कदापि होना सम्भव नहीं । जो विषय-लोलुप भी हैं और अपनेको श्रीराधाकृष्णके प्रेमी बतलाते हैं, वे या तो स्वयं धोखेमें हैं अथवा जान या अनजानमें जगत्को धोखा देना चाहते हैं । उपर्युक्त छः दोषोंसे बचकर और विषयासक्तिको त्यागकर निम्नलिखित रूपमें मुख्य साधना करनी चाहिये ।

१—अपनेको श्रीराधिकाजीकी अनुचरियोंमें एक तुच्छ अनुचरी मानना ।

२—श्रीराधाजीकी सेविकाओंकी सेवामें ही अपना परम कल्याण समझना ।

३—सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान्की प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी दासियोंकी दासी बना रहूँ और श्रीराधाकृष्णके मिलन-साधनके लिये विशेष रूपसे यत्न कर सकूँ ।

यह बहुत ही रहस्यका विषय है । इसलिये इस विषयपर विशेषरूपसे लिखना अनुचित है । हरेकको इस ओर आकर्षित नहीं होना चाहिये । इस मार्गपर पैर रखना आगपर खेलना है । जो बिना इसका रहस्य समझे इस पथमें प्रवेश करना चाहता है वह पतित हो जाता है । जिसके हृदयमें तनिक-सा काम-विकार हो, उसे इस मार्गसे डरकर सदा अलग ही रहना चाहिये । अवश्य ही जो अधिकारी साधक हैं उन्हें, इस मार्गमें जो अतुल दिव्य आनन्द है, उसकी प्राप्ति होती है । श्रीराधिकाजीकी सेविकाओंकी सेवामें सफल होनेपर स्वयं श्रीराधिकाजीकी सेवाका अधिकार मिलता है, और श्रीराधिकाजीकी सेवा ही युगलस्वरूपकी कृपा प्राप्त करनेका प्रधान उपाय है । जो ऐसा नहीं कर सकते उन्हें युगलस्वरूपकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है । भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देवदेव शङ्करसे कहा है—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम् ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि ॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः ॥

हे महेश्वर ! (युगल स्वरूपकी कृपा चाहनेवाला) जो पुरुष मेरी शरण होता है परन्तु मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण नहीं होता वह मुझको (युगल स्वरूपमें) वस्तुतः नहीं प्राप्त होता, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ । अतएव पूरे प्रयत्नसे मेरी प्रिया (श्रीराधिकाजी) की शरण ग्रहण करो । मेरी प्रियाका आश्रय ग्रहण करनेवाला मुझे अपने वशमें कर लेता है । मैंने आपसे यह परम रहस्यकी बात कही, आप भी इसे जतनसे गुप्त ही रखियेगा ।

युगल स्वरूपकी उपासनाका विषय कितना रहस्यमय है, यह उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे सिद्ध है । मुख्य उपासना तो यही है ।

इसके अतिरिक्त इस उपासनासे गौणरूपसे कायिक, वाचिक और मानस तीन प्रकारके व्रत भी किये जाते हैं । इन व्रतोंसे मुख्य उपासनाके दर्जेतक पहुँचनेसे बड़ी सहायता मिलती है । देवर्षि नारदने भक्त अम्बरीषसे कहा है—

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर ॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये ॥

दिनभरमें एक बार अपने आप जो कुछ मिल जाय सो खा लेना और रातको उपवास करना हे राजन् ! यह कायिक व्रत कहलाता है । वेदका अध्ययन, भगवान्के नामगुणोंका कीर्तन, सत्यभाषण और किसीकी निन्दा या चुगली न करना वाचिक व्रत कहा जाता है । और अहिंसा, सत्य, किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना और कपट न करना मानस व्रत कहलाता है ।

इसके सिवा भगवान्की उपासनामें अनन्य भावका होना परम आवश्यक है । बस, प्रेमी साधक केवल एक भगवत्प्रेमको ही चाहे और वह भी प्रेममय भगवान्से ही चाहे । गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

यह बिनती रघुबीर गोसाईं ।
और आस बिसवास भरोसो हरो जियकी जड़ताई ॥
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

बस, दिन-पर-दिन केवल अहैतुक प्रेम ही बढ़ता रहे । मोक्ष, ज्ञान, ऐश्वर्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्ति कुछ भी नहीं चाहिये । और यह प्रेमकी भीख भी भगवान् ही दें । दूसरेकी या दूसरी आशा करना अथवा दूसरेपर या दूसरा विश्वास-भरोसा करना तो हृदयकी जड़ता है । इस जड़ताको समर्थ वीर श्रीरघुनाथजी हर लें, बस यही विनती है ।

पार्वतीजी तो यहाँतक कहती हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

जबतक भोग या मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक वहाँ प्रेमानन्दका उदय कैसे हो सकता है ?

वास्तवमें यह विषय बहुत ही रहस्यमय है । अधिकारी पुरुषको श्रीराधाकृष्णतत्त्वके ज्ञाता किसी प्रेमप्राप्त सद्गुरुकी सेवामें रहकर इस विषयको जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

सद्गुरु

प्रश्न—ऐसे सद्गुरुके क्या लक्षण हैं ? और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—कान फूँकने और द्रव्यादिकी आशा रखनेवाले गुरु तो संसारमें बहुत मिलते हैं, परन्तु सद्गुरु—खास करके प्रेममार्गके गुरु तो कोई विरले ही मिलते हैं। ऐसे सद्गुरुमें निम्नलिखित गुणोंका होना तो अत्यन्त आवश्यक है।

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन न हो, श्रीकृष्ण ही जिनका अनन्य साधन हो, जो बुद्धिमान् हों, काम और क्रोध जिनमें बिल्कुल ही न हो, जो श्रीकृष्णरसतत्त्वके जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्रज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हों, जो सदा श्रीकृष्णके मन्त्रका ही आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अन्दर और बाहरसे—मनमें और व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारके नियोजक हों, श्रीराधाकृष्णतत्त्वके जाननेवाले सम्प्रदायमें हों, जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो और जो भोग-मोक्ष दोनोंमें ही राग न रखते हों।

ऐसे ही सद्गुरुकी शरणमें जाकर अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

अधिकारी शिष्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—प्रेममार्गके अधिकारी शिष्यमें पहला आवश्यक गुण तो भगवान्में भक्ति है। श्रीकृष्णमें जिनकी भक्ति नहीं है, वे अन्य सब गुणोंसे विभूषित होनेपर भी अधिकारी नहीं हैं—

अत्राधिकारी न भवेत् कृष्णभक्तिविवर्जितः॥

भक्तिके साथ ही कृतज्ञता, निरभिमानिता, विनय, सरलता, श्रद्धा आदि गुणोंका होना भी आवश्यक है। दम्भी, लोभी या कामी, क्रोधीको गुरु यह विषय न बतावे। शास्त्रमें कहा है—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिते।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम और क्रोधसे रहित हो उसी पुरुषको यह विषय बतलाना चाहिये। परन्तु ऐसे अधिकारीको भी सालभर उसकी परीक्षा करनेके बाद ही बतलाना उचित है—

नाशुश्रूषुं प्रति ब्रूयान्नासंवत्सरसेविनम्।

अधिकारी शिष्यके कर्त्तव्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यको मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेके बाद क्या करना चाहिये ?

उत्तर—मुख्य साधना तो ऊपर बतलायी ही जा चुकी है। परन्तु अधिकारी शिष्यका कर्तव्य बतलाते हुए भगवान् शङ्करने कई बातें और बतलायी हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मन्त्रदीक्षा प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शिष्य भक्तिपूर्वक गुरु महाराजकी सेवा करते हुए निरन्तर इष्टदेवके भजनमें लगे रहें। दूसरोंको कोई दुःख न दें, किसीको भी कटु शब्द न कहें, इस लोक और परलोककी सारी चिन्ताओंको छोड़ दें। इस लोकमें पूर्वकर्मके अनुसार फल मिलेगा और परलोकमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मंगल करेंगे ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जायँ और श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहें। परन्तु पूजामें यह भाव कभी मनमें न आने दें कि मेरे इस लोक और परलोककी भलाईके लिये मैं पूजा

करता हूँ। भगवान्के पूजनको विषय-सुखका साधन कभी न बनावें। और——

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाचरेत्॥

बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री जैसे केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई एकमात्र उसीके संगकी आकांक्षा करती हुई दीन होकर सदा-सर्वदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके गुणोंको गाती और सुनती है इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको एकमात्र श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।

पतिपरायणा साध्वी पत्नी जैसे अपने सर्वस्वको पतिके अर्पणकर पतिको ही परमगति मानकर प्रतिक्षण बिना विराम शरीर-मन-वाणीसे पतिकी सेवामें लगी रहती है और इसीमें परमानन्दका अनुभव करती है इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णकी सेवामें प्रेमपूर्वक निरन्तर लगे रहना और इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये। एकमात्र श्रीकृष्णके ही अनन्यशरण होना चाहिये। दूसरा कुछ भी उसके लिये साध्य या साधन नहीं होना चाहिये। दूसरे देवताको न तो इष्टभावसे पूजना चाहिये और न किसी अन्य देवकी निन्दा करनी चाहिये। उसे अपने इष्टको छोड़कर दूसरेको स्मरण करनेका भी अवसर क्यों मिले? दूसरेका जूँठा भोजन न करे। दूसरेके पहने हुए वस्त्र न पहने, दूसरे विचारवालोंसे वाद-विवाद न करे, श्रीकृष्णकी, किसी अन्य देवताकी और भक्तकी निन्दा न सुने। अपने इष्टदेवके अनुकूल आचरण करे, प्रतिकूलका सर्वथा त्याग कर दे। निरन्तर अनन्य होकर चातकी वृत्तिसे श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज चातकी वृत्तिका सुन्दर वर्णन करते हुए कहते हैं——

जो घन बरषै समय सिर जौ भरि जनम उदास।
तुलसी जाँचक चातकहि तऊ तिहारी आस॥
उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोष।
तुलसी प्रेम पयोधिकी ताते नाप न जोख॥
जियत न नाईं नारि चातक घन तजि दूसरहिं।
सुरसरिहूको बारि मरत न माँगेउ अरधजल॥

हे बादल! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो या जीवनभर कभी न बरसो, प्रेमी याचक चातकको तब भी तुम्हारी ही आशा बनी रहेगी, वह तो तुम्हें छोड़कर दूसरेकी ओर ताकेगा ही नहीं। जल न बरसाकर यदि मेघ उलटे चातकके ऊपर ओले बरसाने लगे, डरा-डराकर गरजे और कठोर वज्र गिरावे, तब भी प्रेमी चातक क्या मेघको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकता है? प्रेमी चातकका अपने प्रियतम मेघके दोषोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता, चाहे वह कुछ भी करे, प्रेमके समुद्रका नाप-तौल कभी हो नहीं सकता। चातक अपनी टेकपर अड़ा रहता है, उसने जीते-जी तो मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन झुकायी नहीं और मरते हुए भी गंगा-जलमें अर्धजली नहीं माँगी।

शास्त्र कहते हैं कि इसी प्रकार——

सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम्॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।
स्वेष्टदेवौ सदा याच्यौ गतिस्तौ मे भवेदिति॥

जैसे चातक सहज ही प्राप्त सरोवर, नदी और समुद्र आदिको छोड़कर एकमात्र मेघकी याचना करता है, प्याससे मर जाता है परन्तु दूसरेकी ओर

नहीं देखता, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी एकमात्र अपने इष्टदेवका ही आश्रय करे ।

मन्त्र

प्रश्न–अच्छा, युगलस्वरूपकी प्राप्तिके लिये मन्त्र कौन-सा है ?

उत्तर–मन्त्र तो वस्तुतः गुरुसे ही पूछना चाहिये । युगल स्वरूपकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले अनेक मन्त्रोंका शास्त्रोंमें विधान है । उनमें कुछ ये हैं—१–'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये ।' यह षोडशाक्षर मन्त्र है । २–'नमः गोपीजनवल्लभाभ्याम्' यह दशाक्षर मन्त्र है । ३–'क्लीं राधाकृष्णाभ्यां नमः' यह अष्टाक्षर मन्त्र है । ऐसे ही और भी मन्त्र हैं । श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इनमेंसे किसी भी मन्त्रका आश्रय ग्रहण करनेपर श्रीराधाकृष्णकी सन्निधि प्राप्त हो सकती है । इन मन्त्रोंमें प्रधान सहाय श्रद्धा-विश्वास ही है । न्यास, देश-काल, नियम, शोधन आदिकी खास आवश्यकता नहीं है । तथापि कोई करना चाहे तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अंगन्यास-करन्यास कर ले । तीसरे मन्त्रमें तो बीज तथा नमः है ही । और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे ।

दीक्षा

प्रश्न–मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये ?

उत्तर–सद्गुरुके शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे । फिर गुरु जब जो उचित समझे तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें । सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले । गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये । दीक्षाके अनेक भेद हैं, परन्तु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं । भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है ।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

प्रश्न–अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये ।

उत्तर–भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है । दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है, जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूल रूपका और आंशिक ही होता है । भगवान् क्या हैं इस बातको भगवान् ही जानते हैं । अतएव उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है ? परन्तु जो कुछ वर्णन होता है सो उन्हींका होता है इस दृष्टिसे सभी वर्णन यथार्थ हैं । भगवान्का पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण है, सब ओरसे पूर्ण है, सब लीलाओंमें पूर्ण है । भगवान् श्रीकृष्ण ही विज्ञानानन्दघन निराकार निर्विकार मायातीत ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर आत्मा हैं, भगवान् ही देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा, प्रकृति और जगत् हैं, जो कुछ है सो वही हैं, जो कुछ नहीं है सो भी वही हैं, इतना ही नहीं 'हैं' और 'नहीं' से जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वही हैं । इतना होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये भगवान्का स्वरूपवर्णन लोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम हैं । ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं । श्रीराधाजी इन्हींकी स्वरूपाशक्ति हैं । श्रीराधाजी और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं । भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य चिन्मय आनन्दविग्रह हैं और श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय प्रेमविग्रह हैं । वे रसराज हैं, ये महाभाव हैं । भगवान्की इन्हीं स्वरूपाशक्तिसे अनन्त-

कोटि शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करती हैं। श्रीराधाजी ही श्रीलक्ष्मी, श्रीउमा, श्रीसीता, श्रीरुक्मिणी हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य और प्रभा एक दूसरेके सर्वथा अभिन्न हैं इसी प्रकार युगल स्वरूप भी सर्वथा अभिन्न है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—जो नराधम हम दोनोंमें भेदबुद्धि करता है वह चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक कालसूत्र नामक नरकमें रहता है।

आवयोर्भेदबुद्धिश्च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

दूसरे प्रसंगमें भगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं।

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है उसी प्रकार मैं तुममें हूँ।'

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततम्॥

राधातापिनीमें कहा है—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्॥

जो यह राधा और जो यह कृष्ण आनन्दरसके सागर हैं वह एक ही लीला करनेके लिये दो रूप बन गये हैं। जैसे छायासे देह शोभित होती है, इसी प्रकार श्रीराधाजीसे श्रीकृष्णजी शोभायमान हैं। इनके चरित्र पढ़ने-सुननेसे जीव इनके शुद्ध परमधामको प्राप्त होता है।

लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं और नित्यविहारिणी, नित्यविहारकी बीजभूता, रससागरा, महारासकी अधिष्ठात्री देवी योगमाया भगवती श्रीराधिकाजी रसेश्वरी हैं। रसेश्वर और रसेश्वरीका महामिलन ही महारास है जो नित्य अखण्ड और अनन्त है। ये श्रीराधाकृष्ण सबसे परे, सबमें भरे और सर्वरूप हैं। भगवान् शिव देवर्षि नारदसे कहते हैं—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी॥
ततः सा प्रोच्यते विप्र! ह्लादिनीति मनीषिभिः।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
सा तु साक्षान्महालक्ष्मी कृष्णो नारायणः प्रभुः।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥
इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची।
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः॥
बहूनां किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किंचन।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्॥

ये कृष्णमयी होनेके कारण परम देवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा और श्रीकृष्णकी आह्लादस्वरूपा हैं। हे विप्र! इसीसे मनीषिगण इन्हें ह्लादिनी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कला और अंश हैं। ये साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण भगवान् नारायण प्रभु हैं। हे मुनिसत्तम! इनमें परस्पर जरा भी भेद नहीं है। ये दुर्गा हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं। ये शची हैं, श्रीकृष्ण इन्द्र हैं। ये सावित्री हैं, श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। ये धूमोर्णा हैं, श्रीकृष्ण यमराज हैं। हे मुनिवर! अधिक क्या, इनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। यह जड-चेतन जगत् सब बस, राधाकृष्णमय ही है। संक्षेपमें श्रीराधाकृष्णका यही स्वरूप है।

प्रश्न—यह तो सगुण स्वरूप है। मुनियोंका कहना है कि भगवान् तो निराकार, निर्गुण, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म हैं। इस सगुण स्वरूपमें ये लक्षण कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में सभी लक्षण हो सकते हैं। निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, ब्रह्म-माया, परमात्मा-

जीवात्मा सब कुछ एक ही कालमें एक ही भगवान् बने हैं। वे सर्वभवनसमर्थ हैं। भगवान्‌का एक निर्गुण निराकार निष्क्रिय रूप भी है ही। परन्तु भगवान् जिस मंगलमय दिव्य विग्रहरूपमें परधाममें विराजमान हैं, मायासे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय होनेके कारण उस स्वरूपमें भी ये सब लक्षण भलीभाँति सिद्ध हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वरम् ।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर ॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात् प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ॥

हे महेश ! मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले कोई गुण नहीं हैं, और मेरे गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये मुझे सब निर्गुण कहते हैं। मेरा यह दिव्य स्वरूप चर्मचक्षुओंसे कोई देख नहीं सकता इसीसे वेद मुझको अरूप या निराकार कहते हैं। चैतन्यांशके द्वारा मैं जगत्‌भरमें व्याप्त हूँ, इसीसे पण्डित मुझे ब्रह्म कहते हैं। और विश्वप्रपञ्चका कर्ता न होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुष मुझको निष्क्रिय कहते हैं। इस प्रकार भगवान् साकार सगुण होकर ही निर्गुण और निराकार हैं। कर्ता होकर भी अकर्ता हैं।

श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

प्रश्न—अच्छा, अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके महान् सुन्दर ध्यानस्वरूपोंका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीराधाकृष्णके ध्यानस्वरूपोंका वर्णन कौन कर सकता है ? यहाँ 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' वाली कहावत सिद्ध होती है। तथापि पद्मपुराणमें एक स्थानपर लीलाविहारी श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका बहुत ही सुन्दर निरूपण है वही यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है। भगवान् शिव देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

पीताम्बरं घनश्यामं द्विभुजं वनमालिनम् ।
बर्हिबर्हकृतापीडं शशिकोटिनिभाननम् ॥
घूर्णायमाननयनं कर्णिकारावतंसिनम् ।
अभितश्चन्दनेनाथ मध्ये कुङ्कुमबिन्दुना ॥
रचितं तिलकं भाले बिभ्रतं मण्डलाकृतिम् ।
तरुणादित्यसंकाशकुण्डलाभ्यां विराजितम् ॥
घर्माम्बुकणिकाराजद्दर्पणाभकपोलकम् ।
प्रियास्यन्यस्तनयनं लीलया चोन्नतभ्रुवम् ॥
अग्रभागन्यस्तमुक्ताविस्फुरत्प्रोच्चनासिकम् ।
दशनज्योत्स्नयाराजत्पक्वबिम्बफलाधरम् ॥
केयूराङ्गदसद्रत्नमुद्रिकाभिर्लसत्करम् ॥
बिभ्रतं मुरलीं वामे पाणौ पद्मं तथैव च ।
काञ्चीदामस्फुरन्मध्यं नूपुराभ्यां लसत्पदम् ॥
रतिकेलिरसावेशचपलं चपलेक्षणम् ।
हसन्तं प्रियया सार्द्धं हासयन्तञ्च तां मुहुः ॥
इत्थं कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनोपरि ।
वृन्दारण्ये स्मरेत् कृष्णं संस्थितं प्रियया सह ॥
वामपार्श्वे स्थितां तस्य राधिकां च स्मरेत्ततः ।
नीलचोलकसंवीतां तप्तहेमसमप्रभाम् ॥
पट्टाञ्चलेनावृतार्द्धसुस्मेराननपङ्कजाम् ।
कान्तवक्त्रे न्यस्तनेत्रां चकोरीचपलेक्षणाम् ॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च निजप्रियमुखाम्बुजे ।
अर्पयन्तीं पूगफलीं पर्णचूर्णसमन्विताम् ॥
मुक्ताहारस्फुरच्चारुपीनोन्नतपयोधराम ।
क्षीणमध्यां पृथुश्रोणीं किङ्किणीजालमण्डिताम् ।
रत्नताटङ्ककेयूरमुद्रावलयधारिणीम् ॥
लसत्कटकमञ्जीररत्नपादाङ्गुलीयकाम् ।
लावण्यसारमुग्धाङ्गीं सर्वावयवसुन्दरीम् ।
आनन्दरससंमग्नां प्रसन्नां नवयौवनाम् ॥
सख्यश्च तस्या विप्रेन्द्र तत्समानवयोगुणाः ।
तत्सेवनपरा भाव्याश्चामरव्यजनादिभिः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं, वनमालासे विभूषित हैं, उनका वर्ण नवजलधरके समान श्याम है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर है। वे नेत्रोंको घुमा रहे हैं, कानोंमें कनेरके फूल खोंसे हुए हैं, भालमें गोल-गोल चन्दनका तिलक लगाये हैं जिसके बीचमें केसरका बिन्दु सुशोभित है। दोनों कानोंमें बालसूर्यके समान कान्तिवाले कुण्डल विराजमान हैं। दर्पणके समान आभायुक्त कपोलोंपर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान्की दृष्टि श्रीप्रियाजीके वदनकमलकी ओर लगी हुई है, भौंहें लीलासे ऊपरकी ओर उठी हुई हैं और उनकी ऊँची नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। उनके पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल होठ दाँतोंकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान् अपनी भुजाओंमें केयूर और अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके करकमल मुद्रिकाओंसे अलंकृत हैं। वे दाहिने हाथमें मुरली और बाएँ हाथमें लीलाकमल धारण किये हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी सुशोभित है और चरणोंमें नूपुर विराजमान है। वे प्रेमके आवेशसे चञ्चल हो रहे हैं और उनके नेत्रयुगल भी चलायमान हैं। वे श्रीप्रियाजीके साथ हँस रहे हैं और उन्हें भी बार-बार हँसा रहे हैं। इस प्रकार वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनके ऊपर श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान भगवान् नन्दनन्दनका ध्यान करे। उसके अनन्तर उनके वामभागमें स्थित श्रीराधिकाजीका इस प्रकार ध्यान करे। श्रीप्रियाजी नीला अंगा धारण किये हुए हैं, उनके श्रीअंगोंकी कान्ति तपाये हुए सोनेके समान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्दका आधा भाग उनकी रेशमी साड़ीके अञ्चलसे ढका हुआ है। वे चञ्चल नेत्रोंसे चकोरीकी भाँति अपने प्रियतमके मुखचन्द्रकी ओर निहार रही हैं और अपने अँगूठे और तर्जनीसे उनके मुखमें कुटे हुए पानके सहित सुपारीका चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन और उन्नत वक्षःस्थलपर मोतियोंका हार लटक रहा है, उनका कटिप्रदेश अत्यन्त कृश है और स्थूल नितम्बपर करधनी विराजमान है। वे रत्नजटित ताटङ्क (कर्णफूल), केयूर (बाजूबन्द), अँगूठी और कङ्कण धारण किये हुए हैं। उनके चरणोंमें कड़े, नूपुर और रत्नजटित छल्ले सुशोभित हैं। उनके समस्त अङ्ग इतने सुन्दर हैं मानो वे लावण्यके सार ही हैं। वे आनन्दरसमें डूबी हुई हैं, अत्यन्त प्रसन्न हैं और उनके अङ्गोंमें नवयौवन झलक रहा है। हे ब्राह्मणदेव, उनकी सखियाँ उन्हींके समान गुण और अवस्थावाली हैं और उनपर चँवर डुला रही हैं तथा पंखा झल रही हैं। इस प्रकार उनका ध्यान करना चाहिये।

यह श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका ध्यान है। यहाँ एक बार फिर चेतावनी दे देना उचित है कि परम वैराग्यवान् पुरुषको ही इस साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये। नहीं तो अनिष्टकी आशङ्का है।

स्वरूपसाक्षात्कार

प्रश्न—क्या इस स्वरूपका साक्षात्कार भी हो सकता है ? हो सकता है तो किस उपायसे ?

उत्तर—अवश्य ही हो सकता है। जब युगल सरकार कृपा करके अपने दुर्लभ दर्शन देना चाहें तभी दर्शन हो सकते हैं। उनकी कृपा ही साक्षात्कारका उपाय है।

प्रश्न—क्या साक्षात्कारमें भगवान्की मुरलीध्वनि, नूपुरध्वनि सुनायी दे सकती है, क्या उनके श्रीअंगकी मधुर दिव्य गन्ध और उनके दिव्य चिन्मय चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर—दर्शन होनेपर उनकी कृपासे सभी कुछ हो सकता है। परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये

कि ये सब बातें ध्यानमें भी हो सकती हैं। जैसे स्वप्नमें देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना सब कुछ होता है परन्तु वस्तुतः वहाँ अपनेसे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, सब मनकी ही कल्पना होती है। इसी प्रकार ध्यानकालमें भी मनोनिर्मित विग्रहका स्पर्श, मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनिका श्रवण, मधुर गन्धका ग्रहण हो सकता है। उसमें और साक्षात्कारमें बड़ा अन्तर है। परन्तु इस अन्तरका पता साक्षात्कार होनेपर ही लगता है, पहले नहीं। ध्यान होना भी बड़े ही सौभाग्यका विषय है।

सरल साधन

१-भगवन्नामजप

प्रश्न—भगवान्की कृपा प्राप्त करनेका कोई सरल उपाय भी है?

उत्तर—है क्यों नहीं। भगवन्नामका जप-कीर्तन, और कातरभावसे रो-रोकर भगवान्से प्रार्थना करना उनकी कृपा-प्राप्तिके सरल उपाय हैं।

भगवान् शंकर देवी पार्वतीसे कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मङ्गलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।
अत आन्तरकर्माणि कृत्वा नामानि च स्मरेत्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कृष्णेत्याह पुनः पुनः।
मन्नाम चैव त्वन्नाम यो जपित्वाव्यतिक्रमात्॥
सोऽपि पापाद् विमुच्येत तूलराशेरिवानलः।
जयाद्येतत्त्वया वाप्यथवा श्रीशब्दपूर्वकम्॥
तच्च मे मङ्गलं नाम जपात् पापात्प्रमुच्यते।
दिवा निशि च सन्ध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत्॥
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा।

केवल एक हरिनाम ही उद्धारका उपाय है। जो व्यक्ति नित्य (अखण्डरूपसे) हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण आदि नामोंका उच्चारण करता है, कलियुगका उसपर असर नहीं हो सकता। अतएव प्रतिदिन आन्तर कर्मोंको करके बार-बार कृष्ण कृष्ण कृष्ण इन नामोंको स्मरण करना चाहिये। ऐसा मुनिगण भी कहते हैं। जो व्यक्ति मेरा (शिव) नाम और तुम्हारा (पार्वती) नाम (अथवा गौरी शंकर नाम) जप करता है, रुईका ढेर जैसे आगसे जल जाता है, वैसे ही वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है। अर्थात् नाम-जप पापोंको भस्म कर डालता है। जो पुरुष जय श्रीकृष्ण, जय श्रीशंकर, जय श्रीपार्वती, इस प्रकार आगे या पीछे 'जय' और 'श्री' जोड़कर मंगलमय नामका जप करता है वह पापोंसे छूट जाता है। क्या दिन, क्या रात, क्या सन्ध्या सभी समय भगवान्के नामोंका स्मरण करना चाहिये। रात-दिन अखण्ड नामजप करनेसे भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

इस प्रकार अखण्ड नामजप और स्मरणसे सहज ही पापोंका नाश होता है और भगवान्के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

२-प्रार्थना

दूसरा उपाय प्रार्थना है। एकान्तमें आर्तभावसे और सच्चे हृदयसे इस तरह भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥

शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

हे नाथ ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं, आप ही शरणागत जनोंका भय भञ्जन करते हैं । यह मैं, मेरा, यह देह और इस लोक तथा परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके चरणोंमें अर्पण करता हूँ । मैं अपराधोंका घर हूँ, मेरे अन्य कोई भी साधन नहीं है । मेरी कोई गति नहीं है । हे नाथ ! आप ही मेरी गति हैं । हे श्रीराधाकृष्ण ! मैं तन, मन, वचनसे आपका ही हूँ, आप ही मेरी अनन्य गति हैं । मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप दयाकी खान हैं । मुझ दुष्ट अपराधीपर दया करके मुझे अपना दास बना लीजिये मेरे युगल सरकार !

इस प्रकार नाम-जप और आर्त तथा दीन प्रार्थनासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपासे दुर्लभ भी परम सुलभ हो जाता है । आपने प्रश्नोंका उत्तर बहुत विस्तारसे चाहा था, मैंने संक्षेपमें लिखना चाहा था तो भी उत्तर कुछ बड़ा हो गया है, इससे आपको कुछ सन्तोष हो और पाठकोंको लाभ हो तो बड़े आनन्दकी बात है । भूल-चूक और प्रमादके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

जीवनकी विनश्वरता

जल रही चिता विकराल देख !
चिन्ताओंका वह चक्रव्यूह, दुख-सुखके साधनका समूह,
धू-धूकर धधक-धधक कैसे जलता जगका जंजाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

अपनी समेट आभा समस्त, हो चला अचानक भानु अस्त ,
जीवन-संध्याकी लालीसे, लपटोंके नभको लाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

यह हूह हूह हिंसक हहास, उत्तुंग तरंगित अट्टहास ,
शत-शत भीषण ज्वालाओंके नर्तनका मायाजाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

क्या ऊँच-नीच क्या सरल-वंक, क्या शत्रु-मित्र क्या राव-रंक ,
अस्तित्वहीन हो रहे यहाँ, कितने माईके लाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

वह रम्य-रूप रस रंग राग, संसृतिकी सुषमाका सुहाग ,
जाने हो गया विलीन कहाँ, इनका केवल कंकाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

जिसपर इतना मद मान मोह आशाका आरोहावरोह ,
रो-रोकर पवन पुकार रहा, उस जीवनका यह हाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

जग-जीवनका है मोल यही ? मानव कुछ भी तो बोल सही,
तब क्यों प्रपंचमें फँसता है ? सिरपर बैठा है काल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

है नहीं मृत्यु, भय, शोक जहाँ, फैला उज्ज्वल आलोक जहाँ ,
ओ मानव, चल ममत्व तजकर, प्रभुका वह लोक विशाल देख !
जल रही चिता विकराल देख !

—रामाधार त्रिपाठी 'जीवन'

◆

श्रीभक्तांक

(दूसरा नया संस्करण)

भक्तांकमें संत-महात्माओंके जीवन-चरित्र, उनकी साधना, अनुभव और उपदेश आदि श्रीभगवान्की ओर ले जानेवाले बहुत सुन्दर-सुन्दर लेख हैं। भक्त और भगवान्के अनेक सुन्दर दर्शनीय चित्र भी हैं। इस बार कई चित्र बदलकर नये लगाये गये हैं जो पहलेसे बहुत अच्छे हैं। एक पुष्ट टाइटल और लगाया गया है। २४० पृष्ठकी पाठ्य सामग्रीके इस सुन्दर अंकका मूल्य वही पहलेवाला ही १॥) है। जिनको लेना हो ले सकते हैं।

श्रीरामायणांक

अनेक प्रेमियोंके आग्रहसे 'रामायणांक' पुनः छप गया था। मूल्य वही २॥≈) ही रक्खा गया है। पृष्ठ पाँच सौसे ऊपर और सैकड़ों चित्र हैं। अपने संग्रहमें एक प्रति अवश्य रक्खें।

रामायणांकका गेटप, छपाई, सफाई, कागज और बाइंडिंग सब सुन्दर हैं।

रामायणांकमें श्रीरामजीको लीलाओंके अनेक सुनहरी, बहुरंगे, सादे चित्र एवं अनेक पवित्र तीर्थ अयोध्या, प्रयाग, काशी, चित्रकूट, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुर, शृंगवेरपुर आदिके दर्शनीय चित्र हैं। रामायणकालीन भारतके कई भौगोलिक मानचित्र भी हैं।

रामायणांकमें अनेक महात्माओं, देशी-विदेशी विद्वानों और रामायणप्रेमियोंके लेख हैं।

रामायणांक—सुखमय जीवनका अमोघ साधन है।

आजतक कल्याणके सिवा इतने बड़े किसी भी सामयिक पत्रको दुवारा छपकर आपकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। यदि आप इस बार इस अङ्कको न अपना सकेंगे तो समझ लीजिये कि एक उत्कृष्ट वस्तुसे वञ्चित रह जायँगे, क्योंकि इसके शीघ्र तीसरी बार छपनेकी आशा हम अभी आपको नहीं दिला सकते। अतः खरीदनेमें शीघ्रता करें।

कुछ सम्मतियाँ पढ़िये—

……सुन्दर, सस्ता और उपयोगी निकला है।……पढ़नेसे……अनेक ज्ञातव्य बातोंका पता चल जाता है।……अङ्क संग्रहणीय है। भारत (इलाहाबाद)

……लेख बड़े-बड़े विद्वानोंकी लेखनियोंसे लिखे गये हैं। कई लेख तो भारतसे भिन्न देशोंसे भी मँगवाये गये हैं।……लेख प्रायः सब तथ्यपूर्ण एवं जानकारीसे भरे हुए हैं।……कई सहस्र रुपया व्यय करना पड़ा होगा फिर भी इसका मूल्य केवल २॥≈) रक्खा गया है……। अवश्य संग्रह करना चाहिये। आर्यमित्र (आगरा)

………विषयोंकी व्यापकताकी दृष्टिसे तो रामायणपर यह अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होगा।……सच्ची लगनके बिना ऐसे गुरुतर कार्य सिद्ध नहीं होते। हमें विश्वास है कि पाठकगण इस……से पूरा लाभ उठावेंगे। प्रताप (कानपुर)

……**'रामायणांक'** हिन्दी-जगत्की एक स्थायी सम्पत्तिके रूपमें सदा आदर पाता रहेगा—……। अपने ढंगका अद्वितीय ग्रन्थ है, साथ ही 'कल्याण' नामको सार्थक करता है।……हमारी प्रत्येक हिन्दी-प्रेमीसे अपील है कि वह इस विशेषांकको मँगवाकर अवश्य पढ़ें, इससे 'लोकलाहु परलोक निबाहू' दोनों साधनाएँ सफल होंगी। माधुरी (लखनऊ)

पता—**व्यवस्थापक, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर**

Regd. No. A. 1724.

वैष्णव कौन है ?

हिंसाद्वेषकामक्रोधैर्वर्जिताश्चैव ये नराः ।
लोभमोहपरित्यक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवा द्विज ॥
पितृभक्ता दयायुक्ताः सर्वप्राणिहिते रताः ।
अमत्सरा वैष्णवा ये विज्ञेयाः सत्यभाषिणः ॥
विप्रभक्तिरता ये च परस्त्रीषु नपुंसकाः ।
गायन्ति हरिनामानि तुलसीमाल्यधारकाः ॥
(पद्मपुराण)

भगवान् व्यास महर्षि जैमिनिसे कहते हैं—

हे द्विज ! जिसमें हिंसा, द्वेष, काम और क्रोध नहीं हैं, जिन्होंने लोभ और मोहका त्याग कर दिया है उनको वैष्णव जानना चाहिये । जो पितृभक्त हैं, दयालु हैं, सब प्राणियोंके हितमें लगे रहते हैं, किसीसे डाह नहीं करते, सदा सत्य बोलते हैं, ब्राह्मणोंके भक्त हैं, परायी स्त्रीके लिये नपुंसक हैं, गलेमें तुलसीमाला धारण करते हैं और श्रीहरिका नाम-गान करते हैं उन्हें वैष्णव जानना चाहिये ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

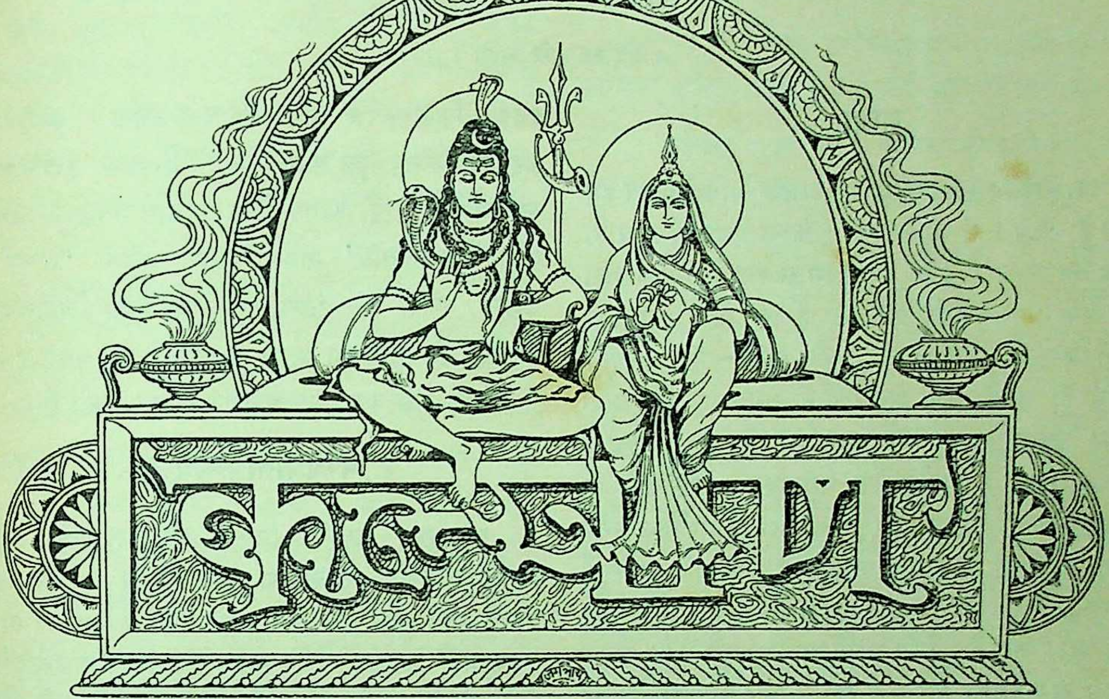

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ } गोरखपुर, आश्विन १९९३, अक्टूबर १९३६ { संख्या ३
पूर्ण संख्या १२३

जीवनकी सार्थकता

जौं पै रहनि रामसों नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जिअत जग माहीं ॥ १ ॥
कामु, क्रोधु, मदु, लोभु, नीद, भय, भूख, प्यास सबहीकें ।
मनुजदेह सुर-साधु सराहत, सो सनेहँ सिय-पीकें ॥ २ ॥
सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनिअत गुन-गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई ॥ ३ ॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि, सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ॥ ४ ॥

—तुलसीदासजी

ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके विचार

(लेखक—श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १९०८ श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज)

(वेदान्तांकसे आगे)

माया

इस विवेचनसे हम मायावादके प्रश्नपर आते हैं। जब हम कहते हैं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (केवल ईश्वर ही सत्य है, अन्य सब असत् है) तो इससे हमारा क्या अभिप्राय होता है ? क्या हमारे कहनेका अर्थ यह है कि यह सारा दृश्य जगत् मिथ्या है ? सत्, असत् और मिथ्या—तीन प्रकारके पदार्थ हैं; इनके सूक्ष्म अन्तरको न समझकर हम प्रायः इनका उलटा-पुलटा अर्थ लगा लेते हैं । अद्वैतवादी (Idealistic) दार्शनिकोंके वास्तविक दृष्टिकोणको न समझनेके कारण ही द्वैतवादी (Realistic) दार्शनिक उनमें साधारण बुद्धिका भी अभाव बतलाते हैं। जगत्के सम्बन्धमें जो संस्कृतके 'मिथ्या' शब्दका प्रयोग किया जाता है उसका अर्थ 'झूठा' नहीं है (जिस अर्थमें हम यह कहते हैं कि अमुक मनुष्य जान-बूझकर झूठ बोल रहा है और जिस वस्तुको वह वास्तवमें देखता, सुनता, सूँघता, चखता और छूता नहीं उसे वह देखने, सुनने, सूँघने, चखने और छूनेका स्वाँग भरता है)। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं करता कि हमें बाह्य जगत्की प्रतीति-सी अवश्य होती है; परन्तु यह कोई नहीं बता सकता कि जगत्के पदार्थ वस्तुतः क्या हैं। (जो कोई कहता है वह अपने मनकी भावना अथवा वृत्तिके अनुसार ही कहता है।) उदाहरणके लिये, हम किसी पदार्थकी परीक्षा करें और देखें कि किन-किन क्रियाओंसे हम उसकी परीक्षा कर सकते हैं। हम उसे देख, सुन, छू, चख और सूँघ सकते हैं, अथवा इनमेंसे किसी इन्द्रियकी सहायताके बिना ही उसका चिन्तन कर सकते हैं। इस प्रकार छः क्रियाएँ हो सकती हैं—किन्तु इन छहोंका सम्बन्ध हमारे मनसे है। इस प्रकार कोई भी बाह्य प्रमाण पहले हमारे मनमें गये बिना हमारे लिये उपयोगी नहीं हो सकता। अथवा यों कह सकते हैं कि जिसकी प्रतीति होती है, उसीको हम सब लोग देखते, स्पर्श करते और अनुभव करते हैं; किन्तु इस प्रतीयमान जगत्के पीछे उसका वास्तविक आधार क्या है, इसको निश्चितरूपसे कोई नहीं बता सकता। हमारे यह कहनेका कि सब कुछ हमारे मनहीमें है, बाहर कुछ नहीं है, यही अर्थ है। यही कारण है कि आचार्य मधुसूदन सरस्वती अपने 'अद्वैतसिद्धि' नामक अद्भुत ग्रन्थमें 'मिथ्या' का लक्षण करते हैं—'सत्यत्वासत्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वम्', अर्थात् जिसे न तो हम सत्यरूपसे ग्रहण कर सकते हैं और न जिसका असत्य कहकर अपलाप ही कर सकते हैं।

बिम्बप्रतिबिम्बवाद

इसे स्पष्ट करनेके लिये, हम उदाहरणके रूपमें बिम्बप्रतिबिम्बके सम्बन्धका विचार करें। जब कोई बालक पहले-पहल दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है तो वह समझता है कि ठीक उसीके समान एक दूसरा बालक दर्पणके पीछे दर्पणसे उतनी ही दूर जितनी दूर वह स्वयं है, उसके सामने मुँह किये खड़ा है। वह दर्पणके पीछे जाकर देखता है कि यह दूसरा बालक कौन है, किन्तु वह देखता है कि न तो वहाँ कोई दूसरा बालक ही है और न दर्पणकी मोटाई ही इतनी है जितना उसके और दर्पणके बीचमें अन्तर है। इस अनुभवसे बालकको यह निश्चय हो जाता है कि प्रतिबिम्ब मिथ्या है, किन्तु मिथ्या होनेपर भी वह झूठा नहीं है (इस अर्थमें कि उसका अनुभव नहीं होता और जानबूझकर झूठ बात कही जाती है)। क्योंकि उसने प्रतिबिम्बको वास्तवमें देखकर ही उसका विचार किया, उसके सम्बन्धमें निष्कपट भावसे जिज्ञासा की और अन्तमें उसे मिथ्या पाया। इतना ही नहीं, जब वह फिर दर्पणके सामने जाता है तो उसके भीतरसे उसी मिथ्या बालकको अपनी ओर ताकते हुए पाता और इस प्रकार फिर उसकी मायामें फँस जाता है। तो फिर वास्तवमें बात क्या है ? प्रतिबिम्ब इस अर्थमें सत्य है कि उसकी हमें प्रतीति होती है, किन्तु इस अर्थमें सत्य नहीं है कि उसकी बिम्बसे पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है। रेखागणितीय दृष्टिशास्त्र (Geometrical Optics) में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक 'असत्य' शब्दका भी यही अर्थ है। ठीक यही

अर्थ वेदान्तमें 'मिथ्या' का भी है। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि यदि दो पदार्थ एक दूसरेसे इस प्रकार सम्बद्ध हों कि एकका अस्तित्व दूसरेके अधीन हो किन्तु दूसरेका पहलेके अधीन न हो तो उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव सम्बन्ध होता है। प्रतिबिम्ब बिम्बके अधीन रहता है, बिना बिम्बके वह रह नहीं सकता; किन्तु बिम्ब स्वतन्त्र होता है और प्रतिबिम्ब बिना डाले भी रह सकता है। दूसरी बात यह है कि बिम्बमें यदि कुछ भी परिवर्तन किया जाय तो प्रतिबिम्बमें भी उसी प्रकारका परिवर्तन अवश्य होगा, किन्तु आप दर्पण और प्रतिबिम्बको चाहे जितना हिलायें जिसका वह प्रतिबिम्ब है वह उनके हिलनेसे तनिक भी नहीं हिलनेका, इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिबिम्बकी सत्ता ही नहीं, क्रिया भी परतन्त्र है और बिम्बकी सत्ता और क्रिया दोनों ही स्वतन्त्र हैं। तीसरे, मान लीजिये कि आमने-सामने दो दर्पण हैं और बीचमें एक मनुष्य खड़ा है। पहले दर्पणमें पड़ा हुआ उसका प्रतिबिम्ब दूसरेमें प्रतिबिम्बित होगा, और यह प्रतिबिम्ब फिर पहलेमें; इस प्रकार अनन्त प्रतिबिम्ब दिखायी देंगे। अतः एक बिम्बके अनेक प्रतिबिम्ब हो सकते हैं, किन्तु अनेक भिन्न-भिन्न बिम्बोंका एक प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बके इन तीनों नियमोंको अपनी प्रस्तुत समस्यापर लागू करके हम देखेंगे कि जब हम एकमात्र ईश्वरको सत्य और अन्य सब पदार्थोंको असत्य कहते हैं, तो हमारा मतलब यह होता है कि ईश्वरकी सत्ता स्वतन्त्र और नित्य है, अन्य पदार्थ, बिम्बसे प्रतिबिम्बकी भाँति, उन्हींसे निकले हैं और उनकी ईश्वरसे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'मिथ्या' शब्दका वास्तविक तात्पर्य यही है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब वास्तवमें एक ही हैं, क्योंकि प्रतिबिम्बकी बिम्बसे अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। और वे दोनों इस दृष्टिसे भिन्न भी हैं कि बिम्ब सत्य और प्रतिबिम्ब असत्य है।

परिणामवाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद और विवर्तवाद

इस मौकेपर कोई कह सकता है—हाँ, यह तो ठीक है; किन्तु कुछ और आगे बढ़कर, जैसा कि श्रीवल्लभाचार्यने किया है, हम परिणामवादको स्वीकार करके यह क्यों न मान लें कि ईश्वर सांसारिक पदार्थोंमें केवल प्रतिबिम्बित ही नहीं होता किन्तु उतनी देरके लिये वे पदार्थ स्वयं बन जाता है? इस प्रश्नके हमारे पास एक-दो नहीं, चार उत्तर हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदों अर्थात् उनमेंसे सर्वप्रथम उपनिषद् ईशोपनिषद्के आरम्भहीमें यह शान्तिमन्त्र है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् 'वह (स्वयं) पूर्ण है, (जगत्के) ये (पदार्थ) पूर्ण हैं, ये सब उस पूर्णमेंसे ही निकले हैं, और इन अनन्त पूर्ण पदार्थोंके उस एक पूर्णसे निकलनेपर भी वह एक भी पूर्ण ही बना रहता है।' परिणामवादका आधार मिट्टी, सूत, लकड़ी और सोनेके उदाहरण हैं। परिणामवादियोंका कहना है कि मिट्टी, सूत, लकड़ी और सोना घड़े, वस्त्र, कुर्सी और आभूषणके रूपमें भासते, प्रकट होते अथवा प्रतिबिम्बित ही नहीं होते किन्तु उतने समयके लिये वे वस्तुतः घड़ा, वस्त्र, कुर्सी और आभूषण बन जाते हैं और इनके रूपमें परिणत हो जानेपर भी मिट्टी, सूत, लकड़ी और सोना भी बने रहते हैं। यह ठीक है, किन्तु मृत्तिकारूप उपादानसे घटरूप कार्य तैयार हो जानेपर मृत्तिका अपने मूल उपादानरूपमें नहीं रहती किन्तु घटरूप नये आकारको धारण कर लेती है और उसी रूपमें दृष्टिगोचर होती है। परन्तु ऊपर उद्धृत किया हुआ मन्त्र स्पष्ट कहता है कि (जीव और जगत्के रूपमें) असंख्य पूर्ण पदार्थोंके ईश्वररूप पूर्णसे निकलनेके बाद भी ईश्वर पूर्ण ही बना रहता है।

परिणामवादके सिद्धान्तसे ऐसा होना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि इसके अनुसार प्रकृतिका जितना अंश विकृतिभावको प्राप्त हो जाता है, प्रकृतिमें उतनी ही कमी हो जाती है और इस प्रकार केवल दोनोंका योग (sum-total) समान रहता है, किन्तु अंश दोनों अंशरूपमें ही रहते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध, ईश्वर और जगत्के सम्बन्धमें कुछ ऐसी विचित्र बात है कि ईश्वरको हम एक जादूकी पिटारी कह सकते हैं जिसमें यदि दस लाख रुपये रक्खे हैं तो आप उसमेंसे दसों लाख अनन्त बार निकाल लीजिये, किन्तु जब आप देखेंगे तभी उस पेटीमें आपको दस लाख रुपये पूरे मिलेंगे, एक पाईकी भी कमी नहीं होगी। ऐसी

बात विवर्तवादमें ही सम्भव है, जिसके अनुसार रज्जुमें सर्पकी भाँति यह सारा दृश्य प्रपञ्च विवर्त अथवा मायाके अतिरिक्त कुछ नहीं है; अथवा प्रतिबिम्बवादमें सम्भव है, जहाँ एक बिम्बके अनन्त चित्र अथवा प्रतिबिम्ब निकाल लेनेपर भी (जो चाहे छोटे हों चाहे बड़े, होंगे सब पूर्ण ही) बिम्बमें कोई कमी नहीं आती। अतः इस 'पूर्ण' मन्त्रसे परिणामवादका सर्वथा खण्डन हो जाता है।

(२) यदि हम यह कहें कि ईश्वर स्वयं पदार्थविशेष बन जाता है, तो इसका मतलब यह होगा कि उस पदार्थके नष्ट हो जानेपर ईश्वरका भी नाश हो जायगा। और यदि यह कहा जाय कि एक पदार्थके नष्ट हो जानेपर अन्य सब पदार्थ थोड़े ही नष्ट हो जाते हैं, अन्य पदार्थोंके रूपमें ईश्वर बना रहेगा, तो ऐसी हालतमें ईश्वरका अंशतः नाश तो मानना ही होगा और ऐसी दशामें वह रहेगा भी तो खण्डित अथवा विकलाङ्ग होकर रहेगा। किन्तु अद्वैतसिद्धान्तमें यह दोष नहीं आता, क्योंकि प्रतिबिम्ब चाहे सभी नष्ट हो जायँ किन्तु उनके नाशसे बिम्बका नाश थोड़े ही होगा।

(३) इसके अतिरिक्त यदि परिणामवाद सत्य होता और स्वयं ईश्वर ही पदार्थरूप बन गये होते तो फिर जगत् भी सत्य होता। और यदि जगत् सत्य होता तो वेदान्त नामरूपात्मक जगत्के ज्ञानको अज्ञान, भ्रम, मोह आदि कहकर उसकी निन्दा क्यों करता और हमें जो निरन्तर जगत्की प्रतीति और अनुभव हो रहा है उसे हटाकर हमारी निरन्तर ब्रह्मदृष्टि करानेके लिये वर्णाश्रमधर्म, उपासना, श्रवण, मनन, निदिध्यासन प्रभृति बह्वायाससाध्य, दीर्घकालतक सेवन करनेपर फल देनेवाले कठिन साधनोंकी व्यवस्था क्यों करता।

(४) चौथा प्रबल प्रमाण यह है कि श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायीमें भी बिम्बप्रतिबिम्बवादका इन शब्दोंमें स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है—

'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।'

यहाँ विश्वके साथ भगवान्के सम्बन्धकी तुलना एक बालकद्वारा अपनी परिछाईंके साथ खेलनेसे दी गयी है।

यहाँ प्रसंगवश तथा उन वैष्णवसम्प्रदायोंके सन्तोषके लिये, जो भगवान् शङ्कराचार्यपर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने अपने मनसे ही, बिना प्राचीन शास्त्रोंके आधारके, मायावाद और विवर्तवादका नवीन सिद्धान्त गढ़ लिया, हम केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि उनका यह अपवाद सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि केवल वेद और भगवद्गीता ही नहीं किन्तु श्रीमद्भागवत भी (जिसे कम-से-कम वाणी-से ये सभी वैष्णव प्रमाण मानते हैं) एकदम स्पष्ट शब्दोंमें बड़े ज़ोरके साथ विवर्तवादका प्रतिपादन करते हैं, और भगवान् शङ्कराचार्यने भी इन्हीं प्रमाणोंका आधार लिया है। इसके समर्थनमें सहस्रों वचन उद्धृत किये जा सकते हैं; किन्तु यहाँ उनमेंसे कुछ थोड़े-से ही दिये जाते हैं।

१. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

(श्रुति)

(प्रकृतिको माया और सर्वशक्तिमान् ईश्वरको उसका स्वामी जानो।)

२. 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'
३. 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'
४. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता)

(ज्ञान अज्ञानसे ढँका हुआ है। इसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

अपनी दिव्य मायासे आच्छादित होनेके कारण मैं सबको दिखायी नहीं देता।

मेरी इस त्रिगुणात्मक दैवी मायाको लाँघना अति कठिन है; किन्तु जो केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं।)

५. 'मायां ततान जनमोहिनीम्।'
६. 'मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते।'
७. यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥

(श्रीमद्भागवत)

(उसने अपनी मायाको फैलाया, जिसने सारे संसारको मोहित कर रक्खा है। अपनेको तथा संसारको भगवान्की सृष्टि समझकर मनुष्य उसीमें आसक्त हो जाता है।

जिन-जिन नश्वर पदार्थोंका मन, वाणी, नेत्र और श्रवण आदि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, उन सबको तुम मनः-कल्पित और मायिक समझो।)

इससे अधिक स्पष्ट शब्द और क्या हो सकते हैं ? फिर भी श्रीमद्भागवतसे एक वचन और उद्धृत करते हैं—

'रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।'

(ठीक जिस प्रकार रज्जुमें सर्प प्रतिभासित होता है और फिर उसमेंसे विलीन हो जाता है।) यहाँ केवल विवर्तवाद ही स्वीकार नहीं हुआ है, बल्कि उसी दृष्टान्तके द्वारा इसका समर्थन किया गया है, जिसका प्रयोग भगवान् श्रीशङ्कराचार्य एवं अन्य अद्वैतवादियोंने इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें किया है। और यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि दृष्टि-भ्रमको तो विज्ञान भी स्वीकार करता है, यहाँतक कि आधुनिक गणित ज्योतिषमें तो स्वप्न तथा दर्पणमें दीखनेवाला प्रतिबिम्ब ही नहीं, अपितु सूर्योदय और सूर्यास्ततकको दृष्टिभ्रम ही माना गया है। सांसारिक व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान सदा भ्रमशून्य नहीं होता, फिर मायावादको स्वीकार करनेमें इतना सङ्कोच क्यों ?

संस्कृतव्याकरणका प्रमाण

एक बात और ध्यानमें रखनेकी है कि संस्कृतव्याकरणके अनुसार 'आत्मा' शब्द नित्य एकवचन है। क्या इससे यह अनुमान करना न्याय्य नहीं है कि आत्मा एक है, अनेक नहीं ? किन्तु, अन्य भाषाओंमें इस प्रकारका कोई स्पष्ट नियम नहीं है, इससे हम सभी भाषाओंके व्याकरणके आधारपर संक्षेपमें वचनका सूक्ष्म विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उन भाषाओंके व्याकरणसे भी यही बात सिद्ध होती है।

सब भाषाओंके व्याकरणशास्त्रका प्रमाण

हम कुछ दिल्लगीमें किन्तु साथ ही पूरी गम्भीरताके साथ एक दूसरी सरल पद्धतिका संकेत करते हैं जिसके द्वारा, सभी भाषाओंके व्याकरणके आधारपर, हम आत्माकी एकताके ही सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। और इसका आधार संसारकी सभी भाषाओंकी एक मनोरञ्जक किन्तु उपदेशपूर्ण विचित्रता है, जिसपर, खेद है, बहुत कम लोग ध्यान देते हैं। केवल संस्कृतके ही नहीं किन्तु संसारकी किसी भी भाषाके व्याकरणको लेकर यदि आप पुरुषवाचक सर्वनामोंके बारेमें विचार करेंगे तो आप उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुषके एकवचन और बहुवचनके प्रयोगोंमें एक विशेषता पायेंगे, जिसकी ओर हम प्रत्येक व्यक्तिका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हिन्दीको ही लीजिये, उसमें अन्य-पुरुषका बहुवचन क्या है ?—वे; और 'वे' का अर्थ है 'वह' और 'वह' अथवा दोसे अधिक 'वह'। इसी प्रकार मध्यम-पुरुष-बहुवचनके 'तुम' का अर्थ है 'तू' और 'तू' (चाहे जिस संख्यातक)। किन्तु उत्तमपुरुषके बहुवचनकी बात दूसरी ही है।

यह वास्तवमें झूठा बहुवचन है। क्योंकि जब आप 'हम' शब्दका प्रयोग करते हैं तो आपका अभिप्राय होता है—मैं और तुम, अथवा मैं और वह, इत्यादि। परन्तु 'हम' का अर्थ 'तुम' या 'वे' की तरह 'मैं और मैं' नहीं हो सकता। इसपर ध्यान दीजिये और इसके अर्थपर गम्भीर विचार कीजिये। प्रत्येक संज्ञाशब्द और मध्यम और अन्य पुरुषके सर्वनामके बहुवचनका अर्थ होता है एक ही जातिके बहुत-से पदार्थोंका समूह, किन्तु उत्तमपुरुषके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। क्योंकि वास्तवमें 'मैं' का बहुवचन हो नहीं सकता और 'हम' एक झूठा शब्द है, जो देखनेमें 'मैं' का बहुवचन-सा प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें वह 'मैं' का बहुवचन नहीं है। याद कीजिये, हम आत्माका लक्षण ऊपर क्या कर आये हैं—आत्मा वही है जिसे लक्ष्य करके हम 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं और भगवान् शङ्कराचार्यने भी अपने शारीरक भाष्यके पहले ही वाक्य—नहीं, पहले ही शब्द—में आत्माका यही लक्षण 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' पदसे किया है। इसका कारण यह है कि हमें अपने भीतर रहनेवाले उसी पदार्थका ज्ञान रहता है, जिसे 'आत्मा' कहते हैं; अन्य वस्तुओंका हमें इस प्रकार सहज ज्ञान नहीं होता, उनके सम्बन्धमें हम अनुमानमात्र करते हैं। दूसरे शब्दोंमें, वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा अनुभवात्मक ज्ञान अपने अन्तरात्माका (दूसरोंकी आत्माका नहीं) अर्थात् केवल उत्तमपुरुषका ही होता है। और उत्तमपुरुषके सम्बन्धमें हम देख चुके हैं

कि प्रत्येक भाषाका व्याकरण हमें यह बतलाता है कि 'हम' का अर्थ 'अनेक मैं' अथवा 'दो मैं' भी नहीं हो सकता। अर्थात् 'हम' अवश्य ही देखनेमें 'मैं' का बहुवचन-सा प्रतीत होता है किन्तु है यह झूठा बहुवचन; 'मैं' का वास्तविक बहुवचन हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है कि 'अहं' पदवाच्य आत्मा अनेक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तवमें एक ही है।

इस प्रकार परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की एकता सिद्ध करनेमें तथा इस अनन्त वैचित्र्यमय दृश्य प्रपञ्चके पीछे एक अद्वैत आत्मसत्ताका अनुभव करनेमें हमें व्याकरणसे भी सहायता मिलती है।

क्रियाका ऐक्य

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है—यदि ईश्वर और हम एक ही हैं तो क्या कारण है कि उसकी और हमारी क्रियाओंमें इतना अन्तर क्यों है ? प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है, किन्तु यह इसीलिये होता है कि हम इस बातपर ध्यान नहीं देते और अनुभव नहीं करते कि वास्तवमें ईश्वरकी और हमारी क्रियाएँ बिलकुल एक-सी ही हैं, भिन्न नहीं हैं। यदि हम ऊपर दिया हुआ पात्र और उसके एक छोटे-से छिद्रमेंसे आनेवाली प्रकाशकी किरणका उदाहरण ध्यानमें रक्खें तो हम बड़ी सरलतासे समझ सकेंगे कि हमारी क्रिया भी ठीक ईश्वरकी क्रियाके समान ही होती है; अन्तर इतना ही है कि हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिने हमारे अन्दर रहनेवाले ईश्वरको आच्छन्न करके, हमारी दृष्टिसे छिपा लिया है और इसलिये हमारी क्रिया इन उपाधियोंके द्वारा सीमित है। अब देखना चाहिये कि हम प्रतिक्षण क्या करते रहते हैं।

जब सूर्य अस्त होता है तो उन किरणोंका क्या होता है, जिन्हें वह अबतक प्रसारित कर रहा था ? आप कहेंगे कि अस्त होते समय वह अपने किरणोंको साथ ले जाता है। ठीक है, किन्तु यह तो उन किरणोंके सम्बन्धमें हम कह सकते हैं जो उस समय भी सूर्यके अन्दर रहती हैं; किन्तु जिन किरणोंको वह बाहर फेंक चुकता है उनका क्या होता है ? क्या वे बाहर ही रहती हैं ? नहीं, वह उनको भी अपने साथ समेट ले जाता है। प्रत्यक्ष ही वह अपनी किरणोंके साथ वही व्यवहार करता है जो रेशमका कीड़ा अपने तन्तुजालके साथ करता है। जब हम सोने जाते हैं, तब हम भी इसी प्रकार अपने सांसारिक अनुभवोंको अपने साथ लेकर सोते हैं; कभी-कभी हम इन विचारोंकी एक विचित्र खिचड़ी-सी बनाकर अपने भीतर रखते हैं और तब हम इन्हें स्वप्न कहते हैं; कभी-कभी हम इन्हें अपने अन्तस्तलके किसी कोनेमें छिपाकर रखते हैं और तब हम गाढ़ निद्रा अथवा सुषुप्ति अवस्थामें कहलाते हैं; और जागनेपर सारे सांसारिक पदार्थ फिर हमारे सामने आ जाते हैं और हम अपने जिन विचारोंको साथ लेकर सोये थे उन्हें उसी तरह अपने साथ वापिस ले आते हैं जिस तरह रेशमका कीड़ा अपने कोषको अथवा सूर्य अपनी किरणोंको ले आता है। यह सब हम क्या करते हैं ? क्या परमात्मा भी ऐसा नहीं करते ? क्या प्रत्येक बार जब हम सोने जाते हैं तो अपने संसारको, उस समयके लिये, नष्ट नहीं कर देते, जैसा कि ईश्वर प्रलयके समय करता है, और जागनेके समय उसे फिर उत्पन्न नहीं करते, जैसा कि वह सृष्टिके समय करता है ? और जाग्रत् अवस्थामें क्या हम उसी प्रकार अपने संसारका रक्षण नहीं करते जिस तरह ईश्वर सृष्टि और प्रलयके बीचमें करता है ? जब हम इस प्रकार प्रतिदिन उसके तीनों काम—सृष्टि, धारण और प्रलय—करते रहते हैं, तो इससे बढ़कर क्रियासाम्य और क्या होगा ?

सोने और जागनेकी बात जाने दीजिये। जाग्रदवस्थामें भी आप इन सभी क्रियाओंको कर सकते और करते हैं। कभी-कभी जब आप सोनेके पहले अपने कमरेका प्रकाश बुझा देते हैं और उसको अन्धकारमय बना लेते हैं, और ठीक सोनेके पूर्व क्षणमें अपनी आँखें भी बन्द करके अपने मृत पिता अथवा मित्र अथवा किसी और मनुष्यकी मूर्तिका ध्यान करते हैं और उसको ध्यानमें देखनेका प्रयत्न करते हैं तो वह मूर्ति आपके ध्यानमें आ जाती है। यदि आपका संकल्प दृढ़ हो और आपको ध्यानकी युक्ति आती हो तो आप उन मूर्तियोंकी मनके द्वारा रचना कर सकते हैं। क्या यह सृष्टि नहीं है ? नहीं तो आप कैसे अँधेरे कमरेमें आँख मूँदकर किसी वस्तुको देख सकते हैं ?

दूसरी ओर, जब आप जगे हों और आपके कमरेमें पूरा प्रकाश भी हो, उस समय भी केवल आँखें मूँदनेसे और न देखनेका संकल्प करनेसे, आप नहीं देखते। इतना ही नहीं, जब आप किसी दूसरे पदार्थपर अपना मन केन्द्रित करते हैं और जब यह दूसरी जगह घूमने चला जाता है, तो क्या यह सच नहीं है कि यद्यपि आपकी आँखें पूरी खुली हुई रहती हैं, तब भी आप कुछ भी नहीं देख सकते! यदि कोई डाकू भी चला आवे और आपकी सबसे बहुमूल्य वस्तु छीन ले जाय, तो आपको इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

श्रीकृष्णकर्णामृतमें एक बहुत ही सुन्दर श्लोक है, जो एक ओर (साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टिसे) केवल लीलाका वर्णन करता है किन्तु दूसरी ओर बहुत ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक उपदेश देता है। श्लोक इस प्रकार है—

मातः ! किं यदुनाथ ! देहि चषकं, किं तेन ? पातुं पय-
स्तन्नास्त्यद्य, कदास्ति वा ? निशि, निशा का ? वान्धकारोदये।
आमील्याक्षियुगं निशाप्युपगता, देहीति मातुर्मुहु-
र्वक्षोजांशुककर्षणोद्यतकरः कृष्णः स पुष्णातु वः॥

ऐसा मालूम होता है कि भगवान्‌की धात्री माँ यशोदाजी उनको निश्चित समयपर ही दूध देती थीं। एक दिन केवल परिहासके लिये बालक श्रीकृष्णने दिनमें असमय उनको बुलाकर दूध माँगा। उन्होंने कहा, 'तुम्हें अभी दूध नहीं मिल सकता।' बालकने पूछा, 'फिर कब मिल सकता है ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'रातमें।' श्रीकृष्णने फिर प्रश्न किया, 'रात्रि क्या है ?' उन्होंने जवाब दिया, 'जब अँधेरा होता है।' किन्तु ज्यों ही उन्होंने ऐसा कहा, बालकने अपनी आँखें मूँदकर कहा, 'माता, अँधेरा हो गया। अब मुझे दूध दो।'

इसी प्रकार आपके चारों ओरके सैकड़ों मनुष्योंके नेत्र और मनके लिये बहुत-से पदार्थोंका अस्तित्व है, किन्तु आपके लिये नहीं, क्योंकि मनकी चञ्चलताके कारण या जान-बूझकर आप अन्यमनस्क हैं। इससे क्या प्रकट होता है ? इससे केवल यही सिद्ध होता है कि वास्तवमें यह सारा दृश्य जगत् मनहीके ऊपर अवलम्बित है। जिन दृश्योंको हम देखते हैं, जिन शब्दोंको हम सुनते हैं, हमारा उनसे उतना ही प्रयोजन है जितना हमारा उनके साथ मनोयोग है। यही कारण है कि हम देखते हैं कि आधुनिक पाश्चात्य दर्शनके इतिहासमें भी केवल पूर्णतः द्वैतवादी सम्प्रदाय ही नहीं किन्तु सर विलियम हैमिल्टनके मध्यस्थानीय लोकोत्तर द्वैतवादका भी मूलतः खण्डन कर दिया गया और अद्वैतवादकी प्रतिष्ठा हुई है। वस्तुतः आयर्लैण्डके वृद्ध पादरी बर्कलेने योरोपमें अद्वैतवादका प्रवर्तन किया था, और आजकलके बड़े-बड़े दार्शनिक, जिनमें कार्लाइल, इमर्सन, काण्ट, हेगेल, टॉमस हिल ग्रीन, प्रो॰ डॉयसन आदि भी शामिल हैं, हृदयसे विचारवादी हैं। आधुनिक योरोप और अमेरिकामें, नवविचारपद्धतिके बड़े-बड़े मनोविज्ञानी—राल्फ वाल्डो ट्राइन, मार्डेन, डॉ॰ सिडनी फ़्लावर, एला व्हीलर विलकॉक्स, विलियम वॉकर ऐटकिन्सन, प्रो॰ जेम्स, आर केर्नी आदि भी—अद्वैतवादके कट्टर विश्वासी और समर्थक हैं। और जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, वास्तवमें ये विद्वान्—आधुनिक जर्मनीके उद्भट अध्यात्मज्ञानी विद्वान् काण्टको भी लेकर—श्रीशङ्कराचार्यकी तरह निर्बाध अद्वैततक पहुँचनेमें समर्थ नहीं हो सके हैं; किन्तु इस बातको ध्यानमें रखनेसे कि वे सदियोंसे द्वैतवादके अनुयायी थे जिसके विरुद्ध उनको संघर्ष करना पड़ा, और इन्होंने अभी इस पथपर पैर रखा है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; और हमारी उत्कट आशा है कि योरोप और अमेरिकाका उच्चतम दार्शनिक विचार बहुत शीघ्र भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके पूर्ण विकसित अद्वैतके समतलपर आ जायगा।

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[भाग १०, पृष्ठ १५६४ से आगे]

‘रात्रीः’ शब्दका अर्थ निशा तो है ही, किन्तु इसके सिवा इसका दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। ‘रा दाने’ इस कोशके अनुसार ‘रा’ धातुका अर्थ ‘देना’ है, उसमें ‘तृन्’ प्रत्यय जोड़नेपर ‘रात्री’ शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ ‘देनेवाली’ है। अर्थात् गोपाङ्गनाओंको अभीष्ट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्यसमास्वादन, उसे देनेवाली रात्रियाँ। ‘रात्रीः’ शब्दके पहले जो ‘ताः’ विशेषण है वह उन रात्रियोंकी विलक्षणता द्योतित करता है। ‘ताः रात्रीः’ अर्थात् जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवाले योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंको भी अपने अभीष्ट तत्त्वकी प्राप्ति होती है उन्हीं गोपाङ्गनाओंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली होनेके कारण वे रात्रियाँ विलक्षण थीं ही।

‘ताः’ का तात्पर्य तदात्मिकाः अर्थात् भगवद्रूपा भी हो सकता है, क्योंकि भगवान्का रमण और रमणसामग्री जो कुछ भी होगा अप्राकृत ही होगा; प्राकृत पदार्थोंसे उनका रमण होना असम्भव है। जैसे वृन्दावन भगवद्रूप है वैसे ही वहाँकी रात्रियाँ भी भगवद्रूपा हैं।

वे रात्रियाँ कैसी हैं? ‘शरदोत्फुल्लमल्लिकाः’—

‘शरदायामपि उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि अशेषपुष्पाणि यासु ताः।’

अर्थात् शरत्कालमें जिनमें मल्लिकासे उपलक्षित समस्त पुष्प खिले हुए हैं वे रात्रियाँ। नियम तो ऐसा है कि कई पुष्प दिनमें खिलते हैं, कई रात्रिमें तथा कई ग्रीष्ममें खिलते हैं और कई शरदृतुमें। किन्तु उस शरदृतुकी रात्रिमें सभी पुष्प अपने नियमोंको छोड़कर खिल गये थे। इसी प्रकार चित्रकूटपर भगवान् रामके निवास करते समय वहाँके फलोंने अपनी ऋतुओंका नियम छोड़ दिया था। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सब फल फल्यो रामहित लागी। रितु-अनरितुहिं कालगति त्यागी॥

उसी प्रकार इस समय मानो सभी पुष्पोंने यही सोचा था कि हमारी शोभा और सुगन्धकी सार्थकता इसीमें है कि हम श्रीभगवान्की प्रसन्नता सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकें। जहाँ सारी प्रकृति अपनी प्रजाओंके साथ प्रभुकी सेवामें उपस्थित होना चाहती है वहाँ ये पुष्पादि उद्दीपन विभाव भी प्रभुकी प्रसन्नता सम्पादन करनेको उत्सुक हो रहे हैं। अतः मानो अपनी सार्थकताके लिये ही वे भावोद्दीपनमें सहायक हो रहे हैं।

ऐसी रात्रियोंको देखकर भगवान्ने रमण करनेको मन किया। अर्थात् उचित काल और उद्दीपनसामग्री देखकर ही भगवान्ने अपनी प्रियतमाओंके साथ रमण करनेके लिये उनका स्मरण किया। यहाँ ‘वीक्ष्य’ शब्दसे साभिलाष दर्शन अभिप्रेत है, क्योंकि ये सब सामग्रियाँ भावोद्दीपन करनेवाली थीं। अतः इसका यह तात्पर्य भी हो सकता है— ‘शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रीः ताश्च वीक्ष्य’ अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियोंको और उन्हींके द्वारा प्रियतमा गोपाङ्गनाओंको देखकर (उन्होंने रमण करनेको मन किया)।

‘ताः’ अर्थात् स्वस्वरूपभूता व्रजाङ्गनाः। इनके दो भेद हैं—एक तो वे जो नित्यसिद्धा हैं और दूसरी वे जो भृङ्गीकीटन्यायसे भगवद्रूपा हो गयी थीं। जिस प्रकार कीट भृङ्गीसे व्यतिरिक्त होनेपर भी भावनातिशयके कारण भृङ्गीरूप हो जाता है, उसी प्रकार ये गोपाङ्गनाएँ स्वरूपतः भगवान्से भिन्न होनेपर भी अनुरागातिशयके कारण भगवद्रूपा हो गयी थीं। वे कहाँ थीं? ‘मनःसमुपस्थिताः मनसो गोचरीभूताः’ अर्थात् वे भगवान्की मानसिक दृष्टिके सामने थीं! उन्हें दयार्द्र दृष्टिसे देखकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की।

इसके सिवा ‘ताः’ शब्द बहुवचनान्त होनेके कारण ‘तत्’ पदसे निर्दिष्ट होने योग्य अनन्त पदार्थोंका वाचक हो सकता है। हम ‘ताश्च ताश्च ताश्च ताः’ इस प्रकार ‘ताः’ पदसे कही जानेवाली तीन प्रकारकी गोपाङ्गनाओंका विचार

करते हैं। इनमें पहले 'ताः' से श्रुतिरूपा मुनिचरी और अन्य समस्त साधनसिद्धा गोपाङ्गनाएँ कही गयी हैं।

उनमें भी जो श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ वाच्य-वाचकके अभेदरूपसे ब्रह्मरूपा ही हैं वे दूसरे 'ताः' से ग्रहण की जाती हैं। ॐकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ॐकारका विकार है और सारा प्रपञ्च ब्रह्मका कार्य है। अतः ॐकारका विकारभूत समस्त वाङ्मय ब्रह्मके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्चका वाचक है। वाच्य और वाचकका अभेद हुआ करता है; इसलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियोंके अवान्तर तात्पर्य अन्य होनेपर भी उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्ममें ही है। शब्दसे दो बातोंका बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादिप्रत्ययवेद्य जाति भावरूप ही होती है। 'तस्य भावस्त्वतलौ' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार घटकी भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भावविशेषमें स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घट-व्यक्तिका वाचक 'घट' शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिकाका ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थोंके मूलकारण परब्रह्मके ही वाचक हैं। अतः अवान्तर श्रुतियोंका भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्ममें ही है। विचार किया जाय तो वस्तुतः वाच्य-वाचकका भेद भी नहीं है। ये दोनों भी एक ही चेतनके विवर्त्त हैं। अभिधेय-प्रपञ्चजननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त्त अभिधेय है और अभिधानात्मक-प्रपञ्चजननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्न चेतनका विवर्त्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही समुद्रमें अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो जाती हैं उसी प्रकार एक ही परब्रह्ममें अभिधान-अभिधेयरूप अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो गयी हैं। किन्तु 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्' इस सूत्रके अनुसार तरङ्गाभिन्न समुद्रके साथ तरङ्गोंका अभेद होनेके कारण उनका आपसमें भी अभेद है।

यह बात तो तरङ्गसे तरङ्गान्तरके अभेदकी रही। किन्तु मूल दृष्टिसे तो अभिधानात्मक तरङ्ग जिस समुद्रमें है लक्षणा-वृत्तिसे वह उस समुद्रका ही बोधन करता है; हाँ, तरङ्गान्तरको वह अभिधावृत्तिसे बोधित करती है, क्योंकि किसीकी भी शक्ति अपने शक्यमें ही सफल हुआ करती है, अपने कारणमें नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादिको ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्निका दहन नहीं कर सकता। किन्तु मूलरूपसे तो तरङ्गें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं। यद्यपि यह दूसरी बात है कि 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपञ्चका अकारमें और अकारका उकारमें और उकारका मकारमें तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपञ्चका तुरीयमें लय होता है।

तात्पर्य यही है कि अभिधानात्मिका श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्दसुधासिन्धुकी तरङ्गोंके समान हैं और वे अभिधेयरूप उसकी अन्य तरङ्गोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं, क्योंकि अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्गमस्थलभूत परमतत्त्वका तो लक्षणासे ही बोध कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टिसे 'घट' शब्दका वाच्य घटाकारमें परिणत मृत्तिका भी हो सकती है तथापि लोकमें 'घट'पदकी वाच्य घटव्यक्ति ही समझी जाती है। इसी प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्मतरङ्गका वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्मतरङ्ग है, परन्तु है लक्षणासे।

मीमांसकोंने तो जातिमें ही शक्ति मानी है; जाति घटत्वादिको कहते हैं, जिसे घटभाव भी कहा जा सकता है। घट कार्य है; कार्यका भाव कारणसे व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता, समस्त कार्योंका भाव कारणमें ही पर्यवसित होता है। अतः समस्त शब्दोंकी वाच्यताका पर्यवसान कारणपरम्परा-क्रमसे सन्मात्रमें ही होता है। इसलिये सारे शब्दोंका वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचकका अभेद है और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थसे अभिन्न ही हैं। अतः यहाँ 'ताः' शब्दसे सभी श्रुतियाँ ग्रहण की जाती हैं।

श्रुतियाँ दो प्रकारकी हैं—अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जो साक्षात् रूपसे परब्रह्ममें पर्यवसित होती हैं—जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जिनका साक्षात् तात्पर्य तो अन्य देवतादिमें है किन्तु परम्परासे उनका महातात्पर्य परब्रह्ममें ही होता है। जैसे 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' इत्यादि।

इन्हें ही ऊढा और अनूढा अथवा अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं। अर्थात् एक तो वे गोपियाँ जो केवल कृष्णपरायणा हैं और दूसरी वे जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके साथ विवाही गयी हैं। इनके ये दो भेद भी प्रतीतिमात्रके लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओंमें श्रुतियोंका तात्पर्य तभीतक जान पड़ता है जबतक 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस वाक्यके अनुसार उनका महातात्पर्य एकमात्र परब्रह्ममें ही नहीं जान पड़ता। वास्तवमें तो जिस प्रकार तरङ्गें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं और घटादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिङ्गसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है।

किन्तु फिर भी लीलाविशेषके विकासार्थ वस्तुतः अनन्यपरा श्रुतियोंमें भी अन्यपरात्वकी प्रतीति होती है; अन्यथा यदि भगवान्‌को झगड़ा मचाकर आनन्द लेना न होता तो ऐसे अस्पष्ट शब्दोंमें अपने स्वरूपका वर्णन क्यों करते? सीधे-सीधे अपना तात्पर्य व्यक्त कर देते। इससे मालूम होता है कि यह सब भगवान्‌की लीला ही थी। इसीसे कोई उन्हें निर्गुण मानते हैं, कोई सगुण मानते हैं, कोई निर्गुण-सगुण उभयरूप मानते हैं और कोई नहीं भी मानते। तथापि इन विविध मन्तव्योंमेंसे किसीसे भी भगवान् क्षुब्ध नहीं होते। इसीसे कहा है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥

अर्थात् जिन भगवान्‌की अनन्त शक्तियाँ समस्त वादियोंकी बुद्धियोंकी आश्रय होती हैं—क्योंकि सम्पूर्ण विरुद्ध भावोंके आस्पद भगवान् ही तो हैं—उन्हें भावुक लोग नमस्कार करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वरूपसे भी अनेक रूपोंमें आविर्भूत होते हैं और अनेक शब्दरूपसे भी प्रकट होते हैं।

यह सब भगवान्‌की लीला ही है। 'लोकवत्त लीलाकैवल्यम्'। एकका अनेकत्व, निष्प्रपञ्चका प्रपञ्चरूपत्व उनका खेल ही है। परन्तु यह खेल निरर्थक नहीं है। प्रत्येक लीला लीला करनेवालेके तो विनोदार्थ ही होती है; अतः यह भगवल्लीला भी भगवान्‌के तो विनोदार्थ ही है। परन्तु अन्य जीवोंके लिये यह उनके कल्याणका साधन है। वे अनेकविध शब्दोंसे अपने ही विभिन्न रूपोंका बोध कराते हैं। सब जीवोंका एक-सा अधिकार नहीं है। कोई सकाम कर्मके अधिकारी हैं, कोई निष्काम कर्म करने योग्य हैं, किन्हींको भगवान्‌के सगुण रूपकी ही उपासना करनी चाहिये, कोई निर्गुणोपासनामें प्रवृत्त हो सकते हैं और कोई अभेदचिन्तनके अधिकारी हैं। अपने-अपने अधिकारानुसार ये सब भगवान्‌का ही भजन करनेवाले हैं। सब लोगोंकी गति निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें ही नहीं हो सकती। अतः भगवत्साक्षात्कारके लिये क्रमशः इन सभी सोपानोंका अतिक्रमण करना होता है। यद्यपि यह बात अपने अधीन ही है कि हम कर्म न करें, परन्तु ऐसे कितने आदमी हैं जो बिना कर्म किये रह सकते हों? यही बात मनके विषयमें भी है। यद्यपि सभी चाहते हैं कि मन निस्पन्द हो जाय और उसकी निस्पन्दता है भी अपने ही अधीन, तथापि इसमें सफलता पानेवाले कितने लोग हैं। अतः सब जीवोंके यथायोग्य साधनकी व्यवस्था करनेके लिये ही भगवान् प्रपञ्चाकारमें परिणत हो जाते हैं। यही उनकी प्राप्तिका क्रम है। इस क्रमसे बढ़ते-बढ़ते जबतक जीव निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें परिनिष्ठित नहीं होता तबतक उसे कृतार्थता नहीं हो सकती।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌ने प्रपञ्चकी रचना की ही क्यों? इसपर हमें यही कहना है कि आरोप होनेपर ही उसके अधिष्ठानका अनुसन्धान किया जाता है। अधिष्ठान है, इसलिये आरोपकी कल्पना नहीं की जाती, जैसे कि कहा है—

'सत्यारोपे निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः'।

जिस प्रकार यदि मृत्तिका है तो यह नहीं कह सकते कि घट बनना ही चाहिये; हाँ, घड़ेको देखकर उसकी कारणभूता मृत्तिकाका अनुमान अवश्य किया जाता है। कार्य तो कारणका व्यभिचारी हो सकता है, किन्तु कारण कार्यका व्यभिचारी नहीं होता। अतः हम प्रपञ्चरूप कार्यकी अपेक्षासे उसके कारणभूत परब्रह्मका निश्चय करते हैं; परब्रह्मके प्रपञ्चनिर्माणके प्रयोजनका अनुमान नहीं कर सकते। इसी प्रश्नके उत्तरमें यह विचार भी आ जाता है कि कार्यमें कारणके सर्वांशकी अनुवृत्ति नहीं हुआ करती। जिस प्रकार मालामें सर्पका अध्यास होनेपर जो 'अयं सर्पः' ऐसा बोध होता है उस समय उसमें मालाके आकार एवं इदमंशका तो अनुवेध

होता है, किन्तु बहुमूल्यत्वका अनुवेध नहीं होता । इसके सिवा इसका दूसरा न्याय यह भी हो सकता है—

विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ।
समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् ॥

अर्थात् विषय (अधिष्ठान) के रूपसे ही अध्यस्त पदार्थ रूपित होता है किन्तु उसके सभी गुणोंकी उसमें अनुवृत्ति नहीं होती । इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्चका महाकारण जो परब्रह्म है वह सच्चिदानन्दस्वरूप है । उसके सत् और चिदंशकी तो समस्त पदार्थोंमें अनुवृत्ति होती देखी गयी है, परन्तु आनन्दांशका सर्वत्र अनुवेध नहीं होता ।

इस प्रकार क्योंकि लीलाविशेषके लिये भगवान् ही प्रपञ्चरूपसे स्थित हुए हैं, इसलिये भिन्न श्रुतियाँ भी उन्हींके विभिन्न रूपोंका प्रतिपादन करती हैं । कई श्रुतियाँ भगवान्के निर्विशेष रूपका प्रतिपादन करनेवाली हैं—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' और कई उनके सविशेष रूपका प्रतिपादन करती हैं, जैसे—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

इत्यादि । और कोई अन्नमयरूपसे उन्हींका प्रतिपादन करती हैं—जैसे 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' । इसी प्रकार और भी सब श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न रूपसे एक ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं ।

परन्तु एक ही वस्तुमें–एक ही सत्तामें अनेक विकल्पोंका होना सम्भव नहीं है । क्रियामें तो विकल्प होना बहुत सम्भव है जैसे—हम घोड़ेपर चढ़कर जा भी सकते हैं और नहीं भी जा सकते; परन्तु वस्तुमें ऐसा भेद नहीं हो सकता । अतः एक ही ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, यह सत्ताभेदसे तो माना जा सकता है, परन्तु एक सत्तामें ऐसा होना सम्भव नहीं है; जिस प्रकार एक ही मृत्तिका उपाधिभेदसे तो घट, शराव और कूँडा आदि भेदवती प्रतीत होती है, परन्तु निरुपाधिकरूपसे उसमें कोई भेद नहीं है । अतः श्रुतियोंका परम तात्पर्य भले ही एक ही वस्तुमें हो किन्तु उनका अवान्तर तात्पर्य तो अन्यमें हो ही सकता है । इन अवान्तर तात्पर्योंको लेकर ही सारे वाद-विवाद होते हैं । परन्तु इससे भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि उन विभिन्न अर्थोंका भी महातात्पर्य तो एकमात्र भगवान्में ही है । अतः जो लोग अत्यन्त अश्रद्धालु हैं उनका ईश्वरखण्डन भी अच्छा ही है, क्योंकि उस अवस्थामें भी वे खण्डनात्मक रूपसे भगवान्का ही चिन्तन करेंगे । भगवान् तो ऐसे कृपालु हैं कि 'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ' किसी प्रकार उनका चिन्तन किया जाय, वे कृपा ही करते हैं । इसीलिये शिशुपाल और कंसादिको भी अन्तमें भगवद्धामकी ही प्राप्ति हुई बतलायी गयी है । किन्तु वेनकी अधोगति हुई, क्योंकि उसका भगवान्के प्रति वैर भी नहीं था । उसकी तो उपेक्षा-दृष्टि थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रमें सभी प्रकारके अधिकारियोंके उद्धारका साधन विद्यमान है । यहाँतक कि श्रुतिमें नास्तिकवादका मूल भी मिलता है; यथा—

'असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।' (छां० ६ । २ । १)

कहीं-कहीं 'असत्' शब्दका अर्थ 'अव्यवहार्य' भी है । जैसे कहते हैं कि मिट्टीमें घट नहीं है, क्योंकि यद्यपि कारणरूपसे घट उसमें है तथापि अव्यवहार्य होनेके कारण उसे असत् कहा जाता है । किन्तु यहाँ तो 'असत्'का तात्पर्य शून्यमें ही है, क्योंकि आगे—

'कथमसतः सज्जायेत' (छां० ६ । २ । २)

—ऐसा कहकर उसका खण्डन कर दिया गया है ।

अतः जिस प्रकार भगवान् ही अनेक रूपसे प्रकट होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओंमें ही लीलाविशेषके विकासार्थ अन्यपूर्विकात्वकी प्रतीति होती थी । भगवान् तो पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं । उनके साथ प्राकृत प्राणियोंका संसर्ग कैसे हो सकता था । अतः ये सब व्रजाङ्गनाएँ स्वरूपतः तो सच्चिदानन्दरूपा ही थीं । पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि अभिधानरूपा श्रुतियाँ और अभिधेयरूप भगवान् भी वस्तुतः एक ही हैं । परन्तु मूलतः अभिन्न होनेपर भी साधकोंके कल्याणार्थ भगवान्को शब्दका आविर्भाव करना ही पड़ता है; अन्यथा महाप्रलयमें भी भगवान्ने जीवोंको मुक्त क्यों नहीं कर दिया ? इसका कारण यही था कि वहाँ कल्याणकारिणी सामग्रीका अभाव था । अतः परम दयालु और करुणामय होनेपर भी भगवान् कल्याणका क्रम रखते हैं । यदि वे पापी, पुण्यात्मा सभीका अक्रमसे उद्धार कर दिया करते तो बात ही बिगड़ जाती ।

अतः प्रपञ्चके मूलभूत अनादि अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उन्होंने सभी प्रकारके वाक्योंका आविर्भाव किया है। श्रुतिरूप अभिधान और उनका लक्ष्य ब्रह्म—ये ऐसे ही हैं जैसे तरङ्ग और समुद्र। यह तरङ्ग और समुद्ररूप भेद इसीलिये है कि इसके बिना उनका ऐक्यबोध नहीं हो सकता। यदि भेद न हो तो लक्षणा कैसे बने ? जीव अपने अनादि अज्ञानका निवारण तभी कर सकता है जब वह परब्रह्मके साथ उसके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्चका अभेद अनुभव करे; और उस भेदका निराकरण महावाक्यरूप तरङ्गोंसे उत्पन्न होनेवाले बोधके द्वारा ही हो सकता है। किन्तु सब लोग आरम्भमें ही उस अभेदका अनुभव नहीं कर सकते। अतः उस योग्यताकी प्राप्तिके लिये अन्यपरा श्रुतियोंद्वारा अन्यान्य पदार्थोंका निरूपण किया गया है। वास्तवमें तो समस्त श्रुतियाँ और उनके प्रतिपाद्य भी अनन्य ही हैं।

यहाँ व्रजाङ्गनाओंमें अनन्यपरा श्रुतियाँ ही अनूढा हैं और अन्यपरा ही ऊढा हैं। परन्तु जिस समय 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस सिद्धान्तका निश्चय हो जायगा उस समय यही निश्चय होगा कि वस्तुतः ब्रह्मपरा श्रुतियोंमें ही लीलावश अब्रह्मपरात्वकी प्रतीति हुआ करती है। अतः गोपियोंका दूसरे गोपोंके साथ विवाहा जाना भी केवल विभ्रम ही है। वस्तुतः उनके परमपति तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। उनका अन्यपूर्विकात्व तभीतक अनिवार्य रहेगा जबतक भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वात्मकता सुनिश्चित नहीं होगी।

परन्तु इस बातका निश्चय भी शास्त्राधारपर ही हो सकेगा; अन्यथा साधारण पुरुषोंको तो अविचारवश रासक्रीडामें व्यभिचारकी ही गन्ध आवेगी। परन्तु श्रीमद्भागवतमें तो कहा है कि जिन गोपोंकी स्त्रियाँ रासक्रीडामें सम्मिलित हुई थीं उन्होंने भी उन्हें अपने पास ही देखा—'मन्यमाना स्वपार्श्वस्थान्'। यदि कहो कि यह उनकी भ्रान्ति थी तो हम कहते हैं कि गोपोंको उनके पत्नीत्वकी ही भ्रान्ति क्यों न मानी जाय। यह प्रसंग तो श्रीमद्भागवतमें आता ही है कि एक वर्षके लिये सर्वथा भगवान् ही गोपाल और वत्सरूप हो गये थे। सम्भव है, ये व्रजाङ्गनाओंके पति गोपरूप गोविन्द ही हों।

अतः सिद्ध हुआ कि यह अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओंमें ही अन्यपूर्विकात्वकी प्रतीति थी, जिस प्रकार कि अनन्यपरा श्रुतियोंमें ही अन्यपरात्वकी प्रतीति होती है। यहाँ जिस तरह प्रपञ्चरचनामें दो हेतु बतलाये गये हैं—एक तो भगवान्की लीला और दूसरा जीवोंको कल्याणके साधन प्राप्त कराना, उसी प्रकार इस रासलीलाके भी दो ही प्रयोजन थे। प्रथम तो भगवान्की यह लीला प्रेमरसके विकासके लिये थी। यहाँ एक ही तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीरूपसे आविर्भूत हुआ है। यह प्रेमलीला थी, इसलिये यहाँ उसे नायक और नायिकारूपमें परिणत होनेकी आवश्यकता थी। क्योंकि प्रेमका मुख्य आलम्बन नायकके लिये नायिका है और नायिकाके लिये नायक। साहित्यशास्त्रमें शृंगाररस सबसे उत्कृष्ट माना गया है। वस्तुतः उसके द्वारा परमानन्दकी जैसी स्फुट स्फूर्त्ति होती है वैसी और किसी रससे नहीं होती। शृंगार अथवा प्रेमरस स्वतः निर्विशेष है। जिस समय उसका आलम्बन भगवान् होते हैं तो वह परमपवित्र प्रेम माना जाता है और जिस समय उसका आलम्बन अस्थिमांसमय नायक या नायिका होते हैं तो उसे अत्यन्त अधोगतिमूलक काम कहते हैं। किन्तु यहाँ नायक-नायिकारूपमें भी शुद्ध सच्चिदानन्दघन ही हैं। अतः रसवृद्धिके साथ यहाँ निकृष्ट आलम्बनजनित मलिनताकी तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इन नायिकाओंमें जो अनन्यपूर्विका थीं उन्हें स्वकीया कहा गया है और जो अन्यपूर्विका थीं उन्हें परकीया। स्वकीया नायिकाको नायकका सहवास सुलभ होता है, किन्तु परकीयामें स्नेहकी अधिकता रहती है। कई प्रकारकी लौकिक-वैदिक अड़चनोंके कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रियतमसे नहीं मिल सकती, इसलिये उस व्यवधानके समय उसके हृदयमें जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेमकी निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिये वैष्णवाचार्योंने स्वकीया नायिकाओंमें भी परकीयाभाव माना है; अर्थात् स्वकीया होनेपर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओंका-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजाङ्गनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; परन्तु उनमें कई अन्य पुरुषोंके साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता। अतः स्वकीया-परकीया कहनेकी अपेक्षा भी उन्हें ऊढा और अनूढा कहना ही अधिक उचित है। इस प्रकार प्रेमोत्कर्षके लिये ही भगवान्ने यह विलक्षण लीला की थी।

◆

सर्वसमन्वय

(लेखक—श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमालाद्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त ।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं परितस्त्वां हरिनाम संश्रयेऽहम्॥

कल्याणमयकी इच्छासे अबकी बार कल्याणने 'वेदान्ताङ्क' द्वारा आपलोगोंके कल्याणकी कामना की है; यह शुभ समाचार अनेक मास पूर्वसे ही आप जान चुके हैं।

इस अङ्कके अनुरूप कुछ लिखनेके पूर्व एक भूमिका लिखना विशेष प्रयोजनीय प्रतीत होता है।

इस बातको तो आप भलीभाँति जानते हैं कि सम्पूर्ण ज्ञातव्योंकी सिद्धि प्रमाणाधीन ही है और बहुवादिसम्मतिसे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तीन प्रमाण नितान्त आवश्यक हैं; इनमेंसे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी प्रमिति प्रत्यक्षसे कभी नहीं हो सकती, अनुमान भी सामान्यरूपसे अनुमिति कराकर उपक्षीण हो जाता है; यद्यपि शब्दकी भी यही दशा है, तथापि विधिमुखसे वा निषेधमुखसे कथञ्चित् शब्द प्रत्यक्षानुमानाबोध्य वस्तुका बोध करा ही देता है।

प्रमाणाप्रमाणोंके सच्चेपन-झूठेपनमें स्वतस्त्व-परतस्त्व लेकर दार्शनिकोंका भयानक सगोत्र कलह है; परन्तु प्रमाणोंके सच्चेपनमें स्वतस्त्व अधिकानुमोदित है; सुतरां शब्दमें भी यह रीति लागू ठहरी है; भाव यह कि झूठेपनका साधक मिलनेसे अप्रमाण समझा जायगा।

ऐसी स्थितिमें योगसिद्धिसम्पन्न त्रिकालज्ञ कृतकृत्य आचार्य महर्षियोंने केवल दयावश अनादि-दुःखमय-संसार-मग्न मानवोंके उद्धारार्थ नानाविध दर्शनशास्त्र प्रचारित किये हैं; इनके द्वारा मनुष्य अनन्तसुखमय अवस्थामें विश्रान्ति पा सकता है।

परन्तु बड़ी अड़चन यह आगे आती है कि दर्शनोंमें मिथोविरोध देख पड़नेसे तटस्थ जिज्ञासु संशयमें पड़कर तथ्यसे वञ्चित हो सकता है, और एकको सत्य मानकर अन्योंको मिथ्या कहनेका साधक कुछ नहीं है; सुतरां किसीको भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। ऐसी उभयतःपाशा रज्जुसे छुटकारा पानेके लिये निम्नोक्त उपायोंका आश्रय लिये बिना कोई भी शान्तिलाभ नहीं कर सकता।

बात यह है कि जैसे पदसे अर्थ समझनेके लिये व्याकरण-ज्ञान अत्यावश्यक है; इसी तरह वाक्यसे अर्थ समझनेके अनुशासनका ज्ञान भी अधिक-से-अधिक आवश्यक है; जैसे 'सैन्धव' पदका अर्थ लवणविशेष वा अश्व होता है, किन्तु भोजनके समय 'सैन्धव लाना' इस वाक्यका अर्थ लवण समझना ही उचित है और यात्राके अवसरपर उक्त वाक्यका अर्थ अश्व ही संगत है। इतना तो सर्वसाधारण भी समझते हैं; परन्तु क्यों ऐसी व्यवस्था है, इसका युक्तिसंगत उत्तर चाहिये। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध हुआ कि वाक्यार्थज्ञान अवश्य पदार्थज्ञानसे भिन्नजातीय है।

उक्त प्रश्नका उत्तर यही है--'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।' अर्थात् जिस अर्थके बोध करानेकी इच्छासे शब्द बोला जाय, वही शब्दार्थ है। फलितार्थ यह कि वाक्यार्थ समझनेके पहले श्रोताको वक्ताके तात्पर्यका ज्ञान होना चाहिये, और तात्पर्य है इच्छारूप; उसके समझनेके लिये तात्पर्यग्राहक छः हेतु हैं, इन सबसे तात्पर्यका अनुमान करना चाहिये।

वे छः ये हैं—१ उपक्रमोपसंहार अर्थात् आरम्भ और समाप्ति, २ अभ्यास=बार-बार कहना, ३ अपूर्वता=अन्य प्रमाणोंसे प्रतिपाद्यका अज्ञातत्व, ४ फल=उपयोग, ५ अर्थवाद=विधेयके ग्रहणमें प्रशंसा वा उसके त्यागमें उसकी निन्दा, ६ उपपत्ति=युक्ति। इन छहोंके द्वारा प्रत्येक शास्त्रके प्रतिपाद्यका निर्णय करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि जब सभी शास्त्र शब्दप्रमाण हैं तब प्रत्येकका नवीन प्रतिपाद्य होना उचित है; यदि वह अन्यशास्त्रादिसे प्रतिपादित है, तो वह शास्त्र प्रमाण न होकर अनुवादक हो जायगा।

तीसरी बात यह है कि एक शास्त्रके अनेक प्रतिपाद्य मुख्य नहीं हो सकते। क्योंकि जब एक वाक्यके अनेक

विधेय होनेसे वाक्यभेद दोष होता है, तब शास्त्र भी महावाक्य है; इसका भी विधेय उक्त दोषसे एक ही मुख्य होना संगत है। अनेक विधेय होनेसे विधायक वाक्य भी अनेक होने चाहिये; क्योंकि एक बार बोला गया शब्द एक बार ही अर्थबोध कराता है। जैसे एक बार कहा गया 'घट लाओ' यह वाक्य एक बार ही घट मँगा सकता है, ऐसे ही विधेयभेद रहनेसे भी विधिवाक्यकी आवृत्ति करनी होगी, जो अप्रामाणिक होगी।

चौथी बात यह है कि परस्पर जो विरोध प्रतीत होता है, वह या तो प्रासङ्गिक बातका प्रासङ्गिकसे होता है—जैसे कोई चार प्रमाण मानते हैं तो कोई पाँच मानते हैं; अथवा एककी प्रसङ्गोक्तिका अपरकी प्रधानोक्तिसे होता है—जैसे आरम्भवादका परिणामवादसे। ये दोनों ही अकिञ्चित्कर हैं, क्योंकि भिन्नविषयक हैं। विरोध वही कहलाता है जहाँपर एक विषयमें भिन्नोक्तियाँ हों, अर्थात् मुख्य प्रतिपाद्यका दूसरे मुख्य प्रतिपाद्यसे मेल न हो; ऐसा कहीं नहीं है।

पाँचवीं बात यह भी है कि 'स्थूलारुन्धती' न्यायसे श्रोताओंके अधिकारानुसार भी एक ही विषयको भिन्न-भिन्नरूपसे वक्ता कहता है, जैसे प्रजापतिने इन्द्र और विरोचनको ब्रह्मतत्त्वोपदेशमें दिखाया है। ऐसे अवसरमें भी तात्पर्यभेदसे विरोध वस्तुतः नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अधिकारभेदसे भी एक वस्तुका विभिन्न प्रकारोंसे बोध कराना होता है।

छठी बात यह है कि कभी-कभी सत्यनिर्णयकी इच्छासे 'स्थूणानिखनन' न्यायसे आपाततः साक्षात् तदनुकूल यत्न न करके तत्प्रतिकूल चेष्टा भी की जाती है; जैसे मिट्टीमें बाँस गाड़नेके समय उसे केवल नीचे ही नहीं घुसाया जाता, प्रत्युत उसके विरुद्ध उसे बार-बार हिला-हिलाकर ऊपर भी उठाते हैं।

अन्तमें सातवीं बात यह है कि निरपेक्षभावसे पक्षपात, दुराग्रह, शुष्क तर्क, जय-पराजय-वासना प्रभृति दोषोंसे बचकर शुद्ध सत्यनिर्णयमात्र उद्देश्य रखकर प्रवृत्त होनेसे सर्वत्र ही अविरोध ज्ञात होगा।

बस, इन उपायोंके अवलम्बनसे सर्वसमन्वयरूप राजमार्गके अनुसरणसे मनुष्य शान्तिपूर्वक चरम फलका लाभ कर सकेगा।

इस भाँति समन्वयकी स्थिति रहते भी जो लोग विद्याओंमें, दर्शनोंमें, स्मृतियोंमें, पुराणोंमें अथवा एक शास्त्रके भिन्नोद्देश्यक प्रस्थानभेदोंमें विरोध बताकर अवहेलाका प्रदर्शन करते हैं, उसे केवल अविवेकमूलक ही समझना उचित है।

सुतरां वेदान्तदर्शनमें भी जो प्रधानतया अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद नामके पाँच प्रकार प्रस्थानभेदसे प्रसिद्ध हैं, वे सभी वेदप्रतिपाद्य हैं एवं तात्पर्यभेदसे अविरुद्ध हैं, यह निर्विवाद मीमांसा है।

यद्यपि अचिन्त्यभेदाभेदवाद, भास्करीयमत, भिक्षुमत प्रभृति अनेक प्रभेद हैं, तथापि वे सभी अंशतः उपर्युक्त प्रधान मतोंके अन्तर्गत आ सकते हैं; अतः यहाँ उनका अलग वर्णन नहीं किया गया।

उक्त पाँचोंके भी प्रमाण, प्रमेय, स्वरूप, फल आदि लिखनेकी आवश्यकता रहते भी न लिखनेका हेतु एकमात्र यही है कि ऐसा करनेसे लेखका आकार पचासों पृष्ठका हो जाता, जो कि विशेषाङ्कके अनुकूल न होता; इन सब विषयोंका निरूपण सविस्तर 'सर्वसिद्धान्तसमन्वय' नामक हमारे लिखे निबन्धसे ज्ञात होगा, जिसके शीघ्र ही प्रकाशित होनेकी सम्भावना है।*

---

* यह लेख वेदान्ताङ्कके लिये आया था। भूलसे रह गया। इसलिये इस अंकमें छापा जाता है। पूज्य लेखक महोदय कृपया क्षमा करें। —सम्पादक

शाङ्कर वेदान्तके सम्बन्धमें लोकभ्रम

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा एम० ए०, एल० एल० डी०, डी० लिट्०)

वेदके कर्मकाण्डके विषयमें वेदान्तका क्या रुख है, इस बारेमें अच्छे-अच्छे जानकार लोगोंमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है। सामान्यतः यही धारणा है कि वेदान्तको माननेवालोंके लिये कर्मकाण्डान्तर्गत विधि-विधानोंका कोई प्रयोजन नहीं है, यथार्थमें उनका सर्वथा निषेध ही है।

इस विषयमें वादविवादमें न पड़कर मैं उपनिषद्से ही वेदान्तका वास्तविक विचार, विशेषकर वैसा विचार जैसा कि श्रीमत् शङ्कराचार्यने निरूपित किया है, प्रकट कराना चाहता हूँ। सारे उपनिषदोंमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक विशेष महत्त्वके उपनिषद् माने गये हैं। इसलिये छान्दोग्य उपनिषद्के अन्तिम शब्द इस विषयमें क्या हैं; यह श्रीशङ्कराचार्यके वक्तव्यके साथ मैं दिखलाना चाहता हूँ जिससे उपनिषद्के वचनोंका अभिप्राय सुस्पष्ट रूपेण व्यक्त हो जाय।

इस उपनिषद्के इन अन्तिम वाक्योंमें यह बतलाया गया है कि ज्ञानी पुरुषके कर्मोंकी क्या उपयोगिता है। गुरुगृहमें रहकर विधिपूर्वक वेदाध्ययन करके—अर्थात् गुरुसेवा तथा अवकाशके समय वेदाध्ययन करके—मनुष्य अपने कर्मोंसे तथा ज्ञानसे लाभ उठानेका अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। वेदाध्ययन पूर्ण करके वह अपने घर लौट जाय; यथाविधि विवाह करे, और गृही होकर गृहस्थाश्रमधर्मका पालन करते हुए—अपने सब इन्द्रियोंको हृदयके वशमें करके—वह ऐसे आचारसे रहे कि किसी जीवको उससे पीड़ा न पहुँचे। यह सब गृहस्थाश्रममें करनेके पश्चात् ही वह आगे बढ़नेका अधिकारी होकर, मरनेपर ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेका अधिकारी होता है; फिर वह लौटकर इस संसारमें नहीं आता।

यह 'ब्रह्मलोक' चाहे कुछ भी हो—ब्रह्मका महत्तम लोक हो या सृष्टिकर्ता ब्रह्माका लोक हो—बात इतनी ही है कि वेदान्तमें गृहाश्रमी होकर रहने और गृहाश्रमीके सब कर्तव्य पालन करनेका बड़ा मूल्य और महत्त्व है; और इससे यह भी अर्थ निकलता है कि जो कोई इन कर्तव्योंकी उपेक्षा करता है वह इससे श्रेष्ठ पद पानेका अधिकारी नहीं होता। इतनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि सबसे बड़े वेदान्ती शंकराचार्य और वेदान्तके सबसे बड़े प्रमाणभूत ग्रन्थ छान्दोग्योपनिषद्की दृष्टिमें कर्मका कितना बड़ा महत्त्व है।

श्यामका आलिंगन

जाता हूँ प्रिय देश, रात जब जगमें होती।
जगते हैं तब भक्त, मूढ़ दुनिया जब सोती॥
अंचल प्रियका पकड़, प्रेममय विनय सुनाते।
सच्ची लगन विलोक, श्याम विह्वल हो जाते॥
वे सिंहासन से उतर
हृदयपाश करते तुरत!
गिर पड़ते दोनों वहीं
एक मनोहर नींदवत!!

—नयनजी

श्रीश्री १०८ पूज्यपाद श्रीस्वामी कृष्णानन्दजी अवधूत, एम० ए० के उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

(१) श्रीकृष्णप्रेमियोंको स्त्री तथा विषयका संकल्प आत्यन्तिकरूपसे छोड़ देना चाहिये और श्रीकृष्णसेवाका संकल्प निरन्तर करते रहना चाहिये । क्योंकि क्षणभरका स्त्री तथा विषयका संकल्प बहुत दिनोंके जतनसे किये हुए श्रीकृष्ण-सेवाके संकल्पको नष्ट कर देता है ।

(२) श्रीकृष्णप्रेमियोंको दूधका सेवन अधिक मात्रामें नहीं करना चाहिये । क्योंकि अधिक दूध पीनेसे वीर्य उत्तेजित होता है और वीर्य उत्तेजित होनेसे स्त्री और विषयका संकल्प बलात्कारसे श्रीकृष्णस्मरणसे रहित कर देता है । घृतका सेवन करनेसे वीर्य शीतल रहता है । साथ-ही-साथ दृष्टिका भी संयम करना चाहिये । जहाँ-तहाँ चलते-फिरते स्त्रियोंकी तरफ दृष्टि नहीं डालनी चाहिये । यदि कदाचित् अनायास दृष्टि चली भी जाय तो उनमें परिकरोंकी भावना होनी चाहिये । जैसे कोई स्त्री कलसा या घड़ा लेकर जल भरने जा रही हो तो उसमें प्राकृत स्त्रीकी भावना न करके, कोई व्रजगोपिका जल भरने श्रीयमुनाजीको जा रही है—ऐसी भावना करनी चाहिये । उत्तम पतिव्रता स्त्री जैसे अपने पतिको छोड़कर दूसरे पुरुषोंको स्त्री समझती है, ऐसे ही उनको भी सब स्त्रियोंको पुरुष समझना चाहिये । स्त्रीस्वरूप न जानकर पुरुषरूप जानना चाहिये ।

(३) चाहे कोई द्वैतवादी हो चाहे अद्वैतवादी, सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होनेपर दोनोंकी स्थिति एक-सी ही हो जाती है; क्योंकि पराभक्तिमें और परमज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। जबतक सिद्धावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती तभीतक लोग अपने-अपने मतको स्थापित करनेके लिये विवाद करते हैं । शास्त्रमें कहा है कि प्रेम—मिलनकी पराकाष्ठामें प्रेमिका नायिका तथा प्रेमास्पद नायक, इन दोनोंके मनको मिलाकर एक कर देता है । उस अवस्थामें प्रेमिका यह भूल जाती है कि मैं नायिका हूँ और नायक भी मैं रमण हूँ इस बातको भूल जाता है । इसीलिये श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है ।

नासौ रमन नाहं रमनी । दुहुँ मन मनोभव पेशल जानी ।।

(४) श्रीकृष्णनामका जप-कीर्तन करते समय उनकी मधुर मूर्तिका ध्यान करना चाहिये और लीला अर्थात् चेष्टाओंका स्मरण करना चाहिये । क्योंकि अगर नामजप तथा कीर्तन किया जाय और साथमें ध्यान न करें तो प्रेमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती । इसलिये नामके साथ-ही-साथ रूपध्यान और लीलास्मरण अवश्यकर्तव्य है । नामकीर्तन, रूपध्यान और लीलास्मरण तभी बन सकता है जब भक्त अपना आधार बान चढ़े कनककी भाँति मालिन्यरहित अर्थात् शुद्ध कर लेता है । और प्रेमका निर्वाह भी तभी हो सकता है। इसीलिये श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

कनकहिं चढ़इ बान जिमि दाहें। तिमि प्रीतमपद प्रेमु निबाहें॥

श्रीभरतजी जब प्रयाग पधारे हैं उस समयका उनका यह वचन है । क्योंकि प्रेम सिंहिनीके दूधकी भाँति सब पात्रोंमें नहीं ठहरता । यही सिद्धान्त भक्तिसूत्रमें स्पष्टतया वर्णित है—

प्रकाशते क्वापि पात्रे ।

'किसी-किसी अनिर्वचनीय पात्रमें ही प्रेमका प्रकाश होता है ।'

(५) यदि किसीको स्वप्नमें भी श्रीकृष्णदर्शन होता है तो उसका बहुत बड़ा भाग्य समझना चाहिये ।

(६) श्रीकृष्णकीर्तनका फल तभी प्राप्त हुआ जानना चाहिये जब श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीमें मन लीन हो जाय और अश्रु, पुलक, कम्प आदि अष्ट सात्त्विक विकार उत्पन्न हों । श्रीकृष्णलावण्योदधिमें सदाके लिये डूब जाओ । और बहिर्जगत्को भूल जाओ । इस अवस्थाको प्राप्त करनेपर स्थावर-जङ्गम आदिकोंमें भी कोई भिन्न दृष्टि न रहेगी और सबसे प्रिय अपने इस जड शरीरको भी भूल जाओगे । बस, वहाँपर सच्चिदानन्दघन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही रह जायँगे । और किसी वस्तुका भान भी न रहेगा ।

आनन्दविग्रहके अङ्ग-प्रत्यङ्गका ध्यान करना चाहिये। श्रीचरणारविन्दोंसे मुकुटतक और मुकुटसे श्रीचरणारविन्दोंतक एक ही समय ध्यान करना सुतरां कठिन है । क्योंकि यदि श्रीचरणारविन्दोंका ध्यान करने लगे और उसीमें वृत्ति लीन हो गयी तो फिर आगे कौन बढ़े । इसलिये जिनका प्रेमसेवा ही मुख्य धर्म है उन्हें वृत्तियोंको तटस्थ रखना पड़ता है। ऐसे भक्त उस प्रेमानन्दको भी नहीं चाहते जो सेवानन्दका बाधक हो ।

कल्याण

जबतक विषयोंमें आसक्ति है, तबतक चित्तकी चञ्चलता नहीं मिट सकती और चित्तकी चञ्चलता रहते किसी भी बाह्य स्थितिमें कभी शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति चाहते हो तो विषयोंमें वैराग्य करो। याद रक्खो, परम वैराग्यवान् पुरुष ही परम शान्ति पा सकता है।

यह वैराग्य केवल बाहरी वस्तुओंको हठपूर्वक त्याग देनेमात्रसे ही नहीं होता। जबतक चित्तमें विषयोंका चसका लगा है, तबतक वैराग्य असली नहीं है। असली वैराग्य तो तब समझना चाहिये जब यह चसका (रस) भी नष्ट हो जाय।

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये नीचे लिखे साधन करके देखो—ये सभी साधन न सबके कामके हैं और न सभी इन सबको कर ही सकते हैं, अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार ही किये जा सकेंगे। करनेवालोंको वैराग्यकी प्राप्तिमें कुछ-न-कुछ लाभ तो होगा ही। जैसी चेष्टा होगी वैसा ही फल होगा।

१–ऐसा विचार करो कि विषयोंमें रमणीयता कहीं नहीं है, इनके सौन्दर्यका आधार सिर्फ हमारे मनकी कल्पना है! जिस स्त्री या पुरुषके रूपपर पुरुष या स्त्री मोहित होते हैं, वह रूप वस्तुतः क्या है? अपनी कल्पनासे ही उन्होंने उसपर सौन्दर्यका आरोप कर लिया है। चमड़ी, हड्डी, केश, नख और शरीरके अन्दर भरे हुए मल, मूत्र, मेद, मज्जा, रक्त, मांस, आदिमें कौन-सी चीज असलमें सुन्दर है। मरे हुए मनुष्यका यही ढाँचा भयानक क्यों मालूम होता है? इसीलिये कि वहाँ उसमें रमणीयताकी कल्पना नहीं है।

२–ऐसा विचार करो कि विषयोंमें सुख कहीं नहीं है, भ्रमसे ही तुमने दुःखमें सुखका मिथ्या आरोप कर रक्खा है। गीतामें भगवान्ने विषयोंको 'दुःखयोनि', विषयरूप संसारको 'असुख' और 'दुःखालय' बतलाया है। भगवान्के वचनोंके साथ ही युक्तियोंसे भी सोचो—विषय दुःखरूप हैं या नहीं। विषयोंके अभावमें दुःख है, उनके उपार्जनमें दुःख है, उनकी प्राप्तिमें दुःख है, परिणाममें दुःख है, संस्कारमें दुःख है, विषयसम्बन्धी गुणवृत्तियोंके विरोधमें दुःख है। अभावका दुःख प्रत्यक्ष ही है। उपार्जनमें कितना क्लेश होता है, इस बातका पता धनके पीछे पड़े हुए सभी मनुष्योंको है। दिन-रात चिन्ताकी भट्ठीमें जलना पड़ता है!

'प्राप्ति' में यद्यपि भ्रमवश कहीं-कहीं सुख-सा दीखता है परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। कोई विषय ऐसा नहीं जो जलानेवाला न हो; संसारमें प्रत्येक विषय अपूर्ण है, वह अपनी पूर्णताके लिये दूसरी किसी वस्तुकी अपेक्षा रखता है। पुत्र है तो उसे पढ़ाना है। उसका विवाह करना है, उसे सुयोग्य बनाना है, इस तरह नाना प्रकारकी कमी दिखायी पड़ती है जो सदा जलाया करती है। दूसरा कितना बढ़ गया, उसके पास धन अधिक हो गया, उसका सम्मान मुझसे अधिक है, उसके पुत्र हमारे पुत्रोंकी अपेक्षा अधिक योग्य हैं, इस तरह अपनी न्यूनतासे हृदयमें सदा जलन रहती है, और यह न्यूनता विषयोंसे कभी पूरी होती ही नहीं।

जो वस्तु आज है, कल जब वह नष्ट होगी, या उसे बलात्कारसे छोड़ना पड़ेगा, तब बड़ा दुःख होगा। संसारमें प्रत्येक विषयका यही हाल है। आज है, कल नष्ट होगा। या उसे यहीं छोड़कर हम कहीं और चले जायँगे। यह परिणाम दुःखदायी नहीं तो और क्या है? वस्तुतः विषयमात्र

परिणाममें दुःखदायी हैं ही। इनमें सुखकी प्रतीति तो केवल भ्रमवश भोगकालमें होती है। जैसे दादको खुजलाते समय सुख मालूम होता है परन्तु परिणाममें जलन होनेपर बड़ा दुःख होता है, वैसे ही सब विषयोंको समझो।

हाय! हम पहले कैसे सुखी थे; धन, पुत्र और सेवकोंसे घर भरा था, जवानीका मज़ा था, स्त्री कैसी सुन्दरी और सुशीला थी। जगत्‌भरमें यश फैला था। अब सब कुछ जाता रहा। हमारे समान दुःखी और कौन होगा? इस तरह प्राप्त विषयोंके संस्कार भी दुःख देते हैं। अमुक विषय चाहिये, कैसे प्राप्ति हो? एक आदमीने वह उपाय बतलाया, आज उसने कहा वह तो ठीक नहीं है, यह करो! वह उपाय अच्छा था, उसमें कोई पाप नहीं था, इसमें पाप है, परन्तु क्या करें। काम तो निकालना ही होगा। इस तरह गुणजन्य वृत्तियोंमें विरोध होनेसे चित्त घबरा उठता है। दुःखका पार नहीं रहता। क्या करें क्या न करें। इसी उधेड़-बुनमें जी जला करता है।

इस प्रकार विषयोंमें दुःख देखकर उनसे मनको हटाओ। मनमें निश्चय करो विषयोंमें न रमणीयता है, न सुख! उनमें दोष और दुःखबुद्धि करो। धन-जोवनके गर्व, ऐश-आराम, पद-सम्मान, सजावट-शौकीनी, रूप-रंग, पूजा-प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार आदिमें प्रत्यक्ष तापका अनुभव करो; इनसे भय करो, साँप-बिच्छू और प्रेत-पिशाचोंसे भी इन्हें भयानक समझो। किसी भी लोभ, लालच या प्रमादसे दूसरेके हितकी भ्रमपूर्ण भावनासे भी इनमें न फँसो। विषय-सुखको शरीर, शौर्य, शान्ति सबका नाश करनेवाला समझकर उससे चित्तवृत्तिको बार-बार हटाते रहो।

३—विषयोंसे चित्त हटानेके लिये प्रेम और नियमपूर्वक सत्संग और भजन करो। सत्संग और भगवान्‌के भजनसे चित्त स्थिर और निर्मल होगा। जितना-जितना चित्तरूपी आधार मलदोषसे रहित और स्थिर होगा, उतना-उतना ही उसमें परमानन्दरूप भगवान्‌की झाँकी स्पष्ट होती जायगी। भगवान्‌की नित्य अनन्त सुखमयी झाँकीके सामने विषयोंका सारा सुख-सौन्दर्य अपने आप ही नष्ट होता जायगा। फिर भगवान्‌के सिवा अन्य विषयोंमें रस घटता जायगा। वैराग्य क्रमशः अपने-आप चमकेगा और वैराग्यके सुप्रकाशमें भगवान्‌की झाँकी और भी स्पष्टतर होगी। यों वैराग्यसे भगवान्‌का प्रकाश और भगवान्‌के प्रकाशसे वैराग्यकी उज्ज्वलता बढ़ती जायगी। परिणाममें एक परमानन्दमय भगवान्‌का ही सारे हृदयपर अधिकार हो जायगा, तुम्हारा दुःख, विषाद और चाञ्चल्य सर्वथा मिट जायगा। तुम भगवान्‌के परम तत्त्वको पाकर कृतार्थ हो जाओगे। उस परम तत्त्वरूप भगवान्‌की अखण्ड अनामय और अनन्तानन्दसुधारसमयी मुनि-मनहारिणी परम मधुर झाँकीका प्रत्यक्ष कर लेनेपर अन्य समस्त रस सूख जायँगे, और एकमात्र इसी अनन्त अमृत रससे समस्त विश्वब्रह्माण्ड भर जायगा। फिर कहीं भी अशान्ति और असुखका अस्तित्व नहीं रह जायगा। तुम दिव्य सुखके अनन्त सागरमें निमग्न हो जाओगे। स्वयं आनन्दमय होते हुए ही आनन्दका अनुभव करोगे। एक होते हुए ही अनेकों अनन्त लीलाओंके दर्शन करोगे। उस समय तुम क्या होओगे, इस बातको कोई बता नहीं सकता, न बता सकेगा!

× × × ×

याद रक्खो, संसारके विषय कभी पूरे नहीं होंगे। जितना भोगोगे, उतनी ही वासना बढ़ेगी। और इन्हीं वासनाओंमें मर जाओगे तो फिर आगे भी वही चरखा

तैयार मिलेगा। परन्तु यह मत ख़याल करो कि घर छोड़ने, राख रमाने, सिर मुँड़वाने, जटा रखाने या भीख माँगनेमें वैराग्य है, न यही निश्चय करो, गृहस्थके सब कर्मोंके करते रहनेसे ही वैराग्य हो जायगा। वैराग्यका आधार तो मन है। मन फँसा है तो राग है, और मन यदि छूटा है तो वैराग्य है। घर करो, या घर छोड़ो—यदि मनकी विषयासक्ति नहीं छूटती तो फँसे हो। संयम, वैराग्य और साधनाके लिये, घर छोड़ते हो और छोड़ने लायक हो तो छोड़ना भी ठीक है, इसी प्रकार, संयम, वैराग्य और साधनाके लिये घरमें रहना चाहो तो वह रहना भी मुक्तिके लिये ही है। कहीं-कहीं छोड़नेमें बँधना होता है और बँधनेमें छोड़ना ! खूब सोच-विचारकर काम करो। लक्ष्य रहे वैराग्य—विषयोंकी आसक्तिसे मुक्ति !

वैराग्य होगा तो शान्ति अवश्य ही प्राप्त होगी।

× × × ×

जीभके स्वादसे चित्तको हटाओ, शरीरका आराम न चाहो, और मान-प्रतिष्ठासे तो सदा डरते ही रहो। इनसे घृणा करो। साधकके हैसियतसे द्वेष करो तो भी तुम्हारा कल्याण ही होगा।

× × × ×

परमात्माको कभी न भूलो। निश्चय करो वह तुम्हारा परम आत्मीय है, परम स्वजन है; वह ज्ञान, प्रेम, वात्सल्य, कृपा, दया, सुख, आनन्द, मंगल और कल्याणका अटूट खजाना है। उस एकके आश्रयसे ये सभी वस्तुएँ अपने-आप मिल जाती हैं। ऐश्वर्य, अमरत्व, माधुर्य, सत्य, सौन्दर्य सभीका वह अनन्त सागर है। वह कल्याणमय, सौन्दर्यमय, शिवमय, प्रेममय, ज्ञानमय, मंगलमय और आनन्दमय है। वह निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, सब कुछ है। वह तुम्हारा परमपिता, परमपति, परमगुरु, परमसखा, परमसुहृद्, परमईश्वर, परमधन और परमसम्पत्ति है। वही तुम्हारी प्रियतमा पत्नी और परम स्नेहपात्र सन्तान है। वही माता बनकर तुम्हें स्तनपान कराता है, और वही पुत्र बनकर स्तनपान करता है। तुम्हारे वात्सल्यका और तुम्हारी भक्तिका वही एक पात्र है। तुम उसके हो, वह तुम्हारा है। तुम्हारा यह नाता अटूट है। फिर उसे भुलाकर क्यों दूसरेको भजते हो ? क्यों सारको त्यागकर असारके लिये भटकते हो ? क्यों कारणको छोड़कर कार्यपर मोहित होते हो ? क्यों कायाका परित्यागकर छायाके पीछे दौड़ते हो ?

× × × ×

याद रक्खो, उसके बिना ही संसार दुःखमय है। जहाँ उसे पा जाओगे, फिर तमाम जगत् तुम्हें आनन्दमें डूबा हुआ आनन्दमय दीखेगा। और यह विश्वास करो कि तुम उसके अपने हो, वह निरन्तर तुम्हारे साथ है, हर समय तुम्हारी सहायता और रक्षाके लिये हर जगह तैयार है। उसे ऐसा मान और जानकर निर्भय हो जाओ। उसके चरणोंपर अपनेको न्योछावर कर दो !

'शिव'

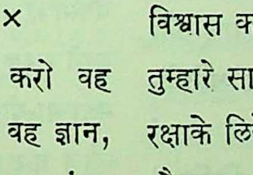

लीला

(लेखक—दी० ब० कैं० श्रीचन्द्रभानुसिंहजी)

'लीला' शब्द कितना प्रिय, कितना सरस और कितना मधुर है । इस शब्दका वाणीमें स्फुरण होते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है । लीला ! कौन-सी लीला ? सांख्यवादियोंकी प्रकृति-लीला ? योगियोंकी योगलीला ? वेदान्तियोंकी मायालीला ? नैयायिकोंकी परमाणुलीला ? वैशेषिकोंकी द्रव्यलीला ? मीमांसकोंकी यज्ञलीला ? जडवादियोंकी जडलीला ? या सांसारिक जनोंकी संसारलीला ? क्या ये ही लीलाएँ ? नहीं ! नहीं ! ये लीलाएँ नहीं । केवल एक भगवान्‌की ही लीला, उन्हींकी दिव्य लीलाका ही तो प्रदर्शन विश्वकी समस्त लीलाओंमें हो रहा है । भगवान् और भगवान्‌की लीला । क्या भगवान् अपनी लीलासे भिन्न हैं ? नहीं नहीं ! जलतरंगवत् न भगवान् लीलासे भिन्न हैं और न लीला भगवान्‌से ही भिन्न है । यह विराट् विश्व उन्हीं पुरुषोत्तमका रूप है और उसमें जो क्रिया (Action) एवं प्रतिक्रिया (Reaction) हो रही है वही उनकी लीला है । विश्वात्मा परमात्मा अपनेमें ही अपनी लीलासे अपने विश्वको प्रकट करके पुनः अपनेहीमें उसे विलीन कर लेते हैं । अन्तर और बाह्य जगत्‌में भगवान् और भगवान्‌की लीलाकी ही सत्ता नज़र आती है । श्रुतियोंमें भी कहा है कि 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है । 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' जिसके आगे-पीछे और कुछ भी नहीं है । किसी-किसीको यह शङ्का होती है कि आप्तकाम, नित्यतृप्त, निर्लिप्त ब्रह्मको किस अभावकी पूर्तिके लिये सृष्टिको रचना पड़ा । इसका उत्तर ब्रह्मसूत्रमें यह दिया गया है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' ।

अर्थात् सृष्टि उसकी लीलाका विलासमात्र है । अखण्ड पूर्ण ब्रह्म अपने एक ही अंशसे जगत्‌को धारण करके अचलरूपसे स्थित रहते हैं, और उनकी पूर्णतामें कभी किसी प्रकारकी भी न्यूनता नहीं होती । इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी वृद्धि होती है, पूर्णको पूर्ण ले लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है । भगवान् अंशयुक्त होकर भी पूर्ण हैं, कर्ता होनेपर भी अकर्ता हैं, गुणयुक्त होनेपर भी गुणातीत हैं, सबमें व्याप्त होकर भी सबसे बिलग हैं, यही उनकी विचित्र लीला है । जिस समय हमारा ध्यान सृष्टिकी नियमित अलौकिक और विचित्र रचनाकी ओर जाता है, उस समय सहसा ही भगवान् और उनकी लीलाका स्मरण हो आता है, समस्त ब्रह्माण्डमें, अनेकानेक सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादिमें, असीम आकाशमण्डलमें, विस्तृत वसुन्धरामें उन्हींकी अनोखी छटा नज़र आने लगती है । पल-पलपर पलटनेवाले चमत्कारपूर्ण नाना प्रकारके दृश्य उन्हींकी लीलाके कारण हमको देखनेको मिलते हैं । जिस तरह भगवान् अनन्त हैं उसी तरह उनकी लीला भी अनन्त है, बड़े-बड़े महात्मा-योगी-ज्ञानी अनादि कालसे उसी अनन्तकी खोज कर रहे हैं, परन्तु उसे न खोज सके । बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पारखियोंने उस लीलारूपी अमूल्य रत्नको परखना चाहा परन्तु वे भी उसे न परख सके । अच्छे-अच्छे विचारवानोंने भी विचार किया परन्तु उनका विचार बेचारा ही बना रहा, लीलाएँ उनके विचारसे गुजरती हुई विचारसीमासे बाहर ही रहीं । लीलाओंको देखते हुए भी योगी योगसे, कर्मवीर कर्मसे, ज्ञानी ज्ञानसे, जडवादी विज्ञानसे भी

न समझ सके। दिव्य दृष्टिवालोंने भी खूब देखा परन्तु लीलाके अलख तत्त्वको वे भी न लख सके। अर्जुन भगवान्के परम प्रिय सखा थे, परन्तु वे भी भगवान्के वास्तविक रूपको तथा उनकी दिव्य लीलाओंको न जान सके। यद्यपि महाभारतयुद्धके पहले भी भगवान्ने उनको कई बार अपनी ईश्वरीय महिमाका परिचय दिया था, परन्तु वे भूलते ही रहे, युद्धस्थलमें मोहके कारण उन्होंने भगवान्से यह प्रश्न किया था कि आपका जन्म तो विवस्वान्से पीछे हुआ है, यह मैं कैसे जानूँ कि आदिकालमें ऐसा योग आपने ही कहा है।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
(गीता ४।४)

अर्जुनके भूल जानेपर भगवान्ने फिर भी उसे अपना परिचय गीतामें इस प्रकारसे दिया था।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
(४।६)

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
(९।१०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।
(९।१८)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
(१०।८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
(१०।२०)

इतना बतलानेपर भी अर्जुनके मनमें कुछ शङ्का शायद बनी ही रही, तब फिरसे भगवान्ने उसे अपना विराट्रूप दिखाया और यह निश्चय करा दिया कि मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, मैं ही लोकोंका क्षय करनेको बढ़ा हुआ काल हूँ, लोकोंका संहार करनेके लिये ही यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
(११।३२)

मेरे द्वारा यह सब पहिले ही मारे जा चुके हैं, इसलिये हे अर्जुन! तू निमित्तमात्र हो।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।
(११।३३)

भगवान्का विराट्रूप देखकर अर्जुन बहुत घबड़ाया और पुरुषोत्तमको पहचानकर उसका मोह भी दूर हो गया। अन्तमें उसे कहना ही पड़ा।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
(१८।७३)

अर्जुन-जैसे अपने अनन्य भक्तको भुलावा देना क्या है यही तो भगवान्की अचिन्त्य लीला है।

जिज्ञासुओंने इस लीलातत्त्वको खूब ही सोचा, खूब ही समझा, खूब ही सुना, और खूब ही देखा, परन्तु जानते हुए भी वे न उसे समझ सके, सुनते हुए भी न सुन सके और देखते हुए भी न देख सके, अन्तको उस लापताका पता न पाकर सबको एक स्वरसे यही कहना पड़ा कि भगवान्की अप्राकृतिक लीलाएँ अनन्त हैं, अचिन्त्य हैं, परिमित बुद्धिसे उनका रहस्य जानना असम्भव है यह सत्य है, कठोपनिषद्में भी कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

न वह वाणीसे, और न मनसे, न आँखसे पाया जा सकता है। वह है! ऐसा कहनेके सिवा वह कैसे मिल सकता है। सभी जानते हैं कि भगवान्की अनन्तता और उनकी लीलाओंकी विचित्रता अकथनीय है, उनकी खोज करना मानवबुद्धिसे

परे है परन्तु यह जानकर भी आत्मनिष्ठ महापुरुष उसकी खोज करनेसे नहीं रुकते, अब भी अनेकों महात्मा भगवान्‌की लीलाके रहस्यको जाननेके लिये एकान्तमें योगसाधन कर रहे हैं। उस अनन्तकी खोज सृष्टिके आदिकालसे हो रही है और अनन्त कालतक होती ही जावेगी। यह क्यों? यह भी तो उसकी लीलाका रहस्य है।

अपनी-अपनी भावनाके अनुसार कोई सगुणमें, कोई निर्गुणमें प्रभुकी दिव्य लीलाओंकी खोज कर रहा है—अध्यात्मवादी आत्मामें, प्रकृतिवादी प्रकृतिमें, मायावादी मायामें, द्वैतवादी द्वैतमें, शून्यवादी शून्यमें, अनीश्वर जडवादी जडजगत्‌में, अद्वैतवादी ब्रह्ममें, प्रेमवादी केवल एक प्रेममें ही उस प्रेममूर्ति भगवान्‌का और उनकी प्रेममयी लीलाओंका पता लगा रहे हैं। प्रेमियोंका निश्चय है कि केवल प्रेमद्वारा ही सगुणका साक्षात्कार हो सकता है, निर्गुणका नहीं। किसीने कहा भी है कि—'बहुतन कही सुनी पुन बहुतन अनुरागन हू जानी' है भी तो ठीक। ज्ञानातीत प्रेमरूप परमात्माकी प्रेमलीलाएँ केवल एक प्रेमसे ही पहचानी जा सकती हैं। प्रेमकी महिमा अपार है। मैंने भी प्रेमकी व्याख्या अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार यों की है।

जगमगाय नहिं जग मगै, बिना प्रेम 'रज' कोय।
जग मगाय, बिन जग मगै, जग मँगाय जब दोय॥
लस अनन्त जा उर सदा, बस अनन्त उर आप।
सोइ प्रेमको 'रज' कहहु, होय कौन विधि नाप॥
जिहिं बस सीम असीम ह्वै, होत असीम ससीम।
सो असीम प्रिय प्रेम 'रज' कहहु कौन विधि सीम॥
बिना प्रेम चसमा चखन, परत न जग मग सूझ।
जिहिं लगाय 'रज' चलन हित रहत न पुन कहुँ बूझ॥
निगम सुगम करतार, मिलन सुलभ समझन अगम।
तउ रस 'रज' रिझवार, जयति प्रेम पावन अकथ॥

प्रेमोपासना और भक्तिका आरम्भ भी तो एकसे नहीं किन्तु दोसे हुआ करता है और उसका अन्त द्वैतमें नहीं किन्तु अद्वैतही में होता है। किसी पाश्चात्य कविका भी यही कथन है

Not one but two is the beginning
Not two but one is the end.

प्रेमी प्रेमरूप भगवान्‌को तभी पहचान सकता है जब वह सांसारिक वासनाओं एवं कामनाओंसे परे हो जाय और उसके मनमें यह दृढ़ धारणा बनी रहे कि—

जान तो दी दी हुई तुझीकी थी।
हक़ तो यह है कि हक़ अदा न हुआ॥

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यताके इस युगमें सभ्य कहलानेवाले बड़े-बड़े महाशय ईश्वरके अस्तित्व और उनकी लीलाओंको एक कोरी ही कल्पना समझते हैं और एक अदृश्य invisible की खोज करनेमें वे अपने अमूल्य समयको नष्ट करना नहीं चाहते, क्यों न हो कृत्रिमताकी सीमासे बाहर जानेका उनको अवकाश भी तो नहीं मिलता, जड व्यापारमें जड़ी हुई उनकी बुद्धि जड (Matter) में ही आकर्षित रहती है। उनका दोष ही क्या यह भगवान्‌की ही लीला है कि उन्हें जड़से बाहर नहीं होने देती।

लीलातत्त्वका समझना बड़ा ही कठिन है। लीलाके प्रेमी जितना कुछ भी समझ सकते हैं उसे कह ही डालते हैं।

'तदपि कहे बिन रहा न कोई।'

लीलावादपर कुछ प्रेमी विद्वानोंकी विवेचनाओंको पढ़ या सुनकर मुझे भी दो एक शब्द कहनेका साहस हुआ है, मैं उसे नीचेकी पंक्तियोंमें व्यक्त करता हूँ।

लीला क्या है? लीलामय स्वयम्भू भगवान् ही लीलाके रूप हैं। उनके द्रव्य, कर्म और गुणोंद्वारा ही लीलाका प्रदर्शन होता है। विराट् विश्व उनकी लीलाका ही क्षेत्र

है। उनकी प्रत्येक लीलामें गोपनीय रहस्य छिपा रहता है। जिसे संसार नहीं समझ सकता। लीलाओंको प्राकृतिक समझकर श्रद्धा नहीं रहती है, इसीसे उनके गूढ़ तत्त्वोंका बोध नहीं होता। बहुधा लोग लीलाका बाह्य रूप ही देखते हैं, उनके अन्तरंग भावोंकी जाँच विमल बुद्धिसे नहीं करते। भगवान्की लीलाएँ विश्वमें नित्य ही हुआ करती हैं परन्तु अनित्यमें लिप्त होनेके कारण हम उन्हें समझ नहीं सकते। उन्हींके अखण्ड प्रकाशसे इस सिनेमारूप शून्यपटपर अनेकों दृश्य दिखायी देते हैं। इन दृश्योंको देखकर हमें गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह युक्ति याद आ जाती है।

सून्य भींतपर रंग चित्र नहिं तन बिनु लिखा चितेरे।

जगत्के कल्याणके निमित्त जो-जो भी लीलाएँ भगवान् करते हैं उनका दृश्य पहले प्राकृतिक रीतिपर जगत्को दिखा देते हैं, फिर चाहे उसे कोई समझे या न समझे। इन लीलाओंके प्रदर्शनके लिये भगवान्ने परम पवित्र व्रजभूमिको ही नाट्यगृह बनाया है, स्वयं आप ही उसके सूत्रधार बने हैं, प्रेममूर्त्ति व्रजाङ्गनाएँ उनकी नटी हैं, प्रेमी भक्त ही पात्र हैं, प्रेमका अभिनय ही खेलते हैं और उनकी दैवी गुणमयी माया ही नाट्यगृहकी यवनिका (Drop-scene) है, सांसारिक वासनाओंमें फँसे हुए जो दर्शक हैं, उनको (Drop-scene) के कारण उस अभिनयका वास्तविक रूप दिखायी नहीं देता, केवल भगवान्के अनन्य भक्त ही उस खेलको देख सकते हैं।

भगवान्ने व्रजमें अनेकों लीलाएँ की हैं जिनका वर्णन व्रजके अनेकों महात्माओंने किया है। उनका पवित्र वाणियोंको मैंने पढ़ा और सुना, रासधारियोंकी लीलाओंको भी देखा। परन्तु जो देखा, पढ़ा और सुना उसके परे कुछ और भी रहस्य मालूम हुआ जिसका उल्लेख मैं नीचे करता हूँ। हरिकी हर एक लीलाओंमें अनन्त रहस्य छिपा हुआ है। उदाहरणस्वरूप मैं एक कालियदमनलीलाका वर्णन करता हूँ। श्रीयमुनाजीके जिस अगाध कालीदहमें महाबली कालिय नाग निवास करता था उसीमें श्रीकृष्ण भगवान्की गेंद जा गिरी, गेंदके निकालनेके लिये भगवान् जलमें कूद पड़े। कालिय नागको नाथकर गेंद निकाल ली और उसके फनोंपर नृत्य करने लगे। इस लीलामें भगवान्की अमोघ शक्तिका परिचय मिलता है, इसी भावको हम सब जानते हैं, परन्तु इस लीलामें एक दूसरा भाव मेरी समझमें आया है। वह यह है—

यमुनाका अगाध कालीदह भवसागरके समान है, उसमें जो कालिय नाग निवास करता है वही अनन्त कालका रूप है। भगवान्की गेंद प्रकृति है। श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर हैं। परमेश्वरके अधीन प्रकृति सदा ही रहती है, और भगवान् निरन्तर उसके साथ खेला ही करते हैं। यह परमेश्वर और प्रकृतिका खेल अनन्त कालकी मर्यादाके अन्दर ही होता रहता है। गेंदरूपी प्रकृतिको कालने अपनी ओर खींचना चाहा परन्तु नागरूपी कालको वशमें करके भगवान् अपनी गेंदरूपी प्रकृतिको अपने पास ले आये। और नागरूपी कालके सिरपर नृत्य करके यह दिखा दिया कि यह अनन्त महाकाल मेरे ही अधीन है। और गेंदको हाथमें उछालकर यह बतला दिया कि मैं ही इसका इस तरहसे उद्धार करता हूँ। यद्यपि मूल प्रकृति और महाकाल स्वभावसे ही अनादि हैं तो भी भगवान्का आधार लिये बिना वे स्वतन्त्ररूपसे कोई भी कार्य नहीं कर सकते।

भगवान् ही सबके स्वामी हैं।
भगवान् ही सबके मूल कारण हैं।
भगवान्की ही सत्ता नित्य है।

अन्तमें मैं श्रीस्वामी शंकराचार्यके इस वचनको लिखकर लेखको समाप्त करता हूँ।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

◆

पुष्टिमार्गमें त्याग और प्रभुप्रेम

(लेखक–श्रीयुत रणछोड़दासजी पटवारी बी० ए०, एल-एल० बी०)

एकादशीके उपवासके साथ दसों इन्द्रिय और मनका निग्रह भी समाया हुआ है। इन्द्रियोंका संयमरूपी अग्निमें हवन करना उत्तम यज्ञ है। सहस्रों रुपये खर्च करके भले ही अन्य यज्ञ किये जायँ, किन्तु यह यज्ञ यदि न बने तो सब यज्ञ निरर्थक-जैसे हो जाते हैं। इन्द्रियसंयमयज्ञ करनेका अधिकार सभी वर्णोंके पुरुषों और स्त्रियोंको है। यह मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

शरणमन्त्र और आत्मनिवेदनमन्त्रके ग्रहण करनेका धर्म सब पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंका है पर वहाँ भी इस मनके संयमरूप यज्ञकी अपेक्षा है। शरण कहिये या आत्मनिवेदन कहिये वस्तुतः भगवान्का दृढ़ आसरा रखनेसे ही जीवका कल्याण हो सकता है। प्रतिदिनके चौबीस घंटोंमेंसे एक प्रहर किंवा एक घंटेका समय निकालकर भी यदि वैष्णव एकाग्रचित्तसे प्रभुके चरणोंमें मस्तक नवाकर अष्टाक्षरकी पाँच माला भी जप करें तो शनैः-शनैः उसका मन प्रभुमें एकाग्र हो सकता है। इसका अनुभव हम सबको थोड़े दिनोंमें ही होने लगता है। हम सब इस संसारके मुसाफिर हैं, एक-न-एक दिन यहाँसे चलना ही होगा, इस बातको याद रखनेसे वैराग्य और प्रभुमें श्रद्धा अपने आप होगी।

संसारमें वैराग्य रखनेका आग्रह पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंमें पुनः-पुनः किया गया है। एक ही समयमें प्रभुमें और लौकिक विषयोंमें मनका लगना असम्भव है। जैसे-जैसे चित्त भगवान्में लगता जाता है वैसे-ही-वैसे विषयोंकी आसक्ति छूटती जाती है। चित्तका भगवान्में तत्पर हो जाना ही मानसी सेवा कही जाती है। यह सेवा सर्वोत्तम है, इस सेवाकी सिद्धिके लिये तनुजा और वित्तजा दोनों सेवा की जाती हैं। तनुजा सेवामें सब भागवत धर्मोंका समावेश होता है। नेत्रका उपयोग प्रभुके दर्शन करनेमें, श्रवणका उपयोग प्रभुकी लीला और गुणोंके श्रवण करनेमें तथा जिह्वाका उपयोग भगवन्नामग्रहण और गुणोंके अनुवादमें होना चाहिये। प्राणोंका भी प्रभुमें अर्पण होना चाहिये अर्थात् प्रत्येक श्वासमें प्रभुका चिन्तन और भगवन्नामकी आराधना होती रहनी चाहिये। सत्यसंकल्प भगवान्की जब कृपा होगी तब वह जीवको अपना मानेंगे ही। किन्तु जीवके हृदयमें प्रभु मुझे अपनोंमें स्वीकार करें और दर्शन दें इसके सिवा अन्य कोई भी मनोरथ न होना चाहिये।

भगवान् सर्वव्यापक हैं। मूर्तिमें भी हैं। भगवान्का आधिभौतिक स्वरूप भगवन्मूर्ति है। आधिदैविक स्वरूपसे मूर्ति भगवन्मय है। गंगाजीका प्रवाह आधिभौतिक है, परन्तु आधिदैविक रूपसे वह देवी है। भगीरथ राजाको श्रीगंगाजीने देवीरूपसे दर्शन दिये थे। पूजा, उपासना और सेवामें बड़ा भेद है। पूजा, उपासना आदि धर्मोंके अधीन भगवान्की विभूतियाँ हैं। स्वयं भगवान् तो अनन्य और निष्काम भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। इस सिद्धान्तका प्रकाशन दीक्षित श्रीविट्ठलनाथजी गोसाईंजीने अपने भक्तिहंस ग्रन्थमें किया है। पुष्टिसम्प्रदायमें चौरासी बैठक, चौरासी वैष्णववार्ता, दो सौ बावन वार्ता तथा निजवार्ता प्रभृति भाषाके वार्ताग्रन्थ बहुत हैं। इन ग्रन्थोंमें श्रीवल्लभाचार्यके वैदिक उच्च सिद्धान्तोंका भी प्रतिपादन है। उस समयमें पुष्टिमार्गके अनुयायी जो लोग थे उन उच्च कोटिके वैष्णवोंके ही ये चरित्र लिखे गये हैं। एक समय श्रीवल्लभाधीश चैतन्य महाप्रभुसे मिले, उस समय श्रीवल्लभाचार्यने

उनसे कहा कि हमारा सिद्धान्त ऐसा है कि राईका एक दाना गायके सींगपर जितनी देर ठहर सके उतनी देर भी यदि प्रभुस्मरणरहित समय जाय तो आसुरावेश हो जाता है ।

एक समय श्रीवल्लभाधीश व्रजपरिक्रमामें थे, उस समय उन्हें एक मरा हुआ अजगर दृष्टिगत हुआ। साथके वैष्णवोंने पूछा कि यह अजगर पूर्वजन्ममें कौन था । आचार्यश्रीने उत्तर दिया कि पूर्वजन्ममें यह एक महन्त था । इसने अनेक सेवक किये, उनके पाससे बहुत द्रव्य लिया परन्तु अपने गुरुपनेके कर्तव्यका पालन नहीं किया और प्राप्त द्रव्यका उपयोग विषयभोगोंमें करता रहा, इसीलिये इसे अजगरका शरीर मिला है, आजके गुरु लोग इससे कुछ शिक्षा लेंगे ?

श्रीवल्लभाधीशने वैष्णवोंसे प्राप्त द्रव्यका उपयोग प्रभुकी सेवामें ही किया था । भक्तिका प्रचार हो इसी हेतुसे उन्होंने गृहस्थाश्रमका स्वीकार किया था । अपने पासके वैष्णवोंको श्रीवल्लभाधीशने आज्ञा कर रक्खी थी कि ग्राममें सामग्री लेने जाओ, उस समय कोई वस्तु किसीसे माँगकर न लाना । मैं यहाँ आया हूँ यह किसीसे कहना भी नहीं । एक समय अडेलमें सामग्री मँगवानेका कोई भी साधन नहीं था । भण्डारीने भगवदर्पित सुवर्णकी कटोरी गिरवी धरकर सामग्री मँगवायी । सामग्री श्रीप्रभुके अर्पण की गयी । परन्तु श्रीवल्लभाधीश और उनके कुटुम्ब किसीने भी प्रसाद नहीं लिया । साँझको एक वैष्णवने तीस मोहर श्रीवल्लभाधीशके भेंट धरी । तब उन्होंने गिरवी रक्खी कटोरी छुड़ाई और दूसरी सामग्री मँगवाकर प्रभुके अर्पण की और फिर प्रसाद लिया । वैष्णवोंने पूछा कि आपने प्रातःकाल प्रसाद क्यों न लिया । तब आपने उत्तर दिया कि अर्पित कटोरी गिरवी धरकर सामग्री लायी गयी थी, ऐसी सामग्रीसे हमारा पोषण होना उचित नहीं ।

श्रीवल्लभाधीशने एक समय हँसते-हँसते कहा कि श्रीठाकुरजीके आभूषण और सेवाके पात्रोंको देखकर तुम्हारे हृदयमें ऐसा तो विचार नहीं आता कि ये सब हमारी मालिकीके होते तो क्या ही अच्छा होता । गोपीनाथजीने जवाब दिया कि आपके वंशमें जो प्रकट हो उसकी ऐसी बुद्धि हो ही नहीं । मेरी तो यही इच्छा है कि प्रभुकी सेवा करूँ ।

विजयनगरके राजाने श्रीवल्लभाधीशके बहुत-सी मोहरें भेंट दीं परन्तु आपने उनमेंसे सिर्फ सात मोहरें ग्रहण कर उनके नूपुर बनवा श्रीठाकुरजीको भेंट किये और बाकीकी सब मोहरें ब्राह्मणोंको बँटवा दीं । श्रीवल्लभाधीश सिले हुए कपड़े नहीं पहनते थे । उनका जीवन सादा और पवित्र था । जिस समय मुसलमानी राज्य था उस समय दूर-दूर देशोंमें फिरकर तीन बार भारतवर्षके तीर्थोंकी परिक्रमा कर मुख्य-मुख्य स्थलोंमें तीन दिन, सात दिन, महीना, छः महीना रहकर श्रीमद्भागवतका पारायण किया था । साथ ही भगवत्सेवा, जिज्ञासुओंको उपदेश और अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी आप करते थे । सम्प्रदायमें आठ सखा सुप्रसिद्ध हैं, उनके चरित्रोंसे हमलोग बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं । सूरदासजी अकबरसे मिले, उस समय उन्होंने बादशाहका नहीं किन्तु श्रीकृष्णका यश गाया, इससे बादशाह बहुत प्रसन्न हुए और सूरदासजीसे कहा कि कुछ माँगो, तब सूरदासजीने यह माँगा कि आपके राज्यमें वैष्णवोंके और वैष्णवोंके ठाकुरजीके प्रति किसी तरहका उपद्रव न होने पावे । परमानन्ददासजीके यहाँ वैष्णवोंका सम्मेलन हुआ । उस समय उनके पास ठाकुरजीकी न्यौछावर करनेके लिये कुछ नहीं था तब उन्होंने एक सुन्दर पद रचकर प्रभुके न्यौछावर किया ।

कुम्भनदासजी खेती करके अपना निर्वाह करते थे । अकिञ्चन थे । सीकरीके शाहने प्रशंसा सुनकर

उन्हें बुलाया । म्याना सवार सिपाही वगैरह उनको लेने गये । कुम्भनदासजीने कहा कि मुझे राजाके पास जाकर क्या करना है, तब सिपाहियोंने कहा कि आप न चलेंगे तो राजा हमपर नाराज होगा इसलिये हमपर दयाकर आप पधारिये । तब कुम्भनदासजी पैदल ही सीकरी पहुँचे । राजाने उनका खूब सत्कार किया । राजाको अपेक्षा थी कि मेरे वैभवको देखकर कुम्भनदास मेरो प्रशंसा करेंगे परन्तु कुम्भनदासजीने तो यह पद गाया ।

भक्तनकों कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैया टूटीं बिसरि गयो हरिनाम ॥
जाको मुख देखे दुख लागत, ताकों करनो पड़्यौ प्रनाम ।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु यह सब झूठो धाम ॥

यह सुन राजा भी बहुत प्रसन्न हुआ । एक समय राजा मानसिंह दिग्विजय करके गिरिराजमें आये और कुम्भनदासजीके पास गये । कुम्भनदास अकिञ्चन थे, तिलक करते समय काच नहीं था, जलमें देखकर तिलक किया । राजाने सुवर्णकी आरसी भिजवायी, कुम्भनदासजीने कहा कि 'मोकूँ यह न चाहिये ।' विदा होते समय राजाने मोहर धरीं तब कुम्भनदासजीने कहा कि 'मेरे खेती सूँ धान आवेहे वामे मेरो कार्य चले हे ।' तब राजाने कहा कि कुछ तो मेरे लायक कार्य कहिये, तब कुम्भनदासजी बोले कि भगवत्कृपासे अब ऐसो समय न आवै कि मैं कुछ माँगूँ ।

श्रीगोविन्दस्वामी परम भागवत थे, वे श्रीयमुनाजोको माता समझकर चरणोंसे नहीं छूते, उन्होंने एक समय अकबरके सामने भैरव राग गाया । अकबरने बड़ी प्रशंसा की, बादशाहको वह राग बहुत पसंद आया, यह देखकर गोविन्दस्वामीने उस रागको ही प्रभुके आगे गाना छोड़ दिया ।

छीतस्वामी भी अकिञ्चन थे, गरीब स्थितिके थे । उनको कोई कुछ देने आता तो वे कहते कि द्रव्यके लिये मैंने वैष्णवधर्म स्वीकार नहीं किया है ।

नन्ददासजी तुलसीदासजीके भाई थे, वे भी अकिञ्चन थे । बड़े ही सिद्ध कवि और प्रभुभक्त थे । दामोदरदास हरसानी श्रीवल्लभाचार्यके कृपापात्र थे, उन्होंने श्रीगोसाईंजीको खेलते हुए देखकर कहा कि 'लालन ! यह मार्ग खेलनेको नहीं प्रभुकी विरहभावना राखनेको है ।' यह सुन श्रीगोसाईंजी प्रसन्न हुए और उस दिनसे फिर इस वैष्णवको दण्डवत्-प्रणाम नहीं करने देते थे, उसपर महत्त्वभावना करते थे ।

पद्मनाभदासजी भागवत बाँचके निर्वाह करते थे । जब आचार्यश्रीने आज्ञा की कि 'उदरभरणार्थ श्रीमद्भागवत बाँचनो उचित नहीं ।' उसी दिनसे आप कौड़ी बेचकर और लकड़ी काट-बेचकर अपना निर्वाह करने लगे । एकदम गरीब स्थिति होनेसे चने भोग धरते किन्तु भगवान् प्रसन्न होकर आरोगते । प्रेममय भगवान् केवल भावके ही गाहक हैं । पद्मारावल विद्वान् थे किन्तु द्रव्यहीन थे, प्रभुके भोगमें बिना चुपड़ी रोटियाँ धरते थे किन्तु प्रभु बड़े प्रसन्न होकर आरोगते । इस तरह अनेक वैष्णव त्यागी हो चुके हैं । गरीब रहते भी प्रभुकी सेवा बड़े भावभक्तिसे करते थे । इस मार्गमें वर्णधर्मपालन करनेकी भी मर्यादा है । एक समय एक कणवी वैष्णवको सब वैष्णवोंको भोजन परोसनेकी इच्छा हुई, उसने श्रीविट्ठलनाथजी श्रीगोसाईंजीसे आज्ञा माँगी तब श्रीगोसाईंजीने आज्ञा को कि यह तो श्रीजगदीशमें ही बन सके अन्यत्र तो वर्णधर्मका पालन आवश्यक है । चाचा हरिवंशजी क्षत्रिय थे, श्रीगोसाईंजीने उन्हें शरणमन्त्र वैष्णवोंको देनेकी आज्ञा दे रक्खी थी । उन्होंने भीलोंके प्रदेशमें वर्षों रहकर उपदेश दिया और उनका मद्यपान और अभक्ष्य भक्षण छुड़वाया ।

एक समय कितने ही वैष्णव श्रीगोसाईंजीको कई लाख रुपये भेंट धरने आये तब श्रीगोसाईंजीने कहा कि तुम्हारा द्रव्य आसुरी है, प्रभुके अङ्गीकार कराने

योग्य नहीं है। कन्याविक्रयके निषेधपर भी श्रीगोसाईंजीने कई बार उपदेश दिया था।

श्रीठाकुरजीके मस्तकपर मयूरपिच्छमुकुट आता है, इसका कारण बताते हुए श्रीगोसाईंजीने आज्ञा की थी कि 'मोर विषयरहित है, मोरके नेत्रमेंसे जो अश्रु गिरते उनको चोंचके द्वारा पीकर ही मयूरी गर्भ धारण करती है। मयूर मयूरीके कामको नेत्रोंद्वारा शान्त करता है, इसी प्रकार प्रभु भी भक्तोंके कामको दर्शन देकर शान्त करता है।' फूलवरमें पुष्पमालाके रहस्यका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजीने आज्ञा की कि पुष्प भक्तोंका चित्त है। उनको डोरेमें पिरोकर पुष्पमाला बनायी जाती है और वह श्रीजीके वक्षःस्थलपर धराते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि भक्तोंके हृदयोंकी स्नेहमयी माला तैयार करके प्रभुके वक्षःस्थलपर पहुँचायी जाती है। व्रजभक्तोंका चित्त इसी तरह प्रभुमें पिरोया रहता था।

उत्तम वैष्णवोंके लक्षण कहते हुए श्रीगोसाईंजीने आज्ञा की कि जो सबपर दया रक्खे, क्रोध न करे, सत्य बोले, चित्तमें प्रभुको रक्खे, सबका उपकार करे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे, प्रामाणिक रीतिसे सत्य और न्यायपूर्वक द्रव्य पैदाकर प्रभुके अर्पण करे, निरभिमानी रहे, वह वैष्णव उत्तम है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

आपका पत्र यथासमय मिल गया था किन्तु समय न मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ तदर्थ क्षमा करें।

गीता अ० ८ श्लो० २३ से २५ का उत्तर विस्तारपूर्वक तो कभी आपसे भेंट होने पर ही दिया जा सकता है किन्तु संक्षेपमें लिखता हूँ।

(१) निष्काम कर्मयोगी चाहे जिस देशकालमें मृत्युको प्राप्त हो, उसका पुनरागमन नहीं होता। यहाँ रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन आदि शब्द कालके वाचक नहीं हैं, बल्कि उस मार्गके अभिमानी देवताओंके वाचक हैं, क्योंकि गीता ८। २७ में इसी प्रकरणमें 'सृति' शब्द मार्गका वाचक आया है। यदि रात्रि आदिको कालवाचक शब्द ले लें तो २४ वें श्लोकमें अग्निः, ज्योतिः और २५ वें श्लोकमें धूम शब्द कालके वाचक नहीं हो सकते। अतएव निष्काम कर्मयोगी चाहे जिस कालमें मृत्युको प्राप्त हो उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। वह अग्निः, ज्योतिः, अहः, आदि देवताओंके द्वारा परमधामको पहुँचाया जाकर मुक्त हो जाता है।

(२) क—आवागमनसे छूटनेवाले योगीके लक्षण—योगमार्गके दो भेद हैं, एक भक्तिप्रधान कर्मयोग, दूसरा कर्मप्रधान कर्मयोग। कर्मप्रधान कर्मयोगीके लक्षण गीता २। ५५ से ७२ तक और भक्तिप्रधान कर्मयोगीके लक्षण गीता १२। १३ से २० तक देखने चाहियें।

ख—आवागमनसे छुड़ानेवाले योगके लक्षण—कर्मप्रधान कर्मयोगके लक्षण गीता २। ४५ से ५३ तक और भक्तिप्रधान कर्मयोगके लक्षण गीता ८। ७ से २२ तक और

१२। ६ से १२ तक विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। जब यह अवस्था परिपक्व हो जाती है, तब गीता १६। १ से ३ में जो दैवी सम्पदाके लक्षण लिखे हैं वे उसमें आ जाते हैं।

(ग) संसारमें पुनरागमन प्राप्त होनेवाले योग और योगीके लक्षण—

ऐसे योग और योगीके लक्षण गीता २ श्लो० ४२ से ४५ तक और ९। २०-२१ में देखने चाहियें।

(३) दोनों मार्गोंके जाननेवाले योगीके लक्षण और गति—दोनों मार्गोंको जाननेवाला योगी वही है जो दोनोंमेंसे श्रेष्ठ एक अपुनरागमनके मार्गमें चलता है। उसके लक्षण २। ५५ से ७२ तक और गतिका प्रकरण गीता ८। २८ में देखने चाहियें।

(४) योग और योगीका स्वरूप—

फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार भगवत्-प्राप्तिके लिये यज्ञ, दान, तप, सेवादि कर्म और जप, ध्यान पूजादि उपासनारूप कर्मोंका करना कर्मयोगका स्वरूप है और ये कर्म जिसमें हों वह कर्मयोगी है।

(५) योग, भक्ति, ज्ञान आदि किसी भी मार्गसे भगवत्प्राप्त पुरुषका, भगवत्प्राप्ति (कल्याण) होनेके उत्तर कालमें अर्थात् जीवन्मुक्त होनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, चाहे वह किसी भी देश और कालमें मरे, क्योंकि देश और कालादिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(६) सकाम कर्म और सकाम उपासना करनेवाला पुनरागमनको प्राप्त होता है। निष्काम कर्म और उपासना करनेवाला पुनरागमनको प्राप्त नहीं होता। गीता ५। १२। यदि अन्त समयमें उसका चित्त योग, ज्ञान या भक्तिके साधनसे विचलित हो जाता है तो वह भी योगभ्रष्ट होनेके कारण पुनरागमनको प्राप्त होता है, किन्तु पुनः जन्मान्तरमें उसी साधनमें तत्पर होकर परम पदको प्राप्त हो जाता है। यही भगवान्‌का आशय प्रतीत होता है। गीता ६। ४० से ४५ तकका अर्थ देखने चाहियें।

(७) निष्काम कर्म, और उपासनाका कथन तो भगवान्‌ने पारमार्थिक दृष्टिको लेकर किया है एवं सकाम कर्म और सकाम उपासनाका कथन व्यावहारिक दृष्टिको लेकर किया है।

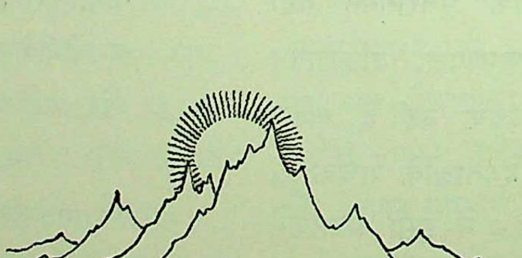

श्रीगोस्वामीजीके नामाराशी

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

एक नामके होत हैं, जगमें पुरुष अनेक ।
गुण कीरति बिलगात है साधे सहित विवेक ॥
——मौनीराम

श्रद्धेय पं० बन्दन पाठकजी काशीपुरीके प्रसिद्ध रामायणी हो गये हैं। वे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके समकालीन थे। उन्होंने मानसके 'खलबन्दन', (पुनि बन्दउँ खलगन सति भाये) इत्यादि प्रकरणपर ४२ दिनोंतक लगातार प्रवचन करते हुए उन चौपाइयोंके गूढ़ार्थको प्रकट करके भारतेन्दुजीको चकित कर दिया था। उनकी 'कथा' में हज़ारोंकी भीड़ नित्य हुआ करती थी। वे अपने समयके अपूर्व मानस-ज्ञाता थे। उन्होंने मानस-अधिकारीका लक्षण बताते हुए कुछ उदाहरण भी दिये हैं। उनके चारों छप्पय नीचे उद्धृत हैं—

लक्षण

प्रथम मातु-पितु भक्ति सदा गुरु भाव हृदय जेहि ।
शंकर हनुमत प्रीति इष्ट सिय राम मित्य तेहि ॥
विप्र सन्तको दास आस जेहि राम नाम जप ।
नित्य करत जो पाठ ग्रंथ दीनता सद्ध तप ॥
'द्विज बंदन' सत्संगति करै सदा प्रेम नेमहिं लही ।
(श्री) तुलसीकृत मानस बिमल अधिकारी जानो सही ॥

उदाहरण

जैसे कालीदास चारि भये कवि सुर-बानी ।
चारों पण्डितराज काव्य मनहरन बखानी ॥
तैसे तुलसीदास चारि भये कवि भाषाके ।
चारो बरनै रामचरित भगतीरस छाके ॥
एक महर्षी आदिकवि 'द्विज बंदन' भये शापबस ।
मानसजुत बारह रतन प्रगटे धारे शान्तरस ॥

दूजे 'तुलसी' तुलारामजी मिसिर पेयासी ।
देवीपाटन जनम कुटी तुलसीपुर बासी ॥
तीसरि पत्नी रत्नावलि कटु बचनहिं लागी ।
रोअत चले बिसारि भवन भये रसिक बिरागी ॥
रामायण तिनहूँ रचे लवकुस मानस सन्त हित ।
'द्विज बंदन' जानकि विजय गंग कथा छेपक सुकृत॥

तीजे 'तुलसी' जन्म नाम सुचि सोरोंवारे ।
छप्पै छन्दावलि कुण्डलिया कड़खा चारे ॥

चौथे तुलसी सन्त हाथरस वारे भारी ।
घट रामायण रचै सोहागिनि सुरति विहारी ॥
'द्विज बंदन' तीनों कथे श्रीमानस छाया छुए ।
मानस अधिकारी भले नाम उपासक सब हुए ॥

अर्थ स्पष्ट है। 'मानस' की रचना शिवजीने अपने मानसमें की। जगदम्बाको उसका उपदेश देते हुए आपने उसका नाम 'रामचरितमानस' रक्खा। वही मानस शिवजीहीकी प्रेरणासे श्रीगुरुमहाराजद्वारा शापवश प्रादुर्भूत महर्षि आदिकवि (श्रीवाल्मीकिजी)—अर्थात् गोस्वामी तुलसीदासजीको प्राप्त हुआ और उन्होंने संसारके उपकारके लिये उसे लिपिबद्ध किया। अस्तु, पाठकजी कहते हैं कि उस दिव्य मानसके प्रथम अधिकारी महर्षिकल्प गोस्वामी तुलसीदासजी ही इस पृथ्वीपर हुए। वे मानससमेत द्वादश प्रबन्धोंकी रचना करके शान्त रसमें पगे हुए, हमें बारह रत्न ही दे गये।

'मानसके दूसरे अधिकारी देवी-पाटन तुलसीपुरवाले पं० श्रीतुलारामजी, पेयासीके मिश्र हुए। अपनी तीसरी स्त्री रत्नावलीके कटु वचनसे व्यथित हो घरसे निकल पड़े और विरक्त होकर रसिक सन्त हुए। विरक्त होनेपर उनका भी नाम तुलसीदास पड़ा। उन्होंने भी रामायणकी रचना की। उस रामायणका लवकुशकाण्ड मानसमें सन्निहित है। उन्होंने जानकीविजय तथा गंगावतरण कथा नामक क्षेपककी रचना की।

'तीसरे अधिकारी सोरोंवाले गोसाईं तुलसीदासजी हुए। उनका यह नाम जन्मसे ही माता-पिताका दिया हुआ है। उन्होंने चार छन्दोंमें चार रामायणोंकी रचना की। (१) छप्पै रामायण, (२) छन्दावली रामायण, (३) कुण्डलिया रामायण और (४) कड़खा रामायण।

'चौथे अधिकारी हाथरसवाले सन्त तुलसीदासजी हुए। इन्होंने 'घटरामायण' की रचना की। वे सुरतिशब्दयोगके अभ्यासी थे।

पाठकजी कहते हैं कि इन तीनों 'तुलसीदास' नामधारी महात्माओंने 'मानस' की छाया छूते हुए श्रीरामचरितका वर्णन किया। सब मानसके अधिकारी थे और सब रामोपासक थे।'

श्रीतुलसीदास नामधारी इन चारों महात्माओंमेंसे ऋषि आदिकवि गोस्वामीजीके विषयमें तो हमें कवितावली और विनय तथा मानसके कतिपय पदोंसे, बाबा बेनीमाधवदासजीकृत 'मूल गोसाईंचरित' और 'भक्तमाल' पर की गयी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त है, परन्तु अपर तीन महात्माओंके विषयमें यहाँपर कुछ विचार करना है। निम्नस्थ पंक्तियोंमें क्रमशः बाँचिये।

देवीपाटन तुलसीपुरवाले श्रीतुलसीदासजी

इनका जीवन-चरित सुप्रसिद्ध 'मानस मयङ्क' के टीकाकार श्रीयुत बाबू इन्द्रदेवनारायणजीके पास है। उसका नाम 'तुलसी-चरित' है। बहुत विस्तृत है। जीवन-चरित-सम्बन्धी बातें तो थोड़ी हैं, किन्तु स्फुट बातें बहुत हैं। उसके बृहदाकारका यही कारण है। उसमें ऋषि तुलसीदास और तुलाराम तुलसीदास एक हो गये हैं। दोनोंके चरित्रोंमें कुछ साम्य अवश्य है, विशेषतः विरक्त होनेवाली घटनामें, परन्तु घटनाओंकी भी आवृत्तियाँ हुआ करती हैं, इस सिद्धान्तके अनुसार ऐसा होना सम्भवनीय है। रियासत बलरामपुर ज़िला गोंड़ाके स्वर्गीय बाबू रामरत्नलालजी, रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर, रायसाहेबद्वारा प्राप्त कविवर श्रीगोकुलदासजी (जिनकी जीवनी और कतिपय ललित कविताएँ सं० १९८२ की 'माधुरी' में छप चुकी है।) कृत 'इतिवृत्त तुलसीपुर' नामक कवितापर भी कुछ विचार करना चाहिये। उसमें श्रीतुलाराम तुलसीदासजीका सच्चा चरित, संक्षेपहीमें सही दिया हुआ है। वह कविता नीचे बाँचियेः—

श्री इतिवृत्त तुलसीपुर

देवीपाटन स्थान, बिदित महिमा जहान, संवत सोरह से नवासी, मोदमंगल प्रकासी, रामनवमीके तड़के, अभिविकसित रवि करके, सरवरिया वंश सम्भव, मिश्र प्यासी कुल कैरव, कलाधर उदित भये ॥ १ ॥

तुलाराम मिश्र नाम, तुलादानको परिणाम, दीर्घ नयन केश भूरे, धन-धरतीके पूरे, मौर चढ्यो तीन बार, तब असार भा संसार, कूबा द्वारेके सन्त, रसराज सियाकन्त, नृसिंह रामदास, मिले ताहि अनायास, दियो शुद्ध साधुवेष, बैराग्यको उपदेश, पड़्यो नाम तुलसीदास, भक्तिभूरुह विकास, रहे काशीमें छाय, जहाँ गंगा लहराय, जबै रीझै कुमार, लह्यौ मानस अधिकार, रचेसरस मुदितायन, आठकाण्डी रामायण, जानकीस्तव दण्डक, उपास्यदेव मण्डक, और जानकीविजय, स्फुट गीत-काव्य-विनय, प्रतापी मानस व्यास, कथा कौमुदी प्रकास, सौम्य प्रभ प्रभाधर उचित भये ॥ २ ॥

किये मानस संशोधन, अधिकारयुक्त बोधन, कथा गंगा अवतरण, काण्ड लव-कुश अधिकरण, बाल अन्त, वन युद्ध, धरे क्षेपक प्रबुद्ध, काढ़ि विनय पद चारि, गीतावलिमें डारि, छन्द अपनो अकेलि, दिये विनय माँझ मेलि, सुनि किशोरीदास आये, चित्रकूटजीसे धाये, बोले वचन प्रमाण, कस कीन्हेउ सुजान, दीजे छेपक निकार, मानि विनती हमार, तिन्ह दीन्हीं फटकार, यहि कारण अवतार, तव आये जन्म भूमि, लियो धरनी पद चूमि, रत्नावलि व्यंग-बान, बहुरि कीन्हो संधान, पड़्यो कान परपरान, तुरत किये प्रस्थान, आये भैंसहवा ग्राम, तरु पीपर विश्राम, निराहार व्रत मौन, आधार जानकीरौन, मची धूम चहूँओर, धाये लोग सुनि शोर, देवी प्रेरित भो चेला, राउ राणा बघेला, भैंसहवाको भाग, मुनि महिमासे जाग, बँधेउ बाजी सिन्धुर, पड़ेउ नाम 'तुलसीपुर', कहा कहै गोकुलदास, धराधाम यश प्रकाश, सुधी नागर मुदित भये।

उपर्युक्त पद्यावलीसे बहुत-सी नयी बातें मालूम हुईं। पहली बात। यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि काशीमें रामायणकी रचना हुई। इसी आधारपर लोग कल्पना करते हैं कि गोस्वामीजीने केवल अयोध्याकाण्डकी रचना अयोध्याजीमें करके शेष काण्डोंकी पूर्ति काशीजीमें की अथवा 'बाल, अयोध्या, अरण्य' की रचना अयोध्याजीमें हुई और किष्किन्धाकाण्ड (जिसके आदिमें, मंगलाचरणके रूपमें, काशीजीकी महिमा गायी गयी है) से लेकर उत्तरकाण्ड तककी रचना काशीजीमें हुई। परन्तु, अब स्पष्ट हो गया कि काशीजीमें जिस रामायणकी रचना हुई थी, वह 'अष्टकाण्डी रामायण' है और इसके रचयिता द्वितीय तुलसीदास तुलारामजी हैं। सन् १८९७ ई०के दिसम्बर मासमें अर्थात् बड़े दिनके अवकाशमें, जब मैं श्रीचित्रकूटजी गया था, तब हीरालाल मोतीलाल पण्डाके घरपर पं० शम्भुनाथ पण्डाने अष्टकाण्डी रामायणकी हस्तलिखित प्रति मुझे दिखलायी थी। वे उसे छपवाना चाहते थे। उसका लवकुशकाण्ड तथा मानसके साथ जुड़ा हुआ प्रकाशित लवकुशकाण्ड एक ही है। इसी तरह गंगावतरणकी कथा, जो क्षेपकरूपसे मानसके साथ छपा करती है, ज्यों-की-त्यों उक्त हस्तलिखित अष्टकाण्डी रामायणमें थी। दूसरी बात। द्वितीय श्रीतुलसीदासजीने मानसका संशोधन किया था। उसी संशोधनमें

जहाँ-तहाँ पाठपरिवर्तनके अतिरिक्त बालकाण्डके अन्तमें;[*] तथा वनकाण्ड[†] और युद्धकाण्डमें कुछ क्षेपक मिलाये गये थे। यह समाचार पाकर चित्रकूटजीसे महात्मा किशोरीदासजी अथवा कोदोरामजीके शब्दोंमें 'विप्र किशोरीदत्तजी' दौड़े आये। प्रामाणिक वचन बोले—'हे सुजान ! आपने यह क्या किया ?किसीकी कृतिमें कुछ फेर-फार करना, उसमें अपनी तरफ़से कुछ बढ़ा देना, बड़ा ही अनुचित कार्य है। कृपया, क्षेपक जो आपने मिलाया है उसे निकाल दें।' इसपर द्वितीय श्रीतुलसीदासजीने कहा—'मुझे ऐसा करनेका अधिकार है। मैं वही तुलसीदास हूँ। इसी कारण, ऐसा करनेके लिये ही मेरा अवतार है।' ऐसा कहते हुए उन्होंने किशोरीदासजीको फटकार दिया। इस घटनासे हमें अब निश्चितरूपसे इतना पता लग गया कि क्यों महाराज काशिराज तथा अन्य रामायणियोंने 'गङ्गाकथा' आदि बड़े-बड़े क्षेपकोंको अलग रखा और उनके बढ़ाये हुए स्फुट दोहे और चौपाइयोंको भी नहीं ग्रहण किया। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाके सम्पादकोंके आश्चर्यका समुचित उत्तर इसी घटनामें है।(इसी पृष्ठकी टिप्पणी देखिये)। श्रीकिशोरीदासजी, (विप्र किशोरीदत्त) श्रीअल्पदास योगीन्द्र खाकी बाबा (मानसकल्लोलिनीके कर्त्ता), परमहंस श्रीरामप्रसादजी (मानसरसविहारिणीके कर्त्ता), पं० शिवलाल पाठकजी (मानस-मयङ्कके कर्त्ता) पं० शेषदत्तजी, पं० जानकीप्रसादजी तथा भक्त कोदोरामजी, इन्हीं महानुभावोंने मानसके शुद्ध पाठकी रक्षा प्राणपणसे की है। इसी तरह पं० श्रीरामगुलाम द्विवेदीजी, लाला छक्कनलालजी, श्रीभागवतदासजी क्षत्रिय, पाँड़े रामवक्सजी, कविवर गोपालदासजी, महात्मा श्रीजानकीप्रसादजी (मानस-परिचर्य्याके कर्त्ता), स्वामी देवतीर्थ (श्रीकाष्ठजिह्वाजी); महात्मा हरिहरप्रसादजी तथा महाराज काशिराजने क्षेपकरहित शुद्ध पाठकी रक्षा बहुत की है। इन्हीं सज्जनोंकी कृपासे आज हमें पाठ करनेके लिये मानसकी शुद्ध प्रति मिल रही है। तीसरी बात। 'काढ़ि विनय पदचारि······माँझ मेलि।' रामनगर (बनारस स्टेट) में जो विनयपत्रिकाकी प्राचीन हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है उससे और मुद्रित प्रतियोंके मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कौन-से चार पद विनयपत्रिकाके निकालकर गीतावलीमें सम्मिलित किये गये। और द्वितीय श्रीतुलसीदासजीने जो अपना पद विनयपत्रिकामें प्रविष्ट किया वह 'श्रीजानकीस्तव' दण्डक है—

---

[*] काशीकी प्रतिमें 'वैदेहि रामप्रसादतें जन सर्वदा सुख पावहीं' इस छन्दके आगे निम्नलिखित छन्द अधिक दिये हैं जो और किसी प्रतिमें नहीं पाये जाते, मालूम होता है कि इन्हीं तुलसीदासजीके मिलाये हुए हैं—

छं०—सुनु गाइ कहउँ गिरीसकन्या धन्य अधिकारी सही।
नित प्रीति नूतन सुनत हरिगुन भगति अनुपम तैं लही॥
रघुवीर-पद अनुराग-जल लोभागि वेगि बुझावही।
एहि जानि तुलसीदास मन क्रम वचन हरिगुन गावई॥
दो०—कठिन काल मल ग्रसित मन साधन कछू न होइ।
यह विचारि विस्वास करि हरि सुमिरे बुधि सोइ॥
सो०—मन हरिपद अनुरागु करहि त्यागु नाना कपट।
महामोह निसि जागु सोवत बीते काल बहु॥

[†] अरण्यकाण्डान्तर्गत काशीकी प्रतिमें ये दो चौपाइयाँ अधिक हैं जो अन्य प्राचीन प्रतिमें नहीं हैं—

'सींक धनुष सायक संधाना' के आगे—

'बिनु पराध प्रभु हतइ न काहू। अवसर परे ग्रसइ ससि राहू॥
जब प्रभु लीन्ह सींक धनु-बाना। क्रोध जानि भा अनल समाना॥'

इसी तरह—

'तिमि तिमि धावत राम सर, पाछे परम प्रवीन।'

—के आगे काशीकी प्रतिमें ये चार चौपाइयाँ हैं—

'बचहिं उरग बरु ग्रसे खगेसा। रघुपति सर छुटि बचन अँदेसा॥
नारद देखा विकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥
दूरिहि तें कहि प्रभु प्रभुताई। भजे जात बहु विधि समुझाई॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही॥'

पुनः—

'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहु तजइ मति मोरि।'

—के आगे काशीकी प्रतिमें इस प्रकार पाठ है—

'जनम जनम प्रभु तव पद कंजा। बढ़उ प्रेम चकोर जिमि चंदा॥
देखि राम मुनि विनय प्रनामा। बिबिध भाँति पायेउ विश्रामा॥'
* अनसूयाके पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील विनीता॥
जो सिय सकल लोक सुख दाता। अखिल लोक ब्रह्मांडकी माता॥
तेउ पाइ मुनिवर मुनि भामिनि। सुखी भई कुमुदिनि जिमि जामिनि॥
* रिषि-पतिनी मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई॥
* दिव्य बसन भूषन पहिराये। जे नित नूतन अमल सुहाये॥
जाहि निरखि दुख दूरि पराहीं। गरुड़ जानि जिमि पन्नग जाहीं॥
ऐसे बसन विचित्र सुठि दिये सीय कहुँ आनि।
सनमानी प्रिय बचन कहि प्रीति न जाइ बखानि॥

इसपर महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० सुधाकर द्विवेदी आदि 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' के सदस्योंने अपने सम्पादित श्रीरामचरितमानसके संस्करण पृ० ३०९ टिप्पणीमें लिखा है—

'आश्चर्य है कि काशीकी 'शुद्ध' प्रतिके रहते भी महाराज काशिराजने अपने 'परिचर्यापरिशिष्टप्रकाश' में इन पंक्तियोंको नहीं ग्रहण किया। अन्य प्राचीन पुस्तकोंमें भी उन पंक्तियोंको छोड़कर जिनपर * चिह्न दिया गया है, ये पंक्तियाँ नहीं हैं। इन पंक्तियोंमें यतिभङ्ग हैं और ये निष्प्रयोजन भी जान पड़ती हैं।'

‘जयति जय जानकी भानुकुल भानुकी ,
प्राण-प्रिय वल्लभा तरणि भूपे ।

यह पद अब सभी संशोधित और सुसम्पादित संस्करणोंसे निकाल दिया गया है और आदिसे ही विद्वान् लोग इसको क्षेपक कहते आये हैं । चौथी बात । स्फुट गीत-काव्य और ‘जानकीविजय’ । साधारण जनतामें विशेषतः युक्तप्रान्त और बिहारमें बहुत-से गीत गोस्वामीजीके नामसे प्रचलित और प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे न तो विनयपत्रिकामें हैं और न दोनों गीतावलियोंमें, जैसे—‘भजु मन राम चरन दिन राती ।’ ‘भजु मन दसरथसुत अवधेशू ।’ ‘राम शैनारे चले’ आदि। मालूम होता है कि ये स्फुट पद द्वितीय श्रीतुलसीदासजीके ही निर्मित हैं । और ‘जानकीविजय’ जो ‘कल्याण’ के किसी पिछले अङ्कमें गत वर्ष सटीक मुद्रित हो चुका है, वह भी इन्हीं महात्माकी कृति है । पाँचवीं बात । देवी रत्नावलि-प्रसङ्ग । गोस्वामीजीके भिन्न-भिन्न चरित्रलेखकोंने बिल्वमङ्गलजीके कथांशकी तरह रत्नावलीजीकी कथाको भी शामिल किया है और लिखा है कि गोस्वामीजी बुढ़ौतीमें जब घर गये तब उनकी स्त्री मिली । उन्होंने गोस्वामीजीकी खरियामें कुछ मिर्च-मसाले, कर्पूर आदि पदार्थ देखकर कहा—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग ।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग ॥

इसपर खीझकर गोस्वामीजी सब छोड़कर चल दिये । अब, कविवर गोकुलदासजीकी कृपासे विदित हुआ कि रत्नावलीजी द्वितीय श्रीतुलसीदासजीकी स्त्री थीं । जब वे काशीजीसे वृद्धावस्थामें अपनी जन्मभूमि देवीपाटनमें गये, तब रत्नावलीजीने उपर्युक्त व्यङ्ग्य वचन कहकर उन्हें स्थान त्यागकर भैंसहवामें जानेके लिये बाध्य किया था ।

सोरोंवाले श्रीतुलसीदासजी

श्रीवन्दनजी कहते हैं कि जन्मसे ही इनका नाम तुलसीदास था । ‘गुलदिस्तए बेदिल’ में लिखा है कि जब गोस्वामीजी सोरों गये थे, तब अत्यन्त वृद्धावस्थाके कारण गङ्गास्नान करते हुए उनका पैर कीचड़में फँस गया था और गङ्गाजीने स्वयं प्रकट होकर बाँह पकड़कर, उन्हें पङ्कसे निकाला था । इस चरितसे आकर्षित होकर वहाँका निवासी एक ब्राह्मण आया । उसने गोस्वामीजीसे एक पुत्रके लिये प्रार्थना की, क्योंकि वह सन्तानहीन था । गोस्वामीजीने वर दे दिया । तदनुसार जब उसे एक पुत्र हुआ तो उसने उसका नाम ‘तुलसीदास गोसाईं’ रक्खा । उस वंशके लोगोंमें गोसाईं पदवी रूढ़ हो गयी, जो अबतक प्रचलित है । ये तीसरे तुलसीदासजी भी सयाने होनेपर विरक्त हो गये और मानसके अधिकारी हुए । इटावा, फ़र्रुखाबादकी तरफ़ इन्हींने कथा कहकर मानसका प्रचार किया । इन्होंने ‘छप्पै रामायण, कुण्डलिया रामायण, छन्दावली रामायण और कड़खा रामायण’की रचना की थी । इनकी ये पुस्तकें सुप्रसिद्ध तिलककार बैजनाथजीकी टीकासहित सन् १८९४ ई० में नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊमें मुद्रित हुई थीं , अनन्तर, उक्त बैजनाथजीको, फतेहपुरके रहनेवाले उन्हींके सम्बन्धी प्रेमी शङ्करदासजी हैदरगढ़ (बाराबङ्की) में मिले । उनके द्वारा ‘तुलसी-तत्त्व-प्रकाश’ नामक एक हस्तलिखित पुस्तिका मिली, जिसमें, सोरोंवाले तुलसीदासजीका चरित था । उसमें उन्हींके वंशधर कविवर जानकी गोसाईंने लिखा था कि गोस्वामीजीका सङ्कल्प ४९ काण्ड रामायण लिखनेका था अर्थात् सप्तकाण्ड-समन्वित सात रामायण लिखनेका विचार था । उसमेंसे २१ काण्ड अर्थात् तीन रामायणें—मानस, गीतावली और कवितावली—लिख पाये थे शेष २८ काण्ड अर्थात् चार रामायणोंकी रचना करनेके लिये उन्होंने सोरोंमें फिर अवतार लिया । यह वार्ता स्वयं टीकाकार श्रीबैजनाथजीके मुखसे बड़ी छावनी, श्रीअयोध्याजीमें मैंने सुनी थी ।

हाथरसवाले श्रीतुलसीदासजी

इनको पन्थाई भाई ‘तुलसी साहब’ भी कहते हैं। इनकी रची हुई ‘घटरामायण’ प्रकाशित और प्रसिद्ध हो चुकी है । प्रयागके ‘बेल्वेडियर-प्रेस’ से, स्फुट कतिपय पद्योंके साथ जो इनकी संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई है, उसमें लिखा हुआ है कि तुलसी साहबने अपने पूर्व जन्ममें मुग्ध जनताको उपदेश देनेके लिये श्रीरामचरितमानसकी रचना की थी। अब ज्ञानियों और अभ्यासियोंको उपदेश देनेके लिये फिर हाथरसमें जन्म लिया और घटरामायण आदिकी रचना की। अर्थात् श्रीतुलसी साहब गोस्वामीजीके अवतार थे ।

अस्तु, उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि तीनों महानुभाव अपनेको गोस्वामीजीका अवतार मानते थे और उन्होंने जो कुछ किया इसी बुद्धिसे किया । अयोध्या, बड़ा स्थानके प्रवर्त्तक, वैंदी वैष्णवोंके आचार्य श्रीस्वामी रामप्रसादजीका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमीको विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीमें हुआ था और वे मानसके ज्ञाता और प्रचारक हुए हैं । उनके अनुयायी भी उनको गोस्वामीजीका अवतार मानते हैं। उनके विषयमें यह दोहा प्रसिद्ध है—

‘बाल्मीकि तुलसी भये, तुलसी रामप्रसाद ।’.

पवित्र जीवनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

समयके सदुपयोगके नियम और उनके लाभ

यदि तुम्हें अपने कामसे अधिक अवकाश नहीं मिलता तो काम करते-करते जब कभी तुम्हें थोड़ा-बहुत अवकाश मिले तो उसी समय प्रभुकी उपासनाके निमित्त बैठ जाओ । तुम इसके लिये अधिक समय नहीं दे सकते, इस बातकी चिन्ता न करो । तुम्हारी थोड़ी ही देरकी सच्चे हृदयसे की गयी प्रार्थना मालिकके दरबारमें तुम्हारी परिस्थिति देखकर स्वीकार कर ली जावेगी । विश्वास रक्खो, प्रभु सर्वव्यापक हैं । उनके दरबारमें अन्यायके लिये तो स्थान ही नहीं है । तुम्हारी इस प्रकारकी बीच-बीचकी प्रार्थनाएँ तुम्हारे मार्गमें तुम्हें बहुत सहायता प्रदान करेंगी ।

तुम ऐसा ही कार्य अथवा व्यवसाय करो जो तुम्हारी अवस्था और विवेकके अनुकूल हो । वह ऐसा न हो जो तुम्हारी अवस्थाके प्रतिकूल हो, असत्पुरुषोंके करनेका हो अथवा जिससे नादानी झलकती हो । यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ऐसे अनेकों आलसी अथवा मूर्ख पुरुष मिल जावेंगे जो सारे दिन व्यर्थके कामोंमें लगे दीख पड़ते हैं । यद्यपि हम देखते हैं कि वे सारे दिन काम करते हैं, परन्तु जब हम उस कार्यका मूल्य आँकने बैठते हैं तो हमें पता चलता है कि उनके सारे दिनके सब कामोंका मूल्य कुछ भी नहीं है । उनके सारे काम सारहीन और व्यर्थतासे पूर्ण होते हैं । ऐसे कामोंसे क्या लाभ ? उनका करना, न करना बराबर । अतः तुम इस बातका सदैव ध्यान रक्खो कि कहीं तुम भी तो इसी प्रकारके निःसार और व्यर्थ कामोंमें अपना समय नष्ट नहीं कर रहे हो । प्रत्येक क्षण बड़ा मूल्यवान् है । यदि तुम्हें जीवनसे प्रेम है तो कोई भी क्षण बेकार न जाने दो, किसी भी क्षणका दुरुपयोग न करो, क्योंकि इन्हीं क्षणोंसे तो जीवन बना है । कोई भी क्षण ऐसा न जाने दो जो प्रभुके पास इस विषयका सन्देश ले जावे कि तुमने यह क्षण बेकार खोया अथवा बुरे कार्यमें उसका उपयोग किया । स्मरण रक्खो कि 'सुबह होती है, शाम होती है—उम्र यों ही तमाम होती है ।'

अतएव तुम अपने लिये उपयुक्त कार्य ही चुनो । अनुपयुक्त कार्योंमें अपना समय नष्ट न करो, अन्यथा परिणाममें भीषण पश्चात्ताप करना होगा । अनावश्यक और अनुपयुक्त कार्योंमें समय खोना महान् मूर्खता है ।

जो कार्य करो अपनी योग्यता और परिस्थितिके अनुकूल ही करो । ज़रा सोचो तो कि यदि कोई राजा चूहे पकड़नेमें, सुइयाँ खोजने अथवा लालटेन बनानेमें अपने समयको नष्ट करे तो हम उसे क्या कहेंगे ? यदि कोई पुजारी बाज़ारमें तरकारी खरीदनेमें ही अपने समयका अधिकांश भाग व्यतीत करे तो उसके प्रति हमारी भावनाएँ क्या होंगी ? राजाका कार्य है शासनका कार्य वहन करना और पुजारीका पूजा करना । ये इन लोगोंके मुख्य कर्तव्य हैं । यदि ये अपना अधिकांश समय इनमें न व्ययकर इनसे कम आवश्यक कार्योंमें लगाते हैं तो ये अपने कर्तव्यसे तो च्युत होते ही हैं, समयका भी महान् दुरुपयोग करते हैं । तुम इस विषयमें पूर्ण सतर्क रहो । जो कार्य तुम्हारी योग्यता और परिस्थितिके अनुकूल हो उसे ही करो, किसी प्रकारके व्यसनमें न

फँसो और जिस कार्यमें जितना समय लगाना आवश्यक है उसमें उतना ही समय लगाओ । कम-अधिक नहीं । इस प्रकार तुम समय नष्ट करनेसे बच सकोगे ।

तुम्हारा व्यवसाय ऐसा हो जो तुम्हारे धर्मानुकूल हो । उसमें अधर्मका, पापका लेश भी न हो । पाप करनेवाला ही केवल पापी नहीं होता, पापके साधन जुटानेवाला भी उसका भागी होता है । इसीलिये कहा गया है कि पापसे असहयोग करो । उसके साधनोंसे सर्वथा दूर रहो । उनकी कल्पनातक न करो । जो मनुष्य किसी पापपूर्ण व्यवसायमें अपनेको संलग्न बनाये रखता है, किसी अपवित्र व्यापारमें दत्तचित्त रहता है, दूसरोंकी कामवासना, भोग-विलासके सहायक सामानोंके जुटानेमें लगा रहता है अथवा किसी ऐसे पदार्थकी दूकान रखता है जिसका पापसे सम्बन्ध है—वह हद दर्जेका आलसी व्यक्ति है । इस प्रकारके कामोंमें व्यतीत किया गया प्रत्येक क्षण उसे पतनकी ओर अग्रसर करता है । अतः प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने व्यवसायको इस कसौटीपर कस ले तथा यदि अपने व्यवसायका पापसे लेशमात्र भी सम्बन्ध पावे तो उसी क्षणसे चेत जावे तथा उससे पूर्णतया अलग रहनेका प्रयत्न करे और बचे हुए जीवनको पवित्रतासे बितानेका दृढ़ संकल्प कर तदनुसार कार्यमें लग जावे ।

जो लोग शिक्षित हैं तथा भली स्थितिके हैं उन्हें तो अपने समयकी और भी अधिक सावधानी रखनी चाहिये । वे समयके मूल्यको तो समझते ही हैं । यदि तब भी वे उसका सदुपयोग नहीं करते तो उनकी शिक्षा कौड़ी कामकी नहीं । वह शिक्षा शिक्षा ही नहीं कही जा सकती जो किसी व्यक्तिको समयका सदुपयोग करना नहीं सिखाती, नम्र, सुशील और जितेन्द्रिय नहीं बनाती । समयका सदुपयोग करना न जाननेवाले शिक्षित व्यक्ति वास्तवमें अभागे हैं, किन्तु उनसे भी अधिक अभागे वे हैं जो अपनी लापरवाहीके कारण दुष्टोंकी संगतिमें जा पड़ते हैं तथा अपने समयको पापोंमें लगाकर अपने हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारते हैं ।

'काहूँ सुमति कि खल सँग जामी ?' अतएव शिक्षितोंका कर्तव्य है कि यदि भूलसे अथवा जान-बूझकर वे किसी इस प्रकारकी संगतिमें पड़ गये हैं तो तुरंत ही उससे सम्बन्धविच्छेद कर लें तथा अपना सारा समय सत्कर्मोंमें ही लगावें । क्षण-क्षणका सदुपयोग करें । जो लोग अशिक्षित हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने लिये अच्छी मित्रमण्डली खोज निकालें जो भूलकर भी उन्हें कुमार्गपर न ले जावे वरं उनकी भूलोंको अच्छी सलाहके द्वारा सुधारकर उन्हें सत्पथपर आरूढ़ करे । सब प्रकारसे उनका कल्याण चाहनेवाली हो । सबसे पहले उन्हें सरल तथा लाभदायक बातें सीखनी चाहिये, देशकी रीति-रिवाजोंको जान लेना चाहिये, अक्षरज्ञान प्राप्तकर देश-विदेशके इतिहासका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये, अपनी और अपने समाजकी अवस्थाका समाचार जान लेना चाहिये, देशकी आर्थिक अवस्था, दुखी, दीन, अपाहिजोंके सहायतार्थ खुले हुए आश्रमों आदिकी दशाका परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये, उन्हें अपने कुटुम्बका पालन-पोषण और शासन करना सीख लेना चाहिये, अपने पड़ोसीकी आवश्यकताओंका ज्ञान प्राप्तकर उन्हें यथासाध्य पूरी करनेका प्रयत्न करना चाहिये । उन्हें व्यर्थकी मुकदमेबाज़ीसे बचना चाहिये । उन्हें समयका सदुपयोग करना सीखना चाहिये तथा धर्मके आन्तरिक रहस्य, मानवजीवनके वास्तविक लक्ष्य—प्रभुसाक्षात्कार—को समझ उसकी प्राप्तिके हेतु उपायोंमें लगकर जीवनको पूर्णरूपेण पवित्र बनानेमें दत्तचित्त हो जाना चाहिये । शिक्षित लोगोंको

चाहिये कि अपने अवकाशके समय वे अशिक्षितोंको इस प्रकारकी शिक्षा दें जिसके फलस्वरूप उनका कल्याण हो। इस प्रकारकी शिक्षामें वे जो समय लगावेंगे वह व्यर्थ न जावेगा। उससे अशिक्षितोंका तो कल्याण होगा ही, उनका अपना भी कल्याण होगा। वे प्रभुसेवाके इस मार्गको भी जान जायँगे।

स्त्रियोंको भी चाहिये कि इन नियमोंका पालन करें। उन्हें भी समयके सदुपयोगकी उतनी ही चिन्ता करनी चाहिये जितनी कि पुरुष करें। परिवारके सभी प्राणियोंसे प्रेम, उनकी यथाविधि सेवा, गृहस्थीके अन्य कार्योंकी ओर पूरा ध्यान रखना, समय प्राप्त होते ही दीनोंकी यथाशक्ति सेवा करना, भूखोंको भोजन तथा नंगोंको वस्त्र देना, अतिथि-अभ्यागतोंकी भली प्रकार सेवा-शुश्रूषा करना, पड़ोसियोंसे तथा प्राणीमात्रसे प्रेमका व्यवहार करना, सत्शास्त्रोंका पठन-पाठन, धर्मके वास्तविक रहस्योंका ज्ञान प्राप्त करना और तदनुसार बर्तना, पतिकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करना, शुभ कार्योंको करनेके लिये सदैव सचेष्ट रहना—आदि-आदि स्त्रियोंके जितने कर्तव्य हैं उनका सम्यक् ज्ञान प्राप्तकर तदनुसार अपना आचरण बनाकर अपने जीवनको पवित्र बनाना चाहिये। इन सारे कार्योंमें उन्हें सदैव संलग्न रहना चाहिये। क्षणभर भी व्यर्थ न खोना चाहिये। मानवजन्म ही सेवाके लिये प्राप्त हुआ है। जीवनकी क्षणभंगुरता भूल जाओ। उसका क्षण-क्षण प्रभुसेवार्थ लगा दो।

भोजन और वस्त्रोंमें नाजुकबदनी, अच्छेपन और स्वाद आदिकी ओर तो क़तई ध्यान न दो। इस बनाव, शृंगार, सजावट, स्वाद आदिमें—जैसे बाल काढ़ने, फैशनेबुल पोशाक पहनने, चटपटे तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वादिष्ट भोजनादिकी व्यवस्थामें—तुम्हारा बहुत-सा बहुमूल्य समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है। उस समयको यदि तुम बचा सको तो उसीका उपयोग तुम प्रभुकी प्रार्थना या उपासनामें भली प्रकार कर सकते हो। अतएव प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह भोजन, वस्त्र, रहन-सहनमें यथासम्भव सादगीका व्यवहार करे। इसका प्रयोग कुछ कठिन नहीं है और यदि, मान लो, कठिन भी हो तो कल्याणकामीको संकटोंसे डरना क्या? उसे तो आपत्तियोंहीसे भुजदंड ठोककर भिड़ना है, कठिनाइयोंसे द्वन्द्वयुद्ध करना है—उसके सम्मुख इन सब बातोंका क्या मूल्य? क्योंकि भगवान्‌का मार्ग वीरोंके लिये है, कायरोंके लिये नहीं। इस अभ्याससे हमें प्रार्थनाके लिये अधिक समय मिलने लगेगा, साथ ही हम बहुत-सी व्यर्थकी झंझटोंसे बच जायँगे।

'जिस राह नहीं जाना उसके कोस क्यों गिनना?' जिन विषयों, जिन बातोंसे तुम्हारा सम्बन्ध नहीं, उनमें हस्तक्षेप करनेकी तुम्हें जरूरत ही क्या? परायी चर्चामें समयका उपयोग करना उसका व्यर्थ खोना नहीं तो और क्या है? इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम पड़ोसीकी आवश्यकताओंकी ओर भी ध्यान देना छोड़ दें। पड़ोसीका सम्बन्ध तो हमसे है ही। हम हैं, तो पड़ोसी भी है। उसके दुःखमें शामिल होना हमारा कर्तव्य है। दूसरोंकी सेवा या सहायताका जहाँतक सम्बन्ध है वहाँतक तो हम इन विषयोंपर भली प्रकार विचार कर सकते हैं, पर बेकारोंकी भाँति यहाँ-वहाँ घूमकर जिस किसीकी जो कोई भली-बुरी बात लेकर उसपर टीका-टिप्पणी करने बैठ जानेसे हमारा मतलब है—इसीको 'परचर्चा' कहते हैं। इन बातोंसे न हमारा लाभ होता है, न उसका जिसकी बातोंको लेकर हम वाद-विवाद, टीका-टिप्पणी करने बैठ जाते हैं। इसमें लगनेवाला हमारा सारा समय व्यर्थ चला जाता है। इससे सर्वथा बचो। यथासाध्य मौन रहो। जब बिना बोले बने ही नहीं

तभी बोलो । अतः जब बोलो तब या तो रामकी बात बोलो या कामकी ।

जहाँतक बन सके सारे अनावश्यक और व्यर्थके कार्योंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लो । तुम अनेकों बार केवल मन बहलानेके लिये किसीसे गप्पें करने लग जाते हो, जहाँ बिना गये भी तुम्हारा काम चल सकता है ऐसी यात्राएँ कर डालते हो, अनावश्यक सभाओंमें सम्मिलित हो जाते हो, किसी विशेष आवश्यक कामके न होते हुए भी बड़े लोगोंकी प्रतीक्षामें घंटों बैठे रहा करते हो—इस प्रकारके कार्योंसे तुम बड़ी अच्छी तरह अपना पिण्ड छुड़ा सकते हो । ऐसे सारहीन कामोंसे लाभ तो कुछ होता नहीं, तुम्हारा अमूल्य समय नष्ट होता है । अतः ऐसे कार्योंसे बिलकुल छुट्टी ले लो ।

तुम्हारा मनोरञ्जन ऐसा होना चाहिये जिसमें समयका अपव्यय न हो । तुम ऐसा ही खेलकूद पसंद करो जिसमें कम समय लगे और वह स्वास्थ्यवर्धक और आनन्दप्रद हो तथा जिसके द्वारा तुम्हें प्रतीत हो कि तुम स्फूर्ति और ताजगी प्राप्त कर रहे हो । किन्तु इसे तुम अत्यावश्यक काम न समझ बैठो । इसमें भूल करके भी अधिक समय व्यय न करो । जो व्यक्ति खेल-कूदमें अपना बहुत-सा समय व्यय करता है उसकी हालत उसी मनुष्यकी-सी है जिसकी सारी पोशाक केवल फुँदनोंकी बनी हो और जिसके भोजनमें तरह-तरहकी चटनियोंके सिवा और कुछ न हो ! वह भला क्या पहनेगा और क्या खायगा ? खेल-कूदमें अधिक समय व्यय कर देनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होता । अतः ऐसे खेल जिनमें अधिक समय व्यय होता हो एकबारगी छोड़ दो । उनके स्थानपर ऐसे ही खेल अपना लो जो थोड़े ही समयके भीतर तुम्हें यथेष्ट स्फूर्ति प्रदान कर सकते हों ।

अपने दैनिक कार्योंमें प्रभुकी प्रार्थना और उपासनाके निमित्त प्रातः-सायं कुछ समय अवश्य निश्चित कर दो । कितनी भी आवश्यकता क्यों न आ पड़े, उसमें बाधा न पड़ने दो । चाहे कितना ही आवश्यक काम आ पड़े, प्रातःकाल और सायंकाल अवश्य ही प्रार्थना करो । प्रार्थना करनेसे कभी न चूको । इसके लिये तो इतना दृढ़ नियम बाँध लो कि संसारकी कोई भी शक्ति तुम्हें इससे विचलित न कर सके । थोड़े ही दिनोंमें इसका अभ्यास पड़ जायगा और फिर तो तुमसे समयपर प्रार्थना किये बिना रहा ही न जायगा ।

प्रभुका कोई भी कार्य इस प्रकार मत करो जैसे बेगार टाली जाती है । इस प्रकारकी प्रार्थनाका कोई मूल्य नहीं । जब तुम्हारा हाथ प्रभुकी प्रार्थनाके निमित्त ऊपरकी ओर उठा हो तो उसीके साथ इस बातकी भी आवश्यकता है कि तुम्हारा मन उस समय पृथ्वीपर न घूमता रहे, प्रत्युत तुम्हें जान लेना चाहिये कि सारे सांसारिक कार्योंकी अपेक्षा प्रभुकी उपासनाका मूल्य सहस्रों गुना अधिक है । तुम्हारे जीवनका सबसे आवश्यक कार्य तो यही है । कबीरदासजी कहते हैं—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुआँ तो चहु दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥

एक बार औरंगज़ेब जंगलमें गया हुआ था । नमाज़का वक्त था । जानमाज़ फैलाकर नमाज़ पढ़ने लगा । थोड़ी देरमें एक स्त्रीने दूरसे अपने प्रेमीको आते देखा । वह उससे मिलनेको दौड़ पड़ी । उसे ध्यान न रहा कि रास्तेमें बादशाह नमाज़ पढ़ रहा है । वह उसके जानमाज़के ऊपरसे दौड़ती हुई जा निकली । बादशाहको यह देखकर बड़ा क्रोध आ गया; पर नमाज़ पढ़ रहा था, इसलिये कुछ न बोला । थोड़ी देरमें नमाज़ खतम हुई । तबतक उसने देखा कि वही स्त्री अपने प्रियतमके साथ बड़े प्रेमसे बातें करती आ रही

है । बादशाहने कहा—'क्यों री बदज़ात, अभी इधरसे जाते हुए तूने यह तक न देखा कि मैं नमाज़ पढ़ रहा हूँ और मेरे जानमाज़पर पैर रखती हुई तू चली गयी !' स्त्री बोली, 'जहाँपनाह ! आप तो नमाज पढ़ रहे थे, फिर आपने यह कैसे देख लिया कि मैं आपके जानमाज़पर पैर रखती हुई चली जा रही हूँ ? जब मैं अपने सांसारिक प्रेमीके प्रेममें यह न देख पायी कि यहाँ आपका जानमाज़ बिछा है और आप उसपर नमाज़ पढ़ रहे हैं, फिर आपने कैसे देख लिया कि मैं आपके जानमाज़पर पैर रखती जा रही हूँ, आप तो उस खुदावंदकरीमसे—जिसके सामने यह सांसारिक प्रेम नहींके बराबर है—प्रेम कर रहे थे ! इससे साबित हो गया कि आप उस समय नमाज़ वगैरह कुछ नहीं पढ़ रहे थे, नमाज़का ढोंग कर रहे थे, वर्ना आपको इन दुनयावी बातोंका पता ही कैसे चल पाता ?' औरंगज़ेब लज्जासे नतमस्तक हो गया ।

प्यारे ! तुम्हारी भी प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, इस तरहकी नहीं ।

बूँद-बूँद सों घट भरै, टपकत रीतो होय ।

क्षण-क्षण करके जीवन बना है । जितने क्षण बर्बाद करते हो, समझ लो, जीवनका उतना अंश बर्बाद करते हो । यदि जीवनसे प्रेम नहीं तो जो भावे सो करो; पर, यदि तुम उससे कुछ भी प्रेम करते हो, उसका कुछ भी मूल्य आँकते हो, तो एक भी क्षण व्यर्थ न जाने दो, क्योंकि उन्हींसे तो जीवनकी रचना हुई है । घंटोंपर घंटे बीतते जाते हैं, दिनोंपर दिन निकलते जाते हैं, पर तुम्हें उनकी कुछ भी परवा नहीं ! स्मरण रक्खो—'गया वक्त फिर हाथ आता नहीं ।' अपने अवकाशका प्रत्येक क्षण प्रभुकी प्रार्थनामें लगा दो । आजका बीता घंटा तुम्हें कल वापस न मिल सकेगा । वास्तवमें उन्हीं क्षणोंका कुछ मूल्य है जो मालिककी यादमें लग जावें । क्योंकि—

शब वही शब है, और दिन वही दिन—
जो याद तेरी में गुज़र जावे !

अतः—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब ।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करौगे कब्ब ॥
(कबीर)

आधी छोड़ एकको धावै, वह भी आधी हाथसे जावै !

कहा है—

शास्त्रं ह्यनन्तं बहुलाश्च विद्या
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

सब कुछ जाननेकी इच्छा छोड़ दो । सार वस्तुको ग्रहण करो । जीवनमें भगवद्भजन ही केवल एक सार वस्तु है, उसीको मज़बूतीसे पकड़ो । छोड़ना मत । तुम्हारा इतना जीवन व्यतीत हो गया । अब पता नहीं, किस दिन, किस घड़ी मालिकके दरबारसे परवाना आ जावे । क्या तुमने उसके लिये कुछ भी तैयारी की है ? यदि नहीं, तो अब भी चेत जाओ ।

अभी समय है, अभी नहीं कुछ भी बिगड़ा है ।
देखो, अभी सुयोग तुम्हारे पास खड़ा है ॥

अभीतक तुम्हारे जीवनका अधिकांश अनेकानेक पापकर्मोंमें ही व्यतीत हुआ है । उनमें तुम बड़ी दिलचस्पी रखते रहे हो । उनमें तुम्हें बड़ा मज़ा आता रहा है ! पर ज़रा सोचो तो कि वास्तवमें वह असली मज़ा है ! अभीतक तुम बड़े धोखेमें रहे । अस्तु, यदि अब भी चाहो तो अब भी अपना कल्याण कर सकते हो । पर उसके लिये तुम्हें एक काम अवश्य करना पड़ेगा और वह यह कि—पापोंका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा । पापी और मलिन आत्मा लेकर प्रभुके दरबारमें किसीकी पहुँच नहीं होती । वहाँ तो केवल पवित्र और सच्चोंहीकी पहुँच है ।

अबतक तुम पापाचारमें जो समय नष्ट करते रहे उसके मुखको फेर दो। उसी समयको पुण्यकार्योंमें लगाना आरम्भ कर दो। सेवाके कार्योंमें उसका उपयोग करने लगो। इस प्रकार तुम देखोगे कि तुम्हारा समय अपव्यय होनेसे तो बच ही जायगा, साथ-ही-साथ उसका इतना सुन्दर सदुपयोग हो रहा है जो तुम्हारे कल्याणके लिये अत्यावश्यक है।

जो लोग दिन-रात अपने व्यापारमें संलग्न रहते हैं उन्हें चाहिये कि सालभरमें वे कुछ समय एक या दो मास ऐसा अलग निकाल लें जिसमें वे जगत्के सारे बखेड़ोंको छोड़कर केवल प्रभुकी उपासना ही करें। व्रत, उपवास, पश्चात्ताप, प्रार्थना, उपासना, जप, तप आदि ईश्वराभिमुखी कार्योंमें ही उसे लगावें। सच्चे दिलसे सन्मार्गपर ले जानेवाली प्रतिज्ञाएँ करें और सदैव उन्हें पालन करनेका ध्यान रक्खें। प्रभुसे प्रार्थना करें कि हे प्रभु! मुझे सदैव सत्पथपर आरूढ़ बनाये रह। कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गपर ले चल, अन्धकारसे निकालकर प्रकाशमें ले चल और मृत्युकी विभीषिकासे बचाकर मोक्षकी प्राप्ति करा।'

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मामृतं गमय॥

आत्मनिरीक्षण मनुष्यको उन्नत बनानेवाली एक अत्यन्त अद्भुत वस्तु है। रात्रिको जब सोने जाओ तो सारे दिनके कार्योंका भली प्रकार निरीक्षण कर जाओ। सारे दिनमें तुमने कौन-सा अच्छा काम किया? किस-किसके प्रति सद्व्यवहार किया, किसका दिल दुखाया है? कितना और कहाँ-कहाँ असत्य बोला है? किस-किसपर क्रोध किया है? किस-किससे द्वेष किया है? आदि-आदि सब बातोंपर एक न्यायपरायण समालोचककी भाँति एक गम्भीर दृष्टि डाल जाओ। यदि तुमसे कोई अच्छा कार्य बन पड़ा हो तो उसके लिये प्रभुको धन्यवाद दो कि उसने यह कार्य तुम्हारेद्वारा कराया, यह तुम्हारे बड़े सौभाग्यकी बात है। सारे दिनमें तुमने जो-जो बुरे कार्य किये हों उनके लिये सच्चे दिलसे पश्चात्ताप करो और भविष्यमें वैसा न करनेके लिये प्रभुके समक्ष प्रतिज्ञा करो। यदि व्यर्थके वार्तालाप, अनावश्यक सभा-समितियों, नाच-तमाशों, नाटक-थियेटरों, सिनेमाओं आदिमें जाकर अथवा कुत्सित मित्रमण्डलीके साथ रहकर कुछ भी समय बर्बाद किया है तो उसके लिये भी सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करो और भविष्यमें एक भी क्षण इस प्रकार न खोनेकी प्रतिज्ञा करो। विचारो कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है। तुम उसका किस हदतक पालन कर रहे हो? तुम्हारे अन्दर क्या-क्या बुराइयाँ घुस पड़ी हैं? उन्हें निकाल बाहर करनेकी तुम कहाँतक चेष्टा कर रहे हो? तथा उसमें किस हदतक सफलता प्राप्त कर रहे हो? तुम्हारे भीतर किन-किन सद्गुणोंकी कमी है? उन्हें तुम किस हदतक अपनाचुके हो? इस प्रकार करते-करते तुम देखोगे कि थोड़ेसे समयके भीतर ही तुम्हें बड़ा लाभ हो रहा है। धीरे-धीरे तुम्हारी बहुत-सी कुटेवें छूट रही हैं, सद्गुणोंका विकास हो रहा है। बहुत-सी व्यर्थकी अनावश्यक चिन्ताएँ छूट रही हैं। तुम उत्तरोत्तर उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहे हो। जो कार्य करते हो खूब सोच-विचारकर करते हो। आत्मोन्नतिका यह सर्वोत्तम सोपान है।

इन सब नियमोंका बड़ी सावधानी और लगनके साथ पालन करो। सन्देह और टालनेकी दृष्टिसे इनका पालना, न पालना एक-सा है। यह नियम प्रत्येक मनुष्यके लाभके लिये ही है—पर ये ईश्वरीय आज्ञाएँ नहीं हैं जिनका अक्षरशः पालन आवश्यक हो। प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि अपनी सुविधाके अनुसार इनमेंसे अधिक-से-अधिक नियमोंका पालन करे। इनका तात्पर्य केवल यह है कि अधिक-से-अधिक समय प्रभुसेवार्थ लगाया जा सके और जीवनको

पवित्र बनाया जावे। हम चाहें तो इनमें थोड़ा-बहुत फेरफार भी कर सकते हैं। एकाध नियम घटा-बढ़ा सकते हैं पर हमें अपने लक्ष्यको किसी भी हालतमें न भूलना चाहिये। उसीके लिये तो यह सब प्रयत्न किये जानेकी प्रार्थना है।

इन नियमोंसे लाभ

१–हम आलस्यके फंदेमें पड़कर जिन छोटे-छोटे अनेक पापों—जैसे झूठ बोलना, चापलूसी करना आदि–के शिकार बन जाते हैं, उनसे बचेंगे।

२–शारीरिक पापोंसे हमारी रक्षा होती है तथा हम ऐसे भी बहुत-से पापोंसे बच जाते हैं जो पेट भरे रहनेपर अथवा बेकार रहनेपर मनुष्यसे बन जाया करते हैं।

३–हमारे जीवनोंमें जो अनियमितता आ गयी है तथा हमसे जो छोटे-छोटे अनेक पाप दिन-प्रतिदिन होते रहते हैं और हमारी मोटी दृष्टिमें आतेतक नहीं–इन नियमोंसे उनपर खूब सतर्क दृष्टि पड़ने लगती है और हम सहज ही उनसे बच जाते हैं।

४–हम केवल बुरे कर्मोंसे बचना ही नहीं सीखते प्रत्युत उनके स्थानपर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होने लगते हैं। जीवन उत्तरोत्तर सुधरने लगता है और पवित्र होता जाता है।

५–सत्पथपर आरूढ़ हो जानेके कारण हम निर्भय होते जाते हैं तथा किसी भी समय मृत्यु अथवा किसी भी भारी विपत्ति अथवा परिवर्तनका सामना करनेके लिये प्रस्तुत बने रहते हैं, जहाँ पाप नहीं वहाँ भय कैसा? इन नियमोंके पालनसे हम पापोंसे पूर्णतया पृथक् होना सीख जाते हैं, पवित्र जीवनकी ओर अग्रसर होते हैं और मानवजीवनके चरम लक्ष्य–भगवत्-प्राप्तिके मार्गपर आ जाते हैं, जिसपर पहुँचना ही हमारा अभीष्ट है।

('Holy living' के आधारपर)

व्रजमें

(लेखक—कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालङ्कार')

'व्रज'–कितना मीठा शब्द है! सुधाके अपार समुद्रसे माधुर्यकी निर्मल निर्झरिणीका कैसा अद्भुत सङ्गम है—जादूसे भरा, बड़ा ही आकर्षक! मानो वंशीकी विमोहिनीमें मिलकर पिकवयनी गोपियोंकी तीखी स्वरलहरी बिखरी जा रही है। अगणित तरङ्गमालाओंके संघर्षसे चूड़ियोंकी खनक, किंकिणी और नूपुरोंकी झंकार फूटी पड़ती है। कल्लोलिनीको कलकलमें मधुसूदनका मधुर जीवन खिलखिला उठता है। केवल दो ही अक्षरोंके गर्भमें सारे संसारका सार छिपा है—लालका शैशव, विहारीका विहार, लीलामयकी लीलाएँ, रसिक रँगीलेका रास-रंग!

'व्रज'–कह देनेसे सगुण ब्रह्मका पाँच हज़ार वर्ष पुराना चित्र आँखोंके आगे जगमगाने लगता है। वंशीवटकी अपूर्व छटा, गोकुल, नन्दगाँव और बरसानेकी विचित्र बहार इसीमें केन्द्रीभूत समझिये। गहवर-वनके सघन कुञ्ज, विविध लतावितान, कदम्ब और तमालोंकी स्वच्छ छवि, वन-उपवनोंके मनोरम दृश्य, हरी-हरी झाड़ियोंमें मधुपोंकी गुंजार, कोकिलाओंकी कुहू-कुहू, मयूरोंका स्वच्छन्द विहरण, यमुनाका सुरम्य तट, सुन्दर पुलिन, कूल-कछारोंके चित्ताकर्षक नज़ारे, प्रकृति-नटीकी अनूठी कारीगरी और जीवनका सच्चा आनन्द इसी नन्हे-से शब्दमें अन्तर्हित है।

'व्रज'–यह कोलाहलसे दूर, विविध झंझटोंसे परे, संसारसे सर्वथा प्रभिन्न, भगवान् श्रीकृष्णकी क्रीडा-स्थली एवं पतितपावनी पुण्यभूमि है। यहाँ सर्वत्र

शान्तिका अटल साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है । पत्ते-पत्तेसे विमल प्रेमका स्रोत, भक्तिका रँगीला रस चुआ पड़ता है । कण-कणमें राधा-माधवकी गुणगरिमा परिव्याप्त है । केलि-कुटीरोंको ओर पद-पदपर तीर्थराजका सारा माहात्म्य बिखरा फिरता है—

यहिं ब्रज केलि-निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयाग ।

—विहारी

तनिक-सी रज पड़नेसे अनेक जन्मोंके महापाप सहज ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । यह पवित्र रज मानो मुक्तिको भी मुक्त करनेवाली है—

ब्रजरज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय ।

—नागरीदास

कितने ही मनचले भक्त दिन-रात इस रजत-रजमें लोटते रहते हैं । जब देखो, उनके अन्तरात्मासे यही हूक उठती है—

मिलिहैं अँग-अँग छार ह्वै, कब बनबीथिनि धूरि ।
परिहैं पदपंकज बिमल, मेरी जीवनमूरि ॥

—ललितकिशोरी

अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी वास्तवमें यहाँ कुछ भी पूछ नहीं है । बने हुए बक्की-झक्की ब्रह्मज्ञानियोंकी भी पूरी दुर्गति समझिये । उनके रूखे-सूखे शब्द-ज्ञानकी ज़रा भी क़द्र नहीं । बेचारोंको उलटी बेगारें ढोनी पड़ती हैं—

चारि पदारथ करत मजूरी, मुक्ति भरै जहँ पानी ।
करम, धरम दोउ बटत जेंवरी, घर छावैं ब्रह्मग्यानी ॥

जो कोरा ज्ञान बघारनेकी नीयतसे आया, उसकी यही दुर्दशा हुई । उद्धवने भी योगसाधनके प्रति ज्ञानोपदेश देनेका प्रयत्न किया, पर मुँहकी खायी । सबक़ देने आये थे, सबक़ लेकर लौटे—

त्यागको जोग जहान कहै,
हम तौ तब ही चुकीं त्यागि जहानैं ।
मौत कलेसकौ लेस नहीं,
कवि 'बोधा' गुपालमें चित्त समानैं ॥
खैंचतीं पौनकौं मौन गहैं,
अरु नींद अहार नहीं उर आनैं ।
उधौ जू ! जोगकी रीति कहौ,
हम जोग ना दूजो बियोगतें जानैं ॥

माधुर्य तो मानो यहाँ प्रत्यक्ष होकर विहार करता है । सर्वत्र इसीका आधिपत्य है—बोलबाला है । ईश्वरके अटपटे नाम भी इसकी चाशनीमें पगे विना न रह सके—

ब्रजसम और न कोऊ धाम ।
या ब्रजमें परमेसुरहूके सुघरे सुंदर नाम ॥
कृष्ण नाम, यह सुनों गर्ग तें, कान्ह-कान्ह कहि बोलैं ।
बाल-केलि-रसमगन भईं सब, आनँद-सिंधु-कलोलैं ॥

—नागरीदास

यहाँकी ब्रजभाषा कड़वी और कुढंगी देववाणीसे अत्यधिक मीठी एवं मर्मस्पर्शी है । कटुता या कर्कशताका तो कोई नाम भी नहीं जानता । जिधर जाइये माधुर्य, जहाँ देखिये माधुर्य—चारों ओर मिठास ही मिठास ! आह ! जिसने यह सरस रसपान नहीं किया, प्रेमासवका यह छलकता प्याला होठोंपर न रक्खा, वह सचमुच ही 'रस'से सदैव दूर रहा । उसके जीवनकी उपमा यदि रेगिस्तानी ऊँटके जीवनसे दे दी जाय तो कदापि अत्युक्ति नहीं । यदि हमारे सामने यह ब्रज और 'ब्रजमाधुरी' न होती तो हिन्दी-संसार आज एकदम मरुभूमि था । कवियोंकी फुलवारीमें न ऋतुराज आता, न पराग उड़ता, न मकरन्द लुटता !

जिसकी खोजमें सारा ब्रह्माण्ड पागल हो रहा है, वही लाड़िला नँदलाल यहाँ सघन वनकी प्राकृतिक पर्णशालाओंमें राधिकाके पैरोंतले पड़ा इसी अलौकिक रसकी भीख माँगता फिरता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो, पुरानन-गायन,
बेद-रिचा पढ़ीं चौगुने चायन ।
देखो-सुनो न कहूँ कबहूँ,
वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥

ढूँढ़त-ढूँढ़त ढूँढ़ि फिरयौ
'रसखानि' बतायौ न लोग-लुगायन ।
देख्यौ, दुरयौ वह कुंज-कुटीरनि,
बैठयौ पलोटत राधिका-पायन ॥

भला, इस विलक्षण रसके आगे ऋषि-मुनियोंकी तपश्चर्याका ख़याल किसे रह सकता है—

मनु मारयौ केते मुनिन, मनु न मनायौ आय ।
ता मोहनपै राधिका मान गहावति पाय ॥
—विहारी

रसके इस लबालब सागरतक भला किसी भी विद्याकी पहुँच कहाँ ? प्रेमकी सुनहरी चर्चामें विरस वादकी क्या बूझ—कोरे दार्शनिक प्रलापकी ज़िक्र ही क्या ? वहाँ तो इसी रसकी प्यास है । चाहे गोरसके बहाने मिले अथवा माखनके, पर चाहिये स्वातिकी वही बूँद—घूँट-पर-घूँट, पैमाने-पर-पैमाना—

छीर जो चाहत चीर गहे,
अजु लेहु न, केतिक छीर अचैहौ ।
चाखनके हित माखन माँगत,
खाहु न, केतिक माखन खैहौ ॥
जानति हौं जियकी 'रसखानि',
सु काहेकों एतिक बात बढ़ैहौ ।
गोरसके मिस जो रस चाहत,
सो रस कान्ह नैक नहिं पैहौ ॥

वाह ! इस इनकारमें भी मज़ा है । भिखारीको जब भीख नहीं मिलती, तब धनीके दरवाजेपर धरना देकर मिन्नतें करता है, प्रेमकी मीठी हुकूमत सहता है—पैरोंमें महावर लगाओ, बालोंमें फूल गूँथो—

बेद भेद जानैं नहीं, नेति-नेति कहि बैन ।
ता मोहनसों राधिका, कहै महावरु दैन ॥
जग्य न पायौ ब्रह्महूँ, जोग न पायौ ईस ।
ता मोहनपै राधिका सुमन गुहावति सीस ॥
—विहारी

कभी फटकार भी साबुत पड़ती है—

रहौ, गुही बेनी, लख्यौ गुहिबेकौ त्यौनार ।
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार ॥
—विहारी

प्रेमकी झिड़कियाँ भी मीठी होती हैं—मार भी मीठी लगती है । शेष, महेश, गणेश, सुरेश इस मज़ेको क्या जानें—सुस्वादु रसका यह ज़ायका उनके भाग्यमें कहाँ ? वे जिस परब्रह्मकी अपार महिमाका पार पानेके लिये दिन-रात नाक रगड़ते हैं वही सलोना श्यामसुन्दर व्रजमण्डलके प्रेमसाम्राज्यमें छाछकी ओटसे इसी रसके पीछे अहीरकी छोकरियोंके इशारोंपर तरह-तरहके नाच नाचता फिरता है—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस,
सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड,
अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं ॥
नारद लै, सुक ब्यास रटैं,
पचि हारे, तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ
छछिया भरि छाछपै नाच नचावैं ॥
—रसखानि

जब रसके चसकोंसे फ़ुरसत ही नहीं, तब भला ज्ञानी-ध्यानियोंकी बातें कौन सुने ? त्यागने दो चीख़-चीख़कर प्राण ! बहुत होगा, मुक्ति दे दी जायगी; पर अपने लाल तो उजड़े हृदयमें जानेके नहीं । वेद-पुराण, देवी-देवता, रागी-विरागी चाहे भले ही कुछ मर्म न समझें, किन्तु इधर तो मधुर रसवर्णनके सम्पर्कमें लेखनीतक ईखकी हुई जा रही है—शहदकी फीकी तुलनाको कौन पूछे—

बधू-अधरकी मधुरता बरनत मधु न तुलाइ ।
लिखत-लिखत ही हाथकी किलिक ऊख ह्वै जाइ ॥
—विहारी

भला, इस मिठासका क्या पार ? निर्गुण, निराकार, अनन्त, अगोचर, अव्यक्तकी टोहमें रहनेवालोंको यह

मज़ा कहाँ ? इस व्रजवासन्तीका रसास्वादन तो वे ही रसिक भ्रमर कर सकते हैं जिनके हृदयमें अपने मुरलीवाले, कुञ्जविहारी, बनवारी, पीतपटधारी, रँगीले, छबीले, बाँके व्रजलालके प्रति अटल प्रेम तथा दृढ़ भक्ति है—'दरस, परस अरु मज्जन-पाना' की सच्ची लगन एवं अमर आशा है। व्रजवाटिकाकी वसन्ती छटामें सदा सौरभपान करनेका तो उन्हें ही अधिकार है। नवमुकुलित मल्लिकाओंका मकरन्द लूटते हुए फिर वे परमानन्दमें तन्मय हो सहज ही पुकार उठते हैं—

या लकुटी अरु कामरियापै
राज तिहू पुरकौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख
नंदकी गाय चराय बिसारौं॥
'रसखानि' सदा इन आँखिनसौं
ब्रजके बन, बाग, तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौतके धाम
करीलकी कुंजनि ऊपर वारौं॥

तन्मयता और भी आगे बढ़ती है—

कदमकुंज ह्वैहौं कबै श्रीबृंदाबन माहिं।
ललितकिसोरी लाड़िले बिहरैंगे तिहिं छाहिं॥
कब कालिंदीकूलकी ह्वैहौं तरुवर-डार।
ललितकिसोरी लाड़िले झूलैं झूला पार॥
कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैतीलाल॥
कब कालीदहकूलकी ह्वैहौं त्रिबिध समीर।
जुगुल अंग-अँग लागिहैं, उड़िहैं नूतन चीर॥
कब गहवर-बन-गलिनमें फिरिहौं होइ चकोर।
जुगल-चंद-मुख निरखिहौं नागरि-नवलकिसोर॥
—ललितकिशोरी

वाह ! वाह ! आशा हो तो ऐसी ही—

मानुस हौं तौ वही 'रसखानि'
फिरौं मिलि गोकुल-गाँवके ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बस मेरौ ?
चरौं नित नंदकी धेनु मझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ,
जो धर्यौ पुर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौं नित
कालिंदी-कूल-कदंबकी डारन॥

इससे अधिक मीठी और क्या मनोवाञ्छा होगी—

जमुना-पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बनबीथिनि डोलौं, बचे सीथ संतनके पाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम,
ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ॥'

अन्तिम समय यदि ये आँखें खुलें भी, तो उसी प्यारेके मोरमुकुटपर, अन्यथा नहीं—

कदमकी छाँह हो, यमुनाका तट हो;
अधर मुरली हो, माथेपर मुकट हो।
खड़े हों आप, इक बाँकी अदासे;
मुकट झोंकेमें हो, मौजे हवासे।
गिरै गरदन, ढुलक कर, पीतपटपर;
खुली रह जायँ आँखें ये मुकटपर॥

कितनी अनोखी अन्तराकांक्षा है ! तन्मयताकी इस अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर और कुछ देखनेकी गुंजायश नहीं। वहाँ तो सारी दुनिया ही प्रियतम-मय हो सामने आती है। कान सदा उसीका प्रेमालाप सुनते हैं, आँखें उसीके प्रेमकी सीन-सीनरी देखती हैं—हृदयमें उसीकी मंजुल मूर्त्ति मुसकराती रहती है—

हौं ही ब्रज, बृंदावन मोहीमें बसत सदा,
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीनकी।
चहुँओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीबट नट-नागर नटतु मो में,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही भनक-बनक ताल-ताननिकी,
तनक-तनक तामें झनक चूरीनकी॥

बस, यही तन्मयताकी सुन्दर स्थिति है तुलसीदासजी भी इसकी सम्पुष्टि करते हैं—

जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।

अब कहिये, कहाँ यह सरस प्रेम और कहाँ वह विरस विवाद ! कहाँ मणि और कहाँ काच—कितना अन्तर है ! रँगरलियोंके इस सब्ज़बागको छोड़कर ज्ञानके बियाबानमें जाना कितना दुस्तर है ! देखिये, स्वयं भगवान् ही उद्धवसे कहते हैं—

ऊधौ ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदाबन-गोकुल-सुधि आवति, सघन तृननिकी छाँहीं ॥

उफ् ! अधीर हो उठते हैं—

सुन ऊधौ ! मोहि नैक न बिसरत वे ब्रजवासी लोग।
तुम उनकों कछु भली न कीनी, निस-दिन दियौ बियोग ॥
जदपि यहाँ बसुदेव-देवकी, सकल राजसुख-भोग।
तद्यपि मनहिं बसत बंसीबट, ब्रज जमुना-संयोग ॥
वे उत रहत प्रेम-अवलंबन, इतते पठयो जोग।
'सूर' उसाँस छाँड़ि, भरि लोचन, बढ़ो बिरह-ज़ुर-सोग ॥

विस्मृतिकी राखमें दबी हुई स्मृतिकी चिनगारियाँ फिर भड़क उठती हैं—

ग्वालनके संग जैबौ, ऐबौ औ चरैबौ गाय,
हेरि तान गैबौ, सोचि नैन फरकत हैं।
ह्याँके गजमोति-माल, वारौं गुंजमालन पै,
कुंज-सुधि आवै, हाय ! प्रान धरकत हैं ॥
गोबरकौ गारौ लगै सु तौ मोहि प्यारौ,
नाहिं भावैं महल, जे जटित मरकत हैं।

मंदर ते ऊँचे, कहा मंदिर हैं द्वारिकाके,
ब्रजके खरिक मेरे हिये खरकत हैं ॥

इस महिमामयी व्रजकी अकथ कथा कहाँतक कही जाय। इसके आगे तो स्वर्गका सम्पूर्ण वैभव भी तुच्छातितुच्छ है—

ब्रजसुख छायौ, चलि 'नागर' लुभायौ मन,
हमकों न भायौ यहाँ बैकुंठकौ आइबौ।

औरकी क्या कहें, सुखस्निग्ध रसकी टटोलमें योगीन्द्र शिवको भी यहाँ गोपी बनना पड़ा—

'नारायन' ब्रजभूमिकौं को न नवावै माथ।
जहाँ आप गोपी भए श्रीगोपेस्वर नाथ ॥

भला, ऐसे गौरवशाली व्रजको मस्तक झुकानेमें आनाकानी करनेकी किसे सामर्थ्य—कीजिये एक बार नमस्कार इस व्रजको और व्रजलालको, गोपियोंको और गोपीश्वरी राधाको !

पाँच हज़ार वर्ष पुराना अतीत कालका यह चित्र आज भी आँखोंके सामने मानो ज्यों-का-त्यों सजीव है। तनिक स्मरणमात्रसे हृदय मचल जाता है—बरबस ही अन्तस्तलसे एक हूक उठती है—

गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै, महाराज !
तृन कीजै रावरे ही ब्रजके डगरकौ।
..................बस !

धन्य है !

धन्य है तुमको कृपानिधान !
प्राणिमात्रके जीवन-हितमें साधन बने महान ॥
पंचीकरण किया तत्त्वोंका, यह रहस्य विस्तारा।
घुल-मिलकर सबमें बैठे तुम, सबसे किये किनारा ॥
कमलपत्र ज्यों जलमें रहकर उससे विलग दिखावे।
उसी प्रकार जगतमें मिलकर सबसे अलग कहावे ॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

वेदान्तमीमांसा

(लेखक—श्रीप्रकाशचन्द्रसिंह राय 'न्यायवागीश')

[गताङ्कसे आगे]

शंकरने अपने अद्वैतमतको श्रुतिके आधारपर ही प्रतिष्ठित किया है। अब यह देखें कि श्रुतिके आधारपर यह मत वास्तवमें प्रतिष्ठित है या नहीं। पहले ही कहा गया है कि शङ्करने द्वैत एवं द्वैताद्वैतभावप्रकाशक श्रुतियोंको केवल व्यावहारिक भावमें सत्य कहकर उनकी उपेक्षा कर दी है, और ऐसा करनेके लिये उन्होंने कोई विशेष हृदयग्राही युक्ति दी हो सो भी नहीं; बल्कि यह बात सत्य है, इसके प्रमाणमें किसी श्रुतिका उल्लेख भी नहीं किया है। अतः जहाँ जीव-ब्रह्मसम्बन्धप्रकाशक अधिकांश श्रुतियोंकी उन्हें केवल व्यावहारिक सत्य कहकर उपेक्षा की गयी है, वहीं उनका मत श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है, यह बात कही जाती है। अधिक-से-अधिक केवल इतना कहा जा सकता है कि अद्वैतमत केवल कुछ श्रुतियोंके ऊपर प्रतिष्ठित है। परन्तु ऐसा भी क्या वास्तवमें कहा जा सकता है? जिन श्रुतियोंके ऊपर अद्वैतमत प्रतिष्ठित है उनमें कुछ प्रधान-प्रधान ये हैं—'एकमेवाद्वितीयम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि। ये सब श्रुतियाँ अद्वैतमतका समर्थन करती हैं, यह बात सत्य है, परन्तु इनके द्वारा अद्वैतमत स्थापित होता है, यह बात नहीं कही जा सकती। 'समर्थन करना' और 'प्रतिष्ठित करना' एक बात नहीं है।

'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति केवल यह कहती है कि ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह तो द्वैताद्वैतवाद भी कहता है। ब्रह्म यदि जगत्के निमित्त और उपादान कारण हों तो भी ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' ही रह जाते हैं। जीव यदि ब्रह्मका अंश हो तो भी ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' ही रह जाते हैं। जगत् यदि ब्रह्मकी ही स्थूल एवं अनुभवयोग्य आकारमें अभिव्यक्ति हो तो भी ब्रह्मके 'एकमेवाद्वितीयम्' होनेमें बाधा नहीं पड़ती। अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति केवल अद्वैतवादका समर्थन करती हो, ऐसी बात नहीं; इसके द्वारा द्वैताद्वैतमतका समर्थन भी होता है। दोनों ही मतोंके साथ इसका सामञ्जस्य है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। जगत् यदि ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति है तब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तो होगा ही। अतएव इस श्रुतिके द्वारा भी अद्वैतमतका जैसे समर्थन होता है, द्वैताद्वैतमतका भी वैसे ही समर्थन होता है।

अब 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' प्रभृति महावाक्योंकी आलोचना करके देखें। ये कतिपय श्रुतियाँ कहती हैं कि 'जीव ब्रह्म है', परन्तु क्या केवल इसी बातसे जीव और ब्रह्ममें तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है? जीव ब्रह्मका अंश होनेपर भी यही बात सत्य होगी कि 'जीव ब्रह्म है'। जीव एवं ब्रह्म एक ही सत्ता हैं, यह साबित करनेके लिये अर्थात् श्रुतिद्वारा इसे प्रमाणित करनेके लिये तो केवल 'जीव ब्रह्म है' ऐसी श्रुति दिखानेसे ही काम नहीं चल सकता; 'ब्रह्म जीव है' ऐसी श्रुति भी दिखानी होगी। परन्तु जिन उपनिषदोंसे 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियाँ उद्धृत की गयी हैं, उनमेंसे किसीमें 'ब्रह्म जीव है' ऐसा अर्थ प्रकट करनेवाली कोई श्रुति नहीं है। यहाँतक कि शङ्करने जिन थोड़े-से उपनिषदोंका भाष्य लिखा है, उनमें भी किसीमें ऐसी कोई श्रुति नहीं है; बल्कि जिन उपनिषदोंसे 'तत्त्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' श्रुतियाँ उद्धृत की गयी हैं, उन्हीं उपनिषदोंमें ऐसी अनेक श्रुतियाँ भी हैं जिनसे यह दिखाया जा सकता है कि उपनिषत्कारके मतसे जीव और ब्रह्म वस्तुगत भावसे एक होनेपर भी, अर्थात् एक उपादानकी सत्ता होनेपर भी, यहाँतक कि अंश-अंशीसम्बन्धसे युक्त होनेपर भी वे दोनों एक सत्ता नहीं हैं।

'तत्त्वमसि' श्रुति छान्दोग्योपनिषद्का एक महावाक्य है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि जीव और ब्रह्म एक ही सत्ता हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि जीव ब्रह्मका अंश है। अर्थात् वे अंश-अंशीरूपमें एक हैं। इन दोनों अर्थोंके साथ इस श्रुतिका सामञ्जस्य है। उपनिषत्कारने स्वयं किस अर्थमें इस श्रुतिका उल्लेख किया है, यह जाननेके लिये उसी उपनिषद्में जीव और ब्रह्मके सम्बन्धको सूचित करनेवाली स्पष्टतर भाषामें जो और श्रुतियाँ हैं,

उनकी आलोचना करनी चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद्‌में एक और श्रुति है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत'। इसका अर्थ स्पष्ट है। यह विश्वब्रह्माण्ड ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है, उसमें ही इसकी स्थिति है और उसमें ही यह लय होगा; अतएव शान्त चित्तसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। इस श्रुतिसे हमें यह मालूम होता है कि ब्रह्म ही जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण हैं। हम लोगोंको शान्त मनसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। उपादान एवं निमित्त कारण होना तथा सर्वतोभावेन एक होना एक बात नहीं है। उपासना कहनेसे ही उपास्य-उपासक इन दोकी बात सामने आती है; जीव एवं ब्रह्मके बीच एक-न-एक प्रकारसे द्वैतभाव रहे विना उपासनाकी बात नहीं उठ सकती। जीव और ब्रह्ममें तादात्म्य-सम्बन्धका इस श्रुतिके साथ किसी प्रकार सामञ्जस्य नहीं होता। अतः यद्यपि 'तत्त्वमसि' श्रुतिका अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दोनों मतोंके साथ सामञ्जस्य है, फिर भी उसी उपनिषद्‌में जब अन्य स्पष्टतर श्रुतियाँ हैं, जिनके साथ केवल द्वैताद्वैतमतका ही सामञ्जस्य होता है, तब यह स्वीकार करना ही होगा कि उपनिषत्कारने 'तत्त्वमसि' श्रुतिके द्वारा द्वैताद्वैतभावको ही प्रकट करनेकी चेष्टा की है। यह अत्यन्त युक्तियुक्त बात है। किसी एक वाक्यका वास्तविक अर्थ क्या है, यह यदि स्वयं वक्ता स्पष्ट भाषामें समझा दे तो श्रोताको उस वाक्यका वही अर्थ ग्रहण करना होगा। इसके आगे और कोई भी बात नहीं टिकती। अतएव हम युक्तियुक्त ढंगसे कह सकते हैं कि केवलाद्वैतवादियोंकी 'तत्त्वमसि' वाक्यकी व्याख्या उनकी मनगढ़ंत व्याख्या है। यह उपनिषत्कारके मतानुकूल व्याख्या नहीं है।

'अहं ब्रह्मास्मि' श्रुतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। इस श्रुतिका अर्थ है—जीव ब्रह्म है। जीव और ब्रह्ममें तादात्म्य-सम्बन्ध होनेपर भी यह बात सत्य है और जीव ब्रह्मका अंश होनेपर भी यह बात सत्य है। यहाँतक कि आलङ्कारिक भाषाका प्रयोग करनेपर जीव और ब्रह्म एक उपादानकी सत्ता होनेपर भी एक तरहसे यह बात सत्य होती है। यह श्रुति बृहदारण्यक उपनिषद्‌का एक महावाक्य है। इन तीनों अर्थोंमेंसे किस अर्थमें उपनिषत्कारने इस श्रुतिका व्यवहार किया है, यह जाननेके लिये उस उपनिषद्‌में जीव-ब्रह्मका सम्बन्ध प्रकट करनेवाली स्पष्टतर भाषामें जो अन्यान्य श्रुतियाँ आयी हैं, उनकी आलोचना करनी होगी। उन श्रुतियोंमेंसे एक श्रुति कहती है—

'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।' (बृ० उ० २।१।२०)

इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है। ऊर्णनाभसे जिस तरह तन्तु निकलता है, सुदीप्त पावकसे जिस तरह स्फुलिङ्ग निकलता है, उसी तरह ब्रह्मसे सब इन्द्रियाँ, सब लोक, सब देव, सब जीव उत्पन्न हुए हैं। बादके मुण्डक उपनिषद्‌में श्रुतिवाक्यद्वारा इसी श्रुतिको और भी स्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है। मुण्डकमें इस एक श्रुतिको तोड़कर दो बनाया गया है। वे दोनों श्रुतियाँ इस प्रकार हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

'जिस तरह ऊर्णनाभ अपने शरीरसे ऊर्णसूत्र उत्पन्न करता है और पुनः अपने ही अन्दर संग्रह कर लेता है, जिस तरह ओषधियाँ स्वतः पृथ्वीसे उत्पन्न होती हैं और पुरुषके शरीरसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी तरह अक्षर ब्रह्मसे विश्वब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और उसीमें लय होता है।'

यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः।
तथाक्षराद् विविधा सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

'जिस प्रकार सुदीप्त पावकसे उसीके समान हजारों स्फुलिङ्ग निकलकर उसीमें पुनः लौट जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मसे विभिन्न जीव उत्पन्न होते हैं और उसीमें पुनः निवृत्त हो जाते हैं।' इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है। स्फुलिङ्गके साथ सुदीप्त पावकका जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध जीवके साथ ब्रह्मका भी है। स्फुलिङ्ग स्वरूपतः पावकके ही समान है अथवा स्फुलिङ्ग सुदीप्त पावकका अंश है, यह माननेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनोंकी सत्ता एक है। जीव और ब्रह्म दोनों चैतन्याकारमें एकजातीय सत्ता हो सकते हैं, अथवा एक दूसरेके अन्दर हैं, इस कारण दोनोंमें अंश-अंशी सम्बन्ध भी हो सकता है। परन्तु एक जातीय सत्ता

होना या अंश-अंशीरूपमें एक होना एक बात है और सर्वतोभावसे तादात्म्यसम्बन्धविशिष्ट होकर एक होना दूसरी बात है।

अब पाठक स्पष्ट देख रहे हैं कि जिन-जिन उपनिषदोंसे 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' श्रुतियाँ उद्धृत की गयी हैं, उन-उन उपनिषदोंमें स्पष्टतर भाषामें अन्य श्रुतियाँ भी हैं, जिनके द्वारा जीव और ब्रह्ममें द्वैताद्वैत सम्बन्ध प्रकट किया गया है। अतएव इन दो श्रुतियोंके साथ अद्वैतवादका सामञ्जस्य होनेपर भी यह स्वीकार करना होगा कि केवल इन कतिपय पूर्णतः अद्वैतभाव प्रकट करनेवाली श्रुतियोंके द्वारा केवलाद्वैतवाद स्थापित नहीं होता। अगर हमें प्रमाणद्वारा केवल यही मालूम हो कि क या तो ख है या ग, तो केवल इसीके आधारपर हम यह नहीं कह सकते कि क, ख ही है। क ख ही है, यह कहनेके पूर्व हमें यह भी साबित करना होगा कि क ग नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा हमें केवल यही मालूम होता है कि जीव या तो ब्रह्म है अथवा किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मका अंश है; जीव ब्रह्म है अर्थात् सर्वतोभावसे जीव और ब्रह्मकी एक ही सत्ता है, यह अनुमान करनेके लिये पहले यह दिखाना होगा अर्थात् श्रुतिद्वारा दिखाना होगा कि जीव ब्रह्मका अंश नहीं हो सकता। परन्तु इस प्रकारका भाव प्रकट करनेवाली कोई भी श्रुति नहीं है; वरन् इस प्रकारकी अनेक श्रुतियाँ हैं जो स्पष्ट भाषामें कहती हैं कि एक-न-एक रूपमें जीव और जगत् ब्रह्मके अंश हैं, ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि अद्वैतवादियोंने इस आपत्तिका उत्तर नहीं दिया है। शङ्करने आरम्भमें ही द्वैत एवं द्वैताद्वैतभावप्रकाशक श्रुतियोंको केवल व्यावहारिक सत्य मानकर उनकी उपेक्षा कर दी है। परन्तु केवल उन श्रुतियोंका उल्लेख करने और उन्हें व्यावहारिक सत्य बतला देने मात्रसे ही उन श्रुतियोंका मत अमान्य करना युक्तियुक्त नहीं है। उन्होंने किसी भी श्रुतिप्रमाणद्वारा यह नहीं दिखाया है कि ये श्रुतियाँ केवल व्यावहारिक सत्य हैं। इससे मेरा मतलब यह है कि उनका मत श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है, यह बात नहीं कही जा सकती। ब्रह्मका अंश माननेसे ब्रह्मके असीमत्वमें बाधा पहुँचेगी, ब्रह्म अपनेको अनुभवयोग्य आकारमें अभिव्यक्त नहीं कर सकते—यह भी उनकी युक्ति है। यह सत्य हो सकता है, परन्तु यह श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है। और भी एक बात है; वह यह कि ब्रह्मको सर्वशक्तिमान् स्वीकार करके यह कहना कि ब्रह्म यह कर या हो सकते हैं एवं यह कर या हो नहीं सकते, युक्तिसङ्गत है, यह भी नहीं कहा जा सकता। ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता, यह बात जीवात्माके सम्बन्धमें सत्य होनेपर भी ब्रह्मके सम्बन्धमें सत्य है या नहीं, यह कहना कठिन है। गीतोक्त 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' यदि सत्य है तो ब्रह्म अपनेको अनुभवयोग्य आकारमें प्रकट नहीं कर सकता, यह बात नहीं कही जा सकती।

खैर, जो हो, इस स्थानमें एक बात कह रखना अच्छा होगा; हम यह नहीं कहते कि पूर्णाद्वैतवाद वास्तवमें मिथ्या है। वह सत्य भी हो सकता है और मिथ्या भी हो सकता है। वह सत्य है या मिथ्या, यह प्रश्न यहाँपर नहीं है। यहाँपर तो प्रश्न यह है कि यह ब्रह्मसूत्रकी वास्तविक और एकमात्र व्याख्या है या नहीं। यह श्रुतिके ऊपर—केवल श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है या नहीं। हम आशा करते हैं कि ऊपर जो कहा गया है, उसके द्वारा हम यह दिखानेमें समर्थ हुए हैं कि केवलाद्वैतवाद श्रुतिके ऊपर अवितर्कित रूपसे प्रतिष्ठित है, यह बात नहीं कही जा सकती। अनेक श्रुतियाँ स्पष्ट भाषामें इस मतके विरुद्ध मत प्रकट करती हैं और कुछ श्रुतियाँ जो इस मतका समर्थन करती हैं, उनका द्वैताद्वैतमतके साथ सामञ्जस्य नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

हमने पहले ही कहा है कि केवलाद्वैतवाद श्रुतिद्वारा प्रतिष्ठित है एवं यह ब्रह्मसूत्रकी एकमात्र शुद्ध व्याख्या है, यह नहीं कहा जा सकता। और यह बात सत्य है, यह दिखानेके लिये अकाट्य युक्तियाँ भी दी गयी हैं। अब हम यह देखें कि द्वैतवाद अकाट्यरूपसे श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है, यह कहा जा सकता है या नहीं। जिस तरह अद्वैतवादद्वारा केवल व्यावहारिक रूपसे सत्य मानकर द्वैत एवं द्वैताद्वैतभावप्रकाशक समस्त श्रुतियोंकी उपेक्षा की गयी है, उसी तरह द्वैतवादियोंने भी अद्वैतभावप्रकाशक समस्त श्रुतियोंको केवल युक्त आत्माका प्रशंसासूचक अर्थवाद कहकर उड़ा दिया है। अतएव अद्वैतवादकी तरह द्वैतवादके सम्बन्धमें भी यह बात कही जा सकती है कि यह श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है, यह कहना ठीक नहीं है। अधिक-से-अधिक केवल यह कहा जा सकता है कि कुछ श्रुतियोंद्वारा इसका समर्थन होता है। द्वैतवादका समर्थन करनेवाली प्रधान

दो श्रुतियाँ हैं; एक कहती है कि जीव और ब्रह्म एक वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षी हैं, एक फलका भोक्ता और मोहग्रस्त है और दूसरा केवल द्रष्टा है। श्रुति इस प्रकार है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
> नश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति॥
> (मु० ३।१)

यह श्रुति बहुत प्राचीन है। यह केवल मुण्डक तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्में ही नहीं है, इस श्रुतिका उल्लेख ऋग्वेदमें भी है (१६४।१)। यदि श्रुतिका प्राचीनत्व प्रामाण्यका मापदण्ड हो तो इस श्रुतिकी उच्च कोटिकी प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही होगी। अब प्रश्न यह होता है कि क्या इस श्रुतिका अद्वैतवाद या द्वैताद्वैतवादके साथ सामञ्जस्य नहीं है? अवश्य ही पूर्णाद्वैतमतके साथ इसका सामञ्जस्य दिखाना कठिन है। किन्तु द्वैताद्वैतमतके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। जीव यदि किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मका अंश भी हो तो इस श्रुतिकी सत्यतामें व्याघात नहीं पहुँचता। अंश और अंशीमें अविच्छिन्न सम्बन्ध है; जहाँपर अंश है, उसी स्थानमें अंशी भी रहेगा ही। अतः जिस देहमें जीवात्मा है, उसी देहमें परमात्मा भी है। द्वैतवादका समर्थन करनेवाली एक दूसरी श्रुति कहती है कि जीव और ब्रह्म दोनों अनादि, अज, अमर हैं। एक अल्पज्ञ है, दूसरा सर्वज्ञ है; एक अनीश है, दूसरा ईश है। श्रुति है—

> ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा
> ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
> अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता
> त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतद्॥
> (श्वे० १।९)

यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यह श्रुति स्पष्टतर भावमें द्वैतवादका समर्थन करती है। परन्तु इसके साथ क्या अंशांशिभाव सम्बन्धका सामञ्जस्य है? अंशी अनादि होनेपर अंश भी अनादि होगा और अंशी अज होनेपर अंश भी अज होगा। अंशी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होनेपर भी अंशके अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् होनेमें बाधा नहीं है। अतः अद्वैतवादके विषयमें जो कहा गया है, द्वैतवादके विषयमें भी हम वही कह सकते हैं। द्वैतवाद श्रुतिद्वारा स्थापित है, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ श्रुतियोंके द्वारा द्वैतवादका समर्थन होता है, यह बात ठीक है। समर्थित होना एक बात है और प्रतिष्ठित होना दूसरी बात है। हम यह बात नहीं कहते कि द्वैतवाद सत्य नहीं है। यह सत्य भी हो सकता है, सत्य नहीं भी हो सकता। हाँ, यह सूत्रकी एकमात्र वास्तविक व्याख्या है, यह बात सत्य नहीं है।

हमने देखा है कि जिस तरह अद्वैतवादियोंने अधिकांश श्रुतियोंको केवल व्यावहारिक रूपमें सत्य कहकर उनकी उपेक्षा की है और केवल अद्वैतभावप्रकाशक कुछ श्रुतियों-द्वारा अपने मतको स्थापित करनेकी चेष्टा की है, उसी तरह द्वैतवादियोंने भी अधिकांश श्रुतियोंको केवल अर्थवाद कहकर उनकी उपेक्षा की है और द्वैतभावप्रकाशक कतिपय श्रुतियोंकी सहायतासे अपने मतको स्थापित करनेकी चेष्टा की है। हमने यह भी दिखाया है कि जिस तरह अद्वैतभाव-प्रकाशक श्रुतियोंद्वारा समर्थित होनेपर भी अद्वैतसम्बन्ध उनके द्वारा स्थापित होता है, यह नहीं कहा जा सकता, उसी तरह द्वैतश्रुतियोंके द्वारा द्वैतमतका समर्थन होनेपर भी उनके द्वारा यही मत स्थापित होता है, यह नहीं कहा जा सकता। समर्थित होना और स्थापित होना दोनों एक बात नहीं हैं।

द्वैताद्वैतवादकी एक विशेषता यह है कि इस मतमें किसी भी श्रुतिकी, उसे केवल व्यावहारिक सत्य या अर्थवाद कहकर, उपेक्षा नहीं की गयी है। इस मतमें एक-न-एक रूपमें जीव ब्रह्मका अंश है। अतएव जिस अर्थमें अंश और अंशी एक हैं, उस अर्थमें जीव और ब्रह्म भी एक हैं; और जिस अर्थमें अंश और अंशी भिन्न हैं, उस अर्थमें ये भी भिन्न हैं। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अद्वैतभावप्रकाशक समस्त श्रुतियोंका भी इस मतके साथ सामञ्जस्य है। अतएव यदि सामञ्जस्य सूत्रकी व्याख्याके प्रकृत तत्त्वका मानदण्ड हो तो यह स्वीकार करना ही होगा कि द्वैताद्वैतमतके अनुसार सूत्रकी जो व्याख्या की गयी है, वह अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसङ्गत है। समस्त श्रुतियोंका सामञ्जस्य दिखानेके लिये ही ब्रह्मसूत्रकी रचना हुई है और इसीलिये इसे उत्तरमीमांसा कहते हैं। इसलिये जिस व्याख्यामें सब श्रुतियोंका सामञ्जस्य होता हो, वही सूत्रकारके मतानुसार व्याख्या है—कम-से-कम उनके मतानुसार जो

व्याख्या है, उसके सबसे अधिक निकटकी व्याख्या है, यह बात युक्तिसङ्गतरूपसे स्वीकार की जा सकती है ।

हम कह चुके हैं कि द्वैताद्वैतमतसे जो एक-न-एक रूपमें जीव और ब्रह्ममें अंश-अंशी सम्बन्ध है, इस विषयमें द्वैताद्वैतवादियोंमें भी मतभेद है । किसी मतसे उनमें देह-देहीसम्बन्ध है, किसी मतसे शक्ति और शक्तिमान्‌का सम्बन्ध है और किसी मतसे ये वस्तुगत भावमें अंशांशिसम्बन्धविशिष्ट हैं । अब प्रश्न उठ सकता है कि इन तीनोंमेंसे कौन-सा सूत्रकारका मत है । इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है । सभी व्याख्याकार अपने-अपने मतका समर्थन करनेवाली श्रुतियाँ दिखानेमें समर्थ हुए हैं । जो कुछ भी हो, एक विषयमें सबके अन्दर समानता मिलती है । जिस रूपमें भी हो, 'जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् ज्ञानमय सत्ता होनेपर भी जीव ब्रह्मसे विच्छिन्न नहीं है ।' सम्भव है, इन तीन प्रकारोंके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी ये अंश-अंशीरूपमें सम्बन्धित हों, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते । जीव और ब्रह्म दोनों ही देश और कालसे अतीत हैं । हमारा विचार देश-कालसे ऊपर नहीं जा सकता । इनके अन्दर सम्भवतः ऐसे रूपमें अंश-अंशीसम्बन्ध अर्थात् भेदाभेदभाव हो, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते । इसीलिये कोई-कोई भेदाभेदको अचिन्त्यभेदाभेद कहते हैं ।

पहले कहा गया है कि यदि एक विषयके सूत्रोंकी पाँच प्रकारकी व्याख्या हो सकती हो तो कौन कह सकता है कि उनकी और भी एक या अनेक प्रकारकी व्याख्याएँ नहीं हो सकतीं ? हम अब यह दिखानेकी चेष्टा करेंगे कि और एक प्रकारकी व्याख्या केवल सम्भव ही नहीं है, वरं युक्तिद्वारा विचार करनेपर मालूम होता है कि यही वास्तविक व्याख्या है ।

एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न रूपोंमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी अनुभूतिका विषय हो सकती है । सत्ता एक है, इस कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी अनुभूति भी एक ही होगी—ऐसा माननेका कोई कारण नहीं । एक ही व्यक्तिके चारों ओरसे चार फोटो उतारनेपर देखनेमें चारों चार तरहके होंगे । इनमेंसे यदि किसी एकको उस व्यक्तिकी वास्तविक प्रतिकृति मानकर अन्य तीनोंको उसकी वास्तविक प्रतिकृति न मानी जाय तो अवश्य ही इसे भ्रम कहा जायगा । चारोंमेंसे प्रत्येक फोटो उस व्यक्तिकी असली प्रतिकृति है, अथच कोई भी फोटो उसकी एकमात्र प्रकृत प्रतिकृति नहीं है । ब्रह्म एक अनन्त सत्ता हैं । उनके भाव भी अनन्त हैं । भिन्न-भिन्न ऋषियोंने भिन्न-भिन्न भावोंकी अनुभूति प्राप्तकरके उसे वाणीद्वारा प्रकट किया है । ये सब वाणियाँ ही श्रुति हैं । एक विषयकी सब श्रुतियोंके पीछे एक ही भाव वर्तमान है, ऐसा मानकर उनमेंसे कुछको तो पारमार्थिक सत्य मान लेने और बाकीको केवल व्यावहारिक रूपमें सत्य या अर्थवाद मानकर उनकी उपेक्षा करनेका कोई कारण नहीं । सब श्रुतियोंके पीछे सत्य अनुभूति है । श्रुतियोंमेंसे प्रत्येक सत्य हैं, अथच कोई भी एकमात्र सत्य नहीं है । वेदान्तके सब मतोंमेंसे प्रत्येक किसी-न-किसी श्रुतिके ऊपर प्रतिष्ठित है । अतएव इनमेंसे प्रत्येक एक-न-एक रूपमें सत्य है; परन्तु कोई एकमात्र सत्य नहीं है—अर्थात् जीव और जड जगत्के साथ ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है, इस विषयमें एकमात्र सत्य नहीं है । हमने जो दूसरी एक प्रकारकी व्याख्याकी बात कही है, वह यही है कि जीव और ब्रह्मके सम्बन्धके विषयमें जो पाँच मत हैं, एक अर्थमें उनमेंसे प्रत्येक सत्य है, और एक अर्थमें प्रत्येक मिथ्या है । सत्य इस अर्थमें है कि इसके द्वारा जीवका ब्रह्मके किसी-न-किसी भावके साथ जो प्रकृत सम्बन्ध है, उसे प्रकट किया गया है; और मिथ्या इस अर्थमें है कि यही सम्बन्ध जीवके साथ ब्रह्मका एकमात्र सम्बन्ध है, यह सत्य नहीं है ।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं, उन्हें कुछ उदाहरणोंके द्वारा और भी स्पष्ट रूपमें प्रकट करनेकी चेष्टा हम कर रहे हैं । एक सुन्दर मीठे फलकी हम कल्पना करें; एक व्यक्तिने केवल फलको देखकर उसके सम्बन्धमें अपनी अभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि फल सुन्दर है । एक दूसरे व्यक्तिने केवल फलको चखकर कहा कि फल मीठा है । दोनोंका फलके विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान है । एक तीसरे व्यक्तिकी फलके सम्बन्धमें कोई प्रत्यक्षानुभूति नहीं है, परन्तु उसका एक मत यह है कि फल सुन्दर है । उसने प्रत्यक्ष देखनेवालोंकी बातोंका सामञ्जस्य दिखानेके लिये यह कहा कि सौन्दर्य ही फलका वास्तविक तत्त्व है । परन्तु साधारण लोग सौन्दर्यकी वास्तविक धारणा नहीं कर सकते, इस कारण इसे केवल व्यावहारिक रूपमें मीठा कहा गया है । एक चौथे व्यक्तिकी भी फलके विषयमें कोई प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं है; किन्तु उसका भी एक मत यह है कि फल मीठा है । उसने दोनों वाक्योंका सामञ्जस्य दिखानेके लिये कहा कि मीठापन ही फलका प्रकृत तत्त्व है । परन्तु इसे जो सुन्दर कहा गया

है, यह अर्थवाद अर्थात् फलकी प्रशंसामात्र है। सुन्दर और मधुर—इस प्रकारकी फलकी व्याख्या सुनकर पाठक क्या समझेंगे ? परन्तु आश्चर्यकी बात यही है कि वेदान्तके भाष्यकारोंमेंसे किसी-किसीने अपने-अपने मतकी रक्षाके लिये किसी-किसी स्थानमें सब श्रुतिवाक्योंका इसी प्रकार सामञ्जस्य दिखाया है ।

एक और दृष्टान्त लीजिये । एक व्यक्तिने आकाशके वायुहीन होनेपर प्रशान्तमहासागरको देखकर अपना अनुभव इस प्रकार लिपिबद्ध किया कि प्रशान्तमहासागर एक सुशान्त विस्तीर्ण जलराशि है । एक दूसरे व्यक्तिने प्रबल तूफानके समय प्रशान्तमहासागरकी यात्रा करके यह कहा कि वह एक सुविक्षुब्ध विस्तीर्ण जलराशि है । प्रशान्तमहासागरकी कोई जानकारी न रखनेवाले एक आदमीने इन दोनों वाक्योंको पढ़कर मनमें सोचा कि जब दोनों वक्ताओंने प्रशान्तमहासागरकी साक्षात् अनुभूतिकी बात कही है तब दोनों बातोंके मूलमें एक ही अनुभूति है । अतएव दोनों वाक्योंमें सामञ्जस्य बनाये रखनेके लिये कहा कि 'सुविक्षुब्ध' शब्दका अर्थ है—विशेष रूपसे विगत हुआ है क्षोभ जिससे, अर्थात् सुशान्त । सुविक्षुब्ध और सुशान्त शब्दकी इस प्रकारकी व्याख्या सुनकर सम्भवतः पाठक अपनी हँसी नहीं रोक सकेंगे; परन्तु इस प्रबन्धके आदिमें सम्भवतः पाठकोंने लक्ष्य किया होगा कि किसी-किसी भाष्यकारने अपने मतकी रक्षा करनेके लिये किसी-किसी श्रुतिवचनको इसी प्रकार विपत्तिमें डाला है ।

जीव और ब्रह्मके सम्बन्धप्रकाशक श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या करते समय अनेक बार तरङ्गके साथ समुद्रका जो सम्बन्ध है, उसके साथ इसकी तुलना की जाती है । इस उपमाको यदि ठीक-ठीक समझा जाय तो यह अत्यन्त सुन्दर उपमा है । 'ठीक-ठीक समझा जाय' कहनेका मतलब यह है कि उपमाके विषयका विचार करते समय यह बात ध्यानमें रखनी होगी कि तरङ्ग और समुद्र देश और कालके भावसे परिच्छिन्न हैं; परन्तु जीव और ब्रह्म देश-कालसे अतीत हैं । तरङ्गके साथ समुद्रका क्या-क्या सम्बन्ध है ? एक सम्बन्ध यह है कि वे दोनों जल हैं, अतएव वस्तुगत रूपमें एकजातीय पदार्थ हैं । दूसरा सम्बन्ध यह है कि तरङ्ग समुद्रका अंश है, समुद्रसे अविच्छिन्न है । वे अंशांशिभाव सम्बन्धसे युक्त हैं । तीसरा सम्बन्ध यह है कि वायुहीन अवस्थामें तरंग नाम-रूप खो बैठती है और समुद्रमें लीन हो जाती है । इस प्रकार और भी अनेक रूपोंमें इनके सम्बन्धोंका विचार किया जा सकता है । इन सम्बन्धोंमें कोई भी मिथ्या नहीं है, सब सम्बन्ध सत्य हैं; अथ च कोई भी एकमात्र सत्य नहीं है । पाठक ! मान लीजिये कि तरङ्ग एक चैतन्यविशिष्ट सत्ता है । इसके साथ समुद्रका क्या सम्बन्ध है, यह जाननेके लिये यह साधनामें प्रवृत्त है । इसे प्रथम अनुभूति यह हुई कि मैं भी जल हूँ और समुद्र भी जल है । वस्तुगत भावमें दोनों एक हैं । साधनाकी अन्य अवस्थामें तरङ्गने देखा कि मैं जलके रूपमें केवल समुद्रके साथ एक ही नहीं हूँ, बल्कि समुद्रका ही अंश हूँ और उससे अविच्छिन्न हूँ । तृतीय अर्थात् निर्वात अवस्थामें इसका अपने नाम-रूपका पृथक् ज्ञान विलुप्त हो गया । समुद्र ही एकमात्र अनुभूतिका विषय रह गया । अब तरंगको जीवके स्थानमें, समुद्रको ब्रह्मके स्थानमें, जलको चैतन्यके स्थानमें और वायुके वेगको अहङ्कारके स्थानमें मानकर किस-किस रूपमें ब्रह्म साधककी अनुभूतिका विषय होता है, इसका थोड़ा-सा आभास दिया जा सकता है । प्रथम अवस्थामें द्वैतभावकी प्रबलता रहती है, तृतीय अवस्थामें अद्वैतभावकी प्रबलता रहती है और द्वितीय अवस्थामें द्वैत एवं अद्वैत दोनों भावोंकी समता रहती है । तृतीय अवस्थाके विषयमें एक बात ध्यानमें रखनी होगी कि जिस प्रकार तरङ्ग समुद्रमें लीन होनेके कारण एकबारगी समुद्र ही नहीं हो गयी, उसने केवल नाम और रूपको खो भर दिया, उसी तरह यदि कोई गम्भीरतापूर्वक ब्रह्ममें तन्मय हो गया और पूर्णरूपसे अहङ्कारका नाश होनेकी अवस्थामें उसने अपने पृथक् अस्तित्वका ज्ञान खो दिया तो इसी कारण वह एकदम अस्तित्वशून्य नहीं हो गया । अपने पृथक् अस्तित्वके ज्ञानका लोप होना और अस्तित्वका लोप होना एक बात नहीं है

अब हम इस विषयकी और भी सूक्ष्म रूपमें आलोचना करनेकी चेष्टा करेंगे । जीव और ब्रह्ममें प्रकृत सम्बन्ध चाहे जो हो, एक विषयमें तो भाष्यकारोंमें कोई भी मतभेद नहीं है । वह विषय यह है कि जीव और ब्रह्म दोनों चिन्मय सत्ता हैं । यदि ऐसी बात है तो अब हम देखें कि युक्तियुक्त ढंगसे इससे हमें क्या बात मिल सकती है । जब जीव और ब्रह्म दोनों चिन्मय वस्तु हैं तब यह स्वीकार करना ही होगा कि वे

देश-कालसे अतीत हैं। दो चीजें एक ही समयमें एक स्थानको व्याप्त करके नहीं रह सकतीं, यह ज्यामितिक सत्य जड वस्तुओंके विषयमें सत्य होनेपर भी चिन्मय वस्तुके लिये लागू नहीं हो सकता। बड़ी हों या छोटी हों, सभी चिन्मय वस्तुएँ एक ही समय एक ही स्थानमें व्याप्त होकर रह सकती हैं अर्थात् सब परस्पर व्याप्त होकर रह सकती हैं। वास्तवमें जिन लोगोंको आत्मानुभूति हुई है, उनका अनुभव यही है। यदि ऐसा न हो तो उपनिषद्में जो यह लिखा है कि 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ··· ततो न विजुगुप्सते' इस श्रुतिवाक्यका कोई अर्थ नहीं रह जाता। वास्तवमें सबके अन्दर ब्रह्मको और ब्रह्मके अन्दर सबको अनुभव करना ही धर्मजीवनकी सफलता है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह मालूम होगा कि जीव और ब्रह्म दोनों सर्वव्यापी हैं। 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' गीताके इस श्लोकका उल्लेख अद्वैतवादी जीव और ब्रह्ममें तादात्म्यसम्बन्ध स्थापित करनेके लिये किया करते हैं। परन्तु वे इस बातको भूल जाते हैं कि यद्यपि दो जड पदार्थोंके लिये एक समय एक स्थानमें व्याप्त होकर रहना सम्भव नहीं है, फिर भी दो चिन्मय वस्तुओंके लिये यह असम्भव नहीं भी हो सकता।

शङ्करके अतिरिक्त अन्यान्य वेदान्तके भाष्यकार यह कहते हैं कि ब्रह्म सर्वव्यापी हैं, परन्तु जीव परिमाणमें अणु है, और अणु होनेपर भी उसमें असीम ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता है। जैन दार्शनिकोंके मतसे जीवात्मा परिमाणमें देहके समान है और देहव्यापी है। कहना न होगा कि आत्माके इस प्रकार केवल देहमें व्याप्त रहनेकी बात स्वीकार करनेपर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि केवल भिन्न-भिन्न देहका आत्मा भिन्न-भिन्न परिमाणमें छोटा-बड़ा ही नहीं है, बल्कि एक ही आत्मा अपनी देहके क्षय और वृद्धिके साथ-साथ कभी छोटा और कभी बड़ा हो जाता है। परन्तु आत्माके सम्बन्धमें ऐसी कल्पना करना बिलकुल युक्तिसङ्गत नहीं है, यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। न्यायसूत्रकारने इन सब मतोंका खण्डन करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि देश-कालसे अतीत आत्मा सर्वव्यापी है। गीता भी यही कहती है। तब यह बात निश्चित हो जाती है कि परमात्मा और सब जीवात्मा ओतप्रोतभावसे आपसमें व्याप्त हैं। प्रत्येक जीवात्मामें ब्रह्म हैं और अन्यान्य जीव भी हैं। वे परस्पर एक-दूसरेमें वर्तमान हैं। अवश्य ही बाहर-भीतर सर्वत्र कहनेसे हमारे मनमें देशका भाव उदय होता है, परन्तु चिन्मय सत्ताके विषयमें बातें करते समय देश-कालके भावका त्याग करना होगा।

इस सिद्धान्तके विरुद्ध यह बात अकसर कही जाती है कि जीवात्मा यदि सर्वव्यापी है तो इसे ब्रह्मकी तरह सर्वज्ञ भी होना चाहिये। परन्तु सबका अनुभव यह है कि जीव सर्वज्ञ नहीं है। इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि ज्ञानका परिमाण चैतन्यकी व्यापकताकी अपेक्षा गभीरत्व या घनत्वके ऊपर अधिक निर्भर करता है। सम्भवतः ऐसा हो सकता है कि ब्रह्म और जीव दोनोंके ओतप्रोतभावसे सर्वव्यापी होनेपर भी ब्रह्म घनीभूत सत्ता (Solidified consciousness as it were) हो और इसलिये सर्वज्ञ हो तथा जीव अतिसूक्ष्म ज्ञानमय सत्ता (Extremely rarified consciousness as it were) हो और इसलिये अल्पज्ञ हो। जो हो, यह जीवके सर्वज्ञ न होनेका वास्तविक कारण हो या न हो, जीव और ब्रह्म दोनोंको चिन्मय सत्ता होनेके लिये और देश-कालसे अतीत होनेके लिये ओतप्रोतभावसे रहना ही होगा और उपनिषद्में स्पष्ट भाषामें कहा गया है कि आत्मा या ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त होनेपर साधक सब भूतोंके अन्दर अपनेको और अपने अन्दर सब भूतोंको देखता है। गीतामें भी यह बात स्पष्ट रूपमें कही गयी है।

जिन्होंने बाइबिलका न्यू टेस्टामेंट पढ़ा है, उन्होंने शायद देखा होगा कि महात्मा ईसाको भी ऐसी ही अनुभूति हुई थी।

हमने जीव और ब्रह्मके सम्बन्धकी बात कहते हुए 'भीतर-बाहर', 'सर्वत्र' प्रभृति शब्दोंका व्यवहार किया है। इससे भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हो सकती है। अतएव यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी होगी कि ये सब शब्द जीव और ब्रह्मके विषयमें प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इन सब शब्दोंमें देश-कालका भाव है। परन्तु जीव और ब्रह्म देश-कालसे अतीत हैं। जो भाषामें प्रकट नहीं किया जा सकता, उसे भाषामें प्रकट करनेके लिये ऐसा किये बिना काम चल नहीं सकता। पाठक इन सब शब्दोंसे भ्रममें न पड़ जायँ, इसलिये गीताने निम्नलिखित दो श्लोकोंके द्वारा उन्हें सावधान कर दिया है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ४-५)

'ब्रह्मके अव्यक्तभावके द्वारा जगत् व्याप्त है । सब भूत ब्रह्ममें स्थित हैं, परन्तु ब्रह्म किसी भूतमें स्थित नहीं है । ब्रह्म सबके पालक और धारक हैं, परन्तु वह किसी भूतसे संश्लिष्ट नहीं हैं । सब भूत भी उनमें स्थित नहीं हैं । यही ब्रह्मकी अघटनघटनापटीयसी शक्ति है।' सरल भाषामें इसका अर्थ यह है कि एक तरहसे देखनेपर कोई भी भूत ब्रह्ममें स्थित नहीं है और एक तरहसे देखनेपर सब भूत ब्रह्ममें स्थित हैं । इस प्रकार विरुद्ध भाव प्रकट करनेवाले वाक्योंका व्यवहार करनेका उद्देश्य यह है कि पाठक जिसमें सर्वदा ध्यानमें रक्खें कि जीव और ब्रह्म दोनों देश-कालसे अतीत हैं । अतएव देश-कालके भावसे परिच्छिन्न भाषाद्वारा उनके बीच क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट रूपमें व्यक्त नहीं किया जा सकता । खैर, जीव और ब्रह्म यदि एक अर्थमें ओतप्रोतभावमें अविच्छिन्न हैं तो एक तरहसे वे भिन्न-भिन्न सत्ता हैं—एक तरहसे वे अंशांशिभाव सम्बन्धविशिष्ट हैं और एक तरहसे एक ही सत्ता हैं । अतएव द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत तीनों भाव उनके सम्बन्धमें वर्तमान हैं । इनमेंसे प्रत्येक सत्य है—अथ च कोई एकमात्र सत्य नहीं है । इसी अर्थमें हमने कहा है कि वैदान्तिक मत सभी सत्य हैं और सभी मिथ्या हैं ।—सत्य इस अर्थमें हैं कि उनमेंसे प्रत्येक ही किसी-न-किसी रूपमें जीव-ब्रह्ममें जो सम्बन्ध है, उसे यथार्थ रूपमें प्रकट करता है, और मिथ्या इस अर्थमें है कि प्रत्येक मत यह बात कहना चाहता है कि यही एकमात्र सत्य है ।

अब पाठकोंके मनमें स्वतः ही यह प्रश्न उठ सकता है कि व्याख्याकारोंमें प्रत्येक असाधारण ज्ञानी और असाधारण पण्डित थे । फिर ऐसी सहज बात उनमेंसे किसीके भी मनमें क्यों नहीं उदय हुई ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक भाष्यकार पहलेसे किसी-न-किसी एक मतके अनुयायी थे, इसीसे प्रत्येकने केवल अपने अनुसृत मतको सत्य मानकर नाना उपायोंसे, उसके साथ बिलकुल विरुद्ध श्रुतिवाक्योंका सामञ्जस्य दिखानेकी चेष्टा की है । उन्होंने यह दिखानेमें कि उनका मत सूत्रकी एकमात्र प्रकृत व्याख्या है, जिस प्रकारकी प्रतिभाका परिचय दिया है, यदि उन्होंने संस्काररहित होकर वास्तविक सत्यका निरूपण करनेके लिये उस प्रकारकी प्रतिभाका व्यवहार किया होता तो निश्चय ही वे इस विषयमें कृतकार्य होते ।

अबतक हमने इसी बातकी आलोचना की है कि वेदान्तके पाँच मतोंमें कौन-सा वेदान्तसूत्रकी प्राकृत व्याख्या है; परन्तु जीव और ब्रह्मके बीच प्रकृत सम्बन्ध क्या है, यह प्रश्न न तो उठा है और न इसकी आलोचना ही हुई है। सूत्रकी वास्तविक व्याख्या क्या है और जीव-ब्रह्मके बीच प्रकृत सम्बन्ध क्या है, ये दोनों एक प्रश्न नहीं हैं ।

अब हम इस शेषोक्त प्रश्नका उत्तर देनेकी चेष्टा करते हैं और उत्तर एक ही बातमें देते हैं । जीव और ब्रह्म सम्यक्रूपमें किस प्रकारके सम्बन्धसे युक्त हैं, इस प्रश्नका उत्तर देना मनुष्यके लिये असम्भव है और इसका कारण भी स्पष्ट और सहजबोध्य है ।

दो वस्तुओंमें क्या सम्बन्ध है, यह ठीक-ठीक जाननेके लिये दोनों वस्तुओंमेंसे प्रत्येकका सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। दोनोंमेंसे किसीके भी विषयमें पूर्ण ज्ञान हुए बिना अथवा केवल एकके विषयमें पूर्ण ज्ञान और दूसरेके विषयमें आंशिक ज्ञान होनेसे दोनोंमें वास्तविक सम्बन्ध क्या है, यह सम्यक्रूपमें कहना सम्भव नहीं है। जीव अर्थात् हमलोगोंके अपने विषयमें हमारा ज्ञान जितना भी क्यों न हो, ब्रह्मके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान अत्यन्त संकीर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं । श्रेष्ठ ज्ञानियोंको भी अनन्त ब्रह्मके विषयमें अत्यन्त सामान्य ही ज्ञान रहता है । यही बात स्पष्ट भाषामें निम्नलिखित श्रुतिवाक्यद्वारा प्रकट की गयी है—

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥
(केन २ । १–२)

जो यह समझते हैं कि हम ब्रह्मको अच्छी तरह जानते हैं, वे ब्रह्मको बहुत थोड़ा जानते हैं । बल्कि कुछ भी नहीं जानते, यही कहना ठीक है । परन्तु जो यह कहते हैं कि हम ब्रह्मको नहीं जानते, यह भी नहीं कह सकते, जानते हैं, यह भी नहीं कह सकते, वे ही ब्रह्मको जानते हैं । यदि यही ठीक हो अर्थात् ब्रह्मको सम्यक्रूपसे जानना जीवके लिये असम्भव हो तो ब्रह्म और जीवके बीच जो सम्बन्ध है, उसे भी सम्यक्रूपसे जानना कैसे सम्भव हो सकता है ? सृष्टि एक निगूढ़ रहस्य है । इसके तत्त्वका उद्घाटन सम्यक्-

रूपसे मनुष्यबुद्धि आजतक नहीं कर सकी है, सम्भवतः कभी नहीं कर सकती। यही बात ऋग्वेदकी निम्नलिखित ऋक्‌द्वारा व्यक्त की गयी है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
(१०।१२९।७)

'यह सृष्टि कैसे हुई, इस रहस्यका यदि कोई भेद कर सकता है तो केवल वही कर सकता है जो इसका अध्यक्ष बनकर परम व्योमधाममें है। बल्कि यहाँतक कह सकते हैं कि वह भी नहीं जान सकता।' 'वह भी नहीं जान सकता' इस सन्देहका कारण यह है कि यदि ब्रह्म जगत्‌के केवल निमित्तकारण हैं और जड जगत्‌का मूल उपादान प्रकृति भी उन्हींकी तरह अनादि है तब एक अनादि तत्त्वके लिये एक दूसरे अनादि तत्त्वका आदि जाननेकी सम्भावना कहाँ है? खैर, जो हो, पाँच सहस्रसे अधिक वर्ष हुए ऋग्वेदमें यह बात लिखी गयी थी। यद्यपि पृथ्वीकी उम्र उस समयकी अपेक्षा आजकल प्रायः पन्द्रह सहस्र वर्ष अधिक हो गयी है, फिर भी रहस्य जैसे उस समय उद्‌घाटित हुआ था, उसी रूपमें आज भी है। तो क्या जीव-ब्रह्ममें जो सम्बन्ध है, उसके विषयमें हमें कोई ज्ञान नहीं है? इस प्रश्नका उत्तर उपनिषद्‌के भावमें ही दिया जा सकता है और भाव यह है कि—जीव और ब्रह्ममें क्या सम्बन्ध है, इसे हम जानते हैं, यह बात भी हम नहीं कह सकते और नहीं जानते, यह भी नहीं कह सकते। ब्रह्म एक अनन्त सत्ता हैं—सब विषयमें अनन्त हैं, अतएव उनके साथ जीवका क्या सम्बन्ध है, यह सम्यक्‌रूपसे जानना असम्भव है। परन्तु यह ज्ञान थोड़ी-बहुत मात्रामें सबको है कि वे हमारे आत्माके आत्मा—परमात्मा हैं, हमारे उपद्रष्टा, अनुमन्तारूपमें सबके अन्दर वर्तमान हैं; इस सत्यकी अनुभूति न्यूनाधिक मात्रामें सबको है। परन्तु जो साधु, महापुरुष हैं, उन्हें उज्ज्वल रूपमें है और जो साधनामें उतना अग्रसर नहीं हुए हैं उन्हें क्षीण रूपमें है, केवल यही अन्तर है। यह ज्ञान थोड़ा-बहुत जो सबके अन्दर है—वह शास्त्रपाठके कारण नहीं है, युक्तिसे उत्पन्न नहीं है, विद्वान् व्यक्तियोंके उपदेशसे भी प्राप्त नहीं हुआ है, बल्कि हमारे अन्तःकरणमें जो भगवद्दत्त आलोक है, वह आलोक ही उसे प्रकट करता है। यह आलोक सबके अन्दर है, कहीं उज्ज्वल है तो कहीं क्षीण है। कोई-कोई उसके चारों ओरके मानसिक आवरणको स्वच्छ और निर्मल रखते हैं, कोई-कोई अपवित्र चिन्तारूप मलके द्वारा उसकी स्वच्छताको एकदम नष्ट कर डालते हैं। जीव और ब्रह्मके बीच क्या सम्बन्ध है, उसे कहाँतक जाननेकी आवश्यकता है, उसे यही आलोक दिखा देता है। चाहे इसे सहज ज्ञान कहो, चाहे आकाशवाणी कहो, चाहे भगवत्प्रेरणा कहो, चाहे ईश्वरकी वाणी कहो, चाहे अन्य कोई नाम दो, किसी भी नामसे उसे क्यों न पुकारो, उस वस्तुकी वास्तविक धारणा होनी चाहिये।

अन्तमें एक प्रार्थना करके लेखका उपसंहार करता हूँ—हे भुवनेश्वर! बतला दो, तुम्हें किस नामसे पुकारूँ; तुमसे मेरा क्या सम्बन्ध है, इस बातको मन जानना चाहता है। पूर्णाद्वैतवादी कहते हैं कि तुम-हम एक ही सत्ता हैं। पूर्ण अभेदज्ञान होनेपर मायाका बन्धन कट जाता है। विशिष्टाद्वैती कहते हैं, तुम देही हो, मैं देह हूँ; तुम्हारे शरण होनेपर ही इस तत्त्वका पता लगता है। भेदाभेदवादी शक्तिमान् और शक्ति बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जीव तुम्हारी अपार शक्तिका अंश है। शुद्धाद्वैती कहते हैं जीव तुम्हारी शुद्ध सत्ताका अंश है। तुमसे जीवका अंशांशिभावसम्बन्ध है, इसमें मायाका लेश भी नहीं है। मध्वमतावलम्बी द्वैतवादी कहते हैं, हम-तुम दोनों अलग-अलग हैं—तुम प्रभु हो, हम सेवक हैं; सेवासे सालोक्यकी प्राप्ति होती है। अद्वैतज्ञानसे मुक्ति होती है। द्वैतका साधन भक्ति है। द्वैताद्वैतका साधन ज्ञानमिश्रा भक्ति है। इस प्रकार नाना मत हैं, सभी ठीक हैं, सभी सत्य हैं। इस तत्त्वको वही जानता है जिसको सहज ज्ञान है। तुम्हीं उपद्रष्टा हो, तुम्हीं अनुमन्ता हो, तुम्हीं भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हो। तुम सबके अन्तरमें विराजमान हो, तुम्हीं परपुरुष हो। कोई कुछ भी क्यों न कहे, मेरा तो मन यही कहता है कि मेरे भीतर-बाहर तुम्हीं हो; तुम मुझमें हो, तुम मुझमें हो।

आध्यात्मिक भूख

(लेखक—पं० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०)

शारीरिक भूखका अनुभव तो सभी प्राणी करते हैं। क्षुधाशान्तिकी दिनमें कई बार आवश्यकता होती है। समयसे भोजन न मिलनेपर बेचैनी मालूम होने लगती है। एक-दो दिन अन्न न पानेपर मनुष्य व्याकुल हो उठता है। और यदि स्वेच्छा या विवशतासे लगातार कई दिनोंतक अनशन करना पड़े तो मनुष्यका शरीर छूट जाता है। इसी प्रकार, केवल पेट ही नहीं, हमारी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने भोग्य पदार्थोंके लिये विकल रहती हैं। वे सदा अपनी तृप्तिके लिये प्रयत्नशील दिखायी पड़ती हैं और कोई भी बाधा उनके लिये असह्य होती है।

इस तरह हमारा पाञ्चभौतिक शरीर प्रतिक्षण भूखसे आक्रान्त रहता है। अब प्रश्न उठता है कि भौतिक क्षुधा तो इतनी वेगवती है, परन्तु इतनी ही तीव्रताके साथ आध्यात्मिक भूखका अनुभव क्यों नहीं होता? मनुष्यसे निम्नकोटिके असंख्य प्राणियोंमें अध्यात्मचिन्तनका अत्यन्त अभाव है, ऐसा सभी विचारक मानते हैं। मनुष्योंमें भी अधिकांशको शरीरपोषणके अतिरिक्त और किसी तत्त्वकी चिन्ता नहीं मालूम पड़ती। बहुतोंको परम्पराके संस्कारसे अध्यात्मका धुँधला आभासमात्र होता है, किन्तु इसमें उनकी विशेष दिलचस्पी नहीं होती। कतिपय विद्वानोंको अध्यात्मविषयमें बौद्धिक जिज्ञासा होती है, परन्तु इसके लिये वे व्याकुल नहीं दिखायी देते। संसारमें ऐसे विरले लोग हैं जो अपनी भौतिक आवश्यकताओंको गौण रूप देकर या उनकी अवहेलना करके अध्यात्म-तत्त्वके अन्वेषणमें एकान्तनिष्ठासे संलग्न हैं, और जो आध्यात्मिक भूखकी वेदनाको भौतिक क्षुधाकी पीडासे कहीं अधिक तीव्रताके साथ अनुभव करते हैं।

इस अवस्थाका कारण क्या है? जो भौतिकवादी हैं वे झट कह उठेंगे कि अध्यात्म कोई वास्तविक तत्त्व नहीं, किन्तु 'असाधारण मन' की कल्पनामात्र है; यही कारण है कि हमारे जीवनमें उसका व्यापक और वास्तविक अनुभव नहीं होता। परन्तु किसी तत्त्वका इसलिये निषेध नहीं हो सकता कि सब लोग उसका अनुभव नहीं करते। जनसाधारण सूक्ष्म भौतिक तत्त्वोंको नहीं जानते। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक इस बातको स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि बहुत-से ऐसे भौतिक तत्त्व हैं जो उनकी ज्ञान-परिधिसे बाहर हैं। अतः आध्यात्मिक तत्त्वका अभाव केवल उसको न जाननेके कारण सिद्ध नहीं हो सकता। आध्यात्मिक भूखकी तीव्रताके अभावका दूसरा ही कारण है।

वास्तवमें शारीरिक भूख और आध्यात्मिक भूखमें मौलिक अन्तर है। शारीरिक क्षुधाकी निवृत्ति स्थूल पदार्थोंसे होती है, जिनको बाहरसे ग्रहण करना होता है; शरीर स्वतः अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकता। इसलिये शरीरमें डाला हुआ अन्न पच जानेपर, भोजनके लंबे वियोगमें मनुष्य अपनेमें कमीका अनुभव करता है और खाद्य सामग्रीके लिये व्याकुल हो उठता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक भूख शरीरकी भूख नहीं, आत्माकी भूख है। आत्मतत्त्व भौतिक अन्नकी भाँति स्थूल न होकर अत्यन्त सूक्ष्म है। वह सर्वव्यापी है, अतएव उसको बाहरसे लानेका प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता। जीवात्मा (बद्ध आत्मा) स्थूल प्रकृतिके सहजात

संस्कारोंसे अपनेको भूल जाता है । वह अपने सहजप्राप्त, स्वाभाविक रूपको ही विस्मृत कर बैठा है । अपनेको जाननेकी चेष्टा ही आध्यात्मिक भूख है । प्रकृतिमें जकड़े हुए जीवोंमें इस चेष्टाका उदय नहीं होता । यही कारण है कि सर्वसाधारण इस भूखका अनुभव नहीं करते । जिनको यह भूख मालूम भी होती है, उनमें आत्माके सहजप्राप्त और केवल अनुभवगम्य होनेके कारण, भौतिक धरातलपर उतना क्षोभ नहीं दिखायी पड़ता जितना कि शारीरिक भूखमें ।

अब विचारणीय यह है कि आध्यात्मिक भूख किनको नहीं लगती । शारीरिक भूखके अभावका कारण तो प्रायः सभी जानते हैं । जिस व्यक्तिकी क्षुधा किसी शारीरिक रोगसे नष्ट हो गयी है, अथवा अन्न प्राप्त कर लेनेसे जिसकी क्षुधा शान्त हो गयी है, उसे भूख नहीं मालूम होती । इस प्रकार नितान्त मूढ़ और सिद्ध ज्ञानीको आध्यात्मिक भूखका अनुभव नहीं होता । जो बिलकुल मूढ़ है, जिसकी बुद्धि तमोगुणसे बिलकुल आच्छादित है, जो दिन-रात भौतिक विषय-भोगोंमें लिप्त रहता है और इस तरह जो अनात्मामें आत्मबुद्धि करके अपने वर्तमान जीवनमें सन्तुष्ट है, उसकी, भवरोगके कारण, आध्यात्मिक भूख मारी जाती है । उसे आत्माका आनन्द, आत्मरति आकृष्ट नहीं करती । फिर इसके लिये वह व्याकुल क्यों हो ? ज्ञानीको भी आध्यात्मिक भूख नहीं सताती, किन्तु इसकी तृप्ति तुष्टिमूलक है, अज्ञानमूलक नहीं । वह आत्मवान् होनेके कारण आत्मामें ही रत है । उसे आनन्द-सुधासागर मिल गया है । इसके बाहर कुछ नहीं है जिसकी वह आकांक्षा करे । वह अमृत पीकर मूक हो गया है । उसको किसी पदार्थके लिये बोलने और चेष्टा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है ।

साधारण लोग तृप्त रहना चाहते हैं । वे तृप्तिको ज्ञान और आनन्दके पैमानेसे मापनेका प्रयत्न नहीं करते । तो, क्या मूढ़को तमोगुणमें ही मस्त रहना चाहिये ? क्या उसकी यह तृप्ति वाञ्छनीय है ? जिनको आध्यात्मिक आनन्दका आभास नहीं मिला है और जो लोग रजोगुणमें पड़े हुए मनुष्योंके दुःखोंसे भयभीत हैं, वे कहेंगे, 'सबसे भले हैं मूढ़, जिनहिं न ब्यापै जगत दुख ।' परन्तु क्या वास्तवमें मानव मूढ़तासे सन्तुष्ट रह सकता है ? वनस्पति और पशु-जगत्के असंख्य प्राणी क्या मूढ़तामें निमग्न रहनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं ? मनुष्य, जो मननशील, मनस्वी जीव है, जिसका मन विशुद्ध बुद्धिसे सञ्चालित हो सकता है और जिसकी बुद्धि स्वभावसे आत्मोन्मुखी है, सदा अपनी तमोगुणी अवस्थासे सन्तुष्ट नहीं रह सकता । वास्तवमें मूढ़ता जीवन भी नहीं है । वह है जीवनका अभाव, अपने स्वरूपके प्रति अनास्था और अपने अस्तित्वके विनाशका मार्ग ।

तमोगुणके पङ्कसे निकलकर आत्मसुखकी प्राप्तिके लिये अग्रसर होनेके लिये एक धक्केकी आवश्यकता है । संसारमें ऐसे धक्कोंकी कमी नहीं है । यहाँ तो प्रतिदिन भूकम्प, ज्वालामुखीके उद्गार, भयङ्कर रोगोंके प्रकोप, मृत्यु और विनाशका ताण्डव हो रहा है । मनुष्यमें इन विस्फोटोंसे क्षुब्ध होनेकी क्षमताका भी अभाव नहीं है । हाँ, उचित समय और साधनकी अपेक्षा है । आत्मस्फुरण, सत्सङ्ग तथा भगवत्कृपासे यह मङ्गलमय अवसर प्राप्त होता है । मनुष्य प्रतिदिन इन दृश्योंको देखता है, किन्तु वह इनसे उदासीन रहता है, मानो उसपर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । किन्तु एक दिन उसके जीवनमें ऐसा आता है जब उसके शरीरमें बिजली दौड़ जाती है, उसका सारा व्यक्तित्व हिल उठता है, उसकी आँखोंके सामनेसे अन्धकारका पर्दा हट जाता है, और वह देखता है कि जिसको वह अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठा

था वह उसका केवल भ्रम था, और जिन पदार्थोंमें वह सुख तथा शान्तिकी खोज कर रहा था उनमें विनाशका बीज छिपा था। इस अनुभवके बाद ही वास्तविक तत्त्वका अन्वेषण प्रारम्भ होता है। इसी अवस्थामें पहुँचकर आध्यात्मिक भूखका अनुभव होता है, अध्यात्मकी प्राप्तिके लिये मनुष्य सचेष्ट, तत्पर और व्याकुल भी होने लगता है।

तमोगुणकी प्रगाढ निद्राके भङ्ग होनेपर रजोगुणमें पदार्पण होता है। रजोगुणमें स्वास्थ्य (आत्मस्थकी अवस्था), ज्ञान और आनन्दकी सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं, यद्यपि इसमें हलचलकी प्रधानता होनेके कारण क्षोभ और दुःखकी आशंका अधिक हो जाती है। रजोगुणसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि यह जडताको नष्ट करके मनुष्यको प्रगतिशील बना देता है। प्रगति स्वास्थ्यका लक्षण है। इससे हमारी आकांक्षाएँ ऊँची उठने लगती हैं। रजोगुणमें राग है, किन्तु इससे मानसिक क्षीणता दूर होकर सजीवता आने लगती है। इसमें जीवनकी भूख होती है, जो अन्ततोगत्वा संसारकी भूलभुलैयासे निकलकर समस्त जीवनके मूलस्रोत अध्यात्मकी ओर जानेकी चेष्टा करती रहती है। फिर भी विषयोंके अजीर्णके कारण अध्यात्मतत्त्वके ग्रहणके लिये अग्निमान्द्य बना रहता है।

परन्तु जिसने कल्याणके मार्गपर चलना प्रारम्भ कर दिया है, चाहे उसकी चाल कितनी ही धीमी हो, अथवा बीच-बीचमें भ्रान्त क्यों न हो जाती हो, उसके गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेकी आशा हो जाती है। जब रजोगुणके कामनायुक्त कर्मचक्रसे निकलकर मनुष्य एक चरण आगे चलता है तब वह सत्त्वगुणके अनुकूल वातावरणमें पहुँच जाता है। यहाँ न तो तमोगुणका अन्धकार और जडता रहती है और न रजोगुणके क्षोभकारी राग। यहाँ मनुष्यका वास्तविक स्वरूप निखरने लगता है। उसमें चेतनता, प्रकाश और ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगती है। सतोगुणी व्यक्तिको अध्यात्मका केवल धुँधला आभास ही नहीं, उसका आंशिक ज्ञान भी सुलभ हो जाता है। इससे अध्यात्मतत्त्वकी जिज्ञासा और जाग्रत् हो उठती है, उसके लिये भूख अधिक तीव्र हो जाती है। इस भूखकी तीव्रता और आध्यात्मिक तत्त्वके लिये व्याकुलताकी यही अवस्था है। किन्तु एक ऐसी भी अवस्था है जिसमें पहुँचनेपर सब प्रकारकी भूखोंके साथ आध्यात्मिक भूखसे भी छुटकारा मिल जाता है। वह अवस्था है गुणोंसे ऊपर उठनेकी, गुणातीत होनेकी। यहाँ सान्त और अपूर्ण जगत्, जिसे अपनेको पूर्ण बनानेकी सदा भूख बनी रहती है, पीछे छूट जाता है और अक्षय तथा अनन्त निधि पाकर मनुष्यको किसी प्रकारकी आकांक्षा नहीं रह जाती।

महावाक्य

(लेखक—डा० वाशीकर)

चैतन्य अचिन्त्य, अव्यक्त, देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित, निराकार, निर्विकार, अचल, अक्रिय, शान्त, सर्वाधार, ध्येय-ध्यातृ-ध्यानरूपत्रिपुटीरहित, सिद्ध, स्वयमेव स्वसंवेद्य है । इसकी अनुभूतिके लिये महावाक्यका ज्ञान होना आवश्यक है ।

शाखाचन्द्रन्यायसे चैतन्यरूप चन्द्रकी (लक्ष्यार्थकी) महावाक्य(वाच्यार्थ) रूप शाखा है ।

[शाखाचन्द्रन्याय–शुक्ल द्वितीयाको आकाशमें चन्द्रकी कला अनायास नहीं देख पड़ती । वह यदि किसीको दिखानी हो तो चन्द्रमाकी कला जहाँसे देख पड़ती है उसके समीप वृक्षकी जो शाखा हो उसी शाखाको दिखाया जाता है, तब उस शाखाके परे चन्द्रमाको देखनेके लिये कहा जाता है । यहाँ शाखा वाच्यार्थ है और चन्द्रमा लक्ष्यार्थ ।]

महावाक्य त्रिपदात्मक है । पहला ‘तत्’ पद, दूसरा ‘त्वं’ पद, और तीसरा ‘असि’ पद । ‘तत्’ पद मायोपाधिक ईश्वरका द्योतक है, ‘त्वं’ पद अविद्योपाधिक जीवका द्योतक है, और ‘असि’ पद माया और अविद्याव्यतिरिक्त इन दोनोंके ऐक्यका द्योतक है ।

‘तत्’ पद और ‘त्वं’ पद, इन दोनोंके दो-दो अर्थ हैं—एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्ष्यार्थ या शुद्धार्थ । वाच्यार्थ जड, मिथ्या और दृश्य हुआ करता है । लक्ष्यार्थ या शुद्धार्थ प्रत्यक्ष वस्तुका स्वप्रकाशानुभव ही होता है ।

‘तत्’ पदका वाच्यार्थ ईश्वर है, ‘त्वं’ पदका वाच्यार्थ जीव है; और इन दोनों पदोंका वाच्यार्थ त्याग देनेसे लक्ष्यार्थ ‘असि’ पद है । ‘असि’ पदमें एकरूप यह त्रिपदात्मक महावाक्य चैतन्यलक्ष्यार्थका वाच्यार्थ है ।

शुद्धसत्त्वात्मक मायासे सञ्चलित, उद्भव-स्थिति-संहारकारणत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व जिस विशिष्ट चैतन्यमें है वही ईश्वर है जो ‘तत्’ पदका वाच्यार्थ है । इन सर्वज्ञत्वादि धर्मोंका अर्थात् वाच्यार्थका त्याग करनेसे लक्ष्यार्थ केवल चैतन्य ही रह जाता है । इसी प्रकार देहधर्म, इन्द्रियधर्म, अन्तःकरणधर्म इत्यादि अज्ञानसे युक्त जीव ‘त्वं’ पदका वाच्यार्थ है और इन धर्मोंका जो साक्षी अर्थात् चैतन्य है वही लक्ष्यार्थ है । ‘असि’ पद ‘तत्’ पद और ‘त्वं’ पद इन दोनोंका शुद्धार्थ और चैतन्यका वाच्यार्थ है, सो ऊपर कह ही आये हैं । इस महावाक्यरूप वाच्यार्थका दृढ़ अनुसन्धान करनेसे स्वरूपतासिद्धिरूप लक्ष्यार्थ सुलभ होता है ।

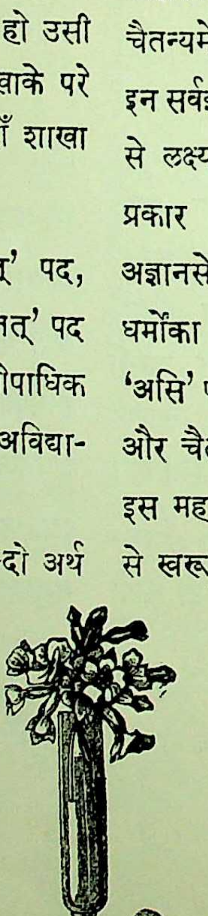

लक्ष्मी-रुक्मिणी-संवाद

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचन्दजी)

एक दिन महारानी रुक्मिणीजीने भगवती लक्ष्मीजीसे मुलाकात की।

रुक्मिणीजी—बहिन! आप अपने पुण्यप्रभावसे संसारकी सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी कहलाती हैं। समस्त नर-नारी आपकी कृपाके भिखारी रहते हैं। आपको यह शक्ति कहाँसे प्राप्त हुई कि जहाँ चाहा वहाँ प्रकट हो गयीं?

लक्ष्मीजी—बहिन! पातिव्रतधर्मसे स्त्रीको शक्ति प्राप्त होती है। व्यापकताकी शक्ति मुझे अपने सतीत्वसे प्राप्त हुई है।

रुक्मिणीजी—आपको किस प्रकारकी स्त्रियोंसे प्रेम रहता है?

लक्ष्मीजी—जो स्त्री अपने पतिके साथ अखण्ड संयोग रखती हुई अक्षय प्रीति रखती है, वह स्त्री मुझे परम प्रिय है। सती और पतिव्रता स्त्रीको मैं अपना ही रूप मानती हूँ और सदा उसके पास रहती हूँ। पतिव्रताके दुःखको मैं अपना दुःख मानती हूँ और उसके सुखको अपना सुख। चाहे महान् पण्डिता हो क्यों न हो, जो स्त्री अपने पतिका अनादर करती है, उसे मैं सदा धिक्कारती रहती हूँ और उसको स्वप्नमें भी अपने पास नहीं फटकने देती। यही मेरा प्राकृतिक स्वभाव है।

रुक्मिणीजी—आपका प्राकृतिक स्वभाव अत्यन्त पवित्र है। क्या पतिव्रता और सतीमें कुछ अन्तर होता है?

लक्ष्मीजी—हाँ, अन्तर होता है। एक जन्ममें एक ही पतिसे रति करनेवाली स्त्री पतिव्रता कहलाती है। पतिव्रताके लिये यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे जन्ममें भी उसे वही पति प्राप्त हो। जिस जन्ममें जो पति मिला, मन-क्रम-वचनसे उसकी सेवा करनेवाली स्त्री पतिव्रता कहलाती है। अपने पतिके सिवा परपतिके साथ आठ प्रकारके मैथुनमेंसे एक प्रकारका भी मैथुन जो स्त्री नहीं करती वही पतिव्रता है। परन्तु जो स्त्री जन्म-जन्मान्तरोंमें एक ही पतिका सङ्ग करती हुई पातिव्रतधर्मका पालन करती है, उसको सती कहते हैं। साधक अवस्थाका नाम पातिव्रत है और सिद्ध अवस्थाका नाम सतीत्व है। जो अन्तर साधु और संतमें है वही अन्तर पतिव्रता और सतीमें है।

रुक्मिणीजी—आप धन्य हैं। आज आपके सत्संगसे मेरे ज्ञानकी वृद्धि हुई है। कृपाकर यह बतलावें कि आठ प्रकारका मैथुन कौन-सा कहलाता है?

लक्ष्मीजी—

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

परपुरुषका श्रवण, कथन, क्रीड़ा, देखना, उससे गुप्त भाषण करना, मिलनेका संकल्प, प्रयत्न और मैथुन।

रुक्मिणीजी—आपको कैसे स्वभाववाली स्त्री पसन्द है?

लक्ष्मीजी—सच बोलनेवाली, क्षमा करनेवाली और दया रखनेवाली स्त्री मुझे अत्यन्त प्रिय लगती है।

रुक्मिणीजी—आपको कैसी स्त्रीसे घृणा है?

लक्ष्मीजी—बदचलन, कपटी, झूठी और निर्दय स्त्रीसे मुझको घृणा रहती है। ऐसी स्त्री मुझे कभी नहीं देख सकती।

रुक्मिणीजी—संसारकी नवयुवतियोंके लिये आपका क्या संदेश है?

लक्ष्मीजी—(१) फ़िज़ूलख़र्ची मत करो । प्रारब्धके अनुसार जिसको जितनी सम्पत्ति प्राप्त हो, उसीमें सन्तोष रक्खो और दुर्लभतासे प्राप्त धनको पानीकी तरह बेपरवाहीसे व्यर्थ न गँवाओ । (२) धनका सञ्चय धर्मके साथ करो । पुरुषको आर्थिक पराधीनतासे छुटकारा प्राप्त होनेसे अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त होती है । अपने पतिको आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करानेके लिये धनका संग्रह करो । परन्तु अधर्मसे पैदा किया हुआ पैसा सारी सम्पत्तिको लेकर, नरकका दरवाज़ा खोल देता है, यह याद रक्खो । (३) अपने पतिके सिवा अन्य किसी पुरुषको पुरुष मत समझो । (४) अपने पतिके द्वारा भगवान्की पूजा करो । (५) अपना घर साफ़ रक्खो । दिनभर काम करनेके बाद घरमें आये हुए पतिको साफ़ घर देखकर अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है । (६) कोई कार्य ऐसा मत करो जिससे शारीरिक सौन्दर्य नष्ट हो । (७) ऐसा रूप भी मत बनाओ जिससे दूसरे लोग तुम्हारी ओर आकर्षित हों । (८) पतिकी उचित बातको सहर्ष स्वीकार करो । और पतिकी अनुचित बातका खण्डन उस प्रकार करो, जिस प्रकार एक मन्त्री अपने राजाकी अनीतिका खण्डन मीठे और अदबके शब्दोंद्वारा करता है । (९) अपने मायकेमें अधिक रहना पसन्द मत करो । (१०) मायकेवालोंकी सलाहसे काम करनेका आग्रह नहीं रक्खो । (११) अपने स्वामीकी निन्दा करना तो दूर, सुनना भी पाप समझो । (१२) किसीके सामने अपने पतिकी गलती बयान मत करो । क्योंकि इससे सुननेवालेके हृदयसे तुम्हारे पतिकी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी । (१३) अपने मनको हमेशा प्रसन्न रक्खो (१४) जब पति निराश हो तो उसको उत्साह दिलाओ । (१५) दूसरोंके बच्चोंको अपने ही बच्चोंकी तरह प्यार करो, उनसे विद्वेष या डाह कभी न करो । (१६) मुसकुराकर पतिसे बात करो, जिससे उसकी थकावट दूर हो । (१७) यदि तुम अपने पतिकी भावनाओंका खयाल रक्खोगी तो पति भी तुम्हारी भावनाका सम्मान करेगा । (१८) पुरुषको दबाकर मत समझाओ, नहीं तो वह सामना करनेपर उतारू हो जायगा । मित्रवत् समझानेसे पुरुष अपना अपमान नहीं मानता । (१९) यदि स्त्री चाहे कि पुरुष उसके अंकुशमें रहे तो उसको सहनकी ढाल और नम्रताकी तलवारसे लड़ना चाहिये । (२०) रातको दूसरेके घरमें मत सोओ । (२१) किसी प्रकारके मादक द्रव्यका सेवन मत करो । (२२) पतिके बाद सोओ और पतिसे पहले जागो । (२३) हानिकारक पदार्थोंकी रसोई मत बनाओ । (२४) बच्चोंको पढ़ाओ और खुद पढ़ो ।

× × ×

रुक्मिणीजी—बहिन ! मैंने सुना है कि जो मनुष्य परमात्माकी भक्ति करता है उसको आप सम्पत्तिहीन बना देती हैं । क्या आप परमात्मासे विरोध रखती हैं ?

लक्ष्मीजी—यहाँपर लोग भूल करते हैं । परमात्मा अपने भक्तको निर्धन करनेका जब हुक्म देते हैं तभी वैसा किया जाता है । लौकिक धनका मोह छूटे बिना भक्तिका धन प्राप्त नहीं हो सकता । भक्तोंके प्रति मुझे व्यक्तिगत रोष नहीं, परितोष है ।

रुक्मिणीजी—क्या स्त्रीको परमात्माकी भक्ति नहीं करनी चाहिये ?

लक्ष्मीजी—अवश्य करनी चाहिये । जब पशु-पक्षी तक परमात्माकी भक्ति करते हैं तब स्त्रीको क्यों नहीं करनी चाहिये । परन्तु विधानके साथ !

रुक्मिणीजी—विधानका क्या अर्थ ?

लक्ष्मीजी–कोई मनुष्य बिना गुरुसेवाके परमात्माकी भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार कोई स्त्री बिना पतिसेवाके परमात्माकी भक्त नहीं बन सकती। नरके लिये गुरु और नारीके लिये पतिका विधान वेदानुकूल है।

रुक्मिणीजी–क्या स्त्रीको स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये?

लक्ष्मीजी–यदि स्त्री अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन कर सके तो स्वाधीन रह सकती है। ब्रह्मचर्यहीन स्वाधीन स्त्रीको ही वेश्या कहते हैं।

रुक्मिणीजी–क्या पुरुषको परस्त्रीगमनसे उतना पाप नहीं लगता जितना पाप स्त्रीको परपुरुषगमनसे लगता है?

लक्ष्मीजी–उतना ही पाप लगता है।

रुक्मिणीजी–फिर पुरुष इस विषयमें इतनी ढील क्यों दिये हैं?

लक्ष्मीजी–बहिन! जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा। कुकर्म सबके लिये कुकर्म है, सुकर्म सबके लिये सुकर्म है। पतिव्रता स्त्री व्यभिचारी पतिको भी धर्मात्मा बनानेकी शक्ति रखती है।

धनका उन्माद

(कहानी)

(लेखक—श्रीचैनसुखदासजी जैन 'न्यायतीर्थ')

वह लोगोंमें भगतजीके नामसे प्रसिद्ध था। पर उसका नामकरणसंस्कार इस नामसे न हुआ था। उसका उस समयका नाम तो नित्यानन्द था। नित्यानन्द कदाचित् उस गाँवमें सबसे अधिक दरिद्री था। लोग कहते थे, दरिद्रता उसकी पैतृक सम्पत्ति है। पुराने बूढ़े लोगोंके मुँहसे सुना है, इसके बाप-दादा और बापका दादा भी इसी तरह रोटियोंके लिये तरसते हुए मरे।

सुबहसे शामतक घोर परिश्रम करनेपर भी बेचारे भगतजी समयपर 'पेट' के लिये अन्न और तनके लिये वस्त्र न पाते थे। यह सब करमका फेर था। सुबह तड़के ही उठकर मन्दिर जाते और वहीं भगवान्का भजन-गान होता। इसके बाद घर आकर दो रोटी पकाकर खाते। भगतजी सबसे पहले मन्दिर जाते और सबसे पीछे आते। सैकड़ों दर्शक दर्शन कर चले जाते, पर भगतजी वहीं अडोल आसन जमाये घंटों ध्यानमें बैठे रहते। जो मन्दिरमें दो मिनट भी न ठहरें वे चार तरकारियोंसे रोटी खावें, चायना सिल्कका कोट पहनें, मौजें उड़ावें; और घंटों भगवान्की भक्तिमें निष्कपट भावसे लीन रहनेवाला साधक दो रोटियोंकी तलाशमें दर-दर भटकता फिरे, यह बात देखकर तार्किक लोग मनमानी कहा करते थे। किन्तु नित्यानन्दका ध्यान इस ओर था ही नहीं, वह तो सब कुछ विधाताके खेल समझता था!

इस प्रकार साधारण आदमी अथवा अपक्क विचारवाले युवकोंके लिये नित्यानन्द एक उपहासकी वस्तु बन गया था। वे चाहे जब उसे कहते—दिनभर ध्यानमें लगे रहनेसे क्या लाभ है? क्या भगवान्के पास कोई खजाना थोड़े ही गड़ा है जो तुम्हें सौंप देंगे। और यदि वहाँ कोई खजाना गड़ा भी हो तो भगवान् तुम्हें क्यों सौंपेंगे। कमाईकी ओर ध्यान दो तो भरपेट रोटी मिले। सुबहका वक्त जो कमाईका है उसे तो तुम यों ही बरबाद कर देते हो। उस वक्त थड़ेपर बैठो तो दो-चार आने मिल

ही जायँ, पर तुम तो बड़े अजब आदमी हो । जब देखो तभी मन्दिर-ही-मन्दिर सूझता है । यदि इसीमें कुछ तथ्य होता तो हमलोग क्या मूर्ख हैं जो इधर ध्यान न देते । तुम हमें यह तो बतलाओ कि घंटों मन्दिरमें बितानेवालोंको भरपेट रोटियाँ भी क्यों नहीं मिलतीं ?

नित्यानन्द ऐसी बातोंका कुछ जवाब न देता । यह इसके लिये एक तरहका ताना था । वह उन्हें विषकी घूँटकी तरह पी जाता । इसके अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता था । जब वह ऐसे लोगोंकी बातें सुनते-सुनते बहुत तंग आ जाता, कभी-कभी केवल इतना कह देता था, तुम्हारी बातें व्यर्थ हैं । मैं इन्हें नहीं सुनना चाहता । धन-सम्पत्तिमें मनुष्यकी महत्ता थोड़े ही है । वह तो वेश्याके पास भी मिल सकती है । क्या मैं भगवद्भजन इसलिये करता हूँ ? भक्तिमें जो आनन्द है, उसे तुम बेचारे क्या जानो ? लोग उसकी बातें सुनकर और भी मज़ाक उड़ाते !

आज नित्यानन्द पिछले दिनभरका भूखा बिछौनेसे उठा है । अन्न न मिलनेसे शरीरमें कुछ थकान-सी मालूम होती थी । उसने पास ही एक दवाखानेमें जाकर हाथ दिखलाया तो वैद्यजी बोले, ज्वर है । आज नहाना मत । भगतजीने कहा, यह कैसे होगा । चाहे मर जाऊँ पर पूजा करना न छोड़ूँगा । और नहाये बिना यह हो नहीं सकता । वैद्यजी बोले, एक दिन यों ही सही । नित्यानन्द वैद्यजीकी बातोंका कुछ भी जवाब न दे दवा लेकर चलता बना । परन्तु नदी जाकर वह नहाया जरूर !

× × ×

भगतजी अडोल आसन जमाये मन्दिरमें बैठे थे । ऐसा मालूम होता था जैसे परब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये कोई योगी बैठा हो । घंटों बीत गये पर आपकी स्थिरतामें कुछ भी अन्तर न आया । अन्तमें ध्यानमें बैठे हुए भगतजीको अकस्मात् एक दिव्य मूर्ति दिखलायी दी । भगतजीने उससे पूछा—'तुम कौन हो ?'

'जिसकी तुम पूजा करते हो ।'

'यहाँ क्यों आये हो ?'

'तुम्हारी जाँच करने और चाह पूरी करनेके लिये ।'

'मेरी क्या जाँच करोगे ? और तुम्हें क्या मालूम कि मैं क्या चाहता हूँ ।'

'मैं तुम्हारे मनकी बातोंको जानता हूँ । तुम्हें मुझसे अधिक पूछताछ करनेकी आवश्यकता नहीं । मैं तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न होकर आज तुम्हें धनियोंके राजा होनेका वरदान देता हूँ ।'

यह कहकर वह दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया । नित्यानन्दने ध्यानकी समाप्तिके बाद आँखें खोलीं तो अपनी इस विचित्र घटनापर उसे आश्चर्य होने लगा । यह विकट पहेली उसके समझमें न आयी । सोचा, चञ्चल मन एक जगह नहीं ठहरता । जब उसे वासनाएँ कहीं उड़ाकर ले जाती हैं तब ऐसा ही होता है । यह एक स्वप्नकी-सी बात थी । पर इससे नित्यानन्दके शरीर और मनमें कुछ शक्ति-सी आ गयी थी । उस दिनकी प्रसन्नता ऐसी थी जैसी आजतक उसके हृदयमें कभी पैदा न हुई थी । मन्दिरसे उठकर वह घर गया तो वहाँ घरका भीतरी दरवाजा खोलते ही उसके आश्चर्यका पार न रहा । वहाँ स्वर्ण, रौप्य और हीरे-मोतियोंके ढेर लगे हुए थे ।

× × ×

इस समय अजयनगरमें नित्यानन्दसिंह एक जबर्दस्त व्यापारी समझे जाते हैं । आपकी इस देशके प्रसिद्ध करोड़पतियोंमें गणना है । कोई दस मिलोंके

आप मालिक होंगे। जिससे कुछ दिन पहले कोई सहानुभूतिके साथ बात भी न करता था, जो अजयनगरका सबसे अधिक दरिद्र और दुखी प्राणी समझा जाता था, आज वह नित्यानन्द नित्यानन्दसिंह बन गया है। जो कुछ अर्से पहले भक्ति और उपासनाका पुतला बना हुआ था, जो अपना अधिकाधिक समय भगवद्भजनमें लगाता था उसे भगवान्‌का नाम लेनेकी भी अब फुरसत नहीं है। ज्यों-ज्यों लक्ष्मीकी कृपा होती गयी, धर्मसे प्रेम हटता गया। धनके इस विचित्र उन्मादने उसमें सिरसे पैरतक पूरा परिवर्तन कर डाला। अब इस सम्बन्धमें कोई इन पहलेके भगतजी और अबके नित्यानन्दसिंह सेठसे बात करता तो आप फरमाते—भाई क्या करें, फुरसत नहीं है। क्या दिनभर मन्दिरमें हो बैठा रहूँ। कुछ घरका काम-काज भी तो देखूँ। गुमाश्तोंके भरोसे काम छोड़ना कारोबारका सत्यानाश करना है। मैं तो व्यापारके सम्बन्धमें 'खेती धणियाँ सेती' इस कहावतको माननेवाला हूँ।

इस समय नित्यानन्दसिंहकी अवस्था करीब ४५ वर्षकी थी। एक वर्षमें ही आपका व्यापार इतना अधिक बढ़ गया था कि लोग इस आमूल परिवर्तनको देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे। इस समय इस देशका सारा व्यापार आपके हाथमें था। मानो आप व्यापारके देवता थे। लोग आपको पृथ्वीका कुबेर कहते थे। आपके आलीशान महलके मुकाबिले राजभवनकी कुछ भी कीमत न थी। सबके मुँहपर इन दिनों केवल सेठ नित्यानन्दसिंहकी ही चर्चा रहती थी।

एक दिन एक अधेड़ अवस्थाके आदमीने आकर कहा—'कमलापति सेठकी लड़की सुभद्रा एक सुयोग्य और अति सुन्दरी कन्या है। सेठजीने मुझे आपके पास भेजकर यह कहलवाया है कि आप इस सम्बन्धको स्वीकार कर लें! उस आदमीकी इस बातका जवाब देते हुए सेठजी बोले—भाई! क्या कहूँ, पाँच सौ जन्मपत्रियाँ आयी हुई हैं। ज्योतिषियोंको दिखलाकर इस विषयमें निर्णय करूँगा। अभी मैं कुछ जवाब नहीं दे सकता। आप भी जन्मपत्री ले आइये। इस विषयमें जल्दी करनेसे मैं कोई लाभ नहीं सोचता। आप अभी जाइये। आवश्यकता होगी तो मैं बुला लूँगा।' यह बात सुन वह आगन्तुक वहाँसे चला गया।

इसके थोड़ी देर बाद एक गरीब आदमीने आकर कहा—'सेठ साहब! मैं दो दिनसे भूखा हूँ। कुछ खानेको मिल जाय तो जान बच जाय और साथ ही एक ओढ़नेके कपड़ेकी भी कृपा हो जाय तो आपका गुण कभी न भूलूँ। आप तो ईश्वरके प्यारे हो, भगवान्‌के हाथ अड़ाकर आये हो।' सेठजी काममें इतने मशगूल थे कि इस भूखे आदमीकी बातोंपर उन्होंने कुछ भी ध्यान न दिया। जब वह सेठजीको सुनानेके लिये बहुत जोरसे बोलने लगा तो आप क्रोधित होकर अपने एक नौकरसे कहने लगे—'यह बड़ा नालायक आदमी है। इसको कह दो, तुरन्त यहाँसे चला जाय; न माने तो धक्का देकर हटा दो! ऐसा हट्टा-कट्टा आदमी कमाकर क्यों नहीं खाता?' सेठजीकी ये बातें सुनकर वहाँसे अपने-आप ही हटते हुए उस भिखारीने कहा—'अरे क्या एक ही वर्षमें अपनी उन पुरानी बातोंको भूल गये। क्या तुम्हें याद नहीं है कि कुछ ही अर्से पहले मेरे समान ही तुम्हारी भी अवस्था थी। भले आदमी! उन अपने पुराने दिनोंको याद कर। मुझे तेरी रोटी नहीं चाहिये। आज मुझे दिनभर कहींसे रोटी नहीं मिली, इसीलिये तेरे द्वारे आया हूँ। नहीं तो यहाँ आनेकी जरूरत ही क्या थी। अगर तेरे पास मेरेलिये कुछ नहीं है तो ईश्वर करे कि तुम्हारे लिये भी कुछ न रहे।'

× × ×

नित्यानन्दसिंह देवोपम शय्यापर सो रहा था। मानो एकाएक किसीने उन्हें हाथ पकड़कर जोरसे कहा—मेरे वरदानका यह दुरुपयोग। यह तो मैंने बड़ा बुरा सौदा किया जो गाँठकी पूँजी देकर भक्तविहीन बना !

नित्यानन्दने कहा—'तुम कौन हो ? और ये क्या बातें कर रहे हो, मेरी समझमें नहीं आता।'

'मैं वह हूँ जिसने तुझे दरिद्र नित्यानन्दसे सेठ नित्यानन्दसिंह बनाया।'

'तुम तो बहुत बड़ी-बड़ी बातें बनाते हो। मैं तो स्वयं ही अपने परिश्रमसे इतना बड़ा बना हूँ। ऐसी मूर्खताकी बातें तो मैंने आजतक (अपने सम्बन्धमें) किसीसे भी नहीं सुनी। तुम यहाँसे चले जाओ। मुझे तुमसे बात करनेके लिये अवकाश नहीं है। जिसकी आँखोंके इशारेपर देशका सारा व्यापारीसमाज नाच रहा हो उसके सामने ऐसी बातें ! ऐसी शरारत करोगे तो धक्के खावोगे, चल दो यहाँसे।'

'क्या मैं अपनी माया समेट लूँ ?'

'मेरी समझमें नहीं आता, तुम क्या कहते हो ? कैसी माया ? कुछ खोलकर साफ़ तो कहो। अरे, तुम्हारी आवाज तो उस कलके भिखारीकी-सी मालूम होती है। क्या तुम भूखे हो, कहो तो रोटियाँ मँगा दूँ ?'

'हाँ, मैं वही हूँ। पर अब मुझे रोटियोंकी जरूरत नहीं है। क्या तुम्हें इस समय मेरा चेहरा नहीं दीख रहा है ? मैं बहुमूल्य हीरोंसे जड़ित मुकुटको सिरपर रक्खे हुए तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। अच्छा ! अब मैं जा रहा हूँ। धनके उन्मादने तुम्हें कितना बदल डाला इस बातपर विचार करता हुआ।' नित्यानन्दसिंह इसका जवाब देनेको ही थे कि एकाएक अलार्म घड़ीने अपनी तीखी आवाज सुनायी। आप तत्काल उठ खड़े हुए। उस स्वप्नपर विचार करते हुए थोड़ी देर निस्तब्ध होकर शय्यापर बैठे रहे। कुछ क्षण बाद एक नौकरने आकर कहा—आप बाहर पधारिये ! कोठीपर सैकड़ों आदमी इकट्ठे हो रहे हैं।

वहाँ जाते ही नित्यानन्दसिंहने जो समाचार सुने उनसे वह बेहोश होकर धड़ामसे जमीनपर गिर पड़े।

× × ×

जूट, सोना और नमकका भाव अत्यधिक गिर जानेसे समयपर भुगतान न हो सकनेके कारण आपका सब कारोबार ठंडा हो गया। कल शामतक जो व्यापारियोंका राजा बना हुआ था आज वही दो रोटियोंकी तलाशमें फिरनेवाला वही पहलेवाला नित्यानन्द बन गया। धनका मद मनुष्यमें कितना परिवर्तन कर देता है यह सब लोगोंने अपनी आँखों देखा। नित्यानन्द 'पुनर्मूषिको भव' के अनुसार पहलेके समान ही कंगाल हो गया। फिर उसका सारा समय भगवान्‌की भक्तिमें मन्दिरमें ही कटने लगा। और वह भगतजीके नामसे पुकारा जाने लगा।

'ध्यानमें बैठे हुए भगतजीको फिर एक बार वह परिचित आकृति दिखलायी दी। उसे देखकर गिड़गिड़ाता हुआ नित्यानन्द बोला—'भगवन् ! अब ऐसी गलती कभी न होगी, इस बार तो मुझे आप क्षमा कीजिये।' पर परिचित आकृतिने कहा—'अब बार-बार मैं तुम्हारे चंगुलमें फँसनेवाला नहीं हूँ। जो मेरी माया थी मैंने समेट ली है। बस ! यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया।'

भक्त-गाथा
श्रवण
कीर्तन
स्मरण
पादसेवन
अर्चन
वन्दन
दास्य
सख्य
आत्मनिवेदन

[भक्तवर लालजी]

(लेखक—पं० श्रीविद्यासागरजी शर्मा, बी० ए०, एल०-एल० बी०)

पंजाब प्रान्तके अन्तर्गत होशियारपुर जिलेमें महंदबानी नामका एक गाँव है । उसमें कुछ काल पूर्व पण्डित मथुरादास नामके एक ब्राह्मण निवास करते थे । वे एक असाधारण व्यक्ति थे । उन्होंने १४ वर्षतक निरन्तर समाधि लगायी थी और उसके पश्चात् दैवाज्ञाका पालन करते हुए गार्हस्थ्य-धर्ममें प्रवेश किया था । गार्हस्थ्य-धर्ममें प्रवेश करनेके अनन्तर उनके दो पुत्र हुए, जिनमें एकका नाम था गोपालजी और दूसरेका नाम था लालजी । ये दोनों ही पुत्र प्रतिभाशाली और होनहार थे । परन्तु गोपालजीकी अपेक्षा लालजीका स्वभाव अधिक सांसारिक था । लोग उनसे व्यावहारिक कामोंमें अत्यन्त निपुणताकी आशा रखते थे । यह किसीको नहीं मालूम था कि बालक लालजीके हृदयमें भगवद्भक्तिकी एक ऐसी चिनगारी विद्यमान है जो अपना प्रचण्ड रूप धारण करनेके लिये किसी अनुकूल वायुका स्पर्शमात्र चाहती है ।

लालजी अभी पूरी तरह जवान भी नहीं होने पाये थे कि उनके पिता पण्डित मथुरादासजीने लगभग १०० वर्षकी अवस्थामें अपने विनश्वर शरीरका परित्याग कर दिया । फिर भी यह कोई ऐसी घटना नहीं थी जो स्वभावतः लालजीके हृदयमें हलचल मचा देनेवाली हो । क्योंकि सभी लोग अपने-पराये हजारों-लाखों प्राणियोंको आँख-कान मूँदकर कालके गालमें समा जाते देखते-सुनते हैं । यदि अधिक शोक हुआ तो कुछ दिनोंतक वियोगकी ज्वालाका अनुभव करते हुए आँसुओंकी धारा बहाकर शान्त हो जाते हैं । सो भी जिस प्राणीकी अवस्था ढलकर स्वयं ही मृत्युका दरवाजा झाँकती रहती है, वह प्राणी चाहे प्रिय-से-प्रिय अथवा पूज्य-से-पूज्य क्यों न हो, उसकी मृत्युसे तो प्रायः सभी सावधान रहते हैं । परन्तु भगवत्प्रेरणासे लालजीके जीवनमें पिताकी इस अवस्थाकी मृत्युने भी क्रान्तिका काम कर दिया । उनको तभीसे संसारके सारे पदार्थ अनित्य जान पड़ने लगे और उनका हृदय नित्य-निरञ्जन प्रभुके भक्तभयहारी चरणोंका दर्शन पानेके लिये ललक उठा । लालजीने बड़ी शान्तिके साथ पिताका दाह-संस्कार किया । दाह-संस्कार हो जानेके उपरान्त सब लोग लालजीके साथ श्मशानसे घरको लौटे । घर पहुँचनेके पश्चात् रिवाजके अनुसार घरके सब लोगोंके लिये भोजन तैयार हुआ । सब लोग भोजन करनेके लिये उद्यत हुए, लालजीसे भी कहा गया; परन्तु लालजीका मन तो कहीं और जगह चला गया था, उनके पास भूख-प्यास कब फटकनेवाली थी । उन्होंने सब लोगोंसे बड़ी विनम्रताके साथ कहा कि 'आपलोग भोजन कीजिये, मैं ११ वें दिनकी क्रियाके पश्चात् यदि हो सका तो भोजन करूँगा ।' सबने उनको बहुत समझाया, परन्तु वह अपने

निश्चयसे कब डिगनेवाले थे । अन्तमें लोगोंने उनको शोकातुर समझकर छोड़ दिया । वे सब लोग इस बातसे अनभिज्ञ ही रह गये कि 'लालजीके हृदयमें संसारको अनित्यताका पूर्णरूपसे ज्ञान हो गया है और उन्होंने किसी नित्य पदार्थकी प्राप्तिके लिये एक अविचल ठान ठान ली है ।'

११ वाँ दिन आया, उस दिनकी क्रिया समाप्त हुई । लालजीसे अबकी बार भोजन करनेके लिये जोरोंसे आग्रह किया गया । गाँवके तथा सगे-सम्बन्धी सभी लोगोंने उनके इस व्रतकी भर्त्सना की । सबने एक स्वरसे कहा—'लालजी, अब तो भोजन कर लो । अब तो तुम्हारा सङ्कल्प पूरा हो गया ।' लालजीने मुस्कुराते हुए बड़ी विनयके साथ उत्तर दिया—'हाँ, आप सबका कहना तो ठीक है; परन्तु मेरा मन अभी भोजन नहीं चाहता । आपलोग मेरे सम्बन्धमें चिन्ता न करें । मैं पिताजीकी बरसी (वार्षिक क्रिया) के पश्चात् भोजनके प्रश्नपर विचार करूँगा ।' यह सुनकर सबका हृदय काँप गया । सबने लालजीके इस भयावह निश्चयको सुनकर आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'भैया लालजी, तुम्हें इस प्रकार हठ नहीं करना चाहिये । देखो, भोजनके बिना एक वर्षतक तुम्हारा शरीर जीवित कैसे रह सकेगा ? मरे हुएके नामपर इस प्रकार मरना ठीक नहीं है । आत्मघात तो महापाप है । चलो, भोजन करो ।' परन्तु लालजीने किसीकी नहीं सुनी । उनके इस विकट व्रतने बिजलीकी तरह सबके हृदयोंमें हड़कम्प मचा दिया । गाँवके इर्द-गिर्दके एक-से-एक प्रभावशाली लोग आये, पर कोई भी लालजीको उनकी प्रतिज्ञासे हिला नहीं सका । अन्तमें सब लोग झुँझलाकर चले गये । इधर एक-एक कर दिन बीतने लगे, यहाँतक कि मास भी बीते; परन्तु लालजीका शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहा । बल्कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, त्यों-त्यों उनके शरीरमें एक दिव्य ज्योतिका सञ्चार होता जाता था । अब जो लोग उनके इस कठिन व्रतको उनके आत्मघातका कारण माने बैठे थे, वे सभी लालजीके अन्न-जलविहीन शरीरका बढ़ता हुआ तेज देखकर दिन-प्रति-दिन उनकी ओर आकर्षित होने लगे । इसी प्रकार वह दिन भी आ गया, जिस दिन लालजीके पिता स्वर्गीय पण्डित मथुरादासजीका वार्षिक श्राद्ध होनेवाला था । वह संस्कार बड़ी धूमधामसे समाप्त हुआ, परन्तु लालजीने उस दिन भी भोजन ग्रहण नहीं किया । अब यद्यपि लालजीकी शक्तिका ज्ञान सबको हो गया था, तथापि सबने उनसे अनुरोध किया—'भैया लालजी, अब तो आपके सभी संकल्प पूरे हो गये । अब तो आपको अन्न-ग्रहण करना ही चाहिये ।' परन्तु यहाँ तो लालजी अन्न ही नहीं, अपितु संसारकी सारी अनित्य वस्तुओंको मनसे छोड़ चुके थे । उन्होंने उसी तरह प्रशान्त और अडिग भावसे मुस्कुराते हुए मधुर शब्दोंमें कहा—'अभी नहीं, चौबरसी (चौथे वर्षपर होनेवाले श्राद्ध) के बाद देखा जायगा ।' इस उत्तरको सुनकर उनके सभी सगे-सम्बन्धी जनोंके हृदय किसी अज्ञात आशंकासे सहमे तो अवश्य, परन्तु लालजीकी अद्भुत क्षमता—उनके देदीप्यमान मुखमण्डलसे बरसनेवाले अपूर्व तेजको देखकर किसीको उनसे फिर कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ । सबने उस रहस्यमय प्रसङ्गको वहीं समाप्त करके अपना-अपना रास्ता लिया । लालजीके इस कठोर तथा हृदय दहला देनेवाले व्रतकी चर्चा दूर-दूरतक गाँव-गाँवमें फैल गयी और लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार टीका-टिप्पणी करते हुए स्वर्गीय पण्डित मथुरादासजीके चतुर्वार्षिक श्राद्धकी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे ।

कालका धर्म ही है व्यतीत होना । सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक न जाने कितने करोड़ युग-

युगान्तर कालदेवताके गालमें समा गये । फिर उन चार वर्षोंमें क्या था ? दिन बीते, मास बीते, वर्ष बीता; यहाँतक कि एक-एक कर चार वर्ष भी बीत गये । स्वर्गीय पण्डित मथुरादासजीकी चौबरसीका दिन आ गया । लालजीने उस संस्कारको भी शान्तिपूर्वक बड़े धूमधामसे सम्पन्न किया । बड़ा भारी भोज हुआ, परन्तु लालजीके मुँहमें तब भी अन्नका एक दाना नहीं गया । लोग हार तो पहले ही चुके थे, फिर भी लालजीके निकट-सम्बन्धियोंसे न रहा गया । उन्होंने अबकी बार हाथ जोड़कर लालजीसे प्रार्थना की—'भैया, अब तो आपका व्रत सब भाँति पूर्ण हो गया । अब भोजन करनेमें क्या आपत्ति है ? भोजन करके हम सब लोगोंकी उत्कण्ठा शान्त कीजिये । आपका यह महान् व्रत अब हमलोगोंसे नहीं देखा जाता ।' लालजीने सोचा कि अब परिस्थितिको साफ कर देना ही उचित जान पड़ता है । उन्होंने अपने सामने उपस्थित सारी जनमण्डलीको सम्बोधित करके गम्भीरतापूर्वक कहा—'आप लोग अधिक आग्रह न करें । मेरा सम्बन्ध आप लोगोंसे यहींतक था । यह शरीर संसारके सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध त्यागकर श्रीभगवान्का हो चुका है । अब इसके लिये श्रीजगन्नाथजीके सिवा और कहीं भी गति नहीं है । आप सब लोग आशीर्वाद दीजिये ।'

यह सुनना था कि सारी भीड़के ऊपर वज्रपात हो गया । लालजीकी सौम्य प्रकृति सबको प्यारी थी; इसके अलावा उनको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करनेवाले माता, पत्नी, भाई, पुत्र आदि सभी उनके घरमें विद्यमान थे । वे सब फूट-फूटकर रोने लगे—हाहाकार मच गया, परन्तु किसीकी ममता लालजीको उनके सुदृढ़ निश्चयसे न डिगा सकी । वे शीघ्रतासे जगन्नाथपुरीकी ओर मुख करके खड़े हो गये । तत्पश्चात् स्तोत्रोंद्वारा उन्होंने भगवान् श्रीजगन्नाथजीकी स्तुति की । और फिर वहीं साष्टाङ्ग दण्डवत् किया । तदनन्तर उन्होंने जिस क्रमसे पुरीकी यात्रा आरम्भ की, उसका वर्णन सुनकर किसका हृदय नहीं दहल जायगा । वीरव्रती लालजीने साष्टाङ्ग दण्डवत्के द्वारा पुरीकी यात्रा आरम्भ की । साष्टाङ्ग दण्डवत् करते समय जहाँ-जहाँ उनकी नाक पड़ती थी, उन्हीं-उन्हीं जगहोंपर पैर रखकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करते वे पुरीकी महान् यात्रामें अग्रसर होने लगे । उनके साथमें एक लँगोटी और लुटियाके अलावा और कोई सामान नहीं था । इस विचित्र यात्रीको देखकर मार्गमें अनेक साधु-संत आकर्षित हो गये और वे सब लोग यात्राके इसी क्रमका अनुगमन करते हुए साथ हो लिये ।

इस प्रकार यात्रा करते-करते जब पुरी पहुँचनेमें ४ कोसका अन्तर रह गया, तब लालजी वहीं ठहर गये । साथके साधु-संतोंने उनके वहाँ ठहर जानेका कारण पूछा । लालजीने कहा—'हमलोग अपने परम प्रभुके दर्शनार्थ इतनी दूर आ गये । अब भगवान् हमारी इच्छा पूरी करनेके लिये क्या चार कोस भी पैदल नहीं चलेंगे ? अब देखना है कि हमारे प्रियतमके सम्मुख हमारे प्रेमका क्या मूल्य है ?' इस उत्तरको सुनकर साथी साधुओंने सोचा कि 'यात्राकी विकटता और भूखके अपार कष्टसे अब लालजीका मस्तिष्क ठिकाने नहीं रह गया है । हम मरें चाहे जियें, भला भगवान् भी कहीं पैदल आकर दर्शन देंगे ?' यह विचारकर प्रायः सभी साधु-संतोंने पुरीतक पहुँचनेके लिये अपनी उसी प्रकारकी यात्रा आरम्भ कर दी । उन बेचारोंने इस अविचल सत्यपर जरा भी विश्वास नहीं किया कि भगवान् अपने सच्चे भक्तके वशमें रहते हैं । भक्तकी जो इच्छा होती है, वही भगवान्की भी होती है । निदान वे चले ही गये । केवल दृढ़ निष्ठावाले चार साधु लालजीका साथ नहीं छोड़ सके ।

उसी स्थानपर बैठे-बैठे कुछ दिन बीत गये। एक दिन उन चारों शिष्योंने देखा कि उनके गुरुदेव—भक्तवर लालजी पलभरमें कई बार आँख खोलते हैं और फिर बंद कर लेते हैं। उन्होंने कुछ देरतक उनकी आँखोंकी इस क्रियाको ध्यानसे देखा और तदनन्तर पूछा—'गुरुदेव, आप यह क्या कर रहे हैं?' भक्तवर लालजीने उत्तर दिया—'इसमें और कोई बात नहीं है। जब आँखें बंद कर लेता हूँ तब तो प्राणप्यारे भगवान्‌के दर्शन होते हैं, परन्तु जब आँखें खोल देता हूँ तो फिर वे लुप्त हो जाते हैं। मुझे तो इसमें उनकी वञ्चना ही दिखायी देती है।' शिष्य इस रहस्यमय उत्तरको सुनकर चुप हो गये।

अब लालजीसे न रहा गया। उन्होंने पीठ फेरना आरम्भ कर दिया। शिष्योंने इसका भी कारण पूछा; परन्तु लालजी तो पीठ फेरनेमें व्यस्त थे, उत्तर कौन देता। तबतक यह आकाशवाणी हुई—'भक्तराज लालजी, आज तुमको अपना चिरवाञ्छित मनोरथ प्राप्त है; परन्तु क्या कारण है कि तुम फिर भी उसकी अवहेलना कर रहे हो?' इस आकाशवाणीको बड़े गौरसे सुनकर भक्तवर लालजीने अपनी बात कहनेका अनुकूल अवसर पाया। उन्होंने उत्तरमें प्रार्थना की—'हे पतितपावन प्रभो, मुझसे पहले इन चार भक्तोंको दर्शन दीजिये। दर्शन पानेके अधिकारी पहले ये ही हैं।' भक्तोंके हृदयमें बसनेवाले भगवान् अपने प्यारे भक्तके इस असीम त्यागको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और साक्षात् प्रकट होकर उन्होंने भक्तवर लालजीके मस्तकपर अपना अभय हाथ रक्खा। साथके चारों भक्त आश्चर्यचकित और आनन्दमग्न होकर आँखें फाड़-फाड़कर भगवान्‌के दिव्य विग्रहका दर्शन करने लगे। लालजीकी प्रसन्नताका क्या कहना! वे भगवान्‌को साक्षात् देखते ही प्रभुके चरणोंसे लिपट गये। भगवान्‌ने उनको उठाया और उनके सिरपर पुनः हाथ रखकर कहा—'भक्तश्रेष्ठ, माँगो, तुम क्या चाहते हो? मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो मुझसे ले सकते हो।' भक्तवर लालजीने उपनिषद्‌के—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य पापानि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—इस वचनके अनुसार ही व्यवहार किया। उन्होंने गद्गद कण्ठसे कहा—'दीनबन्धो, जिसने आपके शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त इस चतुर्भुज रूपको एक बार भी देख लिया, वह अब और किस पदार्थको देखनेकी आकांक्षा करे? यह शरीर जो अपने भक्तवत्सल प्रभुके करकमलोंका स्पर्शानन्द अनुभव कर रहा है, वह अब और किसीका स्पर्श नहीं चाहता। नाथ, कृपा करके इस अकिञ्चन भक्तको यही स्पर्श-सुख अनन्त कालके लिये प्रदान कीजिये। बस, यही एकमात्र कामना है।' भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहा और अन्तर्धान हो गये। भक्तवर लालजीके उन चारों शिष्योंकी आँखें बंद हो गयीं और जब खुलीं तो देखा कि उनके गुरुदेव श्रीलालजीका शवमात्र उनके सामने है।

इस घटनाको हुए आज कई वर्ष बीत गये। परन्तु उस स्थानपर लालजीकी दिव्य समाधि अबतक विद्यमान है और लालजीकी वह लुटिया भी, जो उनके पुत्रद्वारा लायी गयी थी, अबतक उनकी जन्मभूमि मेंहंदवानी नामक गाँवमें पड़ी है। परन्तु यह सुनकर किसका हृदय दुःखित नहीं होगा कि भक्तवर लालजीकी जन्मभूमिमें निवास करनेवालोंने ही अपने अभाग्यवश उन्हें भुला दिया है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

आनन्दयोग

(लेखक—श्रीबृजमोहनजी मिहिर)

जो बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे इसपर खूब मनन करें। ब्रह्माण्डके समस्त गोचर और अगोचर पदार्थ क्षणभंगुर हैं। यहाँकी कोई वस्तु नित्य और टिकाऊ नहीं है। उत्पत्ति और विनाश दोनों एक साथ, एक स्थानपर विद्यमान रहते हैं: आज हम किसी वस्तुकी ओर तेज़ीसे दौड़ते हैं, कल ही हम उससे अपना मुँह मोड़ लेते हैं। आह्लाद और सिहरन दोनों एक ही स्थानपर नृत्य कर रहे हैं। यहींपर हमारी अतृप्त इच्छाएँ, लालसाएँ और अभिलाषाएँ—इन्हें हम जानते हैं कि ये कभी तृप्त न होंगी—सब हमारे भीतर एक साथ रहती हैं। हमारी निराशाओंका एक विस्तृत महानद हमारे सामने अविरल गतिसे बह रहा है। पग-पगपर हमें अपनी कमजोरीका पता चलता है। इस निराशामें भी हम आशाकी एक झलक देखते हैं और उसे समेटकर रख लेनेकी इच्छा करते हैं। प्रेम और स्नेह हमारे मनमें बिजलीकी भाँति चमक उठते हैं, दूसरे दिन मुरझाये हुए पुष्पकी भाँति सूखकर कान्तिहीन हो जाते हैं। पुत्र, कलत्र, मित्रको देखकर हम प्रसन्नतासे खिल उठते हैं; शत्रुको देखकर हमारा हृदय भयभीत हो जाता है और सहम उठता है। अपने यहाँ किसीके पैदा होनेपर हम आनन्द मनाते हैं, मृत्युपर शोकसे विह्वल हो जाते हैं। हमारे घरके समीप नित्य, सर्वत्र उत्पत्ति और मृत्यु होती रहती है; उससे हम बिल्कुल अन्यमनस्क रहते हैं। यह इसीलिये कि हम अपनेको औरोंसे अलग माने हुए हैं। पर सब चीजें, जिन्हें हम चाहते हैं और जिन्हें नहीं चाहते, नष्टप्राय हैं और उनका नित्यप्रति क्षय होता रहता है।

जिस ओर निगाह उठाकर देखो, यही गड़बड़ी दीख पड़ेगी। सब जगह घबराहट है, चिन्ता है और अशान्ति है। किसीको किसी वस्तुसे स्थायी सुख नहीं प्राप्त हो रहा है। पर कुछ थोड़े-से लोग, जो विचारशील हैं, जो यहाँकी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं हैं, इसका कारण जानना चाहते हैं, इसके सम्बन्धमें बातचीत करते हैं और किसी ऐसी वस्तुकी खोज करते हैं जिसमें उनके मनको विश्राम मिले और जिससे उनको स्थायी सुख प्राप्त हो।

तब क्या कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ हमलोग रह सकते हों, जहाँ हम सब प्रकारकी इच्छाओंसे मुक्त हों, जहाँ हमें वे इच्छाएँ भी कष्ट न देती हों जिनके चाहनेपर हम उनका सुखभोग कर सके हों? क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ सुख हो, शान्ति हो, चैन हो? क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ अनित्यताका भान न होता हो, जहाँ कोई वस्तु नष्ट न होती हो, जहाँ वस्तुओंमें परिवर्तन न हो? सब वस्तुएँ चल-चित्रकी भाँति आती और जाती रहती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इसीपर विचार करते हैं। वे इसी खोजमें हैं कि क्या कोई वस्तु ऐसी है जो अविनाशी हो!

प्रश्न बहुत ही कठिन है। जिसने अनन्त निधिको प्राप्त नहीं कर लिया है वह इसका उत्तर नहीं दे सकता। जिन्होंने इसे पा लिया है वे इसका उत्तर देते हैं, लेकिन नितान्त अस्पष्ट तोतली भाषामें, मूकके शब्दोंमें। यह दशा अकथनीय है, वर्णनातीत है। जो लोग इस दशाको प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये यही कहा जा सकता है कि अपनी दशाके अनुसार अपने क्रम-विकासके अनुसार वे स्वयं इसपर विचार करें और इसका अनुभव करें। हम उन्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि वे उसको अवश्य पा लेंगे। वे उसके सौन्दर्यमें निवास करेंगे, वे उसकी झाँकी अपने अंदर देखेंगे। जिन्होंने पा लिया है और जो पायेंगे, दोनों ही उस अनन्त आनन्दको एक-दूसरेसे कह नहीं सकते, शब्दोंके द्वारा समझा नहीं सकते।

हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि वहाँ एक ऐसा सत्य है जो सदा एकरस रहता है और जिसे हर एक प्राणी, चाहे वह अल्पवयस्क हो या वयोवृद्ध, पानेकी इच्छा रहनेपर, अपने सुख-दुःख और विचारके अनुभवपर रहकर पा लेगा। सच्ची अभिलाषा होनी चाहिये, उसके पा लेनेमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वह ऐसे सत्यका दर्शन करेगा जिसे वह कहेगा कि यह नित्य और अनन्त है।

यदि तुम पूछो कि उस सत्य वस्तुका स्थान कहाँ है? मैं उसे कहाँ पा सकता हूँ? तो मैं यही कहूँगा, 'तुम उसे अपने भीतर, आनन्दके राज्यमें तलाश करो, और पा जाओगे।'

यदि पा जाओ तो उसे अपने विचारसे समझो और हृदयमें उसके भावका अनुभव करो। अपने आनन्दके राज्यमें उसे पाकर हम यह अनुभव करें कि यह सब सुखोंका सुख है। यह अधिक-से-अधिक निर्मल और पवित्र है। इस भावमें हम बराबर मन और हृदयसे उन्नति करते जायँ। सत्यका यही स्वरूप सबसे बड़ा अवतार है जो सदा एक-सा रहता है। हाँ, इसके लिये कुछ कीमत तो अवश्य अदा करनी होगी। जिस चीजको आजतक तुम बहुत चाहते थे उससे तुम्हें अपना मुँह मोड़ना होगा। उसे समझना होगा कि वह अनित्य है; उसकी शान-शौकत, चमक-दमक तुम्हें अक्षुण्ण आनन्द प्रदान नहीं कर सकती। नीचेका कुहरा और बादल जब हटेगा तो ऊपरके स्वच्छ, निर्मल आकाशका दर्शन करोगे। वहाँ तुम्हें प्रकाशका दर्शन होगा, जिसके सहारे तुम सघन वनसे होकर कुशलतापूर्वक चले जा सकोगे। इस प्रकाशको पाकर फिर तुम्हें भटकना न पड़ेगा।

इस प्रकार आप सब अपनी यात्रा आरम्भ कर दें। हमने उस अनन्तको पा लिया है, उसका दर्शन कर लिया है जो सबसे सुन्दर है, पूर्ण है, सब वस्तुओंका उद्गमस्थान है। जिस वस्तुको हमने पाया है, उसीके ज्ञानको इन टूटे-फूटे शब्दोंमें प्रकट कर सके हैं जो कि पूर्णतः अर्थहीन हैं। परन्तु जब तुम इसे अपना बना लोगे, इसको एक बार अपनी आँखोंसे देख सकोगे, तब तुम इसे भली प्रकार समझोगे, इसके अमरत्वका रसास्वादन करोगे और तब तुम कहोगे कि तुम्हें भी एक ऐसी वस्तु, एक ऐसा हीरा मिल गया है जिसकी चमक सदा एक-सी बनी रहती है और जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो तुम्हें सन्तुष्ट कर सकता हो, तुम्हारी तीव्र प्यासको बुझा सकता हो। यदि है, तो वह सत्य है जो अनन्त है, जिसकी तुम खोज कर रहे हो। लेकिन जो लोग उस अनन्त निधिकी खोजमें हैं उन्हें अपने अंदरसे 'ममकार' और 'अहंकार' को जड़मूलसे नष्ट कर देना होगा। एकत्वमें मित्रताकी जो मिठास है उसका अनुभव करना होगा, उसकी प्रशंसा करनी होगी। मनको उस बुलंदीपर पहुँचाना होगा जहाँ द्वैतकी गन्ध भी न पहुँच सके। केवल एक अपने ही रूपको सबमें देखो; देखो ही नहीं, बल्कि एक हो जाओ। हर एक गुजरती हुई चीजमें अपनी अनन्तताका अनुभव करो। तब संसारकी समस्त वस्तुएँ तुम्हारे लिये नवीन हो जायँगी; सब तुम्हारे आनन्द, तुम्हारे अमरत्वका, गीत गायेंगी'। तब तुम आनन्दके उस राज्यमें प्रवेश करोगे जहाँकी शीतल वायुसे तुम्हारा सारा शरीर शीतलता प्राप्त करेगा। खुदी और सत्य एक स्थानपर निवास नहीं कर सकते। स्वार्थ हमें क्षणभंगुर सुख प्रदान करता है, जिससे बादमें हमें क्लेश और दुःख होता है। चित्तकी भ्रान्तिसे इसमें हम नित्यसत्यकी तलाश करते हैं, जिसका इसमें पाना सर्वथा असम्भव है। लेकिन सत्यसे हमारा आनन्दके राज्यमें प्रवेश होता है जहाँ अपने स्वार्थका हमें कभी स्मरण भी नहीं होता। वहाँ हम जीवनके ऐक्यका अनुभव करते हैं।

अतः यदि हम आनन्दमें प्रवेश करना चाहते हैं तो कार्य चाहे जितना कठिन हो, हमें अपनी 'अहंता'से अवश्य पीछा छुड़ाना होगा। इसके लिये हमें सब कुछ त्यागना होगा। जो हमें अभी असम्भव प्रतीत होता है उसे भी छोड़ना होगा, उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये जो पूर्ण है, नित्य है, अपरिवर्त्तनशील है, जिसे पा जानेपर हम मस्तीसे झूमने लग जाते हैं, अपनेको भूल जाते हैं।

हम सबोंको एक होकर आनन्दके पथपर चलना है। यही हमारी कल्पना है, यही हमारा स्वप्न है। आनन्दको पा लेनेमें ही हमारी प्रसन्नता है। प्रथम इसके कि तुम हमारे साथ चलना चाहो, उस आनन्दका अनुभव करना चाहो, उसपर विचार करना चाहो, तुममें इतनी शक्ति और योग्यता होनी चाहिये कि तुम अपने पुराने विचारोंको, पुराने बन्धनोंको, एकदम छोड़ दो। यदि तुमने अपनेको किसी विचारमें फँसा रक्खा है या किसी रूढ़िके गुलाम हो तो सत्यको कभी नहीं देख सकते, पुराने विचार तुम्हें आगे बढ़नेसे रोकेंगे; उस महान् सत्यका जो सुन्दर है, दिव्य है और सदा नवीन है तुम्हें दर्शन न करने देंगे। जैसे पाण्डुरोगसे पीडित व्यक्तिको सब चीजें पीली ही दिखायी पड़ती हैं वैसे ही वह मनुष्य जिसका मस्तिष्क पुराने विचारोंसे दूषित है, सत्यको भी अपने रंगमें देखेगा।

इस कारणसे जो इसे देखना चाहते हैं, और जो जरूर देखेंगे उन्हें चाहिये कि अपनेको पूर्ण स्वतन्त्र, निर्भीक तथा प्रसन्न बनाकर और अपनेको वशमें करके आवें। इस उन्नतिके लिये तुम्हें अपने अनुभवसे ही काम लेना पड़ेगा। कभी-कभी क्षोभ, अशान्ति, ग्लानि और भावावेशसे हमारा मन आच्छादित हो जाता है। ऐसी दशामें पुरानी कोई प्रिय वस्तु, किसी देवताकी मूर्ति, कोई प्राकृतिक सौन्दर्य, कोई प्रतिमा या चित्र देखकर हम अपने

विचारको उसमें केन्द्रित करते हैं और उससे हमें उस समयके लिये शान्ति मिलती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हमारे मनमें निर्भरताकी भावना है। यह विचार हमारे मनका प्रतिबिम्ब है जिससे हमें क्षणिक शान्ति मिली। लेकिन ऐसी धारणा विशेष लाभप्रद नहीं है। मनकी ऐसी दशामें अनन्त सत्यका स्मरण करना चाहिये। उस समय और. जीवनके प्रत्येक क्षणमें उसीमें निवास करना चाहिये। अपने विचारोंकी कमजोरी और हृदयके भावोंसे प्रेरित होकर हम अनन्त सत्य, अनन्त आनन्दको भूल जाते हैं।

सत्यकी ऐसी कल्पनामें यदि एक बार आपका मन दत्तचित्त हो गया, यदि नित्यानन्दकी आपको सुखानुभूति हो गयी, वहाँकी सुगन्धिसे यदि आपका मस्तिष्क परिपूर्ण हो गया, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ और मेरा यह दावा है कि आप फिर किसी दूसरी ओर अपने मनको न जाने देंगे। आवश्यकता है केवल शुद्ध हृदय और ऐसे पवित्र मनकी जिसमें वह सत्य समा सके। बहुतोंने ऋषिकेश-की गङ्गा और अन्य स्थानोंकी गङ्गामें स्नान किया होगा। ऋषिकेशकी गङ्गामें स्नान करनेसे लोग कहते हैं, चित्त अधिक प्रसन्न होता है। इसका कारण केवल यही है कि यहाँका जल निर्मल और शुद्ध है। उस जलमें प्रवेश करनेसे आपको अपना सारा शरीर दिखलायी पड़ता है। अन्य स्थानोंमें ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार आपका मन और हृदय भी शुद्ध और निर्मल होना चाहिये। उसमें किसी प्रकारका विकार न हो। ऐसे मनमें आप सत्यको उसके वास्तविक स्वरूपमें समझ सकेंगे। एक बार वहाँ प्रवेश हो जानेसे आपको बाहरकी कोई वस्तु अच्छी न लगेगी। यहींसे आप अपनी जीवनयात्रा आरम्भ करते हैं। इसकी इतनी दृढ़ता हो जाय कि मन सदैव इसमें डूबा रहे। यहाँ प्रवेश हो जानेपर आप समस्त चर-अचर, दृष्ट-अदृष्ट स्थानोंके एकमात्र अधिनायक हो जायँगे। सम्राट् अपने राज्यमें बिना किसी रोक-टोकके, निर्विघ्न भ्रमण करता है। उसके आनेकी खबर सुनकर लोग उसके स्वागतके लिये सैकड़ों तरहकी तैयारियाँ करते हैं। उसके पलकके इशारेपर सारा संसार नाचता है।

मामूली हैसियतके आदमियोंको तो कोई पूछता भी नहीं। बल्कि अपने फटे-पुराने कपड़ेमें वह जहाँ जाता है वहीं उसका निरादर होता है और वह घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है। उस बेचारेसे कोई सीधे मुँह बात भी नहीं करता। उसे अपनी दशापर ग्लानि होती है। दर-दरकी ठोकरें खाकर वह सचेत होता है, उसे शीघ्र अपनी दशाका ज्ञान हो जाता है। उसके मनमें अपनी दशा सुधारनेका भाव उदय होता है। जबतक तुम चाकरकी हैसियतसे घूमोगे, तुम्हें कोई न पूछेगा; लेकिन जब तुम समृद्धिशाली हो जाओगे, तुम्हारी हर जगह पूछ होगी।

अतः अपने वास्तविक स्वरूपको जानकर तुम चाहे जहाँ जाओ। लेकिन हम ऐसा नहीं करते। चल वस्तुको हम-लोग अचल समझ लेते हैं। चलमें अचलको तलाश करते हैं। परिणाम यह होता है कि हाथ कुछ नहीं लगता। सत्य और कठिन प्रतीत होने लगता है। चित्तमें अशान्तिका बवंडर उठ खड़ा होता है। प्राप्तव्य पदार्थ कोसों दूर हो ज़ाता है।

सावधानीकी दशामें यदि एक बार भी तुम्हारे अंदर सत्यकी भावना जाग्रत हो गयी है तो उसको फिर कभी न जाने दो। उसको स्थायी रखनेमें चाहे जितने कष्टका अनुभव हो, चाहे जितना दर्द हो, सब सहन करो। इस सिद्धिके लिये जो कुछ भी तुम्हें करना पड़े, करो। यदि सारा संसार तुमसे छूट जाय तो भी कोई चिन्ता न करो। संसार चल है। यहाँके सारे नाते-रिश्ते चल हैं। जब तुम अचल वस्तु—सत्यकी प्राप्ति कर लोगे तो चल वस्तुएँ तुम्हारे अंदर समाहित हो जायँगी। तब फिर तुम चाहे जो करो, चाहे जहाँ जाओ। जहाँ तुम जाओगे वहीं आनन्दकी वर्षा होगी और दूसरे लोग स्वाति-बूँदकी तरह उसे बटोरेंगे। कितने ही मोती बनकर चमकने लगेंगे।

पहल तुम स्वयं सत्यके राज्यमें प्रवेश कर जाओ, फिर तो आनन्द-ही-आनन्द है। अपने व्यक्तित्वसे, अपनी इच्छाकी दृढ़तासे इसे प्राप्त कर लो और इसमें निवास करो। इस कामको तुम स्वयं ही कर सकते हो, तुम्हारे लिये दूसरा कोई न कर सकेगा। एक बार उस अनन्त-राज्यमें प्रवेश भर हो जानेसे सारे दुःख और दरिद्रतासे छुटकारा मिल जायगा। फिर दुनियाका कोई सुख-दुःख तुमपर हावी नहीं हो सकेगा।

तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे। अपने सिवा तुम्हें कुछ नहीं दीख पड़ेगा। यही सत्य है, यही धर्म है, यही आनन्द है, यही सब कुछ है। इसीको हम सब लोगोंको प्राप्त करना है। यदि एकने इसे प्राप्त कर लिया तो सभी प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि सबको प्राप्त करना होगा।

श्रीगुहराज और नाविक केवटका प्रेम-रहस्य

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन')

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अवधकाण्डमें वनयात्राके समय श्रीरघुनाथजीके शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर निषादराज गुह और श्रीगङ्गाजीके घाटकी नाव खेनेवाले घटवार केवटके श्रीरामप्रेमका प्रसंग अद्भुत और अतुलनीय है। इनमें जो परस्पर गुप्त रहस्य है वह भी विलक्षण ही है। सबसे प्रथम तो इस बातका सप्रमाण निर्णय आवश्यक है कि गुहराज और केवट दोनों एक ही व्यक्ति थे या दो। क्योंकि कतिपय कथावाचकों और टीकाकारोंकी सम्मतिमें वे दोनों एक ही व्यक्ति थे तथा अधिकतर लोग उन्हें दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। अतः इसका निर्णय करनेके लिये विचारशील मानसप्रेमियोंकी सन्निधिमें ग्रन्थके मूल वचनोंका ही प्रमाण समर्पण किया जा रहा है—

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥

× × × ×

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बुलाई॥
लिए फलमूल भेंट भरि थारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥
करि दँडवतु भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥
सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥
नाथ कुसल पदपंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीच सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सबु लोगु सिहाऊ॥
कहेउ सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥
बरष चारि दस बासु बन, मुनिब्रत बेषु अहारु।
ग्रामबासु नहि उचित, सुनि गुहहि भयउ दुखभारु॥

× × × ×

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥
लै रघुनाथहि ठाँउ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥
पुरजन करि जोहारु घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये॥
गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस-किसलयमय मृदुल सुहाई॥
सुचि फलमूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी॥
सिय सुमंत भ्राता सहित, कंद-मूल-फल खाइ।
सयनु कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ॥

श्रीरघुनाथजी और श्रीलखनलाल श्रीसीताजी तथा मन्त्री सुमन्तजीके समेत शृङ्गवेरपुर पहुँच गये। यह समाचार जब केवटोंके राजा गुह निषादको मिला, तब वे अत्यन्त निहाल हो गये और शीघ्र ही थालमें फल-मूलादिकी भेंट सजवाकर अपने प्रिय बन्धुवर्गसहित स्वागत करनेके लिये आ पहुँचे। तदनन्तर उन्होंने श्रीचरणोंके समीप भेंटकी थालको सप्रेम समर्पण करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अत्यधिक अनुरागसे श्रीमङ्गलविग्रहके दर्शनानन्दमें निमग्न हो गये। श्रीराघवजीने, जो स्वाभाविक स्नेहसे विवश हो जाते हैं, उनको अति निकट बैठाकर कुशल-क्षेम पूछा। निषादराजने प्रार्थना की कि 'यह तुच्छ जन श्रीचरणोंका दर्शन लाभ करके भाग्यशाली हो गया! अब कुशल-ही-कुशल है। हे नाथ! हे देव, मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति, सम्पूर्ण राज्य (धरनि) और घरबार (राजमहल) आपहीका है। मैं तो अपने समस्त परिवारसमेत आपका तुच्छ-से-तुच्छ—नीच सेवक हूँ। कृपा करके सेवकके पुरमें पधारा जाय और इस दीन-हीन जनको स्वीकारकर—अपनाकर कृतार्थ किया जाय, ताकि संसार इस दासका भाग्य देखकर सिहावे!' श्रीरामजीने निषादराजकी इस प्रार्थनाको सुनकर उत्तर दिया कि 'हे सखा, आप तो सुजान—धर्मज्ञ हैं। मेरे लिये श्रीपिताजीकी ऐसी आज्ञा है कि मैं मुनियोंकी भाँति आहार, व्रत और वेष धारण करके चौदह वर्षतक वनमें ही वास करूँ। अतएव ग्राममें वास करना उचित नहीं है।'

यहाँपर उपर्युक्त दोहेमें कविकुलभूषण, संत-शिरोमणि श्रीगोस्वामिपादके गाम्भीर्यप्रदर्शनका भी थोड़ा-सा आनन्द मानसप्रेमीजन ले लें, तब निषादराजका प्रसङ्ग आगे पढ़ें। 'बरष चारिदस बासु बन' में चौदहके दो भाग किये गये हैं। 'चारि' छोटा भाग है और 'दस' बड़ा भाग है। यहाँ निषादराजसे कथन करते समय पहले छोटे भाग 'चारि' को कहकर पीछे बड़े भाग 'दस' का कथन हुआ है। इससे यह सूचित होता है कि वनवासका अभी थोड़ा-सा ही समय व्यतीत हुआ है, शेष (बाकी) बहुत है। क्योंकि यही बात जब किष्किन्धामें सुग्रीवकी प्रार्थनापर कही गयी है, तो वहाँ बड़े भाग 'दस' को पहिले कहकर छोटे भाग 'चारि' का पीछे कथन हुआ है—

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥

अर्थात् अब अधिकांश समय बीत गया, थोड़ा ही बाकी है। वास्तवमें उस समयतक बारह-तेरह वर्षके लगभग व्यतीत हो चुके थे। पुनः यही बात जब लंकाविजय हो जानेके पीछे विभीषणकी प्रार्थनापर कही गयी है, तो वहाँ अवधि समाप्त हो जानेके कारण किसी भी भागका आगे या पीछे कथन नहीं है और न चौदहकी चरचा ही चलायी गयी है—

पिताबचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥

कैसा काव्यकौशल है कि अवधिके विभाजित शब्दोंकी योजनासे समयके निर्णयका दिग्दर्शन स्वतः हो जाता है! उसके लिये तिथिपत्र आदि क्षेपकोंको पढ़नेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसके अलावा निषादराजजीसे 'ग्राम बासु नहि उचित', सुग्रीवजीसे 'पुर न जाउँ' एवं विभीषणजीसे 'नगर न जाउँ' कहकर यह दरसाया गया है कि 'ग्राम' 'पुर' और 'नगर' ये तीन ही बस्तीके विभाग हैं, (श्रोता त्रिबिध समाज पुर, ग्राम-नगर दुहुँ कूल) और श्रीरामजीने तीनोंमें न जाकर अपना नेम पूर्णरूपसे निभाया। 'पुर' (पुरवा) छोटी बस्तीको कहते हैं, 'ग्राम' (गाँव) मध्यम श्रेणीकी बस्तीको कहा जाता है और 'नगर' (शहर) भारी और बड़ी बस्तीकी संज्ञा है। अतः तीनों प्रसङ्गोंमें बस्तीके तीन विभाग देकर यह लक्ष्य कराया गया है कि श्रीरघुनाथजी तीनोंमेंसे किसीमें भी नहीं गये तथा चौदह वर्षका जीवन वनमें ही व्यतीत किया। यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि ऋषि-आश्रम जो वनमें थे, वहाँ तो पधारते थे न? तो इसका समाधान यह है कि त्रेतायुगमें वनवासियोंके आश्रमोंकी गिनती 'पुर', 'ग्राम' और 'नगर' तीनोंमें नहीं थी। क्योंकि त्रेतायुगमें वन राजाके राज्यमें आयरूप नहीं समझा जाता था। ऋषिलोग उनमें स्वच्छन्दरूपसे निवास करते हुए भजन करते थे—'उदासीन तापस बन रहहीं'। यदि वन भी देश (इलाका) माना गया होता तो 'चक्रवर्ती राज्य त्याग करके चौदह वर्ष वनमें वास करें' ऐसा वर ही न सिद्ध हो पाता। अतएव ऋषि-मुनियोंकी कुटियाँ पुर, ग्राम, नगर किसीकी भी गिनतीमें नहीं थीं।

अस्तु, निषादराज श्रीरघुनाथजीका ऐसा कठोर नियम सुनकर बड़े दुखी हुए और विवश होकर उन्होंने अपने हृदयमें विचार किया कि 'बस्तीके बाहर शीशमका एक बड़ा मनोहर वृक्ष है, उसीके नीचे प्रभुके निवासका प्रबन्ध करूँ।' श्रीसरकारने भी उसे पसंद कर लिया। अतः जबतक श्रीरामजी सन्ध्यावन्दन करनेके लिये गये, तबतक निषादपतिने कुश और पत्तोंकी अत्यन्त कोमल और सुन्दर साथरी बनाकर बिछा रक्खी और उस दिव्य आसनके पास दोनोंमें शुद्ध तथा मीठे-मीठे कन्द और फलोंको भर-भरकर सजा दिया। श्रीरघुनाथजीने सीता, लक्ष्मण और मन्त्री सुमन्तसहित कन्द, मूल और फलोंका भोजन करके शयन किया। लखनलालजी पाँव दबाने लगे।

उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदुबानीं॥
कछुक दूरि सजि बानु सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥
गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठाउँ ठाउँ राखे अतिप्रीती॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथा सरु चाप चढ़ाई॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदयँ बिषादू॥
तनु पुलकित लोचन जलु बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥

× × × ×

सिय रघुबीर कि काननजोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥
कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपनु कीन्ह॥
जेंहि रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥

जब श्रीरामजीको निद्रा आ गयी तब श्रीलक्ष्मणजी सुमन्तजीको भी शयन कराकर कुछ दूरपर वीरासनमें विराज गये और हाथमें धनुष-बाण लेकर पहरा देने लगे। श्रीगुहराजने भी अपने विश्वासी पहरेदारोंको ठौर-ठौर पहरेपर लगा दिया और स्वयं कमरमें तरकस बाँध, धनुषपर बाण चढ़ाकर श्रीलखनलालजीके समीप जा बैठे। श्रीसीतारामजीको पृथ्वीके ऊपर पड़े हुए कुशकी साथरीपर सोते देखकर निषादराजको श्रीअवधके महलोंकी याद आ गयी। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया और नेत्रोंसे जल बहने लगा। वे गद्गद वाणीसे श्रीलक्ष्मणजीसे बोले—"अयोध्याके जिस राजमहलके सुखसाजकी तुलना इन्द्र-सदनसे भी नहीं की जा सकती, वहाँके 'मनिमय रचित चौबारों'में सुन्दर और दुग्धफेनसे भी कोमल बिछौनेवाले पलँगोंपर नित्य शयन करनेवाले आज पृथ्वीपर पड़े हुए कुशकी चटाईपर सो रहे हैं! भला ये कोमल सुकुमार शरीर क्या वनके योग्य थे? जो लोग कहते हैं कि प्रारब्ध बड़ा प्रबल होता है, वे सत्य ही कहते हैं! हाय, कैकयीके कठिन कुटिलपनने इन युगल मंगलविग्रहोंको सुखकी ऐसी अवस्थामें ऐसा कठोर दुःख दे दिया!' इस प्रकार कहते हुए जब निषादराजको भारी विषाद हो गया तो श्रीलखनलालजी उन्हें प्रबोध देते हुए बोले—

बोले लखनु मधुर मृदुबानी। ग्यान-बिराग भगति-रस सानी॥
काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सब भ्राता
जोगु बियोगु भोगु भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम-फंदा
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू
धरनि धाम धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु, रंक नाकपति होइ।
जागें हानि न लाभु कछु, तिमि प्रपंचु जियँ जोइ॥
अस बिचारि नहि कीजिअ रोषू। काहुहि बादि न दीजिअ दोषू॥
मोहनिसाँ सबु सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग-जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंचबियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषयबिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोहु भ्रमु भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥
रामु ब्रह्मु परमारथरूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि,सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु,सुनत मिटहिं जगजाल॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय-रघुबीर-चरन रत होहू॥

श्रीलखनलालजीके वचन कोमल तथा ज्ञान, वराग्य और भक्तिरससे सने हुए थे। वे बोले कि 'हे सखा, कोई किसीको सुख-दुःख देनेवाला नहीं है। सब जीव अपने पूर्वकृत कर्मका ही फल भोगते हैं। संसारमें किसीका संयोग-वियोग होना, अच्छे-बुरे भोगोंका भोगना एवं हित, अनहित, मध्यस्थ (जिससे वैर या प्रीति कुछ भी न हो) आदि नातोंका मानना, ये सब भ्रममात्र हैं—भ्रमके फन्दे हैं। जन्म-मरण आदि जहाँतक जगत्का पसारा (फैलाव) है, सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, काल, धरणी, धाम, धन, गाँव, कुटुम्ब, स्वर्ग, नरक इत्यादि जहाँतक जगत्का व्यवहार है और जो कुछ भी देखने, सुनने या मनन करनेमें आता है, वह सब मोहमूलक है, परमार्थमें कुछ भी नहीं। अर्थात् इन सबकी स्फूर्ति मोहसे ही हो रही है, इनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें कोई भिक्षुक देखता है कि 'मैं राजा हो

गया हूँ' और कोई राजा देखता है कि 'मैं दरिद्र हो गया हूँ', परन्तु जागनेपर न उस भिक्षुकको राजा बननेका लाभ होता है और न नृपको ही दरिद्र हो जानेकी हानि होती है, उसी प्रकार जीवको इस जगत्का प्रपञ्च स्वप्नवत् भासता है। अतः हे सखा! ऐसा विचारकर किसीपर रोष न कीजिये और व्यर्थ ही किसीको दोषी भी न बनाइये। क्योंकि सब जीव मोहरात्रिमें सो रहे हैं और हानि-लाभ, सुख-दुःखादि उपर्युक्त बातोंका अनेक प्रकारसे स्वप्न देख रहे हैं। इस संसाररात्रिमें जगत्-प्रपञ्चसे सर्वथा अलग रहकर परमार्थका साधन करनेवाले केवल योगीजन ही जागते हैं। इस संसाररूपी रात्रिमें उसी जीवको जगा हुआ समझना चाहिये जिसको सम्पूर्ण विषयोंसे वैराग्य हो गया है; (क्योंकि विषयसे विरक्त जीवोंको) जब विवेक पैदा होता है और उसके द्वारा मोहकी निवृत्ति हो जाती है, तभी श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग होता है। हे सखा, परम परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचनसे श्रीरामजीके चरणोंमें स्नेह हो जाय। श्रीरघुनाथजी साक्षात् ब्रह्म, परमार्थके स्वरूप हैं। यही सकल विकारोंसे रहित, देश, काल, वस्तु आदि भेदोंसे परे, और अनादि, अनुपम, व्यापक विभु हैं। इन्हींको वेद 'नेति नेति' कहकर सदा निरूपण करता है। यही कृपालु भगवान् भक्तों, ब्राह्मणों, देवताओं और गौओंका कल्याण करने एवं पृथिवीका भार उतारनेके लिये मनुज-अवतार धारणकर यह सब चरित्र कर रहे हैं, जिसको सुनने मात्रसे संसाररूपी जालका नाश हो जाता है। (अतः) हे सखा, ऐसा निश्चय करके मोह छोड़िये और श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम-भक्ति कीजिये।'*

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीके गुणानुवादका कथन करते-करते प्रातःकाल हो गया—'कहत रामगुन भा भिनुसारा'।

'श्रीरघुनाथजी जगे, शौच-स्नानादि नित्य नेमसे निवृत्त होकर वटका दूध मँगवाया और अनुजके सहित सिरके घुँघराले बालोंकी जटा बनायी। उस रूपको देखकर सुमन्त मन्त्रीके नेत्रोंमें जल छा गया। उन्होंने हाथ जोड़कर श्रीचक्रवर्ती दशरथजी महाराजके सन्देश तथा अभिप्रायका निवेदन किया, जिसका उचित उत्तर पानेके पश्चात् अपनेको भी साथ ले चलनेकी प्रार्थना की। परन्तु हर तरहसे मजबूर होकर उनको (सुमन्तको) अवध ही लौटना पड़ा—

---

* श्रीतुलसीकृत मानसबीजककी हस्तलिखित प्रतिमें श्रीलखनलालजीके इस उपदेशभागको 'लक्ष्मणगीता' प्रसङ्ग नाम दिया गया है। वास्तवमें यह 'लक्ष्मणगीता' ही है। इसी उपदेशका प्रभाव है जिसने निषादराजको श्रीलखनलालका रूप बना दिया और श्रीरघुनाथजीके प्रति एक भावकी अतुल भक्तिद्वारा गुरु-शिष्य दोनोंने भक्तभूषण बननेका सौभाग्य प्राप्त किया। जैसे श्रीलखनलालजी—

गुरु पितुमातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥

इस तरहकी अपनी विशुद्ध धारणाके अनुसार प्रभुहृदयमें तनिकभर 'खँभार' देखते ही श्रीभरतजीका दलसहित संहार करनेके लिये कटिबद्ध हो गये थे, ठीक वैसे ही श्रीनिषादराजने भी अपनी स्थिति दृढ़ की थी। यथा—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरितीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा॥
भरतु भाइ नृपु, मैं जनु नीचू। बड़ें भाग अस पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मंगल मोरें॥
साधुसमाज न जाकर लेखा। रामभगत महँ तासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महिभारू। जननी-जौबन-बिटप-कुठारू॥

इस असार संसारको मोहमूलक तथा स्वप्नवत् निश्चय कर लेनेका ही यह परिचय है कि तन, मन, धन, सबको प्रभुके अर्थ समर्पित करके अपना परम सौभाग्य समझा जा रहा है। निषादराज श्रीराघवजीके 'निहोरे' अपना प्राण तो हथेलीपर लिये ही हैं, औरोंको भी कैसी शिक्षा दे रहे हैं कि 'हे भाइयो! हे मेरी सेनाके सुभटगण! आजकी मृत्यु बड़े भाग्यसे प्राप्त होनेवाली है। क्योंकि एक तो समरका मरना है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
(गीता)

बरबस राम सुमंतु पठाए ।

और—

सुरसरि तीर आपु तब आए ॥

मागी नाव, न केवट आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥

अब यहाँसे केवटका (नाव खेनेवाले मल्लाहका) प्रसङ्ग आरम्भ होता है । यहाँपर श्रीरामजी, श्रीसीताजी, श्रीलखनलालजी और निषादराज चारों मूर्त्तियाँ साथ हैं तथा श्रीगङ्गाजीके तीरपर आकर पार होनेके लिये घाट खेनेवाले घटवार मल्लाहसे, जो धारामें नावपर था, नाव किनारे लानेके लिये आज्ञा कर रहे हैं। परन्तु वह केवट (नाविक) उत्तर देता है कि 'हे महाराज, मैं नाव नहीं लाऊँगा, क्योंकि मुझको आपका मर्म मालूम है । सब लोग कहते हैं कि आपकी चरणरजमें मनुष्य पैदा करनेवली कोई जड़ी है—

चरन-कमल-रज कहुँ सबु कहई । मानुषि करनि मूरि कछु अहई ॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ-कठिनाई ॥
तरनिउ मुनिघरनी होइ जाई । बाट परै, मोरि नाव उड़ाई ॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू । नहि जानउँ कछु और कबारू ॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू । मोहि पदपदुम पखारन कहहू ॥

जब चरणरजको छूते ही पत्थरकी शिला सुन्दरी 'नारि' (अहल्या) बन गयी तो पत्थरसे काष्ठ कठोर नहीं होता । कहीं हमारी नौका भी मुनिकी स्त्री बन गयी तो हे नाथ, इससे आपका तो हरजा ही होगा क्योंकि बाट पड़ जायगी अर्थात् नाव न रहनेसे आप पार न जा सकेंगे, रास्ता रुक जायगा, और मेरी भी हानि होगी, क्योंकि नौका (स्त्री होकर उसी तरह) उड़ जायगी (जैसे वह शिला अहल्या बनकर उड़ गयी थी) । इस नौकाहीके द्वारा मेरे सारे कुटुम्बका प्रतिपालन होता है, दूसरा कोई भी उद्यम मैं नहीं जानता । अतः यदि प्रभुको अवश्य ही पार जाना है तो मुझको आज्ञा दी जाय कि मैं आपके चरणकमलोंकी रज धोलूँ—

पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव, न नाथ उतराई चहौं ।
मोहि राम ! राउरि आन, दसरथ-सपथ, सब साँची कहौं ॥
बरु तीर मारहु लखनु, पै जब लगि न पाय पखारिहौं ।
तब लगि न तुलसीदासु नाथ ! कृपाल पार उतारिहौं ॥

मैं नाथसे उतराई नहीं चाहता हूँ—केवल चरण-कमल धोकर ही नावपर चढ़ा लूँगा । परन्तु जबतक मैं पाँव पखार न लूँगा तबतक लखनलाल (जो क्रुद्ध-चेष्टाएँ कर रहे हैं) मुझे बाणसे मार ही क्यों न डालें, मैं कदापि पार उतारनेके लिये तैयार न होऊँगा । हे नाथ ! यह बात मैं आपकी और आपके पिता दशरथजीकी सौगंध खाकर सच-सच कह रहा हूँ ।'

दूसरे श्रीगङ्गाजीका तट है—जहाँपर मृतककी अस्थि पहुँच जानेसे ही मोक्ष मिल जाता है । तीसरे श्रीरामजीका सेवाकार्य है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
(गीता)

चौथे यह शरीर क्षणभङ्गुर है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (गीता)

और पाँचवें श्रीभरतजी श्रीरामजीके भ्राता हैं—

जे मृग रामबानके मारे । ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥

'निरबानदायकु क्रोधु जाकर' उनके हाथसे मरण है । इसके अतिरिक्त इस लक्ष्मणगीताके निष्ठापूर्वक श्रवण और निदिध्यासनसे मनमें यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि 'जिसकी साधुसमाजमें गिनती नहीं, उसमें रामभक्तका चिह्न ही नहीं है । वह इस जगत्में व्यर्थ जीनेवाला और पृथ्वीका भार-स्वरूप है । वह नाहक ही जन्म लेकर अपनी माताकी युवावस्थाका हन्ता बना है ।' अतः लखनलालजीका वह सदुपदेश और निषादराजकी सद्धारणा धन्य है जिसने शिष्यको गुरुका विग्रह बना दिया । यथा—

१–गाउँ जाति गुहु नाउँ सुनाई । कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥
करत दंडवतु देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेमु न हृदयँ समाइ ॥

२–कहि निषाद निज नामु सुबानीं । सादर सकल जोहारीं रानीं ॥
जानि लखन सम देहिं असीसा । जिअहु सुखी सय लाख बरीसा ॥

३–निरखि निषादु नगर-नर-नारी । भए सुखी जनु लखनु निहारी ॥

श्रीभरतजी, सकल माताएँ, समस्त अयोध्यावासी, जो भी निषादराजसे मिलते हैं, उन्हें यही प्रतीत हो रहा है मानो वे श्रीलक्ष्मणजीसे ही मिल रहे हैं । ऐसे परमभागवत निषादराज धन्य हैं !

सुनि केवटके बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी-लखन तन॥

उस केवट (नाविक) के प्रेमसे लपेटे हुए अटपटे उत्तरको सुनकर करुणाधाम श्रीरामजी श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँस पड़े—ताकि वे लोग इस कथनपर रुष्ट न हो जायँ, बल्कि यह समझ जायँ कि प्रभु इसपर प्रसन्न हैं। श्रीचरणोंको धोकर चरणोदक लेनेकी चाहसे केवटके वाक्योंमें जो प्रेम लिपट रहा था, उस प्रेमभावपर श्रीरामजीकी कृपा-दृष्टि थी—'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।' परन्तु सच्चे सेवकोंसे स्वामीकी अवज्ञा या अपमान कैसे सहा जा सकता है? अतः सम्भावना थी कि श्रीसीताजी और श्रीलखनलाल उसे अनिष्ट जानकर क्रोध न कर दें! क्योंकि झूठमूठ एक बेपरकी बात पैदा करना कि 'चरणरज स्त्री बनानेकी जड़ी है' और यह ढिठाई करना कि 'आपकी और आपके बापकी कसम खाकर सब सच-सच कहता हूँ' उसकी अटपटी बातोंके प्रमाण हैं। इसीलिये यहाँपर 'करुनाऐन' विशेषण लाया गया है। प्रभु ऐसे दयानिधान हैं कि—

कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत रामु जानि जन-जीकी॥

अतः श्रीरामजी उसके अटपटे (अनुचित) कथन-पर तनिक भी ध्यान न देकर—बल्कि प्रेमभावपर रीझकर स्वयं भी प्रसन्न हो रहे हैं और अपने विहँसने (प्रसन्नमुद्रा) के द्वारा श्रीसीताजी तथा श्रीलखन-लालजीको भी प्रसन्न कर रहे हैं। इस सोरठेके अर्थमें बड़े-बड़े किस्से-कहानियोंको जोड़-जोड़कर चितवने और बिहँसनेके तरह-तरहके भाव पैदा किये जाते हैं, परन्तु निचली चौपाईसे श्रीरघुनाथजीके केवल प्रसन्नतासूचक भावकी ही पुष्टि हो रही है—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेंहि तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जलु पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥

कृपाके समुद्र श्रीरामजी केवटसे भी मुसकराकर ही बोले (जिससे उसको भी उनकी प्रसन्नता ही सूचित हो) कि जल्दीसे जल लाकर पाँव पखार ले। वही कर ले जिससे तेरी नाव बच जाय! यहाँ एक प्रश्न अवश्य पैदा होता है कि जब निषादराज भी भगवान्‌के साथ ही सेवामें हाजिर हैं, तब उनके रहते नाविक केवटको ऐसी हिम्मत कैसे पड़ी और उन्होंने उसे डाँट क्यों नहीं दिया? प्रभुके साथ राजाका वैसा वर्ताव देखते हुए भी क्या किसी प्रजा या सेवकका ऐसा साहस कदापि हो सकता है? इससे यह बात स्पष्ट हो रही है कि वास्तवमें 'चरणोदकप्राप्ति' की यह युक्ति निषादराज गुहकी ही बतलायी हुई थी। यदि गुहराजकी अनुमति न होती तो क्या मजाल था कि केवट ऐसी छेड़छाड़ करता! अवश्य ही गुहराज-के द्वारा यह सिखलाया गया था कि 'इस विनोदी प्रार्थनाके साथ श्रीरघुनाथजीका चरणोदक प्राप्त कर लिया जाय जिससे समस्त कुलका उद्धार हो जाय।' अतएव श्रीचरणप्रक्षालनके सौभाग्यभाजन भी निषाद-राज ही थे, केवट नाविक तो एक ओट बनाया गया था। अस्तु—

केवट राम-रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लै आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन-सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥
पद पखारि, जलु पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि, प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लै पार॥

श्रीरामजीकी प्रसन्नतापूर्ण आज्ञा पाते ही नाविक केवट काष्ठके पात्र—कठवतेमें जल भरकर लाया। [यह भी सिखाये हुए उस नाट्यका कौशल ही था—जिससे दर्शकोंको केवटके सन्देहका यहाँतक विश्वास हो जाय कि 'वह अपने सन्देहके निवृत्त्यर्थ काष्ठका ही पात्र लाया है' और पूरा भरकर लाना इस लक्ष्यका द्योतन कर रहा है कि 'बहुत पीनेवाले हैं, सबको अँट जाय'] श्रीरामजीके चरणकमलोंको

जिस समय वह अत्यन्त अनुरागानन्दमें उमँगकर पखारने लगा, उस समय सम्पूर्ण देवगण पुष्पोंकी वर्षा करके उसके भाग्यपर सिहाने लगे कि 'ऐसा पुण्यशाली कोई भी नहीं होगा।' उसको अगुआ बनानेवाले निषादराज श्रीगुहजी तथा और भी जो बन्धुवर्ग वहाँ उपस्थित थे, सबने पद पखारने तथा पादोदकपान करनेका सौभाग्य प्राप्त किया। इस प्रकार अपने समस्त परिवार और स्वर्गोत्थित पितरोंको जब उसने भवसागरके पार लगा लिया, तब हर्षके साथ प्रभुको श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और निषादराज गुहसमेत गंगापार उतारा।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेताँ। सीय राम गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवतु कीन्हा। प्रभुहि सकुच, यहि नहि कुछ दीन्हा।
पिय-हियकी सिय जाननिहारी। मनि-मुदरी मन मुदित उतारी
कहेउ कृपाल, लेहु उतराई। केवट चरन गहेउ अकुलाई॥
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिदु दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरति बार मोहि जो कछु देवा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय नहि कछु केवटु लेइ॥
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

जब श्रीसीतारामजी लखनलाल और गुहराजसहित नावसे उतरकर श्रीगंगाजीके उस पार रेतमें खड़े हो गये, तब केवट (नाविक) ने नावसे उतरकर दण्डवत् किया (यहाँ भी गुहराज और केवटका अलग-अलग उतरना स्पष्ट है)। श्रीरामजीको इस बातका संकोच हुआ कि 'मैंने इसे कुछ भी उतराई नहीं दी।' तबतक श्रीजानकीजीने पतिके हृदयकी बात जानकर प्रसन्न मनसे अपनी मणिमुद्रिका उतार ली और उसको लेकर कृपालु रामजीने आज्ञा की कि 'यह उतराई ले लीजिये।' इसपर केवट आकुल होकर चरणोंमें गिर पड़ा और प्रार्थना की कि 'हे नाथ आज मुझे क्या मिलना बाकी है? मेरे सम्पूर्ण 'दोष' (पूर्वकृत पाप), 'दुःख-दारिद्र्य' (वर्तमान मानसिक और शारीरिक क्लेश) और 'दावा' (भविष्य जन्म-मरणादि संसृति) मिट गये। बहुत कालसे मैं मजदूरी कर रहा था—(आपकी चरणजा श्रीगंगाजीकी शरण लेकर इन्हींका दर्शन-स्पर्शन कर रहा था) आज विधाताने उसकी भली और 'भूरी' (बहुत) बनि (मजदूरी) इकट्ठा करके दे दी। हे नाथ, अब मुझको और कुछ भी नहीं चाहिये। हे दीनदयाल, आपका अनुग्रह ही मेरे लिये बहुत है। आप लौटते समय जो कुछ भी दे देंगे उस प्रसादको मैं शिरोधार्य करूँगा।' तीनों सरकारोंने बहुत चाहा, परन्तु उसने जब किसी तरह नहीं लिया, तब करुणायतन श्रीरघुनाथजीने उसको अपनी भक्तिका विमल वर देकर विदा किया।

बस, केवट (नाविक) का प्रसंग, जो 'मागी नाव, न केवट आना' से आरम्भ हुआ था, यहीं समाप्त हो जाता है। यह प्रसंग केवल गंगातट और नावसे ही सम्बन्ध रखता है और निषादराज गुहजी अपनी राजधानी श्रृंगवेरपुरमें प्रभुके पहुँचनेके समयसे ही स्वागतमें लगे हैं तथा श्रीगंगाजीको पार कराकर साथ-साथ आगे भी बढ़े हैं। जैसे—

तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु, भा उर दाहू॥
दीन बचन गुहु कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन-सेवकाई॥
जेहिं बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहुँ जसि देबि रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर-दोहाई॥
सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥

तब गनपति-सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥

श्रीतीर्थराज प्रयाग पहुँचकर सखा गुहराजको क्षेत्रका माहात्म्य सुनाया गया। फिर श्रीभरद्वाज

ऋषिके यहाँ निषादराजसहित फलाहार करने और प्रयागसे भी उनको लेकर आगे बढ़नेका प्रमाण है——

कहि सिय-लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज-बड़ाई॥

× × × ×

सीय लखन जन सहित सुहाए। अतिरुचि राम मूल-फल खाए॥
राम कीन्ह बिश्रामु निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥

यमुना पार हो जानेके बाद जब गुप्त तापस-मिलन हुआ है, वहाँपर निषादके दण्डवत् करनेका प्रमाण मिलता है और वहींसे उनको समझा-बुझाकर वापस किया गया है——

कीन्ह निषाद दंडवतु तेही। मिलेउ मुदित लखि राम-सनेही॥
तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम-रजायसु सीस धरि, भवन गवनु तेंइ कीन्ह॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीको यमुनाके पारतक पहुँचाकर श्रीगुहराजजी श्रृंगवेरपुर लौटे। जब श्रीभरतजी अवधसमाजसहित चित्रकूट जा रहे थे, तब भी निषादराज उनके साथ वहाँतक गये थे और उसी समाजके साथ श्रीरामजीका दरस, परस, समागमादि करके लौट भी आये। लंकाविजयके पश्चात् श्रीरघुनाथजीकी राजगद्दीके समय इनका श्रीअवधधामको भी जाना हुआ था, जिसकी बिदाईकी कथा उत्तरकाण्डमें यों है——

पुनि कृपाल लिअ बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥
जाहु भवन, मम सुमिरनु करेहू। मन-क्रम-बचन धरमु अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥
बचन सुनत उपजा सुखु भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥
चरन-नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु-सुभाउ परिजनहि सुनावा

अस्तु, उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि निषादोंके राजा जिनका नाम गुह था, वे भिन्न थे और नाव खेनेवाला केवट (निषाद) दूसरा था। दोनोंकी जाति एक ही थी, अतः कहीं-कहीं निषादराज गुहजीके लिये भी 'केवट' (जातिनाम) शब्दका प्रयोग हुआ है। परन्तु घाट खेनेवाला निषाद गरीब केवट था और गुहजी राजा थे। उन्हींकी युक्ति और अनुमतिसे केवटद्वारा चरणोदककी प्राप्ति हुई थी। केवटकी कथा केवल गंगातटपर है और गुहराजकी सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्डमें भी मौजूद है। गुहराजजी बड़े प्रतापी राजा थे। उनके पास बड़ी भारी सेना थी। इन्होंने रातभरमें इतनी नावें इकट्ठा करा दी थीं कि श्रीभरतजीका सारा समाज, जिसका वारापार न था, एक ही खेवेमें यमुना पार हो गया!——

प्रात पार भए एकहिं खेवाँ। तोषे रामसखा करि सेवा॥

श्रीरामजीने इनको अपना 'सखा' स्वीकार किया था। इनकी भक्ति और गौरवकी अतुलनीय गाथा मानसमें भरी पड़ी है। श्रीभरतजी-सरीखे भक्तशिरोमणिने —

रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

—इनको हृदयसे लगा लिया था—

भरत लीन्ह उर लाइ।······प्रेम न हृदय समाइ।

श्रीवशिष्ठजीने भी—

रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेहु समेटा॥

क्योंकि वे जानते थे—

यहि तो राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा॥

अतएव—

बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं।
यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं॥
तेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापतिभजनको, प्रगट प्रतापप्रभाउ॥

भक्तमालमें गुहराजजीकी भक्तिके सम्बन्धमें यह लिखा है कि जिस प्रकार चित्रकूटसे लौटनेपर श्रीभरतजीने 'महि खनि कुस साथरी सँवारी' थी, उसी प्रकार निषादराज भी चौदह वर्षतक नेत्र मूँदकर रहे। रोते-रोते उनकी आँखोंसे रुधिरतक गिरने लगा था; परन्तु उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'श्रीरामरूपको देखकर ही नेत्र खुलेंगे, वरना बंद ही रह जायँगे।' अस्तु, जब मुँदे हुए नेत्रोंवाले निषादराजजीने सुना कि प्रभु आये हैं तब आकाशमें विमान न देखते हुए भी 'नाव नाव कहि लोग बुलाए'। फिर जब सुना कि—

सुरसरि नाघि जानु तब आवा। उतरेउ तट प्रभु-आयसु पावा॥

—तब प्रेमाकुल होकर दौड़ पड़े और—

प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहि तेही

'बिलोकि' प्रभुके ही साथ है! 'परम प्रीति' शब्दसे भी उनकी प्रीति प्रमाणित हुई है, यथा—

प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥
लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान सुजान राम रमापतीं।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल, सो कर बीनती॥
अब कुसल पदपंकज बिलोकि, बिरंचि-संकर-सेब्य जे।
सुखधाम पूरनकाम राम! नमामि राम! नमामि ते॥
सब भाँति अधम निषादु,सो हरि भरतु ज्यों उर लाइयो।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोह बस बिसराइयो॥

यदि निषादराजने श्रीभरतजीकी भाँति राम-वियोगमें चौदह वर्षकी अवधितक सब विषयोंसे मुँह मोड़कर अपने शरीरको घुला दिया तथा आँखोंको बंद किये रोते ही रहे, तो श्रीरघुनाथजीने भी उनको भरतजीकी ही भाँति आह्लादसे हृदयमें लगाया—'भरतु ज्यों उर लाइयो'। इसके अलावा श्रीनिषादराज और श्रीभरतलालजीकी एकता ग्रन्थसे भी प्रमाणित है। पहले चित्रकूटमिलनमें देखिये और फिर लंकाविजयके पश्चात् अयोध्यामें लौटते समयके प्रसंगमें मिलाइये।

चित्रकूटमें श्रीभरतमिलन	श्रीनिषादराजमिलन
१—भूतल परे लकुटकीं नाईं	१ परेउ अवनि तनसुधि नहि तेही।
२—बरबस लिए उठाइ उर लाए	२ हरषि उठाइ लियो उर लाई।
३—परमप्रेम पूरन दोउ भाई	३ प्रीति परम बिलोकि रघुराई
४—उर लाए कृपानिधान	४ लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान

श्रीअयोध्यामें श्रीभरत-मिलन	श्रीनिषादराजमिलन
१—परे भूमि…………	१ परेउ अवनि तनसुधि नहि तेही।
२—नहि उठत उठाएँ	२ हरषि उठाइ लियो उर लाई।
३—बल करि कृपासिंधु उर लाए	३ लियो हृदयँ लाइ कृपानिधान
४—बूझत कृपानिधि कुसल	४ बूझी कुसल सो कर बीनती।
५—अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि	५ अब कुसल पदपंकज बिलोकि
६—नमत जिन्हहि सुर-मुनि संकरु अज	६ बिरंचि-संकर-सेब्य जे।

श्रीनिषादराजके सम्बन्धमें पहले प्रमाण दिया जा चुका है कि वे श्रीलखनलालजीका स्वरूप ही बन गये थे। अब यह भी प्रमाणित हो गया कि श्रीभरतजीसे भी उनकी एकता हो गयी थी। अतः श्रीरामसेवाकी संयोगावस्थामें श्रीगुहराजजी साक्षात् श्रीलक्ष्मण और श्रीरामजीकी वियोगावस्थामें साक्षात् श्रीभरतके स्वरूप थे और दोनों अंशावतार अर्थात् श्रीविष्णुरूप भरत तथा श्रीशिवरूप लक्ष्मणकी तदाकारता प्राप्त की थी! ऐसे भक्तभूषण श्रीगुहराजजीकी भक्ति और प्रेमकी प्रशंसा कहाँतक की जा सकती है? वह किसकी लेखनीमें समा सकती है? हम तुच्छ जीवोंके लिये तो श्रीनिषादराजका बतलाया हुआ यह महामन्त्र ही सर्वदा स्मरणीय है—

समुझि मोरि करतूति कुलु, प्रभुमहिमा जियँ जोइ।
जो न भजइ रघुबीरपद, जग बिधिबंचित सोइ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

मेरी कठिनाई और क्षमा-प्रार्थना

'कल्याण' को अपना समझकर और कृपा करके सैकड़ों महानुभाव बिना माँगे ही मेरे पास लेख तथा कविताएँ भेजते रहते हैं, इसके लिये मैं उन सब महानुभावोंका परम कृतज्ञ हूँ । परन्तु मुझसे एक ऐसा अपराध निरन्तर बनता रहता है जिससे छूटना मेरे लिये असम्भव-सा हो गया है । वह यह कि मैं अपने यहाँ आये हुए सब लेखों और कविताओंको 'कल्याण' में नहीं छाप पाता हूँ तथा मेरे इस अपराधके कारण कई कृपालु महानुभावोंको कष्ट पहुँचता है । अभी 'वेदान्ताङ्क' में एक सज्जनकी कविता स्थानाभावके कारण नहीं छप सकी, इसपर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ है । उन्होंने मुझे सम्बोधित करके लिखा है—

'कल्याण' का 'वेदान्ताङ्क' देखा, हर्ष हुआ पर वह वैसा ही हर्ष था जैसीकी दुश्मनकी हँसी ! अफसोस, मेरा पद्य स्थान न पा सका ! क्या वह अशुद्ध था ? क्या वह शास्त्र-प्रतिपादित नहीं था ? …………आपके हृदयमें न्याय-परता नहीं है साथ ही पक्ष-विपक्षका खूब स्थान है………मैं आपको दिखाऊँगा कि दुनियाँ आपके तिरस्कृत लेखको किस तरह स्वीकृत करती है ? अब 'कल्याण' भेजनेका कष्ट न कीजिये । आज चार सालसे जो भी फ़ायदा हुआ उसका रिजल्ट (परिणाम) बेइज्जती व हताश ही मिला……………।

इस पत्रका निम्नलिखित उत्तर मैंने लिखकर उनकी सेवामें भेज दिया है—.

"प्रिय महोदय, सप्रेम श्रीहरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । 'वेदान्ताङ्क' में अपनी कविता प्रकाशित न देखकर आपको जो कष्ट पहुँचा है, वह स्वाभाविक ही है । क्योंकि आपने तो उस कविताको छपनेकी ही आशासे भेजा था । पर इसमें मेरी कठिनाई क्या थी, इसको तो भलीभाँति मैं ही जानता हूँ और इस बातकी आशा रखता हूँ कि यदि आप भी मेरी कठिनाईसे अवगत हो जायँगे तो मुझे अवश्य क्षमा करेंगे ।

बात यह है कि 'वेदान्ताङ्क' में केवल आपकी ही कविता छपनेसे बाकी नहीं रह गयी है । बल्कि आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि 'वेदान्ताङ्क' में प्रकाशित मैटरसे डेढ़ गुना मैटर मेरे पास अप्रकाशित रह गया है ! और उसमें कई अच्छे लेख और कविताएँ हैं । ऐसी अवस्थामें आप सोच सकते हैं कि मेरी कठिनाई क्या थी ? मैं कहाँतक सब लेखों और कविताओंको छाप सकता था ? यदि सब लेख और कविताएँ छापनेको दी जातीं तो 'वेदान्ताङ्क' का आकार-प्रकार कितना बढ़ जाता एवं वह प्रेसके लिये कहाँतक सम्भव था ?

अस्तु, अपनी इन्हीं कठिनाइयोंको आपके समक्ष उपस्थित करके मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ उसके लिये मैं बार-बार आपसे क्षमाकी प्रार्थना करता हूँ । और इस पत्रके साथ आपकी कविताको आपकी सेवामें सादर लौटा रहा हूँ । लौटानेका मतलब यह नहीं है कि आपकी कविता अच्छी नहीं है और न यह किसी पत्रमें ही स्थान पा सकती है ! बल्कि मैं मजबूरीसे ही इसे लौटा रहा हूँ । मुझको इस बातमें न तो सन्देह है और न सन्देह करनेका कोई अधिकार ही है कि आपके या अन्य लेखक महोदयोंके भी जिन लेखोंको मैं 'कल्याण' में स्थानाभावके कारण लौटा देता हूँ, वे अन्य पत्रोंमें ससम्मान न

छप सकते होंगे। ऐसा तो आपको कभी नहीं सोचना चाहिये। जिन लेखोंको मैं लौटाता हूँ, उसमें असमर्थता या कमजोरी मेरी ही रहती है।

रही बात 'कल्याण' न भेजने की! सो आपकी इच्छापर निर्भर है। आप जैसा चाहें, इस सम्बन्धमें आज्ञा दे सकते हैं। परन्तु इतना निवेदन मैं इस सम्बन्धमें भी अवश्य करूँगा कि मेरे किसी अपराधके कारण आपको 'कल्याण' पर रुष्ट नहीं होना चाहिये। वह तो आपका ही है। भला आपकी ही चीज आपको 'बेइज्जत' अथवा 'हताश' कैसे कर सकती है? हाँ, मेरे अपराधके कारण आपको जो इस तरहकी बातोंका अनुभव हुआ, उसके लिये मैं आपसे पुनः बारम्बार क्षमाकी प्रार्थना करता हूँ।"

110351

इस पत्र-व्यवहारको प्रकाशित करनेकी और कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु मैं अनुमान करता हूँ कि जिनके लेख नहीं छपे हैं, उनमें साधु-महात्मा तथा निस्पृह महापुरुषोंको छोड़कर शेष महानुभावोंमेंसे कुछ और भी ऐसे महानुभाव होंगे, जिनको लेख न छप सकनेके कारण कष्ट पहुँचा होगा तथा वे संकोचवश मुझे न लिख सके होंगे। अतः मैं अपने इस प्रकाशित पत्रमें निवेदित की हुई अपनी कठिनाइयोंको उन सब सज्जनोंके भी सामने रखकर सबसे क्षमाकी प्रार्थना करता हूँ। मेरी स्थिति समझकर सब महानुभाव मुझे क्षमा करें।

कहावतोंमें उपदेश

(स्वामी अग्रदासजी)

(१)

"जेहि घर जितो बधावनो, तेहि घर तितनो सोग।"
तेहि घर तितनो सोग, जन्म भै नचै रु गावै।
बहिन भानजा बिप्र भाट बंदी पहिरावै॥
लगै ताहि जब रोग बिषम, भेषजकों धावै।
ग्रह-पूजा हू करै, भूत भोपानि बुलावै॥
'अग्र' कहै सिर कूटिकै, रोवै बहुत वियोग।
जेहि घर जितो बधावनो, तेहि घर तितनो सोग॥

(२)

"आग लगंते झोंपड़ा, जो निकसै सो लाभ।"
जो निकसै सो लाभ, चेत मानुष तन चोरी।
ये लेखेके स्वास जात, आवत न बहोरी॥
ज्यौं कर-अंजुलि माहिँ, घटत जल थिर न रहावै।
कर आतुर हरि-भजन, साखि काया ध्रुव गावै॥
'अग्र' कहाँलौं थेगरी, दीजै फाटै आभ।
आग लगंते झोंपड़ा, जो निकसै सो लाभ॥

(३)

"सूने घरको पाहुनो, ज्यौं आवै त्यौं जाय।"
ज्यौं आवै त्यौं जाय, धर्म बिन धिक नर-देही।
झूँठ कुटुँब-संग्रहै, तजै सब स्याम-सनेही॥
परमारथ सौं पीठ, दीठ स्वारथ मों दीन्ही।
जन्म-लाभ नहिं लह्यौ, रामकी भगति न कीन्हीं॥
'अग्र' कहै सतसंग बिन, कछू लाभ नहिं आय।
सूने घरको पाहुनो, ज्यौं आवै त्यौं जाय॥

ॐ

तारका पता—
गीता

टेलीफोन नं०
२९, ३०

गीताप्रेस, गोरखपुर

कलकत्तेमें
३०, बाँसतल्लागली

धार्मिक साहित्य-
प्रचारक संस्था

शरत्पूर्णिमा १९९३

संस्कृतके अध्यापक एवं छात्रगण,

.... पाठशाला

मान्नीय !

लघुसिद्धान्तकौमुदी

सप्रेम हरिस्मरण !

हमने परीक्षोपयोगिनी टिप्पणीसहित "लघुसिद्धान्तकौमुदी" प्रकाशित की है। इस पुस्तककी टिप्पणीमें कठिन सूत्रोंका अर्थ सरल संस्कृतमें देकर उदाहृत पदोंमें उसका समन्वय भी दिखलाया गया है। प्रत्येक प्रकरणके कठिन पदोंका संस्कृतमें साधन किया गया है, इससे परीक्षामें विद्यार्थियोंको बहुत सहायता मिल सकती है। उदाहरणमें आये हुए प्रत्येक शब्दका अर्थ भी दे दिया गया है, जिससे अनुवाद आदिमें सहायता मिलेगी। कारक, णिजन्त, भावकर्म, कर्मकर्तृ आदि गम्भीर प्रकरणोंका मर्म सरलतासे समझाया गया है। कृदन्त-शब्दोंके मूल धातुओंका भी परिचय कराया गया है, इससे अध्यापक और विद्यार्थी दोनोंके लिये सुविधा हो गयी है।

पुस्तकके परिशिष्ट भागमें शब्दोंके लिङ्गका ज्ञान करानेके लिये 'लिङ्गपरिचय' दिया गया है, जिसमें बहुत-से शब्दोंका एकत्र संग्रह हुआ है, अनुवाद करनेमें इस प्रकरणसे अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। सूत्र, वार्तिक और धातुओंकी अकारादिक्रमसूचीके साथ ही धातुओंमें सकर्मक, अकर्मक आदिका भी संकेत कर दिया गया है। अभ्यासके लिये छः वर्षोंके प्रश्नपत्र भी संकलित हैं। पुस्तककी भूमिकामें पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, भट्टोजि दीक्षित और वरदराज भट्टाचार्य आदिके जीवनपर भी प्रकाश डाला गया है, इन सब बातोंसे यह ग्रन्थ परीक्षार्थी विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

इतनेपर भी इसका मूल्य प्रचारार्थ केवल छः आना मात्र रक्खा गया है। कमीशन काटकर ।)॥ में ही यह पुस्तक सबको प्राप्त हो सकती है। एक पुस्तकमें लगभग ५ छटाँक वजन होनेके कारण डाकखर्च बहुत बढ़ जाता है, अतः एक साथ मिलकर अधिक पुस्तकोंका आर्डर देना चाहिये। सबसे अच्छा अपने गाँवके बुकसेलरोंसे ही खरीदना है।

विनीत सेवक—
व्यवस्थापक
गीताप्रेस, गोरखपुर

अन्य पुस्तकोंके लिये बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

Regd. No. A. 1724.

110351

पृथ्वीकी वाणी

पृथ्वी ममैषाशु परित्यजैनां वदन्ति ये दूतमुखैस्स्वशत्रून् ।
नराधिपास्तेषु ममातिहासः पुनश्च मूढेषु दयाभ्युपैति ॥

अहो ! बुद्धिमान् होनेपर भी इन राजाओंको यह कितना मोह हो रहा है जिससे ये पानीके बुलबुलेके समान क्षणस्थायी होते हुए भी अपनेको सदा रहनेवाला मानते हैं । हम समुद्रों समेत सारी धरतीको जीत लेंगे, ऐसी नासमझीमें फँसे हुए ये लोग समीप ही आयी हुई अपनी मौतको नहीं देखते। यदि समुद्रसे घिरा हुआ यह सारा पृथ्वी-मण्डल अपने वशमें ही हो गया तो भी मनपर विजय पानेके सामने इसकी क्या कीमत है । सच्ची स्वतन्त्रता या मुक्ति तो मनको जीतनेसे ही मिलती है । जिस धरतीको यहीं छोड़कर इनके पुरखे चले गये, जिसे साथ लेकर इनके पिता भी नहीं गये, उसीको ये राजा-लोग अपनी मूर्खताके कारण जीतना चाहते हैं । जिनके चित्तमें ममता भरी है, उन पिता-पुत्र और भाइयोंमें अत्यन्त मोहके कारण ही धरती और धनके लिये आपसमें लड़ाइ-झगड़ा होता है । अबसे पहले जो राजा हो गये हैं वे सभी कुबुद्धिवश यही समझते रहे हैं कि यह सारी धरती हमारी ही है और हमारे पीछे यह सदा हमारी सन्तानकी ही रहेगी । इस प्रकार धरती-धनमें ममता करनेवाले एक राजाको, धरती-धन छोड़कर मौतके मुँहमें जाते हुए देखकर भी न जाने कैसे उसका उत्तराधिकारी अपने हृदयमें उसी धरती-धनसे ममता करता है, वह यह नहीं सोचता कि यही दशा मेरी भी होगी। पृथ्वी कहती है—जो राजा लोग दूतोंके द्वारा अपने शत्रुओंको यह संदेशा कहलाते हैं कि 'यह पृथ्वी मेरी है, तुम लोग इसे छोड़कर तुरन्त निकल जाओ' उनपर मुझको बड़ी हँसी आती है और फिर उन मूर्खोंपर दया भी आती है ।

(विष्णुपुराण)

Compiled
1999-2000